कल्याण

सन्त वाणी

प्रेम

ममता

अहिंसा

सत्य

शान्ति

दया

भक्ति

ज्ञान

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, कालविनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम। गौरी-शंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

संत-वाणी-रवि-रश्मि

संत-वाणि-रवि-रश्मि विमलका जब जगमें होता विस्तार।
'समता'-'प्रेम'-'ज्ञान'का तब होता शुभ शीतल शुभ्र प्रचार॥
'सत्य'-'अहिंसा'की आभा उज्ज्वलसे सुख पाता संसार।
'भक्ति'-'त्याग', शुचि 'शान्ति'-ज्योतिसे मिटता अघ-तम हाहाकार॥

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

इस अङ्कका मूल्य ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

कल्याणके प्रेमी पाठकों और ग्राहक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

१–इस 'संत-वाणी-अङ्क'में ५८५ संतोंकी वाणियोंका संग्रह किया गया है, रंगीन चित्र गत वर्षकी अपेक्षा अधिक हैं। संतोंके चित्र भी हैं। यह अङ्क अत्यन्त लाभदायक और सद्भावों तथा सद्विचारोंके प्रचारमें सहायक सिद्ध होगा।

२–जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें, ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थका नुकसान न उठाना पड़े।

३–मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें अपना पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

४–ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'संत-वाणी-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँच जायगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख देनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण' के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५–'संत-वाणी-अङ्क'में संतोंकी पवित्र, जीवन-निर्माणमें सहायक, जीवनको उच्चस्तरपर पहुँचा देनेवाली निर्मल वाणियोंका अभूतपूर्व संकलन है। इसके प्रचार-प्रसारसे मानवमें आयी हुई दानवता दूर होकर उच्च मानवताकी प्राप्ति हो सकती है। इस दृष्टिसे इसका जितना अधिक प्रचार हो, उतना ही उत्तम है। अतएव प्रत्येक 'कल्याण'के प्रेमी ग्राहक महोदय कृपापूर्वक विशेष प्रयत्न करके 'कल्याण' के दो-दो नये ग्राहक बना दें।

६–'संत-वाणी-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग इस बार जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग एक-डेढ़ महीना तो लग ही सकता है; इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' नंबरवार जायगा। यदि कुछ

क—

देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये ।

७–गीताप्रेस पोस्ट-आफिस अब 'डिलेवरी आफिस' हो गया है । अतः 'कल्याण' व्यवस्था-विभाग तथा सम्पादन-विभाग और गीताप्रेस तथा 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति' और 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' तथा 'साधक-संघ'के नाम भेजे जानेवाले सभी पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, बीमा आदिपर केवल 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) इस प्रकार लिखना चाहिये ।

८–सजिल्द विशेषाङ्क वी० पी० द्वारा नहीं भेजे जायँगे । सजिल्द अङ्क चाहनेवाले ग्राहक ९।) जिल्दखर्चसहित ८।।।) मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें । सजिल्द अङ्क देरसे जायँगे । ग्राहक महानुभाव धैर्य रक्खें ।

९–आपके विशेषाङ्कके लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीपूर्वक नोट कर लें । रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये ।

'कल्याण' के प्राप्य विशेषाङ्क

३ वें वर्षका मानसाङ्क (पूरे चित्रोंसहित)—पृष्ठ ९४४, चित्र बहुरंगे सुनहरी ८, दुरंगे सुनहरी ४, तिरंगे ४६, इकरंगे १२०, मूल्य ६।।), सजिल्द ७।।।) ।

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द), पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०) ।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६=), सजिल्द ७।=) मात्र ।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६।।), ५ प्रतियाँ एक साथ लेनेपर १५) प्रतिशत कमीशन ।

२६ वें वर्षका भक्तचरिताङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ १५१२, लेख-संख्या ७३९, तिरंगे चित्र ३६ तथा इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७।।) मात्र ।

२७ वें वर्षका बालक-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७।।) ।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७।।), सजिल्दका मूल्य ८।।।) है ।

☞ डाकखर्च सबमें हमारा । व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं । इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है । उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है । परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं । इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर कुल ४०० केन्द्र हैं । विशेष जानकारीके लिये नीचेके पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें ।

मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

संत-वाणी-अङ्ककी विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

स—

संत-वाणी-अङ्क दूसरा खण्ड

संस्कृत-वाणियोंकी सूची

संतोंके विभिन्न आदर्शसूचक चित्रयुक्त लघु लेखोंकी सूची—

चित्र-सूची

सुनहरे

बहुरंगे

दुरंगे चित्र

सादे चित्र

संतोंके चित्र

भक्त-संतोंके लक्ष्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणामभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी ॥

(पण्डितराज जगन्नाथ)

वर्ष २९ | गोरखपुर, सौर माघ २०११, जनवरी १९५५ | संख्या १ / पूर्ण संख्या ३३८

भक्त-संतोंके लक्ष्य

कालिन्दी तट निकट कल्पतरु एक सुहावै ।
ता नीचे नव तरुन दिव्य कोउ वेनु बजावै ॥
लखि लावन्य अनूप रूप ससि-कोटि लजावै ।
विविध वरन आभरन बसन-भूषन छवि पावै ॥
नव नवल नेह-करुना-कलित ललित नयन मनहर लसै ।
यह मोहन मूरति स्याम की संतन भक्तन हिय बसै ॥

—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

संत-वाणी

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

वन्दे संत उदार दयानिधि जिसकी मंजुल वाणी,
भवसागर-संतरण तरणि-सी परहित-रत कल्याणी।
मृदु, कोमल, सुस्निग्ध, मधुरतम, निर्मल, नवल, निराली,
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह सब दूर भगानेवाली ॥ १ ॥

जहाँ कर्मकी कालिन्दीमें मिलित भक्तिकी गङ्गा,
सरस्वती है जहाँ ज्ञानकी गूढ़ अगम्य अभङ्गा।
त्रिविध साधनोंकी बहती है सुन्दर जहाँ त्रिवेणी,
धन्य संत-वाणी प्रयाग-सी निःश्रेयस निःश्रेणी ॥ २ ॥

बुझती जहाँ स्वयं जाते ही त्रिविध तापकी ज्वाला,
भरती पुलक मोद तन मनमें भाव-ऊर्मिकी माला।
जहाँ न जाकर प्यासा लौटा है कोई भी प्राणी,
सुरधुनि-सी सबको सुख देती वह संतोंकी वाणी ॥ ३ ॥

सद्भावोंके पोषणहित जो मधुर दुग्ध गौका है,
देती सदा मुक्तिके पथपर बढ़नेको मौका है।
भीषणतम भवकी जलनिधिमें अरे डूबनेवालो,
दौड़ो चढ़ो संतवाणी-नौकापर होश सँभालो ॥ ४ ॥

संत-वचन वह सुधा देव भी जिसके सदा भिखारी,
संत-वचन वह धन जिसका है नर प्रधान अधिकारी।
मर्त्य अमर बन जाता जिससे वह संजीवन रज है,
संत-वचन सब भवरोगोंका रामबाण भेषज है ॥ ५ ॥

वेद, शास्त्र, अनुभूति, तपस्याका जिसमें संचय है,
संतोंका वर वरद वचन वह मङ्गलमय निर्भय है।
क्यों बैठा कर्तव्यमूढ़ नर बन चिन्ताका वाहन,
संत-वचनके सुधा-सिन्धुमें कर संतत अवगाहन ॥ ६ ॥

दूर असत्से कर सत्पथकी ओर लगानेवाला,
और मृत्युसे हटा अमरता तक पहुँचानेवाला।
तमसे परे ज्योतिके जगमें होता जो जगमग है,
सच्चिन्मय उस परमधामका संत-वचन शुचि मग है ॥ ७ ॥
कौन बताये संतोंकी वाणीमें कितना बल है?
दासी-सुत देवर्षि बन गया जीवन हुआ सफल है।

उसी संतके प्रवचनने यह चमत्कार दिखलाया,
दैत्यवंशमें देवोपम प्रह्लाद प्रकट हो आया ॥ ८ ॥
अगणित बार संत-वाणीने निज प्रभाव प्रकटाया,
मान उसे ही बालक ध्रुवने हरिका ध्रुवपद पाया ।
एक लुटेरा था जो मनमें मान संतकी वाणी,
वाल्मीकि बन गया आदिकवि भुवनविदित विज्ञानी ॥ ९ ॥
संत-वचनके अनुशीलनसे होती निर्मल मति है,
श्रीहरिके चरणोंमें जिससे बढ़ती अविचल रति है ।
रीझ उसीसे भक्तजनोंके वश होते वनवारी,
दर्शन दे राधा-प्यारी-सँग हरते बाधा सारी ॥ १० ॥

संत-सूक्ति-सुधा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

ऐसे तो संतका किसी भी देश-कालमें अभाव नहीं होता । वे सभी देशोंमें, सभी दिनोंमें, सभीके लिये सर्वथा सुलभ हैं—

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा ।

पर न तो संतोंकी कोई दूकान होती है और न वे कोई साइन-बोर्ड ही लगाये फिरते हैं, जिससे उन्हें झट पहचान लिया जाय । साथ ही हतभाग्य प्राणी संतमिलनकी उचित चेष्टा न कर उलटे उपेक्षा कर देते हैं—इसीलिये सत्संगति अत्यन्त दुर्लभ तथा दुर्घट भी कही गयी है—

सत संगति दुर्लभ संसारा । निमिष दंड भरि एकउ बारा ॥[1]

कभी-कभी तो ऐसा होता है कि संतके वेशमें असंत और असंत-वेशमें संत मिल जाया करते हैं, जिससे और भी भ्रम तथा वञ्चना हो जाती है । फिर भी इसमें तो किसी प्रकारका संदेह नहीं कि जिसे परम सौभाग्यवशात् कभी एक बार भी विशुद्ध संत मिल गये, उसपर भगवत्कृपा हो गयी और उसका सारा काम बन गया । सच्ची बात तो यह है कि संतकी प्राप्ति भगवत्प्राप्ति-सदृश ही या उससे भी अधिक महत्त्वकी घटना है ।—

निगमागम पुरान मत एहा । कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा ॥
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥
'मो तें अधिक संत करि लेखा ।'
'जानेसि संत अनंत समाना' 'राम तें अधिक राम कर दासा ।'

यद्यपि संत सभी देश-कालमें होते हैं, फिर भी भारत इसमें सबसे आगे है । संतोंकी वाणी त्रिकाल कल्याणकारिणी होती है । उसका वर्णन नहीं हो सकता । यदि वे मिल जायँ तब तो पूछना ही क्या ! पर उनके अभावमें भी भारतीयोंका यह सौभाग्य है कि वे भगवान् वाल्मीकि, व्यास, नारद, वसिष्ठ, शुकदेव और गोस्वामी तुलसीदास जैसे संतोंकी परम पवित्र अमृतमयी वाणीका, अपनी भावनाके अनुसार [illegible] प्रसाद पा [illegible] शोक-मोहसे मुक्त होकर अनन्त सुख-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं ।

[illegible]-सार-सर्वस्व

[illegible]

---

१. महत्सङ्गो दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च (नारदभक्तिसूत्र)
[illegible] ।
[illegible] ॥
([illegible])

निमिषार्ध तकके लिये प्रभुके चरणारविन्दमे मन नहीं हटाते, इसलिये वे किसीको उपदेश तो दूसरा देंगे ही क्या ? पर दुःखी, संसृतिग्रस्त प्राणी अरविन्दनयन प्रभुके चरणारविन्दके किञ्जल्कका अनुपम स्वाद नहीं जानता, अतएव अर्थ-कामके लिये ही, या बहुत हुआ तो दुःख-मुक्ति या संसृति-मोक्षके लिये संतोंके पास जाता है । इसपर संत-जन दयार्द्र होकर अपने मनकी बात भगवद्-ध्यानको ही सभी सुख-सौभाग्यका उपाय बतला देते हैं और कहते हैं कि यदि कोई भोग ही चाहता हो तो बड़े शान्त तथा सौम्य उपायसे केवल थोड़ी-सी भगवान्की आराधनासे ही वह सुख-सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है जो अन्यथा सर्वथा दुर्लभ है । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

रति-सी रवनी सिंधुमेखला अवनि पति,
औनिप अनेक ठाढ़े हाथ जोरि हारि कै ।
संपदा-समाज देखि लाज सुरराज हू के
सुख सब बिधि बिधि दीन्हें हैं सँवारि कै ॥
इहाँ ऐसो सुख, सुरलोक सुरनाथ-पद,
जा को फल तुलसी सो कहैगो बिचारि कै ।
आक के पतौना चार, फूल कै धतूरे के द्वै,
दीन्हें ह्वैहैं बारक पुरारि पर डारि कै ॥

यह औढरदानी, आशुतोष, भूतभावन भगवान् शङ्करकी एक बारकी अल्प आराधनाका परिणाम है । पर वे ही संतशिरोमणि परम पूज्य गुरुवर्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी आनन्दविभोर होकर कहते हैं कि रावणने बहुत वर्षोंतक शङ्करजीकी आराधना की थी । अनेकों बार तो अपने सभी सिरोंतकको आहुतिमें दे डाला था ।[1] इसपर वरदायक प्रभुने उसे लंका-जैसी सुवर्णकोट, सुदृढ़ रचनारचित, मणिखचित पुरी प्रदान की थी, पर विभीषणको तो यह सारी वस्तु प्रभु श्रीरामभद्र राघवेन्द्रके अरुण मृदुल चरण-कमलके खाली हाथोंसे ही दर्शन करने मात्रसे मिल गयी ।[1] विभीषणको शरणागत भावसे आया जान, देखते ही प्रभुने 'लंकेश' कहकर सम्बोधन किया और कहा कि 'तुम मुझे प्राणोंके समान प्यारे हो ।'[2] विभीषणने कहा—'प्रणतपाल प्रभु ! आप तो अन्तर्यामी हैं, क्या कहूँ ! पहले कुछ जो हृदयमें वासनाएँ थीं, वे भी श्रीचरणोंके प्रेमसे बह गयीं । अब तो नाथ ! अपने चरण-कमलोंकी प्रीति ही मुझे देनेकी दया करें

सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी । नहिं अघात श्रवनामृत जानी ॥
पद अंबुज गहि बारहिं बारा । हृदयँ समात न प्रेमु अपारा ॥
सुनहु देव सचराचर स्वामी । प्रनतपाल उर अंतरजामी ॥
उर कछु प्रथम बासना रही । प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥
अब कृपाल निज भगति पावनी । देहु सदा सिव मन भावनी ॥

वास्तवमें यह प्रसंग ऐसा है कि ध्यान आते ही सब सुध-बुध भूलने-सी लगती है । तभी तो स्वयं गोस्वामीजीने भी ऐसे स्थलोंके लिये बड़े जोरदार शब्दोंमें लिख डाला —

यह संबाद जासु उर आवा । रघुपति चरन भगति सोइ पावा ॥

अस्तु, इसपर करुणावरुणालय, औदार्य, वात्सल्य, सौशील्य-जैसे सहस्रशः गुणोंके अगाध वारिधि प्रभुने बड़े मनोरम हृदयहारी शब्दोंमें कहा—'सखे ! ऐसा ही होगा, यद्यपि आपकी इच्छा बिलकुल नहीं है, तो भी मेरा दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता ।' और समुद्रका जल मँगाकर तुरंत अभिषेक कर दिया । इस तरह—

१–(क) सिर सरोज निज करन्हि उतारी ।
पूजे अमित बार त्रिपुरारी ॥
(ख) सादर सिव कहँ सीस चढ़ाए ।
एक एक के कोटिन्ह पाए ॥

१ (क) जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥
(ख) जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं ।
सोइ संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥

२ (क) दीनता प्रीति संकलित मृदु बचन सुनि,
पुलकि तन प्रेम जल नयन लागे भरन ।
बोलि लंकेस कहि अंक भरि भेंटि प्रभु,
तिलक दियो दीन-दुख-दोष-दारिद-दरन ॥
(ख) 'कहु लंकेस कुसल परिवारा ।'
'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे ॥'

विभीषणको दुर्लभ भक्तिके साथ कल्पपर्यन्त लंकाका अचल राज्य भी मिल गया।—

एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिंधु कर नीरा॥
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा॥

भक्तिरसमें परिप्लुत होकर पूज्य गोस्वामीजी कहते हैं कि कुबेरकी पुरी लंका सुमेरुके समान थी। इसकी रचनामें ब्रह्माजीकी सारी बुद्धि लग गयी थी। वीर रावण कई बार अपने सीसको ईशके चरणोंपर चढ़ाकर वहाँका राजा बना था। ऐसा लगता था मानो तीनों लोककी विभूति, सामग्री और सम्पत्तिकी राशिको एकत्रित कर चौक लगा दी गयी हो। पर यह सारी सम्पत्ति महाराज रामचन्द्रजीके वनमें रहते हुए भी तीन दिनके समुद्र-तटके उपवासके बाद एक ही दिनका दान बन गयी—

तीसरे उपास बन बास सिंधु पास सो,
समाज महाराज जू को एक दिन दान भो॥

भला, भुवनमोहन भगवान् श्रीराघवेन्द्रको स्वयं जब गहनोंके, आभूषणोंके लिये केवल वल्कल वस्त्रमात्र ही थे, भोजनको फल ही रह गया था, शय्या तृणाच्छादित भूमिमात्र थी और वृक्ष ही मकान बन रहे थे, उस समयमें तो विभीषणको लंकाका राज्य दे डाला, फिर दूसरे समयका क्या कहना। सचमुच उनकी दया और प्रीतिकी रीति देखते ही बनती है—

बलकल भूषन फल असन, तृन सज्या द्रुम प्रीति।
तिन समयन लंका दई, यह रघुबरकी रीति॥

विभीषण क्या लेकर प्रभुसे मिला और प्रभुने क्या दे डाला? प्रभुके स्वभावको न समझने-जाननेवाले मूर्ख जीव हाथ ही मलते रह जायँगे।—

कहा बिभीषन लै मिल्यो कहा दियो रघुनाथ।
तुलसी यह जाने बिना मूढ़ मींजिहैं हाथ॥

सूक्ति-सुधा-संग्रह

यह अनुभूति केवल गोस्वामीजीकी ही नहीं, सभी संतोंकी है, इसमें अन्तर आ नहीं सकता। प्रभुकी कृपामें किसी कारणविशेषवश किञ्चित् देर भले ही हो, पर अन्धेर नहीं हो सकता।[1] भगवान् व्यास तो कहते हैं कि 'नारायणचरणाश्रित व्यक्ति बिना साधन-चतुष्टयके ही मोक्षतक पा लेता है और दूसरे पुरुषार्थोंकी क्या बात!—

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तां विना सर्वमाप्नोति यदि नारायणाश्रयः॥

चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये जिस साधन-सम्पत्तिकी आवश्यकता है, उसके बिना ही मनुष्य सब कुछ पा लेता है, यदि उसने भगवान् नारायणकी शरण ली है।

इसलिये भैया! प्राणी अकाम हो या सकाम, निष्काम हो अथवा सर्वकामकामी, उसे एकमात्र तीव्र ध्यानयोग, भक्तियोगसे उन परम प्रभुकी ही आराधना कर कृतकृत्य हो जाना चाहिये—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भागवत २।३।१०)

जो कुछ नहीं चाहता, जो सब कुछ चाहता है, अथवा जो केवल मोक्षकी इच्छा रखता है, वह उदार-बुद्धि मानव तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष श्रीहरिकी आराधना करे।

अब यहाँ इस प्रकारकी कुछ और संत-वाणियोंकी मधुरताका स्वाद लीजिये। नारदजी श्रीकृष्णसे कहते हैं—

मनीषितं हि प्राप्नोति चिन्तयन् मधुसूदनम्।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः॥
(महा० शान्ति० अ० ३४३)

१—तभी तो—
नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति।
होइ धौं केहि काल दीन दयाल जानि न जाति॥
और—
'कबहिं देखाइ हौ हरिचरन'
तथा—
'कबहूँ दरँगे राम आपनि दरनि'
—की मधुर आशा लगी रही।

जो अनन्य भक्तिसे युक्त हो भगवान् नारायणकी । लेकर सदा उन मधुसूदनका चिन्तन करता रहता वह मनोवाञ्छित वस्तुको प्राप्त कर लेता है ।

... यदप्राप्यं मनसो यदगोचरम् ।
... ध्यातो ददाति मधुसूदनः ॥
(गरुड० पूर्व० २२२ । १२)

जो दुर्लभ है, जो अप्राप्य है, जो कभी मनकी ...नामें नहीं आ सकती, ऐसी वस्तुको भी, यदि भगवान् ...सूदनका ध्यान किया जाय, तो वे बिना माँगे ही दे ... हैं ।

मार्कण्डेयजी—

... कृत्वा तथा कामानभीष्टं द्विजपुङ्गवाः ।
... नाम जपेद्यस्तु स तत्कामानवाप्नुयात् ॥
(विष्णुधर्मो० ३ । ३४१ । ३८)

विप्रवरो ! जो हृदयमें कामनाएँ रखकर अपनेको ... लगनेवाले किसी एक भगवन्नामका जप करता है, ... उन सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ।

सप्तर्षिगण ध्रुवसे—

यद् भ्रूनर्तनवर्तिन्यो सिद्धयोऽष्टौ नृपात्मज ।
तमाराध्य हृषीकेशमपवर्गोऽप्यदूरतः ॥
(स्कन्दपु० काशीख० १९ । ११५)

राजकुमार ! आठों सिद्धियाँ जिनके भ्रूभङ्गमात्रके ...धीन हैं, उन भगवान् हृषीकेशकी आराधना करनेपर ... भी दूर नहीं रह जाता ।

महर्षि वाल्मीकि—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं हि रामो न पश्यति ।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हति ॥

जो श्रीरामको नहीं देखता, अथवा जिसे श्रीराम ... देखते, वह संसारमें निन्दित होता है । उसे अपनी ...त्मा भी धिक्कारती रहती है ।

सम्यगाराधितो विष्णुः किं न यच्छति देहिनाम् ।
ते धन्याः कृतपुण्यास्ते तेषां च सफलो भवः ।
यैर्भक्त्याराधितो विष्णुः हरिः सर्वसुखप्रदः ॥
(विष्णुधर्म)

यदि भगवान् विष्णुकी उत्तम रीतिसे आराधना की जाय तो वे देहधारी जीवोंको क्या नहीं दे देते हैं ! जिन्होंने सम्पूर्ण सुखोंके दाता सर्वव्यापी श्रीहरिकी भक्तिभावसे आराधना की है, वे धन्य हैं । वे पुण्यात्मा हैं और उनका जन्म सफल है ।

चिन्त्यमानः समस्तानां क्लेशानां हानिदो हि यः ।
समुत्सृज्याखिलं चिन्त्यं सोऽच्युतः किं न चिन्त्यते ॥

जो ध्यानमें आते ही समस्त क्लेशोंका नाश कर देते हैं, सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंको त्यागकर केवल उन्हीं भगवान् अच्युतका चिन्तन क्यों नहीं किया जाता ?

रूपमारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवानुषङ्गिकान् ।
ददाति ध्यायतो नित्यमपवर्गप्रदो हरिः ॥

मोक्षदाता श्रीहरि सदा ध्यान करनेवाले भक्तको रूप, आरोग्य, मनोवाञ्छित धन आदि तथा आनुषङ्गिक भोग भी देते हैं (फिर अन्तमें उसे मोक्ष प्रदान करते हैं) ।

अतिपातकयुक्तोऽपि ध्यायेन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥

अत्यन्त पातकोंसे युक्त होनेपर भी यदि मनुष्य पलभरके लिये श्रीअच्युतका चिन्तन कर ले तो वह फिर पंक्तिपावनोंको भी पवित्र करनेवाला तपस्वी हो जाता है ।

शौनकजी कहते हैं—

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥
(श्रीमद्भा० २ । ३ । १९)

जिसके कानोंमें कभी भी भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथा नहीं पड़ी, जिसने भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन कभी नहीं सुना, वह नर-पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गदहोंसे भी गया-बीता है ।

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
(श्रीमद्भा० २ । ३ । २०)

सूतजी ! मनुष्यके जो कान भगवान् श्रीहरिके गुण-पराक्रम आदिकी चर्चा कभी नहीं सुनते, वे बिलके समान हैं तथा जो जीभ भगवान्‌की लीला-कथाका गायन नहीं करती, वह मेढककी जीभके समान अधम है ।

भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥
(श्रीमद्भा० २ । ३ । २१)

जो मस्तक कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटमण्डित होनेपर भी भारी बोझ मात्र ही है तथा जो हाथ भगवान्‌की सेवा-पूजामें नहीं लगते, वे सोनेके कंगनसे विभूषित होनेपर मुर्देके ही हाथ हैं ।

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥
(श्रीमद्भा० २ । ३ । २२)

जो श्रीविष्णु भगवान्‌के अर्चा-विग्रहोंकी झाँकी नहीं देखते, मनुष्योंके वे नेत्र मोरकी पाँखोंमें बने हुए नेत्र-चिह्नके समान व्यर्थ ही हैं तथा जो श्रीहरिके तीर्थोंकी यात्रा नहीं करते वे पैर भी जड वृक्षोंके ही समान हैं (उनकी गमन-शक्ति व्यर्थ है) ।

कृपन देह पाइअ परो, बिनु साधें सिधि होइ ।
सीतापति सन्मुख समुझि जो कीजै सुभ सोइ ॥
रामहिं डरु, करु राम सों ममता प्रीति प्रतीति ।
तुलसी निरुपधि राम को भएँ हारेहूँ जीति ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका ।
भए नाम जपि जीव बिसोका ॥

बेद पुरान संत मत एहू ।
सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥
(सदा) राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु
राम जपु मूढ मन बार बारम् ।
सकल सौभाग्य सुख खानि जिय जानि सठ
मानि बिस्वास वद बेद सारम् ॥
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥
(गो० तुलसीदास)

मैं निश्चित सिद्धान्त बता रहा हूँ, मेरी बातें झूठी नहीं हो सकतीं । जो मनुष्य श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर भवसागरसे पार हो जाते हैं ।

पृथ्वीशतस्करहुताशभुजङ्गविप्र-
दुःस्वप्नदुष्टग्रहमृत्युसपत्नजातम् ।
संविद्यते न हि भयं भुवनेशभर्तु-
र्भक्ताश्च ये मधुरिपोर्मनुजेषु तेषु ॥
(विष्णु० धर्म० १२२ । ३५)

मनुष्योंमें जो लोग लोकेश्वरोंके भी स्वामी भगवान् मधुसूदनके भक्त हैं, उन्हें राजा, चोर, अग्नि, सर्प, ब्राह्मण, बुरे स्वप्न, दुष्ट ग्रह, मृत्यु और शत्रु आदिसे कभी भय नहीं होता ।

असलमें तो सुखोंके निधान, उद्गमस्थान प्रभु एवं उनके वरद चरणारविन्द ही हैं ।[1] इसीलिये प्रभु अपने परमप्रिय अकिञ्चन भक्तोंको[2] भोग न देकर अपनेको ही प्राप्त करा देते हैं । फिर भी जो भोग-लुब्ध हैं, वे भी धीरे-धीरे जब प्रभुके पास पहुँच जाते हैं तो जिस तरह पूर्ण निर्मल जल-राशिमय बृहत्सरोवरको प्राप्त पुरुष तुच्छ तलैयोंकी उपेक्षा कर देता है अथवा राजाधिराजका मित्र तुच्छजनोंसे उपरत हो जाता है, उसी प्रकार वह संसारकी सारी वस्तुओंका परित्याग कर देता है । कहीं भी उसका कुछ राग नहीं रह जाता ।

---

१. सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् । (श्रीमद्भा० २ । ६ । ६)
२. होहिं ते बदत सत श्रुति टेरे । परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ॥

संतोंके सिद्धान्त

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका एक भाषण)

परमात्माकी प्राप्तिके विभिन्न मार्ग

अद्वैत-सिद्धान्त

अद्वैतवादी संतोंका यह सिद्धान्त है कि प्रथम शास्त्रविहित कर्मोंमें फलासक्तिका त्याग करके कर्मयोगका साधन करना चाहिये; उससे दुर्गुण, दुराचाररूप मल-दोषका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; तदनन्तर भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास करना चाहिये, उससे विक्षेपका नाश होता है । इसके बाद आत्माके यथार्थ ज्ञानसे आवरणका नाश होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है । वेदान्त-सिद्धान्तके इन आचार्योंका यह क्रम शास्त्रसम्मत एवं युक्तियुक्त है । अतः इस मार्गके अधिकारी साधकोंके लिये आचरण करनेयोग्य है ।

निष्काम कर्मयोग

इसी प्रकार केवल निष्काम कर्मयोगके साधनसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होकर अपने-आप ही परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उस परमपदकी प्राप्ति हो जाती है । स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
(४ । ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कोई भी पदार्थ नहीं है । उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है ।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
(३ । १९, २० का पूर्वार्ध)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है । जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे ।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
(५ । ५ का पूर्वार्ध)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है ।'

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
(५ । ६ का उत्तरार्ध)

'कर्मयोगी मुनि परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ।'

भक्तिमिश्रित कर्मयोग

इसी प्रकार भक्तिमिश्रित कर्मयोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और यह सर्वथा उपयुक्त ही है । जब केवल निष्काम कर्मयोगसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब भक्तिमिश्रित कर्मयोगसे हो, इसमें तो कहना ही क्या है । इस विषयमें भी स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(९ । २७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर । इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

भगवद्भक्ति

इसके अतिरिक्त, केवल भगवद्भक्तिसे भी अनायास ही स्वतन्त्रतापूर्वक मनुष्योंका कल्याण हो जाता है। वस्तुतः यह सर्वोत्तम साधन है। इस विषयमें भी भगवान् गीतामें जगह-जगह कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसागरसे तर जाते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

इसी प्रकार गीतामें और भी बहुत-से श्लोक हैं; किंतु लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये नहीं दिये गये।

भक्तिमार्गके संतोंका ऐसा कथन है कि प्रथम कर्मयोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, फिर आत्मज्ञानसे जीवको आत्माका ज्ञान प्राप्त होता है, तदनन्तर परमात्माकी भक्तिसे परमात्माका ज्ञान होकर परमपदरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। भक्तिमार्गके इन आचार्योंकी पद्धतिके अनुसार इनका यह क्रम बतलाना भी बहुत ही उचित है। इस मार्गके अधिकारी साधकोंको इसीके अनुसार आचरण करना चाहिये।

आत्मज्ञान

इसी प्रकार केवल आत्मज्ञानसे परमब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार जब निष्काम कर्मके द्वारा ज्ञान होकर परमपदरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब आत्मज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होनेमें तो कहना ही क्या है! स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

संतोंके सिद्धान्त

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका एक भाषण)

परमात्माकी प्राप्तिके विभिन्न मार्ग

अद्वैत-सिद्धान्त

अद्वैतवादी संतोंका यह सिद्धान्त है कि प्रथम शास्त्रविहित कर्मोंमें फलासक्तिका त्याग करके कर्मयोगका साधन करना चाहिये; उससे दुर्गुण, दुराचाररूप मल-दोषका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; तदनन्तर भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास करना चाहिये, उससे विक्षेपका नाश होता है। इसके बाद आत्माके यथार्थ ज्ञानसे आवरणका नाश होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। वेदान्त-सिद्धान्तके इन आचार्योंका यह क्रम बतलाना शास्त्रसम्मत एवं युक्तियुक्त है। अतः इस मार्गके अधिकारी साधकोंके लिये आचरण करनेयोग्य है।

निष्काम कर्मयोग

इसी प्रकार केवल निष्काम कर्मयोगके साधनसे भी अन्तः-करणकी शुद्धि होकर अपने-आप ही परमात्माके स्वरूप-का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उस परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४ । ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कोई भी पदार्थ नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
(३ । १९, २० का पूर्वार्ध)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको हो जाता है। जनकादि ज्ञानीजन भी ... कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे।'

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
(५ । ५ का पूर्वार्ध)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है।'

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(५ । ६ का उत्तरार्ध)

'कर्मयोगी मुनि परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

भक्तिमिश्रित कर्मयोग

इसी प्रकार भक्तिमिश्रित कर्मयोगके द्वारा परमात्मा-की प्राप्ति हो जाती है और यह सर्वथा उपयुक्त ही है। जब केवल निष्काम कर्मयोगसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तब भक्तिमिश्रित कर्मयोगसे हो, इसमें तो कहना ही क्या है। इस विषयमें भी स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पण
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामु
(९

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो हवन करता है, जो दान देता तप करता है, वह सब मेरे अर्पण क जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभा बन्धनसे मुक्त ... गा और उनसे ही प्राप्त हो

यतः

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २०-२१)

'हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं। काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

जो इन दुर्गुणों और विकारोंसे रहित हैं, वे ही भगवान्‌के सच्चे साधक हैं और वे ही उस परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥(१६।२२)

'हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम-गतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥(१२।१५)

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

संत तुलसीदासजी भी कहते हैं—

काम क्रोध मद लोभ की जब लगि मन महँ खान।
तुलसी पंडित मूरखा दोनों एक समान॥

इससे यही सिद्धान्त निश्चित होता है कि दुर्गुण और दुराचारके रहते हुए कोई भी पुरुष मुक्त नहीं हो सकता। यही अटल सिद्धान्त है।

ईश्वर, परलोक और पुनर्जन्म सत्य हैं

कुछ लोग यह कहते हैं कि 'न तो ईश्वर है और न परलोक तथा भावी जन्म ही है। पाँच जड भूतोंके इकट्ठे होनेपर उनमें एक चेतनशक्ति आ जाती है और उसमें विकार होनेपर वह फिर नष्ट हो जाती है।' यह कहना भी बिल्कुल असंगत है। हम देखते हैं कि देहमें पाँच भूतोंके विद्यमान रहते हुए भी चेतन जीवात्मा चला जाता है और वह पुनः लौटकर वापस नहीं आ सकता। यदि पाँच भूतोंके मिश्रणसे ही चेतन आत्मा प्रकट होता हो तो ऐसा आजतक किसीने न तो करके दिखाया ही और न कोई दिखला ही सकता है। अतः यह कथन सर्वथा अयुक्त और त्याज्य है। जीव इस शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। गीतामें भी देहान्तरकी प्राप्ति होनेकी बात स्वयं भगवान्‌ने कही है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥(२।१३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥(२।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

अतएव उन लोगोंका उपर्युक्त कथन शास्त्रसे भी असंगत है; क्योंकि मरनेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है तथा परलोक और पुनर्जन्म भी है।

इसी प्रकार उनका यह कथन भी भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर नहीं है; क्योंकि—आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि पदार्थोंकी रचना और उनका संचालन एवं जीवोंके मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको यथास्थान स्थापित करना ईश्वरके बिना कदापि सम्भव नहीं है। संसारमें जो भौतिक विज्ञान (Science) के द्वारा यन्त्रादिकी रचना देखी जाती है, उन सभीका किसी बुद्धिमान्

चेतनके द्वारा ही निर्माण होता है। फिर यह जो इतना विशाल संसार-चक्ररूप यन्त्रालय है, उसकी रचना चेतनकी सत्ताके बिना जड प्रकृति (Nature) कभी नहीं कर सकती।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि इसका जो उत्पादक और संचालक है, वही ईश्वर है।

गीताजीमें भी लिखा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८। ६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

शुक्लयजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके प्रथम मन्त्रमें बतलाया है—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके सकाशसे (सहायतासे) त्यागपूर्वक इसे भोगते रहो, इसमें आसक्त मत होओ; क्योंकि धन-ऐश्वर्य किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है।'

पूर्व और भावी जन्म न मानकर बिना ही कारण जीवोंकी उत्पत्ति माननेसे ईश्वरमें निर्दयता और विषमता-का दोष भी आता है; क्योंकि संसारमें किसी जीवको मनुष्यकी और किसीको पशु आदिकी योनि प्राप्त होती है। कोई जीव सुखी और कोई दुखी देखा जाता है। अतः जीवोंके जन्मका कोई सबल और निश्चित हेतु होना चाहिये। वह हेतु है पूर्वजन्मके गुण और कर्म। भगवान्-ने भी गीता (४। १३) में कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों-का समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरेद्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

इससे यह सिद्ध होता है कि मरनेके बाद भावी जन्म है।

मुक्त पुरुष लौटकर नहीं आते

कितने ही लोग यह मानते हैं कि 'जीव मुक्त तो होते हैं; किंतु महाप्रलयके बाद पुनः लौटकर वापस आ जाते हैं।' किंतु उनकी यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि श्रुतियोंकी यह स्पष्ट घोषणा है—

न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते।
(छान्दोग्य० ८। १५। १)

'(मुक्त हो जानेपर पुरुष) फिर वापस लौटकर नहीं आता, वह पुनः वापस लौटकर आता ही नहीं।'

गीता (८। १६) में भी भगवान् कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादि-के लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं।'

यदि यह मान लिया जाय कि मुक्त होनेपर भी प्राणी वापस आता है तो फिर स्वर्गप्राप्ति और मुक्तिमें अन्तर ही क्या रहा? इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि लोकान्तरोंमें गया हुआ जीव ही लौटकर आता है, जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह नहीं आता। युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है। जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर जीवकी चिज्जडग्रन्थि खुल जाती है, उसके सारे कर्म और संशयोंका सर्वथा नाश हो जाता है, तथा प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसी स्थितिमें गुण, कर्म और अज्ञानके सम्बन्ध बिना जीव वापस नहीं आ सकता। मुक्त तो यथार्थमें वही है, जिसके पूर्वके गुण और कर्म

जब संसार और आत्मा सर्वथा भिन्न हो चुका है।

ऐसा होनेपर पुरुषका गुण और कर्मोंसे सम्बन्ध रहे बिना फलतः किसी देहको धारण किये और सुख-दुःखका उपभोग करना — सर्वथा असंगत और असम्भव है।

यदि कहें कि 'इस प्रकार और मुक्त होते रहनेसे शनैः-शनैः सभी मुक्त हो जायँगे।' तो यह ठीक ही है। यदि शनैः-शनैः सभी मुक्त हो जायँ तो इसमें क्या हानि है? सभी पुरुष तो सबके कल्याणके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते ही रहते हैं।

सभी देश, सभी काल, सभी आश्रमोंमें मनुष्यमात्रकी मुक्ति हो सकती है

कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि 'इस देशमें, इस कालमें और गृहस्थ-आश्रममें मुक्ति नहीं होती।' यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मान लेनेपर तो परमात्माकी प्राप्ति असम्भव-सी हो जाती है, फिर मुक्तिके लिये कोई प्रयत्न ही क्यों करेगा? इससे तो फिर प्रायः सभी मुक्तिसे वञ्चित रह जायँगे। अतः इसका कहना भी शास्त्रसंगत और युक्तिसंगत नहीं है। सत्य तो यह है कि मुक्ति ज्ञानसे होती है और ज्ञान होता है साधनोंके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर, एवं साधन सभी देशोंमें, सभी कालोंमें, सभी वर्णाश्रमोंमें हो सकते हैं। ज्ञान और ज्ञानके साधन किसी देश-काल-आश्रमकी कैदमें नहीं हैं।

भारतवर्ष तो आत्मोद्धारके लिये अन्य देशोंकी अपेक्षा विशेष उत्तम माना गया है। श्रीमनुजी कहते हैं—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
> (मनुस्मृति २। २०)

'इसी देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे अखिल भूमण्डलके मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।'

अतः यह कहना कि इस देशमें मुक्ति नहीं होती, अनुचित है। इसी प्रकार यह कहना भी अनुचित है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती।

क्योंकि मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। भगवान्ने बतलाया है—

> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
> (गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

विष्णुपुराणके छठे अंशके दूसरे अध्यायमें एक कथा आती है। एक बार बहुत-से मुनिगण महामुनि श्रीवेदव्यासजीके पास एक प्रश्नका उत्तर जाननेके लिये आये। उस समय श्रीवेदव्यासजी गङ्गाजीमें स्नान कर रहे थे। उन्होंने मुनियोंके मनके अभिप्रायको जान लिया और गङ्गामें डुबकी लगाते हुए ही वे कहने लगे—'कलियुग श्रेष्ठ है, शूद्र श्रेष्ठ हैं, स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।' फिर उन्होंने गङ्गासे बाहर निकलकर मुनियोंसे पूछा—'आपलोग यहाँ कैसे पधारे हैं?' मुनियोंने कहा—

> कलिः साध्विति यत्प्रोक्तं शूद्रः साध्विति योषितः।
> यदाह भगवान् साधु धन्याश्चेति पुनः पुनः॥
> (६। २। १२)

'भगवन्! आपने जो स्नान करते समय पुनः-पुनः यह कहा था कि कलियुग ही श्रेष्ठ है, शूद्र ही श्रेष्ठ हैं, स्त्रियाँ ही श्रेष्ठ और धन्य हैं, सो इसका क्या कारण है?'

इसपर श्रीवेदव्यासजी बोले—

> यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
> द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
> तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
> प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
> ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
> यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
> (६। २। १५—१७)

'हे ब्राह्मणो! जो परमात्माकी प्राप्तिरूप फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेपर

मिलता है उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्षमें, द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है । जो परमात्माकी प्राप्ति सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें पूजा करनेसे होती है, वही कलियुगमें श्रीभगवान्‌के नाम-कीर्तन करनेसे हो जाती है ।'

यहाँ अन्य सब कालोंकी अपेक्षा कलियुगकी विशेषता बतलायी गयी है । इसलिये इस कालमें मुक्ति नहीं होती, यह बात शास्त्रसे असंगत है ।

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

अब शूद्र क्यों श्रेष्ठ हैं, यह बतलाते हैं—

ब्रह्मचर्यपरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः ।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद् धनैः ॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान् ।
निजाञ्जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः ॥
(६ । २ । १९-२३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना चाहिये और फिर स्वधर्मके अनुसार उपार्जित धनके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करना कर्तव्य है । (इस प्रकार वह अत्यन्त क्लेशसे अपने पुण्यलोकोंको प्राप्त करते हैं ।) किंतु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र तो द्विजोंकी - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी सेवा करनेसे अनायास ही अपने पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है ।'

अब स्त्रियोंको जिसलिये श्रेष्ठ कहा, सो बतलाते हैं—

योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा ।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः ॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा ।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्वीति योषितः ॥
(६ । २ । २८-२९)

[illegible] स्त्रियाँ तो तन मन-वचनके द्वारा पतिकी सेवा करनेसे ही पतिके समान शुभ लोकोंको अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं जो कि पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं । इसीलिये मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं ।'

इसी प्रकार वैश्यके लिये भी अपने धर्मके पालनसे मुक्तिका प्राप्त होना शास्त्रोंमें बतलाया गया है । पद्मपुराण सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें तुलाधार वैश्यके विषयमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि "उसने कभी मन, वाणी या क्रियाद्वारा किसीका कुछ बिगाड़ नहीं किया, वह कभी असत्य नहीं बोला और उसने दुष्टता नहीं की । वह सब लोगोंके हितमें तत्पर रहता है, सब प्राणियोंमें समान भाव रखता है तथा मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है । लोग जौ, नमक, तेल, घी, अनाजकी ढेरियाँ तथा अन्यान्य संगृहीत वस्तुएँ उसकी जबानपर ही लेते-देते हैं । वह प्राणान्त उपस्थित होनेपर भी सत्य छोड़कर कभी झूठ नहीं बोलता । अतः वह 'धर्म-तुलाधार' कहलाता है । उसने सत्य और समतासे तीनों लोकोंको जीत लिया है, इसीलिये उसपर पितर, देवता तथा मुनि भी संतुष्ट रहते हैं । धर्मात्मा तुलाधार उपर्युक्त गुणोंके कारण ही भूत और भविष्यकी सब बातें जानता है* । बुद्धिमान् तुलाधार धर्मात्मा है तथा सत्यमें प्रतिष्ठित है । इसीलिये देशान्तरमें होनेवाली बातें भी उसे ज्ञात हो जाती हैं । तुलाधारके समान प्रतिष्ठित व्यक्ति देवलोकमें भी नहीं है ।"

वह तुलाधार वैश्य उपर्युक्त प्रकारसे अपने धर्मका पालन करता हुआ अन्तमें अपनी पत्नी और परिवारसहित विमानमें बैठकर विष्णुधामको चला गया ।

इसी प्रकार 'मूक' चाण्डाल भी माता-पिताकी सेवा करके उसके प्रभावसे भगवान्‌के परम धाममें चला

* सत्येन समभावेन जितं तेन जगत्त्रयम् ।
तेनातृप्यन्त पितरो देवा मुनिगणैः सह ॥
भूतं भव्यं प्रवृत्तं च तेन जानाति धार्मिकः ।
(४७ । [illegible])

गया । वह माता-पिताकी सेवा जिस प्रकारसे किया करता था, इसका पद्मपुराण सृष्टिखण्डके ४७वें अध्यायमें बड़ा सुन्दर वर्णन है । वहाँ बतलाया है कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा रहता था । जाड़ेके दिनोंमें वह अपने माँ-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमें तेल मलता, तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके पश्चात् पान खिलाना और रूईदार कपड़े पहननेको देता था। प्रतिदिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसन्त ऋतुमें महुएके पुष्पोंकी सुगन्धित माला पहनाता था। इनके सिवा और भी जो भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं, उन्हें देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था । गरमीकी मौसिममें प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था । इस प्रकार नित्यप्रति उनकी परिचर्या करके ही वह भोजन करता था । माता-पिताकी थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था ।

इन पुण्यकर्मोंके कारण उस चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खंभेके ही आकाशमें स्थित था । उसके अंदर त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि मनोहर ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजमान रहते थे । वे सत्य-स्वरूप परमात्मा अपने महान् सत्त्वमय तेजस्वी विग्रहसे उस चाण्डालके घरकी शोभा बढ़ाते थे ।

उसी प्रसङ्गमें एक शुभा नामकी पतिव्रता स्त्रीका आख्यान भी आया है । जब तपस्वी नरोत्तम ब्राह्मण मूक चाण्डालके कथनानुसार पतिव्रताके घर गया और उसके विषयमें पूछने लगा तो अतिथिकी आवाज सुनकर वह पतिव्रता घरके दरवाजेपर आकर खड़ी हो गयी । उस समय ब्राह्मणने कहा—'देवि ! तुमने जैसा देखा और समझा है, उसके अनुसार स्वयं ही सोचकर मेरे लिये प्रिय और हितकी बात बतलाओ ।' शुभा बोली—'ब्रह्मन् ! इस समय मुझे पतिदेवकी सेवा करनी है, अतः अवकाश नहीं है, इसलिये आपका कार्य पीछे करूँगी, इस समय तो आप मेरा आतिथ्य ग्रहण कीजिये ।' नरोत्तमने कहा—'मेरे शरीरमें इस समय भूख, प्यास और थकावट नहीं है, मुझे अभीष्ट बात बतलाओ, नहीं तो मैं तुम्हें शाप दे दूँगा ।' तब उस पतिव्रताने भी कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! मैं बगुला नहीं हूँ, आप धर्म-तुलाधारके पास जाइये और उन्हींसे अपने हितकी बात पूछिये ।' यों कहकर वह पतिव्रता अपने घरके भीतर चली गयी । अपने धर्मपालनमें कितनी दृढ़ निष्ठा है ! इस पातिव्रत्यके प्रभावसे ही वह देशान्तरमें घटनेवाली घटनाओंको भी जान लेती थी और इस प्रकार पतिसेवा करती हुई अन्तमें वह अपने पतिके सहित भगवान्के परम धाममें चली गयी । ऐसे ही द्रौपदी, अनसूया, सुकला आदि और भी बहुत-सी पतिव्रताएँ ईश्वरकी भक्ति और पातिव्रत्यके प्रभावसे परम पदको प्राप्त हो चुकी हैं ।

इसी प्रकार सत् शूद्रोंमें संजय, लोमहर्षण, उग्रश्रवा आदि सूत भी परम गतिको प्राप्त हुए हैं तथा निम्न जातियोंमें गुह, केवट, शबरी (भीलनी) आदि मुक्त हो गये हैं ।

जब स्त्री, वैश्य और शूद्रोंकी तथा पापयोनि—चाण्डालादि गृहस्थियोंकी मुक्ति हो जाती है तो फिर उत्तम वर्ण और उत्तम आश्रमवालोंकी मुक्ति हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य है !

शास्त्रोंके इन प्रमाणोंसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि सभी देश, सभी काल और सभी जातिमें मनुष्यका कल्याण हो सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह चाहे किसी भी देशमें हो, किसी भी कालमें हो और किसी भी जाति, वर्ण और आश्रममें हो, उसीमें शास्त्रविधिके अनुसार अपने कर्त्तव्यका पालन करता हुआ ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग—किसी भी अपनी रुचि और अधिकारके अनुकूल साधनके द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेका पूरा प्रयत्न करे ।

निराश नहीं होना चाहिये

पहले हमारे मनमें कई विचार हुए थे, किंतु अभीतक विचारके अनुसार कोई काम नहीं हुआ । एक तो ऐसा

विचार हुआ था कि 'संसारमें तीन श्रेणीके मनुष्य तैयार हों—भक्तियोगी, कर्मयोगी और ज्ञानयोगी। ज्ञानके द्वारा जिन्होंने आत्माका उद्धार कर लिया, वे ज्ञानयोगी; भक्तिके द्वारा जो भगवान्‌को प्राप्त करके मुक्त हो गये, वे भक्तियोगी; और निष्काम भावसे कर्म करके जो मुक्त हो गये, वे कर्मयोगी हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आवे कि इस समूहमें सभी ज्ञानयोगी हैं; इस समूहमें सभी भक्तियोगी हैं और इस समूहमें सभी कर्मयोगी हैं।' ऐसा मनका विचार था। परंतु समूहकी तो बात दूर रही, अपने लोगोंमें दो-चार भी ऐसे पुरुष तैयार नहीं हुए। यह खेदकी बात अवश्य है, परंतु अभीतक ऐसे पुरुषोंका निर्माण न होनेपर भी मनमें कभी निराश नहीं होना चाहिये। मनुष्यको सदा आशावादी ही रहना चाहिये।

अब हमलोगोंमें बहुत-से भाई मृत्युके समीप पहुँच रहे हैं और यह उपर्युक्त बात अभीतक विचारमें ही रही, कार्यरूपमें परिणत नहीं हो सकी। मुझे तो यही समझना चाहिये कि यह मेरी कमी है। मुझमें कोई ऐसा प्रभाव नहीं कि जिससे दूसरे पुरुषोंको परमात्माकी प्राप्ति हो जाय यानी मुझमें ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं कि मैं दूसरोंको मुक्त कर सकूँ। जितने सुननेवाले भाई हैं, उन लोगोंको यही समझना चाहिये कि हम जो शास्त्रकी बातें सुनते हैं, उनको काममें नहीं लाते; इसीलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित हैं।

श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराणोंकी अर्थात् उपनिषद्, गीता, महाभारत, रामायण, भागवत आदिकी जो बातें हैं, वे अवश्य कल्याण करनेवाली हैं। मैं तो केवल उनका अनुवादमात्र कर देता हूँ। यह बात नहीं कि आपलोगोंके लिये ही उनका पालन करना कर्तव्य है और मेरे लिये नहीं। ऐसा मैं नहीं कहता। गीता तो साक्षात् [illegible] वचन हैं और अन्य सब शास्त्र ऋषि-मुनियोंके। इन शास्त्रोंके वचनोंको कोई भी काममें लावे तो उसका [illegible] हो सकता है। आपलोग काममें लावें तो [illegible] हो सकता है और यदि मैं काममें लाऊँ तो मेरा। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि जो कुछ मैं कहता हूँ, उन सभी बातोंको मैं स्वयं आचरणमें लाकर ही कहता हूँ। किंतु उनको आचरणमें लाना उत्तम समझता हूँ, अतः आचरणमें लानेके लिये हम-लोगोंको प्रयत्न करना चाहिये। फिर भी मैं निराश नहीं हूँ और मुझको निराश होना भी नहीं चाहिये। आप लोगोंको भी निराश नहीं होना चाहिये कि इतने दिनों-तक हमलोग आचरणमें नहीं ला सके तो भविष्यमें शायद ही ला सकें। मनमें थोड़ी भी निराशा हो जाती है तो कार्य सफल नहीं होता। अतः सबको बड़े ही धैर्य, उत्साह और तेजीके साथ भगवान्‌की तथा ऋषियोंकी आज्ञाका कर्तव्य समझकर पालन करते ही रहना चाहिये। एवं दूसरोंसे पालन करानेकी भी प्रेमपूर्वक चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि गीतामें अठारहवें अध्यायके ६८वें, ६९वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे भावोंका जो संसारमें प्रचार करता है अर्थात् जो गीता-शास्त्रका प्रचार करता है, वह मेरी परम भक्ति करके मुझको प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, उसके समान मेरा प्यारा काम करनेवाला दुनियामें न कोई हुआ, न कोई है और न कोई भविष्यमें होगा।' इन बातोंपर ध्यान देकर हम भगवान्‌के भावोंका प्रचार करें तो उससे अपना कल्याण तो निश्चित है ही, दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है। इसलिये मुझको तो यही आशा रखनी चाहिये कि आप लोगोंकी जो स्थिति और साधन है, वह उत्तरोत्तर विशेष प्रचण्ड हो सकता है और आपलोगोंको भी मनमें खूब उत्साह लाकर अपनी स्थिति और साधन जिस तरहसे तेज हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌की तो कृपा है ही, उनकी तो हर समय ही सहायता रहती है। भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार जो कोई चलता है और चलना चाहता है, भगवान् उसकी सब प्रकारसे सहायता करते हैं।

हम देख रहे हैं कि जो मनुष्य सरकारकी आज्ञाका पालन करना चाहता है, सरकार उसकी सहायता करती है, फिर भगवान् सहायता करें, इसमें तो कहना

ही क्या है। केवल हमारा ध्येय—लक्ष्य यह होना चाहिये कि हम भगवान्‌की और महापुरुषोंकी आज्ञाका परम कर्तव्य समझकर पालन करें। शास्त्रोंमें यह बात देखी गयी है कि जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, महात्माओंकी और ईश्वरकी कृपासे उसके कार्यकी सिद्धि हो जाती है।

कर्तव्य-पालनसे मुक्ति

जबालाके पुत्र सत्यकामने महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन किया। उसने यह निश्चय कर लिया कि जो बात गुरुजीने कही है, उसका अक्षरशः पालन करना चाहिये। वह अपना कर्तव्य समझकर उसके पालनके लिये तत्पर हो गया और मन लगाकर उसने वह कार्य किया। गौओंकी सेवा करते-करते ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी। गुरुने चार सौ दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा था कि तू इन गौओंके पीछे जा और इनकी सेवा कर। कितने आश्चर्यकी बात है। देखनेमें तो यह कोई ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन नहीं है। वह तो आया था गुरुकी सेवामें परमात्माकी प्राप्तिके लिये और गुरुने कह दिया कि तुम गौओंके पीछे जाओ। पर उसको यह दृढ़ विश्वास था कि गुरुकी आज्ञाका पालन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप अवश्य होगी। गुरुजी जो कुछ कहते हैं, मेरे कल्याणके लिये ही कहते हैं। उसको यह पूरा निश्चय था। नहीं तो, वह इस प्रकार कैसे करता। उसका परिणाम भी परम कल्याणकारी हुआ। उसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी और आगे चलकर वह भी एक उच्च कोटिका आचार्य बन गया। उसके पास भी विद्यार्थी लोग शिक्षा लेनेके लिये आने लगे। उसको यह विश्वास था कि जैसे मुझको अपने-आप ही गुरुकी कृपासे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी, इसी प्रकार मेरे समीप रहनेवालोंको भी हो जानी चाहिये।

उपकोसल नामका उसका एक शिष्य था। उसको गुरुकी तथा अग्नियोंकी सेवा करते-करते बारह वर्ष बीत गये, किंतु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंको तो समावर्तन-संस्कार करके विदा कर दिया, केवल उसीको नहीं किया। तब एक दिन सत्यकामसे उनकी धर्मपत्नीने कहा—'स्वामिन्! यह ब्रह्मचारी बड़ी तपस्या कर चुका है। इसने आपकी और अग्नियोंकी भी भलीभाँति सेवा की है। अतः इसे ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये।' परंतु सत्यकाम उसे उपदेश दिये बिना ही बाहर वनकी ओर चले गये; क्योंकि उनको यह पूरा विश्वास था कि 'यह श्रद्धालु है और कर्तव्यका पालन कर रहा है, इसलिये इसे अपने-आप ही निश्चय ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायगी।' पत्नीके अनुरोध करनेपर भी वे अपने निश्चयपर डटे रहे और ब्रह्मका उपदेश दिये बिना ही चले गये। इससे उपकोसलने अपने-आपको अयोग्य समझा और दुःखी होकर यह निश्चय किया कि जबतक मुझे गुरुजी ब्रह्मका उपदेश नहीं देंगे, तबतक मैं उपवास रक्खूँगा। तदनन्तर, गुरुपत्नीने उससे भोजनके लिये आग्रह किया, किंतु उसने मानसिक व्याधि बनाकर भोजन नहीं किया।

अग्निशालामें तीन कुण्डोंमें तीन अग्नियाँ होती हैं—१ गार्हपत्याग्नि, २ दक्षिणाग्नि, ३ आहवनीयाग्नि। जिसमें नित्य हवन किया जाता है, उसका नाम आहवनीय-अग्नि है। पूर्णमासी तथा अमावास्याके दिन जिसमें हवन किया जाता है, वह दक्षिणाग्नि है और जिसमें बलि-वैश्वदेव किया जाता है, वह गार्हपत्याग्नि है। गार्हपत्यका मतलब है कि जिससे गृहस्थका काम चले। जब मनुष्यका विवाह होता है, तब विवाहमें हवनकी अग्नि श्वशुरके यहाँसे लायी जाती है और जीवनपर्यन्त उसमें वह बलिवैश्वदेव करता रहता है तथा मरनेके बाद उसी अग्निमें उसकी दाह-क्रिया—अन्त्येष्टि-क्रिया होती है। विवाहसे लेकर मरणपर्यन्त वह अग्नि अखण्ड रहती है, उसे निरन्तर कायम रक्खा जाता है।

वे तीनों अग्नियाँ अग्निशालामें हवनकुण्डमें प्रकट हुईं और आपसमें उनकी इस प्रकार बातें होने लगीं कि यह उपकोसल नामका लड़का गुरुकी, गुरुपत्नीकी और हमलोगोंकी भी बड़ी भारी सेवा करता है। इसलिये इसको हमलोग ब्रह्मका उपदेश करें। फिर

ही माँगते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो।'

यह है निष्कामभाव! निष्कामभाव सबसे ऊँचा है। फिर भी हम भगवान्से अपनी आत्माके कल्याणके लिये, परमात्माके दर्शनके लिये, भगवान्में प्रेम होनेके लिये स्तुति-प्रार्थना करें, तो यह कामना शुद्ध होनेके कारण निष्काम ही है।

उच्च निष्कामभावका स्वरूप

अपने परम कल्याणकी, भगवान्में प्रेम होनेकी और भगवान्के दर्शनोंकी जो कामना है, यह शुभ और शुद्ध कामना है। इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। फिर भी अपने कर्तव्यका पालन करना और कुछ भी नहीं माँगना—यह और भी उच्चकोटिका भाव है। और देनेपर मुक्तिको भी स्वीकार न करना, यह उससे भी बढ़कर बात है। श्रीभगवान् और महात्माओंके पास तो माँगनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; क्योंकि जैसे कोई सेवक नौकरी करता है और उसकी सेवाको स्वीकार करनेवाले स्वामी यदि उच्चकोटिके होते हैं तो वे स्वयं ही उसका ध्यान रखते हैं। वे न भी ध्यान रक्खें तो भी उस सेवककी कोई हानि नहीं होती। यदि उसमें सच्चा निष्कामभाव हो तो परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है, किंतु ऐसा उच्चकोटिका भाव ईश्वरकी कृपासे ही होता है। इस समय ऐसे स्वामी बहुत ही कम हैं और ऐसे सेवक भी देखनेमें बहुत कम आते हैं। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि संसारमें ऐसे कोई हैं ही नहीं। अवश्य ही संसारमें सच्चे महात्मा बहुत ही कम हैं। करोड़ोंमें कोई एक ही होते हैं। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है।'

हमारा यह कहना नहीं है कि संसारमें महात्मा हैं ही नहीं और हम यह भी नहीं कह सकते कि संसारमें कोई श्रद्धालु सच्चा सेवक (पात्र) भी नहीं है। संसारमें ऐसे पात्र भी मिलते हैं और महात्मा भी, किंतु मिलते हैं बहुत कम। उस कमकी श्रेणीमें ही हमलोगोंको भाग लेना चाहिये अर्थात् उस प्रकारके बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

हमलोगोंको तो यह भाव रखना चाहिये कि केवल हमारे आत्माका ही नहीं, सबका कल्याण हो। अपने आत्माके कल्याणके लिये तो सब जिज्ञासु प्रयत्न करते ही हैं। इसकी अपेक्षा यह भाव बहुत उच्चकोटिका है कि 'सभी हमारे भाई हैं, अत सभीके साथ हमारा कल्याण होना चाहिये।' इससे भी उच्चकोटिका भाव यह है कि सबका कल्याण होकर उसके बाद हमारा कल्याण हो। इसमें भी मुक्तिकी कामना है, किंतु कामना होनेपर भी निष्कामके तुल्य है। और अपने कल्याणके विषयमें कुछ भी कामना न करके अपने कर्तव्यका पालन करता रहे तथा अपना केवल यही उद्देश्य रक्खे कि 'सबका उद्धार हो', तो यह और भी विशेष उच्चकोटिका भाव है। लक्ष्य तो अपना सबसे उच्चकोटिका ही होना चाहिये। कार्यमें परिणत न भी हो तो भी सिद्धान्त तो उच्चकोटिका ही रखना उचित है। हमको इस बातका ज्ञान भी हो जाय कि यह उच्चकोटिकी चीज है तो किसी समय वह कार्यमें भी परिणत हो सकती है। ज्ञान ही न हो तो कार्यमें कैसे आवे।

भगवान्की भक्ति तो बहुत ही उत्तम वस्तु है। जो मनुष्य भगवान्की भक्ति नहीं करता है, उससे तो वह श्रेष्ठ है कि जो धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्रीकी कामनाके लिये भक्ति करता है। उस सकामी भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है जो स्त्री, पुत्र, धनके लिये तो नहीं करता, किंतु घोर आपत्ति आ जानेपर उस संकट-निवारणके लिये आर्तनाद करता है। उस आर्त भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है, जो केवल अपनी मुक्तिके लिये, परमात्माके ज्ञानके लिये, उनमें प्रेम होनेके लिये या उनके दर्शनके

गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-अग्नियोंने क्रमशः उसे ब्रह्मका उपदेश दिया, जिससे उसे ब्रह्मका ज्ञान हो गया।

ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होनेके पश्चात् गुरुजी भी वनसे लौटकर आये। गुरुजीने उपकोसलसे कहा—'तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान शान्त जान पड़ता है, तुझे किसने ब्रह्मका उपदेश किया है?' उपकोसलने अँगुलियोंसे अग्नियोंकी ओर संकेत करके बतलाया कि 'इन अग्नियोंने मुझको उपदेश दिया है।' सत्यकामने पूछा—'उन्होंने क्या उपदेश दिया?' उपकोसलने, अग्नियोंने ब्रह्मविषयक जो कुछ उपदेश दिया था, वह ज्यों-का-त्यों सुना दिया और कहा कि 'अब कृपया आप बतलाइये।' इसपर सत्यकामने उसे विस्तारके साथ ब्रह्मका उपदेश दिया।

सत्यकामके हृदयमें कितना दृढ़ विश्वास था कि निश्चय ही उसे अपने-आप ही ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। यह दृढ़ विश्वास इसीलिये था कि उन्हें स्वयं इसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति हुई थी। इससे हमलोगोंको समझना चाहिये कि मनुष्य जब अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, तब एक दिन अवश्य ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये सत्यकामका यह उदाहरण आदर्श है। सत्यकामके गुरुजी महापुरुष थे; उनकी कृपासे सत्यकामको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी और महात्मा सत्यकामकी सेवा करनेपर उनकी कृपासे उपकोसलको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

जो साधक महापुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करता रहता है, उसको उनकी कृपासे निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। फिर जो भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार अनन्यशरण होकर अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसका कल्याण होनेमें तो कहना ही क्या है!

भक्त प्रह्लाद निष्काम भावसे अपने कर्तव्यका पालन करते रहे। उन्होंने कभी दर्शन देनेके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की। उनपर भारी-से-भारी अत्याचार होते रहे, किंतु उन्होंने कभी अपने कर्तव्य-पालनसे मुँह नहीं मोड़ा। इस प्रकार करते-करते एक दिन वह आया जब कि स्वयं भगवान्‌ने नृसिंहरूपमें प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये और प्रह्लादसे कहा—

> क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
> क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
> आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं
> क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः॥

'प्रिय वत्स! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्त दैत्यके द्वारा की हुई तुझपर दारुण यातनाएँ! अहो! यह कैसा अभूतपूर्व प्रसङ्ग देखनेमें आया! मुझे आनेमें यदि देर हो गयी हो तो तू मुझे क्षमा कर।'

यह सुनकर प्रह्लादजी लज्जित हो गये और बोले—'महाराज! आप यह क्या कहते हैं!' उसके बाद भगवान् नृसिंह प्रह्लादसे बोले कि 'तेरी इच्छा हो सो वरदान माँग।' इसपर प्रह्लादने कहा—'प्रभो! मैं जन्मसे ही विषयभोगोंमें आसक्त हूँ, अब मुझे इन वरोंके द्वारा आप लुभाइये नहीं। मैं उन भोगोंसे भयभीत होकर—उनसे निर्विण्ण होकर उनसे छूटनेकी इच्छासे ही आपकी शरणमें आया हूँ। भगवन्! मुझमें भक्तके लक्षण हैं या नहीं, यह जाननेके लिये आपने अपने भक्तको वरदान माँगनेकी ओर प्रेरित किया है। ये विषयभोग हृदयकी गाँठको और भी मजबूत करनेवाले तथा बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं। जगद्गुरो! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और कोई कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु हैं। आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है। जो स्वामीसे अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये ही, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं है। मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश स्वामी-सेवकका सम्बन्ध रहता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं। मेरे स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना

ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो ।'

यह है निष्कामभाव ! निष्कामका स्तर सबसे ऊँचा है । फिर भी हम भगवान्से अपनी आत्माके कल्याणके लिये, परमात्माके दर्शनके लिये, भगवान्में प्रेम होनेके लिये स्तुति-प्रार्थना करें, तो वह कामना शुद्ध होनेके कारण निष्काम ही है ।

उच्च निष्कामभावका स्वरूप

अपने परम कल्याणकी, भगवान्में प्रेम होनेकी और भगवान्के दर्शनोंकी जो कामना है, यह शुभ और शुद्ध कामना है । इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है । फिर भी अपने कर्तव्यका पालन करना और कुछ भी नहीं माँगना—यह और भी उच्चकोटिका भाव है। और देनेपर मुक्तिको भी स्वीकार न करना, यह उससे भी बढ़कर बात है । श्रीभगवान् और महात्माओंके पास तो माँगनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; क्योंकि जैसे कोई सेवक नौकरी करता है और उसकी सेवाको स्वीकार करनेवाले स्वामी यदि उच्चकोटिके होते हैं तो वे स्वयं ही उसका ध्यान रखते हैं । वे न भी ध्यान रखें तो भी उस सेवककी कोई हानि नहीं होती । यदि उसमें सच्चा निष्कामभाव हो तो परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है, किंतु ऐसा उच्चकोटिका भाव ईश्वरकी कृपासे ही होता है । इस समय ऐसे स्वामी बहुत ही कम हैं और ऐसे सेवक भी देखनेमें बहुत कम आते हैं । परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि संसारमें ऐसे कोई हैं ही नहीं । अवश्य ही संसारमें सच्चे महात्मा बहुत ही कम हैं । करोड़ोंमें कोई एक ही होते हैं । भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ (७ । ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थ-रूपसे जानता है ।'

हमारा यह कहना नहीं है कि संसारमें महात्मा हैं ही नहीं और हम यह भी नहीं कह सकते कि संसारमें कोई श्रद्धालु सच्चा सेवक (पात्र) भी नहीं है । संसारमें ऐसे पात्र भी मिलते हैं और महात्मा भी, किंतु मिलते हैं बहुत कम । उस कमकी श्रेणीमें ही हम-लोगोंको भाग लेना चाहिये अर्थात् उस प्रकारके बनने-की कोशिश करनी चाहिये ।

हमलोगोंको तो यह भाव रखना चाहिये कि केवल हमारे आत्माका ही नहीं, सबका कल्याण हो । अपने आत्माके कल्याणके लिये तो सब जिज्ञासु प्रयत्न करते ही हैं । इसकी अपेक्षा यह भाव बहुत उच्चकोटिका है कि 'सभी हमारे भाई हैं, अत सभीके साथ हमारा कल्याण होना चाहिये ।' इसमें भी उच्चकोटिका भाव यह है कि सबका कल्याण होकर उसके बाद हमारा कल्याण हो । इसमें भी मुक्तिकी कामना है, किंतु कामना होनेपर भी निष्कामके तुल्य है । और अपने कल्याणके विषयमें कुछ भी कामना न करके अपने कर्तव्यका पालन करता रहे तथा अपना केवल यही उद्देश्य रक्खे कि 'सबका उद्धार हो', तो यह और भी विशेष उच्चकोटिका भाव है । लक्ष्य तो अपना सबसे उच्चकोटिका ही होना चाहिये । कार्यमें परिणत न भी हो तो भी सिद्धान्त तो उच्चकोटिका ही रखना उचित है । हमको इस बातका ज्ञान भी हो जाय कि यह उच्च-कोटिकी चीज है तो किसी समय वह कार्यमें भी परिणत हो सकती है । ज्ञान ही न हो तो कार्यमें कैसे आये ।

भगवान्की भक्ति तो बहुत ही उत्तम वस्तु है । जो मनुष्य भगवान्की भक्ति नहीं करता है, उससे तो वह श्रेष्ठ है कि जो धन, ऐश्वर्य, पुत्र, स्त्रीकी कामनाके लिये भक्ति करता है । उस सकामी भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है जो स्त्री, पुत्र, धनके लिये तो नहीं करता, किंतु घोर आपत्ति आ जानेपर उस संकट-निवारणके लिये आर्तनाद करता है । उस आर्त भक्तसे भी वह श्रेष्ठ है, जो केवल अपनी मुक्तिके लिये, परमात्माके ज्ञानके लिये, उनमें प्रेम होनेके लिये या उनके दर्शनके

लिये उनसे प्रार्थना करता है। ऐसा जिज्ञासु उपर्युक्त सबसे श्रेष्ठ है। उसमें भी वह श्रेष्ठ है जो अपने आत्माके कल्याणके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं करता; परंतु अपने कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन ही करता रहता है अर्थात् निष्कामभावसे ईश्वरकी अनन्य भक्ति करता ही रहता है। उसको यह विश्वास है कि 'परमात्माकी प्राप्ति निश्चय अपने-आप ही होगी; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे सब जानते हैं। उनके पास प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, मुझको अपने कर्तव्यका पालन करते ही रहना चाहिये।' ऐसा निष्कामी उपर्युक्त सबमें श्रेष्ठ है। इससे भी श्रेष्ठ वह पुरुष है जो अपना कल्याण हो, इसके लिये प्रयत्न करता रहता है, किंतु यह भाव भी नहीं रखता कि 'मैं नहीं भी माँगूँगा तो भी भगवान् मेरा कल्याण अवश्य करेंगे। भगवान् तो सर्वज्ञ है, वे स्वयं सब जानते ही हैं।' पर इस भावमें भी सूक्ष्म कामना है। किंतु जो इस बातकी ओर भी ध्यान न देकर केवल अपने कर्तव्यका ही पालन करता रहता है; बल्कि यह समझता है कि 'निष्कामभावसे कर्तव्यका पालन करना—भगवान्‌की निष्कामभावसे सेवा करना—यह मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। अतः मैं सदा भगवान्‌की निष्कामभावसे ही सेवा करूँ, मेरा उत्तरोत्तर केवल भगवान्‌में ही प्रेम बढ़ता रहे—' उसका यह लक्ष्य और भाव बड़ा ही उच्च कोटिका है; क्योंकि वह समझता है कि प्रेम सबसे बढ़कर वस्तु है। परमात्माकी प्राप्तिमें भी परमात्मामें जो अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, यह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। इसपर भी भगवान् प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं, जैसे प्रह्लादको दर्शन दिये। दर्शन देकर भगवान् आग्रह करें कि मेरे संतोषके लिये जो तेरे जँचे वही माँग ले तो भी हमको प्रह्लादकी भाँति कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। यह बहुत उच्च कोटिका निष्कामभाव है। जैसे भगवान्‌की कृपा होनेपर भगवान्‌का दर्शन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त निष्कामी भक्तकी कृपासे भी दूसरोंका कल्याण हो जाय तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। ऐसे पुरुषके हृदयमें यदि यह दयाका भाव हो जाय कि 'इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये; क्योंकि ये पात्र हैं' तो इस भावसे भी लोगोंका कल्याण हो सकता है।

जब भगवान् यह समझते हैं कि इसके हृदयमें कभी यह बात अपने लिये नहीं आयी और इन लोगोंके लिये यह बात आती है कि इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये तो भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। भगवान् समझते हैं कि यह इसकी माँग तो नहीं है पर इसका भाव तो है न; इसके भावकी भी यदि मैं सिद्धि कर दूँ तो वह मेरे लिये गौरवकी बात है; क्योंकि जिसने अपने लिये कभी किसी पदार्थकी कामना की ही नहीं और न अभी करता है और उसके हृदयमें यह भाव है कि इन सबका कल्याण होना चाहिये तो ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उनका कल्याण अवश्य ही करते हैं।

परंतु उस निष्कामी भक्तके हृदयमें यह बात आती है तो वह समझता है कि 'मैं भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य और प्रभावको नहीं जानता, नहीं तो, यह बात भी मेरे हृदयमें क्यों आती? क्योंकि भगवान् जो कुछ कर रहे हैं वह ठीक ही कर रहे हैं, वहाँ तो कोई अंधेर है ही नहीं। क्या भगवान् मुझसे कम दयालु हैं? मैं क्या भगवान्‌से अधिक दयालु हूँ? क्या मैं ही संसारके जीवोंका कल्याण चाहता हूँ, भगवान् नहीं चाहते। मेरे लिये ऐसा भाव होना या लक्ष्य रखना कि ये पात्र हैं, इनका कल्याण होना चाहिये, अनुचित है। उनकी पात्रताको क्या भगवान् नहीं देखते हैं? मैं ही पात्रकी पहचान करता हूँ, क्या भगवान्‌में इस बातकी कमी है? मुझको तो यह देखते रहना चाहिये कि भगवान्‌की लीला हो

रही है, मेरे मनमें यह बात भी क्यों आये कि इनका तो कल्याण होना चाहिये और इनका नहीं; क्योंकि संसारके सभी प्राणी मुक्तिके पात्र हैं और मनुष्यमात्र तो हैं ही; फिर अपात्र कौन है? अपात्र होते तो भगवान् उन्हें मनुष्य क्यों बनाते? और भगवान्की दयाके तो सभी पात्र हैं; क्योंकि सभी भगवान्की दया चाहते हैं और भगवान्की दयासे सभीका उद्धार हो सकता है।' अवश्य ही भगवान्की दयाके विषयमें यह मान्यता होनी चाहिये कि भगवान्की मुझपर अपार दया है तथा उनकी दयाके प्रभावसे समस्त संसारका उद्धार हो सकता है। इस प्रकार सब लोग इस यथार्थ बातको तत्त्वसे समझ लें तो सबका कल्याण होना कोई भी बड़ी बात नहीं है। कल्याण न होनेमें कारण—भगवान्की दयाके प्रभावकी कमी नहीं है, उसको समझने-माननेकी और श्रद्धाकी कमी है।

हमारे घरमें पारस पड़ा हुआ है, किंतु हम पारसको और उसके प्रभावको न जाननेके कारण उसके लाभसे वञ्चित हैं और दो-चार पैसोंके लिये दर-दर भटक रहे हैं तो यह पारसका दोष नहीं है। पारसको और उसके प्रभावको हम जानते नहीं हैं, उसीका यह दण्ड है। पारस तो जड है और भगवान् चेतन हैं, इसलिये भगवान् पारससे बढ़कर हैं। पारससे तो महात्मा भी बढ़कर हैं, फिर भगवान्की तो बात ही क्या! जो भगवान्की दयाके प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको जानता है, वह तो स्वयं ही कल्याणस्वरूप ही है। ऐसे पुरुषोंके अपने कल्याणकी तो बात ही क्या है, उनकी दयासे दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है। इसलिये हमलोगोंको भगवान्की दयाके प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये। फिर हमलोगोंके कल्याणमें कोई संदेह नहीं है। भगवान्की कृपाके प्रभावसे हमलोग भी इस प्रकारके उच्च कोटिके भक्त बन सकते हैं।

कर्तव्यपालनकी आवश्यकता

इसलिये हमको तो चुपचाप अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। कर्तव्य ही साधन है और साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझना चाहिये। यहाँ परमात्मा ही साध्य हैं और निष्काम प्रेमभावसे भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये भगवान्की अनन्य विशुद्ध भक्ति करना ही साधन है। इसलिये हमारी भक्ति अनन्य होनी चाहिये। उसीका नाम अनन्य प्रेम, उसीका नाम अनन्य भक्ति और उसीका नाम अनन्य शरण है। परंतु वह होनी चाहिये विशुद्ध। जिसमें किंचिन्मात्र भी कामना न हो, उसको विशुद्ध कहते हैं। मुक्तिकी कामना भी शुद्ध कामना है और विशुद्ध भावमें तो शुद्ध कामना भी नहीं रहती। अतः हमारा भाव और प्रेम विशुद्ध होना चाहिये। उसके लिये अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। कर्तव्य ही साधन है; इसलिये साधनको साध्य परमात्माकी प्राप्तिसे भी बढ़कर समझना चाहिये। जब यह भाव रहता है, तब परमात्माकी प्राप्तिकी भी कामना हृदयमें नहीं रहती। ऐसे पुरुषके लिये भगवान् उत्सुक रहते हैं कि मैं इसकी इच्छाकी पूर्ति करूँ, किंतु उसमें इच्छा होती ही नहीं। ऐसे भक्तके प्रेममें भगवान् बिक जाते हैं और उसके प्रति भगवान् अपनेको ऋणी समझते हैं। जो सकामभावसे भगवान्की भक्ति करता है, भगवान् तो उसके भी अपने-आपको ऋणी मान लेते हैं; फिर ऐसे निष्कामी प्रेमी महापुरुषके अपने-आपको भगवान् ऋणी मानें, इसमें तो कहना ही क्या है। और वास्तवमें न्याययुक्त विचार करके देखा जाय तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक निष्कामी भक्त साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझता है तो भगवान् यह समझते हैं कि इसका भाव बहुत उच्चकोटिका है, जिसके मूल्यमें मैं बिक जाता हूँ।

यह समझकर हमलोगोंको भगवान्की अनन्य और विशुद्ध भक्तिरूप साधन श्रद्धाप्रेमपूर्वक तत्परताके साथ करना चाहिये।

लिये उनसे प्रार्थना करता है। ऐसा जिज्ञासु उपर्युक्त सबसे श्रेष्ठ है। उसमें भी वह श्रेष्ठ है जो अपने आत्माके कल्याणके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना नहीं करता; परंतु अपने कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन ही करता रहता है अर्थात् निष्कामभावसे ईश्वरकी अनन्य भक्ति करता ही रहता है। उसको यह विश्वास है कि 'परमात्माकी प्राप्ति निश्चय अपने-आप ही होगी; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे सब जानते हैं। उनके पास प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, मुझको अपने कर्तव्यका पालन करते ही रहना चाहिये।' ऐसा निष्कामी उपर्युक्त सबसे श्रेष्ठ है। इसमें भी श्रेष्ठ वह पुरुष है जो अपना कल्याण हो, इसके लिये प्रयत्न करता रहता है, किंतु यह भाव भी नहीं रखता कि 'मैं नहीं भी माँगूँगा तो भी भगवान् मेरा कल्याण अवश्य करेंगे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, वे स्वयं सब जानते ही हैं।' पर इस भावमें भी सूक्ष्म कामना है। किंतु जो इस बातकी ओर भी ध्यान न देकर केवल अपने कर्तव्यका ही पालन करता रहता है; बल्कि यह समझता है कि 'निष्कामभावसे कर्तव्यका पालन करना—भगवान्‌की निष्कामभावसे सेवा करना—यह मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। अतः मैं सदा भगवान्‌की निष्कामभावसे ही सेवा करूँ, मेरा उत्तरोत्तर केवल भगवान्‌में ही प्रेम बढ़ता रहे—' उसका यह लक्ष्य और भाव बड़ा ही उच्च कोटिका है; क्योंकि वह समझता है कि प्रेम सबसे बढ़कर वस्तु है। परमात्माकी प्राप्तिसे भी परमात्मामें जो अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, यह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। इसपर भी भगवान् प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं, जैसे प्रह्लादको दर्शन दिये। दर्शन देकर भगवान् आग्रह करें कि मेरे संतोषके लिये जो तेरे जँचे वही माँग ले तो भी हमको प्रह्लादकी भाँति कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। यह बहुत उच्च कोटिका निष्कामभाव है। जैसे भगवान्‌की कृपा होनेपर भगवान्‌का दर्शन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त निष्कामी भक्तकी कृपासे भी दूसरोंका कल्याण हो जाय तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। ऐसे पुरुषके हृदयमें यदि यह दयाका भाव हो जाय कि 'इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये; क्योंकि ये पात्र हैं' तो इस भावसे भी लोगोंका कल्याण हो सकता है।

जब भगवान् यह समझते हैं कि इसके हृदयमें कभी यह बात अपने लिये नहीं आयी और इन लोगोंके लिये यह बात आती है कि इन लोगोंका कल्याण होना चाहिये तो भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। भगवान् समझते हैं कि यह इसकी माँग तो नहीं है पर इसका भाव तो है न; इसके भावकी भी यदि मैं सिद्धि कर दूँ तो वह मेरे लिये गौरवकी बात है; क्योंकि जिसने अपने लिये कभी किसी पदार्थकी कामना की ही नहीं और न अभी करता है और उसके हृदयमें यह भाव है कि इन सबका कल्याण होना चाहिये तो ऐसी परिस्थितिमें भगवान् उनका कल्याण अवश्य ही करते हैं।

परंतु उस निष्कामी भक्तके हृदयमें यह बात आती है तो वह समझता है कि 'मैं भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य और प्रभावको नहीं जानता, नहीं तो, यह बात भी मेरे हृदयमें क्यों आती? क्योंकि भगवान् जो कुछ कर रहे हैं वह ठीक ही कर रहे हैं, वहाँ तो कोई अंधेर है ही नहीं। क्या भगवान् मुझसे कम दयालु हैं? मैं क्या भगवान्‌से अधिक दयालु हूँ? क्या मैं ही संसारके जीवोंका कल्याण चाहता हूँ, भगवान् नहीं चाहते। मेरे लिये ऐसा भाव होना या लक्ष्य रखना कि ये पात्र हैं, इनका कल्याण होना चाहिये, अनुचित है। उनकी पात्रताको क्या भगवान् नहीं देखते हैं? मैं ही पात्रकी पहचान करता हूँ, क्या भगवान्‌में इस बातकी कमी है? मुझको तो यह देखते रहना चाहिये कि भगवान्‌की लीला हो

नहीं है, ऐसे मनमें यह बात भी क्यों आवे कि इनका तो कल्याण होना चाहिये और इनका नहीं; क्योंकि संसारके सभी प्राणी मुक्तिके पात्र हैं और मनुष्यमात्र तो हैं ही; फिर अपात्र कौन है ! अपात्र होते तो भगवान् इन्हें मनुष्य क्यों बनाते ! और भगवान्‌की दयाके तो सभी पात्र हैं; क्योंकि सभी भगवान्‌की दया चाहते हैं और भगवान्‌की दयासे सभीका उद्धार हो सकता है ।' अवश्य ही भगवान्‌की दयाके विषयमें यह मान्यता होनी चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर अपार दया है तथा उनकी दयाके प्रभावसे समस्त संसारका उद्धार हो सकता है । इस प्रकार सब लोग इस यथार्थ बातको तत्त्वसे समझ लें तो सबका कल्याण होना कोई भी बड़ी बात नहीं है । कल्याण न होनेमें कारण—भगवान्‌की दयाके प्रभावकी कमी नहीं है, उसको समझने-माननेकी और श्रद्धाकी कमी है ।

हमारे घरमें पारस पड़ा हुआ है, किंतु हम पारसको और उसके प्रभावको न जाननेके कारण उसके लाभसे वञ्चित हैं और दो-चार पैसोंके लिये दर-दर भटक रहे हैं तो यह पारसका दोष नहीं है । पारसको और उसके प्रभावको हम जानते नहीं हैं, उसीका यह दण्ड है । पारस तो जड है और भगवान् चेतन हैं, इसलिये भगवान् पारससे बढ़कर हैं । पारससे तो महात्मा भी बढ़कर हैं, फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या ! जो भगवान्‌की दयाके प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको जानता है, वह तो स्वयं ही कल्याणस्वरूप ही है । ऐसे पुरुषोंके अपने कल्याणकी तो बात ही क्या है, उनकी दयासे दूसरोंका भी कल्याण हो सकता है । इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌की दयाके प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये । फिर हमलोगोंके कल्याणमें कोई संदेह नहीं है । भगवान्‌की कृपाके प्रभावसे हमलोग भी इस प्रकारके उच्च कोटिके भक्त बन सकते हैं ।

कर्तव्यपालनकी आवश्यकता

इसलिये हमको तो चुपचाप अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये । कर्तव्य ही साधन है और साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझना चाहिये । यहाँ परमात्मा ही साध्य हैं और निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये भगवान्‌की अनन्य विशुद्ध भक्ति करना ही साधन है । इसलिये हमारी भक्ति अनन्य होनी चाहिये । उसीका नाम अनन्य प्रेम, उसीका नाम अनन्य भक्ति और उसीका नाम अनन्य शरण है । परंतु वह होनी चाहिये विशुद्ध । जिसमें किंचिन्मात्र भी कामना न हो, उसको विशुद्ध कहते हैं । मुक्तिकी कामना भी शुद्ध कामना है और विशुद्ध भावमें तो शुद्ध कामना भी नहीं रहती । अतः हमारा भाव और प्रेम विशुद्ध होना चाहिये । उसके लिये अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये । कर्तव्य ही साधन है; इसलिये साधनको साध्य परमात्माकी प्राप्तिसे भी बढ़कर समझना चाहिये । जब यह भाव रहता है, तब परमात्माकी प्राप्तिकी भी कामना हृदयमें नहीं रहती । ऐसे पुरुषके लिये भगवान् उत्सुक रहते हैं कि मैं इसकी इच्छाकी पूर्ति करूँ, किंतु उसमें इच्छा होती ही नहीं । ऐसे भक्तके प्रेममें भगवान् बिक जाते हैं और उसके प्रति भगवान् अपनेको ऋणी समझते हैं । जो सकामभावसे भगवान्‌की भक्ति करता है, भगवान् तो उसके भी अपने-आपको ऋणी मान लेते हैं; फिर ऐसे निष्कामी प्रेमी महापुरुषके अपने-आपको भगवान् ऋणी मानें, इसमें तो कहना ही क्या है । और वास्तवमें न्याययुक्त विचार करके देखा जाय तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक निष्कामी भक्त साधनको साध्यसे भी बढ़कर समझता है तो भगवान् यह समझते हैं कि इसका भाव बहुत उच्चकोटिका है, जिसके मूल्यमें मैं बिक जाता हूँ ।

यह समझकर हमलोगोंको भगवान्‌की अनन्य और विशुद्ध भक्तिरूप साधन श्रद्धाप्रेमपूर्वक तत्परताके साथ करना चाहिये ।

संत-वाणीकी लोकोत्तर महत्ता

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

यह बात मुक्तकण्ठसे कही जा सकती है कि संत-पुरुषोंके द्वारा होनेवाले लाभोंकी महत्ता और व्यापकताका वर्णन मानव-बुद्धिकी परिधिसे बाहर है; क्योंकि उनकी वाणी-वीणाके एक-एक तार, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना और तानमें मानव-मनके मर्मस्थलोंको स्पर्श करनेका विलक्षण गुण होता है।

इन्हीं संत-महात्माओंकी वाणीका ही यह पुण्य-प्रताप है कि इस घोर कलिकालमें जन्म लेनेवाले, कुशिक्षाके वातावरणमें पलनेवाले, प्राचीनता और साम्प्रदायिकताको मुर्दा-वाद कहनेवाले, म्लेच्छ-धर्म-पङ्किल और परप्रत्ययनेय-मति सज्जनोंके मुखसे इस क्षण भी प्रायः भारतीय संतोंके भक्तिरस-सने पद सुननेको मिलते हैं। इन्हीं संतोंकी अमृतस्रोतस्विनी वाणीकी इतिहास-स्तुत्य यह महिमा है कि दुःखशोक-संतप्त दुष्टजन-त्रस्त और पिशाचगण-ध्वस्त हिंदू-जातिको इसीने अबतक जीवित रक्खा है।

सच तो यह है कि संसारमें यदि संत-महात्मा न होते और उनकी वाणीमें मानव-मनको सरस और समुन्नत बनानेका विश्व-दुर्लभ गुण भी न होता तो मानवता, आस्तिकता, स्वर्गीय सरसता और लोक-हित-भावनाको कभीका अर्द्धचन्द्र मिल चुका होता।

अब कदाचित् यह प्रश्न हो कि संत-महात्माओंकी वाणीमें इतनी और ऐसी प्रभावशालिनी शक्ति कहाँसे कैसे आती है? तो इसका सदुत्तर इस प्रकार है—

१. यह एक निश्चित बात है कि प्रत्येक मनुष्यमें प्रायः थोड़ा-बहुत आकर्षण-अपकर्षण होता है। किंतु संत-पुरुषोंमें तो आकर्षणकी मात्रा अत्यधिक होती है। ... कारण है कि उनकी वाणीमें विश्व-हृदयहारिणी ... समधिक विकास पाया जाता है।

... संत-पुरुष और संत-महात्माओंके विचार, वचन ... एकता होती है। वे जैसा सोचते, वैसा ही कहते और जैसा कहते वैसा ही करते भी हैं। इस तरह उनके विचार, वचन और क्रियाके विभिन्न मार्गोंमें विभाजित न होने अपितु एक ही मार्गमें प्रवर्तित और एक ही उद्देश्य-सूत्रमें समन्वित होनेके कारण उनकी वाणीमें असम्भवको सम्भव करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

३. संत-वाणीमें ईश्वरीय वाणीकी-सी प्रभाव-शक्ति होती है। कारण यही है कि संत भगवद्भक्त होता है। ऐसी दशामें भगवान्‌को भी तद्भक्त होना पड़ता है। इस प्रकार भक्त और भगवान् दोनों क्रमशः भक्ति और भक्तवात्सल्यसे एक वस्तु हो जाते हैं। इसीका यह सुफल होता है कि संत-वाणीमें वेद-वाणीकी-सी प्रभावोत्पादिका शक्तिका प्राकट्य हो जाता है।

४. भक्तियोगके दृष्टिकोणसे भी स्नेहानुराग, प्रेमानुराग और श्रद्धानुरागकी अपेक्षा संतकी रागात्मिका भक्तिमें आकर्षणकी मात्रा अधिक होती है। इसीका यह सत्परिणाम होता है कि संत-हृदयसे निकली वाणीमें अपना अनोखा आकर्षण-गुण होता है।

५. शब्द-तत्त्वकी यह एक विलक्षण बात है कि प्रत्येक शब्द अपने वाच्यार्थके चरित्र-चारित्र्यसे समधिक शक्तिमान् हो जाता है। 'राम' शब्द अपने वाच्य दाशरथि कौशल्यानन्दनकी पुरुषोत्तमतासे मानव-जगत्‌के जप-जापकी वस्तु बन गया। 'भीष्म' शब्द अपने वाच्य भीष्म-पितामहके अखण्ड ब्रह्मचर्यके प्रतापसे लोकोत्तर शक्तिशाली सिद्ध हो गया और इस युगका 'गान्धी' शब्द अपने वाच्य मोहनचंद कर्मचंद गान्धीके विश्व-वन्द्य व्यक्तित्वसे सबल प्रमाणित हो गया। इसी प्रकार संत-वाणी भी अपने वाच्य संतोचित गुणोत्कर्ष-से अद्भुत शक्तिशालिनी और विश्वमनमोहिनीतक बन गयी।

६. संत-पुरुषकी आत्मा परमात्म-तत्त्वकी आराधनासे

विश्वात्माकी वस्तु हो जाती है, अतएव उसकी वाणी भी मानव-विश्वको अपना वशंवद बनानेमें समधिक सक्षम होती है।

७. हृदयको वशंवद बनानेवाली एकमात्र वस्तु विशुद्ध हृदय ही है। 'हृदय' हृदयसे ही जीता जा सकता है, किसी दूसरी वस्तुसे नहीं। संत-हृदय पूर्णतः निर्दोष, निष्कपट और सरल-सरस होता है, इसीलिये उससे निःसृत वाणी भी क्रूर-कुटिल मानव-हृदयको भी अपनी ओर आकर्षित करनेकी शक्ति रखती है।

८. संत-वाणी संतके सात्त्विक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वकी अपनी व्यञ्जनात्मक वस्तु होती है, अतएव वह मानव-मनपर मन्त्रका-सा काम करती है।

९. शब्द आकाशका गुण है। इसमें ब्रह्माण्डोंके सर्जन-विसर्जनकी शक्ति होती है, किंतु यही 'शब्द ब्रह्म'के रूपमें संतका आराध्यदेव और वाणीका विषय बनकर चेतन-विश्वको प्रभावित और आन्दोलित करने एवं वशंवद बनानेमें सर्वाधिक शक्तिशाली हो जाता है।

१०. संत-पुरुष स्वभावतः निष्काम होता है। उसका प्रत्येक लोक-हितकर कार्य कामना-कलुषसे विमुक्त होता है। यही हेतु है कि उसकी सर्वतोभद्र सर्वतोमुखी वाणी प्रत्येक प्रकारके अधिकारीकी मान्य और प्रिय वस्तु बन जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि संत-वाणीकी अपनी सत्ता है, महत्ता है, गुण-गरिमा है और विश्व-हित-कारिणी मानव-मनमोहिनी शक्ति भी है।

हमलोग सभी संत-वाणीकी सुधा-माधुरीका पान करके कृतकृत्य हों, यही भगवान्‌से प्रार्थना है।

संत-वाणीका महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

जो सर्वदा सर्वत्र सर्वथा शान्त होते हैं, वे ही संत हैं। उनकी वाणी ही भगवान् सर्वेश्वर प्रभुकी सर्वाङ्गीण शक्ति है। जिस हृदयमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके आधार परमात्मा आधेय बनकर रहते हैं, वह संत-हृदय कितना विशाल होगा ! इसका अनुमान लगाना असम्भव है।

राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा॥
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा॥

परम संत गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका उक्त प्रमाण संतकी महिमा बतलानेमें अनुपम है। अब उनकी वाणीका महत्त्व भगवान्‌की वाणीसे भी श्रेष्ठ क्यों न हो ! भगवान्‌की वाणी दुष्टोंका निग्रह और शिष्टोंपर अनुग्रह करनेवाली होती है, पर संतोंकी वाणी सबपर समान रूपसे अनुग्रह रूप है। भगवान्‌की वाणीमें शासनका भाव है और संतकी वाणीमें प्रेमका स्वभाव। भगवान्‌की वाणीमें सत्ताका गुण है, पर संतकी वाणीमें सत्यका सौन्दर्य। प्रभुकी वाणीमें प्रभाव और संतकी वाणीमें सद्भाव। भगवान् हमें बल दें कि हम संतोंकी वाणीके अनुसार वर्तन कर सकें। रामकी कृपासे संत मिलते हैं और संतोंकी कृपासे परमार्थ-विवेक। संतोंकी वाणी परमात्माकी कृपाका फल है। उसके पालनमें जो सद्वर्तनका आनन्द होता है, वही उस फलका अनुपम रस है।

नामदेव भक्तने भगवत्कृपा प्राप्त की; परंतु संतोंकी वाणी सुने बिना भक्त सन्त गोरोबा कुम्हारने उसे सब संतोंसे कच्चा साबित किया। यह इतिहास महाराष्ट्रमें प्रसिद्ध है। भगवान्‌की वाणी हमारी रक्षा करती है; पर संतोंकी वाणी हमें रक्षक बनाती है, वह अपनी रक्षा चाहती ही नहीं। भगवान्‌की वाणीसे लोहेका सोना बनता है, पर संतोंकी वाणीसे हम सोना बनानेवाले पारस बन सकते हैं। संतोंकी वाणीका महत्त्व इसीलिये है कि उसमें सब साधनोंका मूल और फल भगवान्‌का नाम निरन्तर बसा रहता है और वह नाम ऐसा है कि—

'राम न सकहिं नाम गुन गाईं'

आदि वाक्योंद्वारा मानस बालकाण्डकी नामवन्दनामें जिसकी सर्वोत्कृष्ट महिमा बतायी गयी है।

जय [illegible] जय सुखदानी जय संतोंके [illegible]।
[illegible] एक नाम [illegible] [illegible]॥

महात्माका हृदय

— महर्षि वसिष्ठकी क्षमा

'मुझे ब्रह्मर्षि होना है—होना ही है!' विश्वामित्रजीका आग्रह इतना प्रबल था कि सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी भी असमंजसमें पड़ गये थे। जिसमें दृढ़ निश्चय है, प्रबल उद्योग है, अनिवार्य उत्साह है—अलभ्य उसके लिये कुछ रह कैसे सकता है।

समस्या फिर भी सरल नहीं थी। ब्रह्माजी भी किसीको ब्रह्मर्षि घोषित कर नहीं सकते थे—करना नहीं चाहते थे, यही ठीक जान पड़ता है। उन्होंने भी यही निर्णय दिया—'महर्षि वसिष्ठ यदि ब्रह्मर्षि मान लें तो विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हुए।'

विश्वामित्र थे जन्मसे क्षत्रिय—परम प्रतापी नरेश। झुकना उन्होंने सीखा नहीं था। जिन वसिष्ठकी प्रतिद्वन्द्वितासे क्षत्रियत्वसे उठकर ब्राह्मण होनेका निश्चय करना पड़ा उन्हें, उसी वसिष्ठके सामने वे झुकें? यह बात तो मनमें ही नहीं आयी उनके। उन्होंने तो प्रयत्नसे—गौरवसे प्राप्त करना सीखा था।

कठोर तप—असाध्यको साध्य करनेका एक ही मार्ग शास्त्रोंपर श्रद्धा करनेवाला जानता है। महातापस विश्वामित्रका तप—त्रिलोकीके अधीश्वरोंने भी ऐसा तपस्वी मानव कदाचित् ही देखा हो। अनेक विघ्न आये, अनेक बार तप भंग हुआ—अथक था वह उद्योगी।

तपस्या भी असमर्थ रही। तपस्यासे भगवान् शिवतक प्रसन्न हुए और अकल्पनीय दिव्यास्त्र मिले; किंतु वसिष्ठके ब्रह्मतेजने उन्हें प्रतिहत कर दिया। तपस्याने नवीन सृष्टि करनेतककी सामर्थ्य दे दी। भले ब्रह्माजीकी आज्ञाका सम्मान करके सृष्टि-कार्य आरम्भमें ही रोक दिया गया हो। सब हुआ; किंतु वसिष्ठने 'राजर्षि' कहना नहीं छोड़ा।

विश्वामित्रमें क्रोध जाग उठा। उन्होंने वसिष्ठजीके सभी पुत्रोंको राक्षसके द्वारा मरवा दिया। वसिष्ठ सब कुछ जानकर भी शान्त रहे। 'मैं वसिष्ठको ही समाप्त कर दूँगा!' प्रतिहिंसा सीमापर पहुँच गयी।

सम्मुख आक्रमण करके विश्वामित्र बार-बार मुँहकी खा चुके थे। अब शस्त्र लेकर रात्रिके समय छिपकर वसिष्ठजीके आश्रममें आना था उन्हें। रात्रिके समय वे पहुँच गये हत्याका घोर संकल्प लेकर!

× × ×

पूर्णिमाकी रात्रि, निर्मल गगन, शुभ्र ज्योत्स्नाका विस्तार, कुसुमित कानन। प्रकृति शान्त हो रही थी। महर्षि वसिष्ठ अपनी पत्नी अरुन्धतीजीके साथ कुटियासे बाहर एक वेदिका पर विराजमान थे।

'कितनी स्वच्छ, कितनी निर्मल ज्योत्स्ना है!' अरुन्धतीने कहा।

'यह चन्द्रिका दिशाओंको उसी प्रकार उज्ज्वल कर रही है, जैसे आजकल विश्वामित्रकी तपस्याका तेज!' यही शान्त, मधुर वाणी थी महर्षि वसिष्ठकी।

'विश्वामित्रकी तपस्याका तेज!' वृक्षोंके झुरमुटमें छिपा एक मनुष्य चौंक गया। 'एकान्तमें अपनी पत्नीसे अपने शत्रुकी महिमाको इस प्रकार प्रकट करनेवाले ये महापुरुष! और इनकी हत्याका संकल्प लेकर रात्रिमें चोरकी भाँति छिपकर आनेवाला मैं पुरुषाधम...!'

महात्माके हृदयका परिचय मिलते ही प्रतिहिंसापूर्ण हृदय बदल गया। नीचे फेंके अस्त्र-शस्त्र उस पुरुषने शरीरपरसे और दौड़कर वेदीके सम्मुख भूमिपर गिर पड़ा—'मुझ अधमको क्षमा करें!'

स्वर पहिचाना हुआ था, भले आकृति न दीख पड़ी हो। श्रीअरुन्धतीजी चकित हो गयीं। महर्षि वसिष्ठ वेदीसे कूदे और चरणोंमें पड़े व्यक्तिको उठानेके लिये झुकते हुए उन्होंने स्नेहपूर्ण कण्ठसे पुकारा—'ब्रह्मर्षि विश्वामित्र!'

शस्त्र त्यागकर, नम्रता और क्षमाको अपनाकर आज विश्वामित्र 'ब्रह्मर्षि' हो गये थे।

अन्त मति सो गति

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥
(गीता ८ । ६)

मृत्युके समय मनुष्य सबसे अन्तमें जो विचार करता है, जिसका चिन्तन करता है, उसका अगला जन्म उसी प्रकारका होता है।

भगवान् ऋषभदेवके पुत्र, सप्तद्वीपवती पृथिवीके एकच्छत्र सम्राट् भरत—वही भरत जिनके नामपर हमारे इस देशका प्राचीनतम नाम अजनाभवर्ष बदल गया और सब इसे 'भारतवर्ष' कहने लगे—वे धर्मात्मा सम्राट् वानप्रस्थका समय आनेपर राज्य, कुटुम्ब, गृहका त्याग करके वनमें चले गये।

महाराज भरतके वैराग्यमें कोई कमी नहीं थी। राज्य करते समय उन्हें किसी बातका अभाव भी नहीं रहा था। शत्रुरहित समस्त भूमण्डलके वे सम्राट् थे। उनको परम पतिव्रता पत्नी मिली थीं और किसी भी राजर्षि-कुलका गौरव बढ़ा सकें, ऐसे पाँच पुत्र थे। महाराज भरतने उद्वेगसे नहीं, विवेकपूर्वक भगवद्भजनके लिये गृहका त्याग किया। पुलहाश्रममें पहुँचकर वे निष्ठापूर्वक भजनमें लग गये।

संयोगकी बात थी—राजर्षि भरत एक दिन नदीमें स्नान करके संध्या कर रहे थे। उसी समय एक गर्भवती हरिणी वहाँ जल पीने आयी। मृगी पानी पी ही रही थी कि वनमें कहीं पास सिंहकी भयंकर गर्जना हुई। भयके मारे मृगी पानी पीना छोड़कर छलाँग मार भागी। मृगीका प्रसव-काल समीप आ चुका था, भयकी अधिकता और पूरे वेगसे उछलनेके कारण उसके पेटका मृगशावक बाहर निकल पड़ा और नदीके प्रवाहमें बहने लगा। हरिनी तो इस आघातसे कहीं दूर जाकर मर गयी। सद्यःप्रसूत मृगशावक भी मरणा-सन्न था। राजर्षि भरतको दया आ गयी। वे उसे प्रवाहमेंसे उठाकर आश्रम ले आये।

किसी मरणासन्न प्राणीपर दया करके उसकी रक्षा करना पाप नहीं है—यह तो पुण्य ही है। राजर्षि भरतने पुण्य ही किया था। वे बड़े स्नेहसे उस मृगशावकका लालन-पालन करने लगे। इसमें भी कोई दोष नहीं था। लेकिन इसीमें, एक दोष, पता नहीं कब चुपचाप प्रविष्ट हो गया। उस मृगशावकसे उन्हें मोह हो गया। उसमें उनकी आसक्ति हो गयी, वे चक्रवर्ती सम्राट् अपने राज्य, स्त्री तथा सगे पुत्रोंके मोहका सर्वथा त्याग करके वनमें आये थे, उन्हें एक हरिणीके बच्चेमें मोह हो गया!

मृग-शावक जब हृष्ट-पुष्ट-समर्थ हो गया, उसके पालनका कर्तव्य पूरा हो चुका था। उसे वनमें स्वतन्त्र कर देना था, लेकिन मृगशावकका मोह—यह मृग भी राजर्षि भरतको उसी प्रकार स्नेह करने लगा था, जैसे परिवारके स्वजन करते हैं।

मृत्यु तो सबको अपना ग्रास बनाती ही है। राजर्षि भरतका भी अन्तिम समय पास आया। मृग-शावक उनके पास ही उदास बैठा था। उसीकी ओर देखते हुए, उसीकी चिन्ता करते हुए भरतका शरीर छूटा। फल यह हुआ कि दूसरे जन्ममें उन्हें मृग होना पड़ा।

भगवद्भजन व्यर्थ नहीं जाता। भरतको मृग-शरीरमें भी पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रही। वहाँ भी उनमें वैराग्य एवं भक्तिका भाव उदय हुआ। मृग-देह छूटनेपर वे ब्राह्मण-कुमार हुए। पूर्वजन्मकी स्मृतिके कारण वे अब पूर्ण सावधान हो गये थे। कहीं मोह न हो जाय—इस भयसे अपनेको पागलके समान रखते थे। उनका नाम ही 'जड भरत' पड़ गया। वे महान् ज्ञानी हैं, यह तो तब पता लगा, जब राजा रहूगणपर कृपा करके उन्होंने उपदेश किया।

इस पूरी कथामें देखनेकी बात यह है कि राजर्षि भरत-जैसे त्यागी, विरक्त, भगवद्भक्तको भी मृगशावकके मोहसे मृग होना पड़ा। अन्तमें मृगका स्मरण उन्हें मृग-योनिमें ले ही गया। दया करो, प्रेम करो, हित करो; पर कहीं आसक्ति मत करो, किसीमें मोह मत करो, कहीं ममताके बन्धनमें अपनेको मत बाँधो।

अन्त समय भगवान्‌का स्मरण कर लेंगे। 'यह कर लेंगे' अपने वशकी बात नहीं है। अन्त समय मनुष्य सावधान नहीं रहता। वह प्रायः इस अवस्थामें नहीं होता कि कुछ विचारपूर्वक सोचे। जीवनमें जिसमें उसकी आसक्ति रही है, उसके मनका सर्वाधिक आकर्षण जहाँ है, अन्त समयमें वही उसे स्मरण होगा।

जीवनमें ही मन भगवान्‌में लग जाय। मनके आकर्षणके केन्द्र भगवान् बन जायँ—अन्तमें तभी वे परम प्रभु स्मरण आयेंगे।

देवर्षि नारदजी

मन, तन, वचनका व्रत

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥
एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्।
नाशौचं कीर्तने तस्य सदाशुद्धिविधायिनः॥
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्थाः सोऽयं तत्तोषकारणम्॥
(पद्म० पाताल० ८४। ४२—४६)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्यपालन तथा निष्कपटभावसे रहना—ये भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये मानसिक व्रत कहे गये हैं। नरेश्वर! दिनमें एक बार भोजन करना, रात्रिमें उपवास करना और बिना माँगे जो अपने आप प्राप्त हो जाय, उसी अन्नका उपयोग करना—यह पुरुषोंके लिये कायिक व्रत बताया गया है। राजन्! वेदोंका स्वाध्याय, श्रीविष्णुके नाम एवं लीलाओंका कीर्तन तथा सत्य-भाषण करना एवं चुगली न करना—यह वाणीसे सम्पन्न होनेवाला व्रत कहा गया है। चक्रधारी भगवान् विष्णुके नामोंका सदा और सर्वत्र कीर्तन करना चाहिये। वे नित्य शुद्धि करनेवाले हैं, अतः उनके कीर्तनमें कभी अपवित्रता आती ही नहीं। वर्ण और आश्रम-सम्बन्धी आचारोंका विधिवत् पालन करनेवाले पुरुषके द्वारा परम पुरुष श्रीविष्णुकी सम्यक् आराधना होती है। यह मार्ग भगवान्‌को संतुष्ट करनेवाला है।

पूजाके आठ पुष्प

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानं चैव तु सप्तमम्।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः॥
एतैरेवाष्टभिः पुष्पैस्तुष्यत्येवार्चितो हरिः।
पुष्पान्तराणि सन्त्येव बाह्यानि नृपसत्तम॥
(पद्म० ८४। ५६—५८)

अहिंसा पहला, इन्द्रिय-संयम दूसरा, जीवोंपर दया करना तीसरा, क्षमा चौथा, शम पाँचवाँ, दम छठा, ध्यान सातवाँ और सत्य आठवाँ पुष्प है। इन पुष्पोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण संतुष्ट होते हैं। नृपश्रेष्ठ! अन्य पुष्प तो पूजाके बाह्य अङ्ग हैं, भगवान् उपर्युक्त आठ पुष्पोंसे ही पूजित होनेपर प्रसन्न होते हैं (क्योंकि वे भक्तिके प्रेमी हैं)।

धर्मके तीस लक्षण

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(श्रीमद्भा० ७। ११। ८—१२)

युधिष्ठिर! धर्मके ये तीस लक्षण शास्त्रोंमें कहे गये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शिता, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उलटा ही होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंके लिये अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन, उनमें और विशेष करके मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह तीस प्रकारका आचरण सभी मनुष्योंका परम धर्म है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।

मनुष्यका हक कितनेपर?

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८-९)

मनुष्योंका हक केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उनका पेट भर जाय । इससे अधिक सम्पत्तिको जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये । हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, सरीसृप् (रेंगकर चलनेवाले प्राणी), पक्षी और मक्खी आदिको अपने पुत्रके समान ही समझे । उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है ।

हक छोड़नेवाले संत

क्रिमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम् ।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः ॥
सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः ।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १४ । १३-१४)

यह शरीर अन्तमें कीड़े, विष्ठा या राखकी ढेरी होकर रहेगा । कहाँ तो यह तुच्छ शरीर और इसके लिये जिसमें आसक्ति होती है वह स्त्री, और कहाँ अपनी महिमासे आकाशको भी ढक रखनेवाला अनन्त आत्मा ! गृहस्थको चाहिये कि प्रारब्धसे प्राप्त और पञ्चयज्ञ आदिसे बचे हुए अन्नसे ही अपना जीवन-निर्वाह करे । जो बुद्धिमान् पुरुष इतनेके सिवा शेष सबपरसे अपना हक त्याग देते हैं, उन्हें संतोंका पद प्राप्त होता है ।

काम-क्रोधादिको जीतनेके उपाय

असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया ॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १५ । २२—२४)

धर्मराज ! संकल्पोंके परित्यागसे कामको, कामनाओंके त्यागसे क्रोधको, संसारी लोग जिसे अर्थ कहते हैं उसे अनर्थ समझकर लोभको और तत्त्वके विचारसे भयको जीत लेना चाहिये । अध्यात्मविद्यासे शोक और मोहपर, संतोंकी उपासनासे दम्भपर, मौनके द्वारा योगके विघ्नोंपर और शरीर-प्राण आदिको निश्चेष्ट करके हिंसापर विजय प्राप्त करनी चाहिये । आधिभौतिक दुःखको दयाके द्वारा, आधिदैविक वेदनाको समाधिके द्वारा और आध्यात्मिक दुःखको योगबलसे एवं निद्राको सात्त्विक भोजन, स्थान, सङ्ग आदिके सेवनसे जीत लेना चाहिये ।

भक्तिकी महिमा

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । १२)

वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती । फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमङ्गलरूप है, वह काम्य कर्म, और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है, ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है ।

भगवान् कहाँ रहते हैं ?

क्व त्वं वससि देवेश मया पृष्टस्तु पार्थिव ॥
विष्णुरेवं तदा प्राह मद्भक्तिपरितोषितः ॥

विष्णुरुवाच

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥
तेषां पूजादिकं गन्धपुष्पाद्यैः क्रियते नरैः ।
तेन प्रीतिं परां यामि न तथा मत्प्रपूजनात् ॥
मत्पुराणकथां श्रुत्वा मद्भक्तानां च गायनम् ।
निन्दन्ति ये नरा मूढास्ते मद्द्वेष्या भवन्ति हि ॥
(पद्म० उ० ९४ । २१-२५)

राजन् ! एक बार मैंने भगवान्‌से पूछा—'देवेश्वर ! आप कहाँ निवास करते हैं ?' तो वे भगवान् विष्णु मेरी भक्तिसे संतुष्ट होकर इस प्रकार बोले—'नारद ! न तो मैं वैकुण्ठमें निवास करता हूँ और न योगियोंके हृदयमें । मेरे भक्त जहाँ मेरा गुण-गान करते हैं, वहाँ मैं भी रहता हूँ । यदि मनुष्य गन्ध, पुष्प आदिके द्वारा मेरे भक्तोंका पूजन करते हैं तो उससे मुझे जितनी अधिक प्रसन्नता होती है, उतनी स्वयं मेरी पूजा करनेसे भी नहीं होती । जो मूर्ख मानव मेरी पुराण-कथा और मेरे

भक्तोंका गान सुनकर निन्दा करते हैं, वे मेरे द्वेषके पात्र होते हैं।

कुल, जननी और जन्मभूमिकी महिमा कौन बढ़ाता है ?

समाहितो ब्रह्मपरो प्रमादी
शुचिस्तथैकान्तरतिर्जितेन्द्रियः ।
समाप्नुयाद् योगमिमं महामना
विमुक्तिमाप्नोति ततश्च योगतः ॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च तेन ।
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं
लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
(स्कन्द० मा० कुमा० ५५ । १३९-१४०)

जो एकाग्रचित्त, ब्रह्मचिन्तनपरायण, प्रमादशून्य, पवित्र, एकान्तप्रेमी और जितेन्द्रिय है, वह महामना योगी इस योगमें सिद्धि प्राप्त करता है और उस योगके प्रभावसे मोक्षको प्राप्त हो जाता है। जिसका चित्त मोक्षमार्गमें आकर परब्रह्म परमात्मामें संलग्न हो सुखके अपार सिन्धुमें निमग्न हो गया है, उसका कुल पवित्र हो गया, उसकी माता कृतार्थ हो गयी तथा उसे प्राप्त करके यह सारी पृथ्वी भी सौभाग्यवती हो गयी।

वैष्णव कौन है ?

प्रशान्तचित्ताः सर्वेषां सौम्याः कामजितेन्द्रियाः ॥
कर्मणा मनसा वाचा परद्रोहमनिच्छवः ।
दयार्द्रमनसो नित्यं स्तेयहिंसापराङ्मुखाः ॥
गुणेषु परकार्येषु पक्षपातमुदान्विताः ।
सदाचारावदाताश्च परोत्सवनिजोत्सवाः ॥
पश्यन्तः सर्वभूतस्थं वासुदेवममत्सराः ।
दीनानुकम्पिनो नित्यं भृशं परहितैषिणः ॥
राजोपचारपूजायां लालनाः स्वकुमारवत् ।
कृष्णसर्पादिव भयं बाह्ये परिचरन्ति ये ॥
विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते ।
वितन्वते हि तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ ॥
नित्यकर्तव्यताबुद्ध्या यजन्तः शङ्करादिकान् ।
विष्णुस्वरूपान् ध्यायन्ति भक्ताः पितृगणेष्वपि ॥
विष्णोरन्यन्न पश्यन्ति विष्णुं नान्यद् पृथग्गतम् ।
पार्थक्यं न च पार्थक्यं समष्टिव्यष्टिरूपिणः ॥
जगन्नाथ तवास्मीति दासस्त्वं चासि नो पृथक् ।
सेव्यसेवकभावो हि भेदो नाथ प्रवर्तते ॥
अन्तर्यामी यदा देवः सर्वेषां हृदि संस्थितः ।
सेव्यो वा सेवको वापि त्वत्तो नान्योऽस्ति कश्चन ॥
इतिभावनया कृतावधानाः
प्रणमन्तः सततं च कीर्तयन्तः ।
हरिमच्युतमव्ययपादपद्मं
प्रभजन्तस्तृणवज्जगज्जनेषु ॥
उपकृतिकुशला जगत्स्वजस्रं
परकुशलानि निजानि मन्यमानाः ।
अपि परपरिभावने दयार्द्राः
शिवमनसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
दृषदि परधने च लोष्टखण्डे
परवनितासु च कूटशाल्मलीषु ।
सखिरिपुसहजेषु बन्धुवर्गे
सममतयः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
गुणगणसुमुखाः परस्य मर्म-
च्छदनपराः परिणामसौख्यदा हि ।
भगवति सततं प्रदत्तचित्ताः
प्रियवचनाः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
स्फुटमधुरपदं हि कंसहन्तुः
कलुषमुषं शुभनाम चामनन्तः ।
जय जय परिघोषणां रटन्तः
किमुविभवाः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
हरिचरणसरोजयुग्मचित्ता
जडिमधियः सुखदुःखसाम्यरूपाः ।
अपचितिचतुरा हरौ निजात्म-
नतवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
रथचरणगदाब्जशङ्खमुद्रा
कृततिलकाङ्कितबाहुमूलमध्याः ।
मुररिपुचरणप्रणामधूली-
धृतकवचाः खलु वैष्णवा जयन्ति ॥
मुरजिदपघनापकृष्टगन्धो-
त्तमतुलसीदलमाल्यचन्दनैर्ये ।
वरयितुमिव मुक्तिमाप्तभूषा-
कृतिरुचिराः खलु वैष्णवा जयन्ति ॥
विगलितमदमानशुद्धचित्ताः
प्रसभविनश्यदहंकृतिप्रशान्ताः ।
नरहरिममरासबन्धुमिष्ट्वा
क्षपितशुचः खलु वैष्णवा जयन्ति ॥
(स्क० वै० पु० मा० १० । ९६—११३)

जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, जिन्होंने स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है तथा जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखते, जिनका चित्त दयासे द्रवीभूत हो जाता है, जो चोरी और हिंसासे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं, जो सद्गुणोंके पक्षपाती हैं तथा दूसरोंके कार्य-साधनमें प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं, सदाचारसे जिनका जीवन सदा उज्ज्वल—निष्कलंक बना रहता है, जो दूसरोंके उत्सवको अपना उत्सव मानते हैं, सब प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं करते, दीनोंपर दया करना जिनका स्वभाव बन गया है और जो सदा परहित-साधनकी इच्छा रखते हैं, जो भगवान्‌की राजोचित उपचारोंसे पूजा करनेमें दत्तचित्त हो अपने पुत्रकी भाँति भगवान्‌का लाड़ लड़ाते हैं और बाह्य जगत्‌से वैसे ही भय मानकर अलग रहते हैं, जैसे काले सर्पसे। अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे सौ कोटि-गुनी अधिक प्रीतिका विस्तार वे भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं; *नित्यकर्तव्यबुद्धिसे विष्णुस्वरूप शंकर आदि* देवताओंका भक्तिपूर्वक पूजन-ध्यान करते हैं, पितरोंमें भगवान् विष्णुकी ही बुद्धिसे भक्तिभाव रखते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखते तथा भगवान् विष्णुको भी विश्वसे सर्वथा भिन्न एवं पृथक् नहीं देखते। समष्टि और व्यष्टि सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, भगवान् जगत्‌से भिन्न होकर भी भिन्न नहीं हैं, 'हे भगवान् जगन्नाथ! मैं आपका दास हूँ, आपके स्वरूपमें भी मैं हूँ, आपसे पृथक् कदापि नहीं हूँ। नाथ! यदि भेद है तो इतना ही कि आप हमारे सेव्य हैं और मैं आपका सेवक हूँ। परन्तु जब आप भगवान् विष्णु अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, तब सेव्य अथवा सेवक कोई भी आपसे भिन्न नहीं है।' इस भावनासे सदा सावधान रहकर जो ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगल चरणारविन्दोंवाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते, उनके नामोंका कीर्तन करते, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण बर्ताव करते हैं, जगत्‌में सब लोगोंका निरन्तर उपकार करनेके लिये जो कुशलताका परिचय देते हैं, दूसरोंके कुशलक्षेम-को अपना ही कुशल-क्षेम मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना करते हैं, वे ही विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, परधन और मिट्टीके ढेलेमें, परायी स्त्री और कूटशाल्मली नामक नरकमें, मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धु-वर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णु-भक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते हैं और पराये मर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्‌में सदा मन लगाये रहते हैं तथा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो भगवान्‌के पापहारी शुभनाम-सम्बन्धी मधुर पदोंका जप करते और *जय-जयकी घोषणाके साथ भगवन्नामोंका* कीर्तन करते हैं, वे अकिंचन महात्मा वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हैं। जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जड़बुद्धि-सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान हैं, जो भगवान्‌की पूजामें चतुर हैं तथा अपने मन और विनययुक्त वाणीको भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर चुके हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। मद और अहंकार गल जानेके कारण जिनका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो गया है, अमरोंके लिये वन्दनीय बन्धु भगवान् नरहरिका यजन करके जो शोकरहित हो गये हैं, ऐसे वैष्णव निश्चय ही उद्धारको प्राप्त होते हैं।

मुनि श्रीसनकजी

विविध उपदेश

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति विष्णुसमं दैवं नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्॥
नास्ति शान्तिसमो बन्धुर्नास्ति सत्यात्परं तपः।
नास्ति मोक्षात्परो लाभो नास्ति गङ्गासमा नदी॥
(नारद० पूर्व० प्रथम० ६। ५८; १। १०)

गङ्गाके समान कोई तीर्थ नहीं है, माताके समान कोई गुरु नहीं है, भगवान् विष्णुके समान कोई देवता नहीं है तथा गुरुसे बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है।

शान्तिके समान कोई बन्धु नहीं है, सत्यसे बढ़कर कोई तप नहीं है, मोक्षसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है और गङ्गाके समान कोई नदी नहीं है।

मुनि श्रीसनातन

दशमी, एकादशी, द्वादशीके नियम

अथ ते नियमान् वच्मि व्रते ह्यस्मिन् दिनत्रये ।
कांस्यं मांसं मसूरान्नं चणकान् कोद्रवांस्तथा ॥
शाकं मधु परान्नं च पुनर्भोजनमैथुने ।
दशम्यां दश वस्तूनि वर्जयेद् वैष्णवः सदा ॥
द्यूतक्रीडां च निद्रां च ताम्बूलं दन्तधावनम् ।
परापवादं पैशुन्यं स्तेयं हिंसां तथा रतिम् ॥
क्रोधं ह्यनृतवाक्यं च एकादश्यां विवर्जयेत् ।
कांस्यं मांसं सुरां क्षौद्रं तैलं वितथभाषणम् ॥
व्यायामं च प्रवासं च पुनर्भोजनमैथुने ।
अस्पृश्यस्पर्शमासूरे द्वादश्यां द्वादश त्यजेत् ॥
(नारद० पूर्व० चतुर्थ० १२० । ८६–९०)

अब इस एकादशी-व्रतमें तीन दिनोंके पालन करने योग्य नियम बतलाता हूँ। काँसेका बर्तन, मांस (मांसाहारी भी न खाय), मसूर, चना, कोदो, शाक, मधु, पराया अन्न, दुबारा भोजन और मैथुन—दशमीके दिन इन दस वस्तुओंसे वैष्णव दूर रहे। जुआ खेलना, नींद लेना, पान खाना, दाँतुन करना, दूसरेकी निन्दा करना, चुगली करना, चोरी करना, हिंसा करना, मैथुन करना और मिथ्या बोलना—एकादशीको ये ग्यारह कार्य न करे। काँसा, मांस (मांसाहारी भी), मद्य, मधु, तेल, मिथ्या-भाषण, व्यायाम, परदेश जाना, दुबारा भोजन, मैथुन तथा जो स्पर्श योग्य नहीं है, उसका स्पर्श करना और मसूर खाना—द्वादशीको इन बारह वस्तुओंका त्याग करे।

मुनि श्रीसनत्कुमार

आत्माका स्वरूप

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥
(छान्दोग्य० ७ । २५ । १)

वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दाहिनी ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। अब उसीमें अहङ्कारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दाहिनी ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ, और मैं ही यह सब हूँ।

...... न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः इति ।××× आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः......
(छान्दोग्य० ७ । २६ । २)

विद्वान् न तो मृत्युको देखता है न रोगको और न दुःखको ही। वह विद्वान् सबको (आत्मरूप ही) देखता है, अतः सबको (आत्माको) प्राप्त हो जाता है।××× आहारशुद्धि होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति होती है तथा स्मृतिके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति हो जाती है। (अज्ञानका नाश होकर आत्माकी प्राप्ति हो जाती है।)

उपदेश

निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता ।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ॥
मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति ।
नालं स दुःखमोक्षाय सङ्गो वै दुःखलक्षणः ॥
(ना० पूर्व० ६० । ४४-४५)

पाप कर्मसे दूर रहना, सदा पुण्यका संचय करते रहना, साधु पुरुषोंके बर्तावको अपनाना और उत्तम सदाचारका पालन करना—यह सर्वोत्तम श्रेयका साधन है। जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे मनुष्यशरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहमें डूब जाता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप है, वह कभी दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकता।

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं हि परमं हितम्॥
(ना० पूर्व० ६० । ४८-४९)

मनुष्यको चाहिये कि तपको क्रोधसे, सम्पत्तिको डाहसे, विद्याको मान-अपमानसे और अपनेको प्रमादसे बचावे। क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे महान् बल है। आत्मज्ञान सर्वोत्तम ज्ञान है और सत्य ही सबसे बढ़कर हितका साधन है।

संचिन्वन्नेकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति॥
तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्यास्य विमोक्षणे॥
(ना० पू० ६१ । ४१)

जैसे वनमें नयी-नयी घासकी खोजमें विचरते हुए अतृप्त पशुको उसकी घातमें लगा हुआ व्याघ्र सहसा आकर दबोच लेता है, उसी प्रकार भोगोंमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है। इसलिये इस दुःखसे छुटकारा पानेका उपाय अवश्य सोचना चाहिये।

नामके दस अपराध

गुरोरवज्ञां साधूनां निन्दां भेदं हरे हरौ।
वेदनिन्दां हरेर्नामबलात् पापसमीहनम्॥
अर्थवादं हरेर्नाम्नि पाखण्डं नामसंग्रहे।
अलसे नास्तिके चैव हरिनामोपदेशनम्॥
नामविस्मरणं चापि नाम्न्यनादरमेव च।
संत्यजेद् दूरतो वत्स दोषानेतान् सुदारुणान्॥
(ना० पू० ८२ । २२–२४)

वत्स! गुरुका अपमान, साधु-महात्माओंकी निन्दा, भगवान् शिव और विष्णुमें भेद, वेद-निन्दा, भगवन्नामके बलपर पाप करना, भगवन्नामकी महिमाको अर्थवाद समझना, नाम लेनेमें पाखण्ड फैलाना, आलसी और नास्तिकको भगवन्नामका उपदेश करना, भगवन्नामको भूल जाना तथा नाममें अनादर-बुद्धि करना—ये (दस) भयानक दोष हैं—इनको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
(ना० पू० ६१ । २)

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं। वे प्रतिदिन मूढ मनुष्यपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पुरुषपर नहीं।

केनोपनिषद्के आचार्य

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
(केन० १ । ५)

जिसको कोई भी मनसे—अन्तःकरणके द्वारा नहीं समझ सकता, जिससे मन मनुष्यका जाना हुआ हो जाता है—यों कहते हैं, उसको ही तू ब्रह्म जान। मन और बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी लोग उपासना करते हैं, वह यह ब्रह्म नहीं है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
(केन० १ । ६)

जिसको कोई भी चक्षुके द्वारा नहीं देख सकता, बल्कि जिससे मनुष्य नेत्र और उसकी वृत्तियोंको देखता है, उसको ही तू ब्रह्म जान। चक्षुके द्वारा देखनेमें आनेवाले जिस दृश्यवर्गकी लोग उपासना करते हैं, यह ब्रह्म नहीं है।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥
(केन० २ । २)

मैं ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ यों नहीं मानता और न ऐसा ही मानता हूँ कि नहीं जानता; क्योंकि जानता भी हूँ। किंतु यह जानना विलक्षण है। हम शिष्योंमेंसे जो कोई भी उस ब्रह्मको जानता है, वही मेरे उक्त वचनके अभिप्रायको भी जानता है कि मैं जानता हूँ और नहीं जानता—ये दोनों ही नहीं हैं।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥
(केन० २ । ३)

जिसका यह मानना है कि ब्रह्म जाननेमें नहीं आता, उसका तो वह जाना हुआ है और जिसका यह मानना है कि ब्रह्म मेरा जाना हुआ है, वह नहीं जानता; क्योंकि जाननेका अभिमान रखनेवालोंके लिये यह ब्रह्मतत्त्व जाना हुआ नहीं है और जिनमें ज्ञातापनका अभिमान नहीं है, उनका वह ब्रह्मतत्त्व जाना हुआ है अर्थात् उनके लिये वह अपरोक्ष है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
 न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
 प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २ । ५)

यदि इस मनुष्यशरीरमें परब्रह्मको जान लिया तो बहुत कुशल है। यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया तो महान् विनाश है। यही सोचकर बुद्धिमान् पुरुष प्राणी-प्राणीमें (प्राणिमात्रमें) परब्रह्म पुरुषोत्तमको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमृत (ब्रह्मरूप) हो जाते हैं।

महर्षि श्वेताश्वतर

परमात्मा

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
 सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
 साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
(श्वेताश्व० अ० ६ । ११)

वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है। वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप एवं सबको चेतना प्रदान करनेवाला, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत भी है।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
 मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
 स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(श्वेताश्व० अ० ६ । १२)

जो अकेला ही बहुत-से वास्तवमें अक्रिय जीवोंका शासक है और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमेश्वरको जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
 मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
 ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
(श्वेताश्व० अ० ६ । १३)

जो एक, नित्य, चेतन परमात्मा बहुत-से नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफलभोगोंका विधान करता है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करनेयोग्य, सबके कारणरूप परमदेव परमात्माको जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
 नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
 तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(श्वेताश्व० अ० ६ । १४)

वहाँ न तो सूर्य प्रकाश फैला सकता है न चन्द्रमा और तारागणका समुदाय ही, और न ये बिजलियाँ ही वहाँ प्रकाशित हो सकती हैं। फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकता है; क्योंकि उसके प्रकाशित होनेपर ही उसीके प्रकाशसे ऊपर कहे हुए सूर्य आदि सब उसके तेजसे प्रकाशित होते हैं। उसके प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य

ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ता

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥५॥

(बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय २ ब्राह्मण ४)

श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कहा—अरी मैत्रेयि! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं। धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है; ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है। लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं; देवताओंके प्रयोजनके लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देवता प्रिय होते हैं; प्राणियोंके प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय होते हैं तथा सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयि! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जानेयोग्य है। हे मैत्रेयि! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इन सबका ज्ञान हो जाता है।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥ १०॥

(बृह० अ० ३ ब्रा० ८)

हे गार्गि! जो कोई इस लोकमें इस अक्षरको न जानकर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्षपर्यन्त तप करता है, उसका वह सब कर्म अन्तवान् ही होता है। जो कोई भी इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण (दीन) है और हे गार्गि! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है।

तद् वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳ श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति॥ ११॥

(बृह० अ० ३ ब्रा० ८)

हे गार्गि! यह अक्षर स्वयं दृष्टिका विषय नहीं, किंतु द्रष्टा है; श्रवणका विषय नहीं, किंतु श्रोता है; मननका विषय नहीं, किंतु मन्ता है; स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरोंका विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है। इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश ओत-प्रोत है।

स यो मनुष्याणाꣳराद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः

स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति ॥ ३३ ॥

(बृह० अ० ४ ब्रा० ३)

वह जो मनुष्योंमें सब अङ्गोंसे पूर्ण, समृद्ध, दूसरोंका अधिपति और मनुष्यसम्बन्धी सम्पूर्ण भोग-सामग्रियोंद्वारा सबसे अधिक सम्पन्न होता है, वह मनुष्योंका परम आनन्द है। अब जो मनुष्योंके सौ आनन्द हैं, वह पितृलोकको जीतनेवाले पितृगणका एक आनन्द है। और जो पितृलोकको जीतनेवाले पितरोंके सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्वलोकका एक आनन्द है तथा जो गन्धर्वलोकके सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेवोंका, जो कि कर्मके द्वारा देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है। जो कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह आजान (जन्मसिद्ध) देवोंका एक आनन्द है और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है (उसका भी वह आनन्द है)। जो आजानदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह प्रजापतिलोकका एक आनन्द है और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है, उसका भी वह आनन्द है। जो प्रजापतिलोकके सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोकका एक आनन्द है और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है, उसका भी वह आनन्द है—तथा यही परम आनन्द है। हे सम्राट् ! यह ब्रह्मलोक है।

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

(बृह० अ० ४ ब्रा० ४)

जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति ॥ २३ ॥

(बृह० अ० ४ ब्रा० ४)

यह ब्रह्मवेत्ताकी नित्य महिमा है, जो कर्मसे न तो बढ़ती है और न घटती ही है। उस महिमाके ही स्वरूपको जाननेवाला होना चाहिये, उसे जानकर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता। अतः इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है, सभीको आत्मा देखता है। उसे (पुण्य-पापरूप) पापकी प्राप्ति नहीं होती, वह सम्पूर्ण पापोंको पार कर जाता है। इसे पाप ताप नहीं पहुँचाता, यह सारे पापोंको संतप्त करता है। यह पापरहित, निष्काम, निःसंशय ब्राह्मण हो जाता है। हे सम्राट् ! यह ब्रह्मलोक है, तुम्हें इसकी प्राप्ति करा दी गयी है।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरꣳरसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरꣳशृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरꣳस्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् तत् केन कं जिघ्रेत् तत् केन कꣳरसयेत् तत् केन कमभिवदेत् तत् केन कꣳशृणुयात् तत् केन कं मन्वीत तत् केन कꣳस्पृशेत् तत् केन कं विजानीयाद् येनेदꣳसर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५ ॥

(बृह० अ० ४ ब्रा० ५)

जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यका रसास्वादन करता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यसे बोलता है, अन्य अन्यका स्पर्श करता है और अन्य अन्यको विशेष रूपसे जानता है। किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसका रसास्वादन करे, किसके द्वारा किससे बोले, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका मनन करे, किसके द्वारा किसका स्पर्श करे और किसके द्वारा किसे जाने ! जिसके द्वारा पुरुष इस सबको जानता है, उसे किस साधनसे जाने ? वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अग्राह्य है—उसका ग्रहण नहीं किया जाता, अशीर्य है—उसका विनाश नहीं होता, असङ्ग है—आसक्त नहीं होता, अबद्ध है—वह व्यथित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि ! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ! इस प्रकार तुझे उपदेश कर दिया गया। अरी मैत्रेयि ! निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है। यों कहकर याज्ञवल्क्यजी परिव्राजक (संन्यासी) हो गये।

तैत्तिरीयोपनिषद्के आचार्य

उपदेश

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । (तैत्तिरीय० १ । ११ । १)

वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर आचार्य अपने आश्रममें रहनेवाले ब्रह्मचारी विद्यार्थीको शिक्षा देते हैं— तुम सत्य बोलो । धर्मका आचरण करो । स्वाध्यायसे कभी न चूको । आचार्यके लिये दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन लाकर दो, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके संतान-परम्पराको चालू रक्खो, उसका उच्छेद न करना । तुमको सत्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये । धर्मसे नहीं डिगना चाहिये । शुभ कर्मोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये । उन्नतिके साधनोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये । वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये । देवकार्यसे और पितृकार्यसे कभी नहीं चूकना चाहिये ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । (तैत्तिरीय० १ । ११ । २)

तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो । पिताको देवरूप समझनेवाले होओ । आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो । अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ । जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये । दूसरे दोषयुक्त कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिये । हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे आचरण हैं, उनका ही तुमको सेवन करना चाहिये । दूसरेका कभी नहीं । जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ गुरुजन एवं ब्राह्मण आयें, उनको तुम्हें आसन-दान आदिके द्वारा सेवा करके विश्राम देना चाहिये । श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये । बिना श्रद्धाके नहीं देना चाहिये । आर्थिक स्थितिके अनुसार देना चाहिये । लज्जासे देना चाहिये । भयसे भी देना चाहिये और जो कुछ भी दिया जाय, वह सब विवेकपूर्वक देना चाहिये ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति । (तैत्तिरीय० २ । १ । २)

ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है । जो मनुष्य परम विशुद्ध आकाशमें रहते हुए भी प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें छिपे हुए उस ब्रह्मको जानता है, वह उस विज्ञानस्वरूप ब्रह्मके साथ समस्त भोगोंका अनुभव करता है । इस प्रकार यह ऋचा है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। (तैत्तिरीय० २।९।१)

मनके सहित वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ जहाँसे उसे न पाकर लौट आती हैं, उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला महापुरुष किसीसे भी भय नहीं करता ।

ऋषिकुमार नचिकेता

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥
(कठ० १ । १ । २७)

मनुष्य धनसे कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता । जब कि हमने आपके दर्शन पा लिये हैं, तब धन तो हम पा ही लेंगे और आप जबतक शासन करते रहेंगे, तबतक तो हम जीते ही रहेंगे । इन सबको भी क्या माँगना है, अतः मेरे माँगने लायक वर तो यह आत्मज्ञान ही है ।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥
(कठ० १ । १ । २८)

यह मनुष्य जीर्ण होनेवाला है और मरणधर्मा है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझनेवाला मनुष्यलोकका निवासी कौन ऐसा मनुष्य है जो कि बुढ़ापेसे रहित, न मरनेवाले आप-सदृश महात्माओंका सङ्ग पाकर भी स्त्रियोंके सौन्दर्य, क्रीडा और आमोद-प्रमोदका बार-बार चिन्तन करता हुआ बहुत कालतक जीवित रहनेमें प्रेम करेगा ।

श्रीयमराज

आत्मज्ञान

> श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
> स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
> श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
> प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥
> (कठ० १।२।२)

श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्यके सामने आते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनोंके स्वरूपपर भलीभाँति विचार करके उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है और वह श्रेष्ठबुद्धि मनुष्य परम कल्याणके साधनको ही भोग-साधनकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है। परंतु मन्दबुद्धिवाला मनुष्य लौकिक योगक्षेमकी इच्छासे भोगोंके साधनरूप प्रेयको अपनाता है।

> स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामा-
> नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
> नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
> यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥
> (कठ० १।२।३)

हे नचिकेता! उन्हीं मनुष्योंमें तुम ऐसे निःस्पृह हो कि प्रिय लगनेवाले और अत्यन्त सुन्दर रूपवाले इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंको भलीभाँति सोच-समझकर तुमने छोड़ दिया। इस सम्पत्तिरूप शृङ्खलाको तुम नहीं प्राप्त हुए—इसके बन्धनमें नहीं फँसे, जिसमें बहुत-से मनुष्य फँस जाते हैं।

> अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
> स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
> दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
> अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
> (कठ० १।२।५)

अविद्याके भीतर रहते हुए भी अपनेआपको बुद्धिमान् और विद्वान् माननेवाले, भोगकी इच्छा करनेवाले वे मूर्खलोग नाना योनियोंमें चारों ओर भटकते हुए ठीक वैसे ही ठोकरें खाते रहते हैं, जैसे अन्धे मनुष्यके द्वारा चलाये जानेवाले अन्धे अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं।

> न जायते म्रियते वा विपश्चि-
> न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
> न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
> (कठ० १।२।१८)

नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह न तो स्वयं किसीसे हुआ है न इससे कोई भी हुआ है—अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस रहनेवाला और पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है। शरीरके नाश किये जानेपर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता।

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
> न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
> स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
> (कठ० १।२।२३)

यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है। जिसको यह स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देता है।

> नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
> नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
> (कठ० १।२।२४)

सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा भी इस परमात्माको न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणोंसे निवृत्त नहीं हुआ है; न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है; न वह कि जिसके मन, इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं और न वही प्राप्त करता है, जिसका मन शान्त नहीं है।

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
> (कठ० १।३।३)

हे नचिकेता! तुम जीवात्माको तो रथका स्वामी—

उसमें बैठकर चलनेवाला समझो और शरीरको ही रथ समझो तथा बुद्धिको सारथि—रथको चलानेवाला समझो और मनको ही लगाम समझो।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(कठ० १।३।४)

ज्ञानीजन इस रूपकमें इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं और विषयोंको उन घोड़ोंके विचरनेका मार्ग बतलाते हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और मन—इन सबके साथ रहनेवाला जीवात्मा ही भोक्ता है—यों कहते हैं।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
(कठ० १।३।५)

जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला और अवशीभूत—चञ्चल-मनसे युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथिके दुष्ट घोड़ोंकी भाँति स्वतन्त्र हो जाती हैं।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
(कठ० १।३।६)

परंतु जो सदा विवेकयुक्त बुद्धिवाला और वशमें किये हुए मनसे सम्पन्न रहता है, उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथिके अच्छे घोड़ोंकी भाँति वशमें रहती हैं।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥
(कठ० १।३।७)

जो कोई सदा विवेकहीन बुद्धिवाला, असंयतचित्त और अपवित्र रहता है, वह उस परमपदको नहीं पा सकता, अपितु बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥
(कठ० १।३।८)

परंतु जो सदा विवेकशील बुद्धिसे युक्त, संयतचित्त और पवित्र रहता है, वह तो उस परमपदको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे लौटकर पुनः जन्म नहीं लेता।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥
(कठ० १।३।९)

जो कोई मनुष्य विवेकशील बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न और मनरूप लगामको वशमें रखनेवाला है, वह संसारमार्गके पार पहुँचकर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌के उस सुप्रसिद्ध परमपदको प्राप्त हो जाता है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
(कठ० १।३।१२)

यह सबका आत्मरूप परमपुरुष समस्त प्राणियोंमें रहता हुआ भी मायाके परदेमें छिपा रहनेके कारण सबके प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल सूक्ष्म तत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषोंद्वारा ही अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धिसे देखा जाता है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(कठ० १।३।१४)

हे मनुष्यो! उठो, जागो, सावधान हो जाओ और श्रेष्ठ महापुरुषोंको पाकर उनके पास जाकर उनके द्वारा उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लो; क्योंकि त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन उस तत्त्वज्ञानके मार्गको छूरेकी तीक्ष्ण की हुई दुस्तर धारके सदृश दुर्गम—अत्यन्त कठिन बतलाते हैं।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
(कठ० २।२।९)

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट एक ही अग्नि नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, वैसे ही समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपोंमें उन्हींके-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
(कठ० २।२।१०)

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट एक ही वायु नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, वैसे ही सब

प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपोंमें उन्हींके-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
(कठ० २।२।११)

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डका प्रकाशक सूर्य देवता लोगोंकी आँखोंसे होनेवाले बाहरके दोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब प्राणियोंका अन्तरात्मा एक परब्रह्म परमात्मा लोगोंके दुःखोंसे लिप्त नहीं होता। क्योंकि सबमें रहता हुआ भी वह सबसे अलग है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(कठ० २।२।१२)

जो सब प्राणियोंका अन्तर्यामी, अद्वितीय एवं सबको वशमें रखनेवाला परमात्मा अपने एक ही रूपको बहुत प्रकारसे बना लेता है, उस अपने अंदर रहनेवाले परमात्माको जो ज्ञानी पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा अटल रहनेवाला परमानन्दस्वरूप वास्तविक सुख मिलता है। दूसरोंको नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥
(कठ० २।२।१३)

जो नित्योंका भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है और अकेला ही इन अनेक जीवोंकी कामनाओंका विधान करता है, उस अपने अंदर रहनेवाले पुरुषोत्तमको जो ज्ञानी निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा अटल रहनेवाली शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० २।३।१४)

इस साधकके हृदयमें स्थित जो कामनाएँ हैं, वे सब-की-सब जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और वह यहीं ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है।

स्वर्गमें कौन जाते हैं?

येऽर्चयन्ति हरिं देवं विष्णुं जिष्णुं सनातनम्।
नारायणमजं देवं विष्णुरूपं चतुर्भुजम्॥
ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यमच्युतं ये स्मरन्ति च।
लभन्ते ते हरिस्थानं श्रुतिरेषा सनातनी॥
इदमेव हि माङ्गल्यमिदमेव धनार्जनम्।
जीवितस्य फलं चैतद् यद्दामोदरकीर्तनम्॥
कीर्तनाद् देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः।
दुरितानि विलीयन्ते तमांसीव दिनोदये॥
गाथां गायन्ति ये नित्यं वैष्णवीं श्रद्धयान्विताः।
स्वाध्यायनिरता नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥
वासुदेवजपासक्तानपि पापकृतो जनान्।
नोपसर्पन्ति तान् विप्र यमदूताः सुदारुणाः॥
नान्यत् पश्यामि जन्तूनां विहाय हरिकीर्तनम्।
सर्वपापप्रशमनं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तम॥
ये याचिताः प्रहृष्यन्ति प्रियं दत्त्वा वदन्ति च।
त्यक्तदानफला ये तु ते नराः स्वर्गगामिनः॥
वर्जयन्ति दिवास्वापं नराः सर्वसहाश्च ये।
पर्वण्याश्रयभूता ये ते मर्त्याः स्वर्गगामिनः॥
द्विषतामपि ये द्वेषान्न वदन्त्यहितं कदा।
कीर्तयन्ति गुणांश्चैव ते नराः स्वर्गगामिनः॥
ये शान्ताः परदारेषु कर्मणा मनसा गिरा।
रमयन्ति न सक्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
यस्मिन् कस्मिन् कुले जाता दयावन्तो यशस्विनः।
सानुक्रोशाः सदाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
व्रतं रक्षन्ति ये कोपाच्छ्रियं रक्षन्ति मत्सरात्।
विद्यां मानापमानाभ्यां ह्यात्मानं तु प्रमादतः॥
मतिं रक्षन्ति ये लोभान्मनो रक्षन्ति कामतः।
धर्मं रक्षन्ति दुःसङ्गात्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
(पद्मपु० पाताल० ९२।१०–२१)

जो सब पापोंको हरनेवाले, दिव्यस्वरूप, व्यापक, विजयी, सनातन, अजन्मा, चतुर्भुज, अच्युत, विष्णुरूप, दिव्य पुरुष श्रीनारायणदेवका पूजन, ध्यान और स्मरण करते हैं, वे श्रीहरिके परम धामको प्राप्त होते हैं—यह सनातन श्रुति है।

भगवान् दामोदरके गुणोंका कीर्तन ही मङ्गलमय है, वही धनका उपार्जन है तथा वही इस जीवनका फल है। अमित तेजस्वी देवाधिदेव श्रीविष्णुके कीर्तनसे सब पाप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे दिन निकलनेपर अन्धकार। जो प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक भगवान् श्रीविष्णुकी यशोगाथाका गान करते और सदा स्वाध्यायमें लगे रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं। विप्रवर! भगवान् वासुदेवके नामजपमें लगे हुए मनुष्य पहलेके पापी रहे हों, तो भी भयानक यमदूत उनके पास नहीं फटकने पाते। द्विजश्रेष्ठ! हरिकीर्तनको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा साधन मैं नहीं देखता, जो जीवोंके सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला प्रायश्चित्त हो।

जो माँगनेपर प्रसन्न होते हैं, देकर प्रिय वचन बोलते हैं तथा जिन्होंने दानके फलका परित्याग कर दिया है, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं। जो दिनमें सोना छोड़ देते हैं, सब कुछ सहन करते हैं, पर्वके अवसरपर लोगोंको आश्रय देते हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं। जो अपनेसे द्वेष रखनेवालोंके प्रति भी कभी द्वेषवश अहितकारक वचन मुँहसे नहीं निकालते अपितु सबके गुणोंका ही बखान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं। जो परायी स्त्रियोंकी ओरसे उदासीन होते हैं और सत्त्वगुणमें स्थित होकर मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा कभी उनमें रमण नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।

जिस किसी कुलमें उत्पन्न होकर भी जो दयालु, यशस्वी, कृपापूर्वक उपकार करनेवाले और सदाचारी होते हैं, वे मनुष्य स्वर्गमें जाते हैं। जो मतको क्रोधसे, लक्ष्मीको डाहसे, विद्याको मान और अपमानसे, आत्माको प्रमादसे, बुद्धिको लोभसे, मनको कामसे तथा धर्मको कुसङ्गसे बचाये रखते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।

> दानं दरिद्रस्य विभोः क्षमित्वं
> 　　यूनां तपो ज्ञानवतां च मौनम्।
> इच्छानिवृत्तिश्च सुखोचितानां
> 　　दया च भूतेषु दिवं नयन्ति॥
>
> (पद्मपु० स्वर्ग० १२ । ५८)

दरिद्रका दान, सामर्थ्यशालीकी क्षमा, नौजवानोंकी तपस्या, ज्ञानियोंका मौन, सुख भोगनेके योग्य पुरुषोंकी सुखेच्छा-निवृत्ति तथा सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया—ये सद्गुण स्वर्गमें ले जाते हैं।

भगवन्नामका महत्त्व

> गोविन्द माधव मुकुन्द हरे मुरारे
> 　　शम्भो शिवेश शशिशेखर शूलपाणे।
> दामोदराच्युत जनार्दन वासुदेव
> 　　त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥
> गङ्गाधरान्धकरिपो हर नीलकण्ठ
> 　　वैकुण्ठ कैटभरिपो कमठाब्जपाणे।
> भूतेश खण्डपरशो मृड चण्डिकेश
> 　　त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥
> विष्णो नृसिंह मधुसूदन चक्रपाणे
> 　　गौरीपते गिरिश शंकर चन्द्रचूड।
> नारायणासुरनिबर्हण शार्ङ्गपाणे
> 　　त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥
>
> (स्क० पु० का० पू० ८ । ९९-१०१)

मेरे सेवको! जो मनुष्य गोविन्द, माधव, मुकुन्द, हरे, मुरारे, शम्भो, शिव, ईश, चन्द्रशेखर, शूलपाणि, दामोदर, अच्युत, जनार्दन और वासुदेव इत्यादि नामोंका सदा उच्चारण करते रहते हैं, उनको दूरसे ही त्याग देना। दूतो! जो लोग सदा गङ्गाधर, अन्धकरिपु, हर, नीलकण्ठ, वैकुण्ठ, कैटभरिपु, कमठ, पद्मपाणि, भूतेश, खण्डपरशु, मृड, चण्डिकेश आदि नामोंका जप करते हैं, वे तुम्हारे लिये सर्वथा त्याज्य हैं। मेरे दूतो! विष्णु, नृसिंह, मधुसूदन, चक्रपाणि, गौरीपति, गिरिश, शङ्कर, चन्द्रचूड, नारायण, असुरविनाशन, शार्ङ्गपाणि इत्यादि नामोंका सदा जो लोग कीर्तन करते रहते हैं, उन्हें भी दूरसे ही त्याग देना उचित है।

> स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
> प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥
> द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
> गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥
>
> (श्रीमद्भा० ६ । ३ । २०-२१)

भगवान्‌के द्वारा निर्मित भागवतधर्म परम शुद्ध और अत्यन्त गोपनीय है। उसे जानना बहुत ही कठिन है। जो उसे जान लेता है, वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। दूतो! भागवतधर्मका रहस्य हम बारह व्यक्ति ही जानते हैं—ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, भगवान् शङ्कर, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्मपितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं।

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा

ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।

तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्

नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २७)

जो समदर्शी साधु भगवान्‌को ही अपना साध्य और साधन दोनों समझकर उनपर निर्भर हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्ध उनके पवित्र चरित्रोंका प्रेमसे गान करते रहते हैं। मेरे दूतो! भगवान्‌की गदा उनकी सदा रक्षा करती रहती है। उनके पास तुमलोग कभी भूलकर भी मत फटकना। उन्हें दण्ड देनेकी सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् कालमें ही।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं

चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि

तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २९)

जिनकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्ण-के चरणोंमें नहीं झुकता, उन भगवत्सेवा विमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो।

महर्षि अङ्गिरा

परब्रह्म परमात्मा और उनकी प्राप्तिके साधन

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना

वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।

यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्

तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥

(मुण्डक० १ । २ । ९)

वे मूर्ख लोग उपासनारहित सकाम कर्मोंमें बहुत प्रकारसे बर्तते हुए हम कृतार्थ हो गये ऐसा अभिमान कर लेते हैं। क्योंकि वे सकाम कर्म करनेवाले लोग विषयोंकी आसक्तिके कारण कल्याणके मार्गको नहीं जान पाते, इस कारण बारबार दुःखसे आतुर हो पुण्योपार्जित लोकोंसे हटाये जाकर नीचे गिर जाते हैं।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये

शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति

यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

(मुण्डक० १ । २ । ११)

किंतु जो वनमें रहनेवाले, शान्त स्वभाववाले तथा भिक्षाके लिये विचरनेवाले विद्वान् संयमरूप तप तथा श्रद्धाका सेवन करते हैं, वे रजोगुणरहित सूर्यके मार्गसे वहाँ चले जाते हैं, जहाँपर वह जन्म-मृत्युसे रहित नित्य, अविनाशी परम पुरुष रहता है।

सत्यमेव जयति नानृतं

सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा

यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

(मुण्डक० ३ । १ । ६)

सत्य ही विजयी होता है, झूठ नहीं; क्योंकि वह देवयान नामक मार्ग सत्यसे परिपूर्ण है, जिससे पूर्णकाम ऋषिलोग वहाँ गमन करते हैं, जहाँ वह सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माका उत्कृष्ट धाम है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा

नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-

स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

(मुण्डक० ३ । १ । ८)

वह परमात्मा न तो नेत्रोंसे, न वाणीसे और न दूसरी इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करनेमें आता है। तथा तपसे अथवा कर्मोंसे भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता। उस अवयव-रहित परमात्माको तो विशुद्ध अन्तःकरणवाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरणसे निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञानकी निर्मलतासे देख पाता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

(मुण्डक० ३ । २ । ३)

यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है। वह जिसको स्वीकार

कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥
(मुण्डक० ३ । २ । ४)

यह परमात्मा बलहीन मनुष्यद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता तथा प्रमादसे अथवा लक्षणरहित तपसे भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। किंतु जो बुद्धिमान् साधक इन उपायोंके द्वारा प्रयत्न करता है, उसका यह आत्मा ब्रह्मधाममें प्रविष्ट हो जाता है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(मुण्डक० १ । २ । ८)

अविद्याके भीतर स्थित होकर भी अपने-आप बुद्धिमान् बननेवाले तथा अपनेको विद्वान् माननेवाले वे मूर्खलोग बार-बार आघात (कष्ट) सहन करते हुए (ठीक वैसे ही) भटकते रहते हैं जैसे अन्धेके द्वारा चलाये जानेवाले अंधे (अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर बीचमें ही इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते रहते हैं।)

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥
(मुण्डक० २ । २ । ३)

उपनिषद्में वर्णित प्रणवरूप महान् अस्त्र धनुषको लेकर (उसपर) निश्चय ही उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ावे। (फिर) भावपूर्ण चित्तके द्वारा उस बाणको खींचकर हे प्रिय! उस परम अक्षर पुरुषोत्तमको ही लक्ष्य मानकर बेधे।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥
(मुण्डक० २ । २ । ४)

(यहाँ) ओंकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है, (और) परब्रह्म परमेश्वर ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। (वह) प्रमादरहित मनुष्यद्वारा ही बींधा जाने योग्य है। (अतः) उसे बेधकर बाणकी भाँति (उस लक्ष्यमें) तन्मय हो जाना चाहिये।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक० २ । २ । ८)

कार्य-कारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस (जीवात्मा)के हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(मुण्डक० २ । २ । १०)

वहाँ न (तो) सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा और तारागण ही (तथा) न ये बिजलियाँ ही (वहाँ) कौंधती हैं; फिर इस अग्निके लिये तो कहना ही क्या है। (क्योंकि) उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे) सब प्रकाशित होते हैं, उसीके प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ता-
द्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं
विश्वमिदं वरिष्ठम्॥
(मुण्डक० २ । २ । ११)

यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है। ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डक० ३ । १ । १)

एक साथ रहनेवाले (तथा) परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष

(शरीर)का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है (किंतु) दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
(मुण्डक० ३ । १ । २)

पूर्वोक्त शरीररूपी समान वृक्षपर (रहनेवाला) जीवात्मा (शरीरकी गहरी आसक्तिमें) डूबा हुआ है, असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है। जब कभी (भगवान्‌की अहैतुकी दयासे भक्तोंद्वारा नित्य) सेवित (तथा) अपनेसे भिन्न परमेश्वरको (और) उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकसे रहित हो जाता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
(मुण्डक० ३ । १ । ५)

यह शरीरके भीतर ही (हृदयमें विराजमान) प्रकाशस्वरूप (और) परम विशुद्ध परमात्मा निरसंदेह सत्य-भाषण, तप (और) ब्रह्मचर्यपूर्वक यथार्थ ज्ञानसे ही सदा प्राप्त होनेवाला है, जिसे सब प्रकारके दोषोंसे रहित हुए यत्नशील साधक ही देख पाते हैं।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
(मुण्डक० ३ । १ । ७)

वह परब्रह्म महान्, दिव्य और अचिन्त्यस्वरूप है तथा वह सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें प्रकाशित होता है। वह दूरसे भी अत्यन्त दूर है और इस शरीरमें रहकर अति समीप भी है, यहाँ देखनेवालोंके भीतर ही उनकी हृदयरूपी गुफामें स्थित है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डक० ३ । २ । ८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परमपुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ (मुण्डक० ३ । २ । ९)

निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुलमें ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता। वह शोकसे पार हो जाता है, पाप-समुदायसे तर जाता है, हृदयकी गाँठोंसे सर्वथा छूटकर अमर हो जाता है।

यस्यान्तः सर्वमेवेदमच्युतस्याव्ययात्मनः।
तमाराधय गोविन्दं स्थानमग्र्यं यदीच्छसि॥
(विष्णुपुराण १ । ११ । ४५)

यदि तू श्रेष्ठ स्थानका इच्छुक है तो जिन अविनाशी अच्युतमें यह सम्पूर्ण जगत् ओत-प्रोत है, उन गोविन्दकी ही आराधना कर।

महर्षि कश्यप

धनका मोह

अनर्थो ब्राह्मणस्यैष यदर्थनिचयो महान्।
अर्थैश्वर्यविमूढो हि श्रेयसो भ्रश्यते द्विजः॥
अर्थसम्पद्विमोहाय विमोहो नरकाय च।
तस्मादर्थमनर्थाय श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥
योऽर्थेन साध्यते धर्मः क्षयिष्णुः स प्रकीर्तितः।
यः परार्थे परित्यागः सोऽक्षयो मुक्तिलक्षणम्॥
(पद्म० सृष्टि० १९ । २५०—२५३)

यदि ब्राह्मणके पास धनका महान् संग्रह हो जाय तो यह उसके लिये अनर्थका ही हेतु है; धन-ऐश्वर्यसे मोहित ब्राह्मण कल्याणसे भ्रष्ट हो जाता है। धन-सम्पत्ति मोहमें डालनेवाली होती है। मोह नरकमें गिराता है, इसलिये कल्याण

चाहनेवाले पुरुषको अनर्थके साधनभूत अर्थका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये। जिसको धर्मके लिये धन-संग्रहकी इच्छा होती है, उसके लिये उस इच्छाका त्याग ही श्रेष्ठ है; क्योंकि कीचड़को लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे स्पर्श न करना ही उत्तम है। धनके द्वारा जिस धर्मका साधन किया जाता है, वह क्षयशील माना गया है। दूसरेके लिये जो धनका परित्याग है, वही अक्षय धर्म है, वही मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है।

पापी और पुण्यात्माओंके लोक

आसंयोगात्पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
दमिश्रः स्यात्पापकृद्भिः कथंचित्॥२३॥
पुण्यस्य लोको मधुमान्घृतार्चि-
र्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी
न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम्॥२६॥
पापस्य लोको निरयोऽप्रकाशो
नित्यं दुःखं शोकभूयिष्ठमेव।
तत्रात्मानं शोचति पापकर्मा
बह्वीः समाः प्रतपन्नप्रतिष्ठः॥२७॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ७१)

जैसे सूखी लकड़ियोंके साथ मिली होनेसे गीली लकड़ी भी जल जाती है, उसी तरह पापियोंके सम्पर्कमें रहनेसे धर्मात्माओंको भी उनके समान दण्ड भोगना पड़ता है; इसलिये पापियोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। पुण्यात्माओंको मिलनेवाले सभी लोक मधुर सुखकी खान और अमृतके केन्द्र होते हैं। वहाँ घीके चिराग जलते हैं। उनमें सुवर्णके समान प्रकाश फैला रहता है। वहाँ न मृत्युका प्रवेश है, न वृद्धावस्थाका। उनमें किसीको कोई दुःख भी नहीं होता। ब्रह्मचारीलोग मृत्युके पश्चात् उन्हीं लोकोंमें जाकर आनन्दका अनुभव करते हैं। पापियोंका लोक है नरक, जहाँ सदा अँधेरा छाया रहता है। वहाँ अधिक-से-अधिक शोक और दुःख प्राप्त होते हैं। पापात्मा पुरुष वहाँ बहुत वर्षोंतक कष्ट भोगते हुए अस्थिर एवं अशान्त रहते हैं, उन्हें अपने लिये बहुत शोक होता है।

महर्षि वसिष्ठ

श्रीविष्णुकी आराधना

प्राप्नोष्याराधिते विष्णौ
मनसा यद्यदिच्छसि।
त्रैलोक्यान्तर्गतं स्थानं
किमु वत्सोत्तमोत्तमम्॥

(श्रीविष्णु० १।११।४९)

हे वत्स! विष्णुभगवान्‌की आराधना करनेपर तू अपने मनसे जो कुछ चाहेगा, वही प्राप्त कर लेगा; फिर त्रिलोकीके उत्तमोत्तम स्थानकी तो बात ही क्या है।

मानसतीर्थ

सत्यतीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदयातीर्थं तीर्थानां सत्यवादिता॥
ज्ञानतीर्थं तपस्तीर्थं कथितं तीर्थसप्तकम्।
सर्वभूतदयातीर्थे विशुद्धिर्मनसो भवेत्॥
न तोयपूतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यस्य वै पुंसः सुविशुद्धं मनो मतम्॥

(स्क० पु० वै० अ० मा० १०।४६—४८)

तीर्थोंमें सत्यतीर्थ, क्षमातीर्थ, इन्द्रियनिग्रहतीर्थ, सर्वभूत-दयातीर्थ, सत्यवादितातीर्थ, ज्ञानतीर्थ और तपस्तीर्थ—ये सात मानसतीर्थ कहे गये हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दया करनारूप जो तीर्थ है, उसमें मनकी विशेष शुद्धि होती है। केवल जलसे शरीरको पवित्र कर लेना ही स्नान नहीं कहलाता; जिस पुरुषका मन भलीभाँति शुद्ध है, उसीने वास्तवमें तीर्थस्नान किया है।

गङ्गा-नर्मदा-माहात्म्य

गङ्गा च नर्म्मदा तापी यमुना च सरस्वती।
गण्डकी गोमती पूर्णा एता नद्यः सुपावनाः॥
एतासां नर्म्मदा श्रेष्ठा गङ्गा त्रिपथगामिनी।
दहते किल्बिषं सर्वं दर्शनादेव राघव॥
दृष्ट्वा जन्मशतं पापं गत्वा जन्मशतत्रयम्।
स्नात्वा जन्मसहस्रं च हन्ति रेवा कलौ युगे॥
नर्म्मदातीरमाश्रित्य शाकमूलफलैरपि।
एकस्मिन् भोजिते विप्रे कोटिभोजफलं लभेत्॥
गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

(स्क० पु० ब्रा० ध० मा० ३१।३—७)

गङ्गा, नर्मदा, तापी, यमुना, सरस्वती, गण्डकी, गोमती और पूर्णा—ये सभी नदियाँ परम पावन हैं। इन सबमें नर्मदा और त्रिपथगामिनी गङ्गा श्रेष्ठ हैं। रघुनन्दन ! श्रीगङ्गाजी दर्शनमात्रसे ही सब पापोंको जला देती हैं। कलियुगमें नर्मदाका दर्शन करनेसे सौ जन्मोंके, समीप जानेसे तीन सौ जन्मोंके और जलमें स्नान करनेसे एक हजार जन्मोंके पापोंका वह नाश कर देती है। नर्मदाके तटपर जाकर साग और मूल-फलसे भी एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे कोटि ब्राह्मणोंको भोजन देनेका फल होता है। जो सौ योजन दूरसे भी 'गङ्गा-गङ्गा'का उच्चारण करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता है और भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है।

अकिञ्चनता

तपःसंचय एवेह विशिष्टो धनसंचयात् ॥
त्यजतः संचयान् सर्वान् यान्ति नाशमुपद्रवाः।
न हि संचयवान् कश्चित् सुखी भवति मानद ॥
यथा यथा न गृह्णाति ब्राह्मणः सम्प्रतिग्रहम्।
तथा तथा हि संतोषाद् ब्रह्मतेजो विवर्धते ॥
अकिंचनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयत्।
अकिंचनत्वमधिकं राज्यादपि जितात्मनः ॥

(पद्म० सृष्टि० १९। २४६—२४९)

इस लोकमें धन-संचयकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है। जो सब प्रकारके लौकिक संग्रहोंका परित्याग कर देता है, उसके सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं। मानद ! संग्रह करनेवाला कोई भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। ब्राह्मण जैसे-जैसे प्रतिग्रहका त्याग करता है, वैसे-ही-वैसे संतोषके कारण उसके ब्रह्मतेजकी वृद्धि होती है। एक ओर अकिंचनता और दूसरी ओर राज्यको तराजूपर रखकर तौला गया तो राज्यकी अपेक्षा जितात्मा पुरुषकी अकिंचनताका ही पलड़ा भारी रहा।

इन्द्रियसंयम—मनकी समता

अवान्तरनिपातीनि स्वारूढानि मनोरथम्।
पौरुषेणेन्द्रियाण्याशु संयम्य समतां नय ॥

(योगवासिष्ठ)

मनोमय रथपर चढ़कर विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण बीचमें ही पतनके गर्तमें गिरनेवाली हैं; अतः प्रबल पुरुषार्थद्वारा इन्हें शीघ्र अपने वशमें करके मनको समतामें ले जाइये।

मोक्षके चार द्वारपाल

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तित।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा ॥
एकं वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत्।
एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः ॥

(योगवासिष्ठ)

मोक्षके द्वारपर चार द्वारपाल कहे गये हैं—शम, विचार, संतोष और चौथा सत्सङ्ग। पहले तो इन चारोंका ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये। यदि चारोंके सेवनकी शक्ति न हो तो तीनका सेवन करना चाहिये; तीनका सेवन न हो सकनेपर दोका सेवन करना चाहिये। इनका भलीभाँति सेवन होनेपर ये मोक्षरूपी राजगृहमें मुमुक्षुका प्रवेश होनेके लिये द्वार खोलते हैं। यदि दोके सेवनकी भी शक्ति न हो तो सम्पूर्ण प्रयत्नसे प्राणोंकी बाजी लगाकर भी इनमेंसे एकका अवश्य आश्रयण करना चाहिये। यदि एक वशमें हो जाता है तो शेष तीन भी वशमें हो जाते हैं।

[वैदिक वाणी]

(प्रेषक—श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

१ सुवीरं स्वपत्यं प्रशस्तं रयिं धिया नः धाः—उत्तम वीर-भावसे युक्त, उत्तम पुत्र-पौत्रोंसे युक्त, प्रशंसायोग्य धन उत्तम बुद्धिके साथ हमें दो।

२ यातुमावान् यावा यं रयिं न तरति—हिंसक डाकू जिस धनको लूट नहीं सकता (ऐसा धन हमें दे दो।)

३ विश्वा अरातीः तपोभिः अपदह—सब शत्रुओंको अपने तेजोंसे जला दो (दूर करो।)

४ अमीवां प्रचातयस्व—रोगको भलीभाँति नष्ट कर दो।

५ इह सुमनाः स्याः—यहाँ उत्तम मनसे युक्त होकर रहो।

६ प्रशस्तां धियं पनयन्त—प्रशस्त विशाल बुद्धिकी प्रशंसा सब करते हैं।

७ विश्वा अदेवी माया अभिसन्तु—सब प्रकारके राक्षसी कपट-जाल छिन्न-भिन्न हो जायँ।

८ अररुषः अघायोः धूर्तेः पाहि—कृपण, पापाभिलाषी तथा हिंसकसे हमारा रक्षण कर।

९ अमतये नः मा परादाः—निर्बुद्धिता हमें प्राप्त न हो।

१० सूरिभ्यः बृहन्तं रयिम् आवह—ज्ञानियोंको बहुत धन दो।

चाहनेवाले पुरुषको अनर्थके कारणभूत धर्मका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये। जिसको धर्मके लिये धन संग्रहकी इच्छा होती है, उसके लिये उस इच्छाका त्याग ही श्रेष्ठ है; क्योंकि कीचड़को लगाकर धोनेकी अपेक्षा उसका दूरसे स्पर्श न करना ही उत्तम है। धनके द्वारा जिस धर्मका साधन किया जाता है, वह क्षयशील माना गया है। ... लिये जो धनका परित्याग है, वही अक्षय धर्म ... प्राप्ति करानेवाला है।

पापस्य लोको निर...

तम...

पापी और पु...

आसंयोगात्पापकृताम्

मुच्यते

शुष्केनार्द्रं दह

मि

पुण्यस्य लोको म

हिर

तत्र प्रेत्य मोदते

न तत्र मृत्युर्न

श्रीविष्णुकी उ...

प्राप्नोष्याराधिते विष्णौ
मनसा यद्य...
त्रैलोक्यान्तर्गतं स्थानं
किमु वत्सोत्तमोत्तमम्॥
(श्रीविष्णु० १ । ११ । ४९)

हे वत्स! विष्णुभगवान्‌की आराधना करनेपर तू अपने मनसे जो कुछ चाहेगा, वही प्राप्त कर लेगा; फिर त्रिलोकीके उत्तमोत्तम स्थानकी तो बात ही क्या है।

मानसतीर्थ

सत्यतीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदयातीर्थं तीर्थानां सत्यवादिता॥
ज्ञानतीर्थं तपस्तीर्थं कथितं तीर्थसप्तकम्।
सर्वभूतदयातीर्थे विशुद्धिर्मनसो भवेत्॥
न तोयपूतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यस्य वै पुंसः सुविशुद्धं मनो मतम्॥
(स्क० पु० वै० का० मा० १० । ४६—४८)

दह

दृष्ट्वा

स्नात्वा

नर्मदातीर

एकस्मिन् भो

गङ्गा गङ्गेति यो

मुच्यते सर्वपापेभ्यो

(स्क० ...

४३ अध्वरस्य महान् प्रकेतः—हिंसा कुटिलतारहित ...मेंका तू प्रवर्तक बन। (ऋग्वेद ७।११)

४४ महा विश्वा दुरितानि साह्वान्—अपने सामर्थ्यसे ...ब दुरवस्थाओंको दूर कर। (ऋग्वेद ७।१२)

४५ विश्वशुचे धियंधे असुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्—...व प्रकारसे शुद्ध, बुद्धिमान्, असुरोंके नाशक वीरके लिये ...शंसाके वचन बोलो।

४६ पशून् गोपाः—पशुओंका संरक्षण करो।

४७ ब्रह्मणो गातुं विन्द—ज्ञान-प्रचारका मार्ग जानो। (ऋग्वेद ७।१३)

४८ शुक्रशोचिषे दाशेम—बलवान् तेजस्वी वीरको दान ...दें। (ऋग्वेद ७।१४)

४९ पञ्चचर्षणीः दमे दमे कविः युवा गृहपतिः निषसाद—पाँचों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंके घर-घरमें ज्ञानी तरुण गृहस्थ बैठा रहता है।

५० स विश्वतः नः रक्षतु, अंहसः पातु—वह सब ओरसे हमारा रक्षण करे और हमें पापसे बचावे।

५१ द्युमन्तं सुवीरं निधीमहि—तेजस्वी श्रेष्ठ वीरको हम अपने सन्निधिमें रखते हैं।

५२ सुवीरः अस्मयुः—उत्तम वीर हमारे पास आवे।

५३ वीरवद् यशः दाति—हमें वीरोंसे प्राप्त होनेवाला यश मिले।

५४ अंहसः रक्ष—पापसे बचाओ। (ऋग्वेद ७।१५)

५५ सूरयः प्रियासः सन्तु—ज्ञानी प्रिय करनेवाले हों।

५६ द्रुहः निदः त्रायस्व—द्रोहियोंसे और निन्दकोंसे हमारा बचाव करो। (ऋग्वेद ७।१६)

५७ स्वध्वरा कृणुहि—उत्तम कर्म कुटिलतारहित होकर करो। (ऋग्वेद ७।१७)

५८ सुमतौ शर्मन् स्याम—उत्तम बुद्धि और सुखसे हम युक्त हों।

५९ सखा सखायम् अतरत्—मित्र मित्रको बचाता है।

६० मृध्रवाचं जेष्म—असत्य भाषण करनेवालेको हम पराभूत करेंगे।

६१ मन्युभ्यः मन्युं मिमाय—क्रोधीसे क्रोधको दूर करो।

६२ सूरिभ्यः सुदिनानि व्युच्छान्—ज्ञानियोंको उत्तम दिन मिलें।

६३ क्षत्रं दूणाशं अजरम्—क्षात्र तेज नष्ट न हो, पर बढ़ता जाय। (ऋग्वेद ७।१८)

६४ एकः भीमः विश्वाः कृष्टीः च्यावयति—एक भयंकर शत्रु सब प्रजाको हिला देता है।

६५ धृषता विश्वाभिः ऊतिभिः प्रावः—धैर्यसे सब संरक्षक शक्तियोंसे अपना संरक्षण करो।

६६ अवृकेभिः वरूथैः त्रायस्व—क्रूरतारहित संरक्षणके साधनोंसे हमारा रक्षण करो।

६७ प्रियासः सखायः नरः शरणे मदेम—प्रिय मित्ररूपी मनुष्योंको प्राप्त करके अपने घरमें आनन्दसे रहेंगे।

६८ नृणां सखा शूरः शिवः अविता भूः—मनुष्योंके शूर और कल्याणकारी मित्र एवं रक्षक बनो। (ऋग्वेद ७।१९)

६९ नर्यः यत् करिष्यन् अपः चक्रिः—मानवोंका हित करनेवाला वीर जो करना चाहता है, करके छोड़ता है।

७० वस्वी शक्तिः अस्तु—सुखसे निवास करनेवाली शक्ति हो। (ऋग्वेद ७।२०)

७१ क्रत्वा ज्मन् अभि भूः—पुरुषार्थसे पृथ्वीपर विजय प्राप्त करो। (ऋग्वेद ७।२१)

७२ ते सख्या शिवानि सन्तु—तेरी मित्रता हमारे लिये कल्याणकारी हो। (ऋग्वेद ७।२२)

७३ त्वं धीभिः वाजान् विदयसे—तू बुद्धियोंके साथ बलोंको देता है। (ऋग्वेद ७।२३)

७४ नृभिः आ प्रयाहि—मनुष्योंके साथ प्रगति कर।

७५ वृषणं शुष्मं दधत्—बलवान् और सामर्थ्यवान् (वीर पुत्र) को घरमें रखो।

७६ सुवीराम् इषं पिन्व—उत्तम वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाला अन्न प्राप्त करो। (ऋग्वेद ७।२४)

७७ समन्यवः सेनाः समरन्त—उत्साही सैनिक लड़ते हैं।

७८ मनः विष्वद्र्यग् मा विचारीत्—अपना मन चारों ओर भटकने न दो।

७९ देवजूतं सहः इयानाः—देवोंको प्रिय होनेवाली शक्ति प्राप्त करो।

८० तरुत्रः वाजं सनुयाम—हम तारक बल प्राप्त करें। (ऋग्वेद ७।२५)
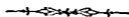
११ आयुषा अविक्षितासः सुवीराः मदेम—आयुसे क्षीण न होकर तथा उत्तम वीर बनकर सानन्द-प्रसन्न रहेंगे। (ऋग्वेद ७ । १)

१२ सुक्रतवः शुचयः धियंधाः—उत्तम कर्म करनेवाले, पवित्र और बुद्धिमान् बनो।

१३ ईळेन्युम् असुरं सुदक्षं सत्यवाचं संमहेम—प्रशंसनीय बलवान्, दक्ष, सत्य बोलनेवालेकी हम स्तुति करते हैं। (ऋग्वेद ७ । २)

१४ ऋतावा तपुर्मूर्द्धा घृतान्नः पावकः—सत्य-पालन करनेवाला, तेजस्वी मुखवाला, घी खानेवाला और पवित्रता करनेवाला मनुष्य बने।

१५ सुचेतसं क्रतुं वतेम—उत्तम शुद्ध बुद्धिसे हम कर्तव्य करें। (ऋग्वेद ७ । ३)

१६ तरुणः गृत्सः अस्तु—तरुण ज्ञानी हो।

१७ अनीके संसदि मर्तासः पौरुषेयीं गृभं न्युवोच—सैनिक वीरोंकी सभामें बैठे वीर युद्धमें मरनेके लिये तैयार होकर पौरुषकी ही बातें करते हैं।

१८ प्रचेता अमृतः कविः अकविषु मर्तेषु निधायि—विशेष ज्ञानी, अमरत्व प्राप्त करनेवाला विद्वान् अज्ञानी मनुष्योंमें जाकर बैठे (और उनको ज्ञान दे।) (ऋग्वेद ७ । ४)

१९ आर्याय ज्योतिः जनयन्—आर्योंके लिये प्रकाश किया है।

२० दस्यून् ओकसः आजः—चोरोंको घरोंसे भगा दो।

२१ द्युमतीम् इषम् अस्मे आ ईरयस्व—तेजस्वी अन्न हमें दे दो। (ऋग्वेद ७ । ५)

२२ दारुं वन्दे—शत्रुके विदारण करनेवाले वीरको मैं प्रणाम करता हूँ।

२३ अद्रेः धासिं भानुं कविं शं राज्यं पुरन्दरस्य महानि व्रतानि गीर्भिः आ विवासे—कीलोंके धारणकर्ता, तेजस्वी, ज्ञानी, सुखदायी, राज्यशासक, शत्रुके नगरोंका भेद करनेवाले, बड़े पुरुषार्थी वीरके शौर्यपूर्ण कार्योंकी मैं प्रशंसा करता हूँ।

२४ अक्रतून् ग्रथिनः मृध्रवाचः, पणीन् अश्रद्धान्, अयज्ञान् दस्यून् निविवाय—सत्कर्म न करनेवाले, मृषाभाषी, हिंसावादी, सूद लेनेवाले, श्रद्धाहीन, यज्ञ न करनेवाले डाकुओंको दूर करो।

२५ यस्तः ईशानं अनानतं पृतन्यून् दमयन्तं गृणीषे—धनके स्वामी, शत्रुके आगे न झुकनेवाले सेना-संचालन करनेवाले, शत्रुका दमन करनेवाले वीरकी प्रशंसा करो।

२६ वधस्नैः देह्यः अनमयत्—शस्त्रोंसे गुण्डोंको नम्र करना योग्य है। (ऋग्वेद ७ । ६)

२७ मानुषासः विचेतसः—मनुष्य विशेष बुद्धिमान् बनें।

२८ मन्द्रः मधुवचा ऋतावा विश्पतिः विशां दुरोणे अधायि—आनन्द बढ़ानेवाला मधुरभाषी ऋजुगामी प्रजापालक राजा प्रजाजनोंके घरोंमें जाकर बैठता है। (ऋग्वेद ७ । ७)

२९ अर्यः राजा समिन्धे—श्रेष्ठ राजा प्रकाशित होता है।

३० मन्द्रः यह्वः मनुषः सुमहान् अवेदि—सुखदायक महावीर मानवोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ समझा जाता है।

३१ विश्वेभिः अनीकैः सुमना भुवः—सब सैनिकोंके साथ प्रसन्नचित्तसे बर्ताव करो।

३२ अमीवचातनं शं भवाति—रोग दूर करना सुखदायी होता है। (ऋग्वेद ७ । ८)

३३ मन्द्रः जारः कवितमः पावकः उषसां उपस्थात् अबोधि—सानन्द—प्रसन्न, वृद्ध, ज्ञानी, शुद्धाचारी उषःकालके समय जागता है।

३४ सुक्रत्सु द्रविणम्—अच्छा कर्म करनेवालेको धन दो।

३५ अमूरः सुसंसत् शिवः कविः मित्रः भाति—जो मूर्ख नहीं, वह उत्तम साथी, कल्याणकारी, ज्ञानी, मित्र, तेजस्वी होता है।

३६ गणेन ब्रह्मकृतः मा रिषण्यः—संघशः ज्ञानका प्रचार करनेवालेका नाश नहीं होता।

३७ पुरन्धिं राये यक्षि—बहुत बुद्धिमान्को धन दो।

३८ पुरुनीथा जरस्व—विशेष नीतिमानोंकी स्तुति करो। (ऋग्वेद ७ । ९)

३९ शुचिः वृषा हरिः—शुद्ध और बलवान् बननेसे दुःखका हरण होता है।

४० विद्वान् देवयात्रा वनिष्ठः—विद्वान् देवत्व प्राप्त करने लगा तो वह स्तुतिके योग्य होता है।

४१ मतयः देवयन्तीः—बुद्धियाँ देवत्व प्राप्त करनेवाली हों।

४२ उशिजः विशः मन्द्रं यविष्ठम् ईळते—सुख चाहनेवाली प्रजा सानन्द—प्रसन्न, तरुण वीरकी प्रशंसा करती है। (ऋग्वेद ७ । १०)

४३ अध्वरस्य महान् प्रकेतः—हिंसा कुटिलतारहित कर्मका तू प्रकाशक बन। (ऋग्वेद ७ । ११)

४४ महा विश्वा दुरितानि साह्वान्—अपने सामर्थ्यसे सब दुराचारोंको दूर कर। (ऋग्वेद ७ । १२)

४५ विश्वशुचे धियं धे असुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्—सब प्रकारसे शुद्ध, बुद्धिमान्, असुरोंके नाशक वीरके लिये प्रशंसाके वचन बोलो।

४६ पशून् गोपाः—पशुओंका संरक्षण करो।

४७ ब्रह्मणे गातुं विन्द—ज्ञान-प्रसारका मार्ग जानो। (ऋग्वेद ७ । १३)

४८ शुक्रशोचिषे दाशेम—बलवान् तेजस्वी वीरको दान देंगे। (ऋग्वेद ७ । १४)

४९ पञ्चचर्षणीः दमे दमे कविः युवा गृहपतिः निषसाद—पाँचों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंके घर-घरमें ज्ञानी तरुण गृहस्थ बैठा रहता है।

५० स विश्वतः नः रक्षतु, अंहसः पातु—वह सब ओरसे हमारा रक्षण करे और हमें पापसे बचावे।

५१ द्युमन्तं सुवीरं निधीमहि—तेजस्वी श्रेष्ठ वीरको हम अपने सन्निधिमें रखते हैं।

५२ सुवीरः अस्मयुः—उत्तम वीर हमारे पास आवे।

५३ वीरवद् यशः दाति—हमें वीरोंसे प्राप्त होनेवाला यश मिले।

५४ अंहसः रक्ष—पापसे बचाओ। (ऋग्वेद ७ । १५)

५५ सूरयः प्रियासः सन्तु—ज्ञानी प्रिय करनेवाले हों।

५६ द्रुहः निदः पाहि—द्रोहियोंसे और निन्दकोंसे हमारा बचाव करो। (ऋग्वेद ७ । १६)

५७ स्वध्वरा कृणुहि—उत्तम कर्म कुटिलतारहित होकर करो। (ऋग्वेद ७ । १७)

५८ सुमतौ शर्मन् स्याम—उत्तम बुद्धि और सुखसे हम युक्त हों।

५९ सखा सखायम् अतरत्—मित्र मित्रको बचाता है।

६० मृध्रवाचं जेष्म—असत्य भाषण करनेवालेको हम पराभूत करेंगे।

६१ मन्युभ्यः मन्युं मिमाय—क्रोधीसे क्रोधको दूर करो।

६२ सूरिभ्यः सुदिनानि व्युच्छान्—ज्ञानियोंको उ
दिन मिलें।

६३ क्षत्रं दूणाशं अजरम्—क्षात्र तेज नष्ट न हो,
बढ़ता जाए। (ऋग्वेद ७ । १

६४ एकः भीमः विश्वाः कृष्टीः च्यावयति—एक भयं
शत्रु सब प्रजाको हिला देता है।

६५ स्पार्हा विधाभिः ऊतिभिः प्राव:—धैर्यसे
संरक्षक शक्तियोंसे अपना संरक्षण करो।

६६ अवृकेभिः वरूथैः त्रायस्व—क्रूरतारहित संरक्षण
साधनोंसे हमारा रक्षण करो।

६७ प्रियासः सखायः नरः शरणे मदेम—प्रिय मित्ररू
मनुष्योंको प्राप्त करके अपने घरमें आनन्दसे रहेंगे।

६८ नृणां सखा शूरः शिवः अविता भूः—मनुष्योंके
और कल्याणकारी मित्र एवं रक्षक बनो। (ऋग्वेद ७ । १९

६९ नर्यः यत् करिष्यन् अपः चक्रिः—मानवोंका
करनेवाला वीर जो करना चाहता है, करके छोड़ता है।

७० वस्वी शक्तिः अस्तु—सुखसे निवास करनेवा
शक्ति हो। (ऋग्वेद ७ । २०

७१ क्रत्वा ज्मन् अभि भूः—पुरुषार्थसे पृथ्वीपर वि
प्राप्त करो। (ऋग्वेद ७ । २१

७२ ते सख्या शिवानि सन्तु—तेरी मित्रता हमारे लि
कल्याणकारी हो। (ऋग्वेद ७ । २२

७३ त्वं धीभिः वाजान् विदयसे—तू बुद्धियोंके साथ बल
को देता है। (ऋग्वेद ७ । २३

७४ नृभिः आ प्रयाहि—मनुष्योंके साथ प्रगति कर

७५ वृषणं शुष्मं दधत्—बलवान् और सामर्थ्यवा
(वीर पुत्र) को घरमें रखो।

७६ सुवीराम् इषं पिन्व—उत्तम वीर पुत्र उत्पन्न कर
वाला अन्न प्राप्त करो। (ऋग्वेद ७ । २४

७७ समन्यवः सेनाः समरन्त—उत्साही सैनिक लड़ते है

७८ मनः विष्वद्र्यग् मा विचारीत्—अपना मन चा
और भटकने न दो।

७९ देवजूतं सहः इयानाः—देवोंको प्रिय होनेवा
शक्ति प्राप्त करो।

८० तरुत्राः वाजं सनुयाम—हम तारक बल प्राप्त करें
(ऋग्वेद ७ । २५
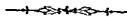
संतकी क्षमा

अयोध्याके एक वैष्णव संत नौकाद्वारा सरयू पार करनेकी इच्छासे घाटपर आये। वर्षा-ऋतु—सरयूमें बाढ़ आयी थी। घाटपर एक ही नौका थी उस समय और उसमें कुछ ऐसे लोग बैठे थे, जैसे लोगोंकी इस युगमें सर्वत्र बहुलता है। किसीको भी कष्ट देने, किसीका परिहास करनेमें उन्हें आनन्द आता था। साधुओंके तो वेशसे ही उन्हें चिढ़ थी। कोई साधु उनके साथ नौकामें बैठे, यह उनको पसंद नहीं था।

'यहाँ स्थान नहीं है। दूसरी नौकासे आना।' सबका स्वर एक-जैसा बन गया। साधुपर व्यंग भी कसे गये। लेकिन साधुको पार जाना था, नौका दूसरी थी नहीं। संध्या हो चुकी थी और रात्रिमें कोई नौका मिल नहीं सकती थी। उन्होंने नम्रतासे प्रार्थना की। मल्लाहने कहा—'एक ओर बैठ जाइये।'

नौकामें पहलेसे बैठे, अपनेको सुसभ्य माननेवाले लोगोंको झुँझलाहट तो बहुत हुई; किंतु साधुको नौकामें बैठनेसे वे रोक नहीं सके। अब अपना क्रोध उन्होंने साधुपर उतारना प्रारम्भ किया।

साधु पहलेसे नौकाके एक किनारेपर संकोचसे बैठे थे। उनपर व्यंग कसे जा रहे थे, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वे चुपचाप भगवन्नामका जप करते रहे।

नौका तटसे दूर पहुँची। किसीने साधुपर जल उलीचा, किसीने उनकी पीठ या गर्दनमें हाथसे आघात किया। इतनेपर भी जब साधुकी शान्ति भंग न हुई तो उन लोगोंने धक्का देकर साधुको बीच धारामें गिरा देनेका निश्चय किया। वे धक्का देने लगे।

सच्चे संतकी क्षमा अपार होती है; किंतु जो संतोंके सर्वस्व हैं, वे सर्वसमर्थ जगन्नायक अपने जनों-पर होते अत्याचारको चुपचाप सह नहीं पाते। साधु-पर होता हुआ अत्याचार सीमा पार कर रहा था। आकाशवाणी सुनायी पड़ी—'महात्मन्! आप आज्ञा दें तो इन दुष्टोंको क्षणभरमें भस्म कर दिया जाय!'

आकाशवाणी सबने स्पष्ट सुनी। अब काटो तो खून नहीं। अभीतक जो शेर बने हुए थे, उनको काठ मार गया। जो जैसे थे, वैसे ही रह गये। भयके मारे दो क्षण उनसे हिलातक नहीं गया।

लेकिन साधुने दोनों हाथ जोड़ लिये थे। वे गद्गद स्वरसे कह रहे थे—'मेरे दयामय स्वामी! ये भी आपके ही अबोध बच्चे हैं। आप ही इनके अपराध क्षमा न करेंगे तो कौन क्षमा करेगा। ये भूले हुए हैं। आप इन्हें क्षमा करें और यदि मुझपर आपका स्नेह है तो मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करें कि इन्हें सद्बुद्धि प्राप्त हो। इनके दोष दूर हों। आपके श्रीचरणोंमें इन्हें अनुराग प्राप्त हो।'

संतकी क्षमा

तुकारामका अक्रोध
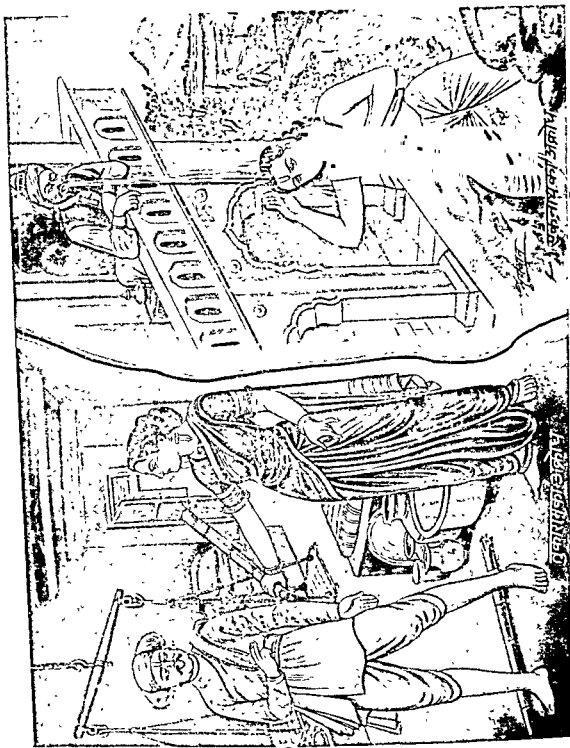
एकनाथका अक्रोध

संतोंका अक्रोध

संत तुकाराम

श्रीतुकारामजीके माता-पिता परलोकवासी हो चुके थे। बड़े भाई विरक्त होकर तीर्थयात्रा करने चले गये थे। परिवारका पूरा भार तुकारामजीपर था और तुकारामजी थे कि उन्हें मायामोह सिर पटककर थक गये, पर स्पर्श कर नहीं पाते थे।

पैतृक सम्पत्ति अस्त-व्यस्त हो गयी। कर्जदारोंने देना बंद कर दिया। घरमें जो-कुछ था, साधुओं और दीन-दुखियोंकी सेवामें समाप्त हो चुका। दूकानका काम ठप हो गया। परिवारमें उपवास करनेकी नौबत आ गयी। परिवार भी कितना बड़ा—दो स्त्रियाँ, एक बच्चा, छोटा भाई और बहिनें। सब निर्भर थे तुकारामजी-पर और तुकाराम—वे तो सांसारिक प्राणी थे ही नहीं।

एक बार खेतमें गन्ने तैयार हुए। तुकारामजीने गन्ने काटे और बोझा बाँधकर सिरपर रक्खा। गन्ने बिकें तो घरके लोगोंके मुखमें अन्न जाय। लेकिन मार्गमें बच्चे इनके पीछे लग गये। वे गन्ना माँग रहे थे। जो सर्वत्र अपने गोपालके दर्शन करते हों, कैसे अस्वीकार कर दें। बच्चोंको गन्ने मिले। वे प्रसन्न होकर उन्हें तोड़ते, चूसते चले गये।

तुकारामजी जब घर पहुँचे, उनके पास केवल एक गन्ना था। उनकी पहली स्त्री रखुमाई चिड़चिड़े स्वभावकी थीं। भूखी पत्नीने देखा कि उसके पतिदेव तो केवल एक गन्ना छड़ीकी भाँति लिये चले आ रहे हैं। क्रोध आ गया उसे। उसने तुकारामजीके हाथसे गन्ना छीनकर उनकी पीठपर दे मारा। गन्ना टूट गया। उसके दो टुकड़े हो गये।

तुकारामजीके मुखपर क्रोधके बदले हँसी आ गयी। वे बोले—'हम दोनोंके लिये गन्नेके दो टुकड़े मुझे करने ही पड़ते। तुमने बिना कहे ही यह काम कर दिया। बड़ी साध्वी हो तुम।'

× × ×

संत एकनाथ

दक्षिणके ही दूसरे संत श्रीएकनाथजी महाराज—अक्रोध तो जैसे एकनाथजीका स्वरूप ही था।

ये परम भागवत योगिराज—नित्य गोदावरी-स्नान करने जाया करते थे वे। बात पैठणकी है, जो एकनाथ-जीकी पावन जन्मभूमि है। गोदावरी-स्नानके मार्गमें एक सराय पड़ती थी। उस सरायमें एक पठान रहता था। वह उस मार्गसे आने-जानेवाले हिंदुओंको बहुत तंग किया करता था। एकनाथजी महाराजको भी उसने बहुत तंग किया। एकनाथजी जब स्नान करके लौटने, वह पठान उनके ऊपर कुल्ला कर देता। एकनाथजी फिर स्नान करने नदी लौट जाते और जब स्नान करके आने लगते, वह फिर कुल्ला कर देता उनके ऊपर। कभी-कभी पाँच-पाँच बार यह काण्ड होता।

'यह काफिर गुस्सा क्यों नहीं करता?' पठान एक दिन जिदपर आ गया। वह बार-बार कुल्ला करता गया और एकनाथजी बार-बार गोदावरी-स्नान करने लौटते गये। पूरे एक सौ आठ बार उसने कुल्ले किये और पूरे एक सौ आठ बार एकनाथजीने नदीमें स्नान किया।

"आप मुझे माफ कर दें। मैं 'तोबा' करता हूँ। अब किसीको तंग नहीं करूँगा। आप खुदाके सच्चे बंदे हैं—माफ कर दें मुझे!' अन्तमें पठानको अपने कर्मपर लज्जा आयी। उसके भीतरकी पशुता संतकी क्षमासे पराजित हो गयी। वह एकनाथजीके चरणोंपर गिरकर क्षमा-याचना करने लगा।

'इसमें क्षमा करनेकी क्या बात है। आपकी कृपासे मुझे आज एक सौ आठ बार स्नान करनेका सुअवसर मिला।' श्रीएकनाथजी महाराज बड़े ही प्रसन्न मनसे उस पठानको आश्वासन दे रहे थे।

महर्षि विश्वामित्र

भोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती

कामं कामयमानस्य यदि कामः समृध्यति।
अथैनमपरः कामो भूयो विध्यति बाणवत्॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
कामानभिलषन्मोहान्न नरः सुखमेधते।

(पद्म० सृ० १९। २६२–२६४)

किसी कामनाकी पूर्ति चाहनेवाले मनुष्यकी यदि एक कामना पूर्ण होती है तो दूसरी नयी कामना उत्पन्न होकर उसे पुनः बाणके समान बींधने लगती है। भोगोंकी इच्छा उपभोगके द्वारा कभी शान्त नहीं होती, प्रत्युत घी डालनेसे प्रज्वलित होनेवाली अग्निकी भाँति वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। भोगोंकी अभिलाषा रखनेवाला पुरुष मोहवश कभी सुख नहीं पाता।

सत्यकी महिमा

सत्येनार्कः प्रतपति सत्ये तिष्ठति मेदिनी।
सत्यं चोक्तं परो धर्मः स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

(मार्क० ८। ४१–४२)

सत्यसे ही सूर्य तप रहा है। सत्यपर ही पृथ्वी टिकी हुई है। सत्य-भाषण सबसे बड़ा धर्म है। सत्यपर ही स्वर्ग प्रतिष्ठित है। एक हजार अश्वमेध और एक सत्यको यदि तराजूपर तोला जाय तो हजार अश्वमेधसे सत्य ही भारी सिद्ध होगा।

महर्षि भरद्वाज

चिदानन्दमयः साक्षी निर्गुणो निरुपाधिकः।
नित्योऽपि भजते तां तामवस्थां स यदृच्छया॥
पवित्राणां पवित्रं यो ह्यगतीनां परा गतिः।
दैवतं देवतानां च श्रेयसां श्रेय उत्तमम्॥

(स्क० पु० वै० वे० ३५। ३७-३८)

भगवान् विष्णु चिदानन्दस्वरूप, सबके साक्षी, निर्गुण, उपाधिशून्य तथा नित्य होते हुए भी स्वेच्छासे भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको अङ्गीकार करते हैं। वे पवित्रोंमें परम पवित्र हैं, निराश्रयोंकी परम गति हैं, देवताओंके भी देवता हैं तथा कल्याणमय वस्तुओंमें भी परम कल्याणस्वरूप हैं।

तृष्णा

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति॥
चक्षुः श्रोत्राणि जीर्यन्ति तृष्णैका तरुणायते।
सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे संसूचयति सूचिकः॥
तद्वत्संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्योपनीयते।
यथा शृङ्गं रुरोः काये वर्धमाने च वर्धते॥
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते।
अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोषशतावहा॥
अधर्मबहुला चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

(पद्म० सृष्टि० १९। २५४—२५७)

जब मनुष्यका शरीर जीर्ण होता है, तब उसके बाल पक जाते हैं और दाँत भी टूट जाते हैं; किंतु धन और जीवनकी आशा बूढ़े होनेपर भी जीर्ण नहीं होती—वह सदा नयी ही बनी रहती है। आँख और कान जीर्ण हो जाते हैं; पर एक तृष्णा ऐसी है, जो तरुणी ही होती रहती है। जैसे दरजी सूईसे वस्त्रमें सूतको प्रवेश कराता रहता है, उसी प्रकार तृष्णारूपी सूईसे संसाररूपी सूतका अपने अन्तःकरणमें प्रवेश होता है; जैसे बारहसिंगेके सींग शरीर बढ़नेके साथ बढ़ते हैं, वैसे ही धनकी वृद्धिके साथ साथ तृष्णा बढ़ती है। तृष्णाका कहीं ओर-छोर नहीं है, उसका पेट भरना कठिन होता है, वह सैकड़ों दोषोंको ढोये फिरती है, उसके द्वारा बहुत-से अधर्म होते हैं। अतः तृष्णाका परित्याग कर दे।

महर्षि गौतम

दीर्घकालतक क्या करे ?

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत्।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥
बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥
(महा० शा० २६६ । ६९–७१)

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत्।
चिरं धर्मान्निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ॥
चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टानुपास्य च।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥
ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम्।
चिरं पृष्टोऽपि च ब्रूयाच्चिरं न परितप्यते ॥
(महाभारत, शा० २६६ । ७५–७७)

चिरकालतक परीक्षा करके कोई किसीको मित्र बनाये, और बनाये हुए मित्रका जल्दी त्याग न करे; चिरकालतक सोचकर बनाये हुए मित्रको दीर्घकालतक धारण किये रहना उचित है। राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापकर्म तथा अप्रिय कर्तव्यमें चिरकारी–विलम्ब करनेवाला प्रशंसाका पात्र है। बन्धु, सुहृद्, भृत्य और स्त्रीवर्गके अव्यक्त अपराधोंमें जल्दी कोई दण्ड न देकर देरतक विचार करनेवाला पुरुष प्रशंसनीय माना गया है। दीर्घकालतक ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध पुरुषोंका संग करे। चिरकालतक उनकी सेवामें रहकर उनका यथावत् सम्मान करे। चिरकालतक धर्मोंका सेवन करे। किसी बातकी खोजका कार्य चिरकालतक करता रहे। विद्वान् पुरुषोंका संग अधिक कालतक करे। शिष्टपुरुषोंका सेवन दीर्घकालतक करे। अपनेको चिरकालतक विनयशील बनाये रखनेवाला पुरुष दीर्घकालतक आदरका पात्र बना रहता है। दूसरा कोई भी यदि धर्मयुक्त वचन कहे तो उसे देरतक सुने और यदि कोई प्रश्न करे तो उसपर देरतक विचार करके ही उसका उत्तर दे। ऐसा करनेसे मनुष्य चिरकालतक संतापका भागी नहीं बनता।

संतोष

सर्वस्त्विन्द्रियलोभेन संकटान्यवगाहते ॥
सर्वत्र सम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥
संतोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥
असंतोषः परं दुःखं संतोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् संतुष्टः सततं भवेत् ॥
(पद्म० सृष्टि० १९ । २५८—२६१)

इन्द्रियोंके लोभग्रस्त होनेसे सभी मनुष्य सङ्कटमें पड़ जाते हैं। जिसके चित्तमें संतोष है, उसके लिये सर्वत्र धन-सम्पत्ति भरी हुई है; जिसके पैर जूतेमें हैं, उसके लिये सारी पृथ्वी मानो चमड़ेसे ढकी है। संतोषरूपी अमृतसे तृप्त एवं शान्त चित्तवाले पुरुषोंको जो सुख प्राप्त है, वह धनके लोभसे इधर-उधर दौड़नेवाले लोगोंको कहाँसे प्राप्त हो सकता है। असंतोष ही सबसे बढ़कर दुःख है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है; अतः सुख चाहनेवाले पुरुषको सदा संतुष्ट रहना चाहिये।

महर्षि जमदग्नि

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम्।
ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति शाश्वतान् ॥
योऽर्थान्प्राप्य नृपाद्विप्रः शोचितव्यो महर्षिभिः।
न स पश्यति मूढात्मा नरके यातनाभयम् ॥
प्रतिग्रहसमर्थोऽपि न प्रसज्येत्प्रतिग्रहे।
प्रतिग्रहेण विप्राणां ब्रह्मतेजश्च हीयते ॥
(पद्मपुराण, सृष्टि० १९ । २६६—२६८)

जो दान लेनेकी शक्ति रखते हुए भी उसे नहीं ग्रहण करता, वह दानी पुरुषोंको मिलनेवाले सनातन लोकोंको प्राप्त होता है। जो ब्राह्मण राजासे धन लेता है, वह महर्षियों-द्वारा शोक करनेके योग्य है; उस मूर्खको नरक-यातनाका भय नहीं दिखायी देता। प्रतिग्रह लेनेमें समर्थ होकर भी उसमें आसक्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि प्रतिग्रहसे ब्राह्मणोंका ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है।

नित्योत्सवस्तदा तेषां नित्यश्रीर्नित्यमङ्गलम् ॥
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः।
(पाण्डवगीता ४५)

जबसे जिनके हृदयमें मङ्गलधाम हरि बसने लगते हैं, तभीसे उनके लिये नित्य उत्सव है, नित्य लक्ष्मी और नित्य मङ्गल है।

महर्षि पुलस्त्य

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्॥
(विष्णु० १।११।४६)

जो परब्रह्म, परमधाम और परस्वरूप हैं, उन हरिकी आराधना करनेसे मनुष्य अति दुर्लभ मोक्षपदको भी प्राप्त कर लेता है।

तीर्थसेवनका फल किसको मिलता है ?

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
प्रतिग्रहादुपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित्।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥
(पद्म० सृष्टि० १९।८—१०)

जिसके हाथ, पैर और मन संयममें रहते हैं तथा जो विद्वान्, तपस्वी और कीर्तिमान् होता है, वही तीर्थ सेवनका फल प्राप्त करता है। जो प्रतिग्रहसे दूर रहता है—किसीका दिया हुआ दान नहीं लेता, प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीसे संतुष्ट रहता है तथा जिसका अहङ्कार दूर हो गया है, ऐसे मनुष्यको ही तीर्थ-सेवनका पूरा फल मिलता है। राजेन्द्र ! जो स्वभावतः क्रोधहीन, सत्यवादी, दृढता-पूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाला तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव रखनेवाला है, उसे तीर्थ सेवनका फल प्राप्त होता है।

महर्षि पुलह

ऐन्द्रमिन्द्रः परं स्थानं यमाराध्य जगत्पतिम्।
प्राप यज्ञपतिं विष्णुं तमाराधय सुव्रत॥
(विष्णु० १।११।४७)

हे सुव्रत ! जिन जगत्पतिकी आराधनासे इन्द्रने अत्युत्तम इन्द्रपद प्राप्त किया है, तू उन यज्ञपति भगवान् विष्णुकी आराधना कर।

महर्षि मरीचि

अनाराधितगोविन्दैर्नरैः स्थानं नृपात्मज।
न हि सम्प्राप्यते श्रेष्ठं तस्मादाराधयाच्युतम्॥
(विष्णुपुराण १।११।४३)

हे राजपुत्र ! बिना गोविन्दकी आराधना किये मनुष्योंको वह श्रेष्ठ स्थान नहीं मिल सकता; अतः तू श्रीअच्युतकी आराधना कर।

भगवान् दत्तात्रेय

मोक्ष-प्राप्तिका उपाय

त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
पिधाय बुद्धया द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत्॥
शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च।
नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत्॥
वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः॥
सर्वमात्ममयं यस्य सदसज्जगदीदृशम्।
गुणागुणमयं तस्य कः प्रियः को नृपाप्रियः॥
विशुद्धबुद्धिः समलोष्टकाञ्चनः
समस्तभूतेषु समः समाहितः।
स्थानं परं शाश्वतमव्ययं च
परं हि गत्वा न पुनः प्रजायते॥
वेदाच्छ्रेष्ठाः सर्वयज्ञक्रियाश्च
यज्ञाज्जप्यं ज्ञानमार्गश्च जप्यात्।
ज्ञानाद् ध्यानं सङ्गरागव्यपेतं
तस्मिन् प्राप्ते शाश्वतस्योपलब्धिः॥
समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी
शुचिस्तथैकान्तरतिर्यतेन्द्रियः।
समाप्नुयाद् योगमिमं महात्मा
विमुक्तिमाप्नोति ततः स्वयोगतः॥
(मार्कण्डेय० ४१।२०—२६)

आसक्तिका त्याग करके, क्रोधको जीतकर, स्वल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, बुद्धिसे इन्द्रियद्वारोंको रोककर मनको ध्यानमें लगावे। नित्य योगयुक्त रहनेवाला योगी सदा एकान्त स्थानोंमें, गुफाओं और वनोंमें भलीभाँति ध्यान करे।

वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड—ये तीन दण्ड जिसके अधीन हों, वही 'त्रिदण्डी' महायति है। राजन्! जिसकी दृष्टिमें सत्-असत् तथा गुण-अवगुणरूप यह समस्त जगत् आत्मस्वरूप हो गया है, उस योगीके लिये कौन प्रिय है और कौन अप्रिय। जिसकी बुद्धि शुद्ध है, जो मिट्टीके ढेले और सुवर्णको समान समझता है, सब प्राणियोंके प्रति जिसका समान भाव है, वह एकाग्रचित्त योगी उस सर्वोत्कृष्ट सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त होकर फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता। वेदोंसे सम्पूर्ण यज्ञकर्म श्रेष्ठ हैं, यज्ञोंसे जप, जपसे ज्ञानमार्ग और उससे आसक्ति एवं रागसे रहित ध्यान श्रेष्ठ है। ऐसे ध्यानके प्राप्त हो जानेपर सनातन ब्रह्मकी उपलब्धि होती है। जो एकाग्रचित्त, ब्रह्मपरायण, प्रमादरहित, पवित्र, एकान्तप्रेमी और जितेन्द्रिय होता है, वही महात्मा इस योगको पाता है और फिर अपने उस योगसे ही वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

महर्षि दधीचि

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्।
ईहेत भूतदयया स शोच्यः स स्थावरैरपि ॥
एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥
अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः ॥
(श्रीमद्भाग० ६। १०। ८-१०)

देवशिरोमणियो! जो मनुष्य इस विनाशी शरीरसे दुखी प्राणियोंपर दया करके मुख्यतः धर्म और गौणतः यशका सम्पादन नहीं करता, वह जड पेड़-पौधोंसे भी गया-बीता है। बड़े-बड़े महात्माओंने इस अविनाशी धर्मकी उपासना की है। उसका स्वरूप बस, इतना ही है कि मनुष्य किसी भी प्राणीके दुःखमें दुःखका अनुभव करे और सुखमें सुखका। जगत्के धन, जन और शरीर आदि पदार्थ क्षणभङ्गुर हैं। ये अपने किसी काम नहीं आते, अन्तमें दूसरोंके ही काम आयेंगे। ओह! यह कैसी-कृपणता है, कितने दुःखकी बात है कि यह मरणधर्मा मनुष्य इनके द्वारा दूसरोंका उपकार नहीं कर लेता।

महर्षि आरण्यक

भगवान् राम और उनके नामकी महिमा

किं यागैर्विविधै रम्यैः सर्वसंभारसम्भृतैः।
स्वल्पपुण्यप्रदैर्नूनं क्षयिष्णुपददातृकैः ॥
मूढो लोको हरिं त्यक्त्वा करोत्यन्यसमर्चनम्।
रघुवीरं रमानाथं स्थिरैश्वर्यपदप्रदम् ॥
यो नरैः स्मृतमात्रोऽसौ हरते पापपर्वतम्।
तं मुक्त्वा क्लिश्यते मूढो योगयागव्रतादिभिः ॥
सकामैर्योगिभिर्वापि चिन्त्यते कामवर्जितैः।
अपवर्गप्रदं नॄणां स्मृतमात्राखिलाघहम् ॥
(पद्मपु० पाताल० ३५। ३०—३४)

सब सामग्रियोंको एकत्रित करके भाँति-भाँतिके सुन्दर यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे क्या लाभ। वे तो अत्यन्त अल्प पुण्य प्रदान करनेवाले हैं तथा उनसे क्षणभंगुर पदकी ही प्राप्ति होती है। स्थिर ऐश्वर्यपदको देनेवाले तो एकमात्र रमानाथ भगवान् श्रीरघुवीर ही हैं। जो लोग उन भगवान्को छोड़कर दूसरेकी पूजा करते हैं, वे मूर्ख हैं। जो मनुष्योंके स्मरण करनेमात्रसे पहाड़-जैसे पापोंका भी नाश कर डालते हैं, उन भगवान्को छोड़कर मूढ़ मनुष्य योग, याग और व्रत आदिके करनेमें क्लेश उठाते हैं! सकाम पुरुषों अथवा निष्काम योगियोंद्वारा भी उनका चिन्तन किया जाता है। वे मनुष्योंको मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं, एवं स्मरण करनेमात्रसे सारे पापोंको दूर कर देते हैं।

त्वन्नामस्मरणान्मूढः सर्वशास्त्रविवर्जितः।
सर्वपापाब्धिमुत्तीर्य स गच्छेत् परमं पदम् ॥
सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम्।
यद्रामनामस्मरणं क्रियते पापतारकम् ॥
तावद् गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यासमानि च।
न यावत् प्रोच्यते नाम रामचन्द्र तव स्फुटम् ॥
त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातककुञ्जराः।
पलायन्ते महाराज कुत्रचित् स्थानलिप्सया ॥
(पद्मपु० पाताल० ३७। ५०—५३)

श्रीरघुनाथजी! शास्त्रोंके ज्ञानसे रहित मूढ मनुष्य भी यदि

आपके नामका स्मरण करता है तो वह सम्पूर्ण पापोंके महासागरको पार करके परमपदको प्राप्त होता है। सभी वेदों और इतिहासोंका यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि राम-नामका जो स्मरण किया जाता है, वह पापोंसे उद्धार करनेवाला है। ब्रह्महत्या-जैसे पाप भी तभीतक गर्जना करते हैं, जबतक आपके नामोंका स्पष्टरूपसे उच्चारण नहीं किया जाता। महाराज! आपके नामोंकी गर्जना सुनकर महापातकरूपी गजराज कहीं छिपनेके लिये स्थान ढूँढ़ते हुए भाग खड़े होते हैं।

तावत्पापभियः पुंसां कातराणां सुपापिनाम्।
यावन्न वदते वाचा रामनाम मनोहरम्॥
(पद्मपु० पाताल० ३७। ५६)

महान् पाप करनेके कारण कातर हृदयवाले पुरुषोंको तभीतक पापका भय बना रहता है, जबतक वे अपनी जिह्वासे परम मनोहर राम-नामका उच्चारण नहीं करते।

महर्षि लोमश

रामान्नास्ति परो देवो रामान्नास्ति परं व्रतम्।
न हि रामात् परो योगो न हि रामात्परो मखः॥
तं स्मृत्वा चैव जप्त्वा च पूजयित्वा नरः पदम्।
प्राप्नोति परमामृद्धिमैहिकामुष्मिकीं तथा॥
संस्मृतो मनसा ध्यातः सर्वकामफलप्रदः।
ददाति परमां भक्तिं संसाराम्भोधितारिणीम्॥
श्वपाकोऽपि हि संस्मृत्य रामं याति परां गतिम्।
ये वेदशास्त्रनिरतास्त्वादृशास्तत्र किं पुनः॥
सर्वेषां वेदशास्त्राणां रहस्यं ते प्रकाशितम्।
समाचर तथा त्वं वै यथा स्यात्ते मनीषितम्॥
एको देवो रामचन्द्रो व्रतमेकं तदर्चनम्।
मन्त्रोऽप्येकश्च तन्नाम शास्त्रं तद्ध्येव तत्स्तुतिः॥
तस्मात्सर्वात्मना रामचन्द्रं भज मनोहरम्।
यथा गोष्पदवत्तुच्छो भवेत्संसारसागरः॥
(पद्मपु० पाताल० ३५। ४६—५२)

श्रीरामसे बड़ा कोई देवता नहीं, श्रीरामसे बढ़कर कोई व्रत नहीं, श्रीरामसे बड़ा कोई योग नहीं तथा श्रीरामसे बढ़कर कोई यज्ञ नहीं है। श्रीरामका स्मरण, जप और पूजन करके मनुष्य परमपद तथा इस लोक और परलोककी उत्तम समृद्धिको प्राप्त करता है। श्रीरघुनाथजी सम्पूर्ण कामनाओं और फलोंके दाता हैं। मनके द्वारा स्मरण और ध्यान करनेपर वे अपनी उत्तम भक्ति प्रदान करते हैं, जो संसारसमुद्रसे तारनेवाली है। चाण्डाल भी श्रीरामका स्मरण करके परमगतिको प्राप्त कर लेता है। फिर तुम्हारे-जैसे वेद-शास्त्र-परायण पुरुषोंके लिये तो कहना ही क्या है। यह सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंका रहस्य है, जिसे मैंने तुमपर प्रकट कर दिया। अब जैसा तुम्हारा विचार हो, वैसा ही करो। एक ही देवता हैं—श्रीराम; एक ही व्रत है—उनका पूजन; एक ही मन्त्र है—उनका नाम तथा एक ही शास्त्र है—उनकी स्तुति। अतः तुम सब प्रकारसे परम मनोहर श्रीरामचन्द्रजीका भजन करो, जिससे तुम्हारे लिये यह महान् संसारसागर गायके खुरके समान तुच्छ हो जाय।

महर्षि आपस्तम्ब

दीनोंके प्रति सद्भाव

दुःखितानीह भूतानि यो न भूतैः पृथग्विधैः।
केवलात्मसुखेच्छातोऽवेन्नृशंसतरोऽस्ति कः॥
अहो स्वस्थेष्वकारुण्यं स्वार्थे चैव बलिर्वृथा।
ज्ञानिनामपि चेयस्तु केवलात्महिते रतः॥
ज्ञानिनो हि यथा स्वार्थमाश्रित्य ध्यानमाश्रिताः।
दुःखार्तानीह भूतानि प्रयान्ति शरणं कुतः॥
योऽभिवाञ्छति भोक्तुं वै सुखान्येकान्ततो जनः।
पापात् परतरं तं हि प्रवदन्ति मुमुक्षवः॥
को नु मे स्यादुपायो हि येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तः प्रविश्य भूतानां भवेयं सर्वदुःखभुक्॥
यन्ममास्ति शुभं किंचित्तद्दीनानुपगच्छतु।
यत् कृतं दुष्कृतं तैश्च तदशेषमुपैतु माम्॥
दृष्ट्वा तान् कृपणान् व्यङ्गाननङ्गान् रोगिणस्तथा।
दया न जायते यस्य स रक्ष इति मे मतिः॥
प्राणसंशयमापन्नान् प्राणिनो भयविह्वलान्।
यो न रक्षति शक्तोऽपि स तत्पापं समश्नुते॥
आहूतानां भयार्तानां सुखं यदुपजायते।
तस्य स्वर्गापवर्गौ च कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

तस्माच्चैतानहं दीनांस्त्यक्त्वा मीनान् सुदुःखितान्।
प्राप्तुं मुक्तिं न वाञ्छामि किं पुनस्त्रिदशालयम्॥
(स्क० रे० खं० १३। ४३–४४)

नाना प्रकारके जीवोंद्वारा दुःखमें डाले हुए प्राणियोंकी ओर जो अपने सुखकी इच्छासे ध्यान नहीं देता, उससे बढ़कर अत्यन्त क्रूर-हृदय इस संसारमें दूसरा कौन है। अहो, स्वस्थ प्राणियोंके प्रति निर्दयतापूर्ण अत्याचार तथा स्वार्थके लिये उनका व्यर्थ बलिदान कैसे आश्चर्यकी बात है! ज्ञानियोंमें भी जो केवल अपने ही हितमें तत्पर है, वह श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि यदि ज्ञानी पुरुष भी अपने स्वार्थका आश्रय लेकर ध्यानमें स्थित होते हैं तो इस जगत्के दुःखातुर प्राणी किसकी शरणमें जायँगे। जो मनुष्य स्वयं निरन्तर ही सुख भोगना चाहता है, उसे मुमुक्षु पुरुष पापीसे भी महापापी बताते हैं। मेरे लिये वह कौन-सा उपाय है, जिससे मैं दुःखित चित्तवाले सम्पूर्ण जीवोंके भीतर प्रवेश करके अकेला ही सबके दुःखोंको भोगता रहूँ। मेरे पास जो कुछ भी पुण्य है, वह सभी दीन-दुखियोंके पास चला जाय और उन्होंने जो कुछ पाप किया हो, वह सब मेरे पास आ जाय। (दूसरी ओर) इन दरिद्र, विकलाङ्ग, अंगहीन तथा रोगी प्राणियोंको देखकर जिसके हृदयमें दया नहीं उत्पन्न होती, वह मेरे विचारसे मनुष्य नहीं, राक्षस है। जो समर्थ होकर भी प्राण-सङ्कटमें पड़े हुए भय-विह्वल प्राणियोंकी रक्षा नहीं करता, वह उनके पापको भोगता है। भयातुर प्राणियोंको अपनी शरणमें बुलाकर उनकी रक्षा करनेसे जो सुख मिलता है, स्वर्ग और मोक्षके सुख उसकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं। अतः मैं इन दीन-दुखी मछलियोंको दुःखसे मुक्त करनेका कार्य छोड़कर मुक्तिको भी वरण करना नहीं चाहता, फिर स्वर्गलोककी तो बात ही क्या है।

नरकं यदि पश्यामि वत्स्यामि स्वर्ग एव वा॥
यन्मया सुकृतं किंचिन्मनोवाक्कायकर्मभिः।
कृतं तेनापि दुःखार्तास्सर्वे यान्तु शुभां गतिम्॥
(स्क० रे० खं० १३। ७७–७८)

मैं नरकको देखूँ या स्वर्गमें निवास करूँ, किंतु मेरेद्वारा मन, वाणी, शरीर और क्रियासे जो कुछ पुण्यकर्म बना हो, उससे ये सभी दुःखार्त प्राणी शुभगतिको प्राप्त हों।

गो-महिमा

गावः प्रदक्षिणीकार्या वन्दनीया हि नित्यशः।
मङ्गलायतनं दिव्याः सृष्टास्त्वेताः स्वयम्भुवा॥
अप्यागाराणि विप्राणां देवतायतनानि च।
यद्गोमयेन शुद्ध्यन्ति किं ब्रूमो ह्यधिकं ततः॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च।
गवां पञ्च पवित्राणि पुनन्ति सकलं जगत्॥
गावो मे चाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे हृदये चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥
(स्क० पु० आव० रे० १३। ६२-६५

गौओंकी परिक्रमा करनी चाहिये। वे सदा सबके लिये वन्दनीय हैं। गौएँ मङ्गलका स्थान हैं, दिव्य हैं। स्वयं ब्रह्माजीने इन्हें (दिव्य गुणोंसे विभूषित) बनाया है। जिनके गोबरसे ब्राह्मणोंके घर और देवताओंके मन्दिर भी शुद्ध होते हैं, उन गौओंसे बढ़कर पवित्र अन्य किसको बतावें। गौओंके मूत्र, गोबर, दूध, दही और घी—ये पाँच वस्तुएँ पवित्र हैं और सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करती हैं। गायें मेरे आगे रहें, गायें मेरे पीछे रहें, गायें मेरे हृदयमें रहें और मैं गौओंके मध्यमें निवास करूँ।

एवं यः पठते नित्यं त्रिसंध्यं नियतः शुचिः।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वर्गलोकं स गच्छति॥
अग्रग्रासे परो भावः कर्तव्यो भक्तितोऽन्वहम्।
अकृत्वा स्वयमाहारं कुर्वन्नाप्नोति दुर्गतिम्॥
तेनाग्नयो हुताः सम्यक् पितरश्चापि तर्पिताः।
देवाश्च पूजितास्तेन यो ददाति गवाह्निकम्॥

गोग्रास-समर्पण मन्त्र

सौरभेयी जगत्पूज्या नित्यं विष्णुपदे स्थिता।
सर्वदेवमयी ग्रासं मया दत्तं प्रतीच्छताम्॥
(स्क० पु० रे० खं० ६६-६९)

जो प्रतिदिन तीनों संध्याओंके समय नियमपरायण एवं पवित्र होकर 'गावो मे चाग्रतो नित्यम्' इत्यादि श्लोकका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होता और स्वर्गलोकमें जाता है। प्रतिदिन स्वयं भोजन न करके पहले भक्तिभावसे गौओंको गो-ग्रास देनेमें श्रद्धा रखनी चाहिये। जो ऐसा करता है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। जो प्रतिदिन गो ग्रास अर्पण करता है, उसने अग्निहोत्र कर लिया, पितरोंको तृप्त कर दिया और देवताओंकी पूजा भी सम्पन्न कर ली।

गो ग्रास देते समय प्रतिदिन इस मन्त्रार्थका चिन्तन करे—'सुरभिकी पुत्री गोजाति सम्पूर्ण जगत्के लिये पूज्य है, वह सदा विष्णुपदमें स्थित है और सर्वदेवमयी है। मेरे दिये हुए इस ग्रासको गौमाता देखें और ग्रहण करें।

महर्षि दुर्वासा

संत-महिमा

अहो अनन्तदासानां
महत्त्वं दृष्टमद्य मे ।
कृतागसोऽपि यद् राजन्
मङ्गलानि समीहसे ॥
दुष्करः को नु साधूनां
दुस्त्यजो वा महात्मनाम् ।
यैः संगृहीतो भगवान्
सात्वतामृषभो हरिः ॥
यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः ।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ५ । १४-१६)

दुर्वासाजीने अम्बरीषसे कहा—'धन्य है ! आज मैंने भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका महत्त्व देखा । राजन् ! मैंने आपका अपराध किया, फिर भी आप मेरे लिये मङ्गलकामना ही कर रहे हैं । जिन्होंने भक्तोंके परमाराध्य भगवान् श्रीहरिको दृढ़ प्रेमभावसे पकड़ लिया है, उन साधुपुरुषोंके लिये कौन सा कार्य कठिन है । जिनका हृदय उदार है, वे महात्मा भला, किस वस्तुका परित्याग नहीं कर सकते ! जिनके मङ्गलमय नामोंके श्रवणमात्रसे जीव निर्मल हो जाता है—उन्हीं तीर्थपाद भगवान्‌के चरणकमलोंके जो दास हैं, उनके लिये कौन सा कर्तव्य शेष रह जाता है ।

महर्षि ऋतम्भर

गौके सताने और सेवा करनेका फल

तृषिता गौर्गृहे बद्धा गेहे कन्या रजस्वला ।
देवताश्च सनिर्माल्या हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥
यो वै गां प्रतिषिध्येत चरन्तीं स्वं तृणं नरः ।
तस्य पूर्वे च पितरः कम्पन्ते पतनोन्मुखाः ॥
यो वै ताडयते यष्ट्या धेनुं मर्त्यो विमूढधीः ।
धर्मराजस्य नगरे स याति करवर्जितः ॥
यो वै दंशान् वारयति तस्य पूर्वे कृतार्थकाः ।
नृत्यन्त्यत्युत्सवादस्मांस्तारयिष्यति भाग्यवान् ॥
(पद्म० पाताल० ३० । २७-३०)

यदि घरमें प्यासी हुई गाय बँधी रहे, कन्या रजस्वला होकर भी अविवाहित रहे तथा देवताके विग्रहपर पहले दिनका चढ़ाया हुआ निर्माल्य पड़ा रहे तो ये सभी दोष पहलेके किये हुए पुण्यको नष्ट कर डालते हैं । जो मनुष्य घास चरती हुई गौको रोकता है, उसके पूर्वज पितर पतनोन्मुख होकर काँप उठते हैं । जो मूढ़बुद्धि मानव गौको लाठीसे मारता है, उसे हाथोंसे हीन होकर यमराजके नगरमें जाना पड़ता है । जो गौके शरीरसे डाँस और मच्छरोंको हटाता है, उसके पूर्वज कृतार्थ होकर अधिक प्रसन्नताके कारण नाच उठते हैं और कहते हैं 'हमारा यह वंशज बड़ा भाग्यवान् है, अपनी गो-सेवाके द्वारा यह हमें तार देगा ।'

महर्षि और्व

पृथ्वी किसके प्रभावसे टिकी है ?

दोषहेतूनशेषांश्च वश्यात्मा यो निरस्यति ।
तस्य धर्मार्थकामानां हानिर्नाल्पापि जायते ॥
सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः ।
पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः ।
मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता ॥
ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे ।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही ॥
(विष्णु० ३ । १२ । ४०-४२)

जो मनको वशमें रखनेवाला पुरुष दोषके समस्त हेतुओंको त्याग देता है, उसके धर्म, अर्थ और कामकी थोड़ी सी भी हानि नहीं होती । जो विद्या-विनय-सम्पन्न, सदाचारी प्राज्ञ पुरुष पापीके प्रति पापमय व्यवहार नहीं करता, कटु वचन बोलनेवालेके प्रति भी प्रिय भाषण करता है तथा जिसका अन्तःकरण मैत्रीसे द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठीमें रहती है । जो वीतराग महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभादिके वशीभूत नहीं होते तथा सर्वदा सदाचारमें स्थित रहते हैं, उनके प्रभावसे ही पृथ्वी टिकी हुई है ।

प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् भजेत् ॥
(विष्णु० ३ । १२ । ४५)

जो कार्य इहलोक और परलोकमें प्राणियोंके हितका साधक हो, मतिमान् पुरुष मन, वचन और कर्मसे उसीका आचरण करे।

महर्षि गालव

शालग्राम-पूजन

असच्छूद्रगतं दास निषेधं विद्धि मानद।
स्त्रीणामपि च साध्वीनां नैवाभावः प्रकीर्तितः ॥
मा संशयो भूत्ते चात्र नाप्नुवे संशयात्फलम्।
शालग्रामार्चनपराः शुद्धदेहा विवेकिनः ॥
न ते यमपुरं यान्ति चातुर्मास्येव पूजकाः।
शालग्रामार्पितं माल्यं शिरसा धारयन्ति ये ॥
तेषां पापसहस्राणि विलयं यान्ति तत्क्षणात्।
शालग्रामशिलाग्रे तु ये प्रयच्छन्ति दीपकम् ॥
तेषां सौरपुरे वासः कदाचिन्नैव जायते।
शालग्रामगतं विष्णुं सुमनोभिर्मनोहरैः ॥
येऽर्चयन्ति महाशूद्र सुप्ते देवे हरौ तथा।
पञ्चामृतेन स्नपनं ये कुर्वन्ति सदा नराः ॥
शालग्रामशिलायां च न ते संसारिणो नराः।
मुक्तेर्निदानममलं शालग्रामगतं हरिम् ॥
हृदि न्यस्य सदा भक्त्या यो ध्यायति स मुक्तिभाक्।
तुलसीदलजां मालां शालग्रामोपरि न्यसेत् ॥
चातुर्मास्ये विशेषेण सर्वकामानवाप्नुयात्।
न तावत् पुष्पजा माला शालग्रामस्य वल्लभा ॥
सर्वदा तुलसी देवी विष्णोर्नित्यं शुभा प्रिया।
तुलसी वल्लभा नित्यं चातुर्मास्ये विशेषतः ॥
शालग्रामो महाविष्णुस्तुलसी श्रीर्न संशयः।
अतो वासितपानीयैः स्नाप्य चन्दनचर्चितैः ॥
मञ्जरीभिर्युतं देवं शालग्रामशिलाहरिम्।
तुलसीसम्भवाभिश्च कृत्वा कामानवाप्नुयात् ॥
पत्रे तु प्रथमे ब्रह्मा द्वितीये भगवाञ्छिवः।
मञ्जर्यां भगवान् विष्णुस्तदेकत्रस्थया सदा ॥
मञ्जरीदलसंयुक्ता ग्राह्या बुधजनैः सदा।
तां निवेद्य हरौ भक्त्या जन्मादिक्षयकारणम् ॥
शालग्रामे भूपरार्धिं निवेद्य हरितत्परः।
चातुर्मास्ये विशेषेण मनुष्यो नैव नारकी ॥
शालग्रामं नरो दृष्ट्वा पूजितं कुसुमैः शुभैः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति तन्मयतां हरौ ॥
(स्कं० पु० ना० मा० ११ । ४८-६३)

दूसरोंको मान देनेवाले दास! शूद्रोंमें केवल असत् शूद्रके लिये शालग्रामशिलाका निषेध है। स्त्रियोंमें भी पतिव्रता स्त्रियोंके लिये उसका निषेध नहीं किया गया है। इस विषयमें तुम्हें संदेह नहीं होना चाहिये। संशयसे तुम्हें कोई फल नहीं मिलेगा। जो चातुर्मास्यमें शालग्रामकी पूजामें तत्पर रहकर अपने तन-मनको शुद्ध कर चुके हैं, वे विवेकी पुरुष कभी यमलोकमें नहीं जाते। जो शालग्राम-शिलाके ऊपर चढ़ायी हुई माला अपने मस्तकपर धारण करते हैं, उनके सहस्रों पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। जो शालग्राम-शिलाके आगे दीपदान करते हैं, उनका कभी यमपुरमें निवास नहीं होता। जो शालग्राममें स्थित भगवान् विष्णुकी मनोहर पुष्पोंद्वारा पूजा करते हैं तथा जो भगवान् विष्णुके शयनकाल—चातुर्मास्यमें शालग्राम-शिलाको पञ्चामृतसे स्नान कराते हैं, वे मनुष्य संसार-बन्धनमें कभी नहीं पड़ते। मुक्तिके आदि-कारण निर्मल शालग्रामगत श्रीहरिको अपने हृदयमें स्थापित करके जो प्रतिदिन भक्तिपूर्वक उनका चिन्तन करता है, वह मोक्षका भागी होता है। जो सब समयमें, विशेषतः चातुर्मास्यकालमें, भगवान् शालग्रामके ऊपर तुलसीदलकी माला चढ़ाता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। तुलसीदेवी भगवान् विष्णुको सदा प्रिय हैं। शालग्राम महाविष्णुके स्वरूप हैं और तुलसीदेवी निःसंदेह साक्षात् लक्ष्मी हैं। इसलिये चन्दनचर्चित सुगन्धित जलसे तुलसीमञ्जरीसहित शालग्रामशिलारूप श्रीहरिको नहलाकर जो तुलसीकी मञ्जरियोंसे उनका पूजन करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको पाता है। तुलसीके प्रथम दलमें ब्रह्माजी, द्वितीय दलमें भगवान् शिव तथा मंजरीमें भगवान् विष्णु निवास करते हैं, अतः विद्वान् भक्तोंको सदा इन तीनोंके सन्निधानसे युक्त मञ्जरी और दलसहित तुलसीका चयन करना चाहिये। उसे भगवान् श्रीहरिकी सेवामें भक्तिपूर्वक अर्पण करनेसे जन्म, मृत्यु आदि

कोटिका नाश होता है। जो भगवान् श्रीहरिकी आराधनामें संलग्न हो सदा—विशेषतः चातुर्मास्यमें शालग्रामशिलाको धूप-दीप निवेदन करता है, वह मनुष्य कभी नरकमें नहीं पड़ता। उत्तम पुष्पोंसे पूजित भगवान् शालग्रामका दर्शन करके मनुष्य सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर श्रीहरिमें तन्मयताको प्राप्त होता है।

> शालग्रामस्तु गण्डक्यां नर्मदायां महेश्वरः।
> उत्पन्नौ स्वयंभूश्च सावेतौ नैव कृत्रिमौ॥
> (स्क० पु० चा० मा० २२। २)

गण्डकी नदीमें भगवान् विष्णु शालग्रामरूपसे प्रकट होते हैं और नर्मदा नदीमें भगवान् शिव नर्मदेश्वररूपसे उत्पन्न होते हैं। ये दोनों साक्षात् विष्णु और शिव ही हैं, कृत्रिम नहीं हैं।

> तस्माद्धरं लिङ्गरूपं शालग्रामगतं हरिम्।
> येऽर्चयन्ति नरा भक्त्या न तेषां दुःखयातनाः॥
> चातुर्मास्ये समायाते विशेषात् पूजयेच्च तौ।
> अर्चितौ यावभेदेन स्वर्गमोक्षप्रदायकौ॥
> देवौ हरिहरौ भक्त्या विप्रवह्निगवां गतौ।
> येऽर्चयन्ति महाशूद्र तेषां मोक्षप्रदो हरिः॥
> विवेकादिगुणैर्युक्तः स शूद्रो याति सद्गतिम्।
> (स्क० पु० चा० मा० २८। २, ३, ४, ६)

शूद्रश्रेष्ठ! जो लिङ्गरूपी शिव और शालग्रामगत श्रीविष्णुका भक्तिपूर्वक पूजन करते हैं, उन्हें दुःखमयी यातना नहीं भोगनी पड़ती। चौमासेमें शिव और विष्णुका विशेष रूपसे पूजन करना चाहिये। दोनोंमें भेदभाव न रखते हुए यदि उनकी पूजा की जाय तो वे स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाले होते हैं। जो भक्तिपूर्वक ब्राह्मण, अग्नि और गौमें स्थित हरि और हरकी पूजा करते हैं, उन्हें भगवान् श्रीहरि मोक्ष प्रदान करते हैं। जो विवेक आदि गुणोंसे युक्त है, वह शूद्र उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

महर्षि मार्कण्डेय

उपदेश

> दयावान् सर्वभूतेषु हिते रक्तोऽनसूयकः।
> सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः॥
> चर धर्मं त्यजाधर्मं पितॄन् देवांश्च पूजय।
> प्रमादाद् यत्कृतं तेऽभूत् सम्यग्दानेन तज्जय॥
> अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान् भव॥
> (महा० वन० १९१। २३-२५)

राजन्! तुम सब प्राणियोंपर दया करो। सबका हित-साधन करनेमें लगे रहो। किसीके गुणोंमें दोष न देखो। सदा सत्य-भाषण करो। सबके प्रति विनीत और कोमल बने रहो। इन्द्रियोंको वशमें रक्खो। प्रजाकी रक्षामें सदा तत्पर रहो। धर्मका आचरण और अधर्मका त्याग करो। देवताओं और पितरोंकी पूजा करो। यदि असावधानीके कारण किसीके मनके विपरीत कोई व्यवहार हो जाय तो उसे अच्छी प्रकार दानसे संतुष्ट करके प्रसन्न करो। 'मैं सबका स्वामी हूँ' ऐसे अहंकारको कभी पास न आने दो, तुम अपनेको सदा पराधीन समझते रहो।

> सर्वेषामेव दानानामन्नदानं परं विदुः।
> सर्वप्रीतिकरं पुण्यं बलपुष्टिविवर्धनम्॥
> नान्नदानसमं दानं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
> अन्नाद्भवन्ति भूतानि म्रियन्ते तदभावतः॥
> (स्क० पु० रे० खं० ५२। १०-११)

सब दानोंमें अन्नदानको उत्तम माना गया है। वह सबको प्रसन्न करनेवाला, पुण्यजनक तथा बल और पुष्टिको बढ़ानेवाला है। तीनों लोकोंमें अन्नदानके समान दूसरा कोई दान नहीं है। अन्नसे ही प्राणी उत्पन्न होते और अन्नका अभाव होनेपर मर जाते हैं।

> पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम्।
> सद्भिः सम्भाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः॥
> (महा० वन० २००। ९४)

पुण्यतीर्थमें स्नान, पवित्र वस्तुओंके नामका उच्चारण तथा सत्पुरुषोंके साथ वार्तालाप करना—यह सब विद्वानोंके द्वारा उत्तम बताया जाता है।

गङ्गा-महिमा

योजनानां सहस्रेषु गङ्गां स्मरति यो नरः।
अपि दुष्कृतकर्मासौ लभते परमां गतिम्॥
कीर्तनान्मुच्यते पापैर्दृष्ट्वा भद्राणि पश्यति।
अवगाह्य च पीत्वा च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥
सत्यवादी जितक्रोधो अहिंसां परमां स्थितः।
धर्मानुसारी तत्त्वज्ञो गोब्राह्मणहिते रतः॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नातो मुच्येत किल्बिषात्।
मनसा चिन्तितान् कामान् सम्यक् प्राप्नोति पुष्कलान्॥

(पद्म० स्वर्ग० ४१ । १४—१७)

जो मनुष्य सहस्रों योजन दूरसे भी गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह पापाचारी होनेपर भी परम गतिको प्राप्त होता है। मनुष्य गङ्गाका नाम लेनेसे पापमुक्त होता है, दर्शन करनेसे कल्याणका दर्शन करता है तथा स्नान करने और जल पीनेसे अपनी सात पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है। जो सत्यवादी, क्रोधजयी, अहिंसा धर्ममें स्थित, धर्मानुगामी, तत्त्वज्ञ तथा गौ और ब्राह्मणोंके हितमें तत्पर होकर गङ्गा-यमुनाके बीचमें स्नान करता है, वह सारे पापोंसे छूट जाता है तथा मनचाहे समस्त भोगोंको पूर्णरूपसे प्राप्त कर लेता है।

महर्षि शाण्डिल्य

व्रजभूमिमें भगवान्‌की लीला

प्रिय परीक्षित् और वज्रनाभ! मैं तुमलोगोंको व्रजभूमिका रहस्य बतलाता हूँ। तुम दत्तचित्त होकर सुनो। 'व्रज' शब्दका अर्थ है व्याप्ति। इस वृद्धवचनके अनुसार व्यापक होनेके कारण ही इस भूमिका नाम 'व्रज' पड़ा है। सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे अतीत जो परब्रह्म है, वही व्यापक है। इसलिये उसे 'व्रज' कहते हैं। वह सदानन्दस्वरूप, परम ज्योतिर्मय और अविनाशी है। जीवन्मुक्त पुरुष उसीमें स्थित रहते हैं। इस परब्रह्मस्वरूप व्रजधाममें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निवास है। उनका एक-एक अङ्ग सच्चिदानन्दस्वरूप है। वे आत्माराम और आप्तकाम हैं। प्रेमरसमें डूबे हुए रसिकजन ही उनका अनुभव करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं—राधिका; उसमें रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष उन्हें 'आत्माराम' कहते हैं। 'काम' शब्दका अर्थ है कामना—अभिलाषा; व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णके वाञ्छित पदार्थ हैं—गौएँ, ग्वालबाल, गोपियाँ और उनके साथ लीला-विहार आदि; वे सब-के-सब यहाँ नित्य प्राप्त हैं। इसीसे श्रीकृष्णको 'आप्तकाम' कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णकी यह रहस्य-लीला प्रकृतिसे परे है। वे जिस समय प्रकृतिके साथ खेलने लगते हैं, उस समय दूसरे लोग भी उनकी लीलाका अनुभव करते हैं। प्रकृतिके साथ होनेवाली लीलामें ही रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है। इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान्‌की लीला दो प्रकारकी है—एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी। वास्तवी लीला स्वसंवेद्य है—उसे स्वयं भगवान् और उनके रसिक भक्तजन ही जानते हैं। जीवोंके सामने जो लीला होती है, वह व्यावहारिकी लीला है। वास्तवी लीलाके बिना व्यावहारिकी लीला नहीं हो सकती; परंतु व्यावहारिकी लीला-का वास्तविक लीलाके राज्यमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता।

(स्कन्दपुराणान्तर्गत श्रीमद्भा० माहात्म्य १ । १९—२६)

महर्षि भृगु

साधु, धर्म, समता, शान्ति

ये लोकद्वेषिणो मूर्खाः कुमार्गरतबुद्धयः॥
ते राजन् दुर्जना ज्ञेयाः सर्वधर्मबहिष्कृताः।
धर्माधर्मविवेकेन वेदमार्गानुसारिणः॥
सर्वलोकहितासक्ताः साधवः परिकीर्तिताः।
हरिभक्तिकरं यत्तत्सद्भिश्च परिरक्षितम्॥
आत्मनः प्रीतिजनकं तत् पुण्यं परिकीर्तितम्।
सर्वं जगदिदं विष्णुर्विष्णुः सर्वस्य कारणम्॥
अहं च विष्णुर्यज्ज्ञानं तद्विष्णुस्मरणं विदुः।
सर्वदेवमयो विष्णुर्विधिना पूजयामि तम्॥
इति या भवति श्रद्धा सा तद्भक्तिः प्रकीर्तिता।
सर्वभूतमयो विष्णुः परिपूर्णः सनातनः॥

इत्यभेदेन या बुद्धिः समता सा प्रकीर्तिता।
समता शत्रुमित्रेषु वशित्वं च तथा नृप॥
यदृच्छालाभसंतुष्टिः सा शान्तिः परिकीर्तिता।
(ना० पु० १६ । २८-३५)

जिनकी बुद्धि सदा कुमार्गमें लगी रहती है, जो सब लोगोंसे द्वेष रखनेवाले और मूर्ख हैं, उन्हें सम्पूर्ण धर्मोंसे बहिष्कृत दुष्ट पुरुष जानना चाहिये। जो लोग धर्म और अधर्मका विवेक करके वेदोक्त मार्गपर चलते हैं तथा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं, उन्हें 'साधु' कहा गया है। जो भगवान्‌की भक्तिमें सहायक है, साधु पुरुष जिसका पालन करते हैं तथा जो अपने लिये भी आनन्ददायक है, उसे 'धर्म' कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् भगवान् विष्णुका स्वरूप है, विष्णु सबके कारण हैं और मैं भी विष्णु हूँ—यह जो ज्ञान है, उसीको 'भगवान् विष्णुका स्मरण' समझना चाहिये। भगवान् विष्णु सर्वदेवमय हैं, मैं विधिपूर्वक उनकी पूजा करूँगा, इस प्रकारसे जो श्रद्धा होती है, वह उनकी 'भक्ति' कही गयी है। श्रीविष्णु सर्वभूतस्वरूप हैं, सर्वत्र परिपूर्ण सनातन परमेश्वर हैं, इस प्रकार जो भगवान्‌के प्रति अभेद-बुद्धि होती है, उसी का नाम 'समता' है। राजन्! शत्रु और मित्रोंके प्रति समान भाव हो, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने वशमें हों और दैववश जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष रहे तो इस स्थितिको 'शान्ति' कहते हैं।

संन्यासी

तद्यथा विमुच्याग्निधनकलत्रपरिबर्हणं सङ्गेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति समलोष्टाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वसक्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शनाः स्थावरजरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानां भूतानां वाङ्मनःकर्मभिरनभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वतपुलिनवृक्षमूलदेवतायतनान्यनुचरन्तो वासार्थमुपेयुर्नगरं ग्रामं वा नगरे पञ्चरात्रिकाः ग्रामे चैकरात्रिकाः प्रविश्य च प्राणधारणार्थं द्विजातीनां भवनान्यसंकीर्णकर्मणामुपतिष्ठेयुः पात्रपतितायाचितभैक्ष्याः कामक्रोधदर्पलोभमोहकार्पण्यदम्भपरिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति॥

(महा० शां० १९२ । ३)

संन्यासमें प्रवेश करनेवाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार तथा घरकी सारी सामग्रीका त्याग करके विषयासक्तिके बन्धनको तोड़कर घरसे निकल जाते हैं। ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और काम के सेवनमें अपनी बुद्धि नहीं फँसाते। शत्रु, मित्र तथा उदासीन—सबके प्रति समान दृष्टि रखते हैं। स्थावर, अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियोंके प्रति मन, वाणी अथवा कर्मसे भी कभी द्रोह नहीं करते। कुटी या मठ बनाकर नहीं रहते। उन्हें चाहिये कि चारों ओर विचरते रहें और रातमें ठहरनेके लिये पर्वतकी गुफा, नदीका किनारा, वृक्षकी जड़, देवमन्दिर, ग्राम अथवा नगर आदि स्थानोंमें चले जाया करें। नगरमें पाँच रात और गाँवमें एक रातसे अधिक न रहें। प्राण-धारण करनेके लिये गाँव या नगरमें प्रवेश करके अपने विशुद्ध धर्मोंका पालन करनेवाले द्विजातियोंके घरोंपर जा खड़े हो जायँ। बिना माँगे ही पात्रमें जितनी भिक्षा आ जाय, उतनी ही स्वीकार करें। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसा आदिसे दूर रहें।

महर्षि वाल्मीकि

भगवान् राम कहाँ निवास करते हैं ?

त्वमेव सर्वलोकानां निवासस्थानमुत्तमम्।
तवापि सर्वभूतानि निवाससदनानि हि॥
एवं साधारणं स्थानमुक्तं ते रघुनन्दन।
सीतया सहितस्येति विशेषं पृच्छतस्तव॥
तद्वक्ष्यामि रघुश्रेष्ठ यत्ते नियतमन्दिरम्।
शान्तानां समदृष्टीनामद्वेष्टॄणां च जन्तुषु।
त्वामेव भजतां नित्यं हृदयं तेऽधिमन्दिरम्॥
धर्माधर्मान् परित्यज्य त्वामेव भजतोऽनिशम्।
सीतया सह ते राम तस्य हृत्सुखमन्दिरम्॥
त्वन्मन्त्रजापको यस्तु त्वामेव शरणं गतः।
निर्द्वन्द्वो निःस्पृहस्तस्य हृदयं ते सुमन्दिरम्॥
निरहंकारिणः शान्ता ये रागद्वेषवर्जिताः।
समलोष्टाश्मकनकास्तेषां ते हृदयं गृहम्॥
त्वयि दत्तमनोबुद्धिर्यः संतुष्टः सदा भवेत्।
त्वयि संत्यक्तकर्मा यस्तन्मनस्ते शुभं गृहम्॥
यो न द्वेष्ट्यप्रियं प्राप्य प्रियं प्राप्य न हृष्यति।
सर्वं मायेति निश्चित्य त्वां भजेत्तन्मनो गृहम्॥

षड्भावादिविकारान् यो देहे पश्यति नात्मनि ।
क्षुत्तृट्सुखं भयं दुःखं प्राणबुद्ध्योर्निरीक्षते ॥
संसारधर्मैर्निर्मुक्तस्तस्य ते मानसं गृहम् ॥
पश्यन्ति ये सर्वगुहाशयस्थं
त्वां चिद्घनं सत्यमनन्तमेकम् ।
अलेपकं सर्वगतं वरेण्यं
तेषां हृदब्जे सह सीतया वस ॥
निरन्तराभ्यासदृढीकृतात्मनां
त्वत्पादसेवापरिनिष्ठितानाम् ।
त्वन्नामकीर्त्या हतकल्मषाणां
सीतासमेतस्य गृहं हृदब्जे ॥
राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम् ।
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान् ॥
(अध्यात्म० अयो० ६ । ५२—६४)

हे राम ! सम्पूर्ण प्राणियोंके आप ही एकमात्र उत्तम निवास-स्थान हैं और सब जीव भी आपके निवास-गृह हैं। हे रघुनन्दन ! इस प्रकार यह मैंने आपका साधारण निवास-स्थान बताया। परंतु आपने विशेषरूपसे सीताके सहित अपने रहनेका स्थान पूछा है; इसलिये हे रघुश्रेष्ठ! अब मैं आपका जो निश्चित गृह है, वह बताता हूँ। जो शान्त, समदर्शी और सम्पूर्ण जीवोंके प्रति द्वेषहीन हैं तथा अहर्निश आपका ही भजन करते हैं, उनका हृदय आपका प्रधान निवास-स्थान है। जो धर्म और अधर्म दोनोंको छोड़कर निरन्तर आपका ही भजन करता है, हे राम ! उसके हृदय-मन्दिरमें सीताके सहित आप सुखपूर्वक रहते हैं। जो आपके ही मन्त्रका जप करता है, आपकी ही शरणमें रहता है तथा द्वन्द्वहीन और निःस्पृह है, उसका हृदय आपका सुन्दर मन्दिर है। जो अहङ्कारशून्य, शान्तस्वभाव, राग-द्वेष-रहित और मृत्पिण्ड, पत्थर तथा सुवर्णमें समान दृष्टि रखनेवाले हैं, उनका हृदय आपका घर है। जो तुम्हींमें मन और बुद्धिको लगाकर सदा संतुष्ट रहता है और अपने समस्त कर्मोंको तुम्हारे ही अर्पण कर देता है, उसका मन ही आपका शुभ गृह है। जो अप्रियको पाकर द्वेष नहीं करता और प्रियको पाकर हर्षित नहीं होता तथा यह सम्पूर्ण प्रपञ्च मायामात्र है—ऐसा निश्चय कर सदा आपका भजन करता है, उसका मन ही आपका घर है। जो जन्म लेना, सत्ता, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और नष्ट होना—इन छः विकारोंको शरीरमें ही देखता है, आत्मामें नहीं तथा क्षुधा, तृषा, सुख, दुःख और भय आदिको प्राण और बुद्धिके ही विकार मानता है और स्वयं सांसारिक धर्मोंसे मुक्त रहता है, उसका चित्त आपका निज गृह है। जो लोग चिद्घन, सत्यस्वरूप, अनन्त, एक, निर्लेप, सर्वगत और स्तुत्य आप परमेश्वरको समस्त अन्तःकरणोंमें विराजमान देखते हैं, हे राम! उनके हृदय-कमलमें आप सीताजीके सहित निवास कीजिये। निरन्तर अभ्यास करनेसे जिनका चित्त स्थिर हो गया है, जो सर्वदा आपकी चरणसेवामें लगे रहते हैं तथा आपके नाम सङ्कीर्तनसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उनके हृदय-कमलमें सीताके सहित आपका निवास-गृह है। हे राम ! जिसके प्रभावसे मैंने ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त किया है, आपके उस नामकी महिमा कोई किस प्रकार वर्णन कर सकता है।

महर्षि शतानन्द

तुलसी-महिमा

नामोच्चारे कृते तस्याः प्रीणात्यसुरदर्पहा ।
पापानि विलयं यान्ति पुण्यं भवति चाक्षयम् ॥
सा कथं तुलसी लोकैः पूज्यते वन्द्यते न हि ।
दर्शनादेव यस्यास्तु दानं कोटिगवां भवेत् ॥
धन्यास्ते मानवा लोके यद्गृहे विद्यते कलौ ।
शालग्रामशिलार्थं तु तुलसी प्रत्यहं क्षितौ ॥
तुलसीं ये विचिन्वन्ति धन्यास्ते करपल्लवाः ।
केशवार्थं कलौ ये च रोपयन्तीह भूतले ॥
किं करिष्यति संरुष्टो यमोऽपि सह किङ्करैः ।
तुलसीदलेन देवेशः पूजितो येन दुःखहा ॥
... ...
तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया ॥
केशवार्थं चिनोमि त्वां वरदा भव शोभने ।
त्वदङ्गसम्भवैर्नित्यं पूजयामि यथा हरिम् ॥
तथा कुरु पवित्राङ्गि कलौ मलविनाशिनि ।
मन्त्रेणानेन यः कुर्याद्विचित्य तुलसीदलम् ॥
पूजनं वासुदेवस्य लक्षकोटिगुणं भवेत् ।
(पद्म० सृष्टि० ५९ । ५—१८)

तुलसीका नामोच्चारण करनेपर असुरोंका दर्प दलन करनेवाले भगवान् श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं, मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं तथा उसे अक्षय पुण्यकी प्राप्ति होती है। जिसके दर्शनमात्रसे करोड़ों गोदानका फल होता है, उस तुलसीका पूजन और वन्दन लोग क्यों न करें। कलियुगके संसारमें वे मनुष्य धन्य हैं, जिनके घरमें शालग्राम-शिलाका पूजन सम्पन्न करनेके लिये प्रतिदिन तुलसीका वृक्ष भूतलपर लहलहाता रहता है। जो कलियुगमें भगवान् श्रीकेशवकी पूजाके लिये पृथ्वीपर तुलसीका वृक्ष लगाते हैं, उनपर यदि यमराज अपने किङ्करोंसहित रुष्ट हो जायँ तो भी वे उनका क्या कर सकते हैं। तुलसी! तुम अमृतसे उत्पन्न हो और केशवको सदा ही प्रिय हो। कल्याणी! मैं भगवान्की पूजाके लिये तुम्हारे पत्तोंको चुनता हूँ। तुम मेरे लिये वरदायिनी बनो। तुम्हारे श्रीअङ्गोंसे उत्पन्न होनेवाले पत्रों और मञ्जरियोंद्वारा मैं सदा ही जिस प्रकार श्रीहरिका पूजन कर सकूँ, वैसा उपाय करो। पवित्राङ्गी तुलसी! तुम कलि-मलका नाश करनेवाली हो। इस भावके मन्त्रोंसे जो तुलसीदलोंको चुनकर उनसे भगवान् वासुदेवका पूजन करता है, उसकी पूजाका करोड़ोंगुना फल होता है।

महर्षि अष्टावक्र

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् पिब॥

(अष्टावक्रगीता)

भाई! यदि तुझे मुक्तिकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान त्याग दे तथा क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता और सत्यको अमृतके समान ग्रहण कर।

न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धि-
र्यथाष्ठीलाः शाल्मलेः सम्प्रवृद्धाः।
ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो
यश्चाफलस्तस्य न वृद्धभावः॥

(महा० वन० १३३। ९)

शरीर बढ़ जानेसे ही किसीका बड़ा होना नहीं जाना जाता, जैसे सेमलके फलकी गाँठ बड़ी होती है; किंतु इससे उसमें कोई विशेषता नहीं आ जाती। छोटे-से शरीरवाला छोटा ही वृक्ष क्यों न हो, यदि उसमें फल लगा हो तो वह बड़ा है। और ऊँचे-से-ऊँचा वृक्ष क्यों न हो, यदि वह फलसे शून्य है तो बड़ा नहीं माना जाता।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥

(महा० वन० १३३। १२)

अधिक वर्षोंकी आयु होनेसे, बाल पक जानेसे, धनसे अथवा बन्धुओंके होनेसे भी कोई बड़ा नहीं माना जाता। हममेंसे जो वेद-शास्त्रोंको जानता और उनकी व्याख्या करता है, वही बड़ा है—यह ऋषियोंने ही धर्म-मर्यादा स्थापित की है।

महात्मा जडभरत

महापुरुष-महिमा

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥

(श्रीमद्भा० ५। १२। १२-१३)

रहूगण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको नहलाये बिना केवल तप-यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथि-सेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि महापुरुषोंके समाजमें सदा पवित्रकीर्ति श्रीहरिके गुणोंकी चर्चा होती रहती है, जिससे विषयवार्ता तो पास ही नहीं फटकने पाती। और जब भगवत्कथाका नित्यप्रति सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाकांक्षी पुरुषकी शुद्ध बुद्धिको भगवान् वासुदेवमें लगा देती है।

महर्षि अगस्त्य

मानस-तीर्थ

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं
तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया तीर्थं
तीर्थमार्जवमेव च ॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं
संतोषस्तीर्थमुच्यते ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता ॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा ॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः ॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः ।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः ॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः ।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः ।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः ॥
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते ।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम् ॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः ॥
दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा ।
सर्वाण्येतानि तीर्थानि यदि भावो न निर्मलः ॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः ।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च ॥
ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे ।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥

(स्क० पु० का० पू० ६ । ३०—४१)

सत्य तीर्थ है, क्षमा तीर्थ है, इन्द्रियोंको वशमें रखना भी तीर्थ है, सब प्राणियोंपर दया करना तीर्थ है और सरलता भी तीर्थ है। दान, दम, मनका संयम तथा संतोष—ये भी तीर्थ कहे गये हैं। ब्रह्मचर्यका पालन उत्तम तीर्थ है। प्रिय वचन बोलना भी तीर्थ ही है। ज्ञान तीर्थ है, धैर्य तीर्थ है और तपस्याको भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थोंमें भी सबसे बड़ा तीर्थ है अन्तःकरणकी आत्यन्तिक शुद्धि। पानीमें शरीरको डुबो लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसने दम-तीर्थमें स्नान किया है, मन और इन्द्रियोंको संयममें रक्खा है, उसीने वास्तविक स्नान किया है। जिसने मनकी मैल धो डाली है, वही शुद्ध है। जो लोभी, चुगलखोर, क्रूर, पाखण्डी और विषयासक्त है, वह सब तीर्थोंमें स्नान करके भी पापी और मलिन ही रह जाता है। केवल शरीरके मलका त्याग करनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता। मानसिक मलका परित्याग करनेपर ही वह भीतरसे अत्यन्त निर्मल होता है। जलमें निवास करनेवाले जीव जलमें ही जन्म लेते और मरते हैं, किंतु उनका मानसिक मल नहीं धुलता। इसलिये वे स्वर्गको नहीं जाते। विषयोंके प्रति अत्यन्त राग होना मानसिक मल कहलाता है और उन्हीं विषयोंमें विराग होना निर्मलता कही गयी है। यदि अपने भीतरका मन दूषित है तो मनुष्य तीर्थस्नानसे शुद्ध नहीं होता। जैसे मदिरासे भरे हुए घड़ेको ऊपरसे जलद्वारा सैकड़ों बार धोया जाय, तो भी वह पवित्र नहीं होता, उसी प्रकार दूषित अन्तःकरणवाला मनुष्य भी तीर्थस्नानसे शुद्ध नहीं होता। भीतरका भाव शुद्ध न हो तो दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवन, शास्त्रोंका श्रवण एवं स्वाध्याय—ये सभी अतीर्थ हो जाते हैं। जिसने अपने इन्द्रियसमुदायको वशमें कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर आदि तीर्थ हैं। ध्यानसे पवित्र तथा ज्ञानरूपी जलसे भरे हुए राग-द्वेषमय मलको दूर करनेवाले मानसतीर्थमें जो पुरुष स्नान करता है, वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
प्रतिग्रहादुपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित् ।
अहंकारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अदम्भको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गैर्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥
अकोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥
तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्दधानः समाहितः ।
कृतपापो विशुद्ध्येत किं पुनः शुद्धकर्मकृत् ॥

निर्दम्भोर्नि न वै गच्छेद् कुदेशे नैव जायते।
न दुःखी स्यात् स्वर्गभाक् च मोक्षोपायं च विन्दति ॥
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः ॥
(स्क० पु० का० पू० ६। ४८–५४)

जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप और कीर्ति—सभी संयममें हैं, वह तीर्थके पूर्ण फलका भागी होता है। जो प्रतिग्रह नहीं लेता और जिस किसी भी वस्तुसे संतुष्ट रहता है तथा जिसमें अहंकारका सर्वथा अभाव है, वह तीर्थफलका भागी होता है। जो दम्भी नहीं है, नये-नये कार्योंका प्रारम्भ नहीं करता, थोड़ा खाता है, इन्द्रियोंको काबूमें रखता है और सब प्रकारकी आसक्तियोंसे दूर रहता है, वह तीर्थफलका भागी होता है। जो क्रोधी नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्य बोलनेवाला और दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला है, जो सब प्राणियोंके प्रति अपने ही समान बर्ताव करता है, वह तीर्थफलका भागी होता है। जो तीर्थोंका सेवन करनेवाला, धीर, श्रद्धालु और एकाग्रचित्त है, वह पहलेका पापाचारी हो, तो भी शुद्ध हो जाता है। फिर जो पुण्यकर्म करनेवाला है, उसके लिये तो कहना ही क्या है। तीर्थसेवी मनुष्य कभी पशुयोनिमें जन्म नहीं लेता। कुदेशमें उसका जन्म नहीं होता और वह कभी दुःखका भागी नहीं होता। वह स्वर्ग भोगता और मोक्षका उपाय प्राप्त कर लेता है। अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कका सहारा लेनेवाला—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थसेवनका फल नहीं पाते।

भगवान् ऋषभदेव

उपदेश

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥
महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥
(श्रीमद्भा० ५। ५। १-२)

पुत्रो! इस मर्त्यलोकमें यह मनुष्य-शरीर दुःखमय विषय-भोग प्राप्त करनेके लिये ही नहीं है। ये भोग तो विष्ठाभोजी सूकर-कूकरादिको भी मिलते ही हैं। इस शरीरसे दिव्य तप ही करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो; क्योंकि इसीसे अनन्त ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। शास्त्रोंने महापुरुषोंकी सेवाको मुक्तिका और स्त्रीसङ्गी कामियोंके सङ्गको नरकका द्वार बताया है। महापुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, परम शान्त, क्रोधहीन, सबके हितचिन्तक और सदाचारसम्पन्न हों।

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥
(श्रीमद्भा० ५। ५। १८)

जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ा देता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।

योगीश्वर कवि

भागवत-धर्म

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥
यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ३४–३६

वैसे तो भगवान्‌ने अनेक ऋषियों-महर्षियोंके मुखसे धर्मका उपदेश और व्याख्यान किया है; परंतु उन्होंने अपने साक्षात्कारके लिये जो सुगम-से सुगम उपाय स्वयं बतलाये हैं और जिनसे भोले-भाले अज्ञानी मनुष्य भी बड़ी सुगमतासे उसे प्राप्त कर सकते हैं, उन्हीं उपायोंको भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले 'भागवत धर्म'के नामसे कहते हैं। राजन्! उन धर्मों, साधनोंका आश्रय ले लेनेपर मनुष्य कभी किसी भी निमित्तसे प्रमाद नहीं करता, अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होता। यों समझो कि वह एक दिव्य राजपथपर आ जाता है। फिर वह आँखें बंद करके सरपट भागता चला जाय; उसे कहीं भी फिसलनेतकका भय नहीं रहता, गिरनेका तो काम ही क्या है। भागवत धर्मका पालन करनेवालेके लिये यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकारका ही कर्म करे। वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे—वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके ही लिये है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ३९)

संसारमें भगवान्‌के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्‌के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४०)

जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत—नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे अनुरागका, प्रेमका अङ्कुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है—लोगोंकी मान्यताओं, धारणाओंसे परे हो जाता है। और दम्भसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है।

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे भगवद्भावसे प्रणाम करता है।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४२)

जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवनशक्तिका संचार) और क्षुधा-निवृत्ति—ये तीनों एक साथ होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४३)

इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक एक वृत्तिके द्वारा भगवान्के चरणकमलोंका ही भजन करता है, उसे भगवान्के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम भगवान्के स्वरूपकी स्फूर्ति—ये सब अवश्य ही प्राप्त होते हैं; वह भागवत हो जाता है और जब ये सब प्राप्त हो जाते हैं, तब वह स्वयं परम शान्तिका अनुभव करने लगता है।

योगीश्वर हरि

श्रेष्ठ भक्त कौन ?

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं। जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्में ही आधेयरूपसे अथवा अध्यस्तरूपसे स्थित हैं, अर्थात् वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही हैं—इस प्रकारका जिसका अनुभव है, ऐसी जिसकी सिद्ध दृष्टि है, उसे भगवान्का परम प्रेमी उत्तम भागवत समझना चाहिये।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४८)

जो श्रोत्र-नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्द, रूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है; परंतु अपनी इच्छाके प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और अनुकूल विषयोंके मिलनेपर हर्षित नहीं होता—उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब हमारे भगवान्की माया है—वह पुरुष उत्तम भागवत है।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४९)

संसारके धर्म हैं—जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा। ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं। जो पुरुष भगवान्की स्मृतिमें इतना तन्मय रहता है कि इनके बार-बार होते-जाते रहनेपर भी उनसे मोहित नहीं होता, पराभूत नहीं होता, वह उत्तम भागवत है।

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५०)

जिसके मनमें विषय-भोगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और उनके बीज वासनाओंका उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है।

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५१)

जिनका इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म, तपस्या आदि कर्मसे तथा न वर्ण, आश्रम एवं जातिसे ही अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान्का प्यारा है।

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५२)

जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदिमें 'यह अपना है और यह पराया'—इस प्रकारका भेद-भाव नहीं रखता, समस्त पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता रहता है, समभाव रखता है तथा किसी भी घटना अथवा संकल्पसे विक्षिप्त न होकर शान्त रहता है, वह भगवान्का उत्तम भक्त है।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५३

बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्के ऐसे चरणकमलोंसे आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी सन्निधि और सेवामें ही संलग्न

रहता है—यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार नहीं तोड़ता, उस राज्य-लक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता; वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है।

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ५४)

रासलीलाके अवसरपर नृत्य-गतिसे भाँति-भाँतिके पाद-विन्यास करनेवाले निखिल-सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान्के श्रीचरणोंके अङ्गुलि-नखकी मणि-चन्द्रिकासे जिन शरणागत भक्तजनोंके हृदयका विरहजन्य संताप एक बार दूर हो चुका है, उनके हृदयमें वह फिर कैसे आ सकता है, जैसे चन्द्रोदय होनेपर सूर्यका ताप नहीं लग सकता।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ५५)

विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण अघ-राशिको नष्ट कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते, क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरण-कमलोंको बाँध रक्खा है, वास्तवमें ऐसा पुरुष ही भगवान्के भक्तोंमें प्रधान है।

योगीश्वर प्रबुद्ध

क्या सीखे ?

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ३। २३)

पहले शरीर, संतान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखे। फिर भगवान्के भक्तोंसे प्रेम कैसा करना चाहिये—यह सीखे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे।

शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥
(श्रीमद्भा० ११। ३। २४)

मिट्टी, जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखे।

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं संतोषं येन केनचित्॥
(श्रीमद्भा० ११। ३। २५)

सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें चेतन-रूपसे आत्मा और नियन्तारूपसे ईश्वरको देखना, एकान्त सेवन, यही मेरा घर है—ऐसा भाव न रखना, गृहस्थ हो तो पवित्र वस्त्र पहनना और त्यागी हो तो फटे-पुराने पवित्र चिथड़े—जो कुछ प्रारब्धके अनुसार मिल जाय, उसीमें संतोष करना सीखे।

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि॥
(श्रीमद्भा० ११। ३। २६)

भगवान्की प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले शास्त्रोंमें श्रद्धा और दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, प्राणायामके द्वारा मनका, मौनके द्वारा वाणीका और वासनाहीनताके अभ्याससे कर्मोंका संयम करना, सत्य बोलना, इन्द्रियोंको अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर रखना और मनको कहीं बाहर न जाने देना सीखे।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ३। २७)

भगवान्की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे जितनी भी चेष्टाएँ हों, सब भगवान्के लिये करना सीखे।

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २८)

यज्ञ- दान, तप अथवा जप, सदाचारका पालन और स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपनेको प्रिय लगता हो—सब-का-सब भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करना, उन्हें सौंप देना सीखे।

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २९)

जिन संत पुरुषोंने सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका अपने आत्मा और स्वामीके रूपमें साक्षात्कार कर लिया हो, उनसे प्रेम और स्थावर-जंगम दोनों प्रकारके प्राणियोंकी सेवा, विशेष करके मनुष्योंकी, मनुष्योंमें भी परोपकारी सज्जनोंकी और उनमें भी भगवत्प्रेमी संतोंकी, करना सीखे।

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३०)

भगवान्‌के परम पावन यशके सम्बन्धमें ही एक दूसरेसे बातचीत करना और इस प्रकारके साधकोंका इकट्ठे होकर आपसमें प्रेम करना, आपसमें संतुष्ट रहना और प्रपञ्चसे निवृत्त होकर आपसमें ही आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव करना सीखे।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३१)

श्रीकृष्ण राशि-राशि पापोंको एक क्षणमें भस्म कर देते हैं। सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण करावें। इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेमा-भक्तिका उदय हो जाता है और वे प्रेमोद्रेकसे पुलकित शरीर धारण करते हैं।

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३२)

उनके हृदयकी बड़ी विलक्षण स्थिति होती है। कभी-कभी वे इस प्रकार चिन्ता करने लगते हैं कि अबतक भगवान् नहीं मिले, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन मुझे उनकी प्राप्ति करावे? इस तरह सोचते-सोचते वे रोने लगते हैं तो कभी भगवान्‌की लीलाकी स्फूर्ति हो जानेसे ऐसा देखकर कि परमैश्वर्यशाली भगवान् गोपियोंके डरसे छिपे हुए हैं, खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। कभी कभी उनके प्रेम और दर्शनकी अनुभूतिसे आनन्दमग्न हो जाते हैं तो कभी लोकातीत भावमें स्थित होकर भगवान्‌के साथ बातचीत करने लगते हैं। कभी मानो उन्हें सुना रहे हों, इस प्रकार उनके गुणोंका गान छेड़ देते हैं। और कभी नाच नाचकर उन्हें रिझाने लगते हैं। कभी कभी उन्हें अपने पास न पाकर इधर-उधर ढूँढने लगते हैं तो कभी-कभी उनसे एक होकर, उनकी सन्निधिमें स्थित होकर परम शान्तिका अनुभव करते और चुप हो जाते हैं।

योगीश्वर चमस

किनका अधःपतन होता है

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । २-३)

विराट् पुरुषके मुखसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, भुजाओंसे सत्त्व रज प्रधान क्षत्रिय, जाँघोंसे रज तम-प्रधान वैश्य एव चरणोंसे तमःप्रधान शूद्रकी उत्पत्ति हुई है। उन्हींकी जाँघोंसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम प्रकट हुए हैं। इन चारों वर्णों और आश्रमोंके जन्मदाता स्वयं भगवान् ही हैं। एवं वे ही इनके स्वामी, नियन्ता और आत्मा भी हैं। इसलिये इन वर्ण और आश्रममें रहनेवाला जो मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करता, बल्कि उल्टा उनका अनादर करता है, वह अपने स्थान, वर्ण, आश्रम और मनुष्य योनिसे भी च्युत हो जाता है।

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । १५)

यह शरीर मृतक शरीर है। इसके सम्बन्धी भी इसके

साथ ही छूट जाते हैं। जो लोग इस शरीरसे तो प्रेमकी गाँठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरोंमें रहनेवाले अपने ही आत्मा एवं सर्वशक्तिमान् भगवान्से द्वेष करते हैं, उन मूर्खोंका अधःपतन निश्चित है।

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥
(श्रीमद्भा० ११।५।१६)

जिन लोगोंने आत्मज्ञान सम्पादन करके कैवल्य-मोक्ष नहीं प्राप्त किया है और जो पूरे-पूरे मूढ़ भी नहीं हैं, वे अधूरे न इधरके हैं और न उधरके। वे अर्थ, धर्म, काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें फँसे रहते हैं। एक क्षणके लिये भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती। वे अपने हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हैं। ऐसे ही लोगोंको आत्मघाती कहते हैं।

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः॥
(श्रीमद्भा० ११।५।१७)

अज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मघातियोंको कभी शान्ति नहीं मिलती, इनके कर्मोंकी परम्परा कभी शान्त नहीं होती। कालभगवान् सदा-सर्वदा इनके मनोरथोंपर पानी फेरते रहते हैं। इनके हृदयकी जलन, विषाद कभी मिटनेका नहीं।

हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः॥
(श्रीमद्भा० ११।५।१८)

जो लोग अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे विमुख हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करके गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं; परंतु उन्हें अन्तमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहनेपर भी विवश होकर घोर नरकमें जाना पड़ता है। (भगवान्का भजन न करनेवाले विषयी पुरुषोंकी यही गति होती है।)

महर्षि सारस्वत मुनि

भूमि, देश और नगरका भूषण

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहोमद्यमदादयः।
मायामात्सर्यपैशुन्यमविवेकोऽविचारणा॥
अहङ्कारो यदृच्छा च चापल्यं लौल्यता नृप।
अन्यायासोऽप्यनायासः प्रमादो द्रोहसाहसम्॥
आलस्यं दीर्घसूत्रत्वं परदारोपसेवनम्।
अत्याहारो निराहारः शोकश्चौर्यं नृपोत्तम॥
एतान् दोषान् गृहे नित्यं वर्जयन् यदि वर्तते।
स नरो मण्डनं भूमेर्देशस्य नगरस्य च॥
श्रीमान् विद्वान् कुलीनोऽसौ स एव पुरुषोत्तमः।
सर्वतीर्थाभिषेकश्च नित्यं तस्य प्रजायते॥
(स्क० पु० प्र० खं० वस्त्रापथक्षेत्रमाहा० १२।२३—२७)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद्यपान एवं मद आदि, माया, मात्सर्य, चुगली, अविवेक, अविचार, अहङ्कार, स्वच्छन्दता, चपलता, लोलुपता, अन्यायसाधन, आयास, प्रमाद, द्रोह, दुस्साहस, आलस्य, दीर्घसूत्रता, परस्त्रीगमन, अत्यधिक आहार, सर्वथा आहारका त्याग, शोक तथा चोरी इत्यादि दोषोंको त्याग कर जो घरमें सदाचारपूर्वक रहता है, वह मनुष्य इस भूमिका, देशका तथा नगरका भूषण है। वह श्रीमान्, विद्वान् तथा कुलीन है और वही सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ है। उसीके द्वारा सब तीर्थोंका स्नान नित्य सम्पन्न होता है।

पृथ्वी किनके द्वारा धारण की जाती है?

दरिद्रा व्याधिता मूर्खाः परप्रेष्यकराः सदा।
अदत्तदाना जायन्ते दुःखस्यैव हि भाजनाः॥
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्।
उभावम्भसि मोक्तव्यौ गले बध्वा महाशिलाम्॥
शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता शतसहस्रेषु दाता जायेत वा न वा॥
गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥
(स्क० मा० कुमा० २।६८—७१)

जो दान नहीं करते वे दरिद्र, रोगी, मूर्ख तथा सदा दूसरोंके सेवक होकर दुःखके ही भागी होते हैं। जो धनवान् होकर दान नहीं करता और दरिद्र होकर कष्टसहनरूप तपसे दूर भागता है, इन दोनोंको गलेमें बड़ा भारी पत्थर बाँधकर जलमें छोड़ देना चाहिये। सैकड़ों मनुष्योंमें कोई शूरवीर हो सकता है, सहस्रोंमें कोई पण्डित भी मिल सकता है तथा लाखोंमें कोई वक्ता भी निकल सकता है; परंतु इनमें एक भी दाता हो सकता है या नहीं, इसमें संदेह है। गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी पुरुष, लोभहीन तथा दानशील मनुष्य—इन सातोंके द्वारा ही यह पृथ्वी धारण की जाती है।

महर्षि पतञ्जलि

यम-नियम और उनका फल

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ (योगके) अङ्ग हैं ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच यम हैं ।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।

(उक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्तकी सीमासे रहित सार्वभौम होनेपर महाव्रत हो जाते हैं ।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—(ये पाँच) नियम हैं ।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।

जब वितर्क (यम और नियमोंके विरोधी हिंसादिके भाव) यम नियमके पालनमें बाधा पहुँचावें, तब उनके प्रतिपक्षी विचारोंका बार-बार चिन्तन करना चाहिये ।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।

(यम और नियमोंके विरोधी) हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं । (वे तीन प्रकारके होते हैं—) स्वयं किये हुए, दूसरोंसे करवाये हुए और अनुमोदित किये हुए । इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं । इनमें भी कोई छोटा, कोई मध्यम और कोई बहुत बड़ा होता है । ये दुःख और अज्ञानरूप अनन्त फल देनेवाले हैं—इस प्रकार (विचार करना ही) प्रतिपक्षकी भावना है ।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस योगीके निकट सब प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं ।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

सत्यकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर (योगीमें) कि
फलके आश्रयका भाव (आ जाता है) ।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

चोरीके अभावकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर (उस यो
के सामने) सब प्रकारके रत्न प्रकट हो जाते हैं ।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर सामर्थ्यका
होता है ।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ।

अपरिग्रहकी स्थिति हो जानेपर पूर्वजन्म कैसे हुए
इस बातका भलीभाँति ज्ञान हो जाता है ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।

शौचके अभ्याससे अपने अङ्गोंमें घृणा और दूस
संसर्ग न करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है ।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वा

अन्तःकरणकी शुद्धि, मनमें प्रसन्नता, चित्तकी एकाग्र
इन्द्रियोंका वशमें होना और आत्मसाक्षात्कारकी योग्यता
[ये पाँचों भी होते हैं ।]

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ।

संतोषसे ऐसे सर्वोत्तम सुखका लाभ होता है, जि
उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है ।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

तपके प्रभावसे जब अशुद्धिका नाश हो जाता है,
शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है ।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ।

स्वाध्यायसे इष्टदेवताकी भलीभाँति प्राप्ति (साक्षा
हो जाती है ।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

ईश्वर प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि हो जाती है ।

(योग० २ । ३०—४

दो ही मार्ग

श्रुतिने प्रार्थनाका संदेश दिया—'तमसो मा ज्योतिर्गमय ।' 'मृत्योर्मा अमृतं गमय ।'

विज्ञान—भोगवासना—आधुनिक सभ्यता—कोई नाम लीजिये, बात एक ही है । आजके इस अर्थप्रधान युगका, इस भोगप्रधान समयका यह संदेश है—'प्रगति करो !' 'असंतोष चिरजीवी हो !' क्योंकि—'आवश्यकता आविष्कारकी जननी है ।' यह प्रगति असंतोषकी ओर, आवश्यकताकी वृद्धिकी ओर, संघर्षकी ओर है । यह प्रगति तोपसे टैंक, टैंकसे वायुयान और बम तथा उससे परमाणु-बम, हाइड्रोजन-बम, कोबाइल्ड-बम, नाइट्रोजन बमकी ओर—जीवनसे मृत्युकी ओर है । प्रकाशसे अन्धकारकी ओर है यह प्रगति—इसमें विवादके लिये स्थान नहीं है ।

दो मार्ग हैं—प्रार्थनाका मार्ग और प्रगतिका मार्ग । एक श्रुतिका मार्ग है और दूसरा भोगका मार्ग । एक जाता है अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और दूसरा प्रकाशसे अन्धकारकी ओर ।

मनुष्य एक दुराहेपर खड़ा है । मनुष्यजीवन जीवको स्वयं एक दुराहेपर लाकर खड़ा कर देता है । वह किधर जायगा ? उसे देव बनना है या दानव ?

प्रकाशका मार्ग—संयम, सदाचार, त्याग, परोपकार, भगवद्भजनका पवित्र मार्ग है । वहाँ सात्त्विकता है, स्वच्छता है, शुभ्रता है । संतोष और शान्ति उसके पुरस्कार हैं । अनन्त आनन्द, अखण्ड शान्ति ही उसके गन्तव्य हैं । श्रद्धा और विश्वासका सम्बल लेकर यात्री इस मार्गसे सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्वको प्राप्त करता है । शास्त्र ही इस मार्गका मार्गदर्शक है । भगवान् व्यासका ही अनुगमन करना है इस मार्गमें । वे ही इस पथके परम गुरु—परम निर्देश हैं

आलस्य, प्रमाद, उच्छृङ्खलता—राग, द्वेष, मोह—स्वार्थ, इन्द्रियतृप्ति, परनिन्दा—कुछ जगत्में उलूक प्रकृतिके प्राणी होते हैं । प्रकाशसे उनकी सहज शत्रु होती है । प्रकाशके पथमें अन्धकारके धर्मोंको स्थान नहीं हो सकता । अन्धकारके धर्मोंसे जिनका अनुराग है, प्रकाशका पथ उन्हें कैसे प्रिय हो सकता है ! प्रकाशके पथमें वहाँ कोई आकर्षण सम्मुख दीखता है । वहाँ तो चलना है—शास्त्रका, संतका अनुगमन करते चलना है ।

अन्धकारका मार्ग—अज्ञान ही अन्धकारका स्वरूप है । ठोकरें, संताप, क्रूर पशुओंके नृशंस आक्रमण—यह सहज क्रिया है वहाँ ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह—अन्धकारके धर्म उसमें पनपेंगे, प्रफुल्ल रहेंगे । अज्ञात भविष्य—छिपा भय और मोहक झिल्ली-झंकारें—ऐसे मार्गमें मृत्यु, नरक एवं यातनाएँ तो होंगी ही ।

सम्मुखका कल्पित सुख, कल्पित मोह—कुछ उलूक-प्रकृति प्राणी हैं विश्वमें । अन्धकार ही उन्हें आकर्षित करता है । कलियुग—ऐसे प्राणियोंकी बहुलताका युग ठहरा यह । कामका आवाहन है इस मार्गकी ओर । आँख, नाक, कान, जीभकी तृप्तिके प्रलोभक साधन इधर आकर्षण उत्पन्न करते हैं और इस आकर्षणमें जो फँसा—आगे भय है—अन्धकार है ।

मनुष्य दुराहेपर खड़ा है । किधर जायगा वह—स्वयं उसे सोचना है । प्रकाशका पथ और अन्धकारका मार्ग—मार्ग तो दो ही हैं ।

ॐ

प्रकाश अंधकार

भवाटवी का मार्ग
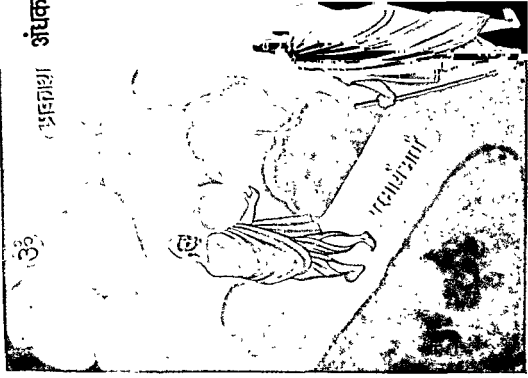
दो ही मार्ग
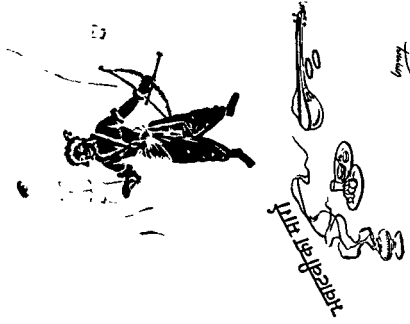
भगवान् कपिलदेव

धन-मदान्धोंकी दशा

ऐश्वर्यमदमत्तानां
क्षुधितानां च कामिनाम्।
अहङ्कारविमूढानां
विवेको नैव जायते॥
किमत्र चित्रं सुजनं
बाधन्ते यदि दुर्जनाः।
महीरुहांश्चानुतटे पातयन्ति नदीरयाः॥
यत्र श्रीर्यौवनं चापि परदारोऽपि तिष्ठति।
तत्र सर्वान्धता नित्यं मूर्खत्वं चापि जायते॥
भवेद्यदि खलस्य श्रीः सैव लोकविनाशिनी।
यथा सखाग्नेः पवनः पन्नगस्य पयो यथा॥
अहो धनमदान्धस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।
यदि पश्यत्यात्महितं स पश्यति न संशयः।
(ना० पु० ८ । १०३, १०५, १०६, १०८,

जो ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त है, जो भूखसे पीड़ित कामी है तथा जो अहङ्कारसे मूढ हो रहे हैं, ऐसे मनु विवेक नहीं होता। यदि दुष्ट मनुष्य सज्जनोंको सताते इसमें क्या आश्चर्य है? नदीका वेग किनारेपर उ वृक्षोंको भी गिरा देता है। जहाँ धन है, जवानी है त स्त्री भी है, वहाँ सदा सभी अंधे और मूर्ख बने रहते दुष्टके पास लक्ष्मी हो तो वह लोकका नाश करनेवाली है। जैसे वायु अग्निकी ज्वालाको बढ़ानेमें सहायक हो और जैसे दूध साँपके विषको बढ़ानेमें कारण होता है, दुष्टकी लक्ष्मी उसकी दुष्टताको बढ़ा देती है। अहो मदसे अंधा हुआ मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता। वह अपने हितको देखता है, तभी वह वास्तवमें देखता

महर्षि शौनक

तृष्णाका अन्त नहीं है

शोकस्थानसहस्राणि
भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ-
माविशन्ति न पण्डितम्॥
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा
नित्योद्वेगकरी स्मृता।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥
अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम्।
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः॥
अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः॥
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः॥
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
(महा० वन० २ । १५, १४–१६, ४५, ४६, ७४)

मूर्ख मनुष्योंके प्रतिदिन सैकड़ों और हजारों भय शोकके अवसर आया करते हैं, ज्ञानियोंके सामने नहीं

यह तृष्णा महापापिनी है, उद्वेग पैदा करनेवा अधर्मसे पूर्ण और भयङ्कर है तथा समस्त पापोंकी ज दुर्बुद्धिवाले मूर्ख इसका त्याग नहीं कर सकते। बूढ़े भी यह बूढ़ी नहीं होती। यह प्राणोंका अन्त कर दे बीमारी है, इसका त्याग कर देनेपर ही सुख मिल जैसे लोहेके भीतर प्रवेश करके सर्वनाशक अग्नि उसक कर देती है, वैसे ही प्राणियोंके हृदयमें प्रवेश करके य भी उनका नाश कर देती है और स्वयं नहीं मिटती।

तृष्णाका कहीं अन्त नहीं है, संतोषमें ही परम इसलिये बुद्धिमान् पुरुष संतोषको ही श्रेष्ठ मानते हैं जवानी, सुन्दरता, जीवन, रत्नोंके ढेर, ऐश्वर्य औ वस्तुओं तथा प्राणियोंका समागम—सभी अनित्य इसलिये विद्वानोंको उचित है कि वे इनके संग्रह-की त्याग कर दें।

यज्ञ, स्वाध्याय, दान, तप, सत्य, क्षमा, द लोभका अभाव—ये धर्मके आठ मार्ग माने गये हैं।

महर्षि पराशर

प्रातर्निशि तथा संध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन्।
नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयान्नरः॥

(विष्णु० २।६।४१)

प्रातःकाल, सायंकाल, रात्रिमें अथवा मध्याह्नमें किसी भी समय श्रीनारायणका स्मरण करनेसे पुरुषके समस्त पाप तत्काल क्षीण हो जाते हैं।

तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन् पुरुषो मुने।
न याति नरकं मर्त्यः संक्षीणाखिलपातकः॥

(विष्णु० २।६।४५)

इसलिये मुने! श्रीविष्णुभगवान्‌का अहर्निश स्मरण करनेसे सम्पूर्ण पाप क्षीण हो जानेके कारण मनुष्य फिर नरकमें नहीं जाता।

अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा।
तस्य पापागमस्तात हेत्वभावान्न विद्यते॥
कर्मणा मनसा वाचा परपीडां करोति यः।
तद्बीजजन्म फलति प्रभूतं तस्य चाशुभम्॥
सोऽहं न पापमिच्छामि न करोमि वदामि वा।
चिन्तयन् सर्वभूतस्थमात्मन्यपि च केशवम्॥
शारीरं मानसं दुःखं दैवं भूतभवं तथा।
सर्वत्र शुभचित्तस्य तस्य मे जायते कुतः॥
एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्॥

(विष्णु० १।१९।५–९)

जो मनुष्य अपने समान दूसरोंका बुरा नहीं सोचता, हे तात! कोई कारण न रहनेसे उसका भी कभी बुरा नहीं होता। जो मनुष्य मन, वचन या कर्मसे दूसरोंको कष्ट देता है, उसके उस परपीडारूप बीजसे ही उत्पन्न हुआ अत्यन्त अशुभ फल उसको मिलता है। अपने सहित समस्त प्राणियोंमें श्रीकेशवको वर्तमान समझकर मैं न तो किसीका बुरा चाहता हूँ और न कहता या करता हूँ। इस प्रकार सर्वत्र शुभचित्त होनेसे मुझको शारीरिक, मानसिक, दैविक अथवा भौतिक दुःख कैसे प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार भगवान्‌को सर्वभूतमय जानकर विद्वानोंको सभी प्राणियोंमें अनन्य भक्ति करनी चाहिये।

तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किंचित् सुखात्मकम्।
मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः॥

(विष्णु० २।६।४९)

अतः कोई भी पदार्थ दुःखमय नहीं है और न कोई सुखमय है। ये सुख-दुःख तो मनके ही विकार हैं।

मूढानामेव भवति क्रोधो ज्ञानवतां कुतः।
हन्यते तात कः केन यतः स्वकृतभुक् पुमान्॥
संचितस्यापि महता वत्स क्लेशेन मानवैः।
यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः॥
स्वर्गापवर्गव्यासेधकारणं परमर्षयः।
वर्जयन्ति सदा क्रोधं तात मा तद्वशो भव॥

(विष्णु० १।१।१७–१९)

क्रोध तो मूर्खोंको ही हुआ करता है, विचारवानोंको भला कैसे हो सकता है। भैया! भला, कौन किसीको मारता है। क्योंकि पुरुष स्वयं ही अपने कियेका फल भोगता है। प्रियवर! यह क्रोध तो मनुष्यके अत्यन्त कष्टसे संचित यश और तपका भी प्रबल नाशक है। हे तात! इस लोक और परलोक दोनों-को बिगाड़नेवाले इस क्रोधका महर्षिगण सर्वदा त्याग करते है, इसलिये तू इसके वशीभूत मत हो।

स्निग्धैश्च क्रियमाणानि कर्माणीह निवर्तयेत्।
हिंसात्मकानि सर्वाणि नायुरिच्छेत्परायुषा॥

(महा० शान्ति० २९७।९)

अपने स्नेहीजन भी यदि यहाँ हिंसात्मक कर्म कर रहे हों तो उन्हें रोके; कभी दूसरेकी आयुसे अपनी आयुकी इच्छा न करे (दूसरोंके प्राण लेकर अपने जीवनकी रक्षा न चाहे।)

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि॥

(महा० शान्ति० २९७।२८)

राजन्! जीवका एक ही शत्रु है, उसके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है—वह है अज्ञान। उस अज्ञानसे आवृत और प्रेरित होकर मनुष्य अत्यन्त निर्दयतापूर्ण तथा भयंकर कर्म कर बैठता है।

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः।
धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत् स खलु वञ्चयते॥

(महा० शान्ति० २९७।३४)

जो मनुष्य परम दुर्लभ मानव-जन्मको पाकर भी काम-परायण हो दूसरोंसे द्वेष करता और धर्मकी अवहेलना करता रहता है, वह महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है।

महर्षि वेदव्यास

कलियुगकी महिमा

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः ।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम् ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

(विष्णु० ६ । २ । १५—१७)

द्विजगण ! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन रातमें प्राप्त कर लेता है; इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है । जो फल सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ और द्वापरमें देवार्चन करनेसे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें श्रीकृष्णचन्द्रका नाम-कीर्तन करनेसे मिल जाता है ।

सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
पर्यायेणोपसर्पन्ते नरं नेमिमरा इव ॥

(महा० शा० २२६ । ३१)

मनुष्यके पास सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख क्रमशः आते रहते हैं—ठीक वैसे ही, जैसे रथचक्रकी नेमिके इधर-उधर अरे घूमते रहते हैं ।

जातस्य नियतो मृत्युः पतनं च तथोन्नतेः ।
विप्रयोगावसानस्तु संयोगः संचयः क्षयः ॥
विज्ञाय न बुधाः शोकं न हर्षमुपयान्ति ये ।
तेषामेवेतरे चेष्टां शिक्षन्तः सन्ति तादृशाः ॥

(ब्रह्मपुराण २१२ । ८९-९०)

जो जन्म ले चुका है, उसकी मृत्यु निश्चित है । जो ऊँचे चढ़ चुका है, उसका नीचे गिरना भी अवश्यम्भावी है । संयोगका अवसान वियोगमें ही होता है और संग्रह हो जानेके बाद उसका क्षय होना भी निश्चित बात है । यह समझकर विद्वान् पुरुष हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होते और दूसरे मनुष्य भी उन्हींके आचरणसे शिक्षा लेकर वैसे ही बनते हैं ।

पापके स्वीकारसे पाप-नाश

मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनः समनुतप्यते ।
मनःसमाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम् ॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते ।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते ॥
यदि विप्राः कथयते विप्राणां धर्मवादिनाम् ।
ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपराधात् प्रमुच्यते ॥
यथा यथा नरः सम्यगधर्ममनुभाषते ।
समाहितेन मनसा विमुच्यति तथा तथा ॥

(महा० २२८ । ४—७)

ब्राह्मणो ! जो मोहवश अधर्मका आचरण कर लेनेपर उसके लिये पुनः सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता और मन को एकाग्र रखता है, वह पापका सेवन नहीं करता । ज्यों ज्यों मनुष्यका मन पापकर्मकी निन्दा करता है, त्यों त्यों उसका शरीर उस अधर्मसे दूर होता जाता है । यदि धर्मवादी ब्राह्मणोंके सामने अपना पाप कह दिया जाय तो वह उस पापजनित अपराधसे शीघ्र मुक्त हो जाता है । मनुष्य जैसे-जैसे अपने अधर्मकी बात बारबार प्रकट करता है, वैसे-ही वैसे वह एकाग्रचित्त होकर अधर्मको छोड़ता जाता है ।

संन्यासीका आचार

प्राणयात्रानिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
काले प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थी पर्यटेद् गृहान् ॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे नैव च हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥
अतिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेच्चैव सर्वतः ।
अतिपूजितलाभैस्तु यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥
कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान् परित्यज्य परिव्राण् निर्ममो भवेत् ॥

(ब्रह्म० २२२ । ५०—५३)

जीवन-निर्वाहके लिये वह उच्च वर्णवाले मनुष्योंके घरपर भिक्षाके लिये जाय—वह भी ऐसे समयमें जब कि रसोईकी आग बुझ गयी हो और घरके सब लोग खा पी चुके हों । भिक्षा न मिलनेपर खेद और मिलनेपर हर्ष न माने । भिक्षा उतनी ही ले, जिससे प्राणयात्रा होती रहे । विषयासक्तिसे वह नितान्त दूर रहे । अधिक आदर-सत्कारकी

प्रासिको घृणाकी दृष्टिसे देखे; क्योंकि अधिक आदर-सत्कार मिलनेपर संन्यासी अन्य बन्धनोंसे मुक्त होनेपर भी बँध जाता है। काम, क्रोध, दर्प, लोभ और मोह आदि जितने दोष हैं, उन सबका त्याग करके संन्यासी ममतारहित हो सर्वत्र विचरता रहे।

कलियुगकी प्रधानतामें क्या होता है?

यदा यदा हि पाखण्डवृत्तिरत्रोपलक्ष्यते।
तदा तदा कलेर्वृद्धिरनुमेया विचक्षणैः॥
यदा यदा सतां हानिर्वेदमार्गानुसारिणाम्।
तदा तदा कलेर्वृद्धिरनुमेया विचक्षणैः॥
प्रारम्भाश्चावसीदन्ति यदा धर्मकृतां नृणाम्।
तदानुमेयं प्राधान्यं कलेर्विप्रा विचक्षणैः॥
(ब्रह्मपुराण २२९। ४४—४६)

ब्राह्मणो! जब-जब इस जगत्में पाखण्ड-वृत्ति दृष्टिगोचर होने लगे, तब-तब विद्वान् पुरुषोंको कलियुगकी वृद्धिका अनुमान करना चाहिये। जब-जब वैदिक मार्गका अनुसरण करनेवाले साधु पुरुषोंकी हानि हो, तब-तब बुद्धिमान् पुरुषोंको कलियुगकी वृद्धिका अनुमान करना चाहिये। जब धर्मात्मा मनुष्योंके आरम्भ किये हुए कार्य शिथिल हो जायँ, तब उसमें विद्वानोंको कलियुगकी प्रधानताका अनुमान करना चाहिये।

यम-नियम

सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ध्यानमानृशंस्यमहिंसनम्॥
दमः प्रसादो माधुर्यं मृदुतेति यमा दश।
शौचं स्नानं तपो दानं मौनेज्याध्ययनं व्रतम्॥
उपोषणोपस्थदण्डौ दशैते नियमाः स्मृताः॥
(स्क० पु० मा० ध० मा० ५। १९—२१)

सत्य, क्षमा, सरलता, ध्यान, क्रूरताका अभाव, हिंसाका सर्वथा त्याग, मन और इन्द्रियोंका संयम, सदा प्रसन्न रहना, मधुर बर्ताव करना और सबके प्रति कोमल भाव रखना—ये दस 'यम' कहे गये हैं। शौच, स्नान, तप, दान, मौन, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत, उपवास और उपस्थ-इन्द्रियका दमन—ये दस 'नियम' बताये गये हैं।

सत्य

... प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
च नानृतं ब्रूयादेष धर्मो विधीयते॥
(स्क० पु० मा० ध० मा० ६। ८८)

सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य कभी न बोले, प्रिय भी असत्य हो तो न बोले। यह धर्म वेद-शास्त्रोंद्वारा विहित है।

... ...।
सत्यपूतां वदेद् वाणीं मनःपूतं समाचरेत्॥
(पद्मपुराण, स्वर्ग० ५९। १९)

सत्यसे पवित्र हुई वाणी बोले तथा मनसे जो पवित्र जान पड़े, उसीका आचरण करे।

दानका फल

भूप्रदो मण्डलाधीशः सर्वत्र सुखितोऽन्नदः॥
तोयदाता सुरूपः स्यात् पुष्टश्चान्नप्रदो भवेत्।
प्रदीपदो निर्मलाक्षो गोदाता सूर्यलोकभाक्॥
स्वर्णदाता च दीर्घायुस्तिलदः स्याच्च सुप्रजः।
वेश्मदोऽत्युच्चसौधेशो वस्त्रदश्चन्द्रलोकभाक्॥
हयप्रदो दिव्यदेहो लक्ष्मीवान् वृषभप्रदः।
सुभार्यः शिबिकादाता सुपर्यङ्कप्रदोऽपि च॥
श्रद्धया प्रतिगृह्णाति श्रद्धया यः प्रयच्छति।
स्वर्गिणौ तावुभौ स्यातां पततोऽश्रद्धया त्वधः॥
(स्क० पु० मा० ध० मा० ६। ९५—९९)

भूमिदान करनेवाला मण्डलेश्वर होता है, अन्नदाता सर्वत्र सुखी होता है और जल देनेवाला सुन्दर रूप पाता है। भोजन देनेवाला हृष्ट-पुष्ट होता है। दीप देनेवाला निर्मल नेत्रसे युक्त होता है। गोदान देनेवाला सूर्यलोकका भागी होता है, सुवर्ण देनेवाला दीर्घायु और तिल देनेवाला उत्तम प्रजासे युक्त होता है। घर देनेवाला बहुत ऊँचे महलोंका मालिक होता है। वस्त्र देनेवाला चन्द्रलोकमें जाता है। घोड़ा देनेवाला दिव्य शरीरसे युक्त होता है। बैल देनेवाला लक्ष्मीवान् होता है। पालकी देनेवाला सुन्दर स्त्री पाता है। उत्तम पलंग देनेवालेको भी यही फल मिलता है। जो श्रद्धापूर्वक दान देता और श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता है, वे दोनों स्वर्गलोकके अधिकारी होते हैं तथा अश्रद्धासे दोनोंका अधःपतन होता है।

पाप और उसका फल

अनृतात् पारदार्याच्च तथाभक्ष्यस्य भक्षणात्।
अगोत्रधर्माचरणात् क्षिप्रं नश्यति वै कुलम्॥
(पद्म० स्वर्ग० ५५। १८)

दुर्लभ है। पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। पिताके प्रसन्न हो जानेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जिसकी सेवा और सद्गुणोंसे पिता-माता संतुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गङ्गास्नानका फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है; इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये। जो माता-पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसके द्वारा सातों द्वीपोंसे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके हाथ, घुटने और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं, वह अक्षय स्वर्गको प्राप्त होता है। जबतक माता-पिताके चरणोंकी रज पुत्रके मस्तक और शरीरमें लगती रहती है, तभीतक वह शुद्ध रहता है। जो पुत्र माता-पिताके चरण-कमलोंका जल पीता है, उसके करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। वह मनुष्य संसारमें धन्य है। जो नीच पुरुष माता-पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह महाप्रलयपर्यन्त नरकमें निवास करता है। जो रोगी, वृद्ध, जीविकासे रहित, अन्धे और बहरे पिताको त्यागकर चला जाता है, वह रौरव नरकमें पड़ता है।

गोचरभूमि

तथैव गोप्रचारं तु दत्त्वा स्वर्गान्न हीयते।
या गतिर्गोप्रदस्यैव ध्रुवं तस्य भविष्यति॥
गोप्रचारं यथाशक्ति यो वै त्यजति हेतुना।
दिने दिने ब्रह्मभोज्यं पुण्यं तस्य शताधिकम्॥

× × × ×

यश्छिनत्ति द्रुमं पुण्यं गोप्रचारं छिनत्त्यपि॥
तस्यैकविंशत् पुरुषाः पच्यन्ते रौरवेषु च।
गोचारघ्नं ग्रामगोपः शक्तो ज्ञात्वा तु दण्डयेत्॥

(पद्म० सृष्टि० ५६। ३७, ३९-४१)

जो गोचरभूमि छोड़ता है, वह कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिरता। गोदान करनेवालेकी जो गति होती है, वही उसकी भी होती है। जो मनुष्य यथाशक्ति गोचरभूमि छोड़ता है, उसे प्रतिदिन सौसे भी अधिक ब्राह्मणोंको भोजन करानेका पुण्य होता है। जो पवित्र वृक्ष और गोचरभूमिका उच्छेद करता है, उसकी इक्कीस पीढ़ियाँ रौरव नरकमें पकायी जाती हैं। गाँवके गोपालकको चाहिये कि गोचरभूमिको नष्ट करनेवाले मनुष्यका पता लगाकर उसे दण्ड दे।

गङ्गाजीकी महिमा

गतिं चिन्तयतां विप्रास्तूर्णं सामान्यजन्मनाम्।
स्त्रीपुंसामीक्षणाद्यस्माद्गङ्गा पापं व्यपोहति॥
गङ्गेति स्मरणादेव क्षयं याति च पातकम्।
कीर्तनादतिपापानि दर्शनाद्गुरुकल्मषम्॥
स्नानात् पानाच्च जाह्नव्यां पितॄणां तर्पणात्तथा।
महापातकवृन्दानि क्षयं यान्ति दिने दिने॥
अग्निना दह्यते तूलं तृणं शुष्कं क्षणाद् यथा।
तथा गङ्गाजलस्पर्शात् पुंसां पापं दहेत् क्षणात्॥

(पद्म० सृष्टि० ६०। ४-

अविलम्ब सद्गतिका उपाय सोचनेवाले सभी पुरुषोंके लिये गङ्गाजी ही एक ऐसा तीर्थ हैं, जिसके द मात्रसे सारा पाप नष्ट हो जाता है। गङ्गाजीके नामका स करनेमात्रसे पातक, कीर्तनसे अतिपातक और दर्शनसे म भारी पाप (महापातक) भी नष्ट हो जाते हैं। गङ्गा स्नान, जलपान और पितरोंका तर्पण करनेसे महापातक राशिका प्रतिदिन क्षय होता रहता है। जैसे अग्निका सं होनेसे रूई और सूखे तिनके क्षणभरमें भस्म हो जाते हैं, उ प्रकार गङ्गाजी अपने जलका स्पर्श होनेपर मनुष्योंके सारे एक ही क्षणमें दग्ध कर देती हैं।

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥
अन्धाश्च पङ्गवस्ते च वृथाभवसमुद्भवाः।
... ...॥

(पद्म० सृष्टि० ६०। ७८-७

जो सैकड़ों योजन दूरसे भी गङ्गा-गङ्गा कहता है, सब पापोंसे मुक्त हो श्रीविष्णुलोकको प्राप्त होता है। मनुष्य कभी गङ्गाजीमें स्नानके लिये नहीं गये हैं, वे अ और पंगुके समान हैं तथा उनका जन्म निरर्थक है।

कौन मनुष्य क्या है ?

... ...।
पूतिगन्धं तमोऽमेध्यं वर्जनीयं प्रकीर्तितम्॥
पूर्वदृष्टगे प्रीतः भय पापं करोति च।
स्नेहलोलो निशाचारी सुधैर्ज्ञेयः स वञ्चकः॥

अबुधः सर्वकार्येषु अज्ञानः सर्वकर्मसु ।
समयाचारहीनस्तु पशुरेव स कीर्तितः ॥
... ... ।
हिंस्रो ज्ञातिजनोद्वेगी रते युद्धे च कातरः ॥
विघसादिप्रियो नित्यं नरः श्वा कीर्तितो बुधैः ।
प्रकृत्या चपलो नित्यं सदा भोजनचञ्चलः ॥
प्लवगः काननप्रीतो नरः शाखामृगो भुवि ।
सूचको भाषया बुद्ध्या स्वजनेऽन्यजनेषु च ॥
उद्वेगजनकश्चापि स पुमानुरगः स्मृतः ।
बलवान् क्रान्तशीलश्च सततं चानपत्रपः ॥
पूतिमांसप्रियो भोगी नृसिंहः समुदाहृतः ।
तस्य नादेन सीदन्ति भीता अन्ये वृकादयः ॥
द्विरदादिनरा ये च ज्ञायन्तेऽदूरदर्शिनः ।
एवमादिक्रमेणैव विज्ञानीयात्परेषु च ॥

(पद्म० सृष्टि० ७४ । ९७–१०६)

जो मनुष्य अपवित्र एवं दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंके भक्षणमें आनन्द मानता है, बराबर पाप करता है और रातमें घूम-घूमकर चोरी करता रहता है, उसे विद्वान् पुरुषोंको वञ्चक समझना चाहिये । जो सम्पूर्ण कर्तव्य कार्योंसे अनभिज्ञ तथा सब प्रकारके कर्मोंसे अपरिचित है, जिसे समयोचित सदाचारका ज्ञान नहीं है, वह मूर्ख वास्तवमें पशु ही है । जो हिंसक सजातीय मनुष्योंको उद्वेजित करनेवाला, कलह-प्रिय, कायर और उच्छिष्ट भोजनका प्रेमी है, वह मनुष्य कुत्ता कहा गया है । जो स्वभावसे ही चञ्चल, भोजनके लिये सदा लालायित रहनेवाला, कूद-कूदकर चलनेवाला और जंगलमें रहनेका प्रेमी है, उस मनुष्यको इस पृथ्वीपर बंदर समझना चाहिये । जो वाणी और बुद्धिद्वारा अपने कुटुम्बियों तथा दूसरे लोगोंकी भी चुगली खाता और सबके लिये उद्वेगजनक होता है, वह पुरुष सर्पके समान माना गया है । जो बलवान्, आक्रमण करनेवाला, नितान्त निर्लज्ज, दुर्गन्धयुक्त मांसका प्रेमी और भोगासक्त होता है, वह मनुष्योंमें सिंह कहा गया है । उसकी आवाज सुनते ही दूसरे भेड़िये आदिकी श्रेणीमें गिने जानेवाले लोग भयभीत और दुखी हो जाते हैं । जिनकी दृष्टि दूरतक नहीं जाती, ऐसे लोग हाथी माने जाते हैं । इसी क्रमसे मनुष्योंमें अन्य पशुओंका विवेक कर लेना चाहिये ।

मनुष्यरूपमें देवता

सुराणां लक्षणं भूमौ नररूपव्यवस्थितम् ।
द्विजदेवातिथीनां च गुरुसाधुतपस्विनाम् ॥
पूजातपोरतो नित्यं धर्मशास्त्रेषु नीतिषु ।
क्षमाशीलो जितक्रोधः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥
अलुब्धः प्रियवाक् शान्तो धर्मशास्त्रार्थसत्प्रियः ।
दयालुर्दयितो लोके रूपवान् मधुरस्वरः ॥
वागीशः सर्वकार्येषु गुणी दक्षो महाबलः ।
साक्षरश्चापि विद्वांश्च गीतनृत्यार्थतत्त्ववित् ॥
आत्मविद्यादिकार्येषु सर्वतन्त्रीस्वरेषु च ।
हविष्येषु च सर्वेषु गव्येषु च निरामिषे ॥
सम्प्रीतश्चातिथौ दाने पर्वणादिषु कर्मसु ।
स्नानदानादिभिः कार्यैर्व्रतैर्यज्ञैः सुरार्चनैः ॥
कालो गच्छति पाठैश्च न क्लीबं वासरं भवेत् ।
अयमेव मनुष्याणां सदाचारो निरन्तरम् ॥

(पद्म० सृष्टि० ७४ । १०७–१११, ११३-११४)

अब हम नररूपमें स्थित देवताओंका लक्षण बतलाते हैं । जो द्विज, देवता, अतिथि, गुरु, साधु और तपस्वियोंके पूजनमें संलग्न रहनेवाला, नित्य तपस्यापरायण, धर्म एवं नीतिमें स्थित, क्षमाशील, क्रोधजयी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, लोभहीन, प्रिय बोलनेवाला, शान्त, धर्मशास्त्रप्रेमी, दयालु, लोकप्रिय, मिष्टभाषी, वाणीपर अधिकार रखनेवाला, सब कार्योंमें दक्ष, गुणवान्, महाबली, साक्षर, विद्वान्, आत्म-विद्या आदिके लिये उपयोगी कार्योंमें संलग्न, घी और गायके दूध-दही आदिमें तथा निरामिष भोजनमें रुचि रखनेवाला, अतिथिको दान देने और पार्वण आदि कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेवाला है, जिसका समय स्नान-दान आदि शुभ कर्म, व्रत, यज्ञ, देवपूजन तथा स्वाध्याय आदिमें ही व्यतीत होता है, कोई भी दिन व्यर्थ नहीं जाने पाता, वही मनुष्य देवता है ।

सबका उद्धारक

यो दान्तो त्रिगुणैर्मुक्तो नीतिशास्त्रार्थतत्त्वगः ।
एतैश्च विविधैः प्रीतः स भवेत्सुरलक्षणः ॥

पुराणागमकर्माणि नाकेष्वन्न च यैः द्विजः ।
स्वयमाचरते पुण्यं स धरोद्धरणक्षमः ॥
यः शैवो वैष्णवश्चाण्डः सौरो गाणप एव च ।
तारयित्वा पितॄन् सर्वान् स धरोद्धरणक्षमः ॥
विशेषे वैष्णवं दृष्ट्वा प्रीयते पूजयेच्च तम् ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स धरोद्धरणक्षमः ॥
षट्कर्मनिरतो विप्रः सर्वयज्ञरतः सदा ।
धर्माख्यानप्रियो नित्यं स धरोद्धरणक्षमः ॥

(पद्म० सृष्टि० ७४-१३४-१३८)

जो मनुष्य जितेन्द्रिय, दुर्गुणोंसे मुक्त तथा नीतिशास्त्रके तत्त्वको जाननेवाला है और ऐसे ही नाना प्रकारके उत्तम गुणोंसे संतुष्ट दिखायी देता है, वह देवस्वरूप है । स्वर्गका निवासी हो या मनुष्यलोकका—जो पुराण और तन्त्रमें बताये हुए पुण्यकर्मोका स्वयं आचरण करता है, वही इस पृथ्वीका उद्धार करनेमें समर्थ है । जो शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य और गणेशका उपासक है, वह समस्त पितरोंको तारकर इस पृथ्वीका उद्धार करनेमें समर्थ है । विशेषतः जो वैष्णवको देखकर प्रसन्न होता और उसकी पूजा करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो इस भूतलका उद्धार कर सकता है । जो ब्राह्मण यजन-याजन आदि छः कर्मोंमें संलग्न, सब प्रकारके यज्ञोंमें प्रवृत्त रहनेवाला और सदा धार्मिक उपाख्यान सुनानेका प्रेमी है, वह भी इस पृथ्वीका उद्धार करनेमें समर्थ है ।

सबका नाशक

विश्वासघातिनो ये च कृतघ्ना व्रतलोपिनः ।
द्विजदेवेषु विद्विष्टाः शातयन्ते धरां नराः ॥
पितरौ ये न पुष्णन्ति स्त्रियो गुरुजनान्शिशून् ।
देवद्विजनृपाणां च वसु ये च हरन्ति वै ॥
अपुनर्भवशास्त्रे च शातयन्ति धरां नराः ।
ये च मद्यरताः पापा द्यूतकर्मरतास्तथा ॥
पाषण्डपतितालापाः शातयन्ति धरां नराः ।
महापातकिनो ये च अतिपातकिनस्तथा ॥
घातका बहुजन्तूनां शातयन्ति धरां नराः ।
सुकर्मरहिता ये च नित्योद्वेगाश्च निर्भयाः ॥
स्मृतिशास्त्रार्थकोद्विग्नाः शातयन्ति धरां नराः ।
निजवृत्तिं परित्यज्य कुर्वन्ति चाधमां च ये ॥
गुरुनिन्दारता द्वेषाच्छातयन्ति धरां नराः ।
दातारं ये रोधयन्ति पातके प्रेरयन्ति च ॥
दीनानाथान् पीडयन्ति शातयन्ति धरां नराः ।
एते चान्ये च बहवः पापकर्मकृतो नराः ॥
पुरुषान् पातयित्वा तु शातयन्ति धरां नराः ।
... ...

(पद्म० सृष्टि० ७४ । १३९-१४७)

जो लोग विश्वासघाती, कृतघ्न, व्रतका उल्लङ्घन करनेवाले तथा ब्राह्मण और देवताओंके द्वेषी हैं, वे मनुष्य इस पृथ्वीका नाश कर डालते हैं । जो माता-पिता, स्त्री, गुरुजन और बालकोंका पोषण नहीं करते, देवता, ब्राह्मण और राजाओंका धन हर लेते हैं तथा जो मोक्षशास्त्रमें श्रद्धा नहीं रखते, वे मनुष्य भी इस पृथ्वीका नाश करते हैं । जो पापी मदिरा पीने और जुआ खेलनेमें आसक्त रहते और पाखण्डियों तथा पतितोंसे वार्तालाप करते हैं, जो महापातकी और अतिपातकी हैं, जिनके द्वारा बहुत-से जीव-जन्तु मारे जाते हैं, वे लोग इस भूतलका विनाश करनेवाले हैं । जो सत्कर्मसे रहित, सदा दूसरोंको उद्विग्न करनेवाले और निर्भय हैं, स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रोंमें बताये हुए शुभकर्मोंका नाम सुनकर जिनके हृदयमें उद्वेग होता है, जो अपनी उत्तम जीविका छोड़कर नीच वृत्तिका आश्रय लेते हैं तथा द्वेषवश गुरुजनोंकी निन्दामें प्रवृत्त होते हैं, वे मनुष्य इस भूलोकका नाश कर डालते हैं । जो दाताको दानसे रोकते और पापकर्मकी ओर प्रेरित करते हैं तथा जो दीनों और अनाथोंको पीड़ा पहुँचाते हैं, वे लोग इस भूतलका सत्यानाश करते हैं । ये तथा और भी बहुत-से पापी मनुष्य हैं, जो दूसरे लोगोंको पापोंमें ढकेलकर इस पृथ्वीका सर्वनाश करते हैं ।

मुनि शुकदेव

श्रीभगवान्‌के नाम-रूप-लीला-धामादिका माहात्म्य

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥
तस्माद् भारत सर्वात्मा
भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च
स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ४-५)

संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं; परंतु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल-सा हो जाता है कि रात-दिन उनको मृत्युका ग्रास होते देखकर भी चेतता नहीं। इसलिये परीक्षित्! जो अभय पदको प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये।

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥
(श्रीमद्भा० २ । २ । ३३)

संसार-चक्रमें पड़े हुए मनुष्यके लिये, जिस साधनके द्वारा उसे भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाय, उसके अतिरिक्त और कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है।

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥
(श्रीमद्भा० २ । २ । ३७)

राजन्! सत पुरुष आत्मस्वरूप भगवान्‌की कथाका मधुर अमृत बाँटते ही रहते हैं; जो अपने कानके दोनोंमें भर-भर उसका पान करते हैं, उनके हृदयसे विषयोंका विषैला प्रभाव जाता रहता है, वह शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी संनिधि प्राप्त कर लेते हैं।

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि ।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा ॥
(श्रीमद्भा० १० । १ । १६)

भगवान् श्रीकृष्णकी कथाके सम्बन्धमें प्रश्न करनेसे ही वक्ता, प्रश्नकर्ता और श्रोता तीनों ही पवित्र हो जाते हैं—जैसे गङ्गाजीका जल या भगवान् शालग्रामका चरणामृत सभीको पवित्र कर देता है।

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः
सङ्गीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । १५)

भगवान् श्रीकृष्णका गुणानुवाद समस्त अमङ्गलोंका नाश करनेवाला है, बड़े-बड़े महात्मा उसीका गान करते रहते हैं। जो भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रेममयी भक्तिकी लालसा रखता हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के दिव्य गुणानुवादका ही श्रवण करते रहना चाहिये।

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ४४)

मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी स्थितिमें अथवा गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्‌के किसी एक नामका उच्चारण कर ले, तो उसके सारे कर्मबन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसे उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है; परंतु हाय रे कलियुग! कलियुगसे प्रभावित होकर लोग उन भगवान्‌की आराधनासे भी विमुख हो जाते हैं।

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् ।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ४५)

कलियुगके अनेकों दोष हैं। कुल वस्तुएँ दूषित हो जाती हैं, स्थानोंमें भी दोषकी प्रधानता हो जाती है। सब दोषोंका मूल स्रोत तो अन्तःकरण है ही; परंतु जब पुरुषोत्तम भगवान्

हृदयमें आ विराजते हैं, तब उनकी संनिधिमात्रसे ही सब-के-सब दोष नष्ट हो जाते हैं।

श्रुतः संकीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥
(श्रीमद्भा० १२।३।४६)

भगवान्‌के रूप, गुण, लीला, धाम और नामके श्रवण, संकीर्तन, ध्यान, पूजन और आदरसे वे मनुष्यके हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं और एक-दो जन्मके पापोंकी तो बात ही क्या, हजारों जन्मोंके पापके ढेर-के-ढेर भी क्षण-भरमें भस्म कर देते हैं।

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम्।
एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम्॥
(श्रीमद्भा० १२।३।४७)

जैसे सोनेके साथ संयुक्त होकर अग्नि उसके धातुसम्बन्धी मलिनता आदि दोषोंको नष्ट कर देती है, वैसे ही साधकोंके हृदयमें स्थित होकर भगवान् विष्णु उनके अशुभ संस्कारोंको सदाके लिये मिटा देते हैं।

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥
(श्रीमद्भा० १२।३।४८)

परीक्षित्! विद्या, तपस्या, प्राणायाम, समस्त प्राणियोंके प्रति मित्र-भाव, तीर्थ-स्नान, व्रत, दान और जप आदि किसी भी साधनसे मनुष्यके अन्तःकरणकी वैसी वास्तविक शुद्धि नहीं होती, जैसी शुद्धि भगवान् पुरुषोत्तमके हृदयमें विराजमान हो जानेपर होती है।

म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भा० १२।३।५०—५२)

जो लोग मृत्युके निकट पहुँच रहे हैं, उन्हें सब प्रकारसे परम ऐश्वर्यशाली भगवान्‌का ही ध्यान करना चाहिये। प्यारे परीक्षित्! सबके परम आश्रय और सर्वात्मा भगवान् अपना ध्यान करनेवालेको अपने स्वरूपमें लीन कर लेते हैं, उसे अपना स्वरूप बना लेते हैं। परीक्षित्! यों तो कलियुग दोषोंका खजाना है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥
(श्रीमद्भा० १२।४।४०)

जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं, अथवा जो लोग अनेकों प्रकारके दुःख-दावानलसे दग्ध हो रहे हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान्‌की लीला-कथारूप रसके सेवनके अतिरिक्त और कोई साधन, कोई नौका नहीं है। ये केवल लीला-रसायनका सेवन करके ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं।

आत्मा

स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते।
ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः॥
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति।
न तत्रात्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः॥
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः॥
(श्रीमद्भा० १२।५।७-८)

जबतक तेल, तेल रखनेका पात्र, बत्ती और आगका संयोग रहता है, तभीतक दीपकमें दीपकपना है, वैसे ही जबतक आत्माका कर्म, मन, शरीर और इनमें रहनेवाले चैतन्याध्यासके साथ सम्बन्ध रहता है, तभीतक उसे जन्म-मृत्युके चक्र संसारमें भटकना पड़ता है और रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणकी वृत्तियोंसे उसे उत्पन्न, स्थित एवं विनष्ट होना पड़ता है। परंतु जैसे दीपकके बुझ जानेसे तत्त्वरूप तेजका विनाश नहीं होता, वैसे ही संसारका नाश

होनेपर भी स्वयं प्रकाश आत्माका नाश नहीं होता। क्योंकि यह कार्य और कारण, व्यक्त और अव्यक्त—सबसे परे है, यह आकाशके समान सबका आधार है, नित्य और निश्चल है, यह अनन्त है। सचमुच आत्माकी उपमा आत्मा ही है।

वैराग्य

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥
चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥
एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र॥

(श्रीमद्भा० २। २। ४–६)

जब जमीनपर सोनेसे काम चल सकता है, तब पलंगके लिये प्रयत्नशील होनेसे क्या प्रयोजन। जब भुजाएँ अपनेको भगवान्‌की कृपासे स्वयं ही मिली हुई हैं, तब तकियेकी क्या आवश्यकता। जब अञ्जलिसे काम चल सकता है, तब बहुत-से बर्तन क्यों बटोरे। वृक्षकी छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता। पहननेको क्या रास्तोंमें चिथड़े नहीं हैं? भूख लगनेपर दूसरोंके लिये ही शरीर धारण करनेवाले वृक्ष क्या फल-फूलकी भिक्षा नहीं देते? जल चाहनेवालोंके लिये नदियाँ क्या बिल्कुल सूख गयी हैं? रहनेके लिये क्या पहाड़ोंकी गुफाएँ बंद कर दी गयी हैं? अरे भाई! सब न सही, क्या भगवान् भी अपने शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते? ऐसी स्थितिमें बुद्धिमान् लोग भी धनके नशेमें चूर घमंडी धनियोंकी चापलूसी क्यों करते हैं? इस प्रकार विरक्त हो जानेपर अपने हृदयमें नित्य विराजमान, स्वतःसिद्ध, आत्मस्वरूप, परम प्रियतम, परम सत्य जो अनन्त भगवान् हैं, बड़े प्रेम और आनन्दसे दृढ़ निश्चय करके उन्हींका भजन करे; क्योंकि उनके भजनसे जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले अज्ञानका नाश हो जाता है।

महर्षि जैमिनि

श्रद्धाकी महत्ता

श्रद्धा धर्मसुता देवी
पावनी विश्वभाविनी॥
सावित्री प्रसवित्री च
संसारार्णवतारिणी।
श्रद्धया ध्यायते धर्मो
विद्वद्भिश्चात्मवादिभिः॥
निष्किंचनास्तु मुनयः श्रद्धावन्तो दिवं गताः।

(पद्म० भूमि० ९४। ४४–४६)

श्रद्धा देवी धर्मकी पुत्री हैं, वे विश्वको पवित्र एवं अभ्युदयशील बनानेवाली हैं। इतना ही नहीं, वे सावित्रीके समान पावन, जगत्‌को उत्पन्न करनेवाली तथा संसारसागरसे उद्धार करनेवाली हैं। आत्मवादी विद्वान् श्रद्धासे ही धर्मका चिन्तन करते हैं। जिनके पास किसी भी वस्तुका संग्रह नहीं है, ऐसे अकिंचन मुनि श्रद्धालु होनेके कारण ही दिव्यलोकको प्राप्त हुए।

नरक कौन जाते हैं?

ब्राह्मण्यं पुण्यमुत्सृज्य ये द्विजा लोभमोहिताः।
कुकर्मण्युपजीवन्ति ते वै निरयगामिनः॥
ब्राह्मणेभ्यः प्रतिश्रुत्य न प्रयच्छन्ति ये धनम्।
ब्रह्मस्वानां च हर्तारो नरा निरयगामिनः॥
ये परस्वापहर्तारः परदूषणसोत्सुकाः।
परश्रिया प्रतप्यन्ते ते वै निरयगामिनः॥
प्राणिनां प्राणहिंसायां ये नरा निरताः सदा।
परनिन्दारता ये च ते वै निरयगामिनः॥
कूपारामतडागानां प्रपानां च विदूषकाः।
सरसां चैव भेत्तारो नरा निरयगामिनः॥
विपर्ययं प्रजेद्यस्त्वाम्बिदारान्भृत्यातिथींस्तथा।
उत्सन्नपितृदेवेज्यास्ते वै निरयगामिनः॥
प्रव्रज्यादूषका राजन् ये चैवाश्रमदूषकाः।
सखीनां दूषकाश्चैव ते वै निरयगामिनः॥

(पद्म० भूमि० ९६। २, ४, ६–१०)

जो द्विज लोभसे मोहित हो पावन ब्राह्मणत्वका परित्याग करके कुकर्मसे जीविका चलाते हैं, वे नरकगामी होते हैं। जो नास्तिक हैं, जिन्होंने धर्मकी मर्यादा भङ्ग की है, जो काम-भोगके लिये उत्कण्ठित, दाम्भिक और कृतघ्न हैं, जो ब्राह्मणोंको धन देनेकी प्रतिज्ञा करके भी नहीं देते, चुगली खाते, अभिमान रखते और झूठ बोलते हैं; जिनकी बातें परस्पर विरुद्ध होती हैं; जो दूसरोंका धन हड़प लेते, दूसरोंपर कलङ्क लगानेके लिये उत्सुक रहते और परायी सम्पत्ति देखकर जलते हैं, वे नरकमें जाते हैं। जो मनुष्य सदा प्राणियोंके प्राण लेनेमें लगे रहते, परायी निन्दामें प्रवृत्त होते, कुएँ, बगीचे, पोखरे और पौंसलेको दूषित करते; सरोवरोंको नष्ट-भ्रष्ट करते तथा शिशुओं, भृत्यों और अतिथियोंको भोजन दिये बिना ही स्वयं भोजन कर लेते हैं; जिन्होंने पितृयाग (श्राद्ध) और देवयाग (यज्ञ) का त्याग कर दिया है, जो संन्यास तथा अपने रहनेके आश्रमको कलङ्कित करते हैं और मित्रोंपर लाञ्छन लगाते हैं, वे सब-के-सब नरकगामी होते हैं।

स्वर्ग कौन जाते हैं ?

हन्त ते कथयिष्यामि नरान् वै स्वर्गगामिनः।
भोगिनः सर्वलोकस्य ये प्रोक्तास्तान्निबोध मे॥
सत्येन तपसा ज्ञानध्यानेनाध्ययनेन वा।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥
ये च होमपरा ध्यानदेवतार्चनतत्पराः।
आद्दाना महात्मानस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
शुचयः शुचिदेशे वा वासुदेवपरायणाः।
भक्त्या च विष्णुमापन्नास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषां ये कुर्वन्ति सदाऽऽदृताः।
वर्जयन्ति दिवा स्वप्नं ते नराः स्वर्गगामिनः॥
सर्वहिंसानिवृत्ताश्च साधुसङ्गाश्च ये नराः।
सर्वस्यापि हिते युक्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
शुश्रूषाभिः समायुक्ता गुरूणां मानदा नराः।
प्रतिग्रहनिवृत्ताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः॥
भयात्कामात्तथाऽऽक्रोशाद्दरिद्रान्पूर्वकर्मणः।
न कुत्सन्ति च ये नूनं ते नराः स्वर्गगामिनः॥
सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः।
दातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः॥
आत्मस्वरूपभाजश्च यौवनस्थाः क्षमारताः।
ये वै जितेन्द्रिया वीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
सुवर्णस्य प्रदातारो गवां भूमेश्च भारत।
अन्नानां वाससां चैव पुरुषाः स्वर्गगामिनः॥
निवेशनानां वन्यानां नराणां च परंतप।
स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः॥
द्विषतामपि ये दोषान्न वदन्ति कदाचन।
कीर्तयन्ति गुणांश्चैव ते नराः स्वर्गगामिनः॥
दृष्ट्वा विज्ञान्प्रहृष्यन्ति प्रियं दत्त्वा वदन्ति च।
त्यक्तदानफलेच्छाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः॥
ये परेषां श्रियं दृष्ट्वा न तप्यन्ति विमत्सराः।
प्रहृष्टाश्चाभिनन्दन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मुनिशास्त्रोक्तमेव च।
आचरन्ति महात्मानस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
ये नराणां वचो वक्तुं न जानन्ति च विप्रियम्।
प्रियवाक्येन विज्ञातास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
वापीकूपतडागानां प्रपानां चैव वेश्मनाम्।
आरामाणां च कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
असत्येष्वपि सत्या ये ऋजवोऽनार्जवेष्वपि।
प्रवक्तारश्च दातारस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
(पद्म० भूमि० ९६। २०-३८)

अब मैं स्वर्ग जानेवाले पुरुषोंका वर्णन करूँगा। जो मनुष्य सत्य, तपस्या, ज्ञान, ध्यान तथा स्वाध्यायके द्वारा [illegible]का अनुसरण करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं। जो [illegible]दिन हवन करते तथा भगवान्‌के ध्यान और देवताओंके पूजनमें संलग्न रहते हैं, वे महात्मा स्वर्गलोकके अतिथि होते हैं। जो बाहर-भीतरसे पवित्र रहते, पवित्र स्थानमें निवास करते, भगवान् वासुदेवके भजनमें लगे रहते तथा भक्तिपूर्वक श्रीविष्णुकी शरणमें जाते हैं; जो सदा आदरपूर्वक माता-पिताकी सेवा करते और दिनमें नहीं सोते; जो सब प्रकारकी हिंसासे दूर रहते, साधुओंका सङ्ग करते और सबके हितमें संलग्न रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं। जो गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न, बड़ोंको आदर देनेवाले, दान न लेनेवाले, भयसे, कामसे तथा क्रोधसे दरिद्रोंके पिछले कर्मोंकी निन्दा न करनेवाले, सहस्रों मनुष्योंको भोजन परोसनेवाले, सहस्रों मुद्राओंका दान करनेवाले तथा सहस्रों मनुष्योंको दान देनेवाले हैं, वे पुरुष स्वर्गलोकको जाते हैं। जो युवावस्थामें भी क्षमाशील और जितेन्द्रिय हैं; जिनमें वीरता भरी है; जो सुवर्ण, गौ, भूमि, अन्न और वस्त्रका दान करते हैं, जो स्वयं जंगली जानवरों तथा मनुष्योंके लिये घर बनाकर दान कर देते हैं; जो अपनेसे द्वेष

रखनेवालोंके भी दोष कभी नहीं कहते, बल्कि उनके गुणोंका ही वर्णन करते हैं; जो विज्ञ पुरुषोंको देखकर प्रसन्न होते, दान देकर प्रिय वचन बोलते तथा दानके फलकी इच्छाका परित्याग कर देते हैं तथा जो दूसरोंकी सम्पत्तिको देखकर ईर्ष्यासे जलते तो हैं ही नहीं, उल्टे हर्षित होकर उनका अभिनन्दन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं । जो पुरुष प्रवृत्तिमार्गमें तथा निवृत्तिमार्गमें भी मुनियों और शास्त्रोंके कथनानुसार ही आचरण करते हैं, वे स्वर्गलोकके अतिथि होते हैं । जो मनुष्योंसे कटुवचन बोलना नहीं जानते, जो प्रिय वचन बोलनेके लिये प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने बावली, कुआँ, सरोवर, पौंसला, धर्मशाला और बगीचे बनवाये हैं; जो मिथ्यावादियोंके लिये भी सत्यपूर्ण बर्ताव करनेवाले और कुटिल मनुष्योंके लिये भी सरल हैं, वे दयालु तथा सदाचारी मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं ।

नरक और मुक्ति किसको मिलती है ?

ततः परेषां प्रतिकूलमाचरन्
प्रयाति घोरं नरकं सुदुःखदम् ।
सदानुकूलस्य नरस्य जीविनः
सुखावहा मुक्तिरदूरसंस्थिता ॥
(पद्म० भूमि० ९६ । ५२)

जो दूसरोंके प्रतिकूल आचरण करता है, उसे अत्यन्त दुःखदायी घोर नरकमें गिरना पड़ता है तथा जो सदा दूसरोंके अनुकूल चलता है, उस मनुष्यके लिये सुखदायिनी मुक्ति दूर नहीं है ।

मुनि सनत्सुजात

बारह दोष, तेरह नृशंसताएँ

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा-
कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥
एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥
विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी
बिभ्रत्कोपं चपलोऽरक्षणश्च ।
एतान्पापाः षण्नराः पापधर्मान्
प्रकुर्वते नो त्रसन्तः सुदुर्गे ॥
सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्त्वानुतापी कृपणो बलीयान् ।
वर्गप्रशंसी वनितासु द्वेष्टा
एते परे सप्त नृशंसवर्गाः ॥
(उद्योगपर्व, अध्याय ४३ । १६—१९)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, असंतोष, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोष सदा ही त्याग देने योग्य हैं । नरश्रेष्ठ ! जैसे व्याधा मृगोंको मारनेका अवसर देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोष मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण करता है । अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले, लोलुप, अहंकारी, निरन्तर क्रोधी, चंचल और आश्रितोंकी रक्षा नहीं करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य पापी हैं । महान् संकटमें पड़नेपर भी ये निडर होकर इन पाप-कर्मोंका आचरण करते हैं । सम्भोगमें ही मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करनेवाले, अत्यन्त कृपण और कामकी प्रशंसा करनेवाले तथा स्त्रियोंके द्वेषी—ये सात और पहलेके छः—कुल तेरह प्रकारके मनुष्य नृशंस-वर्ग (क्रूर-समुदाय) कहे गये हैं ।

महात्मा भद्र

शास्त्रोंका स्थिर सिद्धान्त

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥
(स्कन्द० पु० प्र० खं० ३१७ । १४)

सब शास्त्रोंको देखकर और बार-बार विचार करके एकमात्र यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि सदा भगवान् नारायणका ध्यान करना चाहिये ।

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥
(स्कन्द० पु० प्र० खं० ३१७ । १८)

जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका एक बार भी उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षधामतक पहुँचनेके लिये मानो कमर कस ली है ।

महर्षि मुद्गल

पतनान्ते महादुःखं
परितापः सुदारुणः ।
स्वर्गभाजश्चरन्तीह
तस्मात् स्वर्गं न कामये ॥
यत्र गत्वा न शोचन्ति
न व्यथन्ति चरन्ति वा ।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम् ॥
(महा० वन० २६१ । ४३-४४)

(स्वर्गसे) पतनके बाद स्वर्गवासियोंको महान् दुःख और बड़ा भारी दारुण पश्चात्ताप होता है, इसलिये मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये । अब मैं तो उसी स्थानको ढूढ़ूँगा, जहाँ जानेपर शोक और व्यथासे पिण्ड छूट जाता है ।

महर्षि मैत्रेय

भगवद्गुण-महिमा

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां
सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां
कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ६ । ३७)

महापुरुषोंका मत है कि पुण्यश्लोकशिरोमणि श्रीहरिके गुणोंका गान करना ही मनुष्योंकी वाणीका तथा विद्वानोंके मुखसे भगवत्कथामृतका पान करना ही उनके कानोंका सबसे बड़ा लाभ है ।

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥
यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्टात्मनि परे हरौ ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥
अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते
गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्द-
परागसेवारतिरात्मलब्धा ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ७ । १२-१४)

निष्कामभावसे धर्मोंका आचरण करनेपर भगवत्कृपासे प्राप्त हुए भक्तियोगके द्वारा यह (देहाभिमानी जीवमें ही देहके मिथ्याधर्मोंकी) प्रतीति धीरे-धीरे निवृत्त हो जाती है । जिस समय समस्त इन्द्रियाँ विषयोंसे हटकर साक्षी परमात्मा श्रीहरिमें निश्चलभावसे स्थित हो जाती हैं, उस समय गाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यके समान जीवके राग-द्वेषादि सारे क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं । श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन और श्रवण अशेष दुःखराशिको शान्त कर देता है; फिर यदि हमारे हृदयमें उनके चरण-कमलकी रजके सेवनका प्रेम जाग जाय, तब तो कहना ही क्या है ।

भक्त सुकर्मा

माता-पिताकी सेवा

स्फुटमेकं प्रजानामि पितृमातृप्रपूजनम् ॥
उभयोस्तु स्वहस्तेन मातापित्रोश्च पिप्पल ।
पादप्रक्षालनं पुण्यं स्वयमेव करोम्यहम् ॥
अङ्गसंवाहनं स्नानं भोजनादिकमेव च ।
त्रिकालोपासनं भीतः साधयामि दिने दिने ॥
गुरू मे जीवमानौ तौ यावत् कालं हि पिप्पल ।
तावत् कालं तु मे लाभो ह्यतुलश्च प्रजायते ।
त्रिकालं पूजयाम्येतौ भावशुद्धेन चेतसा ॥
किं मे चान्येन तपसा किं मे कायस्य शोषणैः ।
किं मे सुतीर्थयात्राभिरन्यैः पुण्यैश्च साम्प्रतम् ॥
मखानामेव सर्वेषां यत्फलं प्राप्यते बुधैः ।
पितुः शुश्रूषणे तद्वन्महत्पुण्यं प्रजायते ॥
तत्र गङ्गा गया तीर्थं तत्र पुष्करमेव च ।
यत्र माता पिता तिष्ठेत्पुत्रस्यापि न संशयः ॥
अन्यानि तत्र तीर्थानि पुण्यानि विविधानि च ।
भजन्ते तानि पुत्रस्य पितुः शुश्रूषणादपि ॥
जीवमानौ गुरू एतौ स्वमातापितरौ तथा ।
शुश्रूषते सुतो भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
देवास्तस्यापि तुष्यन्ति ऋषयः पुण्यवत्सलाः ।
त्रयो लोकाश्च तुष्यन्ति पितुः शुश्रूषणादिह ॥
मातापित्रोस्तु यः पादौ नित्यं प्रक्षालयेत् सुतः ।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि जायते ॥
(पद्म० भूमि० ६२ । ५८-७४)

मैं तो स्पष्टरूपसे एक ही बात जानता हूँ—वह है पिता और माताकी सेवा-पूजा । पिप्पल ! मैं स्वयं ही अपने हाथसे माता-पिताके चरण धोनेका पुण्यकार्य करता हूँ । उनके शरीरको दबाता तथा उन्हें स्नान और भोजन आदि कराता हूँ । प्रतिदिन तीनों समय माता-पिताकी सेवामें ही लगा रहता हूँ । जबतक मेरे माँ-बाप जीवित हैं, तबतक मुझे यह अतुलनीय लाभ मिल रहा है कि तीनों समय मैं शुद्ध भावसे मन लगाकर इन दोनोंकी पूजा करता हूँ । पिप्पल ! मुझे दूसरी तपस्यासे तथा शरीरको सुखानेसे क्या लेना है । तीर्थयात्रा तथा अन्य पुण्यकर्मोंसे क्या प्रयोजन । विद्वान् पुरुष सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठान करके जिस फलको प्राप्त करते हैं, वैसा ही महान् फल पिताकी सेवासे मिलता है । जहाँ माता-पिता रहते हों, वहीं पुत्रके लिये गङ्गा, गया और पुष्कर तीर्थ हैं । इसमें तनिक भी संदेह नहीं है । माता-पिताकी सेवासे पुत्रके पास अन्यान्य पवित्र तीर्थ भी स्वयं ही पहुँच जाते हैं । जो पुत्र माता-पिताके जीते-जी उनकी सेवा भक्तिपूर्वक करता है, उसके ऊपर देवता तथा पुण्यात्मा महर्षि प्रसन्न होते हैं । पिताकी सेवासे तीनों लोक संतुष्ट हो जाते हैं । जो पुत्र प्रतिदिन माता-पिताके चरण पखारता है, उसे नित्यप्रति गङ्गास्नानका फल मिलता है ।

तयोश्चापि द्विजश्रेष्ठ मातापित्रोश्च स्नातयोः ।
पुत्रस्यापि हि सर्वाङ्गे पतन्त्यम्बुकणा यदा ।
सर्वतीर्थसमं स्नानं पुत्रस्यापि प्रजायते ॥
पतितं क्षुधितं वृद्धमशक्तं सर्वकर्मसु ।
व्याधितं कुष्ठिनं तातं मातरं च तथाविधाम् ॥
उपाचरति यः पुत्रस्तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ।
विष्णुस्तस्य प्रसन्नात्मा जायते नात्र संशयः ॥
प्रयाति वैष्णवं लोकं यद्प्राप्यं हि योगिभिः ।
पितरौ विकलौ दीनौ वृद्धौ दुःखितमानसौ ॥
महागदेन संतप्तौ परित्यजति पापधीः ।
स पुत्रो नरकं याति दारुणं कृमिसंकुलम् ॥
वृद्धाभ्यां यः समाहूतो गुरुभ्यामिह साम्प्रतम् ।
न प्रयाति सुतो भूत्वा तस्य पापं वदाम्यहम् ॥
विष्ठाशी जायते मूढोऽमेध्यभोजी न संशयः ।
यावज्जन्मसहस्रं तु पुनः श्वानोऽभिजायते ॥
पुत्रगेहे स्थितौ मातापितरौ वृद्धकौ तथा ।
स्वयं ताभ्यां विना भुक्त्वा प्रथमं जायते घृणिः ॥
मूत्रं विष्ठां च भुञ्जीत यावज्जन्मसहस्रकम् ।
कृष्णसर्पो भवेत् पापी यावज्जन्मशतत्रयम् ॥
पितरौ कुत्सते पुत्रः कटुकैर्वचनैरपि ।
स च पापी भवेद्व्याघ्रः पश्चाद्दुःखी प्रजायते ॥
मातरं पितरं पुत्रो न नमस्यति पापधीः ।
कुम्भीपाके वसेत्तावद्यावद्युगसहस्रकम् ॥
नास्ति मातुः परं तीर्थं पुत्राणां च पितुस्तथा ।
नारायणसमावेताविह चैव परत्र च ॥
तस्मादहं महाप्राज्ञ पितृदेवं प्रपूजये ।
मातरं च तथा नित्यं यथायोगं यथाहितम् ॥
पितृमातृप्रसादेन संजातं ज्ञानमुत्तमम् ।
त्रैलोक्यं सकलं विप्र सम्प्राप्तं वदतां मम ॥

अर्वाचीनं परं ज्ञानं पितुश्चास्य प्रसादतः।
पराचीनं च विप्रेन्द्र वासुदेवस्वरूपकम्॥
सर्वज्ञानं समुद्भूतं पितृमातृप्रसादतः।
को न पूजयते विद्वान् पितरं मातरं तथा॥
साङ्गोपाङ्गैरधीतैस्तैः श्रुतिशास्त्रसमन्वितैः।
वेदैरपि च किं विप्र पिता येन न पूजितः॥
माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थकाः।
यज्ञैश्च तपसा विप्र किं दानैः किं च पूजनैः॥
प्रयाति तस्य वैफल्यं न माता येन पूजिता।
न पिता पूजितो येन जीवमानो गृहे स्थितः॥
एष पुत्रस्य वै धर्मस्तथा तीर्थं नरेष्विह।
एष पुत्रस्य वै मोक्षस्तथा जन्मफलं शुभम्॥
एष पुत्रस्य वै यज्ञो दानमेव न संशयः॥
(पद्म० भूमि० ६३। १—२१)

द्विजश्रेष्ठ! माता पिताको स्नान कराते समय जब उनके शरीरसे जलके छींटे उछलकर पुत्रके सम्पूर्ण अङ्गोंपर पड़ते हैं, उस समय उसे सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेका फल होता है। यदि पिता पतित, भूखसे व्याकुल, वृद्ध, सब कार्योंमें असमर्थ, रोगी और कोढ़ी हो गये हों तथा माताकी भी यही अवस्था हो, उस समयमें भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, उसपर निःसन्देह भगवान् श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं। वह योगियोंके लिये भी दुर्लभ भगवान् श्रीविष्णुके धामको प्राप्त होता है। जो किसी अङ्गसे हीन, दीन, वृद्ध, दुःखी तथा महान् रोगसे पीड़ित माता पिताको त्याग देता है, वह पापात्मा पुत्र कीड़ोंसे भरे हुए दारुण नरकमें पड़ता है। जो पुत्र बूढ़े माँ-बापके बुलानेपर भी उनके पास नहीं जाता, वह मूर्ख विष्ठा खानेवाला कीड़ा होता है तथा हजार जन्मोंतक उसे कुत्तेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है। वृद्ध माता-पिता जब घरमें मौजूद हों, उस समय जो पुत्र पहले उन्हें भोजन कराये बिना स्वयं अन्न ग्रहण करता है, वह घृणित कीड़ा होता है और हजार जन्मोंतक मल-मूत्र भोजन करता है। इसके सिवा वह पापी तीन सौ जन्मोंतक काला नाग होता है। जो पुत्र कटुवचनोंद्वारा माता-पिताकी निन्दा करता है, वह पापी बाघकी योनिमें जन्म लेता है तथा और भी बहुत दुःख उठाता है। जो पापात्मा पुत्र माता पिताको प्रणाम नहीं करता, वह हजार युगोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करता है। पुत्रके लिये माता-पितासे बढ़कर दूसरा कोई तीर्थ नहीं है। माता-पिता इस लोक और परलोकमें भी नारायणके समान हैं। इसलिये महाप्राज्ञ! मैं प्रतिदिन माता-पिताकी पूजा करता और उनके योग-क्षेमकी चिन्तामें लगा रहता हूँ। पिता-माताकी कृपासे मुझे उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ है, इसीसे तीनों लोक मेरे वशमें हो गये हैं। माता-पिताके प्रसादसे ही मुझे प्राचीन तथा वासुदेवस्वरूप अर्वाचीन तत्त्वका उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ है। मेरी सर्वज्ञतामें माता पिताकी सेवा ही कारण है। भला, कौन ऐसा विद्वान् पुरुष होगा, जो पिता माताकी पूजा नहीं करेगा। ब्रह्मन्! श्रुति (उपनिषद्) और शास्त्रोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके साङ्गोपाङ्ग अध्ययनसे ही क्या लाभ हुआ, यदि उसने माता-पिताका पूजन नहीं किया। उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है। उसके यज्ञ, तप, दान और पूजनसे भी कोई लाभ नहीं। जिसने माँ-बापका आदर नहीं किया, उसके सभी शुभ कर्म निष्फल होते हैं। निःसंदेह माता पिता ही पुत्रके लिये धर्म, तीर्थ, मोक्ष, जन्मके उत्तम फल, यज्ञ और दान आदि सब कुछ हैं।

भक्त सुव्रत

प्रार्थना

संसारसागरमतीव गभीरपारं
दुःखोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरङ्गैः।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं
तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम्॥
कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव
विद्युल्लतोल्लसति पातकसञ्चयो मे।
मोहान्धकारपटलैर्मम नष्टदृष्टे-
र्दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥
संसारकाननवरं बहुदुःखवृक्षैः
संसेव्यमानमपि मोहमयैश्च सिंहैः।
संदीप्तमस्ति करुणाबहुवह्निनेदं
संतप्यमानमनसं परिपाहि कृष्ण॥
संसारवृक्षमतिजीर्णमपीह उच्चं
मायासुकन्दकरुणाबहुदुःखशाखम्।
जायादिसङ्घच्छदनं फलितं मुरारे
तं चाधिरूढपतितं भगवन् हि रक्ष॥

दुःखानलैर्विविधमोहमयैः सुधूमैः
शोकैर्वियोगमरणान्तकसंनिभैश्च ।
दग्धोऽस्मि कृष्ण सततं मम देहि मोक्षं
ज्ञानाम्बुनाथ परिषिच्य सदैव मां त्वम् ॥
मोहान्धकारपटले महतीव गर्ते
संसारनाम्नि सततं पतितं हि कृष्ण ।
कृत्वा तरीं मम हि दीनभयातुरस्य
तस्माद् विकृष्य शरणं नय मामितस्त्वम् ॥
त्वामेव ये नियतमानसभावयुक्ता
ध्यायन्त्यनन्यमनसा पदवीं लभन्ते ।
नत्वैव पादयुगलं च महत्सुपुण्यं
ये देवकिन्नरगणाः परिचिन्तयन्ति ॥
नान्यं वदामि न भजामि न चिन्तयामि
त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि ।
एवं हि मामुपगतं शरणं च रक्ष
दूरेण यान्तु मम पातकसञ्चयास्ते ।
दासोऽस्मि भृत्यवदहं तव जन्म जन्म
त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि ॥
(पद्म० भूमि० २१ । २०–२७)

जनार्दन ! यह संसार-समुद्र अत्यन्त गहरा है, इसका पार पाना कठिन है । यह दुःखमयी लहरों और मोहमयी भाँति-भाँतिकी तरङ्गोंसे भरा है । मैं अत्यन्त दीन हूँ और अपने ही दोषों तथा गुणोंसे—पाप-पुण्योंसे प्रेरित होकर इसमें आ फँसा हूँ; अतः आप मेरा इससे उद्धार कीजिये । कर्मरूपी बादलोंकी भारी घटा घिरी हुई है, जो गरजती और बरसती भी है । मेरे पातकोंकी राशि विद्युल्लताकी भाँति उसमें थिरक रही है । मोहरूपी अन्धकारसमूहसे मेरी दृष्टि—विवेकशक्ति नष्ट हो गयी है, मैं अत्यन्त दीन हो रहा हूँ; मधुसूदन ! मुझे अपने हाथका सहारा दीजिये । यह संसार एक महान् वन है, इसमें बहुत-से दुःख ही वृक्षरूपमें स्थित हैं । मोहरूपी सिंह इसमें निर्भय होकर निवास करते हैं; इसके भीतर शोकरूपी प्रचण्ड दावानल प्रज्वलित हो रहा है, जिसकी आँचसे मेरा चित्त संतप्त हो उठा है । श्रीकृष्ण ! इससे मुझे बचाइये । संसार एक वृक्षके समान है, यह अत्यन्त पुराना होनेके साथ बहुत ऊँचा भी है; माया इसकी जड़ है, शोक तथा नाना प्रकारके दुःख इसकी शाखाएँ हैं, पत्नी आदि परिवारके लोग पत्ते हैं और इसमें अनेक प्रकारके फल लगे हैं । मुरारे ! मैं इस संसार-वृक्षपर चढ़कर गिर रहा हूँ; भगवन् ! इस समय मेरी रक्षा कीजिये—मुझे बचाइये । श्रीकृष्ण ! मैं दुःखरूपी अग्नि, विविध प्रकारके मोहरूपी धुएँ तथा वियोग, मृत्यु और कालके समान शोकोंसे जल रहा हूँ; आप सर्वदा ज्ञानरूपी जलसे सींचकर मुझे सदाके लिये संसार-बन्धनसे छुड़ा दीजिये । श्रीकृष्ण ! मैं मोहरूपी अन्धकार-राशिसे भरे हुए संसार नामक महान् गड्ढेमें सदासे गिरा हुआ हूँ, दीन हूँ और भयसे अत्यन्त व्याकुल हूँ, आप मेरे लिये नौका बनाकर मुझे उस गड्ढेसे निकालिये, वहाँसे खींचकर अपनी शरणमें ले लीजिये । जो संयमशील हृदयके भावसे युक्त होकर अनन्य चित्तसे आपका ध्यान करते हैं, वे आपके मार्गको पा लेते हैं । तथा जो देवता और किन्नरगण आपके दोनों परम पवित्र चरणोंको प्रणाम करके उनका चिन्तन करते हैं, वे भी आपकी पदवीको प्राप्त होते हैं । मैं न तो दूसरेका नाम लेता हूँ, न दूसरेको भजता हूँ और न दूसरेका चिन्तन ही करता हूँ; नित्य निरन्तर आपके युगल चरणोंको प्रणाम करता हूँ । इस प्रकार मैं आपकी शरणमें आया हूँ । आप मेरी रक्षा करें, मेरे पातकसमूह शीघ्र दूर हो जायँ । मैं नौकरकी भाँति जन्म-जन्म आपका दास बना रहूँ । भगवन् ! आपके युगल चरण-कमलोंको सदा प्रणाम करता हूँ ।

भिक्षु विप्र

धनके पंद्रह दोष

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥
लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम् ।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् ।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २३ । १७-२३)

धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है । चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं । इसलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे । भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेह-बन्धनसे बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं —सब-के-सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक दूसरेके शत्रु बन जाते हैं । ये लोग थोड़े से धनके लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं । बात-की-बातमें सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लागडाँट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देनेपर उतारू हो जाते हैं । यहाँतक कि एक-दूसरेका सर्वनाश कर डालते हैं । देवताओंके भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण-शरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं, अपने सच्चे स्वार्थ—परमार्थका नाश करते हैं, वे अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं । यह मनुष्य-शरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनर्थोंके धाम धनके चक्करमें फँसा रहे ।

महर्षि वक

अतिथि-सत्कार

अपि शाकं पचानस्य सुखं वै मघवन् गृहे ।
अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कञ्चन ॥
(महा० वन० १९३ । २९)

हे इन्द्र ! जो दूसरे किसीका आश्रय न लेकर अपने पराक्रमसे पैदा किये हुए शाकको भी घरमें पकाकर खाता है, उसे महान् सुख मिलता है ।

दत्त्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुङ्क्ते तेनैव नित्यशः ।
यावतो ह्यन्धसः पिण्डानश्नाति सततं द्विजः ॥
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः ।
यदेनो यौवनकृतं तत्सर्वं नश्यते ध्रुवम् ॥
(महा० वन० १९३ । ३४-३५)

जो प्रतिदिन अतिथियोंको भोजन देकर स्वयं अन्न ग्रहण करता है, वह उसीसे महान् फलका भागी होता है । अतिथि ब्राह्मण अन्नके जितने ग्रास खाता है, दाता पुरुष उतने ही सहस्र गौओंके दानका फल सदा प्राप्त करता है और युवावस्थामें उसके द्वारा किये हुए सभी पाप निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं ।

ऋषिगण

इन्द्रियनिग्रहका महत्त्व

दमो दानं यमो यस्तु मोक्षतत्त्वार्थदर्शिभिः ॥
ब्राह्मणानां विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ।
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रो दम उत्तमः ॥
विपाप्मा तेन तेजस्वी पुरुषो दमतो भवेत् ।
ये केचिन्नियमा लोके ये च धर्माः शुभक्रियाः ॥
सर्वयज्ञफलं चापि दमस्तेभ्यो विशिष्यते ।
न दानस्य क्रियाशुद्धिर्यथावदुपलभ्यते ॥
ततो यज्ञस्तपो दानं दमादेव प्रवर्तते ।
किमरण्ये ह्यदान्तस्य दान्तस्यापि किमाश्रमे ॥
यत्र यत्र वसेद्दान्तस्तदरण्यं महाश्रमः ।
शीलवृत्तनिपुणस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च ।
आर्जवे वर्तमानस्य आश्रमैः किं प्रयोजनम् ॥

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥
एकान्तशीलस्य दृढव्रतस्य
सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य ।
अध्यात्मयोगे गतमानसस्य
मोक्षो ध्रुवं नित्यमहिंसकस्य ॥

दुःखानलैर्विविधमोहमयैः सुधूमैः
शोकैर्वियोगमरणान्तकसंनिभैश्च ।
दग्धोऽस्मि कृष्ण सततं मम देहि मोक्षं
ज्ञानाम्बुनाथ परिषिच्य सदैव मां त्वम् ॥
मोहान्धकारपटले महतीव गर्ते
संसारनाम्नि सततं पतितं हि कृष्ण ।
कृत्वा तरीं मम हि दीनभयातुरस्य
तस्माद् विकृष्य शरणं नय मामितस्त्वम् ॥
त्वामेव ये नियतमानसभावयुक्ता
ध्यायन्त्यनन्यमनसा पदवीं लभन्ते ।
नत्वैव पादयुगलं च महत्सुपुण्यं
ये देवकिन्नरगणाः परिचिन्तयन्ति ॥
नान्यं वदामि न भजामि न चिन्तयामि
त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि ।
एवं हि मामुपगतं शरणं च रक्ष
दूरेण यान्तु मम पातकसञ्चयास्ते ।
दासोऽस्मि भृत्यवदहं तव जन्म जन्म
त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि ॥

(पद्म० भूमि० २१ । २०-२७)

जनार्दन ! यह संसार-समुद्र अत्यन्त गहरा है, इसका पार पाना कठिन है । यह दुःखमयी लहरों और मोहमयी भाँति-भाँतिकी तरङ्गोंसे भरा है । मैं अत्यन्त दीन हूँ और अपने ही दोषों तथा गुणोंसे—पाप-पुण्योंसे प्रेरित होकर इसमें आ फँसा हूँ; अतः आप मेरा इससे उद्धार कीजिये । कर्मरूपी बादलोंकी भारी घटा घिरी हुई है, जो गरजती और बरसती भी है । मेरे पातकोंकी राशि विद्युल्लताकी भाँति उसमें थिरक रही है । मोहरूपी अन्धकारसमूहसे मेरी दृष्टि—विवेकशक्ति नष्ट हो गयी है, मैं अत्यन्त दीन हो रहा हूँ; मधुसूदन ! मुझे अपने हाथका सहारा दीजिये । यह संसार एक महान् वन है, इसमें बहुत-से दुःख ही वृक्षरूपमें स्थित हैं । मोहरूपी सिंह इसमें निर्भय होकर निवास करते हैं; इसके भीतर शोकरूपी प्रचण्ड दावानल प्रज्वलित हो रहा है, जिसकी आँचसे मेरा चित्त संतप्त हो उठा है । श्रीकृष्ण ! इससे मुझे बचाइये । संसार एक वृक्षके समान है, यह अत्यन्त पुराना होनेके साथ बहुत ऊँचा भी है; माया इसकी जड़ है, शोक तथा नाना प्रकारके दुःख इसकी शाखाएँ हैं, पत्नी आदि परिवारके लोग पत्ते हैं और इसमें अनेक प्रकारके फल लगे हैं । मुरारे ! मैं इस संसार-वृक्षपर चढ़कर गिर रहा हूँ; भगवन् ! इस समय मेरी रक्षा कीजिये—मुझे बचाइये । श्रीकृष्ण ! मैं दुःखरू[illegible] अग्नि, विविध प्रकारके मोहरूपी धुएँ तथा वियोग, मृत्यु [illegible] कालके समान शोकोंसे जल रहा हूँ; आप सर्वदा ज्ञान[illegible] जलसे सींचकर मुझे सदाके लिये संसार-बन्धनसे छुड़ा दी[illegible] श्रीकृष्ण ! मैं मोहरूपी अन्धकार-राशिसे भरे हुए संसार [illegible] महान् गड्ढेमें सदासे गिरा हुआ हूँ, दीन हूँ और [illegible] अत्यन्त व्याकुल हूँ, आप मेरे लिये नौका बनाकर [illegible] गड्ढेसे निकालिये, वहाँसे खींचकर अपनी शरणमें ले [illegible] जो संयमशील हृदयके भावसे युक्त होकर अनन्य चि[illegible] का ध्यान करते हैं, वे आपके मार्गको पा[illegible] तथा जो देवता और किन्नरगण आपके दोनों [illegible] चरणोंको प्रणाम करके उनका चिन्तन करते हैं, [illegible] पदवीको प्राप्त होते हैं । मैं न तो दूसरेका न[illegible] दूसरेको भजता हूँ और न दूसरेका चिन्त[illegible] नित्य-निरन्तर आपके युगल चरणोंको प्रणाम [illegible] प्रकार मैं आपकी शरणमें आया हूँ । अ[illegible] मेरे पातकसमूह शीघ्र दूर हो जायँ । मैं नौ[illegible] जन्म आपका दास बना रहूँ । भगवन् ! [illegible] कमलोंको सदा प्रणाम करता हूँ ।

भिक्षु विप्र

धनके पंद्रह दोष

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पि[illegible]
एकास्निग्धाः काकिणिना स[illegible]
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते सं[illegible]
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति [illegible]
लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मा[illegible]
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्न[illegible]

पुण्य दे जाता है। निन्दा करनेवालेकी स्वयं निन्दा न करे, अपने मनको रोके। जो उस समय अपने चित्तको वशमें कर लेता है, वह मानो अमृतसे स्नान करता है।

धर्मका सर्वस्व

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्॥
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्॥
आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति।
(पद्म० सृष्टि० १९। ३५७-३५९)

धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे धारण करो—जो बात अपनेको प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके लिये भी काममें न लाये। जो परायी स्त्रीको माताके समान, पराये धनको मिट्टीके ढेलेके समान और सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्माके समान जानता है, वही ज्ञानी है।

भगवत्प्रेमीके सङ्गकी महिमा

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(श्रीमद्भा० १। १८। १३)

भगवत्प्रेमी भक्तोंके क्षणमात्रके सत्सङ्गसे स्वर्ग एवं मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।

शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम्।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः॥
(महा० वन० ९३। २१)

ब्राह्मणोंने शारीरिक संयमको मानव-व्रत बताया है और मनके द्वारा शुद्ध की हुई बुद्धिको वे दैवव्रत कहते हैं।

आचार्य कृप

मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे
मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एष एव।
त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य-
भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ॥
(पाण्डवगीता श्लो० २४)

हे माधव! हे लोकनाथ! मेरे जन्मका यही फल है, मेरी प्रार्थनासे मुझपर होनेवाली दया भी यही है कि आप मुझे अपने भृत्यके भृत्यके सेवकके सेवकके दासके दासके दासरूपसे याद रक्खें।

महात्मा गोकर्ण

महत्त्वपूर्ण विचार

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥
(पद्मपुराणोक्त भागवतमाहात्म्य)

यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है; इसे आप अपना स्वरूप मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको अपना कभी न मानें। इस संसारको रात दिन क्षणभंगुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्य-रसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें। भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है, निरन्तर उसीका आश्रय लिये रहें। अन्य सब प्रकारके लौकिक धर्मोंसे मुख मोड़ लें। सदा साधुजनोंकी सेवा करें। भोगोंकी लालसाको पास न फटकने दें तथा जल्दी से जल्दी दूसरोंके गुण-दोषोंका विचार करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और भगवान्‌की कथाओंके रसका ही पान करें।

न तत्कुर्याद्धरिः स्पृष्टः सर्पो वाप्यतिरोषितः ।
अरिर्वा नित्यसंक्रुद्धो यथाऽऽत्मा दमवर्जितः ॥

(पद्म० सृष्टि० १९ । ३११-३२३)

दम, दान एवं यम—ये तीनों तत्त्वार्थदर्शी पुरुषोंद्वारा बताये हुए धर्म हैं। इनमें भी विशेषतः दम (इन्द्रियदमन) ब्राह्मणोंका सनातन धर्म है। दम तेजको बढ़ाता है, दम परम पवित्र और उत्तम है। इसलिये दमसे पुरुष पापरहित एवं तेजस्वी होता है। संसारमें जो कुछ नियम, धर्म, शुभ कर्म अथवा सम्पूर्ण यज्ञोंके फल हैं, उन सबकी अपेक्षा दमका महत्त्व अधिक है। दमके बिना दानरूपी क्रियाकी यथावत् शुद्धि नहीं हो सकती। अतः दमसे ही यज्ञ और दमसे ही दानकी प्रवृत्ति होती है। जिसने इन्द्रियोंका दमन नहीं किया, उसके वनमें रहनेसे क्या लाभ। तथा जिसने मन और इन्द्रियोंका भलीभाँति दमन किया है, उसको (घर छोड़कर) किसी आश्रममें रहनेकी क्या आवश्यकता है। जितेन्द्रिय पुरुष जहाँ-जहाँ निवास करता है, उसके लिये वही-वही स्थान वन एवं महान् आश्रम है। जो उत्तम शील और आचरणमें रत है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें कर लिया है तथा जो सदा सरल भावसे रहता है, उसको आश्रमोंसे क्या प्रयोजन। विषयासक्त मनुष्योंसे वनमें भी दोष बन जाते हैं तथा घरमें रहकर भी यदि पाँचों इन्द्रियोंका निग्रह कर लिया जाय तो वह तपस्या ही है। जो सदा शुभ कर्ममें ही प्रवृत्त होता है, उस वीतराग पुरुषके लिये घर ही तपोवन है। जो एकान्तमें रहकर दृढतापूर्वक नियमोंका पालन करता, इन्द्रियोंकी आसक्तिको दूर हटाता, अध्यात्मतत्त्वके चिन्तनमें मन लगाता और सर्वदा अहिंसा व्रतका पालन करता है, उसीका मोक्ष निश्चित है। छेड़ा हुआ सिंह, अत्यन्त रोषमें भरा हुआ सर्प तथा सदा कुपित रहनेवाला शत्रु भी वैसा अनिष्ट नहीं कर सकता, जैसा संयमरहित चित्त कर डालता है।

अपमान और निन्दासे लाभ

अकार्पण्यमसारम्भं संतोषः श्रद्दधानता ।
अनसूया गुरोः पूजा दया भूतेष्वपैशुनम् ॥
एतदेव दमः प्रोक्त ऋषिभिः शान्तबुद्धिभिः ।
दमाधीनौ धर्ममोक्षौ तथा स्वर्गश्च पार्थिव ॥
अवमाने न कुप्येत सम्माने न प्रहृष्यति ।
समदुःखसुखो धीरः प्रशान्त इति कथ्यते ॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं चैव प्रबुध्यति ।
श्रेयस्तरमतिस्तिष्ठेदवमन्ता विनश्यति ॥
अपमानी तु न ध्यायेत्तस्य पापं कदाचन ।
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य परधर्मं न दूषयेत् ॥

(पद्म० सृष्टि० १९ । ३३०-३३४)

उदारता, कोमल स्वभाव, संतोष, श्रद्धालुता, दोष-दृष्टिका अभाव, गुरु-शुश्रूषा, प्राणियोंपर दया और चुगली न करना—इन्हींको शान्त बुद्धिवाले संतों और ऋषियोंने दम कहा है। धर्म, मोक्ष तथा स्वर्ग—ये सभी दमके अधीन हैं। जो अपना अपमान होनेपर क्रोध नहीं करता और सम्मान होनेपर हर्षसे फूल नहीं उठता, जिसकी दृष्टिमें दुःख और सुख समान हैं, उस धीर पुरुषको प्रशान्त कहते हैं। जिसका अपमान होता है, वह साधु पुरुष तो सुखसे सोता है और सुखसे जागता है तथा उसकी बुद्धि कल्याणमयी होती है। परंतु अपमान करनेवाला मनुष्य स्वयं नष्ट हो जाता है। अपमानित पुरुषको चाहिये कि वह कभी अपमान करनेवालेकी बुराई न सोचे। अपने धर्मपर दृष्टि रखते हुए भी दूसरोंके धर्मकी निन्दा न करे।

अमृतस्येव तृप्येत अपमानस्य योगवित् ।
विषवच्च जुगुप्सेत सम्मानस्य सदा द्विजः ॥
अपमानात्तपोवृद्धिः सम्मानाच्च तपःक्षयः ।
अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव गच्छति ॥
पुनराप्यायते धेनुः तृणैः सलिलैर्यथा ।
एवं जपैश्च होमैश्च पुनराप्यायते द्विजः ॥
आक्रोशकसमो लोके सुहृदन्यो न विद्यते ।
यस्तु दुष्कृतमादाय सुकृतं स्वं प्रयच्छति ॥
आक्रोशमानान्नाक्रोशेन्मनः स्वं विनिवर्तयेत् ।
संनियम्य सदाऽऽत्मानममृतेनाभिषिञ्चति ॥

(पद्म० सृष्टि० १९ । ३४१-३४५)

योगवेत्ता द्विजको चाहिये कि वह अपमानको अमृतके समान समझकर उससे प्रसन्नताका अनुभव करे और सम्मानको विषके तुल्य मानकर उससे घृणा करे। अपमानसे उसके तपकी वृद्धि होती है और सम्मानसे क्षय। पूजा और सत्कार पानेवाला ब्राह्मण दुही हुई गायकी तरह खाली हो जाता है। जैसे गौ घास और जल पीकर फिर पुष्ट हो जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मण जप और होमके द्वारा पुनः ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो जाता है। संसारमें निन्दा करनेवालेके समान दूसरा कोई मित्र नहीं है; क्योंकि वह पाप लेकर अपना

पुण्य दे जाता है। निन्दा करनेवालोंकी स्वयं निन्दा न करे, अपने मनको रोके। जो उस समय अपने चित्तको वशमें कर लेता है, वह मानो अमृतसे स्नान करता है।

धर्मका सर्वस्व

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्॥
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्॥
आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति।
(पद्म० सृष्टि० १९ । ३५७-३५९)

धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे धारण करो—जो बात अपनेको प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके लिये भी काममें न लाये। जो परायी स्त्रीको माताके समान, पराये धनको मिट्टीके ढेलेके समान और सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्माके समान जानता है, वही ज्ञानी है।

भगवत्प्रेमीके सङ्गकी महिमा

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(श्रीमद्भा० १ । १८ । १३)

भगवत्प्रेमी भक्तोंके क्षणमात्रके सत्सङ्गसे स्वर्ग एवं मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।

शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम्।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः॥
(महा० वन० १३ । २१)

ब्राह्मणोंने शारीरिक संयमको मानव-व्रत बताया है और मनके द्वारा शुद्ध की हुई बुद्धिको वे दैवव्रत कहते हैं।

आचार्य कृप

मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे
मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एष एव।
त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य-
भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ॥
(पाण्डवगीता श्लो० २४)

हे माधव! हे लोकनाथ! मेरे जन्मका यही फल है, मेरी प्रार्थनासे मुझपर होनेवाली दया भी यही है कि आप मुझे अपने भृत्यके भृत्यके सेवकके सेवकके दासके दासके दासरूपसे याद रक्खें।

महात्मा गोकर्ण

महत्त्वपूर्ण विचार

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥
(पद्मपुराणोक्त भागवतमाहात्म्य)

यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है; इसे आप अपना स्वरूप मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको अपना कभी न मानें। इस संसारको रात दिन क्षणभंगुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्य-रसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें। भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है, निरन्तर उसीका आश्रय लिये रहें। अन्य सब प्रकारके लौकिक धर्मोंसे मुख मोड़ लें। सदा साधुजनोंकी सेवा करें। भोगोंकी लालसाको पास न फटकने दें तथा जल्दी-से-जल्दी दूसरोंके गुण-दोषोंका विचार करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और भगवान्‌की कथाओंके रसका ही पान करें।

सिद्ध महर्षि

मुक्तके लक्षण

यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो भवबन्धनात्॥
सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः॥
आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः॥
जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते॥
न कस्यचित् स्पृहयते नावजानाति किञ्चन।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः॥
अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित्।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते॥
नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहापकः।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते॥
अकर्मवान् विकाङ्क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम्।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम्॥
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव॥
(महा० अश्वमेध० १९। १–९)

जो स्थूल-सूक्ष्मादि पूर्व-पूर्व प्रपञ्चका बाध करके किसी भी प्रकारका संकल्प-विकल्प न करते हुए मौनभावसे सम्पूर्ण प्रपञ्चके एकमात्र लयस्थान परब्रह्ममें समाहित है, उसने इस संसारबन्धनको पार कर लिया है। जो सबका सुहृद् है, सब कुछ सह लेता है, मनोनिग्रहमें अनुराग रखता है, जितेन्द्रिय है तथा भय और क्रोधसे रहित है, वह मनस्वी नरश्रेष्ठ संसारसे मुक्त हो जाता है। जो पवित्रात्मा मनको वशमें रखता हुआ समस्त भूतोंके प्रति अपने ही समान बर्ताव करता है तथा जिसमें मान और गर्वका लेश भी नहीं है, वह सब प्रकार मुक्त ही है। जो जीवन और मरणमें, सुख और दुःखमें, लाभ और हानिमें तथा प्रिय और अप्रियमें समभाव रखता है, वह मुक्त हो जाता है। जो किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता, किसीका तिरस्कार नहीं करता तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्व और रागसे रहित है, वह सर्वथा मुक्त ही है। जिसका कोई शत्रु या मित्र नहीं है, जो किसीको अपना पुत्रादि भी नहीं समझता, जिसने धर्म, अर्थ और इन्द्रिय-सुखका भी परित्याग कर दिया है, जिसे किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं है, वह मुक्त हो जाता है। जो धर्म-अधर्मसे परे है, जिसने पूर्वके संचितका त्याग कर दिया है, वासनाओंका क्षय हो जानेसे जिसका चित्त शान्त हो गया है तथा जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है। जो कर्मकलापसे मुक्त है, पूर्णतया निष्काम है, संसारको अश्वत्थ (वृक्ष) के समान अनित्य और सर्वदा जन्म, मृत्यु एवं जरादि दोषोंसे युक्त देखता है, जिसकी बुद्धि वैराग्यनिष्ठ है और जो निरन्तर अपने दोषोंपर दृष्टि रखता है, वह शीघ्र अपने समस्त बन्धनोंको तोड़ डालता है।

मुनिवर कण्डु

प्रार्थना

संसारेऽस्मिञ्जगन्नाथ दुस्तरे लोमहर्षणे।
अनित्ये दुःखबहुले कदलीदलसंनिभे॥
निराश्रये निरालम्बे जलबुद्बुदचञ्चले।
सर्वोपद्रवसंयुक्ते दुस्तरे चातिभैरवे॥
भ्रमामि सुचिरं कालं मायया मोहितस्तव।
न चान्तमभिगच्छामि विषयासक्तमानसः॥
त्वामहं चाद्य देवेश संसारभयपीडितः।
गतोऽस्मि शरणं कृष्ण मामुद्धर भवार्णवात्॥
गन्तुमिच्छामि परमं पदं यत्ते सनातनम्।
प्रसादात्तव देवेश पुनरावृत्तिदुर्लभम्॥
(ब्रह्मपुराण १७८। १७९–१८३)

जगन्नाथ! यह संसार अत्यन्त दुस्तर और रोमाञ्चकारी है। इसमें दुःखोंकी ही अधिकता है। यह अनित्य और केलेके पत्तेकी भाँति सारहीन है। इसमें न कहीं आश्रय है, न अवलम्ब। यह जलके बुल्बुलोंकी भाँति चञ्चल है। इसमें सब प्रकारके उपद्रव भरे हुए हैं। यह दुस्तर होनेके साथ ही अत्यन्त भयानक है। मैं आपकी मायासे मोहित होकर चिरकालसे इस संसारमें भटक रहा हूँ, किंतु कहीं भी शान्ति

नहीं पाता । मेरा मन विषयोंमें आसक्त है । देवेश ! इस संसारके भयसे पीड़ित होकर आज मैं आपकी शरणमें आया हूँ । श्रीकृष्ण ! आप इस भवसागरसे मेरा उद्धार कीजिये । सुरेश्वर ! मैं आपकी कृपासे आपके ही सनातन परम पदको प्राप्त करना चाहता हूँ, जहाँ जानेसे फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता ।

पुराण-वक्ता सूतजी

शिवभक्तिकी महिमा

सा जिह्वा या शिवं स्तौति तन्मनो ध्यायते शिवम् ।
तौ कर्णौ तत्कथालोलौ तौ हस्तौ तस्य पूजकौ ॥
ते नेत्रे पश्यतः पूजां तच्छिरः प्रणतं शिवे ।
तौ पादौ यौ शिवक्षेत्रं भक्त्या पर्यटतः सदा ॥
यस्येन्द्रियाणि सर्वाणि वर्तन्ते शिवकर्मसु ।
स निस्तरति संसारं भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥
शिवभक्तियुतो मर्त्यश्चाण्डालः पुल्कसोऽपि च ।
नारी नरो वा षण्ढो वा सद्यो मुच्येत संसृतेः ॥
(स्कन्द० पु० मा० महो० ४ । ७-१०)

वही जिह्वा सफल है, जो भगवान् शिवकी स्तुति करती है । वही मन सार्थक है, जो शिवके ध्यानमें संलग्न होता है । वे ही कान सफल हैं, जो भगवान् शिवकी कथा सुननेके लिये उत्सुक रहते हैं और वे ही दोनों हाथ सार्थक हैं, जो शिवजीकी पूजा करते हैं । वे नेत्र धन्य हैं, जो महादेवजीका दर्शन करते हैं । वह मस्तक धन्य है, जो शिवके सामने झुक जाता है । वे पैर धन्य हैं, जो भक्तिपूर्वक शिवके क्षेत्रमें सदा भ्रमण करते हैं । जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भगवान् शिवके कार्योंमें लगी रहती हैं, वह संसारसागरके पार हो जाता है और भोग तथा मोक्ष प्राप्त कर लेता है । शिवकी भक्तिसे युक्त मनुष्य चाण्डाल, पुल्कस, नारी, पुरुष अथवा नपुंसक—कोई भी क्यों न हो, तत्काल संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

अतिथि-सत्कार

गृहस्थानां परो धर्मो नान्योऽस्त्यतिथिपूजनात् ।
अतिथेर्न च दोषोऽस्ति तस्यातिक्रमणेन च ॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥
सत्यं तथा तपोऽधीतं दत्तमिष्टं शतं समाः ।
तस्य सर्वमिदं नष्टमतिथिं यो न पूजयेत् ॥
दूरादतिथयो यस्य गृहमायान्ति निर्वृताः ।
स गृहस्थ इति प्रोक्तः शेषाश्च गृहरक्षिणः ॥
(स्कन्द० पु० ना० उ० १७६ । ४-७)

गृहस्थोंके लिये अतिथि-सत्कारसे बढ़कर दूसरा कोई महान् धर्म नहीं है । अतिथिसे महान् कोई देवता नहीं है, अतिथिके उल्लङ्घनसे बड़ा भारी पाप होता है । जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसे वह अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चल देता है । जो अतिथिका आदर नहीं करता, उसके सौ वर्षोंके सत्य, तप, स्वाध्याय, दान और यज्ञ आदि सभी सत्कर्म नष्ट हो जाते हैं । जिसके घरपर दूरसे अतिथि आते हैं और सुखी होते हैं, वही गृहस्थ कहा गया है, शेष सब लोग तो गृहके रक्षकमात्र हैं ।

भगवद्भक्ति—भगवन्नाम

कलौ नारायणं देवं यजते यः स धर्मभाक् ।
दामोदरं हृषीकेशं पुरुहूतं सनातनम् ॥
हृदि कृत्वा परं शान्तं जितमेव जगत्त्रयम् ।
कलिकालोरगादंशात् किल्बिषात् कालकूटतः ॥
हरिभक्तिसुधां पीत्वा उल्लङ्घ्यो भवति द्विजः ।
किं जपैः श्रीहरेर्नाम गृहीतं यदि मानुषैः ॥
(पद्मपुराण, स्वर्ग० ६१ । ६-८)

जो कलियुगमें भगवान् नारायणका पूजन करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है । अनेकों नामोंद्वारा जिन्हें पुकारा जाता है तथा जो इन्द्रियोंके नियन्ता हैं, उन परम शान्त सनातन भगवान् दामोदरको हृदयमें स्थापित करके मनुष्य तीनों लोकोंपर विजय पा जाता है । जो द्विज हरिभक्तिरूपी अमृतका पान कर लेता है, वह कलिकालरूपी साँपके डँसनेसे फैले हुए पापरूपी भयंकर विषसे आत्मरक्षा करनेके योग्य हो जाता है । यदि मनुष्योंने श्रीहरिके नामका आश्रय ग्रहण कर लिया तो उन्हें अन्य मन्त्रोंके जपकी क्या आवश्यकता है ।

हरिभक्तिश्च लोकेऽत्र दुर्लभा हि मता मम ।
हरौ यस्य भवेद् भक्तिः स कृतार्थो न संशयः ॥

तत्तदेवाचरेत्कर्म हरिः प्रीणाति येन हि।
तस्मिंस्तुष्टे जगत्तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत्॥
हरौ भक्तिं विना नृणां वृथा जन्म प्रकीर्तितम्।
ब्रह्माद्यः सुरा यस्य यजन्ते प्रीतिहेतवे॥
नारायणमनाद्यन्तं न तं सेवेत को जनः॥
तस्य माता महाभागा पिता तस्य महाकृती।
जनार्दनपदद्वन्द्वं हृदये येन धार्यते॥
जनार्दन जगद्वन्द्य शरणागतवत्सल।
इतीरयन्ति ये मर्त्या न तेषां निरये गतिः॥
(पद्म० स्वर्ग० ६१। ४२-४६)

मेरे विचारसे इस संसारमें श्रीहरिकी भक्ति दुर्लभ है। जिसकी भगवान्‌में भक्ति होती है, वह मनुष्य निःसंदेह कृतार्थ हो जाता है। उसी-उसी कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे भगवान् प्रसन्न हों। भगवान्‌के संतुष्ट और तृप्त होनेपर सम्पूर्ण जगत् संतुष्ट एवं तृप्त हो जाता है। श्रीहरिकी भक्तिके विना मनुष्योंका जन्म व्यर्थ बताया गया है। जिनकी प्रसन्नताके लिये ब्रह्मा आदि देवता भी यजन करते हैं, उन आदि-अन्तरहित भगवान् नारायणका भजन कौन नहीं करेगा। जो अपने हृदयमें श्रीजनार्दनके युगल चरणोंकी स्थापना कर लेता है, उसकी माता परम सौभाग्यशालिनी और पिता महापुण्यात्मा है। 'जगद्वन्द्य जनार्दन! शरणागतवत्सल!' आदि कहकर जो मनुष्य भगवान्‌को पुकारते हैं, उनको नरकमें नहीं जाना पड़ता।

विष्णुमें भक्ति किये बिना मनुष्योंका जन्म निष्फल बताया जाता है। कलिकालरूपी भयानक समुद्र पापरूपी ग्राहोंसे भरा हुआ है, विषयासक्ति ही उसमें भँवर है, दुर्बोध ही फेनका काम देता है, महादुष्टरूपी सर्पोंके कारण वह अत्यन्त भीषण प्रतीत होता है, हरिभक्तिकी नौकापर बैठे हुए मनुष्य उसे पार कर जाते हैं। इसलिये लोगोंको हरिभक्तिकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। लोग बुरी-बुरी बातोंको सुननेमें क्या सुख पाते हैं, जो अद्भुत लीलाओंवाले श्रीहरिकी लीलाकथामें आसक्त नहीं होते। यदि मनुष्योंका मन विषयमें ही आसक्त हो तो लोकमें नाना प्रकारके विषयोंसे मिश्रित उनकी विचित्र कथाओंका ही श्रवण करना चाहिये। द्विजो! यदि निर्वाणमें ही मन रमता हो, तो भी भगवत्कथाओंको सुनना उचित है; उन्हें अवहेलनापूर्वक सुननेपर भी श्रीहरि संतुष्ट हो जाते हैं। भक्तवत्सल भगवान् हृषीकेश यद्यपि निष्क्रिय हैं, तथापि उन्होंने श्रवणकी इच्छावाले भक्तोंका हित करनेके लिये नाना प्रकारकी लीलाएँ की हैं। सौ वाजपेय आदि कर्म तथा दस हजार राजसूय यज्ञोंके अनुष्ठानसे भी भगवान् उतनी सुगमतासे नहीं मिलते, जितनी सुगमतासे वे भक्तिके द्वारा प्राप्त होते हैं। जो हृदयसे सेवन करने योग्य, संतोंके द्वारा बारंबार सेवित तथा भवसागरसे पार होनेके लिये सार वस्तु हैं, श्रीहरिके उन चरणोंका आश्रय लो। रे विषयलोलुप पामरो! अरे निष्ठुर मनुष्यो! क्यों स्वयं अपने आपको रौरव नरकमें गिरा रहे हो। यदि तुम अनायास ही दुःखोंके पार जाना चाहते हो तो गोविन्दके चारु चरणोंका सेवन किये बिना नहीं जा सकोगे। भगवान् श्रीकृष्णके युगल चरण मोक्षके हेतु हैं, उनका भजन करो। मनुष्य कहाँसे आया है और कहाँ पुनः उसे जाना है, इस बातका विचार करके बुद्धिमान् पुरुष धर्मका संग्रह करे। (पद्म० स्वर्ग० ६१। ७२-८४)

जिसने मन, वाणी और क्रियाद्वारा श्रीहरिकी भक्ति की है, उसने बाजी मार ली, उसने विजय प्राप्त कर ली, उसकी निश्चय ही जीत हो गयी—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। सम्पूर्ण देवेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीहरिकी ही भलीभाँति आराधना करनी चाहिये। हरिनामरूपी महामन्त्रोंके द्वारा पापरूपी पिशाचोंका समुदाय नष्ट हो जाता है। एक बार भी श्रीहरिकी प्रदक्षिणा करके मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेका जो फल होता है, उसे प्राप्त कर लेते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। मनुष्य श्रीहरिकी प्रतिमाका दर्शन करके सब तीर्थोंका फल प्राप्त करता है तथा विष्णुके उत्तम नामका जप करके सम्पूर्ण मन्त्रोंके जपका फल पा लेता है। द्विजवरो! भगवान् विष्णुके प्रसादस्वरूप तुलसीदलको सूँघकर मनुष्य यमराजके प्रचण्ड एवं विकराल मुखका दर्शन नहीं करता। एक बार भी श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला मनुष्य पुनः माताके स्तनोंका दूध नहीं पीता—उसका दूसरा जन्म नहीं होता। जिन पुरुषोंका चित्त श्रीहरिके चरणोंमें लगा है, उन्हें प्रतिदिन मेरा बारंबार नमस्कार है। पुल्कस, श्वपच (चाण्डाल) तथा और भी जो म्लेच्छ जातिके मनुष्य हैं, वे भी यदि एकमात्र श्रीहरिके चरणोंकी सेवामें लगे हों तो वन्दनीय और परम सौभाग्यशाली हैं। फिर जो पुण्यात्मा ब्राह्मण और राजर्षि भगवान्‌के भक्त हों, उनकी तो बात ही क्या है। भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करके ही मनुष्य गर्भवासका दुःख नहीं

देखता । ब्राह्मणो ! भगवान्‌के सामने उच्चस्वरसे उनके नामोंका कीर्तन करते हुए नृत्य करनेवाला मनुष्य गङ्गा आदि नदियोंके जलकी भाँति समस्त संसारको पवित्र कर देता है। उस भक्तके दर्शन और स्पर्शसे, उसके साथ वार्तालाप करनेसे तथा उसके प्रति भक्तिभाव रखनेसे मनुष्य ब्रह्महत्या आदि पापोंसे मुक्त हो जाता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जो श्रीहरिकी प्रदक्षिणा करते हुए करताल आदि बजाकर उच्च स्वर तथा मनोहर वाणीसे उनके नामोंका कीर्तन करता है, उसने ब्रह्महत्या आदि पापोंको मानो ताली बजाकर भगा दिया। जो हरिभक्ति-कथाकी फुटकर आख्यायिका भी श्रवण करता है, उसके दर्शनमात्रसे मनुष्य पवित्र हो जाता है। मुनिवरो ! फिर उसके विषयमें पापोंकी आशङ्का क्या रह सकती है। महर्षियो ! श्रीकृष्णका नाम सब तीर्थोंमें परम तीर्थ है। जिन्होंने श्रीकृष्ण-नामको अपनाया है, वे पृथ्वीको तीर्थ बना देते हैं। इसलिये श्रेष्ठ मुनिजन इससे बढ़कर पावन वस्तु और कुछ नहीं मानते। श्रीविष्णुके प्रसादभूत निर्माल्यको खाकर और मस्तकपर धारण करके मनुष्य साक्षात् विष्णु ही हो जाता है, वह यमराजसे होनेवाले शोकका नाश करनेवाला होता है; वह पूजन और नमस्कारके योग्य साक्षात् श्रीहरिका ही स्वरूप है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जो इन अव्यक्त विष्णु तथा भगवान् महेश्वरको एकभावसे देखते हैं, उनका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता। अतः महर्षियो ! आप आदि-अन्तसे रहित अविनाशी परमात्मा विष्णु तथा महादेवजीको एकभावसे देखें तथा एक समझकर ही उनका पूजन करें। जो 'हरि' और 'हर' को समान भावसे नहीं देखते, श्रीशिवको दूसरा देवता समझते हैं, वे घोर नरकमें पड़ते हैं, उन्हें श्रीहरि अपने भक्तोंमें नहीं गिनते। पण्डित हो या मूर्ख, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, यदि वह भगवान्‌का प्यारा भक्त है तो स्वयं भगवान् नारायण उसे संकटोंसे छुड़ाते हैं। भगवान् नारायणसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो पापपुञ्जरूपी वनको जलानेके लिये दावानलके समान हो। भयंकर पातक करके भी मनुष्य श्रीकृष्णनामके उच्चारणसे मुक्त हो जाता है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षियो ! जगद्गुरु भगवान् नारायणने स्वयं ही अपने नाममें अपनेसे भी अधिक शक्ति स्थापित कर दी है। नाम कीर्तनमें परिश्रम तो थोड़ा होता है, किंतु फल भारी-से-भारी प्राप्त होता है—यह देखकर जो लोग इसकी महिमाके विषयमें तर्क उपस्थित करते हैं, वे अनेकों बार नरकमें पड़ते हैं। इसलिये हरिनामकी शरण लेकर भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये। प्रभु अपने पुजारीको तो पीछे रखते हैं, किंतु नाम-जप करनेवालेको छातीसे लगाये रहते हैं। हरिनामरूपी महान् वज्र पापोंके पहाड़को विदीर्ण करनेवाला है। जो भगवान्‌की ओर आगे बढ़ते हों, मनुष्यके वे ही पैर सफल हैं। वे ही हाथ धन्य कहे गये हैं, जो भगवान्‌की पूजामें संलग्न रहते हैं। जो मस्तक भगवान्‌के आगे झुकता हो, वही उत्तम अङ्ग है। जीभ वही श्रेष्ठ है, जो भगवान् श्रीहरिकी स्तुति करती है। मन भी वही अच्छा है, जो उनके चरणोंका अनुगमन—चिन्तन करता है तथा रोएँ भी वे ही सार्थक कहलाते हैं, जो भगवान्‌का नाम लेनेपर खड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार आँसू वे ही सार्थक हैं, जो भगवान्‌की चर्चाके अवसरपर निकलते हैं। अहो ! संसारके लोग भाग्यदोषसे अत्यन्त वञ्चित हो रहे हैं; क्योंकि वे नामोच्चारणमात्रसे मुक्ति देनेवाले भगवान्‌का भजन नहीं करते। स्त्रियोंके स्पर्श एवं चर्चासे जिन्हें रोमाञ्च हो आता है, श्रीकृष्णका नाम लेनेपर नहीं, वे मलिन तथा कल्याणसे वञ्चित हैं। जो अजितेन्द्रिय पुरुष पुत्रशोकादिसे व्याकुल होकर अत्यन्त विलाप करते हुए रोते हैं, किंतु श्रीकृष्णनामके अक्षरोंका कीर्तन करते हुए नहीं रोते, वे मूर्ख हैं। जो इस लोकमें जीभ पाकर भी श्रीकृष्णनामका जप नहीं करते, वे मोक्षतक पहुँचनेके लिये सीढ़ी पाकर भी अवहेलनावश नीचे गिरते हैं। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह कर्मयोगके द्वारा भगवान् श्रीविष्णुकी यत्नपूर्वक आराधना करे। कर्मयोगसे पूजित होनेपर ही भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। भगवान् विष्णुका भजन तीर्थोंसे भी अधिक पावन तीर्थ कहा गया है। सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करने, उनका जल पीने और उनमें गोता लगानेसे मनुष्य जिस फलको पाता है, वह श्रीकृष्णके सेवनसे प्राप्त हो जाता है। भाग्यवान् मनुष्य ही कर्मयोगके द्वारा श्रीहरिका पूजन करते हैं। अतः मुनियो ! आपलोग परम मङ्गलमय श्रीकृष्णकी आराधना करें। (पद्म० स्वर्ग० ५० । ८—१०)

भक्तिसे ही मनकी सार्थकता

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा
न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम्॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
न तद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥
स वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम्॥
यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा० १२। १२। ४६—५४)

जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः', वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यदि देश, काल एवं वस्तुसे अपरिच्छिन्न भगवान् श्रीकृष्णके नाम, लीला, गुण आदिका संकीर्तन किया जाय अथवा उनके प्रभाव, महिमा आदिका श्रवण किया जाय तो वे स्वयं ही हृदयमें आ विराजते हैं और श्रवण-कीर्तन करनेवाले पुरुषके सारे दुःख मिटा देते हैं—ठीक वैसे ही, जैसे सूर्य अंधकारको और आँधी बादलोंको तितर-बितर कर देती है। जिस वाणीके द्वारा घट-घटवासी अविनाशी भगवान्के नाम, लीला, गुण आदिका उच्चारण नहीं होता, वह वाणी भावपूर्ण होनेपर भी निरर्थक है—सारहीन है, सुन्दर होनेपर भी असुन्दर है और उत्तमोत्तम विषयोंका प्रतिपादन करनेवाली होनेपर भी असत् कथा है। जो वाणी और वचन भगवान्के गुणोंसे परिपूर्ण रहते हैं, वे ही परम पावन हैं, वे ही मङ्गलमय हैं और वे ही परम सत्य हैं। जिस वचनके द्वारा भगवान्के परम पवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उसीसे अनन्त कालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है। जिस वाणीसे—चाहे वह रस, भाव, अलंकार आदिसे युक्त ही क्यों न हो—जगत्‌को पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके यशका कभी गान नहीं होता, वह तो कौओंके लिये उच्छिष्ट फेंकनेके स्थानके समान अत्यन्त अपवित्र है। मानसरोवरनिवासी हंसोंके समान ब्रह्मधाममें विहार करनेवाले भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंस भक्त उसका कभी सेवन नहीं करते। निर्मल हृदयवाले साधुजन तो वहीं निवास करते हैं, जहाँ भगवान् रहते हैं। इसके विपरीत जिसमें सुन्दर रचना भी नहीं है और जो व्याकरण आदिकी दृष्टिसे दूषित शब्दोंसे युक्त भी है, परंतु जिसके प्रत्येक श्लोकमें भगवान्के सुयशसूचक नाम जड़े हुए हैं, वह वाणी लोगोंके सारे पापोंका नाश कर देती है; क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही वाणीका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं। वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो कर्म भगवान्को अर्पण नहीं किया गया है—वह चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो—सर्वदा अमङ्गलरूप, दुःख देनेवाला ही है; वह तो शोभन—वरणीय हो ही कैसे सकता है। वर्णाश्रमके अनुकूल आचरण, तपस्या और अध्ययन आदिके लिये जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है, उसका फल है—केवल यश अथवा लक्ष्मीकी प्राप्ति। परंतु भगवान्के गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण, कीर्तन आदि तो उनके श्रीचरणकमलोंकी

अविचल स्मृति प्रदान करता है। भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है एवं परवैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है।

श्रोताओंके लक्षण

अब भगवान् श्रीकृष्णकी कथाका आश्रय लेनेवाले श्रोताओंका वर्णन करते हैं। श्रोता दो प्रकारके माने गये हैं— प्रवर (उत्तम) तथा अवर (अधम)। प्रवर श्रोताओंके 'चातक', 'हंस', 'शुक' और 'मीन' आदि कई भेद हैं। अवरके भी 'वृक', 'भूरुण्ड', 'वृष' और 'उष्ट्र' आदि अनेकों भेद बतलाये गये हैं। 'चातक' कहते हैं पपीहेको। वह जैसे बादलसे बरसते हुए जलमें ही स्पृहा रखता है, दूसरे जलको छूता नहीं, उसी प्रकार जो श्रोता सब कुछ छोड़कर केवल श्रीकृष्णसम्बन्धी शास्त्रोंके श्रवणका व्रत ले लेता है, वह 'चातक' कहा गया है।

जैसे हंस दूधके साथ मिलकर एक हुए जलसे निर्मल दूध ग्रहण कर लेता और पानीको छोड़ देता है, उसी प्रकार जो श्रोता अनेकों शास्त्रोंका श्रवण करके भी उसमेंसे सारभाग अलग करके ग्रहण करता है, उसे 'हंस' कहते हैं।

जिस प्रकार भलीभाँति पढ़ाया हुआ तोता अपनी मधुर वाणीसे शिक्षकको तथा पास आनेवाले दूसरे लोगोंको भी प्रसन्न करता है, उसी प्रकार जो श्रोता कथावाचक व्यासके मुँहसे उपदेश सुनकर उसे सुन्दर और परिमित वाणीमें पुनः सुना देता है और व्यास एवं अन्यान्य श्रोताओंको अत्यन्त आनन्दित करता है, वह 'शुक' कहलाता है।

जैसे क्षीरसागरमें मछली मौन रहकर अपलक आँखोंसे देखती हुई सदा दुग्धपान करती रहती है, उसी प्रकार जो कथा सुनते समय निर्निमेष नयनोंसे देखता हुआ मुँहसे कभी एक शब्द भी नहीं निकालता और निरन्तर कथारसका ही आस्वादन करता रहता है, वह प्रेमी श्रोता 'मीन' कहा गया है।

(ये प्रवर अर्थात् उत्तम श्रोताओंके भेद बताये गये, अब अवर यानी अधम श्रोता बताये जाते हैं।) 'वृक' कहते हैं भेड़ियेको। जैसे भेड़िया वनके भीतर वेणुकी मीठी आवाज सुननेमें लगे हुए मृगोंको डरानेवाली भयानक गर्जना करता है, वैसे ही जो मूर्ख कथाश्रवणके समय रसिक श्रोताओंको उद्विग्न करता हुआ बीच बीचमें ज़ोर जोरसे बोल उठता है, वह 'वृक' कहलाता है।

हिमालयके शिखरपर एक भूरुण्ड जातिका पक्षी होता है। वह किसीके शिक्षाप्रद वाक्य सुनकर वैसा ही बोला करता है, किंतु स्वयं उससे लाभ नहीं उठाता। इसी प्रकार जो उपदेशकी बात सुनकर उसे दूसरोंको तो सिखाये पर स्वयं आचरणमें न लाये, ऐसे श्रोताको 'भूरुण्ड' कहते हैं।

'वृष' कहते हैं बैलको। उसके सामने मीठे-मीठे अंगूर हों या कड़वी खली, दोनोंको वह एक-सा ही मानकर खाता है। उसी प्रकार जो सुनी हुई सभी बातें ग्रहण करता है, पर सार और असार वस्तुका विचार करनेमें उसकी बुद्धि अंधी—असमर्थ होती है, ऐसा श्रोता 'वृष' कहलाता है।

जिस प्रकार ऊँट माधुर्यगुणसे युक्त आमको भी छोड़कर केवल नीमकी ही पत्ती चबाता है, उसी प्रकार जो भगवान्‌की मधुर कथाको छोड़कर उसके विपरीत संसारी बातोंमें रमता रहता है, उसे 'ऊँट' कहते हैं।

ये कुछ थोड़े-से भेद यहाँ बताये गये। इनके अतिरिक्त भी प्रवर-अवर दोनों प्रकारके श्रोताओंके 'भ्रमर' और 'गदहा' आदि बहुतसे भेद हैं, इन सब भेदोंको उन-उन श्रोताओंके स्वाभाविक आचार-व्यवहारोंसे परखना चाहिये।

जो वक्ताके सामने उन्हें विधिवत् प्रणाम करके बैठे और अन्य संसारी बातोंको छोड़कर केवल श्रीभगवान्‌की लीला-कथाओंको ही सुननेकी इच्छा रक्खे, समझनेमें अत्यन्त कुशल हो, नम्र हो, हाथ जोड़े रहे, शिष्य-भावसे उपदेश ग्रहण करे और भीतर श्रद्धा तथा विश्वास रक्खे, इसके सिवा जो कुछ सुने उसका बराबर चिन्तन करता रहे, जो बात समझमें न आये पूछे और पवित्र भावसे रहे तथा श्रीकृष्णके भक्तोंपर सदा ही प्रेम रखता हो, ऐसे ही श्रोताको वक्तालोग उत्तम श्रोता कहते हैं।

अब वक्ताके लक्षण बतलाते हैं। जिसका मन सदा भगवान्‌में लगा रहे, जिसे किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न हो, जो सबका सुहृद् और दीनोंपर दया करनेवाला हो तथा अनेकों युक्तियोंसे तत्त्वका बोध करा देनेमें चतुर हो, उसी वक्ताका मुनिलोग भी सम्मान करते हैं।

(स्कन्दपुराणान्तर्गत श्रीमद्भा० माहात्म्य अ० ४। १०—२२)

भगवान्‌की कथा

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥
(पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भा० माहा० ६ । १००)

इस असार-संसारमें विषयरूप विषकी आसक्तिके कारण व्याकुल बुद्धिवाले पुरुषो ! अपने कल्याणके उद्देश्यसे आधे क्षणके लिये भी इस शुककथारूप अनुपम सुधाका पान करो । प्यारे भाइयो ! निन्दित कथाओंसे युक्त कुपथमें व्यर्थ ही क्यों भटक रहे हो । इस कथाके कानमें प्रवेश करते ही मुक्ति हो जाती है, इस बातके साक्षी राजा परीक्षित् हैं ।

भगवान्‌का परमपद

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ॥
त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत् परमं पदम् ।
अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ६ । ३२—३४)

जो मुमुक्षु एवं विचारशील पुरुष परमपदके अतिरिक्त वस्तु-मात्रका परित्याग करते हुए 'नेति-नेति' के द्वारा उसका निषेध करके ऐसी वस्तु प्राप्त करते हैं, जिसका कभी निषेध नहीं हो सकता और न तो कभी त्याग ही, वही विष्णुभगवान्‌का परमपद है—यह बात सभी महात्मा और श्रुतियाँ एक मतसे स्वीकार करती हैं । अपने चित्तको एकाग्र करनेवाले पुरुष अन्तःकरणकी अशुद्धियोंको, अनात्म-भावनाओंको सदा-सर्वदाके लिये मिटाकर अनन्य प्रेमभावसे परिपूर्ण हृदयके द्वारा उसी परमपदका आलिङ्गन करते हैं और उसीमें समा जाते हैं । विष्णुभगवान्‌का यही वास्तविक स्वरूप है, यही उनका परमपद है । इसकी प्राप्ति उन्हीं लोगोंको होती है, जिनके अन्तःकरणमें शरीरके प्रति अहंभाव नहीं है और न तो इसके सम्बन्धी गृह आदि पदार्थोंमें ममता ही । सचमुच शरीरमें मैंपन और जगत्‌की वस्तुओंमें मेरेपनका आरोप बहुत बड़ी दुर्जनता है । जिसे इस परमपदकी प्राप्ति अभीष्ट है, उसे चाहिये कि वह दूसरोंकी कटुवाणी सहन कर ले और बदलेमें किसीका अपमान न करे तथा इस क्षणभङ्गुर शरीरमें अहंता-ममता करके किसी भी प्राणीसे कभी वैर न करे ।

मनु महाराज

उपदेश

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
(मनु० २ । १२)

वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्माको प्रिय लगनेवाला—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनु० ६ । ९२)

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (मन, वाणी और शरीरकी पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं ।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥
(मनु० १२ । ११३)

वेदका मर्म जाननेवाला कोई एक द्विजश्रेष्ठ भी जिसका निर्णय कर दे, उसे परम धर्म जानना चाहिये; परंतु दस हजार भी मूर्ख जिसका निर्णय करें, वह धर्म नहीं है ।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥
(मनु० ८ । १५)

नष्ट हुआ धर्म ही मारता है और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है । इसलिये नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मारे—यह विचारकर धर्मका नाश नहीं करना चाहिये ।

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥
(मनु० ४ । १७१)

पापी अधर्मियोंकी शीघ्र ही बुरी गति होती है, यों कर पुरुषको चाहिये कि धर्मसे दुःख पाता हुआ भी र्ममें मन न लगावे ।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
(मनु० ४ । १७४)

अधर्मी पहले धर्मसे बढ़ता है, फिर उससे अपना भला ता है, फिर शत्रुओंको जीतता है और फिर जड़सहित हो जाता है ।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥
(मनु० २ । १२१, ४ । १८०)

जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धों- सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल— चारों बढ़ते हैं ।

माता, पिता, बहन, भाई, पुत्र, स्त्री, बेटी और नौकर- कर—इनके साथ वाद-विवाद न करे ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥
(मनु० २ । ५७; ४ । १३८, १६०)

अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्य- का नाशक तथा लोकनिन्दित है; इसलिये उसे त्याग दे ।

ऐसी सत्य बात बोले जो प्यारी लगे और जो सत्य तो हो किंतु प्यारी न लगे ऐसी बात न कहे; और जो प्यारी बात झूठी हो, उसे भी न कहे । यही सनातन धर्म है ।

पराधीनतामें सब कुछ दुःखरूप है और स्वाधीनतामें सब सुख-रूप है—यह संक्षेपसे सुख-दुःखका लक्षण जानना चाहिये ।

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥
(मनु० ४ । ७१; ५ । ५१)

जो मनुष्य मिट्टीके ढेलेको मलता है, तृण तोड़ता है, नखोंको चबाता है, चुगली खाता है और अपवित्र रहता है, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है ।

मांसके लिये सम्मति देनेवाला, काटनेवाला, मारनेवाला, खरीदने-बेचनेवाला, पकानेवाला, लानेवाला और खानेवाला —ये (सभी) घातक होते हैं ।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥
(मनु० ५ । १०६)

सब शुद्धियोंमें धनकी पवित्रता ही श्रेष्ठ कही गयी है; क्योंकि जो धनसे शुद्ध है, वही शुद्ध है । मिट्टी और जलकी शुद्धि शुद्धि नहीं कही जाती । भाव यह है कि जो पराया धन नहीं हरता और न्यायसे धनोपार्जन करता है, वह शुद्ध है और जो अन्यायसे द्रव्य हरता है, किंतु मिट्टी लगाकर स्नान करता है, वह पवित्र नहीं है ।

महाराज पृथु

प्रार्थना

वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद् बुधः
कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां
तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥
न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्-
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥
(श्रीमद्भा० ४ । २० । २३-२४)

मोक्षपति प्रभो ! आप वर देनेवाले ब्रह्मादि देवताओंको भी वर देनेमें समर्थ हैं । कोई भी बुद्धिमान् पुरुष आपसे देहाभिमानियोंके भोगने योग्य विषयोंको कैसे माँग सकता है । ये तो नारकी जीवोंको भी मिलते हैं । अतः मैं इन तुच्छ

शान्ति कहाँ है ?

दुःखज्वाला-दग्ध संसार और शान्ति-सुधासागर

योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रने संसारके लिये कहा—'दुःखालयमशाश्वतम् ।' यह विश्व तो दुःखका घर है । दुःख ही इसमें निवास करते हैं । साथ ही यह अशाश्वत है—नाशवान् है ।

सम्पूर्ण विश्व जल रहा है । दुःखकी दावाग्निमें निरन्तर भस्म हो रहा है यह संसार । क्या हुआ जो हमें वे लपटें नहीं दीख पड़तीं । उल्लूकको सूर्य नहीं दीखते, अन्धोंको कुछ नहीं दीखता—अपनेको बुद्धिमान् माननेवाला मनुष्य यदि सचमुच ज्ञानवान् होता—लेकिन यह तो अज्ञानके अन्धकारमें आनन्द मनानेवाला प्राणी बन गया है । उसके नेत्रोंपर मोहकी मोटी पट्टी बँधी है । कैसे देखे यह संसारको दग्ध करती ज्वालाको ।

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश बतलाये महर्षि पतञ्जलिने । अज्ञान, अहंकार, कुछ पदार्थों, प्राणियों, अवस्थाओंकी ममता, उनकी कामना और उनसे राग तथा उनके विरोधी पदार्थों, प्राणियों, अवस्थाओंसे द्वेष एवं शरीरको आत्मा मानना—कितने ऐसे प्राणी हैं जो इन क्लेशोंसे मुक्त हैं !

काम, क्रोध, लोभ, मोहकी ज्वालाओंमें जल रहा है संसार । तृष्णा, कामना, अशान्ति—बेचैनीका पार नहीं है । मद, मत्सर, वैर, हिंसा—चारों ओर दावानल धधक रहा है । दुःख-दुःख—और दुःख । लेकिन जैसे दीपकी प्रज्वलित ज्वालाको कोई सुखद सुशोभन वस्तु समझकर पतंग टूटते हैं—प्राणी मोहवश सुखबुद्धि इन अङ्गारोंको ही अपनाये चले जा रहे हैं । अशान्ति—दुःख-दुःख—और बस जलना है यहाँ ।

शान्ति और सुखकी आशा—संसारमें यह आशा ! जलते संसारमें भला शान्ति कहाँ !

शान्ति है । सुख है । आनन्द है । अनन्त शान्ति, अविनाशी सुख, शाश्वत आनन्द—शान्ति, सुख और आनन्दका महासागर ही है एक । उस महासागरमें खड़े हो जानेपर संसारकी ज्वाला—त्रितापका भी स्पर्श भी नहीं कर पाते ।

कहाँ है यह !

भगवान्‌को छोड़कर भला शान्ति, सुख और आनन्द अन्यत्र कहाँ होंगे । भगवान्‌का भजन ही है यह महासमुद्र । भगवान्‌का भजन करनेवाला भक्त-साधु उस महासमुद्रमें स्थित है ।

विषयोंसे वैराग्य, प्राणियोंमें भगवद्भावना, समता, अक्रोध, सेवा, दृढ़ भगवद्विश्वास—जहाँ शीतलता और पवित्रताका यह महासागर लहरा रहा है, कामनाओंकी ज्वाला, विकारोंकी ऊष्मा वहाँतक पहुँच कैसे सकती है । वहाँ कामनाकी अग्नि नहीं है, तृष्णाकी आग नहीं है, ममताके मीठे विषका भीषण अन्धकार नहीं है और अहङ्कारकी लपटें सदाके लिये शान्त हो गयी हैं ।

> 'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥'
> (गीता २ । ७१)

इस निरन्तर जलते विनाशशील संसारमें तो शान्ति है ही नहीं । यह तो है भवभूमि—भगवान्‌के भजनरूप महासमुद्रमें । उस शान्ति-सुधासागरमें स्थित होकर ही इस आगसे परित्राण पाया जा सकता है ।

शान्ति कहाँ है ?

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
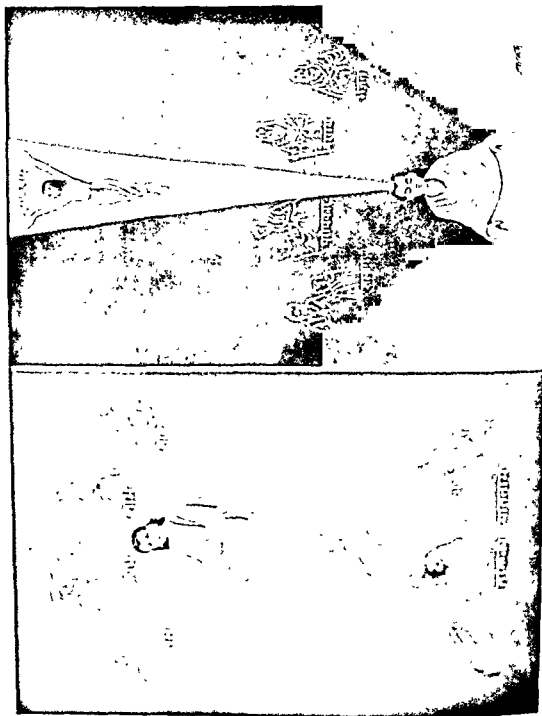
दो ही गतियाँ—नरक और भगवद्धाम

दो ही गति

हम कबसे भटक रहे हैं ? जन्म-मृत्युके चक्रमें हम कबसे पड़े हैं ? कोई गणना नहीं है। सृष्टि अनादि है। अनादि कालसे जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटक रहा है।

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मनुष्य-जीवन प्राप्त हुआ। एक महान् अवसर दिया उस करुणा-वरुणालयने जीवको। इस अवसरका हम सदुपयोग करेंगे या नहीं—यह हमारे विचार करनेकी बात है; क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है।

जीवनकी—मनुष्य-जीवनकी दो ही गतियाँ हैं—जन्म-मृत्युके चक्रसे छुटकारा प्राप्त कर लेना या फिर उसीमें भटकना।

चौरासी लाख योनियाँ—जीवको उसके कर्मानुसार एक-एक योनिमें लाख-लाख बार भी जन्म लेना पड़ सकता है। चौरासी लाख योनियाँ—एक ही उनमेंसे है मनुष्ययोनि। मानव-जीवनके गिने-चुने वर्ष—केवल यही अवसर है, जब जीव आवागमनके अनादि चक्रसे छुटकारा पा सके। यह अवसर कहीं निकल गया—वही जन्म-मृत्युका चक्र और कबतक, किस अकल्पनीय कालतक वह चलता रहेगा—कोई कह नहीं सकता।

काम, क्रोध, लोभ और मोह—ये चारों नरकके द्वार हैं। इनमेंसे किसीमें पैर पड़ा और गिरे नरकमें। नरक—नरककी दारुण यन्त्रणा और केवल मनुष्य ही वहाँ पहुँचनेकी सामग्री प्रस्तुत करता है। केवल मनुष्य ही तो कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। अन्य प्राणी तो भोगयोनिके प्राणी हैं। वे तो भोगके द्वारा अपने अशुभ कर्मोंका नाश कर रहे हैं। वे नवीन कर्मोंका उपार्जन नहीं करते।

मनुष्य कर्मयोनिका प्राणी है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। मनुष्य ही है जो कर्म-संस्कारोंका उपार्जन करता है। उसे सोचना है, वह कैसा उपार्जन करेगा। उसकी दो गतियाँ हो सकती हैं—बन्धन—नरक या फिर मोक्ष—भगवद्धाम।

काम, क्रोध, लोभ, मोह—इनमें लगनेपर मनुष्य नरक जायगा। संसारके भोगोंमें आसक्त हुआ और नरक धरा है।

दूसरी गति है मनुष्यकी—मनुष्यताकी परम सफलता उसीमें है। अनादि कालसे चलनेवाली मृत्युसे छुटकारा पा जाना—जन्म-मृत्युके चक्रसे परित्राण—मोक्ष।

सत्सङ्ग, परोपकार, वैराग्य और भजन—इसका परिपाक है भगवद्धामकी प्राप्ति। मोक्षका यही प्रशस्त मार्ग है। मनुष्यकी मनुष्यता इसीसे सफल होती है।

नरक या भगवद्धाम—गतियाँ तो ये दो ही हैं। मनुष्यको यदि सचमुच नरकमें नहीं पड़ना है, उसे दुःखसे आत्यन्तिक छुटकारा चाहिये, अखण्ड आनन्द उसे अभीष्ट है तो उसे अपनाना है—सत्सङ्ग, परोपकार, वैराग्य, भगवद्भजन।

रहती। गुरु इस संसार-सागरसे पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान नौकाके समान बताया गया है। मनुष्य उस ज्ञानको पाकर भवसागरसे पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनोंकी ही अपेक्षा नहीं रहती।

तमःपरिगतं वेश्म यथा दीपेन दृश्यते।
तथा बुद्धिप्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम्॥
(महा० शान्ति० ३२६।४०)

जिस प्रकार अन्धकारसे व्याप्त हुआ घर दीपकके प्रकाशसे स्पष्ट दीख पड़ता है, उसी तरह बुद्धिरूपी दीपककी सहायतासे अज्ञानसे आवृत आत्माका साक्षात्कार हो सकता है।

राजा महीरथ

पुण्यात्मा कौन है ?

परतापच्छिदो ये तु चन्दना इव चन्दनाः।
परोपकृतये ये तु पीड्यन्ते कृतिनो हि ते॥
संतस्त एव ये लोके परदुःखविदारणाः।
आर्तानामार्तिनाशार्थं प्राणा येषां तृणोपमाः॥
तैरियं धार्यते भूमिर्नरैः परहितोद्यतैः।
मनसो यत्सुखं नित्यं स स्वर्गो नरकोपमः॥
तस्मात्परसुखेनैव साधवः सुखिनः सदा।
वरं निरयपातोऽत्र वरं प्राणवियोजनम्।
न पुनः क्षणमार्तानामार्तिनाशादृते सुखम्॥
(पद्म० पाताल० ९७।३२-३५)

जो चन्दन-वृक्षकी भाँति दूसरोंके ताप दूर करके उन्हें आह्लादित करते हैं तथा जो परोपकारके लिये स्वयं कष्ट उठाते हैं, वे ही पुण्यात्मा हैं। संसारमें वे ही संत हैं, जो दूसरोंके दुःखोंका नाश करते हैं तथा पीड़ित जीवोंकी पीड़ा दूर करनेके लिये जिन्होंने अपने प्राणोंको तिनकेके समान निछावर कर दिया है। जो मनुष्य सदा दूसरोंकी भलाईके लिये उद्यत रहते हैं, उन्होंने ही इस पृथ्वीको धारण कर रक्खा है। जहाँ सदा अपने मनको ही सुख मिलता है, वह स्वर्ग भी नरकके ही समान है, अतः साधुपुरुष सदा दूसरोंके सुखसे ही सुखी होते हैं। यहाँ नरकमें गिरना अच्छा, प्राणोंसे वियोग हो जाना भी अच्छा; किंतु पीड़ित जीवोंकी पीड़ा दूर किये विना एक क्षण भी सुख भोगना अच्छा नहीं है।

राजा चित्रकेतु

नैवात्मा न परश्चापि
कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः।
कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ
आत्मानं परमेव च॥
गुणप्रवाह एतस्मिन्
कः शापः को न्वनुग्रहः।
कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा॥
एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया।
एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः॥
न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो
न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य
सुखे न रागः कुत एव रोषः॥
तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां
सुखाय दुःखाय हिताहिताय।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः
शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते॥
(श्रीमद्भा० ६।१७।१९-२३)

माता पार्वतीजी! सुख और दुःखको देनेवाला न तो अपना आत्मा है और न कोई दूसरा। जो अज्ञानी हैं, वे ही अपनेको अथवा दूसरेको सुख-दुःखका कर्ता माना करते हैं। यह जगत् सत्त्व, रज आदि गुणोंका स्वाभाविक प्रवाह है। इसमें क्या शाप, क्या अनुग्रह, क्या स्वर्ग, क्या नरक और क्या सुख, क्या दुःख। एकमात्र परिपूर्णतम भगवान् ही विना किसीकी सहायताके अपनी आत्मस्वरूपिणी माया-के द्वारा समस्त प्राणियोंकी तथा उनके बन्धन, मोक्ष और सुख-दुःखकी रचना करते हैं। माताजी! भगवान् श्रीहरि सबमें

सम और माया आदि मलसे रहित हैं। उनका कोई प्रिय-अप्रिय, जाति-बन्धु, अपना-पराया नहीं है। जब उनका सुख-में राग ही नहीं है, तब उनमें रागजन्य क्रोध तो हो ही कैसे सकता है। तथापि उनकी माया-शक्तिके कार्य पाप और पुण्य ही प्राणियोंके सुख-दुःख, हित-अहित, बन्ध-मोक्ष, मृत्यु-जन्म और आवागमनके कारण बनते हैं।

राजा मुचुकुन्द

प्रार्थना

लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं
कथंचिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मति-
र्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो
राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभू-
ष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥

कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसंनिभे
निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपै-
र्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः ॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥

पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन्
मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते
कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥

निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो
वरासनस्थः समराजवन्दितः ।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां
क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥

करोति कर्माणि तपस्सुनिष्ठितो
निवृत्तभोगस्तदपेक्षया ददत् ।
पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति
प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ५१ । ४७-५४)

इस पापरूप संसारसे सर्वथा रहित प्रभो! यह भूमि अत्यन्त पवित्र कर्मभूमि है, इसमें मनुष्यका जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य-जीवन इतना पूर्ण है कि उसमें भजनके लिये कोई भी असुविधा नहीं है। अपने परम सौभाग्य और भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे उसे अनायास ही प्राप्त करके भी जो अपनी मति-गति असत् संसारमें ही लगा देते हैं और तुच्छ विषय-सुखके लिये ही सारा प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्थीके अँधेरे कुएँमें पड़े रहते हैं—भगवान्‌के चरण-कमलोंकी उपासना नहीं करते—भजन नहीं करते, वे तो ठीक उस पशुके समान हैं, जो तुच्छ तृणके लोभसे तृणाच्छन्न कुएँमें गिर जाता है।

भगवन्! मैं राजा था, राज्यलक्ष्मीके मदसे मैं मतवाला हो रहा था। इस मरनेवाले शरीरको ही तो मैं आत्मा—अपना स्वरूप समझ रहा था और राजकुमार, रानी, खजाना तथा पृथ्वीके लोभ-मोहमें ही फँसा हुआ था। उन वस्तुओंकी चिन्ता दिन-रात मेरे गले लगी रहती थी। इस प्रकार मेरे जीवनका यह अमूल्य समय बिल्कुल निष्फल—व्यर्थ चला गया।

जो शरीर प्रत्यक्ष ही घड़े और भीतके समान मिट्टीका है और दृश्य होनेके कारण उन्हींके समान अपनेसे अलग भी है, उसीको मैंने अपना स्वरूप मान लिया था और फिर अपनेको मान बैठा था 'नरदेव'! इस प्रकार मैंने मदान्ध होकर आपको तो कुछ समझा ही नहीं। रथ, हाथी, घोड़े और पैदलकी चतुरङ्गिणी सेना तथा सेनापतियोंसे घिरकर मैं पृथ्वीपर इधर-उधर घूमता रहता।

मुझे यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये, इस प्रकार विविध कर्तव्य और अकर्तव्योंकी चिन्तामें पड़कर मनुष्य अपने एकमात्र कर्तव्य भगवत्प्राप्तिसे विमुख होकर प्रमत्त हो जाता है, असावधान हो जाता है। संसारमें बाँध रखनेवाले विषयोंके लिये उसकी लालसा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती ही जाती है। परंतु जैसे भूखके कारण जीभ लपलपाता हुआ साँप असावधान चूहेको दबोच लेता है, वैसे ही काल-रूपसे सदा-सर्वदा सावधान रहनेवाले आप एकाएक उस प्रमादग्रस्त प्राणीपर टूट पड़ते हैं और उसे ले बीतते हैं।

जो पहले सोनेके रथोंपर अथवा बड़े बड़े गजराजोंपर चढ़कर चलता था और नरदेव कहलाता था, वही शरीर अपने अबाध कालका ग्रास बनकर बाहर फेंक देनेपर पक्षियोंकी विष्ठा, धरतीमें गाड़ देनेपर सड़कर कीड़ा और आगमें जला देनेपर राखका ढेर बन जाता है।

प्रभो! जिसने सारी दिशाओंपर विजय प्राप्त कर ली है और जिससे लड़नेवाला संसारमें कोई रह नहीं गया है, जो श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठता है और बड़े-बड़े नरपति, जो पहले उसके समान थे, अब जिसके चरणोंमें सिर झुकाते हैं, वही पुरुष जब विषय सुख भोगनेके लिये, जो घर-गृहस्थीकी एक विशेष वस्तु है, स्त्रियोंके पास जाता है, तब उनके हाथका खिलौना, उनका पालतू पशु बन जाता है।

बहुत-से लोग विषय-भोग छोड़कर पुनः राज्यादि भोग मिलनेकी इच्छासे ही दान-पुण्य करते हैं और 'मैं फिर जन्म लेकर सबसे बड़ा परम स्वतन्त्र सम्राट् होऊँ' ऐसी कामना रखकर तपस्यामें भलीभाँति स्थित हो शुभ कर्म करते हैं। इस प्रकार जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, वह कदापि सुखी नहीं हो सकता।

अपने स्वरूपमें एकरस स्थित रहनेवाले भगवन्! जीव अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटक रहा है। जब उस चक्करसे छूटनेका समय आता है, तब उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी क्षण संतोंके आश्रय, कार्य कारणरूप जगत्के एकमात्र स्वामी आपमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़तासे लग जाती है।

न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
दकिंचनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे
वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ५१। ५६)

मैं आपके चरणोंकी सेवाके अतिरिक्त और कोई भी वर नहीं चाहता; क्योंकि जिनके पास किसी प्रकारका संग्रह-परिग्रह नहीं है, वे लोग केवल आपके चरण-कमलोंकी सेवाके लिये ही प्रार्थना करते हैं। भगवन्! भला, बतलाइये तो सही—मोक्ष देनेवाले आपकी आराधना करके ऐसा कौन श्रेष्ठ पुरुष होगा, जो अपनेको बाँधनेवाले सांसारिक विषयोंका वर माँगे।

पितामह भीष्म

अन्तकालकी अभिलाषा

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्॥
(श्रीमद्भा० १। ९। ३९)

अर्जुनके रथकी रक्षामें सावधान जिन श्रीकृष्णके बायें हाथमें घोड़ोंकी रास थी और दाहिने हाथमें चाबुक, इन दोनोंकी शोभासे उस समय जिनकी अपूर्व छवि बन गयी थी, तथा महाभारत-युद्धमें मरनेवाले वीर जिनकी इस छविका दर्शन करते रहनेके कारण सारूप्य मोक्षको प्राप्त हो गये, उन्हीं पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्णमें मुझ मरणासन्नकी परम प्रीति हो।

विजय किसकी होती है

येनोपायेन राजेन्द्र विष्णुर्भक्तसमर्चितः।
प्रीतो भवति विश्वात्मा तत्कुरुष्व सुविस्तरम्॥
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा वाजपेयशतैरपि।
प्राप्नुवन्ति नरा नैव नारायणपराङ्मुखाः॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥
(पद्म० उत्तर० ८१। १६२–१६५)

राजन्! जिस उपायसे भी भक्तपूजित विश्वात्मा भगवान् विष्णु प्रसन्न हों, वह विस्तारके साथ करो। जो मनुष्य भगवान् नारायणसे विमुख होते हैं, वे सौ अश्वमेध और सौ वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी उन्हें नहीं पा सकते। जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, उसने मोक्षतक पहुँचनेके लिये मानो कमर कस ली। जिनके हृदयमें नील कमलके समान श्यामसुन्दर भगवान् जनार्दन विराजमान हैं, उन्हींका लाभ है, उन्हींकी विजय है, उनकी पराजय कैसे हो सकती है।

श्रीकृष्ण-महिमा

वासुदेवो महद्भूतं सर्वदैवतदैवतम् ।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ ॥
मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयत्यद्भुतं महत् ।
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ॥
आपो वायुश्च तेजश्च त्रयमेतदकल्पयत् ।
स सृष्ट्वा पृथिवीं देवीं सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ॥
अप्सु वै शयनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ।
सर्वतेजोमयो देवो योगात् सुष्वाप तत्र ह ॥
मुखतः सोऽग्निमसृजत् प्राणाद् वायुमथापि च ।
सरस्वतीं च वेदांश्च मनसः ससृजेऽच्युतः ॥
एष लोकान् ससर्जादौ देवांश्च ऋषिभिः सह ।
निधनं चैव मृत्युं च प्रजानां प्रभवाप्ययौ ॥
एष धर्मश्च धर्मज्ञो वरदः सर्वकामदः ।
एष कर्ता च कार्यं च पूर्वदेवः स्वयं प्रभुः ॥
× × × ×
एष माता पिता चैव सर्वेषां प्राणिनां हरिः ॥
परं हि पुण्डरीकाक्षान्न भूतं न भविष्यति ।
(महा० भीष्म० ६७ । २–८, १७-१८)

भीष्मजीने कहा—भगवान् वासुदेव परम महान् हैं, ये सब देवताओंके भी देवता हैं। कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर कुछ भी नहीं दिखायी देता। महर्षि मार्कण्डेयने इनके विषयमें बड़ी अद्भुत बातें कही हैं। ये सर्वभूतस्वरूप हैं, सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं, परमात्मा हैं और पुरुषोत्तम हैं। जल, वायु और तेज—इन तीनकी भी इन्होंने ही रचना की है। इन सर्वलोकेश्वर देवदेव भगवान् पुरुषोत्तमने पृथ्वीकी रचना करके जलमें शयन किया। वहाँ ये विशुद्ध तेजोमय प्रभु अपनी योगमायासे निद्राके वशीभूत हो गये। उस समय इन अविनाशी परमात्माने अपने मुखसे अग्नि, प्राणोंसे वायु और मनसे सरस्वती और वेदोंको प्रकट किया। सर्गके आरम्भमें इन्होंने देवता और ऋषियोंके सहित सम्पूर्ण लोकोंकी रचना की, तथा मृत्युका कारण और प्रजाओंके उत्पत्ति और प्रलयके स्थानोंको बनाया। ये धर्म हैं, धर्मके ज्ञाता हैं, वरदायक हैं और समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। ये ही कर्ता, कार्य, आदिदेव और स्वयं भगवान् हैं तथा ये श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके माता पिता ... कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर न तो कभी कोई ... और न होगा ही।

ब्रह्म-प्राप्तिके उपाय

संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम् ।
तुष्टेर्न किंचित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥
यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति ॥
यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(महा० शान्ति० २१ । २–५)

संतोष ही सबसे बड़ा स्वर्ग है। संतोष ही सबसे बड़ा सुख है। संतोषसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। इस संतोषकी प्रतिष्ठा—स्थिरता—निम्नलिखित उपायोंसे होती है। कछुएकी भाँति जब सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, तब यह स्वयंप्रकाश आत्मा शीघ्र ही भेद-दृष्टिरूप मलको त्यागकर अपने ही स्वरूपमें स्थित हो जाता है। जब न तो इसे दूसरेका भय रहता है और न इससे दूसरे भय खाते हैं और जब यह इच्छा और द्वेषको जीत लेता है, तब इसे आत्माका साक्षात्कार होता है। जब यह मनसा-वाचा-कर्मणा किसी भी जीवके साथ न तो द्रोह करता है और न किसीसे राग ही करता है, तब इसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

विविध उपदेश

लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभान् कामः प्रवर्तते ।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥
(महा० शान्ति० १५८ । ४)

लोभसे क्रोध होता है, लोभसे कामकी प्रवृत्ति होती है तथा लोभसे ही मोह, माया, अभिमान, उद्दण्डता और पराश्रित जीवनमें रुचि आदि दोष प्रकट होते हैं।

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
(महा० शान्ति० १६२ । ५)

सत्य ही धर्म, तपस्या और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है और सत्य ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है; सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है।

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥
(महा० शान्ति० १६२ । २४)

सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है, झूठसे बढ़कर और कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्मका आधार है, अतः सत्यका कभी लोप नहीं करे।

> ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
> निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥
> मित्रद्रोही कृतघ्नश्च नृशंसश्च नराधमः।
> क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः॥
> (महा० शान्ति० १७२। २५-२६)

हे राजन्! ब्रह्महत्या करनेवाला, मदिरा पीनेवाला, चोर और व्रतका भङ्ग करनेवाला, इनका प्रायश्चित्त शास्त्रमें कहा है, परंतु कृतघ्नका प्रायश्चित्त शास्त्रमें नहीं कहा है। जो मित्रोंके साथ द्रोह करनेवाले कृतघ्नी और मनुष्योंमें अधम तथा क्रूर हैं, ऐसे लोगोंको नरमांसभक्षी पशु तथा कीड़े भी नहीं खाते।

> एक एव चरेद्धर्मं नास्ति धर्मे सहायता।
> केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति॥
> (महा० शान्ति० १९३। ३२)

धर्माचरण करनेमें दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, मनुष्य अकेला ही केवल वैदिक विधिका आश्रय लेकर धर्माचरण करे। उसमें सहायक क्या करेगा।

> धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि।
> प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते॥
> (महा० शान्ति० १९३। ३३)

धर्म मनुष्योंका मूल है, धर्म ही स्वर्गमें देवताओंको अमर बनानेवाला अमृत है, धर्मका अनुष्ठान करनेसे मनुष्य मरनेके अनन्तर नित्य सुख भोगते हैं।

> सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
> चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम्॥
> (महा० शान्ति० २५९। ३)

परम्परागत सदाचार, स्मृति और वेद—ये तीनों धर्मके स्वरूपका बोध करानेवाले हैं। विद्वान् पुरुषोंने प्रयोजन अथवा फलको भी धर्मका चौथा लक्षण माना है (अर्थात् जिसका उद्देश्य एवं परिणाम शुभ है, वह धर्म है)।

> असाधुभ्योऽस्य न भयं न चोरेभ्यो न राजतः।
> अकिंचित्कस्यचित् कुर्वन्निर्भयः शुचिरावसेत्॥
> (महा० शान्ति० २५९। १५)

जो किसीका कुछ भी अनिष्ट नहीं करता, उसे न दुष्टोंसे भय है, न चोरोंसे और न राजासे ही। वह परम पवित्र एवं निर्भय होकर रहता है।

> जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
> यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥
> (महा० शान्ति० २५९। २२)

जो स्वयं जीवित रहना चाहता है, वह दूसरोंकी हिंसा क्यों कराये। मनुष्य अपने लिये जिस-जिस बातकी इच्छा करे, वही दूसरेको भी प्राप्त हो—यों सोचता रहे।

> सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः।
> पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर॥
> (महा० शान्ति० २५९। २५)

युधिष्ठिर! जो बर्ताव अपनेको प्रिय जान पड़ता है, वही सब यदि दूसरोंके प्रति किया जाय तो उसे मनीषी पुरुष धर्म मानते हैं। संक्षेपसे धर्म-अधर्मको पहचाननेका यही लक्षण समझो।

> लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम्।
> स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम्॥
> (महा० शान्ति० २६२। २९)

जो मनुष्य जगत्‌में सम्पूर्ण जीवोंको अभय दान देता है, वह समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है और उसे भी सब ओरसे अभयदान प्राप्त हो जाता है।

> यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव।
> न स धर्ममवाप्नोति इह लोके परत्र च॥
> (महा० शान्ति० २६२। ३१)

जैसे घरमें रहनेवाले साँपसे सब लोग डरते हैं, उसी प्रकार जिस मनुष्यसे सब लोग उद्विग्न रहते हों, वह इस लोक और परलोकमें भी किसी धर्मका फल नहीं पाता।

महाराज वसुदेव

> तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः।
> आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्॥
> (श्रीमद्भा० १०। १। ४४)

जो अपना कल्याण चाहता है, उसे किसीसे द्रोह नहीं करना चाहिये; क्योंकि जीव कर्मके अधीन हो गया है और जो किसीसे भी द्रोह करेगा, उसको इस जीवनमें शत्रुसे और जीवनके बाद परलोकसे भयभीत होना ही पड़ेगा।

भक्त अक्रूर

शुभ मनोरथ

ममाद्यामङ्गलं नष्टं
फलवांश्चैव मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो
योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३८ । ६)

अवश्य ही आज मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये । आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि आज मैं भगवान्‌के उन चरणकमलोंमें साक्षात् नमस्कार करूँगा, जो बड़े-बड़े योगी-यतियोंके भी केवल ध्यानके ही विषय हैं।

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलै-
र्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगद्
यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३८ । १२)

जब समस्त पापोंके नाशक उनके परम मङ्गलमय गुण, कर्म और जन्मकी लीलाओंसे युक्त होकर वाणी उनका गान करती है, तब उस गानसे संसारमें जीवनकी स्फूर्ति होने लगती है, शोभाका संचार हो जाता है, सारी अपवित्रताएँ धुलकर पवित्रताका साम्राज्य छा जाता है; परंतु जिस वाणीसे उनके गुण, लीला और जन्मकी कथाएँ नहीं गायी जातीं, वह तो मुर्देको ही शोभित करनेवाली है, होनेपर भी नहींके समान—व्यर्थ है।

तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं
त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं
द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३८ । १४)

इसमें सन्देह नहीं कि आज मैं अवश्य ही उन्हें देखूँगा । वे बड़े-बड़े संतों और लोकपालोंके भी एकमात्र आश्रय हैं। सबके परम गुरु हैं और उनका रूप-सौन्दर्य तीनों लोकोंके मनको मोह लेनेवाला है । जो नेत्रवाले हैं, उनके लिये वह आनन्द और रसकी चरम सीमा है। इसीसे स्वयं लक्ष्मीजी भी, जो सौन्दर्यकी अधीश्वरी हैं, उन्हें पानेके लिये ललकती रहती हैं। हाँ, तो मैं उन्हें अवश्य देखूँगा; क्योंकि आज मेरा मङ्गल-प्रभात है, आज मुझे प्रातःकालसे ही अच्छे-अच्छे शकुन दीख रहे हैं।

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३८ । २२)

न तो भगवान्‌के कोई प्रिय हैं एवं न अप्रिय। न तो उनका कोई आत्मीय सुहृद् है एवं न कोई शत्रु । उनकी उपेक्षाका पात्र भी कोई नहीं है । फिर भी कल्पवृक्ष जैसे अपने निकट आकर याचना करनेवालोंको उनकी मुँहमाँगी वस्तु देता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी जो उन्हें जिस प्रकार भजता है, उसे उसी रूपमें भजते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर

गृहस्थका धर्म

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥
देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥
(महा० वन० २ । ५२—५४)

* अन्नमें सभी प्राणियोंका भाग देखनेमें आता है। अतः बलिवैश्वदेव एवं पञ्च-महायज्ञके द्वारा सबको भोजन देना चाहिये। इसी प्रकार जो भोजन नहीं बनाते, ऐसे संन्यासी आदिको भी अन्न देना गृहस्थका कर्तव्य है। आसनके लिये तृण, ठहरनेके लिये भूमि, पीनेके लिये जल और चौथी स्वागतके लिये मीठी वाणी—ये चार वस्तुएँ सत्पुरुषोंके घरमें कमी कम नहीं होतीं—सदा रहती हैं। गृहस्थ पुरुष रोग आदिसे पीड़ित मनुष्यको सोनेके लिये शय्या, जो थका-माँदा द्वारपर खड़ा

हो उसे बैठनेके लिये आसन दे; तथा प्यासेको पानी और भूखेको भोजन दे।

> पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ।
> आत्मार्थं पाचयेदन्नं न वृथा घातयेत्पशून् ।
> न च तत्स्वयमश्नीयाद् विधिवद्यन्न निर्वपेत् ॥
> (महा० वन० २ । ५७)

पुत्र, स्त्री और भृत्य—इनका भी यदि सत्कार न किया जाय तो वे अपने स्वामीको जला डालें। केवल अपने भोजनके लिये कभी रसोई न बनावे। स्वयं पशुओंकी हिंसा न करे तथा जिस अन्नको विधिपूर्वक देवता, पितर आदिके लिये अर्पण न कर सका हो, उसे गृहस्थ पुरुष स्वयं भी भोजन न करे।

अक्रोध और क्षमा

> आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
> क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ॥
> (महा० वन० २९ । ९)

जो क्रोध करनेवालेपर स्वयं क्रोध नहीं करता, वह अपनेको और दूसरेको भी महान् भयसे बचा लेता है। ऐसा पुरुष दोनोंके रोगका चिकित्सक है।

> मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः ।
> क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥
> (महा० वन० २९ । १४)

द्रौपदी ! साधुपुरुष इस संसारमें क्रोधको जीतनेकी ही प्रशंसा करते हैं। क्षमावान् साधुके लिये यहाँ नित्य विजय है—यह संतोंका मत है।

> दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यञ्च शीघ्रत्वमिति तेजसः ।
> गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥
> (महा० वन० २९ । २०)

कार्यदक्षता, अमर्ष (शत्रुद्वारा किये हुए तिरस्कारको सहन न कर सकनेका भाव), शूरता और शीघ्रता—ये सब तेजके गुण हैं। क्रोधके वशमें रहनेवाले मनुष्यको ये गुण सुगमतासे नहीं प्राप्त होते।

> क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् ।
> य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥
> क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतञ्च भावि च ।
> क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत ॥

> अति यज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च ।
> अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ॥
> अन्ये वै यजुषां लोकाः कर्मिणामपरे तथा ।
> क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ॥
> क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
> क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥
> तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ।
> यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥
> (महा० वन० २९ । ३६–४१)

क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है, क्षमा स्वाध्याय है। जो मनुष्य क्षमाके इस सर्वोत्कृष्ट स्वरूपको जानता है, वह सब कुछ क्षमा कर सकता है। क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा ही भूत-भविष्यत् है। क्षमा तप है, क्षमा पवित्रता है, क्षमाने ही इस जगत्को धारण कर रक्खा है। याज्ञिकोंको, वेदज्ञोंको और तपस्वियोंको जो लोक मिलते हैं, उनसे भी ऊपरके लोक क्षमावानोंको मिलते हैं। यज्ञ करनेवाले एवं कुँआ आदि बनवानेवालोंको दूसरे-दूसरे लोक मिलते हैं, परंतु क्षमावानोंको ब्रह्मलोकके परम पूजित (श्रेष्ठ) लोक मिलते हैं। क्षमा तेजस्वियोंका तेज है, तपस्वियोंका ब्रह्म है और सत्यवानोंका सत्य है। क्षमा ही लोकोपकार, क्षमा ही शान्ति है। क्षमामें ही सारे लोक, लोकोपकार—यज्ञ, सत्य और ब्रह्म प्रतिष्ठित हैं। द्रौपदी ! ऐसी क्षमाका हम-जैसे लोग कैसे त्याग करें ?

> क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
> इह सम्मानमर्च्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥
> येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाभिहतः सदा ।
> तेषां परतरे लोकास्तस्मात्क्षान्तिः परा मता ॥
> (महा० वन० २९ । ४३-४४)

क्षमावान् पुरुषोंका ही यह लोक और परलोक है। क्षमावान् मनुष्य इस लोकमें सम्मान और परलोकमें शुभ गति पाते हैं। जिन मानवोंका क्रोध सदा क्षमासे दबा रहता है, उन्हें श्रेष्ठतर लोक प्राप्त होते हैं; इसलिये क्षमाको सबसे श्रेष्ठ गुण माना गया है।

सदुपदेश

> स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
> स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥
> (महा० वन० ३१३ । ९६)

अपने धर्ममें स्थिर रहना ही स्थिरता है। इन्द्रियोंका

संयम ही धैर्य है, मानसिक मलका त्याग ही वास्तवमें स्नान है तथा समस्त प्राणियोंकी रक्षा ही दान है ।

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥
(महा० वन० ३१३ । ९८)

जो धर्मका ज्ञाता है, उसे ही पण्डित जानना चाहिये । जो नास्तिक है—ईश्वर और परलोककी सत्तापर विश्वास नहीं करता, वही मूर्ख कहलाता है। जो संसार-बन्धनका कारण है, उसीका नाम काम है और मानसिक संताप ही मत्सर माना गया है ।

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥
(महा० वन० ३१३ । ११०)

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा दूसरे-दूसरे जो शास्त्रविचारक लोग हैं, वे सभी यदि व्यसनी हैं (किसी व्यसनमें आसक्त हैं) तो मूर्ख हैं; जो कर्मठ है (शास्त्राज्ञाके अनुसार कार्य करनेवाला है), वही पण्डित है ।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥
(महा० वन० ३१३ । ११६)

जीव प्रतिदिन यहाँसे यमराजके घर जा रहे हैं; फिर भी जो लोग अभी शेष हैं, वे यहीं स्थिर रहना चाहते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है ।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
(महा० वन० ३१३ । ११७)

तर्कका कोई स्थिर आधार नहीं है (अतः वह किसी निश्चयपर नहीं पहुँचाता), श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न हैं; कोई भी एक मुनि ऐसा नहीं, जिसका मत सबके लिये प्रमाणभूत हो; धर्मका वास्तविक रहस्य तो हृदयरूपी गुहामें छिपा है; अतः महापुरुष जिस मार्गसे गये हैं, वही उत्तम पथ है ।

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥
(महा० वन० ३१३ । ११८)

काल इस महामोहमय कड़ाहेमें सब प्राणियोंको डालकर सूर्यरूपी आग और रात्रि-दिवसरूपी ईंधनकी आँचद्वारा तथा मास-ऋतुरूपी करछुलसे चला-चलाकर पका रहा है—यही यहाँकी प्रसिद्ध वार्ता है ।

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥
(महा० वन० ३१३ । ५८)

देवता, अतिथि, भृत्यवर्ग, पितर और आत्मा—इन पाँचोंका जो पोषण नहीं करता, वह साँस लेता हुआ भी जीवित नहीं है ।

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरा तृणात् ॥
(महा० वन० ३१३ । ६०)

माता भूमिसे अधिक भारी (गौरवमयी) है, पिता आकाशसे भी अधिक ऊँचा है । मन वायुसे भी तेज चलनेवाला है और चिन्ता तृणसे भी अधिक (जलनेवाली) है।

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेष्ठमारोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥
(महा० वन० ३१३ । ७४)

धन-प्राप्तिके साधनोंमें दक्षता (चतुरता) ही सबसे उत्तम है, धनोंमें उत्तम है विद्या, लाभोंमें सबसे श्रेष्ठ लाभ है आरोग्य तथा सुखोंमें सबसे उत्तम है संतोष ।

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यस्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्न जीर्यते ॥
(महा० वन० ३१३ । ७६)

क्रूरताका त्याग एवं दया ही सबसे उत्तम धर्म है । तीनों वेदोंमें बताया हुआ धर्म ही सदा फल देनेवाला है। मनका संयम करके मनुष्य शोकमें नहीं पड़ते और साधुपुरुषोंके साथ की हुई सन्धि (मैत्री) कभी नष्ट नहीं होती ।

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वार्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥
(महा० वन० ३१३ । ७८)

मान त्याग देनेपर मनुष्य सबका प्रिय होता है, क्रोध छोड़ देनेपर वह शोक नहीं करता, कामका त्याग कर देनेपर धनवान् होता है और लोभ छोड़ देनेपर सुखी हो जाता है।

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः॥
(३१३।९२)

क्रोध अत्यन्त दुर्जय शत्रु है, लोभ असाध्य रोग है, सब प्राणियोंका हित चाहनेवाला पुरुष साधु है और दयाहीन मानव असाधु माना गया है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(३१३।१२८)

धर्म ही हत (परित्यक्त) होनेपर मनुष्यको मारता है और वही रक्षित (पालित) होनेपर रक्षा करता है; अतः मैं धर्मका त्याग नहीं करता—इस भयसे कि कहीं मारा (त्यागा) हुआ धर्म हमारा ही वध न कर डाले।

भक्त अर्जुन

धर्मपालनका महत्त्व

यज्जीवितं चाचिरांशुसमानं क्षणभङ्गुरम्।
तच्चेद्धर्मकृते याति यातु दोषोऽस्ति को ननु॥
जीवितं च धनं दारा पुत्राः क्षेत्रं गृहाणि च।
याति येषां धर्मकृते त एव भुवि मानवाः॥
(स्कन्द० मा० कुमा० १।२१-२२)

जीवन बिजलीकी चमकके समान क्षणभङ्गुर है। वह यदि धर्म-पालनके लिये चला जाता—नष्ट हो जाता है, तो जाय; इसमें क्या दोष है। जिनके जीवन, धन, स्त्री, पुत्र, खेत और घर धर्मके काममें चले जाते हैं, वे ही इस पृथ्वीपर मनुष्य कहलानेके अधिकारी हैं।

प्रार्थना

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥

महात्मन्! ब्रह्माजीके भी आदिकारणभूत कर्ता और सबसे महान् आप परमेश्वरको वे (सभी) क्यों न नमस्कार करें। अनन्त, देवेश, जगन्निवास! आप अक्षर, सत्, असत् और इनसे जो परे हैं, वे हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

आप आदिदेव, पुरातन पुरुष, इस विश्वके परम निधान, (सबके) जाननेवाले और जाननेयोग्य तथा परम धाम भी आप ही हैं। अनन्तरूप! आपसे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

आप वायु, यम, अग्नि, चन्द्रमा, प्रजापति और पितामह हैं। आपको सहस्र-सहस्र नमस्कार है और फिर बार-बार आपको नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

हे सर्वरूप! आपको आगेसे, पीछेसे तथा सभी ओरसे बार-बार नमस्कार है। आप अनन्त शक्ति और अपरिमेय पराक्रमवाले हैं। आप सबको व्याप्त कर रहे हैं, अतएव आप सर्वरूप हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

आप इस चराचर लोकके पिता और शिक्षक हैं। अतः श्रेष्ठतम, परम पूज्य हैं। अप्रतिम प्रभावशाली! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा नहीं, फिर आपसे बढ़कर तो है ही कहाँ।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥

अतएव मैं दण्डवत् प्रणाम करके आप स्तुति करने योग्य ईश्वरको प्रसन्न करता हूँ। जैसे पिता पुत्रकी, मित्र मित्रकी सब कुछ सहता है, वैसे ही हे देव! आप प्रियतम मुझ प्रेमीकी सब कुछ सहन कीजिये।

(गीता ११।३७-४०, ४३-४४)

भक्त उद्धव

भगवान् श्रीकृष्ण और गोपीजनोंकी महिमा

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ३२)

जो जीव मृत्युके समय अपने शुद्ध मनको एक क्षणके लिये भी उनमें लगा देता है, वह समस्त कर्म-वासनाओंको धो बहाता है और शीघ्र ही सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्रह्ममय होकर परम गतिको प्राप्त होता है ।

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्
किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ३३)

वे भगवान् ही, जो सबके आत्मा और परम कारण हैं, भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करने और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मनुष्यका-सा शरीर ग्रहण करके प्रकट हुए हैं । उनके प्रति आप दोनों (नन्द-यशोदा) का ऐसा सुदृढ़ वात्सल्य-भाव है; फिर महात्माओ ! आप दोनोंके लिये अब कौन-सा शुभ कर्म करना शेष रह जाता है ।

दृष्टं श्रुतं भूतभवद् भविष्यत्
स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४३)

जो कुछ देखा या सुना जाता है—वह चाहे भूतसे ...ध रखता हो, वर्तमानसे अथवा भविष्यसे; स्थावर हो जंगम हो, महान् हो अथवा अल्प हो—ऐसी कोई वस्तु ... नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णसे पृथक् हो । श्रीकृष्णके ... ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें । ... *सब वे ही हैं, वे ही परमार्थ सत्य हैं ।*

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५८)

'इस पृथ्वीपर केवल इन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेममय दिव्य भावमें स्थित हो गयी हैं । प्रेमकी यह ऊँची-से-ऊँची स्थिति संसारके भयसे भीत मुमुक्षुजनोंके लिये ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुनियों—मुक्त पुरुषों तथा हम भक्तजनोंके लिये भी अभी वाञ्छनीय ही है । हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी । सत्य है, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाके रसका चसका लग गया है, उन्हें कुलीनताकी, द्विजातिसमुचित संस्कारकी और बड़े-बड़े यज्ञ-यागोंमें दीक्षित होनेकी क्या आवश्यकता है । अथवा यदि भगवान्‌की कथाका रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई, तो अनेक महाकल्पोंतक बार-बार *ब्रह्मा होनेसे ही* क्या लाभ ।

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५९)

कहाँ ये वनचरी आचार, ज्ञान और जातिसे हीन गाँवकी गँवार ग्वालिनें और कहाँ सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णमें यह अनन्य परम प्रेम ! अहो, धन्य है ! इससे सिद्ध होता है कि यदि कोई भगवान्‌के स्वरूप और रहस्यको न जानकर भी उनसे प्रेम करे, उनका भजन करे, तो वे स्वयं अपनी शक्तिसे, अपनी कृपासे उसका परम कल्याण कर देते हैं—*ठीक वैसे ही, जैसे कोई अनजानमें भी* अमृत पी ले तो वह अपनी वस्तुशक्तिसे ही पीनेवालेको अमर बना देता है ।

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६०)

भगवान् श्रीकृष्णने रासोत्सवके समय इन व्रजाङ्गनाओंके गलेमें बाँह डाल-डालकर इनके मनोरथ पूर्ण किये। इन्हें भगवान्ने जिस कृपा-प्रसादका वितरण किया, इन्हें जैसा प्रेमदान किया, वैसा भगवान्की परमप्रेमवती नित्यसङ्गिनी वक्षःस्थलपर विराजमान लक्ष्मीजीको भी नहीं प्राप्त हुआ। कमलकी-सी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त देवाङ्गनाओंको भी नहीं मिला। फिर दूसरी स्त्रियोंकी तो बात ही क्या करें।

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावनधाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि—जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ! अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलि निरन्तर सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी—इनकी चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ। देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है। औरोंकी तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अबतक भगवान्के परम प्रेममय स्वरूपको ढूँढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं।

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६२)

स्वयं भगवती लक्ष्मीजी जिनकी पूजा करती रहती हैं; ब्रह्मा, शंकर आदि परम समर्थ देवता, पूर्णकाम आत्माराम और बड़े-बड़े योगेश्वर अपने हृदयमें जिनका चिन्तन करते रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्णके उन्हीं चरणारविन्दोंको रास-लीलाके समय गोपियोंने अपने वक्षःस्थलपर रखा और उनका आलिङ्गन करके अपने हृदयकी जलन, विरह-व्यथा शान्त की!

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

नन्दबाबाके व्रजमें रहनेवाली गोपाङ्गनाओंकी चरण-धूलिको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ—उसे सिरपर चढ़ाता हूँ। अहा! इन गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाके सम्बन्धमें जो कुछ गान किया है, वह तीनों लोकोंको पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा।

संत विदुर

हरिगुणानुवादकी महिमा

कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्
सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात्।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो
भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति॥
(श्रीमद्भा० ३।५।११)

उन तीर्थपाद श्रीहरिके गुणानुवादसे तृप्त हो भी कौन सकता है। उनका तो नारदादि महात्मागण भी आप-जैसे साधुओंके समाजमें कीर्तन करते हैं तथा जब वे मनुष्योंके कानोंमें प्रवेश करते हैं, तब उनकी संसार-चक्रमें डालनेवाली घर-गृहस्थीकी आसक्तिको काट डालते हैं।

सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना
विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य
समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते॥
(श्रीमद्भा० ३।५।१३)

वह भगवत्कथाकी रुचि श्रद्धालु पुरुषके हृदयमें ज्यों-ज्यों बढ़ने लगती है, त्यों-त्यों अन्य विषयोंसे उसे विरक्त कर देती है। वह भगवच्चरणोंके निरन्तर चिन्तनसे आनन्दमग्न हो जाता है और उस पुरुषके सभी दुःखोंका तत्काल अन्त हो जाता है।

ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे
हरेः कथायां विमुखानघेन।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा-
मायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम्॥
(श्रीमद्भा० ३।५।१४)

रगाः ।
जनाः ॥
(३४ । ३४)
राजा जागूनोंसे

जनीश्वरः ।
सः ॥
(३४ । ६२)
भी इन्द्रियोंपर
न रखनेके कारण

प्रियवादिता ।
दुरात्मनाम् ॥
(३४ । ७२)
वित्रता, संतोष, प्रिय
ापण तथा क्लेशका
ेहोते ।

ण्डविधिर्बलम् ।
ुणवतां बलम् ॥
(३४ । ७५)
राजाओंका बल है दण्ड
ानोंका बल है क्षमा ।

वाक् सुभाषिता ।
जनर्थायोपपद्यते ॥
(३४ । ७७)
हुई बात अनेक प्रकारसे
ही यदि कटु शब्दोंमें कही
न जाती है ।

पतन्ति
ोचति रात्र्यहानि ।
पतन्ति
नात्रसृजेत्परेभ्यः ॥
(३४ । ८०)
रते और वे दूसरोंके मर्मपर ही
हुआ मनुष्य रात-दिन शोक-
प्रयोग विद्वान् पुरुष दूसरोंपर

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥
(३५ । २)

सब तीर्थोंमें स्नान अथवा सब प्राणियोंके साथ कोमलताका बर्ताव—ये दोनों एक समान हो सकते हैं। अथवा कोमलताका बर्ताव इनमें विशेष महत्त्व रखता है।

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥
(३५ । ५०)

बुढ़ापा सुन्दर रूपको, आशा धीरताको, मृत्यु प्राणोंको, दोष देखनेकी प्रवृत्ति धर्माचरणको, क्रोध लक्ष्मीको, नीच पुरुषोंकी सेवा अच्छे शील स्वभावको, काम लज्जाको और अभिमान सबको नष्ट कर देता है।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥
(३५ । ५८)

जिस सभामें बड़े-बूढ़े नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मकी बात न कहें, वे बड़े-बूढ़े नहीं; जिसमें सत्य नहीं है, वह धर्म नहीं और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है।

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥
(३५ । ५९)

सत्य, रूप, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और विचित्र ढंगसे चमत्कारपूर्ण बातें कहना—ये दस स्वर्गके साधन हैं।

तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥
(३५ । ६१)

इसलिये उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले पुरुषको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि बारंबार किया हुआ पाप बुद्धिको नष्ट कर देता है।

पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥
(३५ । ६८)

मुझे तो उन शोचनीयोंके भी शोचनीय अज्ञानी पुरुषोंके लिये निरन्तर खेद रहता है, जो अपने पिछले पापोंके कारण श्रीहरिकी कथाओंसे विमुख रहते हैं। हाय ! काल भगवान् उनके अमूल्य जीवनको काट रहे हैं और वे वाणी, देह तथा मनसे व्यर्थ वाद-विवाद, व्यर्थ चेष्टा और व्यर्थ चिन्तनमें लगे रहते हैं।

विविध उपदेश

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते॥
(महा० उद्योग० ३३ । २५)

जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थका ही अनुसरण करती है तथा जो भोगको छोड़कर पुरुषार्थका ही वरण करता है, वही पण्डित कहलाता है।

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥
(महा० उद्योग० ३३ । ५५)

इस जगत्में क्षमा वशीकरणरूप है। भला, क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता। जिसके हाथमें शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्टलोग क्या कर लेंगे।

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान्॥
(३३ । ५८)

राजन् ! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला।

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥
(३३ । ६०)

जो धनी होनेपर भी दान न दे और दरिद्र होनेपर भी कष्ट-सहन न कर सके इन दो प्रकारके मनुष्योंको गलेमें पत्थर बाँधकर पानीमें डुबा देना चाहिये।

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः॥
(३३ । ७०)

दूसरेके धनका अपहरण, दूसरेकी स्त्रीका संसर्ग तथा सुहृद्का त्याग—ये तीनों दोष क्षय करनेवाले हैं।

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतान्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत्॥
(३३ । ७२)

भक्त, सेवक तथा 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकारके शरणागत मनुष्योंको संकटमें पड़नेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये।

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥
(३३ । ७५)

तात ! गृहस्थधर्ममें स्थित एवं लक्ष्मीसे सेवित आपके घरमें इन चार प्रकारके मनुष्योंको सदा रहना चाहिये—अपने कुटुम्बका बूढ़ा, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहिन। अर्थात् धनी पुरुष इन चारोंको आदरपूर्वक घरमें रक्खे।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥
(३३ । ८३)

उन्नति चाहनेवाले पुरुषको निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषोंका त्याग कर देना चाहिये।

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥
(३३ । ११२)

जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता तथा धन देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है।

[illegible] भूतानि [illegible] इव।
[illegible] महीं [illegible] न [illegible]॥
(३४ । [illegible])

जैसे [illegible] होता है, उसी प्रकार जिसने [illegible] [illegible] [illegible] है।

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥
(३४ । ३४)

गौएँ गन्धसे, ब्राह्मणलोग वेद-शास्त्रोंसे, राजा जासूसोंसे और अन्य सब लोग आँखोंसे देखा करते हैं ।

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भ्रश्यते हि सः ॥
(३४ । ६३)

जो प्रचुर धनराशिका स्वामी होकर भी इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं रखता, वह इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण ही ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ।

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥
(३४ । ७२)

गुणोंमें दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, संतोष, प्रिय वचन बोलना, इन्द्रिय-दमन, सत्यभाषण तथा क्लेशका अभाव—ये सद्गुण दुरात्मा पुरुषोंमें नहीं होते ।

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥
(३४ । ७५)

दुष्ट पुरुषोंका बल है हिंसा, राजाओंका बल है दण्ड देना, स्त्रियोंका बल है सेवा और गुणवानोंका बल है क्षमा ।

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥
(३४ । ७७)

राजन् ! मधुर शब्दोंमें कही हुई बात अनेक प्रकारसे कल्याणकी प्राप्ति कराती है; किंतु वही यदि कटु शब्दोंमें कही जाय तो महान् अनर्थका कारण बन जाती है ।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य ना मर्मसु ते पतन्ति
तान्पण्डितो नावसृजेत्परेभ्यः ॥
(३४ । ८०)

वचनरूपी बाण मुखसे निकलते और वे दूसरोंके मर्मपर ही चोट पहुँचाते हैं, जिनसे आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोक-ग्रस्त रहता है; अतः उनका प्रयोग विद्वान् पुरुष दूसरोंपर कदापि न करे ।

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥
(३५ । २)

सब तीर्थोंमें स्नान अथवा सब प्राणियोंके साथ कोमलता-का बर्ताव—ये दोनों एक समान हो सकते हैं । अथवा कोमलताका बर्ताव इनमें विशेष महत्त्व रखता है ।

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥
(३५ । ५०)

बुढ़ापा सुन्दर रूपको, आशा धीरताको, मृत्यु प्राणोंको, दोष देखनेकी प्रवृत्ति धर्माचरणको, क्रोध लक्ष्मीको, नीच पुरुषोंकी सेवा अच्छे शील स्वभावको, काम लज्जाको और अभिमान सबको नष्ट कर देता है ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥
(३५ । ५८)

जिस सभामें बड़े-बूढ़े नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मकी बात न कहें, वे बड़े-बूढ़े नहीं; जिसमें सत्य नहीं है, वह धर्म नहीं और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है ।

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥
(३५ । ५९)

सत्य, रूप, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और विचित्र ढंगसे चमत्कारपूर्ण बातें कहना—ये दस स्वर्गके साधन हैं ।

तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥
(३५ । ६१)

इसलिये उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले पुरुषको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि बारंबार किया हुआ पाप बुद्धि-को नष्ट कर देता है ।

पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥
(३५ । ६८)

युवावस्थामें वह कर्म करे, जिससे वृद्धावस्थामें सुख-पूर्वक रह सके तथा सारे जीवनभर वह कार्य करे, जिससे मरनेके बाद भी सुखपूर्वक रह सके।

मा नः कुले वैरकृत्कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥
(३६।३२)

हमारे कुलमें कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो और मित्रद्रोही, कपटी तथा असत्यवादी भी न हो। इसी प्रकार हमारे कुलमें कोई देवता एवं अतिथियोंको भोजन देनेसे पहले स्वयं भोजन करनेवाला भी न हो।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥
(३६।३४)

तृणका आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोंके घरमें इन चार वस्तुओंकी कमी नहीं होती।

संतापाद्भ्रश्यते रूपं संतापाद्भ्रश्यते बलम्।
संतापाद्भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद्व्याधिमृच्छति ॥
(३६।४४)

संतापसे रूप नष्ट होता है, संतापसे बल नष्ट होता है, [illegible]तापसे ज्ञान नष्ट होता है और संतापसे मनुष्य रोगको प्राप्त [illegible]ता है।

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित्।
[illegible]स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥
(३७।३९)

[illegible] उत्पन्न कर उन्हें ऋणके भारसे मुक्त करके उन[illegible]की जीविकाका प्रबन्ध कर दे। फिर कन्याओंका योग्य [illegible] विवाह कर देनेके पश्चात् वनमें मुनिवृत्तिसे रहनेकी [illegible]।

[illegible] महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
[illegible] स्त्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः ॥
(३८।११)

[illegible] कल्याणकी भागिनी होती हैं। ये अत्यन्त सौभाग्य-शालिनी, पूजाके योग्य, पवित्र तथा घरकी शोभा हैं; अतः इनकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये।

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥
(३८।३८)

धैर्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियसंयम, पवित्रता, दया, कोमल वाणी तथा मित्रसे द्रोह न करना—ये सात बातें सम्पत्तिको बढ़ानेवाली हैं (धनरूपी आगको प्रज्वलित करनेवाले ईंधन हैं)।

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥
(३९।६१)

जो दुःख-पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साहरहित हैं, उनके यहाँ लक्ष्मीका वास नहीं होता।

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम्।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥
(४०।१२)

तात! मैं यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सर्वोपरि पुण्य-जनक बात बता रहा हूँ—कामनासे, भयसे, लोभसे तथा इस जीवनके लिये भी कभी धर्मका त्याग न करे।

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥
(४०।२१)

भारत! यह जीवात्मा एक नदी है, इसमें पुण्य ही तीर्थ है, सत्यस्वरूप परमात्मासे ही इसका उद्गम हुआ है, धैर्य ही इसके किनारे हैं, इसमें दयाकी लहरें उठती हैं, पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इसमें स्नान करके पवित्र होता है और लोभरहित ही सदा पवित्र है।

[illegible] शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥
(४०।[illegible])

शिश्न और उदरकी [illegible]

और मुखके वेगको धैर्यपूर्वक सहे। इसी प्रकार नेत्रोंद्वारा रूप और पैरोंकी, मनके द्वारा नेत्र और कानोंकी तथा सत्कर्मोंद्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे।

> क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
> इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
> अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता।
> एतानि यस्य राजेन्द्र स दान्तः पुरुषः स्मृतः॥
> कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम्।
> मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद्दान्तो निषेवते॥
> अजिह्ममशठं शुद्धमेतद्दान्तस्य लक्षणम्।
> (महा० उद्योग० ६३। १४—१६)

राजन्! जिस पुरुषमें क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रियनिग्रह, धैर्य, मृदुलता, लज्जा, अचञ्चलता, अदीनता, अक्रोध, संतोष और श्रद्धा—इतने गुण हों, वह दान्त (दमयुक्त) कहा जाता है। दमनशील पुरुष काम, लोभ, दर्प, क्रोध, निद्रा, बढ़-बढ़कर बातें करना, मान, ईर्ष्या और शोक—इन्हें तो अपने पास नहीं फटकने देता। कुटिलता और शठतासे रहित होना तथा शुद्धतासे रहना—यह दमशील पुरुषका लक्षण है।

भक्त सञ्जय

श्रीकृष्णकी महिमा

> यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
> ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥
> पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
> विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः॥
> कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
> आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥
> कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
> ईशे हि भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥
> तेन वंचयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
> ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः॥
> (महा० उद्योग० ६८। ९-१०, १२-१३, १५)

श्रीकृष्ण तो वहीं रहते हैं जहाँ सत्य, धर्म, लज्जा और सरलताका निवास होता है और जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं विजय रहती है। वे सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम जनार्दन मानो क्रीडा-से ही पृथ्वी, आकाश और स्वर्गलोकको प्रेरित कर रहे हैं। ये श्रीकेशव ही अपनी चिच्छक्तिसे अहर्निश कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्रको घुमाते रहते हैं। मैं सच कहता हूँ—एकमात्र वे ही काल, मृत्यु और सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत्के स्वामी हैं तथा अपनी मायाके द्वारा लोकोंको मोहमें डाले रहते हैं। जो लोग केवल उन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे ही मोहमें नहीं पड़ते।

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
> (गीता १८। ७८)

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और निश्चल नीति है—यह मेरा मत है।

इन्द्रियनिग्रह

> नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम्।
> आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्॥
> इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः।
> अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम्॥
> इन्द्रियाणां यमे यत्तो भव राजन्नतन्द्रितः।
> एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन यान्ति मनीषिणः॥
> (महा० उद्योग० ६९। १७-२०)

कोई अजितेन्द्रिय पुरुष श्रीहृषीकेश भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके सिवा उन्हें पानेका कोई और मार्ग नहीं है। इन्द्रियाँ बड़ी उन्मत्त हैं, इन्हें जीतनेका साधन सावधानीसे भोगोंको त्याग देना है। प्रमाद और हिंसासे दूर रहना—निःसंदेह ये ही ज्ञानके मुख्य कारण हैं। इन्द्रियोंको सावधानीके साथ अपने काबूमें रक्खो। वास्तवमें यही ज्ञान है और यही मार्ग है जिससे कि बुद्धिमान् लोग उस परमपदकी ओर बढ़ते हैं।

धर्माचरणकी महत्ता

निबन्धनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात्॥
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः॥
(महा० उद्योग० २७ । ५-६)

पार्थ! इस जगत्‌के भीतर धनकी तृष्णा बन्धनमें डालनेवाली है, उसमें आसक्त होनेवाले मनुष्योंके धर्ममें ही बाधा आती है। जो धर्मको अङ्गीकार करता है, वही ज्ञानी है। भोगोंकी इच्छा करनेवाला मानव अर्थसिद्धिसे भ्रष्ट हो जाता है। तात! धर्माचरण ही प्रधान कर्म है, इसका पालन करके मनुष्य सूर्यकी भाँति महाप्रतापी रूपमें प्रकाशित होता है। जो धर्मसे हीन है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य पाकर भी पापमें मन लगानेके कारण महान् कष्ट भोगता है।

राजा परीक्षित्

भगवान्‌का गुणानुवाद

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥
(श्रीमद्भा० १० । १ । ४)

जिनकी तृष्णाकी प्यास सर्वदाके लिये बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष जिसका पूर्ण प्रेमसे अतृप्त रहकर गान किया करते हैं, मुमुक्षुजनोंके लिये जो भवरोगका रामबाण औषध है तथा विषयी लोगोंके लिये भी उनके कान और मनको परम आह्लाद देनेवाला है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे सुन्दर, सुखद, रसीले, गुणानुवादसे पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्यके अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे!

मातलि

शरीरके दोष

यथा जात्यैव कृष्णोर्णा न शुक्ला जातु जायते।
संशोध्यमानापि तथा भवेन्मूर्तिर्न निर्मला॥
जिघ्रन्नपि स्वदुर्गन्धं पश्यन्नपि मलं स्वकम्।
न विरज्येत लोकोऽयं पीडयन्नपि नासिकाम्॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं येन व्यामोहितं जगत्।
जिघ्रन् पश्यन् स्वकान् दोषान् कायस्य न विरज्यते॥
स्वदेहाशुचिगन्धेन यो विरज्येत मानवः।
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते॥
(पद्म० भूमि० ६६ । ७७-८०)

जैसे जन्मसे ही काले रंगकी ऊन धोनेसे कभी सफेद नहीं होती, उसी प्रकार यह शरीर धोनेसे भी पवित्र नहीं हो सकता। मनुष्य अपने शरीरके मलको अपनी आँखों देखता है, उसकी दुर्गन्धका अनुभव करता है और उससे बचनेके लिये नाक भी दबाता है; किंतु फिर भी उसके मनमें वैराग्य नहीं होता। अहो! मोहका कैसा माहात्म्य है, जिससे सारा जगत् मोहित हो रहा है। अपने शरीरके दोषोंको देखकर और सूँघकर भी वह उससे विरक्त नहीं होता। जो मनुष्य अपने देहकी अपवित्र गन्धसे घृणा करता है, उसे वैराग्यके लिये और क्या उपदेश दिया जा सकता है।

धनके दुःख

अर्थस्योपार्जने दुःखं दुःखमर्जितरक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखमर्थस्यैव कुतः सुखम्॥
चौरेभ्यः सलिलेभ्योऽग्नेः स्वजनात् पार्थिवादपि।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योर्देहभृतामिव॥
खे यथा पक्षिभिर्मांसं भुज्यते श्वापदैर्भुवि।
जले च भक्ष्यते मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान्॥
विमोहयन्ति सम्पत्सु तापयन्ति विपत्सु च।
खेदयन्त्यर्जने दुःखं कथमर्थाः सुखावहाः॥
(पद्म० भूमि० ६६ । १४८-१५१)

पहले तो धनके पैदा करनेमें कष्ट होता है, फिर पैदा किये हुए धनकी रखवालीमें क्लेश उठाना पड़ता है; इसके बाद यदि कहीं वह नष्ट हो जाय तो दुःख और खर्च हो जाय तो भी दुःख होता है। भला, धनमें सुख है ही कहाँ। जैसे देहधारी प्राणियोंको सदा मृत्युसे भय होता है, उसी प्रकार धनवानोंको चोर, पानी, आग, कुटुम्बियों तथा राजासे भी हमेशा डर बना रहता है। जैसे मांसको आकाशमें पक्षी, पृथ्वीपर हिंसक जीव और जलमें मत्स्य आदि जन्तु भक्षण करते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र धनवान् पुरुषको लोग नोचते-खसोटते रहते हैं। सम्पत्तिमें धन सबको मोहित करता—उन्मत्त बना देता है, विपत्तिमें संताप पहुँचाता है और उपार्जनके समय दुःखका अनुभव कराता है; फिर धनको कैसे सुखदायक कहा जाय।

शुद्धि

चित्तं शोधय यत्नेन किमन्यैर्बाह्यशोधनैः ।
भावतः शुचिः शुद्धात्मा स्वर्गं मोक्षं च विन्दति ॥
ज्ञानामलाम्भसा पुंसः सद्वैराग्यमृदा पुनः ।
अविद्यारागविण्मूत्रलेपो नश्येद् विशोधनैः ॥
एवमेतच्छरीरं हि निसर्गादशुचि विदुः ।
अध्यात्मसारनिस्सारं कदलीसारसंनिभम् ॥
ज्ञात्वैव देहदोषं यः प्राज्ञः स शिथिलो भवेत् ।
सोऽतिक्रामति संसारं.......................... ॥
एवमेतन्महाकष्टं जन्मदुःखं प्रकीर्तितम् ।
(पद्म० भूमि० ६६ । ८०–८४)

तुम यत्नपूर्वक अपने मनको शुद्ध करो, दूसरी-दूसरी बाह्य शुद्धियोंसे क्या लेना है। जो भावसे पवित्र है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वही स्वर्ग तथा मोक्षको प्राप्त करता है। उत्तम वैराग्यरूपी मिट्टी तथा ज्ञानरूप निर्मल जलसे माँजने धोनेपर पुरुषके अविद्या तथा रागरूपी मल-मूत्रका लेप नष्ट होता है। इस प्रकार इस शरीरको स्वभावतः अपवित्र माना गया है। केलेके वृक्षकी भाँति यह सर्वथा सारहीन है; अध्यात्मज्ञान ही इसका सार है। देहके दोषको जानकर जिसे इससे वैराग्य हो जाता है, वह विद्वान् संसार-सागरसे पार हो जाता है। इस प्रकार महान् कष्टदायक जन्मकालीन दुःखका वर्णन किया गया।

धर्मके दस साधन

अहिंसा क्षमा सत्यं ह्रीः श्रद्धेन्द्रियसंयमः ।
दानमिज्या तपो ध्यानं दशकं धर्मसाधनम् ॥
अन्नदः प्राणदः प्रोक्तः प्राणदश्चापि सर्वदः ॥
तस्मादन्नप्रदानेन सर्वदानफलं भवेत् ।
यस्मादन्नेन पुष्टाङ्गः कुरुते पुण्यसंचयम् ।
अन्नप्रदातुस्तस्यार्धं कर्तुश्चार्धं न संशयः ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां देहः परमसाधनम् ।
स्थितिस्तस्यान्नपानाभ्यामतस्तत् सर्वसाधनम् ॥
तस्मादन्नसमं दानं न भूतं न भविष्यति ॥
त्रयाणामपि लोकानामुदकं जीवनं स्मृतम् ।
पवित्रमुदकं दिव्यं शुद्धं सर्वरसाश्रयम् ॥
(पद्म० भूमि० ६९ । ५, १७–२२)

अहिंसा, क्षमा, सत्य, लज्जा, श्रद्धा, इन्द्रियसंयम, दान, यज्ञ, ध्यान और ज्ञान—ये धर्मके दस साधन हैं। अन्न देनेवालेको प्राणदाता कहा गया है और जो प्राणदाता है, वही सब कुछ देनेवाला है। अतः अन्न-दान करनेसे सब दानोंका फल मिल जाता है। अन्नसे पुष्ट होकर ही मनुष्य पुण्यका संचय करता है। अतः पुण्यका आधा अंश अन्नदाताको और आधा भाग पुण्यकर्ताको प्राप्त होता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका सबसे बड़ा साधन है शरीर। और शरीर स्थिर रहता है अन्न तथा जलसे; अतः अन्न और जल ही सब पुरुषार्थोंके साधन हैं। अन्न-दानके समान दान न हुआ है न होगा। जल तीनों लोकोंका जीवन माना गया है। यह परम पवित्र, दिव्य, शुद्ध तथा सब रसोंका आश्रय है।

देवलोक

नानारूपाणि भावानां दृश्यन्ते कोटिविस्तराः ।
अष्टविंशतिरेतेषु मुख्यो [illegible] ॥
ये कुर्वन्ति नमस्कारमीश्वराय कदाचित् कदाचित् ।
[illegible] लभन्ति ते ॥
प्रसङ्गेनापि ये कुर्युरेकाग्रं स्मरणं नराः ।
ते लभन्तेऽमुं लोकं हि [illegible] ॥
विष्णुभक्ता प्रकुर्वन्ति ध्यानेनैकाग्रमानसाः ।
ते यान्ति परमं स्थानं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
शैवं च वैष्णवं लोकमेकरूपं [illegible] ।
द्वयोश्चाप्यन्तरं नास्ति एकरूपं महात्मनोः ॥

शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे।
शिवस्य हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये शिवः॥
एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्त्तिताः॥
(पद्म० भूमि० ७१। १२–२०)

राजन्! देवताओंके लोक भावमय हैं। भावोंके अनेक रूप दिखायी देते हैं, अतः भावात्मक जगत्‌की सख्या करोड़ोंतक पहुँच जाती है; परंतु पुण्यात्माओंके लिये उनमेंसे अट्ठाईस लोक ही प्राप्य हैं, जो एक दूसरेके ऊपर स्थित और उत्तरोत्तर अधिक विशाल हैं। जो लोग सङ्गवश, कौतूहलसे अथवा स्वार्थके लोभसे यदा-कदा भगवान् शङ्करको नमस्कार करते हैं, उन्हें शिवलोकका विमान प्राप्त होता है। जो प्रसङ्गवश भी शिवका स्मरण या नाम-कीर्तन अथवा उन्हें नमस्कार कर लेता है, उसे अनुपम सुखकी प्राप्ति होती है। फिर जो निरन्तर उनके भजनमें ही लगे रहते हैं, उनके विषयमें तो कहना ही क्या है। जो ध्यानके द्वारा भगवान् श्रीविष्णुका चिन्तन करते हैं और सदा उन्हींमें मन लगाये रहते हैं, वे उन्हींके परमपदको प्राप्त होते हैं। नरश्रेष्ठ! श्रीशिव और भगवान् श्रीविष्णुके लोक एक-से ही हैं, उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि उन दोनों महात्माओं—श्रीशिव तथा श्रीविष्णुका स्वरूप भी एक ही है। श्रीविष्णुरूपधारी शिव और श्रीशिवरूपधारी विष्णुको नमस्कार है। श्रीशिवके हृदयमें विष्णु और श्रीविष्णुके हृदयमें भगवान् शिव विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीनों देवता एकरूप ही हैं। इन तीनोंके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है, केवल गुणोंका भेद बतलाया गया है।

भक्तराज प्रह्लाद

आस्तिकता

शास्ता विष्णुरशेषस्य
जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं
तात कः केन शास्यते॥
(विष्णु० १। १७। २०)

पिताजी! हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्‌के उपदेशक हैं। उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसीको कुछ सिखा सकता है।

भयं भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादि-
भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात॥
(विष्णु० १। १७। ३६)

जिनके स्मरणमात्रसे जन्म, जरा और मृत्यु आदिके समस्त भय दूर हो जाते हैं, उन सकल भयहारी अनन्तके हृदयमें स्थित रहते मुझे भय कहाँ रह सकता है।

दैत्यबालकोंको उपदेश

ये बालक्रीडनकासक्ता यौवने विषयोन्मुखाः।
अज्ञा नयन्त्यशक्त्या च वार्द्धकं समुपस्थितम्॥
तस्माद्बाल्ये विवेकात्मा यतेत श्रेयसे सदा।
बाल्ययौवनवृद्धाद्यैर्देहभावैरसंयुतः॥
(विष्णु० १। १७। ७५-७६)

मूर्खलोग अपनी बाल्यावस्थामें खेल-कूदमें लगे रहते हैं, युवावस्थामें विषयोंमें फँस जाते हैं और बुढ़ापा आनेपर उसे असमर्थतासे काटते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषको चाहिये कि देहकी बाल्य, यौवन और बुढ़ापा आदि अवस्थाओंसे ऊपर उठकर बाल्यावस्थामें ही अपने कल्याणका यत्न करे।

तदेतद्वो मयाख्यातं यदि जानीत नानृतम्।
तदस्मत्प्रीतये विष्णुः स्मर्यतां बन्धमुक्तिदः॥
प्रयासः स्मरणे कोऽस्य स्मृतो यच्छति शोभनम्।
पापक्षयश्च भवति स्मरतां तमहर्निशम्॥
सर्वभूतस्थिते तस्मिन्मतिर्मैत्री दिवानिशम्।
भवतां जायतामेवं सर्वक्लेशान् प्रहास्यथ॥
(विष्णु० १। १७। ७७-७९)

(दैत्यबालको!) मैंने तुमलोगोंसे जो कुछ कहा है, उसे यदि तुम मिथ्या नहीं समझते तो मेरी प्रसन्नताके लिये ही बन्धनको छुड़ानेवाले श्रीविष्णुभगवान्‌का स्मरण करो। उनका स्मरण करनेमें परिश्रम भी क्या है। स्मरणमात्रसे ही वे कल्याणप्रद फल देते हैं तथा रात-दिन उन्हींका स्मरण करनेवालोंका पाप भी नष्ट हो जाता है। उन सर्वभूत

सबके प्रति अपनी बुद्धि अभिन्न रखो और उनमें निरन्तर समान प्रेम करो। इस प्रकार तुम्हारे समस्त क्लेश दूर हो जायँगे।

तापत्रयेणाभिहतं यदेतदखिलं जगत्।
तदा शोच्येषु भूतेषु द्वेषं प्राज्ञः करोति कः॥
(विष्णु० १।१७।८०)

जब कि यह सभी संसार तापत्रयसे दग्ध हो रहा है, तब इन बेचारे शोचनीय जीवोंसे कौन बुद्धिमान् द्वेष करेगा।

बद्धवैराणि भूतानि द्वेषं कुर्वन्ति चेत्ततः।
सुशोच्यान्यतिमोहेन व्याप्तानीति मनीषिणाम्॥
(विष्णु० १।१७।८२)

यदि कोई प्राणी वैरभावसे द्वेष भी करें तो विचारवानोंके लिये तो वे 'अहो! वे महामोहसे व्याप्त हैं।' इस दृष्टिसे अत्यन्त शोचनीय ही हैं।

असारसंसारविवर्तनेषु
मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि।
सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत
समत्वमाराधनमच्युतस्य॥
तस्मिन् प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्ता-
न्निःसंशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम्॥
(विष्णु० १।१७।९०-९१)

दैत्यो ! मैं आग्रहपूर्वक कहता हूँ, तुम इस असार संसारके विषयोंसे कभी संतुष्ट मत होओ। तुम सर्वत्र समदृष्टि करो, क्योंकि समता ही श्रीअच्युतकी वास्तविक आराधना है। उन अच्युतके प्रसन्न होनेपर फिर संसारमें दुर्लभ ही क्या है। तुम धर्म, अर्थ और भोगोंकी इच्छा कभी न करना। वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं। उस ब्रह्मरूप महावृक्षका आश्रय लेनेपर तो तुम निःसंदेह मोक्षरूप महाफल प्राप्त कर लोगे।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥
एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे।
वासुदेवे भगवति यया संलभते रतिम्॥
(श्रीमद्भा० ७।७।३२-३३)

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें विराजमान हैं—ऐसी भावनासे यथाशक्ति सभी प्राणियोंकी इच्छा पूर्ण करे और हृदयसे उनका सम्मान करे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके जो लोग इस प्रकार भगवान्‌की साधन भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें इस भक्तिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है।

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च।
भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम्॥
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
(श्रीमद्भा० ७।७।५०-५२)

देवता, दैत्य, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व—कोई भी क्यों न हो—जो भगवान्‌के चरणकमलोंका सेवन करता है, वह हमारे ही समान कल्याणका भाजन होता है। दैत्य-बालको! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। और सब तो विडम्बनामात्र है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥
(श्रीमद्भा० ७।७।५५)

इस संसारमें या मनुष्य-शरीरमें जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ अर्थात् एकमात्र परमार्थ इतना ही है कि वह भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य भक्ति प्राप्त करे। उस भक्तिका स्वरूप है—सर्वदा सर्वत्र सब वस्तुओंमें भगवान्‌का दर्शन।

मारनेवालोंके प्रति भी मित्रभाव

ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥
(विष्णु० १।१८।४२-४३)

जो लोग मुझे मारनेके लिये आये, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने आगमें जलाया, जिन्होंने दिग्गजोंसे रौंदवाया

ब्रह्मा विष्णुर्हरो विष्णुरिन्द्रो वायुर्यमोऽनलः ॥
प्रकृत्यादीनि तत्त्वानि पुरुषं पञ्चविंशकम् ।
पितुर्देहे गुरोर्देहे मम देहेऽपि संस्थितः ।
एवं जानन् कथं स्तौमि म्रियमाणं नराधमम् ॥
भोजने शयने याने ज्वरे निष्ठीवने रणे ।
हरिरित्यक्षरं नास्ति मरणेऽस्मिं नराधमः ॥
माता नास्ति पिता नास्ति नास्ति मे स्वजनो जनः ।
हरिं विना न कोऽप्यस्ति यदुक्तं तद् विधीयताम् ॥
(स्कन्द० प्रभा० वस्त्रापथ० १८ । ७६,८३—८६,८८,९०)

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—हाथीमें भी विष्णु, सर्पमें भी विष्णु, जलमें भी विष्णु और अग्निमें भी भगवान् विष्णु ही हैं। दैत्यपते! आपमें भी विष्णु और मुझमें भी विष्णु हैं, विष्णुके बिना दैत्यगणकी भी कोई सत्ता नहीं है। मैं उन्हीं भगवान् विष्णुकी स्तुति करता हूँ, जिन्होंने अनेकों बार चराचर भूतसमुदायके सहित तीनों लोकोंकी रचना की है, संवर्धन किया है और अपने अंदर लीन भी किया है। वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हो। ब्रह्मा भी विष्णुरूप ही हैं, भगवान् शंकर भी उन्हींके रूप हैं। इन्द्र, वायु, यम और अग्नि, प्रकृति आदि चौबीसों तत्त्व तथा पुरुष नामक पचीसवाँ तत्त्व भी भगवान् विष्णु ही हैं। पिताकी देहमें, गुरुजीकी देहमें और मेरी अपनी देहमें भी वे ही विराजमान हैं। यों जानता हुआ मैं मरणशील अधम मनुष्यकी स्तुति क्यों करूँ। जिसके द्वारा भोजन करते, शयन करते, सवारीमें, ज्वरमें थूकते समय, रण और मरणमें 'हरि' इन शब्दोंका उच्चारण नहीं होता, वह मनुष्योंमें अधम है। मेरे लिये न तो माता है, न पिता है और न मेरे सगे-सम्बन्धी ही हैं। श्रीहरिको छोड़कर मेरा कोई भी नहीं है। अतः जो उचित हो, वही करना चाहिये।

कृष्णनाम-माहात्म्य

नास्ति नास्ति महाभाग कलिकालसमं युगम् ।
स्मरणात् कीर्तनाद् विष्णोः प्राप्यते परमं पदम् ॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम् ।
नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम् ॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जपति यो जनः ।
तस्य प्रीतिः कलौ नित्यं कृष्णस्योपरि वर्द्धते ॥
(स्क० पु० द्वा० मा० ३८ । ४४-४६)

महाभाग! कलिकालके समान दूसरा कोई युग नहीं है, क्योंकि उसमें भगवान् विष्णुके स्मरण और कीर्तनसे मनुष्य परमपद प्राप्त कर लेता है। जो कलियुगमें नित्यप्रति 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण'का उच्चारण करेगा, उसे प्रतिदिन दस हजार यज्ञों और करोड़ों तीर्थोंका पुण्य प्राप्त होगा। जो मनुष्य नित्य 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का जप करता है, कलियुगमें श्रीकृष्णके ऊपर उसका प्रेम निरन्तर बढ़ता है।

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जाग्रत्स्वपंश्च यः ।
कीर्तयेत्तु कलौ चैव कृष्णरूपी भवेद्धि सः ॥
(स्क० पु० द्वा० मा० ३९ । ?)

जो कलिमें प्रतिदिन जागते और सोते समय 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का कीर्तन करता है, वह श्रीकृष्णस्वरूप हो जाता है।

दानवीर राजा बलि

भगवान्‌का दिया दण्ड वाञ्छनीय

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम् ।
यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि ॥
त्वं नूनमसुराणां नः परोक्षः परमो गुरुः ।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २२ । ४-५)

अपने पूजनीय गुरुजनोंके द्वारा दिया हुआ दण्ड तो जीवमात्रके लिये अत्यन्त वाञ्छनीय है; क्योंकि वैसा दण्ड माता, पिता, भाई और सुहृद् भी मोहवश नहीं दे पाते। आप छिपे रूपसे अवश्य ही हम असुरोंको श्रेष्ठ शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हमारे परम गुरु हैं। जब हम लोग धन, कुलीनता, बल आदिके मदसे अंधे हो जाते हैं, तब आप उन वस्तुओंको हमसे छीनकर हमें नेत्रदान करते हैं।

हरि-नाम

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥
जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
स विष्णुलोकमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥
(ना० पूर्व० ११ । १००-१०१)

दूषित चित्तवाले पुरुषोंके स्मरण करनेपर भी भगवान् हरि उनके पापको वैसे ही हर लेते हैं, जैसे अग्निको बिना इच्छा किये भी छू दिया जाय तो भी वह जला देती है। जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर 'हरि' ये दो अक्षर वास करते हैं, वह पुनरावृत्तिरहित श्रीविष्णुधामको प्राप्त होता है।

और जिन्होंने सर्पोंसे डँसाया, उन सबके प्रति यदि मैं समान मित्रभावसे रहा हूँ और मेरी कभी पाप-बुद्धि नहीं हुई तो उस सत्यके प्रभावसे ये दैत्यपुरोहित जी उठें।

भक्तकी महिमा

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा० ५। १८। १२)

जिस पुरुषकी भगवान्‌मे निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमे समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंसहित सदा निवास करते हैं। किंतु जो भगवान्‌का भक्त नहीं है, उसमें तो महापुरुषोंके गुण आ ही कहाँसे सकते हैं? वह तो तरह-तरहके संकल्प करके निरन्तर बाहरी विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है।

भक्त चाण्डाल भी श्रेष्ठ

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा० ७। ९। १०)

मेरी समझसे तो धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—इन बारहों गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रक्खे हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है, किंतु अपने बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।

प्रार्थना

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥
इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥
विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० ७। १०। ७-९)

मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो। हृदयमें किसी भी कामनाके उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—ये सब-के-सब नष्ट हो जाते हैं। कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है।

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(विष्णु० १। २०। १८-१९)

नाथ! सहस्रों योनियोंमेंसे जिस-जिसमें जाऊँ, उसी-उसीमें हे अच्युत! आपमें मेरी सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति रहे। अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी अविचल प्रीति होती है वैसी ही प्रीति आपमें आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।

नमस्कार

यया हि विद्वानपि मुह्यते यत-
स्तत् को विचष्टे गतिमात्मनो यथा।
तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै
नारायणायाखिललोकसाक्षिणे॥
(श्रीमद्भा० ८। २२। १७)

प्रभो! लक्ष्मीके मदमें तो विद्वान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। उसके रहते भला, अपने वास्तविक स्वरूपको ठीक-ठीक कौन जान सकता है। अतः उस लक्ष्मीको छीनकर महान् उपकार करनेवाले, समस्त जगत्‌के महान् ईश्वर, सबके हृदयमें विराजमान और सबके परम साक्षी श्रीनारायणदेवको मैं नमस्कार करता हूँ।

सबमें भगवान्

गजेऽपि विष्णुर्भुजगेऽपि विष्णु-
र्जलेऽपि विष्णुर्ज्वलनेऽपि विष्णुः।
त्वयि स्थितो दैत्य मयि स्थितश्च
विष्णुं विना दैत्यगणोऽपि नास्ति॥
नौमि विष्णुमहं येन त्रैलोक्यं सचराचरम्॥
कृतं मंवर्धितं शान्तं स मे विष्णुः प्रसीदतु।

ब्रह्मा विष्णुर्हरो विष्णुरिन्द्रो वायुर्यमोऽनलः ॥
प्रकृत्यादीनि तत्त्वानि पुरुषं पञ्चविंशकम् ।
पितृदेहे गुरोर्देहे मम देहेऽपि संस्थितः ।
एवं जानन् कथं स्तौमि म्रियमाणं नराधमम् ॥
भोजने शयने याने ज्वरे निष्ठीवने रणे ।
हरिरित्यक्षरं नास्ति मरणेऽसौ नराधमः ॥
माता नास्ति पिता नास्ति नास्ति मे स्वजनो जनः ।
हरिं विना न कोऽप्यस्ति यद्युक्तं तद् विधीयताम् ॥
(स्कन्द० प्रभा० वस्त्रापथ० १८। ७६,८३—८६,८८,९०)

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—हाथीमें भी विष्णु, सर्पमें भी विष्णु, जलमें भी विष्णु और अग्निमें भी भगवान् विष्णु ही हैं। दैत्यपते! आपमें भी विष्णु और मुझमें भी विष्णु हैं, विष्णुके बिना दैत्यगणकी भी कोई सत्ता नहीं है। मैं उन्हीं भगवान् विष्णुकी स्तुति करता हूँ, जिन्होंने अनेकों बार चराचर भूतसमुदायके सहित तीनों लोकोंकी रचना की है, संवर्धन किया है और अपने अंदर लीन भी किया है। वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। ब्रह्मा भी विष्णुरूप ही हैं, भगवान् शंकर भी उन्हींके रूप हैं। इन्द्र, वायु, यम और अग्नि, प्रकृति आदि चौबीसों तत्त्व तथा पुरुष नामक पचीसवाँ तत्त्व भी भगवान् विष्णु ही हैं। पिताकी देहमें, गुरुजीकी देहमें और मेरी अपनी देहमें भी वे ही विराजमान हैं। यों जानता हुआ मैं मरणशील अधम मनुष्यकी स्तुति क्यों करूँ। जिसके द्वारा भोजन करते, शयन करते, सवारीमें, ज्वरमें थूकते समय, रण और मरणमें 'हरि' इन शब्दोंका उच्चारण नहीं होता, वह मनुष्योंमें अधम है। मेरे लिये न तो माता है, न पिता है और न मेरे सगे-सम्बन्धी ही हैं। श्रीहरिको छोड़कर मेरा कोई भी नहीं है। अतः जो उचित हो, वही करना चाहिये।

कृष्णनाम-माहात्म्य

नास्ति नास्ति महाभाग कलिकालसमं युगम् ।
स्मरणात् कीर्तनाद् विष्णोः प्राप्यते परमं पदम् ॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम् ।
नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम् ॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जपति यो जनः ।
तस्य प्रीतिः कलौ नित्यं कृष्णस्योपरि वर्द्धते ॥
(स्क० पु० ब्रा० मा० ३८। ४४-४६)

महाभाग! कलिकालके समान दूसरा कोई युग नहीं है, क्योंकि उसमें भगवान् विष्णुके स्मरण और कीर्तनसे मनुष्य परमपद प्राप्त कर लेता है। जो कलियुगमें नित्यप्रति 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण'का उच्चारण करेगा, उसे प्रतिदिन दस हजार यज्ञों और करोड़ों तीर्थोंका पुण्य प्राप्त होगा। जो मनुष्य नित्य 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का जप करता है, कलियुगमें श्रीकृष्णके ऊपर उसका प्रेम निरन्तर बढ़ता है।

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जाग्रत्स्वपंश्च यः ।
कीर्तयेत्तु कलौ चैव कृष्णरूपी भवेद्धि सः ॥
(स्क० पु० ब्रा० मा० ३९। [illegible])

जो कलिमें प्रतिदिन जागते और सोते समय 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का कीर्तन करता है, वह श्रीकृष्णस्वरूप हो जाता है।

दानवीर राजा वलि

हरि-नाम

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥
जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
स विष्णुलोकमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥
(ना० पूर्व० ११। १००-१०१)

दूषित चित्तवाले पुरुषोंके स्मरण करनेपर भी भगवान् हरि उनके पापको वैसे ही हर लेते हैं, जैसे अग्निको बिना इच्छा किये भी छू दिया जाय तो भी वह जला देती है। जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर 'हरि' ये दो अक्षर वास करते हैं, वह पुनरावृत्तिरहित श्रीविष्णुधामको प्राप्त होता है।

भगवान्का दिया दण्ड वाञ्छनीय

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम् ।
यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि ॥
त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः ।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥
(श्रीमद्भा० ८। २२। ४-५)

अपने पूजनीय गुरुजनोंके द्वारा दिया हुआ दण्ड तो जीवमात्रके लिये अत्यन्त वाञ्छनीय है; क्योंकि वैसा दण्ड माता, पिता, भाई और सुहृद् भी मोहवश नहीं दे पाते। आप छिपे रूपसे अवश्य ही हम असुरोंको श्रेष्ठ शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हमारे परम गुरु हैं। जब हम लोग धन, कुलीनता, बल आदिके मदसे अंधे हो जाते हैं, तब आप उन वस्तुओंको हमसे छीनकर हमें नेत्रदान करते हैं।

और जिन्होंने सर्पोंसे डँसाया, उन सबके प्रति यदि मैं समान मित्रभावसे रहा हूँ और मेरी कभी पाप-बुद्धि नहीं हुई तो उस सत्यके प्रभावसे ये दैत्यपुरोहित जी उठें।

भक्तकी महिमा

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा० ५।१८।१२)

जिस पुरुषकी भगवान्में निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंसहित सदा निवास करते हैं। किंतु जो भगवान्का भक्त नहीं है, उसमें तो महापुरुषोंके गुण आ ही कहाँसे सकते हैं? वह तो तरह-तरहके सकल्प करके निरन्तर बाहरी विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है।

भक्त चाण्डाल भी श्रेष्ठ

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा० ७।९।१०)

मेरी समझसे तो धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—इन बारहों गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर रक्खे हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है, किंतु अपने बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।

प्रार्थना

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥
इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥
विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० ७।१०।७-९)

मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो। हृदयमें किसी भी कामनाके उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—ये सब-के-सब नष्ट हो जाते हैं। कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मनमें रहनेवाली कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है।

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(विष्णु० १।२०।१८-१९)

नाथ! सहस्रों योनियोंमेंसे जिस-जिसमें जाऊँ, उसी-उसीमें हे अच्युत! आपमें मेरी सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति रहे। अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी अविचल प्रीति होती है वैसी ही प्रीति आपमें आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।

नमस्कार

यया हि विद्वानपि मुह्यते यत-
स्तत् को विचष्टे गतिमात्मनो यथा।
तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै
नारायणायाखिललोकसाक्षिणे॥
(श्रीमद्भा० ८।२२।१७)

प्रभो! लक्ष्मीके मदसे तो विद्वान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। उसके रहते भला, अपने वास्तविक स्वरूपको ठीक-ठीक कौन जान सकता है। अतः उस लक्ष्मीको छीनकर महान् उपकार करनेवाले, समस्त जगत्के महान् ईश्वर, सबके हृदयमें विराजमान और सबके परम साक्षी श्रीनारायणदेवको मैं नमस्कार करता हूँ।

सबमें भगवान्

गजेऽपि विष्णुर्भुजगेऽपि विष्णु-
र्जलेऽपि विष्णुर्ज्वलनेऽपि विष्णुः।
रवावपि स्थितो दैत्य मयि स्थितश्च
विष्णुं विना दैत्यगणोऽपि नास्ति॥
नौमि विष्णुमहं येन त्रैलोक्यं सचराचरम्।
कृतं संवर्धितं शान्तं स मे विष्णुः प्रसीदतु।

ब्रह्मा विष्णुर्हरो विष्णुरिन्द्रो वायुर्यमोऽनलः ॥
प्रकृत्यादीनि तत्त्वानि पुरुषं पञ्चविंशकम्।
पितृदेहे गुरोर्देहे मम देहेऽपि संस्थितः।
एवं जानन् कथं स्तौमि म्रियमाणं नराधमम् ॥
भोजने शयने याने ज्वरे निष्ठीवने रणे।
हरिरित्यक्षरं नास्ति मरणेऽपि नराधमः ॥
माता नास्ति पिता नास्ति नास्ति मे स्वजनो जनः।
हरिं विना न कोऽप्यस्ति यद्युक्तं तद् विधीयताम् ॥
(स्कन्द० प्रभा० वस्त्राप० १८। ७६,८३—८६,८८,९०)

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—हाथीमें भी विष्णु, सर्पमें भी विष्णु, जलमें भी विष्णु और अग्निमें भी भगवान् विष्णु ही हैं। दैत्यराज ! आगमें भी विष्णु और मुझमें भी विष्णु हैं, विष्णुके बिना दैत्यराजकी भी कोई सत्ता नहीं है। मैं उन्हीं भगवान् विष्णुकी स्तुति करता हूँ, जिन्होंने अनेकों बार चराचर भूतसमुदायके सहित तीनों लोकोंकी रचना की है, संवर्धन किया है और अपने अंदर लीन भी किया है। वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। ब्रह्मा भी विष्णुरूप ही हैं, भगवान् शंकर भी उन्हींके रूप हैं। इन्द्र, वायु, यम और अग्नि, प्रकृति आदि चौबीसों तत्त्व तथा पुरुष नामक पचीसवाँ तत्त्व भी भगवान् विष्णु ही हैं। पिताकी देहमें, गुरुजीकी देहमें और मेरी अपनी देहमें भी वे ही विराजमान हैं। यों जानता हुआ मैं मरणशील अधम मनुष्यकी स्तुति क्यों करूँ। जिसके द्वारा भोजन करते, शयन करते, सवारीमें, ज्वरमें थूकते समय, रण और मरणमें 'हरि' इन शब्दोंका उच्चारण नहीं होता, वह मनुष्योंमें अधम है। मेरे लिये न तो माता है, न पिता है और न मेरे सगे-सम्बन्धी ही हैं। श्रीहरिको छोड़कर मेरा कोई भी नहीं है। अतः जो उचित हो, वही करना चाहिये।

कृष्णनाम-माहात्म्य

नास्ति नास्ति महाभाग कलिकालसमं युगम्।
स्मरणात् कीर्तनाद् विष्णोः प्राप्यते परमं पदम् ॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम्।
नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम् ॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जपति यो जनः।
तस्य प्रीतिः कलौ नित्यं कृष्णस्योपरि वर्द्धते ॥
(स्क० पु० द्वा० मा० ३८। ४४-४६)

महाभाग ! कलिकालके समान दूसरा कोई युग नहीं है, क्योंकि उसमें भगवान् विष्णुके स्मरण और कीर्तनसे मनुष्य परमपद प्राप्त कर लेता है। जो कलियुगमें नित्यप्रति 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण'का उच्चारण करेगा, उसे प्रतिदिन दस हजार यज्ञों और करोड़ों तीर्थोंका पुण्य प्राप्त होगा। जो मनुष्य नित्य 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का जप करता है, कलियुगमें श्रीकृष्णके ऊपर उसका प्रेम निरन्तर बढ़ता है।

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति नित्यं जाग्रत्स्वपंश्च यः।
कीर्तयेत्तु कलौ चैव कृष्णरूपी भवेद्धि सः ॥
(स्क० पु० द्वा० मा० ३९। १)

जो कलिमें प्रतिदिन जागते और सोते समय 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का कीर्तन करता है, वह श्रीकृष्णस्वरूप हो जाता है।

दानवीर राजा बलि

हरि-नाम

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥
जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्।
स विष्णुलोकमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥
(ना० पूर्व० ११। १००-१०१)

दूषित चित्तवाले पुरुषोंके स्मरण करनेपर भी भगवान् हरि उनके पापको वैसे ही हर लेते हैं, जैसे अग्निको बिना इच्छा किये भी छू दिया जाय तो भी वह जला देती है। जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर 'हरि' ये दो अक्षर वास करते हैं, वह पुनरावृत्तिरहित श्रीविष्णुधामको प्राप्त होता है।

भगवान्‌का दिया दण्ड वाञ्छनीय

पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम्।
यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि ॥
त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः।
यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥
(श्रीमद्भा० ८। २२। ४-५)

अपने पूजनीय गुरुजनोंके द्वारा दिया हुआ दण्ड तो जीवमात्रके लिये अत्यन्त वाञ्छनीय है; क्योंकि वैसा दण्ड माता, पिता, भाई और सुहृद् भी मोह-वश नहीं दे पाते। आप छिपे रूपसे अवश्य ही हम असुरोंको श्रेष्ठ शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हमारे परम गुरु हैं। जब हम-लोग धन, कुलीनता, बल आदिके मदसे अंधे हो जाते हैं, तब आप उन वस्तुओंको हमसे छीनकर हमें नेत्रदान करते हैं।

सबसे बड़ी सिद्धि है, शिलोञ्छवृत्ति ही उत्तम जीविका है।

यज्ञ-तप क्या है ?

शाकाहारः सुधातुल्य उपवासः परं तपः ॥
संतोषो मे महाभोग्यं महादानं वराटकम् ।
मातृवत्परदाराश्च परद्रव्यं च लोष्टवत् ॥
परदारा भुजंगाभाः सर्वं यज्ञ इदं मम ।
तस्मादेनं न गृह्णामि सत्यं सत्यं गुणाकर ॥
लग्ने प्रक्षालनात्पङ्के दूरादस्पर्शनं वरम् ॥
(पद्म० सृष्टि० ५० । ६३-६६)

सागका भोजन ही अमृतके समान है। उपवास ही उत्तम तपस्या है। सन्तोष ही मेरे लिये बहुत बड़ा भोग है। कौड़ीका दान ही मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये महादान है। परायी स्त्रियाँ माता और पराया धन मिट्टीके ढेलेके समान है। परस्त्री सर्पिणीके समान भयंकर है। यही सब मेरा यज्ञ है। गुणनिधे ! इसी कारण मैं इस धनको नहीं ग्रहण करता। यह मैं सच-सच बता रहा हूँ। कीचड़ लग जानेपर उसे धोनेकी अपेक्षा दूरसे उसका स्पर्श न करना ही अच्छा है।

व्याध संत

सुन्दर शिक्षा

मृषावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः ।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥
(महा० वन० २०७। ४२)

झूठ बोलना छोड़ दे। बिना कहे ही दूसरोंका प्रिय करे तथा न कामनासे, न क्रोधसे और न द्वेषसे ही धर्मका त्याग करे।

न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत् ।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ॥
(महा० वन० २०७। ४५)

पाप करनेवालेके प्रति बदलेमें स्वयं पाप न करे—अपराधीसे बदला न ले। सदा साधु स्वभावसे ही रहे। जो पापी किसीके प्रति अकारण पाप करना चाहता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम ।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः ॥
(२०७। ५८)

द्विजश्रेष्ठ ! लोभको ही पापोंका निवास-स्थान समझो। जो अत्यन्त ज्ञान-सम्पन्न नहीं हैं, ऐसे मनुष्य लोभके वशीभूत होकर निश्चय ही पापपूर्ण आचरण करने लगते हैं।

यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम ।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम् ।
धर्म इत्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥
न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम् ।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ॥

गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च ।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥
वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ॥
(महा० वन० २०७। ६२-६५, ६६)

ब्राह्मण ! यज्ञ, तप, दान, वेदोंका स्वाध्याय और सत्य-भाषण—ये पाँच पवित्र आचरण शिष्ट पुरुषोंमें सदा रहते हैं। जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और उद्दण्डता—इन दुर्गुणोंको जीत लेते हैं, तथा इसीसे धर्म मानकर संतुष्ट रहते हैं, वे ही शिष्ट—उत्तम कहलाते हैं और उनका ही शिष्ट पुरुष आदर करते हैं। वे सदा ही यज्ञ और स्वाध्यायमें लगे रहते हैं, कभी मनमाना आचरण नहीं करते। सदाचारका निरन्तर पालन करना—शिष्ट पुरुषोंका दूसरा लक्षण है। शिष्टाचारी पुरुषोंमें गुरुकी सेवा, क्रोधका अभाव, सत्यभाषण और दान—ये चार सद्गुण अवश्य होते हैं। वेदका सार है सत्य, सत्यका सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयमका सार है त्याग। यह त्याग शिष्ट पुरुषोंमें सदा विद्यमान रहता है।

आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ॥
(२०७। ७७)

जो कार्य न्याययुक्त होता है, वही धर्म माना गया है। अनाचारका नाम ही अधर्म है—यह शिष्ट पुरुषोंका उपदेश है।

आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः ।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नास्ते सन्तः स्वर्गगामिनः ॥
(२०७। ८२)

जो आस्तिक, मानहीन, द्विजोंका सम्मान करनेवाले,

शास्त्रज्ञान और सदाचारसे सम्पन्न हैं, ऐसे सत्पुरुष स्वर्गलोकके निवासी होते हैं।

यत्करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः॥
(२०९।५)

साधुश्रेष्ठ! जो पुरुष जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, अवश्य ही उसका फल भोगता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत्।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज॥
(२०९।४४)

ब्रह्मन्! सत्पुरुषोंद्वारा पालित धर्मके अनुसार बर्ताव करे, शिष्ट पुरुषोंकी भाँति श्रेष्ठ आचरण करे। दूसरे लोगोंको क्लेश पहुँचाये बिना ही जिससे जीवन-निर्वाह हो जाय, ऐसी ही वृत्ति अपनानेकी अभिलाषा करे।

रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्ट-
मात्मा नियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान्।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः॥
(२११।२३)

मनुष्यका यह दोषयुक्त शरीर मानो एक रथ है, आत्मा इसका सारथि है, इन्द्रियोंको अश्व कहते हैं। इन सबके द्वारा इन्द्रियरूपी श्रेष्ठ अश्वोंको वशमें करके सदा सावधान रहनेवाले रथीकी भाँति धीर पुरुष कुशली रहकर सुखपूर्वक यात्रा करता है।

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत् पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः॥
नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेद् धर्मं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं परं सत्यव्रतं व्रतम्॥
सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं तद्वै सत्यं परं मतम्॥
यस्य सर्वे समारम्भाः निराशीर्बन्धनाः सदा।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान्॥
(२१३।२८–३२)

सब प्रकारके उपायोंसे लोभ और क्रोधका दमन करना चाहिये। संसारमें यही लोगोंको पावन करनेवाला तप है और यही भवसागरसे पार उतारनेवाला पुल है। सदा-सर्वदा तपको क्रोधसे, धर्मको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपनेको प्रमादसे बचाना चाहिये। क्रूरताका अभाव (दया) परम धर्म है, क्षमा ही सबसे बड़ा बल है, सत्यका व्रत ही सबसे उत्तम व्रत है और आत्माका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है। सत्यभाषण सदा कल्याणमय है, सत्यमें ही ज्ञान निहित है; जिससे प्राणियोंका अत्यन्त कल्याण हो, वही सबसे बढ़कर सत्य माना गया है। जिसके सारे कर्म कभी कामनाओंसे बँधे नहीं होते, जिसने अपना सब कुछ त्यागकी अग्निमें होम दिया है, वही त्यागी है और वही बुद्धिमान् है।

महर्षि अम्भृणकी कन्या वाक्‌देवी

ॐ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरा-
म्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

मैं सच्चिदानन्दमयी सर्वात्मा देवी रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेवगणोंके रूपमें विचरती हूँ। मैं ही मित्र और वरुण दोनोंको, इन्द्र और अग्निको तथा दोनों अश्विनीकुमारोंको धारण करती हूँ।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं
त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते
सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥

मैं ही शत्रुओंके नाशक आकाशचारी देवता सोमको, त्वष्टा प्रजापतिको तथा पूषा और भगको भी धारण करती हूँ। जो हविष्यसे सम्पन्न हो देवताओंको उत्तम हविष्यकी प्राप्ति कराता है तथा उन्हें सोमरसके द्वारा तृप्त करता है, उस यजमानके लिये मैं ही उत्तम यज्ञका फल और धन प्रदान करती हूँ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥

मैं सम्पूर्ण जगत्‌की अधीश्वरी, अपने उपासकोंको धनकी प्राप्ति करानेवाली, साक्षात्कार करने योग्य परब्रह्मको अपनेसे

अभिन्न रूपमें जाननेवाली तथा पूजनीय देवताओंमें प्रधान हूँ। मैं प्रपञ्चरूपसे अनेक भावोंमें स्थित हूँ। सम्पूर्ण भूतोंमें मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानोंमें रहनेवाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिये करते हैं।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति
य: प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥

जो अन्न खाता है, वह मेरी शक्तिसे ही खाता है [क्योंकि मैं ही भोक्तृ-शक्ति हूँ]; इसी प्रकार जो देखता है, जो साँस लेता है तथा जो कही हुई बात सुनता है, वह मेरी ही सहायतासे उक्त सब कर्म करनेमें समर्थ होता है। जो मुझे इस रूपमें नहीं जानते, वे न जाननेके कारण ही हीन दशाको प्राप्त होते जाते हैं। हे बहुश्रुत ! मैं तुम्हें श्रद्धासे प्राप्त होनेवाले ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करती हूँ, सुनो—

अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं
ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

मैं स्वयं ही देवताओं और मनुष्योंद्वारा सेवित इस दुर्लभ तत्त्वका वर्णन करती हूँ। मैं जिस जिस पुरुषकी रक्षा करना चाहती हूँ, उस-उसको सबकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना देती हूँ। उसीको सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, परोक्षज्ञानसम्पन्न ऋषि तथा उत्तम मेधाशक्तिसे युक्त बनाती हूँ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं
द्यावापृथिवी आ विवेश॥

मैं ही ब्रह्मद्वेषी हिंसक असुरोंका वध करनेके लिये रुद्रके धनुषको चढ़ाती हूँ। मैं ही शरणागतजनोंकी रक्षाके लिये शत्रुओंसे युद्ध करती हूँ तथा अन्तर्यामीरूपसे पृथ्वी और आकाशके भीतर व्याप्त रहती हूँ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन्मम
योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवना नु विश्वो-
तामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥

मैं ही इस जगत्के पितारूप आकाशको सर्वाधिष्ठानस्वरूप परमात्माके ऊपर उत्पन्न करती हूँ। समुद्र (सम्पूर्ण भूतोंके उत्पत्तिस्थान परमात्मा) में तथा जल (बुद्धिकी व्यापक वृत्तियों) में मेरे कारण (कारणस्वरूप चैतन्य ब्रह्म) की स्थिति है; अतएव मैं समस्त भुवनमें व्याप्त रहती हूँ तथा उस स्वर्गलोकका भी अपने शरीरसे स्पर्श करती हूँ।

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव॥

मैं कारणरूपसे जब समस्त विश्वकी रचना आरम्भ करती हूँ, तब दूसरोंकी प्रेरणाके बिना स्वयं ही वायुकी भाँति चलती हूँ, स्वेच्छासे ही कर्ममें प्रवृत्त होती हूँ। मैं पृथ्वी और आकाश दोनोंसे परे हूँ। अपनी महिमासे ही मैं ऐसी हुई हूँ।
(ऋग्वेद १०। १०। १२५। १-८)

कपिल-माता देवहूति

नाम-जापक चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३। ३३। ७)

अहो ! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है कि जिसकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम विराजमान है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया।

वशिष्ठपत्नी अरुन्धती

दुस्त्यज तृष्णा

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥
(पद्म० सृष्टि० १९ । २७१)

दुष्ट बुद्धिवाले पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो शरीरके जीर्ण होनेपर भी जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणान्तकारी रोगके समान है, उस तृष्णाका त्याग करनेवालेको ही सुख मिलता है ।

सच्ची माता मदालसा

पुत्रको उपदेश

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव ।
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ॥
न वा भवान् रोदिति वै स्वजन्मा
शब्दोऽयमासाद्य महीशसूनुम् ।
विकल्प्यमाना विविधा गुणास्ते-
ऽगुणाश्च भौताः सकलेन्द्रियेषु ॥
भूतानि भूतैः परिदुर्बलानि
वृद्धिं समायान्ति यथेह पुंसः ।
अन्नाम्बुदानादिभिरेव कस्य
न तेऽस्ति वृद्धिर्न च तेऽस्ति हानिः ॥
त्वं कञ्चुके शीर्यमाणे निजेऽस्मिं-
स्तस्मिंश्च देहे मूढतां मा व्रजेथाः ।
शुभाशुभैः कर्मभिर्देहमेतत्
× × × × ॥
तातेति किंचित् तनयेति किंचि-
दम्बेति किंचिद्दयितेति किंचित् ।
ममेति किंचिन्न ममेति किंचित्
त्वं भूतसङ्घं बहु मानयेथाः ॥
दुःखानि दुःखोपगमाय भोगान्
सुखाय जानाति विमूढचेताः ।
तान्येव दुःखानि पुनः सुखानि
जानाति विद्वानविमूढचेताः ॥
हासोऽस्थिसंदर्शनमक्षियुग्म-
मत्युज्ज्वलं यत्कलुषं वसायाः ।
कुचादि पीनं पिशितं घनं तत्
स्थानं रतेः किं नरकं न योषित् ॥
यानं क्षितौ यानगतश्च देहो
देहेऽपि चान्यः पुरुषो निविष्टः ।
ममत्वमुर्व्यां न तथा यथा स्वे
देहेऽतिमात्रं च विमूढतैषा ॥
(मार्क० २५ । ११—१८)

पुत्र ! तू तो शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है । यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है । यह शरीर भी पाँच भूतोंका बना हुआ है । न यह तेरा है, न तू इसका है । फिर किसलिये रो रहा है ।

अथवा तू नहीं रोता है, यह शब्द तो राजकुमारके पास पहुँचकर अपने-आप ही प्रकट होता है । तेरी सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें जो भाँति-भाँतिके गुण-अवगुणोंकी कल्पना होती है, वे भी पाञ्चभौतिक ही हैं ।

जैसे इस जगत्में अत्यन्त दुर्बल भूत अन्य भूतोंके सहयोगसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अन्न और जल आदि भौतिक पदार्थोंको देनेसे पुरुषके पाञ्चभौतिक शरीरकी ही पुष्टि होती है । इससे तुझ शुद्ध आत्माकी न तो वृद्धि होती है और न हानि ही होती है ।

तू अपने इस अंगे और देहरूपी चोलेके जीर्ण-शीर्ण होनेपर मोह न करना । शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार यह देह प्राप्त हुआ है ।

कोई जीव पिताके रूपमें प्रसिद्ध है, कोई पुत्र कहलाता है, किसीको माता और किसीको प्यारी स्त्री कहते हैं; कोई 'यह मेरा है' कहकर अपनाया जाता है और कोई 'मेरा नहीं है' इस भावसे पराया माना जाता है । इस प्रकार ये भूत-समुदायके ही नाना रूप हैं, ऐसा तुझे मानना चाहिये ।

यद्यपि समस्त भोग दुःखरूप हैं, तथापि मूढचित्त मानव उन्हें दुःख दूर करनेवाला तथा सुखकी प्राप्ति करानेवाला

समझता है; किंतु जो विद्वान् हैं, जिनका चित्त मोहसे आच्छन्न नहीं हुआ है, वे उन भोगजनित सुखोंको भी दुःख ही मानते हैं।

स्त्रियोंकी हँसी क्या है, हड्डियोंका प्रदर्शन। जिसे हम अत्यन्त सुन्दर नेत्र कहते हैं, वह मज्जाकी कालिमा है और मोटे-मोटे कुच आदि घने मांसकी ग्रन्थियाँ हैं। अतः पुरुष जिसपर अनुराग करता है, वह युवती स्त्री क्या नरककी जीती-जागती मूर्ति नहीं है?

पृथ्वीपर सवारी चलती है, सवारीपर यह शरीर रहता है और इस शरीरमें भी एक दूसरा पुरुष बैठा रहता है; किंतु पृथ्वी और सवारीमें वैसी अधिक ममता नहीं देखी जाती, जैसी अपने देहमें दृष्टिगोचर होती है। यही मूर्खता है।

धन्योऽसि रे यो वसुधामशत्रु-
रेकश्चिरं पालयितासि पुत्र।
तत्पालनादस्तु सुखोपभोगो
धर्मात् फलं प्राप्स्यसि चामरत्वम्॥
धरामरान् पर्वसु तर्पयेथाः
समीहितं बन्धुषु पूरयेथाः।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथा
मनः परस्त्रीषु निवर्तयेथाः॥
सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्तःषडरीञ्जयेथाः।
मायां प्रबोधेन निवारयेथा
ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः॥
अर्थागमाय क्षितिपाञ्जयेथा
यशोऽर्जनायार्थमपि व्ययेथाः।
परापवादश्रवणाद् बिभीथा
विपत्समुद्राज्जनमुद्धरेथाः॥
यज्ञैरनेकैर्विबुधानजस्र-
मर्थैर्द्विजान् प्रीणय संश्रितांश्च।
स्त्रियश्च कामैरतुलैश्चिराय
युद्धैश्चारींस्तोषयितासि वीर॥
बालो मनो नन्दय बान्धवानां
गुरोस्तथाज्ञाकरणैः कुमारः।
स्त्रीणां युवा सत्कुलभूषणानां
वृद्धो वने वत्स वनेचराणाम्॥
राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः
साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः।
दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं व्रजेथाः॥
(मार्क० २६। ३५-४१)

बेटा! तू धन्य है, जो शत्रुरहित होकर अकेला ही चिरकालतक इस पृथ्वीका पालन करता रहेगा। पृथ्वीके पालनसे तुझे सुखभोगकी प्राप्ति हो और धर्मके फलस्वरूप तुझे अमरत्व मिले। पर्वोंके दिन ब्राह्मणोंको भोजनके द्वारा तृप्त करना, बन्धु-बान्धवोंकी इच्छा पूर्ण करना, अपने हृदयमें दूसरोंकी भलाईका ध्यान रखना और परायी स्त्रियोंकी ओर कभी मनको न जाने देना। अपने मनमें सदा श्रीविष्णु-भगवान्‌का चिन्तन करना, उनके ध्यानसे अन्तःकरणके काम-क्रोध आदि छहों शत्रुओंको जीतना, ज्ञानके द्वारा मायाका निवारण करना और जगत्‌की अनित्यताका विचार करते रहना। धनकी आयके लिये राजाओंपर विजय प्राप्त करना, यशके लिये धनका सद्व्यय करना, परायी निन्दा सुननेसे डरते रहना तथा विपत्तिके समुद्रमें पड़े हुए लोगोंका उद्धार करना। वीर! तू अनेक यज्ञोंके द्वारा देवताओंको तथा धनके द्वारा ब्राह्मणों एवं आश्रितोंको संतुष्ट करना। अनुपम भोगोंके द्वारा स्त्रियोंको प्रसन्न रखना और युद्धके द्वारा शत्रुओंके छक्के छुड़ाना। बाल्यावस्थामें तू भाई-बन्धुओंको आनन्द देना, कुमारावस्थामें आज्ञापालनके द्वारा गुरुजनोंको संतुष्ट रखना। युवावस्थामें उत्तम कुलको सुशोभित करनेवाली स्त्रियोंको प्रसन्न रखना और वृद्धावस्थामें वनके भीतर निवास करते हुए वनवासियोंको सुख देना। तात! राज्य करते हुए अपने सुहृदोंको प्रसन्न रखना, साधु पुरुषोंकी रक्षा करते हुए यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करना, तथा संग्राममें दुष्ट शत्रुओंका संहार करते हुए गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये अपने प्राण निछावर कर देना।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥
(मार्क० ३७। २३-२४)

सङ्ग (आसक्ति) का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये। किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग ही उसकी औषधि है। कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये; परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्तिकी इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिये, क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है।

सती सावित्री

सकृदंशो निपतति
सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति
त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥
(महा० वन० २९४ । २६)

पिताजी ! बँटवारा एक ही बार होता है, कन्यादान एक बार ही किया जाता है और 'मैंने दिया' ऐसा संकल्प भी एक बार ही होता है। ये तीन बातें एक-एक बार ही हुआ करती हैं।

सतां सकृत् सङ्गतमीप्सितं परं
ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते।
न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं
ततः सतां संनिवसेत् समागमे ॥
(२९७ । ३०)

सत्पुरुषोंका तो एक बारका समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है। यदि कहीं उनके साथ मैत्रीभाव हो गया तो वह उससे बढ़कर बताया जाता है। संत-समागम कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषोंके ही सङ्गमें रहना चाहिये।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥
एवंप्रायश्च लोकोऽयं मनुष्योऽशक्तपेशलः।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ॥
(२९७ । ३५-३६)

मन, वचन और कर्मसे समस्त प्राणियोंके प्रति अद्रोह, सबपर कृपा करना और दान देना—यह सत्पुरुषोंका सनातन धर्म है। लोग सभी प्रायः अल्पायु हैं और शक्ति एवं कौशलसे हीन हैं। किंतु जो सत्पुरुष हैं, वे तो अपने पास आये शत्रुओंपर भी दया करते हैं।

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥
(२९७ । ४२)

सत्पुरुषोंके प्रति जो विश्वास होता है, वैसा विश्वास मनुष्यको अपनेमें भी नहीं होता; अतः प्रायः सभी लोग साधुपुरुषोंके साथ प्रेम करना चाहते हैं।

सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते।
तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ॥
(२९७ । ४३)

सत्पुरुषोंका सब भूतोंके प्रति अकारण स्नेह होनेसे उनके प्रति विश्वास पैदा होता है; अतः सभी लोग सत्पुरुषोंपर अधिक विश्वास करते हैं।

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति।
सतां सद्भिर्नाफलः संगमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः ॥
सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ॥
आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम्।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम् ॥
(२९७ । ४७-४९)

सत्पुरुषोंकी वृत्ति निरन्तर धर्ममें ही रहा करती है, वे कभी दुःखित या व्यथित नहीं होते। सत्पुरुषोंके साथ जो सत्पुरुषोंका समागम होता है, वह कभी निष्फल नहीं होता और सतोंसे संतोंको कभी भय भी नहीं होता। सत्पुरुष सत्यके बलसे सूर्यको भी अपने समीप बुला लेते हैं, वे अपने तपके प्रभावसे पृथ्वीको धारण किये हुए हैं। संत ही भूत और भविष्यत्‌के आधार हैं, उनके बीचमें रहकर सत्पुरुषोंको कभी खेद नहीं होता। यह सनातन सदाचार सत्पुरुषोंद्वारा सेवित है—यह जानकर सत्पुरुष परोपकार करते हैं और प्रत्युपकारीकी ओर कभी दृष्टि नहीं डालते।

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो
न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं
तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति ॥
(२९७ । ५०)

सत्पुरुषोंमें जो प्रसाद (कृपा एवं अनुग्रहका भाव) होता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। सत्पुरुषोंसे न तो किसीका कोई प्रयोजन नष्ट होता है और न सम्मानको ही धक्का पहुँचता है। ये तीनों बातें (प्रसाद, अर्थसिद्धि एवं मान) साधुपुरुषोंमें सदा निश्चितरूपसे रहती हैं; इसीलिये संत सबके रक्षक होते हैं।

महारानी शैव्या (हरिश्चन्द्र-पत्नी)

सत्यकी महिमा

त्यज चिन्तां महाराज स्वसत्यमनुपालय।
श्मशानवद् वर्जनीयो नरः सत्यबहिष्कृतः॥
नातः परतरं धर्मं वदन्ति पुरुषस्य तु।
यादृशं पुरुषव्याघ्र स्वसत्यपरिपालनम्॥
अग्निहोत्रमधीतं वा दानाद्याश्चाखिलाः क्रियाः।
भजन्ते तस्य वैफल्यं यस्य वाक्यमकारणम्॥
सत्यमत्यन्तमुदितं धर्मशास्त्रेषु धीमताम्।
तारणायानृतं तद्वत् पातनायाकृतात्मनाम्॥
(मार्क० ८ । १७-२०)

(पति हरिश्चन्द्रके प्रति) महाराज! चिन्ता छोड़िये। अपने सत्यकी रक्षा कीजिये। जो मनुष्य सत्यसे विचलित होता है, वह श्मशानकी भाँति त्याग देने योग्य है। नरश्रेष्ठ! पुरुषके लिये अपने सत्यकी रक्षासे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं बतलाया गया है। जिसका वचन निरर्थक (मिथ्या) हो जाता है, उसके अग्निहोत्र, स्वाध्याय तथा दान आदि सम्पूर्ण कर्म निष्फल हो जाते हैं। धर्मशास्त्रोंमें बुद्धिमान् पुरुषोंने सत्यको ही संसारसागरसे तारनेके लिये सर्वोत्तम साधन बताया है। इसी प्रकार जिनका मन अपने वशमें नहीं, ऐसे पुरुषोंको पतनके गर्तमें गिरानेके लिये असत्यको ही प्रधान कारण बतलाया गया है।

अत्रिपत्नी श्रीअनसूया

पति-सेवाका महत्त्व

पञ्चयज्ञानि मनुष्येण साध्वि देयानि सर्वदा।
तथा स्ववर्णधर्मेण कर्तव्यो धनसंचयः॥
प्राप्तश्चार्थस्ततः पात्रे विनियोज्यो विधानतः।
सत्यार्जवतपोदानैर्दयायुक्तो भवेत् सदा॥
क्रियाश्च शास्त्रनिर्दिष्टा रागद्वेषविवर्जिताः।
कर्तव्या अन्वहं श्रद्धापुरस्कारेण शक्तितः॥
स्वजातिविहितानेव लोकानाप्नोति मानवः।
क्लेशेन महता साध्वि प्राजापत्यादिकान् क्रमात्॥
स्त्रियस्त्वेवं समस्तस्य नरैर्दुःखार्जितस्य वै।
पुण्यस्यार्धापहारिण्यः पतिशुश्रूषयैव हि॥
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषितम्।
भर्तृशुश्रूषयैवैतान् लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि॥
तस्मात् साध्वि महाभागे पतिशुश्रूषणं प्रति।
त्वया मतिः सदा कार्या यतो भर्ता परा गतिः॥
यद्देवेभ्यो यच्च पित्रागतेभ्य
कुर्याद् भर्ताभ्यर्चनं सत्क्रियातः।
तस्याप्यर्द्धं केवलानन्यचित्ता
नारी भुङ्क्ते भर्तृशुश्रूषयैव॥
(मार्क० १६ । ७१-८१)

साध्वि! मनुष्यको पाँच यज्ञ सदा ही करने चाहिये। अपने वर्णधर्मके अनुसार धनका संग्रह करना आवश्यक है। उसके प्राप्त होनेपर शास्त्र विधिके अनुसार उसका सत्पात्रको दान करना चाहिये। सत्य, सरलता, तपस्या, दान और दयासे सदा युक्त रहना चाहिये। राग-द्वेषसे रहित होकर शास्त्रोक्त कर्मोंका अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य अपने वर्णके लिये विहित उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है। पतिव्रते! महान् क्लेश उठानेपर पुरुषोंको क्रमशः प्राजापत्य आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है, परंतु स्त्रियाँ केवल पतिकी सेवा करनेमात्रसे पुरुषोंके दुःख सहकर उपार्जित किये हुए पुण्यका आधा भाग प्राप्त कर लेती हैं। स्त्रियोंके लिये अलग यज्ञ, श्राद्ध या उपवासका विधान नहीं है। वे पतिकी सेवामात्रसे ही अभीष्ट लोकोंको प्राप्त कर लेती हैं। अतः महाभागे! तुम्हें सदा पतिकी सेवामें अपना मन लगाना चाहिये, क्योंकि स्त्रीके लिये पति ही परम गति है। पति जो देवताओं, पितरों और अतिथियोंकी श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, उसके भी पुण्यका आधा भाग स्त्री अनन्यचित्तसे पतिकी सेवा करनेमात्रसे प्राप्त कर लेती है।

स्वर्ग और मोक्ष

चार पुरुषार्थ हैं—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष।

चार प्रकारके पुरुष हैं संसारमें—पामर, विषयी, साधक और सिद्ध।

जिनका परम प्राप्य अर्थ या काम है—वे या तो पामर हैं या विषयी; क्योंकि न्याय एवं धर्मपूर्वक सदाचारकी मर्यादाओंकी रक्षा करते हुए भी अर्थोपार्जन एवं कामोपभोगको ही पुरुषार्थ मान लेना मनुष्यजीवनका दुरुपयोग है। ऐसे लोग विषयी हैं। लेकिन जो अर्थ या सुखोपभोगकी सामग्रीकी प्राप्तिके लिये न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म—किसीकी चिन्ता नहीं करते, जो छल-कपट, दम्भ, झूठ, ठगी, चोरी, डकैती, हिंसा आदिके द्वारा अर्थोपार्जन करते या अन्य सुखके साधन जुटाते हैं, वे तो पामर हैं।

पामर कोटिके पुरुष तो नरकमें जायँगे ही। नरकके अतिरिक्त उनके लिये और कहाँ स्थान ही नहीं। विषयीके लिये भी यम-द्वार देखना लिखा होता है। जो अपनी मानवताका लक्ष्य पाशविक भोगोंकी प्राप्ति बना ले—सृष्टि-नियामक उसे मनुष्य कैसे रहने दे सकता है। उसकी पशुता ही उसे पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियोंमें ले जाती है।

बात तो उनकी है, जो धर्मात्मा हैं। धर्म ही जिनका परम पुरुषार्थ है। जिनका जीवन धर्ममय है। सत्य, सदाचार, संयम, तप और यज्ञ जिनके प्रिय कार्य हैं।

ऐसे धर्मात्मा पवित्र हैं, वन्दनीय हैं, देवता हैं; क्योंकि देवत्व—स्वर्ग उनकी प्रतीक्षा करता होता है। लेकिन क्षमा कीजिये—देवता होनेपर भी सच्चे अर्थमें वे एक चतुर व्यापारीमात्र हैं।

चतुर व्यापारी—बड़े लाभकी आशासे जो कष्ट सह ले, त्याग कर ले, वर्तमान पूँजीको लगा दे, वही तो चतुर व्यापारी है। इस जीवनके वर्ष तो अनन्त जीवनके क्षणों-जैसे हैं। इस सीमितकालमें कष्ट सह लेना, तप, त्याग और प्राप्त अर्थ तथा कामके साधनोंका यज्ञादिमें उपयोग—इस आशा एवं कामनासे उपयोग कि उसका अनन्त-गुणित फल परलोकमें मिलेगा—चतुर व्यापारीका व्यापार इससे अधिक निपुणतासे कहाँ होता है।

यह व्यापार सफल है। धर्मपर आशा-विश्वास करनेवाला निराश नहीं हुआ करता। धर्मका अनन्त-गुणित फल तो मिलता ही है।

यज्ञ—सकाम कर्म और उसका फल स्वर्ग। धर्मात्मा देवता है और उसे देवत्व प्राप्त होता ही है। लेकिन देवत्व स्वयं नश्वर जो है। कोई देवता कबतक? जबतक उसके पुण्य समाप्त न हो जायँ। फिर? फिर तो भगवान्ने गीतामें बताया ही है—

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'

'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।'

'ते पाय सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।'

पुण्य समाप्त हुआ और स्वर्गसे गिरा। फिर जन्म, जरा, व्याधि और मृत्युका वही चक्र·····। जबतक कामना है, जन्म-मरणका चक्र समाप्त कैसे होगा। देवता होकर इस चक्रको कोई समाप्त नहीं कर सकता। इसे तो मनुष्य ही समाप्त कर सकता है। मनुष्य—नारायणका सखा नर।

धर्मात्मा देवता है, पर मनुष्य कहाँ है। वह धर्म करता है, यज्ञ करता है, सकाम कर्म करता है; किंतु नारायणको सखा कहाँ बना पाता है। नर—मनुष्य तो वह, जो नारायणको सखा बना पाता है।

मनुष्य जब सचमुच मनुष्य बन जाता है—नारायणको सखा बनाकर वह जब अपनी नर-रूपता प्रत्यक्ष कर लेता है—मोक्ष उसका स्वरूप है। सिद्ध पुरुष है वह।

मनुष्य कैसे मनुष्य बने? सीधा-सा उत्तर है—साधक बनकर। साधक ही तो सिद्ध होता है।

अर्थ, काम तथा धर्मसे प्राप्य स्वर्गादि समस्त भोगोंसे वैराग्य, भगवद्भजन और भगवत्प्राप्ति। जिसमें वैराग्य है, जिसमें कोई कामना नहीं, सच्ची उपरति है, उसके बन्धन तो छिन्न हो चुके। उसके द्वारा ही भजन होता है—सच्चा भजन, भगवान्‌की अखण्ड स्मृति। जब कोई भजन करता है—अपने उस परम सखा नारायणको स्मरण करता है, उस दयामयको आते देर कहाँ लगती है। भगवद्धाम तो उसका अपना घर है। वहाँ जाकर फिर कोई लौटता नहीं।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

मोक्ष और स्वर्ग
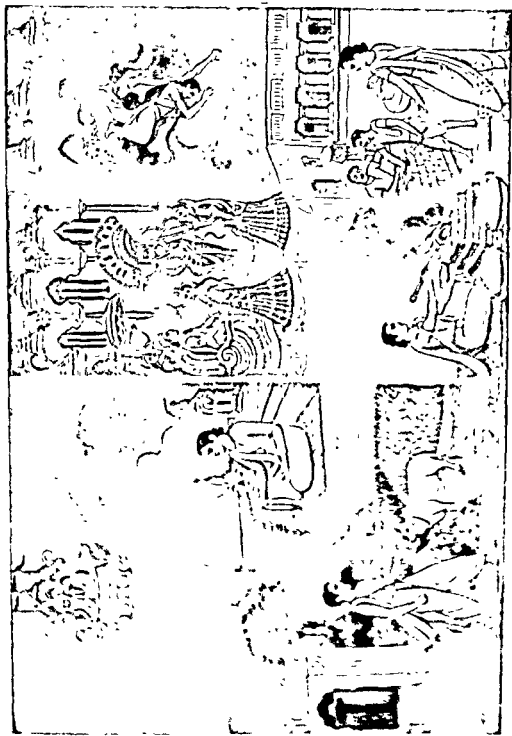
दधीचि-पत्नी प्रातिथेयी

गौ-ब्राह्मण-देवताके लिये प्राण-त्याग करनेवाले धन्य हैं

उत्पद्यते यत्तु विनाशि सर्वं
न शोच्यमस्तीति मनुष्यलोके।
गोविप्रदेवार्थमिह त्यजन्ति
प्राणान् प्रियान् पुण्यभाजो मनुष्याः॥
(ब्रह्मपुराण ११०। ६३)

संसारमें जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह सब नश्वर है; अतः उसके लिये शोक नहीं करना चाहिये। मनुष्योंमें पुण्यके भागी वे ही होते हैं जो गौ, ब्राह्मण तथा देवताओंके लिये अपने प्यारे प्राणोंका उत्सर्ग कर देते हैं।

संसारचक्रे परिवर्तमाने
देहं समर्थं धर्मयुक्तं त्ववाप्य।
प्रियान् प्राणान् देवविप्रार्थहेतो-
स्ते वै धन्याः प्राणिनो ये त्यजन्ति॥
(ब्रह्म० ११०। ६४)

इस परिवर्तनशील संसारचक्रमें धर्मपरायण तथा शक्तिशाली शरीर पाकर जो प्राणी देवताओं तथा ब्राह्मणोंके लिये अपने प्यारे प्राणोंका त्याग करते हैं, वे ही धन्य हैं।

प्राणाः सर्वेऽस्यापि देहान्वितस्य
यातारो वै नात्र संदेहलेशः।
एवं ज्ञात्वा विप्रगोदेवदीना-
द्यर्थं चैनानुत्सृजन्तीश्वरास्ते॥
(ब्रह्म० ११०। ६५)

जिसने देह धारण किया है, उसके प्राण एक-न-एक दिन अवश्य जायँगे—यह जानकर जो ब्राह्मण, गौ, देवता तथा दीन आदिके लिये इन प्राणोंका उत्सर्ग करते हैं, वे ईश्वर हैं।

सती सुकला

पति-तीर्थ

पुण्या स्त्री कथ्यते लोके या स्यात् पतिपरायणा।
युवतीनां पृथक्तीर्थं विना भर्तुर्द्विजोत्तम।
सुखदं नास्ति वै लोके स्वर्गमोक्षप्रदायकम्॥
सव्यं पादं स्वभर्तुश्च प्रयागं विद्धि सत्तम।
वामं च पुष्करं तस्य या नारी परिकल्पयेत्॥
तस्य पादोदकस्नानात्तत्पुण्यं परिजायते।
प्रयागपुष्करसमं स्नानं स्त्रीणां न संशयः॥
सर्वतीर्थसमो भर्ता सर्वधर्ममयः पतिः।
मखानां यजनात्पुण्यं यद् वै भवति दीक्षिते।
तत्पुण्यं समवाप्नोति भर्तुश्चैव हि साम्प्रतम्॥
(पद्म० भूमि० ४१। ११—१५)

जो स्त्री पतिपरायणा होती है, वह संसारमें पुण्यमयी कहलाती है। युवतियोंके लिये पतिके सिवा दूसरा कोई ऐसा तीर्थ नहीं है, जो इस लोकमें सुखद और परलोकमें स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला हो। साधुश्रेष्ठ! स्वामीके दाहिने चरणको प्रयाग समझिये और बायेंको पुष्कर। जो स्त्री ऐसा मानती है तथा इसी भावनाके अनुसार पतिके चरणोदकसे स्नान करती है, उसे उन तीर्थोंमें स्नान करनेका पुण्य प्राप्त होता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि स्त्रियोंके लिये पतिके चरणोदकका अभिषेक प्रयाग और पुष्कर तीर्थमें स्नान करनेके समान है। पति समस्त तीर्थोंके समान है। पति सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूप है। यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले पुरुषको यज्ञोंके अनुष्ठानसे जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य साध्वी स्त्री अपने पतिकी पूजा करके तत्काल प्राप्त कर लेती है।

नारीणां च सदा तीर्थं भर्ता शास्त्रेषु पठ्यते॥
तमेवावाहयेन्नित्यं वाचा कायेन कर्मभिः।
मनसा पूजयेन्नित्यं सत्यभावेन तत्परा॥
एतत्पार्श्वं महातीर्थं दक्षिणाङ्गं सदैव हि।
तमाश्रित्य यदा नारी गृहस्था परिवर्तते॥
यजते दानपुण्यैश्च तस्य दानस्य यत्फलम्।
वाराणस्यां च गङ्गायां यत्फलं न च पुष्करे॥
द्वारकायां न चावन्त्यां केदारे शशिभूषणे।
लभते नैव सा नारी यजमाना सदा किल॥
तादृशं फलमेवं सा न प्राप्नोति कदा सखि।
सुसुखं पुत्रसौभाग्यं स्नानं दानं च भूषणम्॥
वस्त्रालंकारसौभाग्यं रूपं तेजः फलं सदा।
यशः कीर्तिमवाप्नोति गुणं च वरवर्णिनि॥

भर्तुः प्रसादाच्च सर्वं लभते नात्र संशयः ॥
विद्यमाने यदा कान्ते अन्यधर्मं करोति या ।
निष्फलं जायते तस्याः पुंश्चली परिकथ्यते ॥
नारीणां यौवनं रूपमवतारं स्मृतं ध्रुवम् ।
एकश्चापि हि भर्तुश्च तस्यार्थे भूमिमण्डले ॥
पतिहीना यदा नारी भवेत् सा भूमिमण्डले ।
कुतस्तस्याः सुखं रूपं यशः कीर्तिः सुता भुवि ॥
सुदौर्भाग्यं महादुःखं संसारे परिभुज्यते ।
पापभागा भवेत् सा च दुःखाचारा सदैव हि ॥
तुष्टे भर्तरि तस्यास्तु तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ।
तुष्टे भर्तरि तुष्यन्ति ऋषयो देवमानवाः ॥
भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सह ।
भर्ता तीर्थञ्च पुण्यञ्च नारीणां नृपनन्दन ॥
(पद्म० भूमि० ४१ । ६२-७५)

शास्त्रोंका वचन है कि पति ही सदा नारियोंके लिये तीर्थ है। इसलिये स्त्रीको उचित है कि वह सच्चे भावसे पति-सेवामें प्रवृत्त होकर प्रतिदिन मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा पतिका ही आवाहन करे और सदा पतिका ही पूजन करे। पति स्त्रीका दक्षिण अङ्ग है, उसका वाम पार्श्व ही पत्नीके लिये महान् तीर्थ है। गृहस्थ-नारी पतिके वाम भागमें बैठकर जो दान-पुण्य और यज्ञ करती है, उसका बहुत बड़ा फल बताया गया है। काशीकी गङ्गा, पुष्कर तीर्थ, द्वारकापुरी, उज्जैन तथा केदार नामसे प्रसिद्ध महादेवजीके तीर्थमें स्नान करनेसे भी वैसा फल नहीं मिल सकता। यदि स्त्री अपने पतिको साथ लिये बिना ही कोई यज्ञ करती है, तो उसे उसका फल नहीं मिलता। पतिव्रता स्त्री उत्तम सुख, पुत्रका सौभाग्य, स्नान, पान, वस्त्र, आभूषण, सौभाग्य, रूप, तेज, फल, यश, कीर्ति और उत्तम गुण प्राप्त करती है। पतिकी प्रसन्नतासे उसे सब कुछ मिल जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जो स्त्री पतिके रहते हुए उसकी सेवाको छोड़कर दूसरे किसी धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका वह कार्य निष्फल होता है तथा लोकमें वह व्यभिचारिणी कही जाती है। नारियोंका यौवन, रूप और जन्म—सब कुछ पतिके लिये होते हैं; इस भूमण्डलमें नारीकी प्रत्येक वस्तु उसके पतिकी आवश्यकता-पूर्तिका ही साधन है। जब स्त्री पतिहीन हो जाती है, तब उसे भूतलपर सुख, रूप, यश, कीर्ति और पुत्र कहाँ मिलते हैं। वह तो संसारमें परम दुर्भाग्य और महान् दुःख भोगती है। पापका भोग ही उसके हिस्सेमें पड़ता है। उसे सदा दुःखमय आचारका पालन करना पड़ता है। पतिके संतुष्ट रहनेपर समस्त देवता स्त्रीसे संतुष्ट रहते हैं तथा ऋषि और मनुष्य भी प्रसन्न रहते हैं। राजन्! पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवताओंसहित उसका इष्टदेव और पति ही तीर्थ एवं पुण्य है।

सती सुमना

श्रेष्ठ विचार और सदाचार

लोभः पापस्य बीजं हि मोहो मूलं च तस्य हि ।
असत्यं तस्य वै स्कन्धो माया शाखासुविस्तरः ॥
दम्भकौटिल्यपत्राणि कुबुद्ध्या पुष्पितः सदा ।
नृशंसं तस्य सौगन्ध्यं फलमज्ञानमेव च ॥
[illegible] क्रूराः कूटाश्च [illegible] ।
पक्षिणो [illegible] ॥
अज्ञानं [illegible] ।
तृष्णोदकेन संवृद्धिरश्रद्धास्य ऋतुः प्रिय ॥

× × × × ×

[illegible] ।
[illegible] दिने दिने ॥
[illegible] ।
न संतुष्टो [illegible] ॥
[illegible] परित्यज्य [illegible] ।
[illegible] ॥
यो हि विद्वान् भवेत् कान्त [illegible] ।
[illegible] ॥
एवं [illegible] नित्यं [illegible] ।
([illegible] भूमि० [illegible])

[illegible]

ती उस मोहमूलक वृक्षके पक्षी हैं, जो मायारूपी शाखाओंपर रा लेते हैं। असत्य उस वृक्षका पत्ता है और अधर्मको उसका बताया गया है। तृष्णारूप जलसे सींचनेपर उसकी द्धि होती है। अश्रद्धा उसके फूलने-फलनेकी ऋतु है। मनुष्य उस वृक्षकी छायाका आश्रय लेकर संतुष्ट रहता उसके पके हुए फलोंको प्रतिदिन खाता है और उन लोंके अधर्मरूप रससे पुष्ट होता है, वह ऊपरसे कितना प्रसन्न क्यों न हो, वास्तवमें पतनकी ओर ही जाता है। सलिये पुरुषको चिन्ता छोड़कर लोभका भी त्याग कर ना चाहिये। स्त्री, पुत्र और धनकी चिन्ता तो कभी रनी ही नहीं चाहिये। प्रियतम! कितने ही विद्वान् भी र्खोंके मार्गका अवलम्बन करते हैं। दिन-रात मोहमें डूबे हकर निरन्तर इसी चिन्तामें पड़े रहते हैं कि किस प्रकार मुझे अच्छी स्त्री मिले और कैसे मैं बहुत-से पुत्र प्राप्त करूँ।

ब्रह्मचर्येण तपसा मखपञ्चकवर्तनैः ।
दानेन नियमैश्चापि क्षमाशौचेन वल्लभ ॥
अहिंसया सुशक्त्या च ह्यस्तेयेनापि वर्तनैः ।
एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत् ॥
सम्पूर्णो जायते धर्मो ग्रासैर्भोगो यथोदरे ।
धर्मं सृजति धर्मात्मा त्रिविधेनैव कर्मणा ॥
यं यं चिन्तयते प्राज्ञस्तं तं प्राप्नोति दुर्लभम् ॥
(पद्म० भूमि० १२ । ४४—४७)

ब्रह्मचर्य, तपस्या, पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, उत्तम शक्ति (ईश्वरीय बल) और चोरीका अभाव—ये धर्मके दस अङ्ग हैं, इनके अनुष्ठानसे धर्मकी पूर्ति करनी चाहिये। धर्मात्मा पुरुष मन, वाणी और शरीर—तीनोंकी क्रियासे धर्मका सम्पादन करता है। फिर वह जिस-जिस वस्तुका चिन्तन करता है, वह दुर्लभ होनेपर भी उसे प्राप्त हो जाती है।

नित्यं सत्ये रतिर्यस्य पुण्यात्मा साधुतां व्रजेत् ।
ऋतौ प्राप्ते व्रजेन्नारीं स्वीयां दोषविवर्जितः ॥
स्वकुलस्य सदाचारं कदा नैव विमुञ्चति ।
एतत्ते हि समाख्यातं गृहस्थस्य द्विजोत्तम ॥
ब्रह्मचर्यं मया प्रोक्तं गृहिणां मुक्तिदं किल ॥
(पद्म० भूमि० १३ । २—४)

सदा सत्यभाषणमें जिसका अनुराग है, जो पुण्यात्मा होकर साधुताका आश्रय लेता है, ऋतुकाल प्राप्त होनेपर (ही) अपनी स्त्रीके साथ समागम करता है, स्वयं दोषोंसे दूर रहता है और अपने कुलके सदाचारका कभी त्याग नहीं करता, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। यह मैंने गृहस्थके ब्रह्मचर्यका वर्णन किया है। यह ब्रह्मचर्य गृहस्थ पुरुषोंको सदा मुक्ति प्रदान करनेवाला है।

परद्रव्येषु लोलत्वात् परस्त्रीषु तथैव च ॥
दृष्ट्वा मतिर्न यस्य स्यात् स सत्यः परिकीर्तितः ।
(पद्म० भूमि० १३ । ८-९)

जिसकी बुद्धि पराये धन और परायी स्त्रियोंको देखकर लोलुपतावश उनके प्रति आसक्त नहीं होती, वही पुरुष सत्यनिष्ठ कहा गया है।

ग्रासमात्रं तथा देयं क्षुधार्ताय न संशयः ।
दत्ते सति महत्पुण्यममृतं सोऽश्नुते सदा ॥
दिने दिने प्रदातव्यं यथाविभवविस्तरम् ।
वचनं च तृणं शय्यां गृहच्छायां सुशीतलाम् ॥
भूमिमापस्तथा चान्नं प्रियवाक्यमनुत्तमम् ।
आसनं वसनं पाद्यं कौटिल्येन विवर्जितः ॥
आत्मनो जीवनार्थाय नित्यमेवं करोति यः ।
इहैवं मोदतेऽसौ वै परत्रेह तथैव च ॥
(पद्म० भूमि० १३ । ११—१४)

भूखसे पीड़ित मनुष्यको भोजनके लिये अन्न अवश्य देना चाहिये। उसको देनेसे महान् पुण्य होता है तथा दाता मनुष्य सदा अमृतका उपभोग करता है। अपने वैभवके अनुसार प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये। सहानुभूतिपूर्ण वचन, तृण, शय्या, घरकी शीतल छाया, पृथ्वी, जल, अन्न, मीठी बोली, आसन, वस्त्र या निवास-स्थान और पैर धोनेके लिये जल—ये सब वस्तुएँ जो प्रतिदिन अतिथिको निष्कपट भावसे अर्पण करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी आनन्दका अनुभव करता है।

पाण्डव-जननी कुन्तीजी

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ८ । २५)

जगद्गुरो ! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें; क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जानेपर फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं आना पड़ता ।

कृतमन्वेति पुरुषः कृतं यस्मिन्न नश्यति ॥
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद् बहुगुणं ततः ।
(महा० आदि० १६२ । १४-१५)

मनुष्य-जीवनकी सफलता इसीमें है कि वह कभी उपकारीके उपकारको न भूले, बल्कि उनके उपकारसे भी बढ़कर उनका उपकार कर दे ।

पाण्डव-पत्नी द्रौपदी
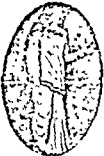
सब ईश्वराधीन हैं

ईश्वरस्य वशे लोका-
स्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ।
धातैव खलु भूतानां
सुखदुःखे प्रियाप्रिये ॥
दधाति सर्वमीशानः
पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ।
यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ॥
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ।
आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ॥
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ।
शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियन्तायमनीश्वरः ॥
ईश्वरस्य वशे तिष्ठेन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ।
मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ॥
स्रोतसो मध्यमापन्नः कूलाद् वृक्ष इव च्युतः ॥
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ।
नात्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कंचन ॥
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च ॥
यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
धातुरेवं वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ॥
सम्प्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः ।
क्रीडते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥
(महा० वन० ३० । २२—२९, ३७)

मनुष्य ईश्वरके अधीन है, उसकी स्वाधीनता कुछ भी नहीं है । ईश्वर ही प्राणियोंके पूर्वजन्मके कर्मबीजके अनुसार उनके सुख-दुःख तथा प्रिय-अप्रिय वस्तुओंकी व्यवस्था करता है । जैसे कठपुतली सूत्रधारके इच्छानुसार नाचती है, वैसे ही सारी प्रजा ईश्वरेच्छानुसार संसारके व्यवहारमें नाच रही है । ईश्वर सबके भीतर और बाहर व्याप्त रहता है, सबको प्रेरित करता और साक्षीरूपसे देखता रहता है । जीव एक कठपुतली है, वह स्वतन्त्र नहीं, ईश्वराधीन है । जैसे सूतमें गुँथी हुई मणियाँ, नाथे हुए बैल और जलधारामें गिरे हुए वृक्ष पराधीन होते हैं, वैसे ही जीव भी ईश्वरके अधीन है । जीव ईश्वरके ही नियन्त्रणमें रहता है । क्योंकि जो जिसका अंश होता है, वह उसीमें लीन होता है और बीचमें भी उसीके अधीन रहता है । इसी प्रकार मनुष्य स्वतन्त्र नहीं, कालरूप भगवान्‌की ही इच्छाका अनुसरण करता है । जीवको किसी भी बातका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है, इसलिये वह सुख पाने या दुःख हटानेमें असमर्थ है । वह ईश्वरकी ही प्रेरणासे स्वर्ग या नरकमें जाता है । जैसे नन्हे-नन्हे तिनके प्रबल वायुके अधीन होते हैं, वैसे ही सभी प्राणी ईश्वरके । जैसे बच्चा खिलौनोंसे खेल-खेलकर उन्हें छोड़ देता है, वैसे ही इच्छानुसार बर्तनेवाले प्रभु जगत्‌में जीवोंके संयोग-वियोगकी लीला करते रहते हैं ।

आर्त प्रार्थना

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ॥
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ॥
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ।
(महा० सभा० ६७ । ४१—४४)

(जिस समय दुःशासन द्रौपदीका वस्त्र खींचने लगा, द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करके मन ही-मन प्रार्थना करने लगी—) गोविन्द ! द्वारकावासी ! सच्चिदानन्द-स्वरूप प्रेमघन ! गोपीजनवल्लभ ! सर्वशक्तिमान् प्रभो ! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह बात आपको मालूम नहीं है ? नाथ ! रमानाथ ! व्रजनाथ ! आर्तिनाशन जनार्दन ! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब रही हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये ! श्रीकृष्ण ! आप सच्चिदानन्द महायोगी हैं। आप सर्वस्वरूप एवं सबके जीवनदाता हैं। गोविन्द ! मैं कौरवोंसे घिरकर बड़े संकटमें पड़ गयी हूँ। आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।

आर्त प्रार्थना (दुर्वासाके शापसे बचनेके लिये)

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते ॥
वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥

(महा० वन० २६३ । ८–१६)

श्रीकृष्ण ! महाबाहो कृष्ण ! देवकीनन्दन ! हे अविनाशी वासुदेव ! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले जगदीश्वर ! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हो। इस विश्वको बनाना और बिगाड़ना तुम्हारे ही हाथोंका खेल है। प्रभो ! तुम अविनाशी हो, शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल ! तुम्हीं सम्पूर्ण प्रजाके रक्षक परात्पर परमेश्वर हो, चित्तकी वृत्तियों और चिद्वृत्तियोंके प्रेरक तुम्हीं हो, मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ। सबके वरण करने योग्य वरदाता अनन्त ! आओ; जिन्हें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहारा देनेवाला नहीं है, उन असहाय भक्तोंकी सहायता करो। पुराणपुरुष ! प्राण और मनकी वृत्तियाँ तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच पातीं। सबके साक्षी परमात्मन् ! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। शरणागत-वत्सल ! कृपा करके मुझे बचाओ। नील कमलदलके समान श्यामसुन्दर ! कमलपुष्पके भीतरी भागके समान किंचित् लाल नेत्रवाले ! कौस्तुममणिविभूषित एवं पीताम्बर धारण करनेवाले श्रीकृष्ण ! तुम्हीं सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त हो, तुम्हीं परम आश्रय हो। तुम्हीं परात्पर, ज्योतिर्मय, सर्वव्यापक एवं सर्वात्मा हो। ज्ञानी पुरुषोंने तुम्हींको इस जगत्का परम बीज और सम्पूर्ण सम्पदाओंका अधिष्ठान कहा है। देवेश ! यदि तुम मेरे रक्षक हो, तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें तो भी भय नहीं है। आजसे पहले सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो।

पति देवता

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्याः प्रसादात् कुपितश्च हन्यात् ॥
सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं
दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ॥

(महा० वन० २३४ । ३, ४)

सत्यभामाजी ! स्त्रीके लिये इस लोक या परलोकमें पतिके समान कोई दूसरा देवता नहीं है। पतिकी प्रसन्नता होनेपर वह सब प्रकारके सुख पा सकती है और असंतुष्ट पति उसके सब सुखोंको मिट्टीमें मिला देता है। मानिनी ! सुखके द्वारा सुख कभी नहीं मिल सकता, सुखप्राप्तिका साधन तो दुःख ही है।

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते ॥
(वैराग्यशतक १०२)

गिरिकन्दरामें निवास करनेवाले, परब्रह्मके ध्यानमें मग्न हुए धन्य योगीजनोंके आनन्दाश्रुओंको गोदमें बैठे हुए पक्षीगण निःशङ्क होकर पीते हैं, पर हमलोगोंकी आयु तो मनोरथ-मय महलके सरोवरतटोंपर स्थित विहार-विपिनमें आमोद-प्रमोद करते व्यर्थ ही व्यतीत हो रही है ।

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥
(वैराग्यशतक ११६)

भोगोंमें रोगका भय है, ऊँचे कुलमें पतनका भय है, धनमें राजाका, मानमें दीनताका, बलमें शत्रुका तथा रूपमें वृद्धावस्थाका भय है और शास्त्रमें वाद-विवादका, गुणमें दुष्टजनोंका तथा शरीरमें कालका भय है । इस प्रकार संसारमें मनुष्योंके लिये सभी वस्तुएँ भयपूर्ण हैं, भयसे रहित तो केवल वैराग्य ही है ।

आचार्य श्रीधरस्वामी

(श्रीमद्भागवतके सर्वमान्य टीकाकार)

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वता-
दटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान् ।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादै-
र्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति ॥

चाहे कोई तप करे, पर्वतोंसे भृगुपतन करे, तीर्थोंमें भ्रमण करे, शास्त्र पढ़े, यज्ञ यागादि करे अथवा तर्क-वितर्कोंद्वारा वाद-विवाद करे, परंतु श्रीहरि (की कृपा) के बिना कोई भी मृत्युको नहीं लाँघ सकता ।

उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः ।
हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥

मनुष्य ऋषि-मुनियोंद्वारा बतलायी हुई पद्धतियोंसे उदर आदि स्थानोंमें जिनका चिन्तन करते हैं और जो प्रभु उनके चिन्तन करनेपर मृत्युभयका नाश कर देते हैं, उन हृदयस्थित प्रभुकी हम उपासना करते हैं ।

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥

प्रभो ! कुछ पुण्यात्मालोग आपकी कथारूप अमृतसमुद्रमें अत्यन्त आनन्दपूर्वक विहार करते हुए अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको तृणवत् समझकर त्याग कर देते हैं ।

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥

सम्पूर्ण जगत्का मङ्गल करनेवाला भगवान् श्रीहरिका नाम सर्वोपरि विराजमान है । एक बार ही प्रकट होनेपर वह अखिल विश्वकी समस्त पापराशिका उसी प्रकार विनाश कर देता है, जैसे भगवान् भुवनभास्कर अन्धकारके समुद्रको सोख लेते हैं ।

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं
तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्थं तव तु भगवन्नाम निखिलं
समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

प्रभो ! आपका मायारूपी मलसे रहित अनादि ब्रह्मरूप पद निश्चय ही सब समय और सब जगह व्याप्त है । फिर भी संसाररूपी वृक्षके एक छोटे-से पत्तेको भी वह काटनेमें समर्थ नहीं हुआ । इधर आपका नाम एक क्षणके लिये जिह्वाके अग्रभागपर स्थित होकर सारे जन्म-मृत्युरूप बन्धनको अविद्यारूपी मूलके साथ काट देता है । फिर, आप ही बतलाइये, इन दोनोंमें कौन-सा सेवन करने योग्य है ।

महाराज भर्तृहरि

(महान् शिवभक्त और सिद्धयोगी, उज्जैनके अधिपति)

यदाऽकिंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

(नीतिशतक ८)

जब मैं बिल्कुल ही अज्ञान था, तब मदोन्मत्त हाथीके समान मदान्ध हो रहा था; उस समय मेरा मन 'मैं ही सर्वज्ञ हूँ' यह सोचकर घमंडमें चूर था। परंतु जब विद्वानोंके पास रहकर कुछ कुछ ज्ञान प्राप्त किया, तब 'मैं मूर्ख हूँ' यों समझनेके कारण ज्वरके समान मेरा गर्व दूर हो गया।

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

(नीतिशतक १३)

जिनमें न विद्या है न ज्ञान है, न शील है न गुण है और न धर्म ही है, वे मृत्युलोकमें पृथ्वीके भार बने हुए मनुष्यरूपसे मानो पशु ही घूमते-फिरते हैं।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

(नीतिशतक २३)

कहिये, सत्सङ्गति पुरुषोंका क्या उपकार नहीं करती ? यह बुद्धिकी जड़ताको हरती है, वाणीमें सत्यका सञ्चार करती है, सम्मान बढ़ाती है, पापको दूर करती है, चित्तको आनन्दित करती है और समस्त दिशाओंमें कीर्तिका विस्तार करती है।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

(वैराग्यशतक १२)

हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगोंने ही हमें भोग लिया। हमने तप नहीं किया, स्वयं ही तप्त हो गये। काल व्यतीत नहीं हुआ, हम ही व्यतीत हो गये और मेरी तृष्णा नहीं जीर्ण हुई, हम ही जीर्ण हो गये।

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥

(वैराग्यशतक ७३)

सबके आदि कारण भगवान् शिवके पाद-पद्मोंमें प्रीति हो। हृदयमें जन्म-मृत्युका भय हो। संसारी भाई, बन्धु तथा कुटुम्बियोंमें ममता न हो और हृदयमें काम-विकारका अभाव हो—कामिनीके कमनीय कलेवरको देखकर उसमें आसक्ति न होती हो, संसारी लोगोंके संसर्गजन्य दोषसे रहित पवित्र और शान्त विजन वनमें निवास हो तथा मनमें वैराग्य हो तो इससे बढ़कर वाञ्छनीय और हो ही क्या सकता है।

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे ज्योतिः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः।
युष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि ॥

(वैराग्यशतक ८५)

माता पृथ्वी ! पिता पवन ! मित्र तेज ! बन्धु जल ! और भाई आकाश ! यह आपलोगोंको अन्तिम प्रणाम है; क्योंकि आपके सङ्गसे प्राप्त पुण्यके द्वारा प्रकटित निर्मल ज्ञानसे सम्पूर्ण मोह-जंजालको नाश करके मैं परब्रह्ममें लीन हो रहा हूँ।

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

(वैराग्यशतक ८६)

जबतक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा नहीं आया है, इन्द्रियोंकी शक्ति पूरी बनी हुई है, आयुके दिन शेष हैं, तभीतक बुद्धिमान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये अच्छी तरह यत्न कर लेना चाहिये। घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेसे क्या होगा।

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते॥
(वैराग्यशतक १०२)

गिरिकन्दरामें निवास करनेवाले, परब्रह्मके ध्यानमें मग्न हुए धन्य योगीजनोंके आनन्दाश्रुओंको गोदमें बैठे हुए पक्षीगण निःशङ्क होकर पीते हैं, पर हमलोगोंकी आयु तो मनोरथमय महलके सरोवरतटोंपर स्थित विहार विपिनमें आमोद-प्रमोद करते व्यर्थ ही व्यतीत हो रही है।

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥
(वैराग्यशतक ११६)

भोगोंमें रोगका भय है, ऊँचे कुलमें पतनका भय है, धनमें राजाका, मानमें दीनताका, बलमें शत्रुका तथा रूपमें वृद्धावस्थाका भय है और शास्त्रमें वाद-विवादका, गुणमें दुष्टजनोंका तथा शरीरमें कालका भय है। इस प्रकार संसारमें मनुष्योंके लिये सभी वस्तुएँ भयपूर्ण हैं, भयसे रहित तो केवल वैराग्य ही है।

आचार्य श्रीधरस्वामी

(श्रीमद्भागवतके सर्वमान्य टीकाकार)

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वता-
दटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादै-
र्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥

चाहे कोई तप करे, पर्वतोंसे भृगुपतन करे, तीर्थोंमें भ्रमण करे, शास्त्र पढ़े, यज्ञ-यागादि करे अथवा तर्क-वितर्कोंद्वारा वाद-विवाद करे, परंतु श्रीहरि (की कृपा) के बिना कोई भी मृत्युको नहीं लाँघ सकता।

उदरादिषु यः पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभिः।
हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे॥

मनुष्य ऋषि-मुनियोंद्वारा बतलायी हुई पद्धतियोंसे उदर आदि स्थानोंमें जिनका चिन्तन करते हैं और जो प्रभु उनके चिन्तन करनेपर मृत्युभयका नाश कर देते हैं, उन हृदयस्थित प्रभुकी हम उपासना करते हैं।

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥

प्रभो! कुछ पुण्यात्मा लोग आपकी कथारूप अमृतसमुद्रमें अत्यन्त आनन्दपूर्वक विहार करते हुए अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको तृणवत् समझकर त्याग कर देते हैं।

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

सम्पूर्ण जगत्का मङ्गल करनेवाला भगवान् श्रीहरिका नाम सर्वोपरि विराजमान है। एक बार ही प्रकट होनेपर वह अखिल विश्वकी समस्त पापराशिका उसी प्रकार विनाश कर देता है, जैसे भगवान् भुवनभास्कर अन्धकारके समुद्रको सोख लेते हैं।

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं
तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत्।
क्षणं जिह्वाग्रस्थं तव तु भगवन्नाम निखिलं
समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः॥

प्रभो! आपका मायारूपी मलसे रहित अनादि ब्रह्मरूप पद निश्चय ही सब समय और सब जगह व्याप्त है। फिर भी संसाररूपी वृक्षके एक छोटे-से पत्तेको भी वह काटनेमें समर्थ नहीं हुआ। इधर आपका नाम एक क्षणके लिये जिह्वाके अग्रभागपर स्थित होकर सारे जन्म-मृत्युरूप बन्धनको अविद्यारूपी मूलके साथ काट देता है। फिर, आप ही बताइये, इन दोनोंमें कौन-सा सेवन करने योग्य है।

श्रीमद्विद्यारण्य महामुनि

(स्थितिकाल अनुमानतः सन् १३०० और १३९१ ई० के बीच। तैत्तिरीय शाखाके ब्राह्मण। पिताका नाम मायणाचार्य और माताका नाम श्रीमती था। संन्यासके पश्चात् शृंगेरीमठके जगद्गुरु शङ्कराचार्य। वेदान्तसम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चदशी' के रचयिता)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

मनसे ही बन्धन और मनसे ही मनुष्योंको मोक्ष मिला करता है। विषयासक्त मन बँधवा देता है। निर्विषय मन मुक्ति दिला देता है।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

जिस चित्तको आत्मामें लगा दिया जाता है, जिस चित्तके रज-तमरूपी मल समाधिरूपी जलसे धो दिये जाते हैं, उस चित्तको समाधिमें जो आनन्द आता है, उस आनन्दका वर्णन वाणीसे तो किया ही नहीं जा सकता—क्योंकि वह तो एक अलौकिक ही सुख है। वह तो मौनकी अलौकिक भाषामें ही समझा और कहा जा सकता है। वह स्वरूपभूत सुख तो केवल अन्तःकरणसे ही गृहीत हुआ करता है।

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वाऽऽस्ते विश्रमं गतः।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः॥

बोझा उठानेवाला पुरुष थकानेवाले सिरके बोझेको उतारकर जैसे श्रमरहित हो जाता है, उसी प्रकार संसारके व्यापारोंका परित्याग कर देनेपर जब किसीको वैसी ही बुद्धि हो जाय कि मैं अब श्रमरहित हो गया हूँ, तब, बस, इसीको 'विश्राम' कहा जाता है।

(पञ्चदशी, योगानन्द-प्रकरण ११७। ११८, १२५)

श्रीजगद्धर भट्ट

(महान् शिवभक्त और प्रसिद्ध कवि। स्थितिकाल १३५० ईस्वीके लगभग। स्थान कश्मीर, पिताका नाम रत्नधर।)

स्तुति

पापः खलोऽहमिति नार्हसि मां विहातुं
किं रक्षया कृतमतेरकुतोभयस्य।
यस्मादसाधुरधमोऽहमपुण्यकर्मा
तस्मात्तवास्मि सुतरामनुकम्पनीयः॥
(११। ३७)

मैं पापी हूँ, मैं दुष्कर्मकारी हूँ—क्या यह समझकर ही आप मेरा परित्याग कर रहे हैं? नहीं-नहीं, ऐसा करना तो आपको उचित नहीं; क्योंकि भयरहित प्राज्ञ और सुकृतकारीको रक्षासे क्या प्रयोजन। रक्षा तो पापियों, भयार्तों और खलोंकी ही की जाती है। जो स्वयं ही रक्षित है, उसकी रक्षा नहीं की जाती। रक्षा तो अरक्षितोंकी ही की जाती है। मुझ महापापी, महान् अधम और महान् असाधुकी रक्षा आप न करेंगे तो फिर करेंगे किसकी। मैं ही तो आपकी दया (आपके द्वारा की गयी-रक्षा) का सबसे बड़ा अधिकारी हूँ।

तावत्प्रसीद कुरु नः करुणाममन्द-
माक्रन्दमिन्दुधर! मर्षय मा विहासीः।
ब्रूहि त्वमेव भगवन्! करुणार्णवेन
त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः॥
(९। ५४)

इन्दुशेखर! मौत आनेके पहले ही आप मुझपर कृपा कर दीजिये। मेरे इस रोने-चिल्लानेसे बुरा मत मानिये। मेरा त्याग न कीजिये। आप ही कहिये, यदि आपके महान करुणासागरने भी मेरी रक्षा न की तो मैं फिर और किसकी शरण जाऊँगा? क्या आपसे बढ़कर भी कोई ऐसा है जो मुझ-सदृश पापीको पार लगा सके?

तदर्चनान्तसमये तव पादपीठ-
मालिङ्ग्य निर्भरमभङ्गुरभक्तिभाजः।
निद्रानिभेन विनिमीलितलोचनस्य
प्राणाः प्रयान्तु मम नाथ! तव प्रसादात्॥
(९। ५६)

मैं आपकी नित्य पूजा करता हूँ। पूजा हो चुकनेपर आपके सिंहासनके नीचे स्थित आपके पैर रखनेकी चौकीपर अपना सिर रखकर मैं बड़े ही भक्तिभावसे उसका आलिङ्गन करता हूँ। बस, आप इतना कर दीजिये कि उसी दशामें मुझे नींद आ जाय और उस नींदके ही बहाने मेरे प्राणोंका उत्क्रमण हो जाय।

मणिः सुसूक्ष्मोऽपि यथोल्बणं विषं
कृशोऽपि वह्निः सुमहद्यथा तृणम्।
शिशुर्मृगेन्द्रोऽपि यथा गजव्रजं
तनुः प्रदीपोऽपि यथा तमोभरम्॥
यथाल्पमप्यौषधमुन्मदं गदं
यथामृतं स्तोकमपि क्षयाद्भयम्।
ध्रुवं तथैवाणुरपि स्तवः प्रभोः
क्षणादघं दीर्घमपि व्यपोहति॥

जैसे अत्यन्त सूक्ष्म भी गारुड मणि तीव्र विषको क्षणमें ही शान्त कर देता है, जैसे क्षीण भी अग्नि बहुत-से तृणोंके ढेरको नष्ट कर देता है, जैसे छोटा-सा एक या दो मासका भी सिंह हाथियोंके झुंडको भगा देता है, जैसे अत्यन्त सूक्ष्म दीपक भी बड़े गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर देता है, रत्तीभर भी महौषधि जैसे महान् उग्र—भयंकर रोगको शान्त कर देती है और जैसे थोड़ा-सा—एक बिन्दुभर भी अमृत मरण अथवा क्षय-रोगके भयको दूर कर देता है, वैसे ही थोड़ा-सा—एक या आधा श्लोक भी जिस किसी भी भाषामें किया हुआ ईश्वरका स्तवन जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कायिक, वाचिक और मानसिक पापोंका नाश अतिशीघ्र ही कर देता है।

विचिन्तयञ्जीवनमेव जीवनं
समर्थयन् पार्थिवमेव पार्थिवम्।
विभावयन् वैभवमेव वैभवं
कदाऽऽश्रये शाङ्करमेव शाङ्करम्॥

मैं एकमात्र जलको ही अपने जीवनका साधन समझता हुआ अर्थात् 'मैं केवल गङ्गाजल ही पीकर देह धारण करूँगा' ऐसा दृढ निश्चय करता हुआ, राजाको 'पार्थिवमेव' पार्थिवका ही एक विकार समझता हुआ और इस संसारके वैभवको सर्वव्यापी भगवान्‌का ही मानता हुआ कल्याणकारी भगवान् शङ्करका ही आश्रय—शरण ग्रहण करूँगा।

परं भवेदप्यवरं कलेवरं
परं हराराधनसाधनं हि यत्।

न तु क्रतुध्वंसिनिषेवणोत्सवं
विनिघ्नती मुक्तिरयुक्तिपातिनी॥

जो केवल भगवान् शंकरके ही आराधनका साधन है, वह अवर भी अर्थात् अति अपवित्र और अधम भी नर-देह श्रेष्ठ है; किंतु श्रीप्रभुकी आराधनारूप महोत्सवको भङ्ग करनेवाली और प्रभुके ही महान् अनुग्रहसे अकस्मात् प्राप्त होनेवाली मुक्ति भी श्रेष्ठ नहीं है।

अक्लेशपेशलमलङ्घ्यकृतान्तदूत-
हुंकारभङ्गभिदुरं दुरितेन्धनाग्निम्।
को नाम नामयहरं हरपादपद्म-
सेवासुखं सुमतिरन्वहमाद्रियेत॥

आहा! अविद्या आदि पञ्चक्लेशोंके संसर्गसे रहित होनेके कारण अतीव कोमल तथा अनिवार्य यमदूतोंके हुंकार-जन्य त्रासका भेदन करनेवाले, पापरूप काठको भस्म करनेमें अग्निके समान, जन्म जरा-मरण रूप भयंकर रोगको समूल नष्ट कर देनेवाले श्रीशिव-पादारविन्दकी सेवाके सुखका कौन बुद्धिमान् पुरुष प्रतिदिन सेवन नहीं करेगा!

इदं मधुमुखं विषं हरति जीवितं तत्क्षणा-
दपथ्यमिदमाहितं व्यथयते विपाके वपुः।
इदं तृणगणावृतं बिलमधो विपत्तेः क्षणा-
यदत्र मलिनोल्बणैर्द्रविणमर्जितं कर्मभिः॥
अतः प्रतनुवैभवोद्भवदखर्वगर्वक्षमा-
पतिप्रणयसम्भवं भुवि विडम्बनाडम्बरम्।
विहाय सुरवाहिनीपुलिनवासहेवाकिनो
भजन्ति कृतिनस्स्मरीरमणकाण्डचूडामणिम्॥

इस संसारमें अत्यन्त मलिन और उग्र कर्मोंके द्वारा मनुष्य जिस धनको संचित करते हैं, वह धन आरम्भमें मधुर प्रतीत होनेवाला विष है; अतएव वह तत्काल अर्थात् उपभोग करते समय ही उनके जीवनको नष्ट कर देता है, उपभोग करनेसे परिणाममें अतीव अपथ्यकारक होता है और अन्तमें शरीरको अत्यन्त ही दुःखित कर देता है। इसलिये वह मलिन कर्मोंद्वारा उपार्जित धन मानो तृणोंसे ढका हुआ एक बड़ा बिल (अन्धकूप) है। अतः उसमें प्रवेश (उपभोग) करनेमात्रसे ही वह मनुष्यका अधःपतन अवश्य ही कर देता है। किंचित् वैभव-जनित प्रचण्ड गर्वका भागी भोगा सिरदर दोनेवाले भूपालका तो दौर्तिका इस ही मार्ने हैं। उनके दौर्तिकास्न जन उन्हें उपहासास्पद ही करते

हैं। इसीलिये विवेकीजन इन भूपालोंके प्रेमकी परवा न करके—इनका आश्रय छोड़कर भगवती भागीरथीके पावन तटकी ओर ही दृष्टि लगाये रहते हैं और भगवान् शशाङ्कशेखरकी कृपा प्राप्त करने—उन्हींको रिझानेके लिये अपने जीवनकी बाजी लगा देते हैं। उन्हींकी प्रसन्नता उनके जीवनका एकमात्र ध्येय बन जाती है।

> किं भूयोभिः परुषविषयैः श्रीविकारैरसारैः
> किं वा भूयः पतनविरसैः स्वर्गभोगाभिलाषैः ।
> मन्ये नान्यद् भवभयविपत्कातराणां नराणां
> मुक्त्वा भक्तिं भगवति भवे श्रेयसामास्पदमस्ति ॥
> दूरोद्यच्चटुललहरीहारिहस्तप्युदस्त-
> व्यापत्तापत्रिकशततदिनीमज्जनोन्मज्जनेषु ।
> श्रद्धाबन्धं शशधरशिरःपादराजीवसेवा-
> हेवाकैकव्यसनमनस्कैर्न तन्वन्ति सन्तः ॥

अत्यन्त नीरस बहुत-से कठोर (शब्द-स्पर्श-रूप-रस आदि) विषयोंसे प्राणीको क्या लाभ हो सकता है । क्षणमें ही विनाश होनेवाले इन ऐहिक धनके विकारोंसे भी क्या लाभ होता है और 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इस प्रकार पुनः-पुनः पतन होनेके कारण उन अत्यन्त नीरस स्वर्गीय भोगोंकी लालसाओंसे भी प्राणीको क्या परम लाभ हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । अतः मेरा तो यह निश्चय है कि इस जन्म-मरण-रूप सांसारिक विपत्तिसे अत्यन्त कातर हुए प्राणियोंके लिये केवल भगवान् शङ्करकी भक्तिको छोड़कर अन्य कोई भी अभिलषित वस्तु कल्याणदायक नहीं हो सकती । इसी कारण विद्वान् लोग (इन सांसारिक क्षणिक सुखोंमें आसक्त न होकर) केवल परमेश्वरके ही चरण-कमलोंकी सेवामें तत्पर रहकर दूरतक फैलनेवाली चञ्चल तरङ्गरूपी भुजाओंसे जीवोंके जन्म-मरणरूपी महाव्याधि और त्रिविध तापोंको दूर करनेवाली भगवती गङ्गाके अवगाहनमें ही निरन्तर दृढ़ अनुराग करते हैं ।

> हन्ताहन्ता प्रथयति मतिह्रासमासञ्जयन्ती
> मायामायासितमितशमाऽऽयामिनी यामिनीव ।
> तस्मादस्मान् रविशशिशिखिस्वेक्षितोद्दामधाम
> क्षिप्त्वा चक्षुर्मुदितमुदितावल्पबोधान् विधेहि ॥

हाय ! अतीव स्वच्छ शम (जितेन्द्रियता) को दुर्बल बना देनेवाली और अज्ञानरूप अन्धकारको पैदा करनेवाली अहंता अत्यन्त विस्तारवती महारात्रिके समान हमारी सद्बुद्धि का ह्रास करती जा रही है; इसलिये हे दयासागर ! सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—इन तीनों तेजोमय बिम्बोंसे प्रदीप्त हुई अपनी प्रसाद-भरी दृष्टि (प्रसन्नदृष्टि) डालकर हमें अखण्ड तत्त्वज्ञानसे पूर्ण बना दीजिये । (स्तुतिकुसुमाञ्जलि ७।१, १०, २३, २४, ३४, ३९, ४०, ४१, ४२, १६।२०

श्रीलक्ष्मीधर

(मिथिलाके [illegible] १४ वीं शताब्दीके पूर्व [illegible] हैं । ये श्रीनृसिंहजीके पुत्र और परमहंस श्रीअनुभवानन्दजीके शिष्य थे।)

भगवन्नाम-निष्ठा

> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible] मनो मम सदा संसार[illegible] ॥
> वद जिह्वे वद जिह्वे [illegible] श्रीराम रामेति ।
> [illegible] जिह्वे वद वद जिह्वे वद राम रामेति ॥
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible] ॥
> ([illegible])

[illegible] रहे हैं, नूतन मेघमें छिपते हुए चन्द्रमाकी स्फुट शोभाको धारण करते हैं, सदा अपने भक्तोंके हृदयमें रहते हुए भी सबके स्वामीको प्रतिदिन दृष्टिगोचर होते हैं, उन [illegible] रामचन्द्रको मेरा मन अपने संसारबन्धनका उच्छेद करनेके लिये सदा ही भजे ।

अरी पुण्यवती रसने ! तू 'श्रीराम-श्रीराम' रट । अरी जिह्वे ! तू बार-बार 'राम राम' रटती रह ।

हे हरे ! अनादि [illegible] निरन्तर [illegible] किये हुए [illegible] कल्पित [illegible] नहीं है, वह तो [illegible] नहीं हो सकते, [illegible] है ! [illegible] ! [illegible] है ।

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा-
माचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः ।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः ॥
श्रीरामेति जनार्दनेति जगतां नाथेति नारायणे-
त्यानन्देति दयापरेति कमलाकान्तेति कृष्णेति च ।
श्रीमन्नाममहामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नं मुहु-
र्मुह्यन्तं गलदश्रुधारमवशं मां नाथ नित्यं कुरु ॥

यह रामनामरूपी मन्त्र शुद्धचेता महात्माओंके चित्तको हठात् अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला तथा बड़े-से-बड़े पापों-का मूलोच्छेद करनेवाला है। मोक्षरूपिणी लक्ष्मीके लिये तो यह वशीकरण ही है। इतना ही नहीं, यह केवल गूँगोंको छोड़कर चाण्डालसे लेकर उत्तम जातितकके सभी मनुष्योंके लिये सुलभ है। दीक्षा, दक्षिणा, पुरश्चरणका यह तनिक भी विचार नहीं करता, यह मन्त्र जिह्वाका स्पर्श करते ही सभीके लिये पूर्ण फलद होता है। नाथ! आप मुझे सदाके लिये ऐसी स्थितिमें पहुँचा दें कि मैं श्रीमान्‌के 'श्रीराम! जनार्दन! जगन्नाथ! नारायण! आनन्दमय! दयापर! कमलाकान्त! कृष्ण! आदि नामरूपी अमृतसे पूर्ण महासागरकी लहरोंकी हिलोरोंमें डूबकर आँसू बहाता हुआ विवश और बेसुध हो जाऊँ।

भक्त बिल्वमङ्गल

(श्रीलीलाशुक)

(दक्षिण-प्रदेशमें कृष्णवीणा नदी-तटके एक ग्राममें जन्म, ब्राह्मण, पिताका नाम रामदास)

मङ्गल-मनोरथ

यावन्न मे नरदशा दशमी दृशोऽपि
रन्ध्रादुदेति तिमिरीकृतसर्वभावा ।
लावण्यकेलिभवनं तव तावदेतु
लक्ष्म्या समुत्क्वणितवेणु मुखेन्दुबिम्बम् ॥
आलोललोचनविलोकितकेलिधारा-
नीराजिताग्रसरणेः करुणाम्बुराशेः ।
आर्द्राणि वेणुनिनदैः प्रतिनादपूरै-
राकर्णयामि मणिनूपुरशिञ्जितानि ॥
(श्रीकृष्णकर्णामृत १।३८-३९)

प्रभो! इसके पूर्व ही कि मेरी अन्यान्य इन्द्रियोंके साथ नयन रन्ध्रोंसे भी मनुष्य-शरीरकी अन्तिम दशा (मरणावस्था) प्रकट हो जाय—जिस अवस्थामें सारी वस्तुएँ अन्धकारमय, अदृश्य हो जाती हैं—ऐसी कृपा होनी चाहिये कि आपका गोल गोल चाँद-सा मुखड़ा, जो लावण्यका क्रीडास्थल है और जिसके अधरोंसे लगी हुई बाँसुरी ऊँचे स्वरसे बजती रहती है, अपनी सहज शोभाके साथ उन नेत्र-रन्ध्रोंके सामने उपस्थित हो जाय! प्रभो! वह दिन कब होगा जब करुणा-वरुणालय आपके आगेके मार्गका श्रीगोपीजनोंके नेत्रोंसे निकलती हुई विलासपूर्ण दृष्टिकी परम्परासे नीराजन होता चलेगा और मैं गूँजते हुए आपके वंशी-नादके साथ-साथ आपके मणिजटित नूपुरोंकी रसमयी ध्वनिको सुनकर निहाल होता रहूँगा!

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो ।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ॥
(१।४०)

हे देव! प्रियतम! एकमात्र जगद्बन्धो! श्रीकृष्ण! चपल! करुणाके अनुपम सागर! नाथ! प्राणाराम! नयनाभिराम श्याम! आप हमारे नेत्रगोचर कब होंगे?

प्रेमदं च मे कामदं च मे वेदनं च मे वैभवं च मे ।
जीवनं च मे जीवितं च मे दैवतं च मे देव नापरम् ॥
(१।४१)

हे देव! आपके सिवा मुझे प्रेम दान करनेवाला, मेरे मनोरथ पूर्ण करनेवाला, मेरा अनुभव, ऐश्वर्य, जीवन, प्राणाधार और देवता अन्य कोई नहीं है।

परिमममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥
(२।२८)

उपनिषदोंके गहन अरण्यमें घूमते-घूमते नितान्त थके हुए लोगो! मैं इन ग्वालिन ... को आनन्दके मुझे

अश्नीत पिबत खादत जाग्रत संविशत तिष्ठत वा ।
सकृदपि चिन्तयताक्षा सावधिको देहबन्ध इति ॥

खाओ, पीओ, जागो, बैठो, अथवा खड़े रहो; पर दिनमें एक बार भी यह बात सोच लो कि इस शरीरका नाश निश्चय है।

अयुतं नियुतं वापि प्रदिशन्तु प्राकृताय भोगाय ।
क्रीणन्ति न बिल्वदलैः कैवल्यं पञ्चषैर्मूढाः ॥

संसारके भोगोंके लिये तो मूढ़जन हजारों लाखों खर्च कर दिया करते हैं, पर पाँच-छः बिल्वपत्रोंसे मुक्ति उनसे नहीं खरीदी जाती।

जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य

(गुरुपरम्परागत मठोंके अनुसार आविर्भावकाल ईसासे पूर्व ५०८ या ४७६ वर्ष, पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार ई० सन् ६८ या ७२०, आयु ३२ या ३८ वर्ष, आविर्भाव-स्थान केरलप्रदेश। पूर्णा नदीके तटपर कलादि नामक ग्राम। पिताका नाम शिवगुरु, माताका नाम श्रीसुभद्रामाता अथवा विशिष्टा। जन्मतिथि वैशाख शुक्ल पञ्चमी। जाति ब्राह्मण। गुरु श्रीस्वामी गोविन्द भगवत्पाद। महान् दार्शनिक विद्वान् और भक्त। अद्वैत-सम्प्रदायके प्रधानतम आचार्य, ये साक्षात् भगवान् शङ्करके अवतार माने जाते हैं।)

ब्रह्म ही सत्य है

सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम् ।
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्न हि ॥
(स्वात्मप्रकाशिका ६)

(मिथ्या) सर्प आदिमें रज्जु-सत्ताकी भाँति जगत्के आधार या अधिष्ठानके रूपमें केवल ब्रह्मसत्ता ही है अतएव ब्रह्म ही है, जगत् नहीं।

घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति ।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ॥
(स्वात्मप्रकाशिका १४)

घटका प्रकाश सूर्य करता है; किंतु घटके नाश होनेपर जैसे सूर्यका नाश नहीं होता, वैसे ही देहका प्रकाशक साक्षी (आत्मा) भी देहका नाश होनेपर नष्ट नहीं होता।

न हि प्रपञ्चो न हि भूतजातं
न चेन्द्रियं प्राणगणो न देहः ।
न बुद्धिचित्तं न मनो न कर्ता
ब्रह्मैव सत्यं परमात्मरूपम् ॥
(स्वात्मप्रकाशिका १७)

यह जगत् (सत्य) नहीं है, प्राणिसमूह नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, प्राण (सत्य) नहीं है, देह नहीं है, बुद्धि चित्त नहीं है, मन नहीं है, अहङ्कार नहीं है, परमात्मस्वरूप ब्रह्म ही (सत्य) है।

ब्रह्मप्राप्तिके साधन

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता ॥
(विवेकचूडामणि १७)

जो सदसद्विवेकी, वैराग्यवान्, शम-दमादि षट्सम्पत्ति युक्त और मुमुक्षु हो, उसीमें ब्रह्मजिज्ञासाकी योग्यता मानी जाती है।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥
(विवेकचूडामणि ३०)

जिसमें वैराग्य और मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं, उसीमें शमादि चरितार्थ और सफल होते हैं।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥
(विवेकचूडामणि ३२)

मुक्तिकी कारणरूप सामग्रीमें भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसंधान करना ही भक्ति कहलाती है।

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥
(विवेकचूडामणि ३८०

अनात्मपदार्थोंका चिन्तन मोहरूप है और दुःखका कारण है। उसका त्याग करके मुक्तिके कारण आनन्दरूप आत्माका चिन्तन करो।

भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम् ।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते ॥
पुण्यतमामतिसुरसां मनोऽभिलाषात्मिकां हरेः कथां त्यक्त्वा ।
श्रोतुं श्रवणद्वन्द्वं ग्राम्यं कथमादरं वहति ॥

दौर्भाग्यमिन्द्रियाणां कृष्णे विषये हि शाश्वतिके ।
क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु ॥
(प्रबोधसुधाकर १९१—१९३)

जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं, वाञ्छित फलके दाता हैं, उन दयासागर श्रीकृष्णको छोड़कर ये युगल नेत्र और किस विषयका दर्शन करनेको उत्सुक हैं ? अति पवित्र, अति सुन्दर और सरस हरिकथाको छोड़कर ये कर्णयुगल सांसारिक विषयोंकी चर्चा सुननेको क्यों श्रद्धा प्रकट करते हैं ? सदा विद्यमान श्रीकृष्णरूपी विषयके रहते हुए भी पापके साधन अन्य क्षणिक विषयोंमें जो इन्द्रियाँ आसक्त होती हैं, यह इनका दुर्भाग्य ही है ।

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः ।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥
(प्रबोधसुधाकर २४२)

जिसने ब्रह्माजीको अनेक ब्रह्माण्ड और प्रत्येक ब्रह्माण्डमे पृथक्-पृथक् अति विचित्र ब्रह्मा, गोवत्सोंसहित गोप और अनन्त विष्णु दिखलाये तथा जिसके चरणोदकको शिवजी अपने सिरपर धारण करते हैं, वह श्रीकृष्ण मूर्तित्रय ब्रह्मा, विष्णु और महादेवसे पृथक् कोई सच्चिन्मयी निर्विकार नीलिमा है ।

चित्तको प्रबोध

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः संधाय कोटिद्वयं
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम् ।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां
युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम् ॥
पुत्रान् पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धनं
भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नालं समुत्कण्ठया ।
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ
सान्द्रानन्दसुधार्णवे विहरति स्वैरं यतो निर्भयम् ॥
काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं केचित्फलं स्वेप्सितं
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः ।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥
आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः ।
लोहमपि चुम्बकाश्मा सम्मुखमात्रं जडं यद्वत् ॥
अपगुणमोऽधमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा ।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे ॥
(प्रबोधसुधाकर २४८—२५२)

अरे चित्त, चञ्चलताको छोड़कर सामने तराजूके दोनों पलड़ोंमेंसे एकमें सब विषयोंको और दूसरेमें भगवान् श्रीपतिको रख और इसका विचार कर कि दोनोंके बीचमें विश्राम और हित किसमें है । फिर युक्ति और अनुभवसे जहाँ परमानन्द मिले, उसीका सेवन कर । पुत्र, पौत्र, स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ, अपना धन, परधन और भोज्यादि पदार्थोंमें न्यूनाधिक भाव होनेसे कभी इच्छा शान्त नहीं होती; किंतु जब घनानन्दामृतसिन्धु विभु यदुनायक श्रीकृष्ण चित्तमें प्रकट होकर इच्छापूर्वक विहार करते हैं, तब यह बात नहीं रहती; क्योंकि उस समय चित्त स्वच्छन्द एवं निर्भय हो जाता है । कुछ लोग प्रतिदिन सकाम उपासनासे मनोवाञ्छित फलकी प्रार्थना करते हैं और कोई यज्ञादिसे स्वर्ग और योगादिसे मोक्षकी कामना करते हैं, किंतु यदुनन्दनके चरणयुगलोंके ध्यानमें सावधान रहनेके इच्छुक हमको लोक, इन्द्रियनिग्रह, राजा, स्वर्ग और मोक्षसे क्या प्रयोजन है । श्रीपति श्रीकृष्ण अपने आश्रित पुरुषको अपनी ओर वैसे ही खींचते हैं, जैसे सामने आये हुए जड लोहेको चुम्बक अपनी ओर खींचता है । कृपा करते समय भगवान् यह नहीं विचारते कि जाति, रूप, धन और आयुसे यह उत्तम है या अधम, स्तुत्य है या निन्द्य ?

मणिरत्नमालाके और प्रश्नोत्तररत्नमालिकाके कुछ प्रश्नोत्तरोंका अनुवाद

बद्ध कौन है ? विषयासक्त । मुक्ति क्या है ? विषयोंसे विराग । भयानक नरक क्या है ? अपना देह (देहासक्ति)। स्वर्ग क्या है ? तृष्णाका क्षय ।

संसारबन्धन किससे कटता है ? श्रुतिजनित आत्मज्ञानसे । मुक्तिका हेतु क्या है ? पूर्वोक्त आत्मज्ञान । नरकका एकमात्र द्वार क्या है ? नारी (कामासक्ति—पुरुषकी नारीमें और नारीकी पुरुषमें) । स्वर्गकी प्राप्ति किससे होती है ? जीवोंकी अहिंसासे ।

सुखसे कौन सोता है ? समाधिनिष्ठ (परमात्मामें निरुद्ध-चित्त) । जाग्रत् कौन है ? सत्-असत्का विवेकी । शत्रु कौन हैं ? अपनी इन्द्रियाँ; परंतु जीत लेनेपर ये ही इन्द्रियाँ मित्र बन जाती हैं ।

दरिद्र कौन है ? जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है । श्रीमान् (धनी) कौन है ? जो पूर्ण संतोषी है । जीता ही कौन मर चुका है ? उद्यमहीन । अमृत (जीवित) कौन है ? जो (भोगोंसे) निराश है ।

फाँसी क्या है ? ममता और अभिमान । मदिराकी भाँति मोहित कौन करती है ? नारी (कामासक्ति) । महान् अन्धा कौन है ? कामातुर । मृत्यु क्या है ? अपना अपयश ।

गुरु कौन है ? जो हितका उपदेश करता है । शिष्य कौन है ? जो गुरुका भक्त है । लंबा रोग क्या है ? भव रोग । उसके मिटानेकी दवा क्या है ? असत्-सत्का विचार ।

भूषणोंमें उत्तम भूषण क्या है ? सच्चरित्रता । परम तीर्थ क्या है ? अपना विशुद्ध मन । कौन वस्तु हेय है ? कामिनी काञ्चन । सदा क्या सुनना चाहिये ? गुरुका उपदेश और वेदवाक्य । ब्रह्मकी प्राप्तिके उपाय क्या हैं ? सत्सङ्ग, दान, विचार और संतोष । संत कौन हैं ? जो समस्त विषयोंसे वीतराग हैं, मोहरहित हैं और शिवस्वरूप ब्रह्मतत्त्वमें निष्ठावान् हैं ? प्राणियोंका ज्वर क्या है ? चिन्ता । मूर्ख कौन है ? विवेकहीन । किसको प्रिय बनाना है ? शिव-विष्णु-भक्तिको । यथार्थ जीवन क्या है ? जो दोषवर्जित है ।

विद्या क्या है ? जो ब्रह्मकी प्राप्ति कराती है । ज्ञान किसे कहते हैं ? जो मुक्तिका हेतु है । लाभ क्या है ? आत्मज्ञान । जगत्को किसने जीता है ? जिसने मनको जीत लिया ।

वीरोंमें महावीर कौन है ? जो कामबाणसे पीड़ित नहीं होता । समतावान्, धीर और प्राज्ञ कौन है ? जो ललना-कटाक्षसे मोहित नहीं होता ।

विषका भी विष क्या है ? समस्त विषय । सदा दुखी कौन है ? विषयानुरागी । धन्य कौन है ? परोपकारी । पूजनीय कौन है ? शिवतत्त्वमें निष्ठावान् ।

सभी अवस्थाओंमें क्या नहीं करना चाहिये ? (विषयोंमें) स्नेह और पाप । विद्वानोंको प्रयत्नके साथ क्या करना चाहिये ? शास्त्रका पठन और धर्म । संसारका मूल क्या है ? (विषय-) चिन्ता ।

किसका सङ्ग और किसके साथ निवास नहीं करना चाहिये ? मूर्ख, पापी, नीच और खलका सङ्ग और उनके साथ वास नहीं करे । मुमुक्षु व्यक्तियोंको शीघ्र-से-शीघ्र क्या करना चाहिये ? सत्सङ्ग, निर्ममता और ईश्वरभक्ति ।

हीनताका मूल क्या है ? याचना । महत्त्वका मूल क्या है ? अयाचना । किसका जन्म सार्थक है ? जिसका फिर जन्म न हो । अमर कौन है ? जिसकी फिर मृत्यु न हो ।

शत्रुओंमें महाशत्रु कौन है ? काम, क्रोध, असत्य, लोभ, तृष्णा । विषयभोगसे तृप्त कौन नहीं होती ? कामना । दुःखका कारण क्या है ? ममता ।

मृत्यु समीप होनेपर बुद्धिमान् पुरुषको क्या करना चाहिये ? तन, मन, वचनके द्वारा यमके भयका निवारण करनेवाले सुखदायक श्रीहरिके चरणकमलोंका चिन्तन ।

दिन-रात ध्येय क्या है ? संसारकी अनित्यता और आत्मस्वरूप शिवतत्त्व । कर्म किसे कहते हैं ? जो श्रीकृष्णके लिये प्रीतिकर हो । सदा किसमें अनास्था करनी चाहिये ? भवसमुद्रमें ।

मार्गका पाथेय क्या है ? धर्म । पवित्र कौन है ? जिसका मन पवित्र है । पण्डित कौन है ? विवेकी । विष क्या है ? गुरुजनों (बड़ों) का अपमान ।

मदिराके समान मोहजनक क्या है ? स्नेह । डाकू कौन है ? विषयसमूह । संसार-बेल क्या है ? विषय-तृष्णा । शत्रु कौन है ? उद्योगका अभाव (अकर्मण्यता) ।

कमलपत्रपर स्थित जलकी तरह चञ्चल क्या है ? यौवन, धन और आयु । चन्द्रकिरणोंके समान निर्मल कौन है ? संत-महात्मा ।

नरक क्या है ? परवशता । सुख क्या है ? समस्त सङ्गोंका त्याग । सत्य क्या है ? जिसके द्वारा प्राणियोंका हित हो । प्राणियोंके प्रिय क्या हैं ? प्राण ।

(यथार्थ) दान क्या है ? कामनारहित दान । मित्र कौन है ? जो पापसे हटाये । आभूषण क्या है ? शील । वाणीका भूषण क्या है ? सत्य ।

अनर्थकारी कौन है ? मान । सुखदायक कौन है ? सज्जनोंकी मित्रता । समस्त व्यसनोंके नाशमें कौन समर्थ है ? सर्वदा त्यागी ।

अन्धा कौन है ? जो अकर्तव्यमें लगा है । बहिरा कौन है ? जो हितकी बात नहीं सुनता । गूँगा कौन है ? जो समयपर प्रिय वचन बोलना नहीं जानता ।

मरण क्या है ? मूर्खता । अमूल्य वस्तु क्या है ? उपयुक्त अवसरका दान । मरते समयतक क्या चुभता है ? गुप्त पाप ।

साधु कौन है ? सच्चरित्र । अधम कौन है ? चरित्रहीन । जगत्‌को जीतनेमें कौन समर्थ है ? सत्यनिष्ठ और सहनशील (क्षमावान्) । शोचनीय क्या है ? धन होनेपर भी कृपणता । प्रशंसनीय क्या है ? उदारता । पण्डितोंमें पूजनीय कौन है ? सदा स्वाभाविक विनयी ।

तमोगुणरहित पुरुष बार-बार जिसका बखान करते हैं, वह 'चतुर्भद्र' क्या है ? प्रिय वचनके साथ दान, गर्वरहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता और त्यागयुक्त धन —यह दुर्लभ चतुर्भद्र है ।

रात-दिन ध्येय क्या है ? भगवच्चरण, न कि संसार । आँखें होते हुए अन्धे कौन हैं ? नास्तिक ।

पुरुषोंको सदा किसका स्मरण करना चाहिये ? हरिनामका । सद्बुद्धि पुरुषोंको क्या नहीं कहना चाहिये ? पराया दोष तथा मिथ्या बात ।

मुक्ति किससे मिलती है ? मुकुन्दभक्तिसे । मुकुन्द कौन है ? जो अविद्यासे तार देता है । अविद्या क्या है ? आत्माकी स्फूर्ति न होना ।

मायी कौन है ? परमेश्वर । इन्द्रजालकी तरह क्या वस्तु है ? जगत्-प्रपंच । स्वप्नतुल्य क्या है ? जाग्रत्‌का व्यवहार । सत्य क्या है ? ब्रह्म ।

प्रत्यक्ष देवता कौन है ? माता । पूज्य और गुरु कौन है ? पिता । सर्वदेवतास्वरूप कौन है ? विद्या और कर्मसे युक्त ब्राह्मण ।

भगवद्भक्तिका फल क्या है ? भगवद्धामकी प्राप्ति या स्वरूपसाक्षात्कार । मोक्ष क्या है ? अविद्याकी निवृत्ति । समस्त वेदोंमें प्रधान क्या है ? ओंकार ।

श्रीयामुनाचार्य

(श्रीवैष्णवसम्प्रदायके महान् आचार्य, श्रीनाथमुनिके पौत्र और श्रीईश्वरमुनिके पुत्र । आविर्भाव १०१० वि० सं०, स्थान वीर-नारायणपुर (मदुरा) । यतिराज श्रीरामानुजाचार्यके परम गुरु)

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥
न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥
निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्त-
श्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः ।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानी-
मनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ॥
(श्रीआलवन्दारस्तोत्र श्लो० २५, २६, २७)

मैं न धर्मनिष्ठ हूँ न आत्मज्ञानी हूँ, और न आपके चरणारविन्दोंका भक्त ही हूँ। मैं तो अकिंचन हूँ, अनन्यगति हूँ और शरणागतरक्षक आपके चरणकमलोंकी शरण आया हूँ। संसारमें ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है, जिसको हजारों बार मैंने न किया हो । ऐसा मैं अब फलभोगके समयपर विवश (अन्य-साधनहीन) होकर, हे मुकुन्द ! आपके आगे बारंबार रोता—क्रन्दन करता हूँ । अनन्त महासागरके भीतर डूबते हुए मुझको आज अति विलम्बसे आप तटरूप होकर मिले हैं और हे भगवन् ! आपको भी आज यह दयाका अनुपम पात्र मिला है ।

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम् ।
किं तु त्वदग्रे शरणागतानां
पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः ॥
(आलवन्दार श्लो० ३८)

हे नाथ ! मुझपर जो कुछ बीत चुका है, उससे विलक्षण कौन-सा नूतन दुःख अब मुझे मिलेगा । मेरे लिये कोई भी कष्ट नया नहीं है, सब कुछ भोग चुका हूँ । जो होगा, सब सह लूँगा; दुःख तो मेरे साथ ही उत्पन्न हुआ है । परंतु आपकी शरणमें आये हुएका आपके सामने ही अपमान हो, यह आपको शोभा नहीं देता—अतः मेरे उद्धारमें देर न लगाइये ।

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे ।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु ॥
(आलवन्दार श्लो० ४१)

हे हरे ! हजारों अपराधोंसे भरा हुआ मैं भयंकर भव

सागरके उदरमें गोते लगा रहा हूँ । अब आप कृपा करके अपनी शरणमें आये हुए मुझ असहायको केवल अपना लीजिये ।

तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे ।
इतरावसथेषु मा स्म भूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ॥
(आलवन्दार श्लो० ५८)

आपके दास्यभावमें ही सुखका अनुभव करनेवाले सज्जनोंके घरोंमें तो मुझे कीड़ेकी भी योनि मिले—तो मैं प्रसन्न हूँ; पर दूसरोंके घरमें तो मुझे ब्रह्माजीकी भी योनि न मिले—यही मेरी प्रार्थना है ।

दुरन्तस्यानादेरपरिहरणीयस्य महतो
विहीनाचारोऽहं नृपशुरशुभस्यास्पदमपि ।
दयासिन्धो बन्धो निरवधिकवात्सल्यजलधे
तव स्मारं स्मारं गुणगणमितीच्छामि गतभीः ॥
अनिच्छन्नप्येवं यदि पुनरितीच्छन्निव रज-
स्तमश्छन्नश्छद्मस्तुतिवचनभङ्गीमरचयम् ।
तथापीत्थंरूपं वचनमवलम्ब्यापि कृपया
त्वमेवैवंभूतं धरणिधर मे शिक्षय मनः ॥
पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिश्चासि जगताम् ।
त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहं
प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः ॥
अमर्यादः क्षुद्रश्चलमतिरसूयाप्रसवभूः
कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वञ्चनपरः ।
नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दुःखजलधे-
रपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेयं चरणयोः ॥
रघुवर यदभूस्त्वं तादृशो वायसस्य
प्रणत इति दयालुर्यच्च चैद्यस्य कृष्ण ।
प्रतिभवमपराद्धुर्मुग्ध सायुज्यदोऽभू-
र्वद किमु पदमागस्तस्य तेऽस्ति क्षमायाः ॥
(आलवन्दारस्तोत्र श्लो० ६१, ६२, ६३, ६५, ६६)

हे दयासिन्धो ! दीनबन्धो ! मैं दुराचारी नर-पशु आदि-अन्तरहित और अपरिहरणीय महान् अशुभका भंडार हूँ; तो भी हे अपारवात्सल्यसागर ! आपके गुण-गणोंका स्मरण कर-करके निर्भय हो जाऊँ, ऐसी इच्छा करता हूँ । धरणीधर ! यद्यपि मैंने रजोगुण और तमोगुणसे आच्छन्न होकर पूर्वोक्तरूपसे, वस्तुतः इच्छा न रखते हुए भी, इच्छुककी भाँति, कपटयुक्त स्तुति-वचनोंका निर्माण किया है, तथापि मेरे ऐसे वचनोंको भी अपनाकर आप ही कृपा करके मेरे मनको (सच्चे भावसे स्तुति करनेयोग्य होनेकी) शिक्षा दें । हरे ! आप ही जगत्के पिता-माता, प्रिय पुत्र, प्यारे सुहृद्, मित्र, गुरु और गति हैं; मैं आपका ही सम्बन्धी, आपका ही दास, आपका ही परिचारक, आपको ही एकमात्र गति माननेवाला और आपकी ही शरण हूँ । इस प्रकार अब आपपर ही मेरा सारा भार है । भगवन् ! मैं तो मर्यादाका पालन न करनेवाला, नीच, चञ्चलमति और (गुणोंमें भी दोषदर्शनरूप) असूयाकी जन्मभूमि हूँ, साथ ही कृतघ्न, दुष्ट, अभिमानी, कामी, ठग, क्रूर और महापापी हूँ; भला, मैं किस प्रकार इस अपार दुःख-सागरसे पार होकर आपके चरणोंकी परिचर्या करूँ ? रघुवर ! जब कि उस (काक-रूपधारी जयन्त) के ऊपर, यह सोचकर कि 'यह मेरी शरणमें आया है' आप वैसे दयालु हो गये थे और हे सुन्दर श्रीकृष्ण ! जो अपने प्रत्येक जन्ममें आपका अपराध करता आ रहा था, उस शिशुपालको भी जब आपने सायुज्य मुक्ति दे दी, तो अब कौन ऐसा अपराध है, जो आपकी क्षमाका विषय न हो।

जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य

(आविर्भाव—वि० सं० १०७४, स्थान—दक्षिण भारत, भूतपुरी (वर्तमान श्रीपेरुम्बुदूरम्)। पिताका नाम—श्रीकेशव सोमयाजी, माताका नाम—कान्तिमती। श्रीवैष्णवसम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके प्रधान आचार्य। महान् दार्शनिक विद्वान्, परम भक्त, आप भगवान् श्रीसंकर्षणके अवतार माने जाते हैं।)

शरणागति

सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते श्रीमन्नारायण वैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे, अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यैकजलधे, अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूत निखिलनियमनिरत अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिभूत निखिलजगदाधार अखिलजगत्स्वामिन् अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्यसंकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख श्रीमन्नारायण, अशरणशरण्य, अनन्यशरणस्त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये ।

हे पूर्णकाम, सत्यसङ्कल्प, परब्रह्मरूप पुरुषोत्तम, [illegible]

महान् ऐश्वर्यसे युक्त श्रीमन्नारायण ! हे वैकुण्ठनाथ ! आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणोंके महासागर हैं; छोटे-बड़ेका विचार न करके सामान्यतः सभी लोगोंको आप शरण देते हैं, प्रणतजनोंकी पीड़ा हर लेते हैं। शरणागतोंके लिये तो आप वत्सलताके समुद्र ही हैं। आप सदा ही समस्त भूतोंकी यथार्थताका ज्ञान रखते हैं। सम्पूर्ण चराचर भूतोंके सारे नियमों और समस्त जड-चेतन वस्तुओंके आप अवयवी हैं (ये सभी आपके अवयव हैं)। आप समस्त संसारके आधार हैं, अखिल जगत् तथा हम सभी लोगोंके स्वामी हैं। आपकी कामनाएँ पूर्ण और आपका संकल्प सच्चा है। आप समस्त प्रपञ्चसे भिन्न और विलक्षण हैं। याचकोंके तो आप कल्पवृक्ष हैं, विपत्तिमें पड़े हुए लोगोंके सहायक हैं। ऐसी महिमावाले तथा आश्रयहीनोंको आश्रय देनेवाले हे श्रीमन्नारायण ! मैं आपके चरणारविन्द-युगलकी शरणमें आता हूँ; क्योंकि उनके सिवा मेरे लिये कहीं भी शरण नहीं है।

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

'हे प्रभो ! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, रत्न, राशि, धन-धान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अविनाशी मोक्षपदसहित सम्पूर्ण कामनाओंका त्यागकर समस्त ब्रह्माण्डको आक्रान्त करनेवाले आपके दोनों चरणोंकी शरणमें आया हूँ।'

मनोवाक्कायैरनादिकालप्रवृत्तानन्ताकृत्यकरणकृत्याकरण-भगवदपचारभागवतापचारासह्यापचाररूपनानाविधानन्ताप-चारानारब्धकार्याननारब्धकार्यान् कृतान् क्रियमाणान् करिष्य-माणांश्च सर्वान् अशेषतः क्षमस्व।

अनादिकालप्रवृत्तविपरीतज्ञानमात्मविषयं कृत्स्नजगद्विषयं च विपरीतवृत्तं चाशेषविषयमद्यापि वर्तमानं वर्तिष्यमाणं च सर्वं क्षमस्व।

मदीयानादिकर्मप्रवाहप्रवृत्तां भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीं विपरीतज्ञानजननीं स्वविषयायाश्च भोग्यबुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन सूक्ष्मरूपेण चावस्थितां दैवीं गुणमयीं मायां दास-भूतः शरणागतोऽस्मि तवास्मि दास इति वक्तारं मां तारय।

(शरणागतिगद्य)

हे भगवन् ! मन, वाणी और शरीरके द्वारा अनादि कालसे अनेकों न करने योग्य कर्मोंका करना, करने योग्य कर्मोंको न करना, भगवान्का अपराध, भगवद्भक्तोंका अपराध तथा और भी जो असह्य अनाचाररूप नाना प्रकारके अनन्त अपराध मुझसे हुए हैं, उनमें जो प्रारब्ध बन चुके हैं अथवा जो प्रारब्ध नहीं बने हैं, उन सभी पापोंको तथा जिन्हें कर चुका हूँ, जिन्हें कर रहा हूँ और जिन्हें अभी करनेवाला हूँ, उन सबको आप क्षमा कर दीजिये।

'आत्मा और सारे संसारके विषयमें जो मुझे अनादि कालसे विपरीत ज्ञान होता चला आ रहा है तथा सभी विषयोंमें जो मेरा विपरीत आचरण आज भी है और आगे भी रहनेवाला है, वह सब-का-सब आप क्षमा कर दें।'

'मेरे अनादि कर्मोंके प्रवाहमें जो चली आ रही है, जो मुझसे भगवान्के स्वरूपको छिपा लेती है, जो विपरीत ज्ञानकी जननी, अपने विषयमें भोग्य-बुद्धिको उत्पन्न करनेवाली और देह, इन्द्रिय, भोग्य तथा सूक्ष्मरूपसे स्थित रहनेवाली है, उस दैवी त्रिगुणमयी मायासे 'मैं आपका दास हूँ, किङ्कर हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ' इस प्रकार रट लगानेवाले मुझ दीनका आप उद्धार कर दीजिये।' (गद्यत्रय)

(प्रेषक—डा० श्रीकृष्णदत्त भारद्वाज, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न)

मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रम्।

शास्त्र हमें इतना प्यार करता है जितना सहस्रों माता-पिता भी नहीं कर सकते।

यथाभूतवादि हि शास्त्रम्।

शास्त्र हमें वैसी ही बात बताता है जैसी वह है।

यथा ज्ञानादयः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतगुणास्तथेदमपि रूपं श्रुत्या स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतम्।

ज्ञान, आनन्द, सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि गुण परब्रह्मके स्वरूपभूत गुण हैं; क्योंकि शास्त्र (वेद) ने उन्हें स्वरूपभूत कहा है; इसी प्रकार यह (शङ्ख-चक्र गदा पद्मधारी वनमाला-विभूषित, अमल-कमल-दल नयन युगल, परम सुन्दर) रूप भी परब्रह्मका स्वरूपभूत रूप है; क्योंकि शास्त्रने इसे स्वरूपभूत बताया है।

वासुदेवस्य निखिलजगदुपकाराय स्वेच्छया देवमनुष्यादिष्ववतारः।

समस्त संसारके कल्याणके लिये भगवान् वासुदेव अपनी इच्छासे, अपने ही रूपमें, देव आदिमें अवतार लेते हैं।

इयमेव भक्तिरूपा सेवा ब्रह्मविद्या ।

यह भक्तिरूपा आराधना ही ब्रह्मविद्या है ।

शारीरकेऽपि भाष्ये या गोपिता शरणागतिः ।
अत्र गद्यत्रये व्यक्तां तां विद्यां प्रणतोऽस्म्यहम् ॥

ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें भी शरणागति विद्याको मैंने गुप्त ही रक्खा । किंतु गद्यत्रय नामक मेरे ग्रन्थमें वह प्रकट हो गयी है । मैं उस विद्याको प्रणाम करता हूँ ।

अनन्तानन्तशयन पुराणपुरुषोत्तम ।
रङ्गनाथ जगन्नाथ नाथ तुभ्यं नमो नमः ॥

हे अनन्त, हे शेषशायिन्, हे सनातन, हे पुरुषोत्तम, हे रङ्गनाथ, हे जगन्नाथ, हे नाथ ! आपको बार-बार नमस्कार ।

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम् ।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा ॥

हे नाथ, कृपा करके मुझे अपना सेवक बना लीजिये । मुझे अपनी दासता, किंकरताका दान दे दीजिये । कैसी दासता ? जो कि प्रीतिसे होती है—प्रेम जिसको करा लेता है । कैसा प्रेम ? आपके अनुभवसे होनेवाला । मैं अनन्त लावण्य, अपार माधुर्य, परम सौन्दर्यकी प्रतिमाभूत आपकी दिव्य मूर्तिका एवं आपके अनन्त सौशील्य, वात्सल्य आदि गुणोंका अनुभव करूँ । वह अनुभव ऐसा होगा कि मेरे हृदयमें आपके प्रति तैलधाराके समान अविच्छिन्न प्रेम उदय करा देगा । वह प्रेम मुझसे आपकी सेवा करायेगा । मैं उस प्रेममें विभोर होकर आपकी सेवा-सपर्या, भजन-भक्ति करूँगा । आपकी ऐसी सुन्दर सेवा-भक्तिके अतिरिक्त मुझे अन्य कोई उपाय अपने उद्धारका और अन्य कोई लक्ष्य अपने जीवनका नहीं सूझ रहा है । यह सेवा ही मेरी गति है—उपाय है और जीवनका लक्ष्य है ।

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य

(आविर्भाव—भक्तोंके विश्वासानुसार द्वापरयुग । वर्तमान अन्वेषकोंके मतानुसार ग्यारहवीं शताब्दी । कुछ महानुभावोंके मतानुसार पाँचवीं शताब्दी । जन्म—दक्षिण देशमें गोदावरीके तटपर वैदूर्यपत्तनके निकट अरुणाश्रममें श्रीअरुण मुनिकी पत्नी श्रीजयन्तीदेवीके गर्भसे । कोई-कोई आपके पिताका नाम श्रीजगन्नाथ बताते हैं । द्वैताद्वैतमतके आचार्य, महान् दार्शनिक विद्वान्, महान् भक्त, इन्हें सूर्यका, किन्हीं किन्हींके मतमें भगवान्के प्रिय आयुध सुदर्शनचक्रका अवतार माना जाता है ।)

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं
शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं
ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥

जीव ज्ञानस्वरूप है, वह भगवान् श्रीहरिके अधीन है । उसमें एक शरीरको छोड़कर दूसरे नूतन शरीरको ग्रहण करनेकी योग्यता है । वह प्रत्येक शरीरमें भिन्न, अणु, ज्ञानयुक्त और अनन्त बताया गया है ।

अनादिमायापरियुक्तरूपं
त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात् ।
मुक्तं च बद्धं किल बद्धमुक्तं
प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम् ॥

जीवको अनादि मायासे युक्त माना गया है । भगवान्की कृपासे ही इसके स्वरूपका ज्ञान होता है । जीवोंमें कुछ नित्यमुक्त हैं, कुछ बद्ध हैं और कुछ पहले बन्धनमें रहकर फिर भगवत्कृपासे मुक्त हो गये हैं, ऐसे जीवोंको बद्धमुक्त कहा है । इस प्रकार जीवोंके बहुत-से भेद जानने चाहिये ।

अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च
कालस्वरूपं तदचेतनं मतम् ।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं
शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ॥

अचेतन तत्त्व सामान्यतः तीन प्रकारका माना गया है—अप्राकृत, प्राकृतरूप तथा काल (क्षण, लव, निमेषादि) स्वरूप । (अप्राकृत तत्त्व त्रिगुणात्मक प्रकृति और कालसे विलक्षण है ।) प्राकृतरूप जो अचेतन तत्त्व है, वह माया और प्रधान आदि शब्दोंद्वारा कहा जाता है । शुक्ल, रक्त और कृष्ण (सत्त्व, रज और तम)—ये सभी भेद इसी (प्राकृत रूप) में हैं ।

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।

व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥

जिनमें स्वभावसे ही समस्त दोषोंका अभाव है तथा जो समस्त कल्याणमय गुणोंके एकमात्र समुदाय हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चारों व्यूह जिनके अङ्गभूत हैं तथा जो सर्वश्रेष्ठ परब्रह्मस्वरूप हैं, उन पापहारी कमलनयन सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णका हम चिन्तन करें।

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

जो उन्हीं श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके वामाङ्गमें प्रसन्नतापूर्वक विराजमान हो रही हैं, जिनका रूप-शील-सौभाग्य अपने प्रियतमके सर्वथा अनुरूप है, सहस्रों सखियाँ सदा जिनकी सेवाके लिये उद्यत रहती हैं, उन सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको देनेवाली देवी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाका हम सदा स्मरण करें।

उपासनीयं नितरां जनैः सदा
प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं
श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे ॥

अज्ञानान्धकारकी परम्पराका नाश करनेके लिये सब लोगोंको सदा इस युगलस्वरूपकी निरन्तर उपासना करनी चाहिये। सनन्दनादि मुनियोंने सम्पूर्ण तत्त्वोंके ज्ञाता श्रीनारदजीको यही उपदेश दिया था।

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता ॥

श्रुतियों और स्मृतियोंसे यह सिद्ध है कि सम्पूर्ण वस्तुएँ ब्रह्मस्वरूप हैं। इसलिये सारा विज्ञान यथार्थ है (मिथ्या या भ्रम नहीं)—यही वेदवेत्ताओंका मत है। एक ही ब्रह्म चित्, अचित् एवं इन दोनोंसे विलक्षण परब्रह्मस्वरूपसे त्रिविध रूपोंमें स्थित है। यह बात भी श्रुतियों तथा ब्रह्मसूत्रके प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की गयी है।

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥

ब्रह्मा और शिव आदि देवेश्वर भी जिनकी वन्दना करते हैं, जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार परम सुन्दर एवं चिन्तन करनेयोग्य लीलाशरीर धारण करते हैं, जिनकी शक्ति अचिन्त्य है तथा जिनके अभिप्रायको उनकी कृपाके बिना कोई नहीं जान सकता; उन श्रीकृष्णचरणारविन्दोंके सिवा जीवकी दूसरी कोई गति नहीं दिखायी देती।

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिका परा ॥

जिसमें दीनता और अभिमानशून्यता आदि सद्गुण होते हैं, ऐसे जीवपर भगवान् श्रीकृष्णकी विशेष कृपा होती है जिससे उसके हृदयमें उन सर्वेश्वर परमात्माके चरणोंके प्रति प्रेमलक्षणा भक्तिका उदय होता है। वही उत्तम एवं साध्य भक्ति है। उससे भिन्न जो भक्तिके अन्य प्रकार हैं, वे सब साधनभक्तिके अन्तर्गत हैं।

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च
कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्ते-
र्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ॥

उपासनीय परमात्मा श्रीकृष्णका स्वरूप, उनके उपासक जीवका स्वरूप, भगवान्‌की कृपाका फल, तदनन्तर भक्तिरसका आस्वादन तथा भगवत्प्राप्तिके विरोधी भावका स्वरूप—श्रेष्ठ साधकोंको इन पाँच वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

जगद्गुरु श्रीमध्वाचार्य

(वैष्णव द्वैत-सम्प्रदायके महान् आचार्य, आविर्भाव वि० सं० १२९५ माघ शु० ७ (कई लोग आश्विन शुक्ल १० को भी इनका जन्म दिवस मानते हैं) । स्थान मद्रासप्रान्तके मंगलूर जिलेके अन्तर्गत उडुपीक्षेत्रसे दो-तीन मील दूर बेललि (या बेलि) ग्राम। पिताका नाम श्रीनारायण या मधिजी भट्ट। भार्गवगोत्रीय, माताका नाम वेदवती। इन्हें वायुदेवताका अवतार माना जाता है।)

श्रीभगवान्का नित्य निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये, जिससे अन्तकालमें उनकी विस्मृति न हो; क्योंकि सैकड़ों बिच्छुओंके एक साथ डंक मारनेसे शरीरमें जैसी पीड़ा होती है, मरणकालमें मनुष्यको वैसी ही पीड़ा होती है, वात, पित्त, कफसे कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और नाना प्रकारके सांसारिक पाशोंमें जकड़े रहनेके कारण मनुष्यको बड़ी घबराहट हो जाती है। ऐसे समयमें भगवान्की स्मृतिको बनाये रखना बड़ा कठिन हो जाता है। (द्वा० स्तो० १ । १२)

सुख दुःखोंकी स्थिति कर्मानुसार होनेसे उनका अनुभव सभीके लिये अनिवार्य है। इसीलिये सुखका अनुभव करते समय भी भगवान्को न भूलो तथा दुःखकालमें भी उनकी निन्दा न करो। वेद-शास्त्रसम्मत कर्ममार्गपर अटल रहो। कोई भी कर्म करते समय बड़े दीनभावसे भगवान्का स्मरण करो। भगवान् ही सबसे बड़े, सबके गुरु तथा जगत्के माता पिता हैं। इसीलिये अपने सारे कर्म उन्हींके अर्पण करने चाहिये। (द्वा० स्तो० ३ । १)

व्यर्थकी सांसारिक झंझटोंके चिन्तनमें अपना अमूल्य समय नष्ट न करो। भगवान्में ही अपने अन्तःकरणको लीन करो। विचार, श्रवण, ध्यान, स्तवनसे बढ़कर संसारमें अन्य कोई पदार्थ नहीं है। (द्वा० स्तो० ३ । २)

भगवान्के चरणकमलोंका स्मरण करनेकी चेष्टामात्रसे ही तुम्हारे पापोंका पर्वत-सा ढेर नष्ट हो जायगा। फिर स्मरणसे तो मोक्ष होगा ही, यह स्पष्ट है। ऐसे स्मरणका परित्याग क्यों करते हो। (द्वा० स्तो० ३ । ३)

सज्जनो ! हमारी निर्मल वाणी सुनो। दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक हम कहते हैं कि 'भगवान्की बराबरी करनेवाला भी इस चराचर जगत्में कोई नहीं है। फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है। वे ही सबसे श्रेष्ठ हैं।' (द्वा० स्तो० ३ । ४)

यदि भगवान् सबसे श्रेष्ठ न होते तो समस्त संसार उनके अधीन किस प्रकार रहता और यदि समस्त संसार उनके अधीन न होता तो संसारके सभी प्राणियोंको सदा-सर्वदा सुखकी ही अनुभूति होनी चाहिये थी। (द्वा० स्तो० ३ । ५)

जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य

(प्रेषक—पं० श्रीकृष्णचन्द्रजी शास्त्री, साहित्यरत्न)

(आविर्भाव वि० सं० १५३५ वैशाख कृ० ११ । स्थान चम्पारण्य । उत्तरादि तैलंग ब्राह्मण । पिताका नाम लक्ष्मणभट्टजी. माताका नाम श्रीइल्लम्मा गारु । तिरोभाव वि० सं० १५८७ आषाढ़ शु० ३, काशी । उम्र ५२ वर्ष । शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय या पुष्टिमार्गके प्रधान आचार्य, महान् दार्शनिक विद्वान् और परम भक्त, इन्हें साक्षात् भगवान्का, कई महानुभावोंके मतसे अग्निदेवका अवतार मानते हैं ।)

अहंताममतानाशे सर्वथा निरहंकृतौ ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥

अहंता-ममताके नाश होनेपर मैं कुछ भी नहीं करता, इस प्रकार सम्पूर्ण अहंकारके निवृत्त होनेपर जीवात्मा जब अपने स्वरूपमें स्थित अर्थात् आत्मज्ञानमें निष्ठावान् होता है, तब वह जीव कृतार्थ (मुक्त) कहा जाता है।

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।

श्रीकृष्णकी सेवा निरन्तर करते रहना चाहिये, उसमें मानसी सेवा सबसे उत्तम मानी जाती है।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥

पूर्णरूपसे चित्तको प्रभुमें तल्लीन कर देना ही सेवा है। उसकी सिद्धिके लिये तनुजा (शरीरसे) एवं वित्तजा (धनसे)

प्रभुकी सेवा करनी चाहिये। यों करनेपर जन्म-मरणके दुःखोंकी निवृत्ति और ब्रह्मका बोध होता है।

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्या कथंचन।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथंचन॥

ब्रह्मसे सम्बन्ध हो जानेपर सबके देह और जीव-सम्बन्धी सभी दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। दोष पाँच प्रकारके होते हैं— सहज, देशज, कालज, संयोगज और स्पर्शज। सहज दोष वे हैं, जो जीवके साथ उत्पन्न होते हैं। देशज देशसे, कालज कालके अनुसार उत्पन्न होते हैं; संयोगज संयोगके द्वारा और स्पर्शज वे हैं, जो स्पर्शसे प्रकट होते हैं। ब्रह्मसे सम्बन्ध हुए बिना इन समग्र दोषोंकी निवृत्ति कभी नहीं होती।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्॥

जिन्होंने प्रभुको आत्मनिवेदन कर दिया है, उन्हें कभी किसी प्रकारकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। पुष्टि (कृपा) करनेवाले प्रभु अङ्गीकृत जीवकी लौकिक (संसारी मनुष्योंकी-सी आवागमनशील) गति नहीं करेंगे।

तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥

इसलिये नित्य-निरन्तर सर्वात्मभावसे 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस पवित्र मन्त्रका उच्चारण करते हुए ही स्थित रहना चाहिये। यह मेरी सम्मति है।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तु दोषविवर्जितम्॥

ओ मेरे अन्तःकरण! मेरी बातको सावधानीके साथ सुनो—श्रीकृष्णके सिवा दोषोंसे सर्वथा रहित वस्तु-तत्त्व अन्य कोई भी देवता नहीं है।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाखण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम॥
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु।
पाखण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम॥

दुष्ट धर्मवाले इस कलिकालमें कल्याणके साधनस्वरूप सभी सन्मार्ग नष्ट हो चुके हैं। लोकमें पाखण्डकी प्रचुरता हो गयी है। इस अवस्थामें एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरी गति हैं (उनके अतिरिक्त और कोई भी रक्षक या तारक नहीं है)। समस्त पवित्र देश म्लेच्छोंसे आक्रान्त हो गये और एकमात्र पापके स्थान बनते जा रहे हैं। लोग साधु-संतोंको पीड़ा पहुँचानेमें व्यस्त हैं। ऐसे समय श्रीकृष्ण ही एकमात्र मेरी गति हैं। नाना प्रकारके नास्तिकवादोंसे सम्पूर्ण सत्कर्म-व्रतादिका नाश हो गया है और लोग केवल पाखण्डमें ही प्रवृत्त हैं; ऐसे समयमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरी गति हैं। विवेक, धैर्य, भक्ति आदिसे रहित, विशेषतः पापोंमें आसक्त मुझ दीनके लिये एकमात्र श्रीकृष्ण ही गति हैं।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥

सदा-सर्वदा पति, पुत्र, धन, गृह—सब कुछ श्रीकृष्ण ही हैं—इस भावसे व्रजेश्वर श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये; भक्तोंका यही धर्म है। इसके अतिरिक्त किसी भी देश, किसी भी वर्ण, किसी भी आश्रम, किसी भी अवस्थामें और किसी भी समय अन्य कोई धर्म नहीं है।

एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्॥

भगवान् अपने कर्तव्योंको स्वयं सदा करेंगे, कारण कि वे सर्वसमर्थ हैं। इसलिये ऐहिक एवं पारलौकिक समस्त मनोरथोंके लिये निश्चिन्त रहना चाहिये।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि॥

यदि भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारसे हृदयमें धारण कर लिये जायँ तो फिर लौकिक श्रेय और वैदिक श्रेय आदि फलोंसे क्या प्रयोजन है।

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः॥

भगवान् श्रीगोकुलेश्वर श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्मरण, भजन—उनकी चरणरजका सेवन सदा सर्वात्मभावसे करना चाहिये। उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिये। यह मेरी सम्मति है।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

(श्रीरामानन्दी वैष्णव-सम्प्रदायके महान् आचार्य और प्रवर्तक। आविर्भाव वि० सं० १३२४, माघ कृष्ण सप्तमी। स्थान—प्रयागमें त्रिवेणी-तटपर कान्यकुब्ज ब्राह्मणकुलमें। पिताका नाम पुण्यसदन, माताका नाम सुशीला। अन्तर्धान वि० सं० १५१५)

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा
शक्ता अशक्ता अपि नित्यरङ्गिणः।
अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो
न चापि कालो न हि शुद्धता च॥
(वैष्णवमताब्जभास्कर ९९)

भगवान्के चरणोंमें अटूट अनुराग रखनेवाले सभी लोग—चाहे वे समर्थ हों या असमर्थ, भगवच्छरणागतिके नित्य अधिकारी हैं। भगवच्छरणागतिके लिये न तो श्रेष्ठ कुलकी आवश्यकता है, न किसी प्रकारके बलकी। वहाँ न उत्तम कालकी आवश्यकता है और न किसी प्रकारकी शुद्धि ही अपेक्षित है। सब समय और शुचि-अशुचि सभी अवस्थाओंमें जीव उनकी शरण ग्रहण कर सकता है।

लोकसंग्रहणार्थं तु श्रुतिचोदितकर्मणाम्।
शेषभूतैरनुष्ठानं तत्कैङ्कर्यपरायणैः॥
(वैष्णव० १०२)

भगवान्के सेवापरायण दासोंके लिये लोकसंग्रह (मर्यादा-स्थापन) के उद्देश्यसे ही वेदविहित कर्मोंके अनुष्ठानका विधान किया गया है। (अन्यथा सम्पूर्ण कर्मोंका स्वरूपतः त्याग ही उनके लिये वाञ्छनीय है।)

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यम्।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः
सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मवृद्धये॥
(वैष्णव० १११)

दान, तप, तीर्थसेवन एवं मन्त्रजप—इनमेंसे कोई भी अहिंसाके समान पुण्यदायक नहीं है। अतः सर्वश्रेष्ठ वैष्णव-धर्मका पालन करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह अपने सुदृढ धर्मकी वृद्धिके लिये सब प्रकारकी हिंसाका परित्याग कर दे।

जितेन्द्रियश्चागमरतो बुधोऽसकृत्
सुनिश्चितं नाम हरेरनुत्तमम्।
अपारसंसारनिवारणक्षमं
समुच्चरेद्वैदिकमाचरन् सदा॥
(वैष्णव० १०९)

विवेकी तथा आत्म-परायण पुरुषको चाहिये कि वह जितेन्द्रिय रहकर तथा (लोक-संग्रहके लिये निष्कामभावसे) वैदिक कर्मोंका आचरण करता हुआ बारंबार (निरन्तर) भगवान्के सर्वश्रेष्ठ नाम (राम-नाम) का उच्चारण करता रहे, जो निश्चित ही अपार संसार-सागरको सुखा देनेकी क्षमता रखता है।

भक्तापचारमासोढुं दयालुरपि स प्रभुः।
न शक्तस्तेन युष्माभिः कर्त्तव्यो न च स क्वचित्॥
(श्रीरामानन्ददिग्विजय २०। ६३)

यद्यपि प्रभु दयालु हैं, तथापि अपने भक्तोंकी अवहेलनाको नहीं सह सकते। अतः तुमलोग कभी भी प्रभु-भक्तका अपराध न करना।

ध्येयः स एव भगवाननिशं हृदब्जे
भक्तैः स्वभूः शिवगुणोऽव्यभिचारिभक्त्या।
किं त्वन्यदेवविषये मनसापि चिन्त्यो
द्वेषः कदाचिदपि नैव तदीयभक्तैः॥
(श्रीरामानन्ददिग्विजय १२। ५)

भगवद्भक्तजनोंको उचित है कि अनन्त-कल्याण-गुणाकर स्वयम्भू उन्हीं भगवान् (श्रीरामचन्द्रजी) का अव्यभिचारिणीभक्तिसे निरन्तर हृदय-कमलमें ध्यान करें तथा कभी भी अन्यदेवके विषयमें द्वेष-बुद्धि न करें।

अर्चेच्छ्रीव्रजनामके सुरनुतं गोपीजनानां प्रियम्।
ब्रह्मेशादिकिरीटसेवितपदाम्भोजं भुजङ्गाश्रयम्॥
(श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर १५८)

श्रीव्रज नामवाले पवित्र धाममें देवोंसे स्तुति किये हुए, गोपीजनोंके प्रिय और ब्रह्मादि देवोंके मुकुटोंसे सेवित चरण-कमलवाले कालियके फणोंपर स्थित श्रीकृष्णजीकी पूजा करें।
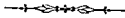
परदुःखकातरता

परम दयालु राजा रन्तिदेव

रन्तिदेव राजा थे—संसारने ऐसा राजा कभी कदाचित् ही पाया हो। एक राजा और वह अन्नके बिना भूखों मर रहा था। वह अकेला नहीं था, उसकी स्त्री और बच्चे थे—कहना चाहिये कि राजाके साथ रानी और राजकुमार थे। सब भूखों मर रहे थे। अन्नका एक दाना भी उनके मुखमें पूरे अड़तालीस दिनोंसे नहीं गया था। अन्न तो दूर—जलके दर्शन नहीं हुए थे उन्हें।

राजा रन्तिदेवको न शत्रुओंने हराया था, न डाकुओंने लूटा था और न उनकी प्रजाने विद्रोह किया था। उनके राज्यमें अकाल पड़ गया था। अवर्षण जब लगातार वर्षों चलता रहे—इन्द्र जब अपना उत्तरदायित्व भूल जाय—असहाय मानव कैसे जीवन-निर्वाह करे। महाराज रन्तिदेव उन लोगोंमें नहीं थे, जो प्रजाके धनपर गुलछर्रे उड़ाया करते हैं। प्रजा भूखी रहे तो राजाको पहले उपवास करना चाहिये, यह मान्यता थी रन्तिदेवकी। राज्यमें अकाल पड़ा, अन्नके अभावसे प्रजा पीड़ित हुई—राज्यकोष और अन्नागारमें जो कुछ था, पूरे-का-पूरा वितरित कर दिया गया।

जब राज्यकोष और अन्नागार रिक्त हो गये—राजाको भी रानी तथा पुत्रके साथ राजधानी छोड़नी पड़ी। पेटके कभी न भरनेवाले गड्ढेमें उन्हें भी तो डालनेके लिये कुछ चाहिये था। राजमहलकी दीवारोंको देखकर पेट कैसे भरता। लेकिन पूरे देशमें अवर्षण चल रहा था। कूप और सरोवरतक सूख गये थे। पूरे अड़तालीस दिन बीत गये, अन्न-जलके दर्शन नहीं हुए।

उनचासवाँ दिन आया। किसीने महाराज रन्तिदेवको पहिचान लिया था। सबेरे ही उसने उनके पास थोड़ा-सा घी, खीर, हलवा और जल पहुँचा दिया। भूख प्याससे व्याकुल, मरणासन्न उस परिवारको भोजन क्या मिला, जैसे जीवन-दान मिला। लेकिन भोजन मिलकर भी मिलना नहीं था। महाराज रन्तिदेव प्रसन्न ही हुए जब उन्होंने एक ब्राह्मण अतिथिको आया देखा। इस विपत्तिमें भी अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन करनेके दोषसे बच जानेकी प्रसन्नता हुई उन्हें।

ब्राह्मण अतिथि भोजन करके गया ही था कि एक भूखा शूद्र आ पहुँचा। महाराजने उसे भी आदरसे भोजन कराया। लेकिन शूद्रके जाते ही एक दूसरा अतिथि आया। यह नया अतिथि अन्त्यज था और उसके साथ जीभ निकाले, हाँफते कई कुत्ते थे। वह दूरसे ही पुकार रहा था—'मैं और मेरे कुत्ते बहुत भूखे हैं। मुझे कृपा करके कुछ भोजन दीजिये।'

समस्त प्राणियोंमें जो अपने आराध्यको देखता है, वह माँगनेपर किसीको अस्वीकार कैसे कर दे—अपने प्रभु ही जब भूखे बनकर भोजन माँगते हों। रन्तिदेवने बड़े आदरसे पूरा भोजन इस नये अतिथिको दे दिया। वह और उसके कुत्ते तृप्त होकर चले गये। अब बचा था थोड़ा-सा जल। उस जलसे ही रन्तिदेव अपना कण्ठ सींचने जा रहे थे।

'महाराज! मैं बहुत प्यासा हूँ। मुझे पानी पि दीजिये।' एक चाण्डालकी पुकार सुनायी पड़ी। वह सचमु इतना प्यासा था कि बड़े कष्टसे बोल रहा है—यह स प्रतीत होता था।

महाराज रन्तिदेवने पानीका पात्र उठाया, उनके ने भर आये। उन्होंने सर्वव्यापक सर्वेश्वरसे प्रार्थना की—'प्रभो! मैं ऋद्धि, सिद्धि आदि ऐश्वर्य या मोक्ष नहीं चाहता मैं तो चाहता हूँ कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें मेरा निवा हो। उनके सब दुःख मैं भोग लिया करूँ और वे सुख रहें। यह जल इस समय मेरा जीवन है—मैं इसे जीवि रहनेकी इच्छावाले इस चाण्डालको दे रहा हूँ। इस कर्मक कुछ पुण्य-फल हो तो उसके प्रभावसे संसारके प्राणियोंके भूख, प्यास, श्रान्ति, दीनता, शोक, विषाद और मोह न हो जायँ। संसारके सारे प्राणी सुखी हों।'

उस चाण्डालको राजा रन्तिदेवने जल पिला दिया। लेकिन वे स्वयं—उन्हें अब जलकी आवश्यकता कहाँ थी। विभिन्न वेश बनाकर उनके अतिथि होनेवाले त्रिभुवनाधीश ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, भगवान् शंकर और धर्मराज अपने रूपोंमें प्रत्यक्ष खड़े थे उनके सम्मुख।

रन्तिदेवका त्याग

परदुःखकातरता
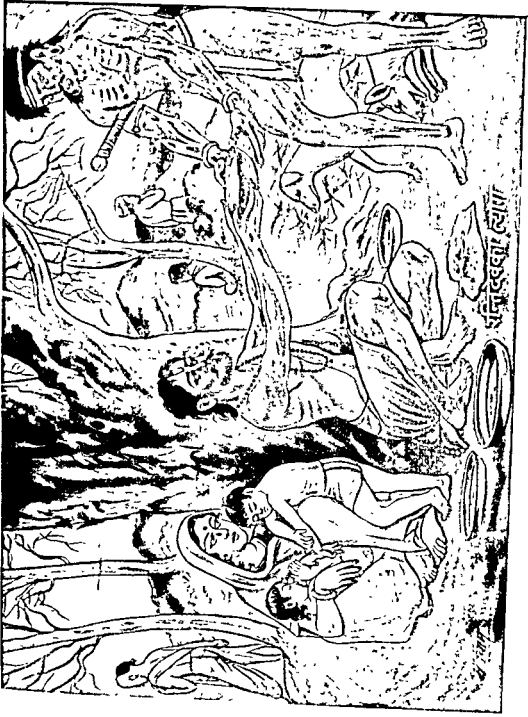
महान् मनस्वी शिवि-दधीचि-हरिश्चन्द्र

ये महामनस्वी

दधीचिका अस्थिदान

वृत्रासुरने अमरावतीपर अधिकार कर लिया । देवता उससे युद्ध करके कैसे पार पा सकते जिन अस्त्र-शस्त्रोंपर देवताओंके बड़ा गर्व था, वह महाप्राण तभी निगल चुका था, जब देवोंने उसपर प्रथम आक्रमण किया । वृत्रकी अध्यक्षतामें असुर स्वर्गके उद्यानोंका मनमाना उपभोग कर रहे थे ।

महर्षि दधीचिकी अस्थिसे विश्वकर्मा वज्र बनावें तो उस वज्रके द्वारा इन्द्र वृत्रासुरका वध कर सकें।' जगत्पालनकर्ता भगवान् विष्णुने शरणागत देवोंको एक उपाय बता दिया ।

दधीचिकी अस्थि—लेकिन महर्षि दधीचि-जैसे महातापसके साथ बल-प्रयोग करनेका संकल्प करनेपर तो अमरोंकी अपनी अस्थियाँ भी कदाचित् भस्म हो जायँ । दधीचिकी शरणमें जाकर याचना करना ही एकमात्र उपाय था । समस्त देवता पहुँचे महर्षिके आश्रममें और उन्होंने याचना की—अस्थिकी याचना !

'शरीर तो नश्वर है । वह एक-न-एक दिन नष्ट होगा ही । इस नश्वर शरीरके द्वारा किसीका कुछ उपकार हो जाय—यह तो सौभाग्यकी बात है ।' उस महातापसके मुखपर आनन्द उल्लसित हुआ, देवताओंकी दारुण याचना सुनकर ।

'मैं समाधिमें स्थित होकर देहत्याग करता हूँ । आपलोग मेरी अस्थि लेकर अपना उद्देश्य सिद्ध करें ।' महर्षि दधीचि आसन लगाकर बैठ गये । जैसे कोई सड़ा-पुराना वस्त्र शरीरसे उतार फेंके—योगके द्वारा देह त्याग दिया उन्होंने । जंगली पशुओंने उनके निष्प्राण देहको चाटना प्रारम्भ किया । चर्म, मांसादिको वे जंगली पशु चाट गये । अवशिष्ट गीली अस्थियोंसे विश्वकर्माने बनाया महेन्द्रका अमोघ अस्त्र वज्र ।

× × ×

शिबिका मांसदान

महाराज शिबिकी शरणागतरक्षा इतनी प्रसिद्ध थी, उनका यश इतना उज्ज्वल था कि देवराज इन्द्र तथा अग्निदेवको भी स्पर्धा हो उठी । वे महाराजके यशकी उज्ज्वलताकी परीक्षा लेनेको उद्यत हो गये ।

महाराज शिबि अपने प्राङ्गणमें बैठे थे । सहसा एक कबूतर आकाशसे सीधे आकर उनकी गोदमें गिरा और वस्त्रोंमें छिपने लगा । कपोत भयसे काँप रहा था । महाराजने स्नेहसे उसपर हाथ फेरा ।

कबूतर जिसके भयसे काँप रहा था, वह बाज भी दो ही क्षणोंमें आ पहुँचा । बाजने स्पष्ट मानवी-भाषामें कहा—'महाराज ! आप किसीका आहार छीन लें, यह धर्म नहीं है । कपोत मेरा आहार है । मैं भूखसे मर रहा हूँ । मेरा आहार मुझे दीजिये ।'

'मैं शरणागतका त्याग नहीं करूँगा । तुम्हारा पेट तो किसीके भी मांससे भर जायगा ।' महाराज शिबिने अपना निश्चय सूचित कर दिया ।

किसी भी दूसरे प्राणीकी हत्या पाप है । बाजको मांस चाहिये था । महाराज शिबिने अपने शरीरका मांस देना निश्चित किया । कपोतके बराबर तौला हुआ मांस बाज माँग रहा था ।

तराजूके एक पलड़ेमें कपोतको बैठाकर अपने हाथसे अपना अङ्ग काटकर महाराजने दूसरे पलड़ेमें रक्खा, किंतु कपोत उस अङ्गसे भारी रहा । महाराज अपने अङ्ग काट-काटकर पलड़ेपर चढ़ाते गये और जब इतनेसे कपोतका वजन पूरा न हुआ तो स्वयं पलड़ेमें जा बैठे ।

बाज बने देवराज इन्द्र और कपोत बने अग्नि-देव अपने असली रूपोंमें प्रकट हो गये । महाराज शिबिके अङ्ग देवराजकी कृपासे पूर्ववत् स्वस्थ हो गये । दोनों देवता उन महामनस्वीकी प्रशंसा करके भी अपनेको कृतार्थ मानते थे । ऐसे पुण्यात्मा स्वर्गमें भी उन्हें कहाँ प्राप्त थे ।

× × ×

हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठा

अयोध्यानरेश महाराज हरिश्चन्द्रकी कथा प्रख्यात है । देवराज इन्द्रकी प्रेरणासे महर्षि विश्वामित्रने उनकी सत्यनिष्ठाकी परीक्षा ली ।

महाराज हरिश्चन्द्रकी परीक्षा—परीक्षाने उनकी निष्ठाको अधिक उज्ज्वल ही किया । स्वप्नमें महाराजने ब्राह्मणको राज्य-दान किया था । स्वप्नके उस दानको सत्य करनेके लिये वे अयोध्याधीश स्त्री तथा पुत्रके साथ राज्य त्यागकर काशी आ गये । ब्राह्मणको दक्षिणा देनेके लिये अपनी स्त्रीको उन्होंने ब्राह्मणके हाथ बेचा । स्वयं वे बिके चाण्डालके हाथ । अयोध्याके नरेश चाण्डालके चाकर होकर श्मशानके चौकीदार बने ।

ब्राह्मणके यहाँ कुमार रोहिताश्वको सर्पने काट लिया । बेचारी महारानी—अब तो वे दासीमात्र थीं । पुत्रके शवको उठाये अकेली श्मशान पहुँचीं । हाय रे दुर्भाग्य—श्मशानका चौकीदार बिना 'कर' लिये शवको जलाने दे नहीं सकता था । कौन चौकीदार—उस मृतक पुत्रका पिता—स्वयं महाराज हरिश्चन्द्र । छातीपर पत्थर रखक कर्तव्यका पालन करना था—स्वामीने आज्ञा दे दी थी कि 'कर' दिये बिना कोई शव न जला पावे ।

एक साड़ी—महारानीके पास उस साड़ी छोड़कर था क्या जो 'कर' दे । वह साड़ी आधी फाड़कर 'कर' दे सकती थी । उस प परायणा, धर्मशीला नारीने साड़ी फाड़नेके हाथ लगाया । उसी समय आकाशमें प्रकाश गया । बड़ी गम्भीर ध्वनि सुनायी पड़ी—

> अहो दानमहो धैर्यमहो वीर्यमखण्डितम् ।
> उदारधीरवीराणां हरिश्चन्द्रो निदर्शनम् ॥

'आप धन्य हैं, आपका दान धन्य है, आपकी धीरता और वीरता धन्य है, आप उदार, धीर और वीर पुरुषोंके आदर्श हैं ।'

देखते-ही-देखते धर्मके साथ भगवान् नारायण, शङ्कर, ब्रह्मा, इन्द्र आदि प्रकट हो गये । विश्वामित्र क्षमा माँगने लगे । हरिश्चन्द्रने सबको प्रणाम किया । रोहिताश्व जीवित हो गया । हरिश्चन्द्र और शैव्याके देह दिव्य हो गये और वे भगवद्धामको प्राप्त हुए । उनके इच्छानुसार समस्त अयोध्या नगरीके लोग विमानोंपर सवार होकर स्वर्ग चले गये । शुक्राचार्यने गाया—

> हरिश्चन्द्रसमो राजा न भूतो न भविष्यति ।
> 'हरिश्चन्द्रके समान राजा न कोई हुआ, न होगा ।'

स्वयं महर्षि विश्वामित्रने रोहिताश्वको अयोध्याके सिंहासनपर अभिषिक्त किया । रानीके साथ महाराज हरिश्चन्द्रको दुर्लभ भगवद्धाम प्राप्त हुआ ।

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव

(श्रीगौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायके प्रवर्तक, गौड़ीय वैष्णवोंके मतानुसार भगवान् श्रीराधा-कृष्णके साक्षात् स्वरूप। आविर्भाव शाके १४०७, फाल्गुन शुक्ल १५। तिरोभाव १४५५। स्थितिकाल ४८ वर्ष। पिता श्रीजगन्नाथ मिश्र, माता श्रीशचीदेवी। स्थान नवद्वीप (बंगाल)। महान् त्यागी, विद्वान्, साक्षात् प्रेमावतार)

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहा-
दावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं
विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं
पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते
श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥१॥

चित्तरूपी दर्पणको परिमार्जित करनेवाला, संसाररूपी महादावानलको बुझा देनेवाला, कल्याणरूप कुमुदको विकसित करनेवाली ज्योत्स्नाको फैलानेवाला, पराविद्यारूपी वधूका जीवन-रूप, आनन्द-समुद्रको बढ़ानेवाला, पद-पदपर पूर्ण अमृतका आस्वादन प्रदान करनेवाला, सम्पूर्ण आत्माको आनन्दसे सराबोर कर देनेवाला अद्वितीय श्रीकृष्ण-संकीर्तन सर्वोपरि विराजमान है।

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥ २ ॥

भगवन्! आपने अपने गोविन्द, गोपाल, वनमाली इत्यादि अनेक नाम प्रकट किये हैं और उन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति निहित कर दी है। श्रीनाम स्मरणमें कोई कालाकालका विचार भी नहीं रक्खा है। आपकी तो इस प्रकारकी कृपा है और इधर मेरा भी इस प्रकारका दुर्भाग्य है कि ऐसे श्रीहरिनाममें अनुराग नहीं हुआ!

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥ ३

तृणकी अपेक्षा भी अतिशय नीच एवं
अधिक सहिष्णु होकर स्वयं अमानी
प्रदान करके निरन्तर श्रीहरिनाम
करना ही एकमात्र कर्तव्य है।

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥ ४ ॥

जगन्नाथ! मैं धन, जन, कामिनी, काव्य अथवा पाण्डित्यकी कामना नहीं करता। परमेश्वर-स्वरूप तुम्हारे प्रति जन्म-जन्मान्तरमें मेरी अकारण भक्ति हो।

अयि नन्दतनूज किङ्करं
पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कज-
स्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ॥ ५ ॥

नन्दनन्दन! तुम्हारा दास मैं इस घोर दुस्तर संसार-सागरमें पड़ा हुआ हूँ। मुझको कृपापूर्वक अपने पाद-पद्मकी धूलके समान समझिये।

नयनं गलदश्रुधारया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नामग्रहणे भविष्यति ॥ ६ ॥

गोपीजनवल्लभ! कब आपके श्रीनामग्रहणके समय मेरे दोनों नेत्र बहती हुई अश्रुधारासे, मेरा वदन गद्गद होनेके कारण रुकी हुई वाणीसे तथा मेरा शरीर रोमाञ्चसे युक्त होगा?

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे ॥ ७ ॥

गोविन्द! आपके ... एक निमेष युगके समान बीत रहा है, ... समान अश्रुवर्षा हो रही है ...

... षा।

... नापरः ॥ ८ ॥

... लगा लें या पैरोंतले

रौंद डालें, अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। उन परम स्वतन्त्र श्रीकृष्णकी जो इच्छा हो, वही करें; तथापि मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं। *(श्रीशिक्षाष्टकम्)*

(श्रीचैतन्यदेवके द्वारा रचे और गाये हुए श्लोक)

श्रुतमप्यौपनिषदं दूरे हरिकथामृतात्।
यन्न सन्ति द्रवच्चित्तकम्पाश्रुपुलकादयः॥

(श्रीपद्यावली ३९ श्रीभक्तिसंदर्भ०—६९ अनुच्छेद)

उपनिषत्-प्रतिपाद्य ब्रह्मका श्रवण हरिकथामृतसे बहुत दूर है, इसीसे ब्रह्मस्वरूपकी बात लगातार सुनते रहनेपर भी चित्त द्रवित नहीं होता।

दधिमथननिनादैस्त्यक्तनिद्रः प्रभाते
निभृतपदमगारं वल्लवीनां प्रविष्टः।
मुखकमलसमीरैराशु निर्वाप्य दीपान्
कवलितनवनीतः पातु मां बालकृष्णः॥

(श्रीपद्यावली १४३)

प्रातःकालमें माता यशोदाके दधि-मन्थनका शब्द सुनकर निद्रा त्याग करके व्रजगोपियोंके घरोंमें पैरोंका शब्द न करते हुए चुपचाप प्रवेश कर तथा श्रीमुखकमलकी वायुके द्वारा शीघ्र ही दीपकोंको बुझाकर नवनीतको गटकनेमें रत श्रीबालकृष्ण मेरी रक्षा करें।

मध्ये पाणौ नियमितरवं किङ्किणीदाम धृत्वा
कुब्जीभूय प्रपदगतिभिर्मन्दमन्दं विहस्य।
अक्ष्णोर्भङ्गया विहसितमुखीर्वारयन् सम्मुखीना
मातुः पश्चादहरत हरिर्जातु हैयङ्गवीनम्॥

(श्रीपद्यावली १४४)

एक बार किंकिणीध्वनिको बंद करनेके लिये बायें हाथसे किंकिणीकी डोरीको पकड़े, शरीरको कुबड़ा करके पैरकी अँगुलियोंके बलपर चलते हुए मृदु-मन्द-हास्य-वदन श्रीकृष्णको देखकर सम्मुख खड़ी हुई गोपियाँ जब हँसने लगीं, तब श्रीहरिने अपनी नेत्र-भङ्गिमाके द्वारा उनके हास्यको निवारणकर माताके पश्चात् स्थित सद्योजात नवनीतको हरण किया था।

प्रासादाग्रे निवसति पुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मामालोक्य स्मितसुवदनो बालगोपालमूर्तिः॥

(चै० भा० म० २। ४०१)

जिनका वदनारविन्द विकसित है, वे बालगोपालमूर्ति श्रीकृष्ण मुझे देखकर मृदु मधुर हास्यसे श्रीमुखकी शोभाको समधिक विस्तार करते हुए प्रासादके ऊपरी भागमें मेरे सम्मुख आकर स्थित हो रहे हैं!

न प्रेमगन्धोऽस्ति दरोऽपि मे हरौ
क्रन्दामि सौभाग्यभरं प्रकाशितुम्।
वंशीविलास्याननलोकनं विना
बिभर्मि यत् प्राणपतङ्गकान् वृथा॥

(चै० च० म० २। ४५)

मेरे अंदर श्रीकृष्ण-प्रेमकी तनिक-सी गन्ध भी नहीं है, केवल सौभाग्यातिशयको (मैं स्वयं जो अत्यन्त सौभाग्यशाली हूँ इसे) प्रकट करनेके लिये ही क्रन्दन करता हूँ। (मुझमें प्रेमका लेशमात्र भी नहीं है, इसका प्रमाण यही है कि) वंशीविलासी श्रीकृष्णके मुख-दर्शनके बिना मैं व्यर्थ ही प्राणरूपी पक्षियोंको धारण कर रखता है।

गोस्वामी श्रीनारायण भट्टाचार्य

(जन्म सं० १५८८। तैलङ्ग ब्राह्मण, श्रीगदाधर पण्डितजीके शिष्य, श्रीइन्दुरेखा सखीके अवतार, श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारीके शिष्य)

भगवन्मन्दिरे देहोत्थो वाचिको मानसस्तथा।
त्रिविधोऽपि परित्याज्यो भक्तिकामनया बुधैः॥
कायिकः [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible]॥

भक्तिके इच्छुक व्यक्ति देहोत्थ, वाचिक और मानसिक— तीनों प्रकारके अपराध-समूहका परित्याग करें। देहसम्बन्धी दैहिक, [illegible] वाचिक और [illegible] मानसिक कहे। इनमें उत्तरोत्तर अधिक दोषकर है।

कृष्णस्वरूपे यत्र स्याद् वृत्तिरिन्द्रियदेहयोः।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता गुणमिश्रे गुणात्मिका॥

श्रीकृष्ण-स्वरूपमें इन्द्रिय तथा देहकी वृत्तिका [illegible] ही भक्ति है। यह भक्ति ऐश्वर्यादि षड्गुणोंसे युक्त श्रीकृष्णसे होनेसे गुणात्मिका कही जाती है।

भगवन्मेकादशी [illegible] [illegible]।
जन्माष्टमी हि रामस्य नवमी च चतुर्दशी॥

भक्तको चाहिये कि वह एकादशी, भगवद्द्वादशी, [illegible] ष्टमी, रामनवमी, नृसिंहचतुर्दशी [illegible] व्रत अवश्य करे।

सार्वभौम श्रीवासुदेव भट्टाचार्य

(चैतन्य महाप्रभुके प्रसिद्ध अनुयायी, महेश्वर विशारदके पुत्र और श्रीमधुसूदन वाचस्पतिके भाई, स्थितिकाल १५ वीं शताब्दी, जन्म-स्थान विद्यानगर (नदिया), जाति ब्राह्मण)

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

न मैं ब्राह्मण हूँ न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ और न शूद्र ही हूँ । मैं न ब्रह्मचारी हूँ न गृहस्थ हूँ, न वानप्रस्थ हूँ और न सन्यासी ही हूँ; किंतु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्रीश्यामसुन्दरके चरण-कमलोंके दासोंका दासानुदास हूँ ।

श्रीरामानन्दराय

(पुरीसे प्रायः ३० कोस पश्चिम 'बेंटपुर' ग्रामके श्रीभवानन्दके सुपुत्र, महान् प्रेमी भक्त, श्रीचैतन्य महाप्रभुके सखी)

नानोपचारकृतपूजनमार्तबन्धोः
प्रेम्णैव भक्तहृदयं सुखविद्रुतं स्यात् ।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा
तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्यपेये ॥
(पद्यावली १३)

भक्तका हृदय तो आर्तबन्धु श्रीकृष्णके विविध उपचारों-द्वारा किये हुए पूजनके बिना ही केवल प्रेमसे ही सुखपूर्वक द्रवित होता है । पेटमें जबतक भूखकी ज्वाला एवं तीव्र पिपासा रहती है, तभीतक भोजन-पान सुखदायी प्रतीत होते हैं ।

श्रीसनातन गोस्वामी

(श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रधान अनुयायी । जन्म सन् १४८७ ई०, पिताका नाम कुमारदेव, माताका नाम रेवती, भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण, मृत्यु सन् १५५८ ई०, अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त, गौडीय वैष्णव-सम्प्रदायके प्रधान पुरुष, उच्च कोटिके त्यागी, संत, बड़े विद्वान्)

जयति जयति कृष्णप्रेमभक्तिर्यदङ्घ्रि
निखिलनिगमतत्त्वं गूढमाज्ञाय मुक्तिः ।
भजति शरणकामा वैष्णवैस्त्यज्यमाना
जपयजनतपस्यान्यासनिष्ठां विहाय ॥
(बृहद्भागवतामृत १ । १ । ८)

श्रीकृष्णकी प्रेमा-भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, वही सर्वोपरि है । और तो और, स्वयं मुक्ति भी—जब वैष्णवलोग उसका परित्याग कर देते हैं—आश्रयकी कामनासे जप, यज्ञ, तपस्या एवं संन्यासकी निष्ठाको छोड़कर उन भक्ति-महारानीके चरणोंका ही सेवन करती है; क्योंकि वह जानती है कि सम्पूर्ण वेदोंका सार तत्त्व इन्हीं चरणोंमें छिपा हुआ है ।

जयति जयति नामानन्दरूपं मुरारे-
र्विरमितनिजधर्मध्यानपूजादियत्नम् ।
कथमपि सकृदात्तं मुक्तिदं प्राणिनां यत्
परमममृतमेकं जीवनं भूषणं मे ॥
(बृह० १ । १ । ९)

मुर दानवका उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका आनन्दरूप नाम सर्वोपरि विराजमान है—वही सर्वोत्कृष्ट है । उसके जिह्वापर आ जानेपर स्वधर्मपालन, ध्यान, पूजा आदि साधन (अपने-आप) छूट जाते हैं । वह ऐसा श्रेष्ठ अमृत है कि किसी भी प्राणीके द्वारा एक बार भी ग्रहण किये जानेपर जन्म-मृत्युके पाशसे छुड़ा देता है; वही मेरा एकमात्र जीवन, वही मेरा एकमात्र भूषण है ।

मूलोत्खातविधायिनी भवतरोः कृष्णान्यतृष्णाक्षयात्
खेलद्भिर्मुनिचक्रवाकनिचयैराचम्यमाना मुहुः ।
कर्णानन्दिकलस्वना वहतु मे जिह्वामहीप्राङ्गणे
घूर्णोत्तुङ्गरसावलिमव कथापीयूषकल्लोलिनी ॥
(श्रीदशमचरित)

श्रीकृष्ण ! तुम्हारी लीला-कथारूपी अमृत नदी संसार-वृक्ष-की जड़ उखाड़ डालती है । श्रीकृष्णकी तृष्णाके अतिरिक्त अन्य तृष्णामात्र ही संसार-वृक्षको बढ़ानेवाली है, परंतु तुम्हारी लीला-कथा-नदी श्रीकृष्ण-तृष्णाके अतिरिक्त अन्य तृष्णाका

क्षय कर देती है। तुम्हारी लीलाकथारूपी तटिनीमें नारदादि मुनिरूप चक्रवाक आनन्द-रस-पानसे मत्त हुए विचरण करते हैं। उसकी कल-कल ध्वनि कानोंको महान् आनन्द देती है। उसमें उत्कृष्ट रसका प्रवाह घूर्णित हो रहा है। तुम्हारी यह लीलाकथारूपी पीयूषकल्लोलिनी तटिनी मेरी जिह्वाके प्राङ्गणमें प्रवाहित हो।

श्रीरूप गोस्वामी

(सनातन गोस्वामीके छोटे भाई। जन्म सन् १४९९ ई०, पिताका नाम कुमारदेव, माताका नाम रेवती। भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण, मृत्यु सन् १५६३ ई०। अचिन्त्यभेदाभेदमतके—श्रीगौडीयवैष्णवसम्प्रदायके प्रकाण्ड विद्वान्, परम भक्त, त्यागी। श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रधान अनुयायी।)

मुखारविन्दनिस्यन्दमरन्दभरतुन्दिला ।
ममानन्दं मुकुन्दस्य सन्दुग्धां वेणुकाकली ॥

श्रीमुकुन्दके मुखारविन्दसे निर्गत मकरन्दके द्वारा परिपुष्ट बाँसुरीकी मधुर ध्वनि मेरे आनन्दको बढ़ावे।

सुधानां चान्द्रीणामपि मधुरिमोन्मादमनी
दधाना राधादिप्रणयघनसारैः सुरभिताम्।
समन्तात्संतापोद्गमविषमसंसारसरणी-
प्रणीतां ते तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी ॥
(विदग्धमाधव १।१)

श्रीकृष्णकी लीला एक ऐसी अद्भुत शिखरन (दूध और दहीके मिश्रणसे तैयार किया जानेवाला एक सुमधुर एवं सुगन्धित पेय) है जो चन्द्रमाकी किरणोंसे झरनेवाली सुधा-धाराओंके भी मिठासके गर्वको चूर्ण कर डालती है तथा जो श्रीराधादि प्रेममयी-जनोंके गाढ एवं अविचल प्रेम-रूपी कर्पूर-कणोंसे सुवासित है। चारों ओर संतापका सृजन करनेवाले संसाररूपी ऊबड़-खाबड़ मार्गपर चलनेसे उत्पन्न हुई तुम्हारी तृष्णारूपिणी तृषाको वह शान्त करे।

अभिव्यक्तं श्रममात्मनो विदधति प्रीत्या परेषां प्रियं
लज्जन्ते दुरितोद्गमादिव निजश्लोघानुबन्धादपि।
विद्यावित्तकुलादिभिश्च यदमी यान्ति क्रमान्नम्रतां
रम्या कापि सतामियं विजयते नैसर्गिकी प्रक्रिया ॥
(विद० १।११)

संतलोग अपने श्रमजनित क्लेशका कुछ भी विचार न करके सहज स्नेहवश दूसरोंका प्रिय कार्य करते रहते हैं, अपनी प्रशंसाकी प्रस्तावनासे भी उसी प्रकार लज्जित होते हैं जैसे कोई अपने पापके प्रकट होनेपर लज्जित होता है और विद्या, सम्पत्ति तथा कुलीनता आदिके कारण—जो साधारण लोगोंमें बहुधा अभिमान उत्पन्न करती हुई पायी जाती हैं—अधिकाधिक नम्रता धारण करते हैं। संतोंकी यह एक अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुन्दर परिपाटी है।

प्रपन्नमधुरोदयः स्फुरदमन्दवृन्दाटवी-
निकुञ्जमयमण्डपप्रकरमध्यबद्धस्थितिः ।
निरङ्कुशकृपाम्बुधिर्व्रजविहाररज्यन्मनाः
सनातनतनुः सदा मयि तनोतु तुष्टिं प्रभुः ॥
(विद० १।१४)

मेरे प्रभु सनातन-विग्रह भगवान् श्रीकृष्णका अवतार शरणागतोंके लिये अत्यन्त सुखदायी सिद्ध होता है। वे चिन्मय प्रकाशयुक्त महामहिमशाली श्रीवृन्दावनके निकुञ्जभवनोंकी पंक्तिके बीच सदा विराजमान रहते हैं—वहाँसे कभी एक पग भी दूर नहीं होते। वे असीम एवं निर्बाध कृपाके सागर हैं। व्रजविहारसे उनका मन सदा रंजित रहता है। वे श्रीकृष्ण मुझपर सदा प्रसन्न रहें। (इस द्व्यर्थक श्लोकके द्वारा श्रीरूप गोस्वामीने अपने बड़े भाई एवं गुरुतुल्य श्री-सनातन गोस्वामीसे भी कृपा-याचना की है।)

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चेतःप्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ॥
(विद० १।१५)

'कृष्ण' यह दो अक्षरोंका नाम जब जिह्वापर नृत्य करने लगता है, तब ऐसी इच्छा होती है कि हमारे अनेक (करोड़ों) मुख—अनेक जिह्वाएँ हो जायँ। उसके कानोंमें प्रवेश करते ही ऐसी लालसा उत्पन्न हो जाती है कि हमारे अरबों कान हो जायँ। कानोंके द्वारा जब यह नामसुधा चित्तप्राङ्गणमें आती है तब समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको हर लेती है। चित्त सब कुछ भूलकर नामसुधामें डूब जाता है।

ा जानें इस सुमधुर नाम-सुधाकी सृष्टि कितने प्रकारके
ूर्वोंसे हुई है।

द्रुतकनकसुगौरस्निग्धमेघौघनील-
च्छविभिरखिलवृन्दारण्यमुद्भासयन्तौ ।
मृदुलनवदुकूले नीलपीते दधानौ
स्मर निभृतनिकुञ्जे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
(निकुञ्जरहस्यस्तोत्र १।२)

रे मन! द्रवायमाण सुवर्ण तथा सघन मेघ-समूहकी
ति गौर-नील कान्तियोंसे समग्र वृन्दावनको उद्भासित
नेवाले, नवीन मृदुल नील-पीत-पाटम्बरधारी निभृत
कुञ्जमें विराजमान श्रीराधिका-कृष्णचन्द्रका तू स्मरण कर।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥
(हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० १।११)

अनुकूल-भावनासे (प्रेमपूर्वक) श्रीकृष्णका भजन करना
श्रेष्ठ भक्ति है, जिस भजनमें और किसी प्रकारकी कामना
हो तथा जिसपर ज्ञान-कर्म आदिका आवरण न हो।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥
(हरिभक्ति० पू० २।११)

जबतक भोग और मोक्षकी वासनारूपिणी पिशाची
हृदयमें बसती है, तबतक उसमें भक्ति-रसका आविर्भाव कैसे
ो सकता है।

श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसाम् ।
एषां मोक्षाय भक्तानां न कदापि स्पृहा भवेत् ॥
(हरिभक्ति० पू० २।१३)

जिन भक्तोंका चित्त श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी सेवासे
शान्त एवं सुखी हो गया है, उन्हें मोक्षकी इच्छा कदापि
नहीं होती।

तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः।
येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात् ॥
(हरिभक्ति० पू० २।१७)

उपर्युक्त अनन्य भक्तोंमें भी वे प्रेमीजन श्रेष्ठ हैं, जिनके
चित्तको गोकुलेश्वर श्रीकृष्णने चुरा लिया है और जिनके मनको
लक्ष्मीपति भगवानका दिया हुआ प्रसाद (वर) भी खींच
नहीं सकता।

स्यात्कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद्भवति तद्गदमूलहन्त्री ॥
(उपदेशामृत ७)

जिनकी जिह्वाका स्वाद अविद्यारूपी पित्तके दोषसे बिगड़ा
हुआ है, उन्हें कृष्ण-नाम एवं उनकी लीलादिका गानरूप मिश्री
भी मीठी नहीं लगती। किंतु उसी मिश्रीका आदरपूर्वक
प्रतिदिन सेवन किया जाय तो क्रमशः वह निश्चय ही मीठी
लगने लगती है और पित्तके विकारका समूल नाश हो
जाता है।

तन्नामरूपचरितादिसुकीर्तनानु-
स्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी
कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम् ॥
(उपदेशामृत ८)

श्रीकृष्णके नाम, रूप, चरितादिकोंके कीर्तन और
स्मरणमें क्रमसे रसना और मनको लगा दे—जिह्वासे श्रीकृष्ण
नाम रटता रहे और मनसे उनकी रूप-लीलाओंका स्मरण करता
रहे तथा श्रीकृष्णके अनन्यभक्तोंका दास होकर व्रजमें निवास
करते हुए अपने जीवनके सम्पूर्ण कालको व्यतीत करे। यही
सारे उपदेशोंका सार है।

श्रीजीव गोस्वामी

(श्रीसनातन और श्रीरूप गोस्वामीके छोटे भाई श्रीअनुपम (नामान्तर श्रीवल्लभ) के पुत्र। गुरु श्रीसनातन गोस्वामी। स्थितिकाल
सोलहवीं शताब्दीके अन्तसे सत्रहवीं शताब्दीका प्रथम भाग। गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय अचिन्त्यभेदाभेद मतके प्रधान और प्रसिद्ध
दार्शनिक विद्वान्)

किं भयमुग्रमदृष्टं किं शरणं श्रीहरेर्भक्तः।
किं प्राप्यं तद्भक्तिः किं सौख्यं तत्परप्रेम ॥
(गोपालचम्पू पू० १)

भयका हेतु क्या है? अहंकारपूर्वक किये हुए शुभा-
शुभ कर्म। परम आश्रय कौन है? भगवान् श्रीहरि-
का भक्त। माँगने योग्य वस्तु क्या है—श्रीहरिकी

भक्ति। सुना क्या है—उन्हीं श्रीहरिका परम प्रेम।

श्रीमद्वृन्दावनेन्दोर्मधुपखगमृगाः श्रेणिलोका द्विजाता
दासा लाल्याः सुरम्याः सहचरहलभृत्तातमात्रादिवर्गाः।
प्रेयस्यस्तासु राधाप्रमुखवरदशाश्चेतिवृन्दं यथोर्द्ध्वं
तद्रूपालोकपूर्णप्रमदमनुदिनं हन्त पश्याम कर्हि॥
(गोपाल० उ० ३७)

अहा ! वह दिन कब होगा जब श्रीवृन्दावनके चन्द्रमा भगवान् श्रीकृष्णके भ्रमर, पशु-पक्षी, तेली-तमोली आदि व्यवसायि-वर्गके लोग, ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि द्विजाति वर्णके मनुष्य, दास-दासियाँ, उनकी पोष्य गौएँ, सखा गोप-बालक, श्रीबलदाऊ भैया तथा उनके पितृवर्ग एवं मातृवर्गके गोप-गोपीवृन्द, उनकी प्रियतमा श्रीगोपीजन और उनमें भी सर्वश्रेष्ठ श्रीराधा आदि—इन समस्त परिकरोंके समूहको—जो उनकी अनूप रूप-माधुरीका दर्शन करके लोकातिशायी आनन्दमें मग्न रहता है—हम प्रतिदिन अवलोकन करके निहाल हो जायँगे !

तावद्भुक्तिसिद्धिप्रजविजयिता सत्यधर्मा समाधि-
र्ब्रह्मानन्दो गुरुरपि चमत्कारयत्येव तावत्।
यावत् प्रेम्णां मधुरिपुवशीकारसिद्धौषधीनां
गन्धोऽप्यन्तःकरणसरणी पान्थतां न प्रयाति॥

भगवान् मधुसूदन श्रीकृष्णको वशमें करनेके लिये सिद्ध औषधरूप प्रेमकी गन्ध भी जबतक अन्तःकरणपथमें प्रवेश नहीं कर पाती, तभीतक ऋद्धियोंके सहित सिद्धियोंके समुदायपर विजय, सत्यधर्मयुक्त समाधि तथा महान् ब्रह्मानन्द—ये मनुष्यको चमत्कृत करते रहते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण-प्रेमका उदय होते ही ब्रह्मानन्द भी तुच्छ हो जाता है।

स्वामी श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती

(श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम-सामयिक एवं अनुयायी)

भ्रातस्ते किमु निश्चयेन विदितः स्वस्यान्तकालः किमु
त्वं जानासि महामनुं बलवतो मृत्योर्गतिस्तम्भने।
मृत्युस्त्वत्करणं प्रतीक्षत इति त्वं वेत्सि किंवा यतो
वारंवारमशङ्क एव चलसे वृन्दावनादन्यतः॥
(वृन्दावनमहिमामृत १।५०)

भाई ! क्या तुमने अपना अन्तकाल निश्चय जान लिया है ? और क्या तुम इस बलवान् मृत्युकी गतिको रोकनेमें समर्थ किसी महामन्त्रको जानते हो ? अथवा क्या तुम ऐसा समझते हो कि मृत्यु तुम्हारे कार्यकी प्रतीक्षा करेगी, जिससे तुम बार-बार निःशङ्क होकर श्रीवृन्दावनधामसे अन्यत्र चले जाते हो ?

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीरैः सुकन्थां कुरु।
सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधां
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज॥
(वृन्दावन० १।४८)

भाई ! श्रीवृन्दावनके वृक्षोंके नीचे विश्राम करो, व्रजके ग्रामोंमेंसे भिक्षा ले आया करो तथा स्वेच्छापूर्वक श्रीयमुनाजीके जलका भरपेट पान करो। फटे-पुराने वस्त्रोंकी कंथा बना लो, सम्मानको घोर विष और नीचोंद्वारा किये हुए अपमानको उत्तम अमृत समझो तथा श्रीराधा-मुरलीधरका बड़े प्रेमसे भजन करते हुए श्रीवृन्दावनका कभी परित्याग मत करो।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामी

(हुगली जिलेके सप्तग्रामके अन्तर्गत कृष्णपुर ग्रामके जमींदार श्रीगोवर्धनदासके सुपुत्र। महान् त्यागी। श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुयायी।)

अरे चेतः प्रोद्यत्कपटकुटिलाटीभरखर-
क्षरन्मूत्रे स्नात्वा दहसि कथमात्मानमपि माम्।
सदा त्वं गान्धर्वागिरिधरपदप्रेमविलसत्-
सुधाम्भोधौ स्नात्वा स्वमपि नितरां मां च सुखय॥
(मनःशिक्षा ६)

रे चित्त ! बढ़े हुए कपट एवं कुटिलताके गदहाके मूत्रमें स्नान करके तुम क्यों अपनेको और हमको भी जला रहे हो ? तुम सर्वदा श्रीराधा-गिरिधारीके चरणारविन्दोंके प्रेमरूपी सुन्दर सुधा-सागरमें स्नान करके अपनेको और हमको भी पूर्ण सुखी करो।

महाकवि कर्णपूर

(श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुयायी, श्रीशिवानंदसेनके सुपुत्र, महाकवि)

इंदता पुरुषभूषणेन या
भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः ।
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं
धिक् तदीयगुणरूपसम्पदः ॥
जीवितं सखि पणीकृतं मया
किं गुरोश्च सुहृदश्च मे भयम् ।
लभ्यते स यदि कस्य वा भयं
लभ्यते न यदि कस्य वा भयम् ॥
माधवो यदि निहन्ति हन्यतां
बान्धवो यदि जहाति हीयताम् ।
साधवो यदि हसन्ति हस्यतां
माधवः स्वयमुरीकृतो मया ॥
व्रीडां विलोडयति लुम्पति धैर्यमार्य-
भीतिं भिनत्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम् ।
नामैव यस्य कलितं श्रवणोपकण्ठ-
दृष्टः स किं न कुरुतां सखि मद्विधानाम् ॥
(आनन्दवृन्दावनचम्पू ८ । ९५–९८)

जो सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरियाँ ऐसे पुरुषभूषण श्रीश्यामसुन्दरके द्वारा अपने हृदयको विभूषित नहीं करतीं, उनके कुल, शील और यौवनको धिक्कार है । उनकी गुण-सम्पत्ति तथा रूप-सम्पत्तिको भी धिक्कार है ।

सखि ! मैंने श्यामसुन्दरके लिये अपने जीवनकी बाजी लगा दी है, मुझे गुरुजनोंसे और सुहृदों (सगे-सम्बन्धियों) से क्या भय है । यदि श्यामसुन्दर मिलते हैं, तो (उनके मिल जानेपर) किसका भय है । और यदि नहीं मिलते, तो भी (मुझ मरणार्थिनीको) किसका भय है ।

यदि माधव (क्षणभरके लिये मुझे स्वीकार कर लेते हैं और मैं सर्वस्व उन्हें सौंपकर उनके चरणोंमें बिक जाती हूँ, फिर यदि वे मुझे) मारते हैं, तो उनके हाथसे (हर्षके साथ) मर जाऊँगी; यदि भाई-बन्धु श्रीकृष्णप्रेमके कारण मेरा त्याग करते हैं, तो उस त्यागको सहर्ष वरण कर लूँगी; यदि साधु पुरुष (श्रीकृष्णप्रेमके कारण) मेरी हँसी उड़ाते हैं, तो मुझे उस उपहासका पात्र बनना स्वीकार है । मैंने स्वयं सोच-समझकर रमावल्लभ प्यारे श्यामसुन्दरको अपने हृदय-मन्दिरमें बिठाया है !

सखि ! जिनका (केवल) नाम ही कानोंके निकट आकर मेरी लज्जाको मथ डालता है, धैर्यके बाँधको तोड़ डालता है, गुरुजनोंके भयको भङ्ग कर देता है तथा मेरी चित्त-वृत्तिको लूट लेता है । फिर वे यदि स्वयं आँखोंके सामने आ जायँ, तब तो मुझ-जैसी अबलाओंका क्या नहीं कर डालें ।

आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती

(बंगदेशके फरीदपुर जिलेके अन्तर्गत कोटालिपाड़ा ग्रामके निवासी । आजीवन ब्रह्मचारी । विद्यागुरु श्रीमाधव सरस्वती और दीक्षागुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती । प्रकाण्ड पण्डित एवं बड़े भारी योगी । गीताके प्रसिद्ध टीकाकार)

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
(श्रीगीतागूढार्थदीपिका टीका १५ । २०)

जिनके करकमल वंशीसे विभूषित हैं, जिनकी नवीन मेघकी-सी आभा है, जिनके पीत वस्त्र हैं, अरुण बिम्बफलके समान अधरोष्ठ हैं, पूर्ण चन्द्रके सदृश सुन्दर मुख और कमलके-से नयन हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता ।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥
(गीता० गूढा० १३ । १)

ध्यानाभ्याससे मनको स्ववश करके योगीजन यदि किसी प्रसिद्ध निर्गुण, निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो वे उसे

भले ही देखें; हमारे लिये तो श्रीयमुनाजीके तटपर जो कृष्णनामवाली वह अलौकिक नील ज्योति दौड़ती फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौंधमें डालनेवाली हो।

चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम्।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते॥
(भक्तिरसायन १।४)

चित्त नामकी वस्तु एक ऐसी धातुसे बनी है, जो लाहकी भाँति स्वभावसे ही कठोर है। तपानेवाली सामग्रीका सम्पर्क होनेपर ही वह पिघलती है।

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम्॥
(भक्तिरसायन १।१०)

भगवान् स्वयं परमानन्दस्वरूप हैं। वे जब मनमें प्रवेश कर जाते है, तब वह मन पूर्णरूपसे भगवान्के आकारका होकर रसमय बन जाता है।

भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णबोधसुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥
(भक्तिरसायन १।२८)

पिघला हुआ चित्त जब सर्वव्यापक, नित्य, सर्वतः पूर्ण एवं चिदानन्दस्वरूप भगवान्के आकारको धारण कर लेता है, तब उसके लिये और क्या बाकी रह जाता है, कुछ नहीं।

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा।
सा भक्तिरित्यभिहिता विशेषस्त्वधुनोच्यते॥
(भक्तिरसायन २।१)

पिघले हुए चित्तका स्थायी रूपसे भगवान् श्रीकृष्णके आकारका बन जाना ही भक्तिके नामसे कहा गया है। इस विषयमें विशेष बात आगे कही जाती है।

दृष्टादृष्टफला भक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा॥
(भक्तिरसायन २।४७)

भक्तिका फल प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। जिस प्रकार गङ्गास्नानसे ताप-पीड़ित मनुष्यको प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है और उसका पाप-नाश आदि अदृष्ट फल भी शास्त्रोंमें कहा गया है, उसी प्रकार भक्तिसे प्रत्यक्ष सुख-शान्तिकी अनुभूति होती है और भक्ति-विधायक शास्त्रोंसे मोक्ष आदि फलकी प्राप्ति भी सुनी जाती है।

गुसाईंजी श्रीमद्विट्ठलनाथजी

(गोस्वामी श्रीवल्लभाचार्यजीके सुपुत्र)

(प्रेषक—पं० श्रीकृष्णचन्द्रजी शास्त्री, साहित्यरत्न)

सदा सर्वात्मभावेन स्मर्तव्यः स्वप्रभुस्त्वया।
यादृशा तादृशा एव महान्तस्ते पुनन्ति नः॥

तुम्हें सदा सर्वात्मभावसे एक प्रभु श्रीकृष्णका ही स्मरण करना चाहिये। हमलोग चाहे जैसे भी हों; वे महान् हैं, हमलोगोंको पवित्र करेंगे ही।

सदा सर्वात्मभावेन भजनीयो व्रजेश्वरः।
हरिष्यति स एवास्मद्दैहिकं पारलौकिकम्॥

सदा सर्वात्मभावसे व्रजेश्वर श्रीकृष्ण ही भजनीय हैं। वे ही हमारे दैहिक-पारलौकिक दोषोंका हरण करेंगे।

सदा सर्वात्मना कृष्णः सेव्यः कालादिदोषनुत्।
तद्भक्तेषु च निर्दोषभावेन स्थेयमादरात्॥

कालादि दोषको निवारण करनेवाले श्रीकृष्णका ही सदा सर्वात्मभावसे सेवन करना चाहिये और उनके भक्तोंमें निर्दोषभावसे आदरकी स्थापना करनी चाहिये।

भगवत्येव सततं स्थापनीयं मनः स्वयम्।
कालोऽयं कठिनोऽपि श्रीकृष्णभक्तान्न बाधते॥

भगवान् श्रीकृष्णमें ही अपने मनको सदा स्थापित कर देना चाहिये। यह कठिन कलिकाल भी श्रीकृष्ण-भक्तोंका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकेगा।

सर्वसाधनशून्योऽहं सर्वसामर्थ्यवान् भवान्।
श्रीगोकुलप्राणनाथ न त्याज्योऽहं कदापि वै॥

गोकुल-प्राणनाथ! मैं समस्त साधनोंसे शून्य हूँ और आप सर्वशक्तिमान् हैं। अतः मैं कभी भी आपके द्वारा त्यागने योग्य नहीं हूँ।

यदि तुष्टोऽसि रुष्टो वा त्वमेव शरणं मम।
मारणे धारणे वापि दीनानां नः प्रभुर्गतिः॥

आप चाहे संतुष्ट हों या रुष्ट, मेरे तो आश्रय—रक्षक आप ही हैं। हम दीनोंको मारने या स्वीकार करनेमें आप ही समर्थ हैं एवं आप ही प्रभु हमारी गति हैं।

यद्दैन्यं त्वत्कृपाहेतुर्न तदस्ति ममाण्वपि।
तां कृपां कुरु राधेश यया ते दैन्यमाप्नुयाम्॥

जो दीनता आपकी कृपामें हेतु है—जिस दैन्यपर आप रीझते हैं, उसका तो मुझमें लेश भी नहीं है। अतः हे राधानाथ! ऐसी कृपा कीजिये जिस कृपासे मैं उस दैन्यको प्राप्त कर सकूँ।

आचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती

(स्थितिकाल १८ वीं शताब्दी। बंगालके प्रसिद्ध विद्वान्, महात्मा। गीताके टीकाकार)

गोपरामाजनप्राणप्रेयसेऽतिप्रभूष्णवे।
तदीयप्रियदास्याय मां मदीयमहं ददे॥
(श्रीमद्भागवतकी सारार्थदर्शिनीटीका ७। १। १)

श्रीगोपललनाओंके प्राणोंसे भी प्यारे एवं अत्यन्त प्रभावशाली भगवान् श्रीकृष्णको उन्हींके प्रेमीजनोंका दास्य प्राप्त करनेके लिये मैं अपने आपको तथा अपना सब कुछ अर्पण करता हूँ।

सन् संरक्ष्य सतामागःकुञ्जरात् तत्प्रसादजा।
दीनतामानदत्वादिशिलाक्लृप्तमहावृतिः।
भक्तिवल्ली नृभिः पाल्या श्रवणाद्यम्बुसेचनैः॥
(सारार्थ० ७। १। १)

भक्ति एक ऐसी लता है, जो संतोंकी कृपासे ही उत्पन्न होती है। दीनता एवं दूसरोंको मान देनेकी वृत्ति आदि शिलाओंकी बाड़के द्वारा उस बेलको संतापराधरूपी हाथीसे बचाकर श्रवण-कीर्तन आदि जलसे सींचते और बढ़ाते रहना चाहिये।

महाप्रभु श्रीहरिरायजी

सदोद्विग्नमनाः कृष्णदर्शने क्लिष्टमानसः।
लौकिकं वैदिकं चापि कार्यं कुर्वन्ननास्थया॥
निरुद्धवचनो वाक्यमावश्यकमुदाहरन्।
मनसा भावयेन्नित्यं लीलाः सर्वाः क्रमागताः॥
(बड़ा शिक्षापत्र १। १-२)

मनुष्यको चाहिये कि वह निरन्तर (अहंता-ममतात्मक असद्वादसे) उद्वेगयुक्त एवं श्रीकृष्ण-दर्शनके निमित्त क्लिष्ट (आर्तियुक्त) मनसे लौकिक एवं वैदिक कार्योंको भी फलाशा छोड़कर करे तथा वाणीको संयममें रख, आवश्यक (जितना बोले बिना काम नहीं चले उतने ही) शब्द बोलता हुआ मनसे क्रमप्राप्त सम्पूर्ण लीलाओंकी भावना करे।

वृथा चिन्ता न कर्तव्या स्वमनोमोहकारणम्।
यथा सच्छिद्रकलशाज्जलं स्रवति सर्वतः॥
तथायुः सततं याति ज्ञायते न गृहस्थितैः।
एवं हि गच्छत्यायुष्ये क्षणं नैव विलम्बयेत्॥
भगवच्चरणे चेतःस्थापनेऽतिविचक्षणः।
(बड़ा शिक्षा० ३६। ८-१०)

अपने मनके मोहके कारण वृथा चिन्ता न करे। जैसे छिद्रयुक्त कलशसे चारों ओर जल चूता रहता है, वैसे ही आयु निरन्तर क्षीण होती चली जा रही है किंतु गृहस्थाश्रमी जनोंके जाननेमें नहीं आती। इस प्रकार आयु जा रही है, अतः श्रीभगवान्के चरणारविन्दोंमें चित्त स्थापन करनेमें अति चतुर मनुष्यको क्षणमात्रका भी विलम्ब नहीं करना चाहिये।

गोस्वामी श्रीरघुनाथजी

(पुष्टिमार्गके आचार्य)

गोपबालसुन्दरीगणावृतं कलानिधिं
रासमण्डलीविहारकारिकाममुन्दरम्।
पद्मयोनिशङ्करादिदेववृन्दवन्दितं
नीलवारिवाहकान्तिगोकुलेशमाश्रये॥

जो सुन्दर गोपबालाओंसे आवृत हैं, समस्त कलाओंके आधार हैं, रास-मण्डलमें विहार करनेवाले और कामदेवसे भी अधिक सुन्दर हैं तथा श्रीब्रह्माजी और शङ्करादि देववृन्दोंसे वन्दित हैं, उन नील जलधरके समान कान्तिवाले गोकुलेश्वर श्यामसुन्दरकी मैं शरण जाता हूँ।

श्रीकृष्णमिश्र यति

(समय ११ वीं शताब्दी, 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक धर्म और भक्तिपरक नाटकके रचयिता)

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि ।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति
धीमानधीतमपि न प्रतिसंदधाति ॥

क्रोध कहता है कि मैं लोगोंको अंधा बना देता हूँ, बहरा बना देता हूँ, धीर एवं चेतनको अचेतन बना देता हूँ। मैं ऐसा कर देता हूँ जिससे मनुष्य अपना कर्तव्य भूल जाता है, हितकी बात भी नहीं सुनता तथा बुद्धिमान् मनुष्य भी पढ़े हुए विषयोंका स्मरण नहीं कर सकता।

ध्यायन्ति यां सुखिनि दुःखिनि चानुकम्पां
पुण्यक्रियासु मुदितां कुमतावुपेक्षाम् ।
एवं प्रसादमुपयाति हि रागलोभ-
द्वेषादिदोषकलुषोऽप्ययमन्तरात्मा ॥

जो सुखियोंसे मैत्री, दुखियोंपर दया, पुण्यसे प्रसन्नताका अनुभव और कुबुद्धिकी उपेक्षा करते हैं, उनका अन्तरात्मा राग-लोभ-द्वेष आदि दोषोंसे कलुषित होनेपर भी शुद्ध हो जाता है।

प्रायः सुकृतिनामर्थे देवा यान्ति सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥

पुण्यात्माओंके कार्योंमें प्रायः देवतालोग भी सहायता करते हैं और कुमार्गगामीका साथ सहोदर भाई भी छोड़ देता है।

पण्डितराज जगन्नाथ

यत्रं पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः ।
क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ॥

कृष्ण—ये दो अक्षर पापरूपी पर्वतोंको विदीर्ण करनेके लिये वज्र हैं, संसाररूपी रोगके अङ्कुरको नाश करनेके लिये सिद्ध औषध हैं, मिथ्या ज्ञानरूपी रजनीके महान् अन्धकारको सर्वथा नष्ट करनेके लिये सूर्योदयके सदृश हैं, क्रूर क्लेशरूपी वृक्षोंके जला डालनेके लिये प्रचण्ड ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्नि हैं तथा परमानन्द-निकेतनके मनोहर द्वार हैं। इन दोनों अक्षरोंकी सदा जय हो।

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया ।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति ॥

रे चित्त! तेरे हितके लिये तुझे सावधान किये देता हूँ—कहीं तू उस वृन्दावनमें गाय चरानेवाले, नवीन नीरदके समान कान्तिवाले छैलको अपना बन्धु न बना लेना। वह सौन्दर्यरूप अमृत बरसानेवाली अपनी मन्द मुसकानसे तुझे मोहित करके तेरे प्रिय समस्त विषयोंको तुरंत नष्ट कर देगा।

श्रीविष्णुचित्त (पेरि-आळ्वार)

(महान् भक्त, ये गरुड़के अवतार माने जाते हैं। जन्म-स्थान—मद्रासप्रदेशके तिन्नेवेल्ली जिलेमें श्रीविल्लीपुत्तूर नामक ग्राम, पिताका नाम—मुकुन्दाचार्य, माताका नाम—[illegible])

'भगवान् नारायण ही सर्वोपरि हैं और उनके चरणोंमें अपनेको सर्वतोभावेन समर्पित कर देना ही कल्याणका एकमात्र उपाय है। भगवान् नारायण ही हमारे रक्षक हैं, वे अपनी योगमायासे मनुष्योंकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये समय-समयपर अवतार लेते हैं। वे समस्त भूतोंके हृदयमें स्थित हैं। भगवान् मायासे परे हैं और उनकी उपासना ही मायासे छूटनेका एकमात्र उपाय है। उनपर विश्वास करो, उनकी आराधना करो, उनके नाममें रुचि लगाओ और उनका गुणानुवाद करो। 'ॐ नमो नारायणाय।'

'वे संसारमें दयाके पात्र हैं, जो भगवान् नारायणकी उपासना नहीं करते। उन्होंने अपनी माताको व्यर्थ ही प्रसव का कष्ट दिया। जो लोग 'नारायण' नामका उच्चारण नहीं करते वे पाप ही खाते और पापमें ही रहते हैं। जो लोग भगवान् माधवको अपने हृदयमन्दिरमें [illegible] सुमनसे उनकी पूजा करते हैं, वे ही मृत्युपाशसे छूटते हैं।'

भक्तिमती श्रीआण्डाळ (रंगनायकी)

(यथार्थ नाम 'कोदई', अर्थात् पुष्पोंके हारके समान कमनीय दक्षिणकी महान् भक्तिमती देवी, जन्म-स्थान—दक्षिण भारतमें कावेरी-तटपर स्थित कोई गाँव, श्रीविष्णुचित्तद्वारा पालित, इन्हें भूदेवीका अवतार मानते हैं।)

[ये गोपीभावमें विभोर हुई कहती हैं—]

पृथ्वीके भाग्यवान् निवासियो! क्षीरसमुद्रमें शेषकी शय्यापर पौढ़े हुए सर्वेश्वरके चरणोंकी महिमाका गान करती हुई हम अपने व्रतकी पूर्तिके लिये क्या-क्या करेंगी—यह सुनो। हम पौ फटनेपर स्नान करेंगी। घी और दूधका परित्याग कर देंगी। नेत्रोंमें अँजन नहीं देंगी। बालोंको फूलोंसे नहीं सजायेंगी। कोई अशोभन कार्य नहीं करेंगी। अशुभ वाणी नहीं बोलेंगी, गरीबोंको दान देंगी और बड़े चावसे इसी सरणिका चिन्तन करेंगी।

गौओंके पीछे हम वनमें जाती हैं और वहीं छाक खाती हैं—हम गँवार ग्वालिनें जो ठहरीं। किंतु हमारा कितना *बड़ा भाग्य है कि तुमने भी हम ग्वालोंके यहाँ ही जन्म लिया*—तुम गोपाल कहलाये! प्यारे गोविन्द, तुम पूर्णकाम हो; फिर भी तुम्हारे साथ जो हमारा जाति और कुलका सम्बन्ध है, वह कभी धोये नहीं मिटेगा। यदि हम दुलारके कारण तुम्हें छोटे नामोंसे पुकारते हैं—कन्हैया या कनूँ कहकर सम्बोधित करते हैं तो कृपा करके हमपर रुष्ट न होना, अच्छा! क्योंकि हम तो निरी अबोध बालिकाएँ हैं। क्या तुम हमें हमारे वस्त्र नहीं लौटाओगे!

प्यारे! क्या तुम हमारा यह मनोरथ जानना चाहते हो, जिसके लिये हम बड़े सवेरे तुम्हारी वन्दना करने और तुम्हारे चरणारविन्दोंकी महिमाका गान करने तुम्हारे द्वारपर आती हैं। गोप-वंशमें उत्पन्न होकर भी तुम हमारी ओरसे मुख मोड़ लो, सेवाकी भावनासे आयी हुई हम दासियोंका प्रत्याख्यान कर दो—यह तो तुम्हारे योग्य नहीं है। हम आजकी तुम्हारी चेरी थोड़े ही हैं। प्यारे गोविन्द! हम तो तुम्हारी जनम-जनमकी दासी हैं। एक मात्र तुम्हीं हमारे सेव्य—हमारे भरतार हो। कृपा करके हमारी अन्य सारी आसक्तियों, अन्य सारे स्नेह-बन्धनोंको काट डालो!

अरी कोयल! मेरा प्राणवल्लभ मेरे सामने क्यों नहीं *आता! यह मेरे हृदयमें प्रवेशकर मुझे अपने वियोगसे दुखी* कर रहा है। मैं तो उसके लिये इस प्रकार तड़प रही हूँ और उसके लिये यह सब मानो निरा खिलवाड़ ही है।

मेघ! विरह-तापसे संतप्त मेरे शरीरकी शोभा बहुत ही क्षीण हो गयी है। दीन समझकर मुझे निद्रा भी छोड़कर चली गयी है। इस दशामें मैं कैसे भगवान्‌का गुण-कीर्तन करूँ। मैं अपनेको बचाये रखनेमें असमर्थ हूँ। इसलिये मेघ! मुझको जीवित रखना तो अब बस, मेरे प्रियतमके ही हाथ है।

श्रीकुळशेखर आळवार

(कोल्लिनगर (केरल) के धर्मात्मा नरेश दृढव्रतके पुत्र, स्थान—पहले श्रीरंगक्षेत्र, बादमें तिरुपति, ये कौस्तुभमणिके अवतार कहे जाते हैं।)

प्रभो! मुझे न धन चाहिये न शरीरका सुख चाहिये, न मुझे राज्यकी कामना है न मैं इन्द्रका पद चाहता हूँ और न मुझे सार्वभौम पद ही चाहिये। मेरी तो केवल यही अभिलाषा है कि मैं तुम्हारे मन्दिरकी एक सीढ़ी बनकर रहूँ, जिससे तुम्हारे भक्तोंके चरण बार-बार मेरे मस्तकपर पड़ें। अथवा स्वामिन्! जिस रास्तेसे भक्तलोग तुम्हारे श्रीविग्रहका दर्शन करनेके लिये प्रतिदिन जाया करते हैं, उस मार्गका मुझे एक छोटा-सा रजःकण ही बना दो, अथवा जिस नालीसे तुम्हारे बगीचेके वृक्षोंकी सिंचाई होती है, उस नालीका जल ही बना दो अथवा अपने बगीचेका एक चम्पाका पेड़ ही बना दो, जिससे मैं अपने फूलोंके द्वारा तुम्हारी नित्य पूजा कर सकूँ, अथवा मुझे अपने यहाँके सरोवरका एक छोटा-सा जलजन्तु ही बना दो।

यदि माता खीझकर बच्चेको अपनी गोदसे उतार भी

[illegible] है, जो भी सदा उन्हींमें अपनी लौ लगाये रहता है और [illegible] करके रोता-बिलखता और छटपटाता है। [illegible] प्रकार हे नाथ! तुम चाहे कितनी ही उपेक्षा करो और मेरे दुःखोंकी ओर ध्यान न दो, तो भी मैं तुम्हारे चरणोंको छोड़कर और कहीं नहीं जा सकता, तुम्हारे चरणोंके सिवा मेरे लिये और कोई दूसरी गति ही नहीं है।

[illegible] अपनी पतिव्रता स्त्रीका सबके सामने तिरस्कार [illegible] भी वह उसका परित्याग नहीं कर सकती। [illegible] चाहे तुम मुझे कितना ही दुतकारो, मैं तुम्हारे अभय चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं जानेकी बात [illegible] सकता। तुम चाहे मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखो, मुझे तो केवल तुम्हारा और तुम्हारी [illegible] है। मेरी अभिलाषाके एकमात्र [illegible] तुम्हीं हो। जो तुम्हें चाहता है, उसे त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे कोई मतलब नहीं।

हरे! मैं आपके चरणयुगलमें इसलिये नमस्कार नहीं करता कि मेरे द्वन्द्वों (शीतोष्णादि) का नाश हो, मैं कुम्भीपाकादि बड़े-बड़े नरकोंसे बचा रहूँ और नन्दनवनमें कोमलाङ्गी अप्सराओंके साथ रमण करूँ, अपितु इसलिये कि मैं सदा हृदय-मन्दिरमें आपकी ही भावना करता रहूँ।

हे भगवन्! मैं धर्म, धन-संग्रह और कामोपभोगकी आशा नहीं रखता, पूर्वकर्मानुसार जो कुछ होना हो सो हो जाय; पर मेरी यही बार-बार प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तरोंमें भी आपके चरणारविन्द-युगलमें मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे।

हे सर्वव्यापी वरदाता! तृष्णारूपी जल, कामरूपी आँधीसे उठी हुई मोहमयी तरङ्गमाला, स्त्रीरूप भँवर और भाई-पुत्ररूपी ग्राहोंसे भरे हुए इस संसाररूपी महान् समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको अपने चरणारविन्दकी भक्ति दीजिये।

जो संसार-सागरमें गिरे हुए हैं, (सुख-दुःखादि) द्वन्द्व-[illegible] हो रहे हैं, पुत्र, पुत्री, स्त्री आदिके पालन-[illegible] हैं और विषयरूपी विषम-जलराशिमें [illegible] रहे हैं, उन पुरुषोंके लिये एकमात्र जहाजरूप [illegible] शरण हों।

नरकासुरका अन्त करनेवाले मधुसूदन! स्वर्गमें, भूलोकमें अथवा भले ही नरकमें मुझे रहना पड़े, उसकी चिन्ता नहीं है; किंतु शरद् ऋतुके प्रफुल्ल कमलोंकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके युगल चरणोंका चिन्तन मृत्युकालमें भी न छूटे।

श्रीकृष्ण! मेरा मानसरूपी राजहंस आपके चरणारविन्द-रूपी पिंजड़ेमें आज ही प्रविष्ट हो जाय। प्राण निकलनेके समय जब वात-पित्त और कफसे गला रुँध जायगा, उस अवस्थामें आपका स्मरण कैसे सम्भव होगा।

रे मेरे मन! 'मैं अगाध एवं दुस्तर भवसागरके पार कैसे होऊँगा' इस चिन्तासे तू कातर न हो; नरकासुरका नाश करनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णमें जो तेरी अनन्य भक्ति है, वह तुझे अवश्य इस संसार-सागरसे पार कर देगी।

कमलनयन श्रीकृष्ण! हम हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर, रोमाञ्चित शरीर, गद्गद कण्ठ तथा आँसुओंकी धारा बहानेवाले नेत्रोंसे आपकी स्तुति करते हुए नित्य-निरन्तर आपके युगल चरणारविन्दोंके ध्यानरूपी अमृतरसका आस्वादन करते रहें, ऐसा हमारा जीवन बन जाय।

ओ खोटी बुद्धिवाले मूढ़ मानव! यह शरीर सैकड़ों स्थानोंमें जोड़ होनेके कारण जर्जर है। देखनेमें कोमल और सुन्दर होनेपर भी परिणामी है (बृद्ध होनेवाला है)। एक दिन इसका पतन अवश्यम्भावी है। तू ओषधियोंके चक्करमें पड़कर क्यों क्लेश उठा रहा है। रोग-शोकको सदाके लिये दूर भगा देनेवाले श्रीकृष्ण-नामरूपी रसायनका निरन्तर पान करता रह।

श्रीगोविन्दके चरण-कमलोंसे निकले हुए मधुकी यह विलक्षणता है कि उसका पान करनेवाले तो मोहित नहीं होते, उसे न पीनेवालोंपर ही मोह छाया रहता है।

अरे मूढ़ मन! तू नाना प्रकारकी सुदीर्घ यातनाओंका विचार करके भयभीत मत हो। भगवान् श्रीधर जिनके स्वामी हैं, उनका ये पापरूपी शत्रु कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। तू तो आलस्यको दूर भगाकर भक्तिसे सहजमें ही मिल जानेवाले भगवान् नारायणका ध्यान कर। जो सारे संसारकी यातनाओंका नाश करनेवाला है, वह क्या तेरी भी नहीं बचा सकेगा!

श्रीविप्रनारायण आळ्वार

(जाति—ब्राह्मण; ये भगवान्की वनमालाके अवतार कहे जाते हैं)

प्रभो ! मैं बड़ा नीच हूँ, बड़ा पतित हूँ, बड़ा पापी हूँ; फिर भी तुमने मेरी रक्षा की। मैंने अबतक अपना जीवन व्यर्थ ही खोया, मेरा हृदय बड़ा कलुषित है। मेरी जिह्वाने तुम्हारे मधुर नामका परित्याग कर दिया, मैंने सत्य और सदाचारको तिलाञ्जलि दे दी, मैं अब इसीलिये जीवन धारण करता हूँ जिससे तुम्हारी सेवा कर सकूँ। मैं जानता हूँ तुम अपने सेवकोंका कदापि परित्याग नहीं करते। मैं जनताकी दृष्टिसे गिर गया, मेरी सम्पत्ति जाती रही। संसारमें तुम्हारे सिवा मेरा कोई नहीं। पुरुषोत्तम ! अब मैंने तुम्हारे चरणोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है। तुम्हीं मेरे माता पिता हो, तुम्हारे सिवा मेरा कोई रक्षक नहीं है। जीवनधन ! अब मुझे तुम्हारी कृपाके सिवा और किसीका भरोसा नहीं है।

श्रीमुनिवाहन तिरुप्पन्नाळ्वार

(ये अन्त्यज माने जाते थे। इन्हें श्रीवत्सका अवतार कहा जाता है।)

'प्रभो ! आपने मेरे कर्मकी बेड़ियोंको काट दिया और मुझे अपना जन बना लिया। आज आपके दर्शन प्राप्तकर मेरा जन्म सफल हो गया।'

श्रीपोयगै आळ्वार, भूतत्ताळ्वार और पेयाळ्वार

(श्रीपोयगै आळ्वार—पहलेका नाम सरोयोगी, पाञ्चजन्यके अवतार, जन्मस्थान काञ्चीनगरी। श्रीभूतत्ताळ्वार—जन्मस्थान महाबलीपुर, गदाके अवतार। श्रीपेयाळ्वार—जन्मस्थान मद्रासका मैलापुर नामक स्थान, ये खड्गके अवतार माने जाते हैं।)

भगवान्के सदृश और कोई वस्तु संसारमें नहीं है। सारे रूप उन्हींके हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिशाएँ, नक्षत्र और ग्रह, वेद एवं वेदोंका तात्पर्य, सब कुछ वे ही हैं। अतः उन्हींके चरणोंकी शरण ग्रहण करो, मनुष्यजन्मका साफल्य इसीमें है। वे एक होते हुए भी अनेक बने हुए हैं। उन्हींके नामका उच्चारण करो। तुम अपने सुखी नहीं हो सकते, उनकी कृपा ही तुम्हारी रक्षा कर सकती है। वे ही ज्ञान हैं, वे ही ज्ञेय हैं और वे ही ज्ञानके द्वार हैं। उन्हींके तत्त्वको समझो। भटकते हुए मन और इन्द्रियोंको काबूमें करो, एकमात्र उन्हींकी इच्छा करो और उन्हींकी अनन्य भावसे उपासना करो। वे भक्तोंके लिये मनुष्यरूप धारण करते हैं। जिस प्रकार लता किसी वृक्षका आश्रय ढूँढ़ती है, उसी प्रकार मेरा मन भी भगवान्के चरणोंका आश्रय ढूँढ़ता है। उनके प्रेममें जितना सुख है, उतना इन अनित्य विषयोंमें कहाँ। प्रभो ! अब ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी वाणी केवल तुम्हारा ही गुणगान करे, मेरे हाथ तुम्हींको प्रणाम करें, मेरे नेत्र सर्वत्र तुम्हारे ही दर्शन करें, मेरे कान तुम्हारे ही गुणोंका श्रवण करें, मेरे चित्तके द्वारा तुम्हारा ही चिन्तन हो और मेरे हृदयको तुम्हारा ही स्पर्श प्राप्त हो।

देती है, तो भी बच्चा उसीमें अपनी लौ लगाये रहता है और उसीको याद करके रोता-चिल्लाता और छटपटाता है। उसी प्रकार हे नाथ ! तुम चाहे कितनी ही उपेक्षा करो और मेरे दुःखोंकी ओर ध्यान न दो, तो भी मैं तुम्हारे चरणोंको छोड़कर और कहीं नहीं जा सकता, तुम्हारे चरणोंके सिवा मेरे लिये और कोई दूसरी गति ही नहीं है।

यदि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीका सबके सामने तिरस्कार भी करे, तो भी वह उसका परित्याग नहीं कर सकती। इसी प्रकार चाहे तुम मुझे कितना ही दुतकारो, मैं तुम्हारे अभय चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं जानेकी बात भी नहीं सोच सकता। तुम चाहे मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखो, मुझे तो केवल तुम्हारा और तुम्हारी कृपाका ही अवलम्बन है। मेरी अभिलाषाके एकमात्र विषय तुम्हीं हो। जो तुम्हें चाहता है, उसे त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे कोई मतलब नहीं।

हरे ! मै आपके चरणयुगलमें इसलिये नमस्कार नहीं करता कि मेरे द्वन्द्वों (शीतोष्णादि) का नाश हो, मैं कुम्भीपाकादि बड़े-बड़े नरकोंसे बचा रहूँ और नन्दनवनमें कोमलाङ्गी अप्सराओंके साथ रमण करूँ, अपितु इसलिये कि मैं सदा हृदय-मन्दिरमें आपकी ही भावना करता रहूँ।

हे भगवन् ! मैं धर्म, धन-संग्रह और कामोपभोगकी आशा नहीं रखता, पूर्वकर्मानुसार जो कुछ होना हो सो हो जाय; पर मेरी यही बार-बार प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तरोंमें भी आपके चरणारविन्द-युगलमें मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे।

हे सर्वव्यापी वरदाता ! तृष्णारूपी जल, कामरूपी आँधीसे उठी हुई मोहमयी तरङ्गमाला, स्त्रीरूप भँवर और भाई-पुत्ररूपी ग्राहोंसे भरे हुए इस संसाररूपी महान् समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको अपने चरणारविन्दकी भक्ति दीजिये।

जो संसार-सागरमें गिरे हुए हैं, (सुख-दुःखादि) द्वन्द्वरूपी वायुसे आहत हो रहे हैं, पुत्र, पुत्री, स्त्री आदिके पालन-पोषणके भारसे आर्त हैं और विषयरूपी विषम-जलराशिमें बिना नौकाके डूब रहे हैं, उन पुरुषोंके लिये एकमात्र जहाजरूप भगवान् विष्णु ही शरण हों।

नरकासुरका अन्त करनेवाले मधुसूदन ! स्वर्गमें, भूलोकमें अथवा भले ही नरकमें मुझे रहना पड़े, उसकी चिन्ता नहीं है; किंतु शरद् ऋतुके प्रफुल्ल कमलोंकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले आपके युगल चरणोंका चिन्तन मृत्युकालमें भी न छूटे।

श्रीकृष्ण ! मेरा मानसरूपी राजहंस आपके चरणारविन्द-रूपी पिंजड़ेमें आज ही प्रविष्ट हो जाय। प्राण निकलनेके समय जब वात-पित्त और कफसे गला रुँध जायगा, उस अवस्थामें आपका स्मरण कैसे सम्भव होगा।

रे मेरे मन ! 'मैं अगाध एवं दुस्तर भवसागरके पार कैसे होऊँगा' इस चिन्तासे तू कातर न हो; नरकासुरका नाश करनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णमें जो तेरी अनन्य भक्ति है, वह तुझे अवश्य इस संसार-सागरसे पार कर देगी।

कमलनयन श्रीकृष्ण ! हम हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर, रोमाञ्चित शरीर, गद्गद कण्ठ तथा आँसुओंकी धारा बहानेवाले नेत्रोंसे आपकी स्तुति करते हुए नित्य-निरन्तर आपके युगल चरणारविन्दोंके ध्यानरूपी अमृतरसका आस्वादन करते रहें, ऐसा हमारा जीवन बन जाय।

ओ खोटी बुद्धिवाले मूढ़ मानव ! यह शरीर सैकड़ों स्थानोंमें जोड़ होनेके कारण जर्जर है। देखनेमें कोमल और सुन्दर होनेपर भी परिणामी है (वृद्ध होनेवाला है)। एक दिन इसका पतन अवश्यम्भावी है। तू ओषधियोंके चक्करमें पड़कर क्यों क्लेश उठा रहा है। रोग-शोकको सदाके लिये दूर भगा देनेवाले श्रीकृष्ण-नामरूपी रसायनका निरन्तर पान करता रह।

श्रीगोविन्दके चरण-कमलोंसे निकले हुए मधुकी यह विलक्षणता है कि उसका पान करनेवाले तो मोहित नहीं होते, उसे न पीनेवालोंपर ही मोह छाया रहता है।

अरे मूढ मन ! तू नाना प्रकारकी सुदीर्घ यातनाओंका विचार करके भयभीत मत हो। भगवान् श्रीधर जिनके स्वामी हैं, उनका ये पापरूपी शत्रु कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। तू तो आलस्यको दूर भगाकर भक्तिसे सहजमें ही मिल जानेवाले भगवान् नारायणका ध्यान कर। जो सारे संसारकी वासनाओंका नाश करनेवाला है, [illegible] भी नहीं बचा सकेगा !

श्रीविप्रनारायण आळ्वार

(जाति—ब्राह्मण; ये भगवान्‌की वनमालाके अवतार कहे जाते हैं)

प्रभो! मैं बड़ा नीच हूँ, बड़ा पतित हूँ, बड़ा पापी हूँ; फिर भी तुमने मेरी रक्षा की। मैंने अबतक अपना जीवन व्यर्थ ही खोया, मेरा हृदय बड़ा कलुषित है। मेरी जिह्वाने तुम्हारे मधुर नामका परित्याग कर दिया, मैंने सत्य और सदाचारको तिलाञ्जलि दे दी, मैं अब इसीलिये जीवन धारण करता हूँ जिससे तुम्हारी सेवा कर सकूँ। मैं जानता हूँ तुम अपने सेवकोंका कदापि परित्याग नहीं करते। मैं जनताकी दृष्टिसे गिर गया, मेरी सम्पत्ति जाती रही। संसारमें तुम्हारे सिवा मेरा कोई नहीं। पुरुषोत्तम! अब मैंने तुम्हारे चरणोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है। तुम्हीं मेरे माता-पिता हो, तुम्हारे सिवा मेरा कोई रक्षक नहीं है। जीवनधन! अब मुझे तुम्हारी कृपाके सिवा और किसीका भरोसा नहीं है।

श्रीमुनिवाहन तिरुप्पन्नाळ्वार

(ये अन्त्यज माने जाते थे। इन्हें श्रीवत्सका अवतार कहा जाता है।)

'प्रभो! आपने मेरे कर्मकी बेड़ियोंको काट दिया और मुझे अपना जन बना लिया। आज आपके दर्शन प्राप्तकर मेरा जन्म सफल हो गया।'

श्रीपोयगै आळ्वार, भूतत्ताळ्वार और पेयाळ्वार

(श्रीपोयगै आळ्वार—पहलेका नाम सरोयोगी, पाञ्चजन्यके अवतार, जन्मस्थान काञ्चीनगरी। श्रीभूतत्ताळ्वार—जन्मस्थान महाबलीपुर, गदाके अवतार। श्रीपेयाळ्वार—जन्मस्थान मद्रासका मैलापुर नामक स्थान, ये खड्गके अवतार माने जाते हैं।)

भगवान्‌के सदृश और कोई वस्तु संसारमें नहीं है। सारे रूप उसीके हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिशाएँ, नक्षत्र और ग्रह, वेद एवं वेदोंका तात्पर्य, सब कुछ वे ही हैं। अतः उन्हींके चरणोंकी शरण ग्रहण करो, मनुष्यजन्मका साफल्य इसीमें है। वे एक होते हुए भी अनेक बने हुए हैं। उन्हींके नामका उच्चारण करो। तुम धनसे सुखी नहीं हो सकते, उनकी कृपा ही तुम्हारी रक्षा कर सकती है। वे ही ज्ञान हैं, वे ही ज्ञेय हैं और वे ही ज्ञानके द्वार हैं। उन्हींके तत्त्वको समझो। भटकते हुए मन और इन्द्रियोंको काबूमें करो, एकमात्र उन्हींकी इच्छा करो और उन्हींकी अनन्य भावसे उपासना करो। वे भक्तोंके लिये सगुणरूप धारण करते हैं। जिस प्रकार लता किसी वृक्षका आश्रय ढूँढती है, उसी प्रकार मेरा मन भी भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ढूँढता है। उनके प्रेममें जितना सुख है, उतना इन अनित्य विषयोंमें कहाँ। प्रभो! अब ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी वाणी केवल तुम्हारा ही गुणगान करे, मेरे हाथ तुम्हींको प्रणाम करें, मेरे नेत्र सर्वत्र तुम्हारे ही दर्शन करें, मेरे कान तुम्हारे ही गुणोंका श्रवण करें, मेरे चित्तके द्वारा तुम्हारा ही चिन्तन हो और मेरे हृदयको तुम्हारा ही स्पर्श प्राप्त हो।

श्रीभक्तिसार (तिरुमडिसै आळवार)

(जन्मस्थान—दक्षिणमें तिरुमडिसै (महीसरपुर)। पिताका नाम श्रीभार्गव, माताका नाम श्रीमती कनकावती, तिरुवाळन् नामके व्याधने इनको पाला था, उसीने इनका नाम भक्तिसार रक्खा।)

प्रभो ! मुझे इस जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ाओ। मैंने अपनी इच्छाको तुम्हारी इच्छाके अंदर विलीन कर दिया है, मेरा चित्त सदा तुम्हारे चरणोंका ध्यान किया करता है। तुम्हीं आकाश हो, तुम्हीं पृथ्वी हो और तुम्हीं पवन हो। तुम्हीं मेरे स्वामी हो, तुम्हीं मेरे पिता हो। तुम्हीं मेरी माता हो और तुम्हीं मेरे रक्षक हो। तुम्हीं शब्द हो और तुम्हीं उसके अर्थ हो। तुम वाणी और मन दोनोंके परे हो। यह जगत् तुम्हारे ही अंदर स्थित है और तुम्हारे ही अंदर लीन हो जाता है। तुम्हारे ही अंदर सारे भूतप्राणी उत्पन्न होते हैं, तुम्हारे ही अंदर चलते-फिरते हैं और फिर तुम्हारे ही अंदर लीन हो जाते हैं। दूधमें घीकी भाँति तुम सर्वत्र विद्यमान हो।

श्रीनीलन् (तिरुमङ्गैयाळवार)

(जन्म—चोळ देशके किसी गाँवमें एक शैवके घर, पत्नीका नाम—कुमुदवल्ली, ये भगवान्‌के शार्ङ्गधनुषके अवतार माने जाते हैं।)

हाय ! मैं कितना नीच हूँ। किंतु साथ ही, अहा ! मेरे स्वामी कितने दयालु हैं ! प्रभो ! मेरे अपराधोंको क्षमा कीजिये और मुझे अपनी शरणमें लीजिये। प्रभो ! आज तुमने मुझे बचा लिया। प्रभो ! मैंने तुम्हारे साथ कितने अत्याचार किये, परंतु तुमने मेरे अपराधोंकी ओर न देखकर मेरी रक्षा की।

श्रीमधुर कवि आळवार

(इन्हें लोग गरुडका अवतार मानते हैं। आपका जन्म तिरुक्कोलूर नामक स्थानमें एक सामवेदी ब्राह्मण-कुलमें हुआ था।)

(गुरुकी स्तुतिमें ही इन्होंने निम्नलिखित शब्द कहे हैं—)

मैं इन्हें छोड़कर दूसरे किसी परमात्माको नहीं जानता। मैं इन्हींके गुण गाऊँगा, मैं इन्हींका भक्त हूँ। हाय ! मैंने अबतक संसारके पदार्थोंका ही भरोसा किया। मैं कितना अभिमानी और मूर्ख था। सत्य तो ये ही हैं। मुझे आज उसकी उपलब्धि हुई। अब मैं अपने शेष जीवनको इन्हींकी कीर्तिका चारों दिशाओंमें प्रचार करनेमें बिताऊँगा। इन्होंने आज मुझे वेदोंका तत्त्व बताया है। इनके चरणोंमें प्रेम करना ही मेरे जीवनका एकमात्र साधन होगा।

शैव संत माणिक वाचक

(जन्म—मदुराके पास वदावुर ग्राम, जाति—ब्राह्मण, तत्कालीन पाण्ड्यनरेशके प्रधान मन्त्री)

मेरा शरीर रोमाञ्चित और कम्पित है, मेरे हाथ ऊपर उठे हुए हैं; हे शिव ! सिसकते और रोते हुए मैं पुकारता हूँ; मिथ्या—असत्यका परित्याग करते हुए मैं आपकी जय बोलता हूँ, स्तुति करता हूँ। मेरे प्राणनाथ ! मेरे दोनों हाथ सदा आपकी ही पूजा करते रहेंगे।

संत श्रीनम्माळ्वार (शठकोपाचार्य)

(जन्मस्थान—तिरुक्कुरकूर [श्रीनगरी], पिताका नाम—कारिमारन्, माताका नाम—उडयनंगै, ये विष्वक्सेनके अवतार माने जाते हैं।)

पुण्यकर्मोंद्वारा अर्जित ज्ञानके बलसे ज्ञानीलोग कहा करते हैं—'प्रभुका वर्ण, दिव्य रूप, नाम तथा उनका श्रीविग्रह अमुक प्रकारके हैं।' परंतु उनका सारा प्रयास मेरे प्रभुकी महिमाका थाह पानेमें असमर्थ ही रहा। उनके ज्ञानकी ज्योति एक निरे टिमटिमाते हुए दीपकके समान है।

जो लोग अपने हृदयपर अपना अधिकार मानते हैं और उसे निष्कपट समझते हैं, उनकी यह धारणा अहंकारपूर्ण है। मैंने तो जब अपना हृदय हिरण्यकशिपुके शक्तिशाली वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेवाले प्रभु (श्रीनृसिंह) के चरणप्रान्तमें भेजा, वह मेरे हाथसे जाता रहा और अबतक हठपूर्वक उन्हींके पीछे पड़ा हुआ है—वहाँसे हटनेका नाम भी नहीं लेता।

उपासनाकी अनेकों भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं और विभिन्न बुद्धियोंसे अनेकों परस्परविरोधी मत निकले हैं तथा उन अनेक मतोंमें उन-उन मतोंके अनेकों उपास्य-देवोंका वर्णन है, जिनकी तुम्हींने अपने स्वरूपका विस्तार करके सृष्टि की है! ओ उपमारहित! मैं तो तुम्हारे ही चरणोंमें अपनी भक्तिका उद्घोष करूँगा।

निद्राको जीते हुए ऋषियों तथा अन्य उपासकों-के अनन्त जन्मोंकी व्यथाको यह हरण कर लेता है। उसके शक्तिशाली विग्रहका रहस्य निराला एवं स्वतन्त्र है। 'माखन-चोर!' इस अपमानबोधक नामके भावको हृदयङ्गम करना देवताओंके लिये भी कठिन है।

शैव संत अप्पार

(जन्म—६०० ई०। देहावसान—६८१ ई०। आयु—८१ वर्ष।)

मैं प्रतिदिन लौकिक पापमें डूब रहा हूँ; मुझे जो कुछ जानना चाहिये, उसे तनिक भी नहीं जानता; मैं सगे-सम्बन्धियोंकी तरह अवगुणोंमें तल्लीन होकर आगे चलनेका पथ नहीं देख पा रहा हूँ। नीलकण्ठ! कृपालु! हे अतिहि विराटानम् मन्दिरके अधिपति! मुझपर कृपा कीजिये, जिससे मैं आपके सुन्दर चरणोंका दर्शन कर सकूँ।

मेरा चञ्चल हृदय एकको छोड़कर तीव्रतासे दूसरेमें आसक्त हो जाता है; बड़ी तेजीसे किसीमें लगता है और उसी प्रकार उससे अलग हो जाता है। हे अतिहि विराटानम्के देव चन्द्रमौलि! मैं आपके चरणोंके शरणागत हूँ, आपने मेरी आत्माको बन्धन-मुक्त कर दिया है।

शैव संत सम्बन्ध

(तमिल प्रदेशके शैवाचार्योंमें सर्वश्रेष्ठ। जन्म—लगभग ६१९ ईस्वी। निर्वाणस्थान—शीयाली, तञ्जोर जिला)

आदर मन्दिरके शिवके लिये प्रेम पुष्प बिखेरो! तुम्हारे हृदयमें भगवान्‌की ज्योति प्रकाशित होगी, प्रत्येक बन्धनसे मुक्त होगे।

आदर मन्दिरके परम पवित्र शिवका कीर्तनगायन कभी मत भूलो! जन्मके बन्धन कट जायँगे और सांसारिक प्रपञ्च पीछे छूट जायँगे।

अपने परमप्रेमास्पद आदरमें स्वर्गिक और कमनीय कुसुम बिखेरो! तुम अपने शोकका अन्त कर दोगे, तुम अनुपम आनन्द (कल्याण) प्राप्त करोगे।

शैव संत सुन्दरमूर्ति

(शुद्धमार्गके आचार्य, जन्म-स्थान—दक्षिण आरकाट जिला। जाति—ब्राह्मण।)

मुझ पापीने प्रेम और पवित्र उपासनाके पथका परित्याग कर दिया है!

मैं अपने रोग और दुःखका अर्थ अच्छी तरह समझता हूँ। मैं पूजा करने जाऊँगा।

मूर्ख! मैं कबतक अपने प्राणधन, अनमोल रत्न—आरूर मन्दिरके अधिपतिसे दूर रह सकता हूँ।

संत बसवेश्वर

('वीरशैव' मतके प्रवर्तक, कर्नाटकके महात्मा। अस्तित्व-काल—बारहवीं शताब्दी (ई०), जन्म-स्थान—इंगलेश्वर बागेवाडी गाँव (कर्नाटक-प्रान्त), पिताका नाम—मादिराजा, माताका नाम—मादलाम्बिका। जाति—ब्राह्मण।)

एक ईश्वर ही हमारे पूज्य हैं। अहिंसा ही धर्म है। अधर्मसे प्राप्त वस्तुको अस्वीकार करना ही व्रत है। अनिच्छासे रहना ही तप है, किसीसे कपट न करना ही भक्ति है। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें समभावसे रहना ही समयाचार है। यही सत्य है। हे देव! इसके आप साक्षी हैं।

सच्चा भक्त वही है, जो अपनेसे मिलनेवाले सब भक्तोंको प्रणाम करता है। दूसरोंसे मृदु वचन बोलना जप है—एकमात्र तप है। इस नम्रतासे ही सदाशिवको प्राप्त कर सकते हैं। इन गुणोंके अतिरिक्त हमारे देव कोई दूसरी वस्तु पसंद नहीं करते।

मैं भक्त नहीं हूँ। मैं भक्तका केवल वेषधारी हूँ। निर्दयी, पापी और पतित मेरे नाम हैं। हे शिव! मैं आपके भक्तोंके घरका केवल बालक हूँ।

हे शिव! आप मुझे पंगु कर दीजिये, जिससे मैं जहाँ-तहाँ न फिरूँ। मुझे अन्धा कर दीजिये, जिससे मेरे नेत्र दूसरी वस्तु न देख सकें। मुझे बहरा बना दीजिये, जिससे मैं आपके नामोच्चारण और चर्चाके अतिरिक्त दूसरी बात न सुनूँ। मेरे मनकी ऐसी स्थिति कर दीजिये कि वह आपके भक्तोंकी चरण-सेवाकी इच्छाके अतिरिक्त कोई भी दूसरी इच्छा न करे।

चकोर चन्द्रमाके प्रकाशकी खोजमें रहता है। अम्बुज सूर्योदयकी चिन्ता करता है, भ्रमर सुगन्धकी चिन्ता करता है, मुझे परमात्माके नाम-स्मरणकी ही धुन है।

मेरा हाल ऐसा है जैसा सरसोंपर सागर बहनेसे सरसोंका होता है। यदि परमात्माके भक्त आते हैं तो मैं हर्षसे लोट-पोट हो जाता हूँ, हर्षसे फूला नहीं समाता, आनन्दसे मेरा हृदय-कमल खिल जाता है।

यह नहीं कहना चाहिये कि अमुक दिन अशुभ है और अमुक शुभ है। जो मनुष्य यह कहता है कि 'ईश्वर मेरे आश्रय हैं' उसके लिये सब दिन समान हैं। जिसका ईश्वरपर भरोसा है, विश्वास है, उसके लिये सब दिन एक-से हैं।

मनुष्यको चाहिये कि अपने आत्माको पहचाने, यह आत्मज्ञान ही उसके लिये गुरु है।

संत वेमना

[अठारहवीं सदीके पूर्वार्धके आस-पास। जन्म-स्थान—कोंडवीडु (गुण्टूर जिला), विहार-स्थल—प्रायः समस्त द्रविड़ प्रदेश। जाति—रेड्डी (शूद्रोंकी एक उपशाखा)। समाधिस्थल—सम्भवतः पामूर गाँव जिला कडपा।]

हे भगवान्! बुढ़ापेमें जब वात, पित्त एवं कफका प्रकोप बढ़ जाता है, नेत्रोंकी ज्योति क्षीण हो जाती है, मृत्यु समीप आ जाती है तब किस प्रकार मूर्ख मानव आपका अन्वेषण कर सकता है?

जीव तथा परमात्माका तत्त्व समझनेवाला ही ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है। एक बार ब्रह्मभावको प्राप्त प्राणी फिर सांसारिकताके मायाजालमें नहीं फँसता है। भला, मुक्ता (मोती) कहीं फिरसे अपना पूर्वरूप—जलबिंदुका रूप—पा सकता है?

साधुओंके सङ्गमें रहकर मनुष्य सभी नीच गुणोंसे—अवगुणोंसे मुक्त हो जाता है, चन्दनके लेपसे देहकी दुर्गन्ध दूर हो जाती है। संत-गोष्ठीके समान उत्तम कर्म दूसरा नहीं है।

मानसरोवरमें विहार करनेवाला हंस उसके जलसे अलिप्त ही रहता है। सच्चा योगी कर्ममय संसृतिके बीच रहते हुए भी उसके फलाफलमें निर्लिप्त रहता है। इसलिये फलकी आकाङ्क्षा रक्खे बिना ही मनुष्यको कर्म करना चाहिये।

मनुष्य पहले माताके गर्भसे जन्म लेता है, फिर पत्नीमें प्रवेश कर पुत्रके रूपमें पैदा होता है। इस प्रकार एक शरीर होनेपर भी उसके लिये माताएँ दो होती हैं।

जो हाथ हमें अमृतका पान कराता है, वह स्वयं उसका स्वाद अनुभव नहीं कर पाता; इसी प्रकार अपने आस-पास घूमनेवाले परम योगीका महत्त्व भी संसारी प्राणी समझ नहीं सकते।

गङ्गाधर शिव ही सच्चे देव हैं। स्वरके लिये संगीत ही (अनाहत नाद) कर्णमधुर वस्तु है। संसारमें स्वर्ण ही उपभोग्य धातु है। सोच-विचार कर देखें तो अङ्गज—कामदेव ही मृत्युका हेतु है। नैतिक पतन ही वास्तविक मृत्यु है। ऐसा वेमनाका दृढ़ विश्वास है।

परमात्माका इस विश्वसे पृथक् अस्तित्व नहीं है। समस्त ब्रह्माण्ड ही उनका शरीर है, वायु प्राण है, सूर्य, चन्द्र और अग्नि नेत्रसमूह हैं। इस प्रकार यह विश्व उन त्र्यम्बक महादेवका ही विराट् रूप है।

संत कवि तिरुवल्लुवर

(ये जातिके जुलाहे एवं मैलापुर (मद्रास) कस्बेके निवासी थे)

जिस प्रकार अक्षरोंमें 'अ' है, उसी प्रकार जगत्में भगवान् हैं।

विद्याका क्या सदुपयोग है, यदि सच्चिदानन्द भगवान‌के चरणपर विद्वान्‌का मस्तक नत नहीं है—विद्वान् भगवत्कृपाका पात्र नहीं है।

सज्जनोंके हृदय-कमलमें निवास करनेवाले भगवानके भक्त सदा वैकुण्ठमें रहेंगे।

इच्छारहित निर्विकल्प भगवान्‌का भजन करनेवालोंको कभी दुःखकी प्राप्ति नहीं होगी।

जो भगवान्‌के कीर्तन स्तवनमें भलीभाँति लगे रहते हैं, वे पाप-पुण्यसे परे रहते हैं—पाप-पुण्यके भागी नहीं होंगे।

भगवान् हृषीकेशके सत्य-पथपर सुदृढ़ रहनेवाले अमर रहेंगे।

अप्रतिम—अनुपम भगवान्‌के भजन और कृपाके बिना मानसिक चिन्ताका अन्त होना कठिन है।

कल्याण-स्वरूप करुणासागर भगवान्‌की कृपाके बिना अपार संसार-सागरको पार करना कठिन है।

जो सिर परमेश्वरके सम्मुख विनत नहीं होता, वह चेतनाशून्य इन्द्रियकी तरह व्यर्थ है।

जो लोग हमारे स्वामी परमेश्वरकी कृपा-ज्योति नहीं प्राप्त करते, क्या वे जन्म-मरणके सागरके पार जा सकते हैं!

(तमिल वेद 'कुरल'से)

भगवान् महावीर

(प्रेषक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

(जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर। बचपनका नाम—वर्द्धमान। जन्म आजसे करीब २५५४ वर्ष पूर्व, चैत्र शुक्ला १३। जन्मस्थान—विदेहप्रान्त, क्षत्रियकुण्ड नगर। पिताका नाम—सिद्धार्थ। माताका नाम—त्रिशला देवी। देहान्त—७२ वर्षकी आयुमें, कार्तिक कृष्ण ३० पावापुरीमें।)

धर्म-सूत्र

धर्म सर्वश्रेष्ठ मङ्गल है। (कौन सा धर्म?) अहिंसा, संयम और तप। जिस मनुष्यका मन उक्त धर्ममें सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतोंको स्वीकार करके बुद्धिमान् मनुष्य जिनद्वारा उपदिष्ट धर्मका आचरण करे।

छोटे-बड़े किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, अदत्त (बिना दी हुई वस्तु) न लेना, विश्वासघाती असत्य न बोलना—यह आत्म-निग्रही—सत्पुरुषोंका धर्म है।

जो रात और दिन एक बार अतीतकी ओर चले जाते हैं, वे कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य अधर्म (पाप) करता है, उसके वे रात-दिन बिल्कुल निष्फल जाते हैं।

जो रात और दिन एक बार अतीतकी ओर चले जाते हैं, वे कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात और दिन सफल हो जाते हैं।

जबतक बुढ़ापा नहीं सताता, जबतक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियाँ हीन (अशक्त) नहीं होतीं, तबतक धर्मका आचरण कर लेना चाहिये—बादमें कुछ नहीं होनेका।

जो मनुष्य प्राणियोंकी स्वयं हिंसा करता है, दूसरोंसे हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालोंका अनुमोदन करता है, वह संसारमें अपने लिये वैरको बढ़ाता है।

संसारमें रहनेवाले चर और स्थावर जीवोंपर मनसे, वचनसे और शरीरसे—किसी भी तरह दण्डका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसीलिये निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) घोर प्राणि-वधका सर्वथा परित्याग करते हैं।

ज्ञानी होनेका सार यही है कि वह किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। इतना ही अहिंसाके सिद्धान्तका ज्ञान यथेष्ट है। यही अहिंसाका विज्ञान है।

अपने स्वार्थके लिये अथवा दूसरोंके लिये, क्रोधसे अथवा भयसे—किसी भी प्रसङ्गपर दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोलना, न दूसरोंसे बुलवाना चाहिये।

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरोंको दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले।

श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्यसे भी पापकारी वाणी न बोले।

हँसते हुए भी पाप-वचन नहीं बोलना चाहिये।

आत्मार्थी साधकको दृश्य (सत्य), परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट—अनुभूत, वाचालतारहित और किसीको भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलना चाहिये।

कानेको काना, नपुंसकको नपुंसक, रोगीको रोगी और चोरको चोर कहना यद्यपि सत्य है तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिये। (क्योंकि इससे इन व्यक्तियोंको दुःख पहुँचता है।)

जो भाषा कठोर हो, दूसरोंको भारी दुःख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य ही क्यों न हो—नहीं बोलनी चाहिये। (क्योंकि उससे पापका आस्रव होता है।)

अस्तेनक-सूत्र

पदार्थ सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत—और तो क्या, दाँत कुरेदनेकी सींकके बराबर भी जिस गृहस्थके अधिकारमें हो, उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्ण संयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरोंको ग्रहण करनेके लिये प्रेरित करते हैं और न ग्रहण करनेवालोंका अनुमोदन ही करते हैं।

ब्रह्मचर्य-सूत्र

यह अब्रह्मचर्य अधर्मका मूल है, महादोषोंका स्थान है, इसलिये निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्गका सर्वथा परित्याग करते हैं।

आत्म-शोधक मनुष्यके लिये शरीरका शृङ्गार, स्त्रियोंका संसर्ग और पौष्टिक—स्वादिष्ट भोजन—सब तालपुट विषके समान महान् भयंकर हैं।

श्रमण तपस्वी स्त्रियोंके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, संकेत, चेष्टा, हाव-भाव और कटाक्ष आदिका मनमें तनिक भी विचार न लाये और न इन्हें देखनेका कभी प्रयत्न करे।

स्त्रियोंको रागपूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुषको कदापि नहीं करने चाहिये। ब्रह्मचर्यव्रतमें सदा रत रहनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये यह नियम अत्यन्त हितकर है और उत्तम ध्यान प्राप्त करनेमें सहायक है।

ब्रह्मचर्यमें अनुरक्त भिक्षुको मनमें वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोगकी आसक्ति बढ़ानेवाली स्त्री-कथाको छोड़ देना चाहिये।

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षुको स्त्रियोंके साथ बातचीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदाके लिये छोड़ देना चाहिये।

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु स्त्रियोंके पूर्वानुभूत हास्य, क्रीडा, रति, दर्प, सहसा-वित्रासन आदि कार्योंको कभी भी स्मरण न करे।

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षुको शीघ्र ही वासना-वर्द्धक पुष्टिकारक भोजन-पानका सदाके लिये परित्याग कर देना चाहिये।

जैसे बहुत ज्यादा ईंधनवाले जंगलमें पवनसे उत्तेजित

दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादासे अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारीकी इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसीके लिये भी हितकर नहीं होता।

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षुको शृङ्गारके लिये शरीरकी शोभा और सजावटका कोई भी शृङ्गारी काम नहीं करना चाहिये।

ब्रह्मचारी भिक्षुको शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श— इन पाँच प्रकारके काम-गुणोंको सदाके लिये छोड़ देना चाहिये।

देव-लोकसहित समस्त संसारके शारीरिक तथा मानसिक— सभी प्रकारके दुःखका मूल एकमात्र काम-भोगोंकी वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्धमें वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है।

जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्यका पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकालमें कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमानमें हो रहे हैं और भविष्यमें होंगे।

अपरिग्रह-सूत्र

प्राणिमात्रके संरक्षक ज्ञानपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थोंको परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थपर मूर्च्छाका— आसक्तिका रखना बतलाया है।

पूर्ण संयमीको धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मोंका परित्याग करके सर्वथा निर्मम होना तो और भी कठिन बात है।

जो संयमी ज्ञानपुत्र (भगवान् महावीर) के प्रवचनोंमें रत हैं, वे बिड़ और उद्भेद्य आदि नमक तथा तेल, घी, गुड़ आदि किसी भी वस्तुके संग्रह करनेका मनमें संकल्प तक नहीं करते।

ज्ञानी पुरुष संयम-साधक उपकरणोंके लेने और रखनेमें कहीं भी किसी भी प्रकारका ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीरतकपर भी ममता नहीं रखते।

संग्रह करना, यह अन्तर रहनेवाले लोभकी झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है—साधु नहीं है।

अरात्रि-भोजन-सूत्र

सूर्यके उदय होनेसे पहले और सूर्यके अस्त हो जानेके बाद निर्ग्रन्थ मुनिको सभी प्रकारके भोजन-पान आदिकी मनसे भी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

संसारमें बहुतसे त्रस और स्थावर प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं—वे रात्रिमें देखे नहीं जा सकते। तब रात्रिमें भोजन कैसे किया जा सकता है।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन— जो जीव इनसे विरत (पृथक्) रहता है, वह अनास्रव (आत्मामें पाप-कर्मके प्रविष्ट होनेके द्वार आस्रव कहलाते हैं, उनसे रहित) हो जाता है।

विनय-सूत्र

(इसी भाँति) धर्मका मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनयसे मनुष्य बहुत जल्दी श्लाघायुक्त सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्तिका सम्पादन करता है।

इन पाँच कारणोंसे मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता—

अभिमानसे, क्रोधसे, प्रमादसे, कुष्ठ आदि रोग और आलस्यसे।

जो गुरुकी आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इङ्गितों तथा आकारोंको जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

इन पंद्रह कारणोंसे बुद्धिमान् मनुष्य सुविनीत कहलाता है—

उद्धत न हो—नम्र हो, चपल न हो—स्थिर हो। मायावी न हो—सरल हो। कुतूहली न हो—गम्भीर हो। किसीका तिरस्कार न करता हो। क्रोधको अधिक समयतक न रखता हो—शीघ्र ही शान्त हो जाता हो, अपनेसे मित्रताका व्यवहार रखनेवालेके प्रति सद्भाव रखता हो, शास्त्रके अध्ययनका गर्व न करता हो, मित्रपर क्रोधित न होता हो, अप्रिय मित्रकी भी पीठ पीछे भलाई ही करता हो, किसी प्रकारका झगड़ा-फसाद न करता हो, किसीके दोषोंका भंडाफोड़ न करता हो, बुद्धिमान् हो, अभिजात अर्थात् कुलीन हो, लज्जाशील हो, एकाग्र हो।

शिष्यका कर्तव्य है कि वह जिस गुरुसे धर्म-प्रवचन सीखे, उसकी निरन्तर भक्ति करे। मस्तकपर

अञ्जलि चढ़ाकर गुरुके प्रति सम्मान प्रदर्शित करे। जिस तरह भी हो सके—मनसे, वचनसे और शरीरसे हमेशा गुरुकी सेवा करे।

अविनीतको विपत्ति प्राप्त होती है और विनीतको सम्पत्ति—ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

चतुरङ्गीय-सूत्र

संसारमें जीवोंको इन चार श्रेष्ठ अङ्गों—(जीवन-विकासके साधनों) की प्राप्ति बड़ी कठिन है—

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयममें पुरुषार्थ।

मनुष्य-शरीर पा लेनेपर भी सद्धर्मका श्रवण दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा, अहिंसाको स्वीकार करते हैं।

सौभाग्यसे यदि कभी धर्मका श्रवण हो भी जाय तो उसपर श्रद्धा होना अत्यन्त दुर्लभ है। कारण कि बहुत-से लोग न्याय-मार्गको—सत्य-सिद्धान्तको—सुनकर भी उससे दूर रहते हैं—उसपर विश्वास नहीं रखते।

सद्धर्मका श्रवण और उसपर श्रद्धा—दोनों प्राप्त कर लेनेपर भी उनके अनुसार पुरुषार्थ करना तो और भी कठिन है; क्योंकि संसारमें बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो सद्धर्म-पर दृढ़ विश्वास रखते हुए भी उसे आचरणमें नहीं लाते।

परंतु जो तपस्वी मनुष्यत्वको पाकर, सद्धर्मका श्रवण कर, उसपर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रव-रहित हो जाता है, वह अन्तरात्मापरसे कर्म-रजको झटक देता है।

जो मनुष्य निष्कपट एवं सरल होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसी-के पास धर्म ठहर सकता है। घीसे सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाशको पाती है, उसी प्रकार सरल शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाणको प्राप्त होता है।

अप्रमाद-सूत्र

जीवन असंस्कृत है—अर्थात् एक बार टूट जानेके बाद फिर नहीं जुड़ता, अतः एक क्षण भी प्रमाद न करो। प्रमाद, हिंसा और असंयममें अमूल्य यौवन-काल बिता देनेके बाद जब वृद्धावस्था आयेगी, तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा—तब किसकी शरण लोगे? यह खूब सोच-विचार लो।

प्रमत्त पुरुष धनके द्वारा न तो इस लोकमें ही अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोकमें! फिर भी धनके असीम मोहसे मूढ़ मनुष्य दीपकके बुझ जानेपर जैसे मार्ग नहीं दीख पड़ता, वैसे ही न्याय-मार्गको देखते हुए भी नहीं देख पाता।

संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियोंके लिये बुरे-से बुरे पाप-कर्म भी कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगनेका समय आता है, तब अकेला ही दुःख भोगता है, कोई भी भाई-बन्धु उसका दुःख बँटानेवाला—सहायता पहुँचानेवाला नहीं होता।

संयम-जीवनमें मन्दता लानेवाले काम-भोग बहुत ही लुभावने मालूम होते हैं, परंतु संयमी पुरुष उनकी ओर अपने मनको कभी आकृष्ट न होने दे। आत्मशोधक साधकका कर्तव्य है कि वह क्रोधको दबाये, अहंकारको दूर करे। मायाका सेवन न करे और लोभको छोड़ दे।

जैसे वृक्षका पत्ता पतझड़-ऋतुकालिक रात्रि-समूहके बीत जानेके बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्योंका जीवन भी आयु समाप्त होनेपर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिये हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

जैसे ओसकी बूँद कुशाकी नोकपर थोड़ी देरतक ही रहती है, वैसे ही मनुष्योंका जीवन भी बहुत अल्प है—शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिये हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

अनेक प्रकारके विघ्नोंसे युक्त अत्यन्त अल्प आयुवाले इस मानव-जीवनमें पूर्वसंचित कर्मोंकी धूल पूरी तरह झटक दे। इसके लिये हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

तेरा शरीर दिन-प्रतिदिन जीर्ण होता जा रहा है, सिरके बाल पककर श्वेत होने लगे हैं, अधिक क्या—शारीरिक और मानसिक सभी प्रकारका बल घटता जा रहा है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

जैसे कमल शरत्कालके निर्मल जलको भी नहीं छूता—अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी संसारसे अपनी समस्त आसक्तियाँ दूर कर सब प्रकारके स्नेह-बन्धनसे रहित हो जा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

प्रमाद-स्थान-सूत्र

प्रमादको कर्म कहा गया है और अप्रमाद अकर्म—अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमादयुक्त हैं, वे कर्म-बन्धन करनेवाली हैं और जो प्रवृत्तियाँ प्रमादरहित हैं, वे कर्म-बन्धन नहीं करतीं। प्रमादके होने और न होनेसे मनुष्य क्रमशः मूर्ख और पण्डित कहलाता है।

राग और द्वेष—दोनों कर्मके बीज हैं। अतः मोह ही कर्मका उत्पादन माना गया है। कर्म-सिद्धान्तके अनुभवी लोग कहते हैं कि संसारमें जन्म-मरणका मूल कर्म है और जन्म-मरण यही एकमात्र दुःख है।

(वीरवाणीके नवीन संस्करणमें संकलित)

आचार्य कुंदकुंद

(प्रेषक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

अज्ञानसे मोहित मतिवाला तथा राग-द्वेषादि अनेक भावोंसे युक्त मूढ पुरुष ही अपने साथ सम्बद्ध या असम्बद्ध शरीर, स्त्री, पुत्रादि, धन-धान्यादि तथा ग्राम-नगरादि सचित्त, अचित्त या मिश्र परद्रव्योंमें 'मैं यह हूँ, मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं, ये मेरे थे, मैं इनका था, ये मेरे होंगे, मैं इनका होऊँगा' इस प्रकारके झूठे विकल्प किया करता है। परंतु ज्ञानी पुरुषोंने कहा है, जीव चैतन्यस्वरूप तथा व्यापार (उपयोग) लक्षणवाला है।

आत्मा कहाँ जड द्रव्य है कि तुम जड पदार्थको 'यह मेरा है' इस प्रकार कहते हो!

विशुद्ध आत्मा ही परमार्थ है, मुक्ति है, केवल ज्ञान है, मुनित्व है। उस परमार्थमें स्थित हुए बिना जो भी तप करते हैं, व्रत धारण करते हैं, यह सब अज्ञान है। परमार्थसे दूर रहकर व्रतशील, तप आचरण करनेवाला निर्वाण-लाभ नहीं कर सकता।

अतत्त्वमें श्रद्धा और तत्त्वमें अश्रद्धा होना 'मिथ्यात्व' है। विषयकषायसे अन्य वृत्तिको अविरति या 'असंयम' कहते हैं। क्रोधादिसे होनेवाली जीवकी कलुषता 'कषाय' कहलाती है।

और मन-वचन-कायकी हेय एवं उपादेयरूप शुभाशुभ प्रवृत्तिमें जो उत्साह है, वह 'योग' कहलाता है। ये चार आस्रव ही कर्म—बन्धके कारण हैं। वस्तुतः राग-द्वेष और मोह ही कर्मबन्धके द्वार हैं। जिसमें अणुमात्र भी राग विद्यमान है, वह शास्त्रोंका ज्ञाता भले ही हो, आत्मा और अनात्माका ज्ञान उसे नहीं है। ज्ञानी निरीह होनेसे कोई भी इच्छा नहीं रखता। जीवगत प्रत्येक विभाव—दोषकी उत्पत्तिका कारण पर-द्रव्य है; जिसे विवेक-ज्ञान हो चुका है, वह पर पदार्थोंमें अहं-ममत्व-बुद्धि नहीं रखता। जबतक अहं-मम-बुद्धि है, तबतक वह अज्ञानी है।

रागादि आत्माके अशुद्ध परिणाम हैं। पर-पदार्थोंपर क्रोध करना वृथा है। वे तुम्हें अच्छा या बुरा करनेको कहनेको नहीं आते। शुभ और अशुभ मनकी कल्पना है। इन्द्रियोंसे प्राप्त सुख दुःखरूप है—पराधीन है, बाधाओंसे परिपूर्ण, नाशवान्, बन्धका कारण और अतृप्तिकर है। जिसे देहादिमें अणुमात्र भी आसक्ति है, वह शास्त्रोंका ज्ञाता होनेपर भी मुक्त नहीं हो सकता। ('आचार्य कुन्दकुन्दके तीन रत्न' पुस्तकसे संकलित)

मुनि रामसिंह

(उच्चकोटिके जैनमुनि, कविकाल ११ वीं शताब्दी, सुप्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण हेमचन्द्राचार्यके पूर्ववर्ती ।)

जीव मोहवशात् दुःखको सुख और सुखको दुःख मान बैठा है, यही कारण है कि इसे मोक्ष-लाभ नहीं हो रहा है।

इन्द्रियोंके विषयमें तू दौड़ मत रे। पाँचोंमें इन दोको तो अवश्य निवारण कर—एक तो जिह्वा और दूसरा उपस्थ।

न द्वेष कर, न रोष कर, न क्रोध कर। क्रोध धर्मको नष्ट कर देता है। और धर्म नष्ट होनेसे मनुष्य-जन्म ही व्यर्थ हो गया।

मुण्डितोंका अन्त नहीं, ग्रन्थ छोड़ और हम सुंदर। अरे तू केवल यही सीख, जिससे कि जरा और मरणका क्षय कर सके।

प्राणियोंके वधसे नरक और अभयदानसे स्वर्ग मिलता है। ये दो पन्थ हैं, चाहे जिसपर चला जा।

हे ज्ञानवान् योगी! विना दयाके धर्म हो नहीं सकता। कितना ही पानी बिलोया जाय, उससे हाथ चिकना होनेका नहीं।

मुनि देवसेन

(उच्चकोटिके जैन-संत, मालवा प्रदेशके निवासी, समय १०वीं शताब्दी)

ऐसा दुर्वचन मत कह कि 'यदि धन प्राप्त हो जाय तो मैं धर्म करूँ।' कौन जाने यमदूत आज बुलाने आ जायँ या कल।

अधिक क्या कहें—जो अपने प्रतिकूल हो, उसे दूसरोंके प्रति कभी न करो। धर्मका यही मूल है।

वही धर्म विशुद्ध है, जो अपनी कायासे किया जाता है और धन भी वही उज्ज्वल है, जो न्यायसे प्राप्त होता है।

हे जीव! स्पर्शेन्द्रियका लालन मत कर। लालन करनेसे यह शत्रु बन जाता है। हथिनीके स्पर्शसे हाथी साँकल और अंकुशके वशमें पड़ा है।

हे जीव! जिह्वेन्द्रियका संवरण कर। स्वादिष्ट भोजन अच्छा नहीं होता। चारेके लोभसे मछली स्थलका-दुःख सहती है और तड़प-तड़पकर मरती है।

अरे मूढ! घ्राणेन्द्रियको वशमें रख और विषय-कषायसे बच। गन्धका लोभी भ्रमर कमल-कोषके अंदर मूर्छित पड़ा है।

रूपसे प्रीति मत कर। रूपपर खिंचते हुए नेत्रोंको रोक ले। रूपासक्त पतिंगेको तू दीपकपर पड़ते हुए देख।

हे जीव! अच्छे मनोमोहक गीत सुननेकी लालसा न कर। देख, कर्णमधुर संगीत-रससे हरिणका विनाश हुआ।

जब एक ही इन्द्रियके स्वच्छन्द विचरणसे जीव सैकड़ों दुःख पाता है, तब जिसकी पाँचों इन्द्रियाँ स्वच्छन्द हैं, उसका तो फिर पूछना ही क्या।

संत आनन्दघनजी

[प्रेषक—सेठ तेजराजजी लक्ष्मीचन्द जैन]

[गुजरात या राजस्थानके आस-पासके निवासी जैनमुनि, पूर्वाश्रमका नाम—लाभानंद या लाभविजय, जीवन-काल—विक्रमकी १७ वीं शताब्दीका अन्त, स्थान-(अन्तिम दिनोंमें)-मेता (जोधपुर)]

क्या सोवे ? उठ, जाग, बाउरे॥ क्या०॥
अंजलि जल ज्यूँ आयु घटत है।
देत पहोरिया घरिय घाउ रे॥ १॥
इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनीन्द्र चले
कुण राजा पत साह राउ रे॥
ममत ममत भवजलधि पायके।
भगवत भजन बिन भाउ न्याउ रे॥ २॥
कहा विलंब करे अब बाउरे।
तरि भवजलनिधि पार पाउ रे॥
आनंदघन चेतनमय मूरति।
सुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे॥ ३॥

राम कहो, रहमान कहो कोउ, कान्ह कहो, महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥ १॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड स्वरूप री॥ २॥
निज पद रमै राम सो कहिये, रहिम करै रहमान री।
करषै कर्म कान सो कहिये, महादेव निर्वान री॥ ३॥
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चिह्नै सो ब्रह्म री।
इस विध साधो आप अनदघन, चेतनमय निःकर्म री॥ ४॥

मेरे घट ग्यान-भानु भयो भोर।
चेतन चकवा, चेतना चकवी, भागो बिरहको सोर॥
फैली चहुँ दिस चतुर भाव रुचि, मिट्यो भरम-तम जोर।
आपकी चोरी आप ही जानत, और कहत ना चोर॥
अमल जु कमल विकच भए भूतल, मंद विषय-ससि-कोर।
'आनंदघन' एक बल्लभ लागत, और न लाख किरोर॥

अब मेरे पति-गति देव निरंजन।
भटकूँ कहाँ, कहा सिर पटकूँ, कहा करूँ जन-रंजन॥
खंजन-दृगमें दृग न लगाऊँ, चाहुँ न चितवन अंजन।
संजन घट अंतर परमातम, सकल दुरित-भय-भंजन॥
एह काम-गति, एह काम-घट, एही सुधारस-मंजन।
'आनँदघन' प्रभु घट-वन-केहरि, काम-मतङ्ग-गज-गंजन॥

मस्त योगी ज्ञानसागर

कौन किसीका मीत जगतमें कौन किसीका मीत ।
मात तात और जात सजनसे कोइ न रहे निर्चीत ॥
सब ही जग अपने स्वारथके परमारथ नहिं प्रीत ।
स्वारथ बिनसे सगा न होगी, मीता मनमें चीत ॥

ऊठ चलेगा आप अकेलो तूही तू सुविदीत ।
को नहीं तेरा, तू नहिं किसका, यही अनादी रीत ॥
ताते एक भगवान भजनकी राखो मनमें चींत ।
ज्ञानसागर कहे यह धनासरी गायो आतमगीत ॥

जैन योगी चिदानन्द

एती सीख हमारी प्यार चित में धर ।
थोडे-से जीवन के कारण अरे नर काहे छल परपंच करो ॥१॥
झूठ कपट पारद्रोह करत तुम, अरे नर परभव को न डरो ।
चिदानन्द प्रभु प्राण जिवनकूँ मोतियन थाल भरो ॥

श्रीजिनदास

करम की कैसे कटे फासी ।
संजम मित्र मुख मज्या तजकर दुरगति दिश मागी ॥
धर्म उपर तैने हाथ उपाड्यो, ग्यान गयो नासी ।
हिंसा करी हार हियडा की, दया करी दासी ॥
कामदार थारे क्रोध बन्यो है, ममता बनि मासी ।
कहे जीनदास मैं पाप प्रमादे पायो तन रासी ।
नकी खरची मे पंरु न बाँधी खाद खोइ वासी ॥

करम की ऐसे कटे फासी ।
ग्यान जु गंगा, दया द्वारका, क्रिया करी कासी ।
जेने जमुना बीच नहायो, पाप गयो नासी ॥
त्याग दीनी तृस्ना तन की, जान्यो जगत रासी ।
दुर्गति के सिर दाव लगाई, मनमें सुकृत मासी ॥
जनम सुधार कर साधु-संत की आतम हुइ प्यासी ।
उनके चरण जिनदास नमत है, मत करो मेरी हासी ॥

आचार्य श्रीभिक्षुस्वामीजी (भीखणजी)

'अंधा और पँगुल—दोनों एक साथ मिलकर अटवीको पार कर डालते हैं; उसी तरह ज्ञानक्रियाके संयोगसे ही मोक्ष पाता है । क्रिया ज्ञान नहीं है । वह जानती-देखती नहीं। क्रिया तो कर्मको रोकने, तोड़ने रूप—संवर निर्जरा रूप भाव है । ज्ञान और दर्शन उपयोग हैं । वे बतलाते हैं—किस ओर दृष्टि रखना और किस मार्गपर चलना । जो क्रियाको उपयोग कहते हैं, उनके मिथ्यात्वका गुरुतर रोग है । इसी तरह जो ज्ञानको क्रिया कहते हैं, उनके भी मिथ्यात्व है । ज्ञान और क्रिया भिन्न-भिन्न हैं। दोनोंको एक मत जानो। दोनोंके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं । ज्ञानसे जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं, क्रियासे सन्मार्गपर चला जाता है ।

एक आदमी जानता है, पर करता नहीं । दूसरा करता है, पर जानता नहीं । ये दोनों ही मोक्ष नहीं पा सकते । जो जानता है (कि क्या करना) और (जो करना है वह) करता है, वही मोक्ष पाता है ।

ताँबेके पैसेकी भी कीमत है और चाँदीके रुपयेकी भी कीमत होती है । इन दोनोंमें किसीको पास रखनेसे सौदा मिल सकता है । परन्तु भेषधारी तो उस नकली रुपयेको चलानेवाले हैं, जिससे सौदा मिलना तो दूर रहा, उल्टी फजीहत होती है ।

यदि तुम्हे साधु-भावका पालन असम्भव मालूम दे तो तुम श्रावक ही कहलाओ और अपने शक्त्यनुसार व्रतोंका अच्छी तरह पालन करो । साधु बनकर दोषोंका सेवन मत करो । साधु-जीवनमें ढिलाई लानेकी चेष्टा मत करो ।

पैसेको पानीमें डालनेसे वह डूब जाता है । पर उस पैसेको तपा और पीटकर उसकी कटोरी बना ली जाय और पानीपर छोड़ दी जाय, तो वह तैरने लगेगी । इस कटोरीमें दूसरे पैसेको रखनेसे वह भी कटोरीके साथ तैरता रहेगा । इस तरह संयम—इन्द्रिय-दमन और क्रोधादिके उपशमसे तथा तपसे आत्माको कृश कर हल्का बनाओ । कर्मभारके दूर होनेसे आत्मा स्वयं भी संसार-समुद्रके पार पहुँचेगी और अपने साथ दूसरोंका निस्तार करनेमें भी सफल होगी ।

जो लोग सच्चे धार्मिक हैं, उनके अंदर एक ऐसी स्थिरता होती है, जो सम्पत्-विपत्से विचलित नहीं होती । आध्यात्मिक

जीवनका सार ही यह है कि भयानक-से-भयानक विपत्ति भी उसे डिगा नहीं सकती। जो आत्मवान् हैं, वे दुनियासे ऊपर रहते हैं, दुनियाको उन्होंने जीत लिया है। उनपर गोलियाँ बरस रही हों, तो भी वे सच बोल सकते हैं। उनकी बोटी-बोटी भी काटी जाय, तो भी प्रतिशोधकी भावना उनके हृदयमें आग नहीं लगा सकती। उनकी दृष्टि विश्वव्यापिनी होती है। इससे किसी सांसारिक आसक्ति या स्वार्थमें रत होना वे मूर्खता और व्यर्थता समझते हैं। बलिदान, जो कीमतका विचार नहीं करता तथा आत्मोत्सर्ग, जो बदलेमें कोई चीज नहीं चाहता, यही उनका नित्य जीवन होता है।

भगवान् बुद्ध

(बौद्धधर्मके आदिप्रवर्तक, प्रथम नाम—सिद्धार्थ, गोत्र गौतम होनेसे लोग इन्हें गौतमबुद्ध भी कहते हैं। पिताका नाम—शुद्धोधन माताका नाम—माया। जन्म ५५७ वर्ष ईसापूर्व।)

यहाँ (संसारमें) वैरसे वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैरसे ही शान्त होता है, यही सनातन धर्म (नियम) है। (धम्मपद १। ५)

अन्य (अज्ञ लोग) नहीं जानते कि हम इस (संसार) से जानेवाले हैं। जो इसे जानते हैं, फिर उनके मनके (सभी विकार) शान्त हो जाते हैं। (धम्मपद १। ६)

(जो) उद्योगी, सचेत, शुचि कर्मवाला तथा सोचकर काम करनेवाला है और संयत, धर्मानुसार जीविकावाला एवं अप्रमादी है, (उसका) यश बढ़ता है। (धम्मपद २। ४)

मत प्रमादमें फँसो, मत कामोंमें रत होओ, मत काम-रतिमें लिप्त हो। प्रमादरहित (पुरुष) ध्यान करके महान् सुखको प्राप्त होता है। (धम्मपद २। ७)

अहो! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनारहित हो निरर्थक काठकी भाँति पृथ्वीपर पड़ रहेगा। (धम्मपद ३। ९)

इस कायाको फेनके समान जानो, या (मद) मरीचिकाके समान मानो। फंदेको तोड़कर, यमराजको फिर न देखनेवाले बनो। (धम्मपद ४। ३)

ताजे दूधकी भाँति किया पापकर्म (तुरंत) विकार नहीं लाता, वह भस्मसे ढँकी आगकी भाँति दग्ध करता, अज्ञ-जनका पीछा करता है। (धम्मपद ५। १२)

दुष्ट मित्रोंका सेवन न करे, न अधम पुरुषोंका सेवन करे। अच्छे मित्रोंका सेवन करे, उत्तम पुरुषोंका सेवन करे। (धम्मपद ६। ३)

जैसे ठोस पहाड़ हवासे कम्पायमान नहीं होता, ऐसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसासे विचलित नहीं होते। (धम्मपद ६। ६)

सारथिद्वारा सुदान्त (=सुशिक्षित) अश्वोंकी भाँति जिसकी इन्द्रियाँ शान्त हैं, जिसका अभिमान नष्ट हो गया, (और) जो आस्रवरहित है, ऐसे उस (पुरुष) की देवता भी स्पृहा करते हैं। (धम्मपद ७। ५)

यदि पुरुष (कभी) पाप कर डाले तो उसे पुनः-पुनः न करे, उसमें रत न हो; (क्योंकि) पापका संचय दुःख (का कारण) होता है। (धम्मपद ९। २)

यदि पुरुष पुण्य करे तो उसे पुनः-पुनः करे, उसमें रत हो; (क्योंकि) पुण्यका संचय सुखकर होता है। (धम्मपद ९। ३)

कठोर वचन न बोलो, बोलनेपर (दूसरे भी वैसे ही) तुम्हें बोलेंगे, दुर्वचन दुःखदायक (होते हैं), (बोलनेसे) बदलेमें तुम्हें दण्ड मिलेगा। टूटा काँसा जैसे निःशब्द रहता है, (वैसे) यदि तुम अपनेको (निःशब्द रक्खो) तो तुमने निर्वाणको पा लिया, तुम्हारे लिये कलह (हिंसा) नहीं रही। (धम्मपद १०। ६)

पाप-कर्म करते समय मूढ़ (पुरुष उसे) नहीं जानता, पीछे दुर्बुद्धि अपने ही कर्मोंके कारण आगसे जलेकी भाँति अनुताप करता है। (धम्मपद १०। ८)

जिस पुरुषकी आकांक्षाएँ समाप्त नहीं हो गयीं, उस मनुष्यकी शुद्धि न नंगे रहनेसे, न जटासे, न पङ्क (लपेटने) से, न फाका (उपवास) करनेसे, न कड़ी भूमिपर सोनेसे, न धूल लपेटनेसे और न उकड़ूँ बैठनेसे होती है। (धम्मपद १०। ११)

पाप (नीच धर्म) का सेवन न करे, न प्रमादसे लिप्त हो, झूठी धारणाका सेवन न करे, (आवागमन) लोक (जन्म-मरण)-वर्द्धक नहीं बनना चाहिये। (धम्मपद १३। १)

उत्साही बने, आलसी न बने, सुचरित धर्मका आचरण करे, धर्मचारी (पुरुष) इस लोक और परलोकमें सुखपूर्वक सोता है। सुचरित धर्मका आचरण करे, दुश्चरित कर्म (धर्म) का सेवन न करे। (धम्मपद १३। ३)

धर्मचारी पुरुष जैसे बुलबुलेको देखता है, वैसे (मरु-) मरीचिकाको देखता है, लोकको वैसे ही (जो पुरुष) देखता है, उसकी ओर यमराज (आँख उठाकर) नहीं देख सकता। (धम्मपद १३। ४)

यदि रुपयों (कहापण) की वर्षा हो, तो भी (मनुष्यकी) कामों (भोगों) से तृप्ति नहीं हो सकती। (सभी) काम (भोग) अल्प-स्वाद (और) दुःखद हैं, यों जानकर पण्डित देवताओंके भोगोंमें भी रति नहीं करता; और सम्यक्‌संबुद्ध (बुद्ध) का श्रावक (अनुयायी) तृष्णाको नाश करनेमें लगता है। (धम्मपद १४। ९)

रागके समान अग्नि नहीं, द्वेषके समान मल नहीं, (पाँच) स्कन्धों* के समान दुःख नहीं, शान्तिसे बढ़कर सुख नहीं। (धम्मपद १५। ७)

प्रिय (वस्तु) से शोक उत्पन्न होता है, प्रियसे भय उत्पन्न होता है, प्रिय (के बन्धन) से जो मुक्त है, उसे शोक नहीं है, फिर भय कहाँसे (हो)। (धम्मपद १६। ५)

कामसे शोक उत्पन्न होता है। (धम्मपद १६। ७)

जो चढ़े क्रोधको भ्रमण करते रथकी भाँति पकड़ ले, उसे मैं सारथि कहता हूँ, दूसरे लोग लगाम पकड़नेवाले (मात्र) हैं। (धम्मपद १७। २)

अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको साधु (भलाई) से जीते, कृपणको दानसे जीते, झूठ बोलनेवालेको सत्यसे (जीते)। (धम्मपद १७। ३)

सच बोले, क्रोध न करे, थोड़ा भी माँगनेपर दे; इन तीन बातोंसे (पुरुष) देवताओंके पास जाता है। (धम्मपद १७। ४)

एक ही आसन रखनेवाला, एक शय्या रखनेवाला, अकेला विचरनेवाला (बन), आलस्यरहित हो, अपनेको दमन कर अकेला ही वनान्तमें रमण करे। (धम्मपद २१। १६)

तृष्णाके पीछे पड़े प्राणी बँधे खरगोशकी भाँति चक्कर काटते हैं; संयोजनों (मनके बन्धनों) में फँसे (जन) पुनः-पुनः चिरकालतक दुःख पाते हैं। (धम्मपद २४। ९)

बौद्ध संत सिद्ध श्रीसरहपाद या सरहपा

(वज्रयानी चौरासी सिद्धोंमें आदिम सिद्ध, इन्हें कई लोग राहुलभद्र या सरोजवज्रके नामसे भी पुकारते हैं। अस्तित्वकाल— ई० ६३३ स्थान—पूर्वीप्रदेशके किसी नगरके निवासी। जाति—ब्राह्मण, बादमें बौद्ध)

यदि परोपकार नहीं किया और न दान किया तो इस संसारमें आनेका फल ही क्या; इससे तो अपने-आपका उत्सर्ग कर देना ही अच्छा है।

हे नाविक! चित्तको स्थिर कर सहजके किनारे अपनी नौका लिये चल, रस्सीसे खींचता चल। और कोई उपाय नहीं।

सिद्ध श्रीतिल्लोपाद (तिलोपा)

(वज्रयानके चौरासी सिद्धोंमें एक प्रधान सिद्ध भिक्षु, नाम प्रज्ञाभद्र, अस्तित्वकाल—१०वीं शताब्दी, जन्म स्थान—बिहार, जाति—ब्राह्मण, गुरुका नाम—विजयपाद (कण्हपा या कृष्णपादके शिष्य)

सहजकी भावनासे चित्तको तू अच्छी तरह विशुद्ध कर ले। इसी जीवनमें तुझे सिद्धि प्राप्त होगी और मोक्ष भी।

मैं भी शून्य हूँ, जगत् भी शून्य है, त्रिभुवन भी शून्य है। महासुख निर्मल सहजस्वरूप है, न वहाँ पाप है न पुण्य।

---

* रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये पाँच स्कन्ध हैं। वेदना, संज्ञा, संस्कार विज्ञानके अंग हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ही रूपस्कन्ध हैं। जिसमें न भारीपन है और जो न स्थान घेरता है, वह विज्ञानस्कन्ध है। रूप (Matter) और विज्ञान (Mind)—इन्हींके मेलसे सारा संसार बना है।

महात्मा ईसामसीह

जिनके अंदर दैन्यभाव उत्पन्न हो गया है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान्का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होगा ।

जो आर्तभावसे रोते हैं, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें भगवान्की ओरसे आश्वासन मिलेगा ।

विनयी पुरुष धन्य हैं, क्योंकि वे पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेंगे । जिन्हें धर्माचरणकी तीव्र अभिलाषा है, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें पूर्णताकी प्राप्ति होगी ।

दयालु पुरुष धन्य हैं; क्योंकि वे ही भगवान्की दयाको प्राप्त कर सकेंगे ।

जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे धन्य हैं; क्योंकि ईश्वरका साक्षात्कार उन्हींको होगा ।

शान्तिका प्रचार करनेवाले धन्य हैं; क्योंकि वे ही भगवान्के पुत्र कहे जायँगे ।

धर्मपर दृढ़ रहनेके कारण जिन्हें कष्ट मिलता है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान्का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होता है ।

यदि तुम्हारा दक्षिण नेत्र तुम्हें सन्मार्गसे भ्रष्ट करनेका कारण बने तो उसे उखाड़कर दूर फेंक दो; क्योंकि तुम्हारे लिये यह हितकर है कि तुम्हारा एक अङ्ग विनष्ट हो, न कि समग्र शरीर नरकमें डाला जाय ।

अनाचारका प्रतिरोध न करो; किंतु जो कोई तुम्हारे दक्षिण कनपटीपर आघात करे, उसकी ओर दूसरा कनपटी भी फेर दो ।

अपने शत्रुओंसे प्यार करो, और जो तुम्हारा अनिष्ट चाहें, उन्हें आशीर्वाद दो; जो तुमसे घृणा करें, उनका मङ्गल करो और जो तुम्हारी निन्दा अथवा तुमसे द्वेष करें और तुम्हें सतायें, उनके लिये प्रभुसे प्रार्थना करो ।

कोई भी दो प्रभुओंकी सेवा नहीं कर सकता; क्योंकि चाहे वह एककी घृणा करेगा और दूसरेको प्यार करेगा, अथवा वह एकमें अनुरक्त होगा और दूसरेसे विरक्त होगा । तुम ईश्वर और धन-देवता दोनोंकी सेवा एक साथ नहीं कर सकते । अपने जीवनके लिये उद्विग्न न हो कि तुम क्या खाओगे, अथवा क्या पीओगे और न शरीरके लिये कि तुम क्या पहनोगे ।

याचना करो और तुम्हें दिया जायेगा; अन्वेषण करो और तुम पा जाओगे, द्वार खटखटाओ और तुम्हें खोल दिया जायगा ।

यदि मैं मनुष्यों और स्वर्गदूतोंकी बोलियाँ बोलूँ और 'प्रेम' न रक्खूँ तो मैं ठनठनाता हुआ पीतल और झनझनाती झाँझ हूँ और यदि मैं नबूवत कर सकूँ और सब भेदोंके ज्ञानको समझूँ तथा मुझे यहाँतक विश्वास हो कि मैं पहाड़ोंको हटा दूँ पर प्रेम न रक्खूँ तो मैं कुछ भी नहीं ।

प्रेम वह सुनहरी कुञ्जी है, जो मानवोंके हृदयोंको खोल देती है ।

महात्मा जरथुस्त्र

ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, वह बटोरकर रखनेके लिये नहीं, प्रत्युत योग्य पात्रोंको देनेके लिये है । हमलोगोंको एक जगह बँधे तालाबके जलकी तरह न बनकर बहती नदी बनना चाहिये । इस प्रकार दूसरोंको देनेसे हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल अथवा धर्म कभी घटते नहीं, उलटे बढ़ते हैं । ऐसे मनुष्यको ईश्वर अधिकाधिक देता ही रहता है और ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है, त्यों ही त्यों हमारे द्वारा मनुष्यसेवा भी अधिक होती है ।

ईश्वर एक है । वह सर्वोपरि है और यही सारे जगत्का उत्पन्न करनेवाला है । सारी सृष्टि उसीमेंसे निकली है और उसीमें लय हो जाती है । विश्वमें जो कुछ भी हो रहा है, वह केवल उसके कारण ही है । ईश्वर निराकार प्रभु है । सर्वत्र व्यापक-सर्वव्यापी अविनाशी स्वामी है । वह सब प्रकारसे पूर्ण है और उसकी सम्पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक जीव प्रयत्नवान है ।

योगी जालंधरनाथ

[योगी मत्स्येन्द्रनाथजी (मछीन्द्रनाथजी) के गुरु, कोई-कोई इन्हें उनका गुरुभाई भी मानते हैं। इनके इतिवृत्तके बारेमें अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं; तथ्य क्या है, कहा नहीं जा सकता।]

थोड़ो खाइ तो कलप-झलप; घणो खाइ तौ रोगी।
दुहूँ पखां की संधि बिचारै ते को बिरला जोगी॥
यह संसार कुबुधि का खेत। जबलगि जीव, तबलगि चेत॥
आँख्याँ देखै, कानाँ सुणै। जैसा बाए वैसा लुणै॥

थोड़ा खाता है तो भूखके मारे कल्पना-जल्पना करता है, अधिक खाता है तो रोगी हो जाता है। कोई विरला योगी ही दोनों पक्षोंकी सन्धिका विचार करता है अर्थात् युक्त आहार करता है।

योगी मत्स्येन्द्रनाथ

(नाथ-परम्पराके आदि आचार्य, जालंधरनाथजीके शिष्य एवं गोरखनाथजीके गुरु। अस्तित्वकाल अनुमानतः विक्रमकी दसवीं शताब्दीके आस-पास।)

अवधू रहिबा हाटे बाटे रूख बिरख की छाया।
तजिबा काम क्रोध और त्रिस्ना और संसार की माया॥

हाट, बाजार, या वृक्ष-पेड़की छायामें कहीं रहो; काम, क्रोध, तृष्णा और संसारकी मायाका त्याग करो।

योगी गुरु गोरखनाथ

(महान् योगी और सुप्रसिद्ध महापुरुष, जीवन वृत्तान्त आदिके बारेमें अनेकों धारणाएँ हैं। समय—विक्रम संवत्‌की दसवीं शताब्दीके अन्तमें अथवा ग्यारहवीं शताब्दीके आदिमें। ये सुप्रसिद्ध चौरासी योगी मत्स्येन्द्रनाथके शिष्य हैं।)

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरै धरिबा पांव।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणत गोरष रांव॥
मन मैं रहिणां, भेद न कहिणां, बोलिबा अंमृत बांणीं।
आगिला अगनी होइबा अवधू, तौ आपण होइबा पांणीं॥
गोरष कहै सुणहु रे अवधू जग मैं ऐसै रहणां।
आँषे देषिबा, कांनैं सुणिबा, मुष थैं कछू न कहणां॥
नाथ कहै तुम आपा राषौ, हठ करि बाद न करणां।
यहु जग है कांटे की बाड़ी, देषि देषि पग धरणां॥

अचानक हबककर नहीं बोल उठना चाहिये, पाँव पटकते हुए नहीं चलना चाहिये। धीरे-धीरे पैर रखना चाहिये। गर्व नहीं करना चाहिये। सहज-स्वाभाविक रहना चाहिये। यह गोरखनाथका उपदेश है।

मनमें (अन्तर्मुख वृत्तिसे) रहना चाहिये। (स्वानुभूति या अनुभूतिका) भेद—रहस्य किसीसे नहीं कहना चाहिये। मीठी वाणी बोलनी चाहिये। सामनेवाला आदमी आगबबूला हो जाय तो अपने पानी हो रहना चाहिये (क्रोधके बदले क्रोध न करके विनय का प्रयोग करना चाहिये)।

गोरखनाथ कहते हैं कि संसारमें ऐसे (द्रष्टा-साक्षीकी भाँति) रहना चाहिये कि आँखसे सब कुछ देखे, कानसे सुने, परंतु मुँहसे कुछ भी कहे नहीं।

गोरखनाथ कहते हैं कि तुम अपना आपा रक्खो (आत्म-स्वरूपमें स्थित रहो)। हठपूर्वक वाद-विवाद मत करो। यह जगत् काँटोंकी वाड़ी है, देख-देखकर पैर रखना चाहिये। (वाद-विवादके काँटोंमें उलझनेसे साधन भ्रष्ट हो जाता है।)

स्वामी बनखंड जाऊँ तो क्षुध्या बिआपै, नग्री जाऊँ त माया।
भरि भरि खाऊँ त बिंद बियापै, क्यूं सीझंत जल ब्यंद की काया॥
खाये भी मरिये, अणखाये भी मरिये, गोरख कहै पूता संजमि ही तरिये॥
धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा, अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं।
हठ न करिबा, पड़्या न रहिबा यूं बोल्या गोरख देवं॥

स्वामिन्, वनमें जाता हूँ तो भूख लग जाती है। शहरमें जाता हूँ तो माया भगती और खींच लेती है, पेट भर-भर खाता हूँ तो नींद आने लगती है। जलकी बूँदसे बनी हुई इस कायाको कैसे सिद्ध किया जाय?

(बहुत) खानेसे भी मरता है, बिल्कुल न खानेसे भी मर जाता है। गोरखनाथ कहते हैं कि बच्चा! संयमसे रहनेपर ही निस्तार होता है।

न तो खानेपर टूट पड़ना चाहिये और न बिल्कुल भूखा मरना चाहिये। रात-दिन ब्रह्माग्निका भेद लेना चाहिये। अर्थात् ब्रह्मरूप अग्निमें संयमरूप आहुति देनी चाहिये। न हठ करना चाहिये न (आलस्यमें) पड़े रहना चाहिये। यों गोरखनाथने कहा।

हसिबा खेलिबा धरिबा ध्यान, अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान।
हँसै खेलै न करै मन भंग, ते निहचल सदा नाथ कै संग॥

हँसना, खेलना और ध्यान धरना चाहिये। रात-दिन ब्रह्मज्ञानका कथन करना चाहिये। इस प्रकार (संयमपूर्वक) हँसते-खेलते हुए जो अपने मनको भंग नहीं करते, वे निश्चल होकर सदाके नाथ स्वरूप रहते हैं।

अरध उरध मुनि मन धरै, पाँचौ इन्द्री निग्रह करै।
ब्रह्म अगनि में होमै काया, तास महादेव बंदै पाया॥

जो अभ्यासका जाप करता है, ब्रह्मरन्ध्र (शून्य) में मनको लीन किये रहता है, पाँचों इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है, ब्रह्मानुभूतिरूप अग्निमें अपने भौतिक अस्तित्व (काया) की आहुति कर डालता है, (योगीश्वर) महादेव भी उसके चरणोंकी वन्दना करते हैं।

धन जोबनकी करै न आस, चित न राखै कामिनि पास॥
नाद बिंद जाके घटि जरै, ताकी सेवा पारबती करै॥

जो धन-यौवनकी आशा नहीं करता, स्त्रीमें मन नहीं लगाता, जिसके शरीरमें नाद और बिन्दु जीर्ण होते रहते हैं, पार्वती भी उसकी सेवा करती है।

बाल जोबनि जे नर जती, काल-दुकाल ते नर सती॥
फुरै भोजन अलप अहारी, नाथ कहै सो काया हमारी॥

बाल्यावस्था और यौवनमें जो व्यक्ति संयमके द्वारा इन्द्रिय-निग्रह करते हैं, वे समय-असमयमें सर्वदा अपने सत्पर स्थिर रह सकते हैं। वे फुरतीसे भोजन करते हैं, कम खाते हैं, नाथ कहते हैं कि वे हमारे शरीर हैं। उनमें और मुझमें कुछ अन्तर नहीं।

योगी निवृत्तिनाथ

(श्रीज्ञानेश्वरजीके बड़े भाई और श्रीविट्ठलपंतके पुत्र, माताका नाम रुक्मिणीबाई, जन्म सं० १३३० फाल्गुन कृष्ण १, समाधि—सं० १३५४ आषाढ़ कृष्ण १२।)

यह (श्रीकृष्ण) नाम उनका है जो अनन्त हैं, जिनका कोई संकेत नहीं मिलता, वेद भी जिनका पता लगाते थक जाते हैं और पार नहीं पाते, जिनमें समग्र चराचर विश्व होता, जाता, रहता है, वे ही अनन्त यशोदा मैयाकी गोदमें नन्हे-से कन्हैया बनकर खेल रहे हैं और भक्तजन उसका आनन्द बिना मूल्य ले रहे हैं। ये हरि हैं जिनके घर सोलह सहस्र नारियाँ हैं और जो स्वयं गौओंके चरानेवाले बालब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मत्वको प्राप्त योगियोंके ये ही परम धन हैं, जो नन्द-निकेतनमें नृत्य कर रहे हैं।

संत ज्ञानेश्वर

(महाराष्ट्रके महान् संत, जन्म—सं० १३३२ भाद्रकृष्णा अष्टमी मध्यरात्रि । पिताका नाम—श्रीविट्ठलपंत, माताका रुक्मिणीबाई । समाधि—सं० १३५३ मार्गशीर्ष कृष्णा ११ ।)

[प्रेषक—श्रीएम०एन० धारकर]

ईश्वरसे प्रसाद-याचना—

अब मेरे इस वाग्यज्ञसे विश्वात्मक ईश्वर संतुष्ट होकर मुझे यह प्रसाद दें—

दुष्टोंकी कुटिलता जाकर उनकी सत्कर्ममें प्रीति उत्पन्न हो और समस्त जीवोंमें परस्पर मित्रभाव वृद्धिगत हो ।

अखिल विश्वका पापरूप अन्धकार नष्ट होकर स्वधर्म-सूर्यका उदय हो, उसका प्रकाश हो और प्राणिमात्रकी सदिच्छाएँ पूर्ण हों ।

इस भूतलपर अखिल मङ्गलोंकी वर्षा करनेवाले भगवद्भक्तोंके समूहोंकी सदा प्राप्ति हो ।

वे भगवद्भक्त चलने-बोलनेवाले कल्पतरुके उद्यान, चेतनायुक्त चिन्तामणिके गाँव और अमृतके चलने-बोलनेवाले समुद्र हैं ।

वे कलङ्करहित चन्द्रमा हैं, तापहीन सूर्य हैं । वे सज्जन सदा सबके प्रियजन हों ।

बहुत क्या (माँगा जाय), त्रैलोक्य सुखसे परिपूर्ण होकर प्राणिमात्रको ईश्वरका अखण्ड भजन करनेकी इच्छा हो ।

जबतक इच्छा बनी हुई है, तबतक उ[illegible] भी है; पर जब संतोष हो गया, तब उ[illegible] समाप्त हुआ ।

× × ×

वैराग्यके सहारे यदि यह मन अभ्[illegible] लगाया जाय तो कुछ काल बाद यह [illegible] होगा । कारण, इस मनमें एक बात [illegible] अच्छी है—वह यह कि जहाँ इसे चसका ल[illegible] है, वहाँ यह लग ही जाता है । इसलिये इसे सदा अनु[illegible] सुख ही देते रहना चाहिये ।

× × ×

भावबलसे भगवान् मिलते हैं, नहीं तो नहीं । कर[illegible] भक्तवत् श्रीहरि हैं ।

× × ×

हरि आया, हरि आया, संत-सङ्गसे ब्रह्मानन्द हो [illegible] हरि यहाँ है, हरि वहाँ है, हरिसे कुछ भी खाली नहीं है, [illegible] देखता है, हरि ध्याता है, हरि बिना और कुछ नहीं है [illegible] पढ़ता है, हरि नाचता है, हरि देखते सच्चा आनन्द है । [illegible] आदिमें है, हरि अन्तमें है, हरि सब भूतोंमें व्यापक है । [illegible] जानो, हरिको बखानो ।

संत नामदेव

(जन्म—वि० सं० १३२७ कार्तिक शुक्ला ११ रविवार । जन्मस्थान—नरसी बमनी (जिला सतारा) । जाति—छीपी । [illegible] नाम—श्रीदामा शेट, माताका नाम—गोणाई । गुरुका नाम—खेचरनाथ नाथपंथी, योगमार्ग-प्रेरक श्रीज्ञानदेवजी महार[illegible] निर्वाण—वि० सं० १४०७ पण्ढरपुर ।)

परधन परदारा परिहरी ।
ता के निकट बसहिं नरहरी ॥
जे न भजंत नारायना ।
तिनका मैं न करौं दरसना ॥
जिनके भीतर रह अंतरा[1] ।
जैसा पसु, तैसा वह नरा ॥
प्रनमत 'नामदेव' ताके बिना ।
ना सोहै बत्तीस लच्छना ॥

तत्त गहनको नाम है, भजि लीजै सोई ।
तीरथ सिव अनाथ है, गति लहै न [illegible] ।
कंचन मेरु सुमेरु, हय गज दीजै दाना ।
कोटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समा[illegible] ।
अस मन लाव राम रसना ।
तेरो बहुरि न होय जरा-मरना ॥
जैसे मृगा नाद लव लावै ।
बान लगे वहि ध्यान लगावै ॥

1. छल-कपट, द्वैतभाव ।

जैसे कीट भृंग मन दीन्ह । आपु सरीखे वा को कीन्ह ॥
नामदेव मन दासनदास । अब न तजौं हरि चरन निवास ॥

माई रे इन नैनन हरि पेखो ।
हरि की भक्ति साधु की संगति, सोई यह दिन लेखो ॥
चरन सोई जो नचत प्रेम से, कर सोई जो पूजा ।
सीस सोई जो नवै साधु के, रसना और न दूजा ॥
यह संसार हाट को लेखा, सब कोउ बनिजहिं आया ।
जिन जस लादा तिन तस पाया, मूरख मूल गँवाया ॥
आतम राम देह धरि आयो, ता में हरिको देखो ।
कहत नामदेव बलि बलि जैहौं, हरि भजि और न लेखो ॥

काहे मन बिषया बन जाय । भूलो रे ठगमूरी खाय ॥
जसे मीन पानी में रहै । कालजाल की सुधि नहिं लहै ॥
जिभ्या स्वादी लीलत लोह । ऐसे कनिक कामिनी मोह ॥
ज्यों मधुमाखी संचि अपारा । मधु लीन्हों, मुख दीन्हों छारा ॥
गऊ बाछ को संचै छीर । गला बाँधि दुहि लेहि अहीर ॥
माया कारन स्रमु अति करै । सो माया लै गाड़ै धरै ॥
अति संचै समझै नहिं मूढ़ । धन धरती तन होइ गयो धूड़ ॥
काम क्रोध तृसना अति जरै । साध सँगति कबहूँ नहिं करै ॥
कहत नामदेव साँची मान । निरभै होइ भजिलै भगवान ॥

हमरो करता राम सनेही ।
काहे रे नर गरब करत है, बिनसि जाइ झूठी देही ॥
मेरी-मेरी कौरव करते दुरजोधन-से भाई ।
बारह जोजन छत्र चलै था, देही गिरधन खाई ॥
सरब सोनेकी लंका होती, रावन से अधिकाई ।
कहा भयो दर बाँधे हाथी, खिन महिं भई पराई ॥
दुरबासा सूँ करत ठगौरी, जादव वे फल पाये ।
कृपा करी जन अपने ऊपर नामा हरिगुन गाये ॥

पाण्डुरङ्गमें ही मैं सब सुख प्राप्त कर लेता हूँ । कहीं जाऊँ तो किसके लिये कहाँ जाऊँ ? इस लोककी या परलोककी, कोई भी इच्छा मुझे नहीं है । न कोई पुरुषार्थ करना है, न चारों मुक्तियोंमेंसे कोई मुक्ति पानी है । रङ्क होकर पन्ढरीमें इस महाद्वारकी देहरीपर ही बैठा रहना चाहता हूँ ।

× × ×

मुझे नाम-संकीर्तन अच्छा लगता है, बाकी सब व्यर्थ है । नमन वह नम्रता है जो गुण-दोष नहीं देखती और जिसके अंदर आनन्द प्रकाशित होता है । निर्विकार ध्यान उसको कहना चाहिये जिसमें अखिल विश्वमें मेरे विट्ठलके दर्शन हों और ईंटपर जो समचरण शोभा पा रहे हैं, हृदयमें उनकी अखण्ड स्मृति हो । कृपण जैसे अपने रोजगारमें ही मग्न रहता और रात-दिन नफेका ही ध्यान किया करता है, अथवा कीट जैसे भृङ्गका करता है वैसे ही सम्पूर्ण भावके साथ एक विट्ठलका ही ध्यान हो, सब भूतोंमें उसीका रूप प्रकाशित हो । रज-तमसे अलग, सबसे निराला प्रेमकलाका जो भोग है, वही भक्ति है । प्रीतिसे एकान्तमें गोविन्दको भजिये । ऐसी विश्रान्ति और कहीं नहीं है ।

भक्त साँवता माली

(जन्म—शाके ११७२ । जन्म-स्थान—अरणभेंडी नामक ग्राम (पण्ढरपुर) । पिताका नाम परसुबा और माताका नाम नांगिताबाई । समाधि—शाके १२१७ की आषाढ़ कृष्णा १४)

नामका ऐसा बल है कि मैं किसीसे भी नहीं डरता और कलिकालके सिरपर डंडे जमाया करता हूँ । 'विट्ठल' नाम गाकर और नाचकर हमलोग उन वैकुण्ठपतिको यहीं अपने कीर्तनमें बुला लिया करते हैं । इसी भजनानन्दकी दिवाली मनाते हैं और चित्तमें उन वनमालीको पकड़कर पूजा किया करते हैं । साँवता कहता है कि भक्तिके इस मार्गपर चले चलो, चारों मुक्तियाँ द्वारपर आ गिरेंगी ।

भगवान विष्णु

संत सेना नाई

(अस्तित्वकाल—अनुमानतः पाँच छः सौ साल पूर्व; स्थान—बान्धवगढ़, बघेलखण्डके राजपरिवारके नाई)

हम प्रतिवार बड़ी बारीक हजामत बनाते हैं, विवेकरूपी दर्पण दिखाते और वैराग्यकी कैंची चलाते हैं, सिरपर शान्तिका उदक छिड़कते और अहंकारकी चुटिया घुमाकर बाँधते हैं, भावार्थोंकी बगलें साफ करते और काम क्रोधके नख काटते हैं, चारों वर्णोंकी सेवा करते और निश्चिन्त रहते हैं।

धूप दीप घ्रित साजि आरती। वारने जाउँ कमलापती॥
मंगला हरि मंगला। नित मंगलु राजा राम राइ को॥
उत्तम दिअरा निरमल बाती। तुही निरंजनु कमलापती॥
रामभगति रामानँदु जानै। पूरन परमानंदु बखानै॥
मदन-मूरति भै-तारि गोबिंदे। सैन भणै भजु परमानंदे॥

भक्त नरहरि सुनार

(पण्ढरपुरके महान् शिवभक्त)

मैं आपका सुनार हूँ, आपके नामका व्यवहार करता हूँ। यह गलेका हार देह है, इसका अन्तरात्मा सोना है। त्रिगुणका साँचा बनाकर उसमें ब्रह्मरस भर दिया। विवेकका हथौड़ा लेकर उससे काम-क्रोधको चूर किया और मन-बुद्धिकी कैंचीसे रामनाम बराबर चुराता रहा। ज्ञानके काँटेमें दोनों अक्षरोंको तौला और थैलीमें रखकर थैली कंधेपर उठाये रास्ता पार कर गया। यह नरहरि सुनार, हे हरि! तेरा दास है, रात दिन तेरा ही भजन करता है।

जगमित्र नागा

भीष्मदेवको रणमें, कर्णको अर्जुनके वेधनेवाले बाणमें, हरिश्चन्द्रको श्मशानमें और परीक्षितको आसन्नमृत्युमें भगवान्‌ने आलिङ्गन किया है। इसलिये जगमित्र कहते हैं, 'गोविन्द' नाम भजो, गोविन्दरूप हृदयमें धरो, गोविन्द तुम्हें सब संकटोंके पार कर देंगे।

चोखा मेळा

(प्रेषक—श्रीएम० एन० धारकर)

गन्ना गठीला होता है, परंतु रस गठीला नहीं होता। ऊपरके आकारपर क्या भूला है! कमान टेढ़ी होती है, परंतु तीर सीधा ही जाता है। ऊपरके आकारपर क्या भूला है! नदी टेढ़ी-मेढ़ी जाती है, परंतु जल तो अच्छा ही होता है। ऊपरके आकारपर क्या भूला है! चोखामेळा महार, हल्की जातिका है; परंतु उसका भाव (ईश्वरके प्रति) हल्का नहीं है। जातिपर क्या भूला है!

संत कवि श्रीभानुदास

(एकनाथजी महाराजके प्रपितामह। जन्म—वि० सं० १५०५ के आसपास, पैठण (प्रतिष्ठान) क्षेत्र। जाति—आश्वलायन-शाखाके ऋग्वेदी ब्राह्मण, महाराष्ट्रीय। देहावसान—वि० सं० १५७० के लगभग।)

जमुना के तट धेनु चरावत।
राखत है गइयाँ। मोहन मेरा सइयाँ॥
मोर पत्र शिर छत्र सुहावे, गोपी धरत बहियाँ।
भानुदास प्रभु भगतको बत्सल, करत छत्र-छइयाँ॥

संत त्रिलोचन

(दक्षिण देशके भक्त कवि। जन्म-सं० १३२४, निर्वाण-तिथि—अज्ञात।)

अंति कालि जो लछमी सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै।
सरप जोनि वलि वलि अउतरै।
अरी बाई गोबिद नामु मति बीसरै॥
अंति कालि जो स्री सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै।
बेसवा जोनि वलि वलि अउतर॥
अंते कालि जो लड़िके सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै।
सूकर जोनि वलि वलि अउतरै॥
अंति कालि जो मंदर सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै।
प्रेत जोनि वलि वलि अउतरै॥
अंति कालि नाराइणु सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै।
बदति त्रिलोचनु ते नर मुकता, पीतंबरु वा के रिदै बसै॥

संत एकनाथ

(जन्म—वि० सं० १५९० के लगभग। पिताका नाम—सूर्यनारायण। माताका नाम—रुक्मिणी। श्रीजनार्दनस्वामीके शिष्य। शरीरान्त—वि० सं० १६५६ की चैत्र कृष्णा षष्ठी, गोदावरीतीर)

भगवान्‌के सगुण चरित जो परम पवित्र हैं, उन्हींका वर्णन करना चाहिये। सबसे पहले सज्जनवृन्दोंका मनोभावसे वन्दन करना चाहिये। सत्सङ्गमें अन्तरङ्गसे भगवान्‌का नाम लेना चाहिये और कीर्तन-रंगमें भगवान्‌के समीप आनन्दसे झूमना चाहिये। भक्ति-ज्ञान-विरहित बातें न करके प्रेमभरे भावोंसे वैराग्यके ही उपाय खोलकर बताने चाहिये, जिससे भगवान्‌की मूर्ति अन्तःकरणमें बैठ जाय। यही संतोंके घरकी कीर्तन-मर्यादा है। अद्वय और अखण्ड स्मरणसे करताल बजे तो एक क्षणमें श्रीजनार्दनके अंदर एका—एकनाथ कहते हैं कि मुक्ति हो जाय।

× × ×

मैं जो हूँ, वही मेरी प्रतिमा है; वहाँ कोई दूसरा धर्म नहीं है। उसमें मेरा ही वास है। भेद और आयासका कुछ काम नहीं। कलिमें प्रतिमा ही सबसे श्रेष्ठ साधन है, ऐसा दूसरा साधन नहीं। एका जनार्दनकी शरणमें है। दोनों रूप भगवान्‌के ही हैं।

× × ×

एकत्वके साथ सृष्टिको देखनेसे दृष्टिमें भगवान् ही भर जाते हैं। वहाँ द्वैतकी भावना नहीं होती, ध्यान भगवान्‌में ही लगा रहता है। वहाँ मैं-तू या मेरा-तेरा कुछ भी नहीं रहता, रहते हैं केवल भगवान् ही। ध्यानमें, मनमें, अन्तर्जगत्‌में और बहिर्जगत्‌में एक जनार्दन ही हैं। एक भगवान् ही हैं।

× × ×

विठ्ठल नाम खुला मन्त्र है, वाणीसे सदा इस नामको जपो। इससे अनन्त जन्मोंके दोष निकल जायँगे। संसारमें जो आये हो तो निरन्तर विठ्ठल-नाम लेनेमें जरा भी आलस्य मत करो। इससे साधन सधेंगे, भव-बन्धन टूटेंगे। विठ्ठल-नामका जप करो। एकनाथ जनार्दनमें रहकर उठते-बैठते, सोते-जागते, रात-दिन विठ्ठल-नामका जप करता है।

× × ×

जिसने एक बार श्रीकृष्णरूपको देखा, उसकी आँखें फिर उससे नहीं फिरतीं, अधिकाधिक उसी रूपको आलिङ्गन करती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं।

× × ×

सारांश—स्त्री, धन और प्रतिष्ठा चिरंजीव-पद-प्राप्तिके साधनमें तीन महान् विघ्न हैं। सच्चा अनुताप और शुद्ध सात्त्विक वैराग्य यदि न हो तो श्रीकृष्ण-पद प्राप्त करनेकी आशा करना केवल अज्ञान है। नाथ कहते हैं कि यह मैं नहीं कह रहा हूँ, यह हितका वचन श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा और वही मैंने दोहराया है। इसलिये इसे जिसका मन सच न माने, वह नाना विकल्पोंसे श्रीकृष्ण-चरण कदापि लाभ नहीं कर सकता।

समर्थ गुरु रामदास

(घरका नाम—नारायण। जन्म—वि० सं० १६६५ चैत्र शुक्ला ९। जन्म-स्थान—जाम्ब ग्राम (औरंगाबाद-दक्षिण)। पिताका नाम—सूर्याजी पंत। माताका नाम—राणूबाई। देहावसान—वि० सं० १७३९, माघ कृष्णा ९)

मनको प्रबोध

सर्वदा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति प्रीति धारण कर। मनसे दुःखको निकाल दे और देह-दुःखको सुखके समान ही समझकर सदैव आत्मस्वरूपमें (नित्यानित्यका) सोच-विचारकर लीन हो।

रे मन ! तू अपने अंदर दुःखको तथा शोक और चिन्ताको कहीं स्थान न दे। देह-गेहादिकी आसक्ति विवेक करके छोड़ दे और उसी विदेही अवस्थामें मुक्ति-सुखका उपभोग कर।

एक मर जाता है उसके लिये दूसरा दुःख करता है और एकाएक वह भी उसी प्रकार एक दिन मर जाता है। मनुष्यके लोभकी पूर्ति कभी नहीं होती, इसलिये उसके हृदयमें क्षोभ सदा बना ही रहता है। अतः जीवको संसारमें फिर जन्म लेना पड़ता है।

रे मन ! राघवके अतिरिक्त तू (दूसरी) कोई बात न कर । जनतामें वृथा बोलनेसे सुख नहीं होता । काल घड़ी-घड़ी आयुको हरण कर रहा है । देहावसानके समय तुझे छुड़ानेवाला (बिना श्रीरामचन्द्रजीके) और कौन है ?

देहकी रक्षा करनेके लिये यत्न किया तो भी अन्तमें काल ले ही गया । अतः ऐ मन ! तू भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति कर और मनमेंसे इस संसारकी चिन्ता छोड़ दे ।

बहुत प्रकारकी बातोंमेंसे यही बात दृढतापूर्वक (ध्यानमें) धारण कर कि श्रीरामचन्द्रजीको तू अपना बना ले । उनके नूपुरों (की झंकार) में 'दीनोंके नाथ' होनेका यश गरज रहा है । (इसलिये) मेरे भले मन ! तू रामचन्द्रजी (की शरण) में निवास कर ।

जिसकी संगतिसे मनःशान्ति नष्ट हो जाती है, एकाएक अहंताका सम्पर्क होता है तथा श्रीरामचन्द्रजीसे (अपनी) बुद्धि हट जाती है, ऐसी संगतिकी संसारमें किसको रुचि होगी ?

अपने (बुरे) आचरणमें सोच-विचार करके परिवर्तन कर । अति आदरके साथ शुद्ध आचरण कर । लोगोंके सामने जैसा कहे, वैसा कर । (और) मन ! कल्पना और संसारके दुःखको छोड़ दे ।

रे मन ! क्रोधकी उत्पत्ति मत होने दे । सत्सङ्गमें बुद्धिका निवास हो । दुष्ट सङ्ग छोड़ दे । (इस प्रकार) मोक्षका अधिकारी बन ।

कई पण्डित समाजमें आजतक अपने हितसे वञ्चित हो गये (और) अहंभावके कारण वे ब्रह्मराक्षसतक हो गये । सचमुचमें उस (ईश्वर) की अपेक्षा विद्वान् कौन हो सकता है ? (अतः) ऐ मन ! 'मैं सब कुछ जानता हूँ' ऐसा अहङ्कार छोड़ दे ।

जो सोच-विचारकर बोलता है और विवेकपूर्ण आचरण करता है, उसकी सङ्गतिसे अत्यन्त त्रस्त लोगोंको भी शान्ति मिलती है, अतः हितकी खोज किये बिना कुछ मत बोल और लोगोंमें संयमित और शुद्ध आचरण कर ।

जिसने अहंभावकी मदिरा पी ली, उसको ज्ञानरूपी भोजनमें रुचि कैसे होगी ? जिसके मनमेंसे अहंभाव नष्ट नहीं होता, उसको ज्ञानरूपी अन्न कभी नहीं पचेगा ।

रे मन ! सभी आसक्ति छोड़ और अत्यादरपूर्वक सज्जनोंकी संगति कर । उनकी संगतिसे संसारका महान् दुःख दूर हो जाता है और बिना किसी अन्य साधनके संसारमें सन्मार्गकी प्राप्ति होती है ।

रे मन ! सत्सङ्ग सर्व (संसारके) सङ्गोंसे छुड़ानेवाला है । उससे तुरंत मोक्षकी प्राप्ति होती है । यह सङ्ग साधकको भवसागरसे शीघ्र पार करता है । सत्सङ्ग द्वैत-भावनाका समूल नाश करता है ।

संसारमें कौन धन्य है ?

सदा भगवान्के कार्यमें जो अपनी देहको कष्ट देता है, मुखसे अखण्ड राम-नामका उच्चारण करता है, स्वधर्मपालनमें बिल्कुल तत्पर है, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका ऐसा दास इस संसारमें धन्य है ।

(वह) जैसा कहता है, वैसा ही करता है । नाना रूपोंमें एक ईश्वर (रूप) को ही देखता है और जिसे सगुण-भजनमें जरा भी संदेह नहीं है, वही मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका सेवक इस संसारमें धन्य है ।

जिसने मद, मत्सर और स्वार्थका त्याग कर दिया है, जिसके सांसारिक उपाधि नहीं है और जिसकी वाणी सदैव नम्र और मधुर होती है, ऐसा सर्वोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका सेवक इस संसारमें धन्य है ।

जो अखिल संसारमें सदा-सर्वदा सरल, प्रिय, सत्यवादी और विवेकी होता है तथा निश्चयपूर्वक कभी भी मिथ्याभाषण नहीं करता, वह सर्वोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका सेवक इस संसारमें धन्य है ।

जो दीनोंपर दया करनेवाला, मनका कोमल, स्निग्ध-हृदय, कृपाशील और रामजीके सेवकगणोंकी रक्षा करनेवाला है, ऐसे दासके मनमें क्रोध और चिड़चिड़ाहट कहाँसे आयेगी ! सर्वोत्तम रामचन्द्रजीका ऐसा दास संसारमें धन्य है ।

रामनाम

अनेक नाम-मन्त्रोंकी तुलना इस रामनामके साथ नहीं हो सकती । (किंतु) यह, भाग्यहीन क्षुद्र मनुष्यकी समझमें नहीं आता । महादेवजीने भी विष (का दाह शमन करने) के लिये (नाम) औषधका उपयोग किया था, तब बेचारे मानवके लिये तो कहना ही क्या । (उसको चाहिये कि वह सर्वदा नाम लेता रहे ।)

जिसके मुँहमें राम (रहता है), उसको वहीं शान्ति मिलती है । वह अखण्ड आनन्दरूप आनन्दका सेवन करता है। रामनामके अतिरिक्त सब कुछ (अन्य चेष्टाएँ) संदेह और थकावट उत्पन्न करनेवाला है; परंतु यह नाम दुःखहारी परमात्माका धाम है।

जिसको नाममें रुचि नहीं होती, उसीको यम दुःख देता है (तथा) जिसके मनमें संदेह होनेके कारण तर्क उत्पन्न होता है, उसको घोरतर नरकमें ही जाना पड़ता है। इसलिये अति आदरके साथ मन लगाकर नाम-स्मरण कर। मुखसे (राम) नाम लेनेसे सब दोष आप-से-आप नष्ट हो जाते हैं।

उपदेश

जो बिना आचरण किये हुए नाना प्रकारकी (ब्रह्मज्ञानकी) बातें करता है, परंतु जिसका पापी मन उसे मन-ही-मन धिक्कारता है, जिसके मनमें कल्पनाओंकी मनमानी दौड चलती है, ऐसे मनुष्यको ईश्वरकी प्राप्ति कैसे होगी।

मृत्यु नहीं जानती कि यही आधार है और न वह समझती है कि यह उदार है। मृत्यु सुन्दर पुरुष और सब प्रकार निष्णात पुरुषको भी कुछ नहीं समझती। पुण्य पुरुष, हरिदास या कीर्तनकार और बड़े-बड़े सत्कर्म करनेवालोंको भी मृत्यु नहीं छोड़ती।

यदि संदेह किया भी जाय, तो क्या यह मृत्युलोक नहीं रहेगा ? यह मृत्युलोक तो है ही; और यहाँ जो पैदा होगा, वह मरेगा ही।

भगवान् भक्ति-भावका भूखा है, वह भक्ति-भावपर ही प्रसन्न होता है और भावुकपर प्रसन्न होकर संकटमें उसकी रक्षा करता है।

यह आयु एक रत्नोंकी संदूक है—इसमें सुन्दर भजन-रत्न भरे हैं—इसे ईश्वरको अर्पण करके आनन्दकी लूट मचाओ। हरिभक्त सांसारिक वैभवसे हीन होते हैं, परंतु वास्तवमें वे ब्रह्मा आदिसे भी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे सदा-सर्वदा नैराश्यके आनन्दसे ही संतुष्ट रहते हैं। केवल ईश्वरकी कमर पकड़कर जो संसारसे नैराश्य रखते हैं, उन भावुकोंको जगदीश सब प्रकारसे सँभालता है। भावुक भक्त संसारके दुःखोंको ही विवेकसे परम सुख मानता है, परंतु अभक्त लोग संसार-सुखोंमें ही फँसे पड़े रहते हैं।

वासनाके ही कारण सारे दुःख मिलते हैं; इसलिये जो विषय वासना त्याग देता है, वही सुखी है। विषयसे उत्पन्न हुए जितने सुख हैं, उनमें घोर दुःख भरा है। उनका नियम है कि पहले वे मीठे लगते हैं, परंतु पीछेसे उनके कारण शोक ही होता है।

ईश्वरमें मन रखकर जो कोई हरिकथा कहता है, उसीको इस संसारमें धन्य जानो। जिसे हरिकथासे प्रीति है और नित्य नयी प्रीति बढ़ती जाती है, उसे भगवान्की प्राप्ति होगी। जहाँ हरिकथा हो रही हो, वहाँके लिये सब छोड़कर जो दौड़ता है और आलस्य, निद्रा तथा स्वार्थको छोड़कर जो हरिकथामें तत्पर होता है, उसे भगवान्की प्राप्ति होगी।

(प्रेषक—श्रीएम० एन० धारकर)

जिस परमेश्वरने संसारमें भेजा, जिसने अखिल ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया, उस परमेश्वरको जिसने नहीं पहचाना, वह पापी है। इसलिये ईश्वरको पहचानना चाहिये और जन्मको सार्थक कर लेना चाहिये; समझता न हो तो सत्सङ्ग करना चाहिये, जिससे समझमें आ जाता है। जो ईश्वरको जानते हैं और शाश्वत-अशाश्वतका भेद बता देते हैं, वे संत हैं। जिनका ईश्वरविषयक ज्ञानरूप भाव कभी चलायमान नहीं होता, वे ही महानुभाव साधु संत हैं—यों जानो। जो जनसमुदायमें बरतते हैं, परंतु लोगोंको जिनका ज्ञान नहीं, ऐसी बातें बताते हैं और जिनके अन्तरङ्गमें ज्ञान जागता रहता है, वे ही साधु हैं। जिससे निर्गुण परमात्मा जाननेमें आता है, वही ज्ञान है; उससे अतिरिक्त सब कुछ अज्ञान है। उदरभरणके लिये अनेक विद्याओं-का अभ्यास किया जाता है, उसे भी ज्ञान कहते हैं; परंतु उससे कोई सार्थक नहीं होता। एक ईश्वरको ही पहचानना चाहिये—वही ज्ञान है, उसीसे सब सार्थक है; शेष सब कुछ निरर्थक और उदरभरणकी विद्या है। जीवनभर पेट भरा और देहका संरक्षण किया, परंतु अन्तकालमें सब कुछ व्यर्थ हो गया। इस प्रकार पेट भरनेकी विद्याको सद्विद्या नहीं कहना चाहिये; अपितु जिससे अभी, इसी समय, सर्वव्यापक परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाय, वही ज्ञान है। और इस प्रकारका ज्ञान जिसे हो, उसको सज्जन जानो एवं उससे वह पूछो जिससे समाधान हो।

(श्रीदासबोध—दशक ६, समास १)

नरदेहस्तवन

धन्य है यह नरदेह, धन्य है ! इसकी अपूर्वताको तो देखो कि जो-जो परमार्थ-साधन इससे किया जाय, उसीमें

सिद्धि प्राप्त होती है। बहुतोंने सलोकता, समीपता, सरूपता और सायुज्य, जिस मुक्तिकी इच्छा हुई, प्राप्त कर ली। इस प्रकार अनेक सिद्धों-साधुओंने इस नरदेहके आश्रयसे ही अपना हित कर लिया; ऐसे इस नरदेहको कहाँ-तक बखाना जाय! यदि देहको परमार्थमें लगाया तो यह सार्थक हुआ, अन्यथा अनेक आघातोंसे यह व्यर्थमें ही मृत्युपथको प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

(श्रीदासबोध—दशक १, समास १०)

संत श्रीतुकाराम

(जन्म—वि० सं० १६६५। पिताका नाम—श्रीबोल्होजी। माताका नाम—कनकाबाई। स्त्रीका नाम—(१) रखुमाई, दूसरीका नाम (२) जिजाई। जन्म-स्थान—दक्षिणके देहू नामक ग्राममें। वि० सं० १७०६ चैत्र कृष्णा २ को प्रयाण किया)

(प्रेषक—श्रीचन्द्रदेवजी मिश्र, 'चन्द्र')

श्रीहरिसे मिलनेके लिये क्या करें—

'बस, केवल आशा-तृष्णासे बिल्कुल खाली हो जाओ। जो नाम तो हरिका लेते हैं, पर हाथ लोभमें फँसाये रखते तथा असत्, अन्याय और अनीतिको लिये चलते हैं, वे अपने (पूर्व) पुरुषोंको नरकमें गिराते और स्वयं नरकके कीड़े बनते हैं।

अभिमानका मुँह ही काला है और उसका काम अँधेरा फैलाना है। सब काम मटियामेट करनेके लिये लोकलाज साथ लगी रहती है।

स्वाँग बनानेसे भगवान् नहीं मिलते। निर्मल चित्तकी प्रेमभरी चाह नहीं तो जो कुछ भी करो, अन्तमें केवल आह! मिलेगी। तुका कहता है—लोग जानते हैं पर जानकर भी अंधे बनते हैं।

वाद-विवाद जहाँ होता है, वहाँ खड़े रहोगे तो फंदेमें फँसोगे। मिलो उन्हींसे जो सर्वतोभावसे श्रीहरिकी शरण हो चुके हैं। वे तुम्हारे कुलके कुटुम्बी हैं।

तुकाराम कहते हैं—

जिसका जैसा भाव होता है, उसीके अनुसार ईश्वर उसके पास या दूर है एवं उसे देता-लेता है।

ईश्वर ऐसा कृपालु है कि उसके दासको उसे सुख-दुःख कहना नहीं पड़ता।

जहाँ उसके नामका घोष होता है, उस स्थानमें नारायण भय नहीं आने देता।

श्रीहरिके रंगमें जो सर्वभावसे रँग गये, उनका ही जगत्में जन्म लेना धन्य है।

जिसका नाम पापोंका नाश करता है, लक्ष्मी जिसकी दासी है, जो तेजका समुद्र है, तुकाराम उसकी शरणमें सर्वभावसे है।

सनकादि जिसका ध्यान धरते हैं, वही पाण्डुरंग मेरा कुल-देवता है।

विठ्ठलका नाम लेते ही मुझे सुख मिला और मेरा मुँह मीठा हो गया।

विठ्ठलका नाम-सकीर्तन ही मेरा सब कुछ साधन है।

तेरा नाम ही मेरा तप, दान, अनुष्ठान, तीर्थ, व्रत, सत्य, सुकृत, धर्म, कर्म, नित्यनियम, योग, यज्ञ, जप, ध्यान, ज्ञान, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, कुलाचार, कुलधर्म, आचार-विचार और निर्धार है। नामके अतिरिक्त और कोई धन-वित्त मेरे पास कहनेके लिये नहीं है।

मेरी दृष्टि (नारायणके) मुखपर सतुष्ट होकर फिर पीछे नहीं लौटती।

हे पण्ढरीनाथ! तेरा मुख देखनेकी मुझे भूख लगी ही रहती है।

हे नारायण! तुम त्वरासे आओ, यही मेरे अन्तरङ्गकी आर्त पुकार है।

हरि-कीर्तनमें भगवान्, भक्त और भगवन्नामका त्रिवेणी-संगम होता है। कीर्तनमें भगवान्के गुण गाये जाते हैं, नामका जय-घोष होता है और अनायास भक्तजनोंका समागम होता है। कथा-प्रयागमें ये तीनों लाभ होते हैं। इनमेंसे प्रत्येक लाभ अमूल्य है। जहाँ ये तीनों लाभ एक साथ अनायास प्राप्त होते हैं, उस हरिकथामें योगदान कर आदरपूर्वक उसे श्रवण करनेवाले नर-नारी यदि अनायास ही तर जाते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। हरि-कथा पवित्र, फिर उसे गानेवाले जब पवित्रता-पूर्वक गाते और सुननेवाले जब पवित्रतापूर्वक सुनते हैं तब ऐसे हरि-कीर्तनसे बढ़कर आत्मोद्धार और लोक-शिक्षाका दूसरा साधन क्या हो सकता है!

अमृतका बीज, आत्मतत्त्वका सार, गुह्यका भी गुह्य-रहस्य श्रीराम-नाम है । यही मुख मैं सदा लेता रहता हूँ और निर्मल हरि-कथा किया करता हूँ । हरि-कथामें सबकी समाधि लग जाती है । लोभ, मोह, माया, आशा, तृष्णा सब हरि-गुण-गानमें एक-चक्कर हो जाते हैं । पांडुरंगने इसी रीतिसे मुझे अंगीकार किया और अपने रंगमें रँग डाला । हम विठ्ठलके लाड़िले लाल हैं—जो असुर है, वे कालके भयसे काँपते रहते हैं । संत-वचनोंको सत्य मानकर तुमलोग *नारायणकी शरणमें जाओ ।*

•

जहाँ भी बैठें, खेलें, भोजन करें, वहाँ तुम्हारा नाम गायेंगे । राम-कृष्ण नामकी माला गूँथकर गलेमें डालेंगे ।

आसन, शयन, भोजन, गमन—सर्वत्र सब काममें श्रीविठ्ठलका सङ्ग रहे । तुका कहता है—गोविन्दसे यह अखिल काल सुकाल है ।

नाम-संकीर्तनका साधन है तो बहुत सरल, पर इससे जन्म-जन्मान्तरके पाप भस्म हो जायँगे । इस साधनको करते हुए वन-वन भटकनेका कुछ काम नहीं है । नारायण स्वयं ही सीधे घर चले जाते हैं । अपने ही स्थानमें बैठे चित्तको एकाग्र करो और प्रेमसे अनन्तको भजो । 'राम कृष्ण हरि विठ्ठल केशव' यह मन्त्र सदा जपो । इसे छोड़कर और कोई साधन नहीं है । यह मैं विठ्ठलकी शपथ करके कहता हूँ । तुका कहता है—यह साधन सबसे सुगम है, बुद्धिमान धनी ही इस धनको यहाँ हस्तगत कर लेता है ।

इन्द्रियोंकी अभिलाषा मिट जाती है । पर यह चिन्तन सदा बना रहता है । ब्रह्मानन्दमें काल समाप्त हो जाता है; जो कुछ रहता है, वह चिन्तन ही रहता है । वही अन्न पवित्र है, जिसका भोग हरि-चिन्तनमें है । तुका कहता है—वही भोजन स्वादिष्ट है, जिसमें श्रीविठ्ठल मिश्रित हैं ।

मातासे बच्चेको यह नहीं कहना पड़ता कि तुम मुझे सँभालो । माता तो स्वभावसे ही उसे अपनी छातीसे लगाये रहती है । इसलिये मैं भी सोच-विचार क्यों करूँ ? जिसके सिर जो भार है, वह तो है ही । बिना माँगे ही माँ बच्चेको खिलाती है और बच्चा जितना भी खाय, खिलानेसे माता कभी नहीं अघाती । खेल खेलनेमें बच्चा भूला रहे तो भी माता उसे नहीं भुलाती, बरबस पकड़कर उसे छातीसे लिपटा लेती और स्तन-पान कराती है । बच्चेको कोई पीड़ा हो तो माता भाड़की लाई-सी विकल हो उठती है । अपनी देहकी सुध भुला देती है और बच्चेपर कोई चोट नहीं आने देती । *इसलिये मैं भी क्यों सोच-विचार करूँ ? जिसके सिर* जो भार है, वह तो है ही ।

भगवान् भक्तको गृहप्रपञ्च करने ही नहीं देते, सब झंझटोंसे अलग रखते हैं । उसे यदि वैभवशाली बनायें तो गर्व उसे धर दबायेगा । गुणवती स्त्री यदि उसे दें तो उसीमें उसकी आसक्ति लगी रहेगी । इसलिये कर्कशा उसके पीछे लगा देते हैं । तुका कहता है, यह सब तो मैंने प्रत्यक्ष देख लिया । अब और इन लोगोंसे क्या कहूँ ?

× × ×

पढरपुरकी वारी मेरा कुलधर्म है, मेरे और कोई कर्म, तीर्थ-व्रत नहीं है । एकादशीका उपवास करता हूँ और दिन-रात हरिनामका गान करता हूँ । श्रीविठ्ठलके नामका मुखसे उच्चारण करता हूँ—तुका कहता है कि यह कल्पवृक्षका बीज है ।

× × ×

कीर्तन बड़ी अच्छी चीज है । इससे शरीर हरिरूप हो जाता है, प्रेमछन्दसे नाचो-कूदो । इससे देहभाव मिट जायगा ।

× × ×

लौकिक व्यवहार छोड़नेका काम नहीं, वन-वन भटकने या भस्म और दण्ड धारण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं । कलियुगमें यही उपाय है कि नाम-कीर्तन करो, इसीसे नारायण दर्शन देंगे ।

अनुताप-तीर्थमें स्नान करो, दिशाओंको ओढ़ लो और आशारूपी पसीना बिल्कुल निकल जाने दो और वैराग्यकी दशा भोग करो । इससे, पहले जैसे तुम थे, वैसे हो जाओगे ।

सच्चा पण्डित वही है जो नित्य विठ्ठलको भजता है और यह देखता है कि यह सम्पूर्ण समब्रह्म है । सब सचराचर जगत्में श्रीविठ्ठल ही रम रहे हैं ।

सत-चरणोंकी रज जहाँ पड़ती है, वहाँ वासनाका बीज सहज ही जल जाता है, तब राम-नाममें रुचि होती है और घड़ी-घड़ी सुख बढ़ने लगता है । कण्ठ प्रेमसे गद्गद होता, नयनोंसे नीर बहता और हृदयमें नाम-रूप प्रकट होता है । तुका कहता है—यह बड़ा ही सुलभ सुन्दर साधन है, *पर पूर्व-पुण्यसे ही यह प्राप्त होता है ।*

× × ×

इन्द्रियोंका नियमन नहीं, मुखमें नाम नहीं—ऐसा जीवन तो भोजनके साथ मक्खी निगल जाना है, ऐसा भोजन क्या कभी सुख दे सकता है ।

सबके अलग-अलग राग हैं, उनके पीछे अपने मनको मत बाँटते फिरो। अपने विश्वासको जतनसे रक्खो, दूसरोंके रंगमें न आओ।

खोल, खोल, आँखें खोल। बोल, अभीतक क्या आँखें नहीं खुलीं? अरे, अपनी माताकी कोखमें तू क्या पत्थर पैदा हुआ! तैंने यह जो नर-तनु पाया है, यह बड़ी भारी निधि है, जिस विधिसे कर सके, इसे सार्थक कर। संत तुझे जगा कर पार उतर जायँगे।

श्रीहरिके जागरणमें तेरा मन क्यों नहीं रमता? इसमें क्या घाटा है? क्यों अपना जीवन व्यर्थमें खो रहा है? जिनमें अपना मन अटकाये बैठा है, वे तो तुझे अन्तमें छोड़ ही देंगे। तुका कहता है—सोच ले, तेरा लाभ किसमें है?

पर-द्रव्य और पर-नारीकी अभिलाषा जहाँ हुई, वहींसे भाग्यका ह्रास आरम्भ हुआ।

(हे केशव! तुम्हारे वियोगमें) मेरी वैसी ही स्थिति है, जैसे पानीसे अलग होनेपर मछली तड़फड़ाती है।

मुझे अब धीरज नहीं रहा; पाण्डुरंग! कब मिलोगे?

श्रीहरि पास आ गये। उनके हाथमें शङ्ख-चक्र शोभा दे रहे हैं। गरुड़ फड़फड़ाता हुआ आ रहा है और कहता है, 'मत डरो, मत डरो।' मुकुट और कुण्डलोंकी दीप्तिसे सूर्यका तेज फीका हो गया है। हरिका वर्ण मेघश्याम है। उनकी मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। चार भुजाएँ हैं और कण्ठमें वैजयन्ती माला झूल रही है। पीताम्बरकी आभा ऐसी है कि दसों दिशाएँ प्रकाशमान हो गयी हैं। तुकाराम सन्तुष्ट हो गये; क्योंकि वैकुण्ठवासी भगवान् घर आ गये।

हम अपने गाँव चले। हमारा राम-राम बचना। अब हमारा-तुम्हारा यही मिलना है। यहाँसे जन्म-बन्धन टूट गया। अब हमपर दया रखना। तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ। कोई निज धामको पधारते हुए 'विठ्ठल-विठ्ठल' वाणी बोलो। मुखसे राम-कृष्ण कहो। तुकाराम वैकुण्ठको चला।

हिंदी दोहे

लोभीके चित धन बैठे (अरु), कामिनिके चित काम।
माताके चित पूत बैठे, तुकाके मन राम॥१॥
कहे तुका जग भूला रे, कह्या न मानत कोय।
हाथ पडे जब कालके, मारत फोरत डोय॥२॥
तुका मिलना तो भला, (जब) मनसूँ मन मिल जाय।
उपर उपर माटी घसनी, उनकी कौन बराय॥३॥
कहे तुका भला भया, हुआ संतनका दास।
क्या जानू केते मरता, न मिटती मनकी आस॥४॥

संत महीपति

(जन्म—सन् १७१५ ई०। जन्म-स्थान—ताहराबाद। जाति—ऋग्वेदी वसिष्ठगोत्री ब्राह्मण। पिताका नाम—दादोपंत। दीक्षा-गुरु—संत तुकारामजी। उम्र—७५ वर्ष। देहावसान—ई० सन् १७९०।)

भगवत्प्रिय भक्त ही सौभाग्यशाली हैं, उनका सौभाग्य असीम और अपार है। उनके पूर्व-जन्म धन्य हैं। उनका यह जन्म भी सफल और धन्य है। उनके कुटुम्ब, कुल और जाति आदि धन्य हैं। जो श्रीहरिके शरणागत हैं, उनका ज्ञान धन्य है, उनका संसारमें आना धन्य है। वे प्राणी धन्य हैं, जो अनन्यभावसे हरिकी शरणमें हैं। उन्होंने अपने पूर्वजोंका उद्धार कर दिया और असंख्य प्राणियोंको भवसागरसे पार उतार दिया। भगवान्‌के भक्त बड़े पुण्यशाली होते हैं, उनके दर्शनमात्रसे लोग भवसागरसे तर जाते हैं ...... इन्द्र और ब्रह्मा भगवान्‌के भक्तकी महिमा नहीं कह सकते। वे पुरुषोत्तम नारायणके प्रिय पात्र हैं और वैकुण्ठमें जाते हैं। वे वैकुण्ठमें निवास करते हैं और हरीके निकट रहते हैं, ऐसे महाभाग्यशाली हैं वे। ऐसे भक्तों—सन्तोंके चरणोंपर महीपति अपना मस्तक रखते हैं।

संत श्रीविनायकानन्द स्वामी

(श्रीक्षेत्र वेरुल घृष्णेश्वर। जन्म—शाके १८०५। समाधि—शाके १८६१, भाद्रपद कृष्ण ८ शुक्रवार।)

(प्रेषक—श्रीकिसन दामोदर नाईक)

वंदे कृष्णं घनसंकाशं। निजजन-हृदय-निवासम्॥
विमलं सत्यं ज्ञानमनन्तं। माया-मानुष देह धरंतं॥
गोपीजन-सहवासम्॥ १॥

त्रिभुवन-सुन्दर-वदनारविंदं। मंजुल मुरली गान विनोदं॥
सदयं सस्मितहासम्॥ २॥

मणिमय-मुकुटं, पीत दुकूलं। कृपया सेवित-यमुनाकूलं॥
वृन्दावन-कृत-रासम्॥ ३॥

नंद-यशोदा-वत्सल बालं। मृगमद-चंदन-शोभित भालं॥
राधाकृत परिहासम्॥ ४॥

ध्वजवज्रांकुश-चिन्हित-चरणं। कविनायकमुनि-मानस-हरणं॥
सुखदं भवभय-नाशम्॥ ५॥

महाराष्ट्रीय संत अमृतराय महाराज

(स्थान—साखरखेडा—औरंगाबाद। जन्मकाल—संवत् १७५५, समाधिकाल—संवत् १८१०।)

(प्रेषक—पं० श्रीविष्णु बालकृष्ण जोशी)

वो नर कहाँ पावे, निशदिन हरिगुन गावे।
कुछ रोटी कुछ लंगोटिया, खुशाल गुजर चलावे॥
मिन्नत कर कर देव, तो ही पैसा हाथ न लावे।
दो दिनकी दुनियामें वो, वाहवा कर कर जावे॥
औरत आगे आवे, माइ बहेन बराबर भावे।
फिर चली रात भजनकी, भीमा चिद्गंगामें न्हावे॥
अमृतरायके नाम-सुधारस, मन भरपूर पिलावे।
वो नर कहाँ पावे, निशदिन हरिगुन गावे॥

काया नहिं तेरी नहिं तेरी। मत कर मेरी मेरी॥ध्रु०॥
न्हावे हंडा पानी गरम। नहिं करता कौडीका धरम॥
इस कायाका कौन भरोसा। आकर जम डारेगा फासा॥
बाँधे टाम-टीमकी पगडी। चौथे दिन मुडावे दाढ़ी॥
खावे घी-खिचडीका खुराक। आखर जलकर होवे खाक॥
चन्दन सीस लगावे टीका। आखर राम-भजन बिन फीका॥
चावे पान सुपारी लवँगा। गल्लो गल्लि फिरत बेढंगा॥
बाजे ठंड बनाया डगला। ऊपर काल फिरत है बगला॥
ओढे शाल दुशाला पट्टू। इसमें क्या भूला रे खट्टू॥
नया हाली पलंगपर सोवे। उसके खातर जीवन खोवे॥
अमृत कहे सब झूठा धंधा। भज ले राम कृष्ण गोविंदा॥

तुम चिरंजीव कल्याण रहो, हरि-कथा सुरस पीओ।
हरिकीर्तनके साथी सज्जन, बहुत बरस जीओ॥
सस्ता दाना पानी निर्मल, गंगाजल लहरा।
राग-रंग और बाग-बगीचे, रुपये हो न मोहरा॥
ऊँचा मन्दिर, महल सुनेरी, माल मुलुक बसती।
पुत्र-पौत्र सुन्दर कामिनी, सगुण गुण आरती॥
अमृतरायके अमृत वचनसे, सदा सुखी रहियो।
सबल पुष्टि आरोग्य नामसे, आनँदमें रहियो॥

संत मानपुरी महाराज

(जन्मकाल—संवत् १७१०। समाधिकाल—संवत् १७८७।)

(प्रेषक—पं० श्रीविष्णु बालकृष्ण जोशी)

(भजन राग बंकावली)

हरि बोलो अखियाँ खोलो, फरि फरि दरसन डोलो।
ग्यान गुरुको सोई पावे, जो कोइ होवे भोलो॥
जित देखो तित रूप साईंका, संपूरन नाद पोलो।
मानपुरी साई बिसरत नाहीं, जो लौ, इरफट जो लौ॥

(प्रेषक—श्रीकिशन दामोदर नाईक ।)

(राग वसन्त)

निन्दक दुरजनकी बलिहारी ॥
आगे-पीछे देवै गारी, निर्मल काया होय हमारी ।
मलमूत्र धोवे दुरगुन वारी, ऐसो निंदक पर उपकारी ॥
रामनाम मूँ करे न यारी, भोर भये उठि माडे रारी ।
कहत मानपुरी नमने हारी, ताकि बात मोहे लागत प्यारी ॥

(राग आसावरी)

भई अब मैं वैरागन बौरी, लागी हरि सों डोरी ।
छाँडी लोकलाज चतुराई, बंसी सुनि उठि दौरी ॥
ढूँढत ढूँढत कान्हा भेंटे, सुख नहिं जात कह्यो री ।
मानपुरी प्रभु परगट देखा, जहँ-तहँ धाय रह्यो री ॥

(राग विलावल)

नर देहि आकर मिथ्या जीवन, नाम धनीको घोक ।
समझत ना समझावत होके, हँसते होय कै लोक ॥
आशा छोड निराशा होना, तजि दुख हो निरदोख ।
मानपुरी सतगुरु परसादे, पावे सुख संतोख ॥
मनमोहन प्यारेको गावो, ताल-मृदंग बजावो ।
राग-रागिनी ही नहिं जानो, रामकी तान सुनावो ॥
आस निराश कीज्यो मत प्यारे, अजी मोरे घर आओ ।
मानपुरी प्रभु तन-मन वारूँ, प्याला प्रेम पिलाओ ॥

महाराष्ट्रीय संत श्रीटीकारामनाथ

(ज्ञानेश्वर-नाथपन्थी ज्ञानेश्वर-मठ डोंगराले, धुलिया (कन्नडप्रान्त) । जन्मकाल—शाके १८१७ । समाधिकाल—शाके १९०२ ।)

(प्रेषक—प० श्रीविष्णु बालकृष्ण जोशी कन्नडकर)

उसकूँ पहिचानो पहिचानो, सब घट माँहे चीन्हो ॥ध्रु०॥
अंदर-बाहिर देखा, वोही रूप अरूप अनोखा ।
सचित् सुख कांचनमें, हीरा झलके उस कंचनमें ॥
परमानन्दका आभा, कोटि ज्ञान भानु स्वप्रभा ।
नाथ त्रिलोचनजीका—टीका बदा जन्म जन्मका ॥
बिराजे रोम रोममें राम,
नहि कछु दूजो धाम ।
अगम अपार अनादि अगोचर,
सज्जन मनोऽभिराम ॥ १ ॥
अगम निगम जहँ पार न पावे,
सच्चित् सुख विश्राम ।
टीकाके गुरु नाथ निरंजन,
पावन, पूरनकाम ॥ २ ॥

संत कवीरदासजी

(जन्म—वि० सं० १४५५, ज्येष्ठ शुक्ल १५ । जन्म-स्थान—काशी । माता-पिताका नाम—अज्ञात, नीरू जुलाहे और उसकी पत्नी नीमाद्वारा पालित, गुरु—स्वामी रामानन्द । कुछ महानुभावोंकी मान्यता है कि श्रीकबीरजीका आविर्भाव काशीके लहरतारा तालाबमें कमलके एक अति मनोहर पुष्पके ऊपर बालकरूपमें हुआ था । एक अमुद्रित ग्रन्थमें लिखा है कि किसी महान् योगीके औरस तथा प्रतीचि नामकी देवाङ्गनाके गर्भसे भक्तराज प्रह्लाद ही कबीरके रूपमें प्रकट हुए थे । प्रतीचिने इन्हें कमलपत्रपर रखकर लहरतारा तालाबमें तैरा दिया था और नीरू-नीमा दम्पतिने ले जाकर उनको पाला ।)

(१)

अरे मन धीरज काहे न धरै ।
सुभ और असुभ करम पूरबके, रती घटै न बढ़ै ॥
होनहार होवै पुनि सोई, चिंता काहे करै ।
पसु पछी सब कीट पतंगा, सब ही की सुधि करै ॥
गर्भवास मे खबर लेतु है, बाहर क्यों बिसरै ।
मात पिता सुत संपति दारा, मोह के ज्वाल जरै ॥

मन तू हंसन-से साहिब तजि, भटकत काहे फिरै ।
सतगुरु छाँड़ और को ध्यावे, कारज इक न सरै ।
साधुन सेवा कर मन मेरे, कोटिन ब्याधि हरै ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सहज मैं जीव तरै ॥

(२)

प्रीति उसीसे कीजिये, जो ओड़ निभावै ।
बिना प्रीति के मानवा, कहिं ठौर न पावै ।

नाम सनेही जब मिलै, तब ही सचु पावै ।
अजर अमर घर ले चलै, भव-जल नहिं आवै ॥
ज्यों पानी दरियाव का, दूजा न कहावै ।
हिल मिल एकौ है रहै, सतगुरु समुझावै ॥
दास कबीर विचारि कै, कहि कहि जतलावै ।
आपा मिटि. साहिब मिलै, तब वह घर पावै ॥

(३)

भजि ले सिरजनहार, सुघर तन पाइ कै ॥
काहे रहौ अचेत, कहाँ यह औसर पैहौ ।
फिर नहिं ऐसी देह, बहुरि पाछे पछितैहौ ॥
लख चौरासी जोनि मे, मानुष जनम अनूप ।
ताहि पाइ नर चेतत नाहीं, कहा रंक कहा भूप ॥

गर्भवास में रह्यो कह्यो, मैं भजिहौं तोहीं ।
निसदिन सुमिरौं नाम, कष्ट से काढ़ो मोहीं ॥
चरनन ध्यान लगाइकै, रहौं नाम लौ लाय ।
तनिक न तोहिं बिसारिहौं, यह तन रहै कि जाय ॥

इतना कियौ करार, काढ़ि गुरु बाहर कीन्हा ।
भूलि गयौ वह बात, भयौ माया आधीना ॥
भूलीं बातें उदर की, आनि पड़ी सुधि एत ।
बालकपन बीत्यौ वृथा, खेलत फिरत अचेत ॥

विषया बान समान, देह जोबन मद माते ।
चलत निहारत छाँह, तमक के बोलत बातें ॥
चोवा-चंदन लाइ के, पहिरे बसन रँगाय ।
गली-गली झाँकत फिरे, पर-तिय लखि मुसकाय ॥

तरुनापन गइ बीत, बुढ़ापा आन तुलाने ।
काँपन लागो सीस, चलत दोउ चरन पिराने ॥
नैन-नाक चूवन लगे, मुख तें आवत बास ।
कफ-पित घेरे कंठ सब, छुटि गइ घर की आस ॥

मातु पिता सुत नारि, कहो का के सँग जाई ।
तन धन घर औ धाम धाम, सब ही छुटि जाई ॥
आखिर काल घसीटिहै, परिहौ जम के फंद ।
बिन सतगुरु नहिं बाचिहौ, समुझि देख मतिमंद ॥

सुरत हेत यह देह, नेह सतगुरुसों कीजे ।
मुक्ती मारग जानि, चरन सतगुरु चित दीजे ॥
नाम गहो निरभय रहो, तनिक न व्यापै पीर ।
यह लीला है मुक्ति की, गावत दास कबीर ॥

(४)

नाम-लगन छूटै नहीं, सोइ साधु सयाना हो ॥
माटी को बरतन बन्यो, पानी ले साना हो ।
बिनसत बार न लागिहै, राजा क्या राना हो ॥
क्या सराय का बासना, सब लोग बेगाना हो ।
होत भोर सब उठि चले, दूर देस को जाना हो ॥
आठ पहर सन्मुख लड़ै, सो बाँधे बाना हो ।
जीत चला भवसागर सोइ, सूरा मरदाना हो ॥
सतगुरु की सेवा करै, पावै परवाना हो ।
कहै कबीर धर्मदास से, तेहि काल डेराना हो ॥

(५)

सुमिरन करि ले, नाम सुमिर ले, को जानै कल की,
जगत में खबर नहीं पल की ॥
झूठ-कपट करि माया जोरिन, बात करै छल की ।
पाप की पोट धरे सिर ऊपर, किस विधि है हलकी ॥
यह मन तो है हस्ती मस्ती, काया मट्टी की ।
साँस-साँस में नाम सुमिरि ले, अवधि घटै तन की ॥
काया अंदर हंसा बोलै, खुसियाँ कर दिल की ।
जब यह हंसा निकरि जाहिंगे, मट्टी जंगल की ॥
काम क्रोध मद लोभ निवारो, बात यह असल की ।
ज्ञान बैराग दया मन राखो, कहै कबीर दिल की ॥

(६)

मन रे अब की बेर सम्हारो ।
जन्म अनेक दगा में खोये, बिन गुरु बाजी हारो ॥
बालापने ज्ञान नहिं तन में, जब जनमो तब बारो ।
तरुनाई सुख बाम में खोयो, बाज्यो कूच नगारो ॥
सुत दारा मतलब के साथी, तिन को कहत हमारो ।
तीन लोक औ भवन चतुरदस, सब हि काल को चारो ॥
पूर रह्यो जगदीस गुरू तन, वासे रह्यो नियारो ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब घट देखनहारो ॥

(७)

मन करि ले साहिब से प्रीत ।
सरन आये सो सब ही उबरे, ऐसी उन की रीत ॥
सुंदर देह देखि मत भूलो, जैसे तृन पर सीत ।
काँची देह गिरे आखिर को, ज्यों बारू की भीत ॥
ऐसो जन्म बहुरि नहिं पैहो, जात उमिरि सब बीत ।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपर, देव नगारा जीत ॥

(८)

समुझ देख मन मीत पियारे, आसिक होकर सोना क्या रे ॥
रूखा सूखा राम का टुकड़ा, चिकना और सलोना क्या रे ।
पाया हो तो दे ले प्यारे, पाय-पाय फिर खोना क्या रे ॥
जिन आँखन में नींद घनेरी, तकिया और बिछौना क्या रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सीस दिया तब रोना क्या रे ॥

(९)

है कोई भूला मन समुझावै ।
या मन चंचल चोर हेरि लो, छूटा हाथ न आवै ॥
जोरि-जोरि धन गहिरे गाड़े, जहँ कोइ लेन न पावै ।
कंठ का पौल आइ जम घेरे, दे-दे सैन बतावै ॥
खोटा दाम गाँठि ले बाँधे, बढ़ि-बढ़ि वस्तु भुलावै ।
बोय बबूल दाख फल चाहै, सो फल कैसे पावै ॥
गुरु की सेवा साध की संगत, भाव-भगति बनि आवै ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बहुरि न भव-जल आवै ॥

(१०)

सतसँग लागि रहो रे भाई, तेरी बिगरि बात बन जाई ॥
दौलत-दुनियाँ माल-खजाने, बधिया बैल चराई ।
जबहि काल के डंडा बाजे, खोज-खबरि नहिं पाई ॥
ऐसी भगति करो घट भीतर, छाँड़ कपट-चतुराई ।
सेवा बंदगी अरु अधीनता, सहज मिलैं गुरु आई ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु बात बताई ।
यह दुनियाँ दिन चार दहाड़े, रहो अलख लौ लाई ॥

(११)

जब कोइ रतन पारखी पैहो, हीरा खोल मँजैहो ॥
तन को तुला सुरत को पलरा, मन को सेर बनैहो ।
माशा पाँच पचीस रतीको, तोला तीन चढ़ैहो ॥
अगम अगोचर वस्तु गुरु की, ले सराफ पै जैहो ।
जहँ देख्यो रतन की महिमा, तहवाँ गाँठि मँजैहो ॥
पाँच चोर मिलि घुसे महल में, इन से वस्तु छिपैहो ।
जम राजा के कठिन दूत हैं, उन से भाग बचैहो ॥
दया-धरम से पार उतरिहो, सहज परम पद पैहो ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, हीरा गाँठि लगैहो ॥

(१२)

चार दिन अपनी नौबत बजाय ।
उतने पल्टन, घोड़े पल्टन, संग न कछु लै जाय ॥
देहरी बैठी मेहरी रोवै, द्वारे लौं सँग माय ।
मरघट लौं सब लोग कुटुँब मिलि, हंस अकेला जाय ॥

यहि सुत यहि वित यहि पुर पाटन, बहुरि न देखै आइ ।
कहत कबीर भजन बिन बंदे, जनम अकारथ जाइ ॥

(१३)

मोर बनिजरवा लादे जाय, मैं तो देखहु न पौल्यौं ॥
करम कै सेर धरम कै पलरा, बैल पचीस लदाय ।
भूल गई है सुमारग पैंड़ा, कोइ नाहिं देत बताय ॥
माया पानिन गगिया, बिगति न कहिये रोय ।
जो माया होती नहीं, बिगति कहाँते होय ॥
माया काली नागिनी, जिन डसिया संसार ।
एक डस्यो ना साध जन, जिन के नाम अधार ॥
मंगन से क्या माँगिये, बिन माँगे जो देय ।
कहै कबीर मैं हौं वाहि को, होनी होय सो होय ॥

(१४)

खलक सब रैन का सपना । समझ मन कोइ नहीं अपना ॥
कठिन है मोह की धारा । बहा सब जात संसारा ॥
घड़ा ज्यों नीर का फूटा । पत्र ज्यों डार से टूटा ॥
ऐसे नर जात जिंदगानी । अजहुँ तो चेत अभिमानी ॥
निरखि मत भूल तन गोरा । जगत में जीवना थोरा ॥
तजो मद लोभ चतुराई । रहो निःसंक जग माहीं ॥
सजन परिवार सुत दारा । सभी इक रोज है न्यारा ॥
निकसि जब प्रान जावेंगे । कोई नहिं काम आवेंगे ॥
सदा जिनि जान यह देही । लगा ले नाम से नेही ॥
कटत कबीर अविनासी । फिरे जम काल की फाँसी ॥

(१५)

अब कहँ चले अकेले मीता, उठि किन करहु न घर की चीता ॥
खीर खाँड़ घृत पिंड सँवारा, सो तन लै बाहर करि डारा ॥
जेहि सिर रचि-रचि बाँधेउ पागा, सो सिर रतन बिडारैं कागा ॥
हाड़ जरै जस सूखी लकरी, केस जरै जस तृन की कूरी ॥
आवत संग न जात सँघाती, कहा भये दल बाँधे हाथी ॥
माया के रस लेन न पाया, अँतर बिलार होइ के धाया ॥
कहै कबीर नर अजहुँ न जागा, जम का मुँगरा बरसन लागा ॥

(१६)

जनम तेरो धोखे में बीता जाय ॥
माटी के कोट हम बनिजारा, उड़िगे पंछी बोलनहारा ॥
चार पहर धंधा में बीता, रैन [illegible] ॥
[illegible] ॥
भौसागर में [illegible] ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, [illegible] ॥

(१७)

चेत सबेरे चलना बाट ॥

मन माली तन बाग लगाया, चलत मुसाफिर को बिलमाया ।
विष के लेडुवा देत खियाई, लूट लीन्ह मारग पर हाट ॥
तन सराय में मन अरुझाना, भठियारिन के रूप लुभाना ।
निसि दिन वासे बचि के रहना, सौदा करु सतगुरु की हाट ॥
मन के घोड़ा लियो बनाई, सुरत लगाम ताहि पहिराई ।
जुगति कै एड़ा दियौ लगाई, भौसागर के चौड़ा पाट ॥
जल्दी चेतौ, साहिब सुमिरौ, दसौं द्वार जम घेर लियो है ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अब का सोवै बिछाये खाट ॥

(१८)

जनम सिरान, भजन कब करिहौ ॥

गर्भ-बासमें भगति कबूल्यौ, बाहर आय भुलान ।
बालापन तो खेल गँवायौ, तरुनाई अभिमान ॥
बृद्ध भये तन काँपन लागा, सिर धुन-धुन पछितान ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जम के हाथ बिकान ॥

(१९)

चलना है दूर मुसाफिर, काहे सोवै रे ॥

चेत अचेत नर, सोच बावरे, बहुत नींद मत सोवै रे ।
काम क्रोध मद लोभ मे फँसिकर, उमिरिया काहे खोवै रे ॥
सिर पर माया-मोह की गठरी, संग दूत तेरे होवै रे ।
सो गठरी तोरी बीच में छिनि गइ, मूँड़ पकरि कहा रोवै रे ॥
रस्ता तौ वह दूरि बिकट है, तजि चलब अकेला होवै रे ।
संग-साथ तेरे कोइ न चलैगा, का कै डगरिया जोवै रे ॥
नदिया गहरी नाव पुरानी, केहि बिधि पार तू होवै रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, ब्याज धोखे मूल मत खोवै रे ॥

(२०)

या जग अंधा मैं केहि समुझावौं ॥
इक दुइ होवैं उन्हें समझावौं ।
सबहि भुलाना पेट के धंधा ॥ मैं केहि० ॥
पानी के घोड़ा पवन असवरवा ।
ढरकि परै जस ओस कै बुंदा ॥ मैं केहि० ॥
गहिरी नदिया अगम बहै धरवा ।
खेवनहारा पड़िगा फंदा ॥ मैं केहि० ॥
घर की वस्तु निकट नहिं आवत ।
दियना बारि कै ढूँढ़त अंधा ॥ मैं केहि० ॥
लागी आग, सकल बन जरिगा ।
बिन गुरु-ज्ञान भटकिगा बंदा ॥ मैं केहि० ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो ।
इक दिन जाइ लँगोटी झार बंदा ॥ मैं केहि० ॥

(२१)

काया सराय में जीव मुसाफिर, कहा करत उनमाद रे ।
रैन बसेरा करि ले डेरा, चला सबेरे लाद रे ॥
तन कै चोला खरा अमोला, लगा दाग पर दाग रे ।
दो दिन की जिंदगानी में क्या, जरै जगत की आग रे ॥
क्रोध केंचुली उठी चित्त में, भये मनुष तें नाग रे ।
सूझत नाहिं समुद सुख सागर, बिना प्रेम बैराग रे ॥
सरवन सब्द बूझि सतगुरु से, पूरन प्रगटे भाग रे ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, पाया अचल सुहाग रे ॥

(२२)

बंदे ! करि ले आप निबेरा ।
आप चेत लखु आप ठौर करु, मुए कहाँ घर तेरा ॥
यहि औसर नहिं चेतो प्रानी, अंत कोई नहिं तेरा ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कठिन काल का घेरा ॥

(२३)

भजन बिन यों ही जनम गँवायो ॥

गर्भ बास में कौल कियो तूँ, तब तोहि बाहर लायो ।
जठर अगिन तें काढ़ि निकारो, गाँठि बाँधि क्या लायो ॥
बह-बह मुवो बैल की नाँईं, सोइ रह्यो उठि खायो ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, चौरासी भरमायो ॥

(२४)

का नर सोवत मोह निसा में, जागत नाहिं कूच नियराना ॥
पहिले नगारा सेत केस भे, दूजे बैन सुनत नहिं काना ।
तीजे नैन दृष्टि नहिं सूझै, चौथे आइ गिरा परवाना ॥
मातु-पिता कहना नहिं माने, बिप्रन से कीन्हा अभिमाना ।
धरम की नाव चढ़न नहिं जाने, अब जमराज ने भेद बखाना ॥
होत पुकार नगर कसबे में, रैयत लोग सबै अकुलाना ।
पूरन ब्रह्म की होत तयारी, अंत भवन बिच प्रान लुकाना ॥
प्रेम-नगरिया में हाट लगतु है, जहँ रँगरेजवा है सतवाना ।
कहै कबीर कोइ काम न ऐहैं, माटी के देहिया माटी मिल जाना॥

(२५)

अरे दिल गाफिल ! गफलत मत कर,
इक दिन जम तेरे आवेगा ॥
सौदा करन को या जग आया, पूँजी लाया मूल गँवाया,
प्रेम-नगर का अंत न पाया, ज्यों आया त्यों जावेगा ॥

सुन मेरे साजन, सुन मेरे मीता, या जीवन में क्या-क्या बीता,
सिर पाहन का बोझा लीता, आगे कौन छुड़ावेगा ॥
परली पार मेरा मीता खड़िया, उस मिलने का ध्यान न धरिया,
टूटी नाव ऊपर जा बैठा, गाफिल गोता खावेगा ॥
दास कबीर कहै समुझाई, अंत काल तेरो कौन सहाई,
चला अकेला संग न कोई, किया आपना पावेगा ॥

(२६)

तेरो को है रोकनहार, मगन से आव चली ॥
लोक लाज कुल की मर्जादा, सिर से डारि अली ।
पटक्यो भार मोह-माया को, निरभय राह गही ॥
काम क्रोध हँकार कल्पना, दुरमति दूर करी ।
मान-अभिमान दोऊ धर पटके, होइ निसंक रही ॥
पाँच पचीस करे बस अपने, करि गुरु ज्ञान छड़ी ।
अगल बगल के मारि उड़ाये, सनमुख डगर धरी ॥
दया-धर्म हिरदे धरि राख्यो, पर उपकार बड़ी ।
दया सरूप सकल जीवन पर, ज्ञान गुमान भरी ॥
छिमा सील संतोष धीर धरि, करि सिंगार खड़ी ।
भई हुलास मिली जब पिय को, जगत बिसारि चली ॥
चुनरी सबद विवेक पहिरिकै, घर की खबर परी ।
कपट किवरियाँ खोल अंतर की, सतगुरु मेहर करी ॥
दीपक ज्ञान धरे कर अपने, पिय को मिलन चली ।
बिहसत बदन रु मगन छबीली, ज्यों फूली कमल-कली ॥
देख पिया को रूप मगन भइ, आनँद प्रेम भरी ।
कहै कबीर मिली जब पिय से, पिय हिय लागि रही ॥

(२७)

नाम अमल उतरै ना भाई ।
और अमल छिन छिन चढ़ि उतरै, नाम-अमल दिन बढ़ै सवाई ॥
देखत चढ़ै, सुनत हिय लागै, सुरत किये तन देत घुमाई ।
पियत पियाला भये मतवाला, पायो नाम मिटी दुचिताई ॥
जो जन नाम-अमल रस चाखा, तर गइ गनिका सदन कसाई ।
कहै कबीर गूँगे गुड़ खाया, बिन रसना क्या करै बड़ाई ॥

(२८)

नित मंगल होरी खेलो, नित बसंत नित फाग ॥
दया-धर्म की केसर घोरो, प्रेम प्रीति पिचुकार ।
भाव-भगति से भरि सतगुरु तन, उमँग उमँग रँग डार ॥
छिमा अबीर चरच चित चंदन, सुमिरन-ध्यान धमार ।
ज्ञान गुलाल, अगर कस्तूरी सुफल जनम नर-नार ॥
चरनामृत परसाद चरन-रज, अपने सीस चढ़ाव ।
लोक-लाज, कुल-कान छाड़ि कै, निरभय निसान बजाव ॥
कथा-कीरतन मँगल महोछव, कर साधन की भीर ।
कभी न काज बिगरिहै तेरो, सत-सत कहत कबीर ॥

(२९)

मन ! तोहिं नाच नचावै माया ॥
आसा-डोरि लगाइ गले बिच, नट जिमि कपिहि नचाया ।
नावत सीस फिरै सबही को, नाम सुरत बिसराया ॥
काम हेतु तुम निसि-दिन नाचे, का तुम भरम भुलाया ।
नाम हेतु तुम कबहुँ न नाचे, जो सिरजल तोरी काया ॥
ध्रुव प्रह्लाद अचल भये जासे, राज विभीषन पाया ।
अजहूँ चेत हेत कर पिउ से, हे रे निलज बेहाया ॥
सुख संपति सब साज बड़ाई, लिखि तेरे साथ पठाया ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, गनिका बिमान चढ़ाया ॥

(३०)

दुविधा को करि दूर, धनी को सेव रे ।
तेरी भौसागर में नाव, सुरत से खेव रे ॥
सुमिरि-सुमिरि गुरु-नाम, चिरजिव जीव रे ।
नाम-खाँड़ बिन मोल, घोल कर पीव रे ॥
काया में नहिं नाम, गुरु के हेत का ।
नाम बिना बेकाम, मटीला खेत का ॥
ऊँचे बैठि कचहरी, न्याव चुकावते ।
ते माटी मिलि गये, नजर नहिं आवते ॥
तू माया धन धाम, देखि मत भूल रे ।
दिना चार का रंग, मिलैगा धूल रे ॥
बार-बार नर-देह, नहीं यह सीर रे ।
चेत सकै तो चेत, कहै कब्बीर रे ॥
यह कलि ना कोइ अपनो, का सँग बोलिये रे ।
ज्यों मैदानी रूख, अकेला डोलिये रे ॥
माया के मद माते, सुनैं नहिं कोई रे ।
क्या राजा क्या रंक, बियाकुल दोई रे ॥
माया का बिस्तार, रहै नहिं कोई रे ।
ज्यों पुरइनि पर नीर, थीर नहिं होई रे ॥
थिर थोयो संसार, अमृत कम पावै रे ।
पुरब जन्म तेरो कीन्ह, दोस कित लावै रे ॥
मन आवै मन जावै, मनहिं बटोरो रे ।
मन बुड़वै मन तारै, मनहिं निहोरो रे ॥
कहै कबीर यह मंगल, मन समझाओ रे ।
समाधि के कहीं पयाम, बहुरि नहिं आओ रे ॥

(३१)

तोरी गठरीमें लागे चोर, बटोहिया का सोवै ॥
पाँच पचीस तीन है चुरवा, यह सब कीन्हा सोर ।
जागु सवेरा बाट अनेरा, फिर नहिं लागे जोर ॥
भवसागर इक नदी बहतु है, बिन उतरे जाव बोर ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जागत कीजे भोर ॥

(३२)

कौनौ ठगवा नगरिया लूटल हो ।
चंदन काठ कै बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो ॥
उठो री सखी मोरी माँग सँवारो, दुलहा मो से रूठल हो ।
आये जमराज पलँग चढ़ि बैठे, नैनन अँसुआ टूटल हो ॥
चारिजने मिलि खाट उठाइन, चहुँदिसि धू-धू ऊठल हो ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो ! जग से नाता छूटल हो ॥

(३३)

नैहरवा हम को न भावै ॥
साईंकी नगरि परम अति सुंदर, जहँ कोई जाय न आवै ।
चाँद सूरज जहँ पवन न पानी, को सँदेस पहुँचावै ॥
दरद यह साईं को सुनावै ॥ नैहर० ॥
आगे चलौं पंथ नहिं सूझै, पाछे दोष लगावै ।
केहि बिधि ससुरे जाउँ मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै ॥
बिषैरस नाच नचावै ॥ नैहर० ॥
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई, जो यह राह बतावै ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सुपने न पीतम पावै ॥
तपन यह जिय की बुझावै ॥ नैहर० ॥

(३४)

घूँघट का पट खोल री,
तोहे पीव मिलेंगे ॥
घट-घट रमता राम रमैया,
कटुक बचन मत बोल री ॥ तोहे० ॥
रंग महल में दीप बरत है,
आसन से मत डोल री ॥ तोहे० ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधू,
अनहद बाजत ढोल री ॥ तोहे० ॥

(३५)

आई गँवनवाँ की सारी, उमिरि अब हीं मोरि बारी ॥टेक॥
साज-समाज पिया लै आये, और कहरिया चारी ।
बम्हना बेदरदी अँचरा पकरि कै, जोरत गठिया हमारी ॥
सखी सब पारत गारी ॥आई०॥
बिधि गति बाम कछु समुझि परति ना, बैरी भई महतारी ।
रोय-रोय अँखियाँ मोरि पोंछत, घरवा सों देत निकारी ॥
भई सब को हम भारी ॥आई०॥
गौन कराय पिया लै चाले, इत-उत बाट निहारी ।
छूटत गाँव-नगर सों नाता, छूटै महल-अटारी ॥
करम-गति टरै न टारी ॥आई०॥
नदिया किनारे बलम मोर रसिया, दीन्ह घूँघट पट टारी ।
थरथराय तनु काँपन लागे, काहु न देख हमारी ॥
पिया लै आये गोहारी ॥आई०॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, यह पद लेहु बिचारी ।
अब के गौना बहुरि नहिं औना, करि ले भेंट अँकवारी ॥
एक बेर मिलि ले प्यारी ॥आई०॥

(३६)

हमकाँ ओढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ ॥
प्रान राम जब निकसन लागे, उलटि गई दोउ नैन पुतरिया ।
भीतर से जब बाहर लाये, छूटि गई सब महल-अटरिया ॥
चार जने मिलि खाट उठाइनि, रोवत लै चले डगर-डगरिया ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया ॥

(३७)

हमन है इस्क मस्ताना, हमन को होसियारी क्या ।
रहैं आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ॥
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते ।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तिजारी क्या ॥
खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है ।
हमन गुरु-नाम साँचा है, हमन दुनिया से यारी क्या ॥
न पल बिछुड़ै पिया हम से, न हम बिछुड़ैं पियारे से ।
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या ॥
कबीरा इस्क का माता, दुई को दूर कर दिल से ।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ॥

(३८)

मन लागो मेरो यार फकीरी में ॥
जो सुख पावौं नाम भजन में, सो सुख नाहिं अमीरी में ।
भली-बुरी सब की सुनि लीजै, कर गुजरान गरीबी में ॥
प्रेम-नगर में रहनि हमारी, भलि बनि आई सबूरी में ।
हाथ में कूँड़ी बगल में सोंटा, चारो दिसि जगीरी में ॥
आखिर यह तन खाक मिलैगा, कहा फिरत मगरूरी में ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहिब मिलै सबूरी में ॥

(३९)

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न औगुन बकसहु मेरा ॥
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते ॥
कर गहि केस करै जौ घाता, तऊ न हेत उतारै माता ॥
कहै कबीर एक बुद्धि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥

(४०)

अब मोहि राम भरोसा तेरा।
और कौन का करौं निहोरा ॥
जा के राम सरीखा साहिब भाई।
सो क्यूँ अनत पुकारन जाई ॥
जा सिरि तीनि लोक कौ भारा।
सो क्यूँ न करै जन की प्रतिपारा ॥
कहै कबीर सेवौ बनवारी।
सींची पेड़ पीवै सब डारी ॥
हरि नाम दिन जाइ रे जाकौ।
सोइ दिन लेखै लाइ राम ताकौ ॥

(४१)

हरि नाम मैं जन जागै, ताकै गोबिंद साथी आगै ॥
दीपक एक अभंगा, तामैं सुर-नर पड़ैं पतंगा ॥
ऊँच नीच सम सरिया, तातैं जन कबीर निसतरिया ॥

(४२)

लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक, सब घट रह्यौ समाई ॥
अल्ला एकै नूर उपजाया, ता की कैसी निंदा।
ता नूर तें सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा ॥
ता अल्ला की गति नहीं जानी, गुरि गुड़ दीया मीठा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहिब दीठा ॥

(४३)

रे सुख अब मोहि बिष भरि लागा।
इनि सुख डहके मोटे-मोटे, छत्रपति राजा ॥
उपजै बिनसै जाइ बिलाई, संपति काहू के संगि न जाई ॥
धन-जोबन गरब्यो संसारा, यहु तन जरि-बरि ह्वै है छारा ॥
चरन-कँवल मन राखि ले धीरा, राम रमत सुख कहै कबीरा ॥

(४४)

[illegible] देही रे।
नवौं दुवार नरक भरि मूँदे, तू दुरगंधि की बेढ़ी रे ॥
जे जारे तौ होइ भसम तन, रहत किरम उहिं खाई।

सूकर स्वान काग को भखिलन, ता में कहा भलाई ॥
फूटे नैन हृदै नहिं सूझै, मति एकै नहिं जानी।
माया मोह ममिता सूँ बाँध्यो, बूड़ि मुवौ बिन पानी ॥
बारू के घरवा में बैठो, चेतत नहीं अयानी।
कहै कबीर एक राम भगति बिन, बूड़े बहुत सयानी ॥

(४५)

कहूँ रे जे कहिबे की होहि।
ना कोउ जानैं ना कोउ मानैं, तातैं अचिरज मोहि ॥
अपने-अपने रँगके राजा, मानत नाहीं कोइ।
अति अभिमान-लोभ के घाले, चले अपनपौ खोइ ॥
मैं-मेरी करि यहु तन खोयौ, समझत नहीं गँवार।
भौजलि अधफर थाकि रहे, बूड़े बहुत अपार ॥
मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूँ समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि-कहि हार्यौ, अब मोहि दोस न लाइ ॥

(४६)

मन रे राम सुमिरि राम सुमिरि, राम सुमिरि भाई।
राम नाम सुमिरन बिना, बूड़त अधिकाई ॥
दारा-सुत गेह-नेह, संपति अधिकाई।
या में कछु नाहिं तेरो, काल अवधि आई ॥
अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हा।
तेउ उतरि पारि गये, राम नाम लीन्हा ॥
स्वान सूकर काग कीन्हौं, तऊ लाज न आई।
राम नाम अमृत छाँड़ि, काहे बिष खाई ॥
तजि भरम-करम बिधि-निषेद, राम नाम लेही।
जन कबीर गुरु-प्रसादि, राम करि सनेही ॥

(४७)

राम भजै सो जानिये, जाके आतुर नाहीं।
संत सँतोष लिये रहै, धीरज मन माहीं ॥
जन कौ काम-क्रोध ब्यापै नहीं, त्रिष्ना न जरावै।
प्रफुलित आनँद में रहै, गोबिंद गुन गावै ॥
जनको परनिंदा भावै नहीं, अरु असति न भाखै।
जन सम दिष्टि सीतल सदा, दुबिधा नहीं आनै ॥
कहै कबीर ता दास सूँ, मेरा मन मानै ॥

(४८)

कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज, टका दस गंठिया, टेढ़ो टेढ़ो जात ॥
कहा लै आयौ यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात।
दिवस चारि की है पतिसाही, ज्यूँ बनि हरियल पात ॥

राजा भयो, गाँव सौ पाये, टका लाख, दस ब्रात।
रावन होत लंक कौ छत्रपति, पल में गई बिहात॥
माता पिता लोक सुत बनिता, अंत न चले संगात।
कहै कबीर राम भजि बौरे, जनम अकारथ जात॥

(४९)

अब मोहि जलत राम जल पाइया।
राम उदक तन जलत बुझाइया॥
मन मारन कारन वन जाइये।
सो जल बिन भगवंत न पाइये॥
जेहि पावक सुर-नर है जारे।
राम उदक जन जलत उबारे॥
भवसागर सुखसागर माँहीं।
पीव रहे जल निखुटत नाहीं॥
कहि कबीर भजु सारिंगपानी।
राम-उदक मेरी त्रिषा बुझानी॥

(५०)

तू तो राम सुमर, जग लडवा दे।
कोरा कागज काली स्याही, लिखत पढत वा कौ पढ़वा दे॥
हाथी चलत है अपनी गत में, कुतर भुकत वा कौ भुकवा दे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, नरक पचत वा कौ पचवा दे॥

(५१)

नही छोड़ूँ रे बाबा रामनाम, मेरे और पढन सों नही काम॥
प्रह्लाद पठाये पढन साल, संग सखा बहु लिये बाल॥
मो कौं कहा पढावत आलजाल, मेरी पटिया पै लिख दे श्रीगोपाल॥
यह षंडामरकै कह्यो जाय, प्रह्लाद बुलाये बेग धाय॥
तू राम कहन की छोड़ बान, तोहे तुरत छुडाऊँ कहो मान॥
मो कौ कहा सताओ बारबार, प्रभु जल थल नभ कीन्हें पहार॥
एक राम न छोड़ूँ गुरहि गार, मो को घालजार, चाहे मार डाल॥
काढ खडग कोप्यो रिसाय, कहुं राखनहारो, मोहि बताय॥
प्रभु खंभ तें निकसे है बिस्तार, हरिणाकुस छेद्यो नख बिदार॥
श्रीपरमपुरुष देवाधिदेव! भक्त हेत नरसिंह भेख॥
कहे कबीर कोऊ लख न पार, प्रह्लाद उबारे अनेक बार॥

(५२)

झीनी-झीनी बीनी चदरिया॥
काहे कै ताना, काहे कै भरनी,
कौन तार से बीनी चदरिया॥
इँगला-पिंगला ताना-भरनी,
सुषमन-तार से बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै,
पाँच तत्त गुन तीनि चदरिया॥
साँइ कौ सियत मास दास लागै,
ठोक-ठोक कै बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
ओढ़ि कै मैली कीन्हीं चदरिया॥
दास कबीर जतन सों ओढ़ी,
ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हीं चदरिया॥

(५३)

बीत गये दिन भजन बिना रे।
बाल अवस्था खेल गँवाई, जब जवानि तब नारि तना रे॥
जा के कारन मूल गँवायो, अजहुँ न गइ मन की तृस्ना रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, पार उतर गये संत जना रे॥

(५४)

मन! तोहे केहि बिधि कर समझाऊँ॥
सोना होय तो सुहाग मँगाऊँ, बंकनाल रस लाऊँ।
ग्यान शब्द की फूँक चलाऊँ, पानी कर पिघलाऊँ॥
घोड़ा होय तो लगाम लगाऊँ, ऊपर जीन कसाऊँ।
होय सवार तेरे पर बैठूँ, चाबुक दे कै चलाऊँ॥
हाथी होय तो जंजीर गढाऊँ, चारों पैर बँधाऊँ।
होय महावत तेरे पर बैठूँ, अंकुस लै कै चलाऊँ॥
लोहा हो तो ऐरन मँगाऊँ, ऊपर धुवन धुवाऊँ।
धूवन की घनघोर मचाऊँ, जंतर तार खिंचाऊँ॥
ग्यानी होय तो ग्यान सिखाऊँ, सत्य की राह चलाऊँ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, अमरापुर पहुँचाऊँ॥

(५५)

रहना नहिं देस बिगाना है॥
यह संसार कागज की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँटों की बाड़ी उलझ-उलझ मर जाना है॥
यह संसार झाड़ अरु झाँखर, आग लगे जल जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥

(५६)

इन तन-धन की कौन बड़ाई, देखत नैनों में माटी मिलाई॥
अपने खातिर महल बनाया, आप हि जाकर जंगल सोया॥
हाड जले जैसे लकड़ी की कोली, बाल जले जैसे घास की पोली॥
कहत कबीर सुनो मेरे गुनिया, आप मुवे पीछे डूब गयी दुनिया॥

(५७)

भजो रे भैया राम गोविंद हरी।
जप तप साधन कछु नहिं लागत खरचत नहिं गठरी॥
संतति संपति सुख के कारन जासों भूल परी।
कहत कबीर जा मुख में राम नहिं ता मुख धूल भरी॥

(५८)

निर्धन को धन राम, हमारो निर्धन को धन राम।
चोर न लेवे, घटहु न जावे, कष्ट में आवे काम॥
सोवत-जागत, ऊठत, बैठत जपो निरंतर नाम।
दिन-दिन होत सवाई दौलत, खूटत नहीं छदाम॥
अंतकाल में छोड़ चलत सब, पास न एक बदाम।
कहत कबीर ए धन के आगे पारस को क्या काम॥

(५९)

कब सुमिरोगे राम, अब तुम कब सुमिरोगे राम।
गर्भवास में भजन-कर कीन्हे, निकल हुए बेइमान॥
बालपनो हँसि खेल गँवायो, तरुन भये मन काम।
हाथ-पाँव जब काँपन लागे, निकल गयो अवसान॥
छूटी काया, छूटी माया, आखिर मौत निदान।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, दो दिन का मेहमान॥

(६०)

इस सराय के बीच मुसाफिर क्या-क्या तमाशा हो रहा॥
कोइ समेटत बिस्तरा है, कोइ जमा के सो रहा।
कोइ बजावे, कोइ गावे, कोइ बैठा रो रहा॥
कोई लगावत है सुगंधी, कोइ मैला धो रहा।
कोइ लेवै राम नाम औ कोइ काँटा बो रहा॥
कोई बटोर माल-दौलत, कोइ गाँठ से खो रहा।
हो रही हलचल कबीरा, आज-कल दिन दो रहा॥

दोहा

गुरु

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, का के लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दिया मिलाय॥
सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुँद की मसि करूँ, गुरु-गुन लिखा न जाय॥
कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥
गुरू बड़े गोविंद तें, मन में देखु बिचारि।
हरि सुमिरे सो वार है, गुरु सुमिरे सो पार॥
यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥
जा का गुरु है आँधरा, चेला निरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दोऊ कूप परंत॥
समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम बिकार।
जहँ देखौ तहँ एक ही, साहिब का दीदार॥
कबीर जोगी जगत गुरु, तजै जगत की आस।
जो जग की आसा करै, तो जगत गुरू, वह दास॥

नाम

आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥
नाम जो रत्ती एक है, पाप जो रत्ती हजार।
आध रती घट संचरै, जारि करै सब छार॥
राम नाम निज औषधी, सत गुरु दई बताय।
औषधि खाय रु पथ रहै, ता को बेदन जाय॥
सपनेहुँ मैं बर्राइ कै, धोखेहु निकरै नाम।
वा के पग की पैंतरी, मेरे तन की चाम॥
नाम जपत कुष्टी भला, चुइ चुइ परै जु चाम।
कँचन देह केहि काम की, जा मुख नाहीं नाम॥
सुख के माथे सिलि परै, जो नाम हृदय तें जाय।
बलिहारी वा दुक्ख की, पल-पल नाम रटाय॥
लेने को सत नाम है, देने को अन दान।
तरने को आधीनता, बूड़न को अभिमान॥
मोर-तोर की जेवरी, बटि बाँधा संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जा के नाम अधार॥

सुमिरन

सुमिरन सों सुख होत है, सुमिरन सों दुख जाय।
कह कबीर सुमिरन किये, साँई माहिं समाय॥
दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे होय॥
सुमिरन की सुधि यों करै, जैसे दाम कँगाल।
कह कबीर बिसरै नहीं, पल-पल लेइ सम्हाल॥
जप तप संजम साधना, सब सुमिरन के माहिं।
कबीर जाने भक्त जन, सुमिरन सम कछु नाहिं॥

साधन

समदृष्टी तब जानिये, सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एक-सी सोय॥

हंसा पय को काढ़ि ले, छीर-नीर निरवार ।
ऐसे गहै जो सार को, सो जन उतरै पार ॥
द्वार धनी के पड़ि रहै, धका धनी का खाय ।
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छाड़ि न जाय ॥
भवसागर मे यों रहौ, ज्यों जल कँवल निराल ।
मनुवाँ वहाँ लै राखिये, जहाँ नहीं जम काल ॥
जानि-बूझि जड़ होइ रहै, बल तजि निर्बल होय ।
कह कबीर वा दास को, गंजि सकै नहिं कोय ॥
बाद-बिवादे बिष घना, बोले बहुत उपाध ।
मौन गहै, सब की सहै, सुमिरै नाम अगाध ॥
रोड़ा होइ रहु बाट का, तजि आपा अभिमान ।
लोभ मोह तृस्ना तजै, ताहि मिलै भगवान ॥
जग मैं बैरी कोउ नहीं, जो मन सीतल होय ।
यह आपा तू डारि दे, दया करै सब कोय ॥
बहुत पसारा जनि करै, करु थोरे की आस ।
बहुत पसारा जिन किया, तेई गये निरास ॥
मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार है, सो साधू कोइ एक ॥
निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय ।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय ॥

उद्बोधन

कबीर गर्ब न कीजिये, काल गहे कर केस ।
ना जानौं कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस ॥
रात गँवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय ।
हीरा जनम अमोल यह, कौड़ी बदले जाय ॥
काल्ह करै सो आज करु, आज करै सो अब्ब ।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ॥
पाव पलक की सुधि नहीं, करै काल्ह का साज ।
काल अचानक मारसी, ज्यों तीतर कौं बाज ॥
कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय ।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय ॥
या दुनिया में आइ कै, छाड़ि देइ तू ऐंठ ।
लेना होय सो लेइ ले, उठी जात है पैठ ॥
मैं मैं बड़ी बलाय है, सको तो निकसो भागि ।
कहै कबीर कब लगि रहै, रुई लपेटी आगि ॥
देह धरे का गुन यही, देह देह कछु देह ।
बहुरि न देही पाइये, अब की देह सो देह ॥
धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय ।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय ॥

कबीर तूँ काहे डरै, सिर पर सिरजनहार ।
हस्ती चढ़ि कर डोलिये, कूकर भुसै हजार ॥
जो तू चाहै मुक्त को, राखौ और न आस ।
मुक्तहिं सरीखा होइ रहु, सब सुख तेरे पास ॥
कबीर सोया क्या करै, जागि के जपो मुरार ।
एक दिना है सोवना, लाँबे पाँव पसार ॥
कबीर सोया क्या करै, उठिल न रोवै दुक्ख ।
जा का बासा गोर मैं, सो क्यों सोवै सुक्ख ॥
कबीर सोया क्या करै, जागन की करु चौंप ।
ये दम हीरा लाल हैं, गिनि-गिनि गुरु कौं सौंप ॥

शरीर एवं जगत्‌की नश्वरता

हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास ।
सब जग जरता देख करि, भये कबीर उदास ॥
झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद ।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥
कुसल-कुसल ही पूछते, जग में रहा न कोय ।
जरा मुई ना भय मुआ, कुसल कहाँ ते होय ॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जाति ।
देखत ही छिपि जायगी, ज्यों तारा परभाति ॥
पाँचौ नौबत बाजती, होत छतीसों राग ।
सो मंदिर खाली परे, बैठन लागे काग ॥
कबीर थोड़ा जीवना, माँडै बहुत मँडान ।
सबही ऊभा मौत मुँह, राव रंक सुल्तान ॥
कहा चुनावै मेड़ियाँ, लंबी भीति उसारि ।
घर तो साढ़े तीन हथ, घना तो पौने चारि ॥
कबिरा गर्ब न कीजिये, ऊँचा देखि अवास ।
काल्ह परै भुइँ लेटना, ऊपर जमसी घास ॥
माटी कहै कुम्हार कौ, तूँ क्या रूँदे मोहिं ।
इक दिन ऐसा होइगा, मै रूँदूँगी तोहिं ॥
कबीर यह तन जात है, सकै तो राखु बहोरि ।
खाली हाथों वे गये, जिन के लाख-करोरि ॥
आसपास जोधा खड़े, सभी बजावैं गाल ।
मंझ महल से लै चला, ऐसा काल कराल ॥
चलती चक्की देखि कै दिया कबीरा रोय ।
दो पाटन के बीच में बाकी बचा न कोय ॥
हाँकों परबत फाटते, समुँदर घूँट भराय ।
ते मुनिवर धरती गले, क्या कोइ गर्ब कराय ॥
तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय ।
कोउ काहू का है नहीं, (सब) देखा ठोंक बजाय ॥

काल चक्र चक्की चलै, सदा दिवस अरु रात।
सगुन अगुन दुइ पाटला, तामें जीव पिसात॥
आमै पासै जो फिरै, निपटु पिसावै सोय।
कीला से लागा रहै, ता को बिघन न होय॥
माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकारि।
फूली फूली चुनि लई, काल्ह हमारी बारि॥
जो ऊगै सो आथवै, फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सो ढहि परै, जामै सो मरि जाय॥
मनुष जन्म दुर्लभ अहै, होय न बारंबार।
तरुवर से पत्ता झरै, बहुरि न लागै डार॥
देखा-देखी भक्ति को, कबहुँ न चढ़सी रंग।
बिपति पड़े यों छाँड़सी, ज्यों केंचुली भुजंग॥

उपदेश

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय॥
अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥
जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वा को है तिरसूल॥
दुर्बल को न सताइये, जा की मोटी हाय।
बिना जीव की स्वास से, लोह भसम है जाय॥
ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय॥
हस्ती चढ़िये ज्ञान की, सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है, भूँकन दे झख मारि॥
आवत गारी एक है, उलटत होय अनेक।
कह कबीर नहिं उलटिये, वही एक की एक॥
जैसा अन-जल खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय॥
बारा था तो क्यों रहा, अब करि क्यों पछिताय।
बोवै पेड़ बबूल का, आम कहाँ तें खाय॥
दान दिये धन ना घटै, नदी ना घटै नीर।
अपनी आँखों देखिये, यों कथि कहै कबीर॥
छिमा बड़न को चाहिये, छोटन को उतपात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात॥
हेत प्रीति से जो मिलै, तासो मिलिये धाय।
अंतर राखे जो मिलै, ता से मिलै बलाय॥

रूखा-सूखा खाइ कै, ठंडा पानी पीव।
देखि बिरानी चोपड़ी, मत ललचावै जीव॥

बिरह

माँस गया पिंजर रहा, ताकन लागे काग।
साहिब अजहुँ न आइया, मंद हमारे भाग॥
आय सकौं नहिं तोहि पै, सकौं न तुज्झ बुलाय।
जियरा यौं लय होयगा, विरह तपाय तपाय॥
अंक भरी भरि भेटिये, मन नहिं बाँधे धीर।
कह कबीर ते क्या मिले, जब लगि दोय सरीर॥
कबीर चिनगी बिरह की, मो तन पड़ी उड़ाय।
तन जरि धरती हू जरी, अंबर जरिया जाय॥
सब रग ताँत, रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, के साँई के चित्त॥

प्रेम

सोवौं तो सुपने मिलै, जागौं तो मन माहिं।
लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं॥
यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥
सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ ले जाय॥
प्रेम प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न चीन्है कोय।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिनु प्रान॥
प्रेम [illegible] मैं सुवा, [illegible] [illegible]।
[illegible] न कीजिये, [illegible] [illegible] [illegible]॥
प्रेम बिना धीरज नहीं, बिरह बिना बैराग।
सतगुरु बिन जावै नहीं, मन मनसा का दाग॥
प्रेम तो ऐसा कीजिये, जैसे चंद चकोर।
घींच टूटि भुइँ माँ गिरै, चितवै वाही ओर॥
[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]॥

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं ।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुख की सरधा नाहिं ॥
नैनों अंतर आव तूँ, नैन झाँपि तोहि लेवँ ।
ना मैं देखौं और कौ, ना तोहि देखन देवँ ॥
कबीर या जग आइ कै, कीया बहुतक मित्त ।
जिन दिल बाँधा एक से, ते सोवैं निःचित्त ॥
पिउ परिचय तब जानिये, पिउ से हिलमिल होय ।
पिउ की लाली मुख पड़े, परगट दीसै सोय ॥
लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल ॥
मन पंछी तब लगि उड़ै, बिषय बासना माहिं ।
प्रेम बाज की झपट में, जब लगि आयो नाहिं ॥

विनय

मैं अपराधी जनम का, नख-सिख भरा विकार ।
तुम दाता दुख-भंजना, मेरी करौ सम्हार ॥
अवगुन मेरे बाप जी, बकस गरीब निवाज ।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता को लाज ॥
औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार ।
भावै बंदा बकसिये, भावैं गरदन मार ॥
साहिब तुमहि दयाल हौ, तुम लगि मेरी दौर ।
जैसे काग जहाज को, सूझै और न ठौर ॥
भुक्ति मुक्ति माँगौं नहीं, भक्ति दान दे मोहिं ।
और कोई जाँचौं नहीं, निसि दिन जाँचौं तोहिं ॥
कबीर साईं मुज्झ को, रूखी रोटी देय ।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, रूखी छीनि न लेय ॥

साधु

सिंहों के लेहँड़े नहीं, हँसों की नहिं पाँत ।
लालों की नहिं बोरियाँ, साध न चलै जमात ॥
सिंह साधु का एक मत, जीवत ही को खाय ।
भाव हीन मिरतक दसा, ता के निकट न जाय ॥
गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारी सों नेह ।
कह कबीर ता साध के, हम चरनन की खेह ॥
जाति न पूछौ साध की, पूछि लीजिये ग्यान ।
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥
संगति कीजै संत की, जिन का पूरा मन ।
अनतोले ही देत हैं, नाम-सरीखा धन ॥
कबीर संगत साध की, हरै और की ब्याधि ।
संगत बुरी असाध की, करै और ही ब्याधि ॥
कबीर संगत साध की, ज्यों गंधी का बास ।
जो कछु गंधी दे नहीं, तौ भी बास सुबास ॥
साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय ।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय ॥
औगुन को तो ना गहै, गुन ही को ले बीन ।
घट-घट महकै मधू ज्यों, परमातम लै चीन्ह ॥
हरिजन तो हारा भला, जीतन दे संसार ।
हारा सतगुरु से मिलै, जीता जमकी लार ॥
कथा कीरतन रात दिन, जा के उद्यम येह ।
कह कबीर ता साधु की, हम चरनन की खेह ॥
साधु भया तो क्या भया, बोलै नाहिं विचार ।
हतै पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार ॥

पतिव्रता

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं ।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाहिं ।
हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय ।
हाँसी खेले पिउ मिलै, तो कौन दुहागिनि होय ।
पतिबरता मैली भली, काली कुचिल कुरूप ।
पतिबरता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप ।
पतिबरता पति को भजे, और न आन सुहाय ।
सिंह बचा जो लंघना, तो भी घास न खाय ॥

सत्य

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप ॥
साँई सों साँचा रहौ, साँई साँच सुहाय ।
भावै लंबे केस रखु, भावै घोट मुँड़ाय ॥
तेरे अंदर साँच जो, बाहर कछु न जनाव ।
जाननहारा जानिहै, अंतरगति का भाव ॥
साँचे स्राप न लागई, साँचे काल न खाय ।
साँचे को साँचा मिलै, साँचे माहिं समाय ॥

सिद्धान्त

जिन ढूँढा तिन पाइया, गहिरे पानी पैठि ।
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठि ॥
संगति भई तो क्या भया, हिरदा भया कठोर ।
नौ नेजा पानी चढ़ै, तऊ न भीजै कोर ॥
कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूँढै बन माहिं ।
ऐसे घट में पीव है, दुनियाँ जानै नाहिं ॥

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय ।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परगट होय ॥
पावक रूपी साइयाँ, सब घट रहा समाय ।
चित चकमक लागै नहीं, ता तें बुझि-बुझि जाय ॥
भय बिनु भाव न ऊपजै, भय बिनु होय न प्रीति ।
जब हिरदे से भय गया, मिटी सकल रस रीति ॥
डर करनी, डर परम गुरु, डर पारस, डर सार ।
डरत रहै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार ॥
जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप ।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप ॥
चाह गई चिंता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह ।
जिन को कछू न चाहिये, सो जग शाहनशाह ॥

मनके दोष

कामी क्रोधी लालची, इन से भक्ति न होय ।
भक्ति करै कोइ सूरमा, जाति बरन कुल खोय ॥
कामी कबहुँ न गुरु भजै, मिटै न संशय सूल ।
और गुनह सब बकसिहौं, कामी डार न मूल ॥
जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम ।
दोनों कबहूँ ना मिलै, रवि रजनी इक ठाम ॥
काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि घट मैं खान ।
कहा मूरख कहा पंडिता, दोनों एक समान ॥
कोटि करम लागे रहैं, एक क्रोध की लार ।
किया-कराया सब गया, जब आया अहँकार ॥
दसों दिसा से क्रोध की, उठी अपरबल आगि ।
सीतल संगति साध की, तहाँ उबरिये भागि ॥
कुबुधि कमानी चढ़ि रही, कुटिल बचन का तीर ।
भरि भरि मारै कान में, सालै सकल सरीर ॥
जब मन लागा लोभ से, गया विषय में सोय ।
कहै कबीर विचारि कै, कस भक्ती धन होय ॥
आव गई, आदर गया, नैनन गया सनेह ।
ये तीनों जबहीं गये, जबहिं कहा कछु देह ॥
जग में भक्त कहावई, चुकट चून नहिं देय ।
सिर जोरू का है रहा, नाम गुरू का लेय ॥
जब घट मोह समाइया, सबै भया अँधियार ।
निर्मोह ग्यान विचारि कै, कोइ साधू उतरै पार ॥
सलिल मोह की धार में, बहि गये गहिर गँभीर ।
सुच्छम मछरी सुरत है, चढ़िहै उलटे नीर ॥

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह ।
मान बड़ाई ईरषा, दुरलभ तजनी येह ॥
बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर ।
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर ॥
जहँ आपा तहँ आपदा, जहँ संसय तहँ सोग ।
कह कबीर कैसे मिटै, चारों दीरघ रोग ॥
बड़ा बड़ाई ना तजै, छोटा बहु इतराय ।
ज्यों प्यादा फरजी भया, टेढ़ा-टेढ़ा जाय ॥
चित कपटी सब से मिलै, नाहीं कुटिल कठोर ।
इक दुरजन इक आरसी, आगे पीछे और ॥
की त्रिस्ना है डाकिनी, की जीवन का काल ।
और-और निसु दिन चहै, जीवन करै बिहाल ॥
त्रिस्ना अग्नि प्रलय किया, तृप्त न कबहूँ होय ।
सुर नर मुनि और रंक सब, भस्म करत है सोय ॥
दोष पराये देखि करि, चले हसंत-हसंत ।
अपने याद न आवहीं, जिनका आदि न अंत ॥
खट्टा मीठा चरपरा, जिभ्या सब रस लेय ।
चोरों कुतिया मिलि गई, पहरा किस का देय ॥
माखी गुड़ मैं गड़ि रही, पंख रह्यो लिपटाय ।
हाथ मलै और सिर धुनै, लालच बुरी बलाय ॥
बिद्यामद अरु गुनहुँ मद, राजमद्द उनमद्द ।
इतने मद कौं रद करै, तब पावै अनहद्द ॥

गुण

दीन लखै मुख सबन को, दीनहिं लखै न कोय ।
भली बिचारी दीनता, नरहुँ देवता होय ॥
कबीर नवै सो आप को, पर कौं नवै न कोय ।
घालि तराजू तौलिये, नवै सो भारी होय ॥
ऊँचे पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय ।
नीचा होय सो भरि पिवै, ऊँचा प्यासा जाय ॥
सब तें लघुताइ भली, लघुता तें सब होय ।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नवै सब कोय ॥
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय ।
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न होय ॥
दाया दिल में राखिये, तूँ क्यों निरदइ होय ।
साँई के सब जीव हैं, कीड़ी कुंजर सोय ॥
बोली तो अनमोल है, जो कोइ जानै बोल ।
हिये तराजू तौल कै, तब मुख बाहर खोल ॥

सहज-तराजू आन करि, सब रस देखा तोल ।
सब रस माहीं जीभ रस, जो कोइ जानै बोल ॥

माया

माया छाया एक-सी, बिरला जानै कोय ।
भगता के पाछे फिरै, सनमुख भागै सोय ॥
कबीर माया रूखड़ी, दो फल की दातार ।
खावत खरचत मुक्ति दे, संचत नरक दुवार ॥
सौ पापन का मूल है, एक रुपैया रोक ।
साधू ह्वै संग्रह करै, हारै हरि-सा थोक ॥

अहिंसा

मांस अहारी मानवा, परतछ राच्छस अंग ।
ता की संगति करे तें, परत भजन में भंग ॥
मांस मछरिया खात हैं, सुरा पान से हेत ।
सो नर जड़ सों जाहिंगे, ज्यों मूरी का खेत ॥
मांस मांस सब एक है, मुरगी हिरनी गाय ।
आँखि देखि नर खात है, ते नर नरकहिं जाय ॥
मुरगी मुल्ला से कहै, जिबह करत है मोहिं ।
साहिब लेखा माँगसी, संकट परिहै तोहिं ॥
कहता हों कहि जात हौ, कहा जो मान हमार ।
जा का गर तुम काटिहौ, सो फिर काटि तुम्हार ॥
हिंदू के दाया नहीं, मिहर तुरुक के नाहिं ।
कहै कबीर दोनों गये, लख चौरासी माहिं ॥

संत कमालजी

(कबीरजीके पुत्र एवं शिष्य । समाधि, मगहरमें कबीर साहबकी समाधिके पास ।)

चेतावनी और उपदेश

इतना जोग कमाय के साधू, क्या तूने फल पाया ।
जंगल जाके खाक लगाये, फेर चौरासी आया ॥
राम भजन है अच्छा रे । दिल में रखो सचा रे ।
जोग जुगत की गत है न्यारी, जोग जहर का प्याला ।
जीने पाये उने दुपावे, वो ही रहे मतवाला ॥
जोग कमाय के बाबू होना, ये तो बड़ा मुस्कल है ।
दोनों हात जब निकल गये, फेर सुधरन भी मुस्कल है ॥
सुख से बैठो आपने मेहल में, राम भजन अच्छा है ।
कछु काया छीजे नहीं खरचे, ध्यान धरो सचा है ॥
कहत कमाल सुनो भाई साधू, सब से पंथ न्यारा है ।
वेद शास्तर की बात येही, जम के माथे पगरा है ॥
ये तनु किसोकी किसोकी । आखर बस्ती जंगल की ॥
काहे कूँ दिवाने सोच करे, मेरी माता और पुत्ती ।
ये तो सब झूठ पसारा, राम करो अपना साथी ॥
खाये पिये सुख से बैठे, फेर उठ के चले जाती ।
बिरख की छाया, सुख की मीठी, एक घड़ी का साथी ॥
कहत कमाल सुनो भाई साधू, सपन भया राती ।
खिन में राजा खिन में रंक, ऐसी राह चलती ॥
आसरा एक करतार का रख तू,
बीच मैदान के बाँध ताटी ।
रहेगा वोही जिन्हें खल्क पैदा किया,
और सब होयगा खाक माटी ॥
अमीर उमराव दिन चार के पाहुने,
घूमता है दरबार हाथी ।
कहत कमाल कबीर का बालका,
राम नाम तेरा संग साथी ॥

संत धनी धरमदासजी

(जन्म-संवत्—अनुमानतः १४९०वि०, जन्म-स्थान—बाँधोगढ़, जाति—बनिया, शरीरान्त, वि०सं० १६००के लगभग । गुरु कबीरजी)

नाम रस ऐसो है भाई ॥
आगे आगे दाहि चलै, पाछे हरियर होइ ।
बलिहारी वा बृच्छ की, जड़ काटे फल होइ ॥
अति कडुवा खट्टा घना रे, वा को रस है भाई ।
साधत साधत साध गये हैं, अमली होय सो खाई ॥
सूँघत के बौरा भये हो, पीयत के मरि जाई ।
नाम रस सो जन पिये, धड़ पर सीस न होई ॥
संत जवारिस सो जन पावै, जा को ग्यान परगासा ।
धरमदास पी छकित भये हैं, और पिये कोइ दासा ॥

घड़ा एक नीर का फूटा। पत्र एक डार से टूटा॥
ऐसे हि नर जात जिंदगानी। अजहु नहिं चेत अभिमानी॥
भूलो जनि देख तन गोरा। जगत में जीवना थोरा॥
निकरि जब प्रान जावैगा। कोई नहिं काम आवैगा॥
सजन परिवार सुत दारा। गमी एक रोज होइ न्यारा॥
तजो मद लोभ चतुराई। रहो निरसंक जग माहीं॥
सदा ना जान ये देही। लगावो नाम से नेही॥
कहै धर्मदास कर जोरी। चलो जहँ देस है तोरी॥

सुचित होइ सब्द बिचारो हो॥

सब्द बिचार नाम धर दीपक, लै उर बारो हो।
जुगन जुगन कै अरुझनि, छन में निरुवारो हो॥
पंथे चलो गरीब होय, मद मोह निवारो हो।
साहेब नैन निकट बसै, सत दरस निहारो हो॥
आपे जगत जिताइ के, मन सब से हारो हो।
जवन बिधी मनुवा मरे, सोइ भाँति सम्हारो हो॥
बास करो सत लोक मैं, दुख नगर उजारो हो।
धरमदास निज नाम पर, तन मन धन वारो हो॥

साहेब दीनबंधु हितकारी।

कोटिन ऐगुन बालक करई, मात पिता चित एक न धारी॥
तुम गुरु मात पिता जीवन के, मैं अति दीन दुखारी।
प्रनत पाल करुनानिधान प्रभु, हमरी ओर निहारी॥
जुगन जुगन से तुम चलि आये, जीवन के हितकारी।
सदा भरोसे रहूँ तुम्हारे, तुम प्रतिपाल हमारी॥
मोरे तुम हीं सत्त सुकृत हौ, अंतर और न धारी।
जानत हौ जन के तन मन की, अब कस मोहिं बिसारी॥
को कहि सकै तुम्हारी महिमा, केहि न दियो पद भारी।
धरमदास पर दाया कीन्ही, सेवक अहौं तुम्हारी॥

साहेब मोरी बहियाँ सम्हारि गही॥

गहिरी नदिया नाव झाँझरी, बोझा अधिक भई।
मोह लोभ की लहर उठत है, नदिया झकोर बही॥
तुमहिं बिगारो तुमहिं सँवारो, तुमहिं भंडार भरो।
जब चाहो तब पार लगावो, नहिं तो जात बहो॥
कुमति काटि के सुमति बढ़ाओ, बल बुधि ग्यान दई।
मैं पापी बहु बेरी चूकूँ, तुम मेरी चूक सही॥
धरमदास सरन सतगुरु के, अब धुनि लाग रही।
अमर लोक में डेरा परिगै, समरथ नाम सही॥

पिया परदेसिया, गवन लै जा मोर॥

आव भाव का अनवट बिछुआ, सब्द के घुँघुरू उठे घनघोर।
तन सारी मन रतन लहँगवा, ग्यान की अँगिया भई सरबोर॥
चारि जना मिलि लेइ चले हैं, जाइ उतारे जमुनवाँ के कोर।
धरमदास बिनवै कर जोरी, नगरी के लोग कहैं कुल बोर॥

गर्भ दुक्ख तें काढ़ि, प्रगट प्रभु बाहर कीन्हो।
भक्ति अंग को छापि, अंक दस्तक लिखि दीन्हो॥
वा को नाम बिसरि गयो, जिन पठयो संसार।
रंचक सुख के कारने, बिसरि गयो निज सार॥
नहिं जाने केहि पुन्य, प्रगट भे मानुष देही।
मन बच कर्म सुभाव, नाम सो कर ले नेही॥
लख चौरासी भरमि के, पायो मानुष देह।
सो मिथ्या कस खोवते, झूठी प्रीति सनेह॥
माया रंग कुसुम्म, महा देखन को नीको।
मीठो दिन दुइ चार, अंत लागत है फीको॥
कोटिन जतन रह्यो नहीं, एक अंग निज मूल।
ज्यों पतंग उड़ि जायगो, ज्यों माया कापूर॥
नाम क रंग मँजीठ, लगै छूटै नहिं माई।
लचपच रहो समाय, सार ता में अधिकाई॥
केती बार धुलाइये, दे दे करड़ा धोय।
ज्यों ज्यों भट्ठी पर दिये, त्यों त्यों उजल होय॥
सोवत हो केहि नींद, मूढ़ मूरख अग्यानी।
भोर भये परभात, अबहिं तुम करो पयानी॥
अब हम साँची कहत हैं, उड़ियो पंख पसार।
छुटि जैहौ या दुक्ख तें, तन-सरवर के पार॥
ऐसा यह संसार, रहँट की जैसी घरियाँ।
इक रीती फिरि जाय, एक आवै फिरि भरियाँ॥
उपजि उपजि बिनसन करै, फिरि फिरि जमै गिराम।
यही तमासा देखि कै, मनुवा भयो उदास॥
जैसे कलपि कलपि के, भये है गुड़ की माखी।
चाखन लागी बैठि, लपट गइ दोनों पाँखी॥
पंख लपेटे सिर धुनै, मनहीं मन पछिताय।
वह मलयागिरि छाँडि कै, इहाँ कौन बिधि आय॥
रहे दूध के दूध, जाय पानी के पानी।
सुनो स्रवन चित लाय, वहीं कछु अकथ कहानी॥
अष्ट कमल तें सुति उठी, अनुभव सब्द प्रकास।
केवल नाम कबीर है, गावै धनि धरमदास॥

पुण्यदान

नरकी प्राणियोंके दुःखसे दुखी

पुराणकी एक कथा है—

एक महान् पुण्यात्मा नरेशका शरीरान्त हो गया। शरीर तो अन्त होनेवाला है—क्या पापी, क्या पुण्यात्मा; किंतु शरीरका अन्त होते ही यह सम्मुख आ जाता है कि शरीरसे सत्कर्म या दुष्कर्म करनेका क्या फल है। महान् पुण्यात्मा नरेशका शरीर छूटा था। संयमनीके स्वामी धर्मराजके दूत बड़े सुन्दर स्वरूप धारण कर उस राजाके जीवको लेने आये। बड़े आदरसे वे उसे ले चले।

मनुष्य कितना भी सावधान हो—छोटी-मोटी भूल हो जाना स्वाभाविक रहता है। राजासे भी जीवनमें कोई साधारण भूल हुई थी। धर्मराजने अपने सेवकोंको आदेश दिया था—'उस पुण्यात्माको कोई कष्ट न हो, उसका तनिक भी तिरस्कार न हो, यह ध्यान रखना। उसे पूरे सम्मानसे और सुखपूर्वक ले आना। लेकिन इस प्रकार ले आना कि वह नरकोंको देख ले। उसके साधारण प्रमादका फल इतना ही है कि उसको नरक-दर्शन हो जाय। उसके पुण्य अनन्त हैं। स्वर्गमें उसके स्वागतकी प्रस्तुति हो चुकी है।'

दूतोंको अपने अध्यक्षकी आज्ञाका पालन करना था। राजा नरकके मध्यसे होकर जाने लगे। उनके लिये तो यह मार्ग भी सुन्दर, शीतल ही था; किंतु चारों ओरसे आती लक्ष-लक्ष जीवोंके करुण क्रन्दनकी ध्वनि, भयंकर चीत्कारें, हृदयद्रावक आहें वहाँ सुनायी पड़ रही थीं। राजाने पूछा धर्मराजके दूतोंसे—'यहाँ कौन क्रन्दन कर रहे हैं?'

धर्मराजके दूतोंने कहा—'ये सब पापी जीव हैं। ये अपने-अपने पापोंका दण्ड यहाँ नरकोंमें पा रहे हैं।'

'लेकिन अब इनकी चीत्कारें बंद क्यों हो गयीं?' राजाने इधर-उधर देखकर पूछा।

'आप-जैसे महान् पुण्यात्मा यहाँसे आ रहे हैं। आपके शरीरसे लगी वायु नरकोंमें जाकर वहाँकी ज्वाला शान्त कर देती है। नरकके प्राणियोंका दारुण ताप इससे क्षणभरको शान्त हो गया है। इसीसे उनका चिल्लाना बंद है।' धर्मराजके दूतोंको सच्ची बात ही कहनी थी।

'महाराज! कृपा करके आप अभी जायँ नहीं। आपके यहाँ खड़े रहनेसे हमें बड़ी शान्ति मिली है।' चारों ओरसे नरकमें पड़े प्राणियोंकी प्रार्थना उसी समय सुनायी पड़ी।

'आप सब धैर्य रक्खें। मेरे यहाँ रहनेसे आप सबको सुख मिलता है तो मैं सदा यहीं रहूँगा।' पुण्यात्मा राजाने नरकके प्राणियोंको आश्वासन दिया।

धर्मराजके दूत बड़े संकटमें पड़ गये। वे उस महान् धर्मात्माको बलपूर्वक वहाँसे ले नहीं जा सकते थे और स्वयं उसने आगे जाना अस्वीकार कर दिया। 'एक पुण्यात्मा पुरुष नरकमें कैसे रह सकता है?' स्वयं धर्मराज, देवराज इन्द्रके साथ वहाँ पहुँचे। वहाँ—नरकमें अमरावतीके अधीश्वर इन्द्रको आना पड़ा उस पुण्यात्माको समझाने।

'मैं अपना सब पुण्य इन नरकमें पड़े जीवोंको दान करता हूँ।' राजाने धर्मराज और देवराजके समक्ष हाथमें जल लेकर संकल्प कर दिया।

'अब आप पधारें!' देवराज इन्द्र अपने साथ विमान ले आये थे। 'आप देख ही रहे हैं कि नरककी दारुण ज्वाला शान्त हो गयी है। नरकमें पड़े सभी जीव विमानोंमें बैठ-बैठकर स्वर्ग जा रहे हैं। अब आप भी चलें।'

'मैंने अपना सब पुण्यदान कर दिया है। मैं अब स्वर्ग कैसे जा सकता हूँ। मैं अकेला ही नरकमें रहूँगा।' राजाने धर्मराजकी ओर देखा। देवराज यदि भूल करते हों—कर्मोंके निर्णायक धर्मराज भूल नहीं कर सकते।

'आप स्वर्ग पधारें!' धर्मराजके मुखपर स्मित रेखा आयी। 'अपने समस्त पुण्योंका दान करके जो महान् पुण्य किया है, उसका फल तो आपको मिलना ही चाहिये। दिव्यलोक आपका है।'
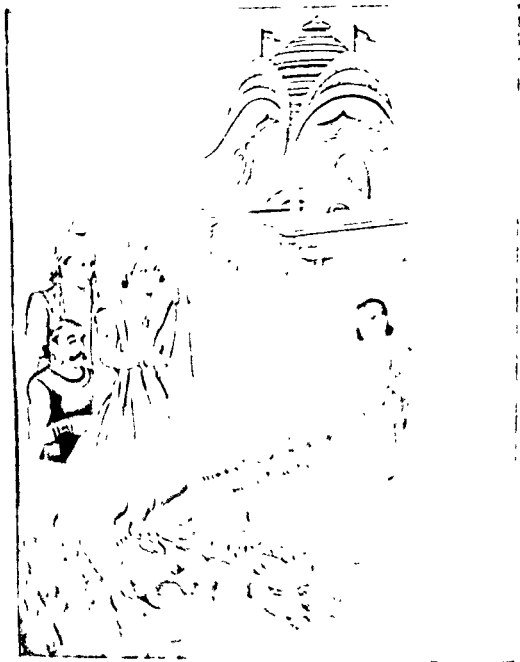
संत ज्ञानेश्वरका एकात्मभाव

संत ज्ञानेश्वरका एकात्मभाव

निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव और उनकी छोटी बहिन मुक्ताबाई—ये चार बालक—बालक ही थे चारों। सबसे बड़े निवृत्तिनाथकी आयु भी केवल सोलह वर्षकी थी। ज्ञानेश्वर चौदह वर्षके, सोपानदेव बारह वर्षसे कुछ अधिक और मुक्ताबाई तो ग्यारहवें वर्षमें पदार्पण करनेवाली बच्ची थी। ये चारों बालक आलन्दीसे पैदल चलकर पैठण आये थे।

यह बाल संतोंकी मंडली—कोई किसीसे कम कहने योग्य नहीं। बड़े भाई निवृत्तिनाथ तो साक्षात् निवृत्तिकी मूर्ति थे। वे ही गुरु थे अपने छोटे भाइयों और बहिनके। सांसारिक कोई प्रवृत्ति उनके चित्तको स्पर्श ही नहीं करती थी।

ज्ञानदेव—ज्ञानेश्वरजी तो जन्मसे योगिराज थे। योगकी सभी सिद्धियाँ उनके चरणोंमें निवास करती थीं। वे ज्ञानकी साक्षात् मूर्ति—अपने नामका अर्थ बतलाते हुए उन्होंने पैठणमें कहा—'मैं सकल आगमका वेत्ता हूँ।'

सोपानदेव तो परमार्थके सोपान थे जीवोंके लिये। सांसारिक प्राणियोंको भजनमें लगाना, उन्हें भगवद्धामका मार्ग सुलभ कराना—यह कार्य उनका ही था। जीवकी उन्नतिके वे सोपान थे और मुक्ताबाईकी बात कोई क्या कहेगा। महाराष्ट्रके वारकरी-साहित्यसे तनिक भी जिसका परिचय है, वह जानता है कि मुक्ताबाईका तो अवतार ही जीवोंको मुक्त करनेके लिये हुआ था।

परम पावन जन्मजात ये चार बाल संत पैठण आये थे। उन्हें ब्राह्मणोंसे शुद्धिपत्र लेना था। जो लोकको अपनी चरण-रजसे शुद्ध कर रहे थे, उन्हें शुद्धि-पत्र चाहिये था। बात समझमें आनेकी है—यदि सर्वश्रेष्ठ पुरुष ही मर्यादाका पालन न करें, शास्त्रकी मर्यादा लोकमें प्रतिष्ठित कैसे रहे। संन्यासी पिताने गुरुकी आज्ञासे गृहस्थ-धर्म स्वीकार कर लिया—वे संन्यासीके बालक थे। शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंसे शुद्धिपत्र लेने आये थे वे।

'इस भैंसेका नाम भी ज्ञानदेव है।' दुष्ट कहाँ नहीं होते ? एक दुष्ट प्रकृतिके व्यक्तिने पैठणमें ज्ञानदेवको चिढ़ाते हुए एक भैंसेकी ओर संकेत किया।

'हाँ, है ही तो।' ज्ञानदेव चिढ़ जानेवाले होते तो ज्ञानदेव क्यों कहलाते। वे कह रहे थे—'भैंसेमें और हममें अन्तर क्या है। नाम और रूप तो कल्पित हैं और आत्मतत्त्व एक ही है। भेदकी कल्पना ही अज्ञान है।'

'अच्छा, यह बात है ?' उस दुष्टने भैंसेकी पीठपर सटासट कई चाबुक मार दिये।

यह क्या हुआ ? चाबुक पड़ी भैंसेकी पीठपर और उसकी चोटके चिह्न—रक्त-जमी काली साटें ज्ञानेश्वरकी पीठपर उभड़ आयीं। उनमें रक्त छलछला आया।

'मैं अज्ञानी हूँ। मुझे क्षमा करें।' दुष्टके लिये ज्ञानदेवके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगनेके अतिरिक्त उपाय क्या था।

'तुम भी ज्ञानदेव हो। क्षमा कौन किसे करेगा ?' ज्ञानेश्वर महाराजकी एकात्मभावना अखण्ड थी—'किसीने किसीका अपराध किया हो तो क्षमाकी बात आवे। सबमें एक ही पण्ढरीनाथ व्यापक हैं।'

सर्वव्यापक पण्ढरीनाथको सर्वत्र देखनेवाले भुवनवन्द्य संत धन्य हैं।

संत रैदास

(जन्म-संवत्—अज्ञात, कबीरदासजीके सम-सामयिक, जन्म-स्थान—काशी, जाति—चमार, पिताका नाम—रग्घू, माताका नाम—घुरबिनिया, स्वामी रामानन्दजीके शिष्य ।)

हरि-सा हीरा छाड़ि कै, करै आन की आस ।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास ॥

(१)

गाइ-गाइ अब का कहि गाऊँ ।
गावनहार को निकट बताऊँ ॥
जब लग है या तन की आसा, तब लग करै पुकारा ।
जब मन मिल्यौ आस नहिं तन की, तब को गावनहारा ॥
जब लग नदी न समुद समावै, तब लग बढ़ै हँकारा ।
जब मन मिल्यौ राम सागर सों, तब यह मिटी पुकारा ॥
जब लग भगति मुकति की आसा, परम तत्त्व सुनि गावै ।
जहँ-जहँ आस धरत है यह मन, तहँ-तहँ कछू न पावै ॥
छाड़ै आस निरास परम पद, तब सुख सति कर होई ।
कह रैदास जासों और करत है, परम तत्त्व अब सोई ॥

(२)

ऐसो कछु अनभौ कहत न आवै ।
साहिब मिलै तो को बिलगावै ॥
सब मे हरि है, हरि मैं सब है, हरि अपनो जिन जाना ।
साखी नहीं और कोइ दूसर, जाननहार सयाना ॥
बाजीगर सों राचि रहा, बाजी का मरम न जाना ।
बाजी झूठ, साँच बाजीगर, जाना मन पतियाना ॥
मन थिर होइ तो कोइ न सूझै, जानै जाननहारा ।
कह रैदास बिमल बिवेक सुख, सहज सरूप सँभारा ॥

(३)

राम बिन संसय-गाँठि न छूटै ।
काम क्रोध लोभ मद माया, इन पचन मिलि लूटै ॥
हम बड़ कवि कुलीन हम पंडित, हम जोगी संन्यासी ।
ग्यानी गुनी सूर हम दाता, यहु कहै मति नासी ॥
पढ़े-गुने कछु समुझि न परई, जौं लौं भाव न दरसै ।
लोहा हिरन होइ धौं कैसे, जौं पारस नहिं परसै ॥
कह रैदास और असमुझसी, चालि परे भ्रम भोरे ।
एक अधार नाम नरहरि को, जिवन प्रानधन मोरे ॥

(४)

संतो ! अनिन भगति यह नाहीं ।
जब लग सिरजत मन पाँचों गुन, ब्यापत है या माहीं ॥
सोई आन अँतर कर हरि सो, अपमारग को आनै ।
काम क्रोध मद लोभ मोह की, पल-पल पूजा ठानै ॥
सत्य सनेह इष्ट अँग लावै, अस्थल अस्थल खेलै ।
जो कछु मिलै आन आखत सों, सुत दारा सिर मेलै ॥
हरि-जन हरिहि और ना जानैं, तजै आन तन त्यागी ।
कह रैदास सोई जन निर्मल, निसि दिन जो अनुरागी ॥

(५)

अब कछु मरम बिचारा हो हरि !
आदि अंत औसान राम बिन, कोइ न करै निवारा हो हरि ॥
अब मैं पंक पंक अमृत जल, जलहि सुद्ध होइ जैसे ।
ऐसे करम-भरम जग बाँध्यो, छूटै तुम बिन कैसे हो हरि ॥
जप-तप बिधी-निषेध नाम कै, पाप पुन्न दोउ माया ।
ऐसे मोहि तन मन गति बीमुख, जनम-जनम डँहकाया हो हरि ॥
ताड़न छेदन त्रायन खेनन, बहु बिधि कर ले उपाई ।
लोन-खड़ी संजोग बिना जस, कनक कलंक न जाई हो हरि ॥
भन रैदास कठिन कलि के बल, कहा उपाय अब कीजै ।
भव बूड़त भयभीत जगत जन, कर-अवलंबन दीजै हो हरि ॥

(६)

त्यों तुम कारन केसवे, लालच जिव लागा ।
निकट नाथ प्रापत नहीं, मन मोर अभागा ॥
सागर सलिल सरोदिका, जल थल अधिकाई ।
स्वाति-बुंद की आस है, पिउ प्यास न जाई ॥
जौं रे सनेही चाहिये, चित्त बहु दूरी ।
पंगुल फल न पहूँच ही, कछु साध न पूरी ॥
कह रैदास अकथ कथा, उपनिषद सुनीजै ।
जस तूँ तस तूँ तस तुहीं, कस उपमा दीजै ॥

(७)

ऐसी भगति न होइ रे भाई ।
राम-नाम बिन जो कुछ करिये, सो सब भरम कहाई ॥
भगति न रस दान भगति न कथै ग्यान ।
भगति न बन मैं गुफा खुदाई ॥
भगति न ऐसी हाँसी भगति न आसापासी ।
भगति न यह सब कुल-कान गँवाई ॥

भगति न इंद्री बाँधा भगति न जोग साधा।
भगति न अहार घटाई ये सब करम कहाई॥
भगति न इंद्री साधे भगति न बैराग बाँधे।
भगति न ये सब बेद बड़ाई॥
भगति न मूँड़ मुँड़ाये भगति न माला दिखाये।
भगति न चरन धुवाये ये सब गुनी जन कहाई॥
भगति न तौ लौं जाना आप को आप बखाना।
जोइ-जोइ करै सो-सो करम-बड़ाई॥
आपो गयो तब भगति पाई ऐसी भगति भाई।
राम मिल्यो आपो गुन खोयो रिधि-सिधि सबै गँवाई॥
कह रैदास छूटी आस सब, तब हरि ताही के पास।
आत्मा थिर भई तब सबही निधि पाई॥

(८)

केसवे बिकट माया तोर, ताते बिकल गति-मति मोर॥
सुबिषंग गन कराल अहिमुख, ग्रसित सुठल सुभेष।
निरखि मारवी बकै ब्याकुल, लोभ कालर देख॥
इंद्रियादिक दुक्ख दारुन, असंख्यादिक पाप।
तोहि भजन रघुनाथ अंतर, ताहि त्रास न ताप॥
प्रतिज्ञा प्रतिपाल प्रतिज्ञा चिह्न, जुग भगति पूरन काम।
आस तोर भरोस है, रैदास जै जै राम॥

(९)

तुम चरनारबिंद भँवर मन।
पान करत मैं पायो राम-धन॥
संपति-बिपति पटल माया घन।
ता में मगन होइ कैसे तेरो जन॥
कहा भयो जो गत तन छन-छन।
प्रेम जाइ तौ डरै तेरो निज जन॥
प्रेमरजा लै राखो हृदै धरि,
कह रैदास छूटिबो कवन परि॥

(१०)

रे चित ! चेत अचेत काहे, बालक को देख रे।
जाति ते कोई पद नहिं पहुँचा, रामभगति बिसेख रे॥
षटक्रम सहित जे बिप्र होते, हरिभगति चित दृढ़ नाहिं रे।
हरि की कथा सुहाय नाहीं, सुपच तूलै ताहि रे॥
मित्र-शत्रु अजात सब ते, अंतर लावै हेत रे।
लाग वा की कहाँ जानै, तीन लोक पवेत रे॥
अजामील गज गनिका तारी, काटी कुंजर की पास रे।
ऐसे दुरमत मुक्त किये, तो क्यों न तरै रैदास रे॥

(११)

जो तुम तोरो राम ! मैं नहिं तोरौं।
तुम से तोरि कवन से जोरौं॥
तीरथ-बरत न करौं अँदेसा।
तुम्हरे चरन-कमल क भरोसा॥
जहँ-जहँ जाऊँ तुम्हारी पूजा।
तुम-सा देव और नहिं दूजा॥
मैं अपनो मन हरि से जोर्‌यों।
हरि से जोरि सबन से तोर्‌यों॥
सब ही पहर तुम्हारी आसा।
मन-क्रम-बचन कहै रैदासा॥

(१२)

थोथो जनि पछोरो रे कोई।
जोइ रे पछोरो, जा में नाज-कन होई॥
थोथी काया, थोथी माया,
थोथा हरि बिन जनम गँवाया॥
थोथा पंडित, थोथी बानी।
थोथी हरि बिन सबै कहानी॥
थोथा मंदिर भोग-बिलासा।
थोथी आन देव की आसा॥
साचा सुमिरन नाम बिसासा।
मन बच कर्म कहै रैदासा॥

(१३)

का तूँ सोवै, जाग दिवाना।
झूठी जिउन सत्त करि जाना॥
जिन जनम दिया सो रिजक उमड़ावै,
घट-घट भीतर रहट चलावै।
करि बंदगी छाड़ि मैं-मेरा,
हृदय करीम सँभारि सबेरा॥
जो दिन आवै सो दुख में जाई,
कीजे कूच रह्यो सच नाहीं।
संगि चली है, हम भी चलना,
दूर गवन, सिर ऊपर मरना॥
जो कुछु बोया, लुनिये सोई,
ता में फेर-फार कस होई।
छाड़िय कूर, भजे हरि चरना,
ताको मिटै जनम अरु मरना॥

आगे पंथ खरा है झीना,
खाँडे-धार जैसा है पैना।
जिस ऊपर मारग है तेरा,
पंथी पंथ सँवार सवेरा॥
क्या तैं खरचा, क्या तैं खाया, चल दरहाल दिवान बुलाया।
साहिब तो पै लेखा लेसी, भीड़ पड़े तूँ भरि-भरि देसी॥
जनम सिराना, किया पसारा, सुझि परयो चहुँदिसि अँधियारा।
कह रैदास अग्यान दिवाना, अजहुँ न नेतहु नीफँद खाना॥

(१४)

हरि बिन नहिं कोइ पतीत-पावन, आनहिं ध्यावै रे।
हम अपूज्य पूज्य भये हरि तें, नाम अनूपम गावै रे॥
अष्टादस व्याकरन बखानै, तीन काल षट जीता रे।
प्रेम भगति अंतरगति नाहीं, ता ते धानुक नीका रे॥
ता तै भलो स्वान को सत्रु, हरि चरनन चित लावै रे।
मुआ मुक्त वैकुंठ बास, जिवत यहाँ जस पावै रे॥
हम अपराधी नीच घर जनमे, कुटुँब लोक करै हाँसी रे।
कह रैदास राम जपु रसना, कटै जनम की फाँसी रे॥

(१५)

चल मन! हरि-चटसाल पढ़ाऊँ॥
गुरु की साटी, ग्यान का अच्छर,
बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊँ॥
प्रेम की पाटी, सुरति की लेखनि,
ररौ ममौ लिखि आँक लखाऊँ॥
येहि विधि मुक्त भये सनकादिक,
हृदय बिचार-प्रकास दिखाऊँ॥
कागद कँवल मति ससि करि निर्मल,
बिन रसना निसदिन गुन गाऊँ॥
कह रैदास राम भजु भाई,
संत साखि दे बहुरि न आऊँ॥

(१६)

कहु मन! राम नाम सँभारि।
माया के भ्रम कहा भूल्यो, जाहुगे कर झारि॥
देखि धौं इहाँ कौन तेरो, सगा सुत नहिं नारि।
तोरि उतँग सब दूरि करिहैं, देहिंगे तन जारि॥
प्रान गये कहो कौन तेरा, देखि सोच-बिचारि।
बहुरि येहि कलिकाल नाहीं, जीति भावै हारि॥
यहु माया सब थोथरी रे, भगति दिस प्रतिहारि।
कह रैदास सत बचन गुरु के, सो जिव तें न बिसारि॥

(१७)

तेरी प्रीत गोपाल सों जनि घटै हो।
मैं मोलि महँगे लई तन सटै हो॥
हृदय सुमिरन करूँ, नैन अवलोकनो,
स्रवनों हरिकथा पूरि राखूँ।
मन मधुकर करौं, चित्त चरना धरौं,
राम-रसायन रसना चाखूँ॥
साधु सँगत बिन भाव न ऊपजै,
भाव-भगति क्यों होइ तेरी।
बदत रैदास रघुनाथ सुनु बीनती,
गुरु-परसाद कृपा करो मेरी॥

(१८)

जो तुम गोपालहि नहिं गैहौ।
तो तुम काँ सुख में दुख उपजै, सुख हि कहाँ ते पैहौ॥
माला नाय सकल जग डहको झूँठो भेख बनैहौ।
झूँठे ते साँचे तब होइहौ, हरिकी सरन जब ऐहौ॥
कनरस बतरस और सबै रस झूँठहि मूँड़ डोलैहौ।
जब लगि तेल दिया में बाती देखत ही बुझि जैहौ॥
जो जन राम नाम रँग राते और रंग न सुहैहौ।
कह रैदास सुनो रे कृपानिधि प्रान गये पछितैहौ॥

(१९)

अब कैसे छुटै नाम-रट लागी॥
प्रभुजी! तुम चंदन, हम पानी।
जा की अँग-अँग बास समानी॥
प्रभुजी! तुम घन, बन हम मोरा।
जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी! तुम दीपक, हम बाती।
जा की जोति बरै दिन राती॥
प्रभुजी! तुम मोती, हम धागा।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥
प्रभुजी! तुम स्वामी, हम दासा।
ऐसी भक्ति करै रैदासा॥

(२०)

प्रभुजी! संगति सरन तिहारी।
जग-जीवन राम मुरारी॥
गली-गली को जल बहि आयो,
सुरसरि जाय समायो।

संगत के परताप महातम,
नाम गँगोदक पायो॥
स्वाँति बूँद बरसै फनि ऊपर,
सीस बिषै होइ जाई।
ओही बूँद के मोती निपजै,
संगति की अधिकाई॥
तुम चंदन, हम रेंड बापुरे,
निकट तुम्हारे आसा।
संगत के परताप महातम,
आवै बास सुबासा॥
जाति भी ओछी, करम भी ओछा,
ओछा कसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है,
कह रैदास चमारा॥

(२१)

जो दिन आवहिं सो दिन जाहीं।
करना कूच, रहनु थिरु नाहीं॥
संगु चलत है, हम भी चलना।
दूरि गवनु, सिर ऊपरि मरना॥
क्या तू सोया, जागु अयाना।
तैं जीवन-जग सचु करि जाना॥
जिनि दीया सु रिजकु अँबरावै।
सभ घट भीतरि हाटु चलावै॥
करि बंदिगी, छाँडि मैं मेरा।
हिरदै नामु सम्हारि सवेरा॥
जनमु सिरानो, पंथु न सँवारा।
साँझ परी, दह दिसि अँधियारा॥
कह रविदास निदान दिवाने!
चेतसि नाहिं दुनिया फन खाने॥

(२२)

चित सिमरन करौं, नैन अवलोकनो,
स्रवन बानी सुजसु पूरि राखौं॥
मनु सु मधुकरु करौं चरन हिरदे धरौं,
रसन अमृत रामनाम भाखौं॥
मेरी प्रीति गोबिंद से जनि घटै,
मैं तो मोलि महँगी लई जीव सटै॥
साध संगति बिना भाव नहिं ऊपजै,
भाव बिन भगति नहिं होय तेरी॥
कहै रविदास एक बेनती हरि सिउ,
पैज राखहु राजा राम! मेरी॥

(२३)

साँई कहा जानै पीर पराई,
जा के दिल में दरद न आई॥
दुखी दुहागिनि होइ पियहीना,
नेह निरति करि सेव न कीना।
स्याम प्रेम का पंथ दुहेला,
चलन अकेला, कोइ संग न हेला॥
सुख की सार सुहागिनि जानै,
तन-मन देय अँतर नहिं आनै।
आन सुनाय और नहिं भाखै,
राम-रसायन रसना चाखै॥
खालिक तो दरमंद जगाया,
बहुत उमेद, जबाब न पाया।
कह रैदास कवन गति मेरी,
सेवा-बंदगी न जानूँ तेरी॥

(२४)

दरसन दीजै राम! दरसन दीजै।
दरसन दीजै, बिलंब न कीजै॥
दरसन तोरा जीवन मोरा। बिन दरसन क्यूँ जिवै चकोरा॥
माधो सत गुरु, सब जग चेला। अबकै बिछुरे मिलन दुहेला॥
धन-जोबन की झूठी आसा। सत-सत भाखै जन रैदासा॥
रैदास एक न [illegible], दिवस न [illegible]।
[illegible]।

संत निपटनिरंजनजी

(जन्म सं० १६८०, चँदेरीगाँव (बुन्देलखण्ड), देहावसान सं० १७९५ अगहन कृष्णा ११, आयु ११५ वर्ष ।)

संगत साधुन की करिये,
कपटी लोगन सों डरिये ।
कौन नफा दुरजन की संगत, हाय-हाय करि मरिये ॥
बानी मधुर सरस मुख बोलत, अवगुन सुनिय भव तरिये ।
'निरंजन' प्रभु अन्तर निरमल, हीये भेद बिसरिये ॥

हरि के दास कहावत हो,
मन में कौतुकी आस ।
राम-नाम को परगट बेचै, करत भक्ति को नास ॥
माया मोह लोभ नहिं छूटे, चाहत प्रेम प्रकास ।
कहत 'निरंजन' तब प्रभु रीझै, जब मन होत निरास ॥

हाँसी में बिवाद बसै, बिद्या बीच बाद बसै,
भोग माहिं रोग पुनि सेवा माहिं हीनता ।
आदर में मान बसै, सुचि में गिलान बसै,
आवन में जान बसै, रूप माहिं दीनता ॥
भोग में अभोग, औ सँयोग में बियोग बसै,
पुन्य माहिं बंधन औ लोभ में अधीनता,
'निपट' नवीन ये प्रवीननी सुबीन लीन,
हरिजू सों प्रीति सब ही सों उदासीनता ॥

सीख्यौ है त्रिलोक औ कवित्त छंद नाद सबै,
ज्योतिषको सीख्यौ मन रहत गरूर मैं ।
सीख्यौ सौदागिरी त्यौं बजाजी और रस रीति,
सीख्यौ लाख फेरन ज्यौं बह्यौ जात पूर मैं ॥
सीख्यौ सब जंत्र-मंत्र, तंत्रनहू सीखि लीन्हे,
पिंगल पुरान सीख्यौ सीखि भयौ सूरमैं ।
सब गुन खान भयौ 'निपट' सयानो, हरि
भजिबो न सीख्यौ, सबै सीख्यौ गयौ धूर मैं ॥

ऊँट की पूँछ सों ऊँट बँध्यौ इमि ऊँटन की-सी कतार चली है ।
कौन चलाइ कहाँ कों चली, चलि जैहै तहाँ कछु फूल फली है ॥
ये सिगरे मत ताकी यही गति, गाँव को नाँव न कौन गली है ।
ग्यान बिना सुधि नाहिं 'निरंजन', जीव न जानै बुरी कि भली है ॥

संत बीरू साहब

(जन्म-स्थान और जीवनकालका कुछ निश्चित पता नहीं । सम्भवतः किसी पूर्वी जिलेके निवासी, बावरी साहिबाके प्रमुख शिष्य । आविर्भावकाल अनुमानतः विक्रमकी १७ वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध रहा ।)

हंसा ! रे आइल मोर याहि घरों,
करबो मैं कवनि उपाय ।
मोतिया चुगन हंसा आयल हो,
सो तो रहल भुलाय ॥
छीलर को बगुला भयो है,
कर्म कीट धरि खाय ।
सतगुरु सत्य दया कियो, भव-बंधन लियो छुड़ाय ॥
यह संसार सकल है अंधा, मोह-माया लपटाय ।
'बीरू' भक्त हंसा भयो, सुख-सागर चल्यो है नहाय ॥

आली ! रूप लागी लौ आछे मने ।
हियरा मध्य मोहनि मूरति राखिलो जतने ॥
अलखवान पुरि आसन ध्यान माँझ त्रिपुनि* कोने ।
दरस परस मोहन मूरति देखिलो सपने ॥
कोटि ब्रह्मा जाको पार न पावैं सुर नर मुनि को गने ।
'बीरू' भक्त केरा मन स्थिर नाहीं मैं पापी भजिबो केमने ॥

* त्रिपुनि=त्रिकुटी ।

श्रीबावरी साहिबा

(समय अकबरसे पूर्व, गुरु महात्मा मायानंद, स्थान दिल्ली)

बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरी जानहिं संत सुजान, जिन्हें हरिरूप हिये दरसावरी॥
साँवरी सूरत, मोहिनी मूरत, दै करि ज्ञान अनंत लखावरी।
खाँवरी सौंह तिहारी प्रभु! गति रावरी देखि भई मति बावरी॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
काँचे मन नाचे वृथा, साँचे राँचै राम॥

मनका फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका छाँडि कै, मन का मनका फेर॥

अजपा जाप सकल घट बरतै, जो जानै सोइ पेखा।
गुरुगम ज्योति अगम घट बासा, जो पाया सोइ देखा॥
मैं बंदी हौं परम तत्त्व की, जग जानत की भोरी।
कहत 'बावरी' सुनो हो बीरू, सुरति कमल पर डोरी॥

यारी साहब

(जन्म वि० सं० १७२५ अनुमानतः, जन्म-स्थान—सम्भवतः दिल्ली, जाति—मुसलमान, गुरु—बीरू साहब, शरीरान्त—अनुमानतः वि० सं० १७८०)

नैनन आगे देखिये तेज पुंज जगदीस।
बाहर भीतर रमि रह्यो, सो धरि राखो सीस॥
आठ पहर निरखत रहो, सनमुख सदा हजूर।
कह यारी घरहीं मिलै, काहे जाते दूर॥

आतम नारि सुहागिनी, सुंदर आपु सँवारि।
पिय मिलिवे को उठि चली, चौमुख दियना बारि॥

हौं तो खेलौं पिया सँग होरी।
दरस-परस पतिबरता पिय की, छबि निरखत भइ बौरी॥
सोरह कला सँपूरन देखौं, रवि-ससि भे इक ठौरी।
जब ते दृष्टि परो अविनासी, लागो रूप-ठगौरी॥
रसना रटत रहत निस-बासर, नैन लगो यहि ठौरी।
कह यारी भक्ती कर हरि की, कोई कहै सो कहौ री॥

दिन-दिन प्रीति अधिक मोहिं हरि की।
काम क्रोध जंजाल भसम भयो,
विरह-अगिनि लगे धधकी॥
धुधुकि धुधुकि धुधुकि सुलगति अतिनिर्मल,
झिलमिल झिलमिल झलकी।
झरि-झरि परत अँगार अधर यारी,
चढ़ि अकास आगे सरकी॥

विरहिनी! मंदिर दियना बार॥
बिन बाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उँजियार।
प्रानपिया मेरे घर आयो, रचि-रचि सेज सँवार॥
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निरगुन निरकार।
गावहु री मिलि आनँद-मंगल, 'यारी' मिलि के यार॥

रसना, राम कहत तैं थाको।
पानी कहे कहुँ प्यास बुझति है,
प्यास बुझै जदि चाखो॥
पुरुष-नाम नारी ज्यों जानैं,
जानि-बूझि नहिं भाखो।
दृष्टी से मुष्टी नहिं आवै,
नाम निरंजन वा को॥
गुरु-परताप साधु की संगति,
उलटि दृष्टि जब ताको।
यारी कहै, सुनो भाई संतो,
बज्र बेधि कियो नाको॥

देखु बिचारि हिये अपने नर,
देह धरो तौ कहा बिगरो है।
यह मट्टी का खेल खिलौना बनो,
एक भाजन, नाम अनंत धरो है॥
नेक प्रतीति हिये नहिं आवति,
मर्म भूलो नर अवर करो है।
भूषन ताहि गलाइके देखु,
'यारी' कंचन ऐनको ऐन धरो है॥

संत बुल्ला (बूला) साहब

(यारीसाहबके शिष्य, स्थितिकाल वि० म० १७५० से १८२५ के बीच। जन्मस्थान–भुरकुड़ा गाँव, जिला गाजीपुर। जाति-कुनबी, घरेलू नाम बुलाकीराम। दूसरे मतसे–जन्म–वि० सं० १६८९। मृत्यु–वि० सं० १७६६। आयु ७७ वर्ष।)

(प्रेषक—श्रीबलरामजी शास्त्री)

साईं के नाम की बलि जावँ।
सुमिरत नाम बहुत सुख पायो,
अंत कतहूँ नहिं ठावँ ॥
नाम बिना मन स्वान-मँजारी,
घर-घर चित लै जावँ।
बिन दरसन-परसन मन कैसो,
ज्यों लूले को गावँ ॥
पवन मथानी हिरदे ढूँढो, तब पावै मन ठावँ।
जन बुल्ला बोलहिं कर जोरे, सतगुरु चरन समावँ ॥

धन कुलवंती जिन जानल अपना नाह ॥
जेकरे हेतु ये जग छोड्यो, सो दहुँ कैसन बाट।
रैन-दिवस लव लाइ रह्यो है, हृदय निहारत बाट ॥
साध-संगति मिलि बेड़ा बाँधल, भवजल उतरब पार।
अब की गवने बहुरि नहिं अवने, परखि-परखि टकसार ॥
यारीदास परम गुरु मेरे, बेड़ा दिहल लखाय।
जन बुल्ला चरनन बलिहारी, आनँद मंगल गाय ॥

साची भक्ति गुपाल की, मेरो मन माना।
मनसा वाचा कर्मना, सुनु मत सुजाना ॥
लँगरा लूला है रहो, बहिरा अरु काना।
राम नाम से मेल है, दीजै तन दाना ॥
भक्ति हेतु गृह छोड़िये, तजि गर्व-गुमाना।
जन बुल्ला पायो थाक है, सुमिरो भगवाना ॥

लगन चकोर मानो चंद।
निरखि दहुँ दिसि हेरि आनो, होत जोव अनंद ॥
जग उदित उजल सीप बरसै, नैन हूँ झरि लाय।
होत अगम अगाध सोभा, सो पै बरनि न जाय ॥
जग आस बास निरास कीन्ही, लीन्ही प्रेम निचोय।
पियत रुचि-रुचि दास बुल्ला, नाम निर्मल जोय ॥

अब की बार मो पै होहु दयाल। रोम रोम जन होइ निहाल ॥
जन जिनै आठो पहचार। तुम्हरे चरन पर आरा बार ॥
तुम तो राम हु निर्गुन सार। मोरे हिय महँ तुम आधार ॥
तुम बिनु जीवन कौने काज। बार बार मोकौं आवै लाज ॥
सतगुरु चरनन साज समाज। बुल्ला माँगै भक्ती राज ॥

हे मन! करु गोविंद से प्रीत।
बीच मैदान मे देइयो, चौहट नगारा जीत ॥
स्रवन सुनि लै नाद प्रभु की, नैन दरसन देख।
अचल अमर अलेख प्रभुजी, देख ही बाँउ भेख ॥
भाव सँग तू भक्ति करि ले, प्रेम से लवलीन।
सुरति से तू बैर बाँधो, मुलुक तीनो छीन ॥
अधम अधीन अजाति बुल्ला, नाम से लवलीन।
अर्थ धर्म अरु काम मोछहिं, आपने पद दीन ॥

एकै ब्रह्म सकल माँ अहई। काम-क्रोध से भरमत रहई ॥
काम-क्रोध है जम की फाँसी। मरि-मरि जिव भरमै चौरासी ॥
लख चौरासी भरम गँवाया। मानुष जनम बहुरि कै पाया ॥
मानुष जनम दुर्लभ रे भाई। कह बुल्ला यादी जग आई ॥

आली आजु कि रैन प्रीति मन भावै ॥
गाय बजावत हँसत हँसावत, सब रस हेय मनावै।
जनबुल्ला हरि-चरन मनावै, निरखि सुरति गति आपु में पावैं ॥

हरि हम देख्यो नैनन बीच। तहाँ बसंत धमारि कीच ॥
आदि अंत मधि बन्यो बनाय। निरगुन-सरगुन दोनों भाय ॥
चीन्हेव तिन्ह को लियो लगाय। अनबूझो रहिगो मुँह बाय ॥
सुन्न भवन मन रह्यो समाय। तहँ ऊठत लहरि अनंत आय ॥
जगमग-जगमग हैं अंजोर। जन बुल्ला है सेवक तोर ॥

कोटि झूलैं ध्रुव ध्यान हिये नहिं आइया।
राम नाम को ध्यान धरो मन लाइया ॥
बिना ध्यान नहिं मुक्ति पिछे पछिताइया।
बुल्ला हृदय विचारि राम गुन गाइया ॥

जियन हमार सुफल भो हो, सइयाँ सुजन गंभीर ॥
एक पलक नहिं बिछुरे हो, साँई मोर जिहीत।
पुलकि-पुलकि रति मानल हो, जानल परतीत ॥
मन पवना गेआगन हो, तिरवेनी तीर।
हम धन तहवाँ बिराजल हो, निरखै रघुबीर ॥
सुरति निरति ले जाइब हो, पाइब गुर रीति।
बहुरि न यह जग आइब हो, गाइब निर्गुन गीति ॥

जन बुल्ला घर छाइब हो, बारव तहँ जोति।
अनहद डंक बजाइब हो, हानि कबहुँ न होति॥

भाई इक मौर जग-न्यारा है।
सो मुझ में, मैं वाही माहीं, ज्यों जल मद्धे तारा है॥
वा के रूप रेख काया नहिं, बिना सीस विसतारा है।
अगम अपार अमर अविनासी, सो संतन का प्यारा है॥
अनत कला जाके लहरि उठतु है, परम तत्त निरकारा है।
जन बुल्ला ब्रह्मज्ञान चीन्ह्यु है, सतगुरु शब्द अधारा है॥

या विधि करहु आपुहि पार।
जस मीन जल की प्रीति जानै, देखु आपु विचार॥
जस नीर रहत समुद्र माँहीं, गहत नाहिन वार।
वा की सुरत अकास लागी, स्वाति बूँद अधार॥
चकोर चाँद सों दृष्टि लखै, अहार करत अँगार।
दहत नाहिन पान कीन्हे, अधिक होत उजार॥

कीट भृंग की रहनि जानो, जाति-पाँति गँवाय।
बरन-अबरन एक मिलि भे, निरंकार समाय॥
दास बुल्ला आस निरखहिं राम-चरन अपार।
देहु दरसन, मुक्ति परसन, आवा-गवन निवार॥

आठ पहर चौंसठ घरी, जन बुल्ला धर ध्यान।
नहिं जानौं कौनी घरी, आइ मिलैं भगवान॥
आठ पहर चौंसठ घरी, भरो पियाला प्रेम।
बुल्ला कहै विचारि कै, इहै हमारो नेम॥
जग आये जग जागिये, पगिये हरि के नाम।
'बुल्ला' कहै विचारि कै, छोड़ि देहु तन धाम॥
बोलत-डोलत हँसि खेलत, आपुहि करत कलोल।
अरज करो बिन दाम ही, 'बुलहिं' लीजै मोल॥
ना वह टूटै ना वह फूटै, ना कबहीं कुम्हिलाय।
सर्व कला गुन आगरो, सो पै बरनि न जाय॥

जगजीवन साहब

(जन्म-संवत् १७२७ वि०, जन्म-स्थान सरदहा गाँव (बाराबंकी जिला), जाति—चंदेल क्षत्रिय। शरीरान्त वि० सं० १८१८ कोटवा, बाराबंकी जिला)

मैं-तैं गाफिल होहु नहिं, समुझि कै सुद्ध सँभार।
जौने घर तें आयहु, तहँ का करेहु बिचार॥
इहाँ तो कोऊ रहि नहिं, जो-जो धरिहै देह।
अंत काल दुख पाइहौ, नाम तें करहु सनेह॥
तजु आसा सब झूठ ही, सँग साथी नहिं कोय।
केउ केहू न उबारही, जेहि पर होय सो होय॥
सत समरथ तें राखि मन, करिय जगत को काम।
जगजीवन यह मंत्र है, सदा सुक्ख-बिसराम॥
कहवाँ तें चलि आयहु, कहाँ रहा अस्थान।
सो सुधि बिसरि गई तोहिं, अब कस भयसि हेवान॥
अबहूँ समुझि के देहु तैं, तजु हंकार-गुमान।
यहि परिहरि सब जाइ है, होइ अंत नुकसान॥
दीन लीन रहु निसु-दिना, और सर्बसौं त्यागु।
अंतर बासा किये रहु, महा हित् तें लागु॥
काया नगर सोहावना, सुख तब हीं पै होय।
रमत रहै तेहिं भीतरे, दुख नहिं ब्यापै कोय॥
मृत मंडल कोउ थिर नहीं, आवा सो चलि जाय।
गाफिल है फंदा परयौ, जहँ तहँ गयो बिलाय॥

गुलाल साहब

(सुप्रसिद्ध संत बुल्ला साहबके शिष्य, जन्म वि० सं० १७५० के लगभग। जन्म-स्थान तालुका बसहरि (जिला गाजीपुर) के अन्तर्गत भुरकुड़ा गाँव। जाति—क्षत्रिय। शरीरान्त अनुमानतः वि० सं० १८१६, किसीके मतसे १८५० के लगभग।)

तुम जात न जान गँवारा हो।
को तुम आहु, कहाँ तें आयौ, झूठो करत पसारा हो॥
माटी कै बुंद पिंड कै रचना, ता में प्रान पियारा हो।
लोभ लहरि मैं मोह को धारा, सिरजनहार बिसारा हो॥
अपने नाह को चीन्हत नाहीं नेम धरम आचारा हो।
सपनेहुँ साहब सुधि नहिं जान्यौ, जमदूत देत पछारा हो॥
उलट्यौ जीव ब्रह्म में मेल्यौ, पाँच-पचिस धरि मारा हो।
कहै गुलाल साधु में गनती, मनुवा भइल हमारा हो॥
राम मोर पुंजिया, राम मोर धना। निस-बासर लागल रहु मना॥
आठ पहर तहँ सुरति निहारी। जस बालक पालै महतारी॥

राम के नाम मोकाम नहिं करत नर,
फिरत संसार चहुँ ओर धाया।
करत संताप सब पाप सिरपर लिये,
साध औ संत नहिं नेह लाया॥
बाँधिहै काल जंजाल जम जाल में,
रहत नहिं चेत, सब सुधि हेराया।
कहै गुलाल जो नाम को जानिहै,
जीतिहै काल सोइ ग्यान पाया॥

मोहिं नाथ मिलावहु कौने गुना,
प्रभु . करि लीजै अपनो जना।
दुख सुख संपति जीव को लागी,
अंत काल बसि सात जना॥
यह मन चंचल चोर अन्याई,
भक्ति न आवत एक किना।
कृपा कियो प्रभु दृष्टि निहारयो,
सब थकि लागि रहल कोना॥
अमर मोर पिय, उपजे न बिनसे,
पुलकि-पुलकि मिलि कै गवना।
कह गुलाल हम भये सोहागिनि,
अब नहिं अवना नहिं जवना॥

जो चित लागे राम नाम अम।
तृषावंत जल पियत अनँद अति,
थकलहि गाँव मिलत है जौन जम॥
निर्धन धन सुत बाँझ बसत चित,
संपति बढ़त न घटत जौन अम।
करत है कपट साँच करि मानत,
मगन होत नर मूढ़ सकल पसु॥
प्रेम गलित चित सहनसील अति,
सर्ब भूत पर करत दया रस।
आनँद उदित अगम गति ग्यानी,
त्रिलोकनाथ पति काहे न होइ बस॥
सतगुरु-प्रीति परम तत सत-मत,
बिमल बिमल बानी में रहत लस।
कह गुलाल मिल संत-सिरोमन,
काहे करत कछु करत कवन कस॥

सोई दिन लेखे जा दिन संत-मिलाप।
संतके चरन-कमल की महिमा, मोरे बूते बरनि न जाहि॥
जल तरंग जल ही तें उपजे, फिर जल माहिं समाहिं।
हरि में साध, साध में हरि है, साध से अंतर नाहिं॥
ब्रह्मा बिस्नु महेस साध सँग, पाछे लागे जाहिं।
दास गुलाल साध की संगति, नीच परम पद पाहिं॥

संत दूलनदासजी

(जन्म-संवत्—१७१७ वि०, जन्म-स्थान—समेसी ग्राम (जिला लखनऊ), जाति—क्षत्रिय, जगजीवन साहबके शिष्य, शरीरान्त सं० १८३५ वि०)

नाम सुमिरु मन मुरख अनारी।
छिन-छिन आयू घटत जातु है,
समुझि गहहु सत-डोरि सँभारी॥
यह जीवन सुपने को लेखा,
का भूलसि झूठी संसारी।
अंतकाल कोइ काम न अइहै,
मातु पिता सुत बंधू नारी॥
दिवस चारि को जगत-सगाई,
आखिर नाम-सनेहु करारी।
रसना सतत नाम रटि राखहु,
उघरि जाइ डोरी कपट-किवारी॥
[illegible] डोरि पोढ़ि धरती धर,
उलटि पवन चढ़ु गगन अटारी।
तहँ सत साहिब अलख रूप है,
जन दूलन कह दरस दिदारी॥

रहु मन नाम की डोरि सँभारे।
धृग जीवन नर! नाम-भजन बिनु, सब गुन वृथा तुम्हारे।
पाँच-पचीसो के मद माते, निस दिन [illegible]
बंदी-छोर नाम-सुमिरन बिनु, जन्म-पदारथ हारे।
अजहूँ चेत कह हेत नाम सें, गज-गनिका जिन्ह तारे।
चाखि नाम-रस मस्त-मगन है, बैठहु गगन दुवारे।
यहि कलिकाल उबार अवर नहिं, बनिहै नाम पुकारे।
जगजीवन साईं के चरनन, माँगे दास दुलारे॥

[illegible] नाम बिना। [illegible]॥
इत उत भौजल अगम घना। [illegible]॥

मैं निगुनी, गुन एकौ नाहीं। मौंस धार नहिं कोऊ अपना॥
दिहेउँ सीस सतगुरु चरना। नाम अधार है दुल्लन जना॥

रहु तोहिं राम-नाम रट लाई।
अहइ रटहु तुम नाम अच्छर दुइ, जौनी बिधि रटि जाई॥
राम-नाम तुम रटहु निरंतर, खोजु न जतन उपाई।
जानि परत मोहिं भजन पंथ की, यहौ अरुझानि माई॥
बाल्मीकि उल्टा जप कीन्हेउ, भयौ सिद्ध सिधि पाई।
सुवा पढ़ावत गनिका तारी, देखु नाम-प्रभुताई॥
दूलनदास तू राम नाम रटु, सकल सबै बिसराई।
सतगुरु साईं जगजीवन के, रहु चरनन लपटाई॥

मन यहि नाम की धुनि लाउ।
रटु निरंतर नाम केवल, अवर सब बिसराउ॥
साधि सुरत आपनो, करि सुन्न सिखर चढ़ाउ।
पोपि प्रेम प्रतीत तें, कहि राम नाम पढ़ाउ॥
नामही अनुरागु निसु-दिन, नाम के गुन गाउ।
बनी तौ का अबहिं, आगे और बनी बनाउ॥
जगजिवन सतगुरु-बचन साचे, साच मन माँ लाउ।
परु धाम दूलनदास सत माँ, फिरि न यहि जग आउ॥

जब गज अरध नाम गुहरायो।
जब लगि आवै दूसर अच्छर, तब लगि आपुहि धायो॥
पायँ पियादे भे करुनामय, गरुड़ासन बिसरायो।
धाय गजंद गोद प्रभु लीन्हो, आपनि भक्ति दिढ़ायो॥
मीरा को बिष अमृत कीन्हो, बिमल सुजस जग छायो।
नामदेव हित कारन प्रभु तुम, मिर्तक गाय जियायो॥
भक्त हेत तुम जुग-जुग जनमेउ, तुमहिं सदा यह भायो।
बलि-बलि दूलनदास नाम की, नामहि तें चित लायो॥

द्रुपदी राम कृस्न कहि टेरी।
सुनत द्वारिका तें उठि धायो, जानि आपनी चेरी॥
रही लाज, पछितात दुसासन, अंबर लाग्यो ढेरी।
हरि-लीला अवलोकि चकित चित, सकल सभा भुइँ हेरी॥
हरि रखवार सामरथ जा के, मूल अचल तेहि केरी।
बचहुँ न लागति ताति बाव तेहि, फिरत सुदरसन फेरी॥
अब मोहि आसा नाम सरन की, सीस चरन दियो तेरी।
दूलनदास के साँई जगजीवन, इतनी बिनती मेरी॥

तू काहे को जग में आया, जो पै नाम से प्रीति न लाया रे॥
तृष्ना काम सवाद घनेरे, मन से नहिं बिसराया।
भोग बिलास आस निस-बासर, इत-उत चित भरमाया रे॥
त्रिकुटी-तीर्थ प्रेम-जल निर्मल, सुरत नहीं अन्हवाया।
दुर्मति करम! मैल सब मन के, सुमिरि-सुमिरि न छुड़ाया रे॥
कहँ से आये, कहँ को जैहैं, अंत खोज नहिं पाया।
उपजि-उपजि के बिनसि गये सब, काल सबै जग खाया रे॥
कर सतसंग आपने अंतर, तजि तन मोह औ माया।
जन दूलन बलि-बलि सतगुरु के, जिन मोहिं अलख लखाया रे॥

प्रानी! जप ले तू सतनाम॥
मात पिता सुत कुटुम कबीला, यह नहिं आवै काम।
सब अपने स्वारथ के संगी, संग न चलै छदाम॥
देना-लेना जो कुछ होवै, करि ले अपना काम।
आगे हाट-बजार न पावै, कोइ नहिं पावै ग्राम॥
काम क्रोध मद लोभ मोह ने, आन बिछाया दाम।
क्यौं मतवारा भया बावरे, भजन करो निःकाम॥
यह नर-देही हाथ न आवै, चल तू अपने धाम।
अब की चूक माफ नहिं होगी, दूलन अचल मुकाम॥

जग में जै दिन है जिंदगानी।
लाइ लेव चित गुरु के चरनन, आलस करहु न प्रानी॥
या देही का कौन भरोसा, उभसा भाठा पानी।
उपजत-मिटत बार नहिं लागत, क्या मगरूर गुमानी॥
यह तो है करता की कुदरत, नाम तू ले पहिचानी।
आज भलो भजने को औसर, काल की काहु न जानी॥
काहु के हाथ साथ कछु नाहीं, दुनियाँ है हैरानी।
दुलनदास बिस्वास भजन करु, यहि है नाम निसानी॥

तैं राम राम भजु राम रे, राम गरीब-निवाज हो॥
राम कहे सुख पाइहो, सुफल होइ सब काज।
परम सनेही रामजी, रामहिं जन की लाज हो॥
जनम दीन्ह है रामजी, राम करत प्रतिपाल।
राम-राम रट लाव रे, रामहिं दीनदयाल हो॥
मात पिता गुरु रामजी, रामहिं जिन बिसराव।
रहो भरोसे राम के, रामहिं से चित चाव हो॥
घर-धन निसु-दिन रामजी, भक्तन के रखवार।
दुखिया दूलनदास को रे, राम लगइहैं पार हो॥

राम राम रटु राम राम सुनु, मनुवाँ सुवा सलोना रे॥
तन हरियाले, बदन सुलाले, बोल अमोल सुहौना रे।
सत्त तंत्र अरु सिद्ध मंत्र पढ़ु, सोई मृतक-जियौना रे॥
सुवचन तेरे औखद बैरी, आवागवन-मिटौना रे।
दुल्लनदासके साँई जगजीवन, चरन-सनेह ढ़ढ़ौना रे॥

धन सुत लछमी रह्यो लोभाय। गर्भ मूल सब चल्यो गँवाय ॥
बहुत जतन भेख रच्यो बनाय। बिन हरि-भजन इँदोरन पाय ॥
हिंदू तुरुक सब गयल बहाय। चौरासी में रहि लिपटाय ॥
कहै गुलाल सतगुरु बलिहारी। जाति-पाँति अब छुटल हमारी ॥

मूढ़हु रे निर्फल दिन जाय। मानुष-जन्म बहुरि नहिं पाय।
कोइ कासी कोइ प्राग नहाय। पाँच चोर घर लुटहिं बनाय ॥
करि अस्नान राखहिं मन आसा। फिरि-फिरि नरक कुंडमें बासा ॥
खोजो आप चिते कै ग्याना। सतगुरु सत्त बचन परवाना ॥
समय गये पाछे पछिताव। कहैं गुलाल जात है दाव ॥

जो पै कोउ चरन-कमल चित लावै।
तबहीं कटै करम कै फंदा, जमदुत निकट न आवै ॥
पाँच-पचिस सुनि थकित भये हैं, तिरगुन-ताप मिटावै।
सतगुरु-कृपा परम पद पावै, फिर नहिं भव-जल धावै ॥
हर दम नाम उठत है करारी, संतन मिलि-जुलि पावै।
मगन भयो, सुख-दुख नहिं ब्यापै, अनहद ढोल बजावै ॥
चरन-प्रताप कहाँ लगि बरनौं, मो मन उक्ति न आवै।
कहैं गुलाल हम नाम-भिखारी, चरनन में घर पावै ॥

तन मे राम और कित जाय। घर बैठल भेटल रघुराय ॥
जोगि-जती बहु भेख बनावैं। आपन मनुवाँ नहिं समुझावैं ॥
पूजहिं पत्थल, जल को ध्यान। खोजत धूरहिं कहत पिसान ॥
आसा-तृस्ना करै न थीर। दुबिधा मातल फिरत सरीर ॥
लोक पुजावहिं घर-घर धाय। दोजख कारन भिस्त गँवाय ॥
सुर नर नाग मनुष औतार। बिनु हरि-भजन न पावहि पार ॥
कारन धै धै रहत भुलाय। तातें फिर-फिर नरक समाय ॥
अब की बेर जो जानहु भाई। अवधि बिते कछु हाथ न आई ॥
कह गुलाल न तो जमपुर धाम। सदा सुखद निज जानहु राम ॥

नाहक गर्ब करे हो अंतहि, खाक में मिलि जायगा ॥
दिना चारि को रंग कुसुम है, मैं-मैं करि दिन जायगा।
बालु क मंदिल ढहत बार नहिं, फिर पाछे पछितायेगा ॥
रचि-रचि मंदिल कनक बनायो, ता पर कियो है अवासा।
घर में चोर रैनि-दिनि मूसहिं, कहहु कहाँ है बासा ॥
पहिरि पटंबर भयो लाड़िला, बन्यो छैल मद माता।
गैबी चक्र फिरै सिर ऊपर, छिन में करै निपाता ॥
नेकु धीर नहिं धरत बावरे, ठौर-ठौर चित जाते।
देवहर पूजत तीर्थ नेम ब्रत, फोकट को रँग राते ॥
का से कहूँ, कोउ संग न साथी, खलक सबै हैराना।
कहैं गुलाल संतपुर-बासी, जम जीतो है दिवाना ॥

करु मन सहज नाम ब्यौपार, छोड़ि सकल ब्यौहार ॥
निसु-बासर दिन-रैन दहतु है, नेक न धरत करार।
धंधा धोख रहत लपटानो, भ्रमत फिरत संसार ॥
मात पिता सुत बंधू नारी, कुल कुटुम्ब परिवार।
माया-फाँसि बाँधि मत डूबहु, छिन मे होहु संघार ॥
हरि की भक्ति करी नहिं कबहीं, संत-बचन आगार।
करि हँकार मद-गर्ब भुलानो, जन्म गयो जरि छार ॥
अनुभव घर कै सुधियो न जानत, का सों कहूँ गँवार।
कहै गुलाल सबै नर गाफिल, कौन उतारै पार ॥

लागो रँग झूठो खेल बनाया।
जहँ लगि ताको सबै पसारा, मिथ्या है यह काया ॥
मोर-तोर छूटत नहिं कबहीं, काम क्रोध अरु माया।
आतम राम नहीं पहिचानत, भोंदू जन्म गँवाया ॥
नेम कै आस धरत नर मूढ़हु, चढ़त चरख दिन आया।
घुमत-घुमत कहिं पार न पावै, का लै आया, का लै जाया ॥
साध-सँगति कीन्हें नहिं कबहीं, साहब प्रीति न लाया।
कहैं गुलाल यह अवसर बीते, हाथ कछू नहिं आया ॥

अभि-अंतर ही लै लाव मना,
ना तौ जन्म-जन्म जहड़ाई हो ॥
धन दारा सुत देखि कै, काहे बौराई हो।
काल अचानक मारिहै, कोउ संग न जाई हो ॥
धीरज धरि संतोष करु, गुरु-बचन सहाई हो।
पद पंकज अंबुज करु नवका, भवसागर तरि जाई हो ॥
अनेक बार कहि-कहि के हारो, कहँ लग कहाँ बुझाई हो।
जन गुलाल अनुभौ पद पायो, छुटलि सकल दुनियाई हो ॥

संतो नारि सों प्रीति न लावै।
प्रीति जो लावै, आपु ठगावै, मूल बहुत को गावै ॥
गुरु को बचन हृदय लै लावै, पाँचौ इंद्री जारै।
मनहिं जीति, माया बसि करिकै, काम क्रोध को मारै ॥
लोभ मोह ममता को त्यागै, तृस्ना जीभि निवारै।
सील-सँतोष सो आसन माड़ै, निसु-दिन सब्द बिचारै ॥
जीव दया करि आपु संभारै, साध सँगति चित लावै।
कह गुलाल सत-गुरु बलिहारी, बहुरि न भवजल आवै ॥

अधम मन! जानत नाहीं राम।
भरमत फिरै आठ हूँ जाम ॥
अपनो कहा करतु है सबही, पावत पसु आराम।
घुरबिनिया छोड़त नहिं कबहीं, होइ भोर भा शाम ॥

ऊड़त फिरत बिना पर जामे, त्यागि कनक ले ताम ।
नीच वस्तु के निकट न लागे, भगत है सोरी स्याम ॥
अब की बार कहा करु मेरो, छोड़ो अपनी हाम ।
कह गुलाल तोहिं जियत न छोड़ों, ग्रात दोहाई राम ॥

राम राम राम नाम सोई गुन गावै ।
आपु मारि, पवन जारि, गगना गरजावै ॥
अतिही आनंद-कंद बानिहूँ सुनावै ।
सतगुरु जब दया जानि प्रेम हूँ लगावै ॥
अगम जोति झरत मोति, झिलमिल झरि लावै ।
चित चकोर निरखि जोति आपु मे समावै ॥
काम क्रोध लोभ मोह तन मन बिसरावै ।
सोइ सुधित धीर सोइ फकीर सोइ कहावै ॥
जाति मान कुल के कान गरब हूँ गँवावै ।
कह गुलाल सोई संत आपुहीं कहावै ॥

राम चरन चित अटको ।
सहज सरूप भेख जब कीन्हो, प्रेम लगन हिय लटको ॥
लागि लगन हिय निरखि-निरखि छवि,सुधि बुधि बिसरी अटके नयन
उठत गुंज नभ गरजि दसहुँ दिसि, निरझर झरत रतन ॥
भयो है मगन पूरन प्रभु पायो, निर्मल निर्गुन सत तटनी ।
कह गुलाल मेरे यही लगन है, उलटि गयो जैसे नटनी ॥

हौं अनाथ चरनन लपटानो ।
पथ और दिस सूझत नाहीं, छोड़ो तौ फिरौं भुलानो ॥
जासु चरन सुर नर मुनि सेवहिं, कहा बरनि मुख करौं बखानो ।
हौं तौ पतित तुम पतितपावन, गति औगति एको नहिं जानो ॥
आठों पहर निरत धुनि होवै उठत गुंज चहुँ दिसा समानो ।
झरि-झरि परत अगार नैन भरि, पियत ब्रह्म रुचि अमी अघानो
बिगस्यो कमल चरन पायो जब, यह मत संतन के मन मानो ।
जना गुलाल नाम धन पायो, निरखत रूप भयो है दिवानो ॥

तुम्हरी मोरे साहब ! क्या लाऊँ सेवा ।
अस्थिर काहु न देखऊँ, सब फिरत बहेवा ॥
सुर नर मुनि दुखिया देखौं, सुखिया नहिं केवा ।
डंक मारि जम लुटत है, लुटि करत कलेवा ॥
अपने-अपने ख्याल में सुखिया सब कोई ।
मूल मंत्र नहिं जानहीं, दुखिया मैं रोई ॥
अबकि बार प्रभु बीनती सुनिये दे काना ।
जन गुलाल बड़ दुखिया दीजै भक्ती दाना ॥

प्रभुजी ! चरण प्रेम निहारो ।
ऊठत-बैठत छिन नहिं बीतत याही रीत तुम्हारो ॥
समय होय भा असमय होवै, भरत न लागत बारो ।
जैसे प्रीति किसान खेत सों, तैसो है जन प्यारो ॥
भक्तबछल है बान तिहारो, गुन-औगुन न बिचारो ।
जहँ जहँ जावैं नाम गुन गावत, जम को सोच निवारो ॥
सोवत-जागत सरन धरम यह पुलकित मनहिं बिचारो ।
कह गुलाल तुम ऐसो साहब; देखत न्यारो-न्यारो ॥

प्रभु को तन मन धन सब दीजै ।
रैन-दिवस चित अनत न जावै, नाम पदारथ पीजै ॥
जब तें प्रीति लगी चरनन सों, जग-संगत नहिं कीजै ।
दीन-दयाल कृपाल दया-निध, जौ आपन करि लीजै ॥
ढूँढत-फिरत जहाँ-तहँ जग मों काहू बोध न कीजै ।
प्रभु कै कृपा औ संत बचन ले, हिरदे मे लिख लीजै ॥
कह बरनौं, बरनत नहिं आवै, दिल-चश्मी न पसीजै ।
कह गुलाल याही बर माँगों, संत चरन मोहिं दीजै ॥

माया-मोह के साथ सदा नर मोइया ।
आखिर खाक निदान, सत्त नहिं जोइया ॥
बिना नाम नहिं मुक्ति, अध सब लोइया ।
कह गुलाल संत लोग, गाफिल सब रोइया ॥

राम भजहु लव लाइ, प्रेम पद पाइया ।
सफल-मनोरथ होय, सत्त गुन गाइया ॥
संत-साध सों नेह, न काहु सताइया ।
कह गुलाल हरि-नाम तबहिं नर पाइया ॥

झूँठि लगन नर ख्याल, सबै कोइ धाइया ।
हर दम माया सों रीति, सत्त नहिं आइया ॥
बहत-फिरत हर रोज, काल धरि खाइया ।
कह गुलाल नर अंध, धोख लपटाइया ॥

खोलि देखु नर आँख, अध का सोइया ।
दिन-दिन होतु है छीन, अंत फिर रोइया ॥
इस्क करहु हरि-नाम, कर्म सब खोइया ।
कह गुलाल नर मस्त, पाक तब होइया ॥

केवल प्रभु को जानि के इल्म लगाइया ।
पार होइ तब जीव, काल नहिं खाइया ॥
नेम करहु नर आप, दोजख नहिं धाइया ।
कह गुलाल मन पाक, तबहिं नर पाइया ॥

मन ! रामभजन रहु राजी रे ॥
दुनियाँ-दौलत काम न अइहै, मति भूलहु गज बाजी रे ।
निसु-दिन लगन लगी भगवानहिं, काह करै जम पाजी रे ॥
तन-मन मगन रहौ सिधि साधो, अमर-लोक सुधि माजी रे ।
दुल्नदास के साईं जगजीवन, हरि-भक्ती कहि गाजी रे ॥

साईं हो गरीब निवाज ॥
देखि तुम्हें घिन लागत नाहीं, अपने सेवक के साज ।
मोहिं अस निलज न यहि जग कोऊ, तुम ऐसे प्रभु लाज जहाज ॥
और कछू हम चाहित नाहीं, तुम्हरे नाम चरन तें काज ।
दूलनदास गरीब निवाजहु, साईं जगजीवन महराज ॥

साईं तेरे कारन नैना भये बैरागी ।
तेरा सत दरसन चहौं, कछु और न माँगी ॥
निसु बासर तेरे नाम की, अंतर धुनि जागी ।
फेरत हौं माला मनौं, अँसुवन झरि लागी ॥
पलक तजी इत उत्ति तें, मन माया त्यागी ।
दृष्टि सदा सत सनमुखी, दरसन अनुरागी ॥
मदमाते राते मनौं, दाधे बिरह आगी ।
मिलु प्रभु दूलनदास के, करु परम सुभागी ॥

साईं सुनहु बिनती मोरि ॥
बुधि बल सकल उपायहीन मैं,
पायन परौं दोऊ कर जोरि ।
इत-उत कतहूँ जाइ न मनुवाँ,
लागि रहै चरनन माँ डोरि ॥
राखहु दासहिं पास आपने,
जग को नरिहै तोरि ।
आसन आनि पै मेटहु मेरे,
औगुन सब भ्रम भरम खोरि ॥
केवल एक हितू तुम मेरे,
दुनियाँ और लाख करोरि ।
दुल्नदास के साईं जगजीवन,
माँगौं सत दरस निहोरि ॥

साईं-भजन ना करि जाइ ।
पाँच तसकर मन भयो, मोहिं हटकत धाइ ॥
चहत मन सतसंग कीन्हो, अधर बैठि न जाइ ।
चहत उलटन रहत छिन छिन नहीं तहँ ठहराइ ॥
कठिन फाँसी अहै जग की, लियो सबहिं बझाइ ।
[illegible] निसदिन, [illegible] भुलाइ ॥
जगजीवन सतगुरु करहु दाया, चरन मन लपटाइ ।
दास दूलन [illegible], [illegible] ॥

भजन नाम चरन धुनि लाई ।
चारिहु जुग गोहारि प्रभु लागे, जब दासन गोहराई ॥
हिरनाकुस रावन अभिमानी, छिन माँ खाक मिलाई ।
अविचल भक्ति नाम की महिमा, कोउ न सकत मिटाई ॥
कोउ उसवास न एकौ मानहु, दिन-दिन की दिनताई ।
दुल्नदास के साईं जगजीवन, है सत नाम दुहाई ॥

नाम सनेही बावरे, दृग भरि-भरि आवत नीर हो ।
रस मतवाले रसमसे, यहि लागी लगन गँभीर हो ॥
सखि इस्क-पियासे आसिकौं, तजि दौलत दुनिया भीर हो ।
सखि 'दूलन' कासे कहै, यह अटपटि प्रेम की पीर हो ॥

दोहा

दूलन यहि जग जनमि कै, हरदम रटना नाम ।
केवल नाम-सनेह बिनु, जन्म समूह हराम ॥
स्वास-स्वास माँ नाम भजु, बृथा स्वास जिनि खोउ ।
दूलन ऐसी स्वास से, आवन होउ न होउ ॥
सुरपति नरपति नागपति, तीनउ तिलक लिलार ।
दूलन नाम-सनेह बिनु, धृग जीवन संसार ॥
यहि कलिकाल कुचाल तकि, आयो भागि डेरार ।
दूलन चरनन परि रहे, नाम की रटनि लगाइ ॥
नाम अछर दुइ रटहु मन, धरि चरनन तर बास ।
जन दूलन लौ लीन रहु, कबहुँ न होहु उदास ॥
पाण्डव-सुत हित कारने, कियो हुतासन मीत ।
दूलन कैसे छाड़िये, हरि साईं के मीत ॥
दूलन यह परिवार सब, नदी नाव संजोग ।
उतरि परे जहँ-तहँ चले, सबै बटाऊ लोग ॥
दूलन यहि जग आइकै, का को रहा दिमाग ।
चंद रोज को जीवना, आखिर होना खाक ॥
दूलन काया कबर है, [illegible] ।
जीवित मनुआँ मरि रहै, फिरि नहिं [illegible] ॥
भूखेहि भोजन दिहे सब, प्यासे दीन्हे पानी ।
दूलन जाते आदमी, करि गुरु सबद [illegible] ॥
दूलन कथा पुरान सुनि, मो न [illegible] ।
बृथा काम रस भोग बिनु, [illegible] ॥
'दूलन' समरथ धनि सोइ, [illegible] ।
जिन के नाम हृदय नहीं, मरे ते जियत [illegible] ॥
जिन्हि सनेही नाम सों, [illegible] ।
'दूलन' नाम सनेह [illegible] ॥

संत गरीबदासजी

(आविर्भाव—सं० १७७४ वैशाख शु० १५, स्थान—छुड़ानी मौजा (रोहतक-पंजाब), जाति—जाट, तिरोभाव—सं० १८३५ भादो सुदी २, उम्र ६१ वर्ष, गरीब पथके प्रवर्तक)

पानी की इक बूँद सूँ साज बनाया जीव।
अंदर बहुत अँदेस था बाहर बिसरा पीव॥
पानी की इक बूँद सूँ साज बनाया साँच।
रातनदास राखिया जठर अगिन की आँच॥
सुआ सेमर सेइया ऐसे नर या देह।
जम-किंकर सुख ले गया मुख में देकर खेह॥
धूँआ का-सा धौरहर बालू की-सी भीत।
उस खाविंद कूं याद कर महल बनाया मीत॥
यह माटी का महल है खाक मिलेगा धूर।
साँई के जाने बिना गदहा कुत्ता सूर॥
यह माटी का महल है छार मिलै छिन माहिं।
चार मकस बाँधे धरे मरघट कूँ ले जाहिं॥
जार बार तन फूँकिया होगा हाहाकार।
चेत सकै तो चेतिये सतगुरु कहैं पुकार॥
जार बार तन फूँकिया मरघट मढ़न मोंढ़।
या तन की होरी बनी मिटी न जम की डाँड़॥
जार बार तन फूँकिया मेटा खोज खलील।
तू जानै मैं रहूँगा यहाँ तो कछू न ढील॥
जार बार तन फूँकिया फोकट मिटे फिराक।
चेत सकै तो चेतिये सतगुरु बोलै साख॥
जार बार चोहल्ल किया हो गया मरघट राख।
छाँड़ै महल मँहेरिया क्या कौड़ी धन लाख॥
यह कर सुरँग खुदावते और पालकी पील।
ते नर जंगल जा बसे अब कूँ फेरा ढील॥
अरब खरब लौं द्रव्य है उदय अस्त बिच जाइ।
बिन साँई की बंदगी डूब मुए दह माँह॥
अरब खरब लौं द्रव्य है रावन कोटि अनंत
नारद जन मै आरता [illegible] लेदे नहिं संत॥

इस माटी के महल में मगन भया क्यों मूढ़।
कर साहब की बंदगी उस साँई कूँ ढूँढ़॥
कुटिल बचनकूँ छाँड़ि दे मान मनोकूँ मार।
सतगुरु हेला देत जनि डूबै काली धार॥
धन सचै तो सील का दूजा परम सतोख।
ग्यान रतन भाजन भरो असल खजाना रोक॥
दया धर्म दो मुकट हैं बुद्धि बिवेक बिचार।
हर दम हाजिर हूजिये सौदा स्यारंस्यार॥
चेत सकै तो चेतिये कूकै मत सुमेर।
चौरासी कूँ जाल है फेर सकै तो फेर॥
नंगा आया जगतमें नंगा ही तू जाय।
बिन कर ख्याली ख्याल है मन माया भरमाय॥
सुरत लगी अरु मन लगी लगी निरत धुन ध्यान।
चार जुगन की बंदगी एक पलक परमान॥
नाम रसायन पीजिये यहि औसर यहि दाव।
फिर पीछे पछतायगा चला चली हो जाव॥
है लागी तब जानिये हरदम नाम उचार।
एकै मन एकै दिसा साँई के दरबार॥
यह सौदा सतभाव करो परभात रे।
तन मन रतन अमोल बटाऊ साथ रे॥
बिदुर अपैले मीत मता सुन लीजिये।
बहुर न मेला होय कहो क्या कीजिये॥
सील संतोष बिबेक दया के धाम हैं।
ज्ञान रतन गुलजार संगाती राम हैं॥
धरम धजा फरकंत फरहरै लोक रे।
ता मध अजर नाम सु लैना रोक रे॥
घरै बनिजरा उठ हृदै गढ़ छोह रे।
[illegible] कहत दास गरीब [illegible] रे॥

संत दरिया साहब बिहारवाले

(जन्म-संवत् १७३१, जन्म-स्थान धरकंधा (जिला आरा), पिताका नाम पीरनशाह (पूर्वनाम पृथुदास), जाति-धर्मान्तरित मुसल्मान (पहले क्षत्रिय), शरीरान्त सं० १८३७ वि० भादों बदी ४)

मैं कुलवंती खसम-पियारी।
जाँचस तू लै दीपक बारी॥
गंध सुगंध थार भरि लीन्हा।
चंदन चर्चित आरति कीन्हा॥
फूलन सेज सुगंध बिछायौ।
आपन पिया पलँग पौढ़ायौ॥
सेवत चरन रैनि गइ बीती।
प्रेम-प्रीति तुम ही सों रीती॥
कह दरिया ऐसो चित लागा।
भई सुलच्छनि प्रेम-अनुरागा॥

मैं जानहुँ तुम दीनदयाल।
तुम सुमिरे नहिं तापत काल॥
ज्यों जननी प्रतिपाले सूत।
गर्भवास जिन दियो अकूत॥
जठर-अगिनि तें लियो है काढ़ि।
ऐसी वा की ठचर गाढ़ि॥
गाढ़े जो जन सुमिरन कीन्ह।
परघट जग में तेहि गति दीन्ह॥
गरबी मारेऊ गैबी थान।
संत को राखेउ जीव जान॥
जल में कुमुदिनि इंदु अकास।
प्रेम सदा गुरु-चरननि पास॥
जैसे पनिहा जल से नेह।
बुंद एक बिश्वास है तेह॥
स्वर्ग पताल मृतमंडल तीन।
तुम ऐसो साहेब मैं अधीन॥
सरनि आयो तुम चरन पास।
निज सुख बोलेउ करेउ दास॥
सतगुरु बचन नहिं होहिं आन।
बरु पुरब से पच्छिम उगहिं भान॥

कहै दरिया तुम हमहिं एक।
ज्यों हारिल की लकड़ी टेक॥

विहगम, कौन दिसा उड़ि जैहौ।
नाम बिहूना सो परहीना, भरमि-भरमि भौ रहिहौ॥
गुरुनिंदक वद संत के द्रोही, निन्दे जनम गँवैहौ।
परदारा परसंग परस्पर, कहहु कौन गुन लहिहौ॥
मद पी मातिमदन तन ब्यापेउ, अमृत तजि विष खैहौ।
समुझहु नहिं वा दिन की बातें, पल-पल घात लगैहौ॥
चरनकँवल बिनु सो नर बूड़ेउ, उभि चुभि थाह न पैहौ।
कहै दरिया सतनाम भजन बिनु, रोइ रोइ जनम गँवैहौ॥

चौपाई

भूले संपति स्वारथ मूढ़ा। परे भवन में अगम अगूढ़ा॥
संत निकट फिनि जाहिं दुराई। बिषय-चामरस फेरि लाराई॥
अब का सोचसि मदहिं भुलाना। सेमर सेइ सुगा पछताना॥
मरनकाल कोइ संगि न साथा। जब जम मस्तक दीन्हेउ हाथा॥
मात पिता घरनी घर ठाढ़ी। देखत प्रान लियो जम काढ़ी॥
धन सब गाड़ गहिर जो गाड़े। छूटेउ माल जहाँ लगि माँड़े॥
भवन भया बन बाहर डेरा। रोवहिं सब मिलि आँगन घेरा॥
खाट उठाइ काँध करि लीन्हा। बाहर जाइ अगिनि जो दीन्हा॥
जरि गई खल्री, भसम उड़ाना। सोचि चारि दिन कीन्हेउ स्नाना॥
फिरि धंधे लपटाना प्रानी। बिसरि गया ओइ नाम निसानी॥
खरचहु खाहु दया करु प्रानी। ऐसे बुड़े बहुत अभिमानी॥
सतगुरु-सबद साँच एह मानी। कह दरिया करु भगति बखानी॥
भूलि भरम एह मूल गँवावै। ऐसा जनम कहाँ फिरि पावै॥
धन संपति हाथी अरु घोरा। मरन अंत सँग जाहि न तोरा॥
मातु पिता सुत बंधो नारी। ई सब पामर तोहिं बिसारी॥

दोहा

कोठा महल अटारिया, सुनेउ स्रवन बहु राग।
सतगुरु सबद चीन्हे बिना, ज्यों पंछिन महँ काग॥

संत भीखा साहब

(जन्म वि० सं० १७७०, जन्म-स्थान—खानपुर बोहना गाँव, जिला आजमगढ़। घरू नाम भीखानन्द, जाति—ब्राह्मण चौबे, गुलालसाहबके शिष्य, मृत्यु वि० सं० १८२०)

मन तुम राम नाम चित धारो।
जो निज कर अपनो भल चाहो,
ममता मोह बिसारो ॥
अंदर में परपंच बसायो,
बाहर भेख सँवारो।
बहु बिपरीति कपट चतुराई,
बिन हरि भजन बिकारो ॥
जप तप सत्य करि बिधि बिधान, जत तत उदबेग निवारो।
बिन गुरु लच्छ सुदृष्टि न आवे, जन्म मरन दुख भारो ॥
ग्यान ध्यान उर करहु धरहु दृढ़, सब्द सरूप बिचारो।
कह भीखा लौ लीन रहो उत, इत मत सुरति उतारो ॥

या जग में रहना दिन चारी। ताते हरि चरनन चित वारी ॥
सिर पर काल सदा सर साधे। अधमर परे तुरतहीं मारी ॥
भीखा केवल नाम भजे बिनु। प्रापति कष्ट नरक भारी ॥

मन तोहिं कहत कहत सठ हारे।
ऊपर और अंतर कछु औरे, नहिं बिस्वास तिहारे ॥
आदिहिं एक अंत पुनि एकै, मद्धहुँ एक बिचारे।
लब्ज-लबज एहबर ओहबर करि, करम दुइत करि डारे ॥
बिषया रत परपंच अपरबल, पाप पुन्न परचारे।
काम क्रोध मद लोभ मोह कब, चोर चहत उँजियारे ॥
कपटी कुटिल कुमति बिभिचारी, हो वाको अधिकारे।
महा निलज कछु लाज न तो को, दिन-दिन प्रति मोहिं जारे ॥
पाँच पचीस तीन मिलि चाह्यो, बनलिउ बात बिगारे।
सदा करेहु बैपार कपट को, भरम बजार पसारे ॥
हम मन ब्रह्म जीव तुम आतम, चेतन मिलि तन खारे।
सकल दोस हम को काहे दइ, होन चहत हौ न्यारे ॥
खोलि कहौं तरग नहिं फेन्यो, यह आपुहि महिमा रे।
बिनु फेरे कछु भय ना ह्वैहै, हम का करहिं बिचारे ॥
हमरी रुचि जग खेल खेलौना, बालक साज सँवारे।
पिता अनादि अनन्त नहिं मानहि, राखत रहहि दुलारे ॥
जप तप भजन सकल है बिरथा, ब्यापक जबहिं बिसारे।
भीखा लखहु आपु आतम कहँ, गुन ना तजहु खमा रे ॥

जो कोउ या बिधि हरि हिय लावै।
खेती बनिज चाकरी मन तें, कपट कुचाल बहावै ॥
या बिधि करम अधर्म करतु है, ऊसर बीज बोवावै।
कोटि कला करि जतन करै जो, अंत सो निसफल जावै ॥
चौरासी लछ जीव जहाँ लगि, भ्रमि-भ्रमि भटका खावै।
सुरसरि नाम सरूप की धारा, सो तजि छीलहिं नहावै ॥
सतगुरु बचन सत्त सुकिरित सों, नित नव प्रीति बढ़ावै।
भीखा उमग्यो सावन भादों, आपु तें आपु समावै ॥

समुझि गहो हरिनाम,
मन तुम समुझि गहो हरिनाम।
दिन दस सुख यहि तन के कारन,
लपटि रहो धन धाम ॥
देखु बिचारि जिया अपने,
जत गुनना गुनन बेकाम।
जोग जुक्ति अरु ग्यान ध्यान तें,
निकट सुलभ नहिं लाम ॥
इत उत की अब आसा तजि कै,
मिलि रहु आतम राम।
भीखा दीन कहाँ लगि बरनै,
धन्य घरी वहि जाम ॥

राम सों करु प्रीति रे मन, राम सों करु प्रीति।
राम बिना कोउ काम न आवे, अंत ढहो जिमि भीति ॥
बूझि बिचारि देखु जिय अपनो, हरि बिन नहिं कोउ हीति।
गुरु गुलाल के चरन कमल रज, धरु भीखा उर चीति ॥

प्रभुजी करहु अपनो चेर।
मैं तो सदा जनम को रिनिया, लेहु लिखि मोहिं केर ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह यह, करत सबहिन जेर।
सुर नर मुनि सब पचि पचि हारे, परे करम के फेर ॥
सिव सनकादि आदि ब्रह्मादिक, ऐसे ऐसे ढेर।
खोजत सहज समाधि लगाये, प्रभु को नाम न नेर ॥
अपरपार अपार है साहब, होय अधीन तन हेर।
गुरु परताप साध की संगति, छुटे सो काल अहेर ॥
त्राहि त्राहि सरनागत आयो, प्रभु दरबौ यहि बेर।
जन भीखा को उरिन कीजिये, अब कागद जिन हेर ॥

निर्गुन ब्रह्म स्वरूप निर्वान।
भीखा जल ओला गलतान॥

छप्पय

जग्य दान तप का किये जौ हिये न हरि अनुराग॥
हिये न हरि अनुराग पागि मन बिनै मिठाई।
जग प्रपंच में सिद्ध मान्य मानौ नव निधि पाई॥
जहाँ कथा हरि भक्ति भक्त के रहनि न भावै।
सुनना सुनै बैराग घूँट में मन सुख पावै॥
भीखा राम जानै बिना लागो परम माँ दाग।
जग्य दान तप का किये जौ हिये न हरि अनुराग॥

मन क्रम बचन बिचारिकै राम भजे सो धन्य॥
राम भजे सो धन्य धन्य वपु मंगलकारी।
राम चरन अनुराग परम पद को अधिकारी॥
काम क्रोध मद लोभ मोह की लहरि न आवै।
परमातम चैतन्य रूप महँ दृष्टि समावै॥
व्यापक पूरन ब्रह्म है भीखा रहनि अनन्य।
मन क्रम बचन बिचारिकै राम भजे सो धन्य॥

धनि सो भाग जो हरि भजै ता सम तुलै न कोइ॥
ता सम तुलै न कोइ होइ निज हरि को दासा।
रहै चरन लौलीन राम को सेवक खासा॥
सेवक सेवकाई लहै भाव भक्ति परवान।
सेवा को फल जोग है भक्तवस्य भगवान॥
केवल पूरन ब्रह्म है भीखा एक न दोइ।
धन्य सो भाग जो हरि भजै ता सम तुलै न कोइ॥

दोहा

नाम पढ़ै जो भाव सों, ता पर होहिं दयाल।
'भीखा' ने किरिपा कियो, नाम सुदृष्टि गुलाल॥
राम को नाम अनंत है, अंत न पावै कोय।
'भीखा' जस लघु बुद्धि है, नाम तवन सुख होय॥
एकै धागा नाम का, सब घट मनिया माल।
फेरत कोई संत जन, सतगुरु नाम गुलाल॥
जाप जपै जो प्रीति सों, बहु बिधि रुचि उपजाय।
साँझ समय औ प्रात लगि, तत्त पदारथ पाय॥

बाबा मलूकदासजी

(जन्म-संवत्—वि॰ सं॰ १६३१, जन्म-स्थान—कड़ा (जिला इलाहाबाद), जाति—कक्कड़ खत्री, पिताका नाम—सुन्दरदासजी। शरीरान्त—वि॰ सं॰ १७३९)

हरि समान दाता कोउ नाहीं। सदा बिराजैं संतन माहीं॥
नाम बिसंभर बिस्व जियावैं। साँझ बिहान रिजिक पहुँचावैं॥
देइ अनेकन मुख पर ऐने। औगुन करै सो गुन कर मानैं॥
काहू भाँति अजार न देई। जाही को अपना कर लेई॥
घरी घरी देता दीदार। जन अपने का खिजमतगार॥
तीन लोक जाके औसाफ। जाका गुनह करै सब माफ॥
गरुवा ठाकुर है रघुराई। कहैं मलूक क्या करूँ बड़ाई॥

सदा सोहागिन नारि सो, जा के राम भतारा।
मुख माँगे सुख देत हैं, जगजीवन प्यारा॥
कबहुँ न चढ़ै रँडपुरा, जानै सब कोई।
अजर अमर अविनासिया, ता को नास न होई॥
नर देही दिन दोय की, सुन गुरजन मेरी।
क्या ऐसों का नेहरा, मुए बिपति घनेरी॥
ना उपजै ना बीनसै, संतन सुखदाई।
कहैं मलूक यह जानि कै, मैं प्रीति लगाई॥

अब तेरी सरन आयो राम।
जबै सुनिया साध के मुख, पतित-पावन नाम॥
यही जान पुकार कीन्ही, अति सतायो काम।
विषय सेती भयो आजिज, कह मलूक गुलाम॥

साँचा तू गोपाल, साँच तेरा नाम है।
जहवाँ सुमिरन होय, धन्य सो ठाम है॥
साँचा तेरा भक्त, जो तुझ को जानता।
तीन लोक को राज, मनै नहिं आनता॥
झूठा नाता छोड़ि, तुझे लव लाइया।
सुमिरि तिहारो नाम, परम पद पाइया॥
जिन यह लाहा पायो, यह जग आइ कै।
उतरि गयो भव पार, तेरो गुन गाइ कै॥
तुही मातु तुहि पिता, तुही हितु बंधु है।
कहत मलूकादास, बिना तुझ धुंध है॥

तेरा मैं दीदार दिवाना।
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहेब रहमाना॥
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की, पीया प्रेम पियाला।
ठाढ़ होऊँ तो गिर-गिर परता, तेरे रंग मतवाला॥
खड़ा रहूँ दरबार तिहारे, ज्यों घर का बंदाजादा।

नेकी की कुलाह सिर दीजै, गले पैरहन साजा ॥
तौबी और निमाज न जानूँ, ना जानूँ भरि रोजा ।
बाँग जिकर तबही से बिसरी, जब से यह दिल खोजा ॥
कहैं मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सों दिल लाया ।
मक्का हज्ज हिये में देखा, पूरा मुरसिद पाया ॥

दर्द-दिवाने बावरे, अलमस्त फकीरा ।
एक अकीदा लै रहे, ऐसे मन-धीरा ॥
प्रेम पियाला पीवते, बिसरे सब साथी ।
आठ पहर यों झूमते, ज्यों माता हाथी ॥
उन की नजर न आवते, कोइ राजा रंक ।
बंधन तोड़े मोह के, फिरते निहसंक ॥
साहेब मिल साहेब भये, कछु रही न तमाई ।
कहैं मलूक तिस घर गये, जहँ पवन न जाई ॥

देव पितर मेरे हरि के दास । गाजत हौं तिन के बिस्वास ॥
साधू जन पूजौं चित लाई । जिन के दरसन दिया जुड़ाई ॥
चरन पखारत होइ अनंदा । जन्म जन्म के काटे फंदा ॥
भाव-भक्ति करते निस्काम । निसि दिन सुमिरैं केवल राम ॥
घर बन का उन के भय नाहीं । ज्यों पुरइनि रहता जल माहीं ॥
भूत परेतन देव बहाई । देवन्ह लीवै मोर बलाई ॥
वस्तु अनूठी संतन लाऊँ । कहैं मलूक सब भरम नसाऊँ ॥

हम से जनि लागै तू माया ।
थोरे से फिर बहुत हो गयी, सुनि पैहैं रघुराया ॥
अपने में है साहेब हमरा, अजहूँ चेतु दिवानी ।
काहू जन के बस परि जैहौ, भरत मरहुगी पानी ॥
तर ह्वै चितै लाज करु जन की, डारु हाथ की फाँसी ।
जन तें तेरो जोर न लहिहै, रच्छपाल अबिनासी ॥
कहै मलूका चुप करु ठगनी, औगुन राखु दुराई ।
जो जन उबरै राम नाम कहि, तातें कछु न बसाई ॥

जा दिन का डर मानता, सोइ बेला आई ।
भक्ति न कीन्ही राम की, ठकमूरी खाई ॥
जिन के कारन पचि मुवा, सब दुख की रासी ।
रोइ रोइ जन्म गँवाया, परी मोह की फाँसी ॥
तन मन धन नहिं आपना, नहिं सुत औ नारी ।
बिछुरत बार न लागई, जिय देखु बिचारी ॥
मनुष जन्म दुर्लभ अहै, बड़े पुन्ने पाया ।
सोऊ अकारथ खोइया, नहिं ठौर लगाया ॥
साध संगत कब करोगे, यह औसर बीता ।
कहै मलूका पाँच मे, बैरी एक न जीता ॥

गम गिल्त क्यों पड़ये, मोहिं लाग्या ठगन ठेगि हो ॥
क्रोध तो काला नाग है, काम तो परघट काल,
आठ आठ सो खैंचते, मोहिं कर डाला बेहाल हो ।
एक कनक और कामिनी यह दोनों बटमार,
सिगरी की छुरी गह लाय के, इन मारा सब संसार हो ॥
इन में कोई ना भला, सब का एक विचार,
बेड़ा भारी भजन का, कोइ कैसे के उतरै पार हो ।
उरझन बिनगत धरि पड़ा, जियरा गया उकताय,
कहैं मलूक बहु भरमिया, मो पै अब नहिं भरमो जाय हो ॥

सोते सोते जन्म गँवाया ।
माया मोह में सानि पड़ो सो, राम नाम नहिं पाया ॥
मीठी नींद सोये सुख अपने, कबहूँ नहिं अलसाने ।
गाफिल होके महल में सोये, फिर पाछे पछिताने ॥

अजहूँ उठो कहाँ तुम बैठे, बिनती सुनो हमारी ।
चहूँ ओर में आहट पाया, बहुत भई भुइँ भारी ॥
बंदीछोर रहत घट भीतर, खबर न काहू पाई ।
कहत मलूक राम के पहरा, जागो मेरे भाई ॥

नाम हमारा खाक है, हम खाकी बंदे ।
खाकहिं ते पैदा किये, अति गाफिल गंदे ॥
कबहुँ न करते बंदगी, दुनिया में भूले ।
आसमान को ताकते, घोड़े चढ़ि फूले ॥
जोरू लड़के खुस किये, साहेब बिसराया ।
राह नेकी की छोड़ि के, बुरा अमल कमाया ॥
हर दम तिस को याद कर, जिन वजूद सँवारा ।
सबै खाक दर खाक है, कुछ समुझ गँवारा ॥
हाथी घोड़े खाक के, खाक खान खानी ।
कहैं मलूक रहि जायगा, औसाफ निसानी ॥

ऐ अजीज ईमान तू, काहे को खोवै ।
हिय राखै दरगाह में तो प्यारा होवै ॥
यह दुनिया नाचीज के, जो आसिक होवै ।
भूलै जात खोदाय को, सिर धुन धुन रोवै ॥
इस दुनियाँ नाचीज के तालिब हैं कुत्ते ।
लज्जत में मोहित हुए, दुख सहे बहुते ॥
जब लगि अपने आप को, तहकीक न जानै ।
दास मलूका रब्बको, क्योंकर पहिचानै ॥

आपा मेटि न हरि भजे, तेइ नर डूबे ।
हरि का मर्म न पाइया, कारन कर ऊबे ॥

करें भरोसा पुन्न का, साहेब बिसराया।
बूड़ गये तरबोर को, कहूँ खोज न पाया॥
साध मंडली बैठि के, मूढ़ जाति बखानी।
हम बड़ हम बड़ करि मुए, बूड़े बिन पानी॥
तन के बाँधे तेई नर, अजहूँ नहिं छूटे।
पकरि पकरि भलि भाँति से, जमदूतन लूटे॥
काम क्रोध सब त्यागि कै, जो रामै गावै।
दास मलूका यों कहै, तेहि अलख लखावै॥

गर्ब न कीजे बावरे, हरि गर्ब प्रहारी।
गर्बहि ते रावन गया, पाया दुख भारी॥
जरन खुदी रघुनाथ के, मन नाहिं सोहाती।
जाके जिय अभिमान है, ता की तोरत छाती॥
एक दया और दीनता, ले रहिये भाई।
चरन गहो जाय साध के, रीझैं रघुराई॥
यही बड़ा उपदेस है, परद्रोह न करिये।
कह मलूक हरि सुमिर कै, भौसागर तरिये॥

ना वह रीझै जप तप कीन्हे, ना आतम को जारे।
ना वह रीझै धोती टाँगे, ना काया के पखारे॥
दाया करै धरम मन राखै, घर में रहै उदासी।
अपना सा दुख सब का जानै, ताहि मिलै अबिनासी॥
सहै कुसब्द बाद हू त्यागै, छाँड़ै गरब गुमाना।
यही रीझ मेरे निरंकार की, कहत मलूक दिवाना॥

सब से लालच का मत खोटा।
लालच तें बैपारी सिद्धी, दिन दिन आवै टोटा॥
हाथ पसारे आँधर जाता, पानी परदि न भाई।
मांगे तें मुक मीच भली, अस जीने कौन बड़ाई॥
माँगे तें जग नाक सिकोरे, गोबिंद भला न मानै।
अनमाँगे राम गंठे ल्यावै, बिरला जन कोइ जानै॥
जब लग जिव का लोभ न छूटै, तब लग तजै न माया।
घर घर द्वार फिरै माया के, पूरा गुरु नहिं पाया॥
घट में बसी जे हरि रँग राते, संसारी सो नाहीं।
संसारी सो लालच बधा, देस देसान्तर जाहीं॥
जो माँगै सो बस्तू न पावै, बिन माँगे हरि देता।
कहै मलूक निःकाम भजै जे, ते आसन धरि लेता॥

राम कहो राम कहो राम कहो बावरे।
अवसर न चूक भोंदू, पायो भलो दाँव रे॥
जिन तोको तन दीन्हो, ताको न भजन कीन्हो,
जनम सिरानो जात, लोहे कैसो ताव रे॥

रामजी को गाय गाय, रामजी को रिझाव रे,
रामजी के चरन कमल, चित्त माहिं लाव रे॥
कहत मलूकदास, छोड़ दे तैं झूठी आस,
आनँद मगन होइ कै, हरि गुन गाव रे॥

बाबा मनसा है सिर तले।
माया के अभिमान भूले, गर्बही में गले॥
जिभ्या कारन खून कीये, बाँधि जमपुर चले।
रामजी सों भये बेमुख, अगिन अपनी जले॥
हरि भजे से भये निरभय, डाकू नहिं डरे।
कह मलूका जहँ गरीबी, तहँ सब से भले॥

परम दयाल राया राय परसोतमजी,
ऐसो प्रभु छाँड़ि और कौन के कहाइये।
सीतल सुभाव जाके तामस को लेस नहीं,
मधुर बचन कहि सबै समझाइये॥
भक्त बछल गुन सागर कृपा निधान,
जा को जस पाँत नित बेदन में गाइये।
कहत मलूक बलि जाउँ ऐसे दरस की,
अधम उधार जाके देखे सुख पाइये॥

बंदा तैं गंदा गुनाह करै बार बार,
साईं तू सिरजनहार मन में न आनिये।
हाथ कछु मेरे नहीं हाथ सब तेरे साईं,
खलक के हिसाब बीच गुरा को मत सानिये॥
रहम की नजर कर गुस्सा दिल से दूर कर,
किसी के कहे सुने चुगली मत मानिये।
कहता मलूक मैं रहता पनाह तेरी,
दाता दयाल मुझे अपना कर जानिये॥

नाम

(दोहा)

राम राम के नाम को, जहाँ नहीं लवलेस।
पानी तहाँ न पीजिये, परिहरिये सो देस॥
राम नाम जिन जानिया, तेई बड़े सपूत।
एक राम के भजन बिन, बाँझ फिरै कपूत॥
जहाँ न कबहूँ जाइये, जहाँ न हरि का नाम।
दीगंबर के गाँव में, धोबी का क्या काम॥
राम नाम एकै रती, पाप के कोटि पहार।
ऐसी महिमा नाम की, जारि करै सब छार॥
राम नाम औषध करो, मिटै सारो दाद।
संकट में सो काढ़िहै, दूर करै मन स्वाद॥

धर्महिं का सौदा भला, दाया जग ब्योहार ।
राम नाम की हाट ले, बैठा खोल किवार ॥
औरहिं चिन्ता करन दे, तू मत मारे आह ।
जाके मोदी राम से, ताहि कहा परवाह ॥
जीवहु ते प्यारे अधिक, लागैं मोहीं राम ।
बिन हरि नाम नहीं मुझे, और किसी से काम ॥
कह मलूक हम जबहिं तें, लीन्हीं हरि की ओट ।
सोवत हैं सुख नींद भरि, डारि भरम की पोट ॥
गाँठी सत्त कुपीन में, सदा फिरै निःसंक ।
नाम अमल माता रहै, गिनै इन्द्र को रंक ॥

भक्तिकी महिमा एवं स्वरूप

प्रेम नेम जिन ना कियो, जीतो नाहीं मैन ।
अलख पुरुष जिन ना लख्यो, छार परो तेहि नैन ॥
कठिन पियाला प्रेम का, पिये जो हरि के हाथ ।
चारों जुग माता रहै, उतरै जिय के साथ ॥
बिना अमल माता रहै, बिन लस्कर बलवंत ।
बिना बिलायत साहेबी, अंत माहिं बेअंत ॥
करै भक्ति भगवंत की, करै कबहुँ नहिं चूक ।
हरि रस मे राचो रहै, साँची भक्ति मलूक ॥
सोई पूत सपूत है, जो भक्ति करै चित लाय ।
जरा मरन तें छुटि परै, अजर अमर होइ जाय ॥
जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि कहि न सुनाव ।
अंतरजामी जानिहै, अंतरगत का भाव ॥
सुमिरन ऐसा कीजिये, दूजा लखै न कोय ।
ओंठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय ॥
जहाँ जहाँ बच्छा फिरै, तहाँ तहाँ फिरै गाय ।
कह मलूक जहँ संत जन, तहाँ रमैया जाय ॥

माला जपौं न कर जपौं, जिह्वा जपौं न राम ।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिश्राम ॥

फुटकर उपदेश

भेष फकीरी जे करै, मन नहिं आवै हाथ ।
दिल फकीर जे हो रहे, साहेब तिन के साथ ॥
दया धर्म हिरदै बसै, बोलै अमृत बैन ।
तेई ऊँचे जानिये, जिन के नीचे नैन ॥
सब पानी की चूपरी, एक दया जग सार ।
जिन पर आतम चीन्हिया, ते ही उतरे पार ॥
मलूक बाद न कीजिये, क्रोधै देव बहाय ।
हार मानु अनजान तें, बक बक मरै बलाय ॥
गर्ब भुलाने देह के, रचि रचि बाँधे पाग ।
सो देही नित देखि कै, चोंच सँवारे काग ॥
सुंदर देही पाइ कै, मत कोइ करै गुमान ।
काल दरेरा खायगा, क्या बूढ़ा क्या ज्वान ॥
सुंदर देही देखिकै, उपजत है अनुराग ।
मढ़ी न होती चाम की, तो जीवत खाते काग ॥
इस जीने का गर्ब क्या, कहाँ देह की प्रीत ।
बात कहत ढह जात है, बारू की-सी भीत ॥
देही होय न आपनी, समझु परी है मोहिं ।
अबहीं तें तजि राख तू, आखिर तजिहै तोहिं ॥
आदर मान महत्व सत, बालापन को नेह ।
यह चारो तबहीं गये, जबहिं कहा कछु देह ॥
प्रभुताही को सब मरै, प्रभु को मरै न कोय ।
जो कोई प्रभु को मरै, तो प्रभुता दासी होय ॥
अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम ।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम ॥

बाबा धरनीदासजी

(जन्म—वि॰ सं॰ १७१३ । जन्म-स्थान—माँझी गाँव । (जिला—छपरा), पिताका नाम—परसरामदासजी, माताका नाम—बिरमा, जाति—कायस्थ, गुरुका नाम—स्वामी विनोदानन्द । मृत्यु-काल—अज्ञात)

हित करि हरि नामहिं लाग रे ।
घरी घरी घरियाल पुकारै, का सोवै उठि जाग रे ॥
चोआ चंदन चुपड़ तेलना, और अलबेली पाग रे ।
सो तन जरे खड़े जग देखो, गूद निकारत काग रे ॥
मात पिता परिवार सुता सुत, बंधु त्रिया रस त्याग रे ।
साधु के संगति सुमिर सुचित होइ, जो सिर मोटे भाग रे ॥
संवत जरै बरै नहिं जब लगि, तब लगि खेलहु फाग रे ।
धरनीदास तासु बलिहारी, जहँ उपजै अनुराग रे ॥

तब कैसे करिहो राम भजन ।
अबहि करो जब कछु करि जानो, अवचक कौंच मिलैगो तन ॥
अंत समौ कस भीस उठैहौ, बोल न ऐहै दमन रमन ।
थकित नासिका नैन स्रवन बल, बिकल सकल अँग नग सिखवन ॥

ओझा बैद सगुनिया पंडित, डोलत आँगन द्वार भवन ।
मातु पिता परिवार बिलगि मन, तोरि लिये तन सब अभरन ॥
बार-बार गुनि-गुनि पछितैहौ, परबस परिहै तन मन धन ।
धरनी कहत सुनो नर प्रानी, बेगि भजो हरि चरन सरन ॥

मैं निरगुनियाँ गुन नहिं जाना ।
एक धनी के हाथ बिकाना ॥
सोइ प्रभु पक्का मैं अति कच्चा ।
मैं झूँठा मेरा साहब सच्चा ॥
मैं ओछा मेरा साहब पूरा ।
मैं कायर मेरा साहब सूरा ॥
मैं मूरख मेरा प्रभु ज्ञाता ।
मैं किरपिन मेरा साहब दाता ॥
धरनी मन मानो इक ठाउँ ।
सो प्रभु जीवो मैं मरि जाउँ ॥

मन भज ले पुरुष पुराना ।
जातें बहुरि न आवन जाना ॥
सब सृष्टि सकल जाको ध्यावै ।
गुरु गम बिरला जन पावै ॥
निसि बासर जिन्ह मन लाया ।
तिन्ह प्रगट परम पद पाया ॥
नहिं मातु पिता परिवारा ।
नहिं बंधु सुता सुत दारा ॥
वै तो घट घट रहत समाना ।
धनि सोई जो ता कहँ जाना ॥
चारो जुग संतन भाखी ।
सो तो बेद कितेबा साखी ॥
प्रगटे जाके पूरन भागा ।
सो तो हैगो सोन सोहागा ॥
उन्ह निकट निरंतर बासा ।
तहँ जगमग जोति प्रकासा ॥
धरनी जन दासन दासा ।
करु बिस्वंभर बिस्वासा ॥

करता राम करै सोइ होय ।
कल बल छल बुधि ग्यान सयानप, कोटि करै जो कोय ॥

देईं देवा सेवा करिके, भरम भुले नर लोय ।
आवत जात मरत औ जनमत, करम काट अरुझोय ॥
काहे भवन तजि भेष बनायो, ममता मैल न धोय ।
मन मवास चारि नहिं तोड़ेउ, आस फाँस नहिं छोय ॥
सतगुरु चरन सरन सच पायो, अपनी देह बिलोय ।
धरनी धरनि फिरत जेहि कारन, घरहिं मिले प्रभु सोय ॥

दिन चार को संपति संगति है, इतने लगि कौन मनो करना ।
इक मालिक नाम धरो दिल में, धरनी भवसागर जो तरना ॥
निज हक पहिचानु हकीकत जानु, न छोड़ इमान दुनी घरना ।
पग पीर गहो पर पीर हरो, जिवना न कछू हक है मरना ॥

जीवन थोर बचा भौ भोर, कहा धन जोरि करोर बढ़ाये ।
जीव दया करु साधु की संगति, पैहो अभय पद दास कहाये ॥
जा सन कर्म छिपावत हौ, सो तो देखत है घट में घर छाये ।
बेग भजो धरनी सरनी, ना तो आवत काल कमान चढ़ाये ॥

जननी पितु बंधु सुता सुत संपति, मीत महा हित सतत जोई ।
आवत संग न संग सिधावत, फाँस मया परि नाहक खोई ॥
केवल नाम निरंजन को जपु, चारि पदारथ जेहि तें होई ।
बूझि बिचारि कहै धरनी, जग कोइ न काहु के संग सगोई ॥

धर्म दया कीजे नर प्रानी ।
ध्यान धनी को धरिये जानी ॥
धन तन चंचल थिर न रहाई ।
'धरनी' गुरु की करु सेवकाई ॥
भेष बनाय कपट जिय माहीं ।
भवसागर तरिहैं सो नाहीं ॥
भाग होय जाके सिर पूरा ।
भक्ति काज बिरले जन सूरा ॥

दोहा

धरनी धोख न लाइये, कबहीं अपनी ओर ।
प्रभु सों प्रीति निबाहिये, जीवन है जग थोर ॥
धरनी कोउ निंदा करै, तू अस्तुति करु ताहि ।
तुरत तमासा देखिये, रहै साधु मत आहि ॥

सबमें भगवद्दर्शन

एकनाथजी गदहेमें

मर्यादापुरुषोत्तम प्रभु श्रीरामने अपने अनन्य भक्त श्रीहनुमान्‌जीको भक्तका लक्षण बताया—

> सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
> —श्रीरामचरितमानस

'सचराचर रूप स्वामि भगवंत'—समस्त जड-चेतनमें व्याप्त एक ही परमात्मतत्त्व। लेकिन इसे देख पावे—जो देख पावे, वही तो संत है।

देखा था श्रीएकनाथजीने—

त्रिवेणीकी पैदल तीर्थयात्रा करके, काँवरोंमें गङ्गाजल लिये श्रीरामेश्वरधामकी यात्रा कर रहे थे महाराष्ट्रके कुछ भक्त। श्रीरामेश्वरजीको गङ्गाजल चढ़ाना—कितनी श्रद्धा—कितना श्रम था इस श्रद्धाके साथ। त्रिवेणीसे रामेश्वरतककी पैदल यात्रा—जहाँ शरीर चलनेमें ही असमर्थताका अनुभव करे, एक काँवर—दो कलश जल और ढोते चलना। कितना श्रद्धापूत था वह जल।

मार्गमें मरुभूमि आयी। दोपहरीका समय, ग्रीष्म ऋतु, प्रचण्ड ताप—बेचारा एक गधा तड़प रहा था जलती हुई रेतमें। प्याससे उसके प्राण निकलनेहीवाले थे। असमर्थ छटपटा रहा था वह।

तीर्थयात्री पास पहुँचे गधेके। वे दयालु थे, गधेपर उन्हें दया भी आयी; किंतु उपाय क्या? वहाँ आस-पास कहीं जल नहीं था कि वे गधेको वहाँ ले जायँ या वहाँसे जल लाकर उसे पिलावें। उनके कंधेपर काँवरें हैं, प्रत्येक काँवरमें आगे-पीछे एक-एक कलश है और कलशमें······ छिः, छिः! यह क्या सोचनेकी बात है। कलशमें त्रिवेणीका पवित्र जल है और वह है रामेश्वरमें भगवान् शङ्करको अभिषिक्त करनेके लिये। एक गधेको—वे स्वयं प्याससे प्राण त्याग करते हों तो भी उस जलके उपयोगकी बात उनके मनमें नहीं आ सकती।

तीर्थयात्रियोंमें एक अद्भुत यात्री भी था। वह आगे बढ़ा। गधेके पास उसने काँवर उतारकर रख दी। काँवरके कलशका पवित्र जल बिना हिचक गधेके मुखमें उँड़ेलने लगा वह।

तीर्थयात्री ठक्‌से रह गये। किसीने कहा—'यह श्रीरामेश्वरके अभिषेकके लिये आया जल और गधेको······।'

बीचमें ही बोला वह महापुरुष—'कहाँ है गधा! श्रीरामेश्वर ही तो यहाँ मुझसे जल माँग रहे हैं। मैं उनका ही अभिषेक कर रहा हूँ।'

वे तीर्थयात्री थे महाभागवत श्रीएकनाथजी महाराज।

× × ×

नामदेवजी कुत्तेमें

परम भक्त श्रीनामदेवजीने भी उस सचराचर-व्यापीकी झाँकी की थी—

भगवान्‌को नैवेद्य अर्पित करनेके लिये ही भक्त भोजन बनाता है। वह खाना नहीं पकाता और न खाना खाता है। वह तो प्रभुके प्रसादका भूखा रहता है। उसका जीवन—उसके जीवनके समस्त कार्य भगवत्सेवाके लिये ही होते हैं।

प्रभुको नैवेद्य अर्पित करना था। श्रीनामदेवजीने भोजन बनाया। रोटियाँ सेंककर वे किसी वस्तुको लेनेके लिये चौकेसे बाहर गये। लौटे तो देखते हैं कि एक कुत्ता चौकेसे सारी रोटियाँ मुँहमें लेकर बाहर निकल रहा है। नामदेवजीको आते देखकर कुत्ता रोटियाँ लिये भागा।

भगवान्‌को भोग लगानेके लिये बनायी रोटियाँ कुत्ता ले गया—कोई साधारण पुरुष यही सोचता, दुखी होता। कदाचित् कुत्तेको मारने दौड़ता।

'भगवान् स्वयं इस रूपमें मेरी रोटियाँ स्वीकार करने पधारे। कितने दयामय हैं प्रभु!' नामदेवजी तो अपने आराध्यका कुत्तेमें भी दर्शन कर रहे थे। 'लेकिन रोटियाँ रूखी हैं। उनमें घी नहीं लगा है। रूखी रोटियाँ प्रभु कैसे खायँगे।' देर करनेका समय नहीं था। झपटकर घीका पात्र उठाया उस संतने और दौड़े कुत्तेके पीछे यह पुकारते हुए—'प्रभो! भगवन्! तनिक रुकिये। मुझे रोटियोंमें घी चुपड़ लेने दीजिये!'

वे भावके भूखे भगवान् ऐसे भक्तोंकी रोटियाँ न खायँगे यह भी कभी सम्भव है!

एकनाथको गधेमें शिवदर्शन

नामदेवका कुत्तेमें नारायणदर्शन
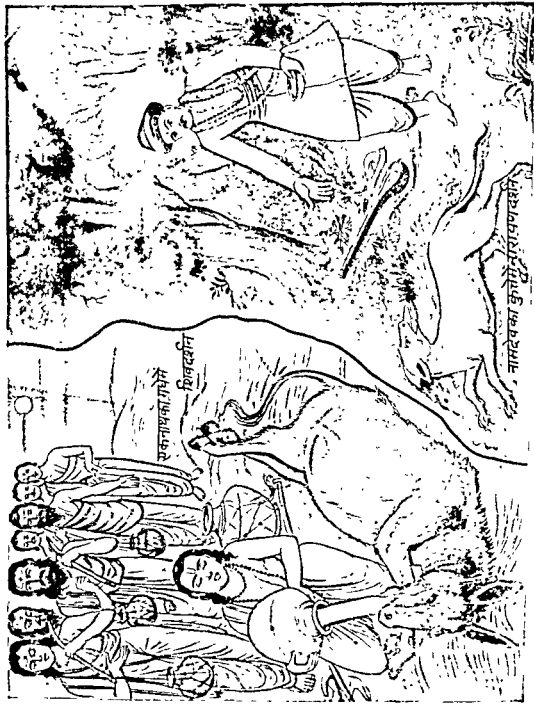
सबमें भगवान्‌के दर्शन

—भय और अभय

भय और अभय

भवसागरसे मनुष्यको पार करनेमें दोनों समर्थ हैं, भय भी, अभय भी। सच्चा भय हो या सच्चा अभय हो। जीवनकी क्षणभङ्गुरता एवं मृत्युकी स्मृति—मनुष्य यदि सचमुच मृत्युसे डरे, अमरत्व अवश्य उसका हो जायगा।

अभय—अभय तो अभयस्वरूप श्रीहरिके चरणकमलोंका आश्रय पाये बिना प्राप्त होनेसे रहा। जिसने उन पादपद्मोंको अपना आश्रय बना लिया है—अभय वही है। माया और मृत्यु उसकी छायाको भी दूरसे नमस्कार करती हैं।

× × ×

भयका प्रभाव—(बुद्धका वैराग्य)

महाराज शुद्धोदनके एकमात्र कुमार सिद्धार्थ रथपर बैठकर मन्त्री-पुत्र छन्दकके साथ नगर-दर्शन करने निकले थे। राजाज्ञा हो चुकी थी कि युवराजके मार्गमें कोई वृद्ध, रोगी, कुरूप या मृतक शव न आने पावे। लेकिन सृष्टिकर्ताके विधानपर राजाज्ञाका प्रभाव पड़ता जो नहीं। संयोगवश एक बूढ़ा मार्गमें दीख गया। झुकी कमर, जर्जर देह, लाठी टेकता वृद्ध—जीवनमें पहिली बार सिद्धार्थको पता लगा कि यौवन स्थिर नहीं है। सबको वृद्ध होना है—स्वयं उन्हें भी।

सिद्धार्थकुमार दूसरी बार नगरदर्शन करने निकले। सारी सावधानी व्यर्थ गयी। इस बार मार्गमें एक रोगी दीखा। बार-बार भूमिपर गिरता, पछाड़ें खाता, मुखसे फेन गिराता—सम्भवतः मृगीका रोगी। दूसरे किसी रोगका भी रोगी हो सकता है। युवराज स्वयं दौड़ गये उसके पास। उसे उठाया, सहारा दिया। आज दूसरे सत्यके दर्शन हुए उन्हें—स्वास्थ्य स्थिर वस्तु नहीं। कोई कभी रोगी हो सकता है। कोई कभी कुरूप और दारुण पीड़ाग्रस्त बन सकता है। वे स्वयं या उनकी प्राणाधिका पत्नी यशोधरा भी……।

तीसरी यात्रा थी सिद्धार्थकुमारकी नगरदर्शनके लिये। जब विश्वका विधाता ही कोई विधान करना चाहे, उसके विपरीत किसीकी सावधानीका क्या अर्थ। महाराज शुद्धोदन जो नहीं चाहते थे, हुआ वही। सिद्धार्थकुमारने एक मृतककी रथी श्मशान जाते देखी। जीवनका महासत्य उनके सम्मुख प्रकट हो गया—सबको मरना है। कोई सदा जीवित नहीं रह सकता। किसीको पता नहीं, मृत्यु कब उसे ग्रास बना लेगी।

बुढ़ापे, रोग और मृत्युसे जीवन ग्रस्त है—सिद्धार्थको सच्चा भय हुआ। वे अमरत्वकी खोजमें निकल पड़े। बुद्धत्व प्राप्त किया उन्होंने।

× × ×

अभयका प्रभाव—(मीराँका विषपान)

गिरिधरगोपालकी दासी—मीराँ तो मतवाली हो गयी थी अपने गिरिधरके अनुरागमें। राणाको पड़ी थी अपनी लोकप्रतिष्ठाकी चिन्ता। उनकी भावज, मेवाड़की राजरानी मन्दिरमें नाचे, गावे—कितनी भद्दी बात। लेकिन मीराँ माननेवाली कहाँ थी। राणा समझाकर, धमकाकर—सब सम्भव प्रयत्न करके थक गये। अन्तमें उन्होंने 'न रहे बाँस न बजे बाँसुरी' वाला उपाय सोचा। 'मीराँको मार दिया जाय……।'

सृष्टिका सञ्चालक मारने-जिलानेका अधिकार दूसरेके हाथमें दिया नहीं करता। मनुष्य केवल अपनीवाली कर सकता है। राणाने भी अपनीवाली की। तीव्रतम विष भेजा उन्होंने मीराँके पास यह कहलाकर कि—'यह ठाकुरजीका चरणामृत है।'

विष ले जानेवालीसे कपट न हो सका। उसका हृदय काँप गया। उसने स्पष्ट कह दिया—'यह भयंकर विष है। चरणामृत बताकर आपको देनेको कहा गया है।'

लेकिन मीराँको तो सच्चा अभय प्राप्त था। भय उसके पास फटकनेका साहस कैसे करता? वह हँसी—'पगली है तू! अरे जिस पदार्थमें चरणामृतकी भाव किया गया, वह विष हो कैसे सकता है। वह तो अमृत है—अमृत।'

विषके प्यालेमें भी मीराँको अपने 'गिरिधर'की झाँकी दीख रही थी। विष पी लिया उसने—लेकिन विष था कहाँ? मीराँके लिये तो उसके गिरिधारीलालने उस विषमें प्रवेश करके उसको पहिले ही अमृत बना दिया था।
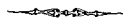
संत केशवदासजी

(जन्म—वि० सं० १६१२, सनाढ्य ब्राह्मण, कृष्णदत्तके पौत्र एवं काशीनाथके पुत्र, स्थान—ओरछामें रहा करते थे। देहान्त—वि० सं० १६७४ ।)

धनि सो घरी धनि बार, जबहि प्रभु पाइये ।
प्रगट प्रकाश हजूर, दूर नहिं जाइये ॥
पूरन सरब निधान, जानि गोद लीजिये ।
निर्मल निर्गुन कंत, ताहि चित दीजिये ॥

(छन्द)

दीजिये चित बहुर जी कै, इत बहुरि नहिं आइये ।
जहँ तेज पुंज अनंत सूरज, गगन में मठ छाइये ॥
लियो घंट को पट खोलिकै, प्रभु अगमगति तव गति करी ।
बाढ़ो हो अधिक सोहाग 'केसव', छुटत नहिं एको घरी ॥
अद्भुत भेस बनाय कै तब अलख अपन मनाइये ।
निसु-बासरहि करि प्रेम सो निज नाद कंठ लगाइये ॥

दौलत निशान बान धरे खुदी अभिमान,
करत न दाया काहू जीव की जगत में ।
जानत है नीके यह फीको है सकल रंग,
गहे फिरै काल फंद मारैगो छिनक में ॥
घेरा डेरा गज बाज, झूठो है सकल साज,
बादि हरि नाम कोऊ काज नाहिं अंत कै ।
बार-बार कहौं तोहि छाड़ु मान माया मोह,
कैसो कहे को करै छोभ मोह काम कै ॥

दोहा

आसा मनसा सब थकी, मन निज मनहिं मिलान ।
ज्यों सरिता समुँदर मिली, मिटिगो आवन जान ॥
जेहि घर केसो नहिं भजन, जीवन प्रान अधार ।
सो घर जम का गेह है, अंत भये ते छार ॥

स्वामीजी श्रीतरणतारण मण्डलाचार्य

(१६ वीं शताब्दी)

(प्रेषक—पं० श्रीअमीरचन्दजी शास्त्री)

मिथ्या दृष्टिहिं पर सहियो परपर्जय संजुत्तुरिना ।
न्यान उवएस न संपजै, अन्यानी नरय निवासुरिना ॥
जनरंजन राग जु समय भउ जन उत्सहनंत विसेसुरिना ।
आरति ध्यानहं तुव सहियो, थावर गय विलसंतुरिना ॥
कल रंजन दोसह सहियो, पर्जय दिस्टि अनंतुरिना ।
मोह महा भय पूरि यउ, भवसागर भमंतुरिना ॥
राय सहियो गारव सहियो, मिथ्या मय उवएसुरिना ।
अन्मोय विरोहु न जानियो, दुग्गइ गमन सहेतुरिना ॥
धम्मह भेउ न जानि पउ, कम्मह किय उवएसुरिना ।
अन्यानी वय तव सहियो, भमियो काल अनंतुरिना ॥
अब किन मूढा ! चितवहिं, न्यान सिरी सिहु भेउरिना ।
न्यान विन्यानहं समय पउ, कम्म विसेष गलंतुरिना ॥

(१) दूसरेका सहारा लेनेसे और शरीरकी आसक्तिसे नरकका वास होता है, ज्ञानका उदय नहीं होता ।

(२) संसारमें मनुष्योंका साथ राग प्राप्त कराता है और आर्तध्यानसे मर कर पञ्चतत्त्वोंमें जन्मता है ।

(३) शरीरासक्त ही मोही है, वही संसारमें जन्म-मरणके चक्कर काटता है ।

(४) जो राग-द्वेष और मोहके वशमें हुआ अज्ञानके विरोधमें असमर्थ है, वह दुर्गतिका पात्र है ।

(५) भूख, प्यास, बीमारी, बुढ़ापा, राग, द्वेष, मोह, निद्रा, चिन्ता, भय, खेद, जन्म, मरण, स्वेद, विस्मय, शोक, मंद, अरति—इन १८ दोषोंसे रहित देव व क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता, ब्रह्मचर्य धर्मको न जानकर अनन्तकालतक भ्रमण करता है । गुरुदेव कहते हैं, हे मूढ़ ! अब चेत । ज्ञान-लक्ष्मीसे प्रीति कर, भेद-विज्ञानसे आत्म-दर्शन कर; तब अनन्त कर्मोंको नष्ट कर सकेगा ।

स्वामी श्रीदादूदयालजी

[जन्म-संवत्—वि० १६०१, स्थान-अहमदाबाद (गुजरात), कुल-नागर ब्राह्मण, शरीरान्त वि० सं० १६६० नराणा ग्राम (जयपुरसे २० कोस दूर)]

ज्ञान

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और॥
दादू सब ही गुर किये, पसु पंखी बनराइ।
तीन लोक गुण पंच सूँ, सब ही माहिं खुदाइ॥
निमिष एक न्यारा नहीं, तन मन माहि समाइ।
एक अंग लागा रहै, ताकूँ काल न खाइ॥
अविनासी सौं एक ह्वै, निमिष न इत उत जाइ।
बहुत बिलाई क्या करै, जे हरि हरि सबद सुणाइ॥
साँई सन्मुख जीवताँ, मरताँ सन्मुख होइ।
दादू जीवण मरण का, सोच करै जिनि कोइ॥
साहिब मिल्या त सब मिले, भेंटे भेंटा होइ।
साहिब रह्या त सब रहे, नहीं त नाहीं कोइ॥
साहिब रहताँ सब रह्या, साहिब जाताँ जाइ।
दादू साहिब राखिये, दूजा सहज सुभाइ॥
दादू सींचे मूल के, सब सींच्या बिस्तार।
दादू सींचे मूल बिन, बादि गई बेगार॥
सब आया उस एक में, डाल पान फल फूल।
दादू पीछे क्या रह्या, जब निज पकड़्या मूल॥
दादू एकै आतमा, साहिब है सब माहिं।
साहिब के नाते मिलै, भेष पंथ के नाहिं॥
मीत तुम्हारा तुम्ह कनै, तुम ही लेहु पिछाणि।
दादू दूर न देखिये, प्रतिब्यंब ज्यूँ जाणि॥
मन इंद्री पसरै नहीं, अहनिसि एकै ध्यान।
पर उपगारी प्राणिया, दादू उत्तिम ग्यान॥

गुरु और साधुकी महिमा

'दादू' मनही सूँ मल ऊपजै, मनही सूँ मल धोइ।
सीख चलै गुर साध की, तौ तूँ निर्मल होइ॥
राम कौ रुचि साध कूँ, साध कौ रुचि राम।
दादू दून्यूँ एकटग, यहु आरम यहु काम॥
'दादू' हरि साधू यों पाइये, अविगत के आराध।
साधू संगति हरि मिलै, हरि संगति सूँ साध॥
मन भुजंग यहु विष भर्या, निर्विष क्यूँहि न होइ।
दादू मिल्या गुर गारुड़ी, निर्विष कीया सोइ॥
पूजा मान बड़ाइयाँ, आदर माँगै मन।
राम गहै सब परिहरै, सोई साधू जन॥
विष सुख माहीं रमि रह्या, माया हित चित लाइ।
सोइ संत जन ऊबरे, स्वाद छोड़ि गुण गाइ॥
साध मिलै तब ऊपजै, हिरदै हरि की प्यास।
दादू संगति साध की, अविगत पुरवै आस॥
प्रेम कथा हरि की कहै, करै भगति ल्यौ लाइ।
पिवै पिलावै राम रस, सो जन मिलवो आइ॥
साहिब सूँ सनमुख रहै, सत संगति मैं आइ।
दादू साधू सब कहै, सो निरफल क्यूँ जाइ॥
निरवैरी सब जीव सूँ, संत जना सोई।
दादू एकै आतमा, बैरी नहिं कोई॥
काहे कूँ दुख दीजिये, घट घट आतम राम।
दादू सब संतोषिये, यहु साधू का काम॥

नाम

एकै अच्छर पीव का, सोई सत करि जाणि।
राम नाम सतगुर कह्या, दादू सो परवाणि॥
दादू नीका नाँव है, तीन लोक तत सार।
राति दिवस रटिबो करी, रे मन इहै बिचार॥
दादू नीका नाव है, हरि हिरदै न बिसारि।
मूरति मन माहीं बसै, साँसै साँस सँभारि॥
दादू नीका नाँव है, आप कहै समझाइ।
और आरँभ सब छाड़ि दे, राम नाम ल्यौ लाइ॥
राम भजन का सोच क्या, करताँ होइ सो होइ।
दादू राम सँभालिये, फिरि बूझिये न कोइ॥
राम तुम्हारे नाँव बिन, जे मुख निकसै और।
तौ इस अपराधी जीव कूँ, तीन लोक कत ठौर॥
एक राम की टेक गहि, दूजा सहज सुभाइ।
राम नाम छाड़ै नहीं, दूजा आवै जाइ॥
निमिष न न्यारा कीजिये, अंतर सूँ हरि नाम।
कोटि पतित पावन भये, केवल कहताँ राम॥
दादू राम सँभालि ले, जब लग सुखी सरीर।
फिरि पीछै पछितायगा, जब तन मन धरै न धीर॥

दुख दरिया संसार है, सुख का सागर राम।
सुख सागर चलि जाइये, दादू तजि बेकाम॥
दादू दुखिया तब लगै, जब लग नाँव न लेहि।
तब ही पावन परम सुख, मेरी जीवन येहि॥
दादू पिव का नाँव ले, तौ मेटै सिर साल।
घड़ी महूरत चालना, कैसी आवै काल॥
'दादू' रावत राजा राम का, कदे न बिसारी नाँव।
आतम राम सँभालिये, तौ सूबस काया गाँव॥
'दादू' जहाँ रहूँ तहँ राम सूँ, भावै कंदलि जाइ।
भावै गिर परवत रहूँ, भावै गेह बसाइ॥
'दादू' साँई सेवैं सब भले, बुरा न कहिये कोइ।
साराँ माहीं सो बुरा, जिस घट नाँव न होइ॥
दादू जियरा राम बिन, दुखिया येहि संसार।
उपजै बिनसै खपि मरै, सुख दुख बारंबार॥
राम नाम रुचि ऊपजै, लेवे हित चित लाइ।
दादू सोई जीयरा, काहे जमपुर जाइ॥
दादू सब जग बिष भर्‌या, निर्बिष बिरला कोइ।
सोई निर्बिष होइगा, जा के नाँव निरंजन होइ॥
दादू निर्बिष नाँव सौं, तन मन सहजैं होइ।
राम निरोगा करैगा, दूजा नाहीं कोइ॥
नाँव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुन गाइ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौ लाइ॥
'दादू' कहताँ सुणताँ राम कहि, लेताँ देताँ राम।
खाताँ पीताँ राम कहि, आत्म कँवल बिसराम॥
ना घर भला न बन भला, जहाँ नहीं निज नाँव।
दादू उनमुनि मन रहै, भला न सोई ठाँव॥
कौण पटंतर दीजिये, दूजा नाहीं कोइ।
राम सरीखा राम है, सुमिरयाँ ही सुख होइ॥
'दादू' सबही बेद पुरान पढ़ि, मेटि नाँव निरधार।
सब कुछ इन ही माहिं है, क्या करिये बिस्तार॥
दादू हरि रस पीवताँ, रती बिलंब न लाइ।
बारंबार सँभालिये, मति वै बीसरि जाइ॥
नाँव न आवै तब दुखी, आवै सुख संतोष।
दादू सेवक राम का, दूजा हरष न सोक॥
मिलै तो सब सुख पाइये, बिछुरे बहु दुख होइ।
दादू सुख दुख राम का, दूजा नाहीं कोइ॥
दादू हरि का नाँव जल, मैं मछली ता माहिं।
सदा सदा आनँद करै, बिछुरत ही मरि जाहिं॥

दादू राम बिसारि करि, जीवैं केहिं आधार।
ज्यूँ चातक जल बूँद कौं, करै पुकार पुकार॥
दादू सब जग निरधना, धनवंता नहिं कोइ।
सो धनवंता जानिये, जाके राम पदारथ होइ॥
संगहिं लागा सब फिरै, राम नाम के साथ।
चिंतामणि हिरदै बसै, तो सकल पदारथ हाथ॥
जेता पाप सब जग करै, तेता नाँव बिसारैं होइ।
दादू राम सँभालिये, तो एता डारै धोइ॥
अलख नाँव अंतरि कहै, सब घटि हरि हरि होइ।
दादू पाणी लूण ज्यूँ, नाँव कहीजै सोइ॥
राम बिना किस काम का, नहिं कौड़ी का जीव।
साँई सरिखा ह्वै गया, दादू परसैं पीव॥
'दादू' जेहिं घट दीपक राम का, तेहिं घट तिमिर न होइ।
उस उजियारे जोति के, सब जग देखै सोइ॥
गूँगे का गुड़ का कहूँ, मन जानत है खाइ।
त्यूँ राम रसाइण पीवताँ, सो सुख कह्या न जाइ॥
'दादू' राम कहूँ ते जोड़िबा, राम कहूँ ते साखि।
राम कहूँ ते गाइबा, राम कहूँ ते राखि॥
खेत न निपजै बीज बिन, जल सींचे क्या होइ।
सब निरफल दादू राम बिन, जाणत है सब कोइ॥
कोटि बरस क्या जीवणा, अमर भये क्या होइ।
प्रेम भगति रस राम बिन, का दादू जीवनि सोइ॥
सहजैं हीं सब होइगा, गुण इंद्री का नास।
दादू राम सँभालताँ, कटैं करम के पास॥
एक राम के नाम बिन, जिव की जलण न जाइ।
दादू केते पचि मुए, करि करि बहुत उपाइ॥
राम कहे सब रहत है, नख सिख सकल सरीर।
राम कहे बिन जात है, समझो मनवाँ बीर॥
आपा पर सब दूरि करि, राम नाम रस लागि।
दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि॥
दादू नीका नाँव है, सो तूँ हिरदै राखि।
पाखँड परपँच दूरि करि, सुनि साधू जन की साखि॥
बिषै हलाहल खाइ करि, सब जग मरि मरि जाइ।
दादू मुहरा नाँव ले, हृदै राखि ल्यौ लाइ॥
'दादू' कनक कलस बिष सूँ भर्‌या, सो किस आवै काम।
सो धनि कूँडा चाम का, जा मैं अमृत राम॥
'दादू' राम नाम निज औषदी, काटै कोटि बिकार।
बिषम ब्याधि थैं ऊबरै, काया कंचन सार॥

बिपति भली हरि नाँव सूँ, काया कसौटी दुक्ख ।
राम बिना किस काम का, दादू सम्पति सुक्ख ॥
मरै त पावै पीव कूँ, जीवत बचै काल ।
दादू निर्भय नाँव ले, दून्यौं हाथि दयाल ॥
नाम लिया तब जाणिये, जे तन मन रहै समाइ ।
आदि अंत मध एक रस कबहूँ भूलि न जाइ ॥
नाँव न आवै तब दुखी, आवै सुख संतोष ।
दादू सेवक राम का दूजा हरख न सोक ॥

स्मरण

'दादू' अहनिसि सदा सरीर मैं, हरि चिंतत दिन जाइ ।
प्रेम मगन ल्य लीन मन, अंतर गति ल्यौ लाइ ॥
दादू आनँद आतमा, अविनासी के साथ ।
प्राणनाथ हिरदै बसै, तौ सकल पदारथ हाथ ॥
अंतर गति हरि हरि करै, तब मुख की हाजत नाहिं ।
सहजैं धुनि लागी रहै, दादू मन ही माँहि ॥

विषय-निंदा

दादू बिषै विकार सौं, जब लग मन राता ।
तब लग चीत न आवई, त्रिभुवन पति दाता ॥
'दादू' जिन विष पीवै बावरे, दिन दिन बाढ़ै रोग ।
देखत हीं मरि जाइगा, तजि बिषया रस भोग ॥
'दादू' स्वाद लागि संसार सब, देखत परलै जाइ ।
इंद्री स्वारथ साच तजि, सबै बँधाणे आइ ॥
'दादू' काम कठिन घट चोर है, घर फोड़ै दिन रात ।
सोवत साह न जागई, तत्त वस्त लै जात ॥
ज्यौं घुन लागै काठ कौं, लोहै लागै काट ।
काम किया घट जाजरा, दादू बारह बाट ॥
काल कनक अरु कामिनी, परिहरि इन का संग ।
दादू सब जग जलि मुवा, ज्यौं दीपक जोति पतंग ॥

अनन्यता

'दादू' एकै दसा अनन्य की, दूजी दसा न जाइ ।
आपा भूलै आन सब, एकै रहै समाइ ॥
दादू देखूँ निज पीव कूँ, और न देखौं कोइ ।
पूरा देखूँ पीव कूँ, बाहर भीतर सोइ ॥
एक मना लागा रहै, अंत मिलैगा सोइ ।
दादू जाके मन बसै, ता कूँ दरसन होइ ॥
दादू रीतै राम पर, अनत न रीझै मन ।
मीठा भावै एक रस, दादू सोई जन ॥

'दादू' दूजा नैन न देखिये, स्रवणहुँ सुनै न जाइ ।
जिभ्या आन न बोलिये, अंग न और सुहाइ ॥

आश्रय

हम जीवैं इहि आसरे, सुमिरण के आधार ।
दादू छिटके हाथ थैं, तौ हम कूँ वार न पार ॥
'दादू' करणहार करता पुरिष, हम को कैसी चिंत ।
सब काहू की करत है, सो दादू का मिंत ॥
ज्यूँ तुम भावै त्यूँ खुसी, हम राजी उस बात ।
दादू के दिल सिदक सूँ, भावै दिन कूँ रात ॥
'दादू' डोरी हरि कै हाथ है, गल माहीं मेरे ।
बाजीगर का बंदरा, भावै तहाँ फेरै ॥
'दादू' तन मन काम करीम के, आवै तौ नीका ।
जिस का तिस कूँ सौंपिये, सोच क्या जी का ॥
जे सिर सौंप्या राम कूँ, सो सिर भया सनाथ ।
दादू दे ऊरण भया, जिस का तिस के हाथ ॥
जिस का है तिस कूँ चढ़ै, दादू ऊरण होइ ।
पहिली देवै सो भला, पीछै तौ सब कोइ ॥
'दादू' कहै जे तूँ राखै साइयाँ, तौ मारि न सकै कोइ ।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होइ ॥

भगवान्‌की महिमा

घर बन माहीं सुख नहीं, सुख है साईं पास ।
दादू ता सूँ मन मिल्या, इन सूँ भया उदास ॥
'दादू' सोइ हमारा साँइयाँ, जे सब का पूरणहार ।
दादू जीवण मरण का, जाके हाथ विचार ॥
'दादू' जिन पहुँचाया प्राण कूँ, उदर उर्धमुख खीर ।
जठर अगनि में राखिया, कोमल काया सरीर ॥
धनि धनि साहिब तू बड़ा, कौन अनूपम रीति ।
सकल लोक सिर साँइयाँ, है करि रह्या अतीत ॥
'दादू' हूँ बलिहारी सुरत की, सब की करै सँभार ।
कीड़ी कुंजर पलक में, करता है प्रतिपाल ॥
सीप सुत सूँ सिंहारि करि, सिर पर दीया हाथ ।
दादू कलियुग क्या करै, साईं मेरा साथ ॥
इक लख चंदा आणि घर, सूरज कोटि मिलाइ ।
'दादू' गुरगोविन्द बिन तौ भी तिमिर न जाइ ॥

वैराग्य

सुरगैं सब कुछ देखिये, आगे हौ कुछ नाहिं ।
ऐसा यहु संसार है, समझि देखि मन माँहि ॥

दुख दरिया संसार है, सुख का सागर राम।
सुख सागर चलि जाइये, दादू तजि बेकाम॥
दादू दुखिया तब लगै, जब लग नाँव न लेहि।
तब ही पावन परम सुख, मेरी जीवन येहि॥
दादू पिव का नाँव ले, तौ मेटैं सिर साल।
घड़ी महूरत चालना, कैसी आवै काल॥
'दादू' रावत राजा राम का, कदे न बिसारी नाँव।
आतम राम सँभालिये, तौ सूबस काया गाँव॥
'दादू' जहाँ रहूँ तहँ राम सूँ, भावै कंदलि जाइ।
भावै गिर परबत रहूँ, भावै गेह बसाइ॥
'दादू' साँई सेवै सब भले, बुरा न कहिये कोइ।
साराँ माहीं सो बुरा, जिस घट नाँव न होइ॥
दादू जियरा राम बिन, दुखिया येहि संसार।
उपजै बिनसै खपि मरै, सुख दुख बारंबार॥
राम नाम रुचि ऊपजै, लेवे हित चित लाइ।
दादू सोई जीयरा, काहे जमपुर जाइ॥
दादू सब जग बिष भर्‌या, निर्बिष बिरला कोइ।
सोई निर्बिष होइगा, जा के नाँव निरंजन होइ॥
दादू निर्बिष नाँव सौं, तन मन सहजैं होइ।
राम निरोगा करैगा, दूजा नाहीं कोइ॥
नाँव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुन गाइ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौ लाइ॥
'दादू' कहताँ सुणताँ राम कहि, लेताँ देताँ राम।
खाताँ पीताँ राम कहि, आतम कँवल बिसराम॥
ना घर भला न बन भला, जहाँ नहीं निज नाँव।
दादू उनमुनि मन रहै, भला न सोई ठाँव॥
कौण पटंतर दीजिये, दूजा नाहीं कोइ।
राम सरीखा राम है, सुमिरयाँ ही सुख होइ॥
'दादू' सबही बेद पुरान पढ़ि, मेटि नाँव निरधार।
सब कुछ इन ही माहिं है, क्या करिये बिस्तार॥
दादू हरि रस पीवताँ, रती बिलंब न लाइ।
बारंबार सँभालिये, मति वै बीसरि जाइ॥
नाँव न आवै तब दुखी, आवै सुख संतोष।
दादू सेवक राम का, दूजा हरष न सोक॥
मिलै तो सब सुख पाइये, बिछुरे बहु दुख होइ।
दादू सुख दुख राम का, दूजा नाहीं कोइ॥
दादू हरि का नाँव जल, मैं मछली ता माहिं।
संग सदा आनँद करै, बिछुरत ही मरि जाहिं॥

दादू राम बिसारि करि, जीवैं केहिं आधार।
ज्यूँ चातक जल बूँद कौं, करे पुकार पुकार॥
दादू सब जग निरधना, धनवंता नहिं कोइ।
सो धनवंता जानिये, जाके राम पदारथ होइ॥
संगहिं लागा सब फिरै, राम नाम के साथ।
चिंतामणि हिरदै बसै, तो सकल पदारथ हाथ॥
जेता पाप सब जग करै, तेता नाँव बिसारैं होइ।
दादू राम सँभालिये, तौ एता डारै धोइ॥
अलख नाँव अंतरि कहै, सब घटि हरि हरि होइ।
दादू पाणी लूण ज्यूँ, नाँव कहीजै सोइ॥
राम बिना किस काम का, नहिं कौड़ी का जीव।
साँई सरिखा ह्वै गया, दादू परसैं पीव॥
'दादू' जेहिं घट दीपक राम का, तेहिं घट तिमिर न होइ।
उस उजियारे जोति के, सब जग देखै सोइ॥
गूँगे का गुड़ का कहूँ, मन जानत है खाइ।
त्यूँ राम रसाइण पीवताँ, सो सुख कहा न जाइ॥
'दादू' राम कहूँ ते जोड़िबा, राम कहूँ ते साखि।
राम कहूँ ते गाइबा, राम कहूँ ते राखि॥
खेत न निपजै बीज बिन, जल सींचे क्या होइ।
सब निरफल दादू राम बिन, जाणत है सब कोइ॥
कोटि बरस क्या जीवणा, अमर भये क्या होइ।
प्रेम भगति रस राम बिन, का दादू जीवनि सोइ॥
सहजैं हीं सब होइगा, गुण इंद्री का नास।
दादू राम सँभालताँ, कटैं करम के पास॥
एक राम के नाम बिन, जिव की जलणि न जाइ।
दादू केते पचि मुए, करि करि बहुत उपाइ॥
राम कहे सब रहत है, नख सिख सकल सरीर।
राम कहे बिन जात है, समझो मनवाँ बीर॥
आगा पर सब दूरि करि, राम नाम रस लागि।
दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि॥
दादू नीका नाँव है, सो तूँ हिरदै राखि।
पाखँड परपँच दूरि करि, सुनि साधू जन की साखि॥
पिवै हलाहल खाइ करि, सब जग मरि मरि जाइ।
दादू सुहरा नाँव ले, हृदै राखि ल्यो
'दादू' कनक कलस बिष सूँ भर्‌या, सो किस आवै
सो धनि कूँड़ा चाम का, जा मैं
'दादू' राम नाम निज औषदी, काटै
बिषम ब्याधि मैं ऊबरे,

सब तजि देखि बिचारि करि, मेरा नाहीं कोइ ।
अनदिन राता राम सूँ, भाव भगति रत होइ ॥
दादू जल पाषाण ज्यूँ, सेवै सब संसार ।
दादू पाणी लूण ज्यूँ, कोइ बिरला पूजनहार ॥
'दादू' जब दिल मिला दयाल सूँ, तब सब पड़दा दूरि ।
ऐसे मिलि एकै भया, बहु दीपक पावक पूरि ॥
'दादू' जब दिल मिला दयालसौं, तब पलक न पड़दा कोइ ।
डाल मूल फल बीज मे, सब मिलि एकै होइ ॥
दादू हरि रस पीवताँ, कबहूँ अरुचि न होइ ।
पीवत प्यासा नित नवा, पीवणहारा सोइ ॥
ज्यूँ ज्यूँ पीवै राम रस, त्यूँ त्यूँ बढ़ै पियास ।
ऐसा कोई एक है, बिरला दादू दास ॥
रोम रोम रस पीजिये, एती रसना होइ ।
दादू प्यासा प्रेम का, यौं बिन तृपति न होइ ॥
परचै पीवै राम रस, सो अबिनासी अंग ।
काल मीच लागै नहीं, दादू साँई संग ॥
आदि अंत मधि एक रस, टूटै नहिं धागा ।
दादू एकै रहि गया, तब जाणी जागा ॥
'दादू' मेरे हिरदै हरि बसै, दूजा नाहीं और ।
कहो कहाँ धौं राखिये, नहीं आन कौ ठौर ॥
'दादू' तन मन मेरा पीव सूँ, एक सेज सुख सोइ ।
गहिला लोग न जाणही, पचि पचि आपा खोइ ॥
पर पुरिषा सब परिहरै, सुंदरि देखै जागि ।
अपणा पीव पिछाणि करि, दादू रहिये लागि ॥
राम रसिक बांछै नहीं, परम पदारथ चार ।
अठ सिधि नौ निधि का करै, राता सिरजनहार ॥
बैठे सदा एक रस पीवै, निरवैरी कत जूझै ।
आतम राम मिलै जब दादू, तब अंगि न लागै दूजै ॥
'दादू' जिन यह दिल मंदिर किया, दिल मंदिर में सोइ ।
दिल माहीं दिलदार है, और न दूजा कोइ ॥
ना वहु मिलै न मैं सुखी, कहु क्यूँ जीवन होइ ।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोइ ॥

अहंभावकी बाधकता

जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम ।
दादू महल बारीक है, दूजे को नाहीं ठाम ॥
दादू आपा जब लगैं, तब लग दूजा होइ ।
जब यहु आपा मिटि गया, तब दूजा नहिं कोइ ॥
'दादू' मैं नाहीं तब एक है, मैं आई तब दोइ ।
मैं तैं पड़दा मिटि गया, तब ज्यूँ था त्यूँही होइ ॥
'दादू' 'है' को भय घणा, 'नाहीं' को कुछ नाहिं ।
दादू 'नाहीं' होय रह, अपणे साहिब माहिं ॥

दीनता

कीया मन का भावताँ, मेटी आग्याकार ।
क्या ले मुख दिखलाइये, दादू उस भरतार ॥
कुछ खाताँ कुछ खेलताँ, कुछ सोवत दिन जाइ ।
कुछ बिषियाँ रस बिलसताँ, दादू गये बिलाइ ॥
जैसें कुंजर काम बस, आप बँधाणा आइ ।
ऐसें दादू हम भये, क्यों करि निकस्या जाइ ॥
जैसे मरकट जीभ रस, आप बँधाणा अंध ।
वैसें दादू हम भये, क्यूँ करि छूटै फंद ॥
ज्यौं सूवा सुख कारणे, बंध्या मूरख माहिं ।
ऐसें दादू हम भये, क्यूँ ही निकसैं नाहिं ॥
जैसे अंध अग्यान गृह, बंध्या मूरख स्वादि ।
ऐसें दादू हम भये, जन्म गँवाया बादि ॥
दादू राम बिसारि करि, कीये बहु अपराध ।
लाजौं मारे साध सब, नाँव हमारा साध ॥
जब दरवौ तब दीजियो, तुम पैं मागौं येहु ।
दिन प्रति दरसन साध का, प्रेम भगति दिढ़ देहु ॥
दादू जीवण मरण का, मुझ पछितावा नाहिं ।
मुझ पछितावा पीव का, रह्या न नैनहुँ माहिं ॥
जो साहिब कूँ भावै नहीं, सो हम तैं जिनि होइ ।
सतगुर लाजै आपणा, साध न मानै कोइ ॥

साधन

'दादू' जो साहिब कूँ भावै नहीं, सो सब परिहरि प्राण ।
मनसा बाचा कर्मना, जे तूँ चतुर सुजाण ॥
'दादू' जो साहिब कूँ भावै नहीं, सो बाट न बूझी रे ।
साँई सूँ सन्मुख रहौ, इस मन सूँ जूझी रे ॥
जब लगि यहु मन थिर नहीं, तब लगि परस न होइ ।
दादू मनवाँ थिर भया, सहजि मिलैगा सोइ ॥
'दादू' निरअवलंबन क्यूँ रहै, मन चंचल चलि जाइ ।
सुस्थिर मनवाँ तौ रहै, सुमिरण सेती लाइ ॥
कहा मुँह ले हँसि बोलिये, दादू दीजै रोइ ।
जनम अमोलक आपणा, चले अकारथ खोइ ॥
बड़ा हमारा मानि मन, काची सँवारि काम ।
सिर का मैल छाँड़ि दे, दादू कहि ले राम ॥

'दादू' झूठे तन के कारणे, कीये बहुत विकार ।
गृह दारा धन संपदा, पूत कुटंब परिवार ॥
'दादू' यहु घट काचा जल भरया, बिनसत नाही बार ।
यहु घट फूटा जल गया, समझत नहीं गँवार ॥
फूटी काया जाजरी, नव ठाहर काणी ।
ता में दादू क्यों रहै, जीव सरीखा पाणी ॥
बाव भरी इस खाल का, झूठा गर्ब गुमान ।
दादू बिनसै देखतां, तिसका क्या अभिमान ॥
काल गिरासै जीव कूँ, पल पल साँसै साँस ।
पग पग माहीं दिन घड़ी, दादू लखै न तास ॥
दादू काया कारवीं, देखत ही चलि जाइ ।
जब लग साँस सरीर में, राम नाम ल्यौ लाइ ॥
दादू देही देखतां, सब किसही की जाइ ।
जब लग साँस सरीर में, गोविंद के गुण गाइ ॥
दादू सब को पाहुणा, दिवस चारि संसार ।
औसरि औसरि सब चले, हम भी इहै विचार ॥
सब को बैठे पंथ सिरि, रहे बटाऊ होइ ।
जे आये ते जाहिंगे, इस मारग सब कोइ ॥
संइया चलै उतावला, बटाउ बनखँड माहि ।
बिरियाँ नाहीं ढील की, दादू वेगि घरि जाहिं ॥
सब जीव बिसाहैं काल कूँ, करि करि कोटि उपाइ ।
साहिब कूँ समझैं नहीं, यौं परलय ह्वै जाइ ॥
दादू अमृत छोड़ि करि, बिषै हलाहल खाइ ।
जीव बिसाहै काल कूँ, मूढ़ा मरि मरि जाइ ॥
ये दिन बीते चलि गये, वे दिन आये धाइ ।
राम नाम बिन जीव कूँ, काल गरासे जाइ ॥
'दादू' धरती करते एक डग, दरिया करते फाल ।
हाँकौं परबत फाड़ते, सो भी खाये काल ॥

नाम-विस्मरणसे हानि

'दादू' जबही राम बिसारिये, तबही झंपै काल ।
सिर ऊपरि करवत बहै, आइ पड़े जम जाल ॥
'दादू' जबही राम बिसारिये, तब ही कंध बिनास ।
पग पग परलय पिंड पड़ै, प्राणी जाइ निरास ॥
'दादू' जबही राम बिसारिये, तब ही हानी होइ ।
प्राण पिंड सरबस गया, सुखी न देख्या कोइ ॥
ता कारण हति आतमा, झूठ कपट अहँकार ।
सो माटी मिलि जाइगा, बिसर्या सिरजनहार ॥

सुरग नरक संसय नहीं, जिवण मरण भय नाहिं ।
राम बिमुख जे दिन गये, सो सालैं मन माहिं ॥

विरह

बिरहिनि रोवै रात दिन, झूरै मनही माहिं ।
दादू औसर चलि गया, प्रीतम पाये नाहिं ॥
पिव बिन पल पल जुग भया, कठिन दिवस क्यूँ जाइ ।
दादू दुखिया राम बिन, काल रूप सब खाइ ॥
सहजैं मनसा मन सधै, सहजैं पवना सोइ ।
सहजैं पाँचौं थिर भये, जे चोट बिरह की होइ ॥
दादू पड़दा पलक का, एता अंतर होइ ।
दादू बिरही राम बिन, क्यूँ करि जीवै सोइ ॥
रोम रोम रस प्यास है, दादू करहि पुकार ।
राम घटा दल उमँगि करि, बरसहु सिरजनहार ॥
तलफि तलफि बिरहणि मरै, करि करि बहुत बिलाप ।
बिरह अगिनि में जल गई, पीव न पूछै बात ॥
राम बिरहिणी ह्वै गया, बिरहिणि ह्वै गई राम ।
दादू बिरहा बापुरा, ऐसे करि गया काम ॥

प्रेम

भँवरा लुबधी बास का, मोह्या नाद कुरंग ।
यौं दादू का मन राम सूँ, ज्यूँ दीपक जोति पतंग ॥
प्रेम भगति माता रहै, तालाबेली अंग ।
सदा सपीड़ा मन रहै, राम रमै उन संग ॥
'दादू' बातों बिरह न ऊपजै, बातों प्रीति न होइ ।
बातों प्रेम न पाइये, जिन रे पतीजै कोइ ॥
दादू तौ पिव पाइये, कस मल है सो जाइ ।
निरमल मन करि आरसी, मूरति माहिं लखाइ ॥
प्रीत जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर माहिं ।
रोम रोम पिउ पिउ करै, दादू दूसर नाहिं ॥
दादू देखूँ निज पीव कूँ, देखत ही दुख जाइ ।
हूँ तौ देखूँ पीव कूँ, सब में रह्या समाइ ॥
दादू देखौं दयाल कौं, बाहरि भीतरि सोइ ।
सब दिसि देखूँ पीव कूँ, दूसर नाहीं कोइ ॥
दादू देखूँ दयाल कूँ, रोकि रह्या सब ठौर ।
घटि घटि मेरा साइयाँ, तूँ जिनि जाणै और ॥
सदा लीन आनंद में, सहज रूप सब ठौर ।
दादू देखै एक कूँ, दूजा नाहीं और ॥
'दादू' जहँ तहँ साखी संग है, मेरे सदा अनंद ।
नैन बैन हिरदै रहै, पूरण परमानंद ॥

सब तजि देखि बिचारि करि, मेरा नाहीं कोइ ।
अनदिन राता राम सूँ, भाव भगति रत होइ ॥
दादू जल पाषाण ज्यूँ, सेवै सब संसार ।
दादू पाणी लूण ज्यूँ, कोइ बिरला पूजनहार ॥
'दादू' जब दिल मिला दयाल सूँ, तब सब पड़दा दूरि ।
ऐसे मिलि एकै भया, बहु दीपक पावक पूरि ॥
'दादू' जब दिल मिला दयालसौं, तब पलक न पड़दा कोइ ।
डाल मूल फल बीज में, सब मिलि एकै होइ ॥
दादू हरि रस पीवताँ, कबहूँ अरुचि न होइ ।
पीवत प्यासा नित नवा, पीवण हारा सोइ ॥
ज्यूँ ज्यूँ पीवै राम रस, त्यूँ त्यूँ बढ़ै पियास ।
ऐसा कोई एक है, बिरला दादू दास ॥
रोम रोम रस पीजिये, एती रसना होइ ।
दादू प्यासा प्रेम का, यौं बिन तृपति न होइ ॥
परचै पीवै राम रस, सो अबिनासी अंग ।
काल मीच लागै नहीं, दादू साँई संग ॥
आदि अंत मधि एक रस, टूटै नहिं धागा ।
दादू एकै रहि गया, तब जाणी जागा ॥
'दादू' मेरे हिरदै हरि बसै, दूजा नाहीं और ।
कहो कहाँ धौं राखिये, नहीं आन को ठौर ॥
'दादू' तन मन मेरा पीव सूँ, एक सेज सुख सोइ ।
गहिला लोग न जाण ही, पचि पचि आपा खोइ ॥
पर पुरिषा सब परिहरै, सुंदरि देखै जागि ।
अपणा पीव पिछाणि करि, दादू रहिये लागि ॥
राम रसिक बांछै नहीं, परम पदारथ चार ।
अठ सिधि नौ निधि का करै, राता सिरजनहार ॥
बैठे सदा एक रस पीवै, निरवैरी कत जूझै ।
आतम राम मिलै जब दादू, तब अंगि न लागै दूजै ॥
'दादू' जिन यह दिल मंदिर किया, दिल मंदिर में सोइ ।
दिल माहीं दिलदार है, और न दूजा कोइ ॥
ना यहु मिलै न मैं सुखी, कहु क्यूँ जीवन होइ ।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोइ ॥

अहंभावकी बाधकता

जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम ।
दादू महल बारीक है, द्वै को नाहीं ठाम ॥
दादू आपा जब लगैं, तब लग दूजा होइ ।
जब यहु आपा मिटि गया, तब दूजा नहिं कोइ ॥

'दादू' मैं नाहीं तब एक है, मैं आई तब दोइ ।
मैं तैं पड़दा मिटि गया, तब ज्यूँ था त्यूँही होइ ॥
'दादू' 'है' को भय घणा, 'नाहीं' को कुछ नाहिं ।
दादू 'नाहीं' होय रहु, अपणे साहिब माहिं ॥

दीनता

कीया मन का भावताँ, मेटी आग्याकार ।
क्या ले मुख दिखलाइये, दादू उस भरतार ॥
कुछ खाताँ कुछ खेलताँ, कुछ सोवत दिन जाइ ।
कुछ बिषियाँ रस बिलसताँ, दादू गये बिलाइ ॥
जैसैं कुंजर काम बस, आप बँधाणा आइ ।
ऐसे दादू हम भये, क्यों करि निकस्या जाइ ॥
जैसैं मरकट जीभ रस, आप बँधाणा अंध ।
वैसैं दादू हम भये, क्यूँ करि छूटै फंद ॥
ज्यों सूवा सुख कारणैं, बंध्या मूरख माहिं ।
ऐसैं दादू हम भये, क्यूँ ही निकसैं नाहिं ॥
जैसैं अंध अग्यान गृह, बंध्या मूरख स्वादि ।
ऐसैं दादू हम भये, जन्म गँवाया बादि ॥
दादू राम बिसारि करि, कीये बहु अपराध ।
लाजों मारे साध सब, नाँव हमारा साध ॥
जब दरखौ तब दीजियो, तुम पैं मागौं येहु ।
दिन प्रति दरसन साध का, प्रेम भगति दिढ़ देहु ॥
दादू जीवण मरण का, मुझ पछितावा नाहिं ।
मुझ पछितावा पीव का, रह्या न नैनहुँ माहिं ॥
जो साहिब कूँ भावै नहीं, सो हम तैं जिनि होइ ।
सतगुर लाजै आपणा, साध न मानै कोइ ॥

साधन

'दादू' जो साहिब कूँ भावै नहीं, सो सब परिहरि प्राण ।
मनसा बाचा कर्मना, जे तूँ चतुर सुजाण ॥
'दादू' जो साहिब कूँ भावै नहीं, सो बाट न बूझी रे ।
साँई सूँ सन्मुख रहौ, इस मन सूँ जूझी रे ॥
जब लगि यहु मन थिर नहीं, तब लगि दरस न होइ ।
दादू मनवाँ थिर भया, सहजि मिलैगा सोइ ॥
'दादू' बिन अवलंबन क्यूँ रहै, मन चंचल चलि जाइ ।
सुस्थिर मनवाँ तौ रहै, सुमिरण सेती लाइ ॥
क्या मुँह ले हँसि बोलिये, दादू दीजै रोइ ।
जनम अमोलक आपणा, चले अकारथ खोइ ॥
कहा हमारा मानि मन, सारी परिहरि बात ।
जिस का सँग छाँड़ि दे, दादू करि ले साथ ॥

दादू खोई आपणी, लज्या कुल की कार।
मान बड़ाई पति गई, तब सनमुख सिरजनहार॥

भक्ति

फल कारण सेवा करै, जाचै त्रिभुवन राव।
दादू सो सेवग नहीं, खेलै अपणा दाव॥
तन मन ले लागा रहै, राता सिरजनहार।
दादू कुछ माँगै नहीं, ते बिरला संसार॥
जा कारण जग जीजिये, सो पद हिरदै नाहिं।
दादू हरि की भगति बिन, धृग जीवण कलि माहिं॥

माया

यहु सब माया मिर्ग जल, झूठा झिलिमिलि होइ।
दादू चिलका देखि करि, सत करि जाना सोइ॥
'दादू' बूड़ि रह्या रे बापुरे, माया ग्रह के कूप।
मोह्या कनक अरु कामिनी, नाना बिधि के रूप॥
'दादू' झूठी काया झूठ घर, झूठा यह परिवार।
झूठी माया देखि करि, फूल्यौ कहा गँवार॥
'दादू' जन्म गया सब देखतां, झूठी के सँग लागि।
साचे प्रीतम कौं मिलै, भागि सकै तौ भागि॥

उपदेश

'दादू' ऐसे महँगे मोल का, एक साँस जे जाइ।
चौदह लोक समान सो, काहे रेत मिलाइ॥
नैनहुँ वाला निरखि करि, दादू घालै हाथ।
तब हीं पावै रामधन, निकट निरंजन नाथ॥
मन माणिक मूरख राखि रे, जण जण हाथि न देहु।
दादू पारिख जौहरी, राम साध होइ लेहु॥
दुनियाँ के पीछे पड्या, दौड्या दौड्या जाइ।
दादू जिन पैदा किया, ता साहिब कूँ छिटकाइ॥
'दादू' जा कूँ मारण जाइये, सोई फिर मारै।
जा कूँ तारण जाइये, सोई फिर तारै॥
दादू चारै चित दिया, चिंतामणि कूँ भूलि।
जन्म अमोलिक जात है, बैठे माँझी फूलि॥
'दादू' कहे कहे का होत है, कहे न सीझै काम।
कहे कहे का पाइये, जब लग हृदै न आवै राम॥
तूँ मुझ कूँ मोटा कहै, हौं तुझे बड़ाई मान।
साँई कूँ समझै नहीं, दादू झूठा ग्यान॥
नाँव धरावै दास का, दासा तन सूँ दूरि।
दादू कारज क्यूँ सरै, हरि सूँ नहीं हजूरि॥

'दादू' बातों ही पहुँचै नहीं, घर दूरि पयाना।
मारग पंथी उठि चलै, दादू सोइ सयाना॥
दादू पैंडे पाप के, कदे न दीजै पाँव।
जिहिं पैंडे मेरा पिव मिलै, तिहिं पैंडे का चाव॥
'दादू' सुकिरत मारग चालतां, बुरा न कबहूँ होइ।
अमृत खातां प्राणियाँ, मुवा न सुनिये कोइ॥
झूठा साचा करि लिया, विष अमृत जाना।
दुख कौं सुख सब कोइ कहै, ऐसा जगत दिवाना॥
'दादू' पाखँड पीव न पाइये, जे अंतरि साँच न होइ।
ऊपरि थैं क्यौं हीं रहौ, भीतर के मल धोइ॥
'दादू' भावै तहाँ छिपाइये, साच न छाना होइ।
सेस रसातल गगन धू, परगट कहिये सोइ॥
'दादू' जे तूँ समझै तौ कहौं, साचा एक अलेख।
डाल पात तजि मूल गहि, क्या दिखलावै भेष॥
सो दिसा कतहूँ रही, जेहिं दिसि पहुँचे साध।
मैं तैं मूरिख गहि रहे, लोभ बड़ाई बाद॥
प्रेम प्रीत सनेह बिन, सब झूठे सिंगार।
दादू आतम रत नहीं, क्यूँ मानै भरतार॥
देह रहै संसार में, जीव राम के पास।
दादू कुछ ब्यापै नहीं, काल झाल दुख त्रास॥
'दादू' सहजैं सहजैं होइगा, जे कुछ रचिया राम।
काहे कौं कलपै मरै, दुखी होत बेकाम॥
पूरिक पूरा पासि है, नाहीं दूरि गँवार।
सब जानत है बावरे, देबे कूँ हुसियार॥
दादू चिंता राम कूँ, समरथ सब जाणै।
दादू राम सँभालिये, चिंता जिनि आणै॥
गोबिंद के गुण चीत करि, नैन बैन पग सीस।
जिन मुख दीया कान कर, प्राणनाथ जगदीस॥
हिरदै राम सँभालि ले, मन राखै बेसास।
दादू समरथ साइयाँ, सब की पूरै आस॥
'दादू' छाजन भोजन सहज में, सँइयाँ देइ सो लेइ।
तासूँ अधिका और कुछ, सो तूँ काँइ करेइ॥
'दादू' जे कुछ खुसी खुदाइ की, होवैगा सोई।
पचि पचि कोई जिनि मरै, सुणि लीज्यौ लोई॥
'दादू' बिना राम कहीं को नहीं, फिरिही देस बिदेस।
दूजी दहणि दूरि करि बौरे, सुणि यहु साध सँदेस॥
मीठे का सब मीठा लागै, भावै बिष भरि देइ।
दादू कड़वा ना कहै, अमृत करि करि लेइ॥

ऐसा राम हमारे आवै। वार पार कोइ अंत न पावै ॥टेक॥
हलका भारी कह्या न जाइ। मोल-माप नहिं रह्या समाइ॥
कीमत-लेखा नहिं परिमाण। सब पचि हारे साध सुजाण॥
आगौ पीछौ परिमित नाहीं। केते पारिष आवहिं जाहीं॥
आदि-अंत-मधि लखै न कोइ। दादू देखे अचरज होइ॥

बटाऊ रे चलना आज कि काल।
समझि न देखै कहा सुख सोवै, रे मन राम सँभाल॥
जैसें तरवर बिरख बसेरा, पंखी बैठे आइ।
ऐसें यह सब हाट पसारा, आप आप कूँ जाइ॥
कोइ नहिं तेरा सजन सँगाती, मति खोवै मन मूल।
यह संसार देख मत भूलै, सबही सेंवल फूल॥
तन नहिं तेरा, धन नहिं तेरा, कहा रह्यो इहिं लागि।
दादू हरि बिन क्यूँ सुख सोवै, काहे न देखै जागि॥

मन मुरिखा तैं यौंही जनम गँवायौ।
साँईं केरी सेवा न कीन्हीं, इहि कलि काहे कूँ आयौ॥
जिन बातन तेरौ छूटिक नाहीं, सोईं मन तेरौ भायौ।
कामी ह्वै बिषयासँग लाग्यो, रोम रोम लपटायौ॥
कुछ इक चेत बिचारी देखौ, कहा पाप जिय लायौ।
दादूदास भजन करि लीजै, सुपने जग डहकायौ॥

हिंदू तुरक न जाणूँ दोइ।
साँईं सब का सोई है रे, और न दूजा देखूँ कोइ॥
कीट-पतंग सबै जोनिन में, जल-थल संग समाना सोइ।
पीर पैगंबर देव-दानव, मीर-मलिक मुनि-जनकूँ मोहि॥

करता है रे सोईं चीन्हो, जिन वै क्रोध करै रे कोइ।
जैसें आरसी मंजन कीजै, राम-रहीम देही तन धोइ॥
साँईं केरी सेवा कीजै, पायौ धन काहे कूँ खोइ।
दादू रे जन हरि भज लीजै, जनम जनम जे सुरजन होइ॥

मेरा मेरा छोड़ गँवारा, सिर पर तेरे सिरजनहारा।
अपने जीव विचारत नाहीं, क्या ले गइला बंस तुम्हारा॥
तब मेरा कत करता नाहीं, आवत है हंकारा।
काल चक्र सूँ खरी परी रे, बिसर गया घर बारा॥
जाइ तहाँ का संयम कीजै, बिकट पंथ गिरधारा।
वे 'दादू' रे तन अपणा नाहीं, तौ कैसे भयो संसारा॥

अजहुँ न निकसै प्राण कठोर!
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुंदर प्रीतम मोर॥
चारि पहर चारौं जुग बीते, रैनि गँवाई भोर।
अवधि गई अजहूँ नहिं आये, कतहुँ रहे चितचोर॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
दादू ऐसे आतुर बिरहिणि, जैसे चंद चकोर॥

दादू बिषै के कारणे रूप राते रहैं,
नैन नापाक यूँ कीन्ह भाई।
बदी की बात सुणत सारा दिन,
स्रवन नापाक यौं कीन्ह जाई॥
स्वाद के कारणे लुब्धि लागी रहै,
जिभ्या नापाक यौं कीन्ह खाई।
भोग के कारणे भूख लागी रहै,
अंग नापाक यौं कीन्ह लाई॥

संत सुन्दरदासजी

(प्रसिद्ध महात्मा श्रीदादूदयालजीके शिष्य, जन्म वि० सं० १६५३ चैत्र सुदी ९, जन्मस्थान—द्यौसा (जयपुर-राज्यान्तर्गत), पिताका नाम—चोखा (परमानंद), माताका नाम—सती, जाति—धूसर (खण्डेलवाल वैश्य), निर्वाणसंवत् १७४६ वि०)

गुरु-महिमा

काहू सौं न रोष तोष, काहू सौं न राग द्वेष,
काहू सौं न बैर भाव, काहू की न घात है।
काहू सौं न बकवाद, काहू सौं नहीं विषाद,
काहू सौं न संग, न तौ काहू पक्षपात है॥
काहू सौं न दुष्ट बैन, काहू सौं न लेन देन,
ब्रह्म कौ विचार कछु, और न सुहात है।
सुंदर कहत सोई, ईशन कौ महा ईश,
सोई गुरुदेव जाके दूसरौ न बात है॥

गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं,
गुरु बिन आतम विचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहिं, गुरु बिन नेम नहिं,
गुरु बिन सीलहु, संतोष न गहतु है॥
गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकास नहिं,
भ्रमहू को नास नहिं, संसै रहतु है।
गुरु बिन बाट नहिं, कौड़ी बिन हाट नहिं,
सुंदर प्रगट लोक बेद यौं कहतु है॥
गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दसा कौ गहै,
गुरु के प्रसाद भवदुःख बिसरात है।

गुरु के प्रसाद प्रेम, प्रीतिहु अधिक बाढ़े,
गुरु के प्रसाद, राम नाम गुण गाइये ॥
गुरु के प्रसाद, सब जोग की जुगति जानै,
गुरु के प्रसाद, शून्य में समाधि लाइये ।
सुंदर कहत, गुरुदेव जो कृपालु होइ,
तिन के प्रसाद, तत्त्वग्यान पुनि पाइये ॥

गुरु मात गुरु तात, गुरु बंधु निज गात,
गुरुदेव नखसिख, सकल सँवारयो है ।
गुरु दिये दिव्य नैन, गुरु दिये मुख बैन,
गुरुदेव स्रवण दे, सबद उचारयो है ॥
गुरु दिये हाथ पाँव, गुरु दिये सीस भाव,
गुरुदेव पिंड माहिं, प्राण आइ डारयो है ।
सुंदर कहत गुरुदेव, जो कृपालु होइ,
फिरि घाट घड़ि करि, मोहि निस्तारयो है ॥

उपदेश

बार बार कह्यौ तोहिं सावधान क्यूँ न होइ,
ममता की मोट सिर काहे को धरतु है ।
मेरो धन मेरो धाम मेरे सुत मेरी बाम,
मेरे पसु मेरे ग्राम भूल्यो ही फिरतु है ॥
तू तो भयो बावरो बिकाइ गई बुद्धि तेरी,
ऐसो अंधकूप गेह तामें तू परतु है ।
सुंदर कहत तोहिं नेकहू न आवै लाज,
काज को बिगार के अकाज क्यों करतु है ॥

पायो है मनुष्य देह, औसर बन्यौ है येह,
ऐसी देह बार बार कहो कहाँ पाइये ।
भूलत है बावरे ! तू अब के सयानो होइ,
रतन अमोल सो तौ काहे कूँ ठगाइये ॥
समुझि बिचार करि ठगन को संग त्यागि,
ठगबाजी देखि करि मन न डुलाइये ।
सुंदर कहत ता तें सावधान क्यूँ न होइ,
हरि को भजन करि हरि में समाइये ॥

इन्द्रिन के सुख मानत है सठ,
याहि हि तें बहुते दुख पावै ।
ज्यूँ जल में झख मांसहि लीलत,
स्वाद बँध्यो जल बाहरि आवै ॥
ज्यूँ कपि मूँठि न छाड़त है,
रसना बस बंध परयो बिललावै ।
सुंदर क्यूँ पहिले न सँभारत,
जो गुड़ खाय सु कान बिंधावै ॥

पेट तें बाहिर होतहि बालक,
आइ के मातु पयोधर पीनो ।
मोह बँध्यो दिनहीं दिन और,
तरुण भयो तिय के रस भीनो ॥
पुत्र प्रपुत्र बँध्यो परिवार सु,
ऐसिहि भाँति गये पन तीनो ।
सुंदर राम को नाम बिसारिके,
आपहि आप कूँ बंधन कीनो ॥

जनम सिरान्यो जाइ भजन बिमुख सठ,
काहे कूँ भवन कूप बिन मीच मरै है ।
गहत अविद्या जानि सुक नलिनी ज्यूँ मूढ़,
कर्म औ बिकर्म करै करत न डरै है ॥
आपही तें जात अध नरक में बार-बार,
अजहूँ न सक मन माहिं अब करै है ।
दुक्ख को समूह अवलोकिके न त्रास होइ,
सुंदर कहत नर नाग पास परै है ॥

झूठो जग ऐन सुन नित्य गुरु बैन देखे,
आपने हूँ नैन तेऊँ अंध रहे ज्वानी मे ।
केते राव राजा रंक भये रहे चले गये,
मिलि गये धूर माहीं आये ते कहानी में ॥
सुंदर कहत अब ताहि न सुरत आवै,
चेतै क्यों न मूढ़ चित लाय हिरदानी मे ।
भूले जन दाँव जात लोह कैसो ताव जात,
आयु जात ऐसे जैसे नाव जात पानी में ॥

जग मग पग तजि सजि भजि राम नाम,
काम क्रोध तन मन घेरि घेरि मारिये ।
सठ मूढ़ हठ त्याग जाग भाग सुनि पुनि,
गुण ग्यान आनि थान वारि वारि डारिये ॥
गहि ताहि जाहि सेस ईस ससि सुर नर,
और बात हेतु तात फेरि फेरि जाइये ।
सुंदर दरद खोइ धोइ-धोइ बार-बार
सार संग रंग अंग हेरि हेरि धारिये ॥

संत सदा उपदेश बतावत, केस सबै सिर स्वेत भये हैं ।
तू ममता अजहूँ नहिं छाड़त, मौतहु आय सँदेस दये हैं ॥

आज कि काल्ह चलै उठि मूरख, तेरे तो देखत केते गये हैं।
सुंदर क्यों नहिं राम सँभारत, या जग में कहो कौन रहे हैं॥

कालकी विकरालता

मंदिर महल बिलायत है गज,
ऊँट दमामा दिना इक दी हैं।
तातहु मात तिया सुत बांधव,
देख धुँ पामर होत बिछोहैं॥
झूठ प्रपंच सूँ राचि रह्यो सठ!
काठ की पूतरि ज्यूँ कपि मोहै।
मेरि हि मेरि कहै नित सुंदर,
आँखि लगे कहि कौन कूँ को है॥

कै यह देह जराइ के छार,
किया कि किया कि किया कि किया है।
कै यह देह जमीं महिं गाड़ि,
दिया कि दिया कि दिया कि दिया है॥
कै यह देह रहै दिन चारि,
जिया कि जिया कि जिया कि जिया है।
सुंदर काल अचानक आइ,
लिया कि लिया कि लिया कि लिया है॥

देह सनेह न छाड़त है नर,
जानत है थिर है यह देहा।
छीजत जाय घटै दिनही दिन,
दीसत है घट को नित छेहा॥
काल अचानक आइ गहै कर,
ढाहि गिराइ करै तनु खेहा।
सुंदर जानि यहै निहचै धरि,
एक निरंजन सूँ करि नेहा॥

सोइ रह्यो कहाँ गाफिल ह्वै करि,
तो सिर ऊपर काल दहारै।
धामस-धूमस लागि रह्यो सठ,
आइ अचानक तोहिं पछारै॥
ज्यूँ बन में मृग कूदत फाँदत,
चित्र गहे नख सूँ उर फारै।
सुंदर काल डरै जिन के डर,
ता प्रभु कूँ कहु क्यूँ न सँभारै॥

जब तें जनम लेत, तब ही तें आयु घटै,
माई तौ कहत मेरो बड़ो होत जात है।
आज और काल्ह और, दिन-दिन होत और,
दौरयो दौरयो फिरत, खेलत अरु खात है॥
बालपन बीत्यौ जब, जोबन लग्यो है आइ,
जोबनहुँ बीते बूढ़ो, डोकरो दिखात है।
सुंदर कहत ऐसे, देखत ही बूझि गयो,
तेल घटि गये जैसे दीपक बुझात है॥

माया जोरि जोरि नर राखत जतन करि,
कहत है एक दिन मेरे काम आइहै।
तोहिं तो मरत कछु बेर नहीं लागै सठ,
देखत ही देखत, बबूला सो बिलाइहै॥
धन तो धर्यौ ही रहै, चलत न कौड़ी गहै,
रीते हाथन से जैसो आयो तैसो जाइ है।
करि ले सुकृत यह बेरिया न आवै फिरि,
सुंदर कहत नर, पुनि पछताइहै॥

झूँठ यूँ बँध्यो है जाल, ताही तें ग्रसत काल,
काल बिकराल ब्याल सबही कूँ खात है।
नदी को प्रवाह चल्यो जात है समुद्र माहिं,
तैसे जग काल ही के मुख में समात है॥
देह सूँ ममत्व ता ते काल को भय मानत है,
ग्यान उपजे तें वह कालहू बिलात है।
सुंदर कहत परब्रह्म है सदा अखंड,
आदि मध्य अंत एक सोई ठहरात है॥

देह एवं जगत्की नश्वरता

कौन भाँति करतार, कियो है सरीर यह,
पावक के माहिं देखौ पानी को जमावनो।
नासिका स्रवन नैन, बदन रसन बैन,
हाथ पाँव अंग नख, सीस को बनावनो॥
अजब अनूप रूप, चमक दमक ऊप,
सुंदर सोभित अति अधिक सुहावनो।
जाही छिन चेतन, सकति लीन होइ गई,
ताही छिन लागते हैं, सब कूँ अभावनो॥

मातु तो पुकार छाती, कूटि कूटि रोवति है,
बापहू कहत मेरो नंदन कहाँ गयो।
भैयाहू कहत मेरी बाँह आजु दूरि भई,
बहिन कहति मेरो बीर दुख दै गयो॥
कामिनी कहत मेरो सीस सिरताज कहाँ,

उन्हें ततकाल सोइ हाथ में धोरा लयो।
सुंदर कहत कोऊ, ताहि नहिं जानि सकै,
बोलत हुतो सो यह, छिन में कहाँ गयो॥

आशा-तृष्णा

नैनन की पल ही पल में छिन,
आधि घरी घटिका जु गई है।
जाम गयो जुग याम गयो पुनि,
साँझ गई तब रात भई है॥
आज गई अरु काल्ह गई,
परसों तरसों कछु और ठई है।
सुंदर ऐसहि आयु गई,
तृष्णा दिन ही दिन होत नई है॥

बन ही बन कूँ बिललात फिरै,
सठ याचत है जनही जन कूँ।
तन ही तन कूँ अति सोच करै,
नर खात रहै अन ही अन कूँ॥
मन ही मन की तृष्णा न मिटी,
पुनि धावत है धन ही धन कूँ।
छिन ही छिन सुंदर आयु घटी,
कबहूँ न गयो बन ही बन कूँ॥

जो दस बीस पचास भये सत,
होइ हजार तु लाख मँगैगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य,
पृथ्वीपति होन की चाह जगैगी॥
स्वर्ग पताल को राज करौ,
तृष्णा अधिकी अति आग लगैगी।
सुंदर एक संतोष बिना सठ,
तेरी तो भूख कभी न भगैगी॥

तीनहुँ लोक अहार कियो सब,
सात समुद्र पियो पुनि पानी।
और जहाँ तहँ ताकत डोलत,
काढ़त आँखि डरावत प्रानी॥
दाँत दिखावत जीभ हलावत,
याहि तें मैं यह डाकिनि जानी।
सुंदर खात भये कितने दिन,
हे तृष्णा अजहूँ न अघानी॥

नेह तज्यो पुनि गेह तज्यो पुनि, खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर सीत सहे तन, धूप समै जु पंचागिनि बारी।
भूख सहे रहि रूख तरे, पर सुंदरदास सहे दुख भारी।
डासन छाड़ि कै कासन ऊपर, आसन मारि पै आस न मारी॥

आश्वासन

पाँव दिये चलने फिरने कहँ,
हाथ दिये हरि कृत्य करायो।
कान दिये सुनिये हरि को जस,
नैन दिये तिन मार्ग दिखायो॥
नाक दिये मुख सोभत ता करि,
जीभ दई हरि को गुण गायो।
सुंदर साज दियो परमेसुर,
पेट दियो बड़ पाप लगायो॥

होइ निचिंत करै मत चिंतहिं,
चोंच दई सोइ चिंत करैगो।
पाँउँ पसार परयो किन सोवत,
पेट दियो सोइ पेट भरैगो॥
जीव जिते जल के थल के पुनि,
पाहन में पहुँचाय धरैगो।
भूखहि भूख पुकारत है नर,
सुंदर तू कह भूख मरैगो॥

भाजन आय पड़े जितने,
भरिहैं भरिहैं भरिहैं भरिहैं जू।
गावत हैं जिनके गुन कूँ,
हरिहैं हरिहैं हरिहैं हरिहैं जू॥
आदिहु अंतहु मध्य सदा,
हरिहैं हरिहैं हरिहैं हरिहैं जू।
सुंदरदास सहाय सही,
करिहैं करिहैं करिहैं करिहैं जू॥

विश्वास

काहे कूँ दौरत है दसहूँ दिसि,
तूँ नर देख किये हरि जू को।
बैठि रहै दुरि कै मुख मूँदि,
उघरत दाँत खवाइ है दूधो॥
गर्भ थके प्रतिपालन कीन जिन,
होइ रह्यो तब ही जड़ मूधो।
सुंदर क्यों बिललात फिरै अब,
राख हृदय विश्वास सबूधो॥

खेचर भूचर जे जल के चर,
देत अहार चराचर पोषै ।
वे हरि जो सब को प्रतिपालत,
ज्यूँ जिहि भाँति तिही विधि तोषै ॥
तू अब क्यूँ विस्वास न राखत,
भूलत है कित धोखहि धोखै ।
तोहिं तहाँ पहुँचाय रहै प्रभु,
सुंदर बैठि रहै किन ओखै ॥

देहकी मलिनता

देह तौ मलिन अति, बहुत विकार भरी,
ताहू माहि जरा व्याधि, सब दुख रासी है ।
कबहूँक पेट पीर कबहूँक सिर बाय,
कबहूँक आँख कान मुख में बिथा सी है ॥
औरहूँ अनेक रोग नख सिर पूरि रहे,
कबहूँक स्वास चलै कबहूँक खाँसी है ।
ऐसो ये सरीर ताहि अपनो कै मानत है,
सुंदर कहत या में कौन सुख वासी है ॥

जा सरीर माहिं तू अनेक सुख मानि रह्यो,
ताहि तू विचार या में कौन बात भली है ।
मेद मज्जा मांस रग रग मे रकत भरयो,
पेटहू पिटारी सी में ठौर ठौर मली है ॥
हाड़न सूँ भरयो मुख हाड़न के नैन नाक,
हाथ पाउँ सोऊ सब हाड़न की नली है ।
सुदर कहत याहि देखि जनि भूलै कोई,
भीतर भंगार भरी ऊपर तौ कली है ॥

मूर्खता

अपने न दोष देखे, पर के औगुण पेखे,
दुष्ट को सुभाव, उठि निंदाही करतु है ।
जैसे कोई महल सँवारि राख्यो नीके करि,
कीरी तहाँ जाय, छिद्र ढूँढत फिरतु है ॥
भोरही तै साँझ लग, साँझही ते भोर लग,
सुंदर कहत दिन ऐसे ही भरतु है ।
पाँव के तरे की नहीं सुझै आग मूरख कूँ,
और सूँ कहत तेरे सिर पै बरतु है ॥

मन

जो मन नारि कि और निहारत,
तौ मन होत है ताहि को रूपा ।
जो मन काहु सुँ क्रोध करै पुनि,
तौ मन है तब ही तद्‌रूपा ॥
जो मन मायहि माया रटै नित,
तो मन बूडत माया के कूपा ।
सुंदर जो मन ब्रह्म विचारत,
तौ मन होत है ब्रह्म स्वरूपा ॥

मनहीं के भ्रम तें जगत यह देखियत,
मनही के भ्रम गये, जगत बिलात है ।
मनहीं के भ्रम जेवरी में उपजत साँप,
मन के विचारे साँप जेवरी समात है ॥
मनही के भ्रम तें मरीचिका कूँ जल कहै,
मनहीं के भ्रम सीप रूपो सो दिखात है ।
सुंदर सकल यह दीसै मनहीं को भ्रम,
मनहीं को भ्रम गये ब्रह्म होइ जात है ॥

वाणीका महत्त्व

बचन तें दूर मिले, बचन विरोध होइ,
बचन ते राग बढ़ै, बचन तें दोष जू ।
बचन तें ज्वाल उठै, बचन सीतल होइ,
बचन तें मुदित, बचन ही तें रोष जू ॥
बचन तें प्यारो लगै, बचन तें दूर भगै,
बचन तें मुरझाय, बचन तें पोष जू ।
सुंदर कहत यह, बचन को भेद ऐसो,
बचन तें बंध होत, बचन तें मोच्छ जू ॥

भजन न करनेवाले

एक जु सबही के उर अंतर,
ता प्रभु कूँ कहु काहि न गावै ।
संकट माहिं सहाय करै पुनि,
सो अपनो पति क्यूँ बिसरावै ॥
चार पदारथ और जहाँ लगि,
आठहु सिद्धि नवो निधि पावै ।
सुंदर छार परी तिन के मुख,
जो हरि कूँ तजि आन कूँ ध्यावै ॥

पूरण काम सदा सुख धाम,
निरंजन राम सिरजनहारो ।
सेवक होइ रह्यो सब को नित,
कीटहि कुंजर देत अहारो ॥

भंजन दुक्ख दरिद्र निवारण,
चित करै पुनि साँझ सवारो।
ऐसे प्रभु तजि आन उपासत,
सुंदर है तिन को मुख कारो॥

सब राम ही राम है

स्रोत्र उहै स्रुति सार सुनै, अरु नैन उहै निज रूप निहारै।
नाक उहै हरि नामहिं सूँघत, जीभ उहै जगदीस उचारै॥
हाथ उहै करिये हरि को कृत, पाँव उहै प्रभु के पथ धारै।
सीसि उहै करि स्याम समर्पण, सुंदर यूँ सब कारज सारै॥
बैठत रामहि ऊठत रामहि, बोलत रामहि राम रह्यो है।
जीमत रामहि पीवत रामहि, धामहिं रामहिं राम गह्यो है॥
जागत रामहि सोवत रामहि, जोवत रामहि राम लह्यो है।
देतहु रामहि लेतहु रामहि, सुंदर रामहि राम रह्यो है॥

स्रोत्रहु रामहि नेत्रहु रामहि, वक्त्रहु रामहि रामहि गाजै।
सीसहु रामहि हाथहु रामहि, पाँवहु रामहि रामहि छाजै॥
पेटहु रामहि पीठिहु रामहि, रोमहु रामहि रामहि बाजै।
अंतर राम निरंतर रामहि, सुंदर रामहि राम बिराजै॥

भूमिहु रामहि आपहु रामहि, तेजहु रामहि वायुहु रामे।
व्योमहु रामहि चंदहु रामहि, सूरहु रामहि सीतहु घामे॥
आदिहु रामहि अंतहु रामहि, मध्यहु रामहि पुरुष रु बामे।
आजहु रामहि काल्हहु रामहि, सुंदर रामहि रामहि थामे॥

देखहु राम अदेखहु रामहि, लेखहु राम अलेखहु रामे।
एकहु राम अनेकहु रामहि, सेरहु राम असेरहु ता में॥
मौनहु राम अमौनहु रामहि, गौनहु रामहि ठाम कुठामे।
बाहिर रामहि भीतर रामहि, सुंदर रामहि है जग जा मे॥

दूरहु राम नजीकहु रामहि, देसहु राम प्रदेसहु रामे।
पूरब रामहि पच्छिम रामहि, दक्खिन रामहि उत्तर धामे॥
आगेहु रामहि पीछेहु रामहि, व्यापक रामहि है घन स्यामे।
सुंदर राम दसौं दिसि पूरण, स्वर्गहु राम पतालहु ता में॥

आपहु राम उपावत रामहि, भंजन राम सँवारन वा में।
दृष्टहु राम अदृष्टहु रामहि, इष्टहु राम करे सब कामे॥
पूर्णहु राम अपूर्णहु रामहि, रक्त न पीत न स्वेत न स्यामे।
सून्यहु राम असून्यहु रामहि, सुंदर रामहि नाम अनामे॥

अज्ञान

जो कोउ कष्ट करै बहु भाँतिनि, जात अग्यान नहीं मन केरो।
ज्यूँ तम पूरि रह्यो घर भीतर, कैसहु दूर न होय अँधेरो॥
लाठिनि मारिय ठेलि निकारिय, और उपाय करे बहुतेरो।
सुंदर सूर प्रकास भयो, तब तौ कितहू नहिं देखिय नेरो॥

जैसे मीन माँस कूँ निगलि जात लोभ लगि,
लोह को कंटक नहिं जानत उसाहे तें।
जैसे कपि गागर मे मूठ बाँधि राखे सठ,
छाड़ि नहिं देत सो तो स्वादही के चाहे तें॥
जैसे सुक नारियर चूँच मारि लटकत,
सुंदर कहत दुक्ख देत याहि लाहे तें।
देह को संजोग पाइ इंद्रिन के बस परयो,
आपही कूँ आप, भूलि गयो सुख चाहे तें॥

आपहि चेतन ब्रह्म अखंडित, सो भ्रम तें कछु अन्य परेखै।
ढूँढत ताहि फिरै जितही तित, साधत जोग बनावत भेखै॥
औरहु कष्ट करै अतिसय करि, प्रत्यक्ष आतम तत्त्व न पेखै।
सुंदर भूलि गयो निज रूपहि, है कर कंकण दर्पण देखै॥

मेरो देह मेरो गेह मेरो परिवार सब,
मेरो धन माल मैं तो बहुबिधि भारो हूँ।
मेरे सब सेवक हुकम कोउ मेटै नाहिं,
मेरी युवती को मैं तो अधिक पियारो हूँ॥
मेरो बंस ऊँचो मेरे बाप दादा ऐसे भये,
करत बड़ाई मैं तो जगत उज्यारो हूँ।
'सुंदर' कहत मेरो मेरो कर जानै सठ,
ऐसे नहीं जानै मैं तो काल ही को चारो हूँ॥

देह तो स्वरूप जौलौं तौलौं है अरूप माहिं,
सब कोउ आदर करत सनमान है।
टेढ़ी पाग बाँधि बार-बार हि मरोरै मूँछ,
बाहू उसकारै अति धरत गुमान है॥
देस-देस ही के लोग आइ के हजूर होहिं,
बैठकर तख्त कहावै सुल्तान है।
'सुंदर' कहत जब चेतना सकति गई,
वही देह ताकी कोऊ मानत न आन है॥

अद्वैत ज्ञान

तोहि मैं जगत यह, तूँ ही है जगत माहिं,
तो मैं अरु जगत मैं, भिन्नता कहाँ रही।
भूमि ही तें भाजन, अनेक बिधि नाम रूप,
भाजन बिचारि देखे उहै एक ही मही॥
जल तें तरंग फेन, बुदबुदा अनेक भाँति,
सोउ तौ बिचारे एक, वहै जल है सही।

जेते महापुरुष हैं, सब कौ सिद्धांत एक,
सुंदर अखिल ब्रह्म, अंत वेद में कही ॥

साधुका स्वरूप एवं महिमा

कोउक निंदत कोउक वंदत, कोउक देतहिं आइ जु भच्छन ।
कोउक आय लगावत चंदन, कोउक डारत धूरि ततच्छन ॥
कोउ कहै यह मूरख दीसत, कोउ कहै यह आहि विचच्छन ।
सुंदर काहु सुँ राग न द्वेष न, ये सब जानहु साधु के लच्छन ॥

जिन तन मन प्राण, दीन्हे सब मेरे हेत,
औरहू ममत्व बुद्धि, आपनी उठाई है ।
जागत हू सोवत हू, गावत हैं मेरे गुण,
करत भजन ध्यान दूसरे न कोई है ॥
तिन के मैं पीछे लग्यो, फिरत हूँ निसिदिन,
सुंदर कहत मेरी, उन तें बड़ाई है ।
वहै मेरे प्रिय मैं हूँ, उनके आधीन सदा,
संतन की महिमा तौ, श्रीमुख सुनाई है ॥

निःसंशय ज्ञानी

कै यह देह गिरो बन पर्वत, कै यह देह नदीहि बहो जू ।
कै यह देह धरो धरती महिं, कै यह देह कृसानु दहो जू ॥
कै यह देह निरादर निंदहु, कै यह देह सराह करो जू ।
सुंदर संसय दूर भयो सब, कै यह देह चलो कि रहो जू ॥

कै यह देह सदा सुख संपति, कै यह देह विपत्ति परो जू ।
कै यह देह निरोग रहो नित, कै यह देहहि रोग चरो जू ॥
कै यह देह हुतासन पैठहु, कै यह देह हिमार गरो जू ।
सुंदर संसय दूर भयो सब, कै यह देह जियो कि मरो जू ॥

एक कि दोइ ? न एक न दोइ,
उही कि इही ? न उही न इही है ।
सून्य कि स्थूल ? न सून्य न स्थूल,
जिही कि तिही ? न जिही न तिही है ॥
मूल कि डाल ? न मूल न डाल,
वही कि मँही ? न वही न मँही है ।
जीव कि ब्रह्म ? न जीव न ब्रह्म,
तु है कि नहीं ? कछु है न नहीं है ॥

प्रेम

जो हरि को तजि आन उपासत सो मतिमंद, फजीहत होई ।
ज्यौं अपने भरतारहिं छाँड़ि भई बिभिचारिणि कामिनि कोई ॥
सुंदर ताहि न आदर मान, फिरै बिमुखी अपनी पत खोई ।
बूड़ि मरै किन कूप मँझार कहा जग जीवत है सठ सोई ॥

प्रीतम मेरा एक तूँ, सुंदर और न कोइ ।
गुप्त भया किस कारनै, काहि न परगट होइ ॥

प्रेम लग्यो परमेस्वर सौं, तब भूलि गयो सब ही घरबार ।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित, नैकु रही न सरीर सँभार ॥
साँस उसास उठैं सब रोम, चलै दृग नीर अखंडित धार ।
सुंदर कौन करै नवधा विधि, छाकि पर्यो रस पी मतवार ॥

न लाज कानि लोक की, न वेद को कह्यो करै ।
न संक भूत प्रेत की, न देव यक्ष तें डरै ॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना ।
कहै न कछू और बात, भक्ति प्रेम लच्छना ॥

प्रेम अधीनो छाक्यो डोलै, क्यों की क्यों ही बानी बोलै ।
जैसे गोपी भूली देहा, ता कौं चाहै जासौं नेहा ॥

नीर बिनु मीन दुखी, छीर बिनु सिसु जैसे,
पीर जाकैं औषधि बिनु, कैसैं रह्यो जात है ।
चातक ज्यौं स्वातिबूँद, चंद कौ चकोर जैसैं,
चंदन की चाह करि, सर्प अकुलात है ॥
निर्धन ज्यौं धन चाहै, कामिनी कौं कंत चाहै,
ऐसी जाकै चाह ता कौं, कछु न सुहात है ।
प्रेम कौ प्रवाह ऐसौ, प्रेम तहाँ नेम कैसौ,
सुंदर कहत यह, प्रेम ही की बात है ॥

कबहूँके हँसि उठै नृत्य करि, रोवन लागै ।
कबहुँक गदगद कंठ, सब्द निकसै नहिं आगै ॥
कबहुँक हृदय उमंगि, बहुत ऊँचे स्वर गावै ।
कबहुँक कै मुख मौनि, मगन ऐसैं रहि जावै ॥
चित्त वृत्त हरिसौं लगी, सावधान कैसैं रहै ।
यह प्रेम लच्छना भक्ति है, सिष्य सुनहि सुंदर कहै ॥

सद्गुरु

लोह कौं ज्यौं पारस पखान हू पलटि लेत,
कंचन छुवत होत जग मैं प्रमानिये ।
द्रुम कौं ज्यौं चंदन हू पलटि लगाइ बास,
आप के समान ता के सीतलता आनिये ॥
कीट कौं ज्यौं भृंग हू पलटि कै करत भृंग,
सोऊ उड़ि जाइ ताको अचरज न मानिये ।
'सुंदर' कहत यह सगरै प्रसिद्ध बात,
सद्य सिस्य पलटै सु सत्यगुरु जानिये ॥

सत्सङ्ग

तात मिलै पुनि मात मिलै सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई ।
राज मिलै गज बाजि मिलै सब साज मिलै मन वांछित पाई ॥
लोक मिलै सुरलोक मिलै विधिलोक मिलै बैकुंठहु जाई ।
'सुंदर' और मिलैं सबही सुख, संत-समागम दुर्लभ भाई ॥

भजनके बिना पश्चात्ताप

तू कछु और बिचारत है नर ! तेरो बिचार धर्‍यौ ही रहैगो ।
कोटि उपाय कियें धनके हित भाग लिख्यौ तितनो ही लहैगो ॥
भोर कि साँझ घरी पल माँझ सो काल अचानक आइ गहैगो ।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत 'सुंदर' यौं पछिताइ रहैगो ॥

संत रज्जबजी

(प्रसिद्ध महात्मा श्रीदादूदयालजीके शिष्य, जन्म-सं० १६२४, स्थान साँगानेर ।)

रे मन सूर सक बानी क्यूँ मानै ।
मरणे माहिं एक पग ऊभा, जीवन जुगति न जानै ॥
तन मन जाका ताकूँ सौंपे, सोच पोच नहिं आनै ।
छिन छिन होइ जाहि हरि आगे, सहजैं आपा मानै ॥
जैसे सती मरै पति पीछें, जलतो जीव न जानै ।
तिल में त्यागि देहि जग सारा, पुरुष नेह पहिचानै ॥
नखसिख सब सौंमत सिर सहतौं, हरि कारज परिवानै ।
जन रज्जब जगपति सोइ पावै, उर अंतरि यूँ ठानै ॥

म्हारे मंदिर सूनों राम बिन बिरहिण नींद न आवै रे ।
पर उपगारी नर मिलै, कोइ गोबिंद आन मिलावै रे ॥
चेती बिरहिण चित न भाजै, अबिनासी नहिं पावै रे ।
यहु बियोग जागै निसबासर, बिरहा बहुत सतावै रे ॥
बिरह बियोग बिरहिणी बींधी, घर बन कछु न सुहावै रे ।
दह दिसि देखि भयो चित चकरित, कौन दसा दरसावै रे ॥
ऐसा सोच पड्या मन माहीं, समझि समझि धूँ धावै रे ।
बिरहबान घटि अंतर लाग्या, घायल ज्यूँ घूमावै रे ॥
बिरह अग्नि तनपिंजर छीनौं, पिव कूँ कौन सुनावै रे ।
जन रज्जब जगदीस मिलै बिन, पल पल बज्र बिहावै रे ॥

राम रस पीजिये रे पीयें सब सुख होइ ।
पीवत हीं पातक कटै, सब संतन दिसि जोइ ॥
निसदिन सुमिरण कीजिये, तन मन प्राण समोइ ।
जनम सुफल साईं मिलै, सोइ जपि साधुहु होइ ॥
सकल पतितपावन किये, जे लागे लै होइ ।
अति उज्जल, अघ ऊतरै, किलबिष रालै धोइ ॥
यहि रस रसिया सब सुखी, दुखी न सुनिये कोइ ।
जन रज्जब रस पीजिये, संतनि पीया सोइ ॥

मन रे, करु संतोष सनेही ।
तृष्णा तपति मिटै जुग जुग की, दुख पावै नहिं देही ॥
मिल्या सु त्याग माहिं जे सिरज्या, सहा अधिक नहिं आवै ।
ता में फेर सार कछु नाहीं, राम रच्या सोइ पावै ॥
वांछे सरग सरग नहिं पहुँचै, और पताल न जाई ।
ऐसें जाति मनोरथ मेटहु, समझि सुखी रहु भाई ॥
रे मन, मानि सीख सतगुरु की, हिरदै धरि बिस्वासा ।
जन रज्जब यूँ जानि भजन करु, गोबिंद है पर पासा ॥

भजन बिन भूलि परयो संसार ।
चाहै पच्छिम, जात पुरब दिस, हिरदै नहीं बिचार ॥
बाँछै ऊरध अरध सूँ लागे, भूले मुगध गँवार ।
खाइ हलाहल जीयो चाहै, मरत न लागै बार ॥
बैठे सिला समुद्र तिरन कूँ, सो सब बूड़नहार ।
नाम बिना नाहीं निसतारा, कबहुं न पहुँचै पार ॥
सुख के काज धसे दीरघ दुख, बहे काल की धार ।
जन रज्जब यूँ जगत बिगूच्यो, इस माया की लार ॥

मन रे, राम न सुमरयो भाई, जो सब संतनि सुखदाई ॥
पल पल घरी पहर निसिबासर, लेखै मैं सो आई ।
अजहुँ अचेत नैन नहिं खोलत, आयु अवधि पै आई ॥
बार पच्छ बरस बहु बीते, कहि धौं कहा कमाई ।
कहत हि कहत कछू नहिं समझत, कहि कैसी मति पाई ॥
जनम जीव हारयो सब हरि बिन, कहिये कहा रुमाई ।
जन रज्जब जगदीस भजे बिन, दह दिसि सौं जग माई ॥

दोहा

दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव ।
रज्जब बिरह बियोग बिन, कहाँ मिलै सो पीव ॥
सबही बेद बिलोय करि, अंत दिखावै नाम ।
तौ रज्जब तूँ राम भजि, तजि दे थोथा काम ॥
रज्जब अज्जब यह मता, निसदिन नाम न भूलि ।
मनसा बाचा करमना, सुमिरन सब सुखमूलि ॥

ज्यूँ कामिनि सिर कुंभ धरि, मन राखै ता माहिं।
त्यूँ रज्जब करि राम सूँ, कारज बिनसै नाहिं॥
मिनखा देह अलभ्य धन, जा में भजन भँडार।
सो सुदृष्टि समझै नहीं, मानुष मुग्ध गँवार॥
अब के जीते जीत है, अब कै हारे हार।
तौ रज्जब रामहि भजौ, अलप आयु दिन चार॥
हिंदू पावैगा वही, वोही मूसलमान।
रज्जब किणका रहम का, जिस कूँ दे रहमान॥
नारायण अरु नगर के, रज्जब पंथ अनेक।
कोई आवौ कहीं दिसि, आगे अस्थल एक॥

जब लगि, तुझ में तू रहै, तब लगि वह रस नाहिं।
रज्जब आपा अरपि दे, तौ आवै हरि माहिं॥
मुख सौं भजै सो मानवी, दिल सौं भजै सो देव।
जीव सौं जपै सो जोति मैं, 'रज्जब' साँची सेव॥
सरणा साईं साध की, पकड़ि लेहि रे प्राण!।
तौ रज्जब लागै नहीं, जम जालिम का बाण॥
नामरदाँ भुगती नहीं, मरद गये करि त्याग।
'रज्जब' रिधि कौंरी रही, पुरुष-पाणि नहिं लाग॥
समये मीठा बोलना, समये मीठा चूप।
ऊन्हाले छाया भली, 'रज्जब' स्याले धूप॥

संत भीखजनजी

[फतेहपुर (जयपुरराज्यान्तर्गत) के प्रसिद्ध संत, जन्म वि० सं० १६०० के लगभग, महाब्राह्मणकुलमें। पिता आदिके नाम व निधनतिथि आदिका विवरण नहीं मिलता।]

(प्रेषक—श्रीदेवकीनन्दनजी खेड़वाल)

आहि पुहुप जिमि बास प्रगट तिमि बसै निरंतर।
ज्यों तिलयिन में तेल मेल यों नाहिन अंतर॥
ज्यूँ पय घृत संजोग सकल यों है संपूरन।
काष्ठ अगनि प्रसंग प्रगट कीये कहुँ दूर न॥
ज्यूँ दर्पण प्रतिबिम्ब में होत जाहि बिश्राम है।
सकल बियापी 'भीखजन' ऐसे घटि घटि राम है॥

रवि आकरपै नीर बिमल मल हेत न जानत।
हंस क्षीर निज पान सूप तजि तुस कन आनत॥
मधु माखी संग्रहै ताहि नहिं कूकस काजै।
बाजीगर मणि लेत नाहिं विष देत बिराजै॥
ज्यूँ अहीरी काढ़ि घृत तक्र देत है डारि कै।
यूँ गुन ग्रहै सु भीखजन औगुन तजै बिचारि कै॥

एक रस बरति जमीन छीन कैसे सुख पावै।
गाय भैंस हद साँड फिरत फिरी तहाँ सु आवै॥
सबै भींतकी दौर ठौर बिन कहाँ समावै।
उडे पंख बिन आहि सुतो धरती फिर आवै॥
पात सींचिये पेड़ बिन पोस नाहिं द्रुम ताहि को।
ऐसे हरि बिन भीखजन मजसो दूजो काहि को॥

कहाँ कुरू बलवंत कहाँ लंकेस सीस दस।
कहँ अर्जुन कहँ भीम, कहाँ दानव हिरनाकुस॥
कहँ चकवे मंडली कहाँ सॉवत सेना बर।
कहँ बिक्रम कहँ भोज कहाँ बलि बेन करन कर॥
उग्रसेन कलि कंस कहँ जम-ज्वाला में जग जले।
बदत भीखजन पंथ एहि को को आये न को चले॥

नाद स्वाद तन बाद तज्यो मृग है मन मोहत।
परयो जाल जल मीन लीन रसना रस मोहत॥
भृंग नासिका बास केतकी कंटक छीनों।
दीपक ज्योति पतंग रूप रस नयनन्द दीनो॥
एक ब्याधि गज काम बस पर्‌यो खाडे सिर कूटिहै।
पंच ब्याधि बस भीखजन सो कैसे करि छूटि है॥

संत वाजिन्दजी

(जाति पठान, गुरु श्रीदादूदयालजी, दादूजीके १५२ शिष्योंमें इनकी गणना होती है।)

सुंदर पाई देह नेह कर राम सौं,
क्या लुब्धा बेकाम धरा धन धाम सौं!
आतम रंग पतंग, संग नहि आवसी,
जमहूँ के दरबार, मार बहु खावसी॥ १॥

गाफिल मूढ़ गँवार अचेतन चेत रे!
समझै संत सुजान, सिखावन देत रे!
बिषया माँहि बिहाल लगा दिन रैन रे!
सिर बैरी जमराज, न सूझै नैन रे॥ २॥

देह गेह में नेह निवारे दीजिए,
गही उन्में राम, काम स्नेह कीजिए ।
गफा न देखी खोट रंह दरह गार रे !
कर ले अपना काज, बन्या हद दाव रे ॥ ३ ॥

कंचन रंग सनेह रहे नर देह को,
श्रीपति चरण सरोज बढ़ावत नेह को ।
सो नर देखी पार अकाज न खोइए,
माई थे दरबार गुनाही होइए ॥ ४ ॥

कैसी तेरी जान, किता तेरा जीवना !
जैसा स्वपन विलास, तृषा जल पीवना ।
ऐसे सुख के काज, अकाज कमावना,
बार बार जम द्वार मार बहु खावना ॥ ५ ॥

नहिं है तेरा कोय, नहीं तू कोय का ,
स्वारथ का संसार, बना दिन दोय का ।
'मेरी मेरी' मान फिरत अभिमान में ,
इतराते नर मूढ़ एहि अज्ञान में ॥ ६ ॥

कुटुंब नेह कुटुंब धनी हित धायता ,
जब घेरे जमराज करे को सहायता ?
अंतर फूटी आँख न सूझे आँधरे !
अजहूँ चेत अजान ! हरी से साध रे ॥ ७ ॥

बार बार नर देह कहो कित पाइये ?
गोविंद के गुण गान कहो कब गाइये ?
मत चूकै अवसान अबै तन माँ धरे ,
पाणी पहली पाल अग्यानी बाँध रे ॥ ८ ॥

झूठा जग जंजाल पड्या तैं फंद में ,
छूटन की नहिं करत, फिरत आनंद में !
या में तेरा कौन, समौं जब अंत का ,
उबरन का ऊपाय सरण इक संत का ॥ ९ ॥

मंदिर माल विलास खजाना मेड़ियाँ ,
राज भोग सुख साज औ चंचल चेड़ियाँ ।
रहता पास खवास हमेस हुजूर में ,
ऐसे लाख असंख्य गये मिल धूर में ॥१०॥

मदमाते मगरूर वे मूँछ मरोड़ते ,
नवल त्रिया का मोह छिनक नहिं छोड़ते ।
तीखे करते तरक, गरक मद पान में ,
गये पलक में ढलक तख्त मैदान में ॥११॥

अतर तेल फुलेल लगाते अंग में ,
अंध धुंध दिन रैन तिया के संग में ।
महल अटारी बैठ करंता मौज रे !
ऐसे गये अपार, मिल्या नहिं खोज रे ॥१२॥

रहते भीने छैल सदा रँग राग में ,
गजरा फूलाँ गुथंत धरंता पाग में ।
दर्पण में मुख देख के मुछवा तानता ,
जग में था का कोइ नाम नहिं जानता ॥१३॥

महल पधारा हौज के मौजाँ माणता ,
समरथ आप समान और नहिं जाणता ।
कैसा तेज प्रताप झलकता दूर में ,
भला भला भूपाल गया जमपूर में ॥१४॥

सुंदर नारी संग हिंडोले झूलते ,
पैन्ह पटंबर अंग फिरंता फूलते ।
जो थे खूबी खेल के बैठ बजार की ,
सो भी हो गये छैलन ढेरी छार की ॥१५॥

इन्द्रपुरी सी मान वसती नगरियाँ ,
भरती जल पनिहारि कनक सिर गगरियाँ ।
हीरा लाल झवेर जड़ी सुखमा मई ,
ऐसी पुरी उजाड़ भयंकर हो गई ॥१६॥

होती जाके सीस पै छत्र की छाइयाँ ,
अटल फिरंती आन दसो दिसि माँहियाँ ।
उदै अस्त लूँ राज जिनूँ का रहावता ,
हो गये ढेरी धूर नजर नहिं आवता ॥१७॥

या तन रंग पतंग काल उड़ जायगा ,
जम के द्वार जरूर खता बहु खायगा ।
मन की तज रे घात, बात मत मान ले ,
मनुषाकार मुरार ताहि कूँ जान ले ॥१८॥

यह दुनियाँ 'वाजिंद' पलक का पेखना ,
या में बहुत विकार कहो क्या देखना ।
सब जीवन का जीव, जगत आधार है ,
जो न भजै भगवंत, भाग में छार है ॥१९॥

दो दो दीपक बाल महल में सोवते ,
नारी से कर नेह जगत नहिं जोवते ।
सूँधा तेल लगाय पान मुख खायँगे ,
विना भजन भगवान के मिथ्या जायँगे ॥२०॥

राम नाम की लूट पड़ी है जीव को ,
　　निसि वासर धर ध्यान सुमर तू पीव को ।
यह बात परसिद्ध कहत सब गाम रे !
　　अधम अजामिल तरे नारायण नाम रे ॥२१॥

गाफिल हुए जीव कहो क्यूँ बनत है !
　　या मानुष के साँस जो कोऊ गनत है ॥
जाग, लेय हरिनाम, कहाँ लौं सोय है !
　　चक्की के मुख पड्यो, सो मैदा होय है ॥२२॥

आज सुनै के काल, कहत हौं तुज्झ को ,
　　भाँवै बैरी जान के जो तूँ मुज्झ को ।
देखत अपनी दृष्टि खता क्या खात है !
　　लोहे कैसो ताव जनम यह जात है ॥२३॥

हीं जाना कछु मीठ, अंत वह तीत है,
　　देखो देह विचार ये देह अनीत है ।
पान फूल रस भोग अंत सब रोग है,
　　प्रीतम प्रभु के नाम बिना सब सोग है ॥२४॥

राम कहत कलि माहिं न डूबा कोइ रे,
　　अर्ध नाम पाखान तरा, सब होइ रे ।
कर्म कि केतिक बात बिलय ह्वै जायँगे,
　　हाथी के असवार कुते क्यों खायँगे ! ॥२५॥

कुंजर मन मदमत्त मरै तो मारिए,
　　कामिनि कनक कलेस टरै तो टारिए ।
हरि भक्तन सों नेह पलै तो पालिए,
　　राम भजन में देह गलै तो गालिए ॥२६॥

घड़ी घड़ी घड़ियाल पुकारै कही है,
　　बहुत गयी है अवधि अलप ही रही है ।
सोवै कहा अचेत, जाग जप पीव रे !
　　चलिहै आज कि काल बटाऊ जीव रे ॥२७॥
बिना बास का फूल न ताहि सराहिए,
　　बहुत मित्र की नारि सों प्रीति न चाहिए ।
सठ साहिब की सेवा कबहुँ न कीजिए,
　　या असार संसार में चित्त न दीजिए ॥२८॥

जो जिय में कछु ग्यान, पकड़ रह मन्न को,
　　निपटहि हरि को हेत, सुहावत जन्न को ।
प्रीति सहित दिन रैन राम मुख बोलई,
　　रोटी लीये हाथ, नाथ सँग डोलई ॥२९॥

एकै नाम अनंत किहूँ के लीजिए,
　　जन्म जन्म के पाप चुनौती दीजिए ।
लेकर चिनगी आन धरे तू अब्ब रे !
　　कोटी भरी कपास जाय जर सब्ब रे ! ॥३०॥

ओढ़ैं साल दुसाल क जामा जरकसी ,
　　टेढ़ी बाँधें पाग क दो दो तरकसी ।
लश्करा दलों के बीच करे भट सोहता ,
　　से नर खा गया काल सिंह ज्यों गरजता ॥३१॥

तीखा तुरी पलाण सँवारया राखता ,
　　टेढ़ी चालै चाल छयाँ कूँ झाँकता ।
हटवाड़ा बाजार खड़या नर सोहता ,
　　से नर खा गया काल रह्या सब रोवता ॥३२॥

वाजिंदा बाजी रची, जैसे संभल फूल ।
　　दिनाँ चार का देखना, अन्त धूल की धूल ॥
कह कह वचन कठोर खरूँड न छोलिए ,
　　सीतल राख सुभाव सबन सूँ बोलिए ।
आपन सीतल होइ और कूँ कीजिए ,
　　बळती में सुन मित, न पूलो दीजिए ॥३३॥
टेढ़ी पगड़ी बाँध झरोखाँ झाँकते ,
　　ताता तुरग पिलाण चहूँटे हाकते ।
लारे चढ़ती फौज नगारा बाजते ,
　　'वाजिंद' वे नर गये बिलाय सिंह ज्यूँ गाजते ॥३४॥
काल फिरत है हाल रैंण दिन लोइ रे !
　　हणै राव अरु रंक गिणै नहिं कोइ रे ।
यह दुनिया 'वाजिंद' बाट की दूब है ,
　　पाणी पहिले पाल बँधे तू खूब है ॥३५॥
भगत जगत में बीर जानिये ऐन रे !
　　स्वास सरद मुख जरद निर्मले नैन रे ।
दुरमति गइ सब दूर निकट नहिं आवहीं ,
　　साध रहे मुख मौन कि गोविंद गावहीं ॥३६॥
अरध नाम पाषाण तिरे नर लोय रे !
　　तेरा नाम कह्यो कलि माँहि न बूड़े कोय रे ।
कर्म सुकृत इकबार बिलै हो जाहिंगे ,
　　वाजिद, हस्ती के असवार न कूकर खाहिंगे ॥३७॥
एक राम को नाम लीजिये नित्त रे !
　　और बात वाजिंद चढै नहिं चित्त रे ।
बैठे धोयब हाथ आपणै जीव सूँ ,
　　दास आस तज और बँधे है पीव सूँ ॥३८॥

हृदै न राखी चीर कलपना कोय रे !
राई घटे न मेर होय सो होय रे।
ससदीप नवखंड जोय किन ध्यावही,
लिख्यो कलम की कोर वोहि पुनि पावही ॥३९॥

भूखो दुर्बल देख नाहिं मुँह मोड़िये,
जो हरि सारी देय तो आधी तोड़िये।
दे आधी की आध अरध की कोर रे!
अन्न सरीखा पुन्न नहीं कोइ और रे ॥४०॥

जल में झीणा जीव थाह नहिं कोय रे!
बिन छाण्या जल पियाँ पाप बहु होय रे।
काठै कपड़े छाण नीर कूँ पीजिये,
वाजिंद, जीवाणी जल माँहि जुगत सूँ कीजिये ॥४१॥

माया बेटी बदै घूम घर माँय रे!
छिन में ऊझल जाय क रहती नायँ रे।

अपने हाथों हाथ विदा करि दीजिये,
मिनख जमारो पाय पड्यो जग लीजिये ॥४२॥

हरिजन बैठा होय जहाँ चलि जाइये,
हिरदै उपजै ग्यान राम लव लाइये।
परिहरिये वा ठौड़ भगति नहिं राम की,
बींद बिहूणी जान कहौ कुण काम की ॥४३॥

फूलाँ सेज बिछायक ता पर पौढते,
आछे दुपटे साल दुसाले ओढते।
ले के दर्पण हाथ नीके मुख जोवते,
ले गये दूत उपाड़, रहे सब रोवते ॥४४॥

दिल के अंदर देख, कि तेरा कौन है,
चलै न बोले ! साथ अकेला गौन है।
देख देह धन दार इन्हों से चित दिया,
रह्या न निसिदिन राम काम तैं क्या किया ॥४५॥

संत वखनाजी

(जन्म—अनुमानतः विक्रमकी १७ वीं शती, प्रथम चरण। जन्म-स्थान—नराणा ग्राम (साँभरसे पाँच कोस दक्षिण)। जाति—दासी, मतान्तरसे ल्खारा, कलाल तथा राजपूत। गुरुका नाम—स्वामी दादूदयाल। देहावसान—नराणा ग्राम।)

राम नाम जिन ओषदी, सतगुर दई बताइ।
ओषदि खाइ र पछ रहै, बखना बेदन जाइ॥
सत जत साँच खिमा दया, भाव भगति पछ लेह।
तौ अमर ओषदी गुण करै, बखना उधरै देह॥
अमर जड़ी पानै पड़ी, सो सूँघी सत जाण।
बखना बिसहर सूँ लड़ै, न्योल जड़ी के पाणि॥
पहली था सो अब नहीं, अब सो पछैं न थाइ।
हरि भजि विलम न कीजिये, बखना बारौ जाइ॥
जे बोल्या तौ राम कहि, जे चुप्का तौ राम।
मन मनसा हिरदा महीं, बखना यहु बिश्राम॥
पै पाणी भेला पीवैं, नहीं ग्यान को अंस।
तजि पांणी पै नैं पिवै, बखना साधू हंस॥
कण कड़वी भेला चरैं, अंधा बिरई प्राण।
बखना पसु भरम्याँ मरै, सुनि भागौत पुराण॥
सीता राम बियोग नित, मिलि न कियो बिश्राम।
सीता लंक उद्यान मैं, बखना बन मैं राम॥
कैरू पांडू खारिखा, देता परदल मोड़ि।
बखना बल को गर्ब करि, अंति मुवो सिर फोड़ि॥
इता बड़ा गर्व गल्या, बल को कर अहँकार।
पे बखना अब दीन है, सुमिरो सिरजनहार॥

पिरथी परमेसुर की सारी।
कोइ राजा अपणै सिर पर, भार लेहु मत भारी॥
पिरथी कै कारण कैरूँ पाडू, करते जुद्ध दिनाई।
मेरी मेरी करि करि मूये, निहचै भई पराई॥
जाकै नौ ग्रह पइडे बाँधे, कूवै बीच उसारी।
ता रावण की ठौर न ठाहर, गोबिंद गर्वप्रहारी॥
केते राजा राज बईठे, केते छत्र धरेंगे।
दिन दो च्यार मुकाम भयो है, फिर भी कूँच करेंगे॥
अटल एक राजा अबिनासी, जाकी अंत लोक दुहाई।
बखना कहै, पिरथी है ताकी, नहीं तुम्हारी भाई॥

सोई जागै रे सोई जागै रे। राम नाम स्यो लागै रे॥
आर अलंघण नींद अयाणा। जागत सूता होय मसाणा॥
तिहि बिरियाँ गुरु आया। जिनि सूता जीव जगाया॥
थी तो रैणि घनेरी। नींद गई सब मेरी॥
डरताँ पलक न लाऊँ। हूँ जागो और जगाऊँ॥
सोवत सुपना माँहीं। जागूँ तो कछु नाहीं॥
सुरति की सुरति बिचारी। तब नैणा नींद निवारी॥
एक सबद गुरु दीया। तिहिं सोवत बैठा कीया॥
बखना साध सयाणा। जे जागे पहरे जाणा॥

मन रे, हरत परत दिन हार्‌यो ।
राम चरण जो तैं हिरदै बिसार्‌यो ॥
माया मोह्यो रे, क्यूँ चित्त न आयो ।
मिनष जनम तैं आह्लो गमायो ॥
कण छाड्यो, निकणै चित लायो ।
बोपरो बिछोड्यो, क्यूँ हाथ न आयो ॥
साच तज्यो, झूठै मन मान्यो ।
बखना भूल्यो रे, तैं भेद न जान्यो ॥

हरि आवो हो कब देखूँ, आँगण म्हारै ।
कोइ इसो दिन होय रे, जा दिन चरणाँ धारै ॥
सुंदर रूप तुम्हारो देखूँ, नैणाँ भरे ।
तन मन ऊपर वारी, नौछावर करे ॥
तारा गिणताँ मोहि बिहावै, रैणि निरासी ।
बीरहणीं बिलाप करै, हरि दरसन की प्यासी ॥
बिन देखे तन तालाबेली, कामणि करै ।
मेरा मन मोहन बिना, धीरज ना धरै ॥
बखना बार बार, हरी का मारग देखै ।
दीनदयाल दया करि आवो, मोइ दिन लेखै ॥

हेर लै फेर लै घेर लै पाछो,
रामभगति करि होय मन आछो ।
जाण ताँण अपूठो आण,
जे वाणैं तो हरि सों वाण ॥
बावरो भयो कै लागी बाइ,
रीती तलाइयाँ झूलण जाइ ।
साध संत में रहो रे भाई,
बखना तूनैं रामदुहाई ॥

संत गरीबदासजी दादूपन्थी

(जन्म-वि० सं० १६६२ । जन्म-स्थान—साँभर (राजस्थान)। पिता—दामोदर (मतान्तरसे स्वयं श्रीस्वामी दादूदयाल-जी)। गुरुका नाम—स्वामी दादूदयालजी, देहावसान—वि० सं० १६९३ ।)

हाँ, मन राम भज्यो बिष न तज्यो तैं, यूँ ही जनम गमायो ॥
माया मोह माँहि लपटायो, साधसँगति नहिं आयो ।
हेत सहित हरिनाम न गायो, बिष अमरित करि खायो ॥
सतगुरु बहुत भाँति समझायो, सब तज चित नहिं लायो ।
'गरीबदास' जनम जे पायो, करि लै पिय को भायो ॥

प्रगटहु सकल लोक के राय ।
पतितपावन प्रभु भगतबछल हो, तो यहु तृष्णा जाय ॥
दरसन बिना दुखी अति बिरहणि, निमिष बँधै नहिं धीर ।
तेजपुंज सूँ परस करीजे, यों मेटहु या पीर ॥
अंतर मेट दयाल दया करि, निसदिन देखूँ नूर ।
भौ-बंधन सब ही दुख छूटै, सनमुख रहो हजूर ॥
तुम उदार मंगत यह तेरो, और कछू नहिं जाचै ।
प्रगटो जोति निमिष नहिं टारो औरै अंग न राचै ॥
जानराइ सबही बिधि जानो, अब प्रगटो दरहाल ।
गरिबदास कूँ अपनो जानिकै आय मिलौ बिन लाल ॥

प्रीत न तूटै जीव की, जो अंतर होइ ।
तन मन हरि के रँग रँग्यो, जानै जन कोइ ॥
लख जोजन देही रहै, चित सनमुख राखै ।
ताको काज न ऊजड़ै, जो हरिगुन भाखै ॥
कँवल रहै जल अंतरै, रबि बसै अकास ।
संपुट तबही बिगसिहै, जब जोति प्रकास ॥
सब संसार असार है, मन मानै नाहीं ।
गरिबदास नहिं बीसरै, चित तुमही माँहीं ॥

जबही तुम दरसन पायो ॥
सकल बोल भयो सिद्ध, आज भलो दिन आयो ।
तन मन धन न्यौछावरि अरपण, दरसन परसन प्रेम बढ़ायो ॥
सब दुख गये हते जे जिय में, पीतम पेखन भायो ।
गरिबदास सोभा कहा बरणूँ, आनंद अंग न मायो ॥

मन रे ! बहुत भाँति समझायो ।
रूप सरूप निरखि नैननि कै, कृत्रिम माँहिं बँधायो ॥
तासूँ प्रीति बाँध मन मूरख, सुख दुख सदा सँगाती ।
बिछुड़ै नहीं अमर अबिनासी, और प्रीति खप जासी ॥
हरि सो हितू छाँड़ि जीवनि सौं, काहे हेत चित लावै ।
सुपनों सौ सुख जान जीय में, काहे न हरिगुण गावै ॥
रूप अरूप जोति छबि निरमल, सब ही गुण जा माहैं ।
गरिबदास भज अंतर ताकूँ, सुर नर मुनिजन चाहैं ॥

समतारूपी रामजी, सबसूँ येकै भार ।
जाके जैसी प्रीति है, तैसी करै सहार ॥

साजन भाव ममान जल, मर दे सागर पीव।
जैसी उपजै तन निरा, तैसी पावै जीव॥
अमरितरूपी रामरस, पीवैं जे जन मस्त।
जैसी पूँजी गाँठड़ी, तैसी वणजै वस्त॥
मैं अति अपराधी दुरमती, तूँ अवगुण बकसनहार।
गरिबदास की बीनती, संम्रथ सुणो पुकार॥

जेते दोष सँसार में, तेते हैं मुझ माहि।
गरिबदास केते कहै, अगणित परमित नाहिं॥
जेते रोम तेती खता, सुखिम बहुत अपार।
गरिबदास करुणा करो, बगसो सिरजनहार॥
कोण सुणै कासूँ कहूँ, को जाणै परपीर।
प्रीतम बिछुड़ैं जीव कूँ, कौन बँधावै धीर॥

साधु निश्चलदासजी

(जन्म-स्थान—ढूँगड़ गाँव (हिसार जिला), संत दादूजीके सम्प्रदायमें)

अंतर बाहिर एकरस, जो चेतन भरपूर।
विभु नभ सम सो ब्रह्म है, नहिं नेरे नहिं दूर॥
ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित, ताकी बानी बेद।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद भ्रम छेद॥
सत्यबंध की ग्यान तैं, नहीं निवृत्ति सयुक्त।
नित्य कर्म संतत करै, भयो चहै जो मुक्त॥
भ्रमन करत ज्यूँ पवन तैं, सूको पीपर पात।
शेष कर्म प्रारब्ध तैं, क्रिया करत दरसात॥

दीनता कूँ त्यागि नर ! आपनो स्वरूप देखि,
तू तो सुद्ध ब्रह्म अज दृस्य को प्रकासी है।
आपने अग्यान तें जगत सब तूँ ही रचै,
सर्व को संहार करै आप अविनासी है॥

मिथ्या परपच देखि दुःख जिन आनि जिय,
देवन को देव तूँ तो सब सुखरासी है।
जीव जग इस होय माया से प्रभासे तू ही,
जैसे रज्जु साँप, सीप रूप है प्रभासी है॥

माटी का कारज घट जैसे, माटी ता के बाहर माहिं।
जल के फेन तरग बुदबुदा, उपजत जलते जु है सु नाहिं॥
ऐसे जो जाको है कारज, कारनरूप पिछानहु ताहि।
कारन हंस सकल को 'सो मैं' लय-चिंतन जानहु विधि याहि॥

चेतन मिथ्या स्वप्न को, अधिष्ठान निर्धार।
सोऽह द्रष्टा भिन्न नहिं, तैसे जगत विचार॥
परमानन्द-स्वरूप तू, नहिं तो मैं दुख लेस।
अज अविनासी ब्रह्म चित, जिन आनै हिय क्लेस॥

स्वामी श्रीहरिदासजी (हरिपुरुषजी)

(समय—सोलहवीं शताब्दीका अन्त या सतरहवींका आरम्भ, स्थान—कापड़ोद ग्राम, डीडवाणा, मारवाड़, जाति—क्षत्रिय, पूर्व नाम हरिसिंहजी।)

मन रे ! गोविंद के गुन गाय।
अबकि जब तब उठि चलैगो,
कहत हौं समुझाय॥
अटक अरि हरि-ध्यान धर मन,
सुरति हरिसौं लाय।
भज तू भगवत भरमभंजन,
संत करन सहाय॥
तरल तृष्णा त्रिविध रस-बस, गलित गति तहँ चद।
जाय जोबन, जरा ग्रासै, जाग रे मतिमद !॥
मोह मन रिपु ग्राम में तैं, गहर गुन जलदेह।
जन 'हरिदास' आज सकाल माहीं, हरि-भजन करि लेह॥

माया, चढी सिकार तुरी चटकाइया।
कै मारै कै मारि पताखा लाइया॥
जन 'हरिदास' भज राम सकल जन घेरिया।
हरिहौ मुनि जाय बसे दरबार तहाँ तै फेरिया॥

अब मैं हरि बिन और न जाचूँ,
भजि भगवत मगन है नाचूँ।
हरि मेरा करता हूँ हरिकीया,
मैं मेरा मन हरि कूँ दीया॥
ग्यान ध्यान प्रेम हम पाया,
जब पाया तब आप गमाया।
राम नाम व्रत हिरदै धारूँ,
परम उदार निमिख न बिसारूँ॥

गाय गाय गावैया गाया, मन भया मगन गगन मठ छाया। जन हरिदास आस तजि पाया, हरि निरगुण निजपुरी निवासा॥

महात्मा श्रीजगन्नाथजी

(श्रीदादूजीके शिष्य)

'जगन्नाथ' जगदीस की, राह सु अति बारीक।
पहले चलियो कठिन है, पीछे श्रम नहिं सींक॥
मारग अगम सुगम अति होवै,
जो हरि सतगुरु होहिं सहाय।
जुग-जुग कष्ट करै नहिं पहुँचै,
'जगन्नाथ' सहँ सहजै जाय॥
साँस-साँस सुमिरन करै, जपै जगद्गुरु-जाप।
'जगन्नाथ' संसार की, कछू न व्यापै ताप॥

स्वामी श्रीचरणदासजी महाराज

[जन्म वि० सं० १७६० में श्रीशोभनजीके कुलमें भार्गव वंशमें। (कोई-कोई दूसर बनिया बताते हैं।) जन्मभूमि—ग्राम डेरा (अलवर), देह-त्याग वि० सं० १८३९, ७९ वर्षकी आयुमें। गुरु श्रीशुकदेवजी।]

(प्रेषक—महन्त श्रीप्रेमदासजी)

(१)

भाई रे तजौ जग जंजाल।
संग तोरे नाहिं चाले महल बाहन माल॥
मातु पितु सुत और नारी बोल मीठे बैन।
डारि फाँसी मोह की तोहि ठगत है दिन रैन॥
छल धतूरो दियो सब मिलि लाज लाडू माँहि।
जान अपने कह भुलानो चेतता क्यों नाहिं॥
बाज जैसे चिड़ी ऊपर भ्रमत तोपर काल।
मार के गहि ले चलैंगे यम सरीखे साल॥
सदा सँघाती हरि बिसारो जन्म दीन्हो हार।
चरणदास सुकदेव कहिया समझ मूढ़ गँवार॥

(२)

मनुआ राम के ब्योपारी।
अब के खेप भक्ति की लादी, बणिज कियो तैं भारी॥
पाँचों चोर सदा मग रोकत इन सों कर छुटकारी।
सतगुरु नायक के सँग मिलि चल लूट सकै नहिं धारी॥
दो ठग मारग माँहि मिलैंगे एक कनक एक नारी।
सावधान हो पेच न लइयो रहियो आप सँभारी॥
हरि के नगर में जा पहुँचोगे पैहो लाभ अपारा।
चरणदास तो को समझावै रामन बारम्बारा॥

(३)

जीवित मर जाय, उलट आप में समाय,
कहीं नहीं जाय मन शुद्ध दिलगीरी है।
करै बिपिन बास, इन्द्रिय जीत तजै भूख प्यास,
मेटै पर-आस खास पूरन सबूरी है॥
परम तत्व को बिचार चिंता बिसार सबै,
त्यार मत बाद हरि भज ले अमीरी है।
कहै चरणदास दीन दुनिया में पुकार,
सब आसान यार मुशकिल फकीरी है॥

(४)

रिद्धि सिद्धि फल कछू न चाहूँ।
जगत कामना को नहिं लाऊँ॥
और कामना मैं नहिं राखूँ।
रसना नाम तुम्हारो भाखूँ॥
चौरासी में बहु दुख पायो।
ताते सरन तिहारी आयो॥
मुक्त होन की मन में आवै।
आवागवन सूँ जीव डरावै॥
प्रेम प्रीत में हिरदा भीजै।
यही दान दाता मोहिं दीजै॥
अपना कीजै गहिये बाहीं।
धरिये सिर पर हाथ गुसाईं॥
चरनदास को लेहु उबारे।
मैं अंधा तुम सेवनहारे॥

(५)

धन नगरी धन देस है धन पुर पट्टन गाँव ।
जहँ साधू जन उपजियो ताकी बलि बलि जाँव ॥
भक्त जो आवे जगत में परमारथ के हेत ।
आप तरै तारै परा, मंडै भजन के खेत ॥
तप के बरस हजार हों, सत संगति घड़ि एक ।
तौ भी सरवरि ना करै, सुकदेव किया बिवेक ॥
इन्द्री मन के बस करै, मन करै बुधि के संग ।
बुधि राखै हरि पद जहाँ, लागे ध्यान अभंग ॥
मीठा बचन उचारिये, नवता सबहूँ बोल ।
हिरदय माहिं बिचारि करि, जब मुख बाहर खोल ॥
बिना स्वाद ही खाइये, राम भजन के हेत ।
चरनदास कहैं सूरमा, ऐसे जीतो खेत ॥
जो बोलै तौ हरि कथा, मौन गहै तौ ध्यान ।
चरनदास यह धारना, धारै सो सज्ञान ॥

(६)

अरे नर ! परनारी मत तक रे ।
जिन-जिन ओर तको डायन की, बहुतन कूँ गइ भख रे ॥
दूध आक को पात कटैया, झाल अगिनि की जानो ।
सिंह मुछारे बिस कारे को, ऐसे ताहि पिछानो ॥
खानि नरक की अति दुखदाई, चौरासी भरमावै ।
जनम जनम कूँ दाग लगावै, हरि गुरु तुरत छुटावै ॥
जग में फिरि फिरि महिमा खोवै, राखै तन मन मैला ।
चरनदास सुकदेव चितावैं, सुमिरो राम सुहेला ॥

(७)

राखिजो लाज गरीबनिवाज ।
तुम बिन हमरे कौन सँवारै सबही बिगरे काज ॥
भक्तबछल हरि नाम कहावो पतित उधारनहार ।
करो मनोरथ पूरन जन को सीतल दृष्टि निहार ॥
तुम जहाज मैं काग तिहारो तुम तजि अंत न जाऊँ ।
जो तुम हरि जू मारि निकासो और ठौर नहिं पाऊँ ॥
चरनदास प्रभु सरन तिहारी जानत सब संसार ।
मेरी हँसी सो हँसी तुम्हारी तुम हूँ देखु बिचार ॥

(८)

लाखो जो पकरी सो पकरी ।
अब तो टेक गही सुमिरन की ज्यों हारिल की लकरी ॥
ज्यों सूरा ने सस्तर लीन्हो ज्यों बनिये ने तखरी ।
ज्यों सतवंती लियो सिंधौरा तार गह्यो ज्यों मकरी ॥
ज्यों कामी कूँ तिरिया प्यारी ज्यों किरपिन कूँ दमरी ।
ऐसे हम कूँ राम पियारे ज्यों बालक कूँ ममरी ॥
ज्यों दीपक कूँ तेल पियारो ज्यों पावक कूँ समरी ।
ज्यों मछली कूँ नीर पियारो बिछुरें देखै जम री ॥
साधों के सँग हरि गुन गाऊँ ता ते जीवन हमरी ।
चरनदास सुकदेव दृढ़ायो और छुटी सब गम री ॥

(९)

वह राजा सो यह बिधि जानै । काया नगर जीतिबो ठानै ॥
काम क्रोध दोउ बल के पूरे । मोह लोभ अति मारँत सूरे ॥
बल अपनो अभिमान दिखावै । इन को मारि राह गढ़ धावै ॥
पाँचो प्यादे देहि उठाई । जब गढ़ में कूदे मन लाई ॥
ग्यान खड्ग ले युद्ध मचावै । कपट कुटिलता रहन न पावै ॥
चुनि चुनि दुरजन हनि सब डारै । रहते सहते सकल बिडारै ॥
मन हूँ ब्रह्म होय गति सोई । लच्छन जीव रहे नहिं कोई ॥
अचल सिंहासन जब तू पावै । मुक्ति खवासी चँवर ढुरावै ॥
आठो सिद्धि जहाँ कर जोरैं । सौं ही ताकैं मुख नाहिं मोरैं ॥
निस्चल राज अमल करै पूरा । बाजे नौबत अनहद तूरा ॥
तीन देव अरु कोटि अठासी । वै सब तेरी करैं खवासी ॥
गुरु सुकदेव भेद दियो नीको । चरनदास मस्तक कियो टीको ॥
रनजीता यह रहनी पावै । थोथी करनी कथनि बहावै ॥

(१०)

जो नर इकछत भूप कहावे ।
सत्त सिंहासन ऊपर बैठे जब ही चँवर ढुरावे ॥
दया धर्म दोउ फौज सजा ले भक्ति निसान चलावे ।
सुख नगारा नौबत बाजे दुरजन सकल हलावे ॥
पाप जलाय करै चौगाना हिंसा कुबुधि नसावे ।
मोह मुकद्दम काढ़ि मुलक मूँ ला बैराग बसावे ॥
साधन नायब जित तित भेजै दै दै संजम साथा ।
राम दोहाई सिगरे फेरै कोउ न उठावै माथा ॥
निरभय राज करै निस्चल है गुरु सुकदेव सुनावे ।
चरनदास निस्चै करि जानो जिन्हा सम कोउ न पावे ॥

(११)

अपना हरि बिन और न कोई ।
मातु पिता सुत बंधु कुटुँब सब स्वारथ ही के होई ॥
या काया कूँ भोग बहुत दे मरदन करि करि धोई ।
सो भी छूटत नेक रहित सी सग न चाली सोई ॥

घर की नारि बहुत ही प्यारी तिन में नाहीं होई ।
जीवत कहती संग चलूँगी डरपन लागी सोई ॥
जो कहिये यह द्रव्य आपनो जिन उज्ज्वल मति खोई ।
आवत संग न जात संगाती चलत प्रान ले जोई ॥
या जग में कोउ हितू न दीसै मैं समझाऊँ तोई ।
चरनदास सुकदेव कहै यों सुनि लीजे नर लोई ॥

(१२)

हमारे राम नाम धन भारी ।
राज न डंडै चोर न चोरै लूटि सकै नहिं धारी ॥
मनु पैसे अरु नाम रुपैये मुहर मोहब्बत हरि की ।
हीरा ज्ञान जुगति के मोती कहा कमी है जर की ॥
सोना सील भँडार भरे हैं रूपा रूप अपारा ।
देखी दौलत सतगुरु दीन्ही जा का सकल पसारा ॥
कौड़ी करुना घटै नहिं कबहूँ दिन दिन ड्योढ़ी ड्योढ़ी ।
सौदा माल द्रव्य अति नीका घटा रहे न कौड़ी ॥
साह गुरू सुकदेव दिया मैं चरनदास बन जोटा ।
मिलि मिलि संग भूप होइ बैठे कबहूँ न आवै टोटा ॥

(१३)

आओ साधो हिलि मिलि हरि जस गावैं ।
प्रेम भक्ति की रीति समुझ करि हित सूँ राम रिझावैं ॥
गोविंद के कौतुक गुन लीला ता को ध्यान लगावैं ।
सेवा सुमिरन बंदन अरचन नौधा सूँ चित लावैं ॥
अब की औसर भलो बनो है बहुरि दाँव कब पावैं ।
सकल प्रकार तरैं भवसागर उर आनन्द बढ़ावैं ॥
सतसंगति को साबुन लेकर ममता मैल बहावैं ।
मन कूँ धो निरमल करि उज्जल मगन रूप हो जावैं ॥
ताल पखावज झाँझ मजीरा मुरली संख बजावैं ।
चरनदास सुकदेव दया सूँ आवागवन मिटावैं ॥

(१४)

छिनभंगी छलरूप यह तन ऐसा रे ॥
जाको मौत लगी बहु बिधि सूँ नाना अँग ले बान ।
दिव अरु रोग सस्त्र बहुतक हैं और बिघन बहु हान ॥
बिनसै बिनसै बचै न क्यों हीं जतन किये बहु दान ।
अरु देव मनाये साधे प्रान अपान ॥
...साँचो, यह औसर फिर नाहिं ।
...सँग खोये, रहे सो यों ही जाहिं ॥
जो पल है सो हरि कूँ सुमिरो साध सँगति गुरुदेव ।
चरनदास सुकदेव बतावैं परम पुरातन भेव ॥

(१५)

यह बोलता कित गया नगरिया तजिकै ।
दस दरवाजे ज्यों-के-त्यों ही कौन राह गया भजिकै ॥
सूना देस गाँव भया सूना सूने घर के वासी ।
रूप रंग कछु औरै हूआ, देही भयी उदासी ॥
साजन थे सो दुरजन हूए, तन को बाँधि निकारा ।
चिता सँवारि लिटाकर तामें ऊपर धरा अँगारा ॥
ढह गया महल चुहल थी जामें मिल गया माटी माहीं ।
पुत्र कलत्तर भाई बंधू सबही ठौंक जलाहीं ॥
देखत ही का नाता जग में मुए संग नहिं कोई ।
चरनदास सुकदेव कहत है हरि बिन मुक्ति न होई ॥

(१६)

समझो रे भाई लोगो, समझो रे,
अरे हाँ नहिं रहना, करना अंत पयाना ॥
मोह कुटुँब के औसर खोयो, हरि की सुधि बिसराई ।
दिन धंधे में रैन नींद में, ऐसे आयु गँवाई ॥
आठ पहर की साठों घरियाँ सो तो बिरथा खोई ।
छिन इक हरि को नाम न लीन्हो कुसल कहाँ ते होई ॥
बालक था जब खेलत डोला, तरुन भया मद माता ।
बृद्ध भये चिंता अति उपजी, दुख में कछु न सुहाता ॥
भूला कहा चेत नर मूरख, काल खड़ो सर साधे ।
विष को तीर खैंचिकै मारै, आय अचानक बाँधै ॥
झूँठे जग से नेह छोड़ करि, साँचो नाम उचारो ।
चरनदास सुकदेव कहत हैं, अपनो भलो बिचारो ॥

(१७)

रे नर ! हरि प्रताप ना जाना ।
तन कारन सब कुछ नित कीन्हा सो करता न पिछाना ॥
जेहिं प्रताप तेरी सुंदर काया, हाथ पाँव मुख नासा ।
नैन दिये जासों सब सूझै, होय रहा परकासा ॥
जेहिं प्रताप नाना बिधि भोजन बसतर भूषन धारै ।
वा का नाहिं निहोरा मानै, वा को नाहिं सँभारै ॥
जेहिं प्रताप तू भूप भयो है भोग करै मन मानै ।
सुख लै वाको भूलि गयो है करि-करि बहु अभिमानै ॥
अधिकी प्यार करै माता सूँ पल-पल में सुधि लेवै ।
तू तो पीठि दिये ही निवहीं सुमिरन सुरति न देवै ॥

कृतघनी और नूनहरामी न्याय-इंसाफ न तेरे।
चरनदास सुकदेव कहत हैं अजहूँ चेतु सवेरे॥

(१८)

मेरो कह्यो मान रे भाई।
ग्यान गुरू को राखि हिय में, सबै बंध कटि जाई॥
बालपन तैं खेलि खोये गई तरुनाई।
चेत अजहूँ भली घर है जरा हूँ आई॥
जिन के कारन विमुख हरि तैं फिरत भटकाई।
कुटुँब सबही सुख के लोभी तेरे दुखदाई॥
साधु पदवी धारना धर छाड़ कुटिलाई।
बासना तजि भोग जग की होय मुक्ताई॥
बहुरि जोनी नाहिं आवै परम पद पाई।
चरनदास सुकदेव के घर अनँद अधिकाई॥

(१९)

दो दिन का जग में जीवना करता है क्यों गुमान।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥
दावा खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती।
चलता है अकड़-अकड़ के ज्वानी का जोस आन॥
मुरसिद का ग्यान समझ के हुसियार हो सिताब।
गफलत को छोड़ सुहबत साधों की लूब जान॥
दौलत का जौक ऐसे ज्यों आब का हुबाब।
जाता रहैगा छिन में पछतायगा निदान॥
दिन रात खोवता है दुनिया के कारबार।
इक पल भी याद साँइ की करता नहीं अजान॥
सुकदेव गुरू ग्यान चरनदास को कहैं।
भज राम-नाम साँचा पद मुक्ति का निधान॥

(२०)

भक्ति गरीबी लीजिये तजिये अभिमाना।
दो दिन जग में जीवना आखिर मरि जाना॥

(२१)

घड़ी दोय में मेला बिछुरै साधो देखि तमासा चलना।
जो यहाँ आकर हुए इकट्ठे तिन सूँ बहुरि न मिलना॥
जैसे नाव नदी के ऊपर बाट बटाऊ आवैं।
मिल मिल जुदे होयँ पल माहीं अपन आप को जावैं॥
या बारी बिच फूल घनेरे रंग सुगंध सुहावैं।
स्यों सिरे फेरि कुम्हिलावैं हरे टूटि बिनसावैं॥

दारा सुत सम्पति को सुख ज्यों मोती ओस बिलावै।
यहाँई मिलैं और यहाँ नासैं ता को क्यों पछितावै॥
दे कुछ लै कुछ करि ले करनी रहनी गहनी भारी।
हरि सूँ नेह लगाव आपनो गो तेरो हितकारी॥
सत संगति को लाभ बड़ो है साध भक्त समुझावैं।
चरनदास ही राम सुमिर ले गुरु सुकदेव बतावैं॥

(२२)

गुमराही छोड़ दिवाने मूरख बावरे।
अति दुरलभ नर देह भया
गुरुदेव सरन तू आव रे॥
जग जीवन है निसि को सुपनो
अपनो यहाँ कौन बताव रे।
तोहिं पाँच पचीस ने घेरि लियो
लख चौरासी भरमाव रे॥
बीति गयी सो बीति गयी
अजहूँ मन कूँ समुझाव रे।
मोह लोभ सूँ भागि कै त्यागि विषय
काम क्रोध कूँ घोप बहाव रे॥
गुरू सुकदेव कहैं सबही तजि
मनमोहन सूँ मन लाव रे।
चरनदास पुकारि चिताय दियो
मत चूकै ऐसे दाँव रे॥

(२३)

भाई रे! अवधि बीती जात।
अंजुली जल घटत जैसे, तारे ज्यों परभात॥
स्वाँस पूँजी गाँठि तेरे, सो घटत दिन-रात।
साधु संगत पैठ लागी, ले लगे मोह हाथ॥
बड़ो सौदा हरि सँभारो, सुमिर लीजै प्रात।
काम क्रोध दलाल हैं, मत बनिज कर इन साथ॥
लोभ मोह बजाज ठगिया, लगे हैं तेरी घात।
सब्द गुरु को धारि हिरदय, तो दगा नहिं खात॥
आपनी चतुराइ बुधि धर, मत फिरै इतरात।
चरनदास सुकदेव चरनन, परम तजि कुल जात॥

(२४)

साधो! निंदक मित्र हमारा।
निंदक को निकटै ही राखो, होन न देउँ नियारा॥

कोई झिड़के कोई अनखावै,
कोई नाक चढ़ावै रे॥
यह गति देखि कुटँब अपने की,
इन में मत उरझावै रे।
अबहीं जम सूँ पाला परिहै,
कोई नाहिं छुड़ावै रे॥
औसर खोवै पर के काजे,
अपनो मूल गँवावै रे।
बिन हरि नाम नहीं छुटकारो,
वेदपुरान बतावै रे॥
चेतन रूप बसै घटअंतर,
भर्म सूल बिसरावै रे।
जो टुक ढूँढ खोज करि देखै,
सो आपहि में पावै रे॥
जो चाहे चौरासी छूटे,
आवागवन नसावै रे।
चरनदास सुकदेव कहत है,
सतसंगति मन लावै रे॥

दम का नहीं भरोसा रे,
करि ले चलने का सामान।
तन पिंजरे सूँ निकस जायगो,
पल में पंछी प्रान॥
चलते फिरते सोवत जागत,
करत ग्वान अरु पान।
छिन छिन छिन छिन आयु घटत है,
होत देह की हान॥
माल मुल्क औ सुत सम्पति में,
क्यों हुआ गलतान।
देखत देखत बिनसि जायगो,
मत कर मान गुमान॥
कोई रहन न पावै जग में,
यह तू निस्चै जान।
अजहूँ समुझि छाँड़ कुटिलाई,
मूरख नर अज्ञान॥
टेरि चितावैं ग्यान बतावैं,
गीता-वेद-पुरान।
चरनदास सुकदेव कहत है
राम नाम उर आन॥

प्रेमीका स्वरूप

दया, नम्रता, दीनता, क्षमा शील संतोष।
इनकूँ लै सुमिरन करै निहचै पावै मोख॥
गद्गद वाणी कंठ में, आँसू टपकैं नैन।
वह तो बिरहन राम की तड़फत है दिन रैन॥
हाय हाय हरि कब मिलैं, छाती फाटी जाय।
ऐसा दिन कब होयगा दरसन करूँ अघाय॥
मैं मिरगा गुरु पारधी, सबद लगायो बान।
चरनदास घायल गिरे, तन मन बींधे प्रान॥
सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माँहिं।
अनन्य भक्त वह जानिये, सुमिरन भूलै नाँहिं॥
जग माँहीं न्यारे रहो, लगे रहो हरि ध्यान।
पृथ्वी पर देही रहै, परमेसुर में प्रान॥
पीव चहै सो मत चहै, यह तो पी की दास।
पी के रँगराती रहै, जग सूँ होय उदास॥
यह सिर नवै तो रामकूँ, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिये, यह तन जावो छूट॥
आग्याकारी पीव की, रहै पिया के संग।
तन मन सों सेवा करै, और न दूजो रंग॥

दयाबाई

(महात्मा चरणदासजीकी शिष्या)

हरि भजते लागै नहीं, काल व्याल दुख झाल।
तातें राम सँभालिये, 'दया' छोड़ जग जाल॥
मनमोहन को ध्याइये, तन मन करिये प्रीति।
हरि तज जे जग में पगे, देखो बड़ी अनीति॥
राम नाम के लेत ही, पातक झरे अनेक।
रे नर हरि ! के नाम की, राखो मन में टेक॥
सोवत जागत हरि भजो, हरि हिरदे न बिसार।
डोरी गहि हरि नाम की, 'दया' न टूटै तार॥
दया देह सूँ नेह तजि, हरि भजु आठो जाम।
मन निर्मल ह्वै संगत में, पावै निज बिश्राम॥
दया नाव हरि नाम की, सतगुरु खेवनहार।
साधू जन के संग मिलि, तिरत न लागै बार॥

'दया' सुपन संसार मे, ना पचि मरिये बीर।
बहुतक दिन बीते बृथा, अब भजिये रघुबीर॥
छिन छिन बिनस्यो जात है, ऐसो जग निरमूल।
नाम रूप जो धूस है, ताहि देखि मत भूल॥
जनम जनम के बीछुरे, हरि! अब रह्यो न जाय।
क्यों मन कूँ दुख देत हो, बिरह तपाय तपाय॥
काग उड़ावत थके कर, नैन निहारत बाट।
प्रेम सिन्ध में परयो मन, ना निकसन को घाट॥
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवे केहि ओर।
छिन उठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर॥
सोवत जागत एक पल, नाहिन बिसरूँ तोहिं।
करुनासागर दया निधि, हरि लीजे सुधि मोहिं॥
'दया' प्रेम प्रगट्यौ तिन्हैं, तन की तनि न सँभार।
हरि रस में माते फिरें, गृह बन कौन बिचार॥
प्रेम मगन जे साधवा, बिचरत रहत निसंक।
हरि रस के माते 'दया', गिनैं राव नहिं रंक॥
प्रेम मगन जे साध जन, तिन गति कही न जात।
रोय रोय गावत हसत, 'दया' अटपटी बात॥
हरि रस माते जे रहैं, तिन को मतो अगाध।
त्रिभुवन की संपति 'दया' तृन सम जानत साध॥
प्रेम मगन गद्‌गद बचन, पुलकि रोम सब अंग।
पुलकि रह्यो मन रूप में, 'दया' न ह्वै चित भंग॥
कहूँ धरत पग परत कहुँ, डिगमिगात सब देह।
दया मगन हरि रूप में, दिन-दिन अधिक सनेह॥
चित चिता हरि रूप बिन, सो मन कछु न सुहाय।
हरि दरखित हमकूँ 'दया', कब रे मिलेंगे आय॥
केहि बिधि रीझत हो प्रभू, का कहि टेरूँ नाथ।
लहर महर जबहीं करो, तबहीं होउँ सनाथ॥
भवजल नदी भयावनी, किस बिधि उतरूँ पार।
साहिब मेरी अरज है, सुनिये बारम्बार॥
पैरत थाको है प्रभू, सूझत वार न पार।
महर मौज जबहीं करो, तब पाऊँ दरबार॥
कर्म रूप दरियाव से, लीजे मोहिं बचाय।
चरन कमल तर राखिये, महर जहाज चढ़ाय॥
निरपछी के पच्छ तुम, निराधार के धार।
मेरे तुमहीं नाथ इक, जीवन प्रान अधार॥
काहू बल अर देह को, काहू राजहि मान।
मोहि भरोसो तेरो ही, दीनबंधु भगवान॥

हौं गरीब सुन गोविंदा, तुही गरीब निवाज।
दयादास आधीन के, सदा सुधारन काज॥
हौं अनाथ के नाथ तुम, नेक निहारो मोहि।
दयादास तन हे प्रभू, लहर महर की होहि॥
नर देही दीन्ही जबै, कीन्हे कोटि करार।
भक्ति • कबूली आदि मे, जग में भयो लबार॥
कछू दोष तुम्हरो नहीं, हमरी है तकसीर।
बीचहिं बीच बिबस भयो, पाँच पचिस के भीर॥
तुम ठाकुर त्रैलोक पति, ये ठग बस करि देहु।
दयादास आधीन की, यह बिनती सुनि लेहु॥
हौ पाँवर तुम हो प्रभू, अधम उधारन ईस।
दयादासपर दया हो, दयासिंधु जगदीस॥
जेते करम हैं पाप के, मोसे बचे न एक।
मेरी ओर लखो कहा, बिरद आपनों देख॥
जो जाकी ताके सरन, ताको ताहि लभार।
तुम सब जानत नाथ जू, कहा कहौं बिस्तार॥
नहिं संजम नहिं साधना, नहिं तीरथ ब्रत दान।
मात भरोसे रहत है, ज्यों बालक नादान॥
लाख चूक सुत से परै, सो कछु तजि नहिं देह।
पोष चुचुक ले गोद में, दिन दिन दूनों नेह॥
दुख तजि सुख की चाह नहिं, नहिं बैकुंठ बिवान।
चरन कमल चित चहत हौं, मोहि तुम्हारी आन॥
बेर बेर चूकत गयो, दीजे गुसा बिसार।
मिहरबान होइ रावरे, मेरी ओर निहार॥
सीस नवे तो तुमहिं कूँ, तुमहि सूँ भाखूँ दीन।
जो झगरूँ तो तुमहिं सूँ, तुम चरनन आधीन॥
और नजर आवै नहीं, रंक राव का साह।
चीरहटा के पंख ज्यों, सोसो काम दिसाह॥
जगत सनेही जीव है, राम सनेही साध।
तन मन धन तजि हरि भजैं, जिन का मता अगाध॥
कलि केवल संसार में, और न कोउ उपाय।
साध संग हरि नाम बिन, मन की तपन न जाय॥
जग तजि हरि भजि दया गहि, कूर कपट सब छाँड़ि।
हरि सन्मुख गुरु ग्यान गहि, मनहीं सूँ रन माँड़ि॥
सूर धरी सग्राहिये, बिन सिर लड़त कबंद।
लोक लाज कुल कान कूँ, तोड़हि होत निर्बंद॥
सब साधन की दास हूँ, मो में नहिं कछु ग्यान।
हरिजन! मो पै दया करि, अपनो कीजै जान॥

योगक्षेमं वहाम्यहम्

तुलसी और नरसी

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९।२२)

उस दयामयकी यह घोषणा किसी व्यक्ति-विशेषके लिये नहीं है और किसी काल-विशेषके लिये भी नहीं है। यह तो समस्त प्राणियोंके लिये सार्वकालिक घोषणा है और घोषणा करनेवाला है सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ—उससे प्रमाद हो नहीं सकता।

दो अनन्य चिन्तक—सदा, सब कालमें उस सर्वेश्वरको सर्वत्र देखनेवाले। एक काशीमें और एक सौराष्ट्रमें। कोई कहाँ है, कौन है, इसकी महत्ता नहीं है। जो उस जगदीश्वरका अनन्य चिन्तक है, वह तो उसका अपना शिशु है। वह कहीं हो, अपने परम पिताकी गोदमें ही है। पिताकी गोदमें शिशु है—किसका साहस है कि उस सर्वेश्वरेश्वरके शिशुकी ओर आँख उठा सके।

अपने भक्त—अपने अनन्य चिन्तक भक्तके 'योगक्षेम' का वहन यह दयामय स्वयं करता है। किसी दूसरेपर वह इसे छोड़ कैसे सकता है।

× × ×

काशीमें अस्सीघाट या संकटमोचन—अब ठीक स्थान बता पाना कठिन है। उन दिनों काशी इतना बड़ा नगर नहीं था। अस्सीसे आगेतक खेत और वृक्षोंके झुरमुट थे। वहीं गङ्गातटपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी झोपड़ी थी।

रात्रिके घोर अन्धकारमें जब संसार निद्रामग्न हो रहा था, दो चोर उस झोपड़ीके पास पहुँचे। साधुकी झोपड़ीमें चोरोंको क्या मिल सकता था? लेकिन काशीके कुछ द्वेषी लोगोंने चोरोंको भेजा था। वे धनके लोभसे नहीं आये थे। कहते हैं कि वे आये थे श्रीरामचरितमानसकी मूल प्रति चुराकर ले जाने।

गोस्वामी तुलसीदासजी सो गये थे। लेकिन अपने जनोंके 'योगक्षेम'की रक्षाका भार जिनपर है, वे श्रीदशरथ-राजकुमार सोया नहीं करते। चोर झोपड़ीके पास आये और ठिठककर खड़े हो गये। उन्होंने देखा—दो अति सुन्दर तरुण कवच पहिने, तरकस बाँधे, हाथमें चढ़ा धनुष लिये सतर्क खड़े हैं। वे श्याम और गौर कुमार—उनके दाहिने हाथोंमें बाण है एक-एक और धनुषपर चढ़कर उस बाणको छूटनेमें दो पल भी लगेंगे—जो ऐसा सोचे, मूर्ख है वह।

चोरोंने झोपड़ीके पीछेसे उसमें प्रवेश करना चाहा। वे पीछे गये; किंतु जो सर्वव्यापी है, उससे रिक्त स्थान कहाँ मिलेगा। वे दोनों राजकुमार झोपड़ीके पीछे भी दीखे और अगल-बगल यहाँ सर्वत्र दीखे, जहाँसे चोरोंने झोपड़ीमें जानेकी इच्छा की।

क्षेम—रक्षा—केवल वह रक्षा ही नहीं हुई, वे चोर भी धन्य हो गये। उन देवदुर्लभ भुवनमोहन रूपोंको देखकर वहाँसे पीछे लौट जाना किसके वशमें रह सकता था। प्रातः वे गोस्वामी तुलसीदासजीके चरणोंपर गिर पड़े और जब उन्हें पता लगा कि रात्रिके वे चौकीदार कौन थे—उनका पूरा जीवन उन अवधराजकुमारोंके स्मरणमें लगनेके लिये सुरक्षित हो गया।

× × ×

क्षेम—जो कुछ है, उसका रक्षण ही नहीं, योग—आवश्यकताका विधान भी स्वयं करता है वह करुणा-वरुणालय।

भक्तश्रेष्ठ नरसी मेहताके घर क्या धरा था। उन्हें अपनी लड़कीका भात भरना था। दरिद्र पिता कुछ वैष्णवोंके साथ टूटी-सी बैलगाड़ीमें बैठकर ढोल, करताल, मँजीरे आदि लिये गया और एक जलाशयके समीप कीर्तनमग्न हो गया। वह क्या लेकर कन्याके पतिगृह जाय—लेकिन उसे न चिन्ता थी, न खेद। वह तो कीर्तनमें तन्मय था। उसके दृढ़ निश्चयमें कभी बाधा नहीं पड़ी—'साँवरिया—श्यामसुन्दरको जो करना है, कर लेगा वह।'

नरसीमेहताकी पुत्री—एक सम्पन्न परिवारकी कुलवधू। उसपर व्यंग कसे जा रहे थे। उसके पिताका परिहास हो रहा था। ननद और सास—सभीने अपनी बड़ी-बड़ी माँगें उपस्थित कर दी थीं। वह बेचारी लड़की—वह भी अपने पिताके सर्वस्व उस द्वारिकानाथको स्मरण ही कर सकती थी।

'मेरा नाम शामलशाह है। मैं नरसी मेहताका मुनीम हूँ। आप सब भाई सामग्रीको सम्हाल लें।' रत्नजटित वस्त्रोंके अम्बार, मणिजटित आभूषणोंकी ढेरियाँ—सेवकों और छकड़ोंकी पंक्तियाँ चली ही आ रही थीं। नरसी मेहताने जो सामग्री भेजी थी—लड़कीके श्वशुरकुलके लोग उसकी कल्पना स्वप्नमें भी कैसे कर पाते। भले स्वयं नरसीमेहताको भी उसकी कल्पना न हो, लेकिन उनके योगवहनके लिये सदा सतर्क ये शामलशाह—भगवती लक्ष्मी इनकी कृपाकोर ही चाहती हैं।

तुलसीदासके पहरेदार

नरसीजीका भात

योगक्षेमं वहाम्यहम्

योगक्षेमं वहाम्यहम्

तुलसी और नरसी

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

उस दयामयकी यह घोषणा किसी व्यक्ति-विशेषके लिये नहीं है और किसी काल-विशेषके लिये भी नहीं है । यह तो समस्त प्राणियोंके लिये सार्वकालिक घोषणा है और घोषणा करनेवाला है सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ—उससे प्रमाद हो नहीं सकता।

दो अनन्य चिन्तक—सदा, सब कालमें उस सर्वेश्वरको सर्वत्र देखनेवाले । एक काशीमें और एक सौराष्ट्रमें । कोई कहाँ है, कौन है, इसकी महत्ता नहीं है । जो उस जगदीश्वर-का अनन्य चिन्तक है, वह तो उसका अपना शिशु है । वह कहीं हो, अपने परम पिताकी गोदमें ही है । पिताकी गोदमें शिशु है—किसका साहस है कि उस सर्वेश्वरेश्वरके शिशुकी ओर आँख उठा सके ।

अपने भक्त—अपने अनन्य चिन्तक भक्तके 'योगक्षेम' का वहन वह दयामय स्वयं करता है । किसी दूसरेपर वह इसे छोड़ कैसे सकता है ।

× × ×

काशीमें अस्सीघाट या संकटमोचन—अब ठीक स्थान बता पाना कठिन है । उन दिनों काशी इतना बड़ा नगर नहीं था । अस्सीसे आगेतक खेत और वृक्षोंके झुरमुट थे । वहीं गङ्गातटपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी झोपड़ी थी ।

रात्रिके घोर अन्धकारमें जब संसार निद्रामग्न हो रहा था, दो चोर उस झोपड़ीके पास पहुँचे । साधुकी झोपड़ीमें चोरोंको क्या मिल सकता था ? लेकिन काशीके कुछ द्वेषी लोगोंने चोरोंको भेजा था । वे धनके लोभसे नहीं आये थे । कहते हैं कि वे आये थे श्रीरामचरितमानसकी मूल प्रति चुराकर ले जाने ।

गोस्वामी तुलसीदासजी सो गये थे । लेकिन अपने जनोंके 'योगक्षेम'की रक्षाका भार जिनपर है, वे श्रीदशरथ-राजकुमार सोया नहीं करते । चोर झोपड़ीके पास आये और ठिठककर खड़े हो गये । उन्होंने देखा—दो अति सुन्दर तरुण कवच पहिने, तरकस बाँधे, हाथमें चढ़ा धनुष सतर्क खड़े हैं । वे श्याम और गौर कुमार—उनके हाथोंमें बाण है एक-एक और धनुषपर चढ़कर उस छूटनेमें दो पल भी लगेंगे—जो ऐसा सोचे, मूर्ख

चोरोंने झोपड़ीके पीछेसे उसमें प्रवेश करना चाहा। पीछे गये; किंतु जो सर्वव्यापी है, उससे रिक्त स्थान का मिलेगा । वे दोनों राजकुमार झोपड़ीके पीछे भी दीखे औ अगल-बगल वहाँ सर्वत्र दीखे, जहाँसे चोरोंने झोपड़ीमें [illegible] की इच्छा की ।

क्षेम—रक्षा—केवल वह रक्षा ही नहीं हुई, वे चोर [illegible] धन्य हो गये । उन देवदुर्लभ भुवनमोहन रूपोंको देख[illegible] वहाँसे पीछे लौट जाना किसके वशमें रह सकता था । प्रा[illegible] वे गोस्वामी तुलसीदासजीके चरणोंपर गिर पड़े और [illegible] उन्हें पता लगा कि रात्रिके वे चौकीदार कौन थे—उन[illegible] पूरा जीवन उन अवधराजकुमारोंके स्मरणमें लगनेके लि[illegible] सुरक्षित हो गया ।

× × ×

क्षेम—जो कुछ है, उसका रक्षण ही नहीं, [illegible] आवश्यकताका विधान भी स्वयं करता है वह करुणा-[illegible]

भक्तश्रेष्ठ नरसी मेहताके घर क्या धरा था । [illegible] लड़कीका भात भरना था । दरिद्र पिता कुछ [illegible] टूटी-सी बैलगाड़ीमें बैठकर ढोल, करताल, [illegible] गया और एक जलाशयके समीप कीर्तन[illegible] क्या लेकर कन्याके पतिगृह जाय—[illegible] न खेद । वह तो कीर्तनमें तन्मय [illegible] कभी बाधा नहीं पड़ी—'साँ[illegible] करना है, कर लेगा वह ।'

नरसीमे [illegible] पुत्री—[illegible] उसपर व्यं[illegible] रहे थे रहा था [illegible] गाम- [illegible] वह [illegible] द्वारिका[illegible]

सहजोबाई

(महात्मा चरणदासजीकी शिष्या)

जगत में सुमिरन करै, सोवत में लौ लाय ।
सहजो इकरस हो रहै, तार टूट नहिं जाय ॥
सील छिमा संतोष गहि, पाँचों इन्द्री जीत ।
राम नाम ले सहजिया, मुक्ति होन की रीत ॥
एक घड़ी का मोल ना, दिन का कहा बखान ।
सहजो ताहि न खोइये, बिना भजन भगवान ॥
बैठे लेटे चालते, खान पान ब्यौहार ।
जहाँ तहाँ सुमिरन करै, सहजो हिये निहार ॥
सहजो भज हरि नाम कूँ, तजो जगत सूँ नेह ।
अपना तो कोइ है नहीं, अपनी सगी न देह ॥
जैसे मँड्सी लोह की, छिन पानी छिन आग ।
ऐसे दुख सुख जगत के, सहजो तू मत पाग ॥
अचरज जीवन जगत में, मरिबो साचो जान ।
सहजो अवसर जात है, हरि सूँ ना पहिचान ॥
दरद बटाय सकैं नहीं, मुए न चालैं साथ ।
सहजो क्योंकर आपने, सब नाते बरबाद ॥
सहजो जीवत सब सगे, मुए निकट नहिं जायँ ।
रोवैं स्वारथ आपने, सुपने देख डरायँ ॥
सहजो फिर पछतायगी, स्वास निकसि जब जाय ।
जबलग रहै सरीर में, राम सुमिर गुन गाय ॥
जग देखत तुम जावगे, तुम देखत जग जाय ।
सहजो याही रीति है, मत कर सोच उपाय ॥
देह निकट तेरे पड़ी, जीव अमर है नित्त ।
दुइ में मूवा कौन सा, का सूँ तेरा हित्त ॥
कलप रोय पछिताय थक, नेह तजौगे कूर ।
पहिले ही सूँ जो तजै, सहजो सो जन सूर ॥
आगे मुए सो जा चुके, तू भी रहै न कोय ।
सहजो पर कूँ क्या डरै, आपन ही कूँ रोय ॥
प्रेम दिवाने जो भये, मन भयो चकनाचूर ।
छके रहैं घूमत रहैं, सहजो देखि हजूर ॥
प्रभुताई कूँ चहत है, प्रभु को चहै न कोय ।
अभिमानी घट नीच है, सहजो ऊँच न होय ॥
धन छोटापन सुख महा, धिरग बड़ाई ख्वार ।
सहजो नन्हा हूजिये, गुरु के बचन सम्हार ॥
अभिमानी नाहर बड़ो, भरमत फिरत उजाड़ ।
सहजो नन्ही बाकरी, प्यार करै संसार ॥
नन्ही चींटी भवन में, जहाँ तहाँ रस लेह ।
सहजो कुंजर अति बड़ो, सिर में डारै खेह ॥
सहजो नन्हा बालका, महल भूप के जाय ।
नारी परदा ना करै, गोदहिं गोद खिलाय ॥
बड़ा न जाने पाइहै, साहिब के दरबार ।
द्वारे ही सूँ लागिहै, सहजो मोटी मार ॥
भली गरीबी नवनता, सकै नहीं कोइ मार ।
सहजो रुई कपास की, काटै ना तरवार ॥
साहन कूँ तो भय घना, सहजो निर्भय रंक ।
कुंजर के पग बेड़ियाँ, चींटी फिरै निसंक ॥
जगत तरैयाँ भोर की, सहजो ठहरत नाहिं ।
जैसे मोती ओस की, पानी अँजुली माहिं ॥
धन जोबन सुख सम्पदा, बादर की सी छाहिं ।
सहजो आखिर धूप है, चौरासी के माहिं ॥
चौरासी जोनी भुगत, पायो मनुष सरीर ।
सहजो चूकै भक्ति बिनु, फिर चौरासी पीर ॥

पानी का-सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय ।
पीव मिलन की ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय ॥
रहिये ना पड़ि सोइ, बहुरि नहिं मनुखा देही ।
आपन ही कूँ खोजु, मिलै तब राम सनेही ॥
हरि कूँ भूले जो फिरै, सहजो जीवन छार ।
सुखिया जब ही होयगो, सुमिरैगो करतार ॥

चौरासी भुगती घनी, बहुत सही जम मार ।
भरमि फिरे तिहुँ लोक में, तहू न मानी हार ॥
तहू न मानी हार, मुक्ति की चाह न कीन्ही ।
हीरा देही पाइ, मोल माटी के दीन्ही ॥
मूरख नर समुझै नहीं, समुझाया बहु बार ।
चरनदास कहैं सहजिया, सुमिरै ना करतार ॥

हम बालक तुम माय हमारी । पल पल माहिं करो रखवारी ॥
निस दिन गोदी ही में राखो । इत चित बचन चितावन भाखो ॥
बिषै ओर जान नहिं देवो । दुरि दुरि जाउँ तो गहि गहि लेवो ॥
मैं अनजान कछू नहिं जानूँ । बुरी भली को नहिं पहिचानूँ ॥
जैसी तैसी तुमहीं चीन्हेव । गुरु हो ध्यान खिलौना दीन्हेव ॥
तुम्हरी रच्छा ही से जीऊँ । नाम तुम्हारो अमृत पीऊँ ॥

दिष्टि तुम्हारी ऊपर मेरे। सदा रहूँ मैं सरने तेरे ॥
मारो झिड़को तो नहिं जाऊँ। सरकि सरकि तुम ही पै आऊँ ॥
चरनदास है सहजो दासी। हो रच्छक पूरन अविनासी ॥

अब तुम अपनी ओर निहारो।
हमरे औगुन पै नहिं जाओ, तुमही अपना बिरद सम्हारो ॥
जुग जुग साख तुम्हारी ऐसी, बेद पुरानन गाई।
पतित उधारन नाम तुम्हारो, यह सुनकै मन दृढ़ता आई ॥
मैं अजान तुम सब कछु जानो, घट घट अंतरजामी।
मैं तो चरन तुम्हारे लागी, हो किरपाल दयालहि स्वामी ॥
हाथ जोरि कै अरज करत हौं, अपनाओ गहि बाहीं।
द्वार तिहारे आय परी हौं, पौरुष गुन मो मैं कछु नाहीं ॥

सुमिर सुमिर नर उतरो पार,
भौसागर की तीछन धार ॥
धर्म जहाज माहिं चढ़ि लीजै,
सँभल सँभल तामें पग दीजै।
सम करि मन को संगी कीजै,
हरि मारग को लागो यार ॥
बादवान पुनि ताहि चलावै,
पाप भरै तौ हलन न पावै।
काम क्रोध लूटन को आवै,
सावधान ह्वै करो सँभार ॥
मान पहाड़ी तहाँ अड़त है,
आसा तृष्णा भँवर पड़त है।
पाँच मच्छ जहँ चोट करत हैं,
ग्यान आँखि बल चलो निहार ॥
ध्यान धनी का हिरदै धारे,
गुरु किरपा सूँ लगै किनारे।
जब तेरी बोहित उतरै पारे,
जन्म मरन दुख बिपता टारे ॥

चौथे पद में आनँद पावै,
या जग में तू बहुरि न आवै।
चरनदास गुरुदेव निहारें,
सहजोबाई यही बिचार ॥

ऐसो बसंत नहिं बार बार। तैं पाई मानुष देह सार ॥
यह औसर बिरथा न खोय। भक्ति बीज हिय धरती बोय ॥
सतसंगत को सींच नीर। सतगुरजी सूँ करो सीर ॥
नीकी बार बिचार देव। चरन राख या कूँ छुसेव ॥
रखवारी कर हेत खेत। जब तेरी होवै जैत जैत ॥
खोट काट पंछी उड़ाव। मोह प्यास सब ही जलाव ॥
समझ बाड़ी नऊ अंग। प्रेम-फूल फूलै रंग रंग ॥
पुहुप गूँथ माला बनाव। आदिपुरुष कूँ जा चढ़ाव ॥
सो सहजोबाई चरनदास। तेरे मन की पूरै सकल आस ॥

जग में कहा कियो तुम आय।
स्वान जैसो पेट भरिकै, सोयो जन्म गँवाय ॥
पहर पछिले ना हिं जागो, कियो ना सुभ कर्म।
आन मारग जाय लागो, लियो ना गुरुधर्म ॥
जप न कीयो तप न साधो, दियो ना तैं दान।
बहुत उरझो मोह मद में, आपु काया मान ॥
देह घर है मौत का रे, आन काढ़ै तोहि।
एक छिन नहिं रहन पावै, कहा कैसो होय ॥
रैन दिन आराम ना, काटै जो तेरी आव।
चरनदास कहैं सुन सहजिया, करो भजन उपाव ॥

बैठि बैठि बहुतक गये, जग तरवर की छाँहि।
सहजो बटाऊ बाट के, मिलि मिलि बिछुड़त जाहिं ॥
द्रव्य हेत हरि कूँ भजै, धनही की परतीत।
स्वारथ ले सब सूँ मिलै, अंतर की नहिं प्रीत ॥

भक्तवर श्रीभट्टजी

(महाकवि केशव काश्मीरीजीके अन्तरङ्ग शिष्य और श्रीराधाकृष्णके अनन्यभक्त । जन्म-समय अनुमानतः विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके लगभग)

चरन चरन पर लकुट कर धरें कक्ष तर शृंग।
मुकट चटक छबि लटकि लखि बने जु ललित त्रिभंग ॥
दुःख संग और सुख सब जो कछु हैं हिय माँहि।
देखतही मुख दहन को सबै सुखद ह्वै जाँहि ॥
या मुख देखन कौं कहौ कीजै कहा उपाय।
कहा कहौं कैसी करौं परी कठिन यह आय ॥
ये लोचन आतुर अधिक उन्हें परी कछु नाहिं।
जल ते न्यारी मीन ज्यों तरफि तरफि अकुलाहिं ॥
या मुख की आसा लगी तजी आस सब लोग।
अब स्वासा हू तजैगी जो न बने संयोग ॥
कहा करौं कासों कहौं को बूझै कित जाउँ।
बन ही बन डोलत फिरौं बोलत है है नाउँ ॥

जो बन बन डोलत फिरैं याहि मिलन की पैंट ।
अनजाने ही होयगी कहूँ अचानक भेंट ॥
ऊँचे स्वर में टेरि कें कहौं पुकारि पुकारि ।
श्रीराधा गोविंद हरि रटो बार ही बार ॥
कोई नाम तौ श्रवणपथ कहूँ परैगो जाय ।
बोलत बोलत कबहुँ तो बोलेंगे अकुलाय ॥
हो प्यारी हे प्राणपति अहो प्रेम प्रतिपाल ।
दुख मोचन रोचन सदा लोचन कमल बिसाल ॥
हो निकुंज नागरि कुँवरि नव नेही घनश्याम ।
नयननि में निसिदिन रहो अहो नैन अभिराम ॥
अहो लडैती लाडिली अलक लडी सुकुमार ।
मन हरनी तरुनी तनक दिखरावहु मुख चारु ॥
गुननि अगाधा राधिका श्रीराधा रसधाम ।
सब सुख साधा पाइये आधा जाके नाम ॥
अहो सलोने साँवरे सुंदर सुखद सरूप ।
मनमोहन मोहन हिये महामोद को रूप ॥
रतिनिधि रसनिधि रूपनिधि अरु निधि परम हुलास ।
गुन आगर नागर नवल सुखसागर की रास ॥
अनियारे बारे अरुन कजरारे बल बाम ।
या छबि चाहनि चाह की सो चख सदा सकाम ॥
मोहन मोहन सब कहै मोहन साँचो नाम ।
मोहन मोहन कैं कछू क्यों मोहत सब गाम ॥
जा कारन छाडी सबै लोक बेद कुल कानि ।
सो कबहूँ नहिं भूलि कें देत दिखाई आनि ॥
सदा चटपटी चित बसै समुझि सकै नहिं कोइ ।
कोउ खटपटी हीय में बहत लटपटी होइ ॥
एक बार तौ आय कें नयनन ही मिलि जाउ ।
सोइ मोहि जो साँवरे नेकु यहाँ ठहराउ ॥

अब तौ तिहारो मन कठिन भयो है अति
　　देखिहो यहि दुख देखते सिरावगो ।
जो पै तो तिहारे जीय ऐसी ही बसी है आव
　　तुम सौ हमारो बडो बडा धौं कमावगो ॥
एक बार आय नेक दूर सौ दिखाई दै कै
　　जाउ फिरि जौन यहाँ मन ठहरावगो ।
अनबानी बिरै नेह आयो है निवरन बनो
　　हमने मैं तिहारो बडो बडा पटै जावगो ॥
रे मन ! वृन्दाविपिन निहार ।
[illegible] ॥

ब्रजमंडल सीमा के बाहर, हरि हू कौं न निहार ।
जै 'श्रीभट्ट' धूरि धूसर तन, यह आसा उर धार ॥

सेव्य हमारे श्रीप्रिय प्यारी वृन्दाविपिन विलासी ।
नंदनँदन वृषभानुनंदिनी चरन अनन्य उपासी ॥
मत्त प्रनयबस सदा एकरस विविध निकुंज निवासी ।
'श्रीभट' जुगलरूप बंसीवट सेवत सब सुखरासी ॥

दोहा

चरनकमल की दीजिए सेवा सहज रसाल ।
घर जायो मोहि जानि कै चेरो मदनगुपाल ॥

(पद)

मदनगुपाल ! सरन तेरी आयो ।
चरनकमल की सेवा दीजे चेरो करि राखो घरजायो ॥
धनि धनि मात, पिता, सुत, बन्धु, धनि जननी जिन गोद खिलायो ।
धनि धनि चरन चलत तीरथ कों धनि गुरु जिन हरिनाम सुनायो ॥
जे नर विमुख भये गोविंद सों जनम अनेक महा दुख पायो ।
'श्रीभट'के प्रभु दियो अभय पद जम डरप्यो जब दास कहायो ॥

जाको मन वृंदाविपिन हर्यो ।
निरखि निकुंज पुंज-छबि राधेकृष्न नाम उर धर्यो ॥
स्यामास्याम सरूप-सरोवर [illegible] [illegible] विसर्यो ।
श्रीभट राधे रसिकराय तिन्ह सर्बस दै निरर्यो ॥

जय जय वृंदावन आनँदमूल ।
नाम लेत पावन सु प्रनवहि जुगल किसोर देत निज कूल ॥
सरन आय पाए राधाधव मिटी अनेक जन्म की भूल ।
ऐसेहि जानि वृंदावन श्रीभट रज पर वारि कोटि सग्तूल ॥

दोहा

अन कहे अनै न उर हरि गुरु सौं रति होय ।
सुखनिधि स्यामा स्याम के पद पावै सब कोय ॥

पद

स्यामा स्याम पद पावै सोई ।
मन-बच क्रम करि सदा निरन्तर, हरि गुरु पद पंकज रति होई ॥
नंद-सुवन वृषभानु सुता पद, भजै तजै मन आनै कोई ।
'श्रीभट' अटकि रहे [illegible] [illegible] करै सबै सब होई ॥

दोहा

[illegible] ।
[illegible] ॥

पद

जुगल किसोर हमारे ठाकुर।
सदा सर्वदा हम जिन के हैं,
जनम जनम घरजाये चाकर ॥
चूक परैं परिहरैं न कबहूँ,
सब ही भाँति दया के आकर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवन में,
प्रनतनि पोषत परम सुधाकर ॥

बसो मेरे नैनन में दोउ चंद।
गौरबरनि वृषभानुनंदिनी, स्यामबरन नँदनंद ॥
गोलकु रहे लुभाय रूप में, निरखत आनँदकंद।
जै श्रीभट्ट प्रेमरस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद ॥

भक्तवर श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी

(आविर्भाव सं० १३२० के लगभग, जाति ब्राह्मण, जन्मभूमि मथुरा, आचार्य श्रीश्रीभट्टजीके शिष्य।)

नैनन को लाहो लीजिये।
गोरी स्याम सलोनी जोरी
सुरस माधुरी पीजिये ॥
छिन छिन प्रति प्रमुदित चित चावहिं
निज भावहिं मे भींजिये।
'श्रीहरिप्रिया' निरखि तन, मन, धन
लै न्यौछावर कीजिये ॥

दोहा

निरखि निरखि संपति सुखै सहजहिं नैन सिराय।
जीजतु हैं बलि जाउँ या जग मोंही जस गाय ॥

पद

जुगल जस गाय-गाय जीजिये।
या जग में बलि जाउँ अहो अब जीवनफल लीजिये ॥
निरखि-निरखि नैनन सुखसंपति सहज सुकृत कीजिये।
'श्रीहरिप्रिया' बदन पर पानी वारि-वारि पीजिये ॥
मिलि चलौ मिलि चलौ मिलि चले सुख महा,
बहुत है विघन जग मगहि माहीं।
मिलि चले सकल मंगल मिले सहजहीं,
अनमिलि चले सुख नहिं कदाहीं ॥
मिलि चले होत सो अनमिलि चले कहाँ ?
फूट ते होत है फटफटाहीं।
'श्रीहरिप्रिया'जू को यह परम-पद पावनो,
अतिहि दुर्लभ महा सुलभ नाहीं ॥

प्रभु आश्रयके द्वादश साधन

दोहा

विधि निषेध आदिक जिते कर्म धर्म तजि तास।
प्रभु के आश्रय आवहीं सो कहिये निजदास ॥

पद

जो कोउ प्रभु के आश्रय आवै। सो अन्याश्रय सब छिटकावै ॥
विधि-निषेध के जे जे धर्म। तिन को त्यागि रहे निष्कर्म ॥
झूठ, क्रोध, निंदा तजि देहीं। बिन प्रसाद मुख और न लेहीं ॥
सब जीवन पर करुना राखै। कबहुँ कठोर वचन नहिं भाखै ॥
मन माधुर्यरस माहिं समोवै। घरी पहर पल वृथा न खोवै ॥
सतगुरु के मारग पग धारै। हरि सतगुरु बिच भेद न पारै ॥
ए द्वादश लच्छन अवगाहै। जे जन परा परमपद चाहै

आश्रयके दस सोपान

जाके दस पैड़ी अति दृढ़ हैं। बिन अधिकार कौन तहँ चढ़िहैं
पहिले रसिक जननकौ सेवै। दूजी दया हृदय धरि लेवै
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनिहै। चौथी कथा अतृप्त है सुनिहै
पंचमि पद-पंकज अनुरागै। षष्ठी रूप अधिकता पागै
सप्तमि प्रेम हिये बिरधावै। अष्टमि रूप ध्यान गुन गावै
नौमी दृढ़ता निश्चय गहिवैं। दसमी रस की सरिता बहिवैं।
या अनुक्रम करि जे अनुसरहीं। शनै-शनै जग ते निरवरहीं।
परमधाम परिकर मधि बसहीं। 'श्रीहरिप्रिया' हितू सँग लसहीं।

दोहा

अमृत जस जुग लाल कौ या बिनु अँचौ न आन।
मो रसना करिबो करो याही रस को पान ॥

पद

करौ मो रसना यहि रस पान।
लाड़िली लालन को मधु अमृत,
या बिन अचौ न आन ॥
याही छक में छके रहो दृग
अहो निसा उन्मान।
मुदित रहो नित 'श्रीहरिप्रिया' को
गाय-गाय गुनगान ॥

दोहा

पूरन प्रेम प्रकास के परी पयोनिधि पूरि।
जय श्रीराधा रसभरी स्याम सजीवनमूरि॥

पद

जय श्रीराधिका रसभरी।
रसिक सुंदर साँवरे की प्रानजीवनि-जरी॥
गौर अंग-अनंग अद्भुत सुरति रंगन ररी।
सहज-अंग अभंग-जोरी सुभग साँचे ढरी॥
परम-प्रेम-प्रकास-पूरन पर-पयोनिधि परी।
हितू 'श्रीहरिप्रिया' निरखति निकट निज सहचरी॥

दोहा

सुद्ध, सत्य, परदेस सो सिखवत नाना भेद।
निर्गुन, सगुन बखानि के बरनत जाको बेद॥

पद

निर्गुन सगुन कहत जिहिं बेद।
निज इच्छा विस्तारि विविध विधि
बहु अनवद्यो दिखावत भेद॥
आप अलिप्त लिप्त लीला रचि
धरत कोटि ब्रह्माण्ड निलाम।
सुद्ध, सत्य, पर के परमेसुर
जुगलकिसोर सकल सुख धाम॥

अनंत-सक्ति आधीस अचिंतक
ऐश्वर्यादि अखिल गुनधाम।
सब कारन के कर्ता भर्ता
नित नैमित्य नियंता स्याम॥
सकल लोक चूड़ामनि जोरी
धोरी रस माधुर्य असेम।
कोटि-कोटि कंदर्प दर्पदल-
मलन मनोहर विमद सुरेस॥
पारावारादि अगत-गत-स्वामी
निरवधि नामी नामनिकाय।
नित्य-सिद्ध सर्वोपरि 'हरि-प्रिया'
सब सुखदायक सहज सुभाय॥

दोहा

तिहि समान बड़भाग को जो सब के सिरमौर।
मन बच, क्रम सर्वस सदा जिन के जुगलकिसोर॥

पद

जिन के सर्वस जुगलकिसोर।
तिहिं समान अब को बड़भागी गनि सब के सिरमौर॥
नित्य विहार निरंतर जाको करत पान निसिभोर।
'श्रीहरिप्रिया' निहारत छिन-छिन चितय चरन की कोर॥

तेजस्वी संत श्रीपरशुरामदेवजी

(जन्मस्थान जयपुर-राज्यान्तर्गत कोई ग्राम। जन्मकाल १६वीं शताब्दी। गुरु श्रीहरिव्यासदेवजी)

साँच झूठ नहिं रापईं,
झूठो मिलै न साँच।
झूठे झूठ समायगो,
साँचो मिलिहै साँच॥
परसा, तब मन निर्मला
होवै हरिजस धोय।
हरि सुमिरन बिन आतमा
निर्मल कभी न होय॥
साँचो सौदो भव तरै हरि पुर आड़े नाहिं।
परसुराम झूठो टरै बूड़े भव जल माहिं॥
साधु समागम सदा करि करै कलुष विछोह।
परसुराम पारस परसि भयो कनक ज्यों लोह॥
परसुराम सतसंग सुख और सकल दुख जान।
निसदिन [illegible] सदा सुमिरन [illegible] [illegible]॥

परसुराम मन्दिर मनै
सुनै सकल की बात।
दुरै न काहू की कछू
करी सबी नहिं जात॥
सुख दुख जन्महिं मरन को
करै सुनै कोउ कौन।
परसा और न जानही
सब जानै जगदीस॥
परसुराम जगदीसु है जिन हरि दीनों दान।
सो उनके नाहिं और की हरि नाहिं और न आन॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हरि नाहिं।
सो हरि [illegible] हेत करि परसुराम कहि जाहिं॥
जहँ [illegible] [illegible] हरि सब [illegible] को सुख।
जहँ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सब [illegible]॥

सब कौं पावै संत है सब कौ निस्तार ।
परसा सो न बिसारिये हरि भज सारसार ॥
परसा जिन पैदा किये तासौं सदा सम्हारि ।
नित सेवै रच्छा करै हरि प्रीतम न बिसारि ॥
जे हरि ! जानें आप कौं सो ज्ञानी मत साध ।
परसा हरि जानौ नहीं सो अति भई अज्ञान ॥
परसराम हरि भजन सुख भेद न काहू और ।
सब काहू कौं एक सो जेहि भावै सो लेय ॥

हरि सौं प्रेम नेम जो रहिहैं ।
तौ कहा जग उपहास प्रीति तें
मरै कहा कोऊ कछु कहिहैं ॥
हरि निज रूप अनूप अभैवर
सुरग भयौ ऐसौ सुख लहिहैं ।
परम पवित्र पतित पावन जस
सो तजि कौन स्वर्ग नाहिं दहिहैं ॥
पतिव्रत गयौ तौ रह्यौ नहीं कछु,
या यह हानि जानि को सहिहैं ।
कौन पतित पति कौ व्रत परिहरि
भ्रमि संसार धारमें बहिहैं ॥
आन उपासन करि पति परिहरि
धृग सोभा ऐसी जो महि हैं ।
तजि पारस पाषान बाँधि उर
बसि घर में घर कौ को दहिहैं ॥
हरि सुख सिंधु अपार प्रगट जस
मेह सुमिरि सुनि करि जस लहिहैं ।
'परसराम' निर्वाह समझि यह
तजि हरि सिंह स्वान को गहिहैं ॥

हरि सुमिरन करिए निसतरिए ।
हरि सुमिरन बिन पार न परिए ॥
हरि सुमिरै सोई हरि नाती ।
हरि न भजै सोइ आतम घाती ॥
हरि सुमिरै हरि कौ हितकारी ।
हरि न भजै सोई व्यभिचारी ॥
हरि सुमिरै सेवक सुखनामी ।
हरि न भजै सोइ लोनहरामी ॥
'परसा' हरि सुमिरै हरि तोषी ।
हरि न भजै सोई हरि दोषी ॥

हरि सुमिरन बिन तन मन झूठा ।
जैसे बिन पशु नर सूकर उदर भरत इंद्रिन भ्रमि घूठा ॥
भजन करत धर्म करत दुख देखत, मध्यम जीव जगत का जूठा ।
निर्धन भये श्याम धन हार्यो, माया मोह लिये मिलि मूठा ॥
हरि सुमिरन परमारथ पति बिन, जमपुर जात न छिन्न अबूठा ।
'परसुराम' तिन सौं का कहिये, जो पारब्रह्म प्रीतम सौं रूठा ॥

हरि परिहरि भरमत मति मेरी ।
कहत पुकारि दुरावत नाहिंन, यह तौ प्रगट छिपत नहिं फेरी ॥
श्रीगुरु शब्द न मानत कबहूँ, उमगि चलत अपनी हठि हेरी ।
तजि निज रूप विषय मन उरझत, हित सौं नहिं बूड़न की बेरी ॥
नाहिंन संक करत काहू की, चाहत निसंक कूप तैं नेरी ।
'परसा' छिटकि परी भव जल मैं, अब कैसें चेतन सो हेरी ॥

मनुवा ! मनमोहन गाय रे ।
अति आतुर होय के हरि हरि, सुमिरि सुमिरि सुख पाय रे ॥
हरि सुख सिंधु भजत भजतौं, सुनि सब दुख दोष दुराय रे ।
यौ औसर फिरि मिलै न मिलिहै, तौ भजि लीजै हरि राय रे ॥
पतित पतित पावन करि कैं, जमपुर ते लेहिं छुड़ाय रे ।
यह हरि भक्ति समुझि सुनि नित करि भज मन बिलँब न लाय रे ॥
करि आरति हित सौं हरि सन्मुख, सक्यौ न सीस नवाय रे ।
जनमि जनमि जमद्वार निरादर बारंबार बिकाय रे ॥
अति संकट बूड़त भव जल में अंत न और सहाय रे ।
तोहि और हरि परम हितू बिन को राखै अपनाय रे ॥

जग पंडित भुवपाल छत्रपति, हरि बिन गये खिसाय रे ।
अति दलवंत न बदत और कौं, काल सबन कौं खाय रे ॥
पायौ नर औतार बिगारयौ, कहा कियौ यहाँ आय रे ।
करि न सक्यौ हरि बनिज अचेतन ! चाल्यौ जनम ठगाय रे ॥
हरि सेवा सुमिरन बिन जाकौ, तन मन बादि बिलाय रे ।
'परसुराम' प्रभु बिन नर निर्फल, बहि गयो बस्तु गमाय रे ॥

कहा सरयौ नरनाह रूप तैं, भूपति भूप कहायौ ।
जीवन जनम गयौ दुरि दुख महिं, हरि सुख सिंधु न पायौ ॥
बेद पुरान सुन्यौ सब सीखौ, गायौ गाय सुनायौ ।
मेटि न सक्यौ कर्म मन तन तैं, हरि निहकर्म न गायौ ॥
कियौ करायौ सबै गँवायौ, जो हरि मन न बसायौ ।
तन के दोष मिटैं क्यों 'परसा' हरि मन माहिं न आयौ ॥

सखी ! हरि परम मंगल गाय ।
आज तेरे भवन आये अकल अबिगत राय ॥

लोक वेद मरजाद कुल की कानि बानि बहाय।
परम पद निस्मान निर्भय प्रगट होय बजाय॥
उमगि सन्मुख अंक भरि भरि भेंटि कंठ लगाय।
विलसि सुखनिधि नेम धरि सखि प्रेम सौं लौ लाय॥
वारि तन मन प्रान धन कछु राखिये न दुराय।
'परसा' प्रभु को सौंपि सर्वस सरन रहि सुख पाय॥

हरि-हरि सुमिरि न कोई हारयौ॥
जिन सुमिरयौ तिनहीं गति पाई राखि सरन अपनी निस्तारयौ।
कौरव सभा सकल नृप देखत सती विपति पति नाहिं सँभारयौ॥
हाहाकार सब्द सुनि संकट तिहिं औसर प्रभु प्रगट पधारयौ।
हरि सौ समरथ और न कोई महापतित को दुख टारयौ॥
दीनानाथ अनाथ निवाजन भगतबछल जु बिरद जिन धारयौ।
'परसुराम' प्रभु मिटै न कबहूँ साखि निगम प्रहाद पुकारयौ॥

जब कबहूँ मन हरि भजै तबहिं जाइ छूटै;
नातरि जग जजाल ते कबहूँ न बिछूटै।
काम क्रोध मद लोभ सौं बैरी सिर कूटै;
हरि बिन माया मोह कौ तंतू नहिं टूटै॥
हरष सोक सताप ते निज नेह न खूटै;
हरि निर्मल नीर न ठाहरै मन बासनि फूटै।
सोच मोह समै सदा सरिनि ज्यों चूटै;
'परसा' प्रभु बिन जीव को दुख सुख मिलि लूटैं॥

श्रीरूपरसिकदेवजी

(श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायके महान् भगवद्भक्त। आपके परिचयके विषयमें विशेष बातें उपलब्ध नहीं होतीं। अनुमानसे इनका स्थितिकाल लगभग वि० की चौदहवीं शती मालूम होता है।)

नैक बिलोकि री! इक बार।
जो तूँ प्रीति करन की गाहक मोहन हैं रिझवार॥
महारूप की रासि नागरी नागर नदकुमार।
हाव, भाव, लीला ललचौंहीं लालन नवल विहार॥
मोहि भरोसौ स्यामसुँदर को करि राख्यौ निरधार।
नैक एक पल जो अभिलाषै रूपरसिक बलिहार॥

नैना प्रकृति गही यह न्यारी।
जाचत जे लै स्याम स्वरूपहि बन बन विकल सदा री॥
अटके नैक न रहे लालची सीख दये सब हारी।
रूपरसिक दरसै मनमोहन तबहीं होय सुखारी॥

कहा तैं जग में आय कियौ रे।
श्रीभागौत सुधारस गटक्यौ श्रवन पुटा न पियौ रे॥
नर तन रतन जतन बहु पायौ व्यर्थहिं खोय दियौ रे।
ताको सठ तोहि सोच न आयौ धृक है तेरौ जियौ रे॥
क्यौं नहिं रही बाँझ जननी यह जिहिं धरि उदर लियौ रे।
रूपरसिकही कठ होत है, देखि तिहारौ हियौ रे॥

'रूपरसिक' संसार मे कोउ न अपनौ जान।
एक दोय की बहा चली सबही स्वप्न समान॥

भलौ कहै रीझै नहीं बुरौ कहै न खिजत
'रूपरसिक' सोइ जानिये आनँदरूपी संत

हरिजन निरखि न हरषत हिए।
ते नर अधम महा पापडी,
धृक धृक है जग जिन के जिए॥
मुख मीठे अमृत सर सरके,
हृदय कूर ना छिए।
क्यौं नहिं मार परै तिन के सिर,
जिन की ऐसी कुटिल घिए॥
स्वाँग पहरि स्वकिया को सुंदरि,
लक्ष प्रत्यक्ष पोषत परकिये।
रूपरसिक ऐसे विमुखन कौं,
कुम्भीपाक नरक नाखिए॥

हो प्रभु! छमा करौ मम खोट।
मैं नहिं जान्यौ त्रिभुवननायक, घोर निहारैं ओट॥
भ्रुलत हैं संसार-समुद्र मैं बाँधि कर्म की पोट।
तिन कौं कहा दोष प्रभु दीजै महामूढ मति छोट॥
सुरपति की कोपत सुख आगे, देख्यौ ब्रजपति घोट।
'रूपरसिक' प्रभु सया करौ सदा, परम दया के कोट॥

स्वामी श्रीहरिदासजी

(जन्मस्थान—हरिदासपुर (जिला अलीगढ़); जन्म—संवत् १५६९, पौष सुदा १२ भृगुवार; पिताका नाम—श्रीआशुधीरजी, माताका नाम—गङ्गादेवी; जाति—ब्राह्मण; अन्तसमय—संवत् १६६४ ।)

हरि भजि, हरि भजि
छाँड़ि मान नर तन कौ ।
मति बंछै, मति बंछै रे
तिल तिल धन कौं ॥
अनमाँग्यो आगें आवैगो
ज्यौं पल लागै पल कौं ।
कहि(श्री)हरिदास मीच ज्यौं आवै
त्यौं धन है आपुन कौं ॥

गही मन सब रस को रस सार ।
लोक बेद कुल करमै तजिये, भजिये नित्य बिहार ॥
गृह कामिनि कंचन धन त्यागौ, सुमिरौ स्याम उदार ।
कहि हरिदास रीति संतन की, गादी कौ अधिकार ॥

ज्यौंहीं ज्यौंहीं तुम राखत हौ,
त्यौंहीं त्यौंहीं रहियतु हो हरि ।
और अचरचै पाइ धरौं, सु तौ
कहौ कौन के पैंड भरि ॥
जदपि हौं अपनो भायौ कियौ चाहौं,
सु तौ कैसे करि सकौं, जो तुम राखो पकरि ।

कह 'हरिदास' पिंजरा के जनावर लौं,
तरफराइ रह्यौ उड़िबे कौं कितोउ करि ॥

तिनका बियारि के बस ।
ज्यौं भावै त्यौं उड़ाइ लै जाइ अपने रस ॥
ब्रह्मलोक सिवलोक और लोक अस ।
कहि 'हरिदास' बिचारि देख्यौ बिना बिहारी नाहिं जस॥

हरि के नाम कौ आलस क्यौं, करत है रे काल फिरत सर साँधें ।
हीरा बहुत जवाहर संचे, कहा भयो हस्ती दर बाँधें ॥
बेर कुबेर कछू नहिं जानत, चढ़ौ फिरत है काँधें ।
कह 'हरिदास' कछू न चलत जब आवत अंत की आँधें ॥

मन लगाइ प्रीत कीजै करवा सौं, (ब्रज) बीथिन दीजै सोहनी ।
बृंदावन सौं बन-उपबन सौं, गुंजमाल कर पोहनी ॥
गो-गोसुतनि सौं मृगी मृग सुतन सौं और तन नेकु न जोहनी ।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी सौं, चित ज्यौं सिर पर दोहनी ॥

जौलौं जीवै तौलौं हरि भजु रे मन, और बात सब बादि ।
द्यौस चारि के हला भला में तूँ कहा लेइगो लादि ॥
माया मद गुन मद जोबन मद भूल्यौ नगर बिबादि ।
कह (श्री) हरिदास लोभ चरपट भयौ, काहे की लगै फिरादि ॥

श्रीवृन्दावनदेवजी

(श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्य श्रीनारायणदेवजीके प्रमुख शिष्य—स्थितिकाल वि० सं० की १८ वीं शती । दीक्षाकाल सं० १७०० वि० के लगभग, जाति गौड़ ब्राह्मणकुल । इनके द्वारा निर्मित समस्त वाणी वृन्दावन एवं सलेमाबादमें सुरक्षित है ।)

बानी

प्रेम को रूप सु इहै कहावै ।
प्रीतम के सुख सुख अपनो दुख
बाहिर होत न नेक लखावै ॥
गुरजन बरजन तरजन ज्यों-ज्यों
त्यों-त्यों रति नित-नित अधिकावै ।
दुरजन घर-घर करत बिनिंदन
चंदन सम सीतल सोउ भावै ॥
पलक ओटहू कोटि बरस के
छिनक ओटि सुख कोटि जनावै ।

'बृंदावन' प्रभु नेही की गति
देही त्यागि धरै सोइ पावै ॥

नेह निगोड़े को पैंड़ो ही न्यारौ ।
जो कोइ होय कै आँधौ चलै
सु लहै प्रियबस्तु चहूँधा उजारौ ॥
सो तो इतै उत भूल्यौ फिरै
न लहै कछु जो कोउ होय अँख्यारौ ।
'बृंदावन' सोइ याको पथिक है,
जापै कृपा करै कान्हर प्यारौ ॥

आचार्य श्रीहितहरिवंश महाप्रभु

(राधावल्लभीय सिद्धान्तके प्रवर्तक और महान् भक्तकवि, आविर्भाव-संवत् १५३०, किसी-किसीके मतानुसार सं० १५५९, पिताका नाम केशवदास मिश्र (उपनाम व्यासजी), माताका नाम तारावती, जन्मस्थान 'बाद' ग्राम (मथुरा), तिरोभाव अनुमानतः सं० १६०९ या १६१० ।)

जोई जोई प्यारो करै
सोई मोहि भावै ।
भावै मोहि जोई सोई
सोइ करै प्यारे ॥
मोकों तो भावति ठौर
प्यारे के नैनन में ।
प्यारे भये चाहैं मेरे नैनन के तारे ॥
मेरे तन मन प्रानहूँ ते प्रीतम प्रिय आपने ।
कोटिक परान प्रीतम मोसों हारे ॥
जै श्री हितहरिवंस हंस हंसिनी स्यामल गौर ।
कहौ कौन करै जल तरंगिनी न्यारे ॥

तातें भैया मेरी सौं, कृष्णगुन संचु ॥
कुत्सित वाद विकारहिं परधनु सुनु सिख परतिय बंचु ।
मनि गुन पुंज जु ब्रजपति छाँड़त हित हरिवंस सुकर गहि कंचु ॥
पायो जानि जगत में सब जन कपटी कुटिल कलिजुगी टंचु ।
इहि परलोक सकल सुख पावत, मेरी सौंह कृष्ण गुन संचु ॥

मानुष को तन पाइ भजौ ब्रजनाथ कों ।
दर्वी लै कैं मूढ़ जरावत हाथ कों ॥
हित हरिवंस प्रपंच विषयरस मोह के ।
बिनु कंचन क्यों चलैं पचीसा लोह के ॥

दोहा

तनहिं राख सतसंग में, मनहि प्रेमरस भेव ।
सुख चाहत हरिवंस हित कृष्ण-कलपतरु सेव ॥
निकसि कुंज ठाढ़े भये, भुजा परस्पर अंस ।
राधावल्लभ मुख कमल, निरखत हित हरिवंस ॥
सबसों हित निहकाम मन, बृंदावन विश्राम ।
राधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान, मुख नाम ॥
रसना कटौ जु अन रटौ, निरखि अन फुटौ नैन ।
स्रवन फुटौ जो अन सुनौ, बिनु राधा जसु बैन ॥

ते भाजन कृत जटिल विमल चंदन कृत इंधन ।
अमृत पूरि तिहि मध्य करत सरषप खल रिंधन ॥
अद्भुत घर पर करत कष्ट कंचन हल वाहत ।
वारि करत पाषारि मंद ! बोवन विष चाहत ॥
हितहरिवंस विचारि कै, यह मनुज देह गुरु चरन गहि ।
सकहि तो सब परपंच तजि, श्रीकृष्ण कृष्ण गोविंद कहि ॥

मोहन लाल के रँग राची ।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ, बात दसौं दिसि माची ॥
कंत अनंत करो किन कोऊ, नाहिं धारना साँची ।
यह जिय जाहु भले सिर ऊपर, हौं तु प्रगट है नाची ॥
जाग्रत सयन रहत ऊपर मनि ज्यों कंचन सँग पाँची ।
हितहरिवंस डरौं काके डर, हौं नाहिन मति काँची ॥

संत श्रीव्यासदासजी

(व्रजमण्डलके प्रसिद्ध भक्तकवि, ओरछाके सनाढ्य ब्राह्मण । जन्म-सं० १५६७, बचपनका नाम श्रीहरिरामजी । पिताका नाम सुखोमनि शर्मा ।)

बानी

हरि दासन के निकट न आवत
प्रेत पितर जमदूत ।
जोगी भोगी संन्यासी अरु
पंडित मुंडित धूत ॥
ग्रह गनेस सुरेस सिवा सिव
डर करि भागत भूत ।
सिधि निधि बिधि निषेध हरिनामहिं डरत रहत कपूत ॥
सुख दुख पाप पुन्य मायामय ईति भीति आकूत ।
'व्यास' आस तजि सब की भजिए ब्रज बसि भगत सपूत ॥

ऐसें ही बसिये ब्रज बीथिन ।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि, उदर पोषिये सीथिन ॥
घूरन में के बीन चिनगटा, रच्छा कीजै सीतन ।
कुंज कुंज प्रति लोटि लगौ उड़ि, रज ब्रज की अंगीतन ॥

नितप्रति दरस स्याम स्यामा कौ, नित जमुना जल पीतन ।
ऐसेहिं 'ब्यास' होत तन पावन, ऐसेहिं मिलत अतीतन ॥

जैये कौन के अब द्वार ।
जो जिय होय प्रीति काहू के, दुख सहिये सौ बार ॥
घर घर राजस तामस बाढ्यौ, धन जोबन कौ गार ।
काम बिबस ह्वै दान देत, नीचन कों होत उदार ॥
साधु न सूझत, बात न बूझत, ये कलि के ब्यौहार ।
'ब्यासदास' कत भाजि उबरिये, परिये माँझीधार ॥

कहा कहा नहिं सहत सरीर ।
स्याम सरन बिनु, करम सहाइ न, जनम मरन की पीर ॥
करुनावंत साधु संगति बिनु, मनहिं देय को धीर ।
भक्त भागवत बिनु को मेटै, सुख दै दुख की भीर ॥
बिनु अपराध चहूँ दिसि बरसत, पिसुन बचन अति तीर ।
कृष्ण-कृपा कवची तें उबरैं, पावैं तबहीं सीर ॥
चेतहु भैया, बेगि बढ़ी कलि-काल-नदी गम्भीर ।
'ब्यास' बचन बलि बृंदावन बसि, सेवहु कुंज कुटीर ॥

भजौ सुत, साँचे स्याम पिताहि ।
जाके सरन जातहीं मिटिहै, दारुन दुख की दाहि ॥
कृपावंत भगवंत सुने मैं, छिन छाँड़ौ जिनि ताहि ।
तेरे सकल मनोरथ पूजैं, जो मथुरा लौं जाहि ॥
वे गोपाल दयाल, दीन तूँ, करिहैं कृपा निबाहि ।
और न ठौर अनाथ दुखिन कों, मैं देख्यौ जग माहि ॥
करुना बरुनालय की महिमा, मो पै कही न जाहि ।
'ब्यासदास' के प्रभु को सेवत, हारि भई कहु काहि ॥

सुने न देखे भक्त भिखारी ।
तिन के दाम काम कौ लोभ न, जिन के कुंजबिहारी ॥
सुक नारद अरु सिव सनकादिक, ये अनुरागी भारी ।
तिन कौ मत भागवत न समुझै, सब की बुधि पचि हारी ॥
रसना इंद्री दोऊ बैरिन, जिन की अनी अन्यारी
करि आहार बिहार परस्पर, बैर करत बिभिचारी
बिषयिनि की परतीति न हरि सों, प्रीति रीति बीजारी
'ब्यास' आस सागर में बूड़ें, आई भक्ति बिसारी

जो सुख होत भक्त घर आये ।
सो सुख होत नहीं बहु संपति, बाँझहिं बेटा जाये
जो सुख होत भक्त चरनोदक, पीवत गात लगाये
सो सुख अति सपनेहुँ नहिं पैयतु, कोटिक तीरथ न्हाये
जो सुख कबहुँ न पैयतु पितु घर, सुत कौ पूत खिलाये
सो सुख होत भक्त बचननि सुनि, नैननि नीर बहाये ।
जो सुख होत मिलत साधुन सों, छिन छिन रंग बढाये ।
सो सुख होत न नैकु 'ब्यास' कों, लंक सुमेरहुँ पाये ॥

हरि बिनु को अपनो संसार ।
माया मोह बँध्यौ जग बूड़त, काल नदी की धार ॥
जैसे संघट होत नाव में, रहत न पैले पार ।
सुत संपति दारा सों ऐसे, बिछुरत लगै न बार ॥
जैसे सपने रंक पाय निधि, जाने कछू न सार ।
ऐसे छिनभंगुर देही को, गरबत कहा गँवार ॥
जैसे अँधरे टेकत डोलत, गनत न खाए पनार ।
ऐसे 'ब्यास' बहुत उपदेसे, सुनि सुनि गये न पार ॥

जो पै हरि की भक्ति न साजी ॥
जीवत हूँ ते मृतक भये अपराधी जननी लाजी ।
जोग जग्य तीरथ ब्रत जप तप सब स्वारथ की बाजी ॥
पीड़ित घर घर भटकत डोलत पंडित मुंडित काजी ।
पुत्र कलत्र सजन की देही गीध स्वान की खाजी ॥
बीत गये तीनों पन कपटी तऊ न तृष्णा भाजी ।
'ब्यास' निरास भयौ याही तैं कृष्णचरन रति राजी ॥

'ब्यास' बड़ाई लोक की, कूकर की पहिचानि ।
प्रीति करैं मुख चाटहीं, बैर करैं तनु हानि ॥

श्रीध्रुवदासजी

(गोस्वामी श्रीहितहरिवंशजीके स्वप्न-शिष्य । रचना-कालसे अनुमानतः इनका जन्म वि० सं० १६५० के आसपास हुआ होगा। देहावसान वि० सं० १७४० के समीप । स्थान—वृन्दावन)

जिन नहिं समुझ्यौ प्रेम यह, तिनसों कौन अलाप ।
दादुर हू जल में रहैं, जानैं मीन मिलाप ॥

खान पान सुख चाहत अपने ।
तिन को प्रेम ध्रुवत नहिं सपने ॥

जो या प्रेम हिंडोरे झूलै ।
ताको और सबै सुख भूलै ॥

प्रेम रसासव चाख्यौ जबहीं ।
और न रंग चढ़ै 'ध्रुव' तबहीं ॥

या रस में जब मन परै आई।
मीन नीर की गति ह्वै जाई॥
निसि दिन ताहि न कछू सुहाई।
प्रीतम के रस रहै समाई॥
जाको जासों है मन मान्यो।
सो है ताके हाथ बिकान्यो॥
अरु ताके अँग सँग की बातें।
प्यारी सब लागति तिहि नातें॥
रचै सोइ जो ताकों भावै।
ऐसी नेह की रीति कहावै॥

सोरठा

तृन सम जब ह्वै जाहि, प्रभुता सुख त्रैलोक के।
यह आवै मन माहि, उपजै रंचक प्रेम तब॥
भक्तन सों अभिमान, प्रभुता भए न कीजिए।
मन बच निहचै जान, इहि सम नहिं अपराध कछु॥
चल्यौ रहौ दिन-रैन, प्रेम-बारि धारा नयन।
जाग्रत अरु सुख सैन, चितै-चितै छिबि कुँवर-छबि॥

दोहा

निंदा भक्तनि की करै, सुनत जौन अघरासि।
वे तो एकै संग दोउ, बँधत भानुसुत पासि॥
दुरलभ मानुष जनम है, पैयत केहू भाँति।
सोई देखौ कौन बिधि, बादि भजन बिनु जाति॥
निसि बासर मग करतली, लिये काल कर बाहि।
कागद सम भइ आयु तन, छिन छिन कतरत ताहि॥
जिहि तन को सुर आदि सब, बाछत है दिन आहि।
सो पाये मतिहीन ह्वै, बृथा गँवावत ताहि॥
रे मन, प्रभुता काल की, करहु जतन ह्वै ज्यों न?
तूँ फिरि भजन कुठार सों, काटत ताही क्यों न॥
पुरुष सोइ जो पुरिष सम, छाँड़ि भजै संसार।
बिजन भजन दृढ़ गहि रहै, तजि कुटुम्ब परिवार॥

सुख में सुमिरे नाहिं जो, राधावल्लभ लाल।
तब कैसे सुख कहि सकत, चलत प्रान तिहिं काल॥
कैसेहूँ हरि-नाम लै, खेलत हँसत अजान।
ऐसेहू को देत हैं, उत्तम गति भगवान॥
जो कोउ साँची प्रीति सौं, हरि-हरि कहत लड़ाय।
तिन को ध्रुव कहा देहिंगे, यह जानी नहिं जाय॥
इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन की रीति।
मिलिये 'ध्रुव' निःसक ह्वै, कीजै तिन सौं प्रीति॥
रे मन! चंचल तजि सिसै, ढरो भजन की ओर।
छाँड़ि कुमति अब सुमति गहि, भजि लै नवलकिसोर॥
मन दै नीके समुझि कै, सुनिये तिन की बात।
जिन कें जुगल-बिहार की, बात चलै दिन-रात॥
जेहि सुख सम नहिं और सुख, सुख की गति कहै कौन।
वारि डारि 'ध्रुव' प्रेम पर, राज चतुर्दस भौन॥
बहु बीती, थोरी रही, सोई बीती जाइ।
'हितै ध्रुव' बेगि बिचारि कैं, बसि बृंदाबन आइ॥
बसि बृंदाबन आइ, लाज तजि कैं अभिमानहि।
प्रेम लीन ह्वै दीन, आप कौं तृन सम जानहि॥
सकल सार कौ सार, भजन तूँ करि रस रीती।
रे मन, सोच बिचार, रही थोरी, बहु बीती॥

हेम को सुमेर दान, रतन अनेक दान,
गजदान, अन्नदान, भूमिदान करहीं।
मोतिन के तुलादान, मकर प्रयाग न्हान,
ग्रहन में कासी दान, चित्त सुद्ध धरहीं॥
सेजदान, कन्यादान, कुरुक्षेत्र गऊदान,
इत मैं पापन को नेकहूँ न हरहीं।
कृष्ण केसरी को नाम एक बार लीन्हे 'ध्रुव'
पापी तिहुँ लोकन के छिनहि माहिं तरहीं॥

श्रीहठीजी

(अस्तित्वकाल विक्रमकी १९ वीं सदी, श्रीहितकुलके अनन्य अनुयायी और भक्तकवि)

कोऊ उमाराज, रमाराज, जमाराज कोऊ,
कोऊ रामचंद सुखकंद नाम नाधे मैं।
कोऊ ध्यावै गनपति, फनपति, सुरपति,
कोऊ देव ध्याय फल लेत पल आधे मैं॥
'हठी'को अधार निराधार की अधार तुही,
जप तप जोग जग्य कछुवै न साधे मैं।
कटै कोटि बाधे मुनि धरत समाधे ऐसे,
राधे पद रावरे सदा ही अवराधे मैं॥

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कौन? तौन, जौन 'राधे राधे' नाम रटै,
तट कीजै वर कूल कालिंदी कगर को॥
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
राखिए न आन फेर 'हठी' के झगर को।
गोपी पद पंकज पराग कीजै महाराज!
तृन कीजै रावरेई गोकुलनगर को॥

नवनीत गुलाब ते कोमल हैं, 'हठी' कंज की मंजुलता इन में।
गुललाला गुलाल प्रवाल जपा छवि, ऐसी न देखी ललाइन में॥
मुनि मानस मंदिर मध्य बसैं, बस होत हैं सूधे सुभाइन में।
रहु रे मन, तू नित चाइन सों, वृषभानुकुमारि के पाइन में॥

सुर-रखवारी सुरराज-रखवारी सुक-
सम्भु-रखवारी रवि-चंद-रखवारी है।
रिषि-रखवारी विधि-बेद-रखवारी, करी
जाने रानी कीरति की कीरति कुमारी है॥
दिग-रखवारी दिगपाल-रखवारी लोक-
थोक-रखवारी गावै धराधरधारी है।
ब्रज-रखवारी ब्रजराज-रखवारी 'हठी'
जन-रखवारी वृषभान की दुलारी है॥

दोहा

कीरति कीरति कुमरि की, कहि-कहि थके गनेस।
दसमतसुख बरनन करत, पार न पावत सेस॥
अज सिव सिद्ध सुरेस मुख जपत रहत वसु जाम।
बाधा जन की हरत है, राधा-राधा नाम॥
राधा-राधा जे कहैं, ते न परैं भव फंद।
जासु कंध पर कमल-कर, धरे रहत ब्रजचंद॥
राधा-राधा कहत हैं, जे नर आठौं जाम।
ते भव-सिंधु उलंघि कै, बसत सदा ब्रजधाम॥

राधावल्लभीय संत श्रीचतुर्भुजदासजी महाराज

भजनका महत्त्व

हरि चरननि भजि और न ध्यावै।
ताको जस हरि आपुन गावै॥
जौ लगि कनक कामिनी भावै।
तौ लगि कृष्ण उर माहिं न आवै॥
धरम सोई जो भरम गमावै।
साधन सो, हरि सों रति लावै॥
जो हरि भजहि तो होइ महासुख।
नातरु जम-बस है सत-गुन दुख॥

बर्ताव

कर्कश बचन हृदौ छ्वै न कहिजै।
बध समान सो पातक लहिजै॥
त्रिनु ते तन नीचौ अति कीजै।
होइ अमान मान तिहि दीजै॥
सहन सुभाव बृच्छ कौ-सौ करि।
रसना सदों कहत रहियै हरि॥
परत्रिय तौ माता करि जानै।
लोह समान कनक उनमानै॥
तृनहि आदि चोरी नहिं करिये।
आपु समान जीव सब धरिये॥

मंदिरमें भगवान‍्के सामने कैसे रहे?

सावधान हरि सदन सिधारै।
करै नहीं अपराध विचारै॥
पनही पहिर न सन्मुख जाई।
जल फल आदि न सन्मुख खाई॥
असुचि उछिष्ट न मन्दिर पैसे।
आसन बाँधि न सन्मुख बैसे॥
अरु सन्मुख नहि पाँव पसारै।
अनुग्रह करै न काहू मारै॥
होइ न आपु दान कौ मानी।
कहै न नृपति की असत कहानी॥
निन्दा अरु अस्तुति तें रहिये।
आन देव की बात न कहिये॥
अग्र न पीठि बाम दिसि भाई।
करै दण्डवत हरि पहँ जाई॥
यथाशक्ति उपहार सु दीजै।
हरि दर्शन तन पीठ न दीजै॥
सकल पुण्य हरि कौ जस गावै।
पाप सबै हरि कों बिसरावै॥

जीभसे नाम रटो

प्रगट बदन रसना सु प्रगट अरु प्रगट नाम रटि।
जीभ निसेनी मुक्ति तिहि बल आरोहि मूढ़ चढ़ि॥
ऊँच नीच पद चहत ताहि कामिक कर्म करिहै।
कबहुँ होइ सुरराज कबहुँ तिर्यक-तनु धरिहै॥
'चत्रभुज' मुरलीधर-भक्ति अनन्य बिनु है तुर्ग एकपरि पारि-परि।
विद्या-बल, कर्म-बल ना तरै भव सिंधु स्वान की पूँछ धरि॥

अखिल लोक के जीव हैं सु तिन को जीवन जल।
सकल सिद्धि अरु रिद्धि जानि जीवन सु भक्ति-फल॥
और धर्म अरु कर्म करत भव-भटक न मिटिहै।
जुगम-महाशृंखला सु हरि-भजनन कटिहै॥
'चत्रभुज' मुरलीधर-कृपा परै पार, हरि-भजन-बल।
छीपा, चमार, ताँती, तुरक, जगमगात जाने सकल॥

सकल तू बल-छल छाँड़ि मुग्ध रोवै मुरलीधर।
मिटहिं महा भव-द्वंद फंद कटि रटि राधावर॥
चरनलता अरु अभय सदा आरत-अघ-मोचन।
दीनबंधु सुखसिंधु सकल सुख दै दुख-मोचन॥
'चत्रभुज' कल्यान अनंत तुव हरि-रति गति सब साखि हुव।
प्रह्लाद बिभीषन गज सु द्विज पंचालि अहिल्या प्रगट ध्रुव॥

श्रीहीरासखीजी (वृन्दावन)

मन तजि वृंदावन सुख लीजे।
प्रफुलित ललित मोहनो बहु दिसि, लखि उर धीर धरीजे॥
राधावल्लभ नाम मधुर रस लै मुख, निसिदिन पीजे।
'हीरासखि' हित नित अवलोकत, नित अनूप रँग भीजे॥

राधावल्लभ कहत ही, होत हिये अनुराग।
निरखत छबि तिन नैननि की, बढ़त चौगुनी लाग॥
बढ़त चौगुनी लाग भाग सों यह सुख पावै।
जानि नाम निज सार यही निसिदिन गुन गावै॥
बिना भजन कछु नाहिं जतन किन करो अगाधा।
'हीरा' हित उर प्रीति प्रतीतित वल्लभ राधा॥
रसना ! जो रस-सुख चहै, निरस मानि जग ख्याल।
तौ अनुदिन भजि लाड़िली-लाल सदा प्रतिपाल॥

अचल यह स्याम-राधिका नाम।
रसिकन उर रट नामन ही की, रहत आठहू जाम॥
छके नवल आनंद-कंद-रस, बसि वृंदावन धाम।
'हीरासखि' हित नाम रैन दिन, और न दूजो काम॥*

भक्त श्रीसहचरिशरणदेवजी

(जन्म—संवत् १८२९-३०, टट्टी-स्थानाधिपति श्रीराधिकादासजीके शिष्य)

हरदम याद किया करि हरि की दरद निदान हरैगा।
मेरा कहा न खाली ऐ दिल ! आनँदकंद ढरैगा॥
ऐसा नहीं जहाँ बिच कोई लगर लोग लरैगा।
'सहचरिसरन' सेर दा बच्चा क्या गजराज करैगा॥

अब तकरार करौ मति यारो हमी ख्याल बिन चंगी।
जीवन प्रान जुगल जोरी के जगत जाहिरा अंगी॥
मतलब नहीं फिरिस्तों से हम इश्क दिलों दे संगी।
'सहचरिसरन' रसिक मुल्कों पर महरिबान रसरंगी॥

कुंजबिहारीलाल मजे जनि पीजिये।
भव भय भंजन भीर सुहाग दीजिये॥
चरन कमल की भौंह और नहिं ठौर है।
'सहचरिसरन' गरीब करो किन गौर है॥

स्याम कठोर न होहु हमारी बार को।
नेक दया उर ल्याय उदय करि प्यार को॥
'सहचरिसरन' अनाथ अकेलो जानि कै।
लियो चहत खल ख्वार बचाओ आनि कै॥

सरल सुभाव, सील सतोगी, दीन दया चित धारी।
काम क्रोध लोभादि दिल करि, मधुरी वृत्ति उदारी॥
ग्यान भक्ति बैराग विमलता, दमधा पर अनुसारी।
'सहचरिसरन' राखि उर सद्गुन, जिमि सुरसरि फुलवारी॥

धीरज धर्म विवेक छमादिक भजन यजन सुमारी।
लखि अवनि मन भेद संत जन [illegible] ॥
मीठे वचन बोल सुख माँचे, दे सुर अनँदकारी।
कीरति विमल विधूर्ति लिये, श्रीहरि गुन कृपा [illegible] ॥

* इनके 'अनुरागरस' ग्रन्थसे उद्धृत। [illegible] सं० १९६४।

श्रीगोविन्दशरणदेवजी

(निम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्य श्रीगोविन्ददेवजीके शिष्य)

सर्प पिवत नित पवन सोइ दुरबल वपु नाहीं ।
बन के गज तृन पात मस्त पीवर तन आहीं ॥
कंद मूल करि असन मुनी यों काल निवाहैं ।
जल थल जग में जीव सहज ही सुख अवगाहैं ॥
जो इहि मिलै बिरंचि पद, त्रिपति न पावै अधम मन ।
गोविंदसरन कहैं नरन कैं इक संतोष जु परमधन ॥

ज्यों सिंचत तरु मूल स्कंध साखा सरसाहीं ।
ज्यों प्रानन कौं असन दियैं इंद्री त्रिसाहीं ॥
सब देवन को मूल एक अच्युत कौं गायौ ।
ताकी सेवा किये सहज ही सुख सब पायौ ॥
यह प्रगट बचन भागवत में रिषिवर जु परीच्छित प्रति कह्यौ ।
सो सार भजन हरिदेव को गोविंदसरन निज जन गह्यौ ॥

मंगल-निधान भजि कृष्णचंद । जाके नाम अगनि जरैं पाप-वृंद ॥
द्रुम धर्म मूल करुना निकेतु । पवना पवित्र कर अभय हेतु ॥
विश्राम धाम जन जासु नाम । कविजन रसना अवलंबु स्याम ॥
जन परमहंस मुक्ता सुनाम । जग त्रिविध ताप विश्राम धाम ॥
है पाप विपिन कौं हरि कुठार । वासना वृंद कैरव तुषार ॥
भक्ति भूमि मृगपति उदार । मृग आन धर्म वर्जित विहार ॥
भवसिंधु पोत हरि नाम एक । समतूल नाहिं साधन अनेक ॥
विपिन चंद जुग गौर स्याम । सोभा निकेत जन पूर्ण काम ॥
'गोविंदसरन' जन जिवन मूल । भजि पद पंकज मिटै सकल सूल ॥

श्रीविहारिनिदेवजी (विहारीदासजी)

(निम्बार्क-सम्प्रदायान्तर्गत श्रीविट्ठलविपुलदेवजीके शिष्य, जाति—सूरध्वज ब्राह्मण, पिताका नाम मित्रसेन, स्थिति-काल—विक्रमी १७ वीं शती ।)

हैहै प्रीति हीं परतीति ।
गुनग्राही नित लाल विहारी, नहिं मानत कपट अनीति ॥
करिहैं कृपा कृतग्य जानि हित जिन कैं सहन समीति ।
'विहारीदास' गुन गाइ विमल जस नित नौतन रस रीति ॥

हरि भली करी प्रभुता न दई ।
होते पतित अजित इंद्री रत तब हम कछु सुमत्यौ न लई ॥
डहकायौ बहु जन्म गमायौ कर कुसंग सब बुधि बितई ।
मान अमान भ्रम्यौ भक्तन तन भूलि न कबहूँ दृष्टि गई ॥
पढ़ि पढ़ि परमारथ न विचार्यौ स्वारथ बक बक विष अँचई ।
लै लै उपज्यो सफल वासुता जो जिहि जैसी बीज बई ॥
अब सेवत साधुन को सतसँग सींचत फूलै मूल जई ।
'विहारीदास' यौं भजै दीन ह्वै दिन दिन बाढ़ै प्रीति नई ॥

परि गइ कौनहुँ भाँति टेव यह कैसैं कै निरवारौं ?
सुख संतोष होत जिय जबहीं आनँद बदन निहारौं ॥
मन अरु प्रकृति परी उन के अँग अंतर बैठि विचारौं ।
छुटि गइ लाज काज सुन चित हित निमिष न इत उत टारौं ॥
[illegible] सुमिवे कौं काहू की मी नाहिं सम्हारौं ।
[illegible] कहौ सुनौं न बटै रुचि बंधु पिता पचि हारौ ॥

जैसे कंचन पाय कृपन धन गनत रहै न बिसारौं ।
'विहारीदास' हरिदास चरन रज काज आपनौ सारौं ॥

हरि जस गावत सब सुधरे ।
नीच अधम अकुलीन विमुख खल कितने गुनौ बुरे ॥
नाऊ छीपा जाट जुलाहो सनमुख आइ जुरे ।
तिन तिन कौं सुख दियौ साँवरे नाहिन बिरद दुरे ॥
विवस असावधान सुत के हित है अच्छर उचरे ।
'विहारीदास' प्रभु अजामील से पतित पवित्र करे ॥

तातें भजन स्याम करि लीजै ।
विट कृमि भस्म सहज ताके गुन तबहिं कहा लै कीजै ॥
ऐसेहि घटत अंबु अंजलि लौं तैसैं यह तन छीजै ।
जीवौ अल्प विकल्प परे घट पुन ज्यों दारु चरीजै ॥
यहै उपाइ सुन्यौ संतन पै हरि सेवत सुख जीजै ।
श्रवन कीरतन भक्ति भागवत नौ परकार तरीजै ॥
विषय विकार विरत रहि मन क्रम बचन चरन चित दीजै ।
'विहारीदास' प्रभु सदा सजीवन चरन अँबुज रस पीजै ॥

जोरी अद्भुत आज बनी ।
वारौं कोटि काम सत छवि पर उज्ज्वल नील मनी ॥

उपमा देत सकुच सिर-उरमिन घन दामिनि रजनी ।
करत हाँस परिहाँस प्रेमजुत सरस विलास सनी ॥
कहा कहौं लावन्य रूप गुन सोभा सहज सनी ।
'बिहारिनीदास' दुलरावत श्रीहरिदास कृपा बरनी ॥

बसिबौ श्रीवृंदावन कौ नीकौ ।
छिन छिन प्रति अनुराग बढ़त दिन दरस बिहारी जू कौ ॥
नैन श्रवन रसना रस अँचवत अँग सँग प्यारी पिय कौ ।
'श्रीबिहारिनिदास' अंग सँग बिछुरत नाहिन प्रान रती कौ ॥

हरि पथ चलहु न साँझ सबेरौ ।
ब्याल सुकाल उदूक लागिहैं आलस होत अबेरौ ॥
कर्म फंद मनरथ सबन सौं जन्म जन्म कौ हेरौ ।
जानि बूझि अब होत कृतघन अबहीं किन करहु निबेरौ ॥
कहा करत ममता घटै सौं दिन दस छयौ बसेरौ ।
लैहैं ऐंचि बधिक बनसी लौं छुटि जैहै तन तेरौ ॥
कुदिन सुदिन जीवै तूँ है रहि हरिदासन कौ चेरौ ।
'बिहारीदास' बस तिन्हैं भरोसौ स्याम चरन रति केरौ ॥

हरि बिन कूकर सूकर ह्वैहौ ।
दाँत न पूँछ कुरार पाछले पायन मूड़ खुजैहौ ॥
साँझ भोर भटकत भाँड़याई तउ न अहार अघैहौ ।
जहँ तहँ बिपति बिटारे प्रगकारेहू लटि फटि सैहौ ॥
सीप मुए निगोड़े ह्वै खगसेहू लाज लजैहौ ।
लोक परलोक परमारथ बिन घर बाहिर बुरे कहैहौ ॥
कहा भयो मानुस को आकृत उनहूँ ते दुगुनहि खैहौ ।
'बिहारीदास' बिन भजे साँवरो सुख संतोष न पैहौ ॥

स्यामाजू के सरन जे सुख न सिराने ।
तिन कौ सुख सपनें न लिख्यौ जे फिरत बिबिध बौराने ॥

× × × ×

सींचत अंब आम की आसा फूल फलै न पिछाने ।
दरसत परसत ग्यात न जानत आँखि अछत अँधराने ॥
बहुरो उद्यम करत निलज ह्वै इंद्र भए न अघाने ।
ताहू भए अनभए निर्धन निपटि गएँ पछिताने ॥
जरत हरित गीली लकरी लौं तन मन मिलन धुँधाने ।
ते जानौ आतमहन पसु संसार सोक मैं साने ॥
थोरी आयु मनोरथ लाँबे बिना थाहु बल ताने ।
'बिहारीदास' बिन भए बौरिया बूड़े सबै अयाने ॥

याते मोहि कुंजबिहारी भाए ।
सब दिन करत सहाय सुने मैं सुक नारद मुनि गाए ॥
भूलि परौ अपनो घर तबहीं उझकत फिरयौ पराए ।
ए गुन सुमिरि लिये सुख दुख के पैंड़े सबै बताए ॥
जिन को प्यार तुमहिं तन चितवत ते न जात बौराए ।
'बिहारीदास' किये ते हित करि अपने संग बसाए ॥

सूरदास मदनमोहन (सूरध्वज)

(जातिके ब्राह्मण और श्रीचैतन्यसम्प्रदायके नैष्ठिक वैष्णव । रचना-काल—वि० सं० १५९० के लगभग)

मेरी गति तुमहीं अनेक तोष पाऊँ ॥
चरन कमल नख मनि पर बिषै सुख बहाऊँ ।
घर घर जो डोलौं तौ हरि तुम्हें लजाऊँ ॥
तुम्हरो कहाय कहौ कौन को कहाऊँ ।
तुम से प्रभु छाँड़ि कहा दीनन को ध्याऊँ ॥
सीस तुम्हें नाय कहौ कौन को नवाऊँ ।
कंचन उर हार छाँड़ि काँच क्यों बनाऊँ ॥
सोभा सब हानि करूँ जगत को हँसाऊँ ।
हाथी तें उतरि कहा गदहा चढ़ि धाऊँ ॥
कुमकुम लेप छाँड़ि काजर मुँह लाऊँ ।
कामधेनु घर में तजि अजा क्यों दुहाऊँ ॥
कनक महल छाँड़ि क्योंऽब परनकुटी छाऊँ ।
पाइन जो पेलौ प्रभु ! तौ न अनत जाऊँ ॥
'सूरदास मदनमोहन' जनम जनम गाऊँ ।
संतन की पनही को रच्छक कहाऊँ ॥

मधु के मतवारे स्याम, खोलौ प्यारे पलकैं ।
सीस मुकुट लटा छुटी और छुटी अलकैं ॥
सुर-नर-मुनि द्वार ठाढ़े दरस हेतु किलकैं ।
नासिका के मोती सोहैं बीच लाल ललकैं ॥
कटि पीताम्बर मुरली कर स्रवन कुँडल झलकैं ।
सूरदास मदनमोहन दरस दैहौ भलकैं ॥

सहसबाहु दसवदन आदि नृप बचे न काल बली तें

दो बातनको भूल मत, जो चाहै कल्यान।
नारायन एक मौत को, दूजे श्रीभगवान॥

बड़ा प्रतापी था राक्षसराज रावण। उसके दस मस्तक और बीस भुजाएँ थीं। जब वह चलता था, पृथ्वी काँपती थी उसके पैरोंकी धमकसे। उसकी सेनाके राक्षस देवताओंके लिये भी अजेय थे। उसका भाई कुम्भकर्ण—उस महाकायको देखकर सृष्टिकर्ता भी चिन्तित हो उठे थे। राक्षसराजका पुत्र मेघनाद—युद्धमें वज्रपाणि देवराज इन्द्रको उसने बंदी बना लिया था। स्वयं रावणकी शक्ति अपरिसीम थी। भगवान् शङ्करके महापर्वत कैलासको उसने अपने हाथोंपर उठा लिया था।

वायु उसके उपवनों एवं भवनोंकी स्वच्छता करते तथा उसे पंखा झला करते थे। अग्निदेव उसके आवासको आवश्यकता-जितना उष्ण बनाते और भोजनालयमें व्यञ्जन परिपक्व करते। वरुणदेवको उपवनोंको सींचने, गृहके जलपात्रोंको पूर्ण रखने तथा राक्षसराजको स्नान करानेकी सेवा करनी पड़ती थी। सभी लोकपाल करबद्ध उपस्थित रहते थे सेवामें। स्वयं मृत्युदेव रावणके कारागारमें बंदी हो गये थे।

मृत्युदेव किसीके द्वारा सदाके लिये बंदी नहीं हुए। इतना वैभव, इतना प्रताप, हुंकारमात्रसे स्वर्गतकको संतप्त करनेवाला तेज—लेकिन रावणको भी मरना पड़ा एक दिन।

सुरासुरजयी, त्रिभुवनको रुलानेवाला, परम प्रतापी रावण—रणभूमिमें उसके मस्तकोंको शृगाल भी ठुकरा सकते थे। लुढ़के पड़े थे वे दसों मस्तक, कटी पड़ी थीं बीसों भुजाएँ। मृत्युने रावणका सारा गर्व समाप्त कर दिया। रक्त मांससे पटी भूमिपर राक्षसराजका छिन्न-मस्तक कबन्ध अनाथकी भाँति पड़ा था।

× × ×

रावणसे भी बढ़कर प्रतापी था कार्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन। रावणको उसने खेल-खेलमें पकड़ लिया और खूँटेमें लाकर इस भाँति बाँध दिया, जैसे कोई कुत्तेको बाँध दे तथा उसके दसों सिरोंको दीवट बनाकर उसने दीपक जला दिये।

एक सहस्र भुजाएँ थीं। पाँच सौ धनुष एक साथ चढ़ाकर युद्ध कर सकता था। भगवान् दत्तात्रेयकी कृपा प्राप्त हो गयी थी। शारीरिक बल तो था ही, योगकी भी अनेक सिद्धियाँ मिल गयीं। कहीं तुलना नहीं थी सहस्रार्जुनके बलकी।

क्या काम आया वह बल। युद्धस्थलमें भगवान् परशुरामजीके परशुसे कटी भुजाएँ वृक्षकी टहनियोंके समान बिखरी पड़ी रह गयीं। सदा गर्वसे उन्नत रहनेवाला मस्तक धड़से पृथक् हो गया। सहस्रबाहु अर्जुनको भी मृत्युने पृथ्वीपर पछाड़ पटका।

× × ×

जिसके दस मस्तक और बीस भुजाएँ थीं, वह रावण अमर नहीं हुआ। जिसने रावणको भी बाँध लेनेवाला बल और हजार भुजाएँ पायीं, वह सहस्रबाहु अर्जुन अमर नहीं हुआ। उनको भी मरना पड़ा। एक सिर और दो हाथका अत्यन्त दुर्बल मनुष्य—अरे भाई! भूल मत कि तुझे भी मरना है। सबको मरना है—केवल यही जीवनका सत्य है। इसे भूल मत और भगवान्‌को स्मरण कर।

बलका अभिमान चूर्ण

सहसबाहु दसवदन आदि नृप बचे न काल बली ते

अधिकारका अन्त

आज तो प्रजातन्त्र शासन है भारतमें। आज किसी अधिकारका कोई अर्थ रह ही नहीं गया। आज जो प्रधान मन्त्री है यहाँका—अगले चुनावमें वह एक साधारण सदस्य भी न रहे किसी शासन-परिषदका, यह सहज सम्भव है।

सेवक तो सेवक ही है। किसी भी पदका क्या अर्थ है, यदि वह पद सेवकका पद है। वैतनिक सेवक—कितने भी उच्चपदपर वह हो, है तो सेवक ही। उसे पदच्युत होते, निष्कासित होते, दण्ड मिलते देर कितनी लगती है।

आज जिसे अधिकार कहा जाता है, जिसके लिये नाना प्रकारके छल छन्द और संघर्ष चलते हैं, प्रचारके नामपर जो असत्य, आत्मप्रशंसा, परनिन्दाका निर्लज्जतापूर्ण प्रदर्शन बड़ी धूमधामसे प्रायः प्रत्येक देशमें, देशके सबसे अधिक सम्मानित एवं बुद्धिमान् कहे जानेवाले पुरुषोंके द्वारा अपनाया जाता है··········।

मनुष्यका यह मोह—यह मिथ्या तृष्णा—यह पतन!

× × ×

अभी बहुत पुरानी बात नहीं हुई—देशमें राज्य थे। राज्योंके स्वतन्त्र शासक थे। परम्परागत प्राप्त था उन्हें शासनाधिकार। अपने राज्यमें वे सम्पूर्ण स्वतन्त्र थे। उनका वाक्य ही कानून था। उनकी इच्छा अप्रतिहत थी।

मैं नाममात्रके स्वतन्त्र राजाओंकी बात नहीं कर रहा हूँ। इतिहासके पृष्ठ पन्ने उलट डालिये। भारतमें—पृथ्वीके अनेक प्रदेशोंमें स्वतन्त्र राज्य थे। उन राज्योंके स्वतन्त्र राजा थे। उन राजाओंको अपने राज्योंमें पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

राजाओंका पूर्णाधिकार—अधिकारकी ही महानता मानी जाय तो किसीके लिये स्पृहणीय होगी यह स्थिति। अधिकारकी उस स्पृहाने ही अधिनायकवादको जन्म दिया। लेकिन अधिनायक भी—निरङ्कुशतम अधिनायक भी अपने यहाँ किसी नरेशके समान सर्वाधिकारप्राप्त नहीं बन सका। अपने दल, अपने समर्थक—पता नहीं कितने नियमोंकी विवशता उसे भी मानकर ही चलना पड़ता था।

× × ×

सर्वाधिकारसम्पन्न राजा। ऐश्वर्य एवं अधिकारके इस उन्मादका भी कोई अर्थ नहीं था। कभी नहीं था कभी नहीं रहेगा।

कोई राजा कभी निश्चिन्त नहीं रहा। कोई प्रबल शत्रु कभी भी चढ़ाई कर बैठता था और इतिहासमें ऐसी घटनाएँ थोड़ी नहीं हैं, जब युद्धमें पराजित नरेशको भागना पड़ा हो।

देश-कोष, सेना-सेवककी तो चर्चा क्या, पुत्र स्त्रीतकको उनके प्रारब्ध या शत्रुकी दयापर छोड़कर राजा प्राण बचानेके लिये भाग पड़ा जंगलकी ओर—जनशून्य गह्वरमें। उसके पास सवारीतक नहीं। जिसे शयनसे ही भवनमें जाते समय सेवक सादर मार्गनिर्देश करते थे, वह अकेला, अज्ञात वन प्रदेशमें भागा जा रहा है। उसे स्वयं पता नहीं कहाँ जा रहा है।

वैभव गया, अधिकार गया प्राण बच जायँ तो बहुत! पीनेके लिये जल और क्षुधा तृप्तिके लिये एक मुट्ठी चने भी उसे किसीकी कृपासे मिलेंगे।

जो कल राजा था—आज अनाश्रित है। एक साधारण मजदूर, एक पथका भिखारी उससे अच्छा है। उसके समान प्राण बचानेके लिये वन-वन भटकनेकी आवश्यकता न मजदूरको है, न भिक्षुकको।

× × ×

अधिकार—स्वयं मोह है मनुष्यका। आकांक्षाओंका एक ढेर लिये आता है अधिकार और उसका अन्त भी निश्चित है। बड़ा दारुण है उसका अन्त।

अधिकारका अन्त—वनमें पलायन

अधिकारका अन्त

आज तो प्रजातन्त्र शासन है भारतमें। आज किसी अधिकारका कोई अर्थ रह ही नहीं गया। आज जो प्रधान मन्त्री है वर्षोंसे—अगले चुनावमें वह एक साधारण सदस्य भी न रहे किसी शासन-परिषद्का, यह सहज सम्भव है।

सेवक तो सेवक ही है। किसी भी पदका क्या अर्थ है, यदि वह पद सेवकका पद है। वैतनिक सेवक—कितने भी उच्चपदपर वह हो, है तो सेवक ही। उसे पदच्युत होते, निष्कासित होते, दण्ड मिलते देर कितनी लगती है।

आज जिसे अधिकार कहा जाता है, जिसके लिये नाना प्रकारके छल छन्द और संघर्ष चलते हैं, प्रचारके नामपर जो असत्य, आत्मप्रशंसा, परनिन्दाका निर्लज्जतापूर्ण प्रदर्शन बड़ी धूमधामसे प्रायः प्रत्येक देशमें, देशके सबसे अधिक सम्मानित एवं बुद्धिमान् कहे जानेवाले पुरुषोंके द्वारा अपनाया जाता है..........।

मनुष्यका यह मोह—यह मिथ्या तृष्णा—यह पतन!

× × ×

अभी बहुत पुरानी बात नहीं हुई—देशमें राज्य थे। राज्योंके स्वतन्त्र शासक थे। परम्परागत प्राप्त था उन्हें शासनाधिकार। अपने राज्यमें वे सम्पूर्ण स्वतन्त्र थे। उनका वाक्य ही कानून था। उनकी इच्छा अप्रतिहत थी।

मैं नाममात्रके स्वतन्त्र राजाओंकी बात नहीं कह रहा हूँ। इतिहासके कुछ पन्ने उलट डालिये। भारतमें—पृथ्वीके अनेक प्रदेशोंमें स्वतन्त्र राज्य थे। उन राज्योंके स्वतन्त्र राजा थे। उन राजाओंको अपने राज्योंमें पूर्ण अधिकार प्राप्त था।

राजाओंका पूर्णाधिकार—अधिकारकी ही महानता मानी जाय तो किसीके लिये स्पृहणीय होगी यह स्थिति। अधिकारकी उस स्पृहाने ही अधिनायकवादको जन्म दिया। लेकिन अधिनायक भी—निरङ्कुशतम अधिनायक भी अपने यहाँ किसी नरेशके समान सर्वाधिकारप्राप्त नहीं बन सका। अपने दल, अपने समर्थक—पता नहीं कितने नियमोंकी विवशता उसे भी मानकर ही चलना पड़ता था।

× × ×

सर्वाधिकारसम्पन्न राजा। ऐश्वर्य एवं अधिकारके इस उन्मादका भी कोई अर्थ नहीं था। कभी नहीं था—कभी नहीं रहेगा।

कोई राजा कभी निश्चिन्त नहीं रहा। कोई प्रबल शत्रु कभी भी चढाई कर बैठता था और इतिहासमें ऐसी घटनाएँ थोड़ी नहीं हैं, जब युद्धमें पराजित नरेशको भागना पड़ा हो।

देश-कोष, सेना-सेवककी तो चर्चा क्या, पुत्र-कलत्रको उनके प्रारब्ध या शत्रुकी दयापर छोड़कर राजा प्राण बचानेके लिये भाग पड़ा जंगलकी ओर—जनशून्य राहसे। उसके पास सवारीतक नहीं। जिसे अपने ही भवनमें जाते समय सेवक सादर मार्गनिर्देश करते थे, वह अकेला, अज्ञात वन-प्रदेशमें भागा जा रहा है। उसे स्वयं पता नहीं—कहाँ जा रहा है।

वैभव गया, अधिकार गया—प्राण बच जायँ तो बहुत। पीनेके लिये जल और क्षुधा तृप्तिके लिये एक मुट्ठी चने भी उसे किसीकी कृपासे मिलेंगे।

जो कल राजा था—आज अनाश्रित है। एक साधारण मजदूर, एक पथका भिखारी उससे अच्छा है। उसके समान प्राण बचानेके लिये वन-वन भटकनेकी आवश्यकता न मजदूरको है, न भिक्षुकको।

× × ×

अधिकार—व्यर्थ मोह है मनुष्यका। आकाङ्क्षाओंका एक झुंड लिये आता है अधिकार और उसका अन्त भी निश्चित है। बड़ा दारुण है उसका अन्त।

श्रीललितमोहिनीदेवजी

(टट्टी-संस्थानके अष्टाचार्योंमें सबसे अन्तिम आचार्य, जन्मस्थान—ओड़छा, जन्म—वि० सं० १७८० आश्विन शुक्ला १०, मृत्युकाल—वि० सं० १८५८ फाल्गुन कृष्णा ९)

जय जय कुंजविहारिनि प्यारी ।
जय जय कुंजमहल सुखदायक जय जय लालन कुंजविहारी ॥
जय जय वृंदावन रससागर जय जय जमुना सिंधु-सुखारी ।
जय जय 'ललितमोहिनी' धनि-धनि सुखदायक सिरमौर हमारी ॥

कहा त्रिलोकी जस किये कहा त्रिलोकी दान ?
कहा त्रिलोकी बस किए करी न भक्ति निदान ॥
वृंदावन में परि रहौ देखि विहारी-रूप ।
तासु बराबर को करै सब भूपन कौ भूप ॥

नैन बिहारी रूप निरखि रसन बिहारी नाम ।
श्रवन बिहारी सुजस सुनि निसदिन आठों जाम ॥
साधु साधु सब एक है ठाकुर ठाकुर एक ।
संतन सौं जो हित करै सोई जान विवेक ॥
ना काहू सौं रूसनो ना काहू सौं रंग ।
ललितमोहिनीदासकी अद्भुत केलि अभंग ॥
निंदा करै सो धोबी कहिए, अस्तुति करै सो भाट ।
अस्तुति निंदा से अलग, सोई भक्त निराट ॥

श्रीप्रेमसखीजी

(वास्तविक नाम बख्शी हसराज, सखीभावके उपासक होनेके कारण इनके गुरु 'श्रीविजयसखी' नामक महात्माने इनका उपर्युक्त नाम रखा था । जन्म—विक्रम-संवत् १७९९, स्थान—पन्ना, जाति—श्रीवास्तव कायस्थ)

हो रसिया, मैं तो सरन तिहारी ॥
नहिं साधन बल वचन चातुरी,
एक भरोसो चरन गिरिधारी ।
करुइ तुँबरिया मैं तो नीच भूमि की,
गुनसागर पिय तुमहिं सँवारी ॥
मैं अति दीन बालक तुम सरनै,
नाथ न दी अनाथ बिसारी ।
निज जन जानि सँभारौगे प्रीतम,
प्रेमसखी नित जाउँ बलिहारी ॥

श्रीसरसदेवजी

(श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायान्तर्गत श्रीबिहारीदासजीके शिष्य, गौड़कुलोत्पन्न ब्राह्मण, पिताका नाम—श्रीकमलापति, भ्राताका नाम—श्रीनागरीदासजी, स्थिति-काल—विक्रमकी १७ वीं शती)

लालच लोभ कौ छोभ चल्यो मन चंचल चित्त भयो मति बौरे ।
देह के स्वारथ आरत है परमारथ प्रेम लह्यौ नहिं ठौरे ॥
सरस सनेह को रंग बिसार बिचार ले श्रीगुरु हैं सिरमौरे ।
बिहारी बिहारिनिदास बिना नेकहु सुख संग सुहाइ न औरे ॥

स्वारथ कौं परमारथ खोवत रोवत पेटन कौं दइमारे ।
भील कौं भेख अनेक बनावत जाचत सूद्र महा मतवारे ॥
भूख बड़ी भगत्यौ न सम्हारत आतुर है परदेस सिधारे ।
सरस अनन्य निहाल भए जिन कोटि बैकुंठ लता पर वारे ॥

कुटिल ! गारिन्ह होत मन न हतै देत
काहे अचेन भए जरत है मरम सौं ।

और न कोउ सुहाउ प्रभु के सरन आउ
औसर महा चुकाउ समस्त लै मन मौं ॥
काहे कौं मरत बहि श्रीवृंदावन बस रहि
सरस साहिब कहि लाडिली लालन सौं ।
तन धन सब गयौ काम क्रोध लोभ नयौ
चौंक परयौ तब जब काम परयौ जम सौं ॥

अब के जनम जान्यौ जनमो न हुतौ
केतेक जनम धरि धरि ऐसें ही जरायो है ।
यहै छोभ तू अधिक जियो चाहत मानो
अब के तू काल बेगिही दिखायो है ॥

ऐसे झूठे प्रपंच में ऐसी वस्तु हाथ न पावै
ताहि तू गमावै ऐसे कौनै भरमायो है ।
ऐसे सुखद समझि लेहि चित चित इत देहि
सरस सनेह स्याम संग सुख पायो है ॥
अबही बनी है बात औसर समझ घात
तउ न गिमात यार मीक समझायो है ।
आज काल जैहै मर काल व्याल हू ते डर
मौंढे। भजन कर कैसो संग पायो है ॥
नित चित इत देह सुखहि समझि
लेहु सरस गुरु ग्रन्थ पंथ यों बतायो है ।
नरन मरन भय हरन करन सुख
तरन संसार को तू मान सच नायो है ॥

श्रीनरहरिदेवजी

(जन्म—वि० स० १६४० बुन्देलखण्डके अन्तर्गत गूढ़ो ग्राममें, पिताका नाम श्रीविष्णुदासजी, माताका नाम उत्तमा, गुरुका नाम श्रीसरसदेवजी, स्थान—वृन्दावन, अन्तर्धान—वि० सं० १७४१, उम्र १०१ वर्ष।)

जाकौं मनमोहन दृष्टि परे।
सो तो भयो सावन को अंधौ सूझत रंग हरे ॥
जड़ नैनन्य कछु नहिं समझत जित देखै तित स्याम खरे।
विह्वल विकल सम्हार न तन की घूमत नैना रूप भरे ॥
करनि अकरनी दोऊ विधि भली विधि निषेध सब रहे धरे।
'नरहरिदास' जे भए बावरे ते प्रेम प्रवाह परे ॥

श्रीरसिकदेवजी

(निम्बार्क-सम्प्रदायान्तर्गत श्रीहरिदासजीकी परम्परामें प्रधान गद्दीके आचार्य एवं महान् भक्तकवि, श्रीनरहरिदेवजीके शिष्य, आविर्भाव वि० सं० १६९२, तिरोभाव १७५८।)

सोहत नैन-कमल रतनारे।
रूप भरे मटकत खंजन से, मनो बान अनियारे ॥
माथे मुकुट लटक ग्रीवा की, चित ते टरत न टारे।
अलियन जनु छकि रहे मदन पर, केस ते घुँघुरवारे ॥
छूटे बंद झीन तन बागो मुकर रूप तन कारे।
दरकि रही माला मोतिन की, छकित छैल मतवारे ॥
अंग-अंग की सोभा निरखत, हरपत प्रान हमारे।
'रसिक बिहारी'की छवि निरखत, कोटिक कविजन हारे ॥

स्याम हौं तुमरे गरे परौ।
जो बीती तुमही सौं बीती मन माने सो करौ ॥
करी अनीति कछू मित नाहीं नख शिर देखि भरौ।
मो तन चितै आप तन चितवो अपने बिरद ढरौ ॥
कीजै लाज सरन आये की जिनि जिय दोष धरौ।
अपनी जाँघ उघारैं नहिं सुख तुमहीं लाज मरौ ॥
बिनती करौं काहि हौं मिलि कै सब कोउ कहत बुरौ।
'रसिकदास'की आस करुनानिधि तुमहिं ढरौ मो ढरौ ॥

श्रीकिशोरीदासजी

(महान् भक्तकवि तथा एकान्तनिष्ठ भगवद्भक्त महात्मा। आपका जन्म पंजाब-प्रान्तान्तर्गत ब्राह्मणकुलमें हुआ था। आपके जिला, ग्राम, पिता-माता आदिका नाम नहीं मिलता। आप प्रायः वृन्दावनमें ही रहते थे और श्रीगोपालदासजीके शिष्य थे। आपका स्थितिकाल विक्रमकी २०वीं शती मालूम होता है।)

बानी

करो मन! हरि भक्तन को संग।
भक्तन बिन भगवत दुर्लभ अति जग यह प्रगट प्रसंग ॥
ध्रुव, प्रह्लाद, बिभीषन, कपिपति कामी मरकट अंग।
पूज्य भये जस पाय जगत में जीत्यौ रावन जंग ॥
गीध, व्याध, गनिका, अजगोरी, द्विज-वधु सुवन उपंग।
अजामील अघमारग-गामी लम्पट विषम अनंग ॥
जातुधान, चारन, विद्याधर बनरति रसिक अभंग।
सबरी केवट पूज्य भये जग राम उतारे गंग ॥
श्रीहरिदास बिना गति नाहीं तजो मान मद रंग।
किसोरीदास जाचत दीजै प्रभु, संतन संग सुरंग ॥

श्रीललितमोहिनीदेवजी

(टट्टी-सस्थानके अष्टाचार्योंमें सबसे अन्तिम आचार्य, जन्मस्थान—ओड़छा, जन्म—वि० सं० १७८० आश्विन शुक्ला १०, मृत्युकाल—वि० सं० १८५८ फाल्गुन कृष्णा ९)

जय जय कुंजबिहारिनि प्यारी ।
जय जय कुंजमहल सुखदायक जय जय लालन कुंजबिहारी ॥
जय जय बृंदावन रससागर जय जय जमुना सिंधु-सुखारी ।
जय जय 'ललितमोहिनी' धनि-धनि सुखदायक सिरमौर हमारी ॥

कहा त्रिलोकी जग किये कहा त्रिलोकी दान ?
कहा त्रिलोकी बस किए करी न भक्ति निदान ॥
बृंदावन में परि रह्यौ देखि बिहारी-रूप ।
तासु बराबर को करै सब भूपन कौ भूप ॥

नैन बिहारी रूप निरखि रसन बिहारी नाम ।
श्रवन बिहारी सुजस सुनि निसदिन आठौं जाम ॥
साधु साधु सब एक है ठाकुर ठाकुर एक ।
संतन सौं जो हित करै सोई जान विवेक ॥
ना काहू सौं रूसनो ना काहू सौं रंग ।
ललितमोहिनीदासकी अद्भुत केलि अभंग ॥
निंदा करै सो धोबी कहिए, अस्तुति करै सो भाट ।
अस्तुति निंदा से अलग, सोई भक्त निराट ॥

श्रीप्रेमसखीजी

(वास्तविक नाम बख्शी हंसराज, सखीभावके उपासक होनेके कारण इनके गुरु 'श्रीविजयसखी' नामक महात्माने इनका उपर्युक्त नाम रक्खा था । जन्म—विक्रम-संवत् १७९९, स्थान—पन्ना, जाति—श्रीवास्तव कायस्थ)

हो रसिया, मैं तो सरन तिहारी ॥
नहिं साधन बल बचन चातुरी ,
एक भरोसो चरन गिरिधारी ।
करहु कुँवरिया मैं तो नीच भूमि की ,
गुनसागर पिय तुमहिं सँवारी ॥
मैं अति दीन बालक तुम सरनै ,
नाथ न दी अनाथ बिसारी ।
निज जन जानि सँभारोगे प्रीतम ,
प्रेमसखी नित जाउँ बलिहारी ॥

श्रीसरसदेवजी

(श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायान्तर्गत श्रीबिहारीदासजीके शिष्य, गौड़कुलोत्पन्न ब्राह्मण, पिताका नाम—श्रीकमलापति, भाईका नाम—श्रीनागरीदासजी, स्थिति-काल—विक्रमकी १७ वीं शती)

लालच लोभ की छोभ चस्यौ मन चंचल चित्त भयो मति बौरे ।
देह के स्वारथ आरत है परमारथ प्रेम लह्यौ नहिं ठौरे ॥
सरस सनेह को रंग बिगार बिचार ते श्रीगुरु हैं सिरमौरे ।
बिहारी बिहारिनिदास बिना नेकहु सुख संग सुहाइ न औरे ॥

स्वारथ कौं परमारथ रोवत रोवत पेटन कौं दइमारे ।
भीख कौं भेस अनेक बनावत आचत सूद्र महा मतवारे ॥
भूख बढ़ी भगत्यौ न सम्हारत आतुर है परदेस सिधारे ।
सरस अनन्य निहाल भए जिन कोटि बैकुंठ स्वा पर वारे ॥

कुटिल ! कालिल होत मन न रवै देत
काहे अचेत भए जरत है मरम सौं ।
और न कोउ सुहाउ प्रभु के सरन आउ
औसर भलो चुकाउ समझ लै मन मैं ॥
काहे कौं मरत यहि श्रीबृंदावन बस रहि
सरस साहिब कहि लाड़िली ललन मैं ।
तन मन सब गयौ काम क्रोध लोभ नयौ
चौंक परयौ तब जब काम परयौ जम सौं ॥
अब के जनम जान्यौ जनमो न हुतौ
केतेक जनम धरि धीर देमैं ही भटक्यौ है ।
यहै जोग तू अधिक जियौ चाहत मानौ
अब के तू बन्ध बेगिही छिटक्यौ है ॥

ऐसे झूठे प्रपंच में ऐसी वस्तु हाथ न पावे
　　ताहि तू गमावे ऐसे कौनै भरमायो है।
ऐसे सुखद समझि लेहि चित चित हत देहि
　　सरस सनेह स्याम संग सुख पायो है॥
अबही बनी है बात औसर समझ घात
　　तउ न बिसात यार मौक समझायो है।
आज काल जैहै मर काल व्याल हू तें डर
　　मौंडे! भजन कर कैसो संग पायो है॥
नित चित हत देह सुखहि समझि
　　लेह सरस गुरु ग्रन्थ पंथ यों बतायो है।
नासन मरन भय हरन करन सुख
　　तरन संसार को तू मानस गत नायो है॥

श्रीनरहरिदेवजी

(जन्म—वि० सं० १६४० बुन्देलखण्डके अन्तर्गत गूढ़ो ग्राममें, पिताका नाम श्रीविष्णुदासजी, माताका नाम उत्तमा, गुरुका नाम श्रीपरमदेवजी, स्थान—वृन्दावन, अन्तर्धान—वि० सं० १७४१, उम्र १०१ वर्ष।)

जाकी मनमोहन दृष्टि परे।
सो तो भयो सावन को अंधो सूझत रंग हरे॥
जड़ चैतन्य कछू नहिं समझत जित देखे तित स्याम खरे।
विह्वल विकल सम्हार न तन की घूमत नैना रूप भरे॥
करनि अकरनी दोऊ विधि भूली विधि निषेध सब रहे धरे।
'नरहरिदास' जे भए बावरे ते प्रेम प्रवाह परे॥

श्रीरसिकदेवजी

(निम्बार्क-सम्प्रदायान्तर्गत श्रीहरिदासजीकी परम्परामें प्रधान गद्दीके आचार्य एवं महान् भक्तकवि, श्रीनागरीदासजीके शिष्य, आविर्भाव वि० सं० १६९२, तिरोभाव १७५८।)

मोहन नैन-कमल रतनारे।
रूप भरे मटकत खंजन से, मनो बान अनियारे॥
माथे मुकुट लटक ग्रीवा की, चित तें टरत न टारे।
अलिगन जनु छबि रहे बदन पर, केस ते घूँघुरवारे॥
छूटे बंद हीन तन बागो सुघर रूप तन धारे।
दर्पक रही माल मोतिन की, छकित छैल मतवारे॥
अंग-अंग की सोभा निरखत, हरषत प्रान हमारे।
'रसिक बिहारी'की छबि निरखत, कोटिक कविजन हारे॥

स्याम हौं तुमरे सरे परौ।
जो चीती तुमही सों चीती मन माने सो करौ॥
करी अनीति कछू चित नाहीं नाम छिमा देगि भरौ।
सो तन चितै आप तन चितवो अपने बिरद टरौ॥
बीजै लाज मरन आवे की [illegible] बिन दोष धरौ।
अपनी जाँघ उघारैं नहिं सुख तुमही लाज मरौ॥
बिनती करौं कहि हौं निसि के सब कोउ कहत बुरौ।
'रसिकदास'की अस करुनानिधि तुमहीं हरौ सो हरौ॥

श्रीकिशोरीदासजी

(महान् भक्तकवि तथा एकान्तनिष्ठ भगवद्भक्त महात्मा। आपका जन्म [illegible] हुआ था। आपके [illegible] आप प्रायः वृन्दावनमें ही रहते थे और [illegible] थे। आपकी [illegible] जिसमें ८०की बानी मालूम होती है।)

बानी

करो मन! हरि भजन को मन।
भजन बिन भगवत दुर्लभ अति [illegible]॥
[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

हरिपद होय या विधि लगन ।
रुच्छा करत सहज दुख नाना जाय मति की उगन ॥
भरत तन, मन, पाय पुनि-पुनि लखत पग रहि पगन ।
ताके बल मदमस्त डोलत जगत दीसत जग न ॥
होत दूर दरिद्र दुख सब बुझत तीनो अगन ।
किसोरीदास हरिब्यास मिले तब महल सुरत लह छगन ॥

कब मै या मारग पग धरिहौं ।
बेद, पुरान, संत जो गावत
करि बिस्वास अचल अनुसरिहौं ॥
साधन परम-धाम मिलिबे के
सन्मुख है का दिन आचरिहौं ।
द्वंद रहित बिग्यान ग्यान रति
मान-अनल कबहूँ नहिं जरिहौं ॥
कोटि भाँति अपमान करै जो
द्वेस न मान पायँ पुनि परिहौं ।
परिहरि बिष सम स्वाद जगत के
सतन सीथ उदर अमि भरिहौं ॥

अतिहि दुसह दुख होय कर्मबस
हरिपद-कमल निमिष नहिं टरिहौं ।
हरि बिमुखन को संग त्यागि कै
संत सजातिन में सुख चरिहौं ॥
जग उदास निज इष्ट आस बल
निर्भय हरिजस बिमल उचरिहौं ।
श्रीबृंदावन बास निरंतर
राधाकृष्ण रूप लखि अरिहौं ॥
सुनिये लाल कृपाल दयानिधि
यह निस्चय दृढ़ कबहुँ कि करिहौं ।
'किसोरीदास' हरिब्यास कृपाबल
महल टहल सेवा सुख भरिहौं ॥

मन श्रीराधाकृष्ण-धन ढूँढ़ौ ।
नहि तौ परिहौ भवसागर में मिलत न पंथ भेद अति ऊँड़ौ ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, ईरषा, जहाँ बासना सूड़ौ ।
यह अवसर दुर्लभ श्रुति साखी पायौ नर तन सब तन चूड़ौ ॥
बिन सत्संग न होत सुद्ध मन बनत न कारज पूड़ौ ।
भटक्यौ जन्म अनेक महाखल लह्यौ न तत्त्व रसनिधि जो गूढ़ौ ॥
'किसोरीदास' हरिब्यास चरन लग जुगल रतन पायौ भव डूढ़ौ ॥

आसामके संत श्रीशंकरदेव

(प्रेषक—श्रीधर्मीश्वरजी)

(जन्म-संवत्– ई० सन् १४४९, जाति—कायस्थ, जन्मस्थान—आसाम प्रान्त, पिताका नाम—कुसुम्बरा, देहावसान– ई० सन १५६९ में, आयु– १२० वर्ष ।)

नाहि नाहि रमया बिन ताप-तारक कोई ।
परमानँद पद-मकरँद सेवहु मन सोई ॥
तीर्थ बरत तप जप अरु याग योग युगुती ।
मंत्र परम धरम करम करत नाहि मुकुती ॥
मात पिता पति तनय जानय सब मरना ।
छारहु धन्ध मानस अन्ध धर तू हरि-चरना ॥
कृष्णकिङ्कर शंकर कह बिछुरि विषय कामा ।
रामचरन लेहु शरण जप गोविन्द नामा ॥

बोल्हु राम नाम से मुकुति निदान ।
भव वैतरणि तरणि सुख सरणी
नहि नहि नाम समान ॥

नाम पँचानन नादे पलावत
पाप दंति भयभीत ।
बुलिते एक सुनिते सत नित रे
नाम धरम विपरीत ॥
वचने बुलि राम धरम अरथ काम
मुकुति सुख सुखे पाइ ।
सब कहु परम सुहृद हरिनामा
छुटे अन्त केरि दाइ ॥
नारद शुकमुनि राम नाम विनि
नाहि कहल गति आर ।
कृष्णकिंकर कय छोड़ मायामय
राम परम तत्त्व सार ॥
[— बड़गीत]

आसामके संत श्रीमाधवदेवजी

(श्रीशङ्करदेवजीके शिष्य, इनके अनुयायी 'महापुरुषीय' कहलाते हैं ।)

(प्रेषक—श्रीधर्मीधरजी)

मोंथ सेव हो राम चरण दूआ ।
काहे करो हो हामो आवर पूजा ॥
घटे घटे राम व्यापक होई ।
आत्मा राम विना नाहि कोई ॥

चैतन्य छोड़ि काहे जड़ सेवा ।
राम विने नाहि आवर देवा ॥
कहय माधव सुन हे नरलोई ।
राम विने कति मुकुति ना होई ॥

पुष्टिमार्गीय श्रीमद्गोस्वामी श्रीलालजीदासजी (आठवें लालजी)

(पुष्टिमार्गीय वैष्णव-सम्प्रदायके आठवें लालजी, श्रीविट्ठलनाथजीके शिष्य)

(प्रेषक—श्रीव्रजलाल गोस्वामी)

जे कर्म गोविन्द बिन, सब बन्धन सगार ।
लालदास सुख पाइये, कीजिय करम विचार ॥
जे बचन विचार बिन, ते ते बचन विकार ।
लालदास सुख पाइये, बोलिय बचन विचार ॥
श्रीकृष्ण भजन में मनुज का, जो व्यतीत है काल ।
लालदास सुख निधि वही, और सकल जंजाल ॥
जे कारज नर करै, सत्ती अपनी जान ।
लालदास सुख नहिं लहै, करै वृथा सब काम ॥
उत्तम तेऊ धर्म है, जो सेवा भगवान ।
अधिक कहे क्या होवही, हरि रति लाल प्रधान ॥
पर सम्पति को देखि के, मत्सर हृदय न आन ।
लालदास तिस पर रहो, जो दीनो भगवान ॥
दीन रहे निसदिन सदा, करै न कभि अभिमान ।
लालदास तिस पुरुष का, होय सदा कल्याण ॥
वेद-शास्त्र सब सत्य है, यह राखो विश्वास ।
लालदास तिस पुरुष का, निश्चय हरिपद वास ॥
जान अल्प जग जीवना, ज्यों बादर की छाय ।
रे नर आलस छोड़ दे, ऊँचे टेर सुनाय ॥
पूरण त्रिभुवन विट्ठला, संशय हृदय न धार ।
गर्भ विषे प्रतिपालियो, देखो हृदय विचार ॥
तुम देखत तज जावहिं, केती भये विनाश ।
विकू जीवन ख्वल ठीक तुम, अजहूँ न उपज्यो त्रास ॥

श्रीसूरदासजी

(महान् भक्तकवि और प्रसिद्ध ग्रन्थ सूरसागरके रचयिता, जन्मसंवत्—१५४० वि० के लगभग, जन्मस्थान—रुनकता ग्राम (आगरा-मथुराकी सड़कपर)। कोई-कोई दिल्लीके समीपवर्ती सीही स्थानको भी इनका जन्म-स्थान कहते हैं । जाति ब्राह्मण, पिताका नाम रामदास, गुरु आचार्य, श्रीवल्लभाचार्यजी । वि० सं० १६२० के लगभग पारसौली ग्राममें सूरदासजीका शरीरान्त हुआ था ।)

विनय-प्रार्थना

चरन कमल बंदौं हरि राइ ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै,
अँधरे कौं सब कछु दरसाइ ॥
बहिरो सुनै, गूँग पुनि बोलै,
रंक चलै सिर छत्र धराइ ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बारबार बंदौं तिहिं पाइ ॥

बंदौं चरन सरोज तिहारे ।
सुंदर स्याम कमल दल लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान पियारे ॥
जे पद पदुम सदा सिव के धन, सिंधु सुता उर तें नहिं टारे ।
जे पद पदुम तात रिस त्रासत, मन बच क्रम प्रहलाद सँभारे ॥
जे पद पदुम परस जल पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे ।
जे पद पदुम परस रिषि पतिनी बलि, नृग, ब्याध, पतित बहु तारे ॥
जे पद पदुम रमत बृंदाबन अहि सिर धरि अगनित रिपु मारे ।
जे पद पदुम परसि ब्रज भामिनि सरबस दै, सुत सदन बिसारे ॥

जे पद पदुम रमत पांडव दल त भए, सब काज सँवारे।
सूरदास तेई पद पंकज त्रिविध ताप दुख हरन हमारे॥

तुम तजि और कौन पै जाउँ।
काकें द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाउँ॥
ऐसौ को दाता है समरथ, जाके दिऐं अघाउँ।
अंत काल तुम्हरैं सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं दाउँ॥
रक सुदामा कियौ अजाची, दियौ अभय पद ठाउँ।
कामधेनु, चिंतामनि, दीन्ही कल्पवृच्छ तर छाउँ॥
भव समुद्र अति देखि भयानक, मन मैं अधिक डराउँ।
कीजे कृपा सुमिरि अपनौ प्रन, सूरदास बलि जाउँ॥

स्याम बलराम कौं, सदा गाऊँ।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव कौं,
स्वप्नहू माहिं नहिं हृदय ल्याऊँ॥
यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम व्रत,
यहै मम प्रेम, फल यहै ध्याऊँ।
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै,
सूर प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ॥

जौं हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हैं हमारी लाज बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे॥
सब तजि तुम सरनागत आयौ, दृढ़ करि चरन गहे रे।
तुम प्रताप बल बदत न काहूँ, निडर भए घर चेरे॥
और देव सब रंक भिखारी, त्यागे, बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हरि कृपा तें, पाए सुख जु घनेरे॥

ऐसी कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ, मनोरथ दाता, हौ प्रभु दीनदयाल॥
चरननि चित्त निरंतर अनुरत, रसना चरित रसाल।
लोचन सजल, प्रेम पुलकित तन, गर अंचल, कर माल॥
इहिं बिधि लखत, झुकाइ रहै, जम अपनैं हीं भय भाल।
सूर सुजस रागी न डरत मन, सुनि जातना कराल॥

सबनि सनेही छाँड़ि दयौ।
हा जदुनाथ! जरा तन ग्रास्यौ, प्रतिभौ उतरि गयौ॥
सोइ तिथि बार नछत्र लगन ग्रह, सोइ जिहिं ठाट ठयौ।
तिन अंकनि कोउ फिरि नहिं बाँचत, गत स्वारथ समयौ॥
सोइ धन धाम, नाम सोई, कुल सोई जिहिं बिढ़यौ।
अब सबही कौ बदन स्वान लौं, चितवत दूरि भयौ॥
बरष दिवस करि होत पुरातन, फिरि फिर लिखत नयौ।
निज कृति दोष बिचारि सूर प्रभु, तुम्हरी सरन गयौ॥

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना कंठ बिषय की माल॥
महा मोहके नूपुर बाजत निंदा सब्द रसाल।
भ्रम मोयौ मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल॥
तृष्ना नाद करति घट भीतर नाना बिधि दै ताल।
माया कौ कटि फैंटा बाँध्यौ लोभ तिलक दियौ भाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अबिद्या दूरि करौ नँदलाल॥

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलौ नीर भरौ।
सब मिलि गए तब एक बरन है, गंगा नाम परौ॥
तन माया ज्यौं ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ।
कै इन कौ निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ॥

अब की टेक हमारी लाज राखौ गिरिधारी॥
जैसी लाज रखी पारथ की भारत जुद्ध मँझारी।
सारथि ह्वे के रथ कौं हाँक्यौ चक्र सुदरसन धारी॥
भक्त की टेक न टारी॥
जैसी लाज रखी द्रौपदि की होन न दीन्हि उघारी।
खैंचत खैंचत दोउ भुज थाके दुस्सासन पचि हारी॥
चीर बढ़ायौ मुरारी॥
सूरदास की लज्जा राखौ, अब को है रखवारौ।
राधे राधे श्रीवर प्यारी श्रीवृषभानदुलारौ॥
सरन तकि आयौ तुम्हारौ।

गोविंद गाढ़े दिन के मीत।
गज अरु ब्रज प्रहलाद, द्रौपदी, सुमिरत ही निहचीत॥
लाखागृह पांडवनि उबारे, साक पत्र मुख नाए।
अंबरीष हित साप निवारे, ब्याकुल चले पराए॥
नृप कन्या कौ व्रत प्रतिपार्‌यौ, कपट बेष इक धार्‌यौ।
तामैं प्रगट भए श्रीपति जू, अरि गन गर्ब प्रहार्‌यौ॥
कोटि छ्यानवै नृप सेना सब, जरासंध बँध छोरे।
ऐसे जन, परतिग्या राखत, जुद्ध प्रगट करि जोरे॥
गुरु बाधव हित मिले सुदामहिं, तंदुल पुनि पुनि जाँचत।
भगत बिरह कौं अतिहीं कादर, असुर गर्व बल नासत॥

संकट हरन चरन हरि प्रगटे, बेद बिदित जस गावै।
सूरदास ऐसे प्रभु तजि कै, घर घर देव मनावै॥

तातैं तुम्हारौ भरोसौ आवै।
दीनानाथ पतितपावन जस बेद उपनिषद गावै।
जौ तुम कहौ कौन खल तारयो, तौ हौं बोलौं साखी।
पुत्र हेत सुरलोक गयौ द्विज, सक्यौ न कोऊ राखी॥
गनिका किए कौन ब्रत संजम, सुक हित नाम पढावै।
मनसा करि सुमिरयौ गज बपुरै, ग्राह प्रथम गति पावै॥
बकी जु गई घोष मैं छल करि, जसुदा की गति दीनी।
और कहति श्रुति बृषभ ब्याध की ऐसी गति तुम कीनी॥
द्रुपद सुताहि दुष्ट दुरजोधन सभा माहि पकरावै।
ऐसो और कौन करुनामय, बसन प्रवाह बढ़ावै॥
दुखित जानि कै सुत कुबेर के, तिन्ह लगि आपु बँधावै।
ऐसौ को ठाकुर जन कारन दुख सहि भलौ मनावै॥
दुरवासा दुरजोधन पठयो पांडव अहित बिचारी।
साक पत्र लै सबै अघाए, न्हात भजे कुस डारी॥
देवराज मख भंग जानि कै बरष्यौ ब्रज पर आई।
सूर स्याम राखे सब निज कर, गिरि लै भए सहाई॥

कौन गति करिहौ मेरी नाथ!
हौं तो कुटिल कुचील कुदरसन, रहत बिषय के साथ॥
दिन बीतत माया कैं लालच, कुल कुटुंब कैं हेत।
सिगरी रैनि नींद भरि सोवत जैसैं पसू अचेत॥
कागद धरनि करै द्रुम लेखनि, जल सायर मसि घोरै।
लिखै गनेस जनम भरि मम कृत तऊ दोष नहिं ओरै॥
गज गनिका अरु बिप्र अजामिल, अगनित अधम उधारे।
यहै जानि अपराध करे मैं तिनहू सौं अति भारे॥
लिखि लिखि मम अपराध जनम के, चित्रगुप्त अकुलाए।
भृगु रिषि आदि सुनत चकित भए, जम सुनि सीस डुलाए॥
परम पुनीत पवित्र कृपानिधि, पावन नाम कहायो।
सूर पतित जब सुन्यौ बिरद यह, तब धीरज मन आयो॥

प्रभु! हौं बड़ी बेर को ठाढ़ो।
और पतित तुम जैसे तारे, तिनही मैं लिखि काढ़ो॥
जुग जुग बिरद यहै चलि आयो, टेरि कहत हौं यातैं।
मरियत लाज पाँच पतितनि मैं, हौंऽब कहौ घटि कातैं॥
कै प्रभु हारि मानि कै बैठौ, कै करौ बिरद सही।
सूर पतित जो झूठ कहत है, देखौ खोजि बही।

हमारी तुम कौं लाज हरी!
जानत हौ प्रभु अंतरजामी, जो मोहि माँझ परी॥
अपने औगुन कहँ लौं बरनौं, पल पल घरी घरी।
अति प्रपंच की मोट बाँधि कै अपनैं सीस धरी॥
खेवनहार न खेवट मेरैं, अब मो नाव अरी।
सूरदास प्रभु! तव चरननि की आस लागि उबरी॥

जो जग और बियो कोउ पाऊँ।
तौ हौं बिनती बार बार करि, कत प्रभु तुमहि सुनाऊँ॥
सिव बिरंचि सुर असुर नाग मुनि, सु तौ जाँचि जन आयौ।
भूल्यौ भ्रम्यौ तृषातुर मृग लौं काहूँ स्रम न गँवायौ॥
अपथ सकल चलि चाहि चहूँ दिसि, भ्रम उघटत मतिमंद।
थकित होत रथ चक्रहीन ज्यौं, निरखि कर्म गुन फंद॥
पौरुष रहित अजित इंद्रिनि बस, ज्यौं गज पंक परयौ।
बिषयासक्त नटी के कपि ज्यौं, जोइ जोइ कह्यौ करयौ॥
भव अगाध जल मग्न महा सठ, तजि पद कूल रह्यौ।
गिरा रहित बृक ग्रसित अजा लौं, अंतक आनि गह्यौ॥
अपने ही अँखियानि दोष तैं, रबिहि उलूक न मानत।
अतिसय सुकृत रहित अघ ब्याकुल, बृथा स्रमित रज छानत॥
सुनु त्रयताप हरन करुनामय, संतत दीनदयाल!
सूर कुटिल राखौ सरनाई, इहिं ब्याकुल कलिकाल॥

अब मेरी राखौ लाज मुरारी!
संकट मैं इक संकट उपजौ, कहै मिरग सौं नारी॥
और कछू हम जानति नाहीं, आई सरन तिहारी।
उलटि पवन जब बावर जरियौ, स्वान चल्यौ सिर झारी॥
नाचन कूदन मृगिनी लागी, चरन कमल पर वारी।
सूर स्याम प्रभु अबिगत लीला, आपुहि आपु सँवारी॥

नाम

कहत है, आगे जपिहैं राम।
बीचहिं भई और की औरै परयो काल सौं काम॥
गरभ बास दस मास अधोमुख, तहँ न भयो बिश्राम।
बालापन खेलतहीं खोयो, जोबन जोरत दाम॥
अब तौ जरा निपट नियरानी, करयौ न कछुवै काम।
सूरदास प्रभु कौं बिसरायो, बिना लिये हरि नाम॥

अद्भुत राम नाम के अंक।
धर्म अँकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति बधू ताटंक॥
मुनि मन हंस पच्छ जुग, जाकें बल उड़ि ऊरध जात।
जनम मरन काटन कौं कर्तरि तीछन बहु बिख्यात॥

अंधकार अग्यान हरन कौं, रवि ससि जुगल प्रकास।
बासर निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास॥
दुहूँ लोक सुखकरन, हरन दुख, बेद पुराननि साखि।
भक्ति ग्यान के पंथ सूर ये, प्रेम निरंतर भाखि॥

अब तुम नाम गहौ मन ! नागर।
जातैं काल अगिनि तैं बाँचौ, सदा रहौ सुखसागर॥
मारि न सकै, बिघन नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर।
क्रिया कर्म करतहु निसि बासर भक्ति कौ पंथ उजागर॥
सोचि बिचारि सकल श्रुति सम्मति, हरि तैं और न आगर।
सूरदास प्रभु इहिं औसर भजि उतरि चलौ भवसागर॥

बड़ी है राम नाम की ओट।
सरन गएँ प्रभु काढ़ि देत नहिं, करत कृपा कैं कोट॥
बैठत सबै सभा हरि जू की, कौन बड़ौ को छोट।
सूरदास पारस के परसैं, मिटति लोह की खोट॥

जौ तू राम नाम धन धरतौ।
अब कौ जन्म आगिलौ तेरौ, दोऊ जन्म सुधरतौ॥
जम कौ त्रास सबै मिटि जातौ, भक्त नाम तेरौ परतौ।
तंदुल धिरत समर्पि स्याम कौं, संत परोसौ करतौ॥
होतौ नफा साधु की संगति, मूल गाँठि नहिं टरतौ।
सूरदास बैकुंठ पैंट मैं, कोउ न फैंट पकरतौ॥

रे मन, कृष्णनाम कहि लीजै।
गुरु के बचन अटल करि मानहि, साधु समागम कीजै॥
पढ़िये गुनिये भगति भागवत, और कहा कथि कीजै।
कृष्णनाम बिनु जनमु बादिही, बिरथा काहैं जीजै॥
कृष्णनाम रस बह्यौ जात है, तृषावंत ह्वै पीजै।
सूरदास हरि सरन ताकिये, जनम सफल करि लीजै॥

प्रभु ! तेरो बचन भरोसो साँचो।
पोषन भरन बिसंभर साहब, जो कलपै सो काँचो॥
जब गजराज ग्राह सौं अटक्यौ, बली बहुत दुख पायौ।
नाम लेत ताही छिन हरि जू, गरुड़हिं छाँड़ि छुड़ायौ॥
दुस्सासन जब गही द्रौपदी, तब तिहिं बसन बढ़ायौ।
सूरदास प्रभु भक्तबछल हैं, चरन सरन हौं आयौ॥

भरोसो नाम कौ भारी।
प्रेम सौं जिन नाम लीन्हौ, भए अधिकारी॥
ग्राह जब गजराज घेर्यौ, बल गयौ हारी।
हारि कै जब टेरि दीन्हौ, पहुँचे गिरिधारी॥
सुदामा दारिद्र भंजे, कूबरी तारी।
द्रौपदी कौ चीर बाढ्यौ, दुस्सासन गारी॥
बिभीषन कौं लंक दीनी, रावनहिं मारी।
दास ध्रुव कौं अटल पद दियौ, राम दरबारी॥
सत्य भक्तहिं तारिबे कौं लीला बिस्तारी।
बेर मेरि क्यों ढील कीन्ही, सूर बलिहारी॥

भगवान् और भक्तिकी महिमा

सोइ भलौ जो रामहिं गावै।
स्वपचहु स्रेष्ठ होत पद सेवत, बिनु गोपाल द्विज जनम न भावै॥
बाद बिवाद, जग्य ब्रत साधन, कितहूँ जाइ, जनम डहकावै।
होइ अटल जगदीस भजन में, अनायास चारिहुँ फल पावै॥
कहूँ ठौर नहिं चरन कमल बिनु, भृंगी ज्यौं दसहूँ दिसि धावै।
सूरदास प्रभु संत समागम, आनँद अभय निसान बजावै॥

काहु के बैर कहा सरै।
ताकी सरबरि करै सो झूठौ, जाहि गुपाल बड़ो करै॥
ससि सन्मुख जो धूरि उड़ावै, उलटि ताहि कैं मुख परै।
चिरिया कहा समुद्र उलीचै, पवन कहा परबत टरै!
जाकी कृपा पतित ह्वै पावन, पग परसत पाहन तरै।
सूर केस नहिं टारि सकै कोउ, दाँत पीसि जौ जग मरै॥

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत, अति झूठो है सोइ॥
साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल, ये सब डारौ धोइ।
जो कछु लिखि राखी नँदनंदन, मेटि सकै नहिं कोइ॥
दुख सुख, लाभ अलाभ समुझि तुम, कतहिं मरत हौ रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम चरन मन पोइ॥

तातैं सेइयै श्री जदुराइ।
संपति बिपति बिपति तैं संपति, देह कौ यहै सुभाइ॥
तरुवर फूलै फरै पतझरै, अपने कालहिं पाइ।
सरवर नीर भरै भरि उमड़ै, सूखै, खेह उड़ाइ॥
द्वितिया चंद बढ़त ही बाढ़ै, घटत घटत घटि जाइ।
सूरदास संपदा आपदा, जिनि कोऊ पतिआइ॥

अब वे बिपदा हू न रहीं।
मनसा करि सुमिरत है जब जब, मिलते तब तबहीं॥
अपने दीन दास के हित लगि, फिरते सँग सँगहीं।
लेते राखि पलक गोलक ज्यौं, संतत तिन सबहीं॥

रन अरु बन, विग्रह, डर आगैं, आवत जहीं तहीं।
राखि लियौ तुमहीं जग जीवन, त्रासनि तैं सबहीं॥
कृपा सिंधु की कथा एक रस, क्यौं करि जाति कही।
कीजै कहा सूर सुख संपति, जहँ जदुनाथ नहीं॥

भक्ति बिनु बैल बिराने ह्वैहौ।
पाउँ चारि, सिर सृंग, गुंग मुख, तब कैसे गुन गैहौ॥
चारि पहर दिन चरत फिरत बन, तऊ न पेट अघैहौ।
टूटे कंध रु फूटी नाकनि, कौ लौं धौं भुस खैहौ॥
लादत जोतत लकुट बाजिहै, तब कहँ मूँड़ दुरैहौ।
सीत, घाम, घन, बिपति बहुत बिधि भार तरैं मरि जैहौ॥
हरि संतनि कौ कह्यौ न मानत, कियौ आपुनौ पैहौ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, मिथ्या जनम गँवैहौ॥

जो सुख होत गुपालहिं गाएँ।
सो सुख होत न जप तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हाएँ॥
दिएँ लेत नहिं चारि पदारथ, चरन कमल चित लाएँ।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नंदनंदन उर आएँ॥
बंसीबट, बृंदावन, जमुना, तजि बैकुंठ न जावै।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव जल आवै॥

ज्यौं मोह मैल अति छूटै, सुजस गीत के गाएँ।
सूर मिटै अग्यान मूरछा, ग्यान सुभेषज खाएँ॥

सुने री मैंने निरबल के बल राम।
पिछली साख भरूँ संतन की,
अड़े सँवारे काम॥
जब लगि गज बल अपनो बरत्यो,
नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्‌यो,
आये आधे नाम॥
द्रुपद सुता निरबल भइ ता दिन,
तजि आये निज धाम।
दुस्सासन की भुजा थकित भइ,
बसनरूप भये स्याम॥
अप बल तप बल और बाहु बल,
चौथो है बल दाम।
सूर किसोर कृपा तें सब बल,
हारे को हरिनाम॥

[illegible]

सिव बिरंचि मारन कौं धाए,
यह गति काहू देव न पाई॥
बिनु बदलैं उपकार करत हैं,
स्वारथ बिना करत मित्राई।
रावन अरि कौ अनुज बिभीषन,
ताकौं मिले भरत की नाई॥
बकी कपट करि मारन आई,
सो हरि जू बैकुंठ पठाई।
बिनु दीन्हैं ही देत सूर प्रभु,
ऐसे हैं जदुनाथ गुसाईं॥

प्रभु कौ देखौ एक सुभाइ।
अति गंभीर उदार उदधि हरि, जान सिरोमनि राइ॥
तिनका सौं अपने जन कौ गुन मानत मेरु समान।
सकुचि गनत अपराध समुद्रहिं बूँद तुल्य भगवान॥
बदन प्रसन्न कमल सनमुख ह्वै देखत हौं हरि जैसें।
बिमुख भएँ अकृपा न निमिषहूँ, फिरि चितयौं तौ तैसें॥
भक्त बिरह कातर करुनामय, डोलत पाछैं लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहिं पीठि सो अभागे॥

हरि सौ ठाकुर और न जन कौं।
जिहिं जिहिं बिधि सेवक सुख पावै,
तिहिं बिधि राखत मन कौं॥
भूख भएँ भोजन जु उदर कौं,
तृषा तोय, पट तन कौं।
लग्यौ फिरत सुरभी ज्यौं सुत सँग,
औचट गुनि गृह बन कौं॥
परम उदार चतुर चिंतामनि,
कोटि कुबेर निधन कौं।
राखत है जन की परतिग्या,
हाथ पसारत कन कौं॥
संकट परैं तुरत उठि धावत,
परम सुभट निज पन कौं।
कोटिक करै एक नहिं मानै
सूर महा कृतघन कौं॥

हरि सौ मीत न देख्यौ कोई।
बिपतिकाल सुमिरत तिहिं औसर आनि तिरीछौ होई॥
ग्राह गहे गजपति मुकरायौ, हाथ चक्र लै धायौ।
तजि बैकुंठ गरुड़ तजि श्री तजि, निकट दास कैं आयौ॥
दुर्वासा को साप निवारयौ, अंबरीष पति राखी।
ब्रह्मलोक परजंत फिरयौ तहँ देव मुनी जन साखी॥
लाखागृह तैं जरत पांडु सुत बुधि बल नाथ उबारे।
सूरदास प्रभु अपने जन के नाना त्रास निवारे॥

राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होइ कै रानौं॥
सिव ब्रह्मादिक कौन जाति प्रभु, हौं अजान नहिं जानौं।
हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाहीं, सो हमता क्यौं मानौं!
प्रगट खंभ तैं दए दिखाई, जद्यपि कुल कौ दानौ।
रघुकुल राघव कृष्न सदा ही गोकुल कीन्हौं थानौ॥
बरनि न जाइ भक्त की महिमा, बारंबार बखानौं।
ध्रुव रजपूत, बिदुर दासी सुत, कौन कौन अरगानौ॥
जुग जुग बिरद यहै चलि आयौ, भक्तनि हाथ बिकानौ।
राजसूय मैं चरन पखारे स्याम लिए कर पानौ॥
रसना एक अनेक स्याम गुन, कहँ लगि करौं बखानौ!
सूरदास प्रभु की महिमा अति, साखी बेद पुरानौ॥

गोबिंद प्रीति सबनि की मानत।
जिहिं जिहिं भाइ करत जन सेवा, अंतर की गति जानत॥
सबरी कटुक बेर तजि मीठे चाखि गोद भरि ल्याई।
जूठनि की कछु संक न मानी, भच्छ किये सत भाई॥
संतत भक्त मीत हितकारी स्याम बिदुर कैं आए।
प्रेम बिकल अति आनँद उर धरि, कदली छिकुला खाए॥
कौरव काज चले रिषि सापन साक पत्र सु अघाए।
सूरदास करुना निधान प्रभु, जुग जुग भक्त बढ़ाए॥

सरन गएँ को को न उबारयौ।
जब जब भीर परी संतनि कौं, चक्र सुदरसन तहाँ सँभारयौ॥
भयौ प्रसाद जु अंबरीष कौं, दुरबासा कौ क्रोध निवारयौ।
ग्वालनि हेत धरयौ गोवर्धन, प्रकट इंद्र कौ गर्व प्रहारयौ॥
कृपा करी प्रह्लाद भक्त पर, खंभ फारि हिरनाकुस मारयौ।
नरहरि रूप धरयौ करुनाकर, छिनक माहिं उर नखनि बिदारयौ॥
ग्राह ग्रसत गज कौं जल बूड़त, नाम लेत वाकौ दुख टारयौ।
सूर स्याम बिनु और करै को, रंगभूमि मैं कंस पछारयौ॥

जन की और कौन पति राखै!
जाति पाँति कुल कानि न मानत, बेद पुराननि साखै॥
जिहिं कुल राज द्वारिका कीन्हौं, सो कुल साप तैं नास्यौ।
सोइ मुनि अंबरीष कैं कारन तीनि भुवन भ्रमि त्रास्यौ॥

जाकौ चरनोदक सिव सिर धरि, तीनि लोक हितकारी।
सोइ प्रभु पांडुसुतनि के कारन निज कर चरन पखारी॥
बारह बरस बसुदेव देवकिहिं कंस महा दुख दीन्हौ।
तिन प्रभु प्रह्लादहिं सुमिरत हीं नरहरि रूप जु कीन्हौ॥
जग जानत जदुनाथ जिते जन निज भुज स्रम सुख पायौ!
ऐसो को जु न सरन गहे तैं कहत सूर उतरायौ॥

जब जब दीननि कठिन परी।
जानत हौं, करुनामय जन कौं तब तब सुगम करी॥
सभा मँझार दुष्ट दुस्सासन द्रौपदि आनि धरी।
सुमिरत पट कौ कोट बढ्यौ तब, दुख सागर उबरी॥
ब्रह्म बाण तैं गर्भ उबार्‌यौ, टेरत जरी जरी।
बिपति काल पाडव-बधु बन मैं राखी स्याम ढरी॥
करि भोजन अवसेस जग्य कौ त्रिभुवन भूख हरी।
पाइ पियादे धाइ ग्राह सौं लीन्हौ राखि करी॥
तब तब रच्छा करी भगत पर जब जब बिपति परी।
महा मोह मैं पर्‌यौ सूर प्रभु, काहैं सुधि बिसरी॥

जैसैं तुम गज कौ पाउँ छुड़ायौ।
अपने जन कौं दुखित जानि कै पाउँ पियादे धायौ॥
जहँ जहँ गाढ़ परी भक्तनि कौं, तहँ तहँ आपु जनायौ।
भक्ति हेत प्रह्लाद उबार्‌यौ, द्रौपदि चीर बढ़ायौ॥
प्रीति जानि हरि गए बिदुर कैं, नामदेव घर छायौ।
सूरदास द्विज दीन सुदामा, तिहिं दारिद्र नसायौ॥

नाथ अनाथनि ही के संगी।
दीनदयाल परम करुनामय, जन हित हरि बहु रंगी॥
पारथ तिय कुरुराज सभा मैं बोलि करन चहै नंगी।
स्रवन सुनत करुना सरिता भए, बाढ्यौ बसन उमंगी॥
कहा बिदुर की जाति बरन है, आइ साग लियौ मंगी।
कहा कूबरी सील रूप गुन, बस भए स्याम त्रिभंगी॥
ग्राह गह्यौ गज बल बिनु ब्याकुल, बिकल गात, गति लंगी।
धाइ चक्र लै ताहि उबार्‌यौ, मार्‌यौ ग्राह बिहंगी॥
कहा कहौं हरि केतिक तारे, पावन-पद परसंगी।
सूरदास यह बिरद स्रवन सुनि, गरजत अधम अनंगी॥

स्याम भजन बिनु कौन बड़ाई!
बल बिद्या धन धाम रूप गुन और सकल मिथ्या सौंजाई॥
अंबरीष प्रह्लाद भूप बलि, महा ऊँच पदवी तिन पाई।
गहि सारँग रन रावन जीत्यौ, लंक बिभीषन फिरी दुहाई॥

मानी हार बिमुख दुरजोधन, जाके जोधा हे सौ भाई।
पांडव पाँच भजे प्रभु चरननि, रनहिं जिताए हैं जदुराई॥
राज रवनि सुमिरे पति कारन असुर बंदि तैं दिए छुड़ाई।
अति आनंद सूर तिहिं औसर, कीरति निगम कोटि मुख गाई॥

ऐसे कान्ह भक्त हितकारी।
जहँ जहँ जिहिं काल सम्हारे, तहँ तहँ त्रास निवारी॥
धर्मपुत्र जब जग्य उपायौ, द्विज मुख ह्वै पन लीन्हौ।
अस्व निमित उत्तर दिसि कौं पथ गमन, धनंजय कीन्हौ॥
अहिपति सुता सुवन सन्मुख ह्वै बचन कह्यौ इक हीनौ।
पारथ बिमल बभ्रुबाहन कौ सीस खिलौना दीनौ॥
इतनी सुनत कुंति उठि धाई, बरसत लोचन नीर।
पुत्र कबंध अंक भरि लीन्हौ, धरति न इक छिन धीर॥
लै लै सीस हृदय लावति, चूंबति भुजा गँभीर।
त्यागति प्रान निरखि सायक धनु, गति मति बिकल सरीर॥
ठाढ़े भीम नकुल सहदेवरु नृप सब कृष्ण समेत।
पौढ़े कहा समर सेज्या सुत, उठि किन उत्तर देत!
थकित भए कछु मन न फुरई, कीने मोह अचेत।
या रथ बैठि बंधु की सर्जहि पुरवै को कुरुखेत!
काकौ बदन निहारि द्रौपदी दीन दुखी मर्मरिहै!
काकी ध्वजा बैठि कपि किलकिहि, किहिं भय दुरजन डरिहै!
काके हित श्रीपति ह्याँ ऐहैं, मनहु इच्छा करिहै!
को कौरव-दल-सिंधु मथन करि या दुख पार उतरिहै!
चिंता मानि चितै अनतगति, नाग लोक कौं धाए।
पारथ सीस सौंपि अकुलाने, तब जदुनंदन ल्याए॥
अमृत गिरा बहु बरषि सूर प्रभु, भुज गहि पार्थ उठाए।
अस्व समेत बभ्रुवाहन लै, सुफल जग्य हित आए॥

जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन बड़ौ सुंदर सोई, जिहिं पर कृपा करै॥
कौन बिभीषन रंक निसाचर, हरि हँसि छत्र धरै।
राजा कौन बड़ौ रावन तैं, गर्बहि गर्ब गरै॥
रंकव कौन सुदामाहू तैं, आप समान करै।
अधम कौन है अजामील तैं, जम तहँ जात डरै॥
कौन बिरक्त अधिक नारद तैं, निसि दिन भ्रमत फिरै।
जोगी कौन बड़ौ संकर तैं, ताकौ काम छरै॥
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तैं, हरि पति पाइ तरै।
अधिक सुरूप कौन सीता तैं, जनम बियोग भरै॥
यह गति मति जानै नहिं कोऊ, किहिं रस रसिक ढरै।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, फिरि फिरि जठर जरै॥

जाकौं दीनानाथ निवाजैं।
भव सागर मैं कबहुँ न झुकै, अभय निसाने बाजैं॥
विप्र सुदामा कौं निधि दीन्हीं, अर्जुन रन मैं गाजैं।
लंका राज बिभीषन राजैं, ध्रुव आकास बिराजैं॥
मारि कंस केसी मथुरा मैं, मेट्यौ सबै दुराजैं।
उग्रसेन सिर छत्र धर्‌यौ है, दानव दस दिसि भाजैं॥
अंबर गहत द्रौपदी राखी, पलटि अंध सुत लाजैं।
सूरदास प्रभु महा भक्ति तैं, जाति अजातिहिं साजैं॥

जाकौं मनमोहन अंग करै।
ताकौ केस खसै नहिं सिर तैं, जौ जग बैर परै॥
हिरनकसिपु परहार थक्यौ, प्रह्लाद न नैंकु डरै।
अजहूँ लगि उत्तानपाद सुत, अबिचल राज करै॥
राखी लाज द्रुपदतनया की, कुरुपति चीर हरै।
दुरजोधन कौ मान भंग करि बसन प्रवाह भरै॥
जौ सुरपति कोप्यौ ब्रज ऊपर क्रोध न कछू सरै।
ब्रज जन राखि नंद कौ लाला, गिरिधर बिरद धरै॥
जाकौ बिरद है गर्ब प्रहारी, सो कैसै बिसरै।
सूरदास भगवंत भजन करि, सरन गऐं उबरै॥

जाकौं हरि अंगीकार कियौ।
ताके कोटि बिघन हरि हरि कै, अभै प्रताप दियौ॥
दुरबासा अँबरीष सतायौ, सो हरि सरन गयौ।
परतिग्या राखी मन मोहन फिरि तापैं पठयौ॥
बहुत सासना दई प्रह्लादहिं, ताहि निसंक कियौ।
निकसि खंभ तैं नाथ निरंतर, निज जन राखि लियौ॥
मृतक भए सब सखा जिवाए, बिष जल जाइ पियौ।
सूरदास प्रभु भक्तबछल हैं, उपमा कौं न बियौ॥

हम भक्तनि के भक्त हमारे।
सुनि अर्जुन! परतिग्या मेरी, यह ब्रत टरत न टारे॥
भक्तनि काज लाज हिय धरि कै, पाइ पियादे धाऊँ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तनि कौं, तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ॥
जो भक्तनि सौं बैर करत है, सो बैरी निज मेरौ।
देखि बिचारि भक्त हित कारन, हाँकत हौं रथ तेरौ॥
जीतैं जीतौं भक्त अपने कैं, हारैं हारि बिचारौं।
सूरदास सुनि भक्त बिरोधी, चक्र सुदरसन जारौं॥

दैन्य

जनम सिरानौ अटकैं अटकैं।
राज काज, सुत बित की डोरी, बिनु बिबेक फिर्‌यौ भटकैं॥

कठिन जो गाँठि परी माया की, तोरी जाति न झटकै।
ना हरि भक्ति, न साधु समागम, रह्यौ बीचहीं लटकै॥
ज्यौं बहु कला काछि दिखरावै, लोभ न छूटत नट कैं।
सूरदास सोभा क्यों पावै, पिय बिहीन धनि मटकै॥

बिरथा जन्म लियौ संसार।
करी कबहुँ न भक्ति हरि की, मारी जननी भार॥
जग्य, जप, तप नाहिं कीन्हौ, अल्प मति बिस्तार।
प्रगट प्रभु नहिं दूरि हैं, तू देखि नैन पसार॥
प्रबल माया ठग्यौ सब जग, जनम जूआ हार।
सूर हरि कौ सुजस गावौ, जाहिं मिटि भव भार॥

काया हरि कैं काम न आई।
भाव भक्ति जहँ हरि जस सुनियत, तहाँ जात अलसाई॥
लोभातुर ह्वै काम मनोरथ, तहाँ सुनत उठि धाई।
चरन कमल सुंदर जहँ हरि के, क्यौंहुँ न जात नवाई॥
जब लगि स्याम अंग नहिं परसत, अंधे ज्यौं भरमाई।
सूरदास भगवंत भजन तजि, बिषय परम बिष खाई॥

सबै दिन गए बिषय के हेत।
तीनौं पन ऐसैं हीं खोए, केस भए सिर सेत॥
आँखिनि अंध, स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा जल तजि पियत कूप जल, हरि तजि पूजत प्रेत॥
मन बच क्रम जो भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत।
ऐसो प्रभू छाँड़ि क्यौं भटकै, अजहूँ चेति अचेत॥
राम नाम बिनु क्यौं छूटौगे, चंद गहैं ज्यौं केत।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत॥

अब हौं माया हाथ बिकानौ।
परबस भयौ पसू ज्यौं रजु बस, भज्यौ न श्रीपति रानौ॥
हिंसा मद ममता रस भूल्यौ, आसाहीं लपटानौ।
याही करत अधीन भयौ हौं, निद्रा अति न अघानौ॥
अपने ही अज्ञान तिमिर मैं, बिसर्‌यौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँखि है, ताहू मैं कछु कानौ॥

कितै दिन हरि सुमिरन बिनु खोए।
परनिंदा रसना के रस करि, केतिक जनम बिगोए॥
तेल लगाइ कियौ रुचि मर्दन, बस्तर मलि मलि धोए।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै, बिषयिनि के मुख जोए॥
काल बली तैं सब जग काँप्यौ, ब्रह्मादिक हू रोए।
सूर अधम की कहौ कौन गति, उदर भरे परि सोए॥

जनम तौ ऐसेहिं बीति गयौ।
जैसैं रंक पदारथ पाएँ, लोभ बिसाहि लयौ॥
बहुतक जन्म पुरीष परायन, सूकर-स्वान भयौ।
अब मेरी मेरी करि बौरे, बहुरौ बीज बयौ॥
नर कौ नाम पारगामी हौ, सो तोहिं स्याम दयौ।
तैं जड़ नारिकेल कपि कर ज्यौं, पायौ नाहिं पयौ॥
रजनी गत बासर मृग तृष्ना रस हरि कौ न चयौ।
सूर नंदनंदन जेहिं बिसरयौ, आपुहिं आपु हयौ॥

बिनती करत मरत हौं लाज।
नख सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज॥
और पतित आवत न आँखि तर देखत अपनौ साज।
तीनौं पन भरि ओर निबाह्यौ तऊ न आयौ बाज॥
पाछैं भयौ न आगैं ह्वैहै, सब पतितनि सिरताज।
नरकौ भज्यौ नाम सुनि मेरौ, पीठि दई जमराज॥
अब लौं नान्हे-नून्हे तारे, ते सब बृथा अकाज।
साँचे बिरद सूर के तारत, लोकनि लोक अवाज॥

प्रभु! हौं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब दिवस चारि के, हौं तौ जनमत ही कौ॥
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोहि छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौं जी कौ॥
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितन में, मोहू तैं को नीकौ॥

हौं तौ पतित सिरोमनि माधौ!
अजामील बातनि हीं तारयो, हुतौ जु मोतैं आधौ॥
कै प्रभु हार मानि कै बैठौ, कै अबहीं निस्तारौ।
सूर पतित कौं और ठौर नहिं, है हरि नाम सहारौ॥

माधौ जू! मोतैं और न पापी।
घातक कुटिल चबाई कपटी, महाक्रूर संतापी॥
लंपट धूत पूत दमरी कौ, बिषय जाप कौ जापी।
भच्छि अभच्छ, अपान पान करि, कबहुँ न मनसा धापी॥
कामी बिबस कामिनी कैं रस, लोभ लालसा थापी।
मन क्रम बचन दुसह सबहिनि सौं कटुक बचन आलापी॥
जेतिक अधम उधारे प्रभु! तुम तिन की गति मैं नापी।
सागर सूर बिकार भरयौ जल, बधिक अजामिल बापी॥

हरि! हौं सब पतितन कौ राजा।
निंदा पर मुख पूरि रह्यौ जग, यह निसान नित बाजा॥
तृष्ना देस रु सुभट मनोरथ, इंद्री खड्ग हमारी।
मंत्री काम कुमति दैबे कौं, क्रोध रहत प्रतिहारी॥
गज अहंकार चढ्यौ दिगविजयी, लोभ छत्र करि सीस।
फौज असत संगति की मेरैं, ऐसौ हौं मैं ईस॥
मोह मया बंदी गुन गावत, मागध दोष अपार।
सूर पाप कौ गढ़ दृढ़ कीन्हौ, मुहकम लाइ किंवार॥

हरि! हौं सब पतितनि कौ राउ।
को करि सकै बराबरि मेरी, सो धौं मोहिं बताउ॥
ब्याध गीध अरु पतित पूतना, तिन तैं बढ़ौ जु और।
तिन मैं अजामील गनिकादिक, उन मैं मैं सिरमौर॥
जहँ तहँ सुनियत यहै बड़ाई, मो समान नहिं आन।
और हैं आजकाल के राजा, मैं तिन मैं सुल्तान॥
अब लगि प्रभु तुम बिरद बुलाए, भई न मोसौं भेंट।
तजौ बिरद कै मोहि उधारौ, सूर कहै कसि फेंट॥

हरि! हौं सब पतितन कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी, और नहीं कोउ लायक॥
जो प्रभु अजामील कौं दीन्हौ, सो पाटौ लिखि पाऊँ।
तौ बिस्वास होइ मन मेरैं, औरौ पतित बुलाऊँ॥
बचन मानि लै चलौं गाँठि दै, पाऊँ सुख अति भारी।
यह मारग चौगुनौ चलाऊँ, तौ पूरौ ब्यौपारी॥
पतित उधारन नाम सुन्यौ जब, सरन गही तकि दौर।
अब कैं तौ अपनी लै आयौ, बेर बहुर की और॥
होड़ा होड़ी मनहिं भावते किए पाप भरि पेट।
ते सब पतित पाय तर डारौं यहै हमारी भेंट॥
बहुत भरोसौ जानि तुम्हारौ, अब कीन्हे भरि भाँड़ौ।
लीजै बेगि निबेरि तुरतहीं सूर पतित कौ टाँड़ौ॥

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
तुम सौं कहा छिपी करुनामय, सब के अंतरजामी॥
जो तन दियौ ताहि बिसरायौ, ऐसौ नोनहरामी।
भरि भरि उदर बिषै कौं धावत, जैसैं सूकर ग्रामी॥
सुनि सतसंग होत जिय आलस, बिषयिनि सँग बिसरामी।
श्रीहरि चरन छाँड़ि बिमुखन की निसि दिन करत गुलामी॥
पापी परम अधम अपराधी, सब पतितनि मैं नामी।
सूरदास प्रभु अधम उधारन सुनियै श्रीपति स्वामी॥

मोसौ पतित न और हरे!
जानत हौ प्रभु अंतरजामी, जे मैं कर्म करे॥

ऐसौ अंध अधम अविवेकी, खोटनि करत खरे।
विषयी भजे विरक्त न सेए, मन धन धाम धरे॥
ज्यौं माखी मृगमद मंडित तन परिहरि, पूय परै।
त्यौं मन मूढ़ विषय गुंजा गहि, चिंतामनि बिसरै॥
ऐसे और पतित अवलंबित, ते छिन माहिं तरे।
सूर पतित तुम पतित उधारन, बिरद कि लाज धरे॥

वैराग्य

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
या देही कौ गरब न करियै, स्यार काग गिध खैहैं।
तीननि मैं तन कृमि, कै विष्ठा, कै ह्वै खाक उड़ैहै॥
कहँ वह नीर, कहाँ वह सोभा, कहँ रँग रूप दिखैहै।
जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं॥
घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं।
जिन पुत्रनिहिं बहुत प्रतिपाल्यौ, देवी देव मनैहैं॥
तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं।
अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहै॥
नर बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहै।
सूरदास भगवंत भजन बिनु बृथा सु जनम गँवैहै॥

नहिं अस जनम बारंबार।
पुरबलौ धौं पुन्य प्रगट्यौ, लह्यौ नर अवतार॥
घटै पल पल बढ़ै छिन छिन, जात लागि न बार।
धरनि पत्ता गिरि परे ते फिरि न लागैं डार॥
भय उदधि जमलोक दरसै, निपट ही अँधियार।
सूर हरि कौ भजन करि करि उतरि पल्ले पार॥

जग मैं जीवत ही कौ नातौ।
मन बिछुरैं तन छार होइगौ, कोउ न बात पुछातौ॥
मैं मेरी कबहूँ नहिं कीजै, कीजै पंच सुहातौ।
विषयासक्त रहत निसि बासर, सुख सियरौ, दुख तातौ॥
साँच झूठ करि माया जोरी, आपुन रूखौ खातौ।
सूरदास कछु थिर न रहैगौ, जो आयौ सो जातौ॥

दिन द्वै लेहु गोविंद गाइ।
मोह माया लोभ लागे, काल घेरै आइ॥
बारि मैं ज्यौं उठत बुदबुद, लागि बाइ बिलाइ।
यहै तन गति जनम झूठौ, स्वान कागन खाइ॥
कर्म कागद बाँचि देखौ, जौ न मन पतियाइ।
अखिल लोकनि भर्मि आयौ, लिख्यौ मेटि न जाइ॥

सुरति के दस द्वार रूँधे, जरा घेरयौ आइ।
सूर हरि की भक्ति कीन्हैं, जन्म पातक जाइ॥

उद्बोधन एवं उपदेश

रे मन, गोविंद के ह्वै रहियै।
इहिं संसार अपार विरत ह्वै, जम की त्रास न सहियै॥
दुख, सुख, कीरति, भाग आपने आइ परै सो गहियै।
सूरदास भगवंत भजन करि अंत बार कछु लहियै॥

नर! तैं जनम पाइ कहा कीनौ?
उदर भरयौ कूकर सूकर लौं, प्रभु कौ नाम न लीनौ॥
श्रीभागवत सुनी नहिं श्रवननि, गुरु गोविंद नहिं चीनौ।
भाव भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन विषया मैं दीनौ॥
झूठौ सुख अपनौ करि जान्यौ, परस प्रिया कैं भीनौ।
अघ कौ मेरु बढ़ाइ अधम! तू, अंत भयौ बलहीनौ॥
लख चौरासी जोनि भरमि कै फिरि वाही मन दीनौ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु ज्यौं अंजलि जल छीनौ॥

सब तजि भजिए नंदकुमार।
और भजे तैं काम सरै नहिं, मिटै न भव जंजार॥
जिहिं जिहिं जोनि जन्म धारयौ, बहु जोरयौ अघ कौ भार।
तिहि काटन कौं समरथ हरि कौ तीछन नाम कुठार॥
वेद, पुरान, भागवत, गीता, सब कौ यह मत सार।
भव समुद्र हरि पद नौका बिनु कोउ न उतारै पार॥
यह जिय जानि, इहीं छिन भजि, दिन बीते जात असार।
सूर पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ फिरि संसार॥

नर देही पाइ चित चरन कमल दीजै।
दीन बचन, संतनि सँग दरस परस कीजै॥
लीला गुन अमृत रस स्रवननि पुट पीजै।
सुंदर मुख निरखि, ध्यान नैन माहिं लीजै॥
गद्गद सुर, पुलक रोम, अंग प्रेम भीजै।
सूरदास गिरिधर जस गाइ गाइ जीजै॥

गाइ लेहु मेरे गोपालहिं।
नातरु काल ब्याल ले लैहै,
छाँड़ि देहु तुम सब जंजालहिं॥
अंजलि के जल ज्यौं तन छीजत,
खोटे कपट तिलक अरु मालहिं।
कनक कामिनी सौं मन बाँध्यौ,
ह्वै गज चल्यौ स्वान की चालहिं॥

...नि आनि उर,
...स्याम भजौ नँदलालहिं ।
...संतनि कौ हित,
...अंत मेटत दुख जालहिं ॥

...हरि सौं राँचै ।
...छाँड़ि कै, मन बच क्रम अनुसाँचै ॥
...रसना, फिरि जु प्रेम रस माँचै ।
...नै राँचै, कौन कहै अब साँचै ॥
...हिं मानै, हर्ष सोक नहिं खाँचै ।
...नधि मैं, बहुरि जगत नहिं नाचै ॥

...मन साँची ।
...टी, इंद्रिय बस राखहि किन पाँची ॥
...क, बिषधर बिषय बिषम बिष बाँची ।
...सुमिरौ आनँद करिकै नाँची ॥

...घटैगो तेरौ ?
...ठाकुर, आपुन है रहु चेरौ ॥
...त बाढ़ी, कियौ बहुत घर घेरौ ।
...हूँ हरि पूजा, कहुँ संतनि कौ डेरौ ॥
...न जूथ सकेले, हय गय बिभव घनेरौ ।
..., सूर स्याम कौ, यह साँचौ मत मेरौ ॥

...र मन, राम सौं करि हेत ।
हरि भ...न की बारि करि लै, उबरै तेरौ खेत ॥
मन सुआ, तन पींजरा, तिहिं माँझ राखै चेत ।
काल फिरत बिलार तनु धरि, अब धरी तिहिं लेत ॥
सकल बिषय बिकार तजि, तू उतरि सागर सेत ।
सूर भजि गोबिंद के गुन, गुरु बताएँ देत ॥

तिहारौ कृष्न कहत कहा जात ?
बिछुरें मिलन बहुरि कब है है, ज्यौं तरुवर के पात ॥
सीत बात कफ कंठ बिरोधै, रसना टूटै बात ।
प्रान लए जम जात मूढ़मति ! देखत जननी तात ॥
छन इक माहिं कोटि जुग बीतत, नर की केतिक बात ?
यह जग प्रीति सुवा सेमर ज्यौं, चाखत ही उड़ि जात ॥
जम कै फंद पर्यौ नहिं जब लगि, चरननि किन लपटात ?
कहत सूर बिरथा यह ... इतरात ॥

...ते दिन बिसरि गए
अति उन्मत्त मोह मद ...

जिन दिवसनि तैं जननि जठर मैं, रहत बहुत दुख पाए ।
अति संकट मैं भरत भँटा लौं, मल मैं मूँड़ गड़ाए ॥
बुधि बिबेक बल हीन छीन तन, सबही हाथ पराए ।
तब धौं कौन साथ रहि तेरैं, खान पान पहुँचाए ॥
तिहिं न करत चित अधम ! अजहूँ लौं जीवत जाके ज्याए ।
सूर सो मृग ज्यौं बान सहत नित बिषय ब्याध के गाए ॥

भक्ति कब करिहौ, जनम सिरानौ ।
बालापन खेलतहीं खोयौ, तरुनाई गरबानौ ॥
बहुत प्रपंच किए माया के, तऊ न अधम अघानौ ।
जतन जतन करि माया जोरी, लै गयौ रंक न रानौ ॥
सुत बित बनिता प्रीति लगाई, झूठे भरम भुलानौ ।
लोभ मोह तैं चेत्यौ नाहीं, सुपनें ज्यौं डहकानौ ॥
बिरध भएँ कफ कंठ बिरोध्यौ, सिर धुनि धुनि पछितानौ ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु, जम कैं हाथ बिकानौ ॥

(मन) राम नाम सुमिरन बिनु, बादि जनम खोयौ ।
रंचक सुख कारन तैं अंत क्यौं बिगोयौ ॥
साधु संग भक्ति बिना, तन अकारथ जाई ।
ज्वारी ज्यौं हाथ झारि, चाले झटकाई ॥
दारा सुत, देह गेह, संपति सुखदाई ।
इन मैं कछु नाहिं तेरौ, काल अवधि आई ॥
काम क्रोध लोभ मोह तृष्ना मन मोयौ ।
गोबिंद गुन चित बिसारि, कौन नींद सोयौ ॥
सूर कहै चित बिचारि, भूल्यौ भ्रम अंधा ।
राम नाम भजि लै, तजि और सकल धंधा ॥

तजौ मन ! हरि बिमुखनि कौ संग ।
जिन कैं संग कुमति उपजति है, परत भजन मैं भंग ॥
कहा होत पय पान कराएँ, बिष नहिं तजत भुजंग ।
कागहिं कहा कपूर चुगाएँ, स्वान न्हवाएँ गंग ॥
खर कौं कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषन अंग ।
गज कौं कहा सरित अन्हवाएँ, बहुरि धरै वह ढंग ॥
पाहन पतित बान नहिं बेधत, रीतौ करत निषंग ।
सूरदास कारी कामरि पै, चढ़त न दूजौ रंग ॥

रे मन, जनम अकारथ खोइसि ।
हरि की भक्ति न कबहूँ कीन्ही, उदर भरे परि सोइसि ॥
निसि दिन फिरत रहत मुँह बाए, अहमिति जनम बिगोइसि ।
गोड़ पसारि पर्यौ दोउ नीकैं, अब कैसी कहा होइसि ॥
काल जमनि सौं आनि बनी है, देखि देखि मुख रोइसि ।
सूर स्याम बिनु कौन छुड़ावै, चले जाव भई पोइसि ॥

हरि रस तौऽब जाइ कहुँ लहिये ।
गएँ सोच आएँ नहिं आनँद, ऐसो मारग गहिये ॥
कोमल बचन दीनता सब सौं, सदा अनंदित रहिये ।
बाद बिबाद हर्ष आतुरता, इतौ द्वंद जिय सहिये ॥
ऐसी जो आवै या मन मैं, तौ सुख कहँ लौं कहिये ।
अष्ट सिद्धि नव निधि सूरज प्रभु, पहुँचै जो कछु चहिये ॥

हरि बिनु कोऊ काम न आयौ ।
इहिं माया झूठी प्रपंच लगि, रतन सौ जनम गँवायौ ॥
कंचन कलस, बिचित्र चित्र करि, रचि पचि भवन बनायौ ।
तामैं तैं ततछन ही काढ्यौ, पल भर रहन न पायौ ॥
हौं तव संग जरौंगी, यौं कहि, तिया धूति धन खायौ ।
चलत रही चित चोरि, मोरि मुख, एक न पग पहुँचायौ ॥
बोलि बोलि सुत स्वजन मित्रजन, लीन्यौ सुजस सुहायौ ।
पर्‍यौ जु काज अंत की बिरियाँ, तिनहुँ न आनि छुड़ायौ ॥
आसा करि करि जननी जायौ, कोटिक लाड़ लड़ायौ ।
तोरि लयौ कटिहू कौ डोरा, तापर बदन जरायौ ॥
पतित उधारन, गनिका तारन, सो मैं सठ बिसरायौ ।
लियौ न नाम कबहुँ धोखैं हूँ, सूरदास पछितायौ ॥

ऐसैंहिं जनम बहुत बौरायौ ।
बिमुख भयौ हरि चरन कमल तजि, मन संतोष न आयौ ॥
जब जब प्रगट भयौ जल थल मैं, तब तब बहु बपु धारे ।
काम क्रोध मद लोभ मोह बस, अतिहि किए अघ भारे ॥
मृग, कपि, बिप्र, गीध, गनिका, गज, कंस केसि खल तारे ।
अघ बक बृषभ बकी धेनुक हति, भव जलनिधि तैं उबारे ॥
संखचूड़ मुष्टिक प्रलंब अरु तृनावर्त संहारे ।
गज चानूर हते दव नास्यौ, ब्याल मथ्यौ भय हारे ॥
जन दुख जानि जमल द्रुम भंजन, अति आतुर ह्वै धाए ।
गिरि कर धारि इंद्र मद मर्‍यौ, दासनि सुख उपजाए ॥
रिपु कच गहत द्रुपद तनया जब सरन सरन कहि भाषी ।
बढ़े दुकूल कोट अंबर लौं, सभा माँझ पति राखी ॥
मृतक जिवाइ दिए गुरु के सुत, ब्याध परम गति पाई ।
नंद बरुन बंधन भय मोचन, सूर पतित सरनाई ॥

माया देखत ही जु गई ।
ना हरि-हित, ना तू-हित, इन मैं एकौ तौ न भई ॥
ज्यौं मधुमाखी सँचति निरंतर, बन की ओट लई ।
ब्याकुल होत हरे ज्यौं सरबस, आँखिनि धूरि दई ॥
सुत संतान स्वजन बनिता रति, घन समान उनई ।
राखे सूर पवन पाखँड हति, करी जो प्रीति नई ॥

भगवान्‌की स्वरूप-माधुरी

हरि मुख निरखत नैन भुलाने ।
ये मधुकर रुचि पंकज लोभी, ताही तैं न उड़ाने ॥
कुंडल मकर कपोलनि कैं ढिग, जनु रबि रैनि बिहाने ।
भ्रुव सुंदर नैननि गति निरखत, खंजन मीन लजाने ॥
अरुन अधर द्विज कोटि बज्र दुति, ससि गन रूप समाने ।
कुंचित अलक सिलीमुख मिलि मनु लै मकरंद उड़ाने ॥
तिलक ललाट कंठ मुकुतावलि, भूषन मनिमय साने ।
सूर स्याम रस निधि नागर के क्यौं गुन जात बखाने ॥

देखि री नवल नंदकिसोर ।
लकुट सौं लपटाइ ठाढ़े, जुवति जन मन चोर ॥
चारु लोचन हँसि बिलोकनि, देखि कै चित भोर ।
मोहिनी मोहन लगावत, लटकि मुकुट झकोर ॥
स्रवन धुनि सुनि नाद पोहत, करत हिरदै फोर ।
सूर अंग त्रिभंग सुंदर, छबि निरखि तृन तोर ॥

हरि तन मोहिनी माई ।
अंग अंग अनंग सत सत, बरनि नहिं जाई ॥
कोउ निरखि सिर मुकुट की छबि, सुरति बिसराई ।
कोउ निरखि चिकुरी अलक मुख, अधिक सुख छाई ॥
कोउ निरखि रहि भाल चंदन, एक चित लाई ।
कोउ निरखि बिथकी भ्रकुटि पर, नैन ठहराई ॥
कोउ निरखि रहि चारु लोचन, निमिष भरमाई ।
सूर प्रभु की निरखि सोभा, कहत नहिं आई ॥

नैना (माई) भूलैं अनत न जात ।
देखि सखी सोभा जु बनी है, मोहन कैं मुसुकात ॥
दाड़िम दसन निकट नासा सुक, चोंच चलाइ न खात ।
मनु रतिनाथ हाथ भृकुटी धनु, तिहिं अवलोकि डरात ॥
बदन प्रभामय चंचल लोचन, आनँद उर न समात ।
मानहुँ भौंह जुवा रथ जोते, ससि नचवत मृग मात ॥
कुंचित केस अधर धुनि मुरली, सूरदास सुरमात ।
मनहुँ कमल पहँ कोकिल कूजत, अलिगन ऊपर उड़ात ॥

स्याम कमल पद नख की सोभा ।
जे नख चंद्र इंद्र सिर परसे, सिव बिरंचि मन लोभा ॥
जे नख चंद्र सनक मुनि ध्यावत, नहिं पावत भरमाहीं ।
ते नख चंद्र प्रगट ब्रज जुवती, निरखि निरखि हरषाहीं ॥
जे नख चंद्र फनिंद्र हृदय तैं, एकौ निमिष न टारत ।
जे नख चंद्र महामुनि नारद, पलक न कहूँ बिसारत ॥

जे नख चंद्र भजन खल नासत, रमा हृदय जे परसति।
सूर स्याम नख चंद्र बिमल छबि, गोपी जन मिलि दरसति॥

स्याम हृदय जलसुत की माला, अतिहिं अनूपम छाजै(री)।
मनहुँ बलाक पाँति नव घन पर, यह उपमा कछु भ्राजै(री)॥
पीत हरित सित अरुन माल बन, राजति हृदय बिसाल(री)।
मानहुँ इंद्रधनुष नभ मंडल, प्रगट भयौ तिहिं काल (री)॥
भृगु पद चिह्न उरस्थल प्रगटे, कौस्तुभ मनि दिग दरसत (री)।
बैठे मानौ षट बिधु इक सँग, अर्द्ध निसा मिलि हरषत (री)॥
भुजाबिसाल स्यामसुंदर की, चंदन खौरि चढ़ाए (री)।
सूर सुभग अँग अँगकी सोभा, ब्रजललना ललचाए (री)॥

निरखि सखि सुंदरता की सींवा।
अधर अनूप मुरलिका राजति, लटकि रहति अध ग्रीवा॥
मंद मंद सुर पूरत मोहन, राग मलार बजावत।
कबहुँक रीझि मुरलि पर गिरिधर, आपुहिं रस भरि गावत॥
हँसत लसति दसनावलि पगति, ब्रजबनिता मन मोहत।
मरकतमनि पुट बिच मुकुताहल, बँदन भरे मनु सोहत॥
मुख बिकसत सोभा इक आवति, मनु राजीव प्रकास।
सूर अरुन आगमन देखि कै, प्रफुल्लित भए हुलास॥

मनोहर है नैननि की भाँति।
मानहुँ दूरि करत बल अपनैं, सरद कमल की काँति॥
इंदीवर राजीव कुसेसय, जीते सब गुन जाति।
अति आनंद सुप्रौढ़ा तातैं, बिकसत दिन अरु राति॥
खजरीट मृग मीन बिचारति, उपमा कौं अकुलाति।
चंचल चारु चपल अवलोकनि, चितहिं न एक समाति॥
जब कहुँ परत निमिषहू अंतर, जुग समान पल जाति।
सूरदास वह रसिक राधिका, निमि पर अति अनखाति॥

देखि री हरि के चचल नैन।
खजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर इक सैन॥
राजिव दल इंदीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वै बिकसित, ये बिकसित दिनराति॥
अरुन स्वेत सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाइ।
मनु सरसुति गंगा जमुना मिलि, आगम कीन्हौ आइ॥
अवलोकनि जलधार तेज अति, तहाँ न मन ठहराइ।
सूर स्याम लोचन अपार छबि, उपमा सुनि सरमाइ॥

देखि सखी! मोहन मन चोरत।
नैन कटाच्छ बिलोकनि मधुरी, सुभग भृकुटि बिबि मोरत॥

चंदन खौरि ललाट स्याम कैं, निरखत अति सुखदाई।
मनौ एक सँग गंग जमुन नभ, तिरछी धार बहाई॥
मलयज भाल भ्रकुटि रेखा की, कबि उपमा इक पाई।
मानहुँ अर्द्धचंद्र तट अहिनी, सुधा चुरावन आई॥
भ्रकुटी चारु निरखि ब्रजसुंदरि, यह मन करति बिचार।
सूरदास प्रभु सोभा सागर, कोउ न पावत पार॥

हरि मुख निरखति नागरि नारि।
कमल नैन के कमल बदन पर, बारिज बारिज वारि॥
सुमति सुंदरी सरस पिया रस लंपट साँड़ी आरि।
हरिहिं जुहारि जु करत बसीठी, प्रथमहिं प्रथम निहारि॥
राखति ओट कोटि जतननि करि, झाँपति अचल झारि।
खजन मनहुँ उड़न कौ आतुर, सकत न पंख पसारि॥
देखि सरूप स्यामसुंदर कौ, रही न पलक सम्हारि।
देखहु सूरज अधिक सूर तन, अजहुँ न मानी हारि॥

हरि मुख किधौं मोहिनी माई।
बोलत बचन मंत्र सौ लागत, गति मति जाति भुलाई॥
कुटिल अलक राजति भ्रुव ऊपर, जहाँ तहाँ बगराई।
स्याम फाँसि मन करष्यौ हमरौ, अब समुझी चतुराई॥
कुंडल ललित कपोलनि झलकत, इन की गति मैं पाई।
सूर स्याम जुवती मन मोहन, ये सँग करत सहाई॥

देखि री देखि सोभा रासि।
काम पटतर कहा दीजै, रमा जिन की दासि॥
मुकुट सीस सिखंड सोहै, निरखि रहि ब्रजनारि।
कोटि सुरकोदंड आभा, झिरकि डारैं वारि॥
केस कुंचित बिथुरि भ्रुव पर, बीच सोभा भाल।
मनौ चंदहि अवल जान्यौ, राहु घेर्यौ जाल॥
चारु कुंडल सुभग स्रवननि, को सकै उपमाइ।
कोटि कोटि कला तरनि छबि, देखि तनु मुरझाइ॥
सुभग मुख पर चारु लोचन, नासिका इहि भाँति।
मनौ खंजन बीच सुक मिलि, बैठे हैं इक पाँति॥
सुभग नासा तर अधर छबि, रस धरैं अरुनाइ।
मनौ बिंब निहारि सुक, भ्रुव धनुष देखि डराइ॥
हँसत दसननि चमकताई, बज्र कन रुचि पाँति।
दामिनी दाड़िम नहीं सरि, किये मन अति भाँति॥
चिबुक पर चित बित चुरावत, नंद नंद किसोर।
सूर प्रभु की निरखि सोभा, भईं तरुनी भोर॥

बैठी कहा मदनमोहन कौ, सुंदर बदन बिलोकि ।
जा कारन घूँघट पट अब लौं, अँखियाँ राखीं रोकि ॥
फबि रहि मोर चंद्रिका माथैं, छबि की उठति तरंग ।
मनहुँ अमरपति धनुष बिराजत नव जलधर कैं संग ॥
रुचिर चारु कमनीय भाल पर, कुंकुम तिलक दिएँ ।
मानहुँ अखिल भुवन की सोभा राजति उदय किएँ ॥
मनिमय जटित लोल कुंडल की, आभा झलकति गंड ।
मनहुँ कमल ऊपर दिनकर की, पसरीं किरन प्रचंड ॥
भ्रकुटी कुटिल निकट नैननि कैं, चपल होति इहि भाँति ।
मनहुँ तामरस कैं सँग खेलत बाल भृंग की पाँति ॥
कोमल स्याम कुटिल अलकावलि, ललित कपोलनि तीर ।
मनहुँ सुभग इंदीवर ऊपर, मधुपनि की अति भीर ॥
अरुन अधर नासिका निकाई, बदत परस्पर होइ ।
सूर सुमनसा भई पाँगुरी, निरखि डगमगे गोइ ॥

नैननि ध्यान नंदकुमार ।
सीस मुकुट सिखंड भ्राजत, नहीं उपमा पार ॥
कुटिल केस सुदेस राजत, मनहुँ मधुकर जाल ।
रुचिर केसर तिलक दीन्हे, परम सोभा भाल ॥
भृकुटि बंकट चारु लोचन, रहीं जुवती देखि ।
मनौ खंजन चाप डर डरि, उड़त नहिं तिहिं पेखि ॥
मकर कुंडल गंड झलमल, निरखि लज्जित काम ।
नासिका छबि कीर लज्जित, कबिनि बरनत नाम ॥
अधर बिद्रुम दसन दाड़िम, चिबुक है चित चोर ।
सूर प्रभु मुख चंद पूरन, नारि नैन चकोर ॥

नंदनँदन मुख देखौ नीकैं ।
अंग अंग प्रति कोटि माधुरी, निरखि होत सुख जी कैं ॥
सुभग स्रवन कुंडल की आभा, झलक कपोलनि पी कैं ।
दह दह अमृत मकर क्रीड़त मनु, यह उपमा कछु ही कैं ॥
और अंग की सुधि नहिं जानैं, करैं कहति हैं लीकैं ।
सूरदास प्रभु नटवर काछे, रहत हैं रति पति चीकैं ॥

देखि सखी अधरनि की लाली ।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली ॥
मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास ।
ज्यौं दामिनि बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुबास ॥
कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि, जुग फल बिंब सुपाके ।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहिं ताके ॥
हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ ।
मनौ नीलमनि पुट मुकुता गन, बंदन भरि बगराइ ॥
किधौं बज्र कन, लाल नगनि खँचि, तापर बिद्रुम पाँति ।
किधौं सुभग बंधूक कुसुम तर, झलकत जल कन काँति ॥
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी, सुंदरताई आइ ।
सूर अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ ॥

ऐसे सुने नंदकुमार ।
नख निरखि ससि कोटि वारत, चरन कमल अपार ॥
जानु जंघ निहारि करभा, करनि डारत वारि ।
काछनी पर प्रान वारत, देखि सोभा भारि ॥
कटि निरखि तनु सिंह वारत, किंकिनी जु मराल ।
नाभिपर ह्रद आपु वारत, रोम अलि अलि माल ॥
हृदय मुक्ता माल निरखत, वारि अवलि बलाक ।
करज कर पर कमल वारत, चलति जहँ तहँ साक ॥
भुजनि पर बर नाग वारत, गए भागि पताल ।
ग्रीव की उपमा नहीं कहुँ, लसति परम रसाल ॥
चिबुक पर चित वारि डारत, अधर अंबुज लाल ।
बँधुक बिद्रुम बिंब वारत, ते भए बेहाल ॥
बचन सुनि कोकिला वारति, दसन दामिनि काँति ।
नासिका पर कीर वारत, चारु लोचन भाँति ॥
कंज खंजन मीन मृग सावकहु डारत वारि ।
भ्रकुटि पर सुर चाप वारत, तरनि कुंडल वारि ॥
अलक पर वारति अँध्यारी, तिलक भाल सुदेस ।
सूर प्रभु सिर मुकुट धारे, धरैं नटवर भेस ॥

मुख पर चंद डारौं वारि ।
कुटिल कच पर भौंर वारौं, भौंह पर धनु वारि ॥
भाल केसर तिलक छबि पर, मदन सर सत वारि ।
मनु चली बहि सुधा धारा, निरखि मन द्यौं वारि ॥
नैन सरसुति जमुन गंगा, उपम डारौं वारि ।
मीन खंजन मृगज वारौं, कमल के कुल वारि ॥
निरखि कुंडल तरनि वारौं, कुच स्रवननि वारि ।
झलक ललित कपोल छबि पर, मुकुट सत सत वारि ॥
नासिका पर कीर वारौं, अधर बिद्रुम वारि ।
दसन पर कन बज्र वारौं, बीज दाड़िम वारि ॥
चिबुक पर चित बित्त वारौं, प्रान डारौं वारि ।
सूर हरि की अंग सोभा, को सकै निरवारि ॥

गोपी-प्रेम

अब तौ प्रगट भई जग जानी ।
वा मोहन सौं प्रीति निरंतर क्यौं निबहैगी छानी ॥
कहा करौं सुंदर मूरति इन नैननि माँझ समानी ।
निकसत नाहिं बहुत पचि हारी रोम रोम अरुझानी ॥
अब कैसैं निरवारि जाति है, मिल्यौ दूध ज्यौं पानी ।
सूरदास प्रभु अंतरजामी ग्वालिनि मन की जानी ॥

मन मैं रह्यौ नाहिन ठौर ।
नंदनंदन अछत कैसै, आनियै उर और ॥
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत राति ।
हृदय तैं वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधौ, लोकलाज दिखाइ ।
कहा करौं मन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समाइ ॥
स्याम गात सरोज आनन, ललित गति मृदु हास ।
सूर ऐसे रूप कारन, मरत लोचन प्यास ॥

इहिं उर माखन चोर गड़े ।
अब कैसैं निकसत सुनि ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े ॥
जदपि अहीर जसोदा नंदन, कैसै जात छँड़े ।
ह्याँ जादौपति प्रभु कहियत हैं, हमैं न लगत बड़े ॥
को बसुदेव देवकीनंदन, को जानै को बूझै ।
सूर नंदनंदन के देखत, और न कोऊ सूझै ॥

सखी, इन नैननि तें घन हारे ।
बिनहीं रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे ॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे ।
बदन सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे ॥
घुमरि घुमरि गरजत जल छाँड़त, आँसु सलिल के धारे ।
बूड़त ब्रजहिं 'सूर' को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे ॥

निसदिन बरसत नयन हमारे ।
सदा रहति बरषा रितु हम पर जब तैं स्याम सिधारे ॥
अंजन थिर न रहत अँखियन मैं, कर कपोल भए कारे ।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे ॥
आँसू सलिल बहे पग थाके, भए जात सित तारे ।
सूरदास अब डूबत है ब्रज, काहे न लेत उबारे ॥

हम न भई वृंदावन रेनु ।
जहँ चरननि डोलत नँदनंदन नित प्रति चारत धेनु ॥
हम तैं धन्य परम ये द्रुम बन बाल बच्छ अरु धेनु ।
सूर सकल खेलत हँसि बोलत सँग मथि पीवत धेनु ॥

मधुकर स्याम हमारे चोर ।
मन हर लियौ माधुरी मूरति निरख नयन की कोर ॥
पकरे हुते आनि उर अंतर प्रेम प्रीति कैं जोर ।
गए छुड़ाय तोरि सब बंधन दै गए हँसनि अँकोर ॥
चौंक परी जागत निसि बीती तारे गिनत भइ भोर ।
सूरदास प्रभु सरबस लूट्यौ, नागर नवल किसोर ॥

ऊधौ मन न भए दस बीस ।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस ॥
इंद्री सिथिल भई केसव बिनु, ज्यौं देही बिनु सीस ।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस ॥
तुम तौ सखा स्यामसुंदर के, सकल जोग के ईस ।
सूर हमारैं नदनँदन बिनु, और नहीं जगदीस ॥

दोहा

सदा सँघाती आपनो जिय कौ जीवन प्रान ।
सो तू बिसर्यो सहज ही हरि ईस्वर भगवान ॥
बेद पुरान सुमृति सबै सुर नर सेवत जाहि ।
महामूढ़ अज्ञानमति क्यौं न सँभारत ताहि ॥
प्रभु पूरन पावन सखा, प्रानन हू कौ नाथ ।
परम दयालु कृपालु प्रभु जीवन जाके हाथ ॥
गर्भबास अति त्रास मैं, जहाँ न एकौ अंग ।
सुनि सठ तेरौ प्रानपति तहाँ न छाड़्यौ संग ॥
दिवस राति पोषत रह्यौ ज्यौं तंबोली पान ।
वा दुख तें तोहि काढ़ि कै लै दीनो पय पान ॥
जिन जड़ ते चेतन कियौ, रचि गुन तत्त्व निधान ।
चरन चिकुर कर नख दिए, नैन नासिका कान ॥
जो पै जिय लज्जा नहीं, कहा कहौं सौ बार ।
एकहु अंक न हरि भजे, रे सठ 'सूर' गँवार ॥

श्रीपरमानन्ददासजी

(श्रीवल्लभाचार्यजीके शिष्य और सूरदासजीके गुरुभाई, कन्नौजवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा अष्टछापके भक्तकवि, अस्तित्वकाल सोलहवीं शताब्दी ।)

माधव यह प्रसाद हौं पाऊँ ।
तुअ भृत्य भृत्य भृत्य परिचारक, दास को दास कहाऊँ ॥
यह परमार्थ मोहिं गुर सिखयौ, स्यामा स्याम की पूजा ।
यह कामना बसौ जिय मेरे, देव न देखूँ दूजा ॥
परमानंद दास तुम ठाकुर, यह नातौ जिन टूटौ ।
नंदकुमार जसोदानंदन, हिलमिल प्रीत न छूटौ ॥

कौन रसिक है इन बातन कौ ।
नंदनंदन बिन कासौं कहियै
सुन री सखी ! मेरौ दुख या मन कौ ॥
कहाँ वह जमुना पुलिन मनोहर
कहाँ वह चंद सरद रातिन कौ ।
कहाँ वह मंद सुगंध अमल रस
कहाँ वह षटपद जलजातन कौ ॥
कहाँ वह सेज पौढ़िबौ बन कौ
फूल बिछौना मृदु पातन कौ ।
कहाँ वह दरस परस परमानँद
कोमल तन कोमल गातन कौ ॥

मेरौ माई माधौ सौं मन मान्यौ ।
अपनौ तन और वा ढोटा कौ एकमेक करि सान्यौ ॥
लोक वेद की कानि तजी मैं न्यौति आपनैं आन्यौ ।
एक नंदनंदन के कारन बैर सबन सौं ठान्यौ ॥
अब क्यौं भिन्न होय मेरी सजनी ! मिल्यौ दूध अरु पान्यौ ।
परमानंद दास कौ ठाकुर पहलौ ही पहचान्यौ ॥

नंदलाल सौं मेरो मन मान्यौं कहा करैगो कोय री ।
हौं तौ चरन कमल लपटानी जो भावै सो होय री ॥
गृह पति मात पिता मोहि त्रासत हँसत बटाऊ लोग री ।
अब तौ जिय ऐसी बनि आई बिधना रच्यौ है संजोग री ॥
जो मेरौ यह लोक जायगौ और परलोक नसाय री ।
नंदनँदन कौं तौउ न छाँड़ूँ मिलूँगी निसान बजाय री ॥
यह तन धर बहुलौ नहिं पइयै बल्लभ बेस मुरार री ।
परमानँद स्वामी के ऊपर सरबस डारौं वार री ॥

हौं नँदलाल बिना न रहूँ ।
मनसा बाचा और कर्मणा हित की तोसौं कहूँ ॥
जो कछु कहौ मोई सिर ऊपर सो हौं सबै सहूँ ।
सदाँ समीप रहूँ गिरिधर के सुंदर बदन चहूँ ॥
यह तन अरपन हरि कौं कीनौं यह सुख कहाँ लहूँ ।
परमानँद मदनमोहन के चरन सरोज गहूँ ॥

विरह

जिय की साधन जियहिं रही री ।
बहुरि गुपाल देखि नहीं पाए, बिलपत कुंज अही री ॥
इक दिन साँझ समीप ये मारग, बेचन जात दही री ।
प्रीति के लिएँ दान मिस मोहन, मेरी बाँह गही री ॥
बिन देखैं घड़ी जात कलप सम, बिरहा अनल दही री ।
'परमानँद' स्वामी बिन दरसन, नैन न नींद रही री ॥

ब्रज के बिरही लोग बिचारे ।
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुर्बल तन हारे ॥
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत साँझ सकारे ।
जो कोउ कान्ह कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे ॥
ये मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे ।
'परमानँद' स्वामी बिन ऐसे, ज्यौं चंदा बिनु तारे ॥

वह बात कमल दल नैन की ।
बार बार सुधि आवत रजनी, वहु दुरिदैनी सैन की ॥
वह लीला, वह रास सरद कौ, गोरज रजनी आवनि ।
अरु वह ऊँची टेर मनोहर, मिस कर मोहिं सुनावनि ॥
बसि कुंजनि में रास खिलायौ, बिथा गमाई मन की ।
'परमानँद' प्रभु सो क्यों जीवै, जो पोषी मृदु बैन की ॥

कौन बेर भइ चलैं री गुपालै ।
हौं ननसार गई ही न्यौते,
बार बार बोलत ब्रजबाले ॥
तेरे तन कौ रूप कहाँ गयौ भामिनि !
अरु मुख कमल सुखाय रह्यौ ।
सब सौभाग्य गयौ हरि के सँग,
हृदय कमल सौं बिरह दह्यौ ॥
को बोलै, को नैन उघारै,
को प्रतिउत्तर देहि बिकल मन ।

जो सरवस अक्रूर चुरायौ,
'परमानँद' स्वामी जीवन धन ॥

चलौ सखि ! देखौं नंदकिसोर ।
राधा संग लिएँ बिहरत हैं, सघन कुंज बन खोर ॥
तैसिय घटा घुमड़ि चहुँ दिसि तैं, गरजति हैं घनघोर ।
तैसिय लहलहात सौदामिनि, पवन चलत अति जोर ॥
पीत बसन बनमाल स्याम के, सारी सुरँग तन गोर ।
सदा बिहार करौ 'परमानँद' सदा बसौ मन मोर ॥

माई, हौं आनँद गुन गाऊँ ।
गोकुल की चिंतामनि माधौ, जो माँगौ सो पाऊँ ॥
जब तैं कमलनैन ब्रज आए, सकल संपदा बाढ़ी ।
नदराय के द्वारे देखौ, अष्ट महासिधि ठाढ़ी ॥
फूल्यौ फल्यौ सकल वृंदावन, कामधेनु दुहि लीजै ।
माँगें मेह इंद्र बरसावै, कृष्ण कृपा सुख जीजै ॥

कहति जसोदा सखियन आगें, हरि उतकर्ष जनावै ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, मुरलि मनोहर गावै ॥

मदनगोपाल हमारे राम ।
धनुष बान धर, बिमल बेनु कर,
पीत बसन अरु तन घनस्याम ॥
अपनी भुज जिन जलनिधि बाँध्यौ,
रास नचाये कोटिक काम ।
दस सिर हति सब असुर सँहारे,
गोबर्धन धारयौ कर बाम ॥
तब रघुबर अब जदुबर नागर,
लीला नित्य बिमल बहु नाम ।
'परमानँद' प्रभु भेद रहित हरि,
निज जन मिलि गावत गुन ग्राम ॥

श्रीकृष्णदासजी

(श्रीवल्लभाचार्यजीके शिष्य और अष्टछापके महाकवि, जन्म—वि० सं० १५९० । तिरोभाव—वि० सं० १६६५ के लगभग । जाति—शूद्र)

बाल दसा गोपाल की, सब काहू प्यारी ।
लै लै गोद खिलावहीं, जसुमति महतारी ॥
पीत झगुल तन सोहहीं, सिर कुलह बिराजै ।
छुद्र घंटिका कटि बनी, पग नूपुर बाजै ॥
मुरि मुरि नाचै मोर ज्यौं, सुर नर मुनि मोहैं ।
'कृष्णदास' प्रभु नंद के आँगन अति सोहैं ॥

भादौं सुदि आठैं उजियारी, आनँद की निधि आई ॥
रस की रासि, रूप की सीमा, अँग अँग सुंदरताई ।
कोटि बदन वारौं मुसिकनि पर, मुख छबि बरनि न जाई ॥
पूरन सुख पायौ ब्रजबासी, नैनन निरखि सिहाई ।
'कृष्णदास' स्वामिनि ब्रज प्रगटीं, श्री गिरिधर सुखदाई ॥

हिंडोरैं माई झूलत लाल बिहारी ।
सँग झूलति बृषभानु नंदिनी, प्रानन हूँ तैं प्यारी ॥
लीलांबर पीतांबर की छबि, घन दामिनि अनुहारी ।
बलि बलि जाय जुगल चंदन पर 'कृष्णदास' बलिहारी ॥

कमल मुख देखत कौन अघाय ।
सुनि री सखी लोचन अलि मेरे मुदित रहे अरुझाय ॥
मुकामाल लाल उर ऊपर जनु फूली बन राय ।
गोवर्धनधर अंग अंगपर 'कृष्णदास' बलि जाय ॥

तब तैं स्याम सरन हौं पायौ ।
जब तैं भेंट भई श्रीवल्लभ, निज पति नाम बतायौ ॥
और अविद्या छाड़ि मलिन मति, श्रुतिपथ आय दृढ़ायौ ।
'कृष्णदास' जन चहुँ जुग खोजत, अब निहचै मन आयौ ॥

मो मन गिरिधर छबि पै अटक्यौ ।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै,
चिबुक चारु गड़ि ठटक्यौ ॥
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै,
फिरि चित अनत न भटक्यौ ।
'कृष्णदास' किए प्रान निछावर,
यह तन जग सिर पटक्यौ ॥

परम कृपाल श्रीनंद के नंदन, करी कृपा मोहि आपुनौ जानि कै ।
मेरे सब अपराध निवारे, श्रीवल्लभ की कानि मानि कै ॥
श्री जमुनाजल पान करायौ, कोटिन अघ कटवाए प्रान के ।
पुष्टि तुष्टि मन नेम अहर्निसि, 'कृष्णदास' गिरिधरन आन के ॥

जगन्नाथ मन मोह लियो रे ॥
घर अँगना मोहे कछू न भावे, लोक लाज सब छोड़ि दियो रे ।
नील चक्र पर ध्वजा बिराजे, परसत ही आनंद भयो रे ॥
साँवरि सूरत रज लपटानी, लाल दुसाला ओढ़ लियो रे ।
श्री बलभद्र सहोदरा संगहि, 'कृष्णदास' परिहार कियो रे ॥

श्रीकुम्भनदासजी

(महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीके प्रथम शिष्य और अष्टछापके कवि। निवासस्थान, जमुनावतीग्राम (गोवर्धन), जाति—गोरवा।)

स्याम सुभग तन सोभित छींटें, नीकी लागी चंदन की।
मंडित सुरँग अबीर कुमकुमा और सुदेस रज बंदन की॥
'कुंभनदास' मदन तन मन बलिहार कियौ नँदनंदन की।
गिरधरलाल रची बिधि मानौं जुवती जन मन फंदन की॥

माई गिरधर के गुन गाऊँ।
मेरो तौ ब्रत ये है निसि दिन और न रुचि उपजाऊँ॥
खेलन आँगन आउ लाड़िले! नेकहुँ दरसन पाऊँ।
'कुँभनदास' इह जग के कारन लालच लागि रहाऊँ॥

बिलगु जिन मानौ री कोउ हरि कौ।
भोरहिं आवत नाच नचावत, लात दही घर घर कौ॥
प्यारो प्रान दीजे जो पइये, नागर नंद महर कौ।
'कुँभनदास' प्रभु गोवर्धनधर, रसिक राधिका बर कौ॥

नैन भरि देख्यौ नंदकुमार।
ता दिन तें सब भूलि गयौ हौं बिसरयौ पन परिवार॥
बिन देखें हौं बिकल भयौ हौं अंग अंग सब हारि।
तातें सुधि साँवरि मूरति की लोचन भरि भरि बारि॥
रूप रास पैमित नहिं मानौं कैसें मिलैं कन्हाइ।
'कुँभनदास' प्रभु गोवरधनधर मिलियै बहुरि री माइ॥

जो पै चोंप मिलन की होय।
तो क्यों रहै ताहि बिनु देखें लाख करौ किन कोय॥
जो यह बिरह परस्पर ब्यापै जो कछु जीवन बनै।
लोक लाज कुल की मरजादा एकौ चित न गनै॥
'कुँभनदास' प्रभु जा तन लागी और न कछू सुहाय।
गिरधरलाल तोहि बिनु देखें छिन छिन कलप बिहाय॥

हिलगन कठिन है या मन की।
जाके लियें देखि मेरी सजनी, लाज गयी सब तन की॥
धर्म जाउ अरु लोग हँसौ सब, अरु गाऔ कुल गारी।
सो क्यों रहै ताहि बिन देखें, जो जाको हितकारी॥
ज्यों रस लुब्ध निमष नहिं छाँड़त, है आधीन मृग गानैं।
'कुँभनदास' सनेह मरम श्रीगोवरधनधर जानैं॥

कबहूँ देखिहौं इन नैननु।
सुंदर स्याम मनोहर मूरत अंग अंग सुख दैननु॥
बृंदावन बिहार दिन दिन प्रति गोपबृंद सँग लैननु।
हँसि हँसि हरषि पतौवन पावन बाँटि बाँटि पय फैननु॥
'कुंभनदास' किते दिन बीते, किएँ रैनु सुख सैननु।
अब गिरिधर बिन निस और बासर मन न रहत क्यों चैननु॥

श्रीनन्ददासजी

(श्रीविट्ठलनाथजीके शिष्य और अष्टछापके महान् भक्त-कवि। ग्राम—रामपुर)

चिरैया चुहचुहानी, सुनि चकई की बानी,
कहति जसोदा रानी, जागौ मेरे लाला।
रवि की किरन जानी, कुमुदिनी सकुचानी,
कमल बिकसानी, दधि मथै बाला॥
सुबल सुदामा तोक उज्ज्वल बसन पहिरैं,
द्वारे ठाढ़े हेरत हैं बाल गोपाला।
'नंददास' बलिहारी उठि बैठौ गिरिधारी,
सब कोउ देख्यौ चाहै लोचन बिसाला॥

सुंदर स्याम पालनैं झूलै॥
जसुमति माय निकट अति बैठी, निरखि निरखि मन फूलै।
झुनझुना लैकै बजावत रुचि सौं, लालहि के अनुकूलै॥
बदन चारु पर छुटी अलक रहि, देखि मिटत उर सूलै।
अंबुज पर मानहुँ अलि छौना, घिरि आए बहु ढूलै॥
दसन दोउ उघरत जब हरि के, कहा कहूँ समतूलै।
'नंददास' घन मैं ज्यौं दामिनि, चमकि डरति कछु खूलै॥

माधो जू! तनिक सौ बदन सदन सोभा कौ
तनिक भृकुटि पै तनिक दिठौना।
तनिक लटूरी पुनि मन मोहै
मनौं कमल बैठे अलि छौना॥
तनिक सी रज लागी निरखत बड़भागी
कंठ कठूला सोहै औ बघनखना।
'नंददास' प्रभु जसुदा आँगन खेलैं
जाको जस गाइ गाइ मुनि भये मगना॥

नंदभवन को भूषन माई ।
जसुदा कौ लाल बीर हलधर कौ, राधारमन परम सुखदाई ॥
सिव कौ धन संतन कौ सरबस, महिमा बेद पुरानन गाई ।
इंद्र कौ इंद्र देव देवन कौ, ब्रह्म कौ ब्रह्म अधिक अधिकाई ॥
काल कौ काल ईस ईसन कौ, अतिहि अतुल तोल्यौ नहिं जाई ।
'नंददास' कौ जीवन गिरिधर, गोकुल गाँव कौ कुँवर कन्हाई ॥

नंद गाउँ नीको लागत री ।
प्रात समैं दधि मथत ग्वालिनी,
बिपुल मधुर धुनि गाजत री ॥
धन गोपी, धन ग्वाल संग के,
जिन के मोहन उर लागत री ।
हलधर संग सखा सब राजत,
गिरिधर लै दधि भागत री ॥
जहाँ बसत सुर, देव, महा मुनि,
एकौ पल नहिं त्यागत री ।
'नंददास' प्रभु कृपा कौ इहि फल,
गिरिधर देखि मन जागत री ॥

कान्ह कुँवर के कर पल्लव पर, मनों गोवर्धन नृत्य करै ।
ज्यों ज्यों तान उठत मुरली की, त्यों त्यों लालन अधर धरै ॥
मेघ मृदंगी मृदँग बजावत, दामिनि दमक मानों दीप जरै ।
ग्वाल ताल दै नीकैं गावत, गायन कैं सँग सुर जु भरै ॥
देत असीस सकल गोपीजन, बरषा कौ जल अमित झरै ।
अति अद्भुत अवसर गिरिधर कौ, 'नंददास' के दुःख हरै ॥

कृष्ण नाम जब तैं श्रवन सुन्यौ री आली ,
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री ।
भरि भरि आवैं नैन चित हू न परै चैन ,
मुख हू न आवै बैन तन की दसा कछु औरै भई री ॥
जेतेक नेम धर्म कीने री बहुत विधि ,
अंग अंग भई हौं तो श्रवन मई री ।
'नंददास' जाके श्रवन सुनें यह गति भई
माधुरी मूरति कैधों कैसी दई री ॥

ठाढ़ो री खरो माई कौन को किसोर ।
साँवरो बरन, मन हरन, बंसी धरन ,
काम बरन कैसी गति जोर ॥
पौन परसि जात चपल होत देखि,
पियरे पट को चटकीलो छोर ।
सुभग साँवरी छोटी घटा तें निकसि आवै,
छबीली छटा को जैसो छबीलो छोर ॥
पूछति पाहुनी ग्वारि हा हा हो मेरी आली,
कहा नाम को है, चितवन को चोर ।
'नंददास' जाहि चाहि चकचौंधी आई जाय,
भूल्यौ री भवन गमन भूल्यौ रजनी भोर ॥

देखन देत न बैरन पलकैं ।
निरखत बदन लाल गिरिधर को बीच परत मानों बज्र की सलकैं ॥
बन तैं आवत बेनु बजावत गोरज मंडित राजत अलकैं ।
माथे मुकुट श्रवन मनि कुंडल ललित कपोलन झाईं झलकैं ॥
ऐसे मुख देखन को सजनी ! कहा कियौ यह पूत कमल कैं ।
'नंददास' सब जड़न की इहि गति मीन मरत भायें नहिं जल कैं ॥

देखौ री नागर नट निरतत कालिंदी तट,
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक ।
काछनी किंकनी कटि पीतांबर की चटक
कुंडल किरन रवि रथ की अटक ॥
ततथेई ततथेई सबद सकल घट
उरप तिरप गति पद की पटक ।
रास मध्य राधे राधे मुरली में येई रट
'नंददास' गावै तहाँ निपट निकट ॥

राम कृष्ण कहिए उठि भोर ।
अवध ईस वे धनुष धरे हैं,
यह ब्रज माखन चोर ॥
उन के छत्र चँवर सिंहासन,
भरत सत्रुहन लछमन जोर ।
इन के लकुट मुकुट पीतांबर,
नित गायन सँग नंद किसोर ॥
उन सागर में सिला तराई
इन राख्यौ गिरि नख की कोर ।
नंददास प्रभु सब तजि भजिए,
जैसे निरखत चंद चकोर ॥

जो गिरि रुचै तो बसो श्रीगोवर्धन,
गाम रुचै तो बसो नँदगाम ।
नगर रुचै तो बसो श्रीमधुपुरी,
सोभा सागर अति अभिराम ॥
सरिता रुचै तो बसो श्रीजमुना तट,
सकल मनोरथ पूरन काम ।

नंददास पावनहिं कही सो,
सबो भूमि बृंदावन धाम॥
कृष्ण की मान छाप, तुम्हीं हो प्रभु आगी गाप,
सौंपत सांति ठाढ़ी ओढ़ी जनक की।
कुँवर कोमल गात, को कहै गिरि धरि बात,
छाँड़ि दै या बन तोरन धनुष की॥
'नंददास' प्रभु जानि तोर्यौ है पिनाक तानि,
बाँस की धनैया जैसे बालक तनक की॥

श्रीचतुर्भुजदासजी

(श्रीविट्ठलनाथजीके शिष्य एवं कुंभनदासके पुत्र, अष्टछापके तथा सम्प्रदायके प्रसिद्ध कवि, जन्म—वि॰ सं॰ १५७५ जमुनावतो ग्राममें। पिताका नाम—कुम्भनदासजी। देहावसान—वि॰ सं॰ १६४२ में रुद्रकुण्डपर।)

महा मनोहर गोकुल गाम।
प्रेम मुदित गोपी जन गावत, लै लै स्याम सुँदर को नाम॥
जहाँ तहाँ लीला अवगाहत, गोपिक गोपि दधिमंथन धाम।
परम कुतूहल निसि अरु बासर, आनँद ही बीतत सब जाम॥
नंदगोप सुत सब सुखदायक, मोहन मूरति पूरन काम।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधर आनँद निधि,
नख सिख रूप सुभग अभिराम॥

भोर भयो नँद जसुदा बोलत, जागो मेरे गिरधर लाल।
रतन जटित सिंहासन बैठो, देखन कौं आईं ब्रज बाल॥
नियरें आइ सुपेती खैंचत, चहुँरी ढाँरत बदन रसाल।
दूध दही और माखन मेवा, भामिनि भरि लाईं हैं थाल॥
तब हरि हरषि गोद उठि बैठे, करत कलेउ तिलक दै भाल।
दै बीरा आरति वारति हैं, 'चत्रभुज' गावत गीत रसाल॥

मंगल आरती गोपाल की।
नित उठि मंगल होत निरखि मुख, चितवन नैन बिसाल की॥
मंगल रूप स्याम सुंदर को, मंगल भृकुटी भाल की।
'चत्रभुजदास' सदा मंगल निधि, बानिक गिरिधर लाल की॥

मोहन चलत बाजत पैंजनि पग।
सब्द सुनत चकित ह्वै चितवत,
ठुमकि ठुमकि त्यों धरत जु हैं डग॥
मुदित जसोदा चितवति सिसु तन,
लै उछंग लावे कंठ सु लग।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधरन लाल कौं,
ब्रज जन निरखत ठाढ़े ठग ठग॥

करत हो सबै सयानी बात।
जौ लौं देखे नाहिन सुंदर, कमल नयन मुसिकात॥
सब चतुराई बिसर जात है, खान पान की बात।
बिनु देखें छिन कल न परत है, पल भरि कल्प बिहात॥
सुनि भामिनि के बचन मनोहर, मन महँ अति सकुचात।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधरन लाल सँग सदा बसौं दिन रात॥

नैनन ऐसी बान परी।
बिन देखें गिरिधरन लाल मुख, जुग सम जात घरी॥
मारग जात उलटि तन चितयो, मो तन दृष्टि परी।
तबहि तें लागी चटपटि इकटक कुल मरजाद हरी॥
चत्रभुजदास सुहासन की हठ में यह भाँति करी।
तब सरबस हर मन हर लीनो देह दसा बिसरी॥

बात हिलग की कासों कहिये।
सुन री सखी ब्यथा या तन की समझ समझ मन चुप कर रहिये॥
मरमी बिना मरम को जाने यह उपहास जान जग सहिये।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधरन मिलें जब तबहीं सब सुख पैये॥

ब्रज पर उनई आजु घटा।
नइ नइ बूँद सुहावनि लागति, चमकति बिज्जु छटा॥
गरजत गगन मृदंग बजावत, नाचत मोर नटा।
गावत हैं सुर दै चातक पिक, प्रगट्यौ मदन भटा॥
सब मिलि भेंट देत नंदलालैं, बैठे ऊँचे अटा।
'चत्रभुज' प्रभु गिरधरन लाल सिर, कसुँभी पीत पटा॥

हिंडोरैं माई झूलत गिरिवरधारी।
बाम भाग बृषभानुनंदिनी, पहरैं कसुँभी सारी॥
ब्रज जुवती चहुँ दिसि तैं ठाढ़ी, निरखत तन मन वारी।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधरन लाल सँग,
बाढ़्यौ रँग अति भारी॥

नँदलाल बजाई बाँसुरी श्री जमुनाजी के तीर री।
अधर धर मिलत सप्त स्वर मों उपजत राग रसाल री॥
ब्रज जुवती धुनि सुनि उठ धाईं, रही न अंग सँभाल री।
छूटी लट लटकात बदन पर, टूटी मुक्ता माल री॥
बहत न नीर, समीर न डोलत, बृंदा विपिन सँकेत री।
सुन थावरहू अचेत चेत भये, जंगम भये अचेत री॥
अफर फरे फल फूल भये री, जरे हरे भये पात री।
उमग प्रेम जल चल्यौ सिखर तें, गरे गिरिन के गात री॥

तृन नहिं चरत मृगा मृगि दोऊ, तान परी जब कान री।
सुनत गान गिर परे धरनि पर, मानों लागे बान री॥
सुरभी लाग दियौ केहरि कौं, रहत भवन हीं डार री।
भेक भुजंग फनहिं चढ़ बैठे, निरखत श्रीमुख चारु री॥
खग रसना रस चाख बदन अरु नयन मूँद, मौन धार री।
चाखत फलहि न परे चोंच तें, बैठे पाँख पसार री॥
सुर नर असुर देव सब मोहे, छाये ब्योम बिमान री।
चत्रभुजदास कहौ को न बस भये, या मुरली की तान री॥

श्रीछीतस्वामीजी

(श्रीविट्ठलनाथजीके प्रमुख शिष्य और अष्टछापके महाकवि। आविर्भाव—वि० सं० १५७२ के लगभग, जाति—मथुराके चौबे, अन्तर्धान—वि० सं० १६४२ में पूँछरी स्थानपर।)

मेरी अँखियन के भूषन गिरिधारी।
बलि बलि जाउँ छबीली छबि पर अति आनँद सुखकारी॥
परम उदार चतुर चिंतामनि दरस परस दुखहारी।
अतुल प्रताप तनिक तुलसीदल मानत सेवा भारी॥
'छीतस्वामि' गिरिधरन बिसद जस गावत गोकुल नारी।
कहा बरनौं गुनगाथ नाथ के श्रीविट्ठल हृदय विहारी॥

मेरी अँखियन देखौ गिरिधर भावै।
कहा कहौं तो सौं सुनि सजनी, उतही कौं उठि धावै॥
मोर मुकुट कानन कुंडल लखि, तन गति सब बिसरावै।
बाजू बंद कंठ मनि भूषन, निरखि निरखि सचु पावै॥
'छीतस्वामि' कटि छुद्र घंटिका, नूपुर पदहि सुनावै।
इहि छबि सदा श्रीविट्ठल के उर, सो मन मोद बढ़ावै॥

सुमरौ गोपाल लाल, सुंदर अति रूप जाल,
मिटिहैं जंजाल सकल, निरखत सँग गोप बाल।
मोर मुकुट सीस धरैं, बनमाला सुभग गरैं,
सबकौ मन हरैं देखि, कुंडल की झलक गाल॥
आभूषन अंग सोहैं, मोतिन के हार पोहैं,
कंठश्री मोहै, दृग गोपी निरखत निहाल।
'छीतस्वामी' गोवरधनधारी, कुँवर नंद सुवन,
गायन के पाछे पाछे, धरत है लटकीली चाल॥

राधिका स्याम सुँदर कौ प्यारी।
नख सिख अंग अनूप बिराजत, कोटि चंद दुति वारी॥
एक छिन संग न छाँड़त मोहन, निरखि निरखि बलिहारी।
'छीतस्वामि' गिरधर बस जाके, सो बृषभानुदुलारी॥

गुन अपार एक मुख कहाँ लौं कहिये।
तजौ साधन भजौ नाम श्रीजमुनाजी कौ
लाल गिरिधरन बर तबहिं पैये॥
परम पुनीत प्रीति रीति सब जानि कै
दृढ़ करि चरन पर चित्त लैये।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्रीविट्ठल
ऐसी निधि छाँड़ि अब कहँ जु जैये॥

जा मुख तें श्रीजमुना नाम आवै।
जाके ऊपर कृपा करत श्रीवल्लभ प्रभु
सोई श्रीजमुनाजी को भेद पावै॥
तन मन धन सब लाल गिरिधरन कौं
दे कै चरन पर चित्त लावै।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्रीविट्ठल
नैनन प्रगट लीला दिखावै॥

श्रीगोविन्दस्वामीजी

(श्रीविट्ठलनाथजीके प्रमुख शिष्य और अष्टछापके महान् भक्त-गायक-कवि, जन्म–वि० सं० १५६२ ब्रजके निकट आँतरी ग्राम, जाति–ब्राह्मण, देहावसान–वि० सं० १६४२ गोवर्धनके समीप ।)

बाल-लीला

जागौ कृष्ण ! जसोदा बोलै, इहिं अवसर कोउ सोवै हो ।
गावत गुन गोपाल ग्वालिनी, हरषित दही बिलोवै हो ॥
गो दोहन धुनि पूरि रही ब्रज, गोरी दीर सँजोवै हो ।
सुरभी हूँक, बछरुआ जागे, अनमिष मारग जोवैं हो ॥
बेनु मधुर धुनि मदुवर बाजत, बैंत गहे कर सेली हो ।
अपनी गाय सब ग्वाल दुहत हैं, तुम्हरी गाय अकेली हो ॥
जागे कृष्ण जगत के जीवन, बदन नैंन सुख मोहैं हो ।
'गोविंद' प्रभु जो दुहत हैं धौरी, गोवबधू मन मोहैं हो ॥

अहो दधि मथति घोष की रानी ।
दिव्य चीर पहरें दक्खिन कौ, किंकिनि रुनझुन बानी ॥
सुत के क्रम गावत आनँद भरि, बाल चरित जानि जानी ।
स्रम-जल राजै बदन कमल पर, मनहुँ सरद बरसानी ॥
पुत्र सनेह चुचात पयोधर, प्रमुदित अति हरषानी ।
'गोविंद' प्रभु घुटुरुनि चलि आए, पकरी रई मथानी ॥

प्रात समय उठि जसोमति, दधि मंथन कीन्हौ ।
प्रेम सहित नवनीत लै, सुत के मुख दीन्हौ ॥
औटि दूध बैया कियौ, हरि रुचि सौं लीन्हौ ।
मधु मेवा पकवान लै, हरि आगे कीन्हौं ॥
इहि बिधि नित क्रीड़ा करैं, जननी सुख पावै ।
'गोविंद' प्रभु आनंद मे, आँगन मे धावै ॥

प्रात समय उठि जसुमति जननी,
गिरिधर सुत कौं उबटि न्हवावति ।
करि सिंगार, बसन भूषन सजि,
फूलन रचि रचि पाग बनावति ॥
छूटे बँद, बागे अति सोभित,
बिच बिच चोव अरगजा लावति ।
सूथन लाल फुँदना सोभित,
आजु की छबि कछु कहत न आवति ॥
बिबिध कुसुम की माला उर धरि,
श्रीकर मुरली बेनु गहावति ।
लै दर्पन देखै श्रीमुख कौं,
'गोविंद' प्रभु चरनन सिर नावति ॥

क्रीड़त मनिमय आँगन रंग ।
पीत तापता कौ झगुला बन्यौ, कुलही लाल सुरंग ॥
कटि किंकिनी घोर बिसित सखि, धाय चलत बल संग ।
गोसुत पूँछ भ्रमावत कर गहि, पंकराग सोहै अंग ॥
गजमोतिन लर लटकन सोहैं, सुंदर लहरत रंग ।
'गोविंद' प्रभु के अंग अग पर, वारौं कोटि अनंग ॥

आउ मेरे गोविंद, गोकुल चंदा ।
भइ बड़ी बार खेलत जमुनातट, बदन दिखाय देहु आनंदा ॥
गायन की आवनि की बिरियाँ, दिनमनि किरन होत अति मंदा ।
आए तात मात छतियाँ लगे, 'गोविंद' प्रभु ब्रजजन सुखकंदा ॥

बैठे गोवरधन गिरि गोद ।
मंडल सखा मध्य बल मोहन, खेलत हँसत प्रमोद ॥
भई अबेर भूख जब लागी, चितवे घर की कोद ।
'गोविंद' तहाँ छाक लै आयौ, पठई मात जसोद ॥

कदम चढ़ि कान्ह बुलावत गैया ।
मोहन मुरली सब्द सुनत ही, जहाँ तहाँ ते उठि धैया ॥
आवहु आवहु सखा सिमिटि सब, पाई हैं इक ठैया ।
'गोविंद' प्रभु दाऊ सौं कहन लागे अब घर कौं बगदैया ॥

बिमल कदंब मूल अवलंबित, ठाड़े हैं पिय भानुसुता तट ।
सीस टिपारौ, लाल काछिनी, उपरैंना फरहरत पीत पट ॥
पारिजात अवतंस सरित सखि, सीस सेहरौ, बनी अलक लट ।
बिमल कपोल कुंडल की सोभा, मंद हास जित कोटि मदन भट ॥
बाम कपोल बाम भुज पर धरि, मुरलि बजावत तान बिकट घट ।
'गोविंद' प्रभु श्रीदाम प्रभृति सखा, करत प्रसंसा, जै नागर नट ॥

बेनु बजावत री मोहन कल ।
बाम कपोल बाम भुजही पर, चलगित भ्रुव रस चपल द्रगंचल ॥
सिंदूरारुन अधर सुधारस, पूरित रंध्र मृदुल अँगुली दल ।
औघर बिकट तान उपजत रस, 'गोविंद' प्रभु बलि सुरर अनुराग ॥

ब्रजजन लोचन ही कौ तारौ ।
सुनि जसुमति तेरौ पूत सपूत अति, कुल दीपक उजियारौ ॥
धेंनु चरावन जात दूरि जब, होत मदन अति भारौ ।
घोष सँजीवन मूरि हमारौ, छिन इत उत जिन टारौ ॥
सात द्यौस गिरिराज धरयौ कर, सात बरस कौ बारौ ।
'गोविंद' प्रभु चिरजीवौ रानी ! तेरौ सुत गोरस रखवारौ ॥

बिधाता बिधिहु न जानी ।
सुंदर बदन पान करिबे कूँ रोम रोम प्रति नयन न दीने,
करी यह बात अदानी ॥

स्यन सकल वपु होत री मेरे सुनती पिय मुख अमृत बानी ।
एरी मेरें भुजा होति कोटिक तो हौं भेंटति गोविंद प्रभु सौं
तोउ न तपत बुझानी ॥

हमें व्रजराज लाड़िले सौं काज ।
जग अपजस की हमें कहा डर कहनो लोग सो कहि लेउ आज ॥

कैधौं काहू कृपा करी धौं न करी जो सनमुख व्रजनृप युवराज ।
गोविंद प्रभु की कृपा चाहिये जो है सकल घोष सिरताज ॥

प्रीतम प्रीति ही तें पैये ।
जदपि रूप, गुन, सील, सुघरता, इन बातन न रिझैये ॥
सत कुल जनम करम सुभ लच्छन, वेद पुरान पढ़ैये ।
'गोविंद' प्रभु बिन स्नेह सुवा लौं, रसना कहा नचैये ॥

स्वामी श्रीयोगानन्दाचार्य

(अस्तित्व-काल—आजसे करीब ५०० वर्ष पूर्व)

(प्रेषक—श्रीहनुमानशरण सिंहानिया)

प्रात भए आवत दिवस ऐसेहि जीवन जात ॥
ऐसेहि जीवन जात कमाई करत पाप की ।
पुनि पुनि भोगत नरक विपति सहि त्रिविध ताप की ॥
जुवा भयो मदमत्त फिरै, हरि नाम न भावै ।
'जोगानंद' गवाँर जन्म पाछे पछतावै ॥
साँझ भई पुनि रात पुनि, रात भएँ पुनि प्रात ।
प्रात भएँ आवत दिवस, ऐसेहि जीवन जात ॥

सर्प डसै केहरि भखै, ताहि भलो करि मानि ॥
ताहि भलो करि मानि दुष्ट को संग न कीजै ।
खल की मीठी बात जहर ज्यों जानि न पीजै ॥
घात करै मन लिये, ग्यान अरु ध्यान न भावै ।
'जोगानंद' कुसंग साधु कौं व्याध बनावै ॥
दुर्जन की संगति तजो, दुष्ट संग अति हानि ।
सर्प डसै केहरि भखै ताहि भलो करि मानि ॥

मथन करि पय तक तजि, लह नवनीत अहीर ॥
लह नवनीत अहीर लहै मधु जिमि मधुमाखी ।
तैसेहि गहिये सार सकल मथन रस चाखी ॥
साधन सौं धन मिलै लहौ जप राम नाम मन ।
'जोगानंद' निहारि नयन मन निज आनँद घन ॥
हंस सार साही गहत, छीर तजत सब नीर ।
मथन करि पय तक तजि, लह नवनीत अहीर ॥

प्रीत कीजिये राम सों जिमि पतिव्रता नारि ॥
जिमि पतिव्रता नारि, न कबहु मन में अभिलाखै ।
तैसेहि भक्त अनन्य टेक चातक ज्यों राखै ॥
राम रूप रस त्यागि विषय रस स्वाद न चाखै ।
'जोगानंद' सुजान आन को नाम न भाखै ॥
नेकहि में मन लाइकै, आन की ओर निहारि ।
प्रीत कीजिये राम सों जिमि पतिव्रता नारि ॥

चल मन ऊरध पंथ लखि, दिव्यधाम साकेत ॥
दिव्यधाम साकेत जहाँ सियरमन विराजत ।
जहँ मारुतसुत आदि परषद सेवक भ्राजत ॥
प्रलय काल नहि नास सदा आनंद अखंडित ।
'जोगानंद' विचारि चलो ऊरध पथ पंडित ॥
मूढ़ ! न भटकै नरक में, कर आपने हित चेत ।
चल मन ऊरध पथ लखि, दिव्यधाम साकेत ॥

रघुनंदन की सरन लखि, छूटि जात सब रोग ॥
[illegible] जग सब रोग [illegible] सब राम नाम [illegible] ।
पुन्य पाप सब [illegible] निज [illegible] ॥
कोटि करम तप [illegible] [illegible] की [illegible] ।
'जोगानँद' बिन प्रीति हृदय की [illegible] ॥
[illegible] लखी, [illegible] सुमन न भोग ।
रघुनंदन की सरन लखि, छूटि जात सब रोग ॥

धन्ना भक्त

([illegible] वि० सं० १४७२, [illegible] ([illegible]), [illegible])

रे चित चेतसि की न दयाल
दमोदर [illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

आर्त पक्षीकी प्रार्थना

अब कैं राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम डरिया, पारधि साध्यौ बान॥
ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर दुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ दयामय, कौन उबारै प्रान॥
सुमिरत हीं अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान।
'सूरदास' सर लग्यौ सचानहिं, जय जय कृपानिधान॥

—सूरदास

धूल-पर-धूल
(राँका-बाँका)

भक्तश्रेष्ठ नामदेवजीने एक दिन श्रीविट्ठलभगवान्‌से प्रार्थना की—'आप तो सर्वसमर्थ हैं। लक्ष्मीनाथ हैं। आपका भक्त राँका कितना दुःख पाता है, यह आप क्यों नहीं देखते?'

श्रीपण्ढरीनाथ मुसकराये—'नामदेवजी! मेरा इसमें क्या दोष है? राँकाको तो अपनी अकिञ्चन स्थिति ही प्रिय है। वह तो परम वैराग्य प्राप्त कर चुका है। जो कुछ लेना न चाहे, उसे दिया कैसे जाय?'

नामदेवजी ठहरे प्रभुके लाड़ले भक्त। उन्होंने हठ किया—'आप दे भी तो!'

उस उदार दाताको देनेमें आपत्ति कहाँ है। नामदेवजीको आदेश मिला—'कल वनमें छिपकर देखिये!'

× × ×

पण्ढरपुरके परम धन तो पण्ढरीनाथके भक्त ही हैं। अपढ़ राँका अत्यन्त रङ्क थे। उनका राँका नाम सार्थक था। वे गृहस्थ थे और प्रभुकी कृपासे उन्हें जो पत्नी मिली थीं, वे वैराग्यमें उनसे भी बढ़कर ही थीं।

वनसे सूखी लकड़ियाँ चुन लाना और उन्हें बाजारमें बेच देना—यही इस दम्पतिके जीवन-निर्वाहका साधन था। अतः पत्नीके साथ प्रतिदिनकी भाँति राँकाजी प्रातः पूजनादिसे छुटकारा पाकर वनमें चले लकड़ियाँ एकत्र करने। लीलामयको लीला करते कितनी देर—मार्गमें स्वर्ण-मोहरोंसे भरी एक थैली धर दी प्रभुने।

पत्नी कुछ पीछे रह गयी थी। राँकाजीकी दृष्टि थैलीपर पड़ी। वे रुक गये और उसपर धूल डालने लगे। इतनेमें पत्नी पास आ गयी। उसने पूछा—'आप यह क्या कर रहे हैं?'

राँकाजीने पहले बात टाल देनी चाही। लेकिन पत्नीके आग्रह करनेपर बोले—'यहाँ सोनेकी मोहरोंसे भरी थैली पड़ी है। सोना देखकर कहीं तुम्हारे मनमें धनका लोभ आया तो हमलोगोंके भजनमें बहुत बाधा पड़ेगी। धन तो सब अनर्थोंकी जड़ है। इसीलिये मैं थैलीको धूल डालकर ढक रहा था।'

राँकाजीकी पत्नी मुसकरा उठीं। उस देवीने कहा—'नाथ! यह धूल-पर-धूल डालनेका व्यर्थ श्रम आप क्यों कर रहे हैं? सोने और मिट्टीमें भला अन्तर ही क्या है!'

राँकाजी प्रसन्न हो गये। वे बोले—'तुम्हारा वैराग्य बाँका है।' उसी समयसे उस देवीका नाम ही 'बाँका' पड़ गया।

अबकी राखि लेहु भगवान

मालिकका दान

धूलपर धूल

मालिकका दान

(लेखक—कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर)

फैल गयी यह ख्याति देश में, सिद्ध पुरुष हैं भक्त कबीर।
नर नारी लाखों ने आकर घेरी उनकी कुटीर॥
कोई कहता, मन्त्र 'फूँककर मेरा रोग दूर कर दो'।
बाँझ पुत्र के लिये बिलखती, कहती 'संत! गोद भर दो'॥
कोई कहता 'इन आँखों से दैव शक्ति कुछ दिखलाओ'।
'जगमें जगन्निर्माता की सत्ता प्रमाण कर समझाओ'॥
कातर हो कबीर कर जोड़े रोकर कहने लगे, 'प्रभो!
बड़ी दया की थी पैदा कर नीच यवन घर मुझे विभो॥
सोचा था तब अतुल कृपासे पास न आवेगा कोई।
सबकी आँख ओट बस, काम करेंगे तुम हम मिल दोई॥
पर मायावी! माया रचकर, समझा, मुझको ठगते हो।
दुनिया के लोगोंको यहाँ बुलाकर तुम क्या भगते हो!

× × ×

कहने लगे, क्रोध भारी से भर नगरी के ब्राह्मण सब।
'पूरे चारों चरण हुए कलियुग के, पाप छा गया अब॥
चरण-धूलिके लिये जुलाहे की सारी दुनिया मरती।
अब प्रतिकार नहीं होगा तो डूब जायगी सब धरती!'
कर सबने षड्यन्त्र एक कुलटा स्त्री को तैयार किया।
रुपयों से राजीकर उसको गुपचुप सब सिखलाय दिया॥
कपड़े बुन कबीर लाये हैं उन्हें बेचने बीच बजार।
पल्ला पकड़ अचानक कुलटा रोने लगी पुकार-पुकार॥
बोली, 'राजी निठुर छली! अबतक मैंने रक्खा गोपन।
सरल अबला को छलना क्या यही तुम्हारा साधूपन?॥
साधू बन के बैठ गये बन बिना दोष तुम मुझको त्याग—
भूखी नंगी फिरी, बदन सब काला पड़ा पेट की आग!'
बोले कपट-कोप कर, ब्राह्मण, पास खड़े थे, 'दुष्ट कबीर!
भण्ड तपस्वी! धर्म नाम से, धर्म डुबोया, बना फकीर।
सुख से बैठ सरल लोगों की आँखों झोंक रहा तू धूल!
अबला दीना दानों खातिर दर-दर फिरती, उठती हूल!!'
कबीर बोले, 'दोषी हूँ मैं, मेरे साथ चलो घरपर।
क्यों घर में अनाज रहते भूखों मरती, फिरती दर दर!'

दुष्टा को घर लाकर उसका विनयपूर्ण सत्कार किया।
बोले संत, दीन की कुटिया हरि ने तुझको भेज दिया॥'
रोकर बोल उठी वह, मनमें उपजा भय लज्जा परिताप!
'मैंने पाप किया लालचवश, होगा मरण साधु के शाप।'
कहने लगे कबीर, 'जननि! मत डर, कुछ दोष नहीं तेरा।
तू निन्दा-अपमानरूप मस्तक-भूषण लाई मेरा॥'
दूर किया मनका विकार सब, देकर उसे ज्ञान का दान।
मधुर कण्ठसे भरा मनोहर उसके राम नाम-गुण-गान॥
बखिरा कपटी ढोंगी साधू, फैली यह चर्चा सबमें।
मस्तक अवनत कर वे बोले, 'हूँ सचमुच नीचा सबमें॥
पाऊँ अगर किनारा, रक्खूँ कुछ भी तरणी-गर्व नहीं।
मेरे ऊपर अगर रहो तुम, सबके नीचे रहूँ सही॥'

× × ×

राजा ने मन ही-मन संत-वचन सुनने का चाव किया।
दूत बुलाने आया, पर कबीर ने अस्वीकार किया॥
बोले, 'अपनी हीन दशा में सबसे दूर पड़ा रहता।
राजसभा शोभित हो मुझ से, ऐसे भला कौन कहता!'
कहा दूतने, 'नहीं चलोगे तो राजा होंगे नाराज—
हमपर, उनकी इच्छा है दर्शन की, यश सुनकर महाराज!'
सभाबीच राजा थे बैठे, यथायोग्य सब मन्त्रीगण!
पहुँचे साथ लिये रमणी को भक्त सभा में उस ही क्षण॥
कुछ हँसे, किसीकी भौंह तनी, कइयोंने मस्तक झुका लिये।
राजा ने सोचा, निलज्ज है फिरता वेश्या साथ लिये॥
नरपतिका इंगित पाकर प्रहरी ने उनको दिया निकाल।
रमणी साथ लिये विनम्र हो, चले कुटी कबीर तत्काल!
ब्राह्मण खड़े हुए थे पथमें कौतुकसे हँसते थे तब।
तीखे ताने सुना सुनाकर चिढ़ा रहे थे सब-के-सब!!
रमणी यह सब देख रो पड़ी! चरणोंमें सिर टेक दिया।
बोली, 'पाप-पंकसे मेरा क्यों तुमने उद्धार किया?
क्यों इस अधमा को घर रखकर तुम सहते इतना अपमान?'
कबीर बोले, 'जननी! तू तो है मेरे मालिकका दान!'

(बँगलासे भावानुवाद)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

(भगवान्‌के महान् भक्त और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीरामचरितमानस' के प्रणेता, जन्मस्थान—प्रयागके पास यमुनाके दक्षिण राजापुर नामक ग्राम; कोई-कोई जन्मस्थान 'सोरों' मानते हैं । जन्म-संवत् वि० १५५४ श्रावण शुक्ला सप्तमी, पिताका नाम श्रीआत्मारामजी दूबे, सरयूपारीण ब्राह्मण, माताका नाम हुलसी, गोत्र पराशर, देहत्याग वि० सं० १६८० श्रावणकृष्ण ३)

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥

हे रघुनाथ ! मेरे हृदयमें दूसरी अभिलाषा नहीं है, मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ; क्योंकि आप सबके अन्तरात्मा हैं । हे रघुश्रेष्ठ ! मुझे पूर्ण भक्ति दें और मेरे चित्तको काम आदि दोषोंसे रहित कर दें ।

सत्सङ्गकी महिमा

साधु चरित सुभ चरित कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । बंदनीय जेहिं जग जस पावा ॥
जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥
बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं । फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥

नाम-महिमा

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार ।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर ॥

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥
जपहिं नामु जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
राम भगत जग चारि प्रकारा । सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा । ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा ॥
चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ । कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन ।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन ॥

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु ।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु ॥

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका । भए नाम जपि जीव बिसोका ॥
बेद पुरान संत मत एहू । सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥
ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें । द्वापर परितोषत प्रभु पूजें ॥
कलि केवल मल मूल मलीना । पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥
नाम कामतरु काल कराला । सुमिरत समन सकल जग जाला ॥
राम नाम कलि अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलंबन एकू ॥
कालनेमि कलि कपट निधानू । नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ॥
करमनास जलु सुरसरि परई । तेहि को कहहु सीस नहिं धरई ॥
उलटा नाम जपत जगु जाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना ॥
भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

रामकथाकी महिमा

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि । रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ॥
रामकथा कलि पंनग भरनी । पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी ॥
रामकथा कलि कामद गाई । सुजन सजीवनि मूरि सुहाई ॥
जग मंगल गुनग्राम राम के । दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥
सदगुर ग्यान बिराग जोग के । बिबुध बैद भव भीम रोग के ॥
जननि जनक सिय राम प्रेम के । बीज सकल ब्रत धरम नेम के ॥
समन पाप संताप सोक के । प्रिय पालक परलोक लोक के ॥
सचिव सुभट भूपति बिचार के । कुंभज लोभ उदधि अपार के ॥
काम कोह कलिमल करिगन के । केहरि सावक जन मन बन के ॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के । कामद घन दारिद दवारि के ॥
मंत्र महामनि बिषय ब्याल के । मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥
हरन मोह तम दिनकर कर से । सेवक सालि पाल जलधर से ॥
अभिमत दानि देवतरु बर से । सेवत सुलभ सुखद हरि हर से ॥
सुकबि सरद नभ मन उडगन से । रामभगत जन जीवन धन से ॥
सकल सुकृत फल भूरि भोग से । जग हित निरुपधि साधु लोग से ॥
सेवक मन मानस मराल से । पावन गंग तरंग माल से ॥

कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड ।
दहन राम गुन ग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड ॥

रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु ।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु ॥

माता सुमित्राकी लक्ष्मणको सीख

गुर पितु मातु बंधु सुर साईं । सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के । स्वारथ रहित सखा सबही के ॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें । सब मानिअहिं राम के नातें ॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू । लेहु तात जग जीवन लाहू ॥
पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू । राम सीय पद सहज सनेहू ॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू । जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥

लक्ष्मणजीका निषादराजको उपदेश

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता । निज कृत करम भोग सबु भ्राता ॥
जोग बियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू । संपति बिपति करमु अरु कालू ॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू । सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं । मोह मूल परमारथु नाहीं ॥
सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ ॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा । देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी । परमारथी प्रपंच बियोगी ॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा । जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
सखा परम परमारथु एहू । मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥

कौन सोचने योग्य है ?

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना । तजि निज धरमु बिषय लयलीना ॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू । जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ॥
सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी । मुखर मान प्रिय ग्यान गुमानी ॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी । कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई । जो नहिं गुर आयसु अनुसरई ॥
सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग ।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग ॥
बैखानस सोइ सोचै जोगू । तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी । जननि जनक गुर बंधु बिरोधी ॥
सब बिधि सोचिअ पर अपकारी । निज तनु पोषक निरदय भारी ॥
सोचनीय सबही बिधि सोई । जो न छाड़ि छलु हरि जन होई ॥

नारी-धर्म

मातु पिता भ्राता हितकारी । मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्ता बयदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपद काल परिखिअहिं चारी ॥
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं । बेद पुरान संत सब कहहीं ॥
उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम परपति देखइ कैसें । भ्राता पिता पुत्र निज जैसें ॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई । सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई ॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई । जानेहु अधम नारि जग सोई ॥
पति बंचक परपति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी । दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई । बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

भगवान्‌का निवासस्थान

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे । तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी । रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक । बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥
जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु ।
मुकुताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु ॥
प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा । सादर जासु लहइ नित नासा ॥
तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं । प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी । प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी ॥
कर नित करहिं राम पद पूजा । राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा ॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा । पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा ॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना । बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना ॥
तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी । सकल भायँ सेवहिं सनमानी ॥
सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ ॥

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥
सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा॥

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

नवधा भक्ति

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

मित्रके लक्षण

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र क दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई॥
जा कर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई॥
सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥

विजयप्रद् रथ

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

राम-गीता

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा॥

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि ।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ॥

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा । जोग न मख जप तप उपवासा ॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई । जथा लाभ संतोष सदाई ॥
मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई । एहि आचरन बस्य मैं भाई ॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा । तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई । दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह ।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ॥

राम-प्रेमकी महिमा

आगम निगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुंदर ॥
छूटइ मल कि मलहि के धोएँ । घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ ॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभिअंतर मल कबहुँ न जाई ॥
सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित । सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित ॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई । जाकें पद सरोज रति होई ॥

राम-स्वभाव

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥
संसृत मूल सूलप्रद नाना । सकल सोक दायक अभिमाना ॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी । सेवक पर ममता अति भूरी ॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं । मातु चिराव कठिन की नाईं ॥

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर ।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि ।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि ॥

काकभुशुण्डिजीके अनुभव

जानें बिनु न होइ परतीती । बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई । जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥

बिनु गुर होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु ।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु ॥
कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु ।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ ॥

बिनु संतोष न काम नसाहीं । काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा । थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा ॥
बिनु बिग्यान कि समता आवइ । कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ ॥
श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई । बिनु महि गंध कि पावइ कोई ॥
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा । जल बिनु रस कि होइ संसारा ॥
सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई । जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं ॥
निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा । परस कि होइ बिहीन समीरा ॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा । बिनु हरि भजन न भव भय नासा ॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ॥
कोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान ।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ॥

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताकें । तेहि कि दरिद्र परस मनि जाकें ॥
परद्रोही की होहिं निसंका । कामी पुनि कि रहहिं अकलंका ॥
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें । कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें ॥
काहू सुमति कि खल सँग जामी । सुभ गति पाव कि परत्रिय गामी ॥
भव कि परहिं परमात्मा बिंदक । सुखी कि होहिं कबहुँ हरिनिंदक ॥
राजु कि रहइ नीति बिनु जानें । अघ कि रहहिं हरि चरित बखानें ॥
पावन जस कि पुन्य बिनु होई । बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ॥
लाभु कि किछु हरि भगति समाना । जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना ॥
हानि कि जग एहि सम किछु भाई । भजिअ न रामहि नर तनु पाई ॥
अघ कि पिसुनता सम कछु आना । धर्म कि दया सरिस हरिजाना ॥

गरुडजीके प्रश्न और उनके उत्तर

नाथ मोहि निज सेवक जानी । सप्त प्रस्न मम कहहु बखानी ॥
प्रथमहिं कहहु नाथ मतिधीरा । सब ते दुर्लभ कवन सरीरा ॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी । सोउ संछेपहिं कहहु बिचारी ॥
संत असंत मरम तुम्ह जानहु । तिन्ह कर सहज सुभाव बखानहु ॥
कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला । कहहु कवन अघ परम कराला ॥
मानस रोग कहहु समुझाई । तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई ॥
तात सुनहु सादर अति प्रीती । मैं संछेप कहउँ यह नीती ॥
नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही ॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी । ग्यान बिराग भगति सुभ देनी ॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर । होहिं बिषय रत मंद मंद तर ॥
काँच किरिच बदलें ते [illegible] परस मनि देहीं ॥
नहिं दरिद्र सम दुख [illegible] न सुख जग नाहीं ॥
पर [illegible] सुभाउ खगराया ॥
[illegible] अभागी ॥

भूर्ज तरू सम संत कृपाला। पर हित निति सह बिपति बिसाला॥
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥
दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी॥
परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गरीसा॥
हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई॥
द्विज निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ बायस सरीर धरि॥
सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥
होहिं उलूक संत निंदा रत। मोह निसा प्रिय ग्यान भानु गत॥
सब कै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥

रामभक्तिमें सारे गुण हैं

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी। त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी॥
मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे॥
रामकृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा॥
सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥
धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी॥
धन्य सो भूपु नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा॥

सो कुल धन्य उमा! सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

प्रार्थना

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव भीर॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ॥
दीन, सब अँग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाइ॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥
जानकी जगजननि जन की किएँ बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुन गन गाइ॥

राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे॥
एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे॥
भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो, बाम रे।
राम-नाम ही सों अंत सब ही को काम रे॥
जग नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे॥
राम-नाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे॥
राम राम राम जीह जौलौं तू न जपिहै।
तौलौं, तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै॥

सुरसरि-तीर बिनु नीर दुख पाइहै।
सुरतरु तरे तोहि दारिद सताइहै॥
जागत, बागत, सपने न सुख सोइहै।
जनम जनम, जुग जुग जग रोइहै॥
छूटिबे के जतन बिसेष बाँधो जायगो।
ह्वैहै बिष भोजन जो सुधा सानि खायगो॥
तुलसी तिलोक, तिहूँ काल तोसे दीन को।
रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को॥
सुमिरु सनेह सों तू नाम रामराय को।
सम्बल निसंबल को, सखा असहाय को॥
भाग है अभागेहू को, गुन गुनहीन को।
गाहक गरीब को, दयालु दानि दीन को॥
कुल अकुलीन को, सुन्यो है बेद साखि है।
पाँगुरे को हाथ-पाँय, आँधरे को आँखि है॥
माय-बाप भूखे को, अधार निराधार को।
सेतु भवसागर को, हेतु सुखसार को॥
पतितपावन राम-नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥
भली भली भाँति है जो मेरे कहे लागिहै।
मन राम-नाम सों सुभाय अनुरागिहै॥
राम-नाम को प्रभाउ जानि जूड़ी आगिहै।
सहित सहाय कलिकाल भीरु भागिहै॥
राम-नाम सों बिराग, जोग, जप जागिहै।
बाम बिधि भाल हूँ न करम दाग दागिहै॥
राम-नाम मोदक सनेह सुधा पागिहैं।
पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै॥
राम-नाम काम-तरु जोइ जोइ माँगिहै।
तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥

देव—

दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥
सुर, नर, मुनि, असुर, नाग साहिब तौ घनेरे।
(पै) तौलौं जौलौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥
त्रिभुवन तिहुँ काल बिदित, बेद बदति चारी।
आदि-अंत-मध्य राम! साहबी तिहारी॥
तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।
सुनि सुभाव-सील-सुजसु जाचन जन आयो॥
पाहन-पसु, बिटप-बिहँग अपने करि लीन्हे।
महाराज दसरथ के! रंक राय कीन्हे॥
तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो॥

देव—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो?
मो समान आरत नहिं, आरति-हर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

देव—

और काहि माँगिये, को माँगिबो निवारै।
अभिमतदातार कौन, दुख-दरिद्र दारै॥
धरमधाम राम काम-कोटि-रूप रूरो।
साहब सब बिधि सुजान, दान-खडग-सूरो॥
सुसमय दिन द्वै निसान सब के द्वार बाजै।
कुसमय दसरथ के! दानि तैं गरीब निवाजै॥
सेवा बिनु गुनविहीन दीनता सुनाये।
जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाये॥
तुलसिदास जाचक-रुचि जानि दान दीजै।
रामचंद्र! चंद्र तू चकोर मोहि कीजै॥

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना-मान-मद, जीव सहज सुख त्यागे॥
परनिंदा सुनि स्रवन मलिन भे, बचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ-चरन बिसराये॥
तुलसिदास ब्रत-दान, ग्यान-तप, सुद्धिहेतु श्रुति गावै।
राम चरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥

मन! माधव को नेकु निहारहि।
सुनु सठ, सदा रंक के धन ज्यों, छिन छिन प्रभुहिं सँभारहि॥
सोभा-सील-ग्यान-गुन-मंदिर, सुंदर परम उदारहि।
रंजन संत, अखिल अघ-गंजन, भंजन बिषय बिकारहि॥
जो बिनु जोग-जग्य-ब्रत-संयम गयो चहै भव-पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसि बासर हरि-पद-कमल बिसारहि॥

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओसकन की ॥
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की ।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आनन की ॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि ! जानत हौ गति जन की ।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥

नाचत ही निसि-दिवस मरयो ।
तब ही ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धरयो ॥
बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भरयो ।
चर अरु अचर गगन जल-थल में, कौन न स्वाँग करयो ॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज नहिं जाँचत कोउ उबरयो ।
मेरो दुसह दरिद्र, दोष, दुख काहू तौ न हरयो ॥
थके नयन, पद, पानि, सुमति, बल, संग सकल बिछुरयो ।
अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव-भय बिकल डरयो ॥
जेहि गुनतें बस होहु रीझि करि, सो मोहि सब बिसरयो ।
तुलसिदास निज भवनद्वार प्रभु दीजै रहन परयो ॥

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति ।
निज प्रभुता बिसारि जन के बस, होत सदा यह रीति ॥
जिन बाँधे सुर-असुर, नाग-नर, प्रबल करम की डोरी ।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी ॥
जाकी मायाबस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो ।
करतल ताल बजाय ग्वाल-जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ॥
बिस्वंभर, श्रीपति, त्रिभुवनपति, बेद-बिदित यह लीख ।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु है द्विज माँगी भीख ॥
जाको नाम लिये छूटत भव-जनम-मरन दुख-भार ।
अंबरीष-हित लागि कृपानिधि सोइ जनमे दस बार ॥
जोग-बिराग, ध्यान-जप-तप करि, जेहि खोजत मुनि ग्यानी ।
बानर-भालु चपल पसु पामर, नाथ तहाँ रति मानी ॥
लोकपाल, जम, काल, पवन, रबि, ससि सब आग्याकारी ।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत कर धारी ॥

हरि ! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन-धाम बिबुध-दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों ॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभु के, एक एक उपकार ।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजै परम उदार ॥
बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक ॥
कृपा-डोरि बनसी पद अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो ।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो ॥
हैं स्रुति-बिदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै ।
तुलसिदास यह जीव मोह-रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै ॥

यह बिनती रघुबीर गुसाईं ।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई ॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥
कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई ।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ-अंड की नाईं ॥
या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई ।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं ॥

जानकी-जीवन की बलि जैहौं ।
चित कहै राम-सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं ॥
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद-बिमुख न पैहौं ।
मन समेत या तन के बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं ॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं ।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईस ही नैहौं ॥
नातो-नेह नाथ-सों करि सब नातो-नेह बहैहौं ।
यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ॥

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं ।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं ।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ॥

माधव ! मो समान जग माहीं ।
सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन बिषय कोउ नाहीं ॥
तुम सम हेतुरहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी ।
मैं दुख-सोक-बिकल कृपालु ! केहि कारन दया न लागी ॥
नाहिंन कछु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना ।
ग्यान-भवन तनु दियेहु नाथ ! सोउ पाय न मैं प्रभु जाना ॥
बेनु करील श्रीखंड बसंतहि दूषन मृषा लगावै ।
सार-रहित हतभाग्य सुरभि पल्लव सो कहु किमि पावै ॥
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ बिचार जिय मोरे ।
तुलसिदास प्रभु मोह-संखला, छुटिहि तुम्हारे छोरे ॥

माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै ।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै ॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै ।
ईंधन अनल लगाय कल्प सत, औटत नास न पावै ॥
तरु-कोटर महँ बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे ।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे ॥
अंतर मलिन बिषय मन अति, तन पावन करिय पखारे ।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे ॥
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई ।
बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई ॥

कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक ! धरिहौ नाथ सीस मेरे ।
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे ॥
जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक-संसय मेट्यो ।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों, परम प्रीति केवट भेंट्यो ॥
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ, पिंड देइ निजधाम दियो ।
जेहि कर बालि बिदारि दासहित, कपिकुल-पति सुग्रीव कियो ॥
आयो सरन सभीत बिभीषन जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों ।
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति, अभयदान देवन्ह दीन्हों ॥
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की, मेटति पाप, ताप, माया ।
निसि-बासर तेहि कर-सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया ॥

ते नर नरकरूप जीवत जग
भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी ।
निसिबासर रुचि पाप असुचिमन,
खलमति-मलिन, निगमपथ-त्यागी ॥
नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को,
स्रवन न राम-कथा-अनुरागी ।
सुत बित-दार-भवन-ममता-निसि
सोवत अति, न कबहुँ मति जागी ॥
तुलसिदास हरि-नाम सुधा तजि,
सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी ।
सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन,
जनमत जगत जननि-दुख लागी ॥

कलि नाम कामतरु राम को ।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को ॥
नाम लेत दाहिनो होत मन बाम बिधाता बाम को ।
कहत मुनीस महेस महातम, उलटे सूधे नाम को ॥
भलो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित-ललाम को ।
तुलसी जग जानियत नाम ते सोच न कूच मुकाम को ॥

मैं हरि पतित-पावन सुने ।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने ॥
ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने ।
और अधम अनेक तारे जात कापै गने ॥
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक सुरपुर मने ।
दास तुलसी सरन आयो, राखिये अपने ॥

ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी ।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥
जो संपति दस सीस अरप करि रावन सिव पहँ लीन्हीं ।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो ।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो ॥

जानत प्रीति रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई ॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई ।
ऐसेहु पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई ।
रन परयो बंधु बिभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई ॥
घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥
सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई ।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई ॥
प्रेम कनौड़ो रामसो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई ।
तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई ॥
तुलसी राम सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई ।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गवाँई ॥

ऐसे राम दीन-हितकारी ।
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी ॥
साधन हीन दीन निज अघ-बस, सिला भई मुनि नारी ।
गृहतें गवनि परसि पद पावन घोर सापतें तारी ॥
हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु समान बनचारी ।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी ॥
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी ।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी ॥
बिहँग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन ब्रतधारी ।
जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी ॥

अधम जाति सबरी जोषित जड़, लोक-बेद तें न्यारी ।
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी ॥
कपि सुग्रीव बंधु भय-ब्याकुल, आयो सरन पुकारी ।
सहि न सके दारुन दुख जन के, हत्यो बालि सहि गारी ॥
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर, कौन भजन अधिकारी ।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी ॥
असुभ होइ जिन्ह के सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी ।
बेद-बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ ! तुम्हारी ॥
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्ह की तुम बिपति निवारी ।
कलि-मल-ग्रसित दास तुलसी पर, काहे कृपा बिसारी ? ॥

जो मोहि राम लागते मीठे ।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ॥
बंचक बिषय बिबिध तनु धरि अनुभवे सुने अरु डीठे ।
यह जानत हिरदै अपने सपने न अघाइ उबीठे ॥
तुलसिदास प्रभु सों, एकहि बल बचन कहत अति ढीठे ।
नाम की लाज राम करुनाकर केहि न दिये कर चीठे ॥

यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो ।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो ॥
ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर-घर के ।
त्यों न साधु, सुरसरि-तरंग-निरमल गुनगन रघुबर के ॥
ज्यों नासा सुगंध-रस-बस, रसना षटरस-रति मानी ।
राम-प्रसाद-माल जूठन लगि त्यों न ललकि ललचानी ॥
चंदन-चंदबदनि-भूषन-पट ज्यों चह पाँवर परस्यो ।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो ॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये बपु बचन हिये हूँ ।
त्यों न राम सुकृतग्य जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ ॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे ।
राम-सीय-आस्रमनि चलत त्यों भये न स्रमित अभागे ॥
सकल अंग पद-बिमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है ।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है ॥

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपातें संत-सुभाव गहौंगो ॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
पर-हित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो ॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुधि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भगति लहौंगो ॥

नाहिंन आवत आन भरोसो ।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम-फलनि फरो सो ।
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो ।
पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि-भरि बेद परोसो ।
आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो ।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सो ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो ।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥
बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो ।
गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो ॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो ।
रामनाम-बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो ॥

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
तजिये ताहि / सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी ॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो ।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥

जो पै रहनि / लगन रामसों नाहीं ।
तौ नर खर कूकर सूकर सम
बृथा जियत जग माहीं ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय,
भूख, प्यास सबही के ।
मनुज देह सुर-साधु सराहत,
सो सनेह सिय-पी के ॥
सूर, सुजान सुपूत सुलच्छन
गनियत गुन गरुआई ।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल
तजत नहीं करुआई ॥
कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि,
सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस
सालन साग अलोने ॥

लाज न लागत दास कहावत ।
सो आचरन बिसारि सोच तजि,
जो हरि तुम कहँ भावत ॥
सकल संग तजि भजत जाहि मुनि,
जप तप जाग बनावत ।
मो सम मंद महाखल पाँवर,
कौन जतन तेहि पावत ॥
हरि निरमल, मलग्रसित हृदय,
असमंजस मोहि जनावत ।
जेहि सर काक कंक बक सूकर,
क्यों मराल तहँ आवत ॥
जाकी सरन जाइ कोबिद
दारुन त्रयताप बुझावत ।
तहूँ गये मद मोह लोभ अति,
सरगहुँ मिटत न सावत ॥
भव-सरिता कहँ नाउ संत, यह
कहि औरनि समुझावत ।
हौं तिनसों हरि ! परम बैर करि,
तुम सों भलो मनावत ॥
नाहिन और ठौर मो कहँ,
तातें हठि नातो लावत ।
राखु सरन उदारचूड़ामनि !
तुलसिदास गुन गावत ॥

मैं तोहिं अब जान्यो संसार ।
बाँधि न सकहिं मोहि हरि के बल,
प्रगट कपटआगार ॥
देखत ही कमनीय, कछू
नाहिंन पुनि किये बिचार ।
ज्यों कदलीतरु-मध्य निहारत,
कबहुँ न निकसत सार ॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं
फिरत न पायों पार ।
महामोह-मृगजल-सरिता महँ
बोर्यो हौं बारहिं बार ॥
सुनु खल ! छल-बल कोटि किये बस
होहिं न भगत उदार ।
सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि
हृदय न नंदकुमार ॥

तासों करहु चातुरी जो नहिं
जानै मरम तुम्हार ।
सो परि डरै मरै रजु-अहि तें,
बूझै नहिं ब्यवहार ॥
निज हित सुनु सठ ! हठ न करहि, जो
चहहि कुसल परिवार ।
तुलसिदास प्रभु के दासनि तजि
भजहि जहाँ मद मार ॥

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ॥
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते ।
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥
सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते ।
अंतहु तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजै अबही ते ॥
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते ॥

लाभ कहा मानुष-तनु पाये ।
काय-बचन मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये ॥
जो सुख सुरपुर-नरक, गेह-बन आवत बिनहिं बुलाये ।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये ॥
पर-दारा, पर-द्रोह, मोहबस किये मूढ़ मन भाये ।
गरभबास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसराये ॥
भय-निद्रा, मैथुन अहार, सब के समान जग जाये ।
सुर-दुरलभ तनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गवाँये ॥
गई न निज-पर-बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम-लय लाये ।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछिताये ॥

जो मन लागै रामचरन अस ।
देह-गेह-सुत-बित-कलत्र महँ
मगन होत बिनु जतन किये जस ॥
द्वंद्वरहित, गतमान, ग्यानरत,
बिषय-बिरत खटाइ नाना कस ।
सुखनिधान सुजान कोसलपति
ह्वै प्रसन्न, कहु, क्यों न होहिं बस ॥
सर्बभूत-हित, निर्ब्यलीक चित,
भगति-प्रेम दृढ़ नेम एकरस ।
तुलसिदास यह होइ तबहिं जब
द्रवै ईस, जेहि हतो सीस दस ॥

ऐसी कौन प्रभु की रीति !
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ॥
काममोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगत पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह ॥
नेमतें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।
कियो लीन सु आप में हरि राजसभा मँझारि ॥
ब्याध चित दै चरन मार्‍यो मूढ़मति मृग जानि ।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥
कौन तिन्ह की कहै जिन्ह के सुकृत अरु अघ दोउ ।
प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो ॥
करम उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो ।
मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो ॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो ।
सो हौं सुमिरत नाम-सुधारस पेखत परुसि धरो ॥
स्वारथ औ परमारथ हू को नहि कुंजरो-नरो ।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि-कटक तरो ॥
प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो ।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर, हौं सिसु-अरनि अरो ॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो ।
अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो ॥

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं ।
जानकी-जीवन ! जनम-जनम जग
ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं ॥
तीनि लोक, तिहुँ काल न देखत
सुहृद रावरे जोर को हौं ।
तुमसों कपट करि कलप-कलप
कृमि ह्वैहौं नरक घोर को हौं ॥
कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं
कियो भौंतुवा भौंर को हौं ।
तुलसिदास सीतल नित यहि बल,
बड़े ठेकाने ठौर को हौं ॥

ऐसेहि जनम-समूह सिराने ।
प्राननाथ रघुनाथ से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने ॥
जे जड़ जीव कुटिल, कायर, खल, केवल कलि-मल-साने ।
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ, हरितें अधिक करि माने ॥
सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पायँ पिराने ।
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने ॥
यह दीनता दूर करिबे को अमित जतन उर आने ।
तुलसी चित-चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने ॥

काहे न रसना, रामहि गावहि !
निसिदिन पर-अपवाद बृथा कत रटि-रटि राग बढ़ावहि ॥
नरमुख सुंदर मंदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि ।
ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबि-कर जल कहँ धावहि ॥
काम-कथा कलि-कैरव-चंदिनि, सुनत श्रवन दै भावहि ।
तिनहिं हटकि कहि हरि कल कीरति, करन कलंक नसावहि ॥
जातरूप मति जुगुति रुचिर मनि रचि-रचि हार बनावहि ।
सरन-सुखद रबिकुल-सरोज-रबि राम-नृपहि पहिरावहि ॥
बाद-बिवाद स्वाद तजि भजि हरि, सरस चरित चित लावहि ।
तुलसिदास भव तरहि, तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि ॥

भज मन रामचरन सुखदाई ॥
जिन चरनन ते निकसी सुरसरि संकर जटा समाई ।
जटासंकरी नाम परयो है, त्रिभुवन तारन आई ॥
जिन चरनन की चरन-पादुका भरत रहे लव लाई ।
सोइ चरन केवट धोइ लीन्हे तब हरि नाव चलाई ॥
सोइ चरन संतन जन सेवत सदा रहत सुखदाई ।
सोइ चरन गौतम ऋषि नारी परसि परमपद पाई ॥
दंडक बन प्रभु पावन कीन्हो ऋषियन त्रास मिटाई ।
सोई प्रभु त्रिलोक के स्वामी कनकमृगा सँग धाई ॥
कपि सुग्रीव बंधु-भय-ब्याकुल तिन जय छत्र फिराई ।
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर परसत लंका पाई ॥
सिव-सनकादिक अरु ब्रह्मादिक सेस सहस मुख गाई ।
तुलसिदास मारुतसुत की प्रभु निज मुख करत बड़ाई ॥

भगवान्‌का स्वरूप तथा लीला

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए ।
नील जलद तनु स्याम राम-सिसु जननि निरखि मुख निकट बोलाए ।
बंधुक सुमन अरुन पद-पंकज अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए ।
नूपुर जनु मुनिबर-कलहंसनि रचे नीड़ दै बाँह बसाए ॥
कटि मेखल बर हार ग्रीव दर, रुचिर बाँह भूषन पहिराए ।
उर श्रीवत्स मनोहर हरि नख हेम मध्य मनिगन बहु लाए ॥

सुभग चिबुक, द्विज, अधर, नासिका, स्रवन, कपोल मोहि अति भाए ।
भ्रू सुंदर करुना-रस-पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जलजाए ॥
भाल बिसाल ललित लटकन बर, बालदसा के चिकुर सोहाए ।
मनु दोउ गुर सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए ॥
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाए ।
नील जलदपर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनो तड़ित छपाए ॥
अंग अंग पर मार-निकर मिलि छबि-समूह लै लै जनु छाए ।
तुलसिदास रघुनाथ-रूप-गुन तौ कहौं जो बिधि होहिं बनाए ॥

आँगन खेलत आनँदकंद । रघुकुल-कुमुद-सुखद चारु चंद ॥
सानुज भरत लखन सँग सोहैं । सिसु-भूषन भूषित मन मोहैं ॥
तन-दुति मोर-चंद जिमि झलकै । मनहु उमगि अँग अँग छबि छलकै ॥
कटि किंकिनि, पग पैंजनि बाजैं । पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं ॥
कठुला कंठ बघनहा नीके । नयन-सरोज मयन-सरसी के ॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं । दमकति द्वै द्वै दँतुरियाँ रूरीं ॥
मुनि मन हरत मंजु मसि-बुंदा । ललित बदन बलि बालमुकुंदा ॥
कुलही चित्र बिचित्र झँगूलीं । निरखत मातु मुदित मन फूलीं ॥
गहि मनिखंभ डिंभ डगि डोलत । कलबल बचन तोतरे बोलत ॥
किलकत, झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि । देत परम सुख पितु अरु अंबनि ॥
सुमिरत सुषमा हिय हुलसी है । गावत प्रेम पुलकि तुलसी है ॥

सोहत सहज सुहाये नैन ।
खंजन मीन कमल सकुचत तब जब उपमा चाहत कबि दैन ॥
सुंदर सब अंगनि सिसु भूषन राजत जनु सोभा आये लैन ।
बड़ो लाभ, लालची लोभबस रहि गये लखि सुषमा बहु मैन ॥
भोर भूप लिये गोद मोद भरे, निरखत बदन, सुनत कल बैन ।
बालक-रूप अनूप राम छबि निवसति तुलसिदास उर-ऐन ॥

जागिये कृपानिधान जानराय रामचंद्र
जननी कहै बारबार भोर भयो प्यारे ।
राजिवलोचन बिसाल, प्रीति-बापिका-मराल,
ललित कमल बदन ऊपर मदन कोटि वारे ॥
अरुन उदित, बिगत सरबरी, ससांक किरनहीन,
दीन दीपजोति, मलिन-दुति समूह तारे ।
मनहुँ ग्यानघन प्रकास, बीते सब भव बिलास
आस त्रास तिमिर तोष तरनि तेज जारे ॥
बोलत खगनिकर मुखर मधुर करि प्रतीति सुनहु
स्रवन प्रानजीवन धन, मेरे तुम बारे ।
मनहुँ बेदबंदी मुनिबृंद सूत मागधादि
बिरुद बदत 'जय जय जय जयति कैटभारे' ॥

बिकसित कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक,
गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे ।
जनु बिराग पाइ सकल सोक कूप गृह बिहाइ
भृत्य प्रेममत्त फिरत गुनत गुन तिहारे ॥
सुनत बचन प्रिय रसाल जागे अतिसय दयाल,
भागे जंजाल बिपुल, दुख कदंब टारे ।
तुलसिदास अति अनंद देखिकै मुखारबिंद,
छूटे भ्रमफंद परम मंद द्वंद भारे ॥

बिहरत अवध-बीथिन राम ।
सग अनुज अनेक सिसु, नव-नील नीरद स्याम ॥
तरुन अरुन-सरोज-पद बनी कनकमय पदत्रान ।
पीत पट कटि तूनबर, कर ललित लघु धनु-बान ॥
लोचननि को लहत फल छबि निरखि पुर-नर नारि ।
बसत तुलसीदास उर अवधेस के सुत चारि ॥

मुनि के सँग बिराजत बीर ।
काकपच्छ धर, कर कोदंड सर, सुभग पीतपट कटि तूनीर ॥
बदन इंदु, अंभोरुह लोचन, स्याम गौर सोभा-सदन सरीर ।
पुलकत रिषि अवलोकि अमित छबि, उर न समाति प्रेम की भीर ॥
खेलत, चलत, करत मग कौतुक, बिलँबत सरित सरोवर तीर ।
तोरत लता, सुमन, सरसीरुह, पियत सुधासम सीतल नीर ॥
बैठत बिमल सिलनि बिटपनि तर, पुनि पुनि बरनत छाँह, समीर ।
देखत नटत केकि, कल गावत मधुप, मराल, कोकिला, कीर ॥
नयननि को फल लेत निरखि खग, मृग, सुरभी, ब्रजबधू, अहीर ।
तुलसी प्रभुहि देत सब आसन निज निज मन मृदु कमल कुटीर ॥

रामपद-पदुम-पराग परी ।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन तनु छबिमय देह धरी ॥
प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी ।
कृपासुधा सिंचि बिबुध-बेलि ज्यों फिरि सुख फरनि फरी ॥
निगम अगम मूरति महेसमति जुबति बराय बरी ।
सोइ मूरति भइ जानि नयनपथ इकटक तें न टरी ॥
बरनति हृदय सरूप, सील, गुन प्रेम प्रमोद भरी ।
तुलसिदास अस केहि आरत की आरति प्रभु न हरी ! ॥

नेकु, सुमुखि, चित लाइ चितौ, री ।
राजकुँवर मूरति रचिबे की रुचि सुबिरंचि श्रम कियो है कितौ, री ॥
नख सिख सुंदरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ, री ।
साँवर रूप सुधा भरिबे कहँ नयन कमल कल कलस रितौ, री ॥

मेरे जान इन्हें बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाट इतौ, री ।
तुलसी प्रभु भंजिहैं संभु-धनु, भूरि भाग सिय-मातु-पितौ, री ॥

दूलह राम, सीय दुलही री !
घन-दामिन बर बरन, हरन-मन, सुंदरता नखसिख निबही, री ॥
ब्याह-बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही, री
जीवन-जनम-लाहु, लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री॥
सुषमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही, री
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहुँ मही, री ॥
तुलसिदास जोरी देखत सुख-सोभा अतुल, न जाति कही, री ।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति काम लही री ॥

मनोहरता के मानो ऐन ।
स्यामल-गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि ! निरखु भरि नैन ॥
बीच बधू बिधुबदनि बिराजति, उपमा कहुँ कोउ है न ।
मानहु रति-ऋतुनाथ सहित मुनि-बेष बनाए है मैन ॥
किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन ।
अदभुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्हि सुख दैन ॥
सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्रामबधुन्ह के बैन ।
तुलसी प्रभु तरु तर बिलँबे, किए प्रेम-कनौडे कै न ?

मंजुल मूरति मंगलमई ।
भयो बिसोक बिलोकि बिभीषन, नेह देह-सुधि-सींव गई ॥
उठि दाहिनी ओर तें सनमुख सुखद माँगि बैठक लई ।
नख-सिख निरखि-निरखि सुख पावत, भावत कछु, कछु और भई
बार कोटि सिर काटि, साटि लटि रावन संकर पै लई ।
सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन-ज्यों दई ॥
प्रीति प्रतीति-रीति-सोभा-सरि, थाहत जहँ-जहँ तहँ घई ।
बाहु-बली, बानैत बोलको, बीर बिस्वबिजई-जई ॥
को दयालु दूसरो दुनी, जेहि जरनि दीन हिय की हई ? ।
तुलसी काको नाम जपत जग जगती जामति बिनु बई ॥

आजु रघुबीर-छबि जात नहिं कछु कही ।
सुभग सिंहासनासीन सीता-रवन,
भुवन-अभिराम, बहु काम सोभा सही ॥
चारु चामर-ब्यजन, छत्र-मनिगन बिपुल,
दाम-मुकुतावली-जोति जगमगि रही ।
मनहुँ राकेस सँग हंस-उडुगन-बरहि
मिलन आए हृदय जानि निज नाथही ॥
मुकुट सुंदर सिरसि, भालबर तिलक, भ्रू,
कुटिल कच, कुंडलनि परम आभा लही ।
मनहुँ हर डर जुगल मारध्वज के मकर
लागि स्रवननि करत मेरु की बतकही ॥
अरुन राजीव-दल-नयन करुना-अयन,
बदन सुषमा सदन, हास त्रय-तापही ।
बिबिध कंकन, हार, उरसि गजमनि-माल,
मनहुँ बग-पाँति जुग मिलि चली जलदही ॥
पीत निरमल चैल, मनहुँ मरकत सैल,
पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहजही ।
ललित सायक-चाप, पीन भुज बल अतुल
मनुज-तनु दनुज-बन-दहन, मंडन मही ॥
जासु गुन-रूप नहिं कलित, निरगुन सगुन,
संभु-सनकादि, सुक भगति दृढ करि गही ।
दास तुलसी राम-चरन-पंकज सदा
बचन मन करम चहै प्रीति नित निरबही ॥

सखि ! रघुनाथ-रूप निहारु ।
सरद-बिधु रबि-सुवन मनसिज मान भंजनिहारु ॥
स्याम सुभग सरीर जन-मन-काम-पूरनिहारु ।
चारु चंदन मनहु मरकत-सिखर लसत निहारु ॥
रुचिर उर उपबीत राजत, पदिक गजमनि हारु ।
मनहु सुरधनु नखतगन बिच तिमिर-भंजनिहारु ॥
बिमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-बिनिंदनिहारु ।
बदन सुषमा-सदन सोभित मदन-मोहनिहारु ॥
सकल अंग अनूप, नहिं कोउ सुकबि बरननिहारु ।
दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु ॥

आज रघुपति-मुख देखत लागत सुख,
सेवक सुरूप, सोभा सरद-ससि सिहाई ।
दसन-बसन लाल, बिसद हास रसाल
मानो हिमकर-कर राखे राजिव मनाई ॥
अरुन नैन बिसाल, ललित भृकुटी, भाल,
तिलक, चारु कपोल, चिबुक-नासा सुहाई ।
बिथुरे कुटिल कच, मानहु मधु लालच अलि
नलिन-जुगल ऊपर रहे लोभाई ॥
स्रवन सुंदर सम कुंडल कल जुगम,
तुलसिदास अनूप, उपमा कहि न जाई ।
मानो मरकत सीप सुंदर ससि समीप
कनक-मकर-जुत बिधि बिरची बनाई ॥

देखत अवध को आनँद ।
हरषि बरषत सुमन दिन-दिन देवतनि को बृंद ॥

नगर-रचना सिखन को बिधि तकत बहु बिधिबृंद।
निरखि लागत अगम, ज्यों जलचरहि गमन सुछंद॥
मुदित पुरलोगनि सराहत निरखि सुषमाकंद।
जिन्हके सुअलि-चख पिअत राम-मुखारबिंद-मरंद॥
मध्य ब्योम बिलंबि चलत दिनेस-उडुगन-चंद।
रामपुरी बिलोकि तुलसी मिटत सब दुख-द्वंद॥

उद्बोधन

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषन की,
अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल,
संकट कोटि कृपानहि रे॥

सुत, दार, अगारु, सखा, परिवारु
बिलोकु महा कुसमाजहि रे।
सब की ममता तजि कै, समता सजि,
संतसभाँ न बिराजहि रे॥
नरदेह कहा, करि देखु बिचारु,
बिगारु गँवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों,
तुलसी भजु कोसलराजहि रे॥

सो जननी, सो पिता, सोइ भाइ,
सो भामिनि, सो सुतु, सो हितु मेरो।
सोइ सगो, सो सखा, सोइ सेवकु,
सो गुरु सो सुरु, साहेबु, चेरो॥
सो 'तुलसी' प्रिय प्रान समान,
कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि देह को गेह को नेहु,
सनेह सों राम को होइ सबेरो॥

रामु हैं मातु, पिता, गुरु, बंधु,
औ संगी, सखा, सुतु, स्वामि, सनेही।
राम की सौंह, भरोसो है राम को,
राम रँग्यो, रुचि राच्यो न केही॥
जीअत रामु, मुएँ पुनि रामु,
सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जिऐ जग में 'तुलसी',
नतु डोलत और मुए धरि देही॥

सियराम-सरूपु अगाध अनूप
बिलोचन-मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नामु,
हिएँ पुनि रामहि को थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों,
रति राम सों, रामहि को बलु है।
सब की न कहै तुलसी के मतें
इतनो जग जीवन को फलु है॥

तिन्ह तें खर, सूकर, स्वान भले,
जड़ता बस ते न कहैं कछु वै।
'तुलसी' जेहि राम सों नेहु नहीं,
सो सही पसु पूँछ, बिषान न द्वै॥
जननी कत भार मुई दस मास,
भई किन बाँझ, गई किन च्वै।
जरि जाउ सो जीवनु जानकिनाथ!
जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥

गज-बाजि-घटा, भले भूरि भटा,
बनिता, सुत भौंह तकैं सब वै।
धरनी, धनु, धाम सरीरु भलो,
सुरलोकहु चाहि इहै सुखु स्वै॥
सब फोकट साटक है तुलसी,
अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
जरि जाउ सो जीवनु जानकिनाथ!
जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥

सुरराज-सो राज-समाजु, समृद्धि
बिरंचि, धनाधिप-सो धनु भो।
पवमानु-सो, पावकु-सो, जमु, सोमु-
सो, पूषनु-सो, भवभूषनु भो॥
करि जोग, समीरन साधि, समाधि
कै धीर बड़ो, बसहू मनु भो।
सब जाय, सुभायँ कहै तुलसी,
जो न जानकीजीवन को जनु भो॥

कामु-से रूप, प्रताप दिनेसु-से,
सोमु-से सील, गनेसु-से माने।
हरिचंदु-से साँचे, बड़े बिधि-से,
मघवा-से महीप बिषै-सुख-साने॥
सुक-से मुनि, सारद-से बकता,
चिरजीवन लोमस तें अधिकाने।

ऐसे भए तो कहा 'तुलसी',
जो पै राजिवलोचन रामु न जाने ॥

झूमत द्वार अनेक मतंग
जँजीर-जरे, मद-अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति-चंचल,
पौन के गवनहु तें बढ़ि जाते ॥
भीतर चंद्रमुखी अवलोकति,
बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भए तो कहा तुलसी!
जो पै, जानकिनाथ के रंग न राते ॥

जहाँ जमजातना, घोर नदी,
भट कोटि जलच्चर दंत-टेवैया।
जहँ धार भयंकर, वार न पार,
न बोहितु नाव, न नीक खेवैया ॥
'तुलसी' जहँ मातु-पिता न सखा,
नहि कोउ कहूँ अवलंब देवैया।
तहाँ बिनु कारन रामु कृपाल
बिसाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया ॥

जहाँ हित स्वामि, न संग सखा,
वनिता, सुत, बंधु, न बापु, न मैया।
काय-गिरा-मन के जन के
अपराध सबै छलु छाड़ि छमैया ॥
तुलसी! तेहि काल कृपाल बिना
दूजो कौन है दारुन दुःख दमैया।
जहाँ सब संकट, दुर्घट सोचु,
तहाँ मेरो साहेबु राखै रमैया ॥

रामु बिहाइ 'मरा' जपतें
बिगरी सुधरी कबिकोकिलहू की।
नामहि तें गज की, गनिका की,
अजामिल की चलि गै चलचूकी ॥
नामप्रताप बड़े कुसमाज
बजाइ रही पति पांडुबधू की।
ताको भलो अजहूँ 'तुलसी'
जेहि प्रीति-प्रतीति है आखर दू की ॥

नामु अजामिल-से खल तारन
तारन बारन-बारबधू को।
नाम हरे प्रहलाद-बिषाद,
पिता भय-साँसति-सागरु सूको ॥

नामसों प्रीति-प्रतीति-बिहीन
गिल्यो कलिकाल कराल, न चूको।
राखिहैं रामु सो जासु हिएँ
तुलसी हुलसै बलु आखर दू को ॥

जागैं जोगी-जंगम, जती-जमाती ध्यान धरैं,
डरैं उर भारी लोभ, मोह, कोह, काम के।
जागैं राजा राज-काज, सेवक-समाज, साज,
सोचैं सुनि समाचार बड़े बैरी बाम के ॥
जागैं बुध बिद्या हित पंडित चकित चित,
जागैं लोभी लालच धरनि, धन, धाम के।
जागैं भोगी भोगहीं, बियोगी, रोगी सोगबस,
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के ॥

रामु मातु, पितु, बंधु, सुजनु, गुरु, पूज्य, परमहित।
साहेबु, सखा, सहाय, नेह-नाते पुनीत चित ॥
देसु, कोसु, कुलु, कर्म, धर्म, धनु, धामु, धरनि, गति।
जातिपाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति ॥
परमारथु, स्वारथु, सुजसु, सुलभ राम तें सकल फल।
कह तुलसिदासु, अब, जब-कबहुँ एक राम तें मोर भल ॥

को न क्रोध निरदह्यो, काम बस केहि नहि कीन्हो!
को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन कर दीन्हो!
कौन हृदयँ नहि लाग कठिन अति नारि-नयन सर!
लोचनजुत नहि अंध भयो श्री पाइ कौन नर!
सुर-नाग-लोक महिमंडलहुँ को जु मोह कीन्हो जय न!
कह तुलसिदासु सो ऊबरै, जेहि राख रामु राजिवनयन ॥

राम-नाम-जपकी महिमा

हियँ निर्गुन नयननि्ह सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम ॥
नाम राम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून ॥
मीठो अरु कठवति भरो रौताई अरु छेम।
स्वारथ परमारथ सुलभ राम नाम के प्रेम ॥
राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास ॥
बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु ॥
राम नाम रति राम गति राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि तुलसी दास ॥

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास ।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥
तुलसी जाके बदन ते धोखेहुँ निकसत राम ।
ताके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम ॥
जौं जगदीस तो अति भलो, जौं महीस तो भाग ।
तुलसी चाहत जनम भरि राम चरन अनुराग ॥
बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ ।
सन्मुख होत जो राम पद करइ न सहस सहाइ ॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥
नीच निचाई नहि तजइ सज्जनहू के संग ।
तुलसी चंदन बिटप बसि बिनु बिष भए न भुअंग ॥

भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु ।
सुधा सराहिअ अमरताँ गरल सराहिअ मीचु ॥
फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद ।
मूरुख हृदयँ न चेत, जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सम ॥
जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी कबहूँ होत नहिं रबि रजनी इक ठाम ॥
तुलसी मीठे बचन ते सुख उपजत चहुँ ओर ।
बसीकरन यह मंत्र है परिहरु बचन कठोर ॥
तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥
सोइ ग्यानी सोइ गुनी जन सोई दाता ध्यानि ।
तुलसी जाके चित भई राग द्वेष की हानि ॥
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजंति येऽति दुस्तरं तरंति ते ॥

रसिक संत विद्यापति

(जन्म—विक्रमकी १५ वीं सदी । जन्म-स्थान बिसपी ग्राम, भक्त चण्डीदासके समसामयिक, पिताका नाम—गणपति ठाकु जाति—मैथिल ब्राह्मण, देहावसान वि० १५ वीं सदीके अन्तमें)

लोचन धाए फेधायेल हरि नहि आयल रे ।
शिव शिव जिवओ न जाए आस अरुझाएल रे ॥
मन करि तहँ उड़ि जाइय जहाँ हरि पाइय रे ।
पेम परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे ॥
सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे ।
से मोरा बिहि बिघटाओल निन्दओ हेरायल रे ॥
भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज कर रे ।
अचिरे मिल तोंहि बालम पुरत मनोरथ रे ॥

नव वृन्दावन नव नव तरुगण नव नव विकसित फुल ।
नवल वसन्त नवल मलयानिल मातल नव अलिकुल ॥

बिहरइ नवल किशोर ।
कालिन्दि पुलिन कुञ्जवन शोभन नव नव प्रेम विभोर ॥
नवल रसाल मुकुल मधु मातल नव कोकिलकुल गाय ।
नव युवतीगण चित उमतायइ नव रसे कानने धाय ॥
नव युवराज नवल नव नागरि मिलये नव नव भाँति ।
नित नित ऐसन नव नव खेलन विद्यापति मति माति ॥

सखि कि पुछसि अनुभव मोय ।
सेहो पिरिति अनुराग बखानइत तिले तिले नूतुन होय ॥
जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल ।
सेहो मधुर बोल श्रवणहि सुनल श्रुतिपथे परश न गेल ॥
कत मधु जामिनि रभसे गमाओल न बुझल कैसन केल ।
लाख लाख जुग हिय हिय राखल तइओ हिया जुड़न न गेल ।
कत विदगध जन रस अनुमगन अनुभव काहु न पेख ।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाइत लाखे न मिलल एक ॥

वन्दना

नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु तर धिरे-धिरे मुरलि बजाव ।
समय सँकेत निकेतन बइसल बेरि-बेरि बोलि पठाव ॥
सामरि, तोरा लागि अनुखन विकल मुरारि ।
जमुना क तिर उपवन उदवेगल फिरि-फिरि ततहि निहारि ॥
गोरस बेचए अबइत जाइत जनि जनि पुछ बनमारि ।
तोंहे मतिमान, सुमति, मधुसूदन बचन सुनहु किछु मोरा ॥
भनइ विद्यापति सुन बरजौवति बन्दह नन्द किशोरा ॥

कृष्ण-कीर्तन

माधव, कत तोर करब बड़ाई ।
उपमा तोहर कहब ककरा हम कहितहुँ अधिक लजाई ॥
जौं श्रीखंड सौरभ अति दुरलभ तौं पुनि काठ कठोर ।
जौं जगदीस निशाकर तौं पुनि एकहि पच्छ उजोर ॥
मनि समान औरो नहि दोसर तनिकर पाथर नामे ।
कनक कदलि छोट लज्जित भए रह की कहु ठामहि ठामे ॥
तोहर सरिस एक तोहँ माधव मन होइछ अनुमान ।
सज्जन जन सों नेह कठिन थिक कवि विद्यापति भान ॥

माधव, बहुत मिनति करि तोय ।
देइ तुलसी तिल देह समर्पिनु दया जनि छाड़बि मोय ॥
गनइत दोसर गुन लेस न पाओबि जब तुहुँ करबि बिचार ।
तुहु जगत जगनाथ कहाओसि जग बाहिर नइ छार ॥
किए मानुस पसु पखि भए जनमिए अथवा कीट पतंग ।
करम बिपाक गतागत पुनु पुनु मति रह तुअ परसंग ॥
भनइ विद्यापति अतिसय कातर तरइत इह भव सिंधु ।
तुअ पद-पल्लव करि अवलम्बन तिल एक देह दिनबंधु ॥

प्रार्थना

तातल सैकत बारि-बिन्दु सम सुत-मित-रमनि-समाज ।
तोहे बिसरि मन ताहे समरपिनु अब मझु हब कोन काज ॥
माधव, हम परिनाम निरासा ।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय अतय तोर बिसवासा ॥
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसु कत दिन गेला ।
निधुवन रमनि-रभस रँग मातनु तोहे भजब कोन बेला ॥
कत चतुरानन मरि मरि जाओत न तुअ आदि अवसाना ।
तोहे जनमि पुन तोहे समाओत सागर लहरि समाना ॥
भनइ विद्यापति सेष समन भय तुअ बिनु गति नहि आरा ।
आदि अनादि नाथ कहाओसि अब तारन भार तोहारा ॥
जावे जनेक धन पाये बटोरल मिलि मिलि परिजन खाय ।
मरनक बेरि हरि कोई न पूछए करम संग चलि जाय ॥
ए हरि, बन्दौं तुअ पद नाय ।
तुअ पद परिहरि पाप-पयोनिधि पारक कओन उपाय ॥
जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु जुवती मति मयँ मेलि ।
अमृत तजि हलाहल किए पीअत सम्पद अपदहि भेलि ॥
भनइ विद्यापति नेह मने गनि कहल कि बाढ़व काजे ।
साँझक बेरि सेवकाई मँगइत हेरइत तुअ पद लाजे ॥
हरि सम आनन हरि सम लोचन हरि तहाँ हरि बर आगी ।
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहावए हरि हरि कए उठि जागी ॥
माधव हरि रहु जलधर छाई ।
हरि नयनी धनि हरि-घरिनी जनि हरि हेरइत दिन जाई ॥
हरि भेल भार हार भेल हरि सम हरिक बचन न सोहावे ।
हरिहि पइसि जे हरि जे नुकाएल हरि चढ़ि मोर बुझावे ॥
हरिहि बचन पुनु हरि सयँ दरसन सुकवि विद्यापति भाने ।
राजा सिवसिंह रूपनरायन लखिमा देवि रमाने ॥

रसिक संतकवि चंडीदास

(जन्म—वीरभूमि जनपदके छन्ना ग्राममें वि० सं० १४७४। गायकसंत विद्यापतिके समकालीन, नकुल ठाकुरके छोटे भाई, जाति—ब्राह्मण। देहान्त—वि० सं० १५३८ किर्णहार नामक ग्राममें। वय—६० वर्ष।)

'मेरे प्रियतम ! और मैं तुम्हें क्या कहूँ। बस, इतना ही चाहती हूँ—जीवनमें, मृत्युमें, जन्म-जन्ममें तुम्हीं मेरे प्राणनाथ रहना। तुम्हारे चरण एवं मेरे प्राणोंमें प्रेमकी गाँठ लग गयी है; मैं सब कुछ तुम्हें समर्पितकर एकान्त मनसे तुम्हारी दासी हो चुकी हूँ। मेरे प्राणेश्वर ! मैं सोचकर देखती हूँ—इस त्रिभुवनमें तुम्हारे अतिरिक्त मेरा और कौन है। 'राधा' कहकर मुझे पुकारनेवाला तुम्हारे सिवा और कोई भी तो नहीं है। मैं किसके समीप जाकर खड़ी होऊँ ! इस गोकुलमें कौन है, जिसे मैं अपना कहूँ। सर्वत्र ज्वाला है, एकमात्र तुम्हारे युगल चरण-कमल ही शीतल हैं; उन्हें शीतल देखकर ही मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। तुम्हारे लिये भी अब यही उचित है कि मुझ अबलाको चरणोंमें स्थान दे दो; मुझे अपने शीतल चरणोंसे दूर मत फेंक देना। नाथ ! सोचकर देखती हूँ, मेरे प्राणनाथ ! तुम्हारे बिना अब मेरी अन्य गति ही कहाँ है। तुम यदि दूर फेंक दोगे तो मैं अबला कहाँ जाऊँगी। मेरे प्रियतम ! एक निमेषके लिये भी जब तुम्हें नहीं देख पाती, तब मेरे प्राण निकलने लगते हैं। मेरे स्पर्शमणि ! तुम्हें ही तो मैं अपने अङ्गोंका भूषण बनाकर गलेमें धारण करती हूँ।'

× × ×

'सखि ! यह श्याम-नाम किसने सुनाया, यह कानके द्वारा मर्मस्थानमें प्रवेश कर गया और इसने मेरे प्राणोंको व्याकुल कर दिया। पता नहीं, श्याम-नाममें कितना माधुर्य है, इसे मुँह कभी छोड़ नहीं सकता। नाम जपते-जपते मैं अवश हो गयी हूँ, सखि ! मैं अब उसे कैसे पाऊँगी ! जिसके नामने मेरी यह दशा कर दी, उसके अङ्ग-स्पर्शसे तो पता नहीं क्या होता है। वह जहाँ रहता है, वहाँ उसे आँखोंसे देखनेपर युवतीका धर्म कैसे रह सकता है। मैं भूल जाना चाहती हूँ, पर मनमें भुलाया नहीं जा सकता। मैं अब क्या करूँ; मेरे लिये क्या उपाय होगा ? चण्डीदास द्विज कहता है—इससे कुलवतीका कुल नाश होता है, क्योंकि वह हमारा यौवन माँगता है।'

महान् त्यागी

रघु और कौत्स

महान् त्यागी महर्षि वरतन्तु—वर्षोंतक कौत्स उनके आश्रममें रहा। महर्षिने उसे अपने पुत्रके समान पाला और पढ़ाया। कौत्सके निवास-भोजन आदिकी व्यवस्था, उसके स्वास्थ्यकी चिन्ता—लेकिन गुरुके लिये अन्तेवासी तो अपनी ही संतति है। गुरुने अपना समस्त ज्ञान उसे प्रदान किया और जब सुयोग्य होकर वही अन्तेवासी स्नातक होने लगा, घर जाने लगा, गुरु-दक्षिणाका प्रश्न आनेपर उस परम त्यागीने कह दिया—'वत्स! मैं तुम्हारी सेवासे ही संतुष्ट हूँ। तुम्हारी विद्या लोक और परलोकमें भी फल-दायिनी हो।'

कौत्सका आग्रह था—'मुझे कुछ अवश्य आज्ञा मिले। गुरुदक्षिणा दिये बिना मुझे संतोष कैसे होगा!'

कौत्स अनुभवहीन युवा था। उसका हठ—महर्षिने जो निष्काम स्नेह दिया था उसे—उसका क्या प्रतिदान हो सकता था? कौत्सका आग्रह—स्नेहका तिरस्कार था वह और आग्रहके दुराग्रह बन जानेपर महर्षिको कुछ कोप-सा आ गया। उन्होंने कहा—'तुमने मुझसे चौदह विद्याएँ सीखी हैं। प्रत्येकके लिये एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ . करो।'

'जो आज्ञा!' कौत्स ब्राह्मण था और भारतके चक्रवर्ती सम्राट् अपनेको त्यागी ब्राह्मणोंका सेवक घोषित करनेमें गौरवान्वित ही मानते थे। कौत्सके लिये सचिन्त होनेका कारण ही नहीं था। वह सीधे अयोध्या चल पड़ा।

चक्रवर्ती सम्राट् महाराज रघुने भूमिमें पड़कर प्रणिपात किया, आसनपर विराजमान कराके चरण धोये और अतिथि ब्राह्मणकुमारका पूजन किया। अतिथिने पूजा ली और चुपचाप उठ चला।

'आप कैसे पधारे थे? सेवाकी कोई आज्ञा दिये बिना कैसे चले जा रहे हैं? इस सेवकका अपराध?' महाराज रघु हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गये।

'राजन्! आप महान् हैं।' कौत्सने बिना किसी खेदके कहा—'मैं आपके पास याचना करने आया था; किंतु देख रहा हूँ कि विश्वजित् यज्ञमें आपने सर्वस्व दान कर दिया है। आपके पास अतिथि-पूजनके पात्र भी मिट्टीके ही रह गये हैं। इस स्थितिमें आपको संकोचमें डालना मैं कैसे चाहूँगा। आप चिन्ता न करें।'

'रघुके यहाँ एक ब्राह्मण स्नातक गुरु-दक्षिणाकी आशासे आकर निराश लौट गया, इस कलङ्कसे आप मेरी रक्षा करें।' महाराजका स्वर गद्गद

फ्रांन्स　　　महान् त्यागी　　　निमाई

हो रहा था—'केवल तीन रात्रियाँ आप मेरी अग्निशालामें निवास करें।'

कौत्सने प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे यज्ञशाला-के अतिथि हुए। लेकिन महाराज रघु राजसदनमें नहीं गये। वे अपने शस्त्रसज्ज युद्धरथमें रात्रिको सोये। उनका संकल्प महान् था। पृथ्वीके समस्त नरेश उनके यज्ञमें कर दे चुके थे। किसीसे दुबारा द्रव्य लेनेकी बात ही अन्याय थी। महाराजने धनाधीश कुबेरपर चढ़ाई करनेका निश्चय किया था।

प्रातः युद्धयात्राका शङ्खनाद हो, इससे पूर्व अयोध्याके कोषाध्यक्षने सूचना दी—'कोषमें स्वर्ण-वर्षा हो रही है।' लोकपाल कुबेरने चुपचाप अयोध्याधीशको 'कर' दे देनेमें कुशल मान ली थी।

दो महान् त्यागी दीखे उस दिन विश्वको—स्वर्णकी राशि सामने पड़ी थी। महाराज रघुका कहना था—'यह सब आपके निमित्त आया धन है। मैं ब्राह्मणका धन कैसे ले सकता हूँ।'

कौत्स कह रहे थे—'मुझे धनका क्या करना है। गुरुको दक्षिणा निवेदित करनेके लिये केवल चौदह सहस्र मुद्राएँ—मैं एक भी अधिक नहीं लूँगा।'

त्याग सदा विजयी होता है। दोनों त्यागी विजयी हुए। कौत्सको चौदह सहस्र मुद्रा देकर शेष द्रव्य ब्राह्मणोंको दान कर दिया गया।

× × ×

निमाईका गृह-त्याग

एक और महत्तम त्याग—घरमें कोई अभाव नहीं था। स्नेहमयी माता, परम पतिव्रता पत्नी—समस्त नवद्वीप श्रीचरणोंकी पूजा करनेको उत्सुक। सुख, स्नेह, सम्मान, सम्पत्ति—लेकिन सब निमाईको आबद्ध करनेमें असमर्थ हो गये।

अपने लिये? जिनकी कृपादृष्टि पड़ते ही जगाई-मधाई-से पापी पावन हो गये, उन्हें—उन महत्तमको त्याग, तप, भजन अपने लिये—लेकिन सारा लोक जिनका अपना है, उन्हें अपने लिये ही तो बहुत कुछ करना पड़ता है। अपनोंके लिये तो वे नाना नाट्य करते हैं।

लोकादर्शकी स्थापना—लोकमें त्यागपूर्ण उपासना-परमप्रेमके आदर्शकी स्थापनाके लिये—लोकमङ्गलके लिये चैतन्यने त्याग किया।

समस्त जीवोंके परम कल्याणके लिये नवतरुण निमाई पण्डित (आगे चलकर) गौराङ्ग महाप्रभु रात्रिमें स्नेहमयी जननी शची माता और परम पतिव्रता पत्नी विष्णुप्रियाको त्यागकर तैरकर गङ्गा पार हुए संन्यासी होनेके लिये। त्यागियोंके वे परम पूज्य········।

शाक्त संत श्रीरामप्रसाद सेन

(बंगालके शाक्त संतकवि, जन्म—ई० सन् १७१८, कुमार-हट्टा ग्राममें। पिताका नाम—श्रीरायरामजी सेन, जाति—वैद्य।)

ए मन दिन कि हबे तारा।
जबे तारा तारा तारा बले ॥
तारा बये पड़बे धारा ॥
हृदि पद्म उठबे फुटे, मनेर आँधार जाबे छुटे,
तखन धरातले पड़ब लुटे, तारा बले हब सारा ॥
त्याजिब सब भेदाभेद, घुचे जाबे मनेर खेद,
ओरे शत शत सत्य वेद, तारा आमार निराकार ॥
श्रीरामप्रसाद रटे, मा विराजे सर्ब्ब घटे,
ओरे आंखि अन्ध, देख माके तिमिरे तिमिर-हरा ॥

'मा तारा, मा काली! क्या ऐसा दिन भी आयेगा जब तारा-तारा पुकारते मेरी आँखसे आँसूकी धारा उमड़ पड़ेगी? हृदय-कमल खिल उठेगा, मनका अन्धकार दूर हो जायगा और मैं धरतीपर लोट-लोटकर तुम्हारे नामको जपते-जपते व्याकुल हो जाऊँगा। भेद-भाव छोड़ दूँगा, मनकी खिन्नता मिट जायगी। अरे, सौ-सौ वेदकी ऋचाओ! मेरी माँ तारा निराकार है—वह घट-घटमें विराजमान है। ऐ अन्धे! देखो न, माँ अन्धकारको हटाती हुई अँधेरेमें ही विराज रही है।'

मॉ आमाय घुराबे कत।
कलुर चख-ढाका बलदेर मत ॥
भवेर गाछे जुडे दिये मॉ पाक दिते छे अविरत।
तुमि कि दोषे करीले आमाय छटा कलुर अनुगत ॥
मॉ शब्द ममता-युक्त कॉदिले कोले करे सुत।
देखि ब्रह्माण्ड रइ एइ रीति मॉ आमि कि छाडा जगत ॥
दुर्गा दुर्गा दुर्गा बले तरे गेल पापी कत।
एक बार खूले दे मॉ चखेर ठुलि देखि श्रीपद मनेर मत ॥

'मॉ! कोल्हूके बैलकी तरह अब मुझे और कितना घुमाओगी? संसाररूपी वृक्षमें बाँधकर बराबर ऐंठन दे रही हो, जैसे लोग रस्सीमें देते हैं…। भला, मैंने क्या दोष किया है कि तुमने मुझे ऐसे बन्धनका दास कर दिया है। 'मॉ' शब्द तो ममतापूर्ण है। जब बालक रोता है तो माँ उसे गोदमें बैठा लेती है। संसारकी तो यही रीति देखता हूँ,—सभी माताएँ ऐसा ही करती है। तो क्या मैं संसारभरसे पृथक् हूँ कि तू मॉ होकर भी मुझे प्यार नहीं करती! असंख्य पापी 'दुर्गा-दुर्गा' बोलकर तर गये। मॉ! एक बार मेरी आँखों-परसे पट्टी हटा लो, जिससे मैं तुम्हारे श्रीचरणोंका यथेष्ट दर्शन करूँ।'

संत रहीम

(पूरा नाम—नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना। जन्म—वि० सं० १६१० (दूसरे मतसे १६१३), जन्मस्थान—लाहौर। पिताका नाम—सरदार बैरमखाँ खानखाना। देहान्त—वि० सं० १६८३ (दूसरे मतसे १६८६)। आयु—७२ वर्ष।)

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
आभीरवामनयनाहृतमानसाय
दत्तं मनो यदुपते कृपया गृहाण ॥

रत्नाकर (क्षीरसमुद्र) तो आपका घर है, साक्षात् लक्ष्मीजी आपकी पत्नी हैं, आप स्वयं जगदीश्वर हैं, भला आपको क्या दिया जाय। किंतु, हे यदुनाथ! गोपसुन्दरियोंने अपने नेत्रकटाक्षसे आपका मन हर लिया है, इसलिये अपना मन आपको अर्पण करता हूँ; कृपया इसे ग्रहण कीजिये।

आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि।
प्रीतो यद्यसि ताः समीक्ष्य भगवन् तद् वाञ्छितं देहि मे
नो चेद्ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम् ॥

हे भगवन् श्रीकृष्ण! आपकी प्रसन्नताके लिये आजतक नटकी भाँति जो चौरासी लाख स्वाँग मैंने आपके सामने धारण किये हैं, यदि उनको देखकर आप प्रसन्न हैं तो मेरी मनःकामना पूर्ण कीजिये; और यदि आप प्रसन्न नहीं है तो साफ कह दीजिये कि अब फिर ऐसा कोई स्वाँग मेरे सामने मत लाना।

जे सुलगे ते बुझि गए, बुझे ते सुलगे नाहिं।
रहिमन दाहे प्रेम के, बुझि बुझि कै सुलगाहिं॥
जो पुरुषारथ ते कहूँ, संपति मिलत रहीम।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम॥
जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजिआरो लगै, बढ़े अँधेरो होय॥
तैं रहीम मन आपनो, कीन्हों चारु चकोर।
निसि बासर लाग्यो रहै, कृष्णचंद्र की ओर॥
थोरो किएँ बड़ेन की, बड़ी बड़ाई होय।
ज्यों रहीम हनुमंत कौं, गिरधर कहत न कोय॥
धन दारा अरु सुतन सों, लगो रहै नित चित्त।
नहिं रहीम कोऊ लख्यो, गाढ़े दिन को मित्त॥
नैन सलौने अधर मधु, कहु रहीम घटि कौन।
मीठो भावै लोन पर, अरु मीठे पर लौन॥
बड़े पेट के भरन को, है रहीम दुख बाढ़ि।
याते हाथिहिं हहरि कै, दियो दाँत द्वै काढ़ि॥
भजौं तो काको मैं भजौं, तजौं तो काको आन।
भजन तजन ते बिलग है, तेहि रहीम तू जान॥

भार झोंकि कै भार मैं, रहिमन उतरे पार।
पै बूड़े मँझधार में, जिन के सिर पर भार॥
रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व को लेस।
भार धरैं संसार को, तऊ कहावत सेस॥
रहिमन तीन प्रकार ते, हित अनहित पहिचानि।
परबस परैं, परोस बस, परैं मामिला जानि॥
रहिमन पर उपकार के, करत न यारी बीच।
माँस दियो शिवि भूप ने, दीन्हों हाड़ दधीच॥
रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन।
ऊपर से तो दिल मिला, भीतर फाँकें तीन॥
रहिमन मैन-तुरंग चढ़ि, चलिबो पावक माहिं।
प्रेम-पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं॥
राम-नाम जान्यो नहीं, भइ पूजा में हानि।
कहि रहीम क्यों मानिहैं, जम के किंकर कानि॥
राम-नाम जान्यो नहीं, जान्यो सदा उपाधि।
कहि रहीम तिहिं आपुनो, जनम गँवायो बादि॥
सतत संपति जान कै, सब को सब कुछ देत।
दीनबंधु बिनु दीन की, को रहीम सुधि लेत॥

श्रीरसखानजी

(वैष्णवप्रवर पठान भक्तकवि, जन्म वि० सं० १६१५ के लगभग, गोस्वामी विट्ठलनाथजीके कृपापात्र शिष्य, [illegible] ठीक निश्चित नहीं, कोई-कोई वि० सं० १६८० बताते हैं।)

मानुष हौं तो वही रसखानि,
बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

या लकुटी अरु कामरिया पर,
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधि को सुख,
नंद की गाइ चराइ बिसारौं॥

आँखिन सौं 'रसखानि' कबौं,
ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौत के धाम,
करील की कुंजन ऊपर वारौं॥

सेस महेस गनेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद से सुक ब्यास रहैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

गावैं गुनी गनिका गंधरब औ सारद सेस सबै गुन गावत।
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यों ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावत॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरंतर जाहि समाधि लगावत।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत॥

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी ।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैजनी बाजती पीरी कछोटी ॥
वा छबि को रसखान बिलोकत वारत काम कला निज कोटी ।
काग के भाग बड़े सजनी! हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन बेद रिचा सुनि चौगुने चायन ।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो रसखानि बतायौ न लोग लुगायन ।
देखौ दुरौ वह कुंज कुटीर मैं बैठो पलोटत राधिका पायन ॥

जा दिन तें निरख्यौ नँदनंदन,
कानि तजी घर बंधन छूट्यौ ।
चारु बिलोकनि की निसि मार,
सँभार गयी मन मार ने लूट्यौ ॥
सागर कौं सरिता जिमि धावति,
रोकि रहे कुल को पुल टूट्यौ ।
मत्त भयौ मन संग फिरै,
रसखानि सुरूप सुधा रस घूट्यो ॥

नैन लख्यो जब कुंजन तें बन तें निकस्यौ अँटक्यौ मटक्यौ री ।
सोहत कैसो हरा टटकौ अरु कैसो किरीट लस्यौ लटक्यौ री ॥
रसखानि रहै अँटक्यौ हटक्यौ ब्रज लोग फिरै भटक्यौ भटक्यौ री ।
रूप सबै हरि वा नट को हियरे फटक्यौ झटक्यौ अँटक्यौ री ॥

गो रज बिराजै भाल लहलही बनमाल
आगें गैया पाछे ग्वाल गावै मृदु तान री ।
तैसी धुनि बाँसुरी की मधुर मधुर तैसी
बंक चितवनि मंद मंद मुसकानि री ॥
कदम बिटप के निकट तटनी के आय
अटा चढ़ि चाहि पीत पट फहरानि री ।
रस बरसावै तन तपन बुझावै नैन
प्राननि रिझावै वह आवै रसखानि री ॥

दोउ कानन कुंडल मोरपखा सिर सोहै दुकूल नयो चटकौ ।
मनिहार गरे सुकुमार धरे नट भेस अरे पिय को टटकौ ॥
सुभ काछनी बैजनी पैजनी पायन आनन मैं न लगै झटकौ ।
वह सुंदर को रसखानि अली! जु गलीन मैं आइ अबै अँटकौ ॥

कानन दै अँगुरी रहिबो जबही मुरली धुनि मंद बजैहै ।
मोहनी तानन सों रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै ॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै ।
माइ री वा मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै ॥

कहा रसखानि सुख संपति सुमार महँ
कहा महाजोगी ह्वै लगाये अंग छार को ।
कहा साधे पंचानल, कहा सोये बीचि जल,
कहा जीति लाये राज सिंधु वारपार को ॥
जप बार-बार तप संजम बयार ब्रत,
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को ।
सोई है गँवार जिहि कीन्हों नहिं प्यार,
नहीं सेयो दरबार यार नंद के कुमार को ॥

देस-बिदेस के देखे नरेसन रीझि की कोउ न बूझि करैगो ।
ताते तिन्हैं तजि जान गिरयो गुन सौगुन औगुन गाँठि परैगो ॥
बाँसुरीवारो बड़ो रिझवार है स्याम जो नैकु सुढार ढरैगो ।
लाड़लो छैल वही तौ अहीर को पीर हमारे हिए की हरैगो ॥

लोग कहैं ब्रज के रसखानि अनंदित नंद जसोमति जू पर ।
छोहरा आजु नयौ जनम्यौ तुम सो कोउ भाग भरयौ नहिं भू पर ॥
वारि कै दाम सवाँर करौ अपने अपचाल कुचाल लबू पर ।
नाचत रावरो लाल गुपाल सो काल सो ब्याल कपाल के ऊपर ॥

द्रौपदि औ गनिका, गज, गीध,
अजामिल सों कियो सो न निहारौ ।
गौतम गेहिनी कैसे तरी,
प्रहलाद को कैसें हरयो दुख भारौ ॥
काहे को सोच करै रसखानि,
कहा करिहै रबिनंद बिचारौ ।
कौन की संक परी है जु माखन
चाखनहारौ है राखनहारौ ॥

बैन वही उनको गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सों सानी ।
हाथ वही उन गात सरैं, अरु पाइ वही जु वही अनुजानी ॥
जान वही उन प्रान के संग, औ मान वही जु करै मनमानी ।
त्यों रसखानि वही रसखानि, जु है रसखानि, सो है रसखानी ॥

कंचन के मंदिरनि दीठि ठहराति नाहिं,
सदा दीपमाल लाल मानिक उजारे सों ।
और प्रभुताई अब कहाँ लौं बखानौं प्रति-
हारिन की भीर भूप टरत न द्वारे सों ॥
गंगा में न्हाइ मुक्ताहल हूँ लुटाइ, बेद,
बीस बार गाइ, ध्यान कीजत सवारे सों ।
ऐसे ही भये तो कहा कीन रसखानि जो पै,
चित्त दै न कीनी प्रीति पीत पटवारे सों ॥

प्रेम

प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय।
जो जन जानै प्रेम तौ, मरै जगत क्यों रोय॥
प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि, जात नाहिं रसखान॥
प्रेम-बारुनी छानि कै, वरुन भए जलधीस।
प्रेमहिं ते बिषपान करि, पूजे जात गिरीस॥
प्रेमरूप दर्पन अहो, रचै अजूबौ खेल।
यामें अपनौ रूप कछु, लखि परिहै अनमेल॥
कमलतंतु सौं छीन अरु, कठिन खड़ग की धार।
अति सूधौ टेढ़ौ बहुरि, प्रेमपंथ अनिवार॥
लोक-बेद-मरजाद सब, लाज, काज, संदेह।
देत बहाएँ प्रेम करि, बिधि-निषेध को नेह॥
कबहुँ न जा पथ भ्रम-तिमिर, रहै सदा सुख-चंद।
दिन-दिन बाढ़त ही रहै, होत कबहुँ नहिं मंद॥
भलैं वृथा करि पचि मरौ, ग्यान-गरूर बढ़ाय।
बिना प्रेम फीकौ सबै, कोटिन किएँ उपाय॥
श्रुति, पुरान, आगम, स्मृतिहि, प्रेम सबहिं को सार।
प्रेम बिना नहिं उपज हिय, प्रेम-बीज अँकुवार॥
आनँद अनुभव होत नहिं, प्रेम बिना जग जान।
कै वह बिषयानद कै, ब्रह्मानंद बखान॥
काम, क्रोध, मद, मोह, भय, लोभ, द्रोह, मात्सर्य।
इन सबहीं ते प्रेम है, परे, कहत मुनिवर्य॥
बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥
अति सूच्छम कोमल अतिहि, अति पतरौ अति दूर।
प्रेम कठिन सब तें सदा, नित इकरस भरपूर॥
जग मैं सब जान्यौ परै, अरु सब कहै कहाय।
पै जगदीस रु प्रेम यह, दोऊ अकथ लखाय॥
जेहि बिनु जानै कछुहि नहिं, जान्यौ जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जानि कै, रहि न जात कछु सेस॥
मित्र, कलत्र, सुबंधु, सुत, इन में सहज सनेह।
सुद्ध प्रेम इन मे नहीं, अकथ कथा सबिसेह॥
इकअंगी बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्बस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥
डरै सदा, औ चहै न कछु, सहै सबै जो होय।
रहै एकरस चाहि कै, प्रेम बखानौ सोय॥

प्रान तरफि निकरैं नहीं, केवल चलत उसाँस॥
प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥
ग्यान, ध्यान, बिद्या, मती, मत, बिस्वास, बिवेक।
बिना प्रेम सब धूर हैं, अग जग एक अनेक॥
प्रेम फाँस में फँसि मरै, सोई जिए सदाहिं।
प्रेम मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहिं॥
जग मैं सब तें अधिक अति, ममता तनहिं लखाय।
पै या तनहूँ तैं अधिक, प्यारो प्रेम कहाय॥
जेहि पाएँ बैकुंठ अरु, हरिहूँ की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक, सुद्ध सुभ, सरस सुप्रेम कहाहि॥
याही तें सब मुक्ति तैं, लही बड़ाई प्रेम।
प्रेम भएँ नस जाहिं सब, बँधे जगत के नेम॥
हरि के सब आधीन पै, हरी प्रेम-आधीन।
याही ते हरि आपुहीं, याहि बड़प्पन दीन॥
जदपि जसोदा नंद अरु, ग्वाल बाल सब धन्य।
पै या जग में प्रेम को, गोपी भईं अनन्य॥
रसमय स्वाभाविक बिना, स्वारथ अचल महान।
सदा एकरस सुद्ध सोइ, प्रेम अहै रसखान॥
जाते उपजत प्रेम सोइ, बीज कहावत प्रेम।
जामें उपजत प्रेम सोइ, छेत्र कहावत प्रेम॥
वही बीज, अंकुर वही, सेक वही आधार।
डाल पात फल फूल सब, वही प्रेम सुखसार॥

अष्टयाम

प्रातः उठ गोपाल जू, करि सरिता अस्नान।
केस सँवारत छबि लखौ, सदा वही रसखान॥
करि पूजा अरच्चन तहाँ, बैठत श्रीनँदलाल।
बंसी बाजत मधुर धुनि, मुनि सब होत निहाल॥
सीस मुकुट सुचि क्रीट कौ, सुंदर सी श्री भाल।
पेखत ही छबि बनत है, धन्य धन्य गोपाल॥
पुनि तहँ पहुँचत भक्तगन, लै लै निज निज थार।
भोजन तहँ प्रभु करत हैं, तनक न लावत बार॥
इहि बिधि बीतत द्वै पहर, तब तहँ श्री रनछोर।
लै गैयाँ बन को चलत, कर बंसी को भोर॥
तब सब भक्तहु चलत हैं, सब पाछे सौं धाय।
क्रीड़ा करत चलत तहाँ, बंसीधर [illegible]।
जब बन में पहुँचत जहाँ, सदा मदन को [illegible]।

एक पहर बन में अटत, हैं श्रीमदनगुपाल।
गौन करत निज धाम कौं, लै सब जूथ बिसाल॥
तब नटनागर लौटि कैं, करत कलेवा जोइ।
लै प्रसाद सब भक्ति सौं, बैठत पुनि कर धोइ॥
तब गुपाल की बाँसुरी, बजत तहाँ रसखान।
सुनि कै सुधि भूलैं सबै, मुदित होत मन प्रान॥
पुनि भक्ती उपदेस प्रभु, देत सबन हरषाय।
मन प्रसन्न है सुनत सब, कोमल परम उपाय॥
तीन घरी उपदेस प्रभु, भक्तन देत सदैव।
काम, क्रोध, मद, लोभ कछु, उपजत नहिं फिर नैव॥
पुनि गोदोहन की घरी, देखि मुघर घनस्याम।
टेरत सबै सखान कौं, लै लै सुंदर नाम॥
तब बाँकी झाँकी तहाँ, निरखत बनै सदैव।
गोरस सब रस श्रेष्ठ तब, दुहत स्याम धनि दैव॥
तब लै गोरस सब सखीं, चलत जात नित नेह।
नटनागर सौं सैन सौं, करत मुदित मन नेह॥
पुनि ज्यौं ही दीपक जरैं, सबै भक्त हरषाय।
लै लै निज आरत तहाँ, धावत नेह लगाय॥
बैठत राधा कृष्ण तहँ, अन्य अष्ट पटरानि।
उठत आरती धूम सौं, गावत गीत सुजान॥
इहि बिधि दुइ रस रंग तहँ, बीत जात हैं जाम।
तब लै आग्या भक्तजन, जात आपने धाम॥
तब सब भक्त वहीं जुगल, छवि निज हिये लगाय।
जात आपने धाम कौं, सुंदर सयन कराय॥
द्वैक पहर सोवत सदा, पुनि उठि बैठत स्याम।
मुरली धुनि गूँजत सबै, उठत भक्त लै नाम॥

मोहन छवि रसखानि लखि, अब दृग अपने नाहिं।
ऐंचे आवत धनुष से, छूटे सर से जाहिं॥
मो मन मानिक लै गयौ, चितै चोर नँदनंद।
अब बेमन मैं का करूँ, परी फेर के फंद॥
मन लीनो प्यारे चितै, पै छटाँक नहिं देत।
यहै कहा पाटी पढ़ी, कर को पीछो लेत॥
ए सजनी लीनो लला, लह्यो नंद के गेह।
चितयौ मृदु मुसकाइ कै, हरी सबै सुधि गेह॥
देख्यौ रूप अपार, मोहन सुंदर स्याम को।
वह ब्रजराज कुमार, हिय जिय नैननि मैं बस्यो॥
एरी चतुर सुजान, भयो अजानहि जान कै।
तजि दीनी पहिचान, जान आपनी जान कौं॥

मियाँ नज़ीर अकबराबादी

(जन्म-स्थान—आगरा, जन्म—सं० १७९७ लगभग, देहान्त—सं० १८८७ लगभग। सूफ़ीमतके सन्त, श्रीकृष्णभक्त)

कन्हैयाका बालपन

यारो, सुनो ये दधि के लुटैया का बालपन,
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन।
मोहनसरूप नृत्य-करैया का बालपन,
बन-बन के ग्वाल गौवें चरैया का बालपन।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

ज़ाहिर में सुत वो नंद जसोदा के आप थे,
वरना वो आपी माई थे और आपी बाप थे।
परदे में बालपन के ये उन के मिलाप थे,
जोती-सरूप कहिए जिन्हें सो वो आप थे।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

उनको तो बालपन से न था काम कुछ ज़रा,
संसार की जो रीत थी उस को रखा बजा।
मालिक थे वह तो आपी, उन्हें बालपन से क्या,
वाँ बालपन, जवानी, बुढ़ापा सब एक था।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

बाले थे बिर्जराज, जो दुनिया में आ गये,
लीला के लाख रंग तमाशे दिखा गये।
इस बालपन के रूप में कितनों को भा गये,
एक यह भी लहर थी जो जहाँ को जता गये।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

परदा न बालपन का वो करते अगर ज़रा,
क्या ताब थी जो कोई नज़र भर के देखता।
झाड़ औ पहाड़ देते सभी अपना सर झुका,
पर कौन जानता था जो कुछ उनका भेद था।

ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

अब घुटनियों का उनके मैं चलना बयाँ करूँ?
या मीठी बातें मुँह से निकलना बयाँ करूँ?
या बालकों मे इस तरह पलना बयाँ करूँ?
या गोदियों में उनका मचलना बयाँ करूँ।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

पाटी पकड़ के चलने लगे जब मदनगुपाल,
धरती तमाम हो गई एक आन में निहाल।
बासुकि चरन छुअन को चले छोड़ के पताल,
आकास पर भी धूम मची देख उनकी चाल।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

करने लगे ये धूम जो गिरधारी नंदलाल,
इक आप और दूसरे साथ उन के ग्वाल-बाल।
माखन दही चुराने लगे, सब के देख-भाल,
दी अपनी दूध-चोरी की घर घर मे धूम डाल।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मै कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

कोठे मे होवे फिर तो उसी को ढँढोरना,
मटका हो तो उसी में भी जा मुख को बोरना।
ऊँचा हो तो भी कंधे पै चढ़ के न छोड़ना,
पहुँचा न हाथ तो उसे मुरली से फोड़ना।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

गर चोरी करते आ गई ग्वालिन कोई वहाँ,
औ उसने आ पकड़ लिया तो उस से बोले याँ।
मैं तो तेरे दही की उड़ाता था मक्खियाँ,
खाता नहीं मैं उस को, निकाले था चींटियाँ।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

गुस्से में कोई हाथ पकड़ती जो आनकर,
तो उस को वह स्वरूप दिखाते थे मुरलीधर।
जो आपी लाके धरती वो माखन कटोरी भर,
गुस्सा वो उस का आन में जाता वहीं उतर।

ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

उनको तो देख ग्वालिनें जो जान पाती थीं,
घर में इसी बहाने से उन को बुलाती थीं।
जाहिर में उन के हाथ से वे गुल मचाती थीं,
परदे सभी वो कृष्ण की बलिहारी जाती थीं।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

कहती थीं दिल में, दूध जो अब हम छिपायेंगे,
श्रीकृष्ण इसी बहाने हमें मुँह दिखायेंगे।
और जो हमारे घर में ये माखन न पायेंगे,
तो उन को क्या गरज है वो काहे को आयेंगे।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

सब मिल जसोदा पास यह कहती थीं आके, बीर,
अब तो तुम्हारा कान्हा हुआ है बड़ा सरीर।
देता है हम को गालियाँ, औ फाड़ता है चीर,
छोड़े दही न दूध, न माखन मही न खीर।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

माता जसोदा उन की बहुत करतीं मिंतियाँ,
औ कान्ह को डरातीं उठा मन की साँटियाँ।
तब कान्हजी जसोदा से करते यही बयाँ,
तुम सच न मानो मैया ये सारी हैं झूठियाँ।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

माता, कभी ये मुझ को पकड़ कर ले जाती हैं,
औ गाने अपने साथ मुझे भी गवाती हैं।
सब नाचती हैं आप मुझे भी नचाती हैं,
आपी तुम्हारे पास ये फरियादी आती हैं।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

मैया, कभी ये मेरी छगुलिया छिपाती हैं,
जाता हूँ राह में तो मुझे छेड़ जाती हैं।
आपी मुझे रुठाती हैं आपी मनाती हैं,
मारो इन्हें ये मुझ को बहुत सा सताती हैं।

ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन ॥

इक रोज मुँह में कान्ह ने माखन छिपा लिया,
पूछा जसोदा ने तो वहीं मुँह बना दिया।
मुँह खोल तीन लोक का आलम दिखा दिया,
इक आन में दिखा दिया, औ फिर भुला दिया।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन ॥

थे कान्हजी तो नंद-जसोदा के घर के माह,
मोहन नवलकिशोर की थी सब के दिल में चाह।
उन को जो देखता था, सो कहता था वाह वाह,
ऐसा तो बालपन न किसी का हुआ है आह।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन ॥

राधारमन के यारो अजब जाये गौर थे,
लड़कों में वो कहाँ है जो कुछ उन में तौर थे।
आपी वो प्रभू नाथ थे, आपी वो दौर थे,
उनके तो बालपन ही में तेवर कुछ और थे।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन ॥

होता है यों तो बालपन हर तिफ़्ल का भला,
पर उनके बालपन में तो कुछ औरी भेद था।
इस भेद की भला जी किसी को खबर है क्या!
क्या जाने अपनी खेलने आये थे क्या कला।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन ॥

सब मिल के यारो, कृष्ण मुरारी की बोलो जै,
गोविंद-कुंज-छैल-बिहारी की बोलो जै।
दधिचोर गोपीनाथ, बिहारी की बोलो जै,
तुम भी नज़ीर, कृष्णमुरारी की बोलो जै।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन ॥

(२)

जब मुरलीधर ने मुरली को अपने अधर धरी,
क्या-क्या प्रेम प्रीत भरी उसमें धुन भरी।
लै उसमें 'राधे-राधे' की हरदम भरी भरी,
लहराई धुन जो उसकी इधर औ उधर ढरी!

सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई कृष्ण-कन्हैया ने बाँसुरी ॥

ग्वालों में नंदलाल बजाते वो जिस घड़ी,
गौएँ धुन उसकी सुनने को रह जातीं सब खड़ी।
गलियों में जब बजाते तो वह उसकी धुन बड़ी,
ले-ले के अपनी लहर जहाँ कान में पड़ी।
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया ने बाँसुरी ॥

मोहन की बाँसुरी के मैं क्या-क्या कहूँ जतन,
लै उसकी मन की मोहिनी धुन उसकी चितहरन।
उस बाँसुरी का आन के जिस जा हुआ बजन,
क्या जल, पवन, 'नज़ीर' पखेरू व क्या हरन—
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई कृष्ण-कन्हैया ने बाँसुरी ॥

(३)

है आशिक़ और माशूक़ जहाँ
वाँ शाह वज़ीरी है बाबा!
नै रोना है, नै धोना है,
नै दर्दे असीरी है बाबा!
दिन-रात बहारें-चुहलें हैं,
औ ऐश सफ़ीरी है बाबा!
जो आशिक़ हुए सो जाने हैं,
यह भेद फ़क़ीरी है बाबा!
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक़्त अमीरी है बाबा!
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा!

कुछ ज़ुल्म नहीं, कुछ ज़ोर नहीं,
कुछ दाद नहीं फ़रियाद नहीं।
कुछ क़ैद नहीं, कुछ बंद नहीं,
कुछ जब्र नहीं, आज़ाद नहीं।
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,
वीरान नहीं, आबाद नहीं।
है जितनी बातें दुनियाँ की,
सब भूल गये, कुछ याद नहीं।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक़्त अमीरी है बाबा!
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा!

जिस सिम्त नज़र कर देखे हैं,
उस दिलवर की फुलवारी है।
कहीं सब्ज़ी की हरियाली है,
कहीं फूलों की गुलक्यारी है।
दिन-रात मगन खुश बैठे हैं,
और आस उसी की भारी है।
बस, आप ही वो दातारी है,
और आप ही वो भंडारी है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा!
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा!

हम चाकर जिस के हुस्न के हैं,
वह दिलवर सब से आला है।
उसने ही हम को जी बख्शा,
उसने ही हम को पाला है।
दिल अपना भोला-भाला है,
और इश्क़ बड़ा मतवाला है।
क्या कहिए और 'नज़ीर' आगे,
अब कौन समझनेवाला है?
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक़्त अमीरी है बाबा!
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा!

(४)

क्या इल्म उन्होंने सीख लिये,
जो बिन लेखे को बाँचे हैं।
और बात नहीं मुँह से निकले,
बिन होंठ हिलाये जाँचे हैं॥
दिल उनके तार सितारों के,
तन उनके तबल तमाँचे हैं।
मुँह चंग ज़बाँ दिल सारंगी,
पा घुँघरू हाथ कमाँचे हैं॥
हैं राग उन्हीं के रंग-भरे,
औ भाव उन्हीं के साँचे हैं।
जो बे-गत बे-सुरताल हुए,
बिन ताल पखावज नाचे हैं॥

जब हाथ को धोया हाथों से,
जब हाथ लगे थिरकाने को।
और पाँव को खींचा पाँवों से,
और पाँव लगे गत पाने को॥
जब आँख उठाई हस्ती से,
जब नैन लगे मटकाने को।
सब काछ कछे, सब नाच नचे,
उस रसिया छैल रिझाने को॥
हैं राग उन्हीं के रंग-भरे,
औ भाव उन्हीं के साँचे हैं।
जो बे-गत बे-सुरताल हुए,
बिन ताल पखावज नाचे हैं॥

था जिसकी खातिर नाच किया,
जब मूरत उसकी आय गयी।
कहीं आप कहा, कहीं नाच कहा,
और तान कहीं लहराय गयी॥
जब छैल-छबीले सुंदर की,
छबि नैनों भीतर छाय गयी।
एक मुरछा-गति-सी आय गयी,
और जोत में जोत समाय गयी॥
हैं राग उन्हीं के रंग-भरे,
औ भाव उन्हीं के साँचे हैं।
जो बे-गत बे-सुरताल हुए,
बिन ताल पखावज नाचे हैं॥

सब होश बदन का दूर हुआ,
जब गत पर आ मिरदंग बजी।
तन भंग हुआ, दिल दंग हुआ,
सब आन गई बेआन सजी॥
यह नाचा कौन नज़ीर अब याँ,
और किसने देखा नाच अजी।
जब बूँद मिली जा दरिया में,
इस तान का आखिर निकला जी॥
हैं राग उन्हीं के रंग-भरे,
औ भाव उन्हीं के साँचे हैं।
जो बे-गत बे-सुरताल हुए,
बिन ताल पखावज नाचे हैं॥

(५)

गर यार की मर्ज़ी हुई सर जोड़ के बैठे।
घर-बार छुड़ाया तो वहीं छोड़ के बैठे॥
मोड़ा उन्हें जिधर वहीं मुँह मोड़ के बैठे।
गुदड़ी जो सिलाई तो वहीं ओढ़ के बैठे।

और शाल उढ़ाई तो उसी शाल में खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं॥
गर खाट बिछाने को मिली खाट में सोये।
दूकाँ में सुलाया तो वो जा हाट में सोये॥
रस्ते में कहा गो तो वह जा बाट में सोये।
गर टाट बिछाने को दिया टाट में सोये॥
औ खाल बिछा दी तो उसी खाल में खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं॥
उनके तो जहाँ में अजब आलम हैं नज़ीर आह!
अब ऐसे तो दुनिया में वली कम हैं नज़ीर आह!
क्या जानें, फरिश्ते हैं कि आदम हैं नज़ीर आह!
हर वक़्त में हर आन में ख़ुर्रम हैं नज़ीर आह!
जिस हाल में रक्खा वो उसी हाल में खुश हैं।
पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं॥

(६)

है बहारे बाग़ दुनिया चंद रोज़,
देख लो इसका तमाशा चंद रोज़।
ऐ मुसाफ़िर! कूच का सामान कर,
इस जहाँ में है बसेरा चंद रोज़।
पूछा लुक़माँ से जिया तू कितने रोज़?
दस्ते हसरत मल के बोला, चंद रोज़।
बाद मदफ़न क़ब्र में बोली क़ज़ा—
अब यहाँ पे सोते रहना चंद रोज़।
फिर तुम कहाँ, औ मैं कहाँ, ऐ दोस्तो!
साथ है मेरा तुम्हारा चंद रोज़।
क्या सताते हो दिले बेजुर्म को,
ज़ालिमो, है ये ज़माना चंद रोज़।
याद कर तू ऐ नज़ीर! क़बरों के रोज़,
ज़िंदगी का है भरोसा चंद रोज़॥

श्रीगदाधर भट्टजी

(श्रीराधाकृष्णके अनन्य भक्त और चैतन्य महाप्रभुके अनुयायी। आप दक्षिणके किसी ग्रामके निवासी थे। आपके जन्म-संवत्का भी कोई निश्चित पता नहीं मिलता।)

सखी, हौं स्याम रँग रँगी।
देखि बिकाइ गई वह मूरति, सूरति माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो, सोइ रही रस खोई।
जागेहुँ आगें दृष्टि परे सखि, नैंकु न न्यारो होई॥
एक जु मेरी अँखियनि में निसि द्यौस रह्यौ करि भौन।
गाइ चरावन जात सुन्यो सखि, सो धौं कन्हैया कौन॥
कासौं कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद।
कैसें कै कहि जात गदाधर, गूँगे को गुड़ स्वाद॥

अघ संहारिनी, अधम उधारिनी,
कलि काल सारिनी मधुमथन गुन कथा।
मंगल विधायिनी, प्रेम रस दायिनी,
भक्ति अनपायिनी होइ जिय सर्वथा॥
मथि वेद मथि ग्रंथ कथि व्यासादि,
अजहूँ आधुनिक जन करत हैं मति जथा।
परमपद सोपान करि 'गदाधर' पान,
आन आलाप तें जात जीवन वृथा॥

हे हरि तें हरिनाम बड़ेरो, ताको मूढ़ करत कत फेरो!
प्रगट दरस मुचुकुन्दै दीन्हों, ताहू आयसु भो तप केरो॥
सुत हित नाम अजामिल लीनौं, या भव में न कियो फिरि फेरो॥
पर अपवाद स्वाद जिय राच्यो, वृथा करत बकवाद घनेरो।
कौन दसा ह्वैहै जु गदाधर, हरि हरि कहत जात कहा तेरो॥

हरि हरि हरि हरि रट रसना मम।
पीवति खाति रहति निधरक भइ, होत कहा तोकौं स्रम॥
तैं तौ सुनी कथा नहिं मो सें, उधरे अमित महाधम।
ग्यान ध्यान जप तप तीरथ व्रत, जोग जाग बिनु संजम॥
हेम हरन द्विज द्रोह मान मद, अरु पर गुरु दारागम।
नाम प्रताप प्रबल पावक में होत सलभ अघ अमित सलभ सम॥
इहिं कलिकाल कराल व्याल विष ज्वाल विषम भोये हम।
बिनु इहि मंत्र 'गदाधर' के क्यों, मिटिहै मोह महातम॥

कहा हम कीनौं नर तन पाय।
हरि परितोष न कह्यौ कबहूँ, कौन आयौ न उपाय॥
हरि हरिजन आराधि न जाने, कृपन बिन बिन काय।
वृथा विचार उदर की चिन्ता, जनम हि गयौ सिराय॥
सिंह त्वचा को मढ्यौ महा पसु, खेत मदन के खाय।
ऐसे ही धरि भेष भक्त को घर घर फिर्यो फुलाय॥
जैसे चोर मोर को भाखे इत उत चितवत चितलाय।
ऐसे ही गति भई श्री 'गदाधर' प्रभु बिन कौ सहाय॥

श्रीनागरीदासजी

(महाराजा साँवतसिंहजी)

(महान् भक्तकवि, जन्म—वि०सं० १७५६ पौष कृ० १२, पिताका नाम—महाराजा राजसिंह । स्थान-कृष्णगढ़, बादमें वृन्दावन, शरीरान्त—वि० सं० १८२१ भाद्रशुक्ला ३, उम्र—६४ वर्ष ८ महीना ।)

व्रज-महिमा-गान

व्रज वृंदावन स्याम-
रियारी भूमि है।
तहँ फल-फूलनि-भार
रहे द्रुम झूमि हैं॥
भुवि दंपति-पद-अंकनि
लोट लुटाइए।
व्रजनागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइए॥

व्रज-रस-लीला सुनत न कबहुँ अघावनौ।
व्रज-भक्तनि सत-संगति प्रान पगावनौ॥
'नागरिया' व्रज-वास कृपा-फल पाइए।
व्रजनागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइए॥

संग फिरत है काल, भ्रमत नित सीस पर।
यह तन अति छिनभंग, धुँवाँ कौ धौरहर॥
यातें दुरलभ साँस न वृथा गमाइए।
व्रजनागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइए॥

चली जाति है आयु जगत जंजाल में।
कहत टेरि कै घरी घरी घरियाल में॥
समै चूकि कै काम न फिरि पछताइए।
व्रजनागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइए॥

सुत पितु पति तिय मोह महा दुख मूल है।
जग मृग तृस्ना देखि रह्यौ क्यों भूल है?
स्वप्न राजसुख पाय न मन ललचाइए।
व्रजनागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइए॥

कलह कल्पना, काम कलेस निवारनौ।
परनिंदा परद्रोह न कबहुँ बिचारनौ॥
जग प्रपंच चटसार न चित्त पढ़ाइए।
व्रजनागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइए॥

अंतर कुटिल कठोर भरे अभिमान सौं।
तिन के गृह नहिं रहैं संत सनमान सौं॥
उन की संगति भूलि न कबहूँ जाइए।
व्रजनागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइए॥

कहूँ न कबहूँ चैन जगत दुख कूप है।
हरिभक्तन कौ संग सदा सुखरूप है॥
इन के ढिंग आनंदित समै बिताइए।
व्रजनागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइए॥

कहाँ वे सुत नाती हय हाथी।
चले निसान बजाइ अकेले, तहँ कोउ संग न साथी॥
रहे दास दासी मुख जोवत, कर मीड़ै सब लोग।
काल गह्यौ तब सब हीं छाड्यौ, धरे रहे सब भोग॥
जहाँ तहाँ निसि-दिन बिक्रम कौ, भट्ट कहत बिरदत।
सो सब बिसरि गये एकै रट, राम नाम कहैं सत्त॥
बैठन देत हुते नहिं माखी, चहुँ दिसि चँवर सँचाल।
लिये हाथ में लट्ठा ताकौ, कूटत मित्र कपाल॥
सौंधें भीगौ गात जारि कै, करि आये बन ढेरी।
घर आये तैं भूलि गये सब, धनि माया हरि तेरी॥
'नागरिदास' बिसरिए नाहीं, यह गति अति अघुराती।
काल ब्याल कौ कष्ट निवारन, भजि हरि जनम सँगाती॥

दरपन देखत देखत नाहीं।
बालापन फिरि प्रगट स्याम कच, बहुरि स्वेत है जाहीं॥
तीन रूप या मुख के पलटे, नहिं अयानता छूटी।
नियरे आवत मृत्यु न सूझत, आँखैं हिय की फूटी॥
कृष्ण भक्ति सुख लेत न अजहूँ, बृद्ध देह दुख रासी।
'नागरिया' सोई नर निहचै, जीवत नरक निवासी॥

हमारौ मुरलीवारौ स्याम।
बिनु मुरली बनमाल चंद्रिका, नहिं पहिचानत नाम॥
गोपरूप बृंदाबन चारी, ब्रज जन पूरन काम।
याही सौं हित चित्त बढ़ौ नित, दिन दिन पल छिन जाम॥
नंदीसुर गोवरधन गोकुल बरसानौं बिस्राम।
नागरिदास द्वारका मथुरा, इन सौं कैसौ काम॥

किते दिन बिन बृंदावन खोये ।
यौं ही बृथा गये ते अब लौं, राजस रंग समोये ॥
छाँड़ि पुलिन फूलनि की सज्या, सूल सरनि सिर सोये ।
भीजे रसिक अनन्य न दरसे, बिमुखनि के मुख जोये ॥
हरि बिहार की ठौरि रहे नहिं, अति अभाग्य बल बोये ।
कलह सराय बसाय भठ्यारी, माया राँड़ बिगोये ॥
इकरस ह्याँ के सुख तजि कै ह्याँ, कबौं हँसे कबौं रोये ।
कियो न अपनो काज, पराये भार सीस पर ढोये ॥
पायो नहिं आनंद लेस मैं, सबै देस टकटोये ।
नागरिदास बसै कुंजन मैं, जब सब बिधि सुख भोये ॥

भजन न होई खेल खिलौना ।
को होरा सौं बाँधि सिलावत, प्रबल सिंह को छौना ॥
अति ही अगम अगाध लग्यो फल, कहि कैसें कर पहुँचै बौना ।
'नागरीदास' हरिबंस चरन भजु, मिथुन सुरत अंचौ ना ॥

बड़ो ही कठिन है भजन डिग ढरिबौ ।
तमकि सिंदूर मेलि माथे दै, साहस सिद्ध सती कौ सौ जरिबौ ॥
रहन के चार घायल ज्यौं घूमत, मुरै न गरूर सूर कौ सौ लरिबौ ।
'नागरिदास' सुगम जिन जानौ, श्रीहरिबंस पथ पग धरिबौ ॥

जो मेरे तन होते दोय ।
मैं काहू तैं कछु नहिं कहतौ, मोतैं कछु कहतौ नहिं कोय ॥
एक जु तन हरि बिमुखन के सँग, रहतौ देस बिदेस ।
बिबिध भाँति के जग दुख सुख जहँ, नहीं भक्ति लवलेस ॥
एक जु तन सतसंग रंग रँगि, रहतौ अति सुख पूरि ।
जनम सफल कर लेतौ ब्रज बसि, जहँ ब्रज जीवनमूरि ॥
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं, आयु सु छिन छिन छीजै ।
'नागरिदास' एक तन तैं अब, कहौ कहा करि लीजै ॥

हम ब्रज सुखी ब्रज के जीव ।
प्रान तन मन नैन सरबसु राधिका कौ पीव ॥
कहाँ आनँद मुक्ति मैं यह कहाँ मृदु मुसकान ।
कहाँ ललित निकुंज लीला मुरलिका कल गान ॥
कहाँ पूरन सरद रजनी जौन्ह जगमग जोत ।
कहाँ नूपुर बीन धुनि मिलि रास मंडल होत ॥
कहाँ पाँति कदंब की झुकि रही जमुना बीच ।
कहाँ रंग बिहार फागुन मचत केसर कीच ॥
कहाँ गहवर बिपिन मैं तिय रोकिबौ मिस दान ।
कहाँ गोधन मध्य मोहन चिहुर रज लपटान ॥
कहाँ लंगर सखा मोहन यहाँ उन कौ हासि ।
कहाँ गोरस छाँड़ि हँसी छाक रोटी रासि ॥
कहाँ सखननि कीरतन जगमगनि दसधा रंग ।
कंठ गदगद रोम हर्षित प्रेम पुलकित अंग ॥
जहाँ एती बस्तु पइयत बीच बृंदाधाम ।
हाँडय ऐसे ब्रज सुखद सौं बाहिरै बेकाम ॥
दास नागर चहत नहिं सुख मुक्ति आदि अपार ।
सुनहु ब्रज बसि स्रवन मैं ब्रजबासिनन की गार ॥

बिनु हरि सरन सुख नहिं कहूँ ।
छाड़ि छाया कलपद्रुम जग धूप दुख क्यों सहूँ ॥
कलिकाल कलह कलेस सरिता बृथा ता मधि बहूँ ।
दास नागर ठौर निर्भय कृष्ण चरननि रहूँ ॥

सब सुख स्याम सरनैं गये ।
और ठौर न कहूँ आनँद इंद्रहू कैं भये ॥
दुख मूल एक प्रवर्ति मारग कहि न मानत कोय ।
सुख पर्यौ जोइ निवृत्ति कैं मन जानि है दुख मोय ॥
सतसंग अंबुज ब्रज सरोवर कीरतन सुखबास ।
कीजिये हरि ! बेगि तिन कौ भँवर नागरिदास ॥

अब हौं सरन केवल स्याम ।
घोर कलि के तेज कौ तन सह्यो जात न घाम ॥
दीजिये तरु चरन छाया मूल सुख बिसराम ।
अजित मन तैं काम सुभ कछु बैन ह्वै छिन जाम ॥
सबनि लीनौ जीतिहूँ भयौ भीत सरत न काम ।
अब रहै नागरिदास कैं रट लगी रसना नाम ॥

क्यौं नहिं करै प्रेम अभिलाष ।
या बिन मिलै न नंददुलारो परम भागवत साख ॥
प्रेम स्वाद अरु आन स्वाद यौं ज्यौं अकडोडी दाख ।
नागरिदास हिये मैं ऐसैं मन बच क्रम करि राख ॥

तिन्हैं कोटि कोटिक धिक्कारं ।
राग द्वेष मत्सरिता तजि कै मृत्यु जानि मानी नहिं हार ॥
सुन्यौ भागवत भक्त कहावत कछु इक रीति करीबी ।
पै सुखसार रु सतसंगति फल आई नाहिं गरीबी ॥
हिये अभिमान सोनि धन गाड़यौ तासौं सबै बिकार ।
जो कछु पायौ चढ़ै तौ उर मैं दुरधन देह निसार ॥
साधु बचन सुनि दीन भये बिन क्यौंहुँ न जरनि मिटैगी ।
नागरिदास बहुत पछितैहौ दुख मैं देह छिटैगी ॥

भावनाहिं भोग मैं मगन दिन रैन रहैं
ताके नैंक ताकैं नित छाके रहियतु हैं ।
और मतवारे मतवारे नाहि नागर वे
प्रेम मतवारे मतवारे कहियतु हैं ॥

कुंडलिया

चितवत नहिं बइकुंठ दिस, नैंन कोर तैं मूर ।
सब सरबस सिर धूर दे, सरबस की ब्रज धूर ॥
सरबस की ब्रज धूरि पूरि नित रहे एकरस ।
मन अखियाँ तन बात निरखि पुनि बँधत रीझ बस ॥
जहाँ जहाँ सुनि पिय बात नैन भरि छिन छिन चितवत ।
नीरस रसमइ होत तनक दृग कोरहिं चितवत ॥

लोकन मैं कैसे मिलैं, परम प्रेमनिधि चोर ।
देखत ही लखि जाइयै आँखिन ही की ओर ॥
आँखिन ही की ओर चोर पकरत वहि निध कौं ।
पिय प्रकास झलमलत मनौं बादर तर बिध कौं ॥
जिहिं विध यो उर आहि महा तीछनि दृग नोकनि ।
मधि अबोध क्यों लखैं जाहि हिय सूत बिलोकनि ॥

सूधे अति बाँके महा, फँसे नेह के पंक ।
दीन लगत चितवत निपट कहैं कुबेर सौं रंक ॥
कहैं कुबेर सौं रंक संक हिय मैं कछु नाहीं ।
फिरत बिवस आवेस बलित बन घन की छाहीं ॥
ब्रज समाज छवि भीर रहत नित प्रति हिय रूधे ।
बोलत अटपटे बैन लगत सूधन कौं सूधे ॥

वृंदावन रस मैं पगे, जीत्यो अजित सुभाव ।
सात गाँठि कोपीन कैं गनैं न राना राव ॥
गनैं न राना राव, भाव चित रहे महा भरि ।
लखैं दीन तैं दीन लीन ह्वै परत पगनि ढरि ॥
अहा अनोखी रीत कहा यहाँ रहत रहित तन ।
ह्वै चकोर ससि बदन जुगल निरखत वृंदावन ॥

नैननि जल चित ह्वै रहे चूर चूर तन छीन ।
चूर चूर हिग गूदरी कहैं इंद्र सौं दीन ॥
कहैं इंद्र सौं दीन मीन दृग लीन स्याम जल ।
जकरि जुल्फ जंजीर लियौ बस मन मतंग खल ॥
रूप रसासव मन मुदित गदगद सुर बैननि ।
तन घूमत रंगे नाम स्यामसुंदर भर नैननि ॥

प्रेम-पीड़ा

ताननि की ताननि महीं, परयौ जु मन धुकि धाहि ।
पैठ्यौ रव गावत स्रवनि, मुख तैं निसरत आहि ॥
मुख तैं निसरत आहि साहि नहिं सकत चोट चित ।
ग्यान हरद तैं दरद मिटत नहि बिबस छुटत छित ॥
रीझ रोग रगमग्यौ पग्यौ नहिं छूटत प्राननि ।
चित चरननि क्यौं छुटैं प्रेम बानैन की ताननि ॥

प्रेम-मत्तता

बोलनि ही औरैं कछू, रसिक सभा की मानि ।
मतवारे समझैं नहीं, मतिवारे लैं जानि ॥
मतिवारे लैं जानि आन कौं बस्तु न सूझै ।
ज्यौं गूँगे की सैन कोऊ गूँगौ ही बूझै ॥
भीजि रहे गुरु कृपा बचन रस गागरि ढोलनि ।
तनक सुनत गरि जात सयानप अलबल बोलनि ॥

दैन्य

बूरा बिखर्यौ रैन मैं, मगज न गज कौ पाय ।
तजि ऊँचे अभिमान को चैंटी ह्वै तौ खाय ॥
चैंटी ह्वै तौ खाय चाय चित रज निवारि कैं ।
कनिका रसिकहि लहैं अपनपौ तनक धारि कैं ॥
मानी मलिन मतंग ताहि यह कह्यौ न मूरा ।
दीजै तिनहिं बताय जाहि भावै जन बूरा ॥

श्रीवृन्दावनका प्रकट रूप

जमुना नदी-सी तौ न दीसी कोऊ और तहाँ,
भक्ति-रस रूप भई जाकौ जल सोत है ।
कूल कूल फूल फूल झूल कुंज लता रहीं,
बोलत चकोर मोर कोकिला कपोत है ॥
रसिक सुजान संत हरि-गुन-गान करैं,
हरैं ताप त्रिविध सु आनँद उदोत है ।
जग-दुख-दंद तामैं दुखी कहा 'नागर' तू,
बसि ऐसे वृंदावन सुखी क्यौं न होत है ॥

सहजै श्रीकृष्ण-कथा ठौर ठौर होत तहाँ,
कीरतन धुनि मीठी हिय के हुलास है ।
स्यामा-स्याम रूप-गुन लीला-रंग रँगे लोग,
तिन के न ध्वांत उर प्रेम के प्रकास है ॥
एरे मन ! मेरे चेत उन ही सौं करि हेत,
'नागर' छुड़ाइ देत जग दुख-दाम है ।
काम क्रोध लोभ मोह मच्छरता राग द्वेष,
चाह दाह जेते सब वृंदावन-दास है ॥

श्रीवृन्दावनका शुभ रूप

कुंजनि कल्पतरु रतन-जटित भूमि,
छबि जगमगत जेरी-सी लगै काम कौं।
शीतल सुगंध मंद मारुत बहत नित,
उड़त पराग रैन चैन सब जाम कौं ॥
दब वधू द्रुमनि मैं कोकिला-स्वरूप गावैं,
दंपति-विहार बीच वृंदावन नाम कौं।
नागरिया नागर सु दीन्हे गरबाहीं तहाँ,
मन ! रूप रवनी है देखि ऐसे धाम कौं ॥

उद्बोधन

पर कारज करि दुख सहै, लेत न हरि रस घूँट।
भार घसीटत और को, आप ऊँट के ऊँट ॥
अपनो भलो न करत नर, सब मैं बड़ो कहाय।
बिन परसैं हरि नाम के, ज्यौं सुमेर रहि जाय ॥
अप-अपने सब सुधि करत, भवन भरे उतपात।
कबहूँ कोऊ नहीं करैं, वृंदावन की बात ॥
निति निति दुख गृह को सहैं, जहाँ अमित उतपात।
रोग दुखित तन त्यागियै, घर की कितीक बात ॥
करी न जिहिं हरि भक्ति नहिं, लये बिषै के स्वाद।
सो नहिं जिमी अकास को, भयो ऊँट को पाद ॥
मरिबो चाहत और को, अपने सुख हित जोय।
तिन कौं ऐसी नीत परि, सुख काहे कौं होय ॥
ताकौं कहिये मूढ़ जग, दुख दौ लागी हेर।
जमुना बृंदा बिपिन तजि, धावत बीकानेर ॥
विविध भाँति के दुखनि जिय, निकसत नहीं निदान।
बृंदावन की आस परि, उरझ रहे ये प्रान ॥
आरस मैं जु लगाय कै, किये मुसाफर माँड़।
माया जगत सराय मैं, बुरी भठ्यारी राँड़ ॥
नहीं अवस्था धन नहीं, और न कहूँ निवास।
तऊ न चाहत मूढ़ मन, बृंदावन को बास ॥
जिहिं बिधि बीती बहुत गइ, रही तनक सी आय।
सत कबहूँ सतसंग बिन, अब यह आयु बिहाय ॥
जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखनि को सूल।
सबै कलह इक राज मैं, राज कलह को मूल ॥
मेरे या मन मूढ़ तें, डरत रहत हौं हाय।
बृंदावन की ओर तें, मत कबहूँ फिरि जाय ॥
अधिक सयानप है जहाँ, सोई बुधि दुख खानि।
सर्बोपरि आनन्दमय, प्रेम बाय बौरानि ॥

बृंदावन के बास को, तिन कैं नाहिं हुलास।
फूस-फास जिन की भगत, वृद्ध भोग सुख आस ॥
बहुत भूमि इत उत फिरयौ, माया बस झकझोर।
अब कब ह्वै हैं सफल पग, बृंदावन की ओर ॥
दिन बीतत दुख दुंद मैं, च्यार पहर उतपात।
बिपती मरि जाते सबै, जो होती नहिं रात ॥
लेत न सुख हरि भक्ति को, सकल सुखनि को सार।
कहा भयो नृपहू भएँ, ढोहत जग बेगार ॥
रलि चौसर बाजी रची, च्यार नरनि इक साथ।
पासा पर कछु बस नहीं, हार जीत हरि हाथ ॥
हो हरि ! परम प्रवीन हौ, कहा करत ये खेल।
पहिलैं अमृत प्याय कै, अब क्यौं पावत तेल ॥
बगुला से मोहि पतित पर, कृपा करौ हरिराय।
हंसनि बृंदाबिपिन मैं, पावस बैठौ जाय ॥
मेरी मेरी करत क्यौं, है यह जिमी सराय।
कइयक डेरा करि गये, किये कईकनि आय ॥
और भवन देखूँ न अब, देखूँ बृंदा भौन।
हरि सौं सुधरी चाहिये, सब ही बिगरौ क्यौं न ॥
द्रुम दौं लागैं जात खग, आवैं जब फल होय।
संपत के साथी सबै, बिपता के नहिं कोय ॥
अधिक भये तौ कहा भयौ, बुद्धिहीन दुख रास।
साहिब ढिग नर बहुत ज्यौं, कीरे दीपक पास ॥
बृज मैं ह्वै हैं कढत दिन, किते दये लै खोय।
अब कैं अब कैं कहत ही, यह अब कैं कब होय ॥
तुम ऐसी क्यौं करत हौ, हरि धरि चतुर कहाय।
मलैं जिमावत हौ हमैं, भुस अरु खीर मिलाय ॥
सदा एकरस भक्ति सुख, ज्यौंऽव अमर बन बेल।
गृह के लाभ अलाभ सब, जूवा के से खेल ॥
हिल्लत दंत दृग दृष्टि घटि, सिथिल भयौ तन चाम।
तऊ बैठ सुमरत नहीं, काम गये हू राम ॥
तरुन समय हरि नहिं भजे, रह्यौ मगन रस बाम।
अब तौ रे नर बैठि भजि, काम गएँ तौ राम ॥
पंच रतन रथ बैठि कै, करि देखौ किन गौन।
राह छाँडि ऊबट चलै, सुख पावै सो कौन ॥
अगली समै रु इहिं समय, इतनौ अंतर जान।
ज्यौं लसकर कैं उठ गएँ, पीछैं रहै मह्दान ॥
मिटे मोद मंगल सही, जे पहिलैं सुख स्थान।
अब जग की पिछिली समैं, जैसौ ब्याह बिहान ॥

नीको हू लागत बुरो, बिन औसर जो होय।
प्रात भएँ फीको लगै, ज्यौं दीपक की लोय॥
अमृत सर देख्यो नहीं, पारस को न पहार।
प्रेम छके हरि भक्ति में, देखे नहीं हजार॥
मन ! तू ऊँची ठौर लगि, जहाँ न पहुँचे और।
तहाँ बैठैं नीची लगै, सब ऊँची ऊँची ठौर॥
को काकौं दुख देत है, कौन देत सुख दान।
सब जीवन की बुद्धि के, प्रेरक श्रीभगवान॥
लाज छाँड़ि हरि कौ भजौ, दीजै मन कौं छूट।
कम्माऊँ की मुहम में, जैसें लूटालूट॥
लाज करी जिहि भजन में, ते कोरे रहे सोय।
इहि जग दछिनी संग में, लूट किएँ सुख होय॥
माया प्रबल प्रवाह में, मन की कछु न बसाय।
नदी कौसिकी माँहि ज्यों, तल गिर ऊपर पाय॥
जगत कमाऊँ कटक ल्यौ, राम नाम भरि नाज।
लाज किएँ लाज न रहै, लाज तजैं रहै लाज॥
सत्रु कहत सीतल वचन, मत जानो अनुकूल।
ज्यौंऽब मास वैसाख में, सीत रोग को मूल॥
जग की खातर राखि सुख, भक्ति लहै नहिं सिद्धि।
साँग निकासै जगत सौं, तब भक्ति साँग है सिद्ध॥
सुनि कै लेहु पुरान सब, बूझ लेहु सब ठौर।
जगत रीत कछु और है, भक्ति रीत कछु और॥
जगत तोर तोरै कोऊ, तबै ताहि सुख होय।
खाला का डर आसिकी, संग न निबहै दोय॥
अपनो भलो न करि सकैं, कहा भोर कहा साँझ।
जग को भलो मनावतैं, बेस्या रहि गई बाँझ॥
बहुत संत भये आजु लौं, ऐसी सुनी न साखि।
द्यौ भक्ति सुख खोय कैं, जग की खातर राखि॥
राजु बड़े बड़े देत हरि, दिन में लाख करोर।
पै काहू को नाहिं वे, खैंचत अपनी ओर॥
कृपा लहर नर क्रूर की, सोइ जानियै कैफ।
जैसे खावत पान में, तम्बाखू की कैफ॥
जानि कै जानि अजान है, तत्व लीजिये छानि।
सिष्य होन में लाभ है, गुरू होन में हानि॥
बृंदावन तब भजत है, बास करन के चाय।
तैं भजल अब, चतुर्थ आश्रम आय॥
की लगन तें, सुधि आये नहिं स्याम।
नगर बस, भूले बृंदाधाम॥

पति की दुख में संग तजै, जाको यहु पति होय।
जगत सुहागनि को हँसै, औरहिं हँसै न कोय॥
कुल पोखन में करत क्यौं, अपनो जन्म बेकाम।
बिस्वंभर भगवान को, वृथा कहत जग नाम॥
को करिहै तब कुटम के, पोखन को उपचार।
कुस सैनी जब सोइहौ, लंबे पाँव पसार॥
जाको घर सब तें बड़ो, सब घर जिहिं आधीन।
सो घर परिहरि फिरत क्यौं, घर-घर है कै दीन॥
बृंदावन सेवत नहीं, करै न हरि की बात।
सब दिन बोलत है वृथा, डोलत लोग हँसात॥
नीको हू फीको लगै, जो जाके नहिं काज।
फल आहारी जीव कैं, कौन काम को नाज॥
फिरत रह्यौ तीरथ रह्यौ, रह्यो कोउ घर माहिं।
नाना रँग के संग में, चढ़त एक रँग नाहिं॥
आवत लोट्या भूमि पर, गया लोटि कै भूमि।
झूठे फहकट बीच के, सेज बिछौना लूमि॥
आप कुंड गोलक पिता, पितृ पिता कानीन।
लखौ सुनागर भक्ति जस, पांडव नित्य नवीन॥
आय परे इह ठौर मैं, बुरे कर्म फल हेत।
बाहिर बृंदा बिपिन मैं, जब लगि जीवत प्रेत॥
भक्ति भोग दोउ तजि फिरत, सरल है सूधी गैल।
ते आये नर जगत मैं, जैसैं बधिया बैल॥
जापै जैसी बस्तु है, तैसौ ही मन होय।
माला और गिलोल को, कर लै देखौ कोय॥
मिलै सजाती दूसरो, जब है वस्तु प्रकास।
कढ़त नाहिं बिन पवन ज्यौं, द्रुम फूलन की बास॥
पौढ़े छीरसमुद्र में, एकाकी भगवान।
गौर स्याम द्वै मिलत ब्रज, बढ़ी कथा गुनखान॥
जा मैं रस सोई हरी, यह जानत सब कोय।
गौर स्याम द्वै रंग बिन, हरौ रंग नहिं होय॥
काठ काठ सब एक से, सब काहू दरसत।
अनिल मिलै जब अगर कौ, तब गुन जान्यौ जात॥
द्वै बिन एक न काम कौ, यह मन लेहु बिचार।
तन माटी बिन प्रान के, बिन तन प्रान बयार॥
प्रेम जहाँ ही अधिक है, तहाँ जु होत बखर।
ज्यौंऽब बिरद सुनि समर बिच, बीरनि बढ़त उमंग॥

हरि के हिय मैं जिय मैं सु बसै महिमा फिरि और कहा कहियै।
दरसै नित नैननि बैननि ह्वै मुसक्यानि सौं रंग महा लहियै॥
घनआनँद प्रान पपीहनि कौं रस प्यावनि ज्यावनि है बहियै।
करि कोऊ अनेक उपाय मरौ हमैं जीवनि एक कृपा चहियै॥

स्याम सुजान हिऍं बसियै रहै नैननि त्यौं लसियै भरि भाइनि।
बैननि बीच बिलास करै मुसक्यान सखी सौं रची चित चाइनि॥
है बस जाके सदा घनआनँद ऐसी रसाल महा सुखदाइनि।
चेरी भई मति मेरी निहारि कैं सील सरूप कृपा ठकुराइनि॥

बैन कृपा फिरि मौन कृपा दृग दृष्टि कृपा रुख माधि कृपाई।
ग्यान कृपा गुन गान कृपा मन ध्यान कृपा हरै आधि कृपाई॥
लोक कृपा परलोक कृपा लहिए सुख संपति साधि कृपाई।
यौं सब ठॉ दरसै बरसै घनआनँद भीजि अराधि कृपाई॥

हरिहू को जेतिक सुभाव हम हेरि लहे
दानी बड़े पै न ढरैं माँगे बिन दातुरी।
दीनता न आवै तौलौं बंधु करि कौन पावै
साँच सौं निकट दूरि भाजैं देखि चातुरी॥
गुननि बँधे हैं निरगुन हू आनंदघन
मति यहै बीर गति चाहैं धीर जातु री।
आतुर न ह्वै री अति चातुर बिचार थकी
और सब ढीले कृपा ही कै एक आतुरी॥

हौ गुनरासि ढरौ गुनहीं गुन हीनन तें सब दोस प्रमानैं।
हाहा बुरौ जिन मानियै जू बिन जाचै कहौ किन दानि बखानै॥
लीजै बलाइ तिहारी कहा करैं हैं हमहूँ कहूँ रीझि बिकानैं।
बूझौं कहैं कहा एक कृपा कर रावरे जो मन के मन मानैं॥

राजा आशकरणजी

मोहन चरनारबिंद त्रिबिध ताप हारी।
कहि न जात कौन पुन्य, कर जू सिर धारी॥
निगम जाकी साख बोलैं, सेवक अधिकारी।
धींवर-कुल अभय कीन्हौ, अहल्या उद्धारी॥
ब्रह्मा नहिं पार पावैं, *लीला-बपुधारी।*
'आसकरन' पद-पराग, परम मँगल कारी॥

महाराज ब्रजनिधि

(असली नाम—जयपुरनरेश सवाई प्रतापसिंहजी। जन्म—संवत् १८२१। दीक्षागुरु—श्रीजगन्नाथजी भट्ट। देहावसान—संवत् १८६०)

प्यारौ ब्रज ही कौ सिंगार।
मोर पखा सिर लकुट बाँसुरी गर गुंजन कौ हार॥
बन-बन गोधन संग डोलिबौ गोपन सौं कर यारी।
सुनि सुनि कै सुख मानत मोहन ब्रजबासिन की गारी॥
बिधि सिव सेस सनक नारद से जाकौ पार न पावैं।
ताकौं घर-बाहर ब्रज सुंदरि नाना नाच नचावैं॥
ऐसौ परम छबीलौ ठाकुर कहौ काहि नहिं भावैं।
'ब्रजनिधि' सोइ जानिहै यह रस जाहि स्याम अपनावैं॥

जिन के श्रीगोबिंद सहाइ।
सकल भय भजि जात छिन मैं सुख हिऍं सरसाइ॥
सेस सिव बिधि सनक नारद सुक सुजस रहे गाइ।
द्रौपदी गज गीध गनिका काज कीये धाइ॥
दीनबंधु दयाल हरि सौं नाहिं कोउ अधिकाइ।
यहै जिय मैं जानि 'ब्रजनिधि' गहे दृढ़ करि पाइ॥

पायौ बड़े भागनि सौं आसरौ किसोरी जू कौ
और निरबाहि नीकैं ताहि गही गहि रे।
नैननि तैं निरखि लड़ैती कौ बदन चंद
ताहि कौ चकोर ह्वै कै रूप सुधा लहि रे॥
स्वामिनी की कृपा तैं अधीन ह्वै हैं 'ब्रजनिधि'
तातें रसना सौं नित स्यामा नाम कहि रे।
मन मेरे मीत जो कही मानै मेरी तौ तू
राधा पद कंज कौ भ्रमर ह्वै कै रहि रे॥

भक्त श्रीगदाधर मिश्रजी

(वल्लभ-सम्प्रदायके भक्त-कवि । स्थितिकाल—अनिश्चित)

जयति श्रीराधिके सकल सुख साधिके
　　तरुनि मनि नित्य नव तन किसोरी ।
कृष्ण तन नील घन रूप की चातकी
　　कृष्ण मुख हिमकिरन की चकोरी ॥
कृष्ण दृग भृंग बिस्राम हित पद्मिनी
　　कृष्ण दृग मृगज बंधन सुडोरी ।
कृष्ण अनुराग मकरंद की मधुकरी
　　कृष्ण गुन गान रस सिंधु बोरी ॥
बिमुख परचित्त तैं चित्त याको सदा
　　करत निज नाह की चित्त चोरी ।
प्रकृत यह गदाधर कहत कैसैं बनै,
　　अमित महिमा इतै बुद्धि थोरी ॥

जय महाराज ब्रजराज कुल तिलक
　　गोविंद गोपीजनानंद राधारमन ।
नंद नृप गेहिनी गर्भ आकर रतन
　　सिष्ट कष्टद धृष्ट दुष्ट दानव दमन ॥
बल दल्न गर्व पर्वत बिदारन
　　ब्रज भक्त रच्छा दच्छ गिरिराजधर धीर।
बिबिध लीला कुसल मुसलधर संग लै
　　चारु चरनांक चित तरनि तनया तीर ॥
कोटि कंदर्प दर्पापहर लावन्य
　　धन्य बृंदारन्य भूषन मधुर तरु ।
मुरलिका नाद पीयूषनि महानदन
　　बिदित सकल ब्रह्म रुद्रादि सुरवरु ॥
गदाधर बिषै बृष्टि करुना दृष्टि करु
　　दीन को त्रिबिध संताप ताप तवन ।
है सुनी तुव कृपा कृपन जन गामिनी
　　बहुरि पैहै कहा मो बराबर कवन ॥

आजु ब्रजराज कौ कुँवर बन तैं बन्यौ,
　　देखि आवत मधुर अधर रंजित बेनु ।
मधुर कल गान निज नाम सुनि स्रवन पुट,
　　परम प्रमुदित बदन फेरि हूँकति धेनु ॥
मद बिघूर्णित नैन मंद बिहँसनि बैन,
　　कुटिल अलकावली ललित गो पद रेनु ।
ग्वाल बालनि जाल करत कोलाहलनि,
　　सृंग दल ताल धुनि रचत संचत चैनु ॥
मुकुट की लटक अरु चटक पट पीत की
　　प्रगट अंकुरित गोपी के मनहिं मैनु ।
कहि गदाधर जु इहि न्याय ब्रजसुंदरी
　　बिमल बनमाल के बीच चाहतु ऐनु ॥

सुमिरौ भट नागर बर सुंदर गोपाल लाल ।
सब दुख मिटि जैहैं वे चितवत लोचन बिसाल ॥
अलकन की झलकन लखि पलकन गति भूल जात ।
भ्रू बिलास मंद हास रदन छदन अति रसाल ॥
निंदत रबि कुंडल छबि गंड मुकुर झलमलात ।
पिच्छ गुच्छ कृत बतंस इंदु बिमल बिंदु भाल ॥
अग अंग जित अनंग माधुरी तरंग रंग ।
बिमद मद गयंद होत देखत लटकौलि चाल ॥
हसन लसन पीत बसन चारु हार बर सिंगार ।
तुलसि रचित कुसुम खचित पीन उर नवीन माल ॥
ब्रज नरेस बंस दीप बृंदाबन बर महीप ।
बृषभान मानपात्र सहज दीन जन दयाल ॥
रसिक भूप रूप रासि गुन निधान जान राय ।
गदाधर प्रभु जुवती जन मुनि मन मानस मराल ॥

श्रीभगवतरसिकजी

(जन्म संवत् १७९५ वि० के लगभग माना जाता है। आप श्रीललितमोहिनीदासजीके कृपापात्र शिष्य थे ।)

लोभ है सर्व पाप को मूल ।
जैसैं फल पीछे कौ लागै पहिलैं लागै फूल ॥
अपने सुत के काज कैकई दियौ राम बनवास ।
भर्ता मरो भरत दुख पायो सह्यो जगत उपहास ॥

बासुदेव तजि अर्क उपासे सत्राजित मनि लीनी ।
बंधु सहित भयो निधन आपुनो निंदा सबही कीनी ॥
'भगवतरसिक' संग जो चाहै प्रथमैं लोभै त्यागै ।
देह, गेह, सुत, संपति, दारा सब हरि सौं अनुरागै ॥

इतने गुन जामें सो संत ।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत ॥
हरि कौ भजन, साधु की सेवा, सर्व भूत पर दाया ।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागैं, विष सम देखै माया ॥
सहनसील, आसय उदार अति, धीरज सहित बिबेकी ।
सत्य बचन सब कौं सुखदायक, गहि अनन्य व्रत एकी ॥
इंद्रीजित, अभिमान न जाकैं करै जगत कौं पावन ।
'भगवतरसिक' तासु की संगति तीनहुँ ताप नसावन ॥

साँचे श्रीराधारमन झूठौ सब संसार ।
बाजीगर कौ पेखनौ मिटत न लागै बार ॥
मिटत न लागै बार भूत की संपति जैसैं ।
मिहिरी, नाती, पूत धुवाँ कौ धौरर तैसैं ॥
'भगवत' ते नर अधम लोभबस घर-घर नाचे ।
झूठे गढ़े सुनार मैन के गेरै साँचे ॥

चलनी में गैया दुहै दोष दई को देहिं ।
हरि गुरु कह्यौ न मानहीं कियौ आपनौ लेहिं ॥
कियौ आपनौ लेहिं नहीं यह ईस्वर इच्छा ।
देस, काल, प्रारब्ध, देव कोउ करहिं न रच्छा ॥
मूरख मरकट मूढ़ कीर हठि तजै न नलनी ।
कह 'भगवत' कहा करै भाग भौंड़े कौ चलनी ॥

गेही संग्रह परिहरैं संग्रह करै बिरक्त ।
हरि गुरु द्रोही जानिये आग्या तैं बितिरिक्त ॥
आग्या तैं बितिरिक्त होय जमदूत हवाले ।
अष्टाविंसति निरय अधोमुख करि तहँ घाले ॥
'भगवतरसिक' अनन्य भजौ तुम स्याम सनेही ।
संग दुहुन कौ तजौ बृत्ति बिनु बिरक्त गेही ॥

कुंजन तैं उठि प्रात गात जमुना में धोवै ।
निधिवन करि दंडवत, बिहारी कौ मुख जोवै ॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा ।
घर-घर लेय प्रसाद, लगै जब भोजन साधा ॥
संग करै 'भगवतरसिक', कर करवा, गूदरि गरैं ।
बृंदाबन बिहरत फिरै, जुगलरूप नैनन भरैं ॥

पैसा पापी साधु कौं परसि लगावै पाप ।
बिमुख करै गुरु इष्ट तैं, उपजावै संताप ॥
उपजावै संताप ग्यान, बैराग्य बिगारै ।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर संचारै ॥
सब द्रोहिन में सिरै, भगत द्रोही नहिं ऐसा ।
'भगवतरसिक' अनन्य, भूलि जिन परसौ पैसा ॥

जाकौ जैसी लखि परी तैसी गावै सोय ।
बीथी भगवत मिलन की, निहचय एक न होय ॥
निहचय एक न होय, कहैं सब पृथक हमारी ।
स्रुती सुमृति भागौत, साखि गीतादिक भारी ॥
भूपति सबनि समान, लखै निज परजा ताकौं ।
जाकौ जैसौ भाव, सु भासै तैसौ ताकौं ॥

बेषधारी हरि के उर सालैं ।
परमारथ स्वपनैं नहिं जानैं, पैसन ही कौं लालैं ॥
कबहुँक बकता ह्वै बनि बैठैं, कथा भागवत गावैं ।
अर्थ अनर्थ कछू नहिं भासै, पैसन ही कौं धावैं ॥
कबहुँक हरि मंदिर कौं सेवैं, करैं निरंतर कामा ।
भाव भगति कौ लेस न जानैं, पैसन ही की आसा ॥
नाचैं गावैं, चित्र बनावैं, करैं काव्य चटकीली ।
साँच बिना हरि हाथ न आवैं, सब रहनी है ढीली ॥
बिना बिवेक, बिराग, भगति बिनु, सत्य न एकौ मानौ ।
'भगवत' बिमुख कपट चतुराई, सो पाखंडै जानौ ॥

लखी जिन लाल की मुसक्यान ।
तिनहिं बिसरी बेदबिधि, जप, जोग, संजम, ध्यान ॥
नेम, ब्रत, आचार, पूजा, पाठ, गीता, ग्यान ।
रसिक भगवत हग दई अति, ऐंच के मुख म्यान ॥

श्रीअनन्यअलीजी

जुगल भजन की हाट करि, ऐसी बिधि ब्यौहार ।
रसिकन सौं सौदा बनै, चरचा नित्यबिहार ॥
चित डाँड़ी पलरा नयन, प्रेम डोरि सौं बाँनि ।
दियौ तराजू लेहु कर, तोल रूप मन सानि ॥
टोटा कबहुँ न आय है, पूँजी बढ़े अनंत ।
लेहु देहु सतसंग मिलि, गुन गुनि बिलसंत ॥

श्रीवंशीअलीजी

संतन की संगति पुनीत जहाँ निस दिन,
जमुना-जल न्हैहौं जस गैहौं दधि-दानी को।
जुगल बिहारी को सुजस भय तापहारी,
स्रवननि पान करौं रसिकन बानी को॥
'बंसीअली' सग रस रंग अब लहौं कोऊ,
मंगल को करन सरन राधा रानी को।
कुँवरि किसोरी! मेरे आस एक रावरी ही,
कृपा करि दीजे वास निज रजधानी को॥

ऐसो उत्तम नर तन लह्यौ। भूल्यौ मंद बिषय रस गह्यौ॥
मोह रजनि सोवत तें जागि। श्रीहरि-चरन-कमल अनुरागि॥
प्रभु-प्रापतिको यहै उपाय। तो सतसंग करौ मन लाय॥
भव निधि तरन नाव सतसंगा। ताही सौं हिय राचहु रंगा॥
तातें संत समागम कीजे। निश्चय मानि लाभ यह लीजे॥

श्रीकिशोरीअलीजी

मेरो मन स्यामा-स्याम हरयौ री।
मृदु मुसकाय गाय मुरली मैं चेटक चतुर करयौ री॥
या छबि तें मन नेंक न निकसत निसि दिन रहत अरयौ री।
'अलीकिसोरी' रूप निहारत परबस प्रान परयौ री॥

श्रीबैजू बावरा

जहाँ लग लगन लालन सौं
तहाँ लग निज ललचाऊँ।
कौन मंत्र मोहन पद डारौं,
अपने हरि बस कर पाऊँ॥
हा हा करौं हरि को कैसे देखौं,
साँवरी सूरत हृदय ल्याऊँ।
'बैजू बावरे' रावरी कृपा तें,
तन मन धन वार बलि बलि जाऊँ॥

श्रीतानसेनजी

सुमिरन हरि को करौं रे,
जासौं होवे भव पार।
यही सीख जान मान बचो है,
पुरान में भगवान आप करतार॥
दीनबंधु दयासिंधु पतितपावन
आनंदकंद तोसे कहत हौं पुकार।
'तानसेन' कहै निरमल सदा
लहिये नर देही नहीं बार बार॥

संत जंभनाथ (जाम्भोजी)

('विश्नोई' सम्प्रदायके प्रवर्तक, राजस्थानके संत, प्रादुर्भाव—वि० सं० १५०८ भादों बदी ८, जन्म-स्थान—पीपासर गाँव (नागौर, जोधपुर), जाति—पवाँर राजपूत, शरीरान्त—वि० सं० १५९३ मार्गशीर्ष कृ० ९, उम्र—८५ वर्ष, पिताका नाम—लोहटजी, माताका नाम—हाँसादेवी)

यही असार संसार तू, लहरी इन्द्र धनेस।
मित्र वरुन और अरजमा, अदिती पुत्र दिनेस॥
तू सरवग्य अनादि अज, रवि सम करत प्रकास।
एक पाद में सकल जग, निसदिन करत निवास॥
इस असार संसार में, किस बिध उतरै पार।
अनन्त भगत में तार हो, निधान [illegible] उबार॥

श्रीपीपाजी

(ये [illegible] के एक थे, स्वामी श्रीरामानन्दजीके शिष्य, [illegible])

पीपो स्वामी द्वारका रनछोर॥
द्वारका में [illegible] बाई, [illegible] की [illegible]।
रुकमनी के [illegible] में, [illegible] बरोर॥
ये [illegible] पीपा [illegible]
दास [illegible] अंत॥

भगवन्नामका प्रभाव

अजामिल

कभी धर्मात्मा था अजामिल । माता-पिताका भक्त, सदाचारी श्रोत्रिय ब्राह्मणयुवक—किंतु सङ्गका प्रभाव बड़ा प्रबल होता है । एक दिन अकस्मात् एक कदाचारिणी स्त्रीको एक शूद्रके साथ देखा उसने निर्लज्ज चेष्टा करते और सुप्त वासनाएँ जाग्रत् हो गयीं । बह गया अजामिल पापके प्रवाहमें ।

माता-पिता छूटे, साध्वी पत्नी छूटी, घर छूटा । धर्म और सदाचारकी बात व्यर्थ है । वही कदाचारिणी स्त्री अजामिलकी प्रेयसी बनी । उसे संतुष्ट करनेके लिये न्याय-अन्याय सब भूल गया अजामिल । वासना जब उद्दीप्त होती है—उसके प्रवाहमें पतित पामर प्राणी कौन-से पाप नहीं करता ।

समय बीतता गया । बुढ़ापा आया । उस शूद्रा कदाचारिणीसे कई संतानें हुईं अजामिलकी । बुढ़ापेमें काम प्रबल रह नहीं सकता । उस समय मोह प्रबल रहता है । अपने छोटे बच्चे नारायणमें अजामिलका अत्यधिक मोह था ।

मृत्युका समय आया । यमराजके भयङ्कर दूत हाथोंमें पाश लिये आ पहुँचे । अजामिलने उन्हें देखा । मरणासन्न पापी प्राणी यमदूतोंको देखकर काँप उठा । पास खेलते अपने छोटे पुत्रको उसने कातर स्वरमें पुकारा—'नारायण ! नारायण !'

'नारायण !' भगवान् नारायणके सर्वत्र घूमनेवाले दूतोंने यह पुकार सुनी । सर्वज्ञके समर्थ पार्षदोंसे प्रमाद नहीं होता । वे जान चुके थे कि कोई भी उनके स्वामीको नहीं पुकार रहा है, लेकिन किसी प्रकार एक मरणासन्न जीव उनके स्वामीका नाम तो ले रहा है । दौड़े वे दिव्य पार्षद ।

शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म तथा खड्ग आदि आयुधोंसे सुसज्जित कमललोचन भगवान् नारायणके वे परम मनोहर दूत—यमदूतोंके पाश उन्होंने बलात् तोड़ फेंके । भागे यमदूत उनके द्वारा ताड़ित होकर ।

व्यर्थ थी यमदूतोंकी यमराजके यहाँ पुकार । उन महाभागवत धर्मराजने दूतोंको यही कहा—'जो किसी प्रकार भी भगवन्नाम ले, उसकी ओर भूलकर भी मत झाँकना । वह तो सर्वेश्वर श्रीहरिके द्वारा सदा रक्षित है ।'

× × ×

गणिका

वह एक गणिका थी । नाम था जीवन्ती । गणिका और धर्म—इनमें कहीं कोई मेल नहीं है, यह आप जानते हैं । उसने केवल अपने विनोदके लिये एक तोता पाल लिया । पिंजड़ेमें बंद तोतेको वह पढ़ाया करती थी—'मिट्ठू ! कहो सीताराम ! सीताराम !'

किसका काल कब आवेगा, कौन जानता है । गणिका तोतेको पढ़ा रही थी—'सीताराम ! सीताराम !' लेकिन उसे क्या पता था कि उसका ही 'रामनाम सत्य' होनेवाला है । जीवनके क्षण पूरे हो गये थे । गणिकाको लेने यमदूत तो आते ही । बेचारे यमदूतोंको यहाँ भी मुँहकी खानी पड़ी । किसी भी बहाने वह गणिका 'सीताराम' कह रही थी न । भगवान्के पार्षद नाम-जापककी रक्षामें कहीं प्रमाद कर सकते हैं । यमदूतोंको सिरपर पैर रखकर भागना पड़ा ।

× × ×

व्याध वाल्मीकि

था तो वह ब्राह्मण-पुत्र; किंतु ब्राह्मणत्व कहाँ था उसमें । डाकुओंके सङ्गसे भयङ्कर डाकू हो गया था वह । उसने कितने मनुष्य मारे—कुछ ठिकाना नहीं ।

देवर्षि नारदको उसका उद्धार करना था । वे उसी मार्गसे निकले । किसी प्रकार वह दस्यु इतना प्रस्तुत हो गया कि देवर्षिको बाँधकर घरवालोंसे पूछ आवे—कौन उसके पापमें भी भाग लेगा या नहीं ।

माता-पिता, स्त्री-पुत्र—सबने टका-सा जवाब दे दिया । सब धनमें भागीदार थे, पापमें नहीं । दस्युके नेत्र खुल गये । संतके चरणोंमें आ गिरा । देवर्षिको यह ऐसा शिष्य मिला जो 'राम' यह नाम भी नहीं बोल सकता था । लेकिन नारदजीने कहीं हार मानी है जो यहाँ मान जाते । उन्होंने कहा—'तुम मरा, मरा जपो ।'

शीघ्रतासे मरा, मरा कहनेपर ध्वनि 'राम राम' की बन जाती है । दस्यु जपमें लग गया—पूर्णतः लग गया । कितने वर्ष—कुछ पता नहीं । उसके ऊपर दीमकोंने बाँबी बना ली । भगवन्नामके उलटे जपने उसे परम पावन कर दिया । सृष्टिकर्ता ब्रह्मा स्वयं वहाँ आये । दीमकोंकी बल्मीक (बाँबी) से निकाला उसे और आदिकवि होनेका गौरव दिया । जो कभी दस्यु था—वह आदिकवि महर्षि वाल्मीकि कहलाया ।

उल्टा नामु जपत जगु जाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना ॥

अपार है भगवन्नामका प्रभाव ।

भगवन्नामका प्रभाव

भगवन्नामका प्रभाव

अजामिल

कभी धर्मात्मा था अजामिल। माता-पिताका भक्त, सदाचारी श्रोत्रिय ब्राह्मणयुवक—किंतु सङ्गका प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। एक दिन अकस्मात् एक कदाचारिणी स्त्रीको एक शूद्रके साथ देखा उसने निर्लज्ज चेष्टा करते और सुप्त वासनाएँ जाग्रत् हो गयीं। बह गया अजामिल पापके प्रवाहमें।

माता-पिता छूटे, साध्वी पत्नी छूटी, घर छूटा। धर्म और सदाचारकी बात व्यर्थ है। वही कदाचारिणी स्त्री अजामिलकी प्रेयसी बनी। उसे संतुष्ट करनेके लिये न्याय-अन्याय सब भूल गया अजामिल। वासना जब उद्दीप्त होती है—उसके प्रवाहमें पतित पामर प्राणी कौन-से पाप नहीं करता।

समय बीतता गया। बुढ़ापा आया। उस शूद्रा कदाचारिणीसे कई संतानें हुईं अजामिलकी। बुढ़ापेमें काम प्रबल रह नहीं सकता। उस समय मोह प्रबल रहता है। अपने छोटे बच्चे नारायणमें अजामिलका अत्यधिक मोह था।

मृत्युका समय आया। यमराजके भयङ्कर दूत हाथोंमें पाश लिये आ पहुँचे। अजामिलने उन्हें देखा। मरणासन्न पापी प्राणी यमदूतोंको देखकर काँप उठा। पास खेलते अपने छोटे पुत्रको उसने कातर स्वरमें पुकारा—'नारायण! नारायण!'

'नारायण!' भगवान् नारायणके सर्वत्र घूमनेवाले दूतोंने यह पुकार सुनी। सर्वज्ञके समर्थ पार्षदोंसे प्रमाद नहीं होता। वे जान चुके थे कि कोई भी उनके स्वामीको नहीं पुकार रहा है, लेकिन किसी प्रकार एक मरणासन्न जीव उनके स्वामीका नाम तो ले रहा है। दौड़े वे दिव्य पार्षद।

शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म तथा खड्ग आदि आयुधोंसे सुसज्जित कमललोचन भगवान् नारायणके वे परम मनोहर दूत—यमदूतोंके पाश उन्होंने बलात् तोड़ फेंके। भागे यमदूत उनके द्वारा ताड़ित होकर।

व्यर्थ थी यमदूतोंकी यमराजके यहाँ पुकार। उन महाभागवत धर्मराजने दूतोंको यही कहा—'जो किसी प्रकार भी भगवन्नाम ले, उसकी ओर भूलकर भी मत झाँकना। वह तो सर्वेश्वर श्रीहरिके द्वारा सदा रक्षित है।'

× × ×

गणिका

वह एक गणिका थी। नाम था जीवन्ती। गणिका और धर्म—इनमें कहीं कोई मेल नहीं है, यह आप जानते हैं। उसने केवल अपने विनोदके लिये एक तोता पाल लिया। पिंजड़ेमें बंद तोतेको वह पढ़ाया करती थी—'मिट्ठू! बोलो सीताराम! सीताराम!'

किसका काल कब आवेगा, कौन जानता है। गणिका तोतेको पढ़ा रही थी—'सीताराम! सीताराम!' लेकिन उसे क्या पता था कि उसका ही 'रामनाम सत्य' होनेवाला है। जीवनके क्षण पूरे हो गये थे। गणिकाको लेने यमदूत टूट आते ही। बेचारे यमदूतोंको यहाँ भी मुँहकी खानी पड़ी। किसी भी बहाने वह गणिका 'सीताराम' कह रही थी न। भगवान्के पार्षद नाम-जापककी रक्षामें कहीं प्रमाद कर सकते हैं। यमदूतोंको सिरपर पैर रखकर भागना पड़ा।

× × ×

व्याध वाल्मीकि

था तो वह ब्राह्मण-पुत्र; किंतु ब्राह्मणत्व कहाँ था उसमें। डाकुओंके सङ्गसे भयङ्कर डाकू हो गया था वह। उसने कितने मनुष्य मारे—कुछ ठिकाना नहीं।

देवर्षि नारदको उसका उद्धार करना था। वे उसी मार्गसे निकले। किसी प्रकार वह दस्यु इसपर प्रस्तुत हो गया कि देवर्षिको बाँधकर घरवालोंसे पूछ आवे—कौन उसके पापमें भी भाग लेगा या नहीं।

माता-पिता, स्त्री-पुत्र—सबने टका-सा जवाब दे दिया। सब धनमें भागीदार थे, पापमें नहीं। दस्युके नेत्र खुल गये। संतके चरणोंमें आ गिरा। देवर्षिको यह देख चिन्ता हुई। लेकिन जो 'राम' यह नाम भी नहीं बोल सकता था। लेकिन नारदजीने कहीं हार मानी है जो यहीं मान जाते। उन्होंने कहा—'तुम मरा, मरा जपो।'

शीघ्रतासे मरा, मरा कहनेपर ध्वनि 'राम राम' की हो जाती है। दस्यु जपमें लग गया—पूर्णतः लग गया। कितने वर्ष—कुछ पता नहीं। उसके ऊपर दीमकोंने बाँबी बना ली। भगवन्नामके उलटे जापने उसे परम पावन कर दिया। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा स्वयं वहाँ आये। दीमकोंकी बाँबी (वल्मीक) से निकाला उसे और आदिकवि होनेका गौरव दिया। वही कभी दस्यु था—वह आदिकवि महर्षि वाल्मीकि बन गया। 'उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥'

अपार है भगवन्नामका प्रभाव।

भगवन्नामका प्रभाव

भगवन्नामका प्रभाव

अजामिल

कभी धर्मात्मा था अजामिल। माता-पिताका भक्त, सदाचारी श्रोत्रिय ब्राह्मणयुवक—किंतु सङ्गका प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। एक दिन अकस्मात् एक कदाचारिणी स्त्रीको एक शूद्रके साथ देखा उसने निर्लज्ज चेष्टा करते और सुप्त वासनाएँ जाग्रत् हो गयीं। बह गया अजामिल पापके प्रवाहमें।

माता-पिता छूटे, साध्वी पत्नी छूटी, घर छूटा। धर्म और सदाचारकी बात व्यर्थ है। वही कदाचारिणी स्त्री अजामिलकी प्रेयसी बनी। उसे संतुष्ट करनेके लिये न्याय-अन्याय सब भूल गया अजामिल। वासना जब उद्दीप्त होती है—उसके प्रवाहमें पतित पामर प्राणी कौन-से पाप नहीं करता।

समय बीतता गया। बुढ़ापा आया। उस शूद्रा कदाचारिणीसे कई संतानें हुईं अजामिलकी। बुढ़ापेमें काम प्रबल रह नहीं सकता। उस समय मोह प्रबल रहता है। अपने छोटे बच्चे नारायणमें अजामिलका अत्यधिक मोह था।

मृत्युका समय आया। यमराजके भयङ्कर दूत हाथोंमें पाश लिये आ पहुँचे। अजामिलने उन्हें देखा। मरणासन्न पापी प्राणी यमदूतोंको देखकर काँप उठा। पास खेलते अपने छोटे पुत्रको उसने कातर स्वरमें पुकारा—'नारायण! नारायण!'

'नारायण!' भगवान् नारायणके सर्वत्र घूमनेवाले दूतोंने यह पुकार सुनी। सर्वज्ञके समर्थ पार्षदोंसे प्रमाद नहीं होता। वे जान चुके थे कि कोई भी उनके स्वामीको नहीं पुकार रहा है, लेकिन किसी प्रकार एक मरणासन्न जीव उनके स्वामीका नाम तो ले रहा है। दौड़े वे दिव्य पार्षद।

शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म तथा खड्ग आदि आयुधोंसे सुसज्जित कमललोचन भगवान् नारायणके वे परम मनोहर दूत—यमदूतोंके पाश उन्होंने बलात् तोड़ फेंके। भागे यमदूत उनके द्वारा ताड़ित होकर।

व्यर्थ थी यमदूतोंकी यमराजके यहाँ पुकार। उन महाभागवत धर्मराजने दूतोंको यही कहा—'जो किसी प्रकार भी भगवन्नाम ले, उसकी ओर भूलकर भी मत झाँकना। वह तो सर्वेश्वर श्रीहरिके द्वारा सदा रक्षित है।'

× × ×

गणिका

वह एक गणिका थी। नाम था जीवन्ती। गणिका और धर्म—इनमें कहीं कोई मेल नहीं है, यह आप जानते हैं। उसने केवल अपने विनोदके लिये एक तोता पाल लिया। पिंजड़ेमें बंद तोतेको वह पढ़ाया करती थी—'मिट्ठू! कहो सीताराम! सीताराम!'

किसका काल कब आवेगा, कौन जानता है। गणिका तोतेको पढ़ा रही थी—'सीताराम! सीताराम!' लेकिन उसे क्या पता था कि उसका ही 'रामनाम सत्य' होनेवाला है। जीवनके क्षण पूरे हो गये थे। गणिकाको लेने यमदूत तो आते ही। बेचारे यमदूतोंको यहाँ भी मुँहकी खानी पड़ी। किसी भी बहाने वह गणिका 'सीताराम' कह रही थी न। भगवान्के पार्षद नाम-जापककी रक्षामें कहीं प्रमाद कर सकते हैं। यमदूतोंको सिरपर पैर रखकर भागना पड़ा।

× × ×

व्याध वाल्मीकि

था तो वह ब्राह्मण-पुत्र; किंतु ब्राह्मणत्व कहाँ था उसमें। डाकुओंके सङ्गसे भयङ्कर डाकू हो गया था वह। उसने कितने मनुष्य मारे—कुछ ठिकाना नहीं।

देवर्षि नारदको उसका उद्धार करना था। वे उसी मार्गसे निकले। किसी प्रकार वह दस्यु इसपर प्रस्तुत हो गया कि देवर्षिको बाँधकर घरवालोंसे पूछ आवे—कोई उसके पापमें भी भाग लेगा या नहीं।

माता-पिता, स्त्री-पुत्र—सबने टका-सा जवाब दे दिया। सब धनमें भागीदार थे, पापमें नहीं। दस्युके नेत्र खुल गये। संतके चरणोंमें आ गिरा। देवर्षिको यह ऐसा शिष्य मिला जो 'राम' यह नाम भी नहीं बोल सकता था। लेकिन नारदजीने कहीं हार मानी है जो यहीं मान जाते। उन्होंने कहा—'तुम मरा, मरा जपो।'

शीघ्रतासे मरा, मरा कहनेपर ध्वनि 'राम राम' की बन जाती है। दस्यु जपमें लग गया—पूर्णतः लग गया। कितने वर्ष—कुछ पता नहीं। उसके ऊपर दीमकोंने बाँबी बना ली। भगवन्नामके उलटे जपने उसे परम पावन कर दिया। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा स्वयं वहाँ आये। दीमकोंकी वल्मीक (बाँबी) से निकाला उसे और आदिकवि होनेका गौरव दिया। जो कभी दस्यु था—वह आदिकवि महर्षि वाल्मीकि कहलाए।

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

अपार है भगवन्नामका प्रभाव।

भगवन्नामका प्रभाव

मंद करत जो करइ भलाई

मन्द करत जो करइ भलाई

जगाई-मधाई-उद्धार

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने नवद्वीपमें भगवन्नामके प्रचारका कार्य सौंपा था श्रीनित्यानन्दजी और हरिदासजीको। घर-घर जाकर प्रत्येक व्यक्तिसे हरिनामकी भिक्षा माँगनी थी उन्हें।

उन दिनों नवद्वीपमें दो उद्धत पुरुष थे। उनका नाम तो जगन्नाथ और माधव था; किंतु जगाई-मधाई नामसे ही वे प्रसिद्ध थे। उनके आतङ्कसे नगर काँपता रहता था। शराबके नशेमें चूर वे कभी एक मुहल्लेमें अड्डा जमाते, कभी दूसरे मुहल्लेमें। जुआ, अनाचार, हत्या—अकारण किसीको निर्दयतापूर्वक पीटना, किसीको लूट लेना—उनके जीवनमें अत्याचार और पापको छोड़कर और कुछ था ही नहीं।

'जो सबसे अधिक गिरा है, वही सबसे अधिक दयाका पात्र है। वही सबसे पहले उठानेयोग्य है। भगवन्नाम-दानका वही प्रथम पात्र है।' नित्यानन्दजीके विचारोंको अस्वीकार कोई कैसे करेगा। वे दयामय हरिदासजीके साथ उन मद्यप क्रूरोंको भगवन्नाम दान करने पधारे।

'हरि बोलो! एक बार हरि बोलो!' यही उनका संदेश था। मद्यके नशेमें चूर मधाई क्रुद्ध हो उठा। उसने नित्यानन्दजीपर आघात किया। मस्तक फट गया, रक्तकी धारा चल पड़ी। वह फिर मारता; किंतु उसके भाई जगाईने उसे रोक लिया।

'नित्यानन्दजीके मस्तकसे रक्त बह रहा है। जगाई-मधाईने मारा है उन्हें!' समाचार पहुँचा गौराङ्ग महाप्रभुके समीप। महाप्रभु सुनते ही आवेशमें आ गये—'श्रीपाद नित्यानन्दपर आघात!' दौड़े महाप्रभु! भक्तमण्डली साथ गयी दौड़ती हुई।

'किसने मारा है श्रीपादको?' महाप्रभुके नेत्र अरुण हो रहे थे। वे हुंकार कर रहे थे—'चक्र! चक्र!' जैसे दुष्टोंको भस्म कर देनेके लिये चक्रका आह्वान कर रहे हों। जगाई-मधाई प्रभुका आवेश देखकर हतबुद्धि खड़े थे।

श्रीपाद नित्यानन्दने प्रभुके आगे हाथ जोड़कर कहा—'आप ही यदि पापियोंको दण्ड देंगे तो उन्हें पवित्र कौन करेगा! आप मुझे एक भिक्षा दीजिये! इन्हें क्षमा कर दीजिये! इन्हें अपनाइये! इनको अपनी शरणमें लीजिये!'

श्रीनित्यानन्दजीकी कृपाका फल था कि महाप्रभुने गङ्गाजलमें खड़े होकर जगाई-मधाईसे उनके पापोंका दान ग्रहण किया। वे महापापी परम पवित्र भक्त बन गये।

× × ×

हरिदासजीकी कृपा

श्रीहरिदासजी जन्मसे यवन थे। महाप्रभुके प्रकट होनेसे पूर्व वे अद्वैताचार्यके सान्निध्यके लाभकी दृष्टिसे शान्तिपुरके समीप ही फुलियाग्राममें रहते थे। बंगालमें उन दिनों मुसल्मान शासकोंका प्रभुत्व था। आये दिन उनके अत्याचार होते ही रहते थे।

एक मुसल्मान काफिर हो जाय—हिंदुओंके भगवान्‌का नाम जपे, यह कट्टर काजियोंको सहन नहीं हो सकता था। गोराई नामक एक काजीने स्थानीय शासकके यहाँ हरिदासजीकी शिकायत की। हरिदासजी दरबारमें बुलाये गये। काजीकी सम्मतिसे शासकने निर्णय किया—'हरिदास या तो कुफ्र छोड़ दे या बाईस बाजारोंमें बेंत मारते हुए उन्हें घुमाया जाय। बेंत मारते-मारते उनके प्राण लिये जायँ।'

हरिदासजी बाँध दिये गये। उनकी पीठपर सड़ासड़ बेंत पड़ने लगे। जल्लाद बेंत मारते हुए उन्हें बाजारोंमें घुमा रहे थे। हरिदासजीकी पीठकी चमड़ी स्थान-स्थानसे फट गयी। छर्र-छर्र रक्त बहने लगा। जल्लाद बेंत मारता और कहता—'हरिनाम छोड़ दे।'

हरिदासजी कहते—'एक बेंत और मारो, पर एक बार और हरिनाम तो लो।'

बेंतोंकी मारसे जब वे मूर्छित हो गये, उन्हें मृत समझकर गङ्गाजीमें फिंकवा दिया वहाँके शासकने। एक काफिर बने मुसल्मानको कब्रमें गाड़नेका सम्मान वह नहीं देना चाहता था।

हरिदासजी मरे तो थे नहीं। वे भगवती भागीरथीकी कृपासे किनारे लगे। चेतना आनेपर भगवान्‌से उन्होंने पहिली प्रार्थना की—'काजी, शासक और बेंत मारनेवालोंको क्षमा करना नाथ! बेचारे अज्ञानी प्राणी हैं वे।'

संत श्रीझामदासजी

(२०० वर्ष पूर्व, अकोढ़ी (मिर्जापुर जिला) के निवासी)

कलि मल हरन सरीर अति, नहिं लखि अपर उपाइ ।
एह रघुपति गुन सिंधु मरु, मज्जत उज्जलताइ ॥
अधम उधारन राम के, गुन गावत श्रुति साधु ।
'झामदास' तजि त्रास तेहि, उर अंतर अवराधु ॥
एहि कलि पारावार महँ, परौ न पावत पार ।
'झाम' राम गुन गान तैं, बिनु प्रयास निस्तार ॥
कलि कानन अघ ओघ अति, विकट कुमृगन्ह समानु ।
हरि जस अनल लहै इतै, ग्यान बिराग कृपानु ॥
'झाम' राम सुमिरन बिना, देह न आवै काम ।
इतै उतै सुख कतहुँ नहिं, जथा कृपिन कर दाम ॥
राम भजन तैं काम सब, उभय लोक आनंद ।
तातै भजु मन ! मूढ़ अब, छोड़ि सकल जग फंद ॥

अवधवासी संत श्रीरामदासजी

दुर्लभ जन्म पुन्यफल पायौ वृथा जात अविवेकै ।
राज इंद्र सम सुर गृह आसन, बिन हरि भगति कहौ किहिं लेखै ॥
राजा राम कौ रस न विचारयौ, जिहिं रस अनरस बीसर जाहीं ।
जान अजान भये हम बावर, सोच असोच दिवस सब जाहीं ॥
कहियत आन अचरियत अन कछु, समझ न परै अपर माया ।
कह 'रामदास' उदास दास मति, परिहर कोप करो जिय दाया ॥

रे मन ! क्यों न भजौ रघुबीर ।
जाहि भजत ब्रह्मादिक सुर नर, ध्यान धरत मुनि धीर ॥
स्याम बरन मृदु गात मनोहर, भंजन जन की पीर ।
लछिमन सहित सखा सँग लीन्हें, बिचरत सरजू तीर ॥
ठुमक ठुमक पग धरत धरनि पर, चंचल चित हो थीर ।
मंद मंद मुसकात सखन सौं, बोलत बचन गँभीर ॥
पीत बसन दामिनि दुति निंदत, कर कमलन धनु तीर ।
'रामदास' रघुनाथ भजन बिन, धृग-धृग जन्म सरीर ॥

श्रीसाकेतनिवासाचार्यजी (श्रीटीलाजी)

'टीला' रघुवर चरण रज,
सकल सुमन को हेतु।
धूमकेतु अघ पुंज को,
भवसागर को सेतु॥
पाप वृद्धपन आदि दुख,
व्याधि मारहर मदन।
'टीला' जीवन धन सदन,
राम चरण आराम॥
शरणागत चातक सदृश, निशि दिन रटत नाम।
जिमि कपोत तिमि सर्व तजि, 'टीला' रटत राम॥
राम नाम सुखधाम मनु करि श्रद्धा सिमरन।
'टीला' का विश्राम पुनि, आवै निकटौ राम॥

श्रीरसरङ्गमणिजी

अयोध्याधामके एक प्राचीन संत

(प्रेषक—श्रीभक्त धर्मनाथसहायजी)

विष्णु सुअंतर राम के, विष्णु के अंतर राम ।
बहिरंतर रम राम के, व्यापक राम सुनाम ॥
रोमहिं रोम रमे सियराम सिधी रस राम स्वदेह में देखौ ।
नाम सप्रेम जपौ सुखसों, सुखसों मन तासु स्वरूप बिसेखौ ॥
कानन से बहिरे होइ बाहर, अंतर नाम सुनाद परेखौ ॥

मनहूँ के परे परा बानी के पुरुष प्रभु,
पावन पतित हित बैखरी बखेरे हैं ।
अगुन अरूप गुन भूप दुरगुन हर,
हर के जीवन जीव ज्याद पट फेरे हैं ॥

शब्द में, सुरति में, स्वास में, सुलोचन में,
श्रवण समाने स्याम रस राम मेरे हैं ।
सीताराम वपु अवपु अनाम धाम,
अवपु सुवपु सीताराम संत मेरे हैं ॥
इष्ट मेरे नाम, संत मित्र मेरे राम,
औ अनिष्टहर राम, दानी नित मित्र मेरे हैं ।
नैन मेरे राम, सुख चैन मेरे राम,
लेन देन मेरे राम, बोल बैन चैन मेरे हैं ।

श्रीअजबदासजी

(झूलना)

मूरि को गँवाइ कै जायगा यार ! तू,
राम के भजन बिनु मानु साँची ।
मोर ही मोर अरु तोर ही तोर कर,
भरम के फंद में मरत नाची ॥
काल के गाल बिचु जानु संसार को,
मूढ ! जग जनम के कौन बाँची ।
'अजबदास' जानकीनाथ के नेह बिनु,
ज्ञान अरु बुद्धि सब जानु काची ॥

हारि तू आपनी मानता है नहीं,
और के बात की काह चाला ।
नाम सौं चित्त तो लागता है नहीं,
लोग देखावता फेरि माला ॥
मान गुम्मान अज्ञान भूलान का,
जगत में दीन रहु छोड़ि गाला ।
'अजबदास' अंत में नाम ही ढाल है,
काल जो मारिया आनि माला ॥

स्वामी श्रीरामचरणदासजी

जो मन राम सुधा रस पावै ।
तौ कत सकल विषय मृगजल लखि, तृषित वृथा उठि धावै ॥
अभय करौं सब विधि, श्रीमुख कहि, सकृत शरण कोइ आवै ।
तौ कत विषय विवस सुर नर मुनि, तिन कहँ वादि मनावै ॥
श्रीरघुवीर-भक्ति चिन्तामणि, संसृति बेगि मिटावै ।
तेहि तजि ज्ञान योग तप साधै, श्रम फल सब श्रुति गावै ॥
अमित मदन छवि रामरूप रुचि, हृदय नयन लखि आवै ।
तौ कत त्रिभुवन रूप जहाँ लौं, लखि शठ जन्म नसावै ॥
जो श्रीराम-कृपा-प्रताप-गुण, श्रीगुरु शरण लखावै ।
तौ कत डरै लोक यम कालहि, सकल राम दरसावै ॥
यह सियवर नवरत्न मनोहर, द्वादश रसहि जनावै
'श्रीरामचरण' नित सुनत-पढ़त जो, सो रघुवर मन भावै

कबहुँक यह गुन मन धरिहै ॥
काम धाम धन देह सनेही, तहँ न नेह करिहै
जहँ लगि विषय-विलास राम बिनु, विष सम लखि डरिहै।
मान-पमान मित्र-अरि सुख-दुख, सम करि आचरिहै
क्रूर वचन सुनि विषम अग्नि सम, जल है नहिं जरिहै।
सर्वभूत हरिरूप कहत श्रुति, कबहुँ देखि परिहै
सम संतोष ज्ञान भाजन करि, राम चरित भरिहै॥
परहित दया भक्ति रघुवर की, सकल काम टरिहै।
'रामचरण' श्रीराम कृपा ते, भवसागर तरिहै॥

आचार्य श्रीगुरुदत्तदासजी

सत्यनामी महंत

(जन्म सं० १८७७, साकेतवास सं० १९५८ । स्थान—पुरवा देवीदास, जिला बाराबंकी ।)

यहि जग राम रूप सब जानहु ॥
एकै राम रमेव सबहि माँ अवर न दूसर मानहु ।
दीन अधीन रहौ सबही तें हरिजस सदा बखानहु ॥
सुमिरत रहौ नाम दुइ अच्छर अनत डोरि नहिं तानहु ।
जन 'गुरुदत्त' जगै अनुभौ उर जो प्रतीत मन आनहु ॥

॥काम क्रोध उपजै नहीं, लोभ मोह अभिमान ।
यहि पाँचन तें बचि गये, ते ठहरे चौगान ॥

दस अपराध बचाय कै, भजै राम का नाम ।
'गुरुदत्त' साँची कहै, पावै सुख बिश्राम ॥
राम-नाम गुप्ते रहै, प्रगट न देय जनाय ।
'गुरुदत्त' तेहि भक्त की, बार बार बलि जाय ॥
भजै न सीताराम को, करै न पर उपकार ।
'गुरुदत्त' तेहि मनुष तें, सदा रहौ हुसियार ॥

रामभक्त संत शाह जलालुद्दीन वसाली

(एक झाँकीके वर्णनका पद्यानुवाद)

गयउँ काल्ह मैं सरजू तीर। देखेउँ सुन्दर एक मतिधीर ॥
चतुर मनोहर वीर निशंक। शशिमुख कोमल मारग अंक ॥
सुघर उठानि सुवासित गाता। वय किशोर गति-गज सुखदाता ॥
चितवन चोख भ्रुकुटि वर बाँके। नयन भरित मद मधुरस छाके ॥
कबहूँ छवियुत भाव जनावै। कबहुँ कटाच्छ कला दरसावै ॥
प्रेमिन कहँ अस परै लखाई। मुख छवि वैदिक धर्म सुहाई ॥
मेचक कच कुंचित घुँघुरारे। जनु इसलाम धर्म द्युति धारे ॥
मम दिसि लखि भ्रू-बंक मैं मारेउ। छवि प्रमाद जनु देन हँकारेउ ॥
चकित थकित चित भयउ अचेता।
मुध-बुध विसरी धर्मक खेता ॥
नहिं जानौं तिहि छिन मोहि जोही।
को संदेश जनायउ मोही ॥
प्रियतम प्रभु तजि आन जनि देखिय हिय की चखनि।
जो देखिय मतिमान ! तासु प्रकासहि जानिये ॥

शिवभक्ता लल्लेश्वरीजी

(जन्म सन् १३४३ या १३४७, स्थान काश्मीर)

'लोग मुझे गाली दें या दुःखदायी वचन कहें; जो जिसको अच्छा लगे सो कहे, करे; कोई फूलोंसे मेरी पूजा करे तो किया करे, मैं विमल न दुःख मानूँ, न सुख। कोई मुझे हजार गाली दे—यदि मैं शंकरजीकी भक्ता हूँ तो मेरे मनमें खेद न होगा। दर्पणपर श्वासका मल लगनेसे भला, उसका क्या बिगड़ेगा।'

'मन गदहा है, उसको सदा वशमें रखना चाहिये; नहीं तो, वह पड़ोसीकी केसरकी क्यारी ही चौपट कर देगा।'

'सर्वव्यापीकी खोज हो ही किस तरह सकती है। वह सर्वत्र है। शिवने कुञ्ज-कुञ्जमें जाल फैलाकर जीवोंको उलझा रक्खा है, वह तो आत्मामें ही है। उसकी खोज बाहर नहीं—भीतर हो सकती है। शिव ही मातारूपमें दूध पिलाता है, भार्यारूप धारणकर विलासकी अनुभूति कराता है, मायारूपसे जीवको मोहित करता है। इस महामायावी शिवका ज्ञान सद्गुरु ही करा सकते हैं।'

भक्त नरसी मेहता

(गुजरातके महान् कृष्णभक्त, जन्म वि० सं० १४७० के लगभग काठियावाड़ प्रान्तके जूनागढ़ शहरमें, जाति—वडनागरा, कुल—नागरब्राह्मण, पिताका नाम कृष्णदामोदर, माताका नाम लक्ष्मीगौरी। आपके शरीरान्त-समयकी निश्चित तिथिका पता नहीं चलता।)

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे ॥
सकळ लोक माँ सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन-धन जननी तेनी रे ॥
समदृष्टि ने तृष्णा-त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे ॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमाँ रे।
रामनाम शुं ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमाँ रे ॥
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्याँ रे।
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करताँ, कुळ एकोतेर तार्याँ रे ॥

भूतळ भक्ति पदारथ मोटुं, ब्रह्मलोकमाँ नाहीं रे।
पुण्य करी अमरापुरि पाम्या, अन्ते चोरासी माँहीं रे ॥
हरिना जन तो मुक्ति न माँगे, माँगे जनमोजनम अवतार रे।
नित सेवा नित कीर्तन ओच्छव, निरखवा नंदकुमार रे ॥
भरतखंड भूतळमाँ जनमी, जेणे गोविंदना गुण गाया रे।
धन-धन रे एनाँ मातपिता ने, सफळ करी एणे काया रे ॥
धन वृंदावन धन ए लीला, धन ए व्रजनाँ वासी रे।
अष्ट महासिद्धि आँगणिये रे ऊभी, मुक्ति छे एमनी दासी रे ॥
ए रसनो स्वाद शंकर जाणे, के जाणे शुक जोगी-रे।
कंईक एक जाणे व्रजनी रे गोपी, भणे नरसैंयो भोगी रे ॥

श्रीअज

(झूलना)

मूरि को गँवाइ कै जायगा यार ! तू,
राम के भजन बिनु मानु साँची ।
मोर ही मोर अरु तोर ही तोर कर,
भरम के फंद में मरत नाची ॥
काल के गाल बिचु जानु संसार को,
मूढ ! जग जनम के कौन बाँची ।
'अजबदास' जानकीनाथ के नेह बिनु,
ज्ञान अरु बुद्धि सब जानु काची ॥

स्वामी श्रीर

जो मन राम सुधा रस पावै ।
तौ कत सकल विषय मृगजल लखि, तृषित वृथा उठि धावै ।
अभय करौं सब विधि, श्रीमुख कहि, सकृत शरण कोइ आवै
तौ कत विषय विवस सुर नर मुनि, तिन कहँ वादि मनावै ।
श्रीरघुवीर-भक्ति चिन्तामणि, संसृति वेगि मिटावै
तेहि तजि ज्ञान योग तप साधै, श्रम फल सब श्रुति गावै
अमित मदन छवि रामरूप रुचि, हृदय नयन लखि आवै
तौ कत त्रिभुवन रूप जहाँ लौं, लखि शठ जन्म नशावै
जो श्रीराम-कृपा-प्रताप-गुण, श्रीगुरु शरण लखा
तौ कत डरै लोक यम कालहि, सकल राम दरसा

आचार्य

स

(जन्म सं० १८७७, साकेतवास सं० १

यहि जग राम रूप सब जानहु ॥
एकै राम रमेव सबहि माँ अवर न दूसर मान
दीन अधीन रहौ सबही तें हरिजस सदा बखान
सुमिरत रहौ नाम दुइ अच्छर अनत डोरि नहिं तान
जन 'गुरुदत्त' जगै अनुभौ उर जो प्रतीत मन आन

॥काम क्रोध उपजै नहीं, लोभ मोह अभिमान ।
यहि पाँखन तें बचि गये, ते ठहरैं चौगान ।

एवाँ एवाँ लटका छे गगाँ रे, लटकाँ लाख करोड़ रे ।
नरसैयाना स्वामी संगे रमताँ, हीडुं मोडामोड रे ॥नाग०॥

वैष्णवजनने विरोध न कोइसुं,
जेना कृष्णचरणे चित्त रह्या रे ।
काका दादा सर्वे वाल्हा,
शत्रु हता ते मित्र थया रे ॥ टेक ॥
कृष्ण उपासी ने जगथी उदासी,
फाँसी ते जमनी वारी रे ।
स्थावर जंगम ठाम न ठालो,
सघळे देखे कृष्ण व्यापी रे ॥ वैष्णव० ॥
काम के क्रोध व्यापे नहि क्यारे,
त्रिविध ताप जेना टळिया रे ।
ते वैष्णवना दर्शन करिये,
जेना ज्ञाने ते यार्गनिक गळिया रे ॥ वैष्णव० ॥
निस्पृही ने निर्मळ मति चळी,
कनक कामिनिना त्यागी रे ।
श्रीमुखवचनो श्रवणे सुणताँ,
ते वैष्णव बड़भागी रे ॥ वैष्णव० ॥
एवा मळे तो भवदुःख टळे,
जेनाँ सुधा समान वचन रे ।
नरसैयाना स्वामीने निशदिन व्हाला,
एवा ते वैष्णवजन रे ॥ वैष्णव० ॥

संतो हमे रे वेवारिया श्रीरामनामना ।
वेपारी आवे छे बधा गाम गामना ॥ टेक ॥
हमारु वखाणुं साधु सऊको ने भावे ।
अढारे वरण जेने हो खाने आवे ॥ संतो० ॥
हमारुं वखाणुं काल दुकाळे न खूँटे ।
जेने राजा न दडे, जेने चोर ना लूँटे ॥ संतो० ॥
लाख विनाना लेखा नहिं, ने पार विनानी पूंजी ।
होरखु होय तो होरी लेजो, कस्तूरी छे मोंघी ॥ संतो० ॥
राम नाम धन हमारे, वाजे ने गाजे ।
छप्पन ऊपर भेर भेरि, भूँगल वाजे ॥ संतो० ॥
आवरो ने खातावहीमा, लक्ष्मीवरनु नाम ।
चीठीमाँ चतुरभुज लखिया, नरसैयानुं काम ॥ संतो० ॥

वैष्णवजनने विषयथी टळवुं,
हळवुं माँहीथी मन रे ।
इंद्रिय कोइ अपवाद करे नहीं,
तेने कहिये वैष्णवजन रे ॥ टेक ॥
कृष्ण कृष्ण कहेताँ कण्ठज सूके,
तो ये न मूके निजनाम रे ।
श्वासोश्वासे समरे श्रीहरि,
मन न व्यापे काम रे ॥ वैष्णव० ॥
अंतर वृत्ति अखंड रागे हरिसुं,
धरे कृष्णनुं ध्यान रे ।
मजवामीनी लीला उपासे,
बीजुं सुणे नहिं कान रे ॥ वैष्णव० ॥
जगसुं तोड़े ने जोड़े प्रभुसुं,
जगसुं जोडे प्रभुसुं त्रुटी रे ।
तेने कोई वैष्णव नव कहेशो,
जमड़ा लई जाशे कुटी रे ॥ वैष्णव० ॥
कृष्ण विना कोंई अन्य न देखे,
जेनी वृत्ति छे कृष्णाकार रे ।
वैष्णव कहावे ने विषय न जावे, तेने
वार वार धिक्कार रे ॥ वैष्णव० ॥
वैष्णवने तो वल्लभ लागशे,
कुडियाने लागशे कालुं रे ।
नरसैंयाँना स्वामीने लम्पट नहिं
गमे, शोभशे साचु रे ॥ वैष्णव० ॥

कृष्ण कहो कृष्ण कहो, आ अवसर छे के'वानु ।
पाणीतो सर्वे वरसी जाशे, राम-नाम छे रे'वानुं ॥ टेक ॥
रावण सरखा छट चाल्या, अंतकाळनी आँटीमाँ ।
पलकवारमाँ पकड़ी लीधा, जाणो जमनी घाँटीमाँ ॥कृष्ण०॥
लखेसरी लाखो ज लुटाया, काळे ते नाख्या कूटीने ।
क्रोडपतीनु जोर न चाल्यु, ते नर गया उठीने ॥कृष्ण०॥
ए कहेवानुं सौने कहिये, निशदिन ताळी लागी रे ।
कहे नरसैंयो भजताँ प्रभुने, भवनी भावट भागी रे ॥कृष्ण०॥

हरि हरि रटण कर, कठण कळिकाळमाँ,
दाम वेसे नहीं काम सरसे ।
भक्त आधीन छे श्यामसुन्दर सदा,
ते तारा कारज सिद्ध करशे ॥ टेक ॥
अल्प सुख सारु शुं, मूढ फूल्यो फरे,
शीशपर काळ रह्यो दंत करडे ।
पामर पलकनी, खबर तुजने नहीं,
मूढ शुं जोइ ने मूँछ मरडे ॥हरि०॥

मौढ़ पापे करी, बुद्धि पाछी करी,
परहरी वढ शुं झाळे वळग्यो ।
ईशने ईर्षा छे नहीं जीवपर,
आपणे अवगुणे रह्यो रे अळगो ॥ हरि० ॥

परपंच परहरो, सार हृदिये धरो,
उचरो हरि मुखे अचळ वाणी ।
नरसैंया हरितणी भक्ति भूलीश माँ,
भक्ति विना वीजुं धूळधाणी ॥ हरि० ॥

संत प्रीतमजी

हरिनो मारग छे शूरानो, नहिं कायरनुं काम जोने ।
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वळती लेवुं नाम जोने ॥ ध्रु०
सुत वित दारा शीश समरपे, ते पामे रस पीवा जोने ।
सिंधु मध्ये मोती लेवा माँहीं पड्या मरजीवा जोने ॥
मरण ऑगमे ते भरे मूठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने ।
तीरे उभा जुए तमाशो, ते कोडी नव पामे जोने ॥
प्रेमपंथ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने ।
मांही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने ॥
माथा साटे मोंघी वस्तु, सॉपडवी नहि स्हेल जोने ।
महापद पाम्या ते मरजीवा, मूकी मननो मेल जोने ॥
राम अमलमाँ राता माता पूरा प्रेमी परखे जोने ।
प्रीतमना स्वामीनी लीला ते रजनीदंन नरखे जोने ॥

प्रेमदिवानी मीराँ

(जन्म—वि० सं० १५५८—५९ के लगभग । जन्मस्थान मारवाड़का कुड़की नामक गाँव । पिताका नाम—श्रीरत्नसिंहजी राठौर । देहावसान—अनुमानतः वि० सं० १६३० ।)

प्रार्थना

अब तो निभायाँ सरैगी,
बाँह गहे की लाज ।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ,
सरब सुधारण काज ॥
भवसागर संसार अपरबळ,
जा में तुम हौ झ्याज ।
निरधाराँ आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज ॥
जुग जुग भीर हरी भगतन की, दीनी मोक्ष समाज ।
मीरा सरण गही चरणन की, लाज रखो महाराज ॥

मने चाकर राखो जी लाल मने, चाकर राखो जी ॥
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसण पासूँ ।
बिंद्रावन की कुंजगलिन में तेरी लीला गासूँ ॥
चाकरी में दरसण पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची ।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बाताँ सरसी ॥
मोर मुगट पीतांबर सोहै, गळ बैजंती माला ।
बिंद्रावन में धेनु चरावै, मोहन मुरलीवाला ॥
हरे हरे नित बाग लगाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी ।
साँवरिया के दरसन पाऊँ, पहर कसूँमी सारी ॥
जोगी आया जोग करण कूँ, तप करणे संन्यासी ।
हरी भजन कूँ साधू आया, बिंद्रावन के बासी ॥
मीराँ के प्रभु गहिर गँभीरा, सदा रहो जी धीरा ।
आधी रात प्रभु दरसन दैहैं, प्रेम नदी के तीरा ॥

हरि ! तुम हरो जन की भीर ।
द्रोपदी की लाज राखी तुम बढ़ायो चीर ॥
भगत कारण रूप नरहरि धर्यो आप शरीर ।
हिरण्याकुश मारि लीन्हो धरयो नाँहिन धीर ॥
बूडतो गजराज राख्यो कियो बाहर नीर ।
दासि मीराँ लाल गिरधर चरण कँवळ पर सीर ॥

तुम सुणो दयाळ म्हारी अरजी ॥
भवसागर में बही जात हूँ काढो तो थाँरी मरजी ।
इण संसार सगो नहिं कोई साँचा सगा रघुबरजी ॥
मात पिता और कुटुम कबीलो सब मतलब के गरजी ।
मीराँ की प्रभु अरजी सुण लो चरण लगावो थाँरी मरजी ॥

सिखावन

राम नाम रस पीजै मनुआँ, राम नाम रस पीजै ।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुनि लीजै ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ, बहा चित से दीजै ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, ताहि के रँग में भीजै ॥

सखी री ! लाज बैरण भई।
श्री लाल गुपाळ के सँग काहे नाहीं गई॥
कठिन क्रूर अक्रूर आयो साजि रथ कहँ नई।
रथ चढ़ाय गुपाळ ले गयो हाथ मींजत रही॥
कठिन छाती स्याम बिछुड़त बिरह तें तन तई।
दासि मीराँ लाल गिरधर बिखर क्यों ना गई॥

फागण के दिन चार, होरी खेल मना रे।
बिन करताळ पखावज बाजै अणहद की झणकार रे॥
बिन सुर राग छतीसूं गावै रोम रोम रणकार रे।
सील संतोख की केसर घोळी प्रेम प्रीत पिचकार रे॥
उडत गुलाल लाल भयो अंबर बरसत रंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिये हैं लोक लाज सब डार रे॥
होरी खेल पीव घर आये सोइ प्यारी पिय प्यार रे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवळ बलिहार रे॥

दर्शनानन्द

ऐसा प्रभु जाण न दीजै हो।
तन मन धन करि वारणै हिरदै धर लीजै हो॥
आव सखी मुख देखिये नैणाँ रस पीजै हो।
जिण जिण बिध रीझै हरी सोई बिध कीजै हो॥
सुंदर स्याम सुहावणा मुख देख्याँ जीजै हो।
मीराँ के प्रभु रामजी बड़भागण रीझै हो॥

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई॥
छाँड़ि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठ बैठ लोक लाज खोई॥
अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥
भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई।
दासि मीराँ लाल गिरधर, तारो अब मोही॥

राणाजी, मैं तो साँवरे के रँग राची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू लोक लाज तजि नाची॥
गई कुमति लई साधु की संगति भगत रूप भई साँची।
गाय गाय हरि के गुण निस दिन काल ब्याल सों बाँची॥
उण बिन सब जग खारो लागत और बात सब काँची।
मीराँ श्रीगिरधरन लाल सूँ भगति रसीली जाँची॥

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥
मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गइ दासी रे।
लोग कहैं मीरा भई बावरी न्यात कहै कुलनासी रे॥
बिष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीराँ हाँसी रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अबिनासी रे॥

मन रे परसि हरि के चरण॥
सुभग सीतळ कँवल कोमल, त्रिबिध ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रह्लाद परसे, इंद्र पदवी धरण॥
जिण चरण ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी सरण।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नख सिखाँश्री धरण॥
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गौतम घरण।
जिण चरण काली नाग नाथ्यो, गोप लीला करण॥
जिण चरण गोबरधन धारयो, इंद्र को ग्रब हरण।
दासि मीराँ लाल गिरधर, अगम तारण तरण॥

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुंदर बदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मँद मुसकानी॥
जमना के नीरे तीरे धेन चरावै बंसी में गावै मीठी बानी।
तन मन धन गिरधर पर वारूं चरण कँवळ मीराँ लपटानी॥

माई री मैं तो लियो गोविंदो मोल।
कोइ कहै छाने कोई कहै छुपके लियो री बजंताँ ढोल॥
कोइ कहै मुँहघो कोई कहै सुँहघो लियो री तराजू तोल।
कोइ कहै कारो कोई कहै गोरो लियो री अमोलिक मोल॥
कोइ कहै घर में कोइ कहै बन में राधा के संग किलोल।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेम के मोल॥

नंदनँदन बिलमाई बदरा ने घेरी माई॥
इत घन लरजे उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिस से आया, पवन चलै पुरवाई॥
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल सबद सुणाई।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कवँळ चित लाई॥

बड़े घर ताळी लागी रे, म्हारे मन री उणारथ भागी रे॥
छीलरिये म्हाँरो चित्त नहीं रे, डाबरिये कुण जाव।
गंगा जमना सूँ काम नहीं रे, मैं तो जाय मिलूँ दरियाव॥
हाळ्याँ मोळ्याँ सूँ काम नहीं रे, सीख नहीं सिरदार।
कामदाराँ सूँ काम नहीं रे, मैं तो ज्वाब करूँ दरबार॥
काच कथीर सूँ काम नहीं रे, लोहा चढ़े सिर भार।
सोना रूपा काम नहीं रे, म्हाँरे हीराँ रो बौपार॥
भाग हमारो जागियो रे, भयो समँद सूँ सीर।
अमृत प्याला छाँड़ि कै, कुण पीवै कड़वो नीर॥

पीसा कूँ प्रभु परचो दीन्हो, दिया रे खजाना पूर।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, धणी मिल्या छै हजूर॥

होरी खेलत हैं गिरधारी।
मुरली चंग बजत डफ न्यारो संग जुवती ब्रजनारी॥
चंदन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी।
भरि भरि मूठ गुलाल लाल चहुँ देत सबन पै डारी॥
छैल छबीले नवल कान्ह संग स्यामा प्राण पियारी।
गावत चारु धमार राग तहँ दै दै कल करतारी॥
फाग जु खेलत रसिक साँवरो बाढ्यौ रस ब्रज भारी।
मीराँ कूँ प्रभु गिरधर मिलिया मोहन लाल बिहारी॥

नाम-महिमा

मेरो मन रामहि राम रटै रे॥
राम नाम जप लीजै प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।
जनम जनम के खत जु पुराने, नामहि लेत फटै रे॥
कनक कटोरे इमरत भरियो, पीवत कौन नटै रे।
मीराँ कहे प्रभु हरि अविनासी, तन मन ताहि पटै रे॥

माई म्हारे निरधन रो धन राम।
खाय न खूटै चोर न लूटै, विपति पड्याँ आवै काम॥
दिन दिन प्रीत सवाई दूणी, सुमरण आठूँ याम।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवळ विसराम॥

निश्चय

राणा जी म्हे तो गोविंद का गुण गास्याँ।
चरणामृत को नेम हमारे, नित उठ दरसण जास्याँ॥
हरि मंदिर में निरत करास्याँ, घूँघरिया धमकास्याँ।
राम नाम का झाझ चलास्याँ, भवसागर तिर जास्याँ॥
यह संसार बाड़ का काँटा, ज्याँ संगत नहिं जास्याँ।
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर, निरख निरख गुण गास्याँ॥

मैं गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
रैण पड़ै तबही उठ जाऊँ भोर भएँ उठि आऊँ।
रैण दिनाँ वाके सँग खेलूँ, ज्यूँ त्यूँ ताहि रिझाऊँ॥
जो पहरावै सोई पहरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीत पुराणी, उण बिन पळ न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावें तितही बैठूँ, बेचैं तो बिक जाऊँ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥

नहिं भावै थाँरो देसड़लो रँगरूड़ो॥
थाँरा देसाँ में राणा साध नहीं छै लोग बसै सब कूड़ो।
गहणा गाँठी राणा हम सब त्याग्या त्याग्यो कर रो चूड़ो॥
काजळ टीकी हम सब त्याग्या त्याग्यो छै बाँधन जूड़ो।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर वर पायो छै रूड़ो॥

सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हाँरो काँई कर लेसी।
म्हे तो गुण गोविंद का गास्याँ हो माई॥
राणो जी रूठ्यो वाँरो देस रखासी।
हरि रूठ्याँ कित जास्याँ हो माई॥
लोक लाज की काण न मानाँ।
निरभै निसाण घुरास्याँ हो माई॥
राम नाम की झाझ चलास्याँ।
भव सागर तिर जास्याँ हो माई॥
मीराँ सरण सबळ गिरधर की।
चरण कँवल लपटास्याँ हो माई॥

मे गोविंद गुण गाणा॥
राजा रूठै नगरी राखै हरि रूठ्याँ कहँ जाणा।
राणै भेज्या जहर पियाला इमरित कर पी जाणा॥
डबिया में भेज्या काळ भुजंगम सालिगराम कर जाणा।
मीराँ तो अब प्रेम दिवाँनी साँवळिया वर पाणा॥

बरजी मैं काहु की नाहिं रहूँ।
सुनो री सखी तुम सों या मन की साँची बात कहूँ॥
साध सँगति करि हरि सुख लेऊँ जग सूँ दूर रहूँ।
तन धन मेरो सब ही जावो भले मेरो सीस लहूँ॥
मन मेरो लागो सुमरण सेती सब का मैं बोल सहूँ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी सतगुर सरण गहूँ॥

श्रीगिरधर आगे नाचूँगी॥
नाच नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन कूँ जाचूँगी।
प्रेम प्रीत का बाँध घूँघरू सुरत की कछनी काछूँगी॥
लोक लाज कुळ की मरजादा या मे एक न राखूँगी।
पिव के पलँगा जा पौढूँगी मीराँ हरि रँग राचूँगी॥

गुरु-महिमा

पायो जी मैं तो राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु किरपा करि अपणायो॥
जनम जनम की पूँजी पाई, जग में सबै खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लेवै, दिन दिन बधत सवायो॥

सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तरि आयौ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायौ॥

लागी मोहि राम खुमारी हो॥
रमझम बरसे मेहड़ा भीजे तन सारी हो।
चहूँदिस चमकै दामणी गरजै घन भारी हो॥
सतगुरु भेद बताइया खोली भरम किंवारी हो।
सब घट दीसै आतमा सब ही सूँ न्यारी हो॥
दीपक जोऊँ ग्यान का चढ़ूँ अगम अटारी हो।
मीराँ दासी राम की इमरत बलिहारी हो॥

बिरह

आली री मेरे नैनन बाण पड़ी॥
चित्त चढ़ी मेरे माधुरि मूरत, उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूर जड़ी।
मीराँ गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी॥

लागी मोई जाणै कठण लगण दी पीर।
बिपत पड़्याँ कोइ निकट न आवै सुख मे सब को सीर॥
बाहर घाव कछू नहिं दीसै रोम रोम दी पीर।
जन मीराँ गिरधर के ऊपर सदकै करूँ सरीर॥

कोइ कहियो रे प्रभु आवन की।
आवन की मनभावन की॥ कोइ०॥
आप न आवै लिख नहिं भेजै बाँण पड़ी ललचावन की।
ए दोइ नैण कह्यो नहिं मानैं, नदियाँ बहै जैसे सावन की॥
कहा करूँ कछु नहिं बस मेरो पाँख नहीं उड़ जावन की।
मीराँ कहै प्रभु कब रे मिलोगे चेरि भइ हूँ तेरे दाँवन की॥

नातो नाम को जी म्हाँसूँ तनक न तोड्यो जाय॥
पानाँ ज्यूँ पीळी पड़ी रे, लोग कहैं पिंड रोग।
छाने लाँघण म्हैं किया रे, राम मिलण के जोग॥
बाबल बैद बुलाइआ रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणे, कसक कलेजे माँह॥
जा बैदाँ घर आपणे रे, म्हारो नाँव न लेय।
मैं तो दाझी बिरह की रे, तू काहे कूँ दारू देय॥
माँस गळ गळ छीजिया रे, करक रह्या गळ आहि।
आँगळियाँ री मूँदड़ी, म्हारे आवण लागी बाँहि॥
रह रह पापी पपीहड़ा रे, पिव को नाम न लेय।
जे कोइ बिरहण साम्हळे तो, पिव कारण जिव देय॥

खिण मंदिर खिण आँगणे रे, खिण खिण ठाढ़ी होय।
घायल ज्यूँ घूमूँ खड़ी, म्हारी बिथा न बूझै कोय॥
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कागा तूँ ले जाय।
ज्याँ देसाँ म्हारो पिव बसै रे, वे देखै तू खाय॥
म्हारे नातो नाँव को रे, और न नातो कोय।
मीराँ व्याकुल बिरहणी रे, हरि दरसण दीजो मोय॥

सुणी हो मैं हरि आवन की अवाज।
महल चढ़ चढ़ जोऊँ मेरी सजनी!
कब आवे महाराज॥
दादुर मोर पपइया बोलै,
कोयल मधुरे साज।
उमँग्यो इंद्र चहूँ दिस बरसै,
दामणि छोड़ी लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया,
इंद्र मिलण के काज।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी,
बेग मिलो सिरताज॥

भज मन चरण कँवळ अविनासी॥
जेताइ दीसे धरण गगन बिच, तेताइ सब उठ जासी।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें, कहा लिये करवत कासी॥
इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्याँ उठ जासी॥
कहा भयो है भगवाँ पहर्याँ, घर तज भये सन्यासी।
जोगी होय जुगत नहिं जाणी, उलटि जनम फिर आसी॥
अरज करूँ अबला कर जोरें, स्याम तुम्हारी दासी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी॥

माई म्हारी हरी न बूझी बात।
पिंड में से प्राण पापी, निकस क्यूँ नहिं जात॥
रैण अँधेरी, बिरह घेरी, तारा गिणत निसि जात।
ले कटारी कंठ चीरूँ, करूँगी अपघात॥
पाट न खोल्या, मुखाँ न बोल्या, साँझ लग परभात।
अबोलणा में अवधि बीती, काहे की कुसलात॥
सुपन में हरि दरस दीन्हों, मैं न जाण्यो हरि जात।
नैण म्हारा उघड़ आया, रही मन पछतात॥
आवण आवण होय रह्यो री, नहिं आवण की बात।
मीराँ व्याकुळ बिरहणी रे, बाळ ज्यूँ बिललात॥

साधु संत से अधिका रहेणा, हारे को सोच नहीं करणा।
कहे सींगा सुणो भाइ साधू,
अरे भाइ रह्यो राम का सरणा ॥

खेती खेड़ो हरिनाम की जा में मुकतो लाभ ॥
पाप का पालवा कटावजो, काटी बाहर राल।
कर्म की कासी रचावजो, खेती चोखी थाय ॥
बास श्वास दो बैल है, सुरति रास लगाव।
प्रेम पिराणी कर धरो, ग्यान आर लगाव ॥
सोहं बख्खर जूप जो, सोहं सरतो लगाव।
मूळ मंत्र बिज बोवजो, खेती लटलुम थाय ॥
सतको मॉडो रोपजो, धर्म पैड़ी लगाव।
ग्यान का गोळा चलावजो, सुआ उड़ि उड़ि जाय ॥
दया की दावण राळजो, बहुरि फेरा नहीं होय।
कह सिंगा पहचान जो ले आवागमन नहिं होय ॥
खेती खेड़ो रे हरिनाम की ॥

मन! निर्भय कैसा सोवै, जग में तेरा को है!
काम क्रोध ये अति बल जोधा,
अरे नर! बिस का बीज क्यों बोवै।
पाँच रिपू तेरे संग चलत हैं,
अरे वो जड़ामूळ से खोवै ॥
राम नाम की ज्हाज बणा ले, काठ भयो बहु सारा।
कहै जन 'सिंगा' सुण भाई साधू! मन रँग उतरै पारा ॥

मॅगि हमारा चंचळा, कैसैं हाथों जो आवै।
काम क्रोध विष भरि रह्या, ताम दुख पावै ॥

मैं जाणूँ साईं दूर है, तुझे पाया नेड़ा।
रहणी रहि सामरथ भई, मुझे पलवा तेरा ॥
तुम सोना हम गहणा, मुझे लागा टॉका।
तुम चोलो हम देह धरि, चोले कै रंग भाना ॥
तुम चंदा हम चाँदणी, रहणी उजियाळा।
तुम सूरज हम घामड़ा, सोइ चौगुण पुरिसा ॥
तुम तो दरियाव हम मीन हैं, विश्वासका रहणा।
देह गळी मिट्टी भई, तेरा तुहि में समाणा ॥
तुम तरुवर हम पंछीड़ा, बैठे एकहि डाला।
चोंच मार फळ भॉजिया, फळ अमृत सारा ॥
तुम तो वृक्ष हम बेलड़ी, मूल से लपटाना।
कह सिंगा पहचाण ले, पहचाण ठिकाणा ॥

निर्गुण ब्रह्म है न्यारा कोई समझो समझणहारा ॥
खोजत ब्रह्मा जनम सिराणा, मुनिजन पार न पाया।
खोजत खोजत शिवजी थाके, वो ऐसा अपरंपारा ॥
शेष सहस मुख रटे निरंतर, रैन दिवस एक सारा।
ऋषि, मुनि और सिद्ध चौरासी, वो तैंतिस कोटि पचि हारा।
त्रिकुटि महल में अनहद बाजे, होत शब्द झनकारा।
सुखमण सेज शून्य में झूले, वो सोहं पुरुष हमारा ॥
वेद कथे अरु कहे निर्वाणी, श्रोता कहो विचारा।
काम-क्रोध-मद-मत्सर त्यागो, ये झूठा सकल पसारा ॥
एक बूँद की रचना सारी, जाका सकल पसारा।
सिंगा जो भर नजरा देखा, वोही गुरू हमारा ॥

स्वामी हंसराजजी

(जन्म—शाके १७२०, निर्वाण—शाके १७७७, पूर्वाश्रमनाम—नारायण, संन्यासी, समाधिस्थान ग्राम परंडा, [illegible])

[प्रेषक—श्रीविट्ठलराव देशपाण्डे]

संत-स्तवन

संत वैराग्यके आगार हैं और ज्ञानके भंडार भी वे ही हैं। संत ही उपरामताके आश्रय-स्थान हैं और विश्रान्ति स्वयं वहाँ आकर विश्रान्ति पाती है। उदयास्त हुए बिना भगवान् सहस्ररश्मिके समान, संत अखण्ड और असीम ज्ञानका प्रकाश करते हैं। संत ही अपने माता-पिता, भाई-बहन, आप्त-मित्र और स्वजन हैं; उनके बिना व्रत, तप, [illegible] अर्थात् सब असफल हैं। संत हृदयका प्यार और आनन्दका समावेश हैं। वे अमृतसे बढ़कर मधुर रसकी भर [illegible] हैं। शान्ति और क्षमा मारे-मारे फिरते थे; उनको ठौर न [illegible] मिलता था। किंतु जब ये संतोंकी शरणमें आये तो [illegible] किसी कन्याने ससुरालसे आकर अपने पीहरमें [illegible] कर ली। जान-बूझकर यदि कोई पापका आचरण [illegible] तीर्थमें आकर स्नान करनेसे वह शुद्ध नहीं होता। [illegible] तपसे भी मुक्ति नहीं मिलती, प्रायश्चित्त भी व्यर्थ है। [illegible] प्रलयकालकी अग्नि जिस प्रकार एक धागा भी [illegible]

नहीं छोड़ती, उसी प्रकार पलभरमें, जन्मभरके ही नहीं, जन्म जन्मान्तरके पापोंको नष्ट करनेकी क्षमता संतोंमें होती है। ज्ञान, वैराग्य और बोधरूपी जलसे संतोंने ऐसे जीवोंको पावन और मुक्त किया, जिनका शिवत्व मायारूपी मलसे अशुद्ध और अमङ्गल बन गया था। अधिक क्या कहा जाय, संतोंकी शरणमें पहुँचनेपर, उनके लिये वेद जिस वस्तुको प्रकाशमान करनेमें समर्थ नहीं होते, वह सब अनायास ही बोधगम्य हो जाता है।

(स्वामीजीरचित 'आगमसार' ग्रन्थसे अनूदित)

श्रीअग्रदासजी

(पयहारी श्रीकृष्णदासजी महात्माके शिष्य, स्थान गलता, जयपुर राज्य, स्थितिकाल—अनिश्चित)

[प्रेषक—पं० श्रीरजरंगदासजी वैष्णव 'विशारद']

गाडर आनी ऊन को बाँधी चरै कपास ॥
बाँधी चरै कपास विमुख हरि लोनहरामी।
प्रभु प्रापति की देह तुच्छ सुख कोई कामी ॥
जठर जातना अधिक भजन बदि बाहर आयो।
लग्यो पवन संसार कृतघ्नी नाथ भुलायो ॥
चाकरी चोर हाजिर कवल 'अग्र' इते पर आस।
गाडर आनी ऊन को बाँधी चरै कपास ॥

सदा न फूले तोरई सदा न सावन होय ॥
सदा न सावन होय, संतजन सदा न आवें।
सदा न रहे सुबुद्धि सदा गोविंद गुन गावें ॥
सदा न पक्षी केलि करें इह तरुवर ऊपर।
सदा न स्याही रहै, सुपेदी आवे भू पर ॥
'अग्र' कहै हरि मिलन को तन मन डारो खोय।
सदा न फूले तोरई सदा न सावन होय ॥

स्वर्ण वेदिका मध्य तहाँ एक रतन सिंहासन।
सिंहासन के मध्य परम अति पदुम शुभासन ॥
ताके मध्य सुदेश कर्णिका सुंदर राजै।
अति अद्भुत तहँ तेज वह्नि सम उपमा भ्राजै ॥
तामधि शोभित राम नील इन्दीवर ओभा।
अखिल रूप अंभोधि सजल घन तन की शोभा ॥
षोडश वर्ष किशोर राम नित सुंदर राजैं।
राम रूप को निरखि विभाकर कोटिक लाजैं ॥
अस राजत रघुवीर धीर आसन सुखकारी।
रूप सच्चिदानंद वाम दिशि जनककुमारी ॥
जगत ईश को रूप बरणि कह कवन अधिक मति।
कहाँ अल्प खद्योत भानु के निकट करै द्युति ॥
कहँ चातक की शक्ति अखिल जल चोंच समावै।
कछुक बुंद मुख परै ताहि ले आनँद पावै ॥

निबहौ नेह जानकीवर से।
जाचो नाहिं और काहू से, नेह लगै दसरथ के कुँवर से ॥
अष्ट सिद्धि नव निद्धि महाफल, नहीं काम ये चारों वर से।
'अग्रदास' की याही बानी, राम नाम नहिं छूटै यहि घर से ॥

श्रीनाभादासजी (नारायणदासजी)

भक्तमालके रचयिता

(महान् भक्त-कवि और साधुसेवी, आपका अस्तित्वकाल वि० सं० १६५७ के लगभग है। आपके गुरुका नाम अग्रदासजी है, आपको इन्होंने ही पाला था। जन्म-स्थान—तैलंगदेश, रामभद्राचलके आसपास।)

भक्त भक्ति भगवंत गुरु, चतुर नाम बपु एक।
इन के पद बंदन करौं, नासैं विघन अनेक ॥
मो चितवृति नित तहँ रहौ, जहँ नारायण पारषद ॥
विष्वक्सेन, जय, विजय, प्रबल बल, मंगलकारी।
नंद, सुनंद, सुभद्र, भद्र, जग आमयहारी ॥
चंड, प्रचंड, विनीत, कुमुद, कुमुदाक्ष, करुणालय।
शील, सुशील, सुषेनु, भाव भक्तन प्रतिपालय ॥
लक्ष्मीपति प्रीणन प्रबीन, भजनानंद, भक्तन सुहृद।
मो चितवृति नित तहँ रहौ, जहँ नारायण पारषद ॥

दुर्वासा प्रति स्याम दास बसता हरि भाखी ।
ध्रुव गज पनि प्रह्लाद राम सबरी-फल माखी ॥
राजसूय जदुनाथ चरन धोय जूँठ उठाई ।
पाडव बिपति निवारि, दिये बिष बिषया पाई ॥
कलि बिसेस परचो प्रगट आस्तिक ह्वै कै चित धरौ ।
उतकर्ष सुनत संतनि को अचरज कोऊ जिन करौ ॥

जगकीरति मंगल उदय, तीनों ताप नसायँ ।
हरिजन को गुन बरनते, हरि हृदि अटल बसायँ ॥
(जो) हरि प्रापति की आस है, तो हरिजन गुन गाव ।
(नतरु) सुकृत भुँजे बीज ज्यों, जनम जनम पछिताव ॥

भक्त दास संग्रह करै, कथन श्रवण अनुमोद ।
सो प्रभु प्यारो पुत्र ज्यों, बैठे हरि की गोद ॥
'नामा' नम मैला कँवल, खेल रम मैल ॥

दरपन नैन सैन मन माँजा, लखा अलख अकेला ।
पल पर दल दल ऊपर दामिनि जोत में होत उजेला ॥
अंडा पार गार लख सुरत, सुन्नी सुन सुहेला ।
चढ़ गई धाय जाय गढ़ ऊपर, सबद सुरत भया मेला ॥
यह सब खेल अलेख अमेला, सिंध नीर नद मेला ।
जल जलधार गार पद जैसे, नहीं गुरू नहिं चेला ॥
'नामा' नैन ऐन अंदर के, खुल गए निरख निहाला ।
संत उचिष्ट वार मन झेला, दुर्लभ दीन दुहेला ॥

श्रीप्रियादासजी

(अस्तित्व-काल—लगभग विक्रमकी १७ वीं शती)

श्रीब्रजराज गरीब निवाज सो,
जानत हौ मन के सब प्यारे ।
कोउ सहाय हरौ मम दुःख सो,
ज्यों बिष ते सब ग्वाल उबारे ॥
मेटि कै गर्व ज्यों इंदर को,
नख पै गिरिराज गोबरधन धारे ।
त्यों 'प्रियादास' के दुःख हरौ,
औ करौ मति देर जु नंददुलारे ॥

नेम करौ तुम कोटिन हूँ,
पै प्रेम बिना नहिं काज सरैगो ।
वारिज कोटिन बूँद परौ,
बिन मेह न सूखो ताल भरैगो ॥
'प्रियादास' जु ध्यान औ जोग करौ,
बिन राधिका नाम न दुःख टरैगो ।
तापौ प्रपंच कौं दूरि करौ,
औ करौ ब्रजवास तौ पूरौ परैगो ॥

प्रणामी-पंथ-प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथजी महाराज 'महामति'

[जन्म-संवत्—१६७५ । निर्वाण-संवत् वि० १७५१]

(प्रेषक—पं० श्रीमिश्रीलालजी शास्त्री, साहित्यशास्त्री, हिंदीप्रभाकर)

(१)

मोज यके सब खेल खसम री,
मनही में मन है उरझाना,
होत न काहू गम री ॥टेक॥
मन ही बाँधे मन ही खोले,
मन तम मनहि उजास री,
ये खेल है सकल मन का
मन नेहचल मनहि को नास री ॥

मन उपजावे, मन ही पाले,
मन को मनही करे सँहार,
पचतत्व इंद्री गुन तीनों
मन निरगुन, मन निराकार ॥
मनही नीला मनही पीला,
स्याम स्वेत सब मन री,
छोट-बड़ा मन भारी-हल्का,
मन जड़ मन चेतन, री ॥

मन ही मैला मन ही निरमल
मन खारा, तीखा मन मीठा,
ये मन सबन को देखे,
मन को किनहु न दीठा ॥
सब मन में न कछू मन मे,
खाली मन मन ही में ब्रह्म
'महामति' मन को सोई देखे
जिन द्रष्टे खुद खसम ॥

(२)

खिन एक लेहु लटक भँजाय,
जनमत ही तेरो अँग छूटो;
देखत ही मिट जाय ॥ टेक ॥
जीव निमिष के नाटक में,
तूँ रह्यो क्यों बिलमाय !
देखत ही चली जात बाजी,
भूलत क्यों प्रभु पाय ॥
आप को पृथ्वीपति कहावें
ऐसे केते गये बजाय;
अमरपुर सिरदार कहिए,
काल न छोड़त ताय ॥
जीव रे चतुर्मुख को छोड़त नाहीं,
जो कर्ता सृष्टि कहलाय;
चारों तरफ चौदे लोकों,
काल पहुँच्यो आय ॥
पवन, पानी, आकाश, जिमीं,
जो अगिन जोत बुझाय;
अवसर ऐसो जान के,
तूँ प्राणपति लौ लाय ॥
देखन को ये खेल खिनको,
लिये जाय लपटाय,
'महामति' कहे रमें ताको,
उपजत जाको इच्छाय ॥

स्वामी लालदासजी

(जन्म—वि० सं० १५९७ में, अलवर राज्यके धौलीदूब ग्राममें । पिताका नाम—चाँदमलजी । माताका नाम—समदाजी, देहावसान—वि० सं० १७०५ । आयु १०८ वर्ष । संत दादूजी और महाकवि जायसीके समकालीन ।)

अरे भाई दमका गुजारा है रे । मन ! छाँड़ि दे मगरूरी ॥
गूँगा स्वाद कहा कहि जाने, खट्टा मीठा खारा है रे ।
बिन देखे अंधा क्या जाने, दुरमत धारा है रे ॥
बेघायल तो मारे जायँगे, घायल देत नगारा है रे ।
मुरदा जाय मिला साहिब में, सतगुरु सब्द पुकारा है रे ॥
क्या तू लाया क्या ले जायगा, आनत सब संसारा है रे ।
जीवे जौलौं नेकी कर ले, यही विहारा है रे ॥
यह संसार हाट देखलिया, सब जग झूठा हारा है रे ।
'लालदास' निर्भय हो झूले, राम पियारा है रे ॥

गरबाय मत रे कीमत तेरी घट जायगी ॥
ऐसा सुंदर तन तैं पाया, भजन बिना तैं यों ही गमाया ।
क्या गफलत में सोता है रे, इक दिन सूरत तेरी मिटि जायगी ॥
जो तू कहता अपना-अपना सो है जीना तोकों मरना ।
अनलस्वरूपी जल बल मिटिया, यहाँ की यहीं तेरी मिटि जायगी ॥
औरत नर तुम करम करोगे, सो तुम जनम-जनम भुगतोगे ।
धरमराज जब लेखो लेगो, वहाँ पर बात बिगड़ जायगी ॥
आगे दिया सो अब तैं पाया, 'लालदास' ने भजन बनाया ।
अब देगा आगे पावेगा, नातर दोजख तेरी छूट जायगी ॥

संत मंसूर

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा ।
जलाकर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा ॥
पकड़कर इश्क की झाड़ू, सफा कर हिज्र दिल को ।
दुई की धूल को लेकर, मुसल्ले पर उड़ाता जा ॥
मुसल्ला छोड़, तसबी तोड़, किताबें डाल पानी में ।
पकड़ दस्त तू फिरश्तों का, गुलाम उनका कहाता जा ॥
न मर भूखा, न रख रोजा, न जा मस्जिद, न कर सिजदा ।
वजूका तोड़ दे कूजा, शराबे शौक पीता जा ॥
हमेशा खा हमेशा पी, न गफलत से रहो इकदम ।
नशे में सैर कर अपनी, खुदी को तू जलाता जा ॥
न हो मुल्ला, न हो बम्हन, दुई की छोड़ कर पूजा ।
हुकम शाह कलन्दर का, अनलहक तू कहाता जा ॥
कहे 'मंसूर' मस्ताना, हक मैंने दिल में पहचाना ।
वही मस्तों का मयखाना, उसी के बीच आता जा ॥

दुर्वासा प्रति स्याम दास वसता हरि भाखी।
ध्रुव गज पुनि प्रह्लाद राम सबरी-फल चाखी ॥
राजसूय जदुनाथ चरन धोय जूँठ उठाई।
पांडव बिपति निवारि, दिये बिष बिषया पाई ॥
कलि बिसेस परचो प्रगट आस्तिक ह्वै कै चित धरौ।
उतकर्ष सुनत संतनि को अचरज कोऊ जिन करौ ॥

जगकीरति मगल उदय, तीनों ताप नसायँ।
हरिजन को गुन बरनते, हरि हृदि अटल बसायँ ॥
(जो) हरि प्रापति की आस है, तो हरिजन गुन गाव।
(नतरु) सुकृत भूँजे बीज ज्यौं, जनम जनम पछिताव ॥

भक्त दास संग्रह करै, कथन श्रवण अनुमोद।
सो प्रभु प्यारो पुत्र ज्यौं, बैठे हरि की गोद॥
'नाभा' नभ लेला कँवल, केल रस मैल॥

दरपन नैन सैन मन माँजा, अजा अलख अकेल।
पल पर दल दल ऊपर दामिनि जोत में होत उजेल॥
अंडा पार मार लग सुरत, सुन्नी सुन सुहेल।
चढ़ गई धाय जाय गढ़ ऊपर, सबद सुरत भया मेल।
यह सब खेल अलेख अमेला, सिंध नीर नद मे
जल जलधार मार पद जैसे, नहीं गुरू नहिं चे
'नाभा' नैन ऐन अंदर के, खुल गए निरख नि
संत उच्छिष्ट चार मन झेला, दुर्लभ दीन

श्रीप्रियादासजी

(अस्तित्व-काल—लगभग विक्रमकी १७ वीं शती)

श्रीब्रजराज गरीब निवाज सो,
जानत हौ मन के सब प्यारे।
होउ सहाय हरौ मम दुःख सो,
ज्यों बिष ते सब ग्वाल उबारे ॥
मेटि कै गर्ब ज्यौं इंदर कौ,
नख पै गिरिराज गोवरधन धारे।
त्यौं 'प्रियादास' के दुःख हरौ,
औ करौ मति देर जु नंददुलारे ॥

नेम करौ तुम कोटिन
पै प्रेम बिना न
बारिज कोटिन बूँद
बिन मेह न
'प्रियादास' जु ग्यान औ
बिन राधि
तामें प्रपंच कौ
औ क

प्रणामी-पंथ-प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथजी महार

[जन्म-संवत्—१६७५। निर्वाण-संवत् वि० १७

(प्रेषक—पं० श्रीमिश्रीलालजी शास्त्री, साहित्यशास्त्री, ि

(१)

खोज थके सब खेल खसम री,
मनही में मन है उरझाना,
होत न काहू गम री ॥टेक॥
मन ही बाँधे मन ही खोले,
मन तम मनहि उजास री,
ये खेल है सकल मन का
मन नेहचल मनहि को नास री ॥

मन उपजा
मन
पं
मनही

मन ही मैला मन ही निरमल
मन खारा, तीखा मन मीठा,
ये मन सबन को देखे,
मन को किनहु न दीठा ॥
सब मन में न कछू मन मे,
खाली मन मन ही मे ब्रह्म
'महामति' मन को सोई देखे
जिन द्रष्टे खुद खसम ॥

(२)

खिन एक लेहु लटक भँजाय,
जनमत ही तेरो अँग झूटो;
देखत ही मिट जाय ॥ टेक ॥
जीव निमिष के नाटक में,
तूँ रह्यो क्यों बिलमाय !
देखत ही चली जात बाजी,
भूलत क्यों प्रभु पाय ॥
आप को पृथ्वीपति कहावें
ऐसे केते गये बजाय;
अमरपुर सिरदार कहिए,
काल न छोड़त ताय ॥
जीव रे चतुर्मुख को छोडत नाहीं,
जो कर्ता सृष्टि कहलाय;
चारों तरफ चौदे लोकों,
काल पहुँच्यो आय ॥
पवन, पानी, आकाश, जिमीं,
जो अगिन जोत बुझाय;
अवसर ऐसो जान के,
तूँ प्राणपति लौ लाय ॥
देखन को ये खेल खिनको,
लिये जाय लपटाय,
'महामति' कहे रमें तामों,
उपजत जाकी इच्छाय ॥

स्वामी लालदासजी

(जन्म—वि० सं० १५९७ में, अलवर राज्यके धौलीदूब ग्राममें। पिताका नाम—चाँदमलजी। माताका नाम—श्रीसमदाजी, देहावसान—वि० सं० १७०५। आयु १०८ वर्ष। संत दादूजी और महाकवि जायसीके समकालीन।)

अरे भाई दमका गुजारा है रे। मन! छाँड़ि दे मगरूरी ॥
गूँगा स्वाद कहा कहि जाने, खट्टा मीठा खारा है रे।
बिन देखे अंधा क्या जाने, दुरमत धारा है रे ॥
बेघायल तो मारे जायँगे, घायल देत नगारा है रे।
मुरदा जाय मिला साहिब में, सतगुरु सब्द पुकारा है रे ॥
क्या तू लाया क्या ले जायगा, जानत सब संसारा है रे।
जीवै जौलौं नेकी कर ले, यही विचारा है रे ॥
यह संसार रहट देखदिया, सब जग हलन हारा है रे।
'लालदास' निर्भय हो झूले, राम पियारा है रे ॥
गरबाय मत रे कीमत तेरी घट जायगी ॥
ऐसा सुंदर तन तैं पाया, भजन बिना तैं यों ही गमाया।
क्या गफलत में सोता है रे, इक दिन सूरत तेरी मिटि जायगी ॥
जो तू कहता अपना-अपना सो है जीना तो भी मरना।
अनलस्वरूपी अब कर निदिया, यहाँ की यहीं तेरी मिटि जायगी॥
जीवत नर तुम करम करोगे, सो तुम जनम-जनम भुगतोगे।
धरमराज जब लेखो लेगो, वहाँ पर बात बिगड़ जायगी ॥
आगे दिया सो अब तैं पाया, 'लालदास' ने भजन बनाया।
अब देगा आगे पावैगा, नाहक दौलत तेरी लुट जायगी ॥

संत मंसूर

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा ॥
पकड़कर इश्क की झाड़ू, सफा कर हिज्र-ए-दिल को।
दुई की धूल को लेकर, मुसल्ले पर उड़ाता जा ॥
मुसल्ला छोड़, तसबी तोड़, किताबें डाल पानी में।
पकड़ दस्त तू फरिश्तों का, गुलाम उनका कहाता जा ॥
न मर भूखा, न रख रोजा, न जा मस्जिद, न कर सिजदा।
वजू का तोड़ दे कूजा, शराबे शौक पीता जा ॥
हमेशा खा हमेशा पी, न गफलत से रहो इकदम।
नशे में सैर कर अपनी, खुदी को तू जलाता जा ॥
न हो मुल्ला, न हो बम्हन, दुई की छोड़ कर पूजा।
हुकुम है शाह कलंदर का, अनलहक तू कहाता जा ॥
कहे 'मंसूर' मस्ताना, हक मैंने दिल में पहचाना।
वही मस्तों का मयखाना, उसी के बीच आता जा ॥

दुर्वासा प्रति स्याम दास बसता हरि भाखी ।
ध्रुव गज पुनि प्रह्लाद राम सबरी-फल चाखी ॥
राजसूय जदुनाथ चरन धोय जूँठ उठाई ।
पांडव बिपति निवारि, दिये बिष बिषया पाई ॥
कलि बिसेस परचो प्रगट आस्तिक ह्वै कै चित धरौ ।
उतकर्ष सुनत संतनि को अचरज कोऊ जिन करौ ॥

जगकीरति मंगल उदय, तीनों ताप नसायँ ।
हरिजन को गुन बरनते, हरि हृदि अटल बसायँ ॥
(जो) हरि प्रापति की आस है, तो हरिजन गुन गाव ।
(नतरु) सुकृत भुँजे बीज ज्यौं, जनम जनम पछिताव ॥

भक्त दाम संग्रह करै, कथन श्रवण अनुमोद ।
सो प्रभु प्यारो पुत्र ज्यौं, बैठे हरि की गोद ॥
'नाभा' नभ खेला कँवल, खेल रस मेला ॥

दरपन नैन सैन मन माँजा, लाजा अलख अकेला ।
पल पर दल दल ऊपर दामिनि जोत में होत उजेला ॥
अंडा पार मार लख सुरत, सुखी सुख सुहेला ।
चढ़ गई धाय जाय गढ़ ऊपर, सबद सुरत सम मेला ।
यह सब खेल अलेख अमेला, सिंध नीर नद मेला ।
जल जलधार मार पद जैसे, नहीं गुरू नहिं चेला ॥
'नाभा' नैन ऐन अंदर के, खुल गए निरख निराला ।
संत उचिष्ट चार मन झेला, दुर्लभ दीन दुहेला ॥

श्रीप्रियादासजी

(अस्तित्व-काल—लगभग विक्रमकी १७ वीं शती)

श्रीब्रजराज गरीब निवाज सो,
जानत हौ मन के सब प्यारे ।
होउ सहाय हरौ मम दुःख सो,
ज्यौं बिष ते सब ग्वाल उबारे ॥
मेटि कै गर्व ज्यौं इंदर कौ,
नख पै गिरिराज गोबरधन धारे ।
त्यौं 'प्रियादास' के दुःख हरौ,
औ करौ मति देर जु नंददुलारे ॥

नेम करौ तुम कोटिन हूँ,
पै प्रेम बिना नहिं काज सरैगो ।
बारिज कोटिन बूँद परौ,
बिन मेह न सूखौ ताल भरैगो ॥
'प्रियादास' जु ग्यान औ जोग करौ,
बिन राधिका नाम न दुःख टरैगो ।
तासों प्रपंच कौं दूरि करौ,
औ करौ ब्रजवास तौ पूरौ परैगो ॥

प्रणामी-पंथ-प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथजी महाराज 'महामति'

[जन्म-संवत्—१६७५ । निर्वाण-संवत् वि० १७५१]

(प्रेषक—पं० श्रीमिश्रीलालजी शास्त्री, साहित्यशास्त्री, हिंदीप्रभाकर)

(१)

मोज थके मन खेल खसम री,
मनही में मन है उरझाना,
होत न काहू गम री ॥टेक॥
मन ही बाँधे मन ही खोले,
मन तम मनहि उजास री,
ये खेल है सकल मन का
मन नेहचल मनहि को नास री ॥

मन उपजावे, मन ही पाले,
मन को मनही करे सँहार,
पचतत्व इंद्री गुन तीनों
मन निरगुन, मन निराकार ॥
मनही नीला मनही पीला,
स्याम स्वेत सब मन री,
छोट-बड़ा मन भारी-हल्का,
मन जड़ मन चेतन, री ॥

मन ही मैला मन ही निरमल
मन खारा, तीखा मन मीठा,
ये मन सबन को देखे,
मन को किनहु न दीठा ॥
सब मन में न कछू मन में,
खाली मन मन ही में ब्रह्म
'महामति' मन को सोई देखें
जिन इष्टे खुद खसम ॥

(२)

खिन एक लेहु लटक भँजाय,
जनमत ही तेरो अँग छूटो;
देखत ही मिट जाय ॥ टेक ॥
जीव निमिष के नाटक में,
तूँ रह्यो क्यों बिलमाय !
देखत ही चली जात बाजी,
भूलत क्यों प्रभु पाय ॥

आप को पृथ्वीपति कहावें
ऐसे केते गये धजाय;
अमरपुर सिरदार कहिए,
काल न छोड़त ताय ॥
जीव रे चतुर्मुख को छोड़त नाहीं,
जो कर्ता सृष्टि कहलाय;
चारों तरफ चौदे लोकों,
काल पहुँच्यो आय ॥
पवन, पानी, आकाश, जिमीं,
जो अगिन जोत बुझाय;
अवसर ऐसो जान के,
तूँ प्राणपति लौ लाय ॥
देखन को ये खेल जिनको,
लिये जाय लपटाय,
'महामति' कहे रमें तासों,
उपजत आही इच्छाय ॥

स्वामी लालदासजी

(जन्म—वि० सं० १५९७ में, अलवर राज्यके धौलीदूब ग्राममें। पिताका नाम—चाँदमलजी। माताका नाम—श्रीसमदाजी, देहावसान—वि० सं० १७०५। आयु १०८ वर्ष। संत दादूजी और महाकवि तुलसीके समकालीन।)

अरे कई दमका गुजारा है रे। मन! छाँड़ि दे मगरूरी ॥
गूँगा स्वाद कहा कहि जाने, कहा मीठा खारा है रे।
बिन देखे अंधा क्या जाने, सुरमत प्यारा है रे ॥
बेपायल तो मारे जायँगे, पायल देत नगारा है रे।
मुरदा जाय मिला साहिब में, सतगुरु सब्द पुकारा है रे ॥
क्या तू लाया क्या ले जायगा, जानत सब संसारा है रे।
जीवे ओली नेकी कर ले, यही तिहारा है रे ॥
यह संसार रहट दोवहिया, सब जग हल्का हारा है रे।
'लालदास' निर्भय हो डूले, राम पियारा है रे ॥

गरबाद मत रे कीमत तेरी घट जायगी ॥
ऐसा सुंदर तन तैं पाया, भजन बिना तैं यों ही गमाया।
क्या गफलत में सोता है रे, इक दिन सूरत तेरी मिट जायगी ॥
जो तू कहता अपना-अपना सो है और तेरो सपना।
अनहदबानी अब कर सिमिरन, यहाँ की यहीं तेरी मिट जायगी ॥
जीवत नर तुम करम करोगे, सो तुम जनम जनम भुगतोगे।
धरमराज जब लेखो लेंगे, वहाँ पर बात बिगड़ जायगी ॥
काहे हिरा सो अब तैं प्यार, 'लालदास' ने भजन बताया।
अब देखा अपने साहेब, नातर दोजख तेरी जूट जायगी ॥

संत मंसूर

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा ॥
पकड़कर इश्क की झाड़ू, सफा कर हिज्र-ए-दिल को।
दुई की धूल को लेकर, मुसल्ले पर उड़ाता जा ॥
मुसल्ला छोड़, तसबी तोड़, किताबें डाल पानी में।
पकड़ दस्त तू फ़रिश्तों का, गुलाम उनका कहाता जा ॥
न मर भूखा, न रख रोजा, न जा मसजिद, न कर सिजदा।
वजू का तोड़ दे कूजा, शराबे शौक पीता जा ॥
हमेशा खा, हमेशा पी, न गफलत से रहो इकदम।
नशे में सैर कर अपनी, खुदी को तू जलाता जा ॥
न हो मुल्ला, न हो बम्हन, दुई की छोड़कर पूजा।
हुकुम शाहे कलंदर का, अनलहक तू कहाता जा ॥
कहे 'मंसूर' मस्ताना, हक मैंने दिल में पहचाना।
वही मस्तों का मयखाना, उसी के बीच आता जा ॥

संत बुल्लेशाह

(जन्म-स्थान—लाहौर जिलेका पंडोल गाँव। जन्म—संवत् १७३७, देहान्त कसूरमें संवत् १८१० में हुआ। आजीवन ब्रह्मचारी।)

अब तो जाग मुसाफर प्यारे ! रैन घटी लटके सब तारे ॥
आवागौन सराईं डेरे, साथ तयार मुसाफर तेरे।
अजे न सुणदा कूच-नगारे ॥
कर लै आज करण दी बेला, बहुरि न होसी आवण तेरा।
साथ तेरा चल चल्ल पुकारे ॥
आयो अपने लाहे दौड़ी, क्या सरधन क्या निर्धन बौरी।
लाहा नाम तू लेहु सँभारे ॥
'बुल्ले' सहुदी पैरी परिये, गफलत छोड़ हिला कुछ करिये।
मिरग जतन बिन खेत उजारे ॥

टुक बूझ कवन छप आया है ॥
इक नुकते मे जो फेर पड़ा तब ऐन गैन का नाम धरा।
जब मुरसिद नुकता दूर किया, तब ऐनो ऐन कहाया है ॥
तुसीं इलम किताबाँ पढदे हो केहे उलटे माने करदे हो।
बेमूजब ऐवें लडदे हो, केहा उलटा बेद पढ़ाया है ॥
दुइ दूर करो कोइ सोर नहीं, हिंदु तुरक कोइ होर नहीं।
सब साधु लखो कोइ चोर नहीं, घट-घट मे आप समाया है॥
ना मैं मुल्ला ना मैं काजी, ना मैं सुन्नी ना मैं हाजी।
'बुल्लेशाह' नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है॥

माटी खुदी करें दी यार।
माटी जोड़ा, माटी घोड़ा, माटी दा असवार॥
माटी माटीनूँ मारण लागी, माटी दे हथियार।
जिस माटी पर बहुती माटी, तिस माटी हंकार॥
माटी बाग, बगीचा माटी, माटी दी गुलजार।
माटी माटीनूं देखण आई, है माटी दी बहार॥
हंस खेल फिर माटी होई, पौडी पॉव पसार।
'बुल्लेशाह' बुझारत बूझी, लाह सिरों भाँ मार॥

शेख फरीद

(पिताका नाम—ख्वाजा शेख मुहम्मद, निवासस्थान—अजोधन (पाकपट्टन), मृत्युकाल—सन् १५५२)

फरीदा कोठे मंडप माड़ीआ एतु न लाए चितु।
मिट्टी पई अतोलवी कोइ न होसी मितु॥

फरीद ! इन मकानों, हवेलियों और ऊँचे-ऊँचे महलोंमें मत लगा अपने मनको; जब तेरे ऊपर बिनतोल मिट्टी पड़ेगी, तब वहाँ तेरा कोई भी मीत नहीं होगा।

फरीदा ईंट सिराणे भुइ सवणु कीड़ा लड़िओ मासि।
केतड़िआ जुग वापरे इक तु पइआ पासि॥

फरीद ! ईंटें तो होंगी तेरा तकिया और तू सोयेगा जमीनके नीचे, कीड़े तेरे मांसको खायँगे।

जो सिरु साईं ना निवै सो सिरु कीजै काँइ।
कुंने हेठि जलाइऐ बालण संदै थाइ॥

उस सिरको लेकर करेगा क्या, जो रबके आगे नहीं झुकता ? ईंधनकी जगह जला दे उसे घड़ेके नीचे।

फरीदा कियै तैडे मा पिआ जिन्ही तू जणिओहि।
तै पासहु ओइ लदि गए तू अजै न पतिणोहि॥

फरीद ! कहाँ हैं तेरे माँ-बाप, जिन्होंने तुझे जन्म दिया था ? तेरे पाससे वे चले गये; आज भी तुझे विश्वास [illegible] होता कि दुनिया यह नापायदार है।

फरीदा मैं जाणिआ दुखु मुज्झकू दुखु सबाइऐ जगि।
ऊँचे चढ़िकै देखिआ तॉ घरि घरि एहा अगि॥

फरीद ! मैं समझता था कि दुःख मुझे ही है, मगर दुख तो सारी दुनियाको है। जब ऊँचे चढ़कर मैंने देखा, तब मैने पाया कि यह आग तो हर घरमें लग रही है।

फरीदा तिना मुक्ख डरावणे जिना विसारिओ नु नाउ।
ऐथै दुख- घणेरिआ आगै ठउर न ठाउ॥

फरीद ! भयावने हैं उनके चेहरे, जिन्होंने उस मालिक का नाम भुला दिया। यहाँ तो उन्हें भारी दुःख है, आगे भी उनके लिये कोई ठौर-ठिकाना नहीं है।

कुवणु सु अक्खरु कवणु गुणु कवणु सु मणीआ मंतु।
कवणु सु वेसो हउ करी जितु वसि आवै कंतु॥

वह कौन-सा शब्द है, वह कौन-सा गुण है, वह कौन-सा अनमोल मन्त्र है ? मैं कौन-सा भेष धारूँ, जिससे मैं अपने स्वामीको वशमें कर लूँ ?

निवणु सु अक्खरु खँवणु गुणु जिह्वा मणीआ मंतु।
एत्रै भैणे वेस करि तो वसि आवी कंतु॥

दीनता यह शब्द है, धीरज यह गुण है, शील यह अनमोल मन्त्र है। तू इसी भेषको धारण कर, बहिन, तेरा स्वामी तेरे वशमें हो जायगा।

इक फीका ना गालाइ सभना मैं सचा धणी।
हिआउ न कैही ठाहि माणिक सभ अमोलवे॥

एक भी अप्रिय बात मुँहसे न निकाल, क्योंकि सच्चा मालिक हर प्राणीके अंदर है। किसीके दिलको तू मत दुखा; हर दिल एक अनमोल रतन है।

सभना मन माणिक ठाहणु मूलि न चाँगवा।
जे तउ पिरी आसिक हिआउ न ठाहे कहीदा॥

हर दिल एक रतन है, उसे दुखाना किसी भी तरह अच्छा नहीं; अगर तू प्रीतमका आशिक है तो किसीके दिलको न सता।

जिंदु वहूटी मरणु वर, लै जासी परणाइ।
आपण हथी जोलि कै, कै गलि लगै धाइ॥

फरीदा जो तै मारनि मुकीआँ, तिना न मारे घुंमि।
आपन है घरि जाइऐ, पैरा तिन्हाँ दे चुंमि॥

फरीदा जिन लोइण जगु मोहिआ, सो लोइण मैं डिठु।
कजल रेख न सहदिआ, से पंखी सूइ बहिठु॥

फरीदा खाकु न निंदीऐ, खाकु जेडु न कोइ।
जीवदिआ पैरा तलै, मुइआ ऊपरि होइ॥

रुखी सुखी खाइ कै, ठंढा पाणी पीउ।
फरीदा देखि पराई चोपड़ी, ना तरसाए जीउ॥

फरीदा बारि पराइऐ बैसणा, साईं मुझै न देहि।
जे तू एवै रखसी, जीउ सरीरहु लेहि॥

फरीदा काले मैडे कपड़े, काला मैडा वेसु।
गुनही भरिआ मैं फिरा, लोकु कहै दरवेसु॥

फरीदा खालकु खलक महि, खलक वसै रब माहि।
मंदा किसनो आखीऐ, जाँ तिसु विणु कोई नाहि॥*

मौलाना 'रूमी'

(जन्म—हिजरी सन् ६०४, पूरा नाम—मौलाना मुहम्मद जलालुद्दीन रूमी।)

आईना अत दानी चिरा गम्माज नेस्त।
जाँ कि जङ्गार अज रुखश मुम्ताज नेस्त॥

भावार्थ—हे मनुष्य! तू जानता है कि तेरा दर्पणरूपी मन क्यों साफ नहीं है। देख, इसलिये साफ नहीं कि उसके मुखपर जग-सा मैल लगा हुआ है। मनको शुद्ध करो और आत्माका साक्षात्कार करो।

दामने ओ गीर जूदतर बेगुमा।
ता रिही आज आफते आखिरी जमा॥

भावार्थ—हे मनुष्य! तू बहुत शीघ्र उस प्रभुका पल्ला पकड़ ले, ताकि तू अन्त समयकी विपत्तियोंसे बच सके।

सब्र तलख आमद व लेकिन आक़बत।
मेवाए शीरीं दहद पुर मनफअत॥

भावार्थ—संतोष यद्यपि कड़वा वृक्ष है, तथापि इसका फल बड़ा ही मीठा और लाभदायक है।

वाँ कि ईं हर दो जयक अस्लखा।
बर गुजर जीं हर दो रौ ता अस्ले आ॥

भावार्थ—पाप और पुण्य ये दोनों एक ही कारणसे पैदा हुए हैं। इसलिये इन दोनोंको त्याग उस एककी तरफ चलना चाहिये, जिसने इनको पैदा किया है।

सूफी संत गुलाम अली शाह

(स्थान—कच्छ)

[प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी]

एजी आ रे समार सकळ है झूटा।
मत जाणो है मेरा॥
छोड भरम तमे गुणज विचारो।
तो खोज अंतर घट तेरा॥

एजी ज्योत प्रकाश लीजे घट अंदर।
गुरु बिना घोर अँधेरा॥
कहे पीर गुलाम अलीशाह सुमरन कर ले।
समझ समझ मन मेरा॥

* जिंदु ... परणाइ=जीवन-वधूको मरण-वर ब्याह कर ले जायगा। जो ... घुंमि=जो तुझपर आघात ... से ... बहिठु=उनमें पक्षियोंकी चोंचें चुभायी जा रही हैं। मुइआ ... होइ=मरणोपरान्त ... देखि ... जीउ दूसरेकी घीसे चुपड़ी गयी रोटी अर्थात् ऐश्वर्यको देखकर उसके

यह भी न रहेगा

मेरे एक मित्र हैं। उन्होंने अपनी मेजपर कुछ दिनोंसे एक आदर्श-वाक्य रख लिया था। वाक्य इतना ही था—'यह भी न रहेगा।'

बात कितनी सच्ची, कितनी कल्याणकारी है—यदि हृदयमें बैठ जाय। संसारका प्रत्येक अणु गतिशील है। परिवर्तन—निरन्तर परिवर्तन हो रहा है यहाँ।

हमारा यह शरीर—इस शरीरको हम अपना कहते हैं; किंतु कहाँ है हमारा शरीर? हमारा शरीर कौन-सा?

एक शरीर था माताके गर्भमें—बहुत छोटा, बहुत सुकुमार, मांसका एक पिण्डमात्र। जन्मके पश्चात् शिशुका शरीर क्या उस गर्भस्थ शरीरके समान रह गया? क्या वह गर्भस्थ शरीर बदल नहीं गया?

बालकका शरीर—आप कहते हैं कि बालक युवा हो गया। क्या युवा हो गया जो बालकमें था और युवकमें है। शरीर युवा हुआ? बालकके शरीरकी आकृतिके अतिरिक्त युवकके शरीरमें और क्या है बालकके शरीरका? आकृति—तब क्या मोम, मिट्टी, पत्थर आदिसे वैसी ही कोई आकृति बना देनेसे उसे आप बालकका शरीर कह देंगे?

युवक वृद्ध हो गया। युवककी देहसे वृद्धकी देहमें क्या गया या क्या घट गया? वह युवक-देह ही वृद्ध हुई—यह एक धारणा नहीं है तो है क्या?

विज्ञान कहता है—शरीरका प्रत्येक अणु साढ़े तीन वर्षमें बदल जाता है। आज जो शरीर है, साढ़े तीन वर्ष बाद उसका एक कण भी नहीं रहेगा। लेकिन देह तो रहेगी और जैसे हम आज इस देहको अपनी देह कहते हैं, उस देहको भी अपनी देह कहेंगे।

शरीरमें व्याप्त जो चेतन तत्त्व है—उसकी चर्चा ही व्यर्थ है। वह तो अविनाशी है। लेकिन देह—देह तो परिवर्तनशील है। वह प्रत्येक क्षण बदल रही है। जी हाँ—प्रत्येक क्षण। मल, मूत्र, कफ, स्वेद, नख, रोम आदिके मार्गसे, मलके और यों भी आप प्रत्यक्ष देखते हैं कि चर्म बदलता रहता है। अस्थितक प्रतिक्षण बदल रही है। नवीन कण रुधिर, मांस, मज्जा, स्नायु एवं अस्थि आदिमें स्थान ग्रहण करते हैं—पुराने कण हट जाते। वे किसी मार्गसे शरीरसे निकल जाते हैं।

जैसे नदीकी धारा प्रवाहित हो रही है—जल चला जा रहा है। क्षण-क्षण नवीन जल आ गया है। वही नदी, वही धारा—भ्रम ही तो है। सम्पूर्ण संसार क्षण-क्षण बदल रहा है। कुछ 'वही' नहीं है।

गर्भमें जो देह थी, बालकमें नहीं है। बालककी देह—युवककी वही देह नहीं है। युवककी देह ही वृद्ध देह हुई—केवल भ्रम है। सब आकृतियाँ बदल रही हैं। वृद्ध मर गया—तो क्या गया! शरीर तो बदलता ही रहा था, फिर बदल गया। आकृतिका कुछ अर्थ नहीं है और जीव—वह तो अविनाशी है।

व्यर्थ है शरीरका मोह। व्यर्थ है मृत्युका भय! जो नहीं रहता—नहीं रहेगा वह। उस बदलनेवाले, नष्ट होनेवाले अस्थिर, विनाशीका मोह क्यों?

यह भी न रहेगा
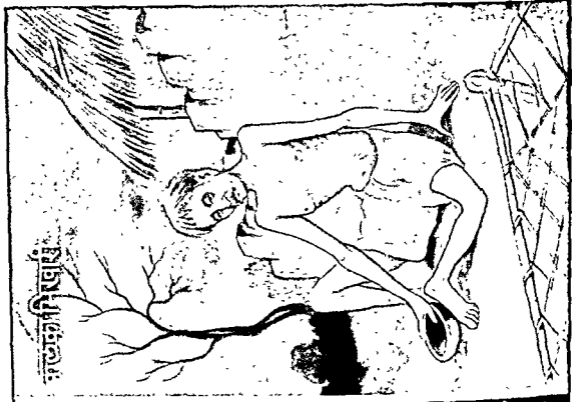
ऐश्वर्य और दारिद्र्य

ऐश्वर्य और दारिद्र्य

धनका मद—कितना बड़ा है यह मद । ऋषियोंने लक्ष्मीको उलूकवाहिनी कहा है । भगवान् नारायणके साथ तो वे ऐरावतवाहिनी या गरुड़वाहिनी रहती हैं; किंतु अकेली होनेपर उनको पसंद है रात्रिचर पक्षी उलूक ।

तात्पर्य बड़ा स्पष्ट है—यदि भगवान् नारायणकी सेवा ही धनका उद्देश्य न रहा, धनमद बुद्धिका नाश कर देता है। जहाँ भी धनको उपभोगके लिये एकत्र किया जाता है—विचार कुण्ठित हो जाता है । लक्ष्मी अपना वाहन बना लेती हैं मनुष्यको, यदि मनुष्य उनकी कृपा प्राप्त करके उनके आराध्य श्रीनारायणकी चरणशरण ग्रहण नहीं करता ।

अन्धं बधिरं तनुते लक्ष्मीर्जनस्य को दोषः ।
हालाहलस्य भगिनी यन्न मारयति तच्चित्रम् ॥

लक्ष्मी अपने कृपापात्रोंको अंधा-बहिरा बना देती हैं, इसमें उन लोगोंका कोई दोष नहीं है । वे हैं ही हालाहल विषकी छोटी बहिन—क्षीरसागरसे समुद्रमन्थनके समय हालाहल विषके उत्पन्न होनेके बाद वे उत्पन्न हुई । महाविषकी बहिन होनेपर भी प्राण नहीं ले लेतीं, यही आश्चर्यकी बात है ।

यह तो कविकी उक्ति है; किंतु मदान्ध मनुष्य ऐश्वर्यके मदमें अंधा और बहिरा बन जाता है, यह स्पष्ट सत्य है । उसके सामने उसके सेवक कितना कष्ट पाते हैं, कितना श्रम करते हैं, दीनजन कितने कष्टमें हैं—यह उसे दिखायी नहीं पड़ता । उसके स्वार्थकी पूर्तिके लिये कितना पाप, कितना अन्याय हो रहा है, यह उसे नहीं सूझता । दुखियोंकी प्रार्थना, दीनोंकी माँग, पीड़ितोंकी पुकार उसके कान सुन नहीं पाते । दूसरोंकी बात तो दूर—वह अपने पतनको नहीं देख पाता । अपने पापोंको देखनेके लिये उसकी दृष्टि बंद रहती है । अपने अन्तःकरणकी सात्त्विक पुकार उसके बहिरे कानोंमें नहीं पहुँचती ।

छल-कपट, अन्याय-अत्याचार आदि नाना प्रकारके पापोंसे प्राप्त यह ऐश्वर्य—लेकिन लक्ष्मी तो चञ्चला हैं । उनका आगमन ही बड़े श्रम एवं चिन्तासे होता है; किंतु उनको जाते विलम्ब नहीं होता । उनको जानेके लिये मार्ग नहीं ढूँढ़ना पड़ता । ऐश्वर्यका अन्त महीनोंमें नहीं, क्षणोंमें हो जाता है । प्रतिदिन हमारे सामने हो रहा है ।

अकाल, भूकम्प, बाढ़, दंगे—ये आकस्मिक कारण भी आज नित्यकी बातें हो गयी हैं । चोरी, डकैती, ठगी—इनकी वृद्धि होती ही जा रही है । लेकिन ऐश्वर्यका नाश होनेके लिये तो सैकड़ों कारण हैं—बहुत साधारण कारण । ऐसे कारण जिनका कोई भी प्रतीकार करना शक्य नहीं होता ।

दरिद्रता—ऐश्वर्यका कब नाश होगा और कौन कब कंगाल हो जायगा, कोई नहीं कह सकता । क्या बुरी है दरिद्रता ? ऐश्वर्यमें मदान्ध होनेसे तो यह दारिद्र्य श्रेष्ठ ही है । मनुष्यमें सद्भावना, सहानुभूति, परोपकार, आस्तिकता आदि अनेक सद्गुणोंका विकास दरिद्रताके ही उपहार हैं ।

किसी क्षण दरिद्रता आ सकती है—ऐश्वर्यमें यह भूलना नहीं चाहिये । यह भी भूलना नहीं चाहिये कि भगवान् दीनबन्धु हैं । दीनोंको बन्धु बनाकर, उनसे सौहार्दका व्यवहार करके ही दीनबन्धुकी कृपा प्राप्त होती है ।

गुरु नानकदेव

(जन्म—वि० सं० १५२६, वैशाख शुक्ला ३, जन्म-स्थान—तलवंडी गाँव, जाति—खत्री, पिताका नाम—कालूचन्दजी, माताका नाम—तृप्ता, भेष—गृहस्थी, निर्वाण—संवत् १५९५ वि०, आश्विन शु० १०, निर्वाण-स्थान—करतारपुर)

हिरदै नामु सरब धनु धारणु
गुर परसादी पाईऐ ।
अमर पदारथ ते किरतारथ
सहज धिआनि लिव लाईऐ ॥
मन रे, राम भगति चितु लाइऐ ।
गुरमुखि राम नामु जपि हिरदै
सहज सेती घरि जाईऐ ॥
भरमु भेदु भउ कबहु न छूटसि आवत जात न जानी ।
बिनु हरिनाम कोउ मुकति न पावसि डूबि मुए बिनु पानी ॥
धंधा करत सगलि पति खोवसि भरमु न मिटसि गवारा ।
बिनु गुरसबद मुकति नहीं कबही अँधुले धंधु पसारा ॥
अकल निरंजन सिउ मनु मानिआ मनही ते मनु मूआ ।
अंतरि बाहरि एको जानिआ नानक अवरु न दूआ ॥*

साचा साहिबु साचु नाइ भाखिआ भाउ अपारु ॥
आखहि मंगहि देहि देहि दाति करे दातारु ।
फेरि कि अग्गै रखीए जितु दिसै दरबारु ॥
मुहौ कि बोलणु बोलीए जितु सुणि धरे पिआरु ।
अमृत वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु ॥
करमी आवै कपड़ा नदरी मोखु दुआरु ।
नानक एवै जाणीऐ सभु आपे सचिआरु ॥

वह स्वामी *'सत्य'* है, उसका नाम भी सत्य है । और उसका बखान करनेके भाव या ढंग अनगिनती हैं ।

लोग निवेदन करते हैं और माँगते हैं कि 'स्वामी, तू हमें दे दे ।' और उन्हें वह दाता देता है ।

फिर क्या उसके आगे रखें कि जिससे उसका (मेहरका) दरबार दीख पड़े ? और इस मुखसे हम क्या बोल बोलें कि जिन्हें सुनकर वह स्वामी हमसे प्रेम करे ? .

अमृत-वेलामें, मङ्गलमय प्रभात-कालमें, उसके सत्य नामका और उसकी महिमाका विचार करो, स्मरण करो ।

कर्मोंके अनुसार चोला तो बदल लिया जाता है, किंतु मोक्षका द्वार उसकी दयासे ही खुलता है ।

नानक कहते हैं—यों जानो तुम कि वह सत्यरूप प्रभु आप ही सब कुछ है ।

जे जुग चारे आरजा होर दसूणी होइ ।
नवा खंडा विचि जाणीऐ नालि चलै सभु कोइ ॥
जे तिसु नदरि न आवई त बात न पुछै केइ ।
चंगा नाउ रखाइ कै जसु कीरति जगि लेइ ॥
कीटा अंदरि कीटु करि दोसी दोसु धरे ।
नानक निरगुणि गुणु करे गुणवँतिआ गुणु दे ॥
तेहा कोइ न सुझई जि तिसु गुणु कोइ करे ।

मनुष्य यदि चारों युग जीये, या इससे भी दसगुनी उसकी आयु हो जाय और नवों खंडोंमें वह विख्यात हो जाय, सब लोग उसके साथ चलने लगें,

दुनियाभरके लोग उसे अच्छा कहें, और उसके यशका बखान करें, पर यदि परमात्माने उसपर अपनी (कृपा) दृष्टि नहीं की तो कोई उसकी बात भी पूछनेवाला नहीं, उसकी कुछ भी कीमत नहीं ।

तब वह कीटसे भी तुच्छ कीट माना जायगा । दोषी भी उसपर दोषारोप करेंगे ।

नानक कहते हैं—वह निर्गुणीको भी गुणी कर देता है, और जो गुणी है, उसे और भी अधिक गुण बख्श देता है ।

पर ऐसा कोई भी दृष्टिमें नहीं आता, जो परमात्माको गुण दे सके ।

---

* गुर परसादी=गुरुकृपासे । अमर पदारथ ते=नामरूपी अविनाशी वस्तु पाकर । किरतारथ=कृतार्थ, सफल-जीवन । सहज ··· ··· ··· जाईऐ=सहज साधनासे महाधाम प्राप्त कर लेना चाहिये । भरमु भेदु भउ=द्वैतभावका भय । धंधा=प्रपंच । सगलि पति=सारी प्रतिष्ठा । गवारा=गँवार, मूर्ख । मुकति=मुक्ति, मोक्ष । अंधुले=अंधा । मनही ते मनु मूआ=प्रभु भक्तिमें लगे हुए मनने विषयरत मनको नष्ट कर दिया । दूआ=दूसरा, अन्य ।

भरीऐ हथु पैरु तनु देह । पाणी धोतै उतरसु खेह ॥
मूत पलीती कपड़ होइ । दे साबूणु लईऐ ओहु धोइ ॥
भरीऐ मति पापा कै संगि । ओहु धोपै नावै कै रंगि ॥
पुंनी पापी आखणु नाहि । करि करि करणा लिखि लै जाहु ॥
आपे बीजि आपे ही खाहु । नानक हुकमी आवहु जाहु ॥

जब हाथ, पैर और शरीरके दूसरे अङ्ग धूलसे सन जाते हैं, तब वे पानीसे धोनेसे साफ हो जाते हैं ।

मूत्रसे जब कपड़े गंदे हो जाते हैं, तब साबुन लगाकर उन्हें धो लेते हैं । ऐसे ही यदि हमारा मन पापोंसे मलिन हो जाय तो वह नामके प्रभावसे स्वच्छ हो सकता है ।

केवल कह देनेसे मनुष्य न पुण्यात्मा बन जाते हैं न पापी । किंतु वे तुम्हारे कर्म हैं, जिन्हें तुम अपने साथ लिखते जाते हो, तुम्हारे कर्म तुम्हारे साथ-साथ जाते हैं ।

आप ही तुम जैसा बोते हो, वैसा खाते हो । नानक कहते हैं—यह तुम्हारा आवागमन उसकी आज्ञासे ही हो रहा है ।

आखा जीवा विसरै मरि जाउ ।
आखणि अउखा साचा नाउ ॥
साचे नाम की लागै भूख ।
उतु भूखै खाइ चलीअहि दूख ॥
सो किउ विसरै मेरी माइ ।
साचा साहिबु साचै नाइ ॥
साचे नाम की तिलु वडिआई ।
आखि थके कीमति नही पाई ॥
जे सभि मिलि कै आखण पाहि ।
वडा न होवै घाटि न जाइ ॥
ना ओहु मरै न होवै सोगु ।
देदा रहै न चूकै भोगु ॥
गुणु एहो होरु नाही कोइ ।
ना को होआ ना को होइ ॥
जेवडु आपि तेवड तेरी दाति ।
जिनि दिनु करि कै कीती राति ॥
खसमु विसारहि ते कमजाति ।
नानक नावै बाझु सनाति ॥

यदि मैं नामका जप करूँ, तो जीऊँ, यदि भूल जाऊँ, तो मर जाऊँ; उस सच्चे नामका जप बड़ा कठिन है ।

यदि सच्चे नामकी भूख लग उठे, तो खाकर तुम हो [illegible] भूखको [illegible] पूरी करनी है ।

हरे हे मेरी माँ ! उसे मैं कैसे भूल सकूँ !

स्वामी वह सच्चा है, उसका नाम सच्चा है ।

उस सच्चे नामकी तिलमात्र भी महिमा बखान-बखानकर मनुष्य थक गये, फिर भी उसका मोल नहीं आँक सके ।

यदि सारे ही मनुष्य एक साथ मिलकर उसके वर्णन करनेका यत्न करें, तो भी उसकी बड़ाई न तो उससे बढ़ेगी और न घटेगी ।

वह न मरता है और न उसके लिये शोक होता है ।

वह देता ही रहता है नित्य सबको आहार, कभी चूकता नहीं देनेसे ।

उसकी यही महिमा है कि उसके समान न कोई है, न था और न होगा ।

तू जितना बड़ा है, उतना ही बड़ा तेरा दान है ।

तूने दिन बनाया है, और रात भी ।

वे मनुष्य अधम हैं, जो उस स्वामीको भुला बैठे हैं ।

नानक, बिना तेरे नामके वे बिल्कुल नगण्य हैं ।

हरि बिनु किउ रहीऐ दुखु ब्यापै ।
जिहवा सादु न फीकी रस बिनु, बिनु प्रभ कालु संतापै ॥
जब लगु दरसु न परसै प्रीतम तब लगु भूख पिआसी ।
दरसनु देखत ही मनु मानिआ, जल रसि कमल बिगासी ॥
ऊनवि घनहरु गाजै बरसै, कोकिल मोर बैरागै ।
तरवर बिरख बिहंग भुइअंगम घरि पिरु धन सोहागै ॥
कुचिल कुरूपि कुनारि कुलखनी पिर का सहजु न जानिआ ।
हरि रस रंगि रसन नही त्रिपती, दुरमति दूख समानिआ ॥
आइ न जावै ना दुखु पावै ना दुख दरदु सरीरे ।
नानक प्रभ ते सहज सुहेली प्रभ देखत ही मनु धीरे* ॥
जगन होम पुन तप पूजा देह दुखी नित दूख सहै ।
रामनाम बिनु मुकति न पावसि मुकति नामि गुरमुखि लहै† ॥

* किउ=कैसे, कैसे । [illegible] । [illegible] है । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] —
बैरागै=विरह [illegible] [illegible], [illegible] और [illegible] [illegible] — [illegible] [illegible] देता करते हैं । [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] है । कुचिल=[illegible] । [illegible] । [illegible]=[illegible] है ।

† [illegible] । [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है । [illegible] है ।

आपे निरमल एकु तूँ, होर बँधी धंधै पाइ ।
गुरि राखे से ऊबरे, साचि सिउ लिव लाइ ॥
हरि जीउ सबदि पछाणिऐ, साचि रते गुर वाकि ।
तितु तनि मैलु न लगई, सच घरि जिसु ओताकु ।
नदरि करे सचु पाईऐ, बिनु नावै किआ साकु ॥
जिनी सचु पछाणिआ, से सुखीए जुग चारि ।
हउमै त्रिसना मारिकै, सचु रखिआ उर धारि ।
जग महि लाहा एकु नामु, पाईऐ गुर वीचारि ॥
साचउ वखरु लादीऐ, लाभु सदा सचु रासि ।
साची दरगह बैसई, भगति सची अरदासि ।
पति सिउ लेखा निबड़ै, राम नामु परगासि ॥
ऊँचा ऊँचउ आखिऐ, कहउ न देखिआ जाइ ।
जहँ देखा तहँ एक तूँ, सतिगुरि दीआ दिखाइ ।
जोति निरंतरि जाणीऐ, नानक सहजि सुभाइ ॥*

एको सरवरु कमल अनूप । सदा बिगासै परमल रूप ॥
ऊजल मोती चूगहि हंस । सरब कला जगदीसै अंस ॥
जो दीसै सो उपजै बिनसै । बिनु जल सरवरि कमलु न दीसै ॥
बिरला बूझै पावै भेदु । साखा तीनि कहै नित बेदु ॥
नाद बिंद की सुरति समाइ । सतिगुरु सेवि परम पदु पाइ ॥
मुकतो रातउ रंगि रवांतउ । राजन राजि सदा बिगसांतउ ॥
जिसु तूँ राखहि किरपा धारि । बूडत पाहन तारहि तारि ॥
त्रिभवण महि जोति त्रिभवण महि जाणिआ ।
उलट भई घरु घर महि आणिआ ॥
अहि निसि भगति करै लिव लाइ । नानकु तिनकै लागै पाइ ॥†

रैणि गवाई सोइ कै, दिवसु गवाइआ खाइ ।
हीरे जैसा जनमु है, कउडी बदले जाइ ॥
नामु न जानिआ राम का, मूड़े फिरि पाछै पछुताहिरे ।
अनता धनु धरणी धरे अनत न चाहिआ जाइ ।
अनत कउ चाहन जो गए से आए अनत गवाइ ॥
आपण लीआ जे मिलै ता सभु को भागठु होइ ।
करमा उपरि निबड़ै जो लोचै सभु कोइ ॥‡

नानक करणा जिनि किया, सोई सार करेइ ।
हुकमु न जापी खसम का किसै वडाई देइ ॥*

परदारा परधनु पर लोभा, हउमै बिखै बिकार ।
दुसट भाउ तजि निंद पराई, कामु, क्रोधु चंडार ॥

महल महि बैठे अगम अपार ।
भीतरि अंम्रितु सोई जनु पावै, जिसु गुर का सबदु रतनु आचार ॥
दुख सुख दोऊ सम करि जाणै, बुरा भला संसार ।
सुधि बुधि सुरति नामि हरि पाईऐ, सतसंगति गुर पिआर ॥
अहिनिसि लाहा हरि नामु परापति, गुरु दाता देवणहारु ।
गुर मुखि सिख सोई जनु पाए, जिसनो नदरि करे करतारु ॥
काइआ महलु मंदरु घरु हरि का, तिसु महि राखी जोति अपार ।
नानक गुर मुखि महलि बुलाईऐ, हरि मेले मेलणहार ॥

राम नामि मनु बेधिआ अवरु कि करी बीचारु ।
सबद सुरति सुखु ऊपजै प्रभ रातउ सुखसारु ।
जिउ भावै तिउ राखु तूँ मै हरि नामु अधारु ॥

मन रे साची खसम रजाइ ।
जिनि तनु मनु साजि सीगारिआ, तिसु सेती लिव लाइ ॥
तनु बैसंतरि होमीऐ, इक रती तोलि कटाइ ।
तनु मनु समधा जे करी अनदिनु अगनि जलाइ ।
हरि नामै तुलि न पूजई, जे लख कोटि करम कमाइ ॥
अरध सरीरु कटाईऐ सिरि करवतु धराइ ।
तनु हैमंचलि गालीऐ भी मन तेरो गुन जाइ ।
हरि नामै तुलि न पूजई सभ डिठी ठोकि वजाइ ॥
कंचन के कोट दतु करी बहु हैवर गैवर दानु ।
भूमि दानु गऊआ घणी भी अंतरि गरबु गुमानु ।
राम नामि मनु बेधिआ गुरि दीआ सचु दानु ॥
मनहठ बुधी केतीआ केते बेद बीचार ।
केते बंधन जीअ के गुरमुखि मोख दुआर ।
सचहु उरै सभु को उपरि सचु आचारु ॥
सभु को ऊचा आखीऐ नीचु न दीसै कोइ ।
इकनै भाडे साजिऐ इकु चानणु तिहु लोइ ।
करमि मिलै सचु पाईऐ धुरि बखस न मेटै कोइ ॥
साधु मिलै साधू जनै संतोखु वसै गुरभाइ ।†

---

* वाकि=वचनमें । सकु=सिर दृष्टि । नदरि=कृपादृष्टि । नावै=नाम अर्थात् भक्ति, आत्मसमर्पणका भाव । साकु=महान् कार्य । अरदासि=विनय, प्रार्थना ।

† रवांतउ=रमा हुआ । बिगसांतउ=विकास प्राप्त हुआ ।

‡ लोचै=अभिलाषा करते हैं ।

* सार=सुख । जापी=ज्ञात किया ।

† बैसंतरि=अग्निमें । हैमंचलि=हिमाचलमें । डिठी=देख लिया । दतु=दान । भी=फिर भी । उरै=उधरता है ।

अकथ कथा विचारीऐ जे सति गुर माहि समाइ ।
पी अम्रितु संतोखिआ दर रहिपै धाजाइ ॥
घटि घटि वाजै किंगुरी अनदिनु सबदि सुभाइ ।
विरले कउ सोझी पई, गुरमुखि मनु समझाइ ।
नानक नामु न वीसरै छूटै सबदु कमाइ ॥
काची गागरि देह दुहेली, उपजै विनसै दुखु पाई ।
इहु जगु सागरु दुतरु किउ तरीऐ, बिनु हरि गुर पार न पाई ॥
तुझ विनु अवरु न कोई मेरे पिआरे, तुझ विनु अवरु न कोइ हरे ।
सभी रंगी रूपी तूँ है, तिसु बखसे जिसु नदरि करे ॥
सासु बुरी घरि वासु न देवै, पिर सिउ मिलण न देइ बुरी ।
सखी साजनी के हउ चरन सरेवउ हरि गुर किरपा ते नदरि धरी ॥
आपु बीचारि मारि मनु देखिआ, तुमसा मीतु न अवरु कोई ।
जिउ तूँ राखहि तिवही रहणा, दुखु सुखु देवहि करहि सोई ॥
आसा मनसा दोऊ बिनासत, त्रिहु गुण आस निरास भई ।
तुरीया वसथा गुर मुखि पाईऐ, संत सभा की उट लही ॥
गिआन धिआन सगले सभि जप तप, जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा ।
नानक राम नामि मनु राता, गुरमति पाए सहज सेवा ॥*

श्रीगुरु अंगदजी

(जन्म-संवत् १५६१ वि० वैशाखी ११ । जन्म-स्थान—हरिके गाँव । जाति—खत्री । पिताका नाम—श्रीफेरूजी । गुरुका नाम—नानकजी । माताका नाम—श्रीदयाकौर । भेष—गृहस्थ । देहावसान-काल—वि० सं० १६०९ चैत्र सुदी १०)

जिसु पिआरे सिउ नेहु तिसु आगै मरि चलिऐ ।
ध्रिगु जीवण संसार ताकै पाछै जीवणा ॥
जौ सिरु साईं ना निवै, सो सिरु दीजै डारि ।
(नानक) जिसु पिंजर महिं बिरह नहिं, सो पिंजर लै जारि ॥

नानक चिंता मति करहु चिंता तिसही हेइ ॥
जल महि जंत उपाइअनु तिना भी रोजी देइ ।
ओथै हटु न चलई ना को किरस करेइ ॥
सउदा मूलि न होवई ना को लए न देइ ।
जीआ का आहारु जीअ खाणा एहु करेइ ॥
विचि उपाए साइरा तिना भि सार करेइ ।
नानक चिंता मत करहु चिंता तिसही हेइ ॥ १ ॥

साहिब अंधा जो कीआ करे सुजाखा होइ ।
जेहा जाणै तेही वरतै जे सउ आखै कोइ ॥
जिथै सु वसतु न जापई आपे वरतउ जाणि ।
नानक गाहकु किउ लए सकै न वसतु पछाणि ॥
सो किउ अंधा आखिऐ जि हुकमहु अंधा होइ ।
नानक हुकमु न बुझई अंधा कहीऐ सोइ ॥ २ ॥
अंधे कै राहि दसिऐ अंधा होइ सु जाइ ।
होइ सुजाखा नानका सो किउ उझड़ि पाइ ॥
अंधे एहि न आखीअनि जिन मुखि लोइण नाहि ।
अंधे सेई नानका खसमहु घुथे जाहि ॥ ३ ॥
रतना केरी गुथली रतनी खोली आइ ।
वखर तै वणजारिआ दुहा रही समाइ ॥

---

* दुतरु=दुस्तर । पिर सिउ=पियसे । सरेवउ=पड़ती हूँ । उट= ओट, आश्रय ।

१. तिसही हेइ=उसे (परमात्माको) ही है । उपाइअनु=पैदा किये । तिना=उनको । ओथै=वहाँ । हटु=हाट; दूकान । ना को किरस करेइ=न कोई खेती (या व्यापार) करता है । आहारु= आहार । एहु=वही (परमात्मा) । करेइ=जुटाता है । विचि उपाए साइरा=सागरके बीचमें जिनको पैदा किया है । तिना भि सार= उनकी भी सँभाल करता है ।

२. साहिब · · · कोइ=जिस परमात्माने अंधा बना दिया उसे वह स्पष्ट दृष्टि दे सकता है । मनुष्यको जैसा वह जानता है, वैसा उसके साथ बर्ताव करता है, भले ही उसके विषयमें मनुष्य सौ बातें कहे, अथवा कुछ भी कहे । वसतु=परमात्माने कदर है । न जापई=नहीं दिखायी देता । आपे वरतउ जाणि=जान लो कि वहाँ अहंकार प्रवृत्त है । किउ लए=क्यों खरीदे । आखिऐ=कहें । हुकमहु=(परमात्माकी) मरजीसे । न बुझई=नहीं समझता ।

३. अंधे कै · · · जाइ=अंधेके दिखाये रास्तेपर जो चलता है, वह स्वयं ही अंधा है । सुजाखा=अच्छी दृष्टिवाला, जिसे अच्छा सूझता या दीखता है । किउ उझड़ि पाइ=क्यों उजाड़में भटकने जाय । एहि=उनको । आखीअनि=कहा जाय । मुखि लोइण नाहि= आँखें नहीं हैं । खसमहु घुथे जाहि=स्वामीसे भटक गये, उनका रास्ता भूल गये ।

जिन गुणु पलै नानका माणक वणजहि सेइ ।
रतना सार न जाणई अंधे वतहि लोइ ॥ ४ ॥

नानक अंधा होइ कै रतन परखण जाइ ।
रतना सार न जाणई आवै आपु लखाइ ॥ ५ ॥

जपु जपु सभु किछु मंनिऐ अवरि कारा सभि बादि ।
नानक मंनिआ मनीऐ बुझीऐ गुरपरसादि ॥ ६ ॥

नानक दुनीआ कीआँ वडिआईआँ अगी सेती जालि ।
एन्ही जलीईं नामु विसारिआ इक न चलीआ नालि ॥७॥

जिन वडिआई तेरे नाम की ते रते मन माहि ।
नानक अंमृतु एकु है दूजा अंमृतु नाहि ॥
नानक अंमृतु मनै माहि पाईऐ गुरपरसादि ।
तिनी पीता रंग सिउ जिन कउ लिखिआ आदि ॥ ८ ॥

जे सउ चंदा उगवहि सूरज चड़हि हजार ।
एते चान्नण होदिआँ गुर बिन घोर अँधार ॥९॥

गुरु अमरदासजी

(जन्म-संवत् १५३६, वैशाख शुक्ल १४। जन्म-स्थान—बासरका गाँव (अमृतसरके पास)। पिताका नाम—तेजभान, माताका नाम—बखतकौर, देहान्त—वि० सं० १६३१ भादोंपूर्णिमा।)

ए मन ! पिआरिआ तू सदा सचु समाले ।
एहु कुटंबु तू जि देखदा, चलै नाहीं तेरै नाले ॥
साथि तेरै चलै नाही तिसु नालि किउ चितु लाईऐ ।
ऐसा कंमु मूले न कीचै जितु अंति पछोताईऐ ॥
सतिगुरुका उपदेसु सुणि तू होवै तेरै नाले ।
कहै नानकु मन ! पिआरे तू सदा सचु समाले ॥

राम राम सभु को कहै, कहिऐ रामु न होइ ।
गुर परसादी रामु मनि वसै, ता फलु पावै कोइ ॥

अंतरि गोविंद जिसु लागै प्रीति ।
हरि तिसु कदे न वीसरै, हरि हरि करहि सदा मनि चीति ॥

हिरदै जिन्ह कै कपटु वसै, बाहरहु संत कहाहि ।
त्रिसना मूलि न चूकई, अंति गए पछुताहि ॥
अनेक तीरथ जे जतन करै ता अंतर की हउमै कदे न जाइ ।
जिसु नर की दुबिधा न जाइ धरमराइ तिसु देइ सजाइ ॥
करमु होवै सोई जनु पाए गुरमुखि बूझै कोई ।
नानक विचहु हउमै मारे ताँ हरि भेटै सोई ॥*

ए मन चचला चतुराई किनै न पाइआ ।
चतुराई न पाइआ किनै तू सुणि मंन मेरिआ ॥
एह माइआ मोहणी जिनि एतु भरमि भुलाइआ ।
माइआ त मोहणी तिनै कीती जिनि ठगउली पाईआ ॥
कुरबाणु कीता तिसै विटहु जिनि मोह मीठा लाइआ ।
कहै नानकु मन चंचल चतुराई किनै न पाइआ ॥†

---

४. यदि जौहरी आकर रत्नोंकी थैली खोल दे तो वह रत्नोंको और गाहकको मिला देता है ।

(अर्थात् वह गुरु या संतपुरुष गाहक या साधकसे हरि-नामरूपी रत्नको खरीदवा देता है ।)

नानक ! गुणवान् (पारखी) हो ऐसे रत्नोंको बिसाहेंगे, किंतु जो लोग रत्नोंका मोल नहीं जानते, वे दुनियामें अंधोंकी तरह भटकते हैं ।

५. सार=कीमत । आवै आपु लखाइ=अपना प्रदर्शन करके (अपना मजाक कराकर) लौट जायेगा ।

६. जप, तप, सब कुछ उसकी आज्ञापर चलनेसे प्राप्त हो जाता है; और सब काम व्यर्थ है ।

उसी (मालिक) की आज्ञा तू मान, जिसकी आज्ञा माननेयोग्य है । (अथवा उस संतपुरुषकी आज्ञा मान, जिसने स्वयं उसकी आज्ञाको माना है); गुरुकी कृपासे ही उसे हम जान सकते हैं ।

७. नानक ! दुनियाकी बड़ाइयोंमें लगा दे आग; इन्हीं आग लगी बड़ाइयोंने तो उसका नाम बिसार दिया है । इनमेंसे एक भी तो (अन्तमें) तेरे साथ चलनेकी नहीं ।

८. जिन ...... मन माहि=जिन्होंने तेरा महिमाको जान लिया, उन्हें ही हार्दिक आनन्द मिला । गुरपरसादि=गुरुकी कृपासे । तिनी ...... आदि=जिनके मायेपर आदिसे ही लिख दिया गया है, वे ही आनन्दसे उस अमृतका पान करते हैं ।

९. यदि सौ चन्द्र उदय हों और हजार सूरज भी आकाशपर चढ़ जायँ तो भी इतने (प्रचण्ड) प्रकाश (पुञ्ज) में भी बिना गुरुके घोर अन्धकार ही छाया रहेगा ।

* हरि ... चीति=निरन्तर हृदयमें नाम स्मरण होता रहता है । करमु=दया, अनुग्रह ।

† चतुराई किनै न पाइआ=परमात्माको किसीने चतुराई करके नहीं पाया । मरमि=भ्रम । तिनै कीती=उसने [illegible]

आए से परवाणु है सभ कुल का करहि उधारु। सभ नदरी करम कमावदे नदरी बाहरि न कोइ। जैसी नदरि करि देखै सचा तैसा ही को होइ। नानक नामि वडाईआ करमि परापति होइ॥*

गुरु रामदासजी

(जन्म-सं० १५९१ वि० कार्तिक कृष्ण २। जन्म-स्थान-लाहौर। पूर्वनाम-जेठा। पिताका नाम-हरिदास। माताका नाम-दयाकौर (पूर्वनाम अनूप देवी)। जाति-सोढी खत्री। देहावसान-भादों सुदी ३, वि० सं० १६३८। मृत्यु-स्थान-गोइन्दवाल)

भाई रे संतजनहु गुण गावहु गोविंद केरे राम।
गुरमुखि मिलि रहीऐ घरि वाजहि सबद घनेरे[1] राम॥
सबद घनेरे हरि प्रभ तेरे तू करता सभ थाई[2]।
अहिनिसि जपी सदा सालाही[3] साच सबदि लिव[4] लाई॥
अनदिनु[5] सहजि रहै रँगि राता[6] राम नामु रिदै[7] पूजा।
'नानक' गुरमुखि एकु पछाणै अवरु न जाणै दूजा॥
कामि करोधि नगरु बहु भरिआ मिलि साधू खंडल खंडा हे॥
पूरबि लिखत लिखे गुरु पाइआ मनि हरि लिव मंडल मंडा हे।

* सुन्दर है वृक्षपरका वह पक्षी, जो गुरुकी कृपासे सत्यको सदा चुगता रहता है।

(पक्षी यहाँ संत पुरुष और वृक्ष है उस साधुका शरीर।) हरिनामका रस वह सतत पान करता है। सहज सुखके बीच बसेरा है उसका और वह इधर-उधर नहीं उड़ता।

निज नीड़में उस पक्षीने वास पा लिया है और हरिनाममें वह लौलीन हो गया है।

रे मन! तब तू गुरुकी सेवामें रत हो जा।

यदि गुरुके बताये मार्गपर तू चले, तो फिर हरिनाममें तू दिन-रात लौलीन रहेगा।

क्या वृक्षपरके ऐसे पक्षी आदरयोग्य कहे जा सकते हैं, जो चारों दिशाओंमें इधर-उधर उड़ते रहते हैं?

जितना ही वे उड़ते हैं, उतना ही दुःख पाते हैं। वे नित्य ही जलते और चीखते रहते हैं।

बिना गुरुके न तो वे परमात्माके दरबारको देख सकते हैं और न उन्हें अमृत-फल ही मिल सकता है।

स्वभावतः सत्यनिष्ठ गुरमुखों अर्थात् पवित्रात्माओंके लिये ब्रह्म सदा ही एक हरा लहलहा वृक्ष है।

तीनों शाखाओं (त्रिगुण) को उन्होंने त्याग दिया है और एक शब्दमें ही उनकी लौ लगी हुई है।

एक हरिका नाम ही अमृतफल है; और वह उसे स्वयं ही खिलाता है। मनमुखी दुष्टजन ठूँठ-से सूखे खड़े रहते हैं; न उनमें फल होते हैं न छाँह।

उनके निकट तू मत बैठ; न उनका घर है न गाँव। सूखे काठकी तरह वे काटकर जला दिये जाते हैं; उनके पास न शब्द (गुरु-उपदेश) है, न (हरिका) नाम।

मनुष्य परमात्माकी आज्ञाके अनुसार कर्म करते हैं और अपने पूर्व कर्मोंके अनुसार अनेक योनियोंमें चक्कर लगाते रहते हैं। वे उसका दर्शन पाते हैं तो उसकी आज्ञासे ही और जहाँ वह भेजता है वहाँ वे चले जाते हैं।

अपनी इच्छासे ही परमात्मा उनके हृदयमें निवास करता है और उसीकी आज्ञासे वे सत्यमें तल्लीन हो जाते हैं।

बेचारे मूर्ख, जो उसकी आज्ञाको नहीं पहचानते, भ्रान्तिके कारण इधर-उधर भटकते रहते हैं। उनके सब कर्मोंमें हठ रहता है, वे दिन-दिन गिरते ही जाते हैं।

उनके अन्तरमें शान्ति नहीं आती, न सत्यके प्रति उनमें प्रेम होता है।

सुन्दर हैं उन पवित्रात्माओंके मुख, जिनकी गुरुके प्रति प्रेम-भक्ति है। भक्ति उन्हींकी सच्ची है, वे ही सत्यमें अनुरक्त हैं और सत्यके दरबारमें उन्होंने सत्यरूप परमात्माको पाया है।

संसारमें उन्हींका आना सौभाग्यमय है; अपने सारे ही कुलका उन्होंने उद्धार कर लिया।

सबके कर्म उसकी नजरमें हैं; कोई भी उसकी नजरसे बचा नहीं है। वह जैसी नजरसे देखता है, मनुष्य वैसा ही हो जाता है। नानक! नामकी महिमातक सुकर्मोंसे ही पहुँचा जा सकता है।

१. घटके भीतर अनेक प्रकारके शब्द और अनहद नाद हो रहे हैं। २. जगह। ३. प्रशंसा करके, गुण गाकर। ४. लौ, प्रीति। ५. नित्य। ६. अनुरागमें रँगा हुआ। ७. हृदय।

भगता की चाल निराली ॥

चाल निराली भगताह केरी बिखम मारगि चलणा ।
लबु लोभु अहंकारु तजि तृसना बहुतु नाही बोलणा ॥
खनिअहु तिखी वालहु निकी एतु मारगि जाणा ।
गुरपरसादी जिन्ही आपु तजिआ हरि वासना समाणा ॥
कहै नानकु चाल भगता जुगहु जुगु निराली ॥*

जीअहु मैले बाहरहु निरमल ॥

बाहरहु निरमल जीअहु त मैले तिनी जनमु जूऐ हारिआ ।
एह तिसना वडा रोगु लगा मरणु मनहु विसारिआ ॥
वेदा महि नामु उतमु सो सुणहि नाही फिरहि जिउ बेतालिआ ।
कहै नानकु जिन सचु तजिआ कूड़े लागे तिनी जनमु जूऐ हारिआ †

जीअहु निरमल बाहरहु निरमल ॥

बाहरहु त निरमल जीअहु निरमल सतिगुर ते करणी कमाणी ।
कूड़ की सोइ पहुचै नाही मनसा सचि समाणी ॥
जनमु रतनु जिनी खटिआ भले से वणजारे ।
कहै नानकु जिन मंनु निरमलु सदा रहहि गुर नाले ॥‡

हरि रासि मेरी मनु वणजारा ॥

हरि रासि मेरी मनु वणजारा सतिगुर ते रासि ज[ाणी]
हरि हरि नित जपिहु जीअहु लाहा खटिहु दिह[ाड़ी]
एहु धनु तिना मिलिआ जिन हरि आपे भा[णा]
कहै नानकु हरि रासि मेरी मनु होआ वणज[ारा]

पंखी बिरखि सुहावड़ा सचु चुगै गुर भा[इ]
हरिरसु पीवै सहजि रहै उड़ै न आवै ज[ाइ]
निजघरि वासा पाइआ हरि हरि नामि सम[ाइ]
मन मेरे तू गुर की कार कमा[इ]
गुर कै भाणै जे चलहि ता अनदिनु राचहि हरि ना[इ]
पंखी बिरख सुहावड़े ऊडहि चहु दिसि जा[हि]
जेता ऊडहि दुख घणे नित दाझहि तै बिल[लाहि]
बिनु गुर महलु न जापई ना अमृत फल पा[हि]
गुरमुखि ब्रहमु हरी आवला साचै सहजि सुभा[इ]
साखा तीनि निवारीआ एक सबदि लिव ला[इ]
अमृत फलु हरि एकु है आपे देइ खवा[इ]
मनमुख ऊभे सुकि गए ना फलु तिन ना छा[उ]।
तिना पासि न बैसीऐ ओना घरु न गिराउ।
कटीअहि तै नित जालीअहि ओन्हा सबदु न नाउ।
हुकमे करम कमावणे पइऐ किरति फिराउ।
हुकमे दरसनु देखणा जह भेजहि तह जाउ।
हुकमे हरि हरि मनि वसै हुकमे सचि समाउ।
हुकमु न जाणहि बपुड़े भूले फिरहि गवार।
मन हठि करम कमावदे नित नित होहि खुआर।
अंतरि सांति न आवई ना सचि लगो पिआर।
गुरमुखीआ मुह सोहणे गुर कै हेति पिआरि।
सची भगती सचि रते दरि सच्चै सचिआर।

ने रची । जिनि ठगउली पाईआ=जिसने यह इन्द्रजाल फैलाया । कुरबाणु ·· · लाईआ=मैंने उस परमात्मापर अपनेको निछावर कर दिया है, जिसने कि मरणशील प्राणियोंके लिये सांसारिक मोहको इतना आकर्षक बना रखा है ।

* बिखम=विषम, कठिन, टेढ़ा, । खंनिअहु · ···जाणा=वे ऐसे मार्गपर चलते हैं, जो खाँडे (तलवार) से अधिक पैना और बालसे भी अधिक बारीक होता है । आपु तजिआ=अपने अहंकारका त्याग कर दिया है । हरि वासना समाणा=जिनकी इच्छाएँ परमात्मामें केन्द्रित हो गयी हैं ।

† जीअहु=हृदयमें, अंदर । निरमल=स्वच्छ । मरणु मनहु विसारिआ=मृत्यु (भय) भुला बैठे । उतमु=उत्तम । फिरहि जिउ बेतालिआ=प्रेतकी तरह घूमता फिरता है । कूड़े लागे=असत्यको पकड़ बैठे ।

‡ सतिगुर ते करणी कमाणी=सद्गुरुके बताये मार्गपर चलकर वे सत्कर्म करते हैं । कूड़ की ··· ···समाणी=झूठकी गन्ध भी उनके पास नहीं पहुँचती; उनकी इच्छाओंका लक्ष्य सत्य ही [बना] है । खटिआ=कमा लिया । भले वणजारे=समृद्ध व्यापारी ।

* रासि=पूँजी । मनु वणजारा=मन है व्यापारी । [जीअहु]=मेरे जीव । लाहा खटिहु दिहाड़ी=तुझे हर रोज कमाई करनी [है]

आपे मे परवाणु है सभ कुल का करहि उधारु ।
सभ नदरी करम कमावदे नदरी बाहरि न कोइ ।
जैसी नदरि करि देखै सचा तैसा ही को होइ ।
नानक नामि वडाईया करमि परापति होइ ॥*

गुरु रामदासजी

(जन्म-सं० १५९१ वि० कार्तिक कृष्ण २ । जन्म-स्थान-लाहौर । पूर्वनाम-जेठा । पिताका नाम-हरिदास । माताका नाम-दयाकौर (पूर्वनाम अनूप देवी) । जाति-सोढी खत्री । देहावसान-भादों सुदी ३, वि० सं० १६३८ । मृत्यु-स्थान-गोइन्दवाल)

आवहो संतजनहु गुण गावहु गोविंद केरे राम ।
गुरमुखि मिलि रहीऐ घरि वाजहि सबद घनेरे[1] राम ॥
सबद घनेरे हरि प्रभ तेरे तू करता सभ थाई[2] ।
अहिनिसि जपी सदा सालाही[3] साच सबदि लिव[4] लाई ॥
अनदिनु[5] सहजि रहै रँगि राता[6] राम नाम रिदै[7] पूजा ।
'नानक' गुरमुखि एकु पछाणै अवरु न जाणै दूजा ॥
कामि करोधि नगरु बहु भरिआ मिलि साधू खंडल खंडा हे ॥
पूरबि लिखत लिखे गुरु पाइआ मनि हरि लिव मंडल मंडा हे ।

* सुन्दर है वृक्षपरका वह पक्षी, जो गुरुकी कृपासे सत्यको सदा चुगता रहता है ।

(पक्षी यहाँ संत पुरुष और वृक्ष है उस साधुका शरीर ।) हरिनामका रस वह सतत पान करता है । सहज सुखके बीच बसेरा है उसका और वह इधर-उधर नहीं उड़ता ।

निज नीड़में उस पक्षीने धाम पा लिया है और हरिनाममें वह लौलीन हो गया है ।

रे मन ! तब तू गुरुकी सेवामें रत हो जा ।

यदि गुरुके बताये मार्गपर तू चले, तो फिर हरिनाममें तू दिन-रात लौलीन रहेगा ।

क्या वृक्षपरके ऐसे पक्षी आदरयोग्य कहे जा सकते हैं, जो चारों दिशाओंमें इधर-उधर उड़ते रहते हैं ?

जितना ही वे उड़ते हैं, उतना ही दुःख पाते हैं । वे नित्य ही जलते और चीखते रहते हैं ।

बिना गुरुके न तो वे परमात्माके दरबारको देख सकते हैं और न उन्हें अमृत-फल ही मिल सकता है ।

स्वभावतः सत्यनिष्ठ गुरुमुखों अर्थात् पवित्रात्माओंके लिये ब्रह्म सदा ही एक हरा लहलहा वृक्ष है ।

तीनों शाखाओं (त्रिगुण) को उन्होंने त्याग दिया है और एक शब्दमें ही उनकी लौ लगी हुई है ।

एक हरिका नाम ही अमृतफल है; और वह उसे स्वयं ही खिलाता है । मनमुखी दुष्टजन ठूँठ-से सूखे खड़े रहते हैं; न उनमें फल होते हैं न छाँह ।

उनके निकट तू मत बैठ; न उनका घर है न गाँव । सूखे काठकी तरह वे काटकर जला दिये जाते हैं; उनके पास न शब्द (गुरु-उपदेश) है, न (हरिका) नाम ।

मनुष्य परमात्माकी आज्ञाके अनुसार कर्म करते हैं और अपने पूर्व कर्मोंके अनुसार अनेक योनियोंमें चक्कर लगाते रहते हैं ।

वे उसका दर्शन पाते हैं तो उसकी आज्ञासे ही और जहाँ वह भेजता है वहाँ वे चले जाते हैं ।

अपनी इच्छासे ही परमात्मा उनके हृदयमें निवास करता है और उसीकी आज्ञासे वे सत्यमें तल्लीन हो जाते हैं ।

बेचारे मूर्ख, जो उसकी आज्ञाको नहीं पहचानते, भ्रान्तिके कारण इधर-उधर भटकते रहते हैं । उनके सब कर्मोंमें हठ रहता है, वे दिन-दिन गिरते ही जाते हैं ।

उनके अन्तरमें शान्ति नहीं आती, न सत्यके प्रति उनमें प्रेम होता है ।

सुन्दर हैं उन पवित्रात्माओंके मुख, जिनकी गुरुके प्रति प्रेम-भक्ति है । भक्ति उन्हींकी सच्ची है, वे ही सत्यमें अनुरक्त हैं और सत्यके दरबारमें उन्होंने सत्यरूप परमात्माको पाया है ।

संसारमें उन्हींका आना सौभाग्यमय है; अपने सारे ही कुलका उन्होंने उद्धार कर लिया ।

सबके कर्म उसकी नजरमें हैं; कोई भी उसकी नजरसे बचा नहीं है । वह जैसी नजरसे देखता है, मनुष्य वैसा ही हो जाता है । नानक ! नामकी महिमातक सुकर्मोंसे ही पहुँचा जा सकता है ।

१. घटके अंदर अनेक प्रकारके शब्द और अनहद नाद हो रहे हैं । २. जगह । ३. प्रशंसा करके, गुण गाकर । ४. लौ, प्रीति । ५. नित्य । ६. अनुरागमें रँगा हुआ । ७. हृदय ।

अचिंत सोइ जागतु उठि बैसनु अचिंत हसत बैरागी ।
कहु नानक जिनि जगतु ठगाना,सु माइआ हरिजन ठागी[1] ॥

माई री मनु मेरो मतवारो ।
पेखि दइआल अनंद सुख पूरन हरि-रसि पिओ खुमारो ॥
निरमल भइउ उजल जसु गावत बहुरि न होवत कारो ।
चरनकमल सिउ डोरी राची भेटिओ पुरखु अपारो ॥
करु गहि लीने सरबसु दीने, दीपक भइउ उजारो ।
नानक नामि-रसिक बैरागी कुलह समूहा तारो[2] ॥

राम राम राम राम जाप ।
कलि-कलेस लोभ-मोह बिनसि जाइ अहं-ताप ॥
आपु तिआगी, संत चरन लागि, मनु पवितु, जाहि पाप ।
नानकु बारिकु कछू न जानै, राखन कउ प्रभु माई-बापै[3] ॥

चरनकमल-सरनि टेक ॥
ऊच मूच बेअंतु ठाकुरु, सरब ऊपरि तुही एक ।
प्रानअधार दुख बिदार, देनहार बुधि-बिबेक ॥
नमसकार रखनहार मनि अराधि प्रभू मेक ।
संत-रेन करउ मंजनु नानकु पावै सुख अनेक[4] ॥

जपि गोबिंदु गोपाल लालु ।
रामनाम सिमरि तू जीवहि फिरि न खाई महाकालु ॥
कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भ्रमि आइओ।
बड़ै भागि साधु-संगु पाइओ ।
बिनु गुर पूरे नाही उधारु ।
बाबा नानकु आखै एहु बीचारु[5] ॥

गावहु राम के गुण गीत ।
नाम जपत परम सुख पाइऐ, आवागउणु मिटै मेरे मीत ॥

गुण गावत होवत परगासु, चरन कमल महि होय निवासु ।
संतसंगति महि होय उधारु, 'नानक' भउजलु उतरसि पारि[1] ॥

मेरे मन जपु जपु हरि नाराइण ।
कबहू न बिसरहु मन मेरे ते आठ पहर गुन गाइण ॥
साधू धूरि करउ नित मजनु सभ किलबिख पाप गवाइण ।
पूरन पूरि रहे किरपानिधि घटि घटि दिसटि समाइण ॥
जाप ताप कोटि लख पूजा हरि सिमरण तुलि ना लाइण ।
दुइ कर जोड़ि नानक दान मांगै तेरे दासनि दास दसाइण[2] ॥

धनवंता होइ करि गरबावै ।
तृण-समानि कछु संगि न जावै ॥
बहु लसकर मानुख ऊपरि करे आस ।
पल भीतरि ताका होइ बिनास ॥
सभ ते आप जानै बलवंतु ।
खिन महि होइ जाइ भसमंतु ॥
किसै न बदै आपि अहँकारी ।
धरमराइ तिसु करे खुआरी ॥
गुरप्रसादि जाका मिटै अभिमानु ।
सो जनु नानक दरगह परवानु[3] ॥

मानुख की टेक बृथी सभ जानु ।
देवन कउ एकै भगवानु ॥
जिस कै दिऐ रहै अघाइ ।
बहुरि न तृसना लागै आइ ॥
मारै राखै एको आपि ।
मानुख कै किछु नाही हाथि ॥
तिसका हुकमु बूझि सुखु होइ ।
तिसका नामु रखु कंठि परोइ ॥
सिमरि सिमरि सिमरि प्रभु सोइ ।
नानक बिघनु न लागै कोइ[4] ॥

---

१. लिव=प्रीति, ध्यान । सजनु=संबंधी, प्यारा । सुहेला=सुन्दर । अलिप=निर्लेप । अहंबुद्धि-बिखु=अहंकाररूपी विष । अचिंत=निश्चिन्त । बैसनु=बैठना । ठागी=हरिभक्तोंद्वारा ठगी गयी ।

२. खुमारो=नशा । कारो=काला, मलिन । डोरी राची=प्रीति लगी । कुलह समूहा=अनेक कुलोंको ।

३. अहं-ताप=अहंकारकी आग, जो निरन्तर जलाती रहती है । आपु=अहंकार । पवितु=पवित्र । बारिकु=बालक । कउ=को ।

४. ऊच मूच=ऊँचे-से-ऊँचा । बेअंतु=अनन्त । मनि अराधि=मनमें आराधना करने योग्य । संत ··· ··· ··· मंजनु=संतोंकी चरण-रजसे मनको माँजकर निर्मल करूँ ।

५. उधारु=उद्धार, मुक्ति । आखै=कहता है । बीचारु=सार-तत्त्वकी बात ।

१. परगासु=आत्मज्ञानका प्रकाश । उधारु=उद्धार, [illegible]
भउजलु=संसार-सागर ।

२. साधू धूरि=संतोंकी चरण-धूल । किलबिख=मैल, [illegible] गवाइण=खो दिये, नष्ट कर दिये । दिसटि समाइण=दृष्टि[illegible] हो गया; अन्तरमें समा गया । ताप=तप, तपस्या । तुलि=तुल्य, [illegible] दासनि दास दसाइण=दासोंके दासका भी दास होना चाहता है ।

३. लसकर=फौज । मानुख=आज्ञापालक सेवकोंसे [illegible] खिन=क्षण । न बदै=कुछ भी नहीं समझता । धरमराइ=[illegible] खुआरी=बेइज्जत । दरगह परवानु=ईश्वरके दरबारमें [illegible] परवाना मिल जाता है ।

४. टेक=आधार, अवलम्ब । बृथी=वृथा, झूठी । देवन कउ=देनेके लिये । परोइ=पिरोकर पहन ले, धारण कर ले ।

बड़भागी ते जन जग माहि ।
सदा सदा हरि के गुन गाहि ॥
राम नाम जो करहि बीचार ।
से धनवंत गनी संसार ॥
मनि तनि मुखि बोलहि हरि मुखी ।
सदा सदा जानहु ते सुखी ॥
एको एकु एकु पैछानै ।
इत उत की ओहु सोझी जानै ॥
नाम संगि जिस का मनु मानिआ ।
नानक तिनहि निरंजनु जानिआ ॥

संत-संगि अंतरि प्रभु डीठा ।
नामु प्रभू का लागा मीठा ॥
सगल समिग्री एकसु घट माहि ।
अनिक रंग नाना द्रिसटाहि ॥
नउ निधि अमृतु प्रभ का नाम ।
देही महि इस का बिस्राम ॥
सुन्न समाधि अनहत तह नाद ।
कहनु न जाइ अचरज बिसमाद ॥
तिनि देखिआ जिसु आपि दिखाए ।
नानक तिसु जन सोझी पाए ॥

तू मेरा सखा तुही मेरा मीतु ।
तू मेरा प्रीतम तुम सँगि हीतु ॥
तू मेरी पति तू है मेरा गहणा ।
तुझ बिनु निमखु न जाई रहणा ॥
तू मेरे लालन तू मेरे प्राण ।
तू मेरे साहिब तू मेरे खान ॥
जिउ तुम राखहु तिउ ही रहना ।
जो तुम कहहु सोइ मोहि करना ॥
जह पेखउ तहा तुम बसना ।
निरभय नाम जपउ तेरा रसना ॥
तू मेरी नवनिधि तू भंडारु ।
रंग रसा तू मनहि अधारु ॥
तू मेरी सोभा तुम सँगि रचिआ ।
तू मेरी ओट तू है मेरा तकिआ ॥
मन तन अन्तरि तुही धिआइआ ।
मरम तुमारा गुर ते पाइआ ॥
सतगुर ते द्रिड़िआ इकु एकै ।
नानक दास हरि हरि हरि टेकै ॥

सलोक

हरि हरि नामु जो जनु जपै सो आइआ परवाणु ।
तिसु जनकै बलिहारणै जिनि भजिआ प्रभु निरबाणु ॥
सतिगुर पूरे सेविए दूखा का होइ नास ।
नानक नाम अराधिए कारजु आवै रासि ॥
जिसु सिमरत संकट छुटहि अनँद मँगल बिस्राम ।
नानक जपीए सदा हरि निमख न बिसरउ नामँ ॥
खिखै कउड़तणि सगल महि जगत रही लपटाइ ।
नानक जनि वीचारिआ मीठा हरि का नाउँ ॥
गुरु कै सबदि अराधिए नामि रंगि बैरागु ।
जीते पंच बैराइआ नानक सफल मारू रागु ॥
पतित उधारण पारब्रहमु संम्रथ पुरखु अपारु ।
जिसहि उधारे नानका सो सिमरे सिरजणहारु ॥
पया प्रेम न जागई भूली फिरै गवारि ।
नानक हरि बिसराइके पउदे नरक अँधिआर ॥

---

१. गाहि=गाते हैं । गनी=गिने जाते हैं । एको एकु एकु=केवल एक अद्वितीय परमात्मा । इत उत=दोनों लोक । सोझी=ज्ञान ।

२. संत[illegible]डीठा=सत्संगके प्रभावसे प्रभुको अपने अन्तरमें ही देख लिया । सगल समिग्री=सारा प्रपञ्चकी सृष्टि । द्रिसटाहि=दीखते हैं । बिसमाद=चमत्कार । सोझी=सुबुद्धि, विवेक ।

१. हीतु=हित, प्रेम । पति=लाज । गहणा=अवलम्बन, आधार । निमखु=निमिष, पल । खान=सबसे बड़ा सरदार । जह पेखउ=जहाँ भी देखता हूँ । रसा=रस, परमानन्द । रचिआ=रँगा हुआ या अनुरक्त हूँ । तकिआ=सहारा । द्रिड़िआ इकु एकै=यह दृढ़तासे पक्का किया कि एक और केवल एक तू ही है ।

२. सो आइआ परवाणु=उसीका संसारमें आना सफल है । निरबाणु=मोक्षदायक ।

३. कारजु आवै रासु=इहलोककी पूँजी (अन्त समय) काम आवे ।

४. बिस्राम=शान्ति । निमख=निमिष, पल ।

५. खिखै कउड़तणि=विषयकी कड़वी बेल ।

६. गुरु कै[illegible]बैरागु=गुरुके उपदेशका आचरण करना चाहिये, जिससे हरि-नाममें प्रेम और [illegible] वैराग्य उत्पन्न हो । पंच बैराइआ=विषयरूपी पाँच शत्रुओंको । मारू रागु=वह राग जो दुष्टको उनपर मारनेके लिए गाया जाता है ।

७. गवारि=मूर्ख, मन्दबुद्धि ।

फूटो अंडा भरम का मनहि भइओ परगासु।
काटी बेरी पगह ते गुरि कीनी बंदि खलासु ॥

तू चउ सजण मैडिआ देईं सीसु उतारि।
नैण महिंजे तरसदे कदि पस्सी दीदारु ॥

नीहु महिंजा तऊ नालि बिआ नेह कूड़ावे डेखु।
कपड़ भोग डरावणे जिचरु पिरी न डेखुं ॥

उठी झालू कंतड़े हउ पसी तउ दीदारु।
काजल हारु तमोल रसु बिनु पसे हभि रस छारु ॥

पहिला मरण कबूलि करि जीवण की छडि आस।
होहु सभना की रेणुका तउ आउ हमारै पास ॥

जिसु मनि वसै पारब्रहमु निकटि न आवै पीर।
भुख तिख तिसु न विआपई जमु नहि आवै नीर ॥

धणी विहूणा पाट पटंबर भाही सेती जाले।
धूड़ी विचि लुडंदड़ी सोहां नानक तै सह नाले ॥

सोरठि सो रसु पीजिए कबहु न फीका होइ।
नानक राम नाम गुन गाइअहि दरगह निरमल सोइ ॥

जाको प्रेम सुआउ है चरन चितव मन माहि।
नानक बिरही ब्रह्म के आन न कितहू जाहि ॥

मगनु भइओ प्रिअ प्रेम सिउ सूध न सिमरत अंग।
प्रगटि भइओ सभ लोअ महि नानक अधम पतंग ॥

संत-सरन जो जनु परै, सो जनु उधरनहार।
संत की निंदा 'नानका', बहुरि-बहुरि अवतार ॥
साथ न चालै बिनु भजन, बिखिआ सगली छार।
हरि-हरि नामु कमावना, 'नानक' इहु धनु सार ॥

गुरु तेगबहादुर

(जन्म-संवत् १६७९ वि०, वैशाख कृ० ५। जन्म-स्थान—अमृतसर, पिताका नाम—गुरु हरगोविन्द, माताका नाम—नानकी, मृत्यु—संवत् १७३२ वि० अगहन सु० ५)

मन की मन ही माहि रही।
ना हरि भजे न तीरथ सेए चोटी कालि गही ॥
दारा मीत पूत रथ संपति धन पूरन सभु मही।
अउर सगल मिथिआ ए जानउ भजनु राम को सही ॥
फिरत फिरत बहुते जुग हारिओ मानसदेह लही।
नानक कहत मिलन की बरिआ सिमरत कहा नही ॥

रे मन, राम सिउ करि प्रीति।
स्रवन गोबिंद गुनु सुनउ अरु गाउ रसना गीति ॥
करि साध संगति सिमरु माधो होहि पतित पुनीत ॥
काल-बिआलु जिउ परिओ डोलै मुखु पसारे मीत ॥
आजु कालि फुनि तोहि ग्रसिहै समझि राखउ चीति ॥
कहै नानकु राम भजि लै जातु अउसरु बीत ॥

---

१. मनहि भइओ परगासु=मनके अंदर दिव्य प्रकाश भर गया। बेरी=बेड़ी। पगह ते=पैरोंमेंसे। बंदि खलासु=बन्धन मुक्त।

२. अब मेरे साजन! अगर तू कहे, तो मैं अपना सिर उतार कर तुझे दे दूँ। मेरी आँखें तरसती हैं कि कब तुझे देखूँ।

३. मेरी प्रीति तेरे ही साथ है; मैंने देख लिया कि और सब प्रीति झूठी है। तुझे देखे बिना ये वस्त्र और ये भोग मुझे डरावने लगते हैं।

४. मेरे प्यारे! तेरे दर्शनके लिये मैं बड़ी भोर उठ जाती हूँ। काजल, हार और पान और सारे मधुर रस, बिना तेरे दर्शनके, धूलकी तरह लगते हैं।

५. कबूलि करि=स्वीकार कर ले। छडि=छोड़कर। रेणुका=पैरोंकी धूल, अत्यन्त तुच्छ।

६. पीर=दुःख। तिख=तृषा, प्यास। जमु=यम। नीर=निकट।

७. [illegible] मेरे पास नहीं, तो इन रेशमी कपड़ोंको लेकर क्या करूँगी, मैं तो इनमें आग लगा दूँगी; प्यारे! तेरे साथ धूलमें लोटती हुई भी मैं सुन्दर दीखूँगी।

८. सोरठि=एक रागका नाम। [illegible] है। दरगह=परमात्माका दरबार। निरमल=निर्मल।

९. [illegible]

१०. [illegible]

जो नरु दुख मै दुखु नहिं मानै ।
सुख सनेहु अरु भय नहिं जाकै कंचन माटी जानै ॥
नहि निंदिआ नहि उसतति जाकै लोभु मोहु अभिमाना ।
हरख सोग ते रहै निआरउ नाहि मान अपमाना ॥
आसा मनसा सगल तिआगै जगते रहै निरासा ।
कामु क्रोधु जिह परसै नाहिन तिह घट ब्रहमु निवासा ॥
गुर किरपा जिह नर कउ कीनी तिह इह जुगति पछानी ।
नानक लीन भइओ गोबिंद सिउ जिउ पानी संगि पानी ॥

इह जगि मीतु न देखिओ कोई ।
सगल जगतु अपनै सुखि लागिओ दुख मै संगि न होई ॥
दारा मीत पूत सनबंधी सगरे धन सिउ लागे ।
जब ही निरधन देखिओ नरकउ संगु छाडि सभ भागे ॥
कहउँ कहा इआ मन बउरे कउ इन सिउ नेहु लगाइओ ।
दीनानाथ सगल भै भंजन जसु ताको बिसराइओ ॥
सुआन पूछ जिउ भइओ न सूधो बहुतु जतनु मैं कीनउ ।
नानक लाज बिरद की राखहु नामु तुहारउ लीनउ ॥

जामैं भजनु राम को नाहीं ।
तिह नर जनम अकारथ खोइउ इह राखहु मन माहीं ॥
तीरथ करै बिरत पुनि राखै, नहिं मनुवा बसि जाको ।
निहफल धरम ताहि तुम मानो साँचु कहत मैं याको ॥
जैसे पाहन जल महि राखिउ भेदै नहिं तिहि पानी ।
तैसे ही तुम ताहि पछानो भगतिहीन जो प्रानी ॥
कलि में मुकति नाम ते पावत गुर इह भेद बतावै ।
कहु नानक सोई नरु गरुआ जो प्रभ के गुन गावै ॥

साधो, मन का मान तिआगो ।
काम क्रोध संगति दुरजन की, ताते अहनिसि भागो ॥
सुखु दुखु दोनों सम करि जानै, और मानु अपमाना ।
हरख-सोग ते रहै अतीता तिनि जगि तत्तु पछाना ॥
उसतुति निंदा दोऊ त्यागै, खोजै पदु निरबाना ।
जन नानक इहु खेलु कठिन है, किनहू गुरमुखि जाना ॥

काहे रे, बन खोजन जाई ।
सरब-निवासी सदा अलेपा तोही संगि समाई ॥
पुहुप मध्य जिउ बासु बसतु है, मुकुर माहि जैसे छाई ।
तैसे ही हरि बसे निरंतर, घट ही खोजहु भाई ॥
बाहरि भीतरि एकै जानहु, इह गुरु गिआनु बताई ।
जन नानक बिनु आपा चीन्हें, मिटै न भ्रम की काई ॥

सभ कछु जीवत को बिउहार ।
मात पिता भाई सुत बंधू अरु पुनि ग्रिह की नार ॥
तन ते प्रान होत जब निआरे टेरत प्रेत पुकार ।
आध घरी कोऊ नहिं राखै घरि ते देत निकारि ॥
मृगतृसना जिउ जग रचना यह देखहु रिदै बिचारि ।
कहु नानक भजु राम नाम नित जाते होत उधार ॥

राम सिमर राम सिमर इहै तेरो काज है ।
माइआ को संगु तिआगि, प्रभु जू की सरनि लागि,
जगत-सुख मानु मिथिआ, झूठो सब साजु है ॥
सुपने जिउ धनु पिछानु, काहे पर करत मानु,
बारू की भीत जैसे बसुधा को राजु है ।
नानक जन कहत बात बिनसि जैहै तेरो गात,
छिनु-छिनु करि गइओ कालु तैसे जातु आजु है ॥

अब मैं कउनु उपाउ करउँ ।
जिह बिधि मन को ससा चूकै, भउ निधि पार परउँ ॥
जनमु पाइ कछु भलो न कीनो, ताते अधिक डरउँ ।
मन बच क्रम हरि गुन नहिं गाए, यह जिअ सोच धरउँ ॥
गुरमति सुनि कछु गिआनु न उपजिउ, पसु जिउँ सोच भरउँ ।
कहु नानक प्रभु बिरदु पछानउँ, तब हउँ पतित तरउँ ॥

माई, मनु मेरो बसि नाहि ।
निसबासुर बिखिअनि कउ धावत किहि बिधि रोकउ ताहि ॥
बेद पुरान सिमृति के मति सुनि निमख न हिए बसावै ।
परधन परदारा सिउ रचिओ बिरथा जनमु सिरावै ॥
मदि माइआ कै भइओ बावरो सूझत नह कछु गिआना ।
घट ही भीतरि बसत निरंजनु ताको मरमु न जाना ॥
जब ही सरनि साध की आइओ दुरमति सगल बिनासी ।
तब नानक चेतिओ चिंतामनि काटी जम की फाँसी[1] ॥

मन रे प्रभ की सरनि बिचारो ।
जिह सिमरत गनका-सी उधरी ताको जसु उर धारो ॥
अटल भइओ ध्रुअ जाकै सिमरति अरु निरभै पदु पाइआ ।
दुख हरता इह बिधि को सुआमी तै काहे बिसराइआ ॥
जब ही सरनि गही किरपानिधि गज गराह ते छूटा ।
महिमा नाम कहा लउ बरनउ राम कहत बंधन तिह तूटा ॥

१. बिखिअनि कउ=विषयोंको, इन्द्रियोंके भोगोंकी ओर। मति=मत, सिद्धान्त। सिउ=से। निरंजनु=निराकार परमात्मा। मरमु=भेद, रहस्य। चेतिओ=चिन्तन या स्मरण किया। चिंतामनि=समस्त चिन्ताओंको दूर करनेवाला, परमात्मा।

अजामेलु पापी जगु जाने निमख माहि निसतारा ।
नानक कहत चेत चिंतामनि तै भी उतरहि पारा[1] ॥

प्रीतम जानि लेहु मन माही ।
अपने सुख सिउ ही जगु फाँधिओ को काहू को नाही ॥
सुख मै आनि बहुतु मिलि बैठत रहत चहू दिसि घेरै ।
बिपति परी सभ ही संगु छाडत कोउ न आवत नेरै ॥
घर की नारि बहुतु हितु जा सिउ सदा रहत सँग लागी ।
जब ही हंस तजी इह काइआ प्रेत प्रेत करि भागी ॥
इह बिधि को बिउहारु बनिओ है जा सिउ नेहु लगाइओ ।
अंति बार नानक बिनु हरि जी कोऊ काम न आइओ[2] ॥

हरि के नाम बिना दुख पावै ।
भगति बिना सहसा नहि चूकै गुर इह भेद बतावै ॥
कहा भइउ तीरथ ब्रत कीए, राम सरनि नहि आवै ।
जोग जग्य निहफल तिह मानो जो प्रभु-जसु बिसरावै ॥
मान मोह दोनो को परहरि, गोबिंद के गुन गावै ।
कहु नानक इह बिधि को प्रानी जीवनमुकत कहावै[3] ॥

मन रे, साचा गहो बिचारा ।
राम नाम बिनु मिथिआ मानो सगरो इह संसारा ॥
जाको जोगी खोजत हारे, पाइओ नहिं तिहि पारा ।
सो स्वामी तुम निकटि पछानो, रूपरेख ते निआरा ॥
पावन नाम जगत में हरि को, कबहू नाहि सभारा ।
नानक सरनि परिओ जगबंदन, राखहु बिरद तुम्हारा[4] ॥

साधो रचना राम बनाई ।
इकि बिनसै इक असथिरु मानै, अचरज लखिओ न जाई ॥
काम क्रोध मोह बसि प्रानी हरि मूरति बिसराई ।
झूठा तन साचा करि मानिओ जिउ सुपना रैनाई ॥
जो दीसै सो सगल बिनासै, जिउ बादर की छाई ।
जन नानक जग जानिओ मिथिआ, रहिओ राम सरनाई[1] ॥

प्रानी कउ हरिजसु मनि नहि आवै ।
अहिनिसि मगनु रहै माइआ में कहु कैसे गुन गावै ॥
पूत मीत माइआ ममता सिउ इह बिधि आपु बँधावै ।
मृगतृसना जिउ झूठो इह जगु देखि ताहि उठि धावै ॥
भुगति मुकति को कारनु स्वामी, मूढ़ ताहि बिसरावै ।
जन नानक कोटिन में कोऊ भजनु राम को पावै[2] ॥

जगत में झूठी देखी प्रीत ।
अपने ही सुख सिउ सब लागे, किआ दारा किआ मीत ॥
मेरो मेरो सभै कहत हैं हित सिउ बाँधिओ चीत ।
अन्तकाल संगी नहि कोऊ, इह अचरज है रीत ॥
मन मूरख अजहूँ नहि समझत, सिख दै हारिओ नीत ।
नानक भउजल-पारि परै, जो गावै प्रभु के गीत[3] ॥

साधो, कउन जुगति अब कीजै ।
जाते दुरमति सकल बिनासै, राममगति मनु भीजै ॥
मनु माइआ में उरझि रहिओ है, बूझै नहिं कछु गिआना ।
कउन नामु जग जाके सिमरै पावै पदु निरबाना ॥
भए दइआल कृपाल संतजन तब इह बात बताई ।
सरब धरम मानो तिह कीये जिह प्रभ-कीरति गाई ॥
रामनाम नर निसिबासुर में निमख एक उर धारै ।
जम को त्रासु मिटै नानक तिह, अपुनो जनम सवारै[4] ॥

हरि बिनु तेरो को न सहाई ।
काकी मात-पिता सुत बनिता, को काहू को भाई ॥
धनु धरनी अरु संपति सगरी जो मानिओ अपनाई ।
तन छूटै कछु संग न चालै, कहा ताहि लपटाई ॥

---

१. गनका=एक वेश्या, जिसका नाम पिङ्गला था । धुअ=ध्रुव । इह बिधि को=ऐसा (पतितपावन) । कहा लउ=कहाँतक । तूटा=कट गया । निसतारा=मुक्त कर दिया ।

२. फाँधिओ=फंदेमें पड़ा है । को काहू को=कोई भी किसीका । नेरै=नजदीक । जा सिउ=जिसके साथ । हंस=जीव । काइआ=काया, देह ।

३. सहसा नहि चूकै=संशय (द्वैतभाव) का अन्त नहीं होता । को=कोई बिरला ।

४. गहो=ग्रहण करो । बिचारा=सद्विवेक, आत्मज्ञान । पछानो=पहचानो । सभारा=स्मरण या ध्यान किया । बिरद=बाना, नाम ।

१. असथिरु=स्थिर, नित्य । रैनाई=रातका । दीसै=दीखता है । सगल=सकल । छाई=छाँह ।

२. मनि नहि आवै=हृदयमें जमता नहीं । भुगति=भोग, सांसारिक सुख ।

३. किआ=क्या । दारा=स्त्री । हित······चीत=मनको प्रेमने फँसा लिया । नीत=नीतिकी, हितकारी; नित्य । गीत=गुणगान ।

४. भीजै=भीगे, विभोर हो जाये । निरबाना=मोक्ष । सरब···गाई=मानो उसने सब धर्म-कर्म कर लिये, जिसने प्रेमसे परमात्माका गुण-गान किया । निमख=निमिष, पल । सवारै=सुधार लेता है ।

दीन दइयाल सदा दुख-भंजन ता सिउ रुचि न बढाई।
नानक कहत जगत सभ मिथिआ ज्यों सुपना रैनाई[1]॥

साधो, इहु तनु मिथिआ जानो।
इआ भीतर जो राम बसतु है, साचो ताहि पछानो॥
इहु जग है संपति सुपने की, देखि कहा ऐंड़ानो।
संगि तिहारै कछू न चालै, ताहि कहा लपटानो॥
असतुति निंदा दोऊ परिहर हरि-कीरति उर आनो।
जन नानक सभ ही में पूरन एक पुरख भगवानो[2]॥

हरि को नामु सदा सुखदाई।
जाको सिमरि अजामिल उधरिओ गनका हू गति पाई॥
पंचाली को राजसभा में रामनाम सुधि आई।
ताको दुखु हरिओ करुनामय अपनी पैज बढाई॥
जिह नर जसु गाइओ किरपानिधि ताको भइओ सहाई।
कहु नानक मैं इही भरोसै गही आन सरनाई[3]॥

माई मैं धनु पाइओ हरि नामु।
मनु मेरो धावनते छूटिओ, करि बैठो बिसरामु॥
माइआ ममता तनते भागी, उपजिउ निरमल गिआनु।
लोभ मोह एह परसि न साकै, गही भगति भगवान॥
जनम जनम का संसा चूका, रतनु नामु जब पाइआ।
त्रिसना सकल बिनासी मन ते, निजसुख माहि समाइआ॥
जाकउ होत दइआलु किरपानिधि, सो गोबिंद गुन गावै।
कहु नानक इह बिधि की संपै, कोऊ गुरमुखि पावै॥

हरि जू राखि लेहु पति मेरी।
जम को त्रास भइउ उर अंतरि, सरन गही किरिपानिधि तेरी॥
महा पतित मुगध लोभी फुनि, करत पाप अब हारा।
भै मरबे को बिसरत नाहिन, तिह चिंता तनु जारा॥
किये उपाव मुकति के कारनि, दहदिसि कउ उठि धाइआ।
घट ही भीतरि बसै निरंजनु, ताको मरमु न पाइआ॥
नाहिन गुनु नाहिन कछु जपु, तपु, कउनु करनु अब कीजे।
नानक हारि परिओ सरनागति, अभै दानु प्रभ दीजै॥

(प्रेषिका—श्रीपी० के० जगदीशकुमारी)

दोहा

गुन गोबिंद गाइओ नहीं, जनमु अकारथ कीन।
कहु नानक हरि भजु मना, जिहि बिधि जल कौ मीन॥
बिखिअन सिउ काहे रचिओ, निमिख न होहि उदास।
कहु नानक भजु हरि मना, परै न जम की फास॥
तरनापो इउँही गइओ लिइओ जरा तनु जीति।
कहु नानक भजु हरि मना अउधि जाति है बीति॥
बिरध भइओ सूझै नहीं काल पहूँचिओ आन।
कहु नानक नर बावरे किउ न भजै भगवान॥
धन दारा संपति सकल जिनि अपनी करि मानि।
इन मैं कुछ संगी नही नानक साची जानि॥
पतित उधारन भै हरन हरि अनाथ के नाथ।
कहु नानक तिह जानिहो सदा बसतु तुम साथ॥
तनु धनु जिह तोकउ दिओ तासिउ नेहु न कीन।
कहु नानक नर बावरे अब किउ डोलत दीन॥
तनु धनु संपै सुख दिओ अरु जिह नीके धाम।
कह नानक सुनु रे मना सिमरत काहे न राम॥
सभ सुख दाता रामु है दूसर नाहिन कोइ।
कहु नानक सुनि रे मना तिह सिमरत गत होइ॥
जिह सिमरत गत पाइये तिहि भजु रे तैं मीत।
कह नानक सुन रे मना अउधि घटति है नीत॥
पाँच तत्त कौ तनु रचिउ जानहु चतुर सुजान।
जिह ते उपजिउ नानका लीन ताहि मैं मान॥
घटि घटि मैं हरि जू बसै संतन कह्यो पुकारि।
कह नानक तिह भजु मना भउ निधि उतरहि पारि॥
सुख दुख जिह परसै नहीं लोभ मोह अभिमान।
कहु नानक सुन रे मना सो मूरत भगवान॥
उसतति निंदिआ नाहि जिह कंचन लोह समानि।
कह नानक सुन रे मना मुकत ताहि तैं जानि॥
हरख (क्रोध) शोक जा के नहीं बैरी मीत समान।
कहु नानक सुन रे मना! मुक्ति ताहि तैं जान॥
भय काहू कउ देत नहि नहि भय मानत आनि।
कह नानक सुन रे मना! गिआनी ताहि बखानि॥
जिहि बिखिआ सगरी तजी लिओ भेख बैराग।
कह नानक सुन रे मना! तिह नर माथै भाग॥
जिहि माया ममता तजी सब ते भयो उदास।
कह नानक सुनु रे मना! तिह घटि ब्रह्म-निवास॥

---

१. कौ=कोई भी। जो मानिओ अरनाई=जिसे अपनी मान बैठा था। रुचि=प्रीति। रैनाई=रात्का।

२. इआ=या, इस। पछानो=पहचानो। ऐंड़ानो=गर्व किया। एक पुरख=केवल अकाल पुरुष।

३. उधरिओ=उद्धार पा गया, मुक्त हो गया। गति=मोक्ष। पंचाली=द्रौपदी। पैज=प्रण, टेक। आन=आदर।

अजामेलु पापी जगु जाने निमख माहि निसतारा ।
नानक कहत चेत चिंतामनि ते भी उतरहि पारा[1] ॥

प्रीतम जानि लेहु मन माही ।
अपने सुख सिउ ही जगु फाँधिओ को काहू को नाही ॥
सुख मे आनि बहुतु मिलि बैठत रहत चहू दिसि घेरै ।
बिपति परी सभ ही संगु छाडत कोउ न आवत नेरै ॥
घर की नारि बहुतु हितु जा सिउ सदा रहत संग लागी ।
जब ही हंस तजी इह काइआ प्रेत प्रेत करि भागी ॥
इह बिधि को बिउहारु बनिओ है जा सिउ नेहु लगाइओ ।
अंति बार नानक बिनु हरि जी कोऊ काम न आइओ[2] ॥

हरि के नाम बिना दुख पावै ।
भगति बिना सहसा नहि चूकै गुर इह भेद बतावै ॥
कहा भइउ तीरथ ब्रत कीए, राम सरनि नहि आवै ।
जोग जग्य निहफल तिह मानो जो प्रभु-जसु बिसरावै ॥
मान मोह दोनो को परहरि, गोबिंद के गुन गावै ।
कहु नानक इह बिधि को प्रानी जीवनमुकत कहावै[3] ॥

मन रे, साचा गहो बिचारा ।
राम नाम बिनु मिथिआ मानो सगरो इह संसारा ॥
जाको जोगी खोजत हारे, पाइओ नहिं तिहि पारा ।
सो स्वामी तुम निकटि पछानो, रूप-रेख ते निआरा ॥
पावन नाम जगत मे हरि को, कबहू नाहि सभारा ।
नानक सरनि परिओ जगबंदन, राखहु बिरद तुम्हारा[4] ॥

साधो रचना राम बनाई ।
इकि बिनसै इक असथिरु मानै, अचरज लखिओ न जाई ॥
काम क्रोध मोह बसि प्रानी हरि मूरति बिसराई ।
झूठा तन साचा करि मानिओ जिउ सुपना रैनाई ॥
जो दीसै सो सगल बिनासै, जिउ बादर की छाई ।
जन नानक जग जानिओ मिथिआ, रहिओ राम सरनाई[1] ॥

प्रानी कउ हरिजसु मनि नहि आवै ।
अहनिसि मगनु रहै माइआ मैं कहु कैसे गुन गावै ॥
पूत मीत माइआ ममता सिउ इह बिधि आपु बँधावै ।
मृगतृसना जिउ झूठो इह जगु देखि ताहि उठि धावै ॥
भुगति मुकति को कारनु स्वामी, मूढ़ ताहि बिसरावै ।
जन नानक कोटिन मैं कोऊ भजनु राम को पावै[2] ॥

जगत में झूठी देखी प्रीत ।
अपने ही सुख सिउ सब लागे, किआ दारा किआ मीत ॥
मेरो मेरो सभै कहत हैं हित सिउ बाँधिओ चीत ।
अन्तकाल संगी नहि कोऊ, इह अचरज है रीत ॥
मन मूरख अजहूँ नहि समझत, सिख दै हारिओ नीत ।
नानक भउजल-पारि परै, जो गावै प्रभु के गीत[3] ॥

साधो, कउन जुगति अब कीजै ।
जाते दुरमति सकल बिनासै, रामभगति मनु भीजै ॥
मनु माइआ में उरझि रहिओ है, बूझै नहिं कछु गिआना ।
कउन नामु जग जाके सिमरै पावै पदु निरबाना ॥
भए दइआल कृपाल संतजन तब इह बात बताई ।
सरब धरम मानो तिह कीये जिह प्रभ-कीरति गाई ॥
रामनाम नर निसिबासुर में निमख एक उर धारै ।
जम को त्रासु मिटै नानक तिह, अपुनो जनम सवारै[4] ॥

हरि बिनु तेरो को न सहाई ।
काकी मात-पिता सुत बनिता, को काहू को भाई ॥
धनु धरनी अरु संपति सगरी जो मानिओ अपनाई ।
तन छूटै कछु संग न चालै, कहा ताहि लपटाई ॥

१. गनका=एक वेश्या, जिसका नाम पिङ्गला था । धुअ=ध्रुव । इह बिधि को=ऐसा (पतितपावन) । कहा लउ=कहाँतक । तूटा=कट गया । निसतारा=मुक्त कर दिया ।

२. फाँधिओ=फंदेमें पड़ा है । को काहू को=कोई भी किसीका । नेरै=नजदीक । जा सिउ=जिसके साथ । हंस=जीव । काइआ=काया, देह ।

३. सहसा नहि चूकै=संशय (द्वैतभाव) का अन्त नहीं होता । को=कोई बिरला ।

४. गहो=ग्रहण करो । बिचारा=सद्विवेक, आत्मज्ञान । पछानो=पहचानो । सभारा=स्मरण या ध्यान किया । बिरद=बाना, बड़ा नाम ।

१. असथिरु=स्थिर, नित्य । रैनाई=रातका । दीसै=दीखता है । सगल=सकल । छाई=छाँह ।

२. मनि नहि आवै=हृदयमें जमता नहीं । भुगति=भोग, सांसारिक सुख ।

३. किआ=क्या । दारा=स्त्री । हित ⋯ ⋯ चीत=मनको प्रेममें फँसा लिया । नीत=नीतिकी, हितकारी; नित्य । गीत=गुणगान ।

४. भीजै=भीगे, विभोर हो जाये । निरबाना=मोक्ष । सरब ⋯ गाई=मानो उसने सब धर्म-कर्म कर लिये, जिसने प्रेमसे परमात्माका गुण-गान किया । निमख=निमिष, पल । सवारै=सुधार लेता है ।

गुरु गोविन्दसिंह

(पूर्वनाम—गोविन्दराय, जन्म—वि० सं० १७२३ पौष शुक्ला ७, जन्म-स्थान—पटना। पिताका नाम—गुरु तेगबहादुर, माताका नाम—गूजरी। स्वर्गारोहण—कार्तिक शुक्ला ५, वि० सं० १७६५)

धन्य जियो तिहको जग में मुख तें
हरि चित्त में जुद्ध बिचारै।
देह अनित्य न नित्य रहै जसु
नाव चढ़े भवसागर तारै॥
धीरज धाम बनाइ इहै तन बुद्धि
सु दीपक ज्यों उजियारै।
ज्ञानहि की बढ़नी मनो हाथ
लै कातरता कुतवार बुहारै॥

का भयो जो सबही जग जीत सु लोगन को बहु त्रास दिखायो।
और कहा जु पै देस बिदेसन माहिं भले गज गाहि बँधायो॥
जो मन जीतत है सब देस वहै तुमरे नृप हाथ न आयो।
लाज गई कछु काज सर्यो नहिं लोक गयो परलोक गमायो॥

माते मतंग जरे जर संग अनूप उतंग सुरंग सँवारे।
कोटि तुरंग कुरंगहु सोहत पौन के गौन को जात निवारे॥
भारी भुजान के भूप भली बिधि नावत सीस न जात बिचारे।
एते भए तो कहा भए भूपति अंत को नाँगेहि पाँय सिधारे॥

प्रानी! परमपुरुष पग लागो।
सोवत कहा मोह-निद्रा में, कबहुँ सुचित ह्वै जागो॥
औरन कहा उपदेसत है पसु, तोहि प्रबोधन लागो।
संचत कहा परे बिखियन कहँ, कबहुँ बिषय रस त्यागो॥
केवल करम भरम से चीन्हहु, धरम करम अनुरागो।
संग्रह करो सदा सिमरन को, परम पाप तजि भागो॥
जातें दुःख पाप नहिं भेटै, काल जाल ते त्यागो।
जो सुख चाहो सदा सबन को, तो हरि के रस पागो॥

रे मन! ऐसो करि संन्यास।
बन से सदन सबै करि समझहु, मन ही माहिं उदास॥
जत की जटा जोग को मज्जनु, नेम के नखन बढ़ाओ।
ग्यान-गुरु, आतम उपदेसहु, नाम-बिभूति लगाओ॥
अल्प अहार सुल्प सी निद्रा, दया छिमा तन प्रीत।
सील सँतोख सदा निरबाहिवो, ह्वैबो त्रिगुन अतीत॥
काम क्रोध हंकार लोभ हठ, मोह न मन सौं ल्यावै।
तब ही आतम-तत्त को दरसै, परम पुरुष कहँ पावै॥

रासलीलाके पद

जब आई है कातक की रुत सीतल,
कान्ह तबै अतिही रसिया।
सँग गोपिन खेल बिचार करयो,
जो हुतो भगवान महा जसिया॥
अउबिखन लोगन के जिह के पग
लागत पाप सबै नसिया।
तिह को सुनि तिरियन के सँग खेल,
निवारहु काम इहै बसिया॥

मुख आदि निसापति की सम है,
बन में तिन गीत रिझयो अरु गायो।
ता सुर को धुनि स्रउनन मैं
ब्रजहू की त्रिया सब ही सुनि पायो॥
धाइ चलीं हरि के मिलिबे कहुँ
तउ सब के मन मैं जब भायो।
कान्ह मनों मृगनी युवती
छलिबे कहु घंटक हेर बनायो॥

गइ आइ दसो दिसि ते गुपिया
सबही रस कान्ह के साथ पगी।
पिख कै मुख कान्ह को चंदकला
सु चकोरन-सी मन में उमगी॥
हरि को पुनि सुद्ध सुआनन पेखि
किधौं तिन को ठग डीठ लगी।
भगवान प्रसन्न भयो पिख कै
कवि 'स्याम' मनो मृग देख मृगी॥

रूखन ते रस चूवन लाग
झरैं झरना गिरि ते सुखदाई।
घास चुगैं न मृगा बन के
खग रीझ रहे धुनि, जो सुनि पाई॥
देवगँधार बिलावल सारँग
की रिझ कै जिह तान बसाई।
देव सबै मिलि देखत कौतुक
जो मुरली नँदलाल बजाई॥

ठाढ़ रही जमुना सुनि कै
धुनि राग भले सुनिबे को चहे है।
मोह रहे बन के गज औ
इकठे मिलि आवत सिंह सहे है॥
आवत हैं सुर-मण्डल के सुर
त्याग सबै सुर ध्यान कहे है।
सो सुनि कै बन के खगवा
तरु ऊपर पंख पसार रहे है॥

मोहका महल ढहेगा ही

महल-खंडहर

एक सच्ची घटना है—नाम और स्थान नहीं बतलाना है, उसकी आवश्यकता भी नहीं है। एक विद्वान् संन्यासी मण्डलेश्वर थे। उनकी बड़ी अभिलाषा थी गङ्गाकिनारे आश्रम बनवानेकी। बड़े परिश्रमसे, कई वर्षकी चिन्ता और चेष्टाके परिणामस्वरूप द्रव्य एकत्र हुआ। भूमि ली गयी, भवन बनने लगा। विशाल भव्य भवन बना आश्रमका और उसके गृह-प्रवेशका भंडारा भी बड़े उत्साहसे हुआ, सैकड़ों साधुओंने भोजन किया। भंडारेकी जूठी पत्तलें फेंकी नहीं जा सकी थीं, जिस चूल्हेपर उस दिन भोजन बना था, उसकी अग्नि बुझी नहीं थी, गृह-प्रवेशके दूसरे दिन प्रभातका सूर्य स्वामीजीने नहीं देखा। उसी रात्रि उनका परलोकवास हो गया।

यह कोई एक घटना हो, ऐसी तो कोई बात नहीं है। ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं। हम इसे देखकर भी न देखें······।

> कौड़ी कौड़ी महल बनाया, लोग कहे घर मेरा।
> ना घर मेरा ना घर तेरा, चिड़िया रैन बसेरा॥

यह संतवाणी कितनी सत्य है, यह कहना नहीं होगा। जिसे हम अपना भवन कहते हैं, क्या वह हमारा ही भवन है ? जितनी आसक्ति, जितनी ममतासे हम उसे अपना भवन मानते हैं, उतनी ही आसक्ति, उतनी ही ममता उसमें कितनोंकी है, हम जानते हैं ? लाखों चींटियाँ, गणनासे बाहर मक्खियाँ, मच्छर और दूसरे छोटे कीड़े, सहस्रों चूहे, सैकड़ों मकड़ियाँ, दर्जनों छिपकलियाँ, कुछ पक्षी और पतंग, ऐसे भी दूसरे प्राणी जिन्हें हम जानतेतक नहीं—लेकिन मकान उनका नहीं है, यही कैसे ? उनका ममत्व भी तो उसी कोटिका है, जिस कोटिका हमारा।

मकान—महल—दोनोंकी गति एक ही है। बड़ी लालसासे, बड़े परिश्रमसे उसका निर्माण हुआ। उसकी साज-सज्जा, उसका वैभव—लेकिन एक-भूकम्पका हलका धक्का········। आज तो किसी देशमें कभी भी मनुष्यकी पैशाचिकता ही भूकम्पसे भी अधिक प्रलय कर सकती है। महानाशके जो मेघ विश्वके भाग्याकाशपर घिरते जा रहे हैं—कहाँ कब वायुयानोंसे दारुण अग्नि-वर्षा प्रारम्भ होगी, कोई नहीं जानता। परमाणु या उससे भी ध्वंसक किसी अस्त्रका एक आघात—क्या रूप होगा इन भवनों और महलोंका ?

कुछ न हो—काल अपना कार्य बंद नहीं कर देगा। जो बना है, नष्ट होकर रहेगा। महलका परिणाम है खंडहर—वह खंडहर, जिसे देखकर मनुष्य ही डर जाता है। रात्रि तो दूर, जहाँ दिनमें जाते समय भी सावधानीकी आवश्यकता पड़ती है। मनुष्यका मोह उससे महल बनवाता है और महल खंडहर बनेगा, यह निश्चित है।

केवल महल ही खंडहर नहीं होता। जीवनमें हम जो मोहका विस्तार करते हैं—धन, जन, मान, अधिकार, भूमि—मोहका महल ही है यह सब और मोहका महल ढहेगा ही। उसका वास्तविक रूप ही है—खंडहर।

मोहका महल ढहेगा ही
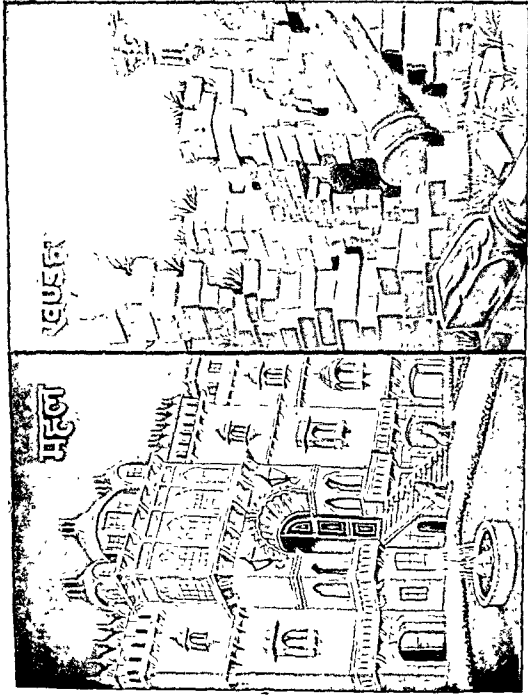
उदासीनाचार्य श्रीश्रीचन्द्रजी

उदासीन-सम्प्रदायके प्रवर्तक

[जन्म—वि० सं० १५५१ भाद्रपद शु० ९ । जन्म-स्थान—तल्वंडी (लाहौरसे ६० मील पश्चिम) । पिताका नाम—श्रीनानकदेवजी । माताका नाम—श्रीसुलक्षणादेवी । गुरुका नाम—अविनाशीरामजी । अन्तर्धान—चम्बाकी पार्वत्य गुफाओंमें ।]

(प्रेषक—पं० श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

प्रश्न—हे जीव ! तुम किसकी आशासे, किसके समझानेपर इस संसारमें आये ?

उत्तर—सद्गुरु अविनाशी मुनिद्वारा दीक्षित होकर पूर्वजन्मके लेखके अनुसार श्रौतप्रव्रज्या लेकर लोक-कल्याणके लिये मैं आया हूँ; अतः अब तुमलोग सावधान अर्थात् आत्मज्ञ होकर अलख पुरुष सच्चिदानन्द परमेश्वरका स्मरण करो और अपने ग्राम और नगरी अर्थात् समाजका उद्धार कर डालो । ज्ञान ही गुदड़ी है, क्षमा ही टोपी है, यत या संयम ही आड़बंद अर्थात् कमरबंद है । शील ही कौपीन है, अपनेको कर्मके बन्धनसे मुक्त समझना ही कन्था है, इच्छारहित होनेकी भावना ही झोली है, युक्ति ही टोरी है, गुरुके मुखसे सुना हुआ उपदेश ही चोली है, धर्म ही चोला है, सत्य ही सेली (उपवीत) है, मर्यादापालन ही गलेमें पड़ी हुई कफनी है, ध्यान ही बटुवा है, निरत ही सीना है, ब्रह्म ही अचला है जिसे सुजान या चतुरलोग पहनते हैं । निर्लेप-वृत्ति ही मोरछल है, द्वेष-हीन निर्भयता ही जंगडोरा है, जाप ही जाँघिया है, गुण ही उड़ुयिनी (उड़नेकी विद्या) है, अनहद नाद या अनाहत वाणी ही सिंगीका शब्द है, लज्जा ही कानकी मुद्रा 'कुंडल' है, शिव ही विभूति है, हरिभक्ति ही वह मृगछाला है, जिसे गुरुपुत्र पहनते हैं । संतोष ही सूत है, विवेक ही धागे हैं, जिनसे वे बहुत-सी थेकलियाँ उस कन्थामें सिली हुई हैं, जिन्हें सुरति या वात्सल्य-प्रीतिकी सूई लेकर सद्गुरु सीता है । इसे जो अपने पास रखता है, वह निर्भय होता है । इस श्याम, श्वेत, पीत और रक्तवर्णके वस्त्रखण्डोंसे बनी हुई कन्थाको जो पहनता है, वही हमारा गुरुभाई है । तीन गुण अर्थात् सत्त्व, रज, तमकी चकमकसे अग्नि-मन्थन करके दुःख-सुखके कुण्डमें हमने अपनी देह जलायी है, शोभासे युक्त संयमरूपी महादेवजीके चरणकमलोंमें हमारी अत्यन्त प्रीति लगी हुई है । हमने भावका भोजन ही अमृत बनाकर प्राप्त किया है, इसलिये हमारे मनमें भले-बुरेकी भावना ही नहीं रह गयी है । पात्र-अपात्रका विचार ही हमारा बहुगुण-संयुक्त फरुहा, कमण्डलु, तुम्बी और किश्ती है । जो साधु उस परम अमृतके पेयको मन लगाकर पीता है, वही शान्ति पाता है । वह परम शक्ति इडा और पिङ्गलामें दौड़ती रहती है और फिर सुषुम्णामें स्वाभाविक रूपसे निवास करने लगती है । हमारा काम है कि हम सम्पूर्ण इच्छाएँ छोड़कर उस निराश (इच्छाहीन) मठमें निरन्तर ध्यान लगाये रहें और उस निर्भय नगरीमें गुरुज्ञानका दीपक जलायें, जहाँ स्थिरता ही हमारी ऋद्धि हो, अमरत्व ही हमारा दण्ड हो, धैर्य ही हमारी कुदाली हो, तप ही लड्डू हो, वशीकार या इन्द्रियोंको वशमें करना ही आसा अर्थात् टेका हो । समदृष्टि ही चौगान हो, जिससे कि किसी प्रकार मनमें हर्ष या शोक न आये । सहज वैरागीको इसी प्रकार मायाकी सम्पूर्ण मोहिनी त्यागकर वैराग्य साधना चाहिये । ऐसा करनेवालेके लिये भगवान्‌का नाम ही पक्खर या कवल है । पवन या प्राणायाम ही उसका वह घोड़ा है, जिसके लिये कर्मोंसे विरक्ति ही जीन है, तत्त्व ही उसका जोड़ा या वेश है, निर्गुण ही ढाल है, गुरुका शब्द ही धनुष है, बुद्धि ही कवच है, प्रीति ही बाण है, ज्ञान ही कर्द है, गुण ही कटारी है । इस प्रकार संयमके शस्त्रोंसे सुसज्जित साधक अपने मनको मारकर जब सवारी करने लगता है, तब वह मायाके विषम गढ़को तोड़कर निर्भयतापूर्वक अपने घर अर्थात् ब्रह्ममें लौट आता है । यहाँ पहुँचनेपर अनेक प्रकारके वाद्यों और शङ्खोंसे उसका स्वागत किया जाता है ।

स्वतः अखण्ड आनन्दरूप ब्रह्म ही साधकका यज्ञोपवीत है, मानसिक निर्मलता ही उसकी धोती है, 'सोऽहम्' जप ही सच्ची माला है, गुरुमन्त्र ही शिखा है, हरिनाम ही गायत्री है, जिसे वह स्थिर आसनपर बैठकर शान्तिके साथ जपता है । पूर्ण ब्रह्मका ध्यान ही उसका तिलक है, दया ही दर्शन है, प्रेम ही पूजा है । ब्रह्मानन्द ही भोग है, निर्वैरता ही संध्या है और ब्रह्मका साक्षात्कार ही हारा है । इतना होनेपर वह

अपने मनके सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प स्वयं नष्ट कर डालता है। इस प्रकारकी प्रीति ही पीताम्बर है, मन ही मृगछाला है, चित्तमें उस चिदम्बर परमेश्वरका स्मरण ही रुद्राक्ष माला है। ऐसे व्यक्तिकी जो बुद्धि पहले रोएँवाले बाघंबर, कुल्ह या ऊँची टोपी, खौस अर्थात् जूते और खड़ाऊँओंमें ही लीन रहती थी, वह सब प्रकारके चूड़े और शृङ्खला आदि बन्धन तोड़कर उदासीन साधुका बाना ग्रहण कर लेता है और केवल जटाजूटका मुकुट बाँधकर ऐसा मुक्त हो जाता है कि फिर उसे कोई बन्धन नहीं होता। नानकके पुत्र श्रीचन्द्रने यही मार्ग बताया है, जिसका रहस्य जान लेनेपर ही तत्त्व मिल सकता है। इस मात्राको जो धारण कर लेता है, वह आवागमनके सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।

स्वामी श्रीसंतदासजी

[जन्म—वि० सं० १६९९ फाल्गुन कृष्ण ९ गुरुवार, देहत्याग—वि० सं० १८०६ फाल्गुन कृष्ण ७ शनिवार]

(प्रेषक—भण्डारी श्रीवंशीदासजी साधु वैष्णव)

राम-नाम में ध्यान धर, जो साँसा मिल जाय।
तो चौरासी त्रिच संतदास, देह न धारे काय॥
राम शब्द विच परम सुख, जो मनवा मिलि जाय।
चौरासी आवै नहीं, दुख का धका न खाय॥
जिन्हों पाया संतदास, राम-भजन का सुक्ख।
तिन्हों सबे ही मिट गया, चौरासी का दुक्ख॥
बंदा को दीसे नहीं, गंदा सब संसार।
गंदा से बंदा होत है, कोइ गहे नाँव ततसार॥

राम भजन की औषधी, जो अठ पहरी खाय।
संतदास रच पच रहे, तो चौरासी मिट जाय॥
राम रतन धन संतदास, चौड़े धरचा निराट।
छाने ओलै मेलिये, कुछ झूठ-कपट की खाट॥
राम रतन धन संतदास, ध्यान जतन कर राख।
इस धन की महिमा करत, सब संतन की साख॥
तीन लोक कूँ पूँठ दे, सोहि कहेगा राम।
वही लहेगा संतदास, परम धाम बिसराम॥

रामस्नेही-सम्प्रदायके स्वामी श्रीरामचरणजी महाराज

[जन्म—सं० १७७६, ढूँढाड़ प्रान्तके सोडा नामक ग्राममें। पिताका नाम—श्रीबखतरामजी, जन्मनाम—श्रीरामकृष्ण। देहत्याग—सं० १८५५]

(प्रेषक—संत रामकिशोरजी)

नमो राम रमतीत सकल व्यापक घणनामी।
सब पोषै प्रतिपाल सबन का सेवक स्वामी॥
करुणामय करतार कर्म सब दूर निवारै।
भक्त बिछलता बिड़द भक्त तत्काल उधारै॥
रामचरण बंदन करै सब ईशन के ईश।
जग पालक तुम जगत गुरु जग जीवन जगदीश॥

आनँदघन सुख रासि चिदानँद कहिये स्वामी।
निरालंब निर्लेप अकल हरि अन्तर्यामी॥
वार पार मध्य नाहिं कौन विधि करिये सेवा।
नहि नियकार आकार अजन्मा अविगत देवा॥

रामचरण बंदन करै अलह अखंडित नूर।
मुलम थूल खाली नहीं रह्या सकल भरपूर॥

नमो नमो परब्रह्म नमो नहकेवल राया।
नमो अभंग असंग नहीं कहुँ गया न आया॥
नमो अलेप अछेप नहीं कोइ कर्म न काया।
नमो अमाप अथाप नहीं कोइ पार न पाया॥
शिव सनकादिक शेष लौं रटत न पावैं अंत।
रामचरण बंदन करै नमो निरंजन कंत॥

कुण्डलिया

शोक निवारण दुख हरण विपति विहंडनहार।
अनादि अकल अलिप्त अगम निगम न पावै पार॥
निगम न पावै पार पूर सर्वंग घणनामी।
मुशकिल में आसान करै करुणानिधि स्वामी॥

रामचरण भज राम कूँ सो समर्थ यह दातार ।
शोक निवारण दुख हरण विपति विहंडनहार ॥

समर्थ राम कृपालु हो दाता बड़े दयाल ।
किरपा लघु दीरघ करो निर्धन करण निहाल ॥
निर्धन करण निहाल हरो विपदा दे समता ।
निबल सबल कर ल्योह मूक मूढ करिहो वकता ॥

रामचरण कह रामजी ! वेद तुमारी चाल ।
समर्थ राम कृपालु हो दाता बड़े दयाल ॥

साखी

कहवो सुणवो देखवो चित की चितवन जाण ।
राम चरण इनके परे अकह ब्रह्म पीछाण ॥
राम राम रसना रटो, पालो शील सँतोष ।
दया भाव क्षमा गहो, रहो सकल निर्दोष ॥

कुण्डलिया

समर्थ राम दयाल हरण दुख सुख को दाता ।
कर्म जोग दुख आय मेट हरि करिहैं शाता ॥
चाहूँ सब आसान करे ऊ आरण माहो ।
हाथ किसी के नाहिं वेद बायक यूँ गायो ॥
तातें रहिये समर्थां रामचरण विश्वास ।
राम सबल छिन एक में देवे सुक्ख विलास ॥

पद

निशिवासर हरि आगे नाचूँ ।
चरण कमल की सेवा जाचूँ ॥ टेक ॥
स्वर्गलोक का सुख नहिं चाऊँ ।
जन्म पाय हरिदास कहाऊ ॥
चार पदारथ मनों विसारूँ ।
भक्ति विनाँ दूजो नहिं धारूँ ॥
ऋद्धि सिद्धि लक्ष्मी काम न मेरे ।
सेऊँ चरण शरण रहूँ तेरे ॥
शिव सनकादिक नारद गावै ।
सो साहिब मेरे मन भावै ॥

सवैया

बीनति राम निरंजन नाथ सें हाथ गहो हम तोर ऋणी है ।
और नहीं तिहुँ लोक में दीसत श्याम सदा सुखदाम धणी है ॥
तेरे तो प्रभुजी ! बड़े-बड़े दास हैं मो-से गरीब की कौन गिणी है ।
रामजी बिड़द विचार हो रावरो मो-से कछू नहीं भक्ति बणी है ॥

पद

रूठा राम रिझाय मनाऊँ, निशि बासर गुण गाऊँ हो ।
नटवा ज्यूँ नाटक कर मोहूँ, सिंधू राग सुणाऊँ हो ॥
॥ टेक ॥
शील संतोष दया आभूषण, क्षमा भार बढ़ाऊँ हो ।
सुरति निरति साँई में राखूँ, आन दिशा नहिं जाऊँ हो ॥
गर्व-गुमान पाँव सें पेलूँ, आशो मान उड़ाऊँ हो ।
साहिब की सलिपन सूँ कबहू, राग द्वेष नहिं ल्याऊँ हो ॥
पाँचूँ पकड़ पचीसूँ घूमूँ, त्रिगुण कूँ बिसराऊँ हो ।
चौथो दाव पेच कर लेहूँ, मौक्ष मुक्ति की पाऊँ हो ॥
इस विधि करके राम रिझाऊँ, प्रेम प्रीति उपजाऊँ हो ।
अनंत जन्म को अन्तर भागो, रामचरण हरि भाऊँ हो ॥

संत श्रीरामजनजी वीतराग

[जन्म—वि० सं० १८०८ के लगभग [illegible] सम्प्रदायवालोंके शिष्य]

(प्रेषक— रामस्नेही-सम्प्रदायका [illegible])

संत सदा[illegible] राम [illegible] काम [illegible] दास [illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

परम प्रेम को परम [illegible] के [illegible] करै निज [illegible] ।
राम ही जन है संत सदा [illegible] ॥
संतो देखि दिवाना [illegible] ।
निश दिन [illegible] ॥ टेर ॥
[illegible] राम रस पीवै, [illegible] ।
[illegible] ॥

छके दिवाना पद मस्ताना, दुविध्या दूँद मिटाया ।
आसा रहत एकता बरते, ऐसा परचा पाया ॥
पिवै नेम प्रेम के छाके, बाजे अनहद तूरा ।
अम्बर भरे झरे सुख सागर, झूले यहाँ जन पूरा ॥
अणभै बोल अगम की बातों, राम चरण जी भाखे ।
दास रामजन सरण जिन्हूँ की सदा राम रस चाखे ॥

संतो संत भला है सूता ।
जागि न सोवै जगत दिस कबहूँ, वे सतगुरु का पूता ॥ टेर॥
निज मंदिर मैं निर्भय सोवै, जीतै रिपु अवधूता ।
जड़े कपाट दोऊ सम दम के, ग्यान दीप दिल जूता ॥
दीनी सील सरी जग संगी, काम हराम दुस दूता ।
ध्यान समाधि अखंड लगाई, पाई मुक्ति अकूता ॥
अब तो संत साँइ सूँ राता, मिथ्या काल का नूता ।
रामजन जन राम समाना, भाजि गया भ्रम भूता ॥

संत श्रीदेवादासजी

[जन्म—वि० सं० १८११ के लगभग—जयपुर राज्यमें । स्वामी रामचरणजी महाराजके शिष्य]

(प्रेषक—श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायका मुख्य गुरुद्वारा, शाहपुरा)

रसना सुमिरे राम कूँ तो कर्म होइ सब नास ।
देवादास ऐसी करै, सो पावै सुक्ख विलास ॥
ररा ममा को ध्यान धरि यही उच्चारै ग्यान ।
दुविध्या तिमिर सहजैं मिटै उदय भक्ति को भान ॥
जल तिरबे को नूँ बड़ा भी तिरबे कूँ राम ।
देवादास सब संत कह सुमरो आठूँ जाम ॥
तिरे, तिरावे, फिर तिरे, तिरताँ लगे न वार ।
देवादास रटि राम कूँ बहुत उतन्या पार ॥
देवादास कह सुरत सों वे मूरख बड़ा अग्यान ।
पगथ्या पाड़या हाथ सूँ करै महल को ध्यान ॥
देवा रसना गहलैं चालि के हृदय सुरति नाम ।
राह बतावै और कूँ आगे किया मुकाम ॥
देवा उलटी बात की संत जाणत हैं रीत ।
जागत सुमिरै राम कूँ सूता अधिकी प्रीत ॥
करणी सूँ कृपा करै कृपा करणी माँय ।
देवादास कृपा विना करणी होती नाँय ॥
देवादास कृपाल की कृपा सब पर जोहि ।
करणी कर करुणा करै ता पर राजी होहि ॥

नर देही की आस देवता करत है ।
मूरख मूढ अग्यान भूल में फिरत है ॥
समझे नाहीं सार बूड़िया धार रे ।
देवा सुमिरो राम और तज बार रे ॥

खासा मलमल जोय पहरते मीरजी ।
छप्पन भोजन आदि पावते खीर जी ॥
अमराव अनेक साथ कूँ होत है वीर जी ।
देवादास बिन राम सहै दुख भीर जी ॥

बाँके बाँके कोट चुणाते मीर जी ।
महल कवाण्याँ माहिं बैठते भीर जी ॥
हुरमा सेती केलि करत नहिं थाकते ।
देवादास बिन राम भये ते खाकते ॥

चार खूँट के मायँ चक्रवति एकही ।
वा सम दूजो नाहिं पृथ्वी में देखही ॥
वे भी गये बिलाय कहूँ मैं तोय जू ।
देवादास वा सम नहीं अब कोय जू ॥

पहले धन कूँ बिलस पीछे गयो बीत रे ।
दुख को वार न पार रखी यह रीत रे ॥
धनवंता धन मार चढै तन भीत रे ।
देवा भक्ति बिना वह धारै नहीं प्रतीत रे ॥

मनखा देही पाय कियो नहिं चेत रे ।
राम भजन कूँ भूल माया कूँ लेत रे ॥
चौरासी में जाय पड़े मुख रेत रे ।
देवा दुनि मानै नाहि दुःख सूँ हेत रे ॥

हाथ पाँव मुख नैन श्रवण सब सीस रे ।
मनखा देही पाय तज्यो जगदीस रे ॥
बोले विस का बैन धर्म पर रीस रे ।
देवा वै नर खासी मारक बिस्वा बीस रे ॥

जग सूँ होय निहकाम तजो जग नेह जी ।
आस बास सँग छाडि मिथ्या सुख खेह जी ॥

ध्यान भक्ति बैराग गाज सुन लीजिये ।
देवादास दिल सोध राम रस पीजिये ॥
भोग बाट अरु आस बरायाँ काटिये ।
मोह क्रोध मद लोभ हटाया हाटिये ॥
समता शील संतोष सुबुद्धि कूँ साटिये ।
देवादास अठ पहर राम कूँ रटिये ॥

संत श्रीभगवानदासजी

[आविर्भाव—पीसांगण ग्राम (मारवाड़), वैश्य कुल, वि० सं० १८२१, श्रीरामचरणजी महाराजके शिष्य—रामस्नेही-सम्प्रदाय]

(प्रेषक—श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायका मुख्य गुरुद्वारा, शाहपुरा)

रूप बिना शील अरु दीपक बिहूणो महल
तेल बिना दीपक जो अँधेरो सम्मानिये ।
अंकुश बिहूणो गज, द्विज बिना होम होइ
अश्व जो लगाम बद जड़ता जो मानिये ॥
अक्षर जो मात्र हीण, दीनता बिचारे मित्र
रण में मुड़त सब पाणी हीण जानिये ।
ऐसे ही मनख तन भगवान ध्यान बिना
चातुर स्वरूप तन असोभत ठानिये ॥

तेज बिना सूरी अरु सूरी दुख बिना होयँ
लज्जा बिना नारी, नग जोती ही न ठानियें ।
सुधा बिना चंद्र अरु चंद्र बिना रैण ऐसे
फूल जो सुवास बिना निरफल सम्मानियें ॥
धन जो धर्म हीन दीन बान नृप बोले
मानूँ तो कबान चलो तीर बिना तानियें ।
ऐसे ही मनख तन भगवान ध्यान बिना
चातुर स्वरूप तन असोभत ठानियें ॥

जो नर राम नाम लिव लावे ।
ताकूँ कोई भय नहि ब्यापे विघन विले होय जावे ॥
अगल बगल का छाड़ि पसारा मन विश्वास उपावै ।
सर्वंग साँई एकहि जाणे जो निर्भय गुण गावै ॥
राहु केतु अरु प्रेत सनैश्चर मंगल नहीं दुखावे ।
सुरज सोम अरु गुरू बुद्ध ही शुक्र निकट नहिं आवै ॥
भैरूँ बीर विजासन डाकण नाहर सिंह दूर रहावै ।
दिसासूल अरु भद्रा जाणूँ सूँण कुसूँण विलावै ॥
मूठ दीठ अरु मौत अकाली जम भी सीस निवावे ।
सब ले सरणे निर्भय वासा भगवानदास जिन गावै ॥

छाडि के राम नाम लिव लाई ॥ टेर ॥
स्वाद किया भव जल में बूडे ऊँडे जाइ बसाई ।
पाँचोंका फँद माही उलझायो, सो तो सुलझै नाही ॥
देखो मीन मरे रस सेती, गंध से भँवर बिलाही ।
कुंजर तुचा, पतंग नैन सूँ, सारंग शब्द दिलाही ॥
एक एक इन्द्री के सागे पाँचा मृत्यु जु आई ।
तो सो मुक्त कैसी विधि पावै एकै पाँच सधाई ॥
स्वारथ स्वाद मोह तजि भाजो लागो जन-सरणाई ।
भगवानदास भवसागर भारी सब सहजे तिर जाई ॥

श्रीदरिया (दरियाव) महाराज

(रामसनेही धर्माचार्य)

(आविर्भाव—वि० सं० १७३३, भाद्रपद कृष्णा ८ । पिताका नाम—मनसारामजी । माताका नाम—गीगाबाई । गुरुका नाम—श्रीप्रेमदासजी महाराज । स्थान—'जयतारण' नामक ग्राम, मारवाड़ । देहावसान—अगहन शुक्ला १५ वि० सं० १८१५)

सद्गुरु

भंवर थो बहु जन्म को, सतगुर बाँग्यो आय ।
दरिया पति थे रूठणो, अब करि प्रीति बनाय ॥
जन दरिया हरि भक्ति की, गुरु बताई बाट ।
भूला ऊजड़ जाय था, नर्क पड़न के घाट ॥
डूब रहा भव सिंधु में, लोभ मोह की धार ।
दरिया गुरु तेरू मिला, कर दिया परले पार ॥
नहिं था राम रहीम का, मैं मतहीन अजान ।
दरिया सुध बुध ज्ञान दे, सतगुर किया सुजान ॥
दरिया सद्गुरु कृपा करि, सब्द लगाया एक ।

लागत ही चेतन भया, नेतर खुले अनेक ॥
जैसी सद्गुरु तुम करी, मुझ से कछू न होय ।
विष भाँडे विष काढ़ करि, दिया अमी रस मोय ॥
गुरु आये घन गरज कर, अंतर कृपा उपाय ।
तपता से सीतल किया, सोता लिया जगाय ॥
दरिया बान गुरुदेव का, बेधै भरम विकार ।
बाहर धाव दीसै नहीं, भीतर भया सिमार ॥
पड़ै पतंगा अगिन में, देह की नाहिं सँभाल ।
दरिया सिष सद्गुरु मिलै, तो हो जाय निहाल ॥

नाम

तीन लोक को बीज है, 'र'रो 'म'मो दोय अंक ।
दरिया तन मन अरप के, भजिये होय निसंक ॥
दरिया नाम है निरमला, पूरण ब्रह्म अगाध ।
कहे सुनै सुख ना लहै, सुमिरे पावै स्वाद ॥
दरिया सुमिरै राम को, कर्म भर्म सब चूर ।
निस तारा सहजै मिटै, ऊगै निर्मल सूर ॥
राम बिना फीका लगै, सब किरिया सास्तर ग्यान ।
दरिया दीपक कहा करै, उदय भया निज भान ॥
दरिया सूरज ऊगिया, नैन खुला भरपूर ।
जिन अंधे देखा नहीं, उण से साहब दूर ॥
दरिया सुमिरै राम को, दूजी आस निवार ।
एक आस लागा रहै, कदे न आवै हार ॥
नाम झाज बैठे नहीं, आन करै सिर भार ।
दरिया निश्चय पड़ैंगे, चौरासी की धार ॥
दरिया नर तन पाय कर, कीया चाहै काज ।
राव रंक दोनों तरैं, जो बैठे नाम जहाज ॥
जन्म अकारथ नाम बिन, भावै जान अजान ।
जन्म मरण जम काल की, मिटै न खैंचातान ॥
मुसलमान हिंदू कहा, षट दरसन रँक राव ।
जन दरिया निज नाम बिन, सब पर जम का दाव ॥
सुर्ग मिर्त पाताल तक, तीन लोक विस्तार ।
जन दरिया निज नाम बिन, सभी काल को चार ॥
दरिया नर तन पाय कर, किया न राम उचार ।
बोस उतारन आइया, लेय चले सिर भार ॥
जो कोइ साधू गिरह में, माहिं राम भरपूर ।
दरिया कह उस दास की, मैं चरणों की धूर ॥
बाहर बाना भेष का, माहिं राम का राज ।
कह दरिया वे साधवाँ, हैं मेरे सिरताज ॥

दरिया सुमिरै राम को, कोटि कर्म की हान ।
जम औ काल का भय मिटै, ना काहू की कान ॥
दरिया राम सँभालताँ, काया कंचन सार ।
आन धर्म और मर्म सब, डाला सिर से मार ॥
सद्गुरु संग न संचरा, राम नाम उर नाहिं ।
ते घट मरघट सारखा, भूत बसै तिन माहिं ॥
राम नाम ध्याया नहीं, हूआ बहुत अकाज ।
दरिया काया नगर में, पंच भूत का राज ॥
सब जग अंधा राम बिन, सूझै न काज अकाज ।
राव रंक अंधा सबै, अंधों ही का राज ॥
दरिया सब जग आँधरा, सूझै सो बेराम ।
सूझा तबही जानिये, जाको दरसै राम ॥
सकल ग्रन्थ का अर्थ है, सकल बात की बात ।
दरिया सुमिरन राम का, कर लीजै दिन रात ॥
लोह पलट कंचन भया, कर पारस को संग ।
दरिया परसै नाम को, सहजहि पलटै अंग ॥
दरिया धन वे साधवा, रहैं राम लौ लाय ।
राम नाम बिन जीव कूँ, काल निरंतर खाय ॥
राम नाम रसना रटै, भीतर सुमिरै मन ।
दरिया यह गति साधु की, पाया नाम रतन ॥
दरिया दूजे धर्म से, संसय मिटै न सूल ।
राम नाम रटता रहै, सब धर्मोंका मूल ॥
लख चौरासी भुगत कर, मानुष देह पाई ।
राम नाम ध्याया नहीं, तो चौरासी आई ॥
दरिया आतम मल भरा, कैसे निर्मल होय ।
साबुन लावै प्रेम का, राम नाम जल धोय ॥
राम नाम निस दिन रटै, दूजा नाहीं दाय ।
दरिया ऐसे साध की, मैं बलिहारी जाय ॥
दरिया सुमिरन राम का, कीमत लखै न कोय ।
टुक इक घट में संचरै, पाप बहु मन होय ॥
फिरी दुहाई सहर में, चोर गये सब भाग ।
सत्रू फिर मित्रज भया, भया राम का राग ॥
दरिया गैला जगत से, समझ औ मुख से बैन ।
नाम रतन की गाँठड़ी, गाहक बिन मत [illegible] ॥
दरिया दुनिया सब लखी, पढ़ा पढ़ी बेहाल ।
सुखिया जबही होयगा, राज निकट [illegible] ॥
दरिया अमल है आसुरी, पिवै [illegible] [illegible] ।
राम रसायन जो पिवै, सदा छका [illegible] ॥

भगवान्‌की महत्ता

(र)िया साँचा राम है, और सकल ही झूठ ।
(स)न्मुख रहिये राम से, दे सबही को पूठ ॥
(रा)म बिसारै राम को, भ्रष्ट होत है सोय ।
(च)ं दीपक दोनों बिना, अंधकार ही होय ॥
(ना)य बिसारै राम को, बैठा सब ही खोय ।
(दर)िया पड़ै अकास चढ़, राखनहार न कोय ॥
(द)रिया राम अगाध है, आतम को आधार ।
(सु)मिरत ही सुख ऊपजै, सहजहि मिटै बिकार ॥

उद्बोधन

(द)रिया सो सूरा नहीं, जिन देह करी चकचूर ।
(म)न को जीत खड़ा रहै, मैं बलिहारी सूर ॥
(क)पाट खुली जब जानिये, अंतर भया उजास ।
(ज)ो कुछ थी सो ही बनी, पूरी मन की आस ॥
(ब)ातों में ही बह गया, निकस गया दिन रात ।
मुहलत जब पूरी भई, आन पड़ी जम घात ॥
दरिया काया कारवी, मोअर है दिन चार ।
जब लग स्वास सरीर में, अपना राम सँभार ॥

संत-असंत-विवेचन

दरिया बगुला ऊजला, उज्ज्वल ही होय हंस ।
वे सरवर मोती चुगैं, वा के मुख में मंस ॥
बाहर से उज्जल दसा, भीतर मैला अंग ।
ता सेती कौवा भला, तन मन एकहि रंग ॥
मानसरवर मोती चुगै, दूजा नाहीं ध्यान ।
दरिया सुमिरै राम को, सो निज हंसा जान ॥
साध सरोवर राम जल, राग द्वेष कुछ नायँ ।
दरिया पीवै प्रीत कर, सो तिरपत हो जायँ ॥
दरिया लच्छन साध का, क्या गिरही क्या भेख ।
निःकपटी निरसंक रह, बाहर भीतर एक ॥
रहनी करनी साध की, एक राम का ध्यान ।
बाहर मिलता सो मिलै, भीतर आतम ग्यान ॥
दरिया संगत साध की, सहजै पलटै बंस ।
कीट छाँड़ मुक्ता चुगै, होय काग से हंस ॥
साँची संगत साध की, जो कर जानै कोय ।
दरिया देखी जो करै, (जो) कारज करना होय ॥

प्रकीर्ण

दरिया बोलै सकल जग, अनगत नाहीं कोय ।
बोले में फिर बापना, कला कहिये सोय ॥

माया मुख जागै सबै, सो सूता कर जान ।
दरिया जागै ब्रह्म दिस, सो जागा परमान ॥
दरिया तो साँची कहै, झूठ न मानै कोय ।
सब जग सुपना नींद में, जान्या जागन होय ॥
जन दरिया उपदेस दे, जाके भीतर चाय ।
नातर गैला जगत से, बक बक मरै बलाय ॥
जन दरिया उपदेस दे, भीतर प्रेम सधीर ।
गाहक होय कोइ हीरा का, कहा दिखावै हीर ॥
दरिया साँच न संचरै, जब घर घालै झूठ ।
साँच आन परगट हुवै, जब झूठ दिखावै पूठ ॥

आदि अंत मेरा है राम ।
उन बिन और सकल बेकाम ॥
कहा करूँ तेरी अनुभै बानी ।
जिन तें मेरी बुद्धि भुलानी ॥
कहा करूँ ये मान बड़ाई ।
राम बिना सबही दुखदाई ॥
कहा करूँ तेरा सांख और जोग ।
राम बिना सब बंधन रोग ॥
कहा करूँ इन्द्रिन का सुख ।
राम बिना देवा सब दुख ॥
दरिया कहै राम गुरमुखिया ।
हरि बिन दुखी राम सँग सुखिया ॥

नाम बिन भाव करम नहिं छूटै ।
साध संग और राम भजन बिन, काल निरंतर लूटै ॥
मल सेती जो मल को धोवै, सो मल कैसे छूटै ।
प्रेम का साबुन नाम का पानी, दोय मिल ताँता टूटै ॥
भेद अभेद भरम का भाँडा, चौड़े पड़ पड़ फूटै ।
गुरमुख सब्द गहै उर अंतर, सकल भरम से छूटै ॥
राम का ध्यान तू धर रे प्रानी, अमृत का मेंह बूटै ।
जन दरियाव अरप दे आपा, जरा मरन तब टूटै ॥

मैं तोहि कैसे बिसरूँ देवा ।
ब्रह्मा बिस्नु महेसुर ईसा, ते भी बंछै सेवा ॥
सेस सहस मुख निस दिन ध्यावै, आतम ब्रह्म न पावै ।
चाँद सूर तेरी आरति गावैं, हिरदय भक्ति न आवै ॥
अनंत जीव जाकी करत भावना, भरमत बिकल अयाना ।
गुरु परताप अखंड लौ लागी, सो तोहि माहिं समाना ॥
जन दरिया दर अकथ कथा है, अकथ कहा कहि जाई ।
पंछी का खोज मीन का मारग, घट घट रहा समाई ॥

जीव बटाऊ रे बहता मारग माईं।
आठ पहर का चालना, घड़ी इक ठहरै नाईं॥
गरभ जन्म बालक भयो रे, तरुनाये गर्भान।
बृद्ध मृतक फिर गर्भ बसेरा, तेरा यह मारग परमान॥
पाप पुन्न सुख दुख की करनी, बेड़ी थारे लागी पाँय।
पंच ठगन के बस पड़्यो रे, कब घर पहुँचे जाय॥
चौरासी बासो बस्यो रे, अपना कर कर जान।
निस्चय निस्चल होयगो रे, पद पहुँचे निर्बान॥
राम बिना तो को ठौर नहीं रे, जहँ जावै वहँ काल।
जन दरिया मन उलट जगत सूँ, अपना राम सम्हाल॥

साधो अलख निरंजन सोई।
गुरु परताप राम रस निर्मल, और न दूजा कोई॥
सकल ज्ञान पर ज्ञान दयानिधि, सकल जोत पर जोती।
जाके ध्यान सहज अघ नासै, सहज मिटै जम छोती॥
जा की कथा के सरवन तें ही, सरवन जागत होई।
ब्रह्मा बिस्नु महेस अरु दुर्गा, पार न पावै कोई॥
सुमिर सुमिर जन होइहै राना, अति झीना से झीना।
अजर अमर अच्छय अविनासी, महाबीन परबीना॥
अनँत संत जाके आस पियासा, अगन मगन चिरजीवैं।
जन दरिया दासन के दासा, महा कृपा रस पीवैं॥

राम नाम नहिं हिरदे धरा। जैसा पसुवा तैसा नरा॥
पसुवा-नर उद्यम कर खावै। पसुवा तो जंगल चर आवै॥
पसुवा आवै, पसुवा जाय। पसुवा चरै औ पसुवा खाय॥
राम नाम ध्याया नहिं माईं। जनम गया पसुवा की नाईं॥
राम नाम से नाहीं प्रीत। यह ही सब पसुवों की रीत॥
जीवत सुख-दुख में दिन भरै। मुवा पछे चौरासी परै॥
जन दरिया जिन राम न ध्याया। पसुवा ही ज्यों जनम गँवाया॥

संतो, कहा गृहस्थ कहा त्यागी।
जेहि देखूँ तेहि बाहर भीतर, घट घट माया लागी॥
माटी की भीत, पवन का थंभा, गुन औगुन से छाया।
पाँच तत्त आकार मिलाकर, सहजैं गिरह बनाया॥
मन भयो पिता, मनसा भइ माई, सुख दुख दोनों भाई
आसा तृस्ना बहनें मिलकर, गृह की सौज बनाई
मोह भयो पुरुष, कुबुधि भई घरनी, पाँचो लड़का जाया
प्रकृति अनंत कुटुम्बी मिलकर, कलहल बहुत मचाया।
लड़कों के सँग लड़की जाई, ताका नाम अधीरी।
बन मे बैठी घर घर डोलै, स्वारथ संग खरी री।
पाप पुन्य दोउ पार पड़ोसी, अनँत बासना नाती।
राग द्वेष का बंधन लागा, गिरह बना उतपाती॥

चल सुआ, तेरे आद राज। पिंजरा में बैठा कौन काज।
बिल्ली का दुख दहै जोर। मारे पिंजरा तोर तोर॥
मरने पहले मरो धीर। जो पाछे मुक्ता सहज कीर॥
सद्‌गुरु सब्द हृदै में धार। सहजाँ सहजाँ करो उचार॥
प्रेम प्रवाह धसै जब आभ। नाद प्रकासै परम लाभ॥
फिर गिरह बसाओ गगन जाय। जहँ बिल्ली मृत्यु न पहुँचे आय।
आम फलै जहँ रस अनंत। जहँ सुख में पाओ परम तंत॥
झिरमिर झिरमिर बरसै नूर। बिन कर बाजै ताल तूर॥
जन दरिया आनन्द पूर। जहँ बिरला पहुँचे भाग भूर॥

श्रीकिशनदासजी महाराज

उत्तम शील सन्तोष, उत्तम सत सुमिरण साचा।
उत्तम कह इक नाम, उत्तम अमृत मुख-वाचा॥
उत्तम राम आराध, काम दल भञ्जन सूरा।
उत्तम तत्व-विचार, ज्ञान उदय रत पूरा॥
उत्तम दे नित दान, उत्तम मर्जाद न मेटे।
उत्तम जहाँ आणंद, उत्तम अवगत पद भेटे॥
उत्तम गुरु गम पाय, उत्तम शिष सुमिरण लागा।
उत्तम उलझै मेरु, उत्तम पूरन घर पाया॥
उत्तम इन्द्रिय जीत, उत्तम सो निरमल काया।
उत्तम जैसा अदीत, उत्तम घट अगम [illegible]॥
उत्तम चंद सम माव, उत्तम है सब से ऊँचा।
उत्तम न लागै छोत, उत्तम सबही से सूचा॥
उत्तम एक निज नाम, उत्तम सबही को तारै।
उत्तम सँग दे अङ्ग, आप की शरण उबारै॥
'किशनदास' सब उत्तम है, सभी ब्रह्म के हीर।
जिन में जन जो उत्तम है, अमन्द आदरे तीर॥

श्रीहरकारामजी महाराज

राम नाम तत सार, सर्व ग्रन्थन में गायो।
संत अनंत विचार राम ही राम सरायो॥
वेद पुरान उपनिषद, कह्यो गीता में ओही।
ब्रह्मा विष्णु महेश, राम नित ध्यावै सोही॥
ध्रुव, प्रह्लाद, कबीर नामदे आदि प्रमाणी।
सनकादिक नारद शेष जोगेश्वर सारा जाणी॥
सो सद्गुरु प्रताप तें, कियो ग्रन्थ विस्तार।
जन हरका तिहुँ लोक में, राम नाम तत सार॥

स्वामी श्रीजैमलदासजी महाराज

[स्थान दूलचासर, बीकानेर]

(प्रेषक—श्रीभगवद्दासजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य)

अजहूँ चेतै नाहिं आव घटंती जाय।
ज्यों तरु छाया तेरी काया देखत ही घटि जाय॥
ऐसो दाव बहुरि नहिं लागै पीछे ही पछिताय।
जैमलदास काच करि कानै ततही लेणा ताय॥

स्तवन

व्यापक है घट माहिं सो जन मेरा॥ टेक॥
जन्म मरण दूटै नहिं वाके, आवागवन न फेरा।
राग दोष भर्म का भाँडा, नाहिं मोह अँधेरा॥
त्रिगुण ताप मिटावनहारा, मेटन भर्म बसेरा।
जैमलदास कहै सुन भाई, मैं हूँ चाकर तेरा॥

राम-नामकी अपूर्वता

राम खजानो खूटै नाहीं। आदि अंत केते पचि जाहीं॥
राम खजाने जे रँग लागा। जामन मरण दोऊ दुख भागा॥
सायर राम खजाना जैसे। अजलि नीर घटै बढ़ कैसे॥
काया माँझि खजाना पावै। रोम रोम में राम रमावै॥
जैमलदास भक्तिरस भावै। खानाजाद गुलाम कहावै॥

स्वामी श्रीहरिरामदासजी महाराज

[बीकानेर-राज्यान्तर्गत सिंहस्थल नामक ग्राममें श्रीभाग्यचन्दजी जोशीके पुत्र। स्वामीजी श्रीजैमलदासजीके शिष्य, संवत् १७०० में आषाढ़ कृष्ण १३ को दीक्षा।]

(प्रेषक—महंत श्रीभगवद्दासजी शास्त्री)

राम नाम जपता रहै,
तजै न आसा आन।
जन हरिया उन जीव की,
मिटै न खाँचा तान॥
राम नाम निज मूल है,
और सकल विस्तार।
जन हरिया फल मुक्ति कूँ,
लीजै सार सँभार॥
पछितावैगो प्राणिया, हरि सूँ पड़िसे दूर।
जन हरिया मन चेत लै, है तन साम हजूर॥
हरिया कलि मे आय कै, कहा करत है कूर।
आगी विरिया अंत की, मुखाँ परैगी धूर॥
धकाधकी में दिन गया, सूताँ रैन विहाय।
हरिया हरि की भक्ति बिन, कहा कियो नर आय॥
साँचा मुख मानव तणा, जा मुख निकसै राम।
जन हरिया मुख राम बिन, सोई मुरा बेकाम॥
हरिया तन जीवन थकै, किया दिया जो जाय।
कीजै सुमरण राम को, दीजै हाथ उठाय॥
हरिया दीया हाथ का, आडा आसी तोय।
राम नाम कूँ सुमरताँ, पार उतारै सोय॥
हरिया राम सँभारियै, ढील करो मति कोय।
साँझाँ बीच सवेर में, क्या जानूँ क्या होय॥
हरिया राम सँभारियै, जब लग पिंजर मास।
सास सदा नहिं पाहुणा, ज्यूँ सावण का घास॥

खबर करि खबर गारौल तुम मे कहूँ।
बहुरि नहिं पाय नरदेह यारी।

एक इकतार सिर धारि दूजा नहीं,
मानि मेरा कह्या पुरुष नारी ॥
लोभ लालच मद मोह लागा रहै,
आपदा पापि पडपंच ठाणै।
आन उपाधि बहु ताप हिरदै उठै,
राग अरु द्वेष मनमान ताणै ॥
काम अरु क्रोध भय जोध जोरावरी,
जहर अरु कहर जग माहिं जाडा।
काल कव्वाण कमी सिर ऊपरै,
मारसी जोय नहिं कोय आडा ॥
मात अरु तात सुत भ्रात भृत भामिनी,
कुटुंब परिवार की प्रीति झूठी।
दास हरिराम कहै खेल बीताँ पछै,
मेल सो ऊठिग्यो झाड़ि मूठी ॥

मनवा रामभजन करि बल रे।
तज संकल्प विकल्प कों तब ही आया हुय निर्बल रे ॥
देखि कुसग पॉव नहिं दीजै जहाँ न हरि की गल रे।
जो नर मोक्ष मुक्ति कूँ चाहे मंताँ बैसी मिसल रे ॥
संशय शोक परै करि सब ही द्वंद दूर करि दिल रे।
काम क्रोध भर्म करि कानै राम सुमर हक हल रे ॥
मनवा उलटि मिल्या निज मन सूँ पाया प्रेम अटल रे।
पॉच पचीस एकरस कीना सहज भई सब सल रे ॥
नख सिख रोम रोम रग रग मे ताली एक अटल रे।
जन हरिराम भये परमानँद सुरति शब्द सूँ मिल रे ॥

प्राणी कर लो राम सनेही।
विनस जायगी एक पलक में या गंदी नरदेही ॥
रातो मातो विषय स्वाद में परफुल्लित मन माहीं।
जीव तणा आया जमकिंकर पकड़ि ले गया बाहीं ॥
मूरख मगन भयो माया में मेरी करि करि मान।
अंतकाल में भई बिडाणी गूतौ जाय मसानै ॥
राग रंग रूप नर नारी सब हुय जाहिंगे खाका।
जन हरिराम रहैगा अम्मर एक नाम अल्ला का ॥

रे नर ! या घर में क्या तेरा।
जीव जतु न्यारा घर माहीं मोई कहे घर मेरा ॥
चींटी चिड़ी कमेड़ी उंदर घर माहीं घर फेरा।
आया ज्यों गवरी उठि जासी वासो दिन दस हेरा ॥
मैड़ी मंदिर महल चिणावै मारै ऊँडी नीवाँ।
दिन पूगे नर छाँडि चलैगो ज्यूँ हाली हल सीवाँ ॥
नव रंग रूप सोलह सिणगारा माया विषै विलासा।
जन हरिराम राम विन दुनिया होसी खाखर पासा ॥

दोहा

परब्रह्म सतगुरु प्रणम्य, पुनि सब संत नमोय।
हरिरामा सुर भवन में, या पद समा न कोय ॥
पहिले दाता हरि भया, तिन ते पाई बिंद।
पीछे दाता गुरु भया, जिन दाखै गोबिंद ॥
ब्रह्म अग्नि तन बीच में, मथ करि काढै कोय।
उलटि काल कूँ खात है, हरिया गुरु गम होय ॥
सब सुखदाई राम है, खरा भरोसा सुज्झि।
जन हरिया हरि सुमिरताँ, तार न तोड़ूँ तुज्झि ॥
जन हरिया है मुक्ति कूँ, नीसरनी निज नाम।
चढि चौंपर सों सुमिरिये, जो चाहो विश्राम ॥
हिम्मत मति छॉडो नराँ, मुख से कहताँ राम।
हरिया हिम्मत से किया, ध्रुव का अटल धाम ॥
जो अक्षर पर्वत लिख्या, सोइ हमारे अंक।
अब डूबणती ना डरूँ, हरिया होय निशंक ॥
राम नाम बिन मुक्ति की, जुक्ति न ऐसी और।
जन हरिया निशिदिन भजो, तजो दूसरी ठौर ॥
जन हरिया निशदिन भजो, रसना सेती राम।
नाम बिना जीतब किसो, आयु जाय बेकाम ॥
विरहिन वैसे भी उठै, जोवै हरि का पंथ।
कहु जोसी कद आवसी, देख तुम्हारा ग्रन्थ ॥
मैं मतवाला राम का, मद मतवाला नाहिं।
हरिया हरि रस पीय करि, मगन भया मन माहिं ॥

चेतावनी

पान तँबोली चाबते, मिसी कढाते दंत।
जन हरिया दिन एक में, मुख धूड़ी भूरंत ॥
जन हरिया कर कंरिया, डोलन लागा शीश।
तोहि न अंधा चेतही, आवनको जगदीश ॥
पलँग पथरने पोढ़ते, ले ले मीरण सौंड़।
सोवे मीढी माथ रे, दौड़ि सके तो दौड़ ॥
प्याला भरि भरि पदमिणी, पिवै रिझावै कंत।
जन हरिया जब क्या करे, जम ले जासी अंत ॥
कनक महल ता बीच में, होते अंतन हाव।
हरिया एके नाम बिन, नाच गये सब नाव ॥

आडे तेडे चालते, स्यांघी पाग झुकाय ।
हरिया छाया निरखते, से भी गये बिलाय ॥
सुंदरि बिना न सारते, निसिदिन करते नेह ।
से जंगल में पोढिया, हरिया एकल देह ॥
हाथ पाँव सिर थकिया, आँख्याँ भयो अँधार ।
काल्हौंती पाण्डुर भया, हरिया चेत गँवार ॥
घर घर लागो लायगो, घर घर धाह पुकार ।
जन हरिया घर आपणो, राखै सो हुँसियार ॥
तन तरुवर के बीच में, बसैं पँखेरू पंच ।
जन हरिया उडि जावसी, नहीं भरोसो रंच ॥
मैड़ी महल चुणावते, ऊपर कली लपेट ।
चुणत चुणावत ऊठिगे, लगी काल की फेट ॥
पग पग बैठे पाहरू, आडा सजड़ किंवार ।
काल धके सों ले चल्यो, कोइ न मानी कार ॥
हैवर ऊभे पायगाँ, द्वारे हस्ती बंध ।
हरिया एक पलक में, सब सों पड़ गई संध ॥
चोवा चंदन चरचती, कामिनि करत सनेह ।
सुती जाय मसान बिच, भस्म भई सब देह ॥
राम नाम की जिक्र, करै कोइ संत रे ।
मैं तैं मन की मेटि, रहै एकंत रे ॥
आशा तृष्णा छाँडि, निराशा हुए रहै ।
(हरि हाँ) दास कहै हरिराम, स्वामि सुख जब लहै ॥
आपा मेटो हरि भजो, तजो बिरानी आस ।
हरिया ऐसा हुए रहो, जबे कहावो दास ॥
लख चौरासी जोनि में, है नायक नरदेह ।
हरिया अमृत छाँडि के, विषय न करिये नेह ॥
हरिया देखि हरामड़ो, रोष न कीजै राम ।
अब तो तेरो हुए रह्यो, और न मेरे काम ॥
राम नाम को कीजिये, आठों पहर उचार ।
हरिया बंदीवान ज्यों, करिये कूक पुकार ॥
हरिया रत्ता तत्व का, मत का रत्ता नाहिं ।
मत का रत्ता से फिरै, तहँ तत्व पायो नाहिं ॥
धनवन्ता सो जानिये, हृदै राम का नाम ।
भक्ति भँडारे ना कमी, रिधि सिधि केहे काम ॥
जो कोइ चाहै मुक्ति को, तो सुमिरीजै राम ।
हरिया गैले चालिये, ऐसे आवै गाम ॥
दारक में पावक बसै, यों आतम घट माहिं ।
हरिया पय में घृत है, बिन मथियाँ कुछ नाहिं ॥

छप्पय

राम बखानै वेद, राम को दाख पुरानै ।
रामहि शाखा स्मृति, राम शास्तर सो जानै ॥
राम गीता भागवत, राम रामायण गावै ।
राम विष्णु शिव शेष, राम ब्रह्मा मन भावै ॥
राम नाम तिहुँ लोक में, ऐसा और न कोय ।
जन हरिया गुरु गम बिना, कह्या सुन्या क्या होय ॥

कुंडलिया

हरिया सोई नर फकर, किया दोसती राम ।
मन माया विषया तजै, भजै निराशा नाम ॥
भजै निराशा नाम, और की आश निवारै ।
भर्म करै सब दूर, ध्यान निश्चय करि धारै ॥
काहू न करै अनीति, नीति राखै मन माहीं ।
सुरति शब्द के पास, आन दिसि जावै नाहीं ॥
एको तन मन वचन का, मेटे सकल विराम ।
हरिया सोई नर फकर, किया दोसती राम ॥

तूँ कहा चिंत करै नर तेरिहि,
तो करता सोइ चिंत करेगो ।
जो मुख जानि दियो तुझि मानव,
सो सबहन को पेट भरेगो ॥
कूकर एकहि टूक के कारण,
नित्य घरोघर बार फिरेगो ।
दास कहै हरिरामं बिना हरि,
कोइ न तेरो काज सरेगो ॥

पद

रे नर राम नाम सुमिरीजै ।
या सों आगे संत उधरिया, वेदाँ साख भरीजै ॥टेक॥
या सों ध्रुव प्रह्लाद उधरिये, करणी साँच करीजै ।
या सों दत्त मछंदर उधरे, गोरख ज्ञान गहीजै ॥
या सों गोपीचंद भरतरी, पैले पार लँघीजै ।
या सों रंका बंका उधरे, आपा अजर जरीजै ॥
या सों रामानंद उधरिये, पीपा जुग जुग जीजै ।
या सों दास कबीर नामदे, जम का जाल कटीजै ॥
या सों जन रैदास उधरिये, मीराँ बात बनीजै ।
या सों काहू कीता उधरे, वास अमरपुर कीजै ॥
या सों जन हरिराम उधरिये, दादू दीन भनीजै ।
जन हरिराम कहै सबही को, अरताँ ढील न कीजै ॥

आडे तेडे चालते, खांधी पाग झुकाय ।
हरिया छाया निरखते, से भी गये बिलाय ॥
सुंदरि बिना न मारते, निसिदिन करते नेह ।
से जंगल में पोढिया, हरिया एकल देह ॥
हाथ पाँव सिर थंभिया, आँख्याँ भयो अँधार ।
कायाँती पाण्डुर भया, हरिया चेत गँवार ॥
घर घर लागो लायणो, घर घर धाह पुकार ।
जन हरिया घर आपणो, राखै सो हुँसियार ॥
तन तरुवर के बीच में, बसैं पँखेरू पंच ।
जन हरिया उडि जावसी, नहीं भरोसो रंच ॥
मेड़ी महल चुणावते, ऊपर कली लपेट ।
चुणत चुणावत उठिगे, लगी काल की फेट ॥
पग पग बैठे पाहरू, आडा मजड़ किंवार ।
काल धके सों ले चल्यो, कोइ न मानी कार ॥
हैवर ऊभे पायगाँ, द्वारे हस्ती बंध ।
हरिया एक पलक में, सब सों पड़ गई संध ॥
चोवा चंदन चरचती, कामिनि करत सनेह ।
सूनी जाय मसान बिच, भस्म भई सब देह ॥
राम नाम की जिकर, करै कोइ सत रे ।
मैं तैं मन की मेटि, रहै एकंत रे ॥
आसा तृष्णा छाँडि, निराशा हुए रहै ।
(हरि हाँ) दास कहै हरिराम, स्वामि सुख जब लहै ॥
आपा मेटो हरि भजो, तजो बिरानी आस ।
हरिया ऐसा हुए रहो, जबे कहावो दास ॥
लख चौरासी जोनि में, है नायक नरदेह ।
हरिया अमृत छाँडि के, विषय न करिये नेह ॥
हरिया देखि हरामड़ो, रोष न कीजै राम ।
अब तो तेरो हुए रह्यो, और न मेरे काम ॥
राम नाम को कीजिये, आठों पहर उचार ।
हरिया बंदीवान ज्यों, करिये कूक पुकार ॥
हरिया रत्ता तत्त्व का, मत का रत्ता नाहिं ।
मत का रत्ता से फिरै, तहँ तत्त्व पायो नाहिं ॥
धनवन्ता सो जानिये, हृदे राम का नाम ।
भक्ति भँडारे ना कमी, रिधि सिधि केहे काम ॥
जो कोइ चाहै मुक्ति को, तो सुमिरीजे राम ।
हरिया गैले चालिये, ऐसे आवै गाम ॥
दारक में पावक बसै, यों आतम घट माहिं ।
हरिया पय में घृत है, बिन मथियाँ कुछ नाहिं ॥

छप्पय

राम बखानै वेद, राम को दाख पुरानै ।
रामहि शाखा स्मृति, राम शास्तर सो जानै ॥
राम गीता भागवत, राम रामायण गावै ।
राम विष्णु शिव शेष, राम ब्रह्मा मन भावै ॥
राम नाम तिहुँ लोक में, ऐसा और न कोय ।
जन हरिया गुरु गम बिना, कह्या सुन्या क्या होय ॥

कुंडलिया

हरिया सोई नर फकर, किया दोसती राम ।
मन माया विषया तजे, भजे निराशा नाम ॥
भजे निराशा नाम, और की आश निवारै ।
भर्म करै सब दूर, ध्यान निश्चय करि धारै ॥
काहू न करै अनीति, नीति राखै मन मांहीं ।
सुरति शब्द के पास, आन दिसि जावै नाहीं ॥
एको तन मन वचन का, मेटे सकल विराम ।
हरिया सोई नर फकर, किया दोसती राम ॥

तूँ कहा चिंत करै नर तेरिहि,
तो करता सोइ चिंत करेगो ।
जो मुख जानि दियो तुझि मानव,
सो सबहन को पेट भरेगो ॥
कूकर एकहि टूक के कारण, -
नित्य घरोघर बार फिरेगो ।
दास कहै हरिराम बिना हरि,
कोइ न तेरो काज सरेगो ॥

पद

रे नर राम नाम सुमिरीजै ।
या सों आगे संत उधरिया, वेदाँ साख भरीजै ॥टेक॥
या सों ध्रुव प्रह्लाद उधरिये, करणी साँच करीजै ।
या सों दत्त मछन्दर उधरे, गोरख ज्ञान गहीजै ॥
या सों गोपीचंद भरतरी, पैले पार लँघीजै ।
या सों रंका बंका उधरे, आसा अजर जरीजै ॥
या सों रामानंद उधरिये, पीपा जुग जुग जीजै ।
या सों दास कबीर नामदे, जम का जाल कटीजै ॥
या सों जन रैदास उधरिये, मीराँ बात बनीजै ।
या सों काहू कीता उधरे, वास अमरपुर कीजै ॥
या सों जन हरिराम उधरिये, दादू दीन भनीजै ।
जन हरिराम कहै सबही को, अरताँ ढील न कीजै ॥

विनय

प्रभुजी ! प्रेम भगति मोहि आपो ।
माँगि माँगि दाता हरि आगे, जूँ तुम्हारा जापो ॥टेक॥
आठ नवे निधि रिधि भंडारा, क्या माँगूँ सिर नाहीं ।
दे मोको हरि नाम खजाना, खूटि कभू नहिं जाहीं ॥
इंद्र आसरा सुरग विलासा, क्या माँगूँ छिनभंगा ।
दीजै मोहि परम सुख दाता, सेवत ही रहूँ संगा ॥
तीन लोक राज सर तेतूं, क्या माँगूँ जम ग्रासा ।
दीजै राज अभय गुरुदेवा, अटल अमरपुर वासा ॥
आठ पहर औल्यूं थणधड़की, ता सेती बिसारू ।
जन हरिराम स्वामि अरु सेवक, एकमेक दीदारू ॥

संत श्रीरामदासजी महाराज

[सेहापा पीठके प्रधान आचार्य । जन्म-स्थान बीकँकोर (मारवाड़), सं० १७८३ फाल्गुन कृष्ण १३, सिंहथलके श्रीहरिरामदासजीके शिष्य ।]

(प्रेषक—रामस्नेही-सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिदासजी शास्त्री, दर्शनायुर्वेदाचार्य)

राम दास मत शब्द की
एक धारणा धार ।
भव-सागर में जीव है
समझ र उतरो पार ॥
रामदास गुरुदेव सूँ
ता दिन मिलिया जाय ।
आदि अंत लग जोड़िये
मोड़ीभञ्ज कहाय ॥

सब में व्यापक ब्रह्म है देख निरख सुध हाल ।
जैसी तुम कमज्या करो तेसी में फिर माल ॥
कमज्या कीजे राम की सतगुरु के उपदेश ।
रामदास कमज्या कियाँ पावे नाम नरेस ॥

करम कूप में जग पड्या डूंब्या सब संसार ।
राम दास सो नीसर्या सतगुरु शब्द विचार ॥
रामा काया खेत में करसा एको मन ।
पाप पुन्य में बँध रया भरया करम सूँ तन ॥
करम जाल में रामदास बंध्या सबही जीव ।
आस-पास में पच मुवा विसर गया निज पीव ॥
बीज हाथ आयो नहीं जोड़े हर जस साख ।
रामदास खाली रह्या राम न जान्यो आख ॥

मुख सेती मीठी कहे अंतर माँहि कपट ।
रामा ताहि न धीजिये पीछे करे झपट ॥
आया कूँ आदर नहीं दीठाँ मोड़े मुख ।
रामा तहाँ न जाइये जे कोइ उपजे सुख ॥

संतो गृह त्याग ते न्यारा ।
सोई राम हमारा ॥ टेर ॥

गृही बँध्या गृह आसरा त्यागी त्याग दिखावे ।
गृही त्याग दोनूँ पख भूला आतमराम न पावे ॥
गृही साधु संगत नहिं कीन्ही, त्यागी राम न गावे ।
गृही त्याग दोनूँ पख झूठा निरपख है सो पावे ॥
ना मैं गृही ना मैं त्यागी ना पट दरसण भेखा ।
राम दास त्रिगुण ते न्यारा, घट में अवघट देखा ॥

ऊँच नीच बिच राम, राम सब के मन भावे ।
झूठ साच सब ठौड़, राम की आण कहावे ॥
आदि अंत में राम राम सबही कह नीका ।
सकल देव सिर राम राम सब के सिर टीका ॥
चार चक्र चवदे भवन राम नाम सारों सिरे ।
रामदास या राम को साधूजन सिंवरण करे ॥

राम सरीसा और न कोई । जिन सुमर्याँ सुख पावै सोई ॥
राम नाम सूँ अनेक उधरिया । अनँत कोटि का कारज सरिया ॥
जो हरि सेती लावै प्रीता । राम नाम ताही का मीता ॥
राम नाम जपि ही जिण लीया । तिण तिण वास ब्रह्म में कीया ॥
रामदास इक रामहि ध्याया । परम ज्योति के माहिं समाया ॥

सरक सनेही बालमा क्यूँ न देवो दीदार ।
रामा पिंजर जात है इण मोसर इण बार ॥
आवौ भेंडा साँइयाँ बिरहण सामो जोय ।
नैन टगटगी हुय रही पल नहिं लागे कोय ॥
परदेसी बिलमो मती एह मौसर ततकाल ।
रामा जिव जीवत मिलो साँई दीन दयाल ॥
मूवाँ पछे पधारसो देसी कुण साबास ।
उपलाँ सार घगाइयाँ पारस पयो निरास ॥

सो कृत गामो देखियो नाहीं कदे उधार।
अपनो बिरद बिचार हो पावन पतित अपार॥
महरबान महाराज है रामा दीन दयाल।
दया बड़ी है कोप ते कारण कृपा बिसाल॥
झूठा रूठा राम सूँ तूठा नारी अंग।
तूठा चिदानंद मन तूठा हरि सूँ रंग॥
अदल किया तो मारिया जनमाँ जनम दुम्बार।
फदल किया तो छूटिया तारन बिरद मुरार॥

माया

माया विष की बेलड़ी तीन लोक बिस्तार।
रामदास फल कारणे झूरै सब संसार॥
बेली को फल आपदा आशा तृष्णा दोय।
रामदास तिहुँ लोक में, कहाँ न छूटण होय॥
आशा तृष्णा आपदा घर घर लागी लाय।
रामदास सब बालिया, कोई न सके जाय॥
माया की अगनी जगे, दाझत है सब जीव।
रामदास सो ऊबरे, सिमरे समरथ पीव॥
रामा माया डाकणी डकणायो संसार।
काढ कलेजो खायगी जाकी सुध ना सार॥

कवित्त

राम ढाल तरवार राम बंदूक हमारे।
राम सूर सामंत राम अरि फौज सँहारे॥
राम अनड गढ कोट राम निर्भय सेवासो।
राम साथ सामान राम राजा रेवासो॥
राम धणी प्रभुता प्रबल श्वास श्वास रक्षा करे।
रामदास समरथ धणी रे जिव! अब तूँ क्यूँ डरे॥

कहा देस परदेस कहा घर माँहीं बारे।
रक्षक राम दयाल सदा है संग हमारे॥
पर्वत अवघट घाट बाट बन माहिं सँगाती।
ताके बेली राम ताप लागे नहिं ताती॥
धाड़ चोर खोसा कहा उबरा माहिं उधार है।
मोहि भरोसो राम को रामा प्राण अधार है॥

नमो निरंजन देव सेव किणि पार न पायो।
अमित अथाह अतोल नमो अणमाप अजायो॥
एक अखंड अमट नमो अणभंग अनादं।
जग में जोत उदोत नमो निरभेव सुन्यादं॥
नमो निरंजन आप हो, कारण करण अपार गत।
रामदास बंदन करे नमो नूर भरपूर तत॥

मस्तक पर गुरुदेवजी हृदय बिराजे राम।
रामदास दोनूँ पखा सब विध पूरण काम॥
चिंता दीनदयाल कूँ मो मन सदा अनंद।
जायो सो प्रति पालसी रामदास गोविंद॥

सोरठा

घर जाये की खोड़ धणी एक नाँहिन गिने।
बिरद आपनी ओड़ जान निभाज्यो बापजी॥

पद

दीन छूँ जी दीनबंधु! दीन को नबेरो।
महरबान बिरद जान प्रान भेट घेरो॥टेर॥
येह पुकार निराधार दरद मेट मेरो।
जनम जनम हार मार तार अबे तेरो॥
बिषम घाट भव बैराट बेग ही नबेरो।
बह्यो जात मैं अनाथ नाथ हाथ प्रेरो॥
बार बार क्यूँ न मार बाल बाल चेरो।
रामदास गुरु निवास मेट जनम फेरो॥

संत श्रीदयालजी महाराज (खेड़ापा)

[जन्मकाल—मार्गशीर्ष शुक्ला ११, वि० सं० १८१६। निर्वाणकाल—माघ कृ० १०, सं० १८८५।]

(प्रेषक—श्रीहरिदासजी शास्त्री, दर्शनायुर्वेदाचार्य)

ररो ममो रसणा रट ए,
साँची प्रीति लगाय।
रामा अमृत रसण चव,
विष विलय हुय जाय॥
खाली स्वास गमाय मत,
रामा सिंवरो राम।
घय खूटे छूटे सदन,
जीव यहाँ आराम॥

रामा काया सदन बिच, ररे ममे की जोत।
रसना दीपक सींचिये, परमानन्द उदोत॥
लगन पतंगा होय के, राम-रूप के माँय।
मनकृत जल एके भया, मारकापन दरसाय॥

× × ×

बंदे या भव-सिन्धु में, तेरा नाहीं कोय।
फूटे बेड़े बैस मत, कदे न तिरणा होय॥

आशा गरब गुमान तज, तरुणापो दिन दोय ।
रामा छाया बादली, सयन करो मत कोय ॥

× × ×

नाम-माहात्म्य

राम-मंत्र से रामदास, जीव होत है ब्रह्म ।
काल उरग को गरल मिट, जनम-मरण नहीं श्रम ॥
महा पतित पापी अधम, नाम लेत तिर जाय ।
उपल तिरे लिखताँ ररो, रघुपति साख सहाय ॥
रामरूप हरिजन प्रगट, भाव भक्ति आराध ।
जुग जुग माहीं देख लो, रामा तारण साध ॥
मन वच क्रम सरधा लियाँ, वणै सजन के हेत ।
रामा साची भावना, जन्म सफल कर लेत ॥
मान मान उपदेश गुरु, ध्याय ध्याय इक राम ।
जाय जाय दिन जाय है, उदै करो विश्राम ॥
रामा केवल नाम जप, कह हितकारी संत ।
इन मग परमानँद मिले, निरभै जीव मिर्थत ॥

मौसर मिनखा देह मिल्यो है, मत कोइ गाफिल रहज्यो रे ।
खूटा स्वास बहुरि नहिं आवे, राम राम भजि लीज्यो रे ॥
जानत है सिर मोत खड़ी है, चलणो साँझ सवेरो रे ।
पाँच पचीसों बड़े जोरावर, लूटत है जिव डेरो रे ॥
नर नारायण सहर मिल्यो है, जा में सूँज अपारा रे ।
राम कृपा कर तोहि बसायो, या में काज तुम्हारा रे ॥
जनम-जनम का खाता चूकै, हुय मन राम सनेही रे ।
रामदास सतगुरु के सरणै, जनम सफल कर लेही रे ॥

तरु तें तूटा फूल डार धुर लगै न कोई ।
कागद अंक सकेल पुनि सकेला नहि होई ॥
सती साख सिणगार तेल तिरिया इक धारा ।
ओला जल गल मिल्या फेर होवै नहिं सारा ॥
मोह वासना नीर मँझि नर देह कदे नहि गालिये ।
जन रामा हरि प्रेम बिच गल्या त भव दुख टालिये ॥

भजो भजो रे राम तजो जग की चतुराई ।
सजो सजो रे साज काच तन जात बिलाई ॥
गया मिलै नहिं बहुरि मुकर भंजन नहिं संदत ।
कोड़ जतन मिल प्रज्ञा कहै सोई मति मदत ॥
जाता निश्चै जाय सब रहता हरि संगी सदा ।
चेत चिंतामणि उर महीं ताँ पाया आलम मुदा ॥

जाय जाय दिन जाय ताहि लेखै अब लावो ।
गाय गाय इक राम बहुरि मौसर नहिं पावो ॥
साय साय गुरु ज्ञान लाय एकण मन धारण ।
ध्याय ध्याय अब ध्याय आय लागा जोधा रण ॥
कटक काल दुष्कर कही हरिजन पुर मच्य छूट है ।
जन रामा पासे गयाँ महीत जमरो टूट है ॥

श्रीपूरणदासजी महाराज

[दीक्षाकाल—फाल्गुन पूर्णिमा, वि० सं० १८३८ । निर्वाणकाल—कार्तिक शु० ५, वि० सं० १८९२ । जन्म स्थान—मेल्की ग्राम (मालवा प्रान्त), श्रीदयालजी महाराजके शिष्य ।]

(प्रेषक—आचार्य श्रीहरिदासजी शास्त्री)

जा दिन तें या देह धरी दिन ही दिन पाप कमावनहारो ।
नीच किया बुध हीन मलीन कुचील अचार बिचार बुहारो ॥
औगण को नहिं छोर कहाँ लग, एक भरोसो है आस तुम्हारो ।
हो हरिया ! विनती इतनी, तुम मुख सूँ कहो पूरणदास हमारो ॥

अब हरि कहाँ गये करुणा केत ।
अधम उधारण पतिताँ पावन बदत पुकारयाँ नेत ॥
मोय भरोसो लाखाँ पाताँ खाली रहे न खेत ।
पूरणदास पर अजहुँ न सुरता अब क्यूँ सार न लेत ॥

संत श्रीनारायणदासजी महाराज

(प्रेषक—साधु श्रीमगनदासजी)

सतगुरू अरु सत जन, राम निरंजन देव ।
जन नारायण की विनति, दीजै प्रभुजी सेव ॥
नरिया राम सुमिरिये, टाले जम की त्रास ।
आलस ऊँघ न कीजिये अवसर बीतो जात ॥

राम नाम सतगुरु दिया, नरिया प्रीति लगाय ।
चौरासी योनि टलै, पेले पार लँघाय ॥
राम नाम जाण्यो नहीं, माया कूँ चित धार ।
जाकूँ जमड़ो मारसी, नरिया करे खुवार ॥

राम नाम जाण्यो नहीं, कीया बहुत करम्म ।
ते नर कामी कूकरा, मुँहड़े नहीं सरम्म ॥
दास नरायण बीनवे, संतन को अरदास ।
राम नाम सुमिराइये, राखो चरणाँ पास ॥

संत श्रीहरदेवदासजी महाराज

(प्रेषक—साधु श्रीभगवद्दासजी)

बंदन हरि गुरु जन प्रथम, कर मन कायक बेन ।
अखिल भवन जो सोधिये, समा न या कोइ सेन ॥

छप्पय

चेते क्यूँ न अचेत, संत सबही दे हेला ।
माने बहु परिवार, अंत तूँ जाय अकेला ॥
वित या खर व्यवहार, आप का किया उचारे ।
तन चाले जब छाँड़ि, कछू हाले नहीं लारे ॥
आपो विचार आगम निरख, थापो निज गम थापना ।
हरिदेव राम अहनिश कहै, यूँ पद लहो सु आपना ॥

है अरबाँ नर साथ, आप अरबाँ सम एको ।
खरबाँ थपे कोठार, अपे धन खरब अनेको ॥
जग बहु जपे जहान, दिपे बहु न्याय दरीखाँ ।
निज तन रहे निशंक, शंक बहु लहै सरीखाँ ॥
ऐसा भूपाल अतिम समे, जाताँ कुछ विरियाँ नथी ।
हरिदेव चेत रे मन मस्त, अल्प आयु एहड़ी कथी ॥

बड़ योधा कहाँ वीर, कहाँ वे मीर करारा ।
कहाँ वे दिल का धीर, कहाँ वजीर धरारा ॥
कर्ता ज्योतिष कहाँ, कहाँ महा वैद्य सु कहिये ।
विपुलौं धन व्यवहार, कहाँ जग सेट सु लहिये ॥
कहाँ न्याय करावण करण, मरण मार्ग सबही गया ।
हरिदेव चेत रे मन चपल, तू किस गिणती में थया ॥

कोइ नर ऊपर पाँव, अधः सिर करके हाले ।
मन में करे मरोड़, महँत हुए जग में माले ॥
चख फोरे कर आप, चढ़े दर्पण मुख देख्यो ।
पुनि महा सोइ जुहार, माहिं परखन मन पेख्यो ॥
छाड़े सु राम कहै मैं भगत, हरियाँ नाकज हर्षियो ।
हरिदेव कहै यूँ नर अधम प्रगट असाधहि परखियो ॥

सुमिरन है राम सेष, सहस मुँह करे सु जाप ।
बिसरे कबहू नाहिं, जीह मुँह दूनी जाप ॥
अँखियो तिके अपार, पार नहिं कोय पिछानो ।
सुमिरन पद यूँ सोय, सेस रहियो सब जानो ॥
भू भार सहै धीरज भली, जाप सहित आनँद लहै ।
हरिदेव राम सुमिरन अगम, शेष ग्रंथ याही कहै ॥

दोहा

बंदन को राम युगल है, हरि है, का गुरुदेव ।
ब्रह्म देह-दाता बने, सतगुरु दीया भेव ॥
आदि ब्रह्म जन अनँत के सारे कारज सोय ।
जेहि जेहि उर निश्चै धरे, तेहि दिग परगट होय ॥

संत श्रीपरसरामजी महाराज

[जन्म सं० १८२४, स्थान बीठणोकर कोलायत—बीकानेर, निर्वाण—सं० १८९६ पौषकृष्णा ३—श्रीस्वामी रामदासजीके शिष्य]

(प्रेषक—श्रीरामजी साधु)

नित प्रति गुरु बदन करूँ,
पूरण ब्रह्म अनंत ।
परमहंस कर बंदना,
आदि अंत मध संत ॥

उपदेश

परमहंस सतगुरु कहे,
सुन सिष ध्यान विचार ।
कारज चाहे जीव को, यहूँ सो हिरदे धार ॥
प्रथम शब्द सुन साध का, वेद पुराण विचार ।
सत संगति नित कीजिये, कुल की कान निवार ॥
पूरा सतगुरु परख कर, ताकी शरण सँभाय ।
राम नाम उर इष्ट धर, आन इष्ट उठकाय ॥
राम राम मुख जाप जप, कर सूँ कर कछु कर्म ।
उत्तम करतब आदरो, छोड़ो नीचा कर्म ॥

आपा गरब गुमान तज, तकणारो दिन दोय ।
रामा छाया बादली, गमन करो मत कोय ॥

× × ×

नाम-माहात्म्य

राम-मंत्र से रामदास, जीव होत है मद्म ।
काल उरग को गरल मिट, जनम-मरण नहीं भ्रम ॥
महा पतित पापी अधम, नाम लेत तिर जाय ।
उपल तिरे लिखताँ रो, रघुपति सागर महाय ॥
रामरूप हरिजन प्रगट, भाव भगति आराध ।
जुग जुग माहीं देख लो, रामा तारण साध ॥
मन वच क्रम सरधा लियाँ, बणे भजन के हेत ।
रामा साची भावना, जन्म सफल कर लेत ॥
मान मान उपदेश गुरु, ध्याय ध्याय इक राम ।
जाय जाय दिन जाय है, उदै करो विश्राम ॥
रामा केवल नाम जप, कह हितकारी संत ।
इन मग परमानँद मिले, निरभै जीव गिणंत ॥

मौसर मिनखा देह मिल्यो है, मत कोइ गाफिल रहज्यो रे ।
खूटा स्वास बहुरि नहिं आवे, राम राम भजि लीज्यो रे ॥
जानत है सिर मोत खड़ी है, चलणो साँझ सवेरो रे ।
पाँच पचीसों चढे जोरावर, लूटत है जिव डेरो रे ॥
नर नारायण महर मिल्यो है, जा मैं सूँज अपारा रे ।
राम कृपा कर तोहि बणायो, या मैं ...
जनम-जनम का टोटा चूके, हुय मन ...
रामदास सतगुरु के सरणे, जनम ...

तरु तें तूटा फूल डार दुर ...
कागद अंक सकेल पुनि सकेल ...
सती रामा सिणगार देख ...
ओल्या जल गल मिल्या फेर होवै ...
मोह वासना नीर माँहि नर देह करे ...
जन रामा हरि प्रेम बिच गल्या ...

भजो भजो रे राम तजो ...
भजो भजो रे साज काच तन ...
गया मिले नहिं बहुरि मुकर मक्ख ...
कोइ जतन मिल प्रभ कहे सोई ...
जाता निश्चै जाय सब रहता हरि ...
चेत चिंतामणि उर मही वो पाया ...

जाय जाय दिन जाय ताहि लेवे ...
गाय गाय इक राम बहुरि मौसर ...
साय माय गुरु ज्ञान लाय एकन ...
ध्याय ध्याय अब ध्याय आय लगा ...
कटक काल दुष्कर कही हरिजन पुर ...
जन रामा पासे गयाँ सहीत ...

श्रीपूरणदासजी महाराज

[दीक्षाकाल—फाल्गुन पूर्णिमा, वि० सं० १८३८ । निर्वाणकाल—कार्तिक शु० ५, वि० सं० १८... —मेल्की ग्राम (मालवा प्रान्त), श्रीदयालजी महाराजके शिष्य ।]

(प्रेषक—आचार्य श्रीहरिदासजी शास्त्री)

जा दिन तें या देह धरी दिन ही दिन पाप कमावनहारो ।
नीच क्रिया बुध हीन मलीन कुचील अचार बिचार बुहारो ॥
औगण को नहिं छोर कहाँ लग, एक भरोसो है आस तुम्हारो ।
हो हरिया ! बिनती इतनी, तुम मुख सूँ कहो पूरणदास हमारो ॥

अब हरि कहाँ गये करुणा केत ।
अधम उधारण पतिताँ पावन ...
मोय भरोसो लाखाँ बाताँ ...
पूरणदास पर अजहुँ न सुरता ...

संत श्रीनारायणदासजी महाराज

(प्रेषक—साधु श्रीभगवद्दासजी)

सत्तगुरू अरु संत जन, राम निरंजन देव ।
जन नारायण की विनति, दीजै प्रभुजी सेव ॥

नरिया राम सुमिरिये, ...
आलस ऊँघ न कीजिये ...

राम नाम सतगुरु दिया, नरिया प्रीति लगाय।
चौरासी योनि टलै, पेले पार लँघाय॥
राम नाम जाण्यो नहीं, माया कूँ चित धार।
जाकूँ जमड़ो मारसी, नरिया करे खुवार॥

राम नाम जाण्यो नहीं, कीया बहुत करम्म।
ते नर कामी कूकरा, मुँहड़े नहीं सरम्म॥
दास नरायण बीनवे, संतन को अरदास।
राम नाम सुमिराइये, राखो चरणाँ पास॥

संत श्रीहरदेवदासजी महाराज

(प्रेषक—साधु श्रीभगवद्दासजी)

वंदन हरि गुरु जन प्रथम, कर मन कायक बैन।
अखिल भवन जो सोधिये, समा न या कोइ सैन॥

छप्पय

चेते क्यूँ न अचेत, संत सबही दे हेला।
माने बहु परिवार, अंत तूँ जाय अकेला॥
वित्त या स्वर व्यवहार, आप का किया उचारे।
तन चाले जब छाँडि, कछू हाले नहीं लारे॥
आगो विचार आगम निरख, थारो निज गम थापना।
हरिदेव राम अहनिश कहे, यूँ पद लहो सु आपना॥

है अरबाँ नर साथ, आप अरबाँ सम एको।
खरबाँ थपे कोठार, अपे धन खरब अनेको॥
जस बहु जपे जहान, दिपे बहु न्याय दरीखाँ।
निज तन रहे निसंक, संक बहु लहे सरीखाँ॥
ऐसा भूपाल अंतिम समे, जाताँ कुछ विरियाँ नथी।
हरिदेव चेत रे मन मस्त, अल्प आयु एहडी कथी॥

बड योधा कहाँ वीर, कहाँ वे मीर करारा।
कहाँ वे दिल का धीर, कहाँ वज्जीर धरारा॥
कर्ता ज्योतिष कहाँ, कहाँ सहा वैद्य सु कहिये।
विपुलाँ धन व्यवहार, कहाँ जग सेठ सु लहिये॥
कहाँ न्याय करावण करण, मरण मार्ग सबही गया।
हरिदेव चेत रे मन चपल, तू किस गिणती में थया॥

कोइ नर ऊपर पाँव, अधः सिर करके हाले।
मन में करे मरोड़, महँत हुए जग में माले॥
चल फोरे कर आप, चढ़े दर्पण मुख देख्यो।
पुनि सहा सोइ जुहार, माहिं परखन मन पेख्यो॥
छाड़े सु राम कहे मैं भगत, हरियाँ नाकज हर्षियो।
हरिदेव कहे यूँ नर अधम प्रगट असाधहि परखियो॥

सुमिरन है राम सेन, सहस मुँह करे सु जाप।
विसरे कबहू नाहिं, जीह मुँह दूनी जाप॥
अँखियो तिके अपार, पार नहिं कोय पिछानो।
सुमिरन पद यूँ सोय, सेस रहियो सब जानो॥
भू भार सहे धीरज भली, जाप सहित आनँद लहे।
हरिदेव राम सुमिरन अगम, दोय ग्रंथ याही कहे॥

दोहा

वंदन को राम युगल है, हरि है, का गुरुदेव।
ब्रह्म देह-दाता बने, सतगुरु दीया भेव॥
आदि ब्रह्म जन अनँत के सारे कारज सोय।
जेहि जेहि उर निश्चै धरे, तेहि तिग परगट होय॥

संत श्रीपरसरामजी महाराज

[जन्म सं० १८२४, स्थान बीठणोकर कोलायत—बीकानेर, निर्वाण—सं० १८९६ पौषकृष्णा ३—श्रीस्वामी रामदासजीके शिष्य]

(प्रेषक—श्रीरामजी साधु)

जन प्रति गुरु वंदन करूँ,
　पूरण ब्रह्म भगत।
रामदास कर वंदना,
　आदि अंत मध संत॥

उपदेश

रामदास सतगुरु कहे,
　सुन शिष ग्यान विचार।
कारज चाहे जीव को, कहूँ सो हिरदे धार॥
प्रथम शब्द सुन साध का, वेद पुरान विचार।
सत मर्याद नित कीजिये, कुल की कान निवार॥
पूरा सतगुरु परख कर, ताकी शरण सँभाय।
राम नाम उर दृढ धर, आन देव छिटकाय॥
राम राम मुख जाप जप, कर सूँ कर कछु कर्म।
उत्तम करतब आदरो, छोडो नीचा कर्म॥

मांस मद्द हो को अमल, भाँग सहित छिटकाय।
चोरी जारी परिहरो, अधरम पंथ उठाय॥
जूवा खेल न खेलिये, भूल न चढ़ो शिकार।
वेश्या का सँग परिहरो, निहचै नीति विचार॥
झूठ कपट निंदा तजो, काम क्रोध अहँकार।
दुर्मति दुविधा परिहरो, तृष्णा तामस टार॥
राग दोष तज मछरता, कलह कल्पना त्याग।
सँकलप विकलप मेटि कर, साचे मारग लाग॥
मान बड़ाई ईर्षा, तजो दंभ पाखंड।
सिमरो सिरजनहार कूँ, जाके माँडी मंड॥
दुनिया घड़िया देवता, पर हरता की पूज।
अनघड़ देव अराधिये, मेटो मन की दूज॥
प्रतिपालन पोषण भरन, सब में करे प्रकास।
निस दिन ताकूँ ध्याइये, ज्यूँ छूटे जम पास॥
राम नाम नौका करो, सतगुरु खेवणहार।
वृद्ध मानकर भाव को, यूँ भवजल हुए पार॥
राम नाम अम्मर जड़ी, सतगुरु वैद्य सुजान।
जन्म मरण वेदन कटे, पावै पद निरवाण॥
जग कूँ चित उठाय कर, हरि चरणों लपटाय।
लख चौरासी जोन में, जन्म न धारो आय॥
मनछा वाचा कर्मणा, रटो रैन दिन राम।
नरक कुंड में ना पड़ो, पावो मुक्ति मुकाम॥
पाँचूँ इन्द्री पालकर, पंच विषय रस मेटि।
या विध मन कूँ जीतकर, विव परमानँद भेटि॥
पूरब पुन्य प्रताप सूँ, पाई मनखा देह।
सो अब लेखे लाइये, छोड़ जगत का नेह॥
चरणों सूँ चल जाइये, हरि हरिजन गुरु पास।
पैंड पैंड असमेध जग्य, फल पावत निज दास॥
हरि हरिजन गुरु दरस ते, नेज निर्मला होत।
परमराम समदृष्टि खुल, घट मध ज्योति उद्योत॥
हाथों सूँ वंदन करो, ज्यूँ कर होय सुनाय।
फेर न जावो जमपुरी, भिड़ो न थंभा चाय॥
सीस निवायों परमराम, कर्म पोट गिर जाय।
इस विध सीस सुनाय हुय, सतगुरु चरण लगाय॥
श्रवणों सुनिये परमराम, सतगुरु शब्द रसाल।
ज्ञान उदय अग्यान मिट, तूटे भ्रम जंजाल॥
ऐसे श्रवण सुनाय हुइ, सुनो ग्यान विग्यान।
पीछे धारो परमराम, आतम अतर ध्यान॥
करो दंडवत देह सूँ, ज्यूँ छूटे जमदंड।
परसराम निर्भय रमो, सप्त द्वीप नव खण्ड॥
करो परिक्रमा प्रेम सूँ, सनमुख बैठो आय।
फेरा जामण-मरन का, सहजाँ सूँ टल जाय॥
मुख सूँ महा प्रसाद ले, पावे उत्तम दास।
ऐसे मुक्ख सुनाय हुइ, वायक विमल प्रकास॥
नख चख सब नर देह का, या विध उत्तम होय।
भाव भक्ति गुरु धर्म विन, पसु समान नर सोय॥
प्रेम नेम परतीत गह, भाव भक्ति विराग।
जाका नर तन सफल है, जग सूँ रहै उदास॥
साँच गहो समता गहो, गहो सील संतोष।
ग्यान भक्ति वैराग गहि, याही जीवत मोच्छ॥
धीरज धरो छिमा गहो, रहो सत्य व्रत धार।
गहो टेक इक नाम की, देवो जगत जँजार॥
दया दृष्टि नित राखिये, करिये पर उपकार।
माया खरचो हरि निमित, राखो चित उदार॥
जाति पाँति का भरम तज, उत्तम करणी देख।
सुपात्र को पूजिये, कहा गृहस्थ कहा भेख॥
सोइ सुपात्र जानिये, कहे कहावे [illegible]।
पाँच पचीसूँ जीत के, करे भक्ति निहकाम॥
ऐसा हरिजन पूजिये, के सतगुरु की सेव।
एक दृष्टि कर देखिये, घट घट आतम देव॥
जल कूँ पीजे छानकर, छान वचन मुख बोल।
दृष्टि छानकर पाँव धर, छान मनोरथ तोल॥
ऊठत बैठत चालताँ, जागत सोवत नित।
राम संत गुरुदेव के, चरणों राखो चित॥
यह साधन हरिभक्ति के, सास्त्रों ते लिख होय।
रामदास सतगुरु मिल्या, भेद बताया मोय॥
सिष पूछ्या सतगुरु कह्या, भले होन का भेव।
वाच विचारै परमराम, पावै निरंजन देव॥
सतगुरु पर उपकार कर, दिया उत्तम उपदेश।
सुन सीखे धारन करै, मिट जाय कर्म कलेस॥
सतगुरु दाख्या परमराम, [illegible] का [illegible]।
पूरबला अँकूर सूँ, समझे सिष सुजान॥

संजीवनी जड़ी (संजीवन बोध)

राम नाम सत औखदी, सतगुरु [illegible] [illegible]।
जग यामी जीव [illegible], स्वर्ग नरक [illegible] [illegible]॥

कर्म रोग कटियों बिना, नहीं मुक्ति सुख जीव।
चौरासी में परसराम, दुखिया रहे सदीव॥
नाम जड़ी पच शब्द में, देऊँ युक्ति बताय।
परसराम सच पच रहे, कर्म रोग मिट जाय॥

मुख हमाम दस्तो कर रसना। रटो ममो बूँटी रस घसना॥
खसखस कंठ तामक भर पीजे। यूँ अठ पहरी साधन कीजे॥
अब सतगुरु पच देत बताई। गुरु आग्या सिर चलो सदाई॥
प्रथम भुजंग पवन बँध कीजे। साध सँगत घर माहिं बसीजे॥
समता सहज शयन कर भाई। अहं अग्नि मत तापो जाई॥
भोजन भाव भक्ति रुचि कीजे। लीन अलीन बिचार करीजे॥
तामस चरखो दूर उठाओ। फिर रस निगट निकट नहिं लाओ॥
कपट खटाई भूल न लेना। मीठे लोभे चित नहिं देना॥
कुटक कुटिलता दूर करीजे। दुविधा द्वंद दूध नहिं पीजे॥
लालच लूण त्यान मत राखो। मुख तें कबहूँ झूठ मत भाखो॥
आसा बोझ सीस नहिं धरना। दुय निर्मल सुख राम उच्चरना॥
जगत जाल उद्यम परित्यागो। राम भजन हित निसदिन जागो॥
निर्गुण इष्ट स्थिरता गहिये। आन उपाय त्याग नहिं चहिये॥
प्रेम सहित परमातम पूजा। भरम कर्म छिटकावै दूजा॥
चेतन देव साधु को पूजे। राम नाम बिन मन्त्र न सूजे॥
माला जाप तजे कर सेती। रटो ममो रट रसना सेती॥
अब गुन कुविघन कुवचन बताऊँ। राम-जनों की चाल जताऊँ॥
भाँग धतूरा अमल न खाजे। तुरत तमाखू फिर न उठाजे॥
मांस मद्य वारांगन संगा। पर नारी को तजो प्रसंगा॥
पद शिकार तिणचर मत मारो। चोरी चुगली चित्त न धारो॥
जूआ खेल न खेलो भाई। जन्म जुवा ज्यूँ जाय बिलाई॥
कूर कर्म से दूरे रहिये। कुगती बकती संग न रहिये॥
अनछान्यो जल पीजे नाहीं। सूक्षम जीव नीर के माँहीं॥
गाढ़ा पट दुपट करीजे। निर्मल नीर छानकर पीजे॥
चार वर्ण का उत्तम धर्मा। राम नाम निरचे निहकर्मा॥
लालच लोभ पैठा तज देवे। अनन्त भाँति मतन कूँ सेवे॥
चार वरण में भक्ति कराओ। सो सतगुरु के शरणे आओ॥
सतगुरु बिन भक्ति नहीं हवे। भरम कर्म के [illegible]॥
सब एक पुरुष [illegible] होवे। [illegible] साधु [illegible]॥
सतगुरु वैद करे ज्यूँ कीजे। [illegible] नहीं दीजे॥

सब [illegible] परसराम, [illegible] प्रकार।
दूँ [illegible] सही [illegible], [illegible] कर्म का [illegible]॥

भरम करम [illegible]। [illegible] जड़ी का [illegible]।
राम नाम [illegible]। [illegible] मिटे [illegible]॥

कंठ कमल तें हृदै प्रवेशा। तीन ताप मिट काम कलेशा॥
उर आनँद हुय सुख दरसावे। नाभि कमल मन पवन मिलावे॥
नाभी रग रग रोम रकारा। नव निध चित्र औषध विस्तारा॥
बंक पछिम हुय मेरु लखावे। दसवें द्वार परम सुख पावे॥
तिरवेनी तट अखँड आनंदा। सून्य घर सहज मिटे दुख द्वंदा॥
सून्य समाधि आदि सुख पावे। सद औषध गुरु भेद बतावे॥

सब घट में सुख ऊपजे, दुःख न दरसे कोय।
परसराम आरोग्यता, जीव ब्रह्म सम होय॥
महा रोग जामण मरण, फिर नहिं भुगते आय।
अमर जड़ी का परसराम, निरणा दिया बताय॥

उपदेश

(छप्पय)

एता तन को काम, राम भज लाहा लीजे।
मनुष्य देह क्षण भंग, बहुर पीछे क्या कीजे॥
आयो ज्यूँ उठ जाय, हाथ कछु नाहिंन परिहै।
एता [illegible] [illegible], बहुर चोला मन धरिहै॥
तातें ध्यान विचार कर, सतगुरु सिर धर भजन कर।
परसराम साखी कहे, इस विध तेरा काज सर॥

अष्ट जाम रट राम, दाम देना कहा लागे।
सहज तिरे भव-सिंधु, राम कहि अमर जागे॥
दूर होय दुख द्वंद, पंच चोरा मिट जावे।
उपजे सुख संतोष, मोक्ष मारग मुक्ति पावे॥
मनुष्य देह अवसर दुर्लभ, बार बार नाहिंन मिले।
साधु नहीं [illegible] परसराम, ब्रह्म समुद्र निरने मिले॥

[illegible] [illegible] [illegible], एक [illegible] में बास्या।
भजने [illegible] दरिया, [illegible] विलास्या॥
[illegible] [illegible] की बेर, उठ [illegible] [illegible]।
दूँ [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ज्ञान [illegible]॥
[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] न [illegible]।
राम भजन [illegible] [illegible], परसराम [illegible]॥

[illegible]

यह अवसर आयो भलो, नर तन को अवतार।
सुकृत सौदा कीजिये, कुल की कान निवार॥
कुल की कान निवार, धार बिस्वास प्रभू को।
संत कहै चेताय, फौल गर्भ का मत चूको॥
परसराम रट लीजिये, राम नाम तत सार।
यह अवसर आयो भलो, नर तन को अवतार॥

अंत सकल को मरना, कछु सुकृत करना॥ टेर॥
मुख रट राम बाँट कछु कर से, साधु सँगति चित धरना।
पंच विषय तज शील सँभावो, जिव हिंसा से डरना
बेहद रत गुरु पारख करके, गहो उसी का शरना
ज्ञान भगति वैराग्य गहीजे, यूँ भव सागर तरना
कुल अभिमान कदे नहीं कीजे, धर धीरज कर जरना
त्याग असार सार गह लीजे, ले वैराग्य विचरना
रामदास गुरु आयसु सिर धर, मिटे जामण मरना
परसराम जन परहित भाखत, सुनजो वर्ण अवरना।

संत श्रीसेवगरामजी महाराज

[दीक्षाकाल आषाढ़ शु० १५ वि० सं० १८६१, निर्वाणकाल पौष शुक्ला ८ सं० १९०४, स्वामी श्रीपरसरामजीके शिष्य]

(प्रेषक—श्रीरामजी साधु)

सरण

राम राम रसना रट्या,
मुख का खुल्या कपाट।
रोम रोम रुचि सूँ पिया,
र र र र उचरत पाठ॥
र र र र उचरत पाठ,
आदि अनघड़ को ध्याया।
परस्या आतम देव, ध्यान अंतर में लाया॥
सेवग सतगुरु परसकर, लही मोक्ष की बाट।
राम राम रसना रट्या, मुख का खुल्या कपाट॥

आर्त विरह

गल में कन्ता पहर कर, निस दिन रहूँ उदास।
(संगत) सँपत एक शरीर है, रखूँ न तिन की आस॥
रखूँ न तिन की आस, बास सूने घर करहूँ।
कहा पर्वत बन बाग, निडर हुय निसँक विचरहूँ॥
राम नाम से प्रीति कर, सिमरूँ स्वास-उस्वास।
गल में मैं कन्ता पहर, निस दिन रहूँ उदास॥

जिस भेषों साईं मिले, सोई भेष करेस।
राम भजन के कारने, फिरहूँ देस बिदेस॥
फिरहूँ देस बिदेस, पेस तन मन हरि करहूँ।
जाकर हुय हरि अँतर, तिकन से काने टरहूँ॥
कसणी देवो अनेक मिल, सब तन माहिं सहेस।
जिस भेषों साईं मिले, सोई भेष करेस॥

चेतावनी

सेवग सिंवरो राम कूँ, विलँब न करिये धीर।
आयु घटे तन छीजहै, ज्यों अंजलि को नीर॥
ज्यों अंजलि को नीर, तीर छूटा ज्यूँ जावै।
स्वास बदीता जाय, बहुर पूठा नहिं आवै॥
जैसो छिलता नीर ज्यूँ, बहता धरे न धीर।
सेवग सिंवरो राम कूँ, विलँब न करिये धीर॥

सेवग सिंवरो राम कूँ, सतगुरु सरणे आय।
नर तन रतन अमोल है, बार बार नहिं पाय॥
बार बार नहिं पाय, ताहि लेखे कर लीजै।
आज जिसो नहिं काल, काहिं अब जेज करीजै॥
सतगुरु शिक्षा देत है, मत रीता उठ जाय।
सेवग सिंवरो राम को, सतगुरु सरणे आय॥

प्रेम

प्रेम बिना पढ़िबो कहा, प्रेम बिना कहा गाय।
प्रेम विहूणो बोलिबो, मन किन के नहिं भाय॥
मन किन के नहिं भाय, गाय क्यूँ स्वास खोहै।
सोई संत सुजान, सुरत सुमरण से जोड़ै॥
सेवगराम होय प्रेम जुत, सुन सब मन हरखाय।
प्रेम बिना पढ़िबो कहा, प्रेम बिना कहा गाय॥

सेवग रीझै रामजी, प्रेम प्रीति जब होय।
प्रेम बिना रीझै नहीं, चतुराई कर जोय॥
चतुराई कर जोय, होय नहिं प्रेम प्रकाशा।
प्रगटे नहीं घट राम, वृथा खोवै सब स्वा
ताते प्रेम उपाय, सुन संतन की सो
सेवग रीझै रामजी, प्रेम प्रीति जब हो

रामप्रताप-विश्वास

आछी करै सो रामजी, के सतगुरु के सं
भूँडी बनै सो भाग की, ऐसी उर

ऐसी उर धारंत, तबे कछु बिगड़े नाई।
उन दामन की लाज, प्रतिज्ञा राखे माई॥
सेवगराम मैं क्या कहूँ, कहिगे संत अनंत।
आछी करै सो रामजी, के सतगुरु के मंत॥

अथ झूलना गुरुदेवको अंग

परमा गुरुदेव मो सिर तपे, निज नाम निशान रखावता है।
मत भौंज भरम्म करम दूरा, जिन जम की पास छुड़ावता है॥
दरियाव दुख्खन सूँ काढ़ लेवे, सुख सागर माँयँ झुलावता है।
कर सेवग रामहि सेव सदा, उर ज्ञान वैराग उपावता है॥

बंदे चेतन होय चितार साईं, सतगुरु दे ज्ञान चेतावता है।
नित निरभे अति आनंद करे, काल कीरते जीव बँचावता है॥
सचा सैंण सों साइ मिलाय देवे, जग झूठा कूँ झूठ बतावता है।
कहै सेवगराम समझ नीके, सब सुख दे दुःख छुडावता है॥

उपदेश

नर जाग जगावत हैं सतगुरु, अब सोय रह्यौं कैसे रहिये रे।
सठ! आग गिरे माँहि काँहि जरे, चल साध सँगत में रँजिये रे॥
नित लाग रहो निज नाम सेती, इक सँग विषयन का तजिये रे।
तेरा भाग बड़ा भगवंत भजो, कहै सेवगराम समझिये रे॥

सब दानव देव पुनंग कहा, यह धर्म है चारूँ वरण का रे।
पुंन नर रु नार अंतज येहि, फिर मुसल्मान हिंदुन का रे॥
तुम पैंडा पिंजर में पेश करो, नर यहि है राह रसूल का रे।
कहै सेवग रामहि राम रटो, निज जानिये मंत्र मूल का रे॥

चेतावनी

इन देख दया मोहि आवत है,
नर मार मुगदर खायेगा रे।
यौं तो किये करम निशँक मानी,
यहाँ तो ज्वाब कछु नहि आयेगा रे॥
इक पूछ हिसाब हजूर माहिं,
जब लेखा दिया नहिं जायगा रे।
कहै सेवग स्याम सूँ चोर भया,
नर जम के हाथ बिकायगा रे॥

देखो देखो दुनीन की दोस्ती रे,
मोहि देख अचंभाहि आत है रे।
कछु सार असार विचार नहीं,
सठ छाड़ अमी, बिष खात है रे॥
नित भोगत भोग अघाय नहीं,
सिर येहि दिनों वे ही रात है रे।
सुन सेवगराम हैरान भया,
कछु बात कही नहिं जात है रे॥

कोउ जात न पाँत कुटुँब तेरा,
घर धाम धरया रहै जायेगा रे।
अरु मात न तात न भ्रात सँगी,
सब सुत दारा न्यारा थायेगा रे॥
जब जम जोरावर आय घेरे,
तब आडा कोउ नहिं आयेगा रे।
कहै सेवगराम सँभार साँई,
ए तो जीव अकेला ही जायेगा रे॥

पद

अब कहा सोय राम कह भाई। रैन गई बासर भयो आई॥
पूर्व पुन्य ते नर देह पाई। हरि बे मुख मत भूल गमाई॥
ताते एह उर करो विचारा। नर तन मिले न बारंबारा॥
जात कपूर उड़े कर सेती। तो बहुरे आ नहिं जेती॥
तिरिया तेल चढै इक बारा। बहुरि न चढ़हि दूसरी बारा॥
केल फूल फल एक हि होई। बहुरे फल लागे नहिं कोई॥
काच फूट किरची हुय जावे। सो बहुरे साबत नहिं थावे॥
सत्तिया छिटक परी सिंध माँहीं। सो कबहूँ कर आवे नाहीं॥
एक बार कागज लिख सोई। जो दूसर लिखिहै नहिं कोई॥
जो मोती बींधत जो फूटा। तो कबहूँ मीले नहिं पूठा॥
फाट पषाण तेड़ जो आई। सो कबहूँ मीलै न मिलाई॥
सती सिंगार किया सज सोई। या तन ओर करै नहिं कोई॥
ऐसे ही यह नर तन कहिये। सो विनसै बहुरै नहिं पइये॥
नर तन अखै होय तब भाई। सेवगराम राम लिव लाई॥

या में कोई नहीं नर तेरो रे।
राम संत गुरुदेव बिना है, सब ही जगत अँधेरो रे॥
हृदय देख विचार खोज कर, दे मन माही फेरो रे।
आयो कौन चले कौन संगी, सहर सराय बसेरो रे॥
मात पिता सुत कुटुँब कबीलो, सब कह मेरो मेरो रे।
जब जम किंकर पास गहे गल, तहाँ नहीं कोइ तेरो रे॥
धरिया रहे धाम धन सब ही, छिन में करो निवेरो रे।
आयो ज्यूँ ही चले उठ रीतो, ले न सके कछु डेरो रे॥
मगन होय सब कर्म कमावे, संक नहीं हरि केरो रे।
होय हिसाब, ज्वाब जब पूछे, यहाँ न होय उबेरो रे॥
निरपख न्याय सदा समता से, राव रंक सब केरो रे।
जैसा करे तैसा भुगतावे, भुगत्यों होय निवेरो रे॥
अबही चेत हेत कर हरि से, अजहूँ हरि पद नेरो रे।
सतगुरु साध सँगत जग माँही, भव तिरने को बेरो रे॥
होय हुँशियार सिंवर ले साँई, मान कह्यो अब मेरो रे।
सेवगराम कह कह समझावै, परसराम को चेरो रे॥

सुखमें विस्मृति और दुःखमें पूजा

दुख में सुमिरन सब करैं सुख में करै न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करै दुख काहेको होय ॥

स्वास्थ्य, सम्पत्ति और स्वजन—सभी सुख प्राप्त हैं तो भगवान्‌को पूछे कौन ? भगवान्‌का कोई चित्र, कोई मूर्ति घरमें रहे—यह तो घरकी सजावटका एक अङ्ग है । नास्तिकता नहीं आयी, ईश्वर और धर्मके नामसे शत्रुता नहीं हो गयी, यही बहुत मानना चाहिये । जैसे घरमें सजावटके दूसरे उपकरण हैं, भगवान्‌की भी एक संगमरमरकी मूर्ति धरी है ।

प्रारब्ध अनुकूल है । सम्पत्तिका अभाव नहीं है । शरीर स्वस्थ है । पत्नी अनुकूल है और संतान भी हैं । अब आमोद-प्रमोद तथा अधिकाधिक उपार्जनकी चिन्तासे अवकाश कहाँ है कि भगवान्‌की बात सोची जाय । प्रातःकाल होते ही चाय और अखबार आ जाता है । पत्नी आरामसे बैठी मोजे बुनती है । बच्चे खाते-खेलते हैं ।

'भगवान्‌का भजन—हाँ करना तो चाहिये; किंतु यह बुढ़ापेका काम है । जिनके पास समय है, वे उसका सदुपयोग कर सकते हैं । यहाँ तो समय ही नहीं मिलता । अवकाश प्राप्त होनेपर भजन करनेका विचार तो है ।' आजका सुसभ्य सम्पन्न व्यक्ति ऐसे विचार प्रकट करे तो उसे आस्तिक एवं भद्रपुरुष ही मानना होगा । भजन करना समयका दुरुपयोग है—कम-से-कम यह तो वह नहीं कहता ।

× × ×

भगवती लक्ष्मी कहीं स्थिर नहीं रहतीं । प्रारब्ध सदा सानुकूल नहीं रहा करता । दिवाला निकल गया—सम्पत्ति चली गयी । कल जो समाजमें सत्कृत था, सम्पन्न था, वही भद्रपुरुष कंगाल हो गया । आज उसे कहीं मुख दिखानेमें भी लज्जा आती है ।

विपत्तियाँ साथ आती हैं । मुकदमा चल रहा है और घरमें बच्चा बीमार पड़ा है । अब विपत्तिमें मनुष्य दयामय अशरणशरण भगवान्‌की शरण न ले तो जाय कहाँ ?

भगवान्‌की श्रीमूर्ति—जी, अब वह श्रीमूर्ति है । आराध्य प्रतिमा है । साक्षात् भगवान् हैं । घरका स्वामी बड़ी विधिसे पूजा और आर्तभावसे प्रार्थना करता है । घरके सभी सदस्य बारी-बारीसे पूजा करते हैं, आरती करते हैं और करुण प्रार्थना करते हैं ।

कंगाली, चिन्ता और बीमारीसे ग्रस्त यह परिवार—भगवान्‌के भजन-पूजनके लिये अवकाशका प्रश्न कहाँ है । भगवान् ही तो एकमात्र आधार हैं इस विपत्तिमें । उनका पूजन, उनकी प्रार्थना—जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग—सबसे आवश्यक कार्य यही तो है ।

देवी कुन्तीने इसीसे श्रीकृष्णचन्द्रसे विपत्ति-का वरदान माँगा—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥
(श्रीमद्भा० १।८।२५)

सुखमें विस्मृति, दुःखमें पूजा

सुखमें विस्मृति और दुःखमें पूजा

दुख में सुमिरन सब करैं सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै दुख काहेको होय॥

स्वास्थ्य, सम्पत्ति और स्वजन—सभी सुख प्राप्त हैं तो भगवान्‌को पूछे कौन ? भगवान्‌का कोई चित्र, कोई मूर्ति घरमें रहे—यह तो घरकी सजावटका एक अङ्ग है। नास्तिकता नहीं आयी, ईश्वर और धर्मके नामसे शत्रुता नहीं हो गयी, यही बहुत मानना चाहिये। जैसे घरमें सजावटके दूसरे उपकरण हैं, भगवान्‌की भी एक संगमरमरकी मूर्ति धरी है।

प्रारब्ध अनुकूल है। सम्पत्तिका अभाव नहीं है। शरीर स्वस्थ है। पत्नी अनुकूल है और संतान भी हैं। अब आमोद-प्रमोद तथा अधिकाधिक उपार्जनकी चिन्तासे अवकाश कहाँ है कि भगवान्‌की बात सोची जाय। प्रातःकाल होते ही चाय और अखबार आ जाता है। पत्नी आरामसे बैठी मोजे बुनती है। बच्चे खाते-खेलते हैं।

'भगवान्‌का भजन—हाँ करना तो चाहिये; किंतु यह बुढ़ापेका काम है। जिनके पास समय है, वे उसका सदुपयोग कर सकते हैं। यहाँ तो समय ही नहीं मिलता। अवकाश प्राप्त होनेपर भजन करनेका विचार तो है।' आजका सुसभ्य सम्पन्न व्यक्ति ऐसे विचार प्रकट करे तो उसे आस्तिक एवं भद्रपुरुष ही मानना होगा। भजन करना समयका दुरुपयोग है—कम-से-कम यह तो वह नहीं कहता।

× × ×

भगवती लक्ष्मी कहीं स्थिर नहीं [illegible] सदा सानुकूल नहीं रहा करता। [illegible] गया—सम्पत्ति चली गयी। [illegible] सत्कृत था, सम्पन्न था, वही [illegible] गया। आज उसे कहीं सुख दिखायी [illegible] आती है।

विपत्तियाँ साथ आती हैं। [illegible] है और घरमें बच्चा बीमार पड़ा है। [illegible] मनुष्य दयामय अशरणशरण [illegible] ले तो जाय कहाँ ?

भगवान्‌की श्रीमूर्ति—जी, [illegible] है। आराध्य प्रतिमा है। [illegible] घरका स्वामी बड़ी विधिसे पूजा [illegible] प्रार्थना करता है। घरके सभी [illegible] से पूजा करते हैं, आरती करते [illegible] प्रार्थना करते हैं।

कंगाली, चिन्ता और [illegible] परिवार—भगवान्‌के भजन [illegible] का प्रश्न कहाँ है। भगवान् ही [illegible] हैं इस विपत्तिमें। उनका [illegible] जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण [illegible] कार्य यही तो है।

देवी कुन्तीने इसीसे [illegible] का वरदान माँगा—

विपदः सन्तु नः शश्वत् [illegible]
भवतो दर्शनं [illegible]
([illegible])

सुखमें विस्मृति, दुःखमें पूजा

सफलतामें सत्कार

असफलतामें दुत्कार

संसारके सम्मानका स्वरूप

संसारके लोग सम्मान करें, घरके लोग सत्कार करें—कौन नहीं चाहेगा ? सम्मान किसे मीठा नहीं लगता ?

लोग हमारा सम्मान करते हैं, लोग हमारा सत्कार करते हैं—कितना मोह है । इससे बड़ा भ्रम कोई दूसरा भी होगा—कठिन ही है ।

संसार केवल सफलताका सम्मान करता है। घरके लोग केवल अपने स्वार्थकी सिद्धिका सत्कार करते हैं । व्यक्तिका कोई सम्मान या सत्कार नहीं करता ।

एक व्यक्ति युवक है, स्वस्थ है, सबल है । भाग्य अनुकूल है । उपार्जन करके घर लौटा है । घरके लोग बड़ी उमंगसे उसका स्वागत करते हैं । पत्नीका तो वह पूज्य ही है, वह चरणोंपर पुष्प चढ़ाती है, माता आरती उतारती है, पिता आलिङ्गन करनेको आगे बढ़ते हैं । घरके भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी, सभी स्त्री-पुरुष उसके सत्कारमें जुट पड़ते हैं । घरके लोग तो घरके हैं—पास-पड़ोसके लोग, ब्राह्मण तथा जाति-भाई, छोटे-बड़े सभी परिचित उससे मिलने दौड़े आते हैं । उसे आशीर्वाद मिलता है, सम्मान प्राप्त होता है । अपरिचित भी उससे परिचय करनेको उत्सुक हो उठते हैं ।

उसमें गुण-ही-गुण दीखते हैं सबको । उसकी भूलें भी गुण जान पड़ती हैं । उसे स्वयं लगता है—संसार बड़ा सुखप्रद है । लोग बड़े ही सज्जन, सुशील और स्नेही हैं ।

यह उस व्यक्तिका स्वागत-सम्मान है ? यह उसके गुणोंकी पूजा है ? वह भले भूल जाय, लोग मुखसे भले बार-बार उसकी और उसके गुणोंकी प्रशंसा करते न थकें—है यह केवल उसकी सफलताकी पूजा । उसने सफलता प्राप्त की, उससे परिवारका स्वार्थ सिद्ध हुआ—बस, उसके सम्मानका यही कारण है ।

× × ×

व्यक्ति वही है । उसके वे गुण कहीं नहीं चले गये । हुआ इतना कि वह निर्धन हो गया । भाग्य उसके अनुकूल नहीं रहा । उसे उद्योगोंमें सफलता नहीं मिली ।

किसीके वशकी बात है कि वह रोगी न हो ? कालकी गतिको कोई कैसे अटका सकता है और चञ्चला लक्ष्मी जब जाना चाहती हैं—उन्हें कोई रोक सका है ? इसमें मनुष्यका क्या दोष ?

उसकी उम्र बड़ी हो गयी, वह शक्तिहीन हो गया, उद्योगोंमें असफल होकर कंगाल हो गया—इसमें उसका कुछ दोष है ?

दूसरे और घरके सभीका व्यवहार उसके प्रति ऐसा हो गया है जैसे यह सब उसीका दोष है । उसके गुण भी सबको दोष जान पड़ते हैं । वह कोई शुभ सम्मति भी देना चाहता है तो दुत्कार दिया जाता है ।

पास-पड़ोसके परिचित—उसके मित्रतक द्वार-के सामनेसे चले जाते हैं और पुकारनेपर भी उसकी ओर देखतेतक नहीं । बड़ी शिष्टता कोई दिखलाता है तो कह देता है—'बहुत आवश्यक कामसे जा रहा हूँ । फिर कभी आऊँगा ।' 'वह फिर कभी'—जानता है कि उसे कभी नहीं आना है ।

अपने घरके लोग, अपने सगे पुत्रतक उसे बार-बार झिड़क देते हैं । वह कुछ पूछता है तो उसे कहा जाता है—'तुमसे चुपचाप पड़े भी नहीं रहा जाता ।'

उसकी अपनी पत्नी—वही पत्नी जो कभी उसके पैरोंकी पूजा करती थी—दो क्षणको उसके पास नहीं बैठती । कोई काम न रहनेपर भी वह उससे दूर—उससे मुख फिराकर बैठे रहना चाहती है । माता गालियाँ बकती हैं; पिता इज्जत बर्बाद कर देनेवाले बेटेको मारने दौड़ते हैं ।

उसका वह पुराना स्वागत, वह सत्कार, वह स्नेह, और आजका यह तिरस्कार, यह उपेक्षा—लेकिन संसारने उसका स्वागत किया कब था । संसार तो सफलताका स्वागत करता है । मनुष्य संसारके इस सम्मानके धोखेमें पड़ा रहे—पड़ा करे—उसीका तो अज्ञान है ।

काल जीव, लोभ रै कारण खाली मती जमारो खोय।
करता जो लिखिया कँकँरा, काजल तणा करै नहिं कोय॥
भज रे तरण तारण नु प्राणिया! दूजाँ री काँनी मत देख।
किरोड़ प्रकार टलै नहिं किण सूँ, लिखिया जिके विधाता लेख॥

भक्त कवियित्री समानबाई चारण

[गाँव—मावी, राजस्थान]

(प्रेषक—चौधरी श्रीशिवसिंह महारामजी)

भव सागर नीर भरयो त्रिसना तिहि,
मध्य में मोह है ग्राह भयंकर।
जीव गयंद रु आसा-त्रिया,
स्वकुटुम्ब मनोरथ संग भयो भर॥
मोह के फंद परयो बस कर्म तें,
हाल सकै नहिं चाल गयो गर।
सो घनस्याम! 'समान' कहे,
करिये अब बेग सहाय लगै डर॥

संत बाबा लाल

(पंजाबके प्रसिद्ध महात्मा, जन्म-स्थान—कुसूर (लाहौरके पास), जन्म—वि० सं० १६४७, खत्रीकुलमें, शरीरान्त—वि० सं० १७१२।)

चौपाई

जाके अंतर ब्रह्म प्रतीत। धरै मौन भावै गावै गीत॥
निसदिन उन्मन रहित खुमार। शब्द सुरत सुध एको तार॥
ना गृह गहे न बन को जाय। लाल दयालु सुख आतम पाय॥

साखी

आशा विषय विकार की, बाँध्या जग संसार।
लख चौरासी फेर में, भरमत बारंबार॥
जिह की आशा कछु नहीं, आतम राखे सुन्य।
तिह को नहि कछु भर्मणा, लागे पाप न पुन्य॥
देही भीतर श्वास है, श्वासा भीतर जीव।
जीवे भीतर वासना, किस विध पाइये पीव॥
जाके अंतर वासना, बाहर धारे ध्यान।
तिह को गोविंद ना मिले, अंत होत है हान॥

भक्त श्रीनारायण स्वामीजी

(सारस्वत ब्राह्मण, जन्म—वि० सं० १८८५ या ८६ के लगभग, रावलपिंडी (पंजाब) जिला। शरीरान्त—फाल्गुन कृष्ण ११, वि० सं० १९५७, श्रीगोवर्धनके समीप कुसुमसरोवरपर श्रीउद्धवमन्दिर।)

श्रीकृष्णका प्रेम

स्याम लगन की चोट बुरी री।
ज्यों ज्यों नाम लेति तू वाको,
सो घायल पै नोन पुरी री॥
ना जानौं अब सुध बुध मेरी,
कौन बिपिन में जाय दुरी री।
'नारायन' नहिं सूरत सजनी, जाकी जामें प्रीति जुरी री॥

चाहे तू जोग करि भ्रकुटी मध्य ध्यान धरि,
चाहे नाम रूप मिथ्या जानि कै निहारि लै।
निर्गुन, निर्भय, निराकार ज्योति व्याप रही,
ऐसो तत्त्वज्ञान निज मन में तू धारि लै॥
'नारायन' अपने को आपुही बखान करि,
मोतें वह भिन्न नहीं या बिधि पुकारि लै।
जौलौं तोहि नंद को कुमार नाहिं दृष्टि परयो,
तौ लौं तू भले बैठि ब्रह्म कों बिचारि लै॥

प्रीतम, तू मोहि प्रान तें प्यारो।
जो तोहि देखि हियो सुख पावत, सो बड़ भागनिवारो॥
तू जीवन धन, सरबस तूँ ही, तुही लगन को तारो।
जो तोकों पल भर न निहारूँ, दीखत जग अँधियारो॥
मोर बढावन के कारन हम, [illegible] कहीं पगो।
'नारायन' हम दोउ एक हैं, फूल सुगंध न न्यारो॥

[illegible] स्याम [illegible] घनस्याम की।
[illegible]॥

छबि निहार नहिं रहत सार कछु, घरि पल निसि दिन जाम की।
जित मुँह उठै तितैहीं धावै, सुरति न छाया घाम की ॥
अस्तुति निंदा करौ भलै हीं, मेड़ तजी कुल ग्राम की।
'नारायन' बौरी भइ डोलै, रही न काहू काम की ॥

मूरख छाड़ि बृथा अभिमान।
औसर बीत चल्यौ है तेरो दो दिन कौ महमान ॥
भूप अनेक भये पृथिवी पर, रूप तेज बलवान।
कौन बचौ या काल-ब्याल तें मिटि गये नाम निसान ॥
धवल धाम, धन, गज, रथ, सेना, नारी चंद्र समान।
अंत समय सबहीं कों तजि कैं, जाय बसे समसान ॥
तजि सतसंग भ्रमत बिषयन में, जा बिधि मरकट, स्वान।
छिन भरि बैठि न सुमरिन कीन्हो, जासों होय कल्यान ॥
रे मन मूढ़, अनत जनि भटकै, मेरो कह्यौ अब मान।
'नारायन' ब्रजराज कुँवर सों, बेगहिं करि पहिचान ॥

मोहन बसि गयो मेरे मन में।
लोक-लाज कुल-कानि छूटि गई, याकी नेह-लगन में ॥
जित देखूँ तितही वह दीखै, घर-बाहर, आँगन में।
अंग-अंग प्रति रोम-रोम में, छाय रह्यो तन-मन में ॥
कुंडल-झलक कपोलन सोहै, बाजूबंद भुजन में।
कंकन कलित ललित बनमाला, नूपुर धुनि चरनन में ॥
चपल नैन, भ्रकुटी बर बाँकी, ठाढ़ौ सघन लतन में।
'नारायन' बिन मोल बिकी हौं, याकी नैंक हसन में ॥

नयनों रे, चित चोर बतावौ।
तुमहीं रहत भवन रखवारे, बाँके बीर कहावौ ॥
तुम्हरे बीच गयो मन मेरो, चाहे सौंहैं खावौ।
अब क्यों रोवत हौ दइमारे, कहुँ तौ थाह लगावौ ॥
घर के भेदी बैठि द्वार पै, दिन में घर लुटवावौ।
'नारायन' मोहि बस्तु न चहिये, लेवनहार दिखावौ ॥

लावनी

रूपरसिक, मोहन, मनोज-मन-हरन, सकल-गुन-गरबीले।
छैल-छबीले चपललोचन चकोर चित चटकीले ॥टेक॥
रतनजटित सिर मुकुट लटक रहि सिमट स्याम लट घुँघुरारी।
बाल बिहारी कन्हैयालाल, चतुर, तेरी बलिहारी ॥
लोलक मोती कान कपोलन झलक बनी निरमल प्यारी।
ज्योति उज्यारी, हमें हर बार दरस दे गिरिधारी ॥
बिज्जुछटा-सी दंतछटा मुख देखि सरद-ससि सरमीले।
छैल-छबीले, चपललोचन चकोर चित चटकीले ॥

मंद हँसन, मृदु बचन तोतले बय किसोर भोले भाले।
करत चोचले, अमोलक अधर पीक रच रहि लाले।
फूल गुलाब चिबुक सुंदरता, रुचिर कंठछबि बनमाले।
कर सरोज में, बुंद मेहँदी अति अमंद है प्रतिपाले।
फूलछरी-सी नरम कमर करधनी-सब्द है दुसीले।
छैल-छबीले, चपललोचन चकोर चित चटकीले।

अँगुली झीन जरीपट कछनी, स्यामल गात सुहात भले।
चाल निराली, चरन कोमल पंकज के पात भले।
पग नूपुर झनकार परम उत्तम जसुमति के तात भले।
संग सखन के, जमुनतट गौ-बछरान चरात भले।
ब्रज-जुवतिन कौ प्रेम निरखि कर घर-घर माखन गटकीले।
छैल-छबीले, चपललोचन चकोर चित चटकीले।

गावैं बाग-बिलास चरित हरि सरद-रैन रस-रास रले।
मुनिजन मोहैं, कृष्ण कंसादिक खल-दल नास करे।
गिरिधारी महाराज सदा श्रीब्रज बृन्दावन बास रले।
हरिचरित्र कों स्रवन सुन-सुन करि अति अभिलास रले।
हाथ जोरि करि करै बीनती 'नारायन' दिल हटीले।
छैल-छबीले, चपललोचन चकोर चित चटकीले।

चेतावनी और वैराग्य

बहुत गई थोरी रही, नारायन अब चेत।
काल चिरैया चुग रही, निस दिन आयू खेत ॥
नारायन सुख भोग में, तू लंपट दिन रैन।
अंतसमय आयो निकट, देख खोल के नैन ॥
धन जोबन यों जायगो, जा बिधि उड़त कपूर।
नारायन गोपाल भजि, क्यों चाटै जग धूर ॥
जंभक सुंभ निसुंभ अरु, त्रिपुर आदि है सूर।
नारायन या काल ने, किये सकल मद चूर ॥
हिरन्याच्छ जग में बिदित, हिरनकसिपु बलवान।
नारायन छन में भये, यह सब गरद समान ॥
सगर नहुष जजाति पट, और अनेक महीप।
नारायन अब वह कहाँ, गुल भए ज्यों दीप ॥
कुंभकरन दसकंठ से, नारायन रनधीर।
भए सकल गट कालबस, जिन के कुलिस सरीर ॥
दुर्जोधन जग में प्रगट, सहसभुज त्रिभुवाल।
नारायन सो अब कहाँ, अभिमानी भूपाल ॥

नारायन संसार में, भूपति भए अनेक ।
मैं मेरी करते रहे, लै न गये तृन एक ॥
भुज बल जीते लोक सब, निरभय सुख धन धाम ।
नारायन तिन नृपन को, लिख्यो रह गयो नाम ॥
हाथ जोरि ठाढ़ो रह्यो, जिन के सन्मुख काल ।
नारायन सोऊ चली, परे काल के गाल ॥
नारायन नर खंड में, निरभय जिन को राज ।
ऐसे विदित महीप जग, भखे काल महाराज ॥
गज तुरंग रथ सैन अति, निस दिन जिन के द्वार ।
नारायन सो अब कहाँ, देखो आँख पसार ॥
नारायन निज हाथ पै, जे नर धरत सुमेर ।
सोउ वीर या भूमि पै, भये राख के ढेर ॥
जिन के सहजहिं पग धरत, रज सम होत पखान ।
नारायन तिन को कहूँ, रह्यो न नाम निसान ॥
नारायन जिन के भवन, विधि सम भोग विलास ।
अंत समय सब छाँड़ि के, भए काल के ग्रास ॥
जिन को रूप निहार के, रवि ससि रथ ठहरात ।
नारायन ते स्वप्न सम, भए मनोहर गात ॥
चटक मटक नित छैल बन, तकत चलत चहुँ ओर ।
नारायन यह सुधि नहीं, आज मरैं कै भोर ॥
नारायन जब अंत में, यम पकरैंगे बाँह ।
तिन सों भी कहियो हमैं, अभी मोफतो नाँह ॥
कोउ नहीं अपनो सगो, बिन राधा गोपाल ।
नारायन तू वृथा मति, परै जगत के जाल ॥
मन लाग्यो सुख भोग में, तरन चहै संसार ।
नारायन कैसे बनै, दिवस रैन को प्यार ॥
विद्यावत स्वरूप गुन, सुत दारा सुख भोग ।
नारायन हरि भक्ति बिन, यह सबही हैं रोग ॥
नारायन निज हिये में, अपने दोष विचार ।
ता पीछे तू और के, अवगुन भले निहार ॥

संत-लक्षण

तजि पर औगुन नीर को, छीर गुनन सों प्रीति ।
हंस संत की सर्वदा, नारायन यह रीति ॥
कनक मान मन में नहीं, सब सों राखत प्यार ।
नारायन ता संत पै, बार बार बलिहार ॥
अति छमाछ संतोष वृति, जुगल चरन में प्रीत ।
नारायन ते संत वर, कोमल वचन विनीत ॥
उदासीन जग सों रहै, जया मान अपमान ।
नारायन ते संत जन, निपुन भावना ध्यान ॥
मगन रहैं नित भजन में, चलत न चाल कुचाल ।
नारायन ते जानिये, यह लालन के लाल ॥
परहित प्रीति उदार चित, विगत दंभ मद रोष ।
नारायन दुख में लखैं, निज कर्मन को दोष ॥
भक्ति कलपतरु पात गुन, कथा फूल बहु रस ।
नारायन हरि प्रेम फल, चाहत संत विहग ॥
संत जगत में सो सुखी, मैं मेरी को त्याग ।
नारायन गोविंद पद, दृढ़ राखत अनुराग ॥
जिन कें पूरन भक्ति है, ते सब सों आधीन ।
नारायन तजि मान मद, ध्यान सलिल के मीन ॥
नारायन हरि भक्त की, प्रथम यही पहचान ।
आप अमानी है रहै, देत और को मान ॥
कपट गाँठि मन में नहीं, सब सों सरल सुभाव ।
नारायन ता भक्त की, लगी किनारे नाव ॥
जिन को मन हरि पद कमल, निसि दिन भ्रमर समान ।
नारायन तिन सों मिलें, कबूँ न होवै हान ॥

श्रीकृष्णका स्वरूप-सौन्दर्य

रतिपति छवि निंदत बदन, नील जलज सम स्याम ।
नव जौवन मृदु हास वर, रूप रासि सुख धाम ॥
ऋतु अनुसार सुहावने, अद्भुत पहरे चीर ।
जो निज छवि सों हरत हैं, धीरजहू को धीर ॥
मोर मुकुट की निरखि छवि, लाजत मदन किरोर ।
चंद्र वदन सुख सदन पै, भावुक नैन चकोर ॥
जिन मोरन के पंख हरि, राखत अपने सीस ।
तिन के भागन की सखी, कौन कर सकै रीस ॥
घुँघरारी अलकावली, मुख पै देत बहार ।
रसिक मीन मन के लिये, काँटे अति अनियार ॥
मकराकृत कुण्डल श्रवण, झाईं परत कपोल ।
रूप सरोवर माहिं है, मछरी करत कलोल ॥
सुक लजात लखि नासिका, अद्भुत छवि की सार ।
ता में इक मोती परयो, अजब सुरादीदार ॥
दसन पाँति मुतियन लरी, अधर ललाई पान ।
ताहू पै हँसि हेरबो, को लखि बचै सुजान ॥
मृदु मुसिक्यान निहारि के, धीर धरत है कौन ।
नारायन कै तन तजै, कै बौरा, कै मौन ॥

सदाचारद्वारा ही धर्मके स्वरूपका बोध होता है। परमात्माके माहात्म्यज्ञानके द्वारा उनमें जो आत्यन्तिक स्नेह होता है, वही भक्ति है। भगवान्‌से रहित अन्यान्य पदार्थोंमें जो प्रीतिका अभाव होता है, उसीका नाम वैराग्य है। तथा जीव, ईश्वर और माया—इन तीनोंके स्वरूपको जान लेना ही ज्ञान कहलाता है।

श्रीमुक्तानन्द स्वामी

(पूर्वाश्रम-नाम-मुकुन्द। जन्म-सं० १८१४ पौष कृ० ६ काठियावाड प्रान्तके अमरापुर नामक ग्राममें। पिताका नाम—मार्गीबावा। देहावमान-सं० १८८७ आषाढ़ कृष्णा एकादशी।)

नारद मेरे संतसे अधिक न कोई।
मम उर संत रु मैं संतन उर, वास करूँ थिर होई॥ ना०॥
कमला मेरी करत उपासन, मान चपलता खोई।
यदपि वास दियो मैं उरपर, संतन सम नहिं होई॥ ना०॥
भू को भार हरूँ संतन हित, करूँ छाया कर दोई।
जो मेरे संत को गति इक दूषत, तेहि जड़ डारूँ मैं खोई॥ ना०॥
जिन नर तनु धरि संत न सेवे, तिन निज जननि बिगोई।
'मुक्तानंद' कहत यूँ मोहन, प्रिय मोहे जन निरमोही॥ ना०॥

श्रीब्रह्मानन्द स्वामी

(जन्म—सं० १८२९। गुरुका नाम-स्वामिनारायणजी)

ऐसे संत सबे जग माँहि फिरैं, नहिं चाहत लोभ हराम कूँ जी।
सदा सील संतोष रहे घट भीतर, कैद किये क्रोध काम कूँ जी॥
अरु जीभहूँ से कबौं झूठ न भाखत, गाँठ न राखत दाम कूँ जी।
'ब्रह्मानंद' कहे सत बारताकूँ ऐसे संत मिलावत राम कूँ जी॥

श्रीनिष्कुलानन्द स्वामी

(जन्म—सं० १८२२ शेखपाट नामक गाँवमें। जन्म-नाम—लालजी। पिताका नाम—राम भाई। माताका नाम—अमृतबा। जाति—विश्वकर्मा (बढ़ई)। तिरोभाव—धोलेरा नगरमें सं० १९०४।)

संतकृपा सुख ऊपजै, संतकृपा सरे काम।
संतकृपा से पाइये, पूरण पुरुषोत्तम धाम॥
संतकृपा से सद्गति जागे, संतकृपा से सद्गुन।
संतकृपा बिन साधुता, कहिये पाया कौन॥
कामदुघा अरु कल्पतरु, पारस चिंतामणि च्यार।
संत समान कोई नहीं, मैंने मन किये विचार॥

त्याग न टके रे वैराग विना, करिये कोटि उपाय जी।
अन्तर ऊँडी इच्छा रहे, ते केम करीने तजाय जी॥
वेष लीधो वैरागनो, देश रही गयो दूर जी।
उपर वेष आछो बन्यो, मांही मोह भरपूर जी॥
काम क्रोध लोभ मोहनु, ज्यां लगी मूळ न जाय जी।
संग प्रसंगे पाँगरे, जोग भोगनो थाय जी॥
उष्ण रते अवनी विषे, बीज नव दीसे बहार जी।
घन वरसे वन पांगरे, इन्द्रिय विषय आकार जी॥
चमक देखीने लोह चळे, इन्द्रिय विषय संजोग जी।
अणभेटे रे अभाव छे, भेटे भोगवशे भोग जी॥
उपर तजे ने अंतर भजे, एम न सरे अरथ जी।
वणस्यो रे वर्णाश्रम थकी, अंते करशे अनरथ जी॥
भ्रष्ट थयो जोग भोग थी, जेम बगड्युं दूध जी।
गयुं घृत मही माखण थकी, आपे थयुं रे अशुद्ध जी॥
पळमाँ जोगी ने भोगी पळमाँ, पळमाँ गृही ने त्यागी जी।
'निष्कुलानंद' ए नरनो, वणसमज्यो वैराग जी॥

श्रीगुणातीतानन्द स्वामी

(जन्म-सं०—१८४१ आश्विन शुक्ला पूर्णिमा। जाति—[illegible] ब्राह्मण। पिताका नाम—[illegible]। माताका नाम—[illegible]। देहावसान—१९२३ आश्विन शुक्ला ११।)

नित्य मुक्तसे अक्षरमुक्त अत्यधिक ऊँचा है और भगवान्‌में लवलीन रहते हैं। पुरुषोत्तम भगवान्‌की [illegible] भगवद्दर्शनका सुख तो निरन्तर[illegible] है। भगवान्‌की मूर्तिमें निमग्न रहते [illegible]। भगवद्दर्शन ही [illegible] प्राप्ति संत-समागमसे ही होती है; क्योंकि भजन ही एकमात्र कर्तव्य है।

संत शिवनारायणजी

(इनके सम्प्रदायानुसार जन्म—वि० सं० १७७३, कार्तिक शुक्ल ३ बृहस्पतिवार; पिताका नाम—श्रीबाघरायजी, माताका नाम—श्रीसुन्दरीदेवी, गुरुका नाम—दुखहरण (बलिया जिलेवाले); देहत्याग वि० सं० १८४८ । जन्म-स्थान—चँदवार ग्राम (जहूराबाद परगना, जिला गाजीपुर ।)

अंजन आँजिए निज सोइ ॥
जेहि अँजनसे तिमिर नासे, दृष्टि निरमल होइ ।
बैद सोइ जो पीर मिटावे, बहुरि पीर न होइ ॥
धेनु सोइ जो आप स्रवै, दूहिए बिनु नोइ ।
अंबु सोइ जो प्यास मेटे, बहुरि प्यास न होइ ॥
सरस साबुन सुरति धोबिन, मैल डारे धोइ ।
गुरू सोइ जो भरम टारै, द्वैत डारे धोइ ॥
आवागमन के सोच मेटै, सब्द सरूपी होइ ।
'शिवनारायण' एक दरसे, एकतार जो होइ ॥

सिपाही मन दूर खेलन मत जैये ॥
घटही में गंगा घटही में जमुना, तेहि बिच पैठि नहैये।
अछैहो बिरिछ की शीतल छहिया तेहि तरे बैठि नहैये॥
माता पिता तेरे घटही में, नित उठि दरसन पैये।
'शिवनारायण' कहि समुझावे, गुरु के सबद हिये कैये॥

वृन्दावन कान्हा मुरलि बजाई ॥
जो जैसहि तैसहि उठि धाई, कुल की लाज गँवाई।
जो न गई सो तो भई है बावरी, समुझि समुझि पछिताई॥
गौवन के मुख चैन चरत है, बछवा पियत न गाई।
'शिवनारायण' श्रवण सबद सुनि, पवन रहत अलसाई॥

संत तुलसी साहब

(जन्म-संवत्—१८१७ वि० (मतान्तरसे वि० सं० १८४५), स्थान—हाथरस, शरीरान्त—वि० सं० १८९९ (मतान्तरसे वि० सं० १९०० ज्येष्ठ शुक्ला २ ।)

अरे बेहोस गाफिल गुरू ना लखा,
बँधा बेपीर जंजीर माहीं ।
खुदी खुद खोइ बदबोइ रह ना रखो,
रहम दिल यार बिन प्यार साईं ॥
बाँधै जमजकड़ करि खंभ दोउ दस्त लै,
फरक मन मूढ़ फिरि समझ भाई ।
इसम से खलक जिन ख्याल पैदा किया,
तुलसी मन समझ तन फना जाई ॥

अरे मन मस्त बेहोस बस हो रहा,
जगत असार बस सार जावै ।
माया मद मोह जग सरम के भरम से,
करम के फंद परफंद भावै ॥
पेख दिन चार परिवार सुत देखि ले,
झूठ संसार नहिं काम आवै ।
दास तुलसी नर चेत चल बावरे,
बूझ बिन या नहीं पार पावै ॥

तेरा है यार तेरे तन के माहीं ।
कहते सब संत साध सास्तर भाई ॥
पूजन आतमा आदि सबने गाई ।
भूखे को देख दीन देना जाई ॥
तुलसी यह तत्त मत चीन्हे नाहीं ।
चीन्हे जिन भेद पाइ बूझे साईं ॥

इंद्री रस सुख स्वाद बाद ले जन्म गिगाया।
जिभ्या रस बस काज पेट भया बिश खाया॥
टुक जीवन के काज लाज मन में नहिं आवै।
अरे हाँरे (तुलसी) काल खड़ा सिर ऊपर घड़ी घड़ियाल बजावै॥

हाय हाय जहान में मौत बुरी,
काल जाल से रहन नहिं पावता है ॥
दिन चार संसार में कार कर ले,
फिर आन के खाक मिलावता है ।
तुलसी कर ख्याल का ज्वाब दूरि,
लख लाभ जो यार को पावता है ॥

भूल चेत अचेत में सोवता है,
दिन रात मँजिल कुल जात है रे ॥
उस साइ से बोल करार किया,
सोइ बोल का तोल विचार ले रे ।
(तुलसी) साह हिसाब कूँ जोवता है,
बिन साह के सूत सुन मार पड़े ॥

दिना चार का खेल है, झूँठा जगत पसार ।
जिन विचार पति ना लखा, बूड़े भौ-जल धार॥

ये दिन चार कुटुंब सों लार,
सो झूठ पसार के संग बँधानो ।
मात पिता सुत दार निहारि,
सो सार बिसारि के फंद फँदानो ॥
पानी से पिंड सँवारि कियौ,
नर ताहि बिसारि अनंद सो मानो ।
तुलसी तब की सुधि याद करौ,
उलटे मुख गर्भ रह्यौ लटकानो ॥

नर को तन साज न काज कियौ,
सो भये खर कूकर सूकर स्वाना ।
जानी न बात किया सँग साथ,
सो हाथ से लात जो खात निदाना ॥
बूझी नहिं ज्ञान की गैल गली,
सो अली अब पाप से होत अज्ञाना ।
तुलसी लख लार से चीन्ह पड़ी,
सोइ माल को खेत पयाल से जाना ॥

नर का जनम मिलता नहीं । गाफिल गरूरी ना रखो ॥
दिन दो बसेरा बास है । आखिर फना मरना सही ॥
बेहोस मौत सिर पै खड़ी । मारै निसाना ताक के ॥
हर दम सिकारै खेलता । जम से रहे मन हार के ॥
घेरा पड़ा है काल का । कोई बचन पावै नहीं ॥
जग में जुल्म होना पड़ी । इन से सबर देवै दई ॥
चलने के दिन थोड़े रहे । हर दम नगारा कूच का ॥
नहिं तू तेरा सगी भया । तुलसी तरक्का ना रिसा ॥

दिन चार है बसेरा । जग में न कोइ तेरा ॥
सबही बटाऊ लोग हैं । उठ जाहिंगे सबेरा ॥
अपनी करो फिकर । चलने की जो जिकर ॥
यहँ रहन का नहिं काम है । फिर जा करो नहिं फेरा ॥
तन में पवन बसेरे । जावे हवा नस देही ॥

टुक जीवने के कारने । दुख सहत क्यों जम केरा ॥
सुख देख क्यों भुलाना । कुछ दिन रहे पर जाना ॥
जैसे मुसाफिर रात रह । उठ जात है कर डेरा ॥
क्या सोवता पड़ा । जम द्वार पै खड़ा ॥
तुलसी तयारी भोर कर । फिर रात को अँधेरा ॥

क्या फिरत है भुलाना । दिन चार में चलाना ॥
काया कुटुम सब लोग यह । जग देख क्यों फुलाना ॥
धन माल मुल्क घनेरे । कहि कर गये बहुतेरे ॥
कितने जतन कर कर रहे । घट तत ना तुलाना ॥
हुसियार हो दिवाने । चलना मँजिल बिहाने ॥
बाकी रहे पर आवता । जमराय का बुलाना ॥
लिखते घड़ी घड़ी । कागज कलम चढ़ी ॥
तुलसी हुकम सरकार का । कहे देत हूँ उलाना ॥

क्या गाफिल होउ हुसियार, द्वार पर मौत खड़ी ॥
जम के चढ़ि चपरासी आये, हुकमी जुल्म करार ॥
तन पर तलब तगादा लाये, है घोड़े असवार ॥
पढ़ि परवान पकरि कर बाँधे, दे धक्के अगवार ॥
लेकर झपट चपट कर चोटी, धरि धरि जूतिन मार ॥
धरमराय जब लेखा माँगे, भागत गैल बिचार ॥
कर हिसाब कौड़ी कौड़ी का, लेत कठिन दरबार ॥
तुलसीदास काल की फाँसी, फेरि नरक में डार ॥
भटकत मान खान चौरासी, होत न जुग निर्वार ॥

नर तन मुख पर मूछ, नहीं कछु लाज लगे रे ॥
जम तुलसी के प्यादे आवे, पकरि करावैं कूच ॥
माता पिता कुटँब तन तिरिया, चलत न काहू पूछ ॥
धन माया सम्पति सुख सारे, माल मुल्क कुल ऊँच ॥
काल कराल जाल बिच बाँधे, जो जुल्म लख धूँछ ॥
तन सिराय पानी जम बुल्ला, फूटि पदम करि गोन ॥
करि करि कर्म बंध बिच बाँधे, पाप पुन्य धरि दूछ ॥
तुलसी तरक नरक बिच पाले, जास जोर तर तूछ ॥
सतगुर तेग तरक जम बाढ़ा, नाक कान कर बूच ॥

जात रे तन याद बिसाना ।
छिन छिन उमर घटत दिन राती,
सोवत कहा उठि जाग दिवाना ॥
यह देही बास सम भीती,
सिमरत पल देहोस हैराना ॥

ज्यौं गुलाल कुमकुम भरि मारे,
फेंक फूटि जिमि जात निदाना ॥
यह तन की अन आस अनाड़ी,
तैं विष बंधन फाँस फँदाना ॥
यह माया काया छिन भंगी,
रँग रस करि करि डारत खाना ॥
सुख सम्पति आसिक इंद्री में,
विष बस चौज मौज मन माना ॥
तुलसी ताव दाव यहि औसर,
बासर निसि गइ भजन न जाना ॥

मान रे मन मस्त मसानी ॥
पोखि पोखि तन बदन बढ़ाया।
सो तन बन जरै अग्नि निदानी ॥
कुटुँब बंधु मैया सुत नारी।
मरत कोऊ सँग जात न जानी ॥
यह संसार समझ दुखदाई।
पर बंधन नहिं परत निछानी ॥
जोइ जोइ पाप पुन्न जिन कीन्हे।
आप आप भव भुगतत खानी ॥
फूला बृच्छ फूल गिरि जावे।
तैं फूले पर कौन ठिकानी ॥
तुलसी जगत जान दिन चारी।
भारी भव बिच फाँस फँसानी ॥

रूप दे रस रहदा गंदे।
यह अँग अगिन जरे मन मूरख, खारू बदन बनाया वे।
धाया कीट करम रंजक तन, भट्टी बुरज उड़ाया वे ॥
ज्यौं काया महताब हवाई, जल थल खाक मिलाई।
जम की जाल जबर नहिं छूटे, छूटे अंग इलाही ॥
खाविंद का कर खोज खुदी कुल, खिलकत खोज न पाया वे।
पैदा किया खाक से पुतले, यारी यार भुलाया वे ॥
सब जहान दोजख दुनियाई, साहिब सुधि बिसराई।
जब लेखा लें ख्वाब फिरस्ते, हाजिर होय हिराई ॥
गाफिल गुनह गजब की बातें, कद्र फहमीद न खाया वे।
आतम हवा जिमीं जिन कीन्हा, आब और ताब बनाया वे ॥
मालिक मूल मेहर बिसराई, आलिम इल्म भोराई।
आदम बदन बनाया जिन ने, उनका कुफर कहाई ॥
खिल्कत पना गिरे दोजख में, यौं कुफरान कहाया वे।
भिस्त यह कुदरत पहचानें, सो कुछ ख्वाब न खाया वे ॥

इकताला कर पेच पसारा, तुलसी पकड़ मँगाई।
तोबा तोब गले नहिं फुरसत, मुरसिद यौं समझाई ॥

सुपना जग जागि चलो री, अपना कोइ चाहो भलो री।
गुर बिन ज्ञान ध्यान बिन धीरज, बीरज बदन बनो री ॥
बौरी काल हाल धरि खावे, बेरम बदन बनो री।
जगत जम जाल जलो री ॥
यह जम जोर जबर बहुतेरा, हेरा न हाथ परो री।
मुनि मन भूत पकरि धरि खावै, चावे केहि भाँति छलो री ॥
नजर मे न नेक टरौ री।
सब जिव जंत अंत धरि मारे, परेनं मरम मिलो री ॥
पिया बिन ध्यान धुवाँ को तिम्मिर, सेमर सुगना फलो री।
सोचि फल फोड़ि रहो री ॥
येहि बिधि जीव जतन जगही में, पुनि पुनि जनम धरो री ॥
आसा अंत मंत बिन सोचे, तुलसी नहिं अंत हिलो री।
पकड़ि पछतात फिरो री ॥

बिदेसन कहो कित भूली री।
या चमन में फूल भाँति भाँति के रँग,
तैं पिया के पौ पै करत अमूली री।
तू तो सिंगारी घूंग तोहिं ताहि को,
सुरति सुहाग भाग सो नगर को ॥
औसर बीति गई लखत न यारो,
तेरे मुख धूली री।
घर की डगर छूटी तन बीतो जात है,
याही नगर में समझ तू ले री ॥
पिया के पदर को पकर पद औसर,
जनम सुफल गोद चढ़ा पंथ पर।
हरख इजर भइ परख न यारो,
तुलसी अनमूली री ॥

घर नहिं कीन्हा डेरा।
या बावरिया मन बेकल कीन्हा, डेरा बहुतेरा ॥
छुगन छुगन जम बंधन कीन्हा, भरम भूल भटकत फेरो।
तासी तो सुरत तत मत न हेरा ॥
सब दिसे न सैन हित चित [illegible]।
तब नहिं पकरे सुरति खोज को, [illegible]।
काम क्रोध जर मदन बिचारे, [illegible]।
हीरो री पकरि कर पर न [illegible]।

संत शिवदयालसिंहजी (स्वामीजी महाराज)

(राधास्वामी सत्संगके मूल-प्रवर्तक । जन्म—आगरा नगरके पन्नीगली मुहल्लेमें वि० सं० १८७५ भादों बदी ८ । खत्री-परिवार।

[प्रेषक—श्रीजानकीप्रसादजी रायजादा 'विशारद']

जोड़ी री कोइ सुरत नाम से ॥
यह तन धन कुछ काम न आवे ।
पड़े लड़ाई जाम से ॥
अब तो समय मिला अति सुंदर ।
सीतल हो वच धाम से ॥
सुमिरन कर सेवा कर सतगुरु ।
मनहि हटाओ काम से ॥
मन इंद्री कुल बस कर राखो ।
पियो घूँट गुरु जाम से ॥
लगे ठिकाना मिले मुकामा ।
छूटो मन के दाम से ॥
भजन करो छोड़ो सब आलम ।
निकर चलो कलि-ग्राम से ॥
दम दम करो बेनती गुरु से ।
वही निकारें तने चाम से ॥
और उपाव न ऐसा कोई ।
रटन करो सुबह शाम से ॥
प्रीति लाय नित करो साध सँग ।
हट रहो जग के खासो आम से ॥
राधा स्वामी कहे सुनाई ।
लगो जाय सत नाम से ॥

चूनर मेरी मैली भई ।
अब कापै जाऊँ धुलान ॥
घाट घाट मैं खोजत हारी ।
धुबिया मिला न सुजान ॥
नइहर रहूँ कम पिया घर जाऊँ ।
बहुत मरे मेरे मान ॥
नित नित तरसूँ पल पल तड़पूँ ।
कोइ धोवे मेरी चूनर आन ॥
काम दुष्ट और मन अपराधी ।
और लगावें कीचड़ सान ॥
का से कहूँ सुने नहिं कोई ।
सब मिल करते मेरी हान ॥
सखी सहेली सब जुड़ आई ।
लगीं भेद बखान ॥
राधा स्वामी धुबिया भारी ।
प्रगटे आय जहान ॥

मुरलिया बाज रही । कोइ सुने संत धर ध्यान ॥
सो मुरली गुरु मोहिं सुनाई । लगे प्रेम के बान ॥
पिंडा छोड़ अंड तज भागी । सुनी अधर में अपूरब तान ॥
पाया शब्द मिली हंसन से । खैंच चढ़ाई सुरत कमान ॥
यह बंसी सत नाम बंस की । किया अजर घर अमृत पान ॥
भँवर गुफा ढिग सोइं बंसी । रीझ रही मैं सुन सुन तान ॥
इस मुरली का मर्म पिछानो । मिली शब्द की खान ॥
गई सुरत खोल वह द्वारा । पहुँची निज अस्थान ॥
सत्त पुरुष धुन बीन सुनाई । अद्भुत जिन की शान ॥
जिन जिन सुनी आन यह बंसी । दूर किया सब मन का मान ॥
सुरत सम्हारत निरत निहारत । पाय गई अब नाम निशान ॥
अलख अगाम और राधास्वामी । खेल रही अब उस मैदान ॥

संत पलटू साहब

(अयोध्याके संत, जन्म-स्थान—नगपुर जलालपुर, जिला—फैजाबाद; इनका स्थिति-काल विक्रमकी १९ वी शतीके पूर्वार्द्ध अनुमान किया जाता है । जाति—बनिया, गोविन्द साहबके शिष्य; शरीरान्त अयोध्यामें हुआ ।)

नाव मिली केवट नहीं कैसे उतरै पार ॥
कैसे उतरै पार पथिक बिस्वास न आवै ।
लगै नहीं बैराग यार कैसे कै पावै ॥
मन में धरै न ज्ञान नहीं सतसंगति रहनी ।
बात करै नहि कान प्रीति बिन जैसे करनी ॥
छूटि डगमगी नाहि संत को बचन न मानै ।
मूरख तजै बिबेक चतुरई अपनी आनै ॥
पल्टू सतगुरु सब्द का तनिक न करै बिचार ।
नाव मिली केवट नहीं कैसे उतरै पार ॥

धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय ॥
चादर लीजै धोय मैल है बहुत समानी ।
चल सतगुरु के घाट भरा जहँ निर्मल पानी ॥
चादर भई पुरानि दिनों दिन बार न कीजै ।
सतसंगत में सौंद ज्ञान का साबुन दीजै ॥
छूटै कल-मल दाग नाम का कलप लगावै ।
चलिये चादर ओढ़ि बहुर नहिं भव जल आवै ॥
पलटू ऐसा कीजिये मन नहिं मैला होय ।
धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय ॥

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार ॥
महल भया उजियार नाम का तेज बिराजा ।
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा ॥
दसो दिसा भइ सुद्ध बुद्ध भइ निर्मल साची ।
छुटी कुमति की गाँठि सुमति परगट होय नाची ॥
होत छतीसो राग दाग तिर्गुन का छूटा ।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा ॥
पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्ही टार ।
दीपक बारा नाम का महल भया उजियार ॥

देखो नाम प्रताप से सिला तिरै जल बीच ॥
सिला तिरै जल बीच सेत में कटक उतारी ।
नामहिं के परताप बानरन लंका जारी ॥
नामहिं के परताप जहर मीरा ने खाई ।
नामहिं के परताप बालक पहलाद बचाई ॥
पलटू हरि जस ना सुनै ताको कहिये नीच ।
देखो नाम प्रताप से सिला तिरै जल बीच ॥

हाथी घोड़ा खाक है कहै सुनै सो खाक ॥
कहै सुनै सो खाक खाक है मुलुक खजाना ।
जोरू बेटा खाक खाक जो साचै माना ॥
महल अटारी खाक खाक है बाग-बगैचा ।
सेत-सपेदी खाक खाक है हुक्का नैचा ॥
शाल-दुसाला खाक खाक मोतिन कै माला ।
नौबतखाना खाक खाक है ससुरा-साला ॥
पलटू नाम खुदाय का यही सदा है पाक ।
हाथी घोड़ा खाक है कहै सुनै सो खाक ॥

देत लेत हैं आपुहीं पलटू पलटू सोर ॥
पलटू पलटू सोर राम की ऐसी इच्छा ।
कौड़ी घर में नाहिं आपु मैं माँगौं भिच्छा ॥
राई परबत करैं करैं परबत को राई ।
अदना के सिर छत्र बेज की करैं बड़ाई ॥
लीला अगम अपार सकल घट अंतरजामी ।
खाहिं खिलावहिं राम देहिं हम को बदनामी ॥
हम सों भया न होयगा साहिब करता मोर ।
देत लेत हैं आपुहीं पलटू पलटू सोर ॥

हरि अपनो अपमान सह जन की सही न जाय ॥
जन की सही न जाय दुर्बासा की क्या गत कीन्हा ।
भुवन चतुर्दस फिरे सबै दुरियाय जो दीन्हा ॥
पाहि पाहि करि परे जबै हरि चरनन आई ।
तब हरि दीन्ह जवाब मोर बस नाहिं गुसाँई ॥
मोर द्रोह करि बचै करौं जन द्रोहक नासा ।
माफ करै अँबरीष बचौगे तब दुर्बासा ॥
पलटू द्रोही संत कर तिन्हैं सुदर्सन खाय ।
हरि अपनो अपमान सह जन की सही न जाय ॥

ना काहू से दुस्टता ना काहू से रोच ॥
ना काहू से रोच दोऊ को इकरस जाना ।
बैर भाव सब तजा रूप अपना पहिचाना ॥
जो कंचन सो काँच दोऊ की आसा त्यागी ।
हारि जीत कछु नाहिं प्रीति इक हरि से लागी ॥
दुख सुख संपति बिपति भाव ना यह से दूजा ।
जो बाम्हन सो सुपच दृष्टि सम सब की पूजा ॥
ना जियने की खुसी है पलटू मुए न सोच ।
ना काहू से दुस्टता ना काहू से रोच ॥

तू क्यों गफलत में फिरै सिर पर बैठा काल ॥
सिर पर बैठा काल दिनों दिन बादा पूजै ।
आज-काल में कूच मुरख नहिं तो कहँ सूझै ॥
कौड़ी-कौड़ी जोरि ब्याज दे करते बट्टा ।
मुसी रहै परिवार मुक्ति में होवत ठट्ठा ॥
तू जानै मैं ठग्यो और को तुही ठगावै ।
नाम सजीवन मूरि छाँड़ि के माहुर खावै ॥
पलटू खेती ना रही चेत करो अब लाल ।
तू क्यों गफलत में फिरै सिर पर बैठा काल ॥

भजन आतुरी कीजिये और बात में देर ॥
और बात में देर जगत में जीवन थोरा ।
मानुष तन धन जात गोड़ धरि करौ निहोरा ॥

कौने सहर में कौन गली इक पंछी रहता।
दस दरवाजा ... उड़न को निस उठि चहता॥
... ... है ... ।
... छुटि जाय जन्म की मिटै ... ॥
पलटू ... न कीजिये चौरासी पर फेर।
भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥

जहँ तनिक जल बीछुड़ै छोड़ि देतु है प्रान॥
छोड़ि देतु है प्रान जहाँ जल से बिलगावै।
देइ दूध में डारि रहै ना प्रान गँवावै॥
जाको घरी अहार ताहि को का लै दीजै।
रहै ना कोटि उपाय और सुख नाना कीजै॥
यह दीजै दृष्टान्त सके सो लेइ विचारी।
ऐसो करै सनेह ताहि की मैं बलिहारी॥
पलटू ऐसी प्रीति कर जल और मीन समान।
जहाँ तनिक जल बीछुड़ै छोड़ि देतु है प्रान॥

जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तो राम॥
जो जीतौं तो राम राम से तन मन लावौं।
खेलौं ऐसो खेल लोक की लाज बहावौं॥
पासा फेंकौं ज्ञान नरद बिस्वास चलावौं।
चौरासी घर फिरै अड़ी पौबारह नावौं॥
पौबारह सिरवाय एक घर भीतर रावौं।
कच्ची मारौं पांच रैनि दिन सयह मारौं॥
पलटू बाजी लाइहौं दोऊ विधि से राम।
जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तो राम॥

दिल में आवै है नजर उस मालिक का नूर॥
उस मालिक का नूर कहाँ को ढूँढन जावै।
सब में पूर समान दरस घर बैठे पावै॥
धरती नभ जल पवन तेही का सकल पसारा।
छुटै भरम की गाँठि सकल घट ठाकुरद्वारा॥
तिल भरि नाहीं कहीं जहाँ नहिं सिरजनहारा।
वोही आवै नजर फुरा बिस्वास हमारा॥
पलटू नेरे साच के झूठे से है दूर।
दिल में आवै है नजर उस मालिक का नूर॥

का जानी केहि औसर साहिब ताकै मोर॥
साहिब ताकै मोर मिहर की नजरि निहारै।
तुरत पदम-पद देइ औगुन को नाहिं विचारै॥
गाय गरीबनिवाज गरीबन सदा निवाजा।
भक्त-बछल भगवान करत भक्तन के काजा॥
साहिब ... परै मान है जो जर जारै।
घर रहै नहिं द्वार धनी के धक्का खावै॥
आठ पहर चौंसठ घरी पलटू परै न भोर।
का जानी केहि औसर साहिब ताकै मोर॥

पतिब्रता को लच्छन सब से रहै अधीन॥
सब से रहै अधीन टहल वह सब की करती।
सास ससुर और ससुर ननद देवर से डरती॥
सब का पोषन करै सभन की सेज बिछावै।
सब को सेव सुताय, पाछे तब पिय के जावै॥
सूती पिय के पास सभन की राखै राजी।
ऐसा भक्त जो होय ताहि की जीती बाजी॥
(पलटू) बोलै मीठे बचन भजन में है लौलीन।
पतिब्रता को लच्छन सब से रहै अधीन॥

हरि को दास कहाय के गुनह करै ना कोय॥
गुनह करै ना कोय जैसी विधि रावै रहिये।
दुख-सुख कैसउ पड़ै केहू से तनिक न कहिये॥
तेरे मन में और करनवाला है औरै।
तू ना करै ख्याल नाहक को निस दिन दौरै॥
याको कीजै याद जाहि की मारी टूटै।
आपी को तू जाय घरहि में मम्मै फूटै॥
पलटू गुनह किये से भजन माहिं भँग होय।
हरि को दास कहाय के गुनह करै ना कोय॥

जौं लगि लागै हाथ ना करम न कीजै त्याग॥
करम न कीजै त्याग जक्त की बूझ बड़ाई।
ओहु ओर हारै तोरि एहर कुछ एक न पाई॥
उत कुल से वे गये नाहिं इत मिला ठिकाना।
केहू ओर के नाहिं बीच के बीच भुलाना॥
जेहुँ जेहुँ पावै वस्तु तेहुँ तेहुँ करम को छोड़ै।
खातिर जमा को लेइ जगत से मुड़वा मोड़ै॥
पलटू पग धइ निरख करि तातें लगै न दाग।
जौं लगि लागै हाथ ना करम न कीजै त्याग॥

पलटू ऐसे दास को भरम करै संसार॥
भरम करै संसार होइ आसन से पक्का।
भली बुरी कोउ कहै रहै सहि सब का धक्का॥

धीरज धै संतोष गहै दृढ़ है टकसार ।
जो कछु आवै सहज कै सो देइ लुटाई ॥
लगै न माया मोह जगत की छोड़ै आसा ।
सब तजि निरपच्छ होय सबुर से करै दिलासा ॥
काम क्रोध को मारि कै मारै नींद अहार ।
पलटू ऐसे दास को भरम करै संसार ॥

लिये कुल्हाड़ी हाथ में मारत अपने पाँय ॥
मारत अपने पाँय पूजत है देई-देवा ।
सतगुरु संत बिसारि करै भूतन की सेवा ॥
लाहै मुगल गँवार आसी दै साहुर खावै ।
सने किये से लहै नरक में दौड़ा जावै ॥
पीढ़े जल के बीच हाथ में बाँधे समरी ।
परै भरम में जाइ ताहि को कैसे पकरी ॥
पलटू नर तन पाइ के भजन माहिं अलसाय ।
लिये कुल्हाड़ी हाथ में मारत अपने पाँय ॥

हरि को भजै सो बड़ा है जाति न पूछै कोय ॥
जाति न पूछै कोय हरी को भक्ति पियारी ।
जो कोइ करै सो बड़ा जाति हरि नाहिं निहारी ॥
पतित अजामिल रहे रहे फिर मदन कसाई ।
गनिका बिस्वा रहि बिमान पै तुरत चढ़ाई ॥
नीच जाति रैदास आपु में लिया मिलाई ।
लिया गिद्ध को गोदि दिया बैकुंठ पठाई ॥
पलटू पारस के छुए लोहा कंचन होय ।
हरि को भजै सो बड़ा है जाति न पूछै कोय ॥

निंदक जीवै जुगन जुग काम हमारा होय ॥
काम हमारा होय बिना कौड़ी को चाकर ।
कमर बाँधि के फिरै करै तिहुँ लोक उजागर ॥
उसे हमारी सोच पलक भर नाहिं बिसारी ।
लगी रहै दिन रात प्रेम से देता गारी ॥
संत कहैं दृढ़ करै जगत का भरम छुड़ावै ।
निंदक गुरू हमार नाम से वही मिलावै ॥
सुनि के निंदक मरि गया पलटू दिया है रोय ।
निंदक जीवै जुगन जुग काम हमारा होय ॥

साहिब के दास कहाय कागे, जगत की आस न राखिये जी ।
समरथ स्वामी को जब पाया, जगत से दीन न भाखिये जी ॥
साहिब के घर में कौन कमी, किस बात को अनै आखिये जी ।
पलटू जो दुख सुख लाख परै, वहि नाम सुधा रस चाखिये जी ॥

सील सनेह सीतल बचन, यहि संतन की रीति है जी ।
सुनत बात के जुड़ाय जावै, सब से करने वे प्रीति हैं जी ॥
चितवनि चलनि मुसकानि नवनि, नहिं राग द्वेष हार जीत है जी ।
पलटू छिमा संतोष सरल, तिन को गावै स्रुति नीत है जी ॥

बिना सतसंग ना कथा हरिनाम की,
बिना हरिनाम ना मोह भागै ।
मोह भागे बिना मुक्ति ना मिलैगी,
मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग लागै ॥
बिना अनुराग के भक्ति न होयगी,
भक्ति बिनु प्रेम उर नाहिं जागै ।
प्रेम बिनु राम ना राम बिनु संत ना,
पलटू सतसंग बरदान माँगै ॥

पलटू नर तन पाइ के, मूरख भजै न राम ।
कोऊ ना सँग जायगा, सुत दारा धन धाम ॥
बैद धनतर मरि गया, पलटू अमर न कोय ।
सुर नर मुनि जोगी जती, सबै काल बस होय ॥
पलटू नर तन पाइ कै, भजै नहीं करतार ।
जमपुर बाँधे जाहुगे, कहौं पुकार पुकार ॥
पलटू नर तन जातु है, सुंदर सुभग सरीर ।
सेवा कीजै साध की, भजि लीजै रघुबीर ॥
दिना चार का जीवना, का तुम करो गुमान ।
पलटू मिलिहैं खाक में, घोड़ा बाज निसान ॥
पलटू हरि जस गाइ ल, यही तुम्हारे साथ ।
बहता पानी जातु है, धोउ सिताबी हाथ ॥
राम नाम जेहि मुखन तें, पलटू होय प्रकास ।
तिन के पद बंदन करौं, वो साहिब मैं दास ॥
तन मन धन जिन राम पर, कै दीन्हो बकसीस ।
पलटू तिन के चरन पर, मैं अरपत हौं सीस ॥
राम नाम जेहिं उचरै, तेहिं मुख देहुँ कपूर ।
पलटू तिन के नफर की, पनहीं का मैं धूर ॥
मनसा बाचा कर्मना, जिन के है बिस्वास ।
पलटू हरि पर रहत हैं, तिन्ह के पलटू दास ॥
पलटू संसय छूटिगो, मिलिया पूरा यार ।
मगन आपने ख्याल में, भाड़ पड़ै संसार ॥
अस्तुति निंदा कोउ करै, लगै न तेहि के साथ ।
पलटू ऐसे दास के, सब कोइ नावै माथ ॥
आठ पहर लागी रहै, भजन-तेल की धार ।
पलटू ऐसे दास को, कोउ न पावै पार ॥

मसखरि कबहुँ न कीजिये, मन से रहिये हार ।
पलटू ऐसे दास को, डरिये बारंबार ॥
संगति ऐसी कीजिये, जासों उपजे ज्ञान ।
पलटू तहाँ न बैठिये, घर की होय जियान ॥
सतसंगति में आइ कै, मन को कीजे सुद्ध ।
पलटू उहाँ न जाइये, जहवाँ उपजै कुबुद्ध ॥
गारी आई एक से, पलटे भई अनेक ।
जो पलटू पलटै नहीं, रहै एक की एक ॥
पलटू नेरे साँच के, झूठे से है दूर ।
दिल में आवै साँच जो, साहिब हाल हजूर ॥
पलटू यह साँची कहै, अपने मन को फेर ।
तुझे पराई क्या परी, अपनी ओर निबेर ॥
पलटू मैं रोवन लगा, देखि जगत की रीति ।
जहँ देखो तहँ कपट है, कासों कीजै प्रीति ॥

मुँह मीठो भीतर कपट, तहाँ न मेरो बास ।
काहू से दिल ना मिलै, तौ पलटू फिरै उदास ॥
सुन लो पलटू भेद यह, हँसि बोले भगवान ।
दुख के भीतर मुक्ति है, सुख में नरक निदान ॥

मन मिहीन कर लीजिये, जब पिउ लागै हाथ ॥
जब पिउ लागै हाथ नीच है सब से रहना ।
पच्छापच्छी त्यागि ऊँच बानी नहिं कहना ॥
मान बड़ाई खोय खाक में जीते मिलना ।
गारी कोउ देइ जाय छिमा करि चुप के रहना ॥
सब की करै तारीफ आप को छोटा जानै ।
पहिले हाथ उठाय सीस पर सब को आनै ॥
पलटू सोइ सुहागिनी हीरा झलकै माथ ।
मन मिहीन कर लीजिये जब पिउ लागै हाथ ॥

स्वामी निर्भयानन्दजी

(स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वतीके शिष्य ।)

मान मान रे मान मूढ़ मन ! मान लै ।
सुपना है संसार बात यह जान लै ॥
गुरु-चरनन की धूरि सीस पर धारि लै ।
सुद्ध नीर सौं मलि मलि पाँय पखार लै ॥
विसय-भोग में सुख नहिं खूब विचारि लै ।
दैवी संपति धारि सुद्ध अधिकार लै ॥

तेर-मेर को गेर देर क्यों करत है ।
हानि-लाभ को देख वृथा क्यों जरत है ॥
आतम-तत्त्व विचारि क्यों दुख नहिं हरत है ।
दुर्लभ नरतन पाय नहीं क्यों तरत है ॥
आतम ब्रह्म अनादि अनंत अपार है ।
सब देवों का देव यही सरदार है ॥
चेतन सुद्ध अखंड सार का सार है ।
बड़भागी कोइ करत खुला दीदार है ॥
दरसन कर तत्कालहि पद निरवान लै ।
सुपना है संसार बात यह जान लै ॥

तन का ढाँचा हाड़ माँस मल ख्याल है ।
क्या करता सिंगार खायगा काल है ॥
अमल चढ़यौ घनघोर बजावत गाल है ।
निज आतम सुखरूप न जानत हाल है ॥
'निरभय' आतम ब्रह्म एक पहिचान लै ।
सुपना है संसार बात यह जान लै ॥

गोला मारै ज्ञान का, संत सिपाही कोय ।
उत्कट जिग्यासू बनै, अजब उजाला होय ॥
अजब उजाला होय अँधेरा सबही नासै ।
अंतरमुख हो लखै आतमा अपनो भासै ॥
कहै 'निर्भयानंद' होय जिग्यासू भोला ।
संत सिपाही कोय ग्यान का मारै गोला ॥

पाता है निज आतमा, विसयन सौं मन रोक ।
काम क्रोध के वेग को, जो सहि जावै झोक ॥
जो सहि जावै झोक यार विसेस हटावै ।
निद्रा अरु आहार जुक्ति सौं कछु घटावै ॥
कहै 'निर्भयानंद' झूठे जानै नाता ।
विसयन सौं मन रोक आतमा निज पाता ॥

अखा भगत

अवगत कला रेखत नर ज्ञानी ।
ॐकार नाद निःसरे इनमें हिम-ध्रुव तारे पर रहत निसानी ॥
कनक कलश अवनी पर राखी, मन की मुरत ठग्यानी ।
तत्त्व समान भयो है अनंतर, जैसे हिम होत है पानी ॥
दुनी आदि अंत नहिं पायो, आइ न सकत जहँ मन बानी ।
ता पर स्थिती भई है जिन की, कहि न जात ऐसी अकथ कहानी॥
अजर खेल अद्भुत अनुपम है, जाकूँ है पहिचान पुरानी ।
गगनहिं गेब भया नर बोले, एहि अखा जानत कोइ ज्ञानी ॥

भक्त श्रीललितकिशोरीजी

(असली नाम श्रीकुन्दनलालजी, जन्म-काल—अज्ञात, लखनऊके साह गोविन्दलालजी अग्रवालके पुत्र और श्रीराधारमणीय गोस्वामी श्रीराधागोविन्दजीके शिष्य, स्थान—वृन्दावन । गोलोकवास—वि० सं० १९३० कार्तिक शुद्ध २)

मन, पछितैहो भजन बिन कीने ।
धन दौलत कछु काम न आवे,
कमलनयन गुन चित बिनु दीने ॥
देखत को यह जगत सँगाती,
तात मात अपने सुख भीने ।
'ललितकिसोरी' दुंद मिटै ना,
आनँदकंद बिना हरि चीने ॥

मुसाफिर, रैन रही थोरी ।
जागु जागु, सुख नींद त्यागि दे,
होति बस्तु की चोरी ॥
मंजिल दूरि, भूरि भवसागर,
मान कुमति मोरी ।
'ललितकिसोरी' हाकिम सों डरु
करै जोर बरजोरी ॥

लाभ कहा कंचन तन पाये ।
भजे न मृदुल कमलदललोचन,
दुख मोचन हरि हरषि न ध्याये ॥
तन मन धन अरपन ना कीन्हे,
प्रान प्रानपति गुननि न गाये ।
जोबन, धन, कलधौत धाम सब
मिथ्या आयु गँवाय गँवाये ॥
गुरुजन गर्ब, बिमुख रँग राते,
डोलत सुख संपति बिसराये ।
'ललितकिसोरी' मिटै ताप ना,
बिन दृढ़ चिंतामनि उर लाये ॥

साधो, ऐसेइ आयु सिरानी ।
लगत न लाज लजावत संतन,
बरतहिं दंभ हृदय बिहानी ॥
माला हाथ ललित तुलसी गर,
अँग अँग भगवत छाप सुहानी ।
बाहिर परम बिराग भजन रत,
अंतर मति पर जुवति नगानी ॥
मुख सों ज्ञान-ध्यान बरनत बहु,
कानन रति नित बिषय-कहानी ।
'ललितकिसोरी' कृपा करौ हरि,
हरि संताप सुहृद सुखदानी ॥

दुनियाँ के परपंचों में हम, मजा कछू नहिं पाया जी ।
भाई-बंधु पिता-माता, पति, सब सों चित अकुलाया जी ॥
छोड़-छाड़ घर, गाँव-नाँव, कुल, यही पंथ मन भाया जी ।
ललितकिसोरी आनँदघन सो अब हठि नेह लगाया जी ॥

क्या करना है संतति-संपति, मिथ्या सब जग माया है ।
शाल-दुशाले, हीरा-मोती में मन क्यों भरमाया है ॥
माता-पिता, पती-बंधू, सब गोरखधंध बनाया है ।
ललितकिसोरी आनँदघन हरि हिरदै कमल बसाया है ॥

बन-बन फिरना बिहतर हम को रतन भवन नहिं भावै है ।
लता तरे पड़ रहने में सुख नाहिंन सेज सुहावै है ॥
सोना कर धरि सीस भला अति तकिया ख्याल न आवै है ।
ललितकिसोरी नाम हरी का जपि-जपि मन सचु पावै है ॥

तजि दीनी जब दुनियाँ दौलत फिर कोइ के घर जाना क्या ।
कंद-मूल-फल पाय रहैं अब खट्टा-मीठा खाना क्या ॥
छिन में साही बकसैं हम को मोती-माल-खजाना क्या ।
ललितकिसोरी रूप हमारा जानैं ना तहँ आना क्या ॥

अष्टसिद्धि नवनिद्धि हमारी मुट्ठी में हरदम रहती ।
नहीं जवाहिर, सोना-चाँदी, त्रिभुवन की संपति चहती ॥
भावै ना दुनिया की बातैं दिलबर की चरचा सहती ।
ललितकिसोरी पार लगावै माया की सरिता बहती ॥

ौर-स्याम मुखारविंद पर जिसने वीर मचलते देखा।
ैन-बान, मुगर्यान संग फँस फिर नहिं नेक सँभलते देखा॥
ललितकिशोरी युगल इश्क में बहुतों का घर घलते देखा।
डूबा प्रेमसिंधु का कोई हमने नहीं उछलते देखा॥

देखो री, यह नंद का छोरा बरछी मारे जाता है।
बरछी-सी तिरछी चितवन की पैनी छुरी चलाता है॥
हम को घायल देख बेदरदी मंद-मंद मुसकाता है।
ललितकिशोरी जखम जिगर पर नौनपुरी बुरकाता है॥

भक्त श्रीललितमाधुरीजी

(लखनऊमें जौहरी श्रीगोविन्दलालजीके पुत्र, गृहस्थका नाम शाह फुन्दनलालजी। सं० १९१३ में अपने भाई कुन्दनलालजी, (ललितकिशोरीजी) के साथ सब कुछ छोड़कर वृन्दावन आ गये।)

देखो बलि वृंदावन आनंद।
नवल सरद निसि नव बसंत रितु, नवल सु राका चंद॥
नवल मोर पिक कीर कोकिला कूजत नवल मलिंद।
रटत श्रीराधे राधे माधव मारुत सीतल मंद॥
नवल किसोर उमंगन खेलत, नवल रास रसकंद।
ललितमाधुरी रसिक दोउ वर, निरतत दिये करफंद॥

भक्त श्रीगुणमंजरीदासजी

(असली नाम—गोस्वामी गल्लूजी, जन्म वि० सं० १८८४ ज्येष्ठ ८, पिताका नाम—श्रीरमणदयालुजी, माताका नाम—श्रीम्
देवी, स्थान—फर्रुखाबाद।)

श्रीराधारमन हमारे मीत।
ललित त्रिभंगी स्याम सलोने कटि पहिरें पटपीत॥
मुरलीधर मन हरन छबीले छके प्रिया की प्रीत।
'गुनमंजरी' विदित नागर बर जानत रस की रीत॥

हमारे धन स्यामा जू को नाम।
जाकौं रटत निरंतर मोहन, नंदनँदन घनस्याम॥
प्रतिदिन नव नव महा माधुरी, बरसति आठौं जाम।
'गुनमंजरि' नवकुंज मिलावै, श्रीवृंदावन धाम॥

भक्त रसिकप्रीतमजी

तरैटी श्रीगोवर्धन की रहिये।
नित प्रति मदनगोपाल लाल के चरन कमल चित लैये॥
तन पुलकित ब्रजरज मे लोटत गोविंद कुंड में न्
रसिक प्रीतम हित चित की बातें श्रीगिरिधारीजी सों क

श्रीहितदामोदर स्वामीजी

नमो-नमो भागवत पुरान।
महातिमिर अग्यान बढ्यौ जब,
प्रगट भये जग अद्भुत भान॥
उदित सुभग श्रीसुक उदयाचल,
छिपे ग्रंथ उड़गनन समान।
जीव निसि सोये अविद्या,
कियो प्रकास बिमल बिग्यान॥
अंबुज बक्ता स्रोता,
हिमकर मंद मदन अभिमान।
छूटि गये कर्मन के बंधन,
मिट्यौ मोह सूझे सुख
दरस्यौ भक्ति-पंथ अनुरागी,
सूझे सब्द स्वरूप
देखत नहीं उलूक सकामी,
जद्यपि दिनकर है
राजत एक महा सरवोवर,
बढ्यौ प्रताप और न
दामोदर हित सुर मुनि बंदित,
जय जय जय श्री

भगवान हित रामदासजी

और कोऊ समझै सो समझो हम कूँ इतनी समझ भली।
ठाकुर नंद किसोर हमारे ठकुराइन वृषभानु लली॥
श्रीदामादिक सखा स्याम के स्यामा सँग ललितादि अली।
व्रजपुर बास सैल बन विहरन कुंजन कुंजन रंग रली॥
इन के लाड़ चहूँ सुख अपनो भाव वेलि रस फलन फली।
कहै भगवान हित रामदास प्रभु सब तें इन की कृपा बली॥

श्रीकृष्णजनजी

सत्य सनेही साँवरो, और न दूजो कोय।
रे मन! तासों प्रीति कर, और सकल भ्रम खोय॥
पानी में ज्यों बुदबुदा, ऐसी यह है देह।
निनसि जाय पल एक में, या में नहिं संदेह॥
स्वासा चलत कुठार है, काटत तरुवर आय।
हो सचेत जै कृष्णजन, गिरिधर लाड़ लड़ाय॥
समय-समय पर करत सोइ, असन-वसन निरधार।
रे मन! तू अब सुख चहत, ऐसे प्रभुहिं बिसार॥
दैन कह्यौ तहँ नहिं दियौ, दियौ विषय के हेत।
जनम गमायौ बादही, पायौ नरक निकेत॥
खाय गये खग खेत सब, रह्यौ सोई अब राख।
भज हरि चरन सरोज सो, सब संतन की साख॥
तिनका तोरै बज्र कों, ससक बिदारै सेर।
ऐसी लीला कृष्ण की, तनक न लागै बेर॥
काया सहर सुहावनो, जहाँ जौहरी नैन।
हरि हीरा लै हेत सों मोल, बोल मृदु बैन॥

महात्मा बनादासजी

(प्रेषक—प्रिन्सिपल श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

(१)

राम भजे भये राम यही तन, से मन बुद्धि औ चित्त अहं सब।
बिधि और निषेध न जानत वेद, गये सब खेद अनंद भये अब॥
सिष्टि प्रपंच पिति भूलि गई नहिं जानत देस औ काल अहै कब।
'दास बना' हम ब्रह्म, हमी स्वर, आवत है उठै स्वास जबै जब॥

(२)

अजब रँग अनुभौ बरसै लाग।
काम क्रोध मद आस बासना अर्क जवासहि झरसै लाग॥
लोभ मोह परद्रोह दोष दुख कलि कुचाल सब तरसै लाग।
इन्द्री दमन असन सब भाँतिहि अरुचि होत अब डरसै लाग॥
छमासील संतोष सुराई साति सहज सुख सरसै लाग।
'दास बना' जपि नाम सो उपजा मुक्त करत नहिं अरसै लाग॥

(३)

'दास बना' पहुँचे मुकाम जे, आँखैं कहत हवाला।
नसा खुमारी, भवित पूतरी, पलक न लागत ह्याला॥
अलमाने-से रहत हमेसा हरि-जस सुनि दृग नीरा।
दरकि चलत, कबहीं भरि आवत पुलकावली सरीरा॥
गद्गद गर, चित साति, थका मन, तनहु थका दरसाई।
ग्यान बिराग भक्ति से पूरे जगत न सकत समाई॥
बैर प्रीति लखि परत न कतहूँ समता माँहि मुकामा।
'दास बना' जहँ ये लच्छन तौ कवन भेद तेहि रामा॥

(४)

सेवत सेवत सेव्य के सेवकता मिटि जाय।
'बनादास' तब रीझि कै स्वामी उर लपटाय॥
नाचत बीते बहुत दिन रीझ्यौ नहिं रिझवार।
'बनादास' तेहि नाच को, बार बार धिरकार॥
कल्प कुसल सो सुंदरी घूँघट को नहिं दीन।
'बनादास' जाकी अदा एक ताल बस बीन॥

× × × ×

रहना एकांत सब बासना को अंत किये,
मातरम-साने औ न खेद उतमाद है।
धीर कुटी छायें, जाड जरा को मुँदायें, मोह-
कोह को नसायें, सदा रिना परवाद है॥
उद्दिम कों हारैं, मन मारैं, औ बिगारैं बेद,
हारैं हक मारैं औ बिचारैं गुनगाद है।
तरक, तकरीरी औ जगीरी तीनिहूँ लोक,
'बना' आस परक तो फकीरी बाद-बाद है॥

चन्दन-कुल्हाड़ी

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥
ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड॥

—(गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

संत और बिच्छू

विश्वपावनी वाराणसि में संत एक थे करते वास।
रामचरण-लवलीन-चित्त थे, नाम-निरत, नय निपुण, निरास॥
नित सुरसरि में अवगाहन कर विश्वेश्वर-अर्चन करते।
क्षमाशील पर-दुख-कातर थे, नहीं किसी से थे डरते॥

एक दिवस श्रीभागीरथि में ब्राह्मण विदथ नहाते थे।
दयासिंधु देवकिनन्दन के गोप्य गुणों को गाते थे॥
देखा, एक बहा जाता है वृश्चिक जलधारा के साथ।
दीन समझकर उसे उठाया संत विप्र ने हाथों हाथ॥

रखकर उसे हथेली पर निज, संत पोंछने लगे निशंक।
खल, कृतघ्न, पापी वृश्चिक ने मारा उनके भीषण डंक॥
काँप उठा तत्काल हाथ, गिर पड़ा अधम वह जल के बीच।
लगा डूबने अथाह जल में निज करनी वस निष्ठुर नीच॥

देखा उसे मुमूर्षु, संत का चित करुणा से भर आया।
प्रबल वेदना भूल, उसे फिर उठा हाथ पर अपनाया॥
ज्यों ही सँभला, चेत हुआ, फिर उसने वही डंक मारा।
हिला हाथ, गिर पड़ा, बहाने लगी उसे जल की धारा॥

देखा पुनः संत ने उसको जल में बहते दीन मलीन।
लगे उठाने फिर भी उसको क्षमामूर्ति प्रतिहिंसा-हीन॥
नहा रहे थे लोग निकट सब बोले क्या करते हैं आप?
"हिंसक जीव बचाना कोई धर्म नहीं है पूरा पाप॥

चकखा हाथों हाथ विषम फल तब भी करते है फिर भूल।
धर्म देश को डुबा चुका भारत इस कायरता के कूल"॥
"भाई! क्षमा नहीं कायरता, यह तो वीरों का बाना।
स्वल्प महापुरुषों ने इसका है सच्चा स्वरूप जाना॥

कभी न डूबा क्षमा-धर्म से, भारत का वह सच्चा धर्म।
डूबा, जब भ्रम से था इसने पहना कायरता का वर्म॥
भक्तराज प्रह्लाद क्षमा के परम मनोहर थे आदर्श।
जिन से धर्म बचा था जो खुद जीत चुके थे हर्षामर्ष"॥

बोले जब हँसकर यों ब्राह्मण, कहने लगे दूसरे लोग।
"आप जानते हैं तो करिये हमें बुरा लगता यह योग"॥
कहा संत ने "भाई! मैंने बड़ा काम कुछ किया नहीं।
स्वभाव अपना बरता इसने, मैंने भी तो किया वही॥

मेरी प्रकृति बचाने की है, इसकी डंक मारने की।
मेरी इसे हराने की है, इसकी सदा हारने की॥
क्या इस हिंसक के बदले में मैं भी हिंसक बन जाऊँ।
क्या अपना कर्तव्य भूलकर प्रतिहिंसा में सन जाऊँ॥

जितनी बार डंक मारेगा उतनी बार बचाऊँगा।
आखिर अपने क्षमा-धर्म से निश्चय इसे हराऊँगा"॥
संतों के दर्शन, स्पर्शन, भाषण अमोघ जगतीतल में।
वृश्चिक छूट गया पापों से संत-मिलन से उस पल में॥

खुले ज्ञान के द्वार, जन्म-जन्मान्तर की स्मृति हो आई।
छूटा दुष्ट स्वभाव, सरलता, शुचिता सब उस में छाई॥
संत-चरण में लिपट गया वह करने को निज पावन तन।
छूट गया भव-व्याधि विषम से हुआ रुचिर यह भी हरिजन॥

जब हिंसक जड जन्तु क्षमा से हो सकते हैं साधु सुजन।
हो सकते क्यों नहीं मनुज जो माने जाते हैं सज्जन॥
पढ़कर वृश्चिक और संत का यह रुचिकर सुखकर संवाद।
अच्छा लगे मानिये, तज प्रतिहिंसा, हिंसा, वैर, विवाद॥
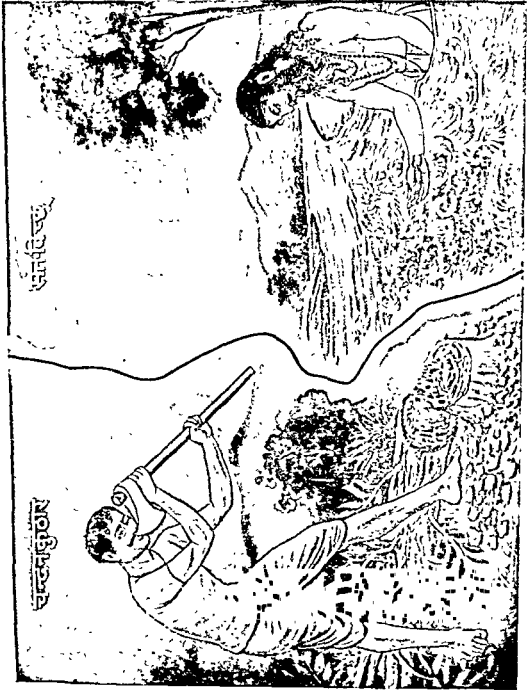
संतका सहज उपकारी स्वभाव

भक्तोंकी क्षमा

भक्तोंकी क्षमा

प्रह्लादकी गुरु-पुत्रपर

जिसके भयसे त्रिभुवन काँपता था, वह स्वयं काँप उठा था पाँच वर्षके बालकके भयसे। सुरगण और लोकपाल जिस हिरण्यकशिपुके भयसे दिन-रात भयभीत रहते थे, वह अपने ही पुत्र प्रह्लादसे डर गया था। उसे आशङ्का हो गयी—'कहीं मेरी मृत्यु इसके विरोधमें न हो।'

'आप चिन्ता न करें!' दैत्यराजके पुरोहित आगे आये। 'यदि इसने हमारी बात न मानी तो हम इसे ठिकाने लगा देंगे।'

पुरोहितोंको अपनी अभिचार-विद्याका गर्व था। प्रह्लाद भगवान्‌का भजन छोड़ दें, यह तो होना था नहीं। पुरोहितोंने मन्त्र-बलसे कृत्या राक्षसी उत्पन्न की। प्रह्लादने तो डरना सीखा नहीं था। राक्षसी दौड़ी उन्हें निगलने—यह कहना ठीक नहीं है। उसने केवल दौड़नेकी इच्छा की।

जो निखिल-ब्रह्माण्डनायकके चिन्तनमें जागता रहता है, उसके 'योग-क्षेम'के रक्षणमें वह सर्वसमर्थ सो कैसे सकता है। कृत्याने उत्पन्न होते ही देखा कि वह प्रह्लादकी ओर तो पीछे झपटेगी, उसकी ओर महाचक्र झपटा आ रहा है—कोटि-कोटि सूर्य जिसकी किरणोंमें लुप्त हो जायँ, वह महाचक्र सुदर्शन। बेचारी कृत्या थी किस गणनामें। लेकिन कृत्या अमोघ होती है। उसे कुछ करना था—अपने उत्पन्न करनेवाले पुरोहितोंके प्राण लेकर वह अदृश्य हो गयी।

शण्ड और अमर्क—बालक प्रह्लादको मारनेको उद्यत दोनों पुरोहितोंकी लाश पड़ी थी। लेकिन प्रह्लाद भगवान्‌के भक्त थे न, वे इससे दुखी हुए कि मेरे कारण मेरे गुरुपुत्र मरे। वे हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे—'यदि मेरे मनमें अपनेको मारनेवाले, अपनेको विष देनेवाले, अपनेको पर्वतसे फेंकनेवालोंके प्रति भी कभी द्वेष न आया हो तो ये गुरुपुत्र जीवित हो जायँ। यदि मैंने अपनेको कष्ट देनेवाले दैत्यों, सर्पों, हाथियों और सिंहोंमें बिना किसी भेदके आपका दर्शन किया हो तो मेरे दयामय प्रभु! ये गुरुपुत्र जीवित हो जायँ।'

गुरुपुत्र जीवित हो गये—वे सचमुच जीवित हो गये। जो भगवान्‌से विमुख है, वह तो जीवित हो तो भी मृत है। प्रह्लादकी प्रार्थनासे गुरुपुत्रोंमें प्राण ही नहीं आये, उनमें भगवद्भक्ति भी आयी। उन्हें सच्चा जीवन मिला।

× × × ×

अम्बरीषकी दुर्वासापर

भगवान् नारायणके परम प्रिय भक्त महाराज अम्बरीष—अम्बरीष भगवद्भक्तिमें इतने तन्मय रहनेवाले कि स्वयं श्रीहरिको उनकी तथा उनके राज्यकी रक्षाके लिये अपने चक्रको नियुक्त कर देना पड़ा था। अम्बरीष-जैसे भगवद्भक्त नियमित एकादशी व्रत करें तो क्या आश्चर्य। एकादशीके व्रतका पारण द्वादशीमें होता है। एक पारणके समय दुर्वासाजी पहुँच गये। महाराजने भोजन करनेकी प्रार्थना की। ऋषि उसे स्वीकार करके स्नान संध्या करने चले गये।

द्वादशीमें पारण करना आवश्यक था। द्वादशी थी थोड़ी और दुर्वासाजी संध्या करते हुए ध्यानस्थ होंगे तो कब लौटेंगे, *यह कहा नहीं जा सकता था। व्रतकी रक्षा हो* और अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन करनेका अपराध भी न हो—ब्राह्मणोंकी आज्ञासे इस धर्म-संकटमें राजाने गङ्गा-जलसे आचमन कर लिया।

दुर्वासाजी लौटे। राजाने जल पी लिया, यह उन्होंने जान लिया। उनका तो नाम ही दुर्वासा ठहरा—क्रोधकी मूर्ति। एक जटा उखाड़कर कृत्या उत्पन्न कर दी राजाको नष्ट करनेके लिये।

राजा बिना हिले-डुले ज्यों-के-त्यों निर्भय खड़े रहे। भगवान्‌के चक्रने कृत्याको उत्पन्न होते ही भस्म कर दिया और दौड़ा दुर्वासाके पीछे। अब तो लेनेके देने पड़ गये। प्राण बचानेके लिये भागे दुर्वासा ऋषि, चक्र पीछे पड़ा उनके।

महर्षि दुर्वासा ब्रह्मलोक गये तो ब्रह्माजीने दूरसे कह दिया—'यहाँ स्थान नहीं है।' कैलास गये तो शंकरजीने रूखा-सा जवाब दे दिया—'मैं असमर्थ हूँ।' देवर्षि नारदके कहनेपर वैकुण्ठ गये; किंतु भगवान् नारायणने भी कह दिया—'मैं विवश हूँ। मैं भी भक्तोंके पराधीन हूँ। अम्बरीषके ही पास जाइये।'

चक्रकी ज्वाला शरीरको जलाये दे रही थी। दुर्वासाजी दौड़े आये और सीधे अम्बरीषके पैरोंपर गिर पड़े। बड़ा संकोच हुआ राजा अम्बरीषको। वे हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे चक्रसे—'यदि मेरा कुल ब्राह्मणोंका भक्त रहा हो तो ये महर्षि तापरहित हो जायँ। यदि भगवान् नारायण मुझसे तनिक भी प्रसन्न हों तो महर्षि तापरहित हो जायँ।'

चक्र शान्त हो गया। राजाने दुर्वासाजीको भोजन कराया पूरे एक वर्ष बाद और तब स्वयं भोजन किया। केवल जल पीकर वे एक वर्षतक महर्षिके लौटनेकी प्रतीक्षा करते रहे थे।

(९)

जगत में रहना है दिन चार।
चेत हेत कर हरि सों प्यारे, हरि सुमरन की बार॥
घरी पलक का नाहिं भरोसा, मौत बिछाया जार।
इन्द्री भोग विषय बस हूये, फँसे सकल नर नार॥
कर ले भजन संत गुरु सेवा, सब करनी को सार।
सुकृत सौदा सत्य यही है, जीत जनम मत हार॥
चला चली लग रही रैन दिन, मन में सोच विचार।
चला गया कोइ चला जात, कोइ चलने को तैयार॥
स्वाँस स्वाँस में सुमिर स्याम को, दया धर्म उर धार।
सरसमाधुरी नाम नाव चढ़, उतरो भव जल पार॥

(१०)

जगत में सकल बटाऊ लोग।
कोइ आवत कोइ जात यहाँ ते, झूँठो सुख संजोग॥
भुगते करम भरम चौरासी, जनम मरन दुख रोग।
जो उपजै सो निश्चै बिनसै, काको कीजे सोग॥
करै भजन निष्काम स्याम को, फिर नहिं होत वियोग।
सरसमाधुरी सत्य कहत हैं, करे अमर पुर भोग॥

(११)

थोड़ा जीवन जगत में, सुन मेरे मन यार।
सरसमाधुरी सबन सों, करो परस्पर प्यार॥
राजी राखो सबन को, राजी रहिये आप।
सरसमाधुरी सुहृदता, मेटत त्रयविधि ताप॥
जग दर्गाते सब छोड़ के, जावे खाली हाथ।
सुमिरन सेवा भावना, चले जीव के साथ॥
सुपना यह संसार है, मोह नींद से जाग।
नेरी करो प्रभु से डरो, हरि सुमरन को लाग॥
जो जन सुमरे नाम हरि, जागे ताके भाग।
सरसमाधुरी होइ सुखी, लहै युगल अनुराग॥
यही ज्ञान अरु ध्यान है, यही योग तप त्याग।
सरसमाधुरी समझ मन, विषयन में मत पाग॥

(१२)

जगत यह जान रैन का सपना।
मात पिता परिवार नारि नर, हरि बिन कोइ न अपना॥
निज स्वारथ के सगे सनेही, त्रिविधि ताप में तपना।
बिछुरत मरन मिलन जीवन में, करिये नहीं कलपना॥
माया जाल जीव उरझायो, उपज उपज फिर खपना।
सरसमाधुरी समझ मूढ़ मन, साँचा हरि हरि जपना॥

दोहा

जो सेवा श्रीयुगल की, तन सों बनै न मित्त।
तो मन सों कर भावना, समय-समय की नित्त॥
यह बन में जित नित रहो, गहो मानसी सेव।
'सरसमाधुरी' भाव सों, सहचरि बन सुख लेव॥
सुख की दंपति रासि हैं, तिन सों प्रेम बढाय।
'सरसमाधुरी' टहल को, नित प्रति रख चित चाय॥
जुगल लगन में मन मगन, राखहु आठों जाम।
'सरसमाधुरी' सुरति सों, सुमिरहु स्यामा-स्याम॥

श्रीमद्भगवत्-सेवाके बत्तीस अपराध

वाहनादि असवार हो, पहर खड़ाऊ पाँय।
पदत्राण को पहर के, हरि मंदिर नहिं जाय॥
जन्म अष्टमी आदि ले, हरि उत्सव दिन जान।
सेव करे नहिं श्रीहरी, यह अपराध सिछान॥
हरि मंदिर में जाय के, करे नहीं परणाम।
नमन करे नहिं प्रेम सों, श्रीमत स्यामाँ स्याम॥
अशुचि अंग जूँठे बदन, लघुशंकादिक जान।
बिन धोये कर दंडवत, यह अपराध प्रमान॥
एक हाथ सों ही करे, श्रीहरि चरण प्रणाम।
युगल हस्त जोड़े नहीं, यह अपराध निकाम॥
श्रीहरि मूरति सामने, करे प्रदछिणा कोय।
मन में निश्चय कीजिये, यह अपराधहि होय॥
हरि मूरति के अगाड़ी, बैठे पाँव पसार।
करे अवज्ञा समझ बिन, पातक लेहु निहार॥
कमर पृष्ठ घुटनोंन को, वस्त्र बाँध कर जोय।
सन्मुख बैठे श्रीहरी, यह अपराधहि होय॥
श्री मूरति के सामने, सोवे पाँव पसार।
यह भी पातक प्रगट है, कियो शास्त्र निर्धार॥
श्रीहरि सन्मुख बैठ के, भोजन करे जो आन।
यह भी पाप प्रत्यक्ष है, समझो मत सुजान॥
हरि मंदिर में बैठ के, मिथ्या बोले कोय।
झूँठ बनावें वार्ता, यह भी पातक होय॥
हरि मूरति सन्मुख कोई, करे पुकार बकवाद।
यह भी है अपराध ही, करनो वाद विवाद॥
हरि मंदिर में बैठ के, जग चर्चा अनुवाद।
मनुष्य मंडली जोड़ के, करे सदैव उन्माद॥

मृतक भये प्राणीन कों, और जगत संताप।
रोवे मंदिर बैठ के, सो भी कहिये पाप ॥
मंदिर मॉहीं बैठ के, करे ईर्षा जोय।
द्वेष करे प्राणीन सों, यह भी पातक होय ॥
हरि मूरति के सामने, देहि किसी को दंड।
क्रोध करे मारे हने, यह भी पाप प्रचंड ॥
श्रीठाकुर के सामने, जग लोगन को जान।
देवे आशिर्वाद ही, सोहू पाप पिछान ॥
हरि मंदिर में बैठ के, बोले वचन कठोर।
चित्त दुखावे और को, यह पातक सिरमोर ॥
ऊन उपरणा ओढ के, हरि सेवा मे जाय।
बाल गिरे मंदिर विषे, यह अपराध लखाय ॥
ठाकुर सन्मुख बैठ के, निंदा करे बखान।
यह भी पाप पिछानिये, होय पुन्य की हानि ॥
श्रीहरि मूरति सामने, अस्तुति भाखे और।
करे बड़ाई लोक हित, यहै पाप अति घोर ॥
हास्य करे जिय और की, बोले बचन अयोग।
मंदिर मॉही बैठ के, जीव दुखावे लोग ॥
मंदिर मॉहीं बैठ के, छोड़े वायु अपान।
शुचि पवित्रता नष्ट हो, यह भी पातक जान ॥
निज समर्थ तजि लोभ वश, करे कृपणता जान।
सेवे नहिं श्रीहरी को, यथाशक्ति हित मान ॥
बिना समर्पे प्रभू के, भोग लगे बिन जान।
भखे वस्तु जो जीव यह, सो पातक अनुमान ॥
ऋतुफल भोग धरे नहीं, श्रीमत राधेश्याम।
लाड लड़ा सेवे नहीं, सो भी पाप पिछान ॥
भूत पितर अरु देवता, तिन के भोग लगाय।
सोइ समर्पे प्रभू को, यह भी पाप कहाय ॥
पीठ फेर के बैठनो, श्रीठाकुर की ओर।
यही अवज्ञा विमुखता, अतिशय पाप कठोर ॥
ठाकुर सेवा करत में, जग जिय करे प्रणाम।
नमन करे डर लोभ वश, यहै पाप को काम ॥
गुरु महिमा कोऊ करे, सुनत रहे चुपचाप।
निज मुख अस्तुति नहिं करे, सो भी कहियत पाप ॥
और देवता की करे, निंदा आप बखान।
यह भी कहियत पाप है, मन में समझ सुजान ॥
अपने मुख ही सों करे, आप बड़ाई जान।
लघुता गुण धारे नहीं, यही पाप ले मान ॥
यह बत्तीस जो पाप हैं, त्याग करो हरि सेव।
अपनावें ताको प्रभो, है प्रसन्न हरि देव ॥
श्रीवाराह पुराण में, यह सेवा अपराध।
इन को तजि के प्रीति सों, भगवत पद आराध ॥
भक्ति भाव कर सेइये, श्रीअरचा अवतार।
सरसमाधुरी कर कृपा, मिलें युगल सरकार ॥

संत लक्ष्मणदासजी

[जन्म—१९वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध, जन्मस्थान—गोंडा जिलेका नगवा ग्राम, जाति ब्राह्मण ।]

(प्रेषक—प्रिन्सिपल श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

लादौ नाम खजनवा हो सुनौ मन बनजरवा।
धीर गहीर कै आसन मारौ, प्रेम कै दिहौ बयनवा हो ॥
साँच के गोनिया मॉ जिनिस भरेव है, कसि लेव ज्ञान रसरवा हो।
अन्तर के कोठरी माँ ध्यान लगायो, निसिदिन भजन बिचरवा हो ॥
राति दिवस याके देस न ब्यापित स्याम हीरा के उजेरवा हो।
कहैं लच्छन जन चलौ सतगुर घर बहुरि बहुरि न गवनवा हो ॥

साँवरो धन धाम तुमारा ॥
लागेव अलख पलक अविनासी खोलेव गगन केवारा।
तापर दरस दियो प्रभु ह्वै है त्रिभुवन छवि उजियार ॥
नाद वेद जस बाजन लागे अनहद सब्द [illegible]
मुनि जन राम नाम रट लागे संतन देत [illegible]।
सार सिव गावै सारद खड़ी नाचै, सेस करत [illegible]
देवन नृत्त करत सुरपुर चढ़ि परसन [illegible]।
अतर गुलाब कुमकुमा केसरि अबिर लहा [illegible]
तापर घोरि घोरि रँग मारत चहुँ दिसि बहै रँग [illegible]
लगि वैराट सकल छवि जाको छकित भयो मन [illegible]
लच्छन दास दया सतगुर के रघुपति [illegible]।

संत श्रीसगरामदासजी

कहे दास सगराम रामरस पा ले गटका।
मत चूके अब दाव चार दिन का है चटका॥
ये चटका चूक्याँ पछे मिले न दूजी वार।
लख चौरासी जोनि में दुख को आर न पार॥
दुख को आर न पार घणा मारेगा भटका।
कहे दास सगराम राम रस पा ले गटका॥

कहे दास सगराम सुणो हो सज्जन मिंता।
म्हारी बात सूँ जाण थने क्यों व्यापै चिंता॥
क्यों व्यापै चिंता थने सुख-सागर सूँ सीर।
राम भजन बिन दिन गया वो साल्त है वीर॥
वो साल्त है वीर आय जावे जब चिंता।
कहे दास सगराम सुणो हो सज्जन मिंता॥

कहे दास सगराम सुणो धन की धणियाणी।
कर सुकृत भज राम जाण धन ओस को पाणी॥
वहते पाणी धोय ले कृपा करी महाराज।
कारज कर ले जीव को करयो जाय तो आज॥
करयो जाय तो आज काल की जाय न जाणी।
कहे दास सगराम सुणो धन की धणियाणी॥

श्रीस्वामी रामकबीरजी

(प्रेषक—श्रीअच्चू धर्मनाथसहायजी बी० ए०, बी० एल०)

बुरे ख्यालोंसे पीछा छुड़ानेके लिये ये ग्यारह युक्तियाँ हुत उपकारी हैं :—

(१) मालिकसे प्रार्थना करना, (२) आलससे बचना, ३) कुसङ्गसे दूर रहना, (४) बुरी किताबें, किस्सा-हानी न पढ़ना, (५) नाच-तमाशा, चेटक-नाटकमें-जाना, (६) अपनी निरख-परख करते रहना, (७) न्द्रियोंको बुरे विषयोंकी ओर झुकने न देना, (८) जब बुरे चिन्तवन उठें तो चित्तसे नोचकर फेंक देना, (९) एकान्तमें मन-इन्द्रियोंकी विशेष रखवारी करना, (१०) परमार्थी शिक्षाओंको सदा याद रखना, (११) मौत और नरकोंके कष्टको याद दिलाकर मनको डरवाते रहना।

काम काम सब कोइ कहे, काम न चीन्है कोय।
जेती मन की कल्पना, काम कहावत सोय॥

संत दीनदरवेश

[जन्म १८६३ वि०; स्थान डभोड़ा, गुजरात]

(प्रेषक—श्रीवैद्य बदरदीन राणपुरी)

जितना दीसे थिर नहीं, थिर है निरंजन नाम।
ठाट बाट नर थिर नहीं, नाहीं थिर धन-धाम॥
नाहीं थिर धन-धाम, गाम-घर-हस्ती घोड़ा।
नजर आत थिर नाहिं, नाहिं थिर साथ संजोड़ा॥
कहे दीनदरवेश, कहा इतने पर इतना।
थिर निज मन सत शब्द, नाहिं थिर दीसे जितना॥

बंदा कर ले बंदगी पाया नर-तन सार।
जो अब गाफिल रह गया, आयु घटे छण मार॥
आयु घटे छण मार, कृत्य नहिं नेक बनायो।
पाजी बेईमान, कौन विधि जग में आयो॥
कहत दीनदरवेश, फँसो माया के फंदा।
पाया नर तन सार बंदगी कर ले बंदा॥

जिक्र बिना करतार के, जीव न पावत चैन।
चहुँ दिसि दुख में डूबते, झूर रहे दो नैन॥
झूर रहे दो नैन, रैन दिन रोवत बीते।
हाय `भभागी जीव पीव बिनु को नहिं मीते॥
कहत दीनदरवेश फिक्र अब दूर करीजे।
तब ही आवे चैन, जीव जब जिक्र करीजे॥

अमल चढ़ावा हो गया, लगी नशा चकचूर।
आरसी क्यों बूझत नहीं, मिल गये साहेब नूर॥
मिल गये साहेब नूर, दूर हुइ दुबिधा मेरी।
विकट मोह की फाँस, छूट गइ संगति तेरी॥
कहत दीनदरवेश, अब यहाँ कहाँ रहावा।
लगी नशा चकचूर हो गया अमल चढ़ावा॥

आली अमल छूटै नहीं, लग रहे आठों याम।
मैं उन में ही रम रहूँ, कहा और से काम॥
कहा और से काम, नाम का जाम पिया है।
जिस को मिल गये आप उसी ने देख लिया है॥
कहे दीनदरवेश, फिरूँ प्रेमे मतवाली।
लग रहे आठो याम अमल नहिं छूटै आली॥

आली पिया के दरस की, मिटै न मन की आस।
रैन दिनॉ रोवत फिरूँ, लगी प्रेम की फाँस॥
लगी प्रेम की फाँस श्वास-उश्वास सँभारे।
मैं उन की हुइ रोय, पीव नहिं हुए हमारे॥
कहत दीनदरवेश, आस नहिं मोहि जिया की।
मिटै न मन की प्यास, आस मोहि दरस पिया की॥

साँई घट-घट में बसे, दूजा न बोलनहार।
देखो जलवा आप का, खाविंद खेवनहार॥
खाविंद खेवनहार, नाथ का यही नजारा।
तू कहा जान अबूझ, यागी हविश का प्यारा॥
कहत दीनदरवेश, फकीरी इल्म बखाने।
दूजा न बोलनहार सोई सैयाँ पहचाने॥

माया माया करत है, खाया खरच्या नाँहि।
आया जैसा जायगा, ज्यूँ बादल की छाँहि॥
ज्यूँ बादल की छाँहि, जायगा आया जैसा।
जान्या नहिं जगदीस, प्रीत कर जोड़ा पैसा॥
कहत दीनदरवेश, नहीं है अम्मर काया।
खाया खरच्या नाँहि करत है माया-माया॥

बंदा बहुत न फूलिए, खुदा खमंदा नाँहि।
जोर जुलम मत कीजिये मरत लोक के माँहि॥
मरत लोक के माँहि, तजुर्बा तुरत दिखावे।
जो नर करै गुमान, वही नर खत्ता खावे॥
कहत दीनदरवेश भूल मत गाफिल बंदा।
खुदा खमंदा नाँहि बहुत मत फूले बंदा॥

बंदा कहता मैं करूँ करणहार करतार।
...प कहा भी होय नहिं, होसी होवणहार॥
...मी होवणहार, बोझ नर बृथा उठावे।
... विधि लिख्या लिलार, तुरत वैसा फल पावे॥
...त दीनदरवेश हुकुम से पान हलदा।
...हार करतार, तुही क्या करमी बंदा॥

धुरै नगारा कूच का, छिन भर छाना नाँहि।
कोई आज कोई काल ही, पाव पलक के माँहि॥
पाव पलक के माँहि, समझ ले मनवा मेरा।
धरया रहे धन माल, होय जगल में डेरा॥
कहत दीनदरवेश जतन कर जीव जमारा।
छिन भर छाना नाँहि कूच का धुरै नगारा॥

हिंदू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहे हम।
एक मूँग दो फाड़ है, कुण ज्यादा कुण कम्म॥
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया।
एक भजत है राम, दुजा रहिमान से रजिया॥
कहत दीनदरवेश, दोय सरिता मिल सिंधू।
सब का साहब एक एक ही मुसलिम हिंदू॥

बंदा बाजी झूठ है, मत साची कर मान।
कहाँ बीरबल गंग है, कहाँ अकब्बर खान॥
कहाँ अकब्बर खान, भले की रहे भलाई।
फतेह सिंह महाराज, देख उठ चल गये भाई॥
कहत दीनदरवेश, सकल माया का धंधा।
मत साची कर मान, झूठ है बाजी बंदा॥

मर जावेगा मूरखा, क्यूँ न भजे भगवान
झूठी माया जगत की, मत करना अभिमान
मत करना अभिमान, वेद शासतर यू कहे।
तज ममता, भज राम, नाम सो अम्मर रहे॥
कहत दीनदरवेश, फेर अवसर कब आवे।
भज्या नहीं भगवान, अरे मूरख मर जावे॥

काल झपाटा देत है, दिन में बार हजार।
मूरख नर चेते नहीं, कैसे उतरे पार॥
कैसे उतरे पार, मोह में हारयो बाजी।
भज्या नहीं भगवंत रह्यो माया में राजी॥
कहत दीनदरवेश, छोड़ दे कूड़ कपाटा।
दिन में बार हजार, देत है काल झपाटा॥

राम रुपैया रोकड़ी, खरच्या खूटत नाँहि।
साहेब सरिखा सेठिया, बसे नगर के माँहि॥
बसे नगर के माँहि, हुंडियाँ फिरे न ...।
क्या पैसे की प्रीत, प्रीत ... की ...॥
कहत दीनदरवेश त्याग ... ...।
खरच्या खूटे नाँहि, राम है ... ...॥

ताकूँ मनवा धिक है, साहेब समरथा नाहिं।
अलख पुरुष नहिं ओळख्यो, पड्यो मोह के माँहि ॥
पड्यो मोह के माँहि समझ ले मनवा मेरा।
पड्या पूतला जान, होयगा सूना डेरा ॥
कहत दीनदरवेश ज्ञान की लगी न धाकूँ।
साहेब समरथा नाँहिं, धिक है मनवा ताकूँ ॥

बंदा हरि के भजन बिन, तेरा कोइ न मित्त।
तूँ क्यूँ भटके बावरे, कर ले नाम से प्रीत ॥
कर ले नाम से प्रीत, वही भवतारक सैयाँ।
परमानद को पेख यार! क्यूँ राह-भुलैयाँ ॥
कहत दीनदरवेश, कटे फिर काल का फंदा।
जनम-मरण मिट जाय, हरी को भज ले बंदा ॥

मायिक विषय संसार का, देखत मन लोभाय।
मनहिं खींच हरि चरण में, राखो सदा लव लाय ॥
राखो सदा लव लाय, लगा हरि से निरवाना।
उन का नाम है योग, भागवत माँह बखाना ॥
कहत दीनदरवेश, मिले उबरन का आरा।
कबहुँ न मन लोभाय, देख मायिक संसारा ॥

सुंदर काया छीन की मानो क्षणभंगूर।
देखत ही उड़ जायगा, ज्यूँ उड़ि जात कपूर ॥
ज्यूँ उड़ि जात कपूर, यही तन दुर्लभ जाना।
मुक्ति पदारथ काज, देव नरतनहिं बखाना ॥
कहत दीनदरवेश, संत दर्शन जन पाया।
क्षणभंगुर संसार, मुफ्त भइ सुंदर काया ॥

देवाधिदेव दया करो, आयो तुम्हरे पास।
भरोभवमें राचा रहूँ, तुम चरणन की आस ॥
तुम चरणन की आस, भक्ति-अनुराग बधैया।
पल छिन बिसरत नाहिं तुम्हीं हो मेरे सैंया ॥
कहत दीनदरवेश मिटे संसार उपाधी।
आयो तुम्हरे पास, दया करो देवाधिदेव ॥

संत पीरुद्दीन

[संत दीनदरवेशके शिष्य।]

(प्रेषक—श्रीमणिलाल शंकरलाल राव)

खालिक बिन दूजा कहाँ, माँहिं तेरा अखूह।
नूरे नजर देखे बिना किम विध पावत गूह ॥
किम विध पावत गूह फिरे हम अंध अभागी।
मैरम नाम दिखाय तभी हम देखा जागी ॥
कहत पीर दरवेश वही है मेरा मालिक;
माँहिं पेख अखूह, दूजा नहिं देखिय खालिक ॥

बाबा नबी

[संत दीनदरवेशके शिष्य।]

(प्रेषक—श्रीमणिलाल शंकरलाल राव)

मैं जानूँ हरि अधम उधारन पतित उधारन स्वामी रे।
भक्त वत्सल भूधरजी रे, है एक नाम बहुनामी रे ॥
प्रथम भक्त प्रह्लाद उबारे, ध्रुव को अमर पद दीन्हा रे।
सुदामा के सब संकट काटे, हँस हँस तंदुल लीन्हा रे ॥
पांचाली को चीर बढ़ायो, पांडव छिपे उबारी रे।
कौरव कुल को मार निवारे, अर्जुन को रथ धारी रे ॥
गिरधारी तेरो नाम बड़ो है, अगर [illegible] का दीया रे।
नामदेव की छान छिवाई, दामा के [illegible] कीया रे ॥
सेन काज नाई बनि आये, [illegible] का [illegible] रे।
[illegible] के घर काम [illegible], [illegible] मन मोहया रे ॥
बहुरनी [illegible] कौर [illegible], [illegible] [illegible] रे।
दासनबी को मरमी [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] रे ॥

बाबा फाज़ल

[संत दीनदरवेशके शिष्य।]

(प्रेषक—श्रीमणिलाल शंकरलाल राव)

[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ॥
[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ॥

संत नूरुद्दीन

[संत दीनदरवेशके रामभक्त शिष्य, अन्तिम जीवन सरयू-तटपर ।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

शबरी भिल्नी जानि के जूँठे खाये बेर ।
नाविक जन गरणे रख्यो कहा यवन सौं बैर ॥
कहा यवन सौं बैर जटायू खग ये प्राणी ।
वानर और किरात उधारे जाण अजाणी ॥
नूर फकीर जानैं नहीं जात बरन एक राम ।
तुव चरनन में आय के अब तो कियो विश्राम ॥

संत हुसैन खाँ

[संत दीनदरवेशके शिष्य ।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

बालमुकुन्दा माधवा केशव कृष्ण मुरार ।
यवन उधारन आइये निर्लज नंदकुमार ॥
निर्लज नंदकुमार नाथ छाँड़ो निठुराई ।
दूध दही घृत खाय यादव तेरी चतुराई ॥
हुसैन तेरा हो गया गिरधर गोविन्दा ।
केशव कृष्ण मुरार माधवा बालमुकुन्दा ॥

संत दरिया खान

[संत कमालके शिष्य ।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

तेरा जलवा कौन दिखावै ॥
तेल न बाति बुझत ना ज्योती जाग्रत कौन लखावै ।
बिज चमकै झिरमिर मेह बरसे नवरँग चीर भिजावै ॥
पल एक पिव दीदार न दीखे जियरा बहु तड़पावै ।
दरिया खान को खोज लगाकर आपहि आप मिलावै ॥

संत झूलन फकीर

[स्थान—अहमदाबाद, दरिया खानके शिष्य ।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

ख्वाब को देखके भूल मत रीचिये,
यह बाजीगर का खेल है जी ।
रूप जोबन दिन चार का देखना,
जब लग दीप में तेल है जी ॥
हम तुम दोनों हिलमिल रहें, यह
सराय पल-छिन का मेल है जी ।
झूलन फकीर पुकारकर कहे
क्यों बंदे अब भी बदफेल है जी ॥

संत शम्मद शेख

[समय सतरहवीं सदी, संत माधवदासजीके शिष्य ।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

सुहागिन पिय से नाची हो ।
पल इक पीव को बिसरत नाहीं (तेरी) प्रीती साची हो ॥
रसना तेरी पीव रटन में, नैन पियासी हो ।
जियरा तेरा पिव सँग बिरमें, (तेरी) काया काची हो ॥
तन मन झूला डोर बाँधकर पिव रँग राची हो ।
शम्मद शेख पिय माधव मिलते (हुई) काल की हाँसी हो ॥

बाबा मलिक

[स्थिति—मुगल बादशाह जहाँगीरके समय, स्थान—गुजरात भरौंच जिलेमें आनन्दनगर । श्रीसंत हरिदासजीके शिष्य ।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

बाबा मोहे एक तिहारी आस ॥ टेक ॥
धन दौलत मेरे मन नहिं भावे, मैं हूँ तिहारे दास ।
तेरा है मैं टाढ़ रहा हूँ, मोय रखो चरन के पास ।
रोजे कयामत कोइ न मेरा साहेब राखो लाज ।
दास मलिक की लेहु खबरिया, एक दिन जंघन दास ।

बाबा गुलशन

[गुरु—व्रजदास नामक संत, व्रजवासी मुस्लिम संत।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

मनमोहनि सूरत मोहन की, देखत जग लागि रहा सपना।
सुख-चैन न साँवरि सूरत बिनु, मोहे कोइ यहाँ न लगे अपना॥
चित चंचल हरि के चरन लग्यो, रसना लगि प्रिय नामहि जपना।
गुलशन तहकीक कर देख लिया, जग झूठ जँजाल मन की कल्पना॥

गुलशन काया कारमी कल मिट्टी का ढेर।
पाक खुदा के जिक्र बिन बंदे न पावत ल्हेर॥

ठाढ़ी रह ब्रज ग्वालिनी गुलशन पूछत तोर।
ब्रजवासी वो कहाँ गये मुरलीधर चित चोर॥
पाजी नैन मानैं नहीं, गुलशन कह्यो समुझाय।
इत उत नित भटकत फिरैं स्याम छबी मन भाय॥
स्याम छबी जिन जिन लखी गुलशन चहे न आन।
मुरलीधर सों मन लगा, उन्हें वही भगवान॥

संत दाना साहेब

[समय वि० सं० १७५० से १८००, स्थान चाँपानेर, काजी गुलशनके शिष्य।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

मुरलीधर स्याम की साँवरी सूरत निरखत नैना छाकि रहे।
ब्रजवासी हूई ब्रज ठाढि रहूँ, बंसीधर माधुर बेनु बहे॥
बरसाना कुंज बृंदावनमें, हरि दीखत नाहीं कौन कहे।
दाना ब्रजसे नहिं दूर रहे, यह जन्नत का सुख कौन लहे॥
दाना के दिल में लगी, पीय दरस की आस।

बिरहिन ब्रज मे आइ कै, ठाढी ठौर उदास॥
मनमोहन! तुम हो कहाँ, ब्रजवासी सुख दैन।
सैयाँ तुम्हारे दरस बिनु, दाना बहावत नैन॥
बिलखत आयू बीत गइ, बीते जोबन वेश।
अब तो दरस दिखाइये, दर पै खड़ा दरवेश॥

संत केशव हरि

[स्थान—सौराष्ट्र, जन्म-संवत् १९०७]

(प्रेषक—श्रीमाली गोमतीदासजी)

जो शांत दांत सुसमाहित वीतराग।
जेने नथी जगत माँ रतिमात्र राग॥
जेने सदा परम बोध पवित्र धाम।
एने अमे प्रणय थी करिए प्रणाम॥
जेनो थयो सफल जन्म नृजाति रूप।
जेने सदा सुखद एक निज स्वरूप॥
जेनो सुखाश्रम विषे समये विराम।
एने अमे प्रणय थी करिए प्रणाम॥

देखाय तोय पण अन्तर माँहि गूढ।
जेने विवेक विनयादि विचार रूढ॥
जे आत्मलाभ थकि केवल पूर्णकाम।
एने अमे प्रणय थी करिए प्रणाम॥
जे त्यागवान पण छेवट एक रागी।
रागी जणाय पण अंतर माँ विरागी॥
जेनु सदा रटण केशव राम नाम।
एने अमे प्रणय थी करिये प्रणाम॥

संत यकरंगजी

निसिदिन जो हरि का गुन गाय रे।
बिगड़ी बात वाकी सब बन जाय रे॥

लाग कहूँ माने नहिं एकहु।
अब करो, यकरंग हम समझाय रे॥

गौन निनार करो तुम 'फकरैंग' ।
आखिर चलत चलत थक जाय रे ॥
भरमिया मन भाया रे ॥
मोहिनी मूरत मोहिनी मूरत,
हिरदै बीच समाया रे ।
वन में ढूँढ़ा, बिदेस में ढूँढ़ा,
आ को अन्त न पाया रे ॥
मंदिर में असगर, काबे में ढूँढ़ा,
काबे में राम समाया रे ।
गौन-निनार कहै 'फकरैंग' पिया,
जिन ढूँढ़ा तिन पाया रे ॥

हरदम हरि-नाम भजो री ॥
जो हरदम हरि-नाम को भजिहो, मुक्ति है जैहै तोरी ।
पाप छोड़ के पुन्य जो करिहो, तब बैकुंठ मिलै री ।
करम से धरम बनो री ॥
'फकरैंग' फिरंगी आइ करो चोट, हर घर रँग मचो री ।
सुर नर मुनि सब फाग खेलत हैं, अपनी-अपनी जोरी ।
फकर कोई लेत न मोरी ॥

मितवा रे ! नेकी से बेड़ा पार ।
जो मितवा तुम नेकी न करिहो, बुड़ि जैहो मँझधार ॥
नेक करम से धरम सुधरिहै, जीवन के दिन चार ।
'फकरैंग' जागो खैर इजार की, जासों हो निस्तार ॥

संत पूरण साहेब

(कबीरपंथी साधु)

नरतन काहे को धरे हो चेतन !
पशुवत कर्म करत हो जग में, विषयन सग जरे ।
सतसंगति चीन्ही नहिं कबहूँ, बहु भ्रम फंद परे ॥
सुत दारा परिवार कुटुम सब, मोह-धार में परे ।
'पूरन' परख पाय बिन हंसा, जनम-मरन न टरे ॥

या तन की केती अधनाई ! थोरे दिनन में माटी मिलाई ॥
जल पृथ्वी मिलि बनो है सरीरा, अग्नि पवन ता मध्य समाई ।
सत्य स्वभाव अकास भरो है, तू नहिं जानत चेतन साँई ॥
धन-संपति छिनभंग सकल जग, छिनभगी सब मान बड़ाई ।
धृक तिन कों जो इन कों मानत, 'पूरन' पारख बिन दुखदाई ॥

समुझि बूझि कछु लीजिये मनुआ ! जग में चित्त न दीजिये ।
जो आयुहि चौराय गयो है, ताको संग न कीजिये ।
विषयन के मदमाते जियरा, तिनके ज्ञान नहिं भीजिये ।
चोरो तीर दलान में मारो, नास्ति हेतु नहिं रीझिये ।
कहे 'पूरन' सुखरूप परख पद, ताहि अमल रस पीजिये ॥

मीर मुराद

[कविराज चारण काहनदासके शिष्य, स्थान—बड़ोदा राज्यमें बिलवाई ग्राम।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

मुरलीधर ! मुख मोड़के अब मत रहियो दूर ।
मुराद आयो शरण में, रखियो हरी हजूर ॥
स्याम छवी हिरदै लगी, अब कहा निरखूँ आन ।
मुराद दूसरा कोउ नहीं, नाम किया निरबान ॥
बिलखत मन हरि के बिना, दरस बिना नहिं चैन ।
मुराद हरि के मिलन बिन, बरखा ज्यूँ बहैं नैन ॥

संत भाण साहेब

[जन्म—संवत् १७५४ माघी पूर्णिमा, जन्म-स्थान—सौराष्ट्रमें ग्राम कनखीलोड, पिताका नाम—कल्याण भगत, माताका नाम—अम्बाबाई, प्रसिद्ध संत।]

(प्रेषक—साधु दयालदास मंगलदास)

साधु नाम साहेबनुं, जुठुं नहिं जराय ।
कहे प्रेमे भजे, तो भारे कामज थाय ॥
भाण कहे भटकीस मा, मथी जोने माँहि ।
समजीने जो सुइ रहे, तो करवुं नथी कांइ ॥

बोले ए बीजो नहीं, परमेश्वर पोते ।
अज्ञानी तो आँधळो, अळगो जइने गोते ॥
एक निरंजन नामज मागे मन लाग्यो छे मारो ।
गुरु प्रताप साधु नी संगत, आव्यो भवनो आरो ॥
कूड़े कपटे कोइ न राचो, मतमारगने चाहो ।
गुरुने वचने ग्यान ग्रहीने, निर्मळ गंगा मां नाहो ॥

षट प्रकाश गुरुगम लाधी, चौरासीनो छेड़ो ।
जेरे देव ने दूर देखता, नजरे माल्यो नेड़ो ॥
अनँत करोड़ पृथ्वी माँ आतम, नजरे करीने निहाळ्यो ।
भ्रांति भ्रमणा भवनी भाँगी, शिवे जीव समाणो ॥
जळ झाँझवे कोई ना राचो, जूठो जग संसारो ।
भाणदास भगवंतने भजिये, जेदि सब भुवन पसारो ॥

संत रवि साहेब

[जन्म—संवत् १७९३, स्थान—गुजरात आमोद ताल्लुकेमें तणछा नामक ग्राम । भाणसाहेबके शिष्य ।]

(प्रेषक—साधु दयालदास मंगलदास)

राम निरंजन देव भेद जाणे शिव शंकर ।
रात दिवस लव लाय रटत रामहिं निज अक्षर ॥
उनहि दिया उपदेश रखा कबहू नहिं भूला ।
राम नाम इक सार तत्त्व सबही का मूला ॥
गागा रघुवंशी सकल अखिल रूप आनंद है ।
रविदास एक श्रीनाम बिन सकल जगत यह फंद है ॥

रसना राम सँभारिये, श्रवनहिं सुनिये राम ।
नयने निरखहु राम कूँ, रवीदास यहि काम ॥
मत अनेकन जे भये, कीन्हीं राम पुकार ।
रवीदास सब छोड़ि के, रामहिं राम उचार ॥

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरीलालजी रामपुरी)

जग जीवन जे शब्द श्रिए सब सृष्टि उपाया ।
ररा रमता राम ममा निज ब्रह्म की माया ॥
जीव पढ़े जे राम नाम से अघ सब भागे ।
भाखो श्यामा रटन स्वपन से मृता जागे ॥
जे श्रीराम मुख उचरे हिय माहीं हेते करी ।
रविदास नाम यहि चीन्हताँ योनि जन्म न आवे फरी ॥

दोहा

नैनहि निरखे राम कूँ, छए नैन के माहिं ।
राम रमत नित हगन मे, रवि कोउ जानत नाहिं ॥
रगरग राम रमी रह्यो, निर्गुन सगुन के रूप ।
राम-श्याम रवि एक ही, सुंदर सगुन सरूप ॥

राम भजन बिना नहिं निस्तारा रे,
जाग जाग मन क्यूँ सोता ।
जागत नगरी मे चोर न लूटे शस्त्र मारे जमदूता ॥
जर तर करता कोटि जतन कर काशी जाइ करवत लेता ।
मुवा पीछे तेरी होय न मुक्ती ले जायगा जमदूता ॥
जोगी होकर बसे जँगल मे अंग लगावे भभूता ।
दमड़ी कारण देह जलावे, ये जोगी नहिं रे जगधूता ॥
जाकी सूरत लगी राम मे काम क्रोध मर्दन लेता ।
अधर तख्त पै आसन लगावे ये जोगी ने जग जीता ॥
ऊँध्या नर सो गया चौरासी जाग्या सो नर जगजीता ।
कह रविदास भाण परतापे अनुभविया अनुभव रीता ॥

संत मौजुद्दीन

[जाति पठान, कच्छके भाण साहेबके शिष्य, मस्त फकीर ।]

(प्रेषक—श्रीमणिलाल शंकरलाल राणा)

गैबी तोंदि [illegible] ना [illegible], यहि नाम अनीरम गगा ॥
हरी सिमुर लेवी छोड़ न देखूँ, कबहूँ करूँ ना [illegible] ।
[illegible] सिरारे तुपुडी उजल, रहत भजन मे [illegible] ॥
[illegible] दूध [illegible] [illegible], [illegible] नहिं हजे भुजन ।
[illegible] [illegible] कपूर न [illegible] रहे ध्यान [illegible] संग ॥

मरकट कहा भूषन पहिनावे, अगर [illegible] [illegible] [illegible] ।
मुरशिद [illegible] गज अम्बर पूजि चढावत [illegible] ॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न दूध [illegible] ।
[illegible] गुरु [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] ॥

संत मोरार साहेब

[मारवाड़ थराद नामक राज्यके राजकुमार, रविसाहेबके शिष्य, जन्म—संवत् १८०२, समाधि-स्थान—खंभालिया, सौराष्ट्र।]

(प्रेषक—साधु दयाल्दास मंगलदास)

मुजरो आय करत मोरार ।
सरनागत सुख सुजस श्रवन
कर आये गरीबनेवाज ॥
अजामील, गज, गनिका तारी
आरत मुनि के अवाज ।
ऋषि की नारि अहल्या तारी
चरन-सरन सुख साज ॥
सबरा, सेना, सजन कसाई किये सचन के काज ।
व्याध, गीध, पशु, पारधि तारे पतितन के सिरताज ॥
पतीतपावन नेह-निभावन राजत हो रघुराज ।
दास मोरार मौज यह माँगै दीजे अभयपद आज ॥

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीनजी राणपुरी)

गोविंद गुण गाया नहीं, आळस आवी रे अभागी ।
अंतर न टळी आपदा, जुगते न जोयुं जागी ॥
जनम गयो जंजाळ माँ, शब्दे लक्ष्य न लागी ।
भजन तूँ भूल्यो रामनुं, मोह ममता नव त्यागी ॥
धन रे जोवन नाँ जोर माँ चोले आँख चढावी ।
संत चरणने मेव्या नहीं, कर्मे कुबुद्धि आवी ॥
अखंड ब्रह्मने ओळखो सुंदर मदा रे मोहागी ।
मोरार कहे महापद तो मळे, मनवो होय रे वेरागी ॥

संत कादरशाह

[रवि साहेबके शिष्य।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

रवि साहेब गुरु सूरमा, काटी भव-जंजीर ।
कादर अपनो जानि के, ले गये भव-जल तीर ॥
यह संसार सूना लगे, माया लगे विषधार ।
कादर कफनी पहिन के, खोजे खेवनहार ॥
तन पै भस्म रमाय के, लिया फकीरी वेश ।
काया कादर क्या हुआ, कैसे भया दरवेश ॥
हरि-सुमिरण में रॉच के, छाँडे जग जंजाल ।
कादर अब कैसे रहे, भज मन श्रीगोपाल ॥
कादर नैना खोलिये, आये खेवनहार ।
पामर बहु पछिताओगे, नैया डूबे (मझ) धार ॥

संत गंग साहेब

[खीम साहेबके सुपुत्र, रवि साहेबके शिष्य।]

(प्रेषक—साधु दयालदास मंगलदास)

आये मेरे आँगन मुकुट मणी ।
जन्म जन्म के पातक छूटे सतगुरु ज्ञान सुनी ॥
कोटि काम रवि किरणें लाजें ऐसी शोभा बनी ।
कलीकाल के थाणे उठाए शून्य शब्द जब धुनी ॥
कमलनयन कृपा मुझ पर कीन्हीं नैनन लिखि लीनी ।
चित्त चरण से बिछुरत नाहीं ऐसी आय बनी ॥
गंगदास गुरु किरपा कीन्हीं मन रवि भाण भनी ।
खीमदास यह ज्ञान बताई मिले मोहि धुन धनी ॥

साईं करीमशा

[मोरार साहेबके शिष्य । स्थान—कच्छ ।]

(प्रेषक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

तेरो अवसर बीत्यो जाय बावरे, दो दिन को मेहमान ॥ टेक ॥
बड़े बड़े बादशाह देखे, सूरे नजर बलवान ।
काल बगल से कौन बचे हैं, मिट गये नाम निशान ॥
गज घोड़े अरु सेना भारी, नारी रूप की खान ।
सभी एक दिन न्यारे होकर, जा सोये समसान ॥
सत समागम समझ न जाने, रटे विषय गल्तान ।
पचे रहे दिन रात मंद मति, जैसे सूकर स्वान ॥
इक पल साहेब नाम न लीन्हा, हाय अभागे जान ।
पतीतपावन देव विचारे, हो जावे कल्यान ॥
हरिहर छाँड़ आन कहँ भटके रे मन मेरे ! मान ।
साँइ करीमशा साहेबजी से अब तो कर पहचान ॥

संत बहादुर शा

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

अब चौथा पद पाया संतो ॥
नाभि कमल से सुरता चाली सुलटा दम उलटाया ।
त्रिकुटि महल की खबर पड़ी जब आसन अधर जमाया ॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ती जागी तुरिया तार मिलाया ।
अन्तर अनुभव ताली लागी शून्य मँडल में समाया ॥
चाली सुरता चढ़ी गगन पर अनहद नाद बजाया ।
रुनझुन रुनझुन हो रणकारा वामें सुरत समाया ॥
देवी देव वहाँ कछु नाहीं नहीं धूप नहिं छाया ।
रामदास चरणे भणे बहादुर शा निरख्या अमर अजाया ॥

संत त्रीकम साहेब

(खीम साहेबके शिष्य ।)

[प्रेषक—साधु दयालदास मंगलदास]

मनमुख देरा साहब मेरा ।
बाहिर देख्या भीतर देख्या देख्या अगम अपारा ॥
है तुझ माहीं सकल नाहीं गुरु बिन घोर अँधेरा ।
यह संसार स्वप्न की बाजी तामें चेत सवेरा ॥
आवागमन का फेरा टलिया पल में हुआ निरबेरा ।
त्रीकम संत खीमने चरणे तोड्या जग का जँजीरा ॥

संत लाल साहब

(प्रेषक—साधु दयालदास मंगलदास)

हरिजन हरि दरबार के, प्रगट करे पोकार ।
शब्द पारखू लालदास, समुझे समझनदार ॥
चेत बे चेत अचेत क्यूँ आँधरा ! आज अरु काल में उठ जाई ।
मोह का सोह में मार नहीं सुद्ध की अध के धध में जन्म जाई ॥
काल कूँ मारकर कुबुधि कूँ रोधकर भरम का कोट कूँ भाँग भाई ।
खबर कर खबर कर खोज ले नाम कूँ याद कर शब्द संभाल भाई ॥

संत शाह फकीर

ध्यान लगावहु त्रिपुटी द्वार, गहि सुखमना विहँगम मार ।
पैठि पताल में पश्चिम द्वार, चढ़ि सुमेरु भव उतरहु पार ॥
इकतें कमल नीके हम बूझा, अठयें बिना एको नहिं दूझा ।
'शाह फकीरा' यह सब धंद, सुरति लगाउ जहाँ वह चंद ॥
अनहद तानहिं मनहिं लगावे, सो भूला प्रभु-लोक सिधावे ।
सुनतहिं अनहद लागे रंग, बरि उठे दीपक बरे पतंग ॥
'शाह फकीरा' तहाँ समावे, चिकवा[2] पानी नदी मिलावे ।
मन-कच्छी[3] अति जोर है, मानत नाहीं धीर ।
कड़ा लगाम दे के पकरु, सधे 'शाह फकीर' ॥

---

१. सात । २. निरक्षर । ३. कच्छ देशका घोड़ा ।

गोस्वामी श्रीहरिरायजी महाराज

भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र शरण हैं

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः ।
पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ १ ॥

यज्ञ तथा ज्ञान इत्यादि परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले साधनोंसे रहित, सभी प्रकारसे परतन्त्र, विविध प्रकारके पापोंसे पुष्ट मुझ दीनके लिये साधनहीन जीवोंके उद्धारक श्रीकृष्ण ही शरण हैं ॥ १ ॥

संसारसुखसम्प्राप्तिसम्मुखस्य विशेषतः ।
बहिर्मुखस्य सततं श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ २ ॥

अधिकतर सासारिक अनित्य सुखोंकी प्राप्तिके लिये ही उद्योगमें तत्पर, मिथ्या सासारिक प्रपञ्चोंमें ओतप्रोत हो जानेसे सदा बहिर्मुखी प्रवृत्तिवाले मुझ दीनके लिये निःसाधन जीवोंके समुद्धर्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही शरण हैं ॥ २ ॥

सदा विषयकामस्य देहारामस्य सर्वथा ।
दुष्टस्वभाववामस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ३ ॥

सर्वदा विषयोंकी इच्छा रखनेवाले, नितरां दैहिक सुखमें ही आनन्द माननेवाले और कामुकता तथा लुब्धता इत्यादि दुष्ट स्वभावोंसे अत्यन्त कुटिल मुझ साधनहीनके लिये निःसाधन जीवोंके उद्धार करनेवाले श्रीकृष्ण ही शरण हैं ॥ ३ ॥

संसारसर्पदष्टस्य धर्मभ्रष्टस्य दुर्मतेः ।
लौकिकप्राप्तिकष्टस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ४ ॥

संसाररूपी साँपसे डसे हुए, स्वधर्मको नहीं माननेवाले, दुष्टबुद्धि और अनेकों प्रकारके लौकिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये कष्ट उठानेवाले सर्वसाधनहीन मुझ दीनके समुद्धारक श्रीकृष्ण ही हैं ॥ ४ ॥

विस्मृतस्वीयधर्मस्य कर्ममोहितचेतसः ।
स्वरूपज्ञानशून्यस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ५ ॥

अपने धर्मको भूल जानेवाले, कर्म-जालमें किंकर्तव्य-विमूढ़ चित्तवाले, स्वरूपज्ञानसे रहित मुझ साधनहीन दीनके शरण निःसाधन जीवोंके उद्धारक श्रीकृष्ण ही हैं, अन्य नहीं ॥ ५ ॥

संसारसिन्धुमग्नस्य भग्नभावस्य दुष्कृतेः ।
दुर्भावलग्नमनसः श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ६ ॥

संसाररूपी अगाध समुद्रमें डूबे हुए, नष्ट सद्भाववाले (प्रभुप्रेम-विहीन), दुष्कर्मकारी, बुरी भावनाओंमें संसक्त अन्तःकरणवाले सर्वसाधनहीन मुझ दीनके निःसाधन जीवोंके समुद्धर्ता श्रीकृष्ण ही शरण हैं ॥ ६ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य निरन्तरम् ।
विरुद्धकरणासक्तेः श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ७ ॥

विवेक, धैर्य और भक्ति इत्यादि परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले कार्योंसे सर्वथा रहित तथा निरन्तर परमात्माकी प्राप्तिके बाधक अनुचित कार्योंमें तत्पर सर्वसाधनहीन मुझ दीनके शरण श्रीकृष्ण ही हैं, जो साधनहीन अनेकों जीवोंका उद्धार किया करते हैं ॥ ७ ॥

विषयाक्रान्तदेहस्य वैमुख्यहृतसन्मतेः ।
इन्द्रियाश्वगृहीतस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ८ ॥

कामादि विषयोंसे अभिभूत शरीरवाले, परमात्मासे विमुख होनेके कारण शुभ बुद्धिको गँवा देनेवाले, इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंके अधीन हो जानेवाले, सर्वसाधनहीन मुझ दीनके शरण निःसाधन जीवोंके समुद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं ॥ ८ ॥

एतदष्टकपाठेन ह्येतदुक्तार्थभावनात् ।
निजाचार्यपदाम्भोजसेवको दैन्यमाप्नुयात् ॥ ९ ॥

इस श्रीकृष्ण-शरणाष्टकके पाठ करनेसे तथा इस अष्टकमें कहे हुए अर्थोंका ध्यानपूर्वक मनन करनेसे अपने आचार्य श्रीमहाप्रभुजीके चरणकमलोंका उपासक दीनताको प्राप्त करता है, जिस दीनताके प्राप्त हो जानेपर वह भगवान्‌की शरणमें जाता है और वे प्रसन्न होकर उस भक्तको अपना लेते हैं । इसलिये दीनतापूर्वक प्रभुकी शरणमें जाना ही इस अष्टकका प्रधान उद्देश्य है ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीनवनीतप्रियजीका ध्यान

अलकावृतललसत्कलिके विरचितकस्तूरिकातिलके ।
चपलयशोदाबाले शोभितभाले मतिर्मेऽस्तु ॥ १ ॥

घुँघराले बालोंसे आच्छादित, अत्यन्त सुन्दर [illegible] किये हुए कस्तूरीके तिलकसे विभूषित [illegible] श्रीयशोदाजीके चञ्चल बालक श्रीकृष्णमें मेरी बुद्धि [illegible] स्थिर रहे ॥ १ ॥

मुखरितनूपुरचरणे कटिबद्धक्षुद्रघण्टिकाभरणे ।
द्वीपिकरजकृतभूषणभूषितहृदये मतिर्मेऽस्तु ॥ २ ॥

मधुर शब्द करनेवाले नूपुरोंसे सुशोभितचरण, कमरमें बँधी हुई क्षुद्रघण्टिकाओं (छोटे-छोटे घुँघरुओंसे युक्त मेखला) से विभूषित चरणवाले, बाघ-नखसे बनाये हुए आभरणोंको हृदयपर धारण करनेवाले श्रीकृष्णमें मेरी बुद्धि स्थिर हो ॥ २ ॥

करघृतनवनवनीते हितकृतजननीविभीषिकाभीते ।
रतिमुद्वहतात्त्वेनो गोपीभिर्वश्यतां नीते ॥ ३ ॥

ताजे माखनको करकमलोंमें धारण करनेवाले, सदा हित बुद्धिसे दी हुई माता श्रीयशोदाजीकी डाँटसे डरे हुए और गोपिकाओंद्वारा वशमें किये हुए श्रीकृष्णमें मेरा चित्त प्रेम धारण करे ॥ ३ ॥

बाल्यदशामतिमुग्धे चोरितदुग्धे व्रजाङ्गनाभवनात् ।
तदुपालम्भवचोभयविभ्रमनयने मतिर्मेऽस्तु ॥ ४ ॥

बाल्यावस्थाकी बुद्धि तथा चञ्चलता इत्यादिसे अत्यन्त मनोहर लगनेवाले, व्रज-गोपियोंके घरसे दूध चुरा लेनेवाले, गोपियोंके उलाहनोंके भयसे व्याकुल (भयभीत)-नयन श्रीकृष्णमें मेरी बुद्धि स्थिर हो ॥ ४ ॥

व्रजकर्दमलिप्ताङ्गे स्वरूपसुषमा जितानङ्गे ।
कृतनन्दाङ्गणरिङ्गणविविधविहारे मतिर्मेऽस्तु ॥ ५ ॥

व्रजके कीचड़से लथपथ शरीरवाले, अपने शरीरकी मनोहरतासे कामदेवको जीत लेनेवाले अर्थात् अद्वितीय सौन्दर्यशाली, श्रीनन्दजी महाराजके आँगनमें अनेकों प्रकारकी गतिसे बाललीला करनेवाले श्रीनन्दनन्दनमें मेरी बुद्धि स्थिर हो ॥ ५ ॥

करवरधृतलघुलकुटे विचित्रमायूरचन्द्रिकामुकुटे ।
मालागतमुक्तामणिजटितविभूषे मतिर्मेऽस्तु ॥ ६ ॥

मनोहर हाथमें सुन्दर तथा छोटी लकुटियाको धारण करनेवाले, मोरपंखकी चित्र-विचित्र चन्द्रिकाओंसे बनाये हुए मुकुटको धारण करनेवाले, मोती और मणियोंसे जड़े हुए नकबेसरको नासिकामें धारण करनेवाले श्रीनन्दकिशोरमें मेरी बुद्धि स्थिर हो ॥ ६ ॥

[illegible] ।
[illegible] मतिर्मेऽस्तु ॥ ७ ॥

श्रीनन्दनन्दन कि जो मनोहर [illegible] करनेवाले, अपनी [illegible] प्रकारके [illegible] देनेवाले, अपने सेवकोंको अनेक प्रकारकी लीलाओंका आस्वादन कराकर आनन्दमग्न कर देनेवाले तथा अधिक हास्यसे आनन्दित होनेवाले श्रीकृष्णमें मेरी मति स्थिर रहे ॥ ७ ॥

कामादपि कमनीये नमनीये ब्रह्मरुद्राद्यैः ।
निःसाधनभजनीये भावतनौ मे मतिर्भूयात् ॥ ८ ॥

कामदेवसे भी परम सुन्दर, ब्रह्मा और रुद्र इत्यादिसे भी नमस्कार करने योग्य, साधनहीन मनुष्योंद्वारा भी भजने योग्य, भावनारूपी श्रीअङ्गवाले श्रीनन्दनन्दनमें मेरी बुद्धि दृढ़ हो ॥ ८ ॥

चौरासी अमृत-वचन

१–भगवदीय वैष्णव सदैव मनमें प्रसन्न रहे। अमङ्गलरूप, उदास न रहे।

२–श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें नित्य नूतन उत्सव मनावे।

३–अपने ठाकुरजीकी सेवा दूसरोंके भरोसे न रखे। अपने मस्तकपर जो सेव्य स्वरूप विराजमान हों, उनकी सेवा हाथसे करनी चाहिये।

४–किसीसे विरोध नहीं रखना। सबके साथ मधुर वचन बोलना।

५–विषय और तृष्णाका परित्याग करना।

६–प्रभुकी सेवा नम्रचित्त एवं स्नेह रखकर करनी चाहिये।

७–अपने देहको अनित्य समझना।

८–वैष्णवके सत्सङ्गमें रहना।

९–भगवत्स्वरूपमें और भगवदीय वैष्णवोंमें सख्यभाव रखना।

१०–अपनी बुद्धिको स्थिर रखना। बुद्धिको विचलित न करना।

११–श्रीभगवान्‌के दर्शनमें आलस्य नहीं करना।

१२–भगवान्‌के दर्शनमें आलस्य रखने से आसुरी भाव उत्पन्न हो।

१३–उत्सव आवे तो, प्रमाद कम [illegible]।

१४–वैष्णवको चाहिये कि अधिक निद्रा न ले।

१५–भगवदीयके संग [illegible] सत्कार करना चाहिये।

१६–किसीके ऊपर क्रोध नहीं करना। क्रोध करनेसे हृदयमें [illegible] है।

१७–जहाँपर स्वधर्मके विरुद्ध चर्चा होती हो, वहाँ मौन रहना।

१८–अवैष्णवका सङ्ग न करना।

१९–श्रीप्रभुकी सेवामें अवैष्णवको शामिल न करना। भगवदीयकी सेवाका भी ध्यान रखना।

२०–सब समयमें धैर्य रखना।

२१–मन श्रीप्रभुके चरणारविन्दमें रखकर सामारिक कार्य करते रहना।

२२–भगवदीयके साथ नूतन स्नेहभाव रखना।

२३–सेवाके अवसरमें प्रलाप न करना।

२४–सेवा अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक करनी चाहिये।

२५–श्रीप्रभुकी सेवा करके उनसे किसी भी वस्तुकी याचना नहीं करना।

२६–श्रीठाकुरजीके नामसे जो वस्तु लायी जाय, उसको प्रथम श्रीठाकुरजीको अङ्गीकार कराना, तदनन्तर प्रसादरूपमें उसका उपयोग करना।

२७–मनमें भगवदीयोंके प्रति दास-भाव रखना।

२८–किसी भी प्रकार भगवदीयसे द्वेषभाव नहीं रखना।

२९–श्रीठाकुरजीके किसी उत्सवको न छोड़ना।

३०–भगवदीयका सत्सङ्ग-स्मरण करना।

३१–मार्गकी रीतिके अनुसार प्रभुकी सेवा करना।

३२–भगवदीयमें छल-छिद्र न देखना।

३३–नवीन वस्तु जो प्राप्त हो, उसको श्रीठाकुरजीकी सामग्रीमें अवश्य धरना।

३४–लौकिक प्रिय वस्तु प्राप्त हो जानेपर हर्षित न होना।

३५–लौकिक कुछ हानि हो जाय तो अन्तःकरणमें उसका शोक नहीं करना।

३६–सुख-दुःखको समान समझना।

३७–भगवद्वार्ता नित्य नियमपूर्वक करना।

३८–श्रीसर्वोत्तमजीका पाठ नित्य करना। पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंके लिये यह पाठ गायत्रीके समान है।

३९–श्रीयमुनाष्टक प्रभृति ग्रन्थोंका पाठ नित्य नियमपूर्वक करना।

–मुख्य चार जयन्तीका व्रत और एकादशीका व्रत ।

ठाकुरजीके लिये आमदनी [illegible] सिद्ध करना।

४२–असमर्पित कोई भी वस्तु नहीं लेनी।

४३–मनको उदार रखना।

४४–सबके साथ मित्रता रखना।

४५–स्वधर्म-सम्बन्धी कार्योंमें तन, मन और सहायता करना।

४६–अहंता-ममताका त्याग करना।

४७–सदैव क्षमापरायण रहना।

४८–जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतोष रखना।

४९–बाहर और भीतरकी शुद्धता रखना।

५०–आलस्यरहित रहना।

५१–किसीका पक्षपात नहीं करना अर्थात् सम परायण रहना।

५२–सब प्रकारके लौकिक भोगोंका त्याग करना।

५३–मनमें किसी बातकी इच्छा न करनी।

५४–सहजमें जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीसे [illegible] काम चलाना।

५५–किसी वस्तुमें आसक्त न रहना।

५६–शत्रु और मित्रमें समान बुद्धि रखनी।

५७–असत्य-भाषण न करना।

५८–किसीका अपमान न करना।

५९–निन्दा और स्तुतिको समान समझना।

६०–स्थिरता रखना। अपने चित्तको वशमें रखना।

६१–इन्द्रियोंके विषयमें प्रीति न रखना।

६२–स्त्री, पुत्र, गृहादिमें आसक्ति नहीं रखनी।

६३–स्त्री, पुत्रादिके सुख-दुःखको अपना न मानना।

६४–मनमें किसी बातका गर्व न करना।

६५–आर्जव रखना अर्थात् कुटिलतारहित रहना।

६६–मिथ्याभाषण न करना।

६७–सदैव सत्य-सम्भाषण करना।

६८–शान्त चित्त रखना।

६९–प्राणीमात्रके ऊपर दया रखनी।

७०–एकाग्रचित्तसे प्रभुकी सेवा करनी।

७१–अन्तःकरण कोमल रखना।

७२–निन्दित कार्य कदापि न करना।

७३–कोई अपना अपराध करे तो उसे क्षमा करना।

७४–महापुरुषोंके चरित्र पढ़ना।

७५–अपने मनमें किसी बातका अभिमान नहीं [illegible]

७६–जिस बातसे दूसरेके मनको दुःख हो, ऐसा वचन सर्वथा नहीं बोलना।

७७–जो सत्य हो और सुननेवालेको प्रिय लगे, ऐसा ही वचन बोलना।

७८–पुरुषोत्तमसहस्रनाम तथा श्रीमहाप्रभुजीरचित ग्रन्थोंका पाठ अवश्य करना।

७९–जो कर्म करना, उसके फलकी इच्छा मनमें नहीं रखनी।

८०–श्रीठाकुरजीकी सेवा और कीर्तनको फलरूप मानना।

८१–वैष्णवमण्डलीमें नित्य नियमपूर्वक जाना। निःशङ्क होकर कथा-वार्ता कहना और सुनना।

८२–अन्याश्रय कदापि न करना। अन्याश्रय बाधक है। उससे सदैव डरते रहना।

८३–श्रीप्रभुके शरणागत होकर रहना। अन्य देवतासे किसी प्रकारके फलकी इच्छा न रखना।

८४–श्रीआचार्य महाप्रभुजी, श्रीगुसाईंजी और आपके वंशजोंके समान अन्यको न समझना। उनके समान अन्यको समझना अपराध है और अपने उद्धारमें अन्तराय होता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस

(जन्म—२० फरवरी सन् १८३३ ई०। स्थान—जिला हुगली। ग्राम—कामारपुकुर, बंगाल। पिताका नाम—श्रीखुदीराम चट्टोपाध्याय। माताका नाम—श्रीचन्द्रमणि देवी। गुरुका नाम—श्रीतोतापुरीजी महाराज। देहावसान—१६ अगस्त सन् १८८६ ई०)

वाद-विवाद न करो। जिस प्रकार तुम अपने धर्म और विश्वासपर दृढ़ रहते हो, उसी प्रकार दूसरोंको भी अपने धर्म और विश्वासपर दृढ़ रहनेका पूरा अवसर दो। केवल वाद-विवादसे तुम दूसरोंको उनकी गलती न समझा सकोगे। परमात्माकी कृपा होनेपर ही प्रत्येक मनुष्य अपनी गलती समझेगा।

× × × ×

एक बार एक महात्मा नगरमेंसे होकर कहीं जा रहे थे। संयोगसे उनके पैरसे एक दुष्ट आदमीका अँगूठा कुचल गया। उसने क्रोधित होकर महात्माजीको इतना मारा कि वे बेचारे मूर्छित होकर जमीनपर गिर पड़े। बहुत दवादारू करके उनके चेले बड़ी कठिनतासे उन्हें होशमें लाये। तब तो एक चेलेने महात्मासे पूछा, 'यह कौन आपकी सेवा कर रहा है?' महात्माने उत्तर दिया, 'जिसने मुझे पीटा था।' एक सच्चे साधुको मित्र और शत्रुमें भेद नहीं मालूम होता।

× × × ×

यह सच है कि परमात्माका वास व्याघ्रमें भी है, परन्तु उसके पास जाना उचित नहीं। उसी प्रकार यह भी ठीक है कि परमात्मा दुष्टसे भी दुष्ट पुरुषमें विद्यमान है, परन्तु उसका सङ्ग करना उचित नहीं।

× × × ×

एक गुरुजीने अपने चेलेको उपदेश दिया कि संसारमें जो कुछ भी है, वह सब परमेश्वर ही है। मौजी मतलबको न समझकर चेलेने उसका अर्थ अक्षरशः लगाया। एक समय जब वह मस्त होकर सड़कपर जा रहा था कि सामनेसे एक हाथी आता दिखलायी पड़ा। महावतने चिल्लाकर कहा, 'हट जाओ, हट जाओ।' परंतु उस लड़केने एक न सुनी। उसने सोचा कि मैं ईश्वर हूँ और हाथी भी ईश्वर है, ईश्वरको ईश्वरसे किस बातका डर। इतनेमें हाथीने सूँड़से एक ऐसी चपेट मारी कि वह एक कोनेमें जा गिरा। थोड़ी देर बाद किसी प्रकार सँभलकर उठा और गुरुके पास जाकर उसने सब हाल सुनाया। गुरुजीने हँसकर कहा 'ठीक है, तुम ईश्वर हो और हाथी भी ईश्वर है, परंतु जो परमात्मा महावतके रूपमें हाथीपर बैठा तुम्हें सावधान कर रहा था, तुमने उसके कहनेको क्यों नहीं माना?'

× × × ×

एक किसान ऊखके खेतमें दिनभर पानी भरता था, किंतु बादमें जब देखता, तब उसमें पानीका एक बूँद भी दिखलायी नहीं पड़ता था। सब पानी अनेकों छिद्रोंद्वारा बह जाता था। उसी प्रकार जो मनुष्य अपने मनमें कामिनी, सुख, सम्मान, बड़ाई आदि विषयोंकी चिन्ता करता हुआ ईश्वरकी पूजा करता है, वह साधनाके मार्गमें कुछ भी उन्नति नहीं कर सकता। उसकी सारी पूजा वासनारूपी छिद्रोंद्वारा बह जाती है और अन्ततक पूजा करनेके अनन्तर

आगे बढ़ा और उसे एक चाँदीकी खान मिली। उसने उससे मनमानी चाँदी निकाली और बाजारमें बेचकर और अधिक रुपया प्राप्त किया। वह और आगे बढ़ा, उसे सोने और हीरेकी खानें मिलीं। अन्तमें वह बड़ा धनवान् हो गया। ऐसा ही हाल उन लोगोंका है, जिन्हें ज्ञान प्राप्त करनेकी अभिलाषा होती है। थोड़ी-सी सिद्धि प्राप्त करनेपर वे रुकते नहीं, बराबर बढ़ते जाते हैं। अन्तमें लकड़हारेकी तरह ज्ञानका कोष पाकर आध्यात्मिक क्षेत्रमें वे धनवान् हो जाते हैं।

× × × ×

एक छोटे पौधेकी रक्षा उसके चारों ओर तार बाँधकर करनी पड़ती है। नहीं तो बकरे, गाय और छोटे बच्चे उसे नष्ट कर डालते हैं; किंतु जब वह एक बड़ा वृक्ष बन जाता है, तब अनेकों बकरियाँ और गायें स्वच्छन्दतासे साथ उसीके नीचे विश्राम करती हैं और उसकी पत्तियाँ खाती हैं। उसी प्रकार जबतक तुममें थोड़ी भक्ति है तबतक बुरी संगति और संसारके प्रपञ्चसे उसकी रक्षा करनी चाहिये। लेकिन जब उसमें दृढ़ता आ गयी, तब फिर तुम्हारे सामने कुवासनाओंको आनेकी हिम्मत न होगी और अनेकों दुर्जन तुम्हारे पवित्र सहवाससे सज्जन बन जायँगे।

× × × ×

चकमक पत्थर चाहे सैकड़ों वर्ष पानीमें पड़ा रहे, पर उसकी अग्नि-उत्पादक शक्ति नष्ट नहीं होती। जब आपका जी चाहे तभी उसे लोहेसे रगड़िये, वह आग उगलने लगेगा। ऐसा ही हाल दृढ भक्ति रखनेवाले भक्तोंका भी है। वे संसारके बुरे-से-बुरे प्राणियोंके बीचमें भले ही रहें, लेकिन उनकी भक्ति कभी नष्ट नहीं हो सकती। ज्यों ही वे ईश्वरका नाम सुनते हैं, त्यों ही उनका हृदय प्रफुल्लित होने लगता है।

× × × ×

एक मनुष्यने कुआँ खोदना शुरू किया। बीस हाथ खोदनेपर जब उसे सोता नहीं मिला, तब उसने उसे छोड़ दिया और दूसरी जगह कुआँ खोदने लगा। वहाँ उसने कुछ अधिक गहराईतक खोदा, किंतु वहाँ भी पानी न निकला। उसने फिर तीसरी जगह कुआँ खोदना शुरू किया। इसको उसने और अधिक गहराईतक खोदा, किंतु यहाँ भी पानी न निकला। तीनों कुओंकी खुदाई १०० हाथसे कुछ ही कम हुई होगी। यदि पहले ही कुएँको वह केवल ५० हाथ धीरताके साथ खोदता तो उसे पानी अवश्य मिल जाता। यही हाल उन लोगोंका है, जो बराबर अपनी श्रद्धा बदलते रहते हैं। सफलता प्राप्त करनेके लिये सब ओरसे चित्त हटाकर केवल एक ही ओर अपनी श्रद्धा लगानी चाहिये और उसकी सफलतापर विश्वास करना चाहिये।

× × × ×

पानीमें पत्थर सैकड़ों वर्ष पड़ा रहे, लेकिन पानी उसके भीतर नहीं घुस सकता; इसके विपरीत चिकनी मिट्टी पानीके स्पर्शसे ही घुलने लगती है। इसी प्रकार भक्तोंका दृढ़ हृदय कठिन-से-कठिन दुःख पड़नेपर भी कभी निराश नहीं होता, लेकिन दुर्बल श्रद्धा रखनेवाले पुरुषोंका हृदय छोटी-छोटी बातोंसे हताश होकर घबराने लगता है।

× × × ×

ईश्वरपर पूर्ण निर्भर रहनेका स्वरूप क्या है? यह आनन्दकी वह दशा है, जिसका अनुभव एक पुरुष दिनभर परिश्रमके पश्चात् सायंकालको तकियेके सहारे लेटकर आराम करते समय करता है। चिन्ताओं और दुःखोंका रुक जाना ही ईश्वरपर पूर्ण निर्भर रहनेका सच्चा स्वरूप है।

× × × ×

जिस प्रकार हवा सूखी पत्तियोंको इधर-उधर उड़ा ले जाती है, उनको इधर-उधर उड़नेके लिये न तो अपनी बुद्धि खर्च करनेकी आवश्यकता पड़ती है और न परिश्रम ही करना पड़ता है, उसी प्रकार ईश्वरके भक्त ईश्वरकी इच्छासे सब काम करते रहते हैं, वे अपनी अक्ल खर्च नहीं करते और न स्वयं श्रम ही करते हैं।

× × × ×

बहुतोंने बर्फका केवल नाम सुना है लेकिन उसे देखा नहीं है। उसी प्रकार बहुत से धर्मोपदेशकोंने ईश्वरके गुणोंको धर्म-ग्रन्थोंमें पढ़ा है, लेकिन अपने जीवनमें उनका अनुभव नहीं किया। बहुतोंने बर्फको देखा है लेकिन उसका स्वाद नहीं लिया, उसी प्रकार बहुत-से धर्मोपदेशकोंको ईश्वरके तेजकी एक बूँद मिल गयी है लेकिन उन्होंने उसके तत्त्वको नहीं समझा। जिन्होंने बर्फको खाया है, वे ही उसका स्वाद बतला सकते हैं। उसी प्रकार जिन्होंने ईश्वरकी संगतिका लाभ भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें उठाया है, कभी ईश्वरका सेवक बनकर, कभी मित्र बनकर, कभी भक्त बनकर और कभी एकदम उसीमें लीन होकर, वे ही बतला सकते हैं कि

परमेश्वरके गुण क्या हैं और उनकी संगतिके प्रेमरसको आस्वादन करनेमें कैसा आनन्द मिलता है।

× × × ×

हाथीके दो तरहके दाँत होते हैं, एक दिखलानेके और दूसरे खानेके। उसी प्रकार श्रीकृष्ण आदि अवतारी पुरुष और दूसरे महात्मा साधारण पुरुषोंकी तरह काम करते हुए दूसरोंको दिखलायी पड़ते हैं, परंतु उनकी आत्माएँ वास्तवमें कर्मोंसे मुक्त रहकर निजस्वरूपमें विश्राम करती रहती हैं।

× × × ×

एक ब्राह्मण और एक संन्यासी सांसारिक और धार्मिक विषयोंपर बातचीत करने लगे। संन्यासीने ब्राह्मणसे कहा, 'बच्चा! इस संसारमें कोई किसीका नहीं है।' ब्राह्मण इसको कैसे मान सकता था। वह तो यही समझता था कि 'अरे मैं तो दिन-रात अपने कुटुम्बके लोगोंके लिये मर रहा हूँ। क्या ये मेरी सहायता समयपर न करेंगे? ऐसा कभी नहीं हो सकता।' उसने सन्यासीसे कहा, 'महाराज! जब मेरे सिरमें थोड़ी-सी पीड़ा होती है तो मेरी माँको बड़ा दुःख होता है और दिन-रात वह चिन्ता करती है; क्योंकि वह मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यार करती है। प्रायः वह कहा करती है कि मैयाके सिरकी पीड़ा अच्छी करनेके लिये मैं अपने प्राणतक देनेको तैयार हूँ। ऐसी माँ समय पड़नेपर मेरी सहायता न करे, यह कभी नहीं हो सकता।' सन्यासीने जवाब दिया, 'यदि ऐसी बात है तो तुम्हें वास्तवमें अपनी माँपर भरोसा करना चाहिये, लेकिन मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि तुम बड़ी भूल कर रहे हो। इस बातका कभी भी विश्वास न करो कि तुम्हारी माँ, तुम्हारी स्त्री या तुम्हारे लड़के तुम्हारे लिये प्राणोंका बलिदान कर देंगे। तुम चाहो तो परीक्षा कर सकते हो। घर जाकर पेटकी पीड़ाका बहाना करो और जोर-जोरसे चिल्लाओ। मैं आकर तुमको एक तमाशा दिखाऊँगा।' ब्राह्मणके मनमें परीक्षा करनेकी लालसा हुई, उसने पेट-दर्दका बहाना किया। डाक्टर, वैद्य, हकीम सब बुलाये गये, लेकिन दर्द नहीं मिटा। बीमारकी माँ, स्त्री और लड़के सभी बहुत ही दुखी थे। इतनेमें संन्यासी महाराज भी पहुँच गये। उन्होंने कहा, 'बीमारी तो बड़ी गहरी है, जबतक बीमारके लिये कोई अपनी जान न दे तबतक यह अच्छा नहीं होनेका।'

भौचक्के हो गये। सन्यासीने माँसे कहा, 'बूढ़ी माता! तुम्हारे लिये जीवित रहना और मरना दोनों एक समान है, इसलिये यदि तुम अपने कमाऊ पूतके लिये अपने प्राण दे दो तो मैं इसे अच्छा कर सकता हूँ। अगर तुम माँ होकर भी अपने प्राण नहीं दे सकती तो फिर अपने प्राण दूसरा कौन देगा?'

बुढ़िया स्त्री रोकर कहने लगी—'बाबाजी! आपका कहना तो सत्य है। मैं अपने प्यारे पुत्रके लिये प्राण देनेको तैयार हूँ, लेकिन ख्याल यही है कि ये छोटे-छोटे बच्चे मुझे बहुत लगे हैं, मेरे मरनेपर इनको बड़ा दुःख होगा। ओह! मैं बड़ी अभागिनी हूँ कि अपने बच्चेके लिये अपने प्राण तक नहीं दे सकती।' इतनेमें स्त्री भी अपने सास-ससुरकी ओर देखकर बोल उठी, 'माँ! तुमलोगोंकी हालत देखकर मैं भी अपने प्राण नहीं दे सकती।' संन्यासीने घूमकर स्त्रीसे कहा, 'पुत्री! तुम्हारी माँ तो पीछे हट गयी लेकिन तुम तो अपने प्यारे पतिके लिये अपनी जान दे सकती हो।' उसने उत्तर दिया, 'महाराज! मैं बड़ी अभागिनी हूँ, मेरे मरनेसे मेरे ये मा-बाप मर जायँगे, इसलिये मैं इनकी हत्या नहीं ले सकती।' इस प्रकार सब लोग प्राण देनेसे बचनेके लिये बहाना करने लगे। तब संन्यासीने रोगीसे कहा, 'क्यों जी, देखते हो न, कोई तुम्हारे लिये प्राण देनेको तैयार नहीं है। 'कोई किसीका नहीं है।' मेरे इस कथनका मतलब अब तुम समझे कि नहीं।' ब्राह्मणने जब यह हाल देखा तो वह भी कुटुम्बको छोड़कर संन्यासीके साथ हो चल दिया।

× × × ×

लोहा जबतक तपाया जाता है, तबतक लाल रहता है लेकिन जब बाहर निकाल लिया जाता है, तब काला पड़ जाता है। यही दशा सांसारिक मनुष्योंकी भी है। जबतक वे मन्दिरोंमें अथवा अच्छी संगतिमें बैठते हैं, तबतक उनके धार्मिक विचार भी रहते हैं; किंतु जब वे उनसे अलग हो जाते हैं, तब वे फिर धार्मिक विचारोंको भूल जाते हैं।

× × × ×

बालकके हृदयका प्रेम पूर्ण और अखण्ड होता है। जब उसका विवाह हो जाता है, तब आधा प्रेम उसकी स्त्रीकी ओर लग जाता है। फिर जब उसके बच्चे हो जाते हैं, तब चौथाई प्रेम उन बच्चोंकी ओर लग जाता है। बचा हुआ चौथाई प्रेम पिता, माता, मान, कीर्ति, मद और [illegible]

मे बैठा रहता है। ईश्वरकी ओर लगानेके लिये उसके पास प्रेम बचता ही नहीं। अतएव बाल्यकालसे ही मनुष्यका अखण्ड प्रेम ईश्वरकी ओर लगाया जाय तो वह उसपर प्रेम लगा सकता है और उसे (ईश्वरको) प्राप्त भी कर सकता है। बड़े होनेपर ईश्वरकी ओर प्रेम लगाना कठिन हो जाता है।

× × × ×

गेहूँके दाने जब बँधी हुई पोटलीसे नीचे छितरा जाते हैं, तब उनका इकट्ठा करना कठिन होता है, उसी प्रकार जब मनुष्यका मन संसारकी अनेक प्रकारकी बातोंमें दौड़ता फिरता है, तब उसको रोककर एक ओर लगाना सरल बात नहीं है।

× × × ×

क्या सब मनुष्य ईश्वरके दर्शन कर सकेंगे? जिस प्रकार किसी मनुष्यको सबेरे नौ बजे भोजन मिलता है, किसीको दोपहरको, किसीको दो बजे और किसीको सूर्य डूबनेपर, पर कोई भूखा नहीं रह जाता। इसी प्रकार किसी-न-किसी समय चाहे इस जीवनमें हो अथवा अन्य कई जन्मोंके बाद, ईश्वरका दर्शन सब मनुष्य अवश्य कर सकेंगे।

× × × ×

जिस घरके लोग जागते रहते हैं उस घरमें चोर नहीं घुस सकते, उसी प्रकार यदि तुम (ईश्वरपर भरोसा रखते हुए) हमेशा चौकन्ने रहो तो बुरे विचार तुम्हारे हृदयमें नहीं घुस सकेंगे।

× × × ×

जिस प्रकार बिना तेलके दीपक नहीं जल सकता, उसी प्रकार बिना ईश्वरके मनुष्य अच्छी तरह नहीं जी सकता।

× × × ×

साँप बड़ा जहरीला होता है। कोई जब उसे पकड़ता है तो वह उसे काट लेता है। परंतु जो मनुष्य साँपके विषको मन्त्रसे झाड़ना जानता है, वह साँपको केवल पकड़ ही नहीं लेता, बल्कि बहुतसे साँपोंको गहनोंकी तरह गरदन और हाथोंमें लिपटाये रहता है। इसी प्रकार जिसने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसपर काम और लोभका विष नहीं चढ़ता।

× × × ×

संसारमें रहो, लेकिन सांसारिक मत बनो। किसी बंगालीने सच कहा है, 'मेंढकको साँपके साथ नचाओ, लेकिन ख्याल रखो कि साँप मेंढकको निगलने न पावे।'

× × × ×

एक बार एक पहुँचे हुए साधु रानी रासमणिके कालीजीके मन्दिरमें आये, जहाँ परमहंस रामकृष्ण रहा करते थे। एक दिन उनको कहींसे भोजन न मिला, यद्यपि उनको जोरोंसे भूख लग रही थी। फिर उन्होंने किसीसे भी भोजनके लिये नहीं कहा। थोड़ी दूरपर एक कुत्ता जूठी रोटीके टुकड़े खा रहा था। वे झट दौड़कर उसके पास गये और उसको छातीसे लगाकर बोले, 'भैया! तुम मुझे बिना खिलाये क्यों खा रहे हो?' और फिर उसीके साथ खाने लगे। भोजनके अनन्तर वे फिर कालीजीके मन्दिरमें चले आये और इतनी भक्तिके साथ वे माताकी स्तुति करने लगे कि सारे मन्दिरमें सन्नाटा छा गया। प्रार्थना समाप्त करके जब वे जाने लगे तो श्रीरामकृष्ण परमहंसने अपने भतीजे हृदय मुकर्जीको बुलाकर कहा—'बच्चा! इस साधुके पीछे-पीछे जाओ और जो यह कहे, उसे मुझसे कहो।' हृदय उसके पीछे-पीछे जाने लगा। साधुने घूमकर उससे पूछा कि 'मेरे पीछे-पीछे क्यों आ रहा है?' हृदयने कहा, 'महात्माजी! मुझे कुछ शिक्षा दीजिये।' साधुने उत्तर दिया, 'जब तू इस गंदे घड़ेके पानीको और गङ्गाजलको समान समझेगा और जब इस बाँसुरीकी आवाज और इस जन-समूहकी कर्कश आवाज तेरे कानोंको एक समान मधुर लगेगी, तब तू सच्चा ज्ञानी बन सकेगा।' हृदयने लौटकर श्रीरामकृष्णसे कहा। श्रीरामकृष्णजी बोले—'उस साधुको वास्तवमें ज्ञान और भक्तिकी कुंजी मिल चुकी है। पहुँचे हुए साधु बालक, पिशाच, पागल और इसी तरहके और-और वेशोंमें घूमा करते हैं।'

× × × ×

पराभक्ति (अत्युत्कट प्रेम) क्या है? पराभक्ति (अत्युत्कट प्रेम) में उपासक ईश्वरको सबसे अधिक नजदीकी सम्बन्धी समझता है। ऐसी भक्ति गोपियोंकी श्रीकृष्णके प्रति थी। वे उन्हें जगन्नाथ नहीं कहती थीं बल्कि गोपीनाथ कहकर पुकारती थीं।

× × × ×

सांसारिक और विषय-भोगोंमें लगा हुआ मन खोपड़ीमें चिपकी हुई सुपारीकी तरह है। जबतक सुपारी नहीं पकती तबतक अपने ही रससे वह खोपड़ीमें चिपकी रहती है। लेकिन जब रस सूख जाता है तब सुपारी खोपड़ीसे अलग हो जाती है और खड़खड़ानेसे उसकी आवाज सुनाई पड़ती है। उसी प्रकार संसार और सुख-भोगोंका रस जब सूख जाता है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है।

× × × ×

ईश्वरको प्राप्त करनेका प्रयत्न नहीं करता, उसका जीना व्यर्थ है।

× × × ×

सांसारिक मनुष्योंकी बुद्धि और ज्ञान, ज्ञानियोंकी बुद्धि और ज्ञानके सदृश हो सकते हैं। सांसारिक मनुष्य ज्ञानियोंके सदृश कष्ट भी उठा सकते हैं, सांसारिक मनुष्य तपस्वियोंकी तरह त्याग भी कर सकते हैं। लेकिन उनके प्रयत्न व्यर्थ होते हैं। कारण इसका यह है कि उनकी शक्तियाँ ठीक मार्गपर नहीं लगतीं। उनके सब प्रयत्न विषय, भोग, मान और सम्पत्ति मिलनेके लिये किये जाते हैं, ईश्वर मिलनेके लिये नहीं।

× × × ×

शहरमें नवीन आये हुए मनुष्यको रात्रिमें विश्राम करनेके लिये पहले सुख देनेवाले एक स्थानकी खोज कर लेनी चाहिये, और फिर वहाँ अपना सामान रखकर शहरमें घूमने जाना चाहिये, नहीं तो, अँधेरेमें उसे बड़ा कष्ट उठाना पड़ेगा। उसी प्रकार इस संसारमें आये हुएको पहले अपने विश्राम-स्थानकी खोज कर लेनी चाहिये और इसके पश्चात् फिर दिनका अपना काम करना चाहिये। नहीं तो, जब मृत्युरूपी रात्रि आवेगी तो उसे बहुत-सी अड़चनोंका सामना करना पड़ेगा और मानसिक व्यथा सहनी पड़ेगी।

× × × ×

यह संसार रंगभूमिकी तरह है जहाँ नाना प्रकारके भेष बना-बनाकर मनुष्य अपना-अपना पार्ट खेला करते हैं। जबतक कुछ देर वे अपना पार्ट नहीं कर लेते तबतक अपना भेष वे बदलना नहीं चाहते। उनको थोड़ी देर खेल लेने दो, इसके बाद वे अपने भेषको अपने-आप बदल डालेंगे।

× × × ×

एक तालाबमें कई घाट होते हैं। कोई भी किसी घाटसे उतरकर तालाबमें स्नान कर सकता है या घड़ा भर सकता है। घाटके लिये लड़ना कि मेरा घाट अच्छा है और तुम्हारा घाट बुरा है, व्यर्थ है। उसी प्रकार दिव्यानन्दके झरनेके पानीतक पहुँचनेके लिये अनेकों घाट हैं। संसारके प्रत्येक धर्मका सहारा लेकर सचाई और उत्साहभरे हृदयसे आगे बढ़ो तो तुम वहाँतक पहुँच जाओगे; लेकिन तुम यह न कहो कि मेरा धर्म दूसरोंके धर्मसे अच्छा है।

× × × ×

अगर तुम संसारसे अनासक्त रहना चाहते हो तो तुमको पहले कुछ समयतक—एक वर्ष, छः महीने, एक महीने या कम-से-कम बारह दिनतक किसी एकान्त स्थानमें रहकर भक्तिका साधन अवश्य करना चाहिये। एकान्तवासमें तुम्हें सर्वदा ईश्वरमें ध्यान लगाना चाहिये। उस समय तुम्हारे मनमें यह विचार आना चाहिये कि 'संसारकी कोई वस्तु मेरी नहीं है। जिनको मैं अपनी वस्तु समझता हूँ, वे अति शीघ्र नष्ट हो जायँगी।' वास्तवमें तुम्हारा मित्र ईश्वर है। वही तुम्हारा सर्वस्व है, उसको प्राप्त करना ही तुम्हारा ध्येय होना चाहिये।

× × × ×

मैले शीशेमें सूर्यकी किरणोंका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। उसी प्रकार जिनका अन्तःकरण मलिन और अपवित्र है तथा जो मायाके वशमें है, उनके हृदयमें ईश्वरके प्रकाशका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। जिस प्रकार साफ शीशेमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार स्वच्छ हृदयमें ईश्वरका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिये पवित्र बनो।

× × × ×

संसारमें पूर्णता प्राप्त करनेवाले मनुष्य दो प्रकारके होते हैं। एक वे, जो सत्यको पाकर चुप रहते हैं और उसके आनन्दका अनुभव बिना दूसरोंकी कुछ परवा किये स्वयं किया करते हैं। दूसरे वे, जो सत्यको प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन उसका आनन्द वे अकेले ही नहीं लेते, बल्कि नगाड़ा पीट-पीटकर दूसरोंसे भी कहते हैं कि आओ और मेरे साथ इस सत्यका आनन्द लूटो।

× × × ×

द्रव्यके अभिमान करनेका कोई कारण दिखलायी नहीं पड़ता। यदि तुम कहो कि मैं धनी हूँ तो संसारमें बहुत-से ऐसे धनी पड़े हैं, जिनके मुकाबलेमें तुम कुछ भी नहीं हो। संध्या-समय जब जुगनू चमकते हैं तो वे समझते हैं कि संसार-

को प्रकाश हम दे रहे हैं; किंतु जब तारे निकल आते हैं तो उनका अभिमान चूर्ण हो जाता है और फिर तारे समझते हैं कि हम संसारको प्रकाश देते हैं पर थोड़ी देरमें जब आकाशमें चाँद चमकने लगता है तो तारोंको नीचा देखना पड़ता है और वे कान्तिहीन हो जाते हैं। अब चन्द्रमा अभिमानमें आकर समझता है कि संसारको प्रकाश मैं दे रहा हूँ और मारे खुशीके नाचता फिरता है। पर जब प्रातःकाल सूर्यका उदय होता है तो चन्द्रमाकी भी कान्ति फीकी पड़ जाती है। धनी लोग यदि सृष्टिकी इन बातोंपर विचार करें तो वे धनका अभिमान कभी न करें।

× × × ×

ईश्वरकी कृपाकी हवा बराबर बहा करती है। इस समुद्ररूपी जीवनके मल्लाह उससे कभी नहीं लाभ उठाते, किंतु तेज और सबल मनुष्य सुन्दर हवासे लाभ उठानेके लिये अपने मनका परदा हमेशा खोले रखते हैं और यही कारण है कि वे अति शीघ्र निश्चित स्थानपर पहुँच जाते हैं।

× × × ×

फूले हुए कमलकी सुगन्ध वायुके द्वारा पाकर भौंरा अपने-आप उसके पास पहुँच जाता है। जहाँ मिठाइयाँ रक्खी रहती हैं वहाँ चींटियाँ अपने-आप चली जाती हैं। भौंरोंको या चींटियोंको कोई बुलाने नहीं आता। इसी प्रकार मनुष्य जब शुद्ध-अन्तःकरण और पूर्ण ज्ञानी हो जाता है तब उसके चरित्रकी सुगन्ध अपने-आप चारों ओर फैल जाती है और सत्यकी खोज करनेवाले अपने-आप उसके पास चले जाते हैं। वह स्वयं उनको बुलाने नहीं जाता कि मेरे पास आओ और मेरी बातें सुनो।

× × × ×

एक विद्वान् ब्राह्मणने एक बार राजाके पास आकर कहा—'महाराज! मैंने धर्मग्रन्थोंका अच्छा अध्ययन किया है। मैं आपको भगवद्गीता पढ़ाना चाहता हूँ।' राजा विद्वान्से अधिक चतुर था। उसने मनमें विचारा कि 'जिस मनुष्यने भगवद्गीताका अध्ययन किया होगा वह और भी अधिक आत्मचिन्तन करेगा, राजाके दरबारकी ईर्ष्या और धनके पीछे थोड़े ही पड़ा रहेगा।' ऐसा विचारकर उसने ब्राह्मणसे कहा कि, 'महाराज! आपने स्वयं गीताका पूर्ण अध्ययन नहीं किया है। मैं आपको शिक्षक बननेका वचन देता हूँ, लेकिन आप अभी जाकर गीताका अध्ययन अच्छी तरह कीजिये।' ब्राह्मण चला गया, लेकिन वह रास्तेभर यही सोचता गया कि 'देखो तो राजा कितना मूर्ख है! वह कहता है कि तुमने गीताका पूर्ण अध्ययन नहीं किया और मैं कई वर्षोंसे उसीका बराबर अध्ययन कर रहा हूँ।' उसने जाकर एक बार गीताको फिर पढ़ा और राजाके सामने उपस्थित हुआ। राजाने पुनः वही बात दोहरायी और उसे विदा कर दिया। ब्राह्मणको इससे दुःख तो बहुत हुआ, लेकिन उसने मनमें विचारा कि 'राजाके इस प्रकार कहनेका कुछ मतलब अवश्य है।' वह चुपकेसे घर चला गया और अपनेको कोठरीमें बंद करके गीताका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने लगा। धीरे-धीरे गीताके गूढ़ अर्थका प्रकाश उसकी बुद्धिपर पड़ने लगा और उसको स्पष्ट मालूम होने लगा कि सम्पत्ति, मान, द्रव्य, कीर्तिके लिये दरबारमें या किसी जगह दौड़ना व्यर्थ है। उस दिनसे वह निरन्तर चित्तसे ईश्वरकी आराधना करने लगा और दरबारमें नहीं गया। कुछ वर्षोंके बाद राजाको ब्राह्मणका स्मरण हुआ और उसकी खोज करता हुआ वह स्वयं उसके घर पर आया। ब्राह्मणके दिव्य तेज और प्रेमको देखकर राजा उसके चरणोंपर गिर पड़ा और बोला—'महाराज! अब आपने गीताके तत्त्वको समझा है, यदि मुझे अब अपना चेला बनाना चाहें तो प्रसन्नतासे बना सकते हैं।'

× × × ×

माँ! मैं यन्त्र हूँ और तू यन्त्री (चलानेवाली) है। मैं घर हूँ और तू उसमें रहनेवाली गृहिणी है। मैं म्यान हूँ और तू तलवार है। मैं रथ हूँ और तू रथी है। मैं वही करता हूँ, जिसके करनेके लिये तू आज्ञा देती है। मैं वही करता हूँ जो तू करवाती है। मैं [illegible] व्यवहार करता हूँ जैसी तेरी इच्छा होती है। मैं कुछ नहीं हूँ, तू सब कुछ है।

× × × ×

चमत्कार दिखलानेवालों और सिद्धि दिखलानेवालोंके पास न जाओ। वे लोग सत्यमार्गसे अलग रहते हैं। उनके मन ऋद्धि और सिद्धिके जालमें पड़े रहते हैं। ऋद्धि-सिद्धि ईश्वरतक पहुँचनेके मार्गके रोड़े हैं। इन सिद्धियोंसे सावधान रहो और इनकी इच्छा न करो।

× × × ×

धनका क्या उपयोग है? उसकी सहायतासे अन्न, वस्त्र और निवासस्थान प्राप्त किये जा सकते हैं। बस, उनके उपयोगकी मर्यादा इतनी ही है, आगे नहीं है। निस्सन्देह, धनके बलपर ईश्वर तुझे नहीं दिखायी दे सकता। अथवा धनसे कुछ जीवनकी सार्थकता नहीं है। यही विवेककी दिशा है, क्या तू इसे समझ गया?

× × × ×

बिल्लीका बच्चा सिर्फ इतना ही जानता है कि 'म्याँव, म्याँव' करके अपनी माताको किस प्रकार पुकारना चाहिये। फिर आगे क्या करना है, सो सब बिल्लीसे मालूम रहता है। वह अपने बच्चोंको, जहाँ उसे अच्छा लगता है, ले जाकर रखती है। घड़ीभरमें रसोईघरमें, घड़ी ही भरमें मालिकके गुदगुदे बिछौनेपर! हाँ, पर बिल्लीके बच्चेको सिर्फ इतना ज्ञान अवश्य होता है कि अपनी माँको कैसे पुकारें। इसी न्यायसे, मनुष्य जब अनन्य भावसे अपनी परम दयालु माता परमात्माको पुकार करता है, तब वह तुरत ही दौड़ता हुआ आकर उसका योगक्षेम सँभालता है। सिर्फ पुकार करना ही उसका काम है! हाँ,

× × × ×

दान और दया आदि गुणोंका आचरण यदि निष्काम बुद्धिसे होता है तो फिर उसकी उत्तमताके लिये कहना ही क्या है। इस आचरणमें यदि कहीं भक्तिकी पुष्टि मिल गयी, तब तो फिर ईश्वर-प्राप्तिके लिये और क्या चाहिये! जहाँ दया, क्षमा, शान्ति आदि सद्गुण हैं, वहीं ईश्वरका वास है।

× × × ×

जब हम कड़ाहीमें मक्खन डालकर उसे आँचपर रखते हैं, तब उसमें कलकल आवाज होती है। जबतक उसमें इतनी उष्णता नहीं आ जाती कि उसका जलांश जल जाय या उसमें पानीका कुछ भी अंश न रहे। मक्खन जबतक अच्छी तरह पूर्णतया नहीं पक जाता, तभीतक वह ऊपरको उबलता है और कल्-कल्—कल्-कल् आवाज करता है।

× × × ×

जो मक्खनकी तरह अच्छी तरह पककर निःशब्द हो गया है, घी बन गया है, वही ब्रह्मसाक्षात्कार किया हुआ सच्चा ज्ञानी पुरुष है। मक्खनको जिज्ञासु कह सकते हैं। उसमें जो पानीका अंश है, उसे अग्निके संस्कारसे निकाल डालना चाहिये। यह पानीका अंश अहंकार है। जबतक यह अहंकार निकलता नहीं, तबतक कैसा नृत्य करता है! पर जहाँ एक बार यह जलांश—अहंकार बिल्कुल नष्ट हो गया कि बस पक्का घी बन गया। फिर उसमें गड़बड़-सड़बड़ कुछ नहीं।

× × × ×

बुद्धि पङ्गु है। श्रद्धा सर्वसमर्थ है। बुद्धि बहुत नहीं चलती, वह थककर कहीं न-कहीं ठहर जाती है। श्रद्धा अघटित कार्य सिद्ध कराती है। हाँ, श्रद्धाके बलपर मनुष्य अपार महोदधि भी लीलासे पार कर सकता है।

× × × ×

पहले हृदय मन्दिरमें उसकी प्रतिष्ठा करो, पहले ईश्वरका अनुभवपूर्वक ज्ञान कर लो, तब वक्तृत्व और भाषण भी चाहे करो, इससे पहले नहीं। लोग एक ओर तो संसार-कर्दममें लोटते रहते हैं और दूसरी ओर शाब्दिक ब्रह्मकी खिचड़ी पकाया करते हैं। जब विवेक-वैराग्यकी गन्ध भी नहीं है, तब फिर सिर्फ 'ब्रह्म-ब्रह्म' बकनेसे क्या मतलब? उससे क्या लाभ होगा? मन्दिरमें देवताकी स्थापना तो की नहीं, फिर सिर्फ शङ्खध्वनि करनेसे क्या लाभ?

× × × ×

पहले हृदयमन्दिरमें भगवान्‌की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। पहले भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिये। यह न करके सिर्फ 'भों भों' करके शङ्ख बजानेसे क्या होगा? भगवत्प्राप्ति होनेके पहले उस मन्दिरकी सब तरह निराश हालत

चाहिये । पापरूपी मल धो डालना चाहिये । इन्द्रियोंकी उत्पन्न की हुई विषयासक्तिको दूर कर देना चाहिये । अर्थात् पहले चित्तको शुद्ध करना चाहिये । जहाँ मनकी शुद्धि हुई कि फिर उस पवित्र आसनपर भगवान् अवश्य ही आ बैठेगा । परंतु यदि उसमें गंदगी बनी रही तो माधव वहाँ कदापि न आयेगा । हृदय-मन्दिरकी पूर्ण स्वच्छता होनेपर माधव उस जगह प्रकट होगा । फिर चाहे तो शङ्ख भी न बजाओ ! सामाजिक सुधारके विषयमें तुम्हें बोलना है ? अच्छा, बोलो । परंतु पहले ईश्वरकी प्राप्ति कर लो और फिर वैसा करो । ध्यान रक्खो, प्राचीन कालके ऋषियोंने ईश्वर-प्राप्तिके लिये ही अपनी गृहस्थीपर तुलसीपत्र रख दिया था । बस, यही चाहिये । अन्य जितनी बातें तुम्हें चाहिये, वे सब फिर तुम्हारे पैरोंमें आकर पड़ेंगी ।

× × × ×

समुद्रतलके रत्नोंकी यदि तुम्हें आवश्यकता हो तो पहले डुबकी लगाकर समुद्रतलमें चले जाओ । पहले डुबकी लगाकर रत्न हाथमें कर लो । फिर दूसरी बात । पहले अपने हृदय-मन्दिरमें माधवकी प्रतिष्ठा करो, फिर शङ्खध्वनिकी बात करो । पहले परमेश्वरको पहचानो, फिर चाहे व्याख्यान झाड़ो और चाहे सामाजिक सुधार करो !

× × × ×

स्मरण रहे कि मूल वस्तु एक ही है, केवल नामोंकी भिन्नता है । जो ब्रह्म है, वही परमात्मा है और वही भगवान् । ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म कहता है, योगी परमात्मा कहता है और भक्त भगवान् कहता है । वस्तु एक है, नाम भिन्न-भिन्न हैं ।

× × × ×

मेरी माता जगत्‌का आधार और आधेय भी है । वही जगत्‌का निमित्त कारण है और उपादान कारण भी है ।

× × × ×

[illegible] भी तुम्हें [illegible] देख पड़ता है; परंतु यदि [illegible] देखा जाय तो उसका कोई रंग ही नहीं है । [illegible] भी तुम्हें [illegible] देख पड़ता है; परंतु [illegible]

देखो तो मालूम होगा कि उस जलमें कोई [illegible] है । इसी तरह कालीके समीप—मेरी माताके [illegible] उसको देखो, उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करो, उसका साक्षात्कार लाभ करो; तब यह देख पड़ेगा कि वह [illegible] और निराकार ब्रह्म ही है !

× × × ×

सब बातें केवल मनपर ही अवलम्बित हैं । यदि तुम्हारा मन बद्ध है तो तुम भी बद्ध हो और यदि तुम्हारा मन मुक्त है तो [illegible] मुक्त हो जाओगे । मनका रंग पानीके [illegible] जो रंग उसमें दिया जायगा, वही उसका [illegible] उसमें लाल रंग डालो, वह लाल दीख पड़ेगा [illegible] डालो, पीला हो जायगा । मन स्वयं निर्गुण है । [illegible] स्थितिके कारण ही उसमें गुण या अवगुण [illegible]

× × × ×

यदि मनको कुसंगति लग जाय तो उसका [illegible] हमारे आचार-विचार और वाणीपर भी प्रकट होता है । इसके बदले यदि मनको अच्छी [illegible] समागममें लगा दिया जाय तो वह [illegible] रमण करने लगता है और फिर ईश्वरके [illegible] अतिरिक्त उसको कुछ नहीं सूझता ।

× × × ×

यदि कोई मनुष्य [illegible] नाम लेगा तो उसके सब पाप नष्ट हो [illegible] वह मुक्त हो जायगा । [illegible] होनी चाहिये कि [illegible] पाप [illegible] सकते हैं । [illegible] कोई स्थान ही नहीं है । [illegible]

[illegible]

× × × ×

[illegible]

सांसारिक कार्योंमें सुस्थिति ही प्राप्त होती रहे। भगवान्‌का भक्त कदाचित् दरिद्र भी हो सकता है परंतु वह मनमें बड़ा श्रीमान् होता है। शंख, चक्र, गदा और पद्मके धारण करनेवाले भगवान्‌का दर्शन यद्यपि देवकी-वसुदेवको कारागृहमें हुआ, तथापि उस समय वे कारागृहसे मुक्त नहीं हुए।

× × × ×

देह सुखी हो या दुःखी; परंतु जो असली भक्त है, वह तो ज्ञान और भक्तिके ऐश्वर्यमें ही दिन-रात मस्त रहता है। पाण्डवोंका उदाहरण ही देखो न—कितनी विपत्ति उनको भोगनी पड़ी, कैसे संकट उनके ऊपर आये; परंतु ऐसी कठिन विपत्तिमें भी उन्होंने भगवान्‌के ऊपरसे तिलमात्र भी श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा नहीं हटायी। उनके समान ज्ञानी और उनके समान भक्त क्या कहीं हैं!

× × × ×

कर्मका त्याग तुमसे कभी करते न बनेगा। प्रकृतिका धर्म है कि वह तुमसे कर्म करा ही लेगी, चाहे तुम्हारी इच्छा हो या न हो। जब ऐसा ही है, तब कर्म पूरी तरहसे क्यों न किया जाय? कर्म अवश्य करो, परंतु उसमें आसक्त न रहो। अनासक्त भावसे किया गया कर्म ईश्वरप्राप्तिका साधन है। अनासक्त कर्मको साधन और ईश्वर-प्राप्तिको साध्य वस्तु समझो।

× × × ×

भक्तिरहित कर्मसे कुछ लाभ नहीं। वह पङ्गु है। कर्मके लिये भक्तिका आधार होना आवश्यक है। भक्तिके ही आधारपर सब कुछ करना चाहिये। धर्मके लिये ही कर्मकी आवश्यकता है। धर्म न होगा तो कर्मसे क्या लाभ।

× × × ×

संसारमें रहने और संसारके सब काम करनेमें कुछ दोष नहीं है, केवल दासीके समान अपने मनका भाव होना चाहिये। जब दासी अपने मालिकके घर आदिके विषयमें 'हमारा घर' 'हमारा बाबू' आदि कहती है, तब वह अपने मनमें भलीभाँति जानती है कि यह कुछ मेरा घर या बाबू नहीं है। इसी तरह संसारमें प्रत्येक गृहस्थको अलिप्त भावसे रहना चाहिये और सब काम अलिप्तभावसे ही करते रहना चाहिये। यदि संसारमें रहकर और संसारी काम करनेपर परमेश्वरका विस्मरण न हो, तो इससे अच्छा और कौन साधन हो सकता है!

× × × ×

जबतक विवेक या सदसद्विचार और वैराग्य-सम्पत्ति तथा सम्मान और इन्द्रिय-सुखके प्रति तिरस्कारका प्रादुर्भाव नहीं हुआ, तबतक ईश्वरप्राप्तिकी चर्चा ही व्यर्थ है। वैराग्यके अनेक प्रकार हैं। एक मर्कट-वैराग्य होता है। जब संसारी दुःखोंसे शरीर अत्यन्त सताया जाता है, तब यह वैराग्य होता है; परतु यह वैराग्य बहुत दिन नहीं टिकता। जब सारा संसारी सुख अनुकूल है और जब इस बातका बोध होता है कि संसारी सुख अनित्य है, केवल दोपहरकी छाया है, अतएव यह सुख मिथ्या है, इससे सच्चे और नित्य सुखकी प्राप्ति नहीं होगी, तब समझो कि तुम्हें वैराग्य हुआ।

× × × ×

ईश्वर-प्राप्ति हो—ऐसी जिसकी इच्छा है, उसको निरन्तर सत्सङ्ग करना चाहिये। संसारी मनुष्य सदासे व्याधिग्रस्त हैं। इस व्याधिको दूर करनेके लिये साधुओंके ही विचार ग्रहण करने चाहिये। साधु जो कहते हैं, उनसे सुनकर ही कार्यसिद्धि नहीं हो सकती; अपितु जैसा वे कहें, वैसा करना चाहिये। औषध पेटमें जानी चाहिये और कठिन पथ्यका पालन करना चाहिये।

आकाशमें रात्रिके समय बहुत से तारे दिखलायी पड़ते हैं, परतु सूर्योदय होनेपर वे अदृश्य हो जाते हैं; इससे यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि दिनके समय तारे नहीं हैं। उसी प्रकार मनुष्यो! माया जालमें फँसनेके कारण यदि परमात्मा न दिखलायी पड़ें तो मत कहो कि परमेश्वर नहीं है।

× × × ×

जब एक ही वस्तु है; परंतु लोगोंने उसको अनेक नाम दे रक्खे हैं। कोई पानी कहता है, कोई वारि कहता है

और कोई आब कहता है । उसी प्रकार सच्चिदानन्द है एक, परंतु उसके नाम अनेक हैं । कोई उसे अल्लाहके नामसे पुकारता है, कोई हरिका नाम लेकर याद करता है और कोई ब्रह्म कहकर उसकी आराधना करता है ।

× × × ×

आँख-मिचौनीके खेलमें जब एक खिलाड़ी पालेको छू लेता है, तब वह राजा हो जाता है, दूसरे खिलाड़ी उसे चोर नहीं बना सकते । उसी प्रकार एक बार ईश्वरके दर्शन हो जानेसे संसारके बन्धन फिर हमको बाँध नहीं सकते । जिस प्रकार पालेको छू लेनेपर खिलाड़ी जहाँ चाहे, वहाँ निडर घूम सकता है, उसे कोई चोर नहीं बना सकता, उसी प्रकार जिसको ईश्वरके चरण-स्पर्शका आनन्द एक बार मिल जाता है, उसे फिर संसारमें किसीका भय नहीं रह जाता । वह सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है और किसी भी माया-मोहमें फिर नहीं फँसता ।

× × × ×

पारस-पत्थरके स्पर्शसे लोहा एक बार जब सोना बन जाता है, तब उसे चाहे जमीनमें गाड़ दो अथवा कतवारमें फेंक दो, वह सोना ही बना रहता है, फिर लोहा नहीं होता; उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्माके चरण-स्पर्शसे जिसका हृदय एक बार पवित्र हो जाता है, उसका फिर कुछ नहीं बिगड़ सकता, चाहे वह संसारके कोलाहलमें रहे अथवा जंगलमें एकान्त-वास करे ।

× × × ×

पारस-पत्थरके स्पर्शसे लोहेकी तलवार सोनेकी हो जाती है और यद्यपि उसकी सूरत वैसी ही रहती है, तथापि लोहेकी तलवारकी तरह उससे लोगोंको हानि नहीं पहुँच सकती । इसी प्रकार ईश्वरके चरण-स्पर्शसे जिसका हृदय पवित्र हो जाता है, उसकी सूरत-शकल तो वैसी ही रहती है, किंतु उससे दूसरोंको हानि नहीं पहुँच सकती ।

× × × ×

समुद्र-तलमें स्थित चुम्बककी चट्टान समुद्रके ऊपर चलनेवाले जहाजको अपनी ओर खींच लेती है, उसकी कीलें निकाल डालती है, सब पटरोंको अलग-अलग कर देती है और जहाजको समुद्रमें डुबो देती है । इसी प्रकार जब मनुष्यको आत्मज्ञान हो जाता है, जब वह अपनेको ही समानरूपसे विश्वभरमें देखने लगता है, तब उसका व्यक्तित्व और स्वार्थ एक क्षणमें नष्ट हो जाते हैं और उसका जीवात्मा परमेश्वरके अगाध प्रेम-सागरमें डूब जाता है ।

× × × ×

दूध पानीमें जब मिलाया जाता है, तब वह तुरंत मिल जाता है; किंतु दूधका मक्खन निकालकर डालनेसे वह पानीमें नहीं मिलता बल्कि उसके ऊपर तैरने लगता है । उसी प्रकार जब जीवात्माको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, तब वह अनेक बद्ध प्राणियोंके बीचमें निरन्तर रहता हुआ भी बुरे सङ्गसे प्रभावित नहीं हो सकता ।

× × × ×

नयी उम्रकी तरुणीको जबतक बच्चा नहीं होता, तबतक वह गृहकार्यमें निमग्न रहती है; किंतु बच्चा हो जानेपर घरके कार्योंसे वह धीरे-धीरे बेपरवाह होती जाती है और बच्चेकी ओर वह अधिक ध्यान देती है । दिनभर उसे बड़े प्रेमके साथ चूमती, चाटती और प्यार करती है । इसी प्रकार मनुष्य अज्ञानकी दशामें संसारके सब कार्योंमें लगा रहता है, किंतु ईश्वरके भजनमें आनन्द पाते ही वे उसे नीरस प्रतीत होने लगते हैं और वह उनसे अपना हाथ खींच लेता है । ईश्वरकी सेवा करने और उसके इच्छानुसार चलनेमें ही उसे परम आनन्द मिलता है । दूसरे किसी भी काममें उसको सुख नहीं मिलता । ईश्वरदर्शनके सुखसे फिर अपनेको अलग नहीं कर सकता ।

× × × ×

घरकी छतपर मनुष्य सीढ़ी, बाँस, रस्सी आदि [illegible] साधनोंके योगसे चढ़ सकता है । इसी प्रकार ईश्वरतक पहुँचनेके लिये भी अनेक मार्ग और साधन हैं । [illegible] प्रत्येक धर्म इन मार्गोंमेंसे एक मार्गको प्रदर्शित करता है ।

× × × ×

संसारमें पाँच प्रकारके सिद्ध पाये जाते हैं—

(१) स्वप्नसिद्ध—जिनको स्वप्नके ही साक्षात्कारसे पूर्णता प्राप्त होती है। (२) मन्त्रसिद्ध—जिन्हें दिव्य मन्त्रोंसे पूर्णता प्राप्त होती है। (३) हठात् सिद्ध वे कहलाते हैं, जिन्हें एकाएक सिद्धि मिल जाती है और जो एकाएक पापोंसे मुक्त हो जाते हैं—जिस प्रकार एक दरिद्रको अकस्मात् द्रव्य मिल जाय या अकस्मात् उसका विवाह एक धनवान् स्त्रीसे हो जाय और वह धनी बन जाय। (४) कृपा-सिद्ध वे कहलाते हैं, जिन्हें ईश्वरकी कृपासे पूर्णता प्राप्त होती है। जिस प्रकार वनको साफ करते हुए किसी मनुष्यको पुराना तालाब या घर मिल जाय और उसके बनवानेमें उसे फिर कष्ट न उठाना पड़े, उसी प्रकार कुछ लोग भाग्यवश किंचित् परिश्रम करनेसे ही सिद्ध हो जाते हैं। (५) नित्यसिद्ध वे कहलाते हैं जो सदैव सिद्ध रहते हैं। लौकीकी बेलोंमें फल लग जानेपर फूल आते हैं। इसी प्रकार नित्यसिद्ध गर्भसे ही सिद्ध होते हैं, उनकी बाहरी तपस्या तो मनुष्य जातिको सन्मार्गपर लानेके लिये एक नाममात्रका साधन है।

× × × ×

एक माँके कई लड़के होते हैं। एकको वह जेवर देती है, दूसरेको खिलौना देती है और तीसरेको मिठाई देती है। सब अपनी अपनी चीजोंमें लग जाते हैं और माँको भूल जाते हैं। माँ भी अपने घरका काम करने लगती है। किंतु इन चीजोंमें जो लड़का सब वस्तुओंको फेंक देता है और माँके लिये चिल्लाने लगता है, माँ दौड़कर उसको चुप कराती है। इसी प्रकार, मनुष्यो! तुमलोग संसारके बखेड़ों और खेलतमाशोंमें मस्त होकर अपनी जगन्माताको भूल गये हो। जब तुम इन सबको छोड़कर उसको पुकारोगे, तब वह शीघ्र ही आवेगी और तुमको अपनी गोदमें उठा लेगी।

× × × ×

परमात्माके अनेक नाम और अनेक रूप हैं। जिस नाम और जिस रूपसे इसकी इच्छा हो, उसी नाम और उसी रूपमें हम उसे देख सकते हैं।

× × × ×

जब तुझे ईश्वरके अर्थ देनेकी इच्छा करती रहती है, तब मैं उपासना किस प्रकार कर सकता हूँ? जिसकी तू उपासना करता है, वह तेरी आवश्यकताओंको अवश्य पूर्ण करेगा। तुझे पैदा करनेसे पहले ही ईश्वरने तेरे पेटका प्रबन्ध कर दिया है।

× × × ×

भक्त! यदि ईश्वरकी गुप्त बातोंको जाननेकी तेरी लालसा है तो वह स्वयं सद्गुरु भेजेगा। गुरुको ढूँढ़नेमें तुझे कष्ट उठानेकी आवश्यकता नहीं है।

× × × ×

मनुष्य तकियेकी खोलीके समान है। किसी खोलीका रंग लाल, किसीका नीला और किसीका काला होता है, पर रुई सबमें है। यही हाल मनुष्योंका भी है। उनमेंसे कोई सुन्दर है तो कोई काला है, कोई सज्जन है तो कोई दुर्जन है; किंतु परमात्मा सबमें मौजूद है।

× × × ×

[illegible] समान उन लोगोंसे दूर रहो, जो भक्त और धर्मनिष्ठ लोगोंका उपहास करते हों।

× × × ×

इसमें सन्देह नहीं कि यह सांसारिक जीवन मनुष्य-के लिये बहुत आवश्यक है, किंतु अगर इसमें ईश्वरके लिये प्रेम और भक्ति न रहे। [illegible] मनुष्य [illegible] हो गया, उसको मुक्ति नहीं मिल सकती; परन्तु जो मनुष्य [illegible] कुछ भय नहीं। ईश्वरकी भक्ति [illegible] मनुष्य [illegible] उसकी कोई हानि न होगी। [illegible] के लिये [illegible] है, परन्तु [illegible] के लिये ही [illegible] है।

× × × ×

भक्ति कैसी वस्तु है। क्या तुमको [illegible] है? नहीं। वह बहुत दूर है—[illegible] है, [illegible] परन्तु यदि [illegible]

जाय—उसका ज्ञान हो जाय तो जान पड़ेगा कि उसका रंग काला नहीं है, किंतु अत्यन्त मनोहर है।

× × × ×

भगवान् राधाकृष्ण अवतारी थे। इसमें किसीकी श्रद्धा रहे या न रहे, इस बातका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। ईश्वरीय अवतारपर किसीका (चाहे वह हिंदू हो या ईसाई) विश्वास होगा, किसीका न होगा; परंतु भगवान्‌के प्रति गोपियोंके समान अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेमलक्षणा भक्ति हृदयमें उत्पन्न होनेकी तीव्र आतुरता प्रत्येक मनुष्यमें होनी चाहिये। मनुष्य चाहे पागल भी हो जाय, परंतु उसे विषयासक्तिसे पागल नहीं होना चाहिये—भगवद्भक्तिसे होना चाहिये।

× × × ×

······इसीलिये मैं कहता हूँ कि इस युगमें अन्य मार्गोंसे भक्तियोग ही सुलभ है। उससे कर्मकी व्यापकता सहज ही संकुचित हो जाता है। ईश्वरका अखण्ड चिन्तन होता है। इस युगमें ईश्वरप्राप्तिका यही सुलभ मार्ग है।

ज्ञानमार्गसे (सद्विचारसे अर्थात् ज्ञानविचारसे) अथवा कर्ममार्गसे (अर्थात् निष्काम कर्माचरणसे) ईश्वरप्राप्ति होगी, परंतु इस कलियुगमें भक्तिमार्गसे ये मार्ग अधिक कठिन हैं। यह नहीं कि भक्त अन्य स्थानपर पहुँचे और ज्ञानी या निष्कामकर्मी अन्य स्थानपर। तीनोंके पहुँचनेका अन्तिम मोक्षप्रद स्थान एक ही है। केवल मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

× × × ×

प्रेमके मुख्य दो लक्षण हैं—(१) जगत् मिथ्या है इस बातका बोध होना; (२) जो शरीर साधारण लोगोंके लिये अत्यन्त प्रिय वस्तु है, उसकी कुछ परवा न होना। भाव कच्चे आमके समान है, और प्रेम पके आमके तुल्य है। प्रेम भक्तके हाथमें एक रस्सी है। उसीसे वह ईश्वरको बाँधकर अपने वशमें करता है—किंबहुना, अपना दास ही बना लेता है। भक्तकी प्रेममय पुकार जहाँ भगवान्‌को सुनायी दी कि भगवान् दौड़ आते हैं। शास्त्रों

पुस्तकोंमें लिखा है कि इस शरीरमें चमड़ेके भीतर मांसके भीतर हड्डी, हड्डीके भीतर मज्जा, इसी प्रकार [illegible] भीतर एक पुट बतलाकर सबके अंदर प्रेम बतलाया है।

× × × ×

ईश्वर-प्राप्तिकी सीढ़ियाँ

'साधुसमागम' यही पहली सीढ़ी है। सत्सङ्गसे [illegible] प्रति मनमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। 'श्रद्धा' दूसरी [illegible] है। श्रद्धासे 'निष्ठा' होती है। निष्ठा जहाँ जमी [illegible] ईश्वर-कथाके सिवा और कुछ सुननेकी इच्छा नहीं [illegible] जीव चाहता है कि निरन्तर उसी परमात्माकी [illegible] करें। यह तीसरी सीढ़ी है। निष्ठाके लिये यह आवश्यक [illegible] कि अमुक ही उपास्य देवता हो। उपास्य देव [illegible] तुम्हारा गुरु हो, सगुण ईश्वर हो, निर्गुण ईश्वर [illegible] अवतारी पुरुष हो अथवा कोई कुलदेवता हो, [illegible] हैं। वैष्णवोंकी निष्ठा विष्णु या भगवान् श्रीकृष्णपर [illegible] है। शाक्तोंकी शक्तिपर—इसे ही काली, दुर्गा [illegible] दिये गये हैं।

'भक्ति' निष्ठाकी परिपक्वताका परिणाम है। [illegible] सीढ़ी है। भक्ति अपनी परिपक्वतामें 'भाव'में [illegible] जाती है। भावकी अवस्थामें ईश्वर-नाम स्मरण [illegible] निःशब्द या स्तब्ध हो जाता है। यही पाँचवीं [illegible] सामान्य संसारीजनोंकी गति इसी अवस्थातक पहुँचती है, इसके आगे नहीं जाती।

'महाभाव' छठी सीढ़ी है। ईश्वरदर्शनसे [illegible] महाभाव प्राप्त होता है। 'महाभाव' [illegible] आत्यन्तिक स्वरूप है। इस अवस्थामें भक्त [illegible] है। कभी हँसता है और कभी रोता है। उसे [illegible] कुछ भी सुध नहीं रहती। साधारण संसारी [illegible] शुद्धि होनेसे इस अवस्थाका अनुभव [illegible]

प्रेम—यह सातवीं और [illegible] है। [illegible] और प्रेम बहुधा साथ-ही-साथ रहते हैं। [illegible] स्थिर है। जीवात्मा साक्षात्कारके बाद [illegible] होता है। इस अवस्थाके मुख्य दो लक्षण हैं—(१) [illegible]

जगत्की कोई सुध न होना, (२) अपने शरीरकी कुछ सुध न होना। श्रीचैतन्यदेव इस अवस्थाको पहुँचे थे। वे प्रेमावेशमें इस प्रकार निमग्न रहते थे कि उन्हें अपने शरीरकी भी परवा नहीं रहती थी और देखे हुए स्थानकी भी उन्हें स्मृति न रहती थी। कोई भी वन देखकर उसे वृन्दावन ही समझते थे। एक समय वे जगन्नाथपुरी गये थे, वहाँ 'समुद्र' देखकर वे उसे यमुना ही कहने लगे और उसी आवेशमें आकर वे समुद्रमें कूद गये। इस तरह उनकी विदेहावस्था देख उनके शिष्योंने उनकी आशा ही छोड़ दी थी। ऐसी अवस्था प्राप्त होनेपर भक्तको इष्ट-प्राप्ति होती है, उसे साक्षात्कार होता है और इस संसारमें जन्म लेनेकी सार्थकता होती है।

× × × ×

प्रश्न—इन्द्रिय-निग्रह बहुत कठिन है। इन्द्रियाँ मतवाले घोड़ोंकी तरह हैं। उनके नेत्रोंके सामने तो अँधेरा ही रहना चाहिये?

उत्तर—ईश्वरकी एक बार कृपा हुई—उसका एक बार दर्शन हुआ कि फिर कुछ भय नहीं रहता। फिर षड्रिपुओंकी कुछ नहीं चल सकती—उनकी शक्ति मारी जाती है।

नारद और प्रह्लाद इत्यादि नित्यसिद्ध पुरुषोंके नेत्रोंके लिये ऐसे अन्धकारकी कुछ आवश्यकता नहीं पड़ती। जो लड़के अपने पिताका हाथ पकड़कर खेतकी मेड़-पर चलते हैं, उन्हींको, हाथ छूट जानेसे, कीचड़में गिर जानेका भय रहता है; किंतु जिन लड़कोंका हाथ पिताने पकड़ लिया है, उनकी स्थिति बिल्कुल निराली ही रहती है। वे कभी गड्ढेमें नहीं गिर सकते।

× × × ×

बालकके समान जिसका मन सरल रहता है, सचमुच उसीको ईश्वरपर श्रद्धा होती है।

× × × ×

ईश्वरके चरणकमलोंमें लवलीन हो जानेवाला ही इस संसारमें धन्य है। वह चाहे शूकरयोनिमें ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, उसका अवश्य ही उद्धार होता है।

× × × ×

यद्यपि व्यभिचारिणी स्त्री अपने गृहकार्यमें मग्न रहती दिखायी देती है, तथापि उसका मन उसके जारकी ओर ही लगा रहता है। इसी प्रकार मनुष्यको अपने सांसारिक कार्योंको करना चाहिये। प्रभु-चरणोंमें रत होकर ही अन्य झगड़ोंमें हाथ डालना चाहिये। व्यभिचारिणी स्त्रीके गृह-कार्योंमें लगी रहनेपर भी उसका मन उसके चाहनेवालेकी ओर ही लगा रहता है।

× × × ×

अकबर बादशाहके जमानेमें दिल्लीके पास किसी वनमें एक फकीर रहता था। उसके दर्शनके लिये कई लोग उसकी कुटियापर जाया करते थे। वह चाहता था कि मैं इन लोगों-का कुछ आदर-सत्कार कर सकूँ। परंतु वह अत्यन्त दरिद्र था, इसलिये वह कुछ नहीं कर सकता था। तब एक दिन उसने अपने मनमें सोचा कि 'अकबर बादशाह साधु और फकीरोंको बहुत चाहता है; यदि मैं उससे निवेदन करूँगा तो वह मुझे कुछ द्रव्य अवश्य ही देगा, जिससे मैं अतिथियोंका उचित सत्कार कर सकूँगा।' इस प्रकार मनमें सोचकर वह बादशाहके पास गया। उस समय बादशाह नमाज पढ़ रहा था। फकीर भी वहीं जाकर बैठ गया। नमाज पढ़नेके समय अकबर बादशाहने यह प्रार्थना की कि 'ईश्वर! मुझे धन दे, सत्ता दे और दौलत दे!' यह सुनकर फकीर वहाँसे उठकर बाहर जाने लगा। तब बादशाहने उसे सकेतसे बैठनेको कहा।

नमाज पढ़कर बादशाहने फकीरसे पूछा, 'आप मुझसे मिलने आये थे, परंतु बिना कुछ बातचीत किये ही लौटकर चले जा रहे हैं; यह क्या बात है?' फकीरने जवाब दिया, 'मैं हजूरके दरबारमें इसलिये आया था कि·······; परंतु आपको निवेदन करनेसे कोई फायदा नहीं है।' जब बादशाहने बार-बार आग्रह किया, तब फकीरने कहा, 'मेरी कुटियापर बहुतेरे लोग आया करते हैं। मैं दरिद्र हूँ, इसलिये मैं उनका स्वागत नहीं कर सकता। अतएव कुछ द्रव्य माँगनेके लिये आपके यहाँ आया था।' तब बादशाहने कहा 'तो फिर बिना कुछ माँगे ही लौटकर क्यों चले जा रहे हैं?' यह सुनकर फकीरने कहा, 'हुजूर! आप तो स्वयं भिखारी हैं! आप खुदासे धन और दौलत माँग रहे हैं। जब आपकी यह दशा मैंने देखी, तब मैंने सोचा कि जो स्वयं दरिद्र है, वह मुझे क्या दे सकेगा! यदि कुछ माँगना ही है तो अब मैं भी खुदासे ही माँगूँगा।'

× × × ×

शरीर-सौन्दर्यकी वास्तविकता

बड़ा सुन्दर शरीर है। सृष्टिकर्ताने जैसे पूरे संयमसे उसे साँचेमें ढाला हो। स्वास्थ्य और सौन्दर्य तो सहचर हैं। स्वास्थ्य नहीं रहेगा तो सौन्दर्य टिकेगा कैसे।

दूसरे ही उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा करते हों, ऐसा नहीं है। वह स्वयं सजग है अपने सौन्दर्यके प्रति। उसका बहुत-सा समय शरीरको सजानेमें ही जाता है।

क्या है यह सौन्दर्य? यदि शरीरपरसे चमड़ा उतार दिया जाय—आप इस लोथड़ेको छूना तो दूर, देखना भी नहीं चाहेंगे। मांस, रक्त, मज्जा, मेद, स्नायु, केशका एक बड़ा-सा घिनौना लोथड़ा, जिससे छू जानेपर स्नान करना पड़े—जिसकी अँतड़ियोंमें भरा कफ, पित्त, मूत्र और विष्ठा यदि फट पड़े—वमन आ जाय आपको।

वही सुन्दर शरीर—आप कङ्काल किसे कहते हैं? आपका यह कङ्काल ही तो है जिसपर आपका सौन्दर्य-गर्व है। यह कङ्काल—यह साक्षात् प्रेतके समान कङ्काल, जो रात्रिको आपके कमरेमें खड़ा कर दिया जाय तो आप चीखकर भागें। किंतु यही हमारी-आपकी देह है। हमारी-आपकी देहका पूरा आधार यही है और यही है जो कुछ तो टिक सकता है। देहका बाकी सब घिनौना तत्त्व तो सड़ जाता है कुछ घंटोंमें। इस कङ्कालको आप सुन्दर कहते हैं? इसे छोड़ देनेपर तो देहमें वही मांस, मेद, मज्जा, स्नायु, मल आदिका लोथड़ा रहता है। क्या हुआ जो लोथड़ा चमड़ेसे ढका है।

कङ्कालपर मांस, मेद, मज्जाका लेप चढ़ा है, स्नायु-जाल बँधे हैं और ऊपरसे चमड़ा मँढ़ दिया गया है। यही है शरीर और इस शरीरपर सुन्दरताका आरोप—सुन्दरताका गर्व। यह शरीर तो चिताकी आहुति है। चिताकी धू-धू करती लपटें इसकी प्रतीक्षा कर रही हैं।

× × ×

नारी तो सौन्दर्यकी प्रतिमा है। सुकुमारता और सौन्दर्य की यह पुत्तलिका यदि सुसज्जित हो—उसके सौन्दर्यकी मादकता कितनोंको प्रमत्त करती ही है!

भगवान् न करें, किसीको रोग हो। लेकिन रोग [illegible] किसीसे अनुमति लेकर नहीं आता, किसीकी [illegible] सम्मतिकी अपेक्षा नहीं करता। किसे कब कौन-सा [illegible] अपना ग्रास बना लेगा—कौन कह सकता है।

अनुपम सौन्दर्य, परम सुकुमार रूप—[illegible] तो चेचक हो सकती है। कुसुमकोमल, [illegible] जब चेचकके द्वारा मधुमक्खीके छत्तेके [illegible] बना दिया जाता है—अपनेको रसिक माननेवाले [illegible] उसकी ओर देखनातक नहीं चाहते। [illegible] पिचकाते हैं।

चेचकसे ही कुछ अन्त तो नहीं है। रोगोंकी [illegible] संख्या नहीं। किसीके सौन्दर्यको [illegible] मुहाँसे-जैसे सामान्य रोग ही पर्याप्त हैं; फिर कहीं [illegible] कुष्ठ आ टपके? गलित कुष्ठके घाव—[illegible] लोग देखनातक नहीं चाहते। आकर्षण, [illegible] सम्मानका भाजन सौन्दर्य घृणा एवं [illegible] नहीं पाता।

क्या अर्थ है सौन्दर्यका? सौन्दर्यके मोहका? [illegible] आकर्षणका? चेचक या कोई [illegible] है। कितना तुच्छ, कितना नश्वर है सौन्दर्य [illegible] सम्मुख।

वृद्धावस्था सौन्दर्यकी शत्रु है। कोई रोग [illegible] आये; यह तो आयेगी ही। लेकिन मृत्यु [illegible] प्रतीक्षा नहीं करती। वह तो कभी आ [illegible] अन्ततः शरीरपर मृत्यु तो विजयी ही है। [illegible] इसे भस्म होना ही पड़ेगा।

शरीर-सौन्दर्यकी वास्तविकता

शरीर-सौन्दर्यकी वास्तविकता

बड़ा सुन्दर शरीर है। सृष्टिकर्ताने जैसे पूरे संयमसे उसे साँचेमें ढाला हो। स्वास्थ्य और सौन्दर्य तो सहचर हैं। स्वास्थ्य नहीं रहेगा तो सौन्दर्य टिकेगा कैसे।

दूसरे ही उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा करते हों, ऐसा नहीं है। वह स्वयं सजग है अपने सौन्दर्यके प्रति। उसका बहुत-सा समय शरीरको सजानेमें ही जाता है।

क्या है यह सौन्दर्य? यदि शरीरपरसे चमड़ा उतार दिया जाय—आप इस लोथड़ेको छूना तो दूर, देखना भी नहीं चाहेंगे। मांस, रक्त, मज्जा, मेद, स्नायु, केशका एक बड़ा-सा घिनौना लोथड़ा, जिससे छू जानेपर स्नान करना पड़े—जिसकी अँतड़ियोंमें भरा कफ, पित्त, मूत्र और विष्ठा यदि फट पड़े—वमन आ जाय आपको।

वही सुन्दर शरीर—आप कङ्काल किसे कहते हैं? आपका यह कङ्काल ही तो है जिसपर आपका सौन्दर्य-गर्व है। यह कङ्काल—यह साक्षात् प्रेतके समान कङ्काल, जो रात्रिको आपके कमरेमें खड़ा कर दिया जाय तो आप चीखकर भागें। किंतु यही हमारी-आपकी देह है। हमारी-आपकी देहका पूरा आधार यही है और यही है जो कुछ तो टिक सकता है। देहका बाकी सब घिनौना तत्त्व तो सड़ जाता है कुछ घंटोंमें। इस कङ्कालको आप सुन्दर कहते हैं? इसे छोड़ देनेपर तो देहमें वही मांस, मेद, मज्जा, स्नायु, मल आदिका लोथड़ा रहता है। क्या हुआ जो लोथड़ा चमड़ेसे ढका है।

कङ्कालपर मांस, मेद, मज्जाका लेप चढ़ा है, स्नायु-जाल बँधे हैं और ऊपरसे चमड़ा मँढ़ दिया गया है। यही है शरीर और इस शरीरपर सुन्दरताका आरोप—सुन्दरताका गर्व! यह शरीर तो चिताकी आहुति है। चिताकी धू-धू करती लपटें इसकी प्रतीक्षा कर रही हैं।

× × ×

नारी तो सौन्दर्यकी प्रतिमा है। सुकुमारता और सौन्दर्यकी यह पुत्तलिका यदि सुसज्जित हो—उसके सौन्दर्यकी मादकता कितनोंको प्रमत्त करती ही है!

भगवान् न करें, किसीको रोग हो। लेकिन कोई रोग किसीसे अनुमति लेकर नहीं आता, किसीकी इच्छा या सम्मतिकी अपेक्षा नहीं करता। किसे कब कौन-सा रोग अपना ग्रास बना लेगा—कौन कह सकता है।

अनुपम सौन्दर्य, परम सुकुमार रूप—किसी भी हो तो चेचक हो सकती है। कुसुमकोमल, पाटलनिन्दक मुख जब चेचकके द्वारा मधुमक्खीके बर्रके छत्तेका मानो बना दिया जाता है—अपनेको रसिक माननेवाले भी उसकी ओर देखनातक नहीं चाहते। घरके लोग ही मुँह बिचकाते हैं।

चेचकसे ही कुछ अन्त तो नहीं है। रोगोंकी कोई गिनती संख्या नहीं। किसीके सौन्दर्यको हड़प जानेके लिये मुहाँसे-जैसे सामान्य रोग ही पर्याप्त हैं; फिर कहीं कुष्ठ आ टपके! गलित कुष्ठके घाव—छूना तो दूर, लोग देखनातक नहीं चाहते। आकर्षण, मोह और सम्मानका भाजन सौन्दर्य घृणा एवं तिरस्कारसे बच नहीं पाता।

क्या अर्थ है सौन्दर्यका? सौन्दर्यके मोहका? सौन्दर्यके आकर्षणका? चेचक या कोढ़ कहीं चले नहीं गये हैं। कितना तुच्छ, कितना नश्वर है सौन्दर्य उनके सम्मुख।

वृद्धावस्था सौन्दर्यकी चिरशत्रु है। कोई रोग आवे, न आये; यह तो आयेगी ही। लेकिन मृत्यु वृद्धावस्थाकी भी प्रतीक्षा नहीं करती। वह तो चाहे जब आ सकती है। अन्ततः शरीरपर स्वत्व तो चिताका ही है। चिताकी लपटोंमें उसे भस्म होना ही पड़ेगा।
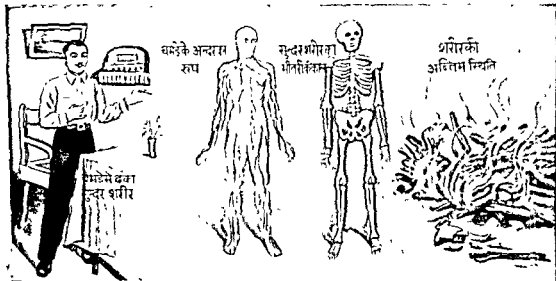
शरीर-सौन्दर्यकी वास्तविकता

स्वामी विवेकानन्द

(जन्म—ता० १२ जनवरी सन् १८६३ ई०, जन्मनाम—नरेन्द्रनाथदत्त, पिताका नाम—विश्वनाथदत्त, देहत्याग—ता० ४ जुलाई सन् १९०२, परमहंस रामकृष्णके प्रधान शिष्य।)

हरेक मनुष्यमें आस्तिक्य-बुद्धि होती ही है, परंतु कोई उसे समझते हैं और कोई उसके ज्ञानसे विमुख रहते हैं। जो चेतन एक शरीरमें है, वही सब संसारमें है। उस चेतनकी उत्पत्ति या नाश नहीं होता। एक शरीरमें जो चेतन है वह जीवात्मा, और जो सर्वव्यापक है वह परमात्मा है; दोनों अच्युत हैं।

× × ×

हिंदू-धर्मकी उत्पत्ति वेदोंसे हुई है और वेद अनादि, अनन्त तथा अपौरुषेय हैं। किसी पुस्तकका आरम्भ और अन्त नहीं, यह सुनकर आपलोगोंको आश्चर्य होगा; पर इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है। वेद कोई पुस्तक नहीं, किंतु उन सिद्धान्तोंका संग्रह है, जो अटूट या अकाट्य हैं। जिन लोगोंने ऐसे सिद्धान्त ढूँढ़ निकाले, उन्हें ऋषि कहते हैं। ऋषियोंको हम पूर्ण—ईश्वरस्वरूप समझते हैं। यहाँपर इस बातका उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि उन तत्त्वविवेचकोंमें कुछ स्त्रियाँ भी थीं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके परस्पर सम्बन्ध या व्यष्टि (एक पुरुष) का समष्टि (विश्व) से सम्बन्ध जिन सिद्धान्तोंसे निश्चित हुआ, वे ही सिद्धान्त त्रिकालाबाधित हैं। उनका पता लगानेके पहले भी वे वर्तमान थे; आगे चलकर हम उन्हें भूल जायँगे तो भी उनका अस्तित्व नष्ट न होगा। न्यूटनके आविष्कारके पहले भी गुरुत्वाकर्षणका नियम रुका हुआ नहीं था।

× × ×

वेदोंने काल शार्दूलके पंजेसे छूटनेका उपाय बताया है। भगवान् श्रीकृष्णने, जिन्हें हम हिंदू परमात्माका पूर्णावतार मानते हैं, भवसागरसे तरनेकी रीति बतायी है। सृष्टिके सब नियम जिसके अनुरोधसे चलते हैं, जो जड और चेतनमें भरा हुआ है, जिसकी आज्ञासे वायु बहता है, आग जलाती है, मेघ जल बरसाते हैं और मृत्यु हरण करती है, उस परमात्माकी पूजा करो। उसीकी ऋषिलोग प्रार्थना करते हैं—'हे सर्वव्यापी दयामय! तू हमारा पिता, तू ही हमारी माता, तू ही बन्धु, मित्र और संसारकी सब शक्तियोंका अधिष्ठाता है। तू सब विश्वका भार सहता है, हम तेरे पास इस जीवनका भार सहनेकी शक्तिके लिये याचना करते हैं।' इस जन्म तथा अन्य जन्ममें उससे बढ़कर और किसीपर प्रेम न हो, यह भावना मनमें दृढ कर लेना ही उसकी पूजा करना है। मनुष्यको संसारमें कमल-पत्रके समान अलिप्त रहना चाहिये। कमल-पत्र जलमें रहकर भी नहीं भीगता; इसी तरह कर्म करते हुए भी उससे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखसे यदि मनुष्य अलग रहे तो उसे निराशाका सामना नहीं करना होगा। सब काम निष्काम होकर करो, तुम्हें कभी दुःख न होगा।

× × ×

आत्मा पूर्ण ईश्वरस्वरूप है। जड शरीरसे उसके बद्ध होनेका आभास होता है सही, पर उस आभासको मिटा देनेसे वह मुक्त-अवस्थामें देख पड़ेगा। वेद कहते हैं कि जीवन-मरण, सुख-दुःख, अपूर्णता आदिके बन्धनोंसे छूटना ही मुक्ति है। उक्त बन्धन बिना ईश्वरकी कृपाके नहीं छूटते और ईश्वरकी कृपा अत्यन्त पवित्र-हृदय बिना हुए नहीं होती। जब अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध और निर्मल अर्थात् पवित्र हो जाता है, तब जिस मृत्पिण्ड देहको जड या त्याज्य समझते हो, उसीमें परमात्माका प्रत्यक्षरूपसे उदय होता है और तभी मनुष्य जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है। केवल कल्पना-चित्र देखकर या शब्दाडम्बरपर मुग्ध होकर हिंदू समाधानका अनुभव नहीं करते। दस इन्द्रियोंद्वारा जो न जानी जाती हो, ऐसी किसी वस्तुपर हिंदुओंका विश्वास बिना अनुभव किये न होगा। जड-सृष्टिसे अतीत जो चेतन तत्त्व है, हिंदू उससे बिना किसी बिचवईके (प्रत्यक्ष) मिलेंगे। किसी हिंदू साधुसे पूछिये 'बाबाजी, क्या परमेश्वर सत्य है?' वह आपको उत्तर देगा 'निःसंदेह सत्य है; क्योंकि उसे मैंने देखा है।' आत्मविश्वास ही पूर्णताका बोधक है। हिंदू-धर्म किसी मतको सत्य या किसी सिद्धान्तको मिथ्या कहकर अधश्रद्ध बननेको नहीं कहता। हमारे ऋषियोंका कथन है कि जो कुछ हम कहते हैं, उसका अनुभव करो—उसका साक्षात्कार करो। मनुष्यको परिश्रम करके पूर्ण पवित्र तथा ईश्वररूप बनना चाहिये। ईसाई-धर्ममें आसमानी पिताकी कल्पना की गयी है। हिंदू-धर्म कहता है—उसे अपनेमें प्राप्त करो, ईश्वर बहुत दूर नहीं है।

× × ×

इसमें संदेह नहीं कि धर्मका पागलपन उन्नतिमें बाधा डालता है; पर अंधश्रद्धा उससे भी भयानक है। ईसाइयोंको प्रार्थनाके लिये मन्दिरकी क्या आवश्यकता है? क्रॉसके चिह्नमें पवित्रता कैसे आ गयी? प्रार्थना करते समय आँखें क्यों मूँद लेनी चाहिये? परमेश्वरके गुणोंका वर्णन करते हुए 'प्रॉटेस्टैंट' ईसाई मूर्तियोंकी कल्पना क्यों करते हैं? 'कैथलिक' पन्थवालोंको मूर्तियोंकी क्यों आवश्यकता हुई? भाइयो! श्वास-निःश्वासके बिना जैसे जीना सम्भव नहीं, वैसे ही गुणोंकी किसी प्रकारकी मनोमय मूर्ति बनाये बिना उनका चिन्तन होना असम्भव है। हमें यह अनुभव कभी नहीं हो सकता कि हमारा चित्त निराकारमें लीन हो गया है; क्योंकि जड विषय और गुणोंकी मिश्र-अवस्थाके देखनेका हमें अभ्यास हो गया है। गुणोंके बिना जड विषय और जड विषयोंके बिना गुणोंका चिन्तन नहीं किया जा सकता, इसी तत्त्वके अनुसार हिंदुओंने गुणोंका मूर्तरूप—दृश्यस्वरूप बनाया है। मूर्तियाँ ईश्वरके गुणोंका स्मरण करानेवाले चिह्नमात्र हैं। चित्त चञ्चल न होकर सद्गुणोंकी मूर्ति—ईश्वर—में तल्लीन हो जाय—इसी हेतुसे मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। हरेक हिंदू जानता है कि पत्थरकी मूर्ति ईश्वर नहीं है। इसीसे वे पेड़, पक्षी, अग्नि, जल, पत्थर आदि सभी दृश्य वस्तुओंकी पूजा करते हैं। इससे वे पाषाण-पूजक नहीं हैं। (वह मूर्तिमें भगवान्‌को पूजता है) आप मुखसे कहते हैं 'परमात्मन्! तुम सर्वव्यापी हो।' परंतु कभी इस बातका आपने अनुभव भी किया है? प्रार्थना करते हुए आपके हृदयमें आकाशका अनन्त विस्तार या समुद्रकी विशालता क्या नहीं झलकती? यही 'सर्वव्यापी' शब्दका दृश्यस्वरूप है।

× × ×

आप हिंदुस्थानकी सतियोंका इतिहास पढ़ हिंदू-धर्मको भयानक समझते होंगे; परंतु सतियोंके पवित्र हृदयोंतक अभी आपकी दृष्टि नहीं पहुँची है। सती होना पति-प्रेमका अतिरेक है। उसमें विकृति आनेका दोष धर्मपर क्योंकर लादा जा सकता है? यूरोपके इतिहासमें देखिये, कुछ शताब्दियोंके पहले धर्मकी आड़ लेकर अंग्रेजोंने असंख्य स्त्री-पुरुषोंको जीते-जी जला दिया था। कई ईसाइयोंने असंख्य स्त्रियोंको 'डाइन' कहकर अग्निनारायणके अधीन कर दिया था। ऐसी अविचारकी बातें हिंदुस्थानमें नहीं होतीं। सम्भव है कि हिंदू-विचार अभीतक सफल न हुए हों, उनसे भूलें ... पर सर्वजीवहितकारी यदि कोई धर्म है तो मैं जोर देकर कहता हूँ कि वह हिंदू-धर्म ही है। हिंदुस्थानकी स्त्रियाँ पतिके मृत देहके साथ अपने शरीरकी आहुति दे सकती हैं, पर कोई हिंदू कभी किसीका अपकार करनेकी भावना मनमें नहीं लाता।

× × ×

एक ग्रीकप्रवासीने बुद्धदेवके समयके भारतकी दशाका जो वर्णन किया है, उसमें स्पष्ट लिखा है कि 'भारतकी कोई स्त्री पर-पुरुष-संसर्ग नहीं करती और कोई पुरुष असत्य नहीं बोलता।' इस वर्णनसे हिंदुओंके उच्च चरित्रका परिचय आपको होगा। कोई बुद्ध-धर्मको हिंदू-धर्मसे पृथक् समझते हैं, पर उनकी यह भूल है। हिंदू-धर्म बुद्धधर्मसे भिन्न नहीं, किंतु दोनोंके संयोगसे संसारका बहुत कुछ कार्य हुआ है। जिस प्रकार यहूदी-धर्मसे ईसाई-धर्मकी उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार हिंदू-धर्मका उज्ज्वलस्वरूप स्पष्ट करनेके लिये बुद्ध-धर्मका आविर्भाव हुआ। यहूदियोंने ईसाके साथ छल किया, उसे फाँसीपर लटकाया; परंतु हिंदू-धर्मवालोंने बुद्धको अवतार मान कर उसकी पूजा ही की। बुद्धदेवका अवतार हिंदू-धर्मको मिटानेके लिये नहीं, किंतु उसके तत्त्व और विचार व्यवहार में लानेके लिये—समता, एकता और गुप्त तत्त्वको प्रकाश करनेके लिये हुआ था। वर्ण या जातिका विचार न कर सारी मनुष्यजातिका कल्याण करना उनका उद्देश्य था। गरीब, अमीर, स्त्री, शूद्र—सभीको ज्ञानी बनानेके उच्च उद्देश्यसे प्रेरित हो कई ब्राह्मण-शिष्योंके आग्रह करनेपर भी उन्होंने अपने सब ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें न रचकर उस भाषामें रचे जो उस समय बोली जाती थी।

× × ×

एक आत्माका जो मूलरूप है, वही सम्पूर्ण विश्वका भी; यही नहीं; किंतु सब दृश्य-अदृश्य पदार्थ एक ही मूलरूपके भिन्न आभास हैं। सूर्यकी किरणें लाल, पीले, सफेद आदि रंगोंके काँचोंमेंसे जुदे-जुदे रंगोंकी भले ही दीख पड़ती हों, वस्तुतः उनका रंग भिन्न नहीं है। वेदान्त कहता है—'तत्त्वमसि।' अर्थात् वही तू है, जगत्‌मे तू अपनेको अलग समझ। तू मनमें द्वैत रखता है, इसीसे दुःख भोगता है। यदि तुझे अखण्ड सुख भोगना हो तो अखण्ड एकताका अनुभव कर। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सिद्धान्तसे वेदान्तने सिद्ध कर दिया कि जगत्‌के सब पदार्थोंमें ब्रह्म भरा है। अर्थात् यह समस्त दृश्यसृष्टि ब्रह्मका ही व्यक्त रूप है। दुग्धमें घी है, यही घीमें है। छानी निकालकर चलनेवाले वस्त और ...

के समान जिनकी कमर झुकी हुई है, उन लाठीके सहारे पैर रखनेवाले वृद्धोंके ब्रह्ममें अन्तर नहीं है। हम जो कुछ देखते हैं, छूते हैं या अनुभव करते हैं, वह सब ब्रह्ममय है। हम ब्रह्ममें रहते हैं, उसीमें सब व्यवहार करते हैं और उसीके आश्रयसे जीते हैं।

× × ×

ब्रह्मकी उपासना करनेसे आपको किसीका भय न रहेगा। सिरपर आकाश फट पड़े या बिजली गिर पड़े, तो भी आपके आनन्दमें कमी न होगी। साँप और शेरोंसे दूसरे लोग भले ही डरें, आप निर्भय रहेंगे; क्योंकि उन क्रूर जन्तुओंमें भी आपका शान्तिमय स्वरूप आपको दीख पड़ेगा। जो ब्रह्ममें एकरूप हुआ, वही वीर—वही सच्चा निर्भय है। महात्मा ईसामसीहका विश्वासघातसे जिन लोगोंने वध किया, उन्हें भी ईसाने आशीर्वाद ही दिया। सच्चे निर्भय अन्तःकरणके बिना यह बात नहीं हो सकती। 'मैं और मेरा पिता एक हैं'—ऐसी जहाँ भावना है, वहाँ भयकी क्या शक्ति है कि वह पास भी आनेका साहस करे। समस्त विश्वको जो अपनेमें देखता है—उसमें तल्लीन होता है, वही सच्चा उपासक है; उसीने जीवनका सच्चा कर्तव्य पालन किया है। हमारे विचार, शरीर और मन जितने निकट हैं, उनसे भी अधिक निकट परमात्मा है। उनके अस्तित्वपर ही मन, विचार और शरीरका अस्तित्व निर्भर है। हरेक वस्तुका यथार्थ ज्ञान होनेके लिये हमें ब्रह्मज्ञान होना चाहिये। हमारे हृदयके अत्यन्त गूढ भागमें उसका वास है। सुख-दुःख, शरीर और युगोंके बाद युग आते और चले जाते हैं; परंतु वह ब्रह्म अमर है। उसीकी सत्तासे संसारकी सत्ता है। उसीके सहारे हम देखते, सुनते और विचार करते हैं। वह तत्त्व जैसा हमारे अन्तःकरणमें, वैसा ही क्षुद्र कीटमें भी है। यह बात नहीं कि सत्पुरुषोंके हृदयमें उसका वास है और चोरोंके नहीं। जिस दिन हमें इस बातका अनुभव होगा, उसी दिन सब संदेह मिट जायँगे। जगत्‌का विकट प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है, इसका उत्तर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस भावनाके अतिरिक्त क्या हो सकता है? भौतिक शास्त्रोंने जो ज्ञान सम्पादन किया है, वह सच्चा ज्ञान नहीं; सत्य ज्ञान उनसे दूर है। उनका ज्ञान विशुद्ध ज्ञान-मन्दिरका सोपानभर है। 'सब कुछ ब्रह्ममय है'—यह अनुभव होना ही सच्चा ज्ञान है। यही धर्मका रहस्य है, विवेचक बुद्धिके आगे इसी धर्म-ज्ञानकी विजय होगी।

× × ×

परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी तथा नित्य मुक्त है। यही मुक्त-दशा और उससे उत्पन्न होनेवाली चिर शान्ति प्राप्त करना सब धर्मोंका अन्तिम लक्ष्य है। जिस अवस्थामें कभी अन्तर नहीं पड़ता, उस पूर्ण अवस्था और किसी समय भी छीनी न जानेवाली स्वाधीनता प्राप्त करनेकी सब धर्मोंकी प्रबल इच्छा है; क्योंकि सच्ची मुक्ति वह स्वाधीनता ही है। हम स्वाधीनता प्राप्त करनेके राज-पथपर चलते हुए रास्ता भूल-कर भटक रहे हैं।

× × ×

संसारकी प्रत्येक वस्तुमें—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, तारागणमें तथा हमारे हृदयोंमें प्रकाशित होनेवाला तेज परमात्माका ही है। सारा संसार परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशमान है। संसारमें अच्छा या बुरा—जो कुछ हम देखते हैं, उसी विश्वात्माका रूप है। वह हमारा मार्गदर्शक और हम उसके अनुचर हैं। अच्छे कर्म करनेवालेकी तरह पापीके मनमें भी वही—आवश्यकताओंको पार करनेकी—मुक्तिकी इच्छा होती है। दोनोंके मार्ग भिन्न भले ही हों, एकका मार्ग सुविधाका और दूसरेका असुविधाका हो सकता है; परंतु इससे हम यह नहीं कह सकते कि एक परमात्माके पूजनमें निमग्न और दूसरा उससे विमुख है। भिन्न मार्ग तो केवल उपाधि-भेदमात्र है। जिन भेदोंसे संसारमें भिन्नता दीख पड़ती है, उन्हें हटा दीजिये; सबका मूल एक ही दृष्टिगोचर होगा। उपनिषदोंने यही बात सिद्ध की है। गुलाबकी मधुर सुगन्ध, पक्षियोंके चित्र-विचित्र पक्ष और हमारा चेतन एक ही परमात्माके विविध स्वरूप हैं। सब संसार उसीपर अवलम्बित है। वही अमर चेतनरूप है और समस्त संसारका संहारकर्ता भी। व्याधको देख खरगोश जैसे चारों ओर भागने लगते हैं, हम भी वैसे ही ईश्वरके उग्र रूपको देखकर भाग रहे हैं। खरगोश बिलोंमें घुसकर व्याधसे जान भले ही बचा ले, पर सर्वव्यापी परमात्मासे पृथक् होकर हम कहाँ रह सकेंगे?

× × ×

मैं एक बार काशी गया था। वहाँके एक मन्दिरमें बहुत-से हृष्ट-पुष्ट और उपद्रवी बंदर थे। मैं दर्शन कर मन्दिरसे बाहर निकला और ऐसे तंग रास्तेसे चला कि जहाँ एक ओर बड़ा भारी तालाब और दूसरी ओर बहुत ऊँची दीवार थी। बंदरोंने बीच रास्तेमें मुझे घेर लिया। अब मैं वहाँसे भागा। मुझे भागते देख बंदर और भी मेरे पीछे पड़ गये और

काटने भी लगे। यह तमाशा देख दूर खड़े हुए एक आदमीने कहा—'आप डरकर भागते क्यों हैं ? उनसे निर्भय हो सामना कीजिये, वे आपसे खुद डरकर भाग जायँगे।' मैंने ऐसा ही किया और सब बंदर धीरे-धीरे भाग गये। यही बात संसारकी है। अनेक विघ्न-बाधाओंसे—ईश्वरके भयानक रूपसे हम डरकर भाग जायँगे तो मुक्तिसे हाथ धो बैठेंगे। हम विपत्तियोंसे जितना डरेंगे, उतना ही वे हमें चक्करमें डाल देंगी। भय, दुःख और अज्ञानका डटकर सामना कीजिये। किसी कविने कहा है—

'नहीं जो खारसे डरते वही उस गुलको पाते हैं।'

× × ×

परमात्मा सुख और शान्तिमें निवास करता है, यह बात सत्य है; तो फिर दुःख तथा विपत्तियोंमें उसका अस्तित्व क्यों न माना जाय। दुःखोंसे डरना रस्सीको साँप समझकर डरनेके बराबर है। आनन्ददायक और दुःखकारक, नयनमनोहर और भयानक—सभी तरहकी वस्तुओंमें ईश्वरका वास है। जब सबमें आपको परमात्मा दीख पड़ेगा, तब किस दुःख या संकटकी मजाल है जो आपके सामने भी खड़ा रहे। भेदबुद्धि नष्ट होकर जब नरक और स्वर्ग एक-से ही सुखदायक हो जायँगे, तब सब विघ्न-बाधाएँ अपने-आप मुक्तिके दरवाजेसे हटकर आपका रास्ता साफ बना देंगी और तभी आपकी सत्य स्वरूपसे भेंट होगी। भिन्नता दूरकर समता बढ़ाइये। भयके अन्धकारसे निर्भयताके प्रकाशमें चले आइये।

× × ×

हम मुँहसे लंबी-चौड़ी बातें करते और तत्त्वज्ञानकी सरिता बहा देते हैं। परंतु सामान्य कारणोंसे क्रोधसे लाल हो अहंकारके अधीन हो जाते हैं। उस समय क्षुद्र देहका अहंकार ही महिमा चेतन बन जाता है। चेतनको इतना क्षुद्र बना लेना मानवजातिकी उन्नतिमें बड़ी भारी बाधा है। ऐसी अवस्थामें हमें सोचना चाहिये कि मैं निस्सीम चेतन हूँ, मुक्त हूँ। क्रोध और क्रोधका कारण भी मैं ही हूँ, फिर व्यर्थ अहंकारके वशीभूत होना क्या मेरे लिये उचित है ?

× × ×

परमेश्वरकी प्रार्थना करते समय हम अपना सारा भार उनको सौंपते हैं और दूसरे ही क्षण क्रोध और अभिमानके वशीभूत होकर उसे छीन लेते हैं। इस प्रकार कहीं उनकी उपासना होती है ! सच्ची पूजा [illegible] धारण करके अपना सर्वस्व [illegible] करनेमें [illegible] कठिन है। इस कठिनताको तुच्छ जान जो अपना रास्ता तय करता है, वही स्वतन्त्र साम्राज्यतक पहुँचता है। विघ्न-बाधाओंसे डरना [illegible] सच्चे वीरका काम नहीं, वह तो ऐसी आपत्तियोंको [illegible] करता है। सच्चे हृदयसे यत्न कीजिये, आपको अमृतके [illegible] विषकी घूँट पीनी नहीं पड़ेगी। हम देव और दैत्य दोनों [illegible] स्वामी होनेके योग्य हैं। हमें परमात्मासे यही प्रार्थना करनी चाहिये—'सर्वव्यापिन् ! हम तुम्हें सर्वस्व अर्पण कर चुके हैं। हमारे अच्छे-बुरे कर्म पाप-पुण्य, सुख-दुःख—सभी तुम्हें समर्पित हैं।'

× × ×

हमारे यत्न हजारों विषयोंपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये हो रहे हैं; परंतु दुःखकी बात है कि हजारों नित [illegible] प्रभुत्व दिखा रहे हैं। सुखदायी वस्तुओंका [illegible] हमारी इच्छा है, परंतु वे ही वस्तुएँ हमारा [illegible] हैं। सृष्टिकी सारी सम्पत्ति हजम कर जानेके हमारे [illegible] परंतु सृष्टि ही हमारा सर्वस्व छीन रही है। ऐसी [illegible] क्यों होती है ? हम कर्ममें आसक्ति रखते हैं—[illegible] अपने-आप जा फँसते हैं—यही इस विपत्तिका कारण है।

× × ×

कुटुम्बी-मित्र, धर्म-कर्म, बुद्धि और [illegible] प्रति लोगोंकी जो आसक्ति देखी जाती है, [illegible] प्राप्तिके लिये है। परंतु जिस आसक्तिको लोग [illegible] समझ बैठे हैं, उससे सुखके बदले दुःख ही मिलता है। [illegible] अनासक्त हुए हमें आनन्द नहीं मिलेगा। [illegible] हृदयमें उत्पन्न होते ही उसे उखाड़कर फेंक देनेकी [illegible] शक्ति है, उनके समीप दुःखोंकी [illegible] नहीं [illegible] अत्यन्त आसक्त मनुष्य उन्मादके साथ जिस प्रकार [illegible] करता है, उसी प्रकार कर्म करते हुए भी उनसे [illegible] तोड़ देनेकी जिसमें सामर्थ्य है, वही [illegible] सुखोंका उपभोग कर सकता है। परंतु [illegible] हो सकती है, जब कि उन्मादसे कार्य करनेकी [illegible] उससे पृथक् होनेकी अनासक्तिका [illegible] बिल्कुल अनासक्त देख पड़ते हैं। न उनका [illegible] और न वे संसारमें ही लीन रहते हैं। [illegible] बना होता है। वे कभी दुःखी नहीं दीख पड़ते। [illegible] उनकी योग्यता कुछ भी नहीं है [illegible] नष्ट हो चुका है। इस [illegible] अनुभव न किया होगा और न [illegible]

होगा। यह आरम्भसे अनासक्त है। परंतु ऐसी अनासक्तिसे तो आसक्त होकर दुःख भोगना ही अच्छा। पत्थर बनकर रहनेसे दुःखोंसे सामना नहीं करना पड़ता—यह बात सत्य है; परंतु फिर सुखोंसे भी तो वञ्चित रहना पड़ता है। यह केवल चित्तकी दुर्बलतामात्र है। यह एक प्रकारका मरण है। जड़ बनना हमारा साध्य नहीं है। आसक्ति होनेपर उसका त्याग करनेमें पुरुषार्थ है। मनकी दुर्बलता सब प्रकारके बन्धनोंकी जड़ है। दुर्बल मनुष्य संसारमें तुच्छ गिना जाता है, उसे यशःप्राप्तिकी आशा ही न रखनी चाहिये। शारीरिक और मानसिक दुःख दुर्बलतासे ही उत्पन्न होते हैं। हमारे आस-पास लाखों रोगोंके कीटाणु हैं; परंतु जबतक हमारा शरीर सुदृढ़ है, तबतक उसमें प्रवेश करनेका उन्हें साहस नहीं होता। जबतक हमारा मन अशक्त नहीं हुआ है, तबतक दुःखोंकी क्या मजाल है जो वे हमारी ओर आँख उठाकर भी देखें। शक्ति ही हमारा जीवन और दुर्बलता ही मरण है। मनोबल ही सुखसर्वस्व, चिरन्तन जीवन और अमरत्व तथा दुर्बलता ही रोगसमूह, दुःख और मृत्यु है।

× × ×

किसी वस्तुपर प्रेम करना—अपना सारा ध्यान उसीमें लगा देना—दूसरोंके हित-साधनमें अपने-आपको भूल जाना—यहाँतक कि कोई तलवार लेकर मारने आये, तो भी उस ओरसे मन चलायमान न हो—इतनी शक्ति हो जाना भी एक प्रकारका दैवी गुण है। वह एक प्रबल शक्ति है, परंतु उसीके साथ मनको एकदम अनासक्त बनानेका गुण भी मनुष्यके लिये आवश्यक है; क्योंकि केवल एक ही गुणके बलपर कोई पूर्ण नहीं हो सकता। भिखारी कभी सुखी नहीं रहते; क्योंकि उन्हें अपने निर्वाहकी सामग्री जुटानेमें लोगोंकी दया और तिरस्कारका अनुभव करना पड़ता है। यदि हम अपने कर्मका प्रतिफल चाहेंगे तो हमारी गिनती भी भिखारियोंमें होकर हमें सुख नहीं मिलेगा। देन-लेनकी वणिक्-वृत्ति अवलम्बन करनेसे हमारी हाय-हाय कैसे छूट सकती है। धार्मिक लोग भी कीर्तिकी अपेक्षा रखते हैं, प्रेमी प्रेमका बदला चाहते हैं। इस प्रकारकी अपेक्षा या स्पृहा ही सब दुःखोंकी जड़ है। कभी-कभी व्यापारमें हानि उठानी पड़ती है, प्रेमके बदले दुःख भोगने पड़ते हैं; इसका कारण क्या है? हमारे कार्य अनासक्त होकर किये हुए नहीं होते—आशा हमें फँसाती है और संसार हमारा तमाशा देखता है। प्रतिफल-की आशा न रखनेवालेको ही सच्ची यशःप्राप्ति होती है।

साधारण तौरसे विचार करनेपर यह बात व्यवहारसे विरुद्ध दीख पड़ेगी; परंतु वास्तवमें इसमें कोई विरोध नहीं, किंतु विरोधाभासमात्र है। जिन्हें किसी प्रकारके प्रतिफलकी इच्छा नहीं, ऐसे लोगोंको अनेक कष्ट भोगते हुए हम देखते हैं; परंतु उनके वे कष्ट उन्हें प्राप्त होनेवाले सुखोंके सामने पासंगके बराबर भी नहीं होते। महात्मा ईसाने जीवनभर निःस्वार्थ-भावसे परोपकार किया और अन्तमें उन्हें फाँसीकी सजा मिली। यह बात असत्य नहीं है। परंतु सोचना चाहिये कि अनासक्ति-के बलपर उन्होंने साधारण विजय-सम्पादन नहीं किया था। करोड़ों लोगोंको मुक्तिका रास्ता बतानेका पवित्र यश उन्हें प्राप्त हुआ। अनासक्त होकर कर्म करनेसे आत्माको प्राप्त हुए अनन्त सुखके आगे उनका शरीर-कष्ट सर्वथा नगण्य था। कर्मके प्रतिफलकी इच्छा करना ही दुःखोंको निमन्त्रण देना है। यदि आपको सुखी होना हो तो कर्मके प्रतिफलकी इच्छा न कीजिये।

× × ×

इस बातको आप कभी न भूलें कि आपका जन्म देनेके लिये है, लेनेके लिये नहीं। इसलिये आपको जो कुछ देना हो, वह बिना आपत्ति किये बदलेकी इच्छा न रखकर दे दीजिये; नहीं तो दुःख भोगने पड़ेंगे। प्रकृतिके नियम इतने कठोर हैं कि आप प्रसन्नतासे न देंगे तो वह आपसे जबरदस्ती छीन लेगी। आप अपने सर्वस्वको चाहे जितने दिनोंतक छातीसे लगाये रहें, एक दिन प्रकृति उसे आपकी छातीपर सवार हो लिये बिना न छोड़ेगी। प्रकृति बेईमान नहीं है। आपके दानका बदला वह अवश्य चुका देगी; परंतु बदला पानेकी इच्छा करेंगे तो दुःखके सिवा और कुछ हाथ न लगेगा। इससे तो राजी-खुशी दे देना ही अच्छा है। सूर्य समुद्रका जल सोखता है तो उसी जलसे पुनः पृथ्वीको तर भी कर देता है। एकसे लेकर दूसरेको और दूसरेसे लेकर परेको देना सृष्टिका काम ही है। उसके नियमोंमें बाधा डालनेकी हमारी शक्ति नहीं है। इस कोठरीकी हवा जितनी बाहर निकलती रहेगी, बाहरसे उतनी ही ताजी हवा पुनः इसमें आती जायगी और इसके दरवाजे आप बंद कर देंगे तो बाहरसे हवा आना तो दूर रहा, इसीमेंकी हवा विषाक्त होकर आपको मृत्युके अधीन कर देगी। आप जितना अधिक देंगे, उससे हजारगुना प्रकृतिसे आप पायेंगे। परंतु उसे पानेके लिये धीरज रखनी होगी। अनासक्त बनना अत्यन्त कठिन है। ऐसी वृत्ति बननेके लिये महान् दर्शन प्राप्त

होनी चाहिये । हमारे जीवनरूपी वनमें अनेक जाल बिछे हुए हैं; बहुत-से साँप, बिच्छू, सिंह, सियार स्वेच्छासे घूम रहे हैं; उनसे बचकर अपना रास्ता सुधारनेमें हमारे शरीरको चाहे जितने कष्ट क्यों न सहने पड़ें, हाथ-पैर टूटकर हमारा सारा शरीर खूनसे लथपथ क्यों न हो जाय, हमें अपनी मानसिक दृढ़ता ज्यों-की-त्यों बनाये रखनी चाहिये—अपने कर्तव्यपथसे जरा भी न डिगना चाहिये ।

× × ×

अपनी पूर्वदशापर विचारकर क्या हम यह नहीं समझ लेते कि जिनपर हम प्रेम करते हैं, वे ही हमें गुलाम बना रहे हैं—ईश्वरकी ओरसे विमुख कर रहे हैं—कठपुतलियोंकी तरह नचा रहे हैं; परंतु मोहवश हम पुनः उन्हींके चंगुलमें आ फँसते हैं । संसारमें सच्चा प्रेम, सच्चा निःस्वार्थभाव दुर्लभ है—यह जानकर भी हम संसारमें अलिप्त रहनेका उद्योग नहीं करते । आसक्ति हमारी जान मार रही है । अभ्याससे कौन-सी बात सिद्ध नहीं होती ? आसक्तिको भी अभ्याससे हम हटा सकते हैं । दुःख भोगनेकी जबतक हम तैयारी न कर लेंगे, तबतक वे हमारे पास भी नहीं आयेंगे । हम खुद दुःखोंके लिये मनमें घर बना रखते हैं। फिर यदि वे उसमें आकर बसें तो इसमें उनका क्या अपराध है ? जहाँ मरा हुआ जानवर पड़ा रहेगा, वहीं कौए और गीध उसे खाते हुए दीख पड़ेंगे। रोग जब किसी शरीरको अपने बसनेयोग्य समझ लेता है, तभी उसमें प्रवेश करता है। मूर्खता और अभिमानको किनारे रखकर हमें पहले यह सीखना चाहिये कि हम दुःखोंके शिकार न बनें । जब-जब व्यवहारमें आपने ठोकरें खायी होंगी, तब-तब उसकी तैयारी आपने पहलेसे ही कर रक्खी होगी । दुःखके मार्गदर्शक हम ही हैं । बाह्यसृष्टि भी उन्हें हमारे सामने ढकेलती है; पर हम चाहें तो उनका सहजमें प्रतीकार कर सकते हैं । बाह्य जगत्पर हमारा अधिकार नहीं, परंतु अन्तर्जगत्पर पूर्ण अधिकार है । यदि हम इसी भावनाको दृढ़कर पहलेसे ही सचेत रहें तो हमें दुःखोंसे सामना नहीं करना पड़ेगा ।

जब हमें कोई दुःख प्राप्त होता है, तब हम उसका दोष किसी दूसरेपर लादना चाहते हैं, अपनी भूलको नहीं देखते । 'दुनिया अन्धी है,' 'दुनियामें रहनेवाले सब लोग गदहे हैं ।' यह कहकर हम अपने मनको संतोष कर लेते हैं । परंतु सोचना चाहिये कि दुनिया अन्धी है—बुरी है, तो उसमें हम क्यों रहते हैं ? अगर यदि गदहेका आधार लिया

जा सकता है, तो हम उस विशेषणसे कब छूटते हैं ? यह सब कुछ नहीं, संसारका निरीक्षण करनेके पहले हमें अपना सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिये । संसारको वृथा दोष देकर झूठ बोलना सच्चे वीरका लक्षण नहीं है । वीर बनिये और सच बोलिये । आपमें शक्ति होगी तो दुःख आपसे डरेगा; क्योंकि वह किसीके भेजनेसे आपके पास नहीं आता, आप स्वयं उसे बुलाते हैं ।

× × ×

आप अपने पुरुषार्थकी प्रशंसा करते समय लोगोंको यही दिखानेका यत्न करते हैं कि 'मैं सब कुछ जानता हूँ; मैं चाहे सो कर सकता हूँ; मैं शुद्ध—निर्दोष हूँ—ईश्वर हूँ, निष्कलंक हूँ; संसारमें यदि कोई स्वार्थत्यागी हो तो वह मैं ही हूँ ।' परंतु उसी समय आपके शरीरपर कोई छोटी-सी कंकड़ी फेंके तो तोपका गोला लगनेके समान आपको दुःख होता है; छोटे-से बच्चेकी एक थप्पड़से आप आगबबूला हो जाते हैं । आपका मनोबल इतना क्षीण है,—आपकी सहन-शक्ति इतनी अल्प है—तब फिर आप सर्वसमर्थ कैसे हैं ? जब मन ही इतना दुर्बल है कि एक अकिञ्चन मूर्खके उद्योगसे आपकी शान्ति भंग हो जाती है, तब दुःख बेचारे आपका पीछा क्यों न करेंगे ? परमात्माकी शान्तिको भंग करनेकी भला किसमें सामर्थ्य है ? यदि आप सचमुच परमेश्वर हैं तो सारा संसार भी उलटा होकर टँग जाय—आपकी शान्ति कभी भंग नहीं हो सकती । आप नरकके ओरसे छोरतक चले जायँ—कभी आपको कष्ट न होंगे । वास्तवमें आप जो कुछ मुँहसे कहते हैं, उसका अनुभव नहीं करते; इसीसे संसारको दोषी ठहराते हैं । आप अपने दोषोंको पहले हटा दीजिये, तब लोगोंको दोषी कहिये । 'अमुक मुझे दुःख देता है,' 'अमुक मेरे कान उमेठता है' यह कहना आपको शोभा नहीं देता । कोई किसीको दुःख नहीं देता, आप स्वयं दुःख भोगते हैं; इसमें लोगोंका क्या दोष है ? दूसरोंके दोष देखनेमें आप जितना समय लगाते हैं, उतना अपने दोष सुधारनेमें लगाइये । आप अपना चरित्र सुधारेंगे, अपना आचरण पवित्र बनायेंगे तो संसार आप ही सुधर जायगा । संसारको सुधारनेके साधन हम मनुष्य ही हैं । जिस दिन आप पूर्ण हो जायँगे, उस दिन संसार अपूर्ण न रहेगा । आप स्वयं पवित्र बननेके उद्योगमें लगिये, यही कर्मका रहस्य है ।

× × ×

मनुष्यमें विवेकता उत्पन्न करनेवाले नियम बेकनके

ढूँढ निकाले हैं और वे सब समय, देश तथा पात्रोंके अनुकूल हैं। कोई श्रीमान् हो या दरिद्र, संसारी हो या संन्यासी, कामकाजी हो या आरामतलब—हरेक मनुष्य अपनी विशेषताको—अपने स्वरूपको—ढूंढ कर सकता है। इसमें संदेह नहीं कि जड शास्त्रोंके खोजे हुए जड नियमोंके सूक्ष्म रूपोंका अब पता लग गया है। 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्'—इस सिद्धान्तसे यह सिद्ध हो चुका है कि जड विश्व, सूक्ष्म विश्व, अन्तःसृष्टि आदि भेद झूठे हैं; वे केवल शब्दभेदमात्र हैं। हम अपने या संसारके स्वरूपको शङ्कुकी उपमा दे सकते हैं। शङ्कुका विस्तृत निम्न भाग जड विश्व या स्थूल शरीर और सूक्ष्म अग्रभाग चेतन या आत्मा है। उसीको हम ईश्वर कहते हैं। वास्तवमें जीव और शिवमें भेद नहीं है।

× × ×

हरेक वस्तुकी शक्ति स्थूल रूपमें नहीं किंतु सूक्ष्म रूपमें होती है। उसकी गति अत्यन्त शीघ्र होनेसे वह हमें दीख नहीं पड़ती; परंतु जब वह स्थूल वस्तुके द्वारा प्रकट होती है, तब उसका अनुभव हमें हो चलता है। कोई बलवान् पुरुष जब किसी बोझको उठाता है, तब उसकी नसें पुष्ट दीख पड़ती हैं; परंतु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि बोझा उठानेकी शक्ति उन नसोंमें है। उस पुरुषके ज्ञानतन्तुओंकी शक्ति उन नसोंद्वारा प्रकट हुई है। ज्ञानतन्तुओंको उनसे भी सूक्ष्म वस्तुद्वारा शक्ति प्राप्त होती है और उस सूक्ष्म वस्तुको हम विचार कहते हैं। जलके नीचेसे जब बुलबुला उठता है, तब वह हमें दिखायी नहीं देता; परंतु ज्यों-ज्यों वह ऊपरको आने लगता है, त्यों त्यों उसका रूप अधिक स्पष्ट हो चलता है। विचारोंकी भी यही बात है। जब वे बहुत सूक्ष्म होते हैं, तब हमें उनका अनुभव नहीं होता—हृदयमें वे कब उठते हैं, इसका भी पता नहीं चलता। परंतु मूलस्थानको छोड़कर जब वे स्थूल रूपमें प्रकट होने लगते हैं, तब उन्हें हम अपने चर्मचक्षुओंसे भी देख लेते हैं। लोगोंकी यह शिकायत सदा ही बनी रहती है कि अपने विचार और कार्योंपर हमारा अधिकार नहीं चलता। यदि विचारोंके उठते ही हम उनका नियमन कर सकें—स्थूल कार्योंकी सूक्ष्म शक्तिको अपने अधीन बनाये रहें—तो यह सम्भव नहीं कि हमारा मन अपने काबूमें न रहे। और जब हम अपने मनपर पूरा अधिकार जमा लेंगे, तब दूसरोंके मनपर अधिकार जमाना हमारे लिये कठिन नहीं रह जायगा; क्योंकि सब मन एक ही विश्वव्यापी समष्टि मनके अंशरूप हैं। मिट्टीके एक ढेलेसे ढेरकी कल्पना की जा सकती है। अपने मनपर अधिकार जमानेकी कला जान लेनेपर दूसरोंके मनपर हम सहज ही अधिकार जमा लेंगे। मनोनिग्रह सबसे बड़ी विद्या है। संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं, जो इसके द्वारा सिद्ध न हो। मनोनिग्रहसे शरीरसम्बन्धी बड़े-बड़े दुःख तिनके-से प्रतीत होंगे। मानसिक दुःखोंको मनोनिग्रही पुरुषके पास आनेका साहस न होगा और अपयश तो उसका नाम सुनकर भागता फिरेगा। सब धर्मोंने नीति और अन्तर्बाह्य पवित्रताका संसारको किस लिये उपदेश किया है? पवित्रता और नैतिकतासे मनुष्य अपने मनका निग्रह कर सकता है और मनोनिग्रह ही सब सुखोंका मूल है।

श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी

(जन्म—बँगला सन् १२४८, १९ श्रावण; देहत्याग—सन् १३०६, २० ज्येष्ठ; जन्म-स्थान—ग्राम दहकुल, जिला नदिया, बंगाल।)

जो प्रभुको प्राप्त कर लेते हैं, वे कहते हैं—'प्रभु तुम्हारी जय हो। मैं मर जाऊँ।' जो व्यक्ति प्रभुको प्राप्त कर लेता है, वह फिर अपना अस्तित्व नहीं रखना चाहता, उसका कुछ भी नहीं रहता। 'मैं कर्ता हूँ, मैं ज्ञानी हूँ'—यह सब चला जाता है। रह जाता है केवल इतना ही कि 'मैं प्रभुका दास हूँ। वे नित्य सत्य हैं। कल्पना नहीं हैं, कहानी नहीं हैं, उनकी आज्ञासे सारा ब्रह्माण्ड चल रहा है। सूर्य, चन्द्रमा, वायु, मेघ, नदी, समुद्र, वृक्ष, लता, समस्त प्राणी अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। मेरे प्रभु साधारण चीज नहीं हैं जो वाणीसे बताये जा सकें। उनको देखा जा सकता है। वे ही धर्म हैं। उनसे प्राण परितृप्त होते हैं। मैं नितान्त ही अनुपयुक्त हूँ; आपलोग आशीर्वाद करें कि मैं जैसे अपनी माँके पास खड़ा होता हूँ, वैसे ही उनके पास खड़ा हो सकूँ। वे मेरी माँ हैं, जननी हैं',—इस प्रकार कब उन्हें पुकार सकूँगा। मैं आडम्बर नहीं चाहता। हे सत्यदेवता! सब सत्य है। मैं और कुछ भी नहीं चाहता; तुम्हीं धन्य हो, तुम्हीं धन्य हो।

× × ×

दीननाथ, दीनबन्धु ! मैं और कुछ नहीं चाहता । मैं नराधम हूँ, मैं अबोध हूँ, मैं मूर्ख हूँ। दयामय, तुम्हीं एकमात्र दयालु हो । हे प्रभु ! हे कंगालके धन ! बड़े दयालु हो तुम ! इस प्रकार परिचय दिये बिना क्या मेरी रक्षा होती ? मेरे हृदयके धन ! प्रभु ! मैं कुछ नहीं जानता । मैं कुछ नहीं जानता । मैं क्या कहूँ ? मेरी इच्छा होती है यह कहनेकी कि इस शरीरका एक-एक टुकड़ा मांस भी तुम हो; परंतु तुमको अपना अस्थि-मांस बताकर भी मुझे तृप्ति नहीं । मेरे प्राणकी वस्तु तुम हो । तुम्हारे शरणापन्न हूँ मैं ।

× × ×

मा ! मेरा सब कुछ भुला दो; जान-बूझकर जो अभिमान करता हूँ, वह सब भुला दो, जिससे मैं शयनमें, स्वप्नमें भी तुम्हें 'माँ' कह सकूँ । जैसा लड़कपनमें मुझे कर रक्खा था, वैसा ही फिर कर दो । तुच्छ हूँ मैं, तुच्छ हूँ मैं, तुच्छ हूँ मैं; केवल तुम्हारी ओर ही दृष्टि रखूँगा, मुझे भय नहीं है । मेरी माँ ! तुम्हीं धन्य हो, तुम्हीं धन्य हो ।

× × ×

माँके सामने प्रार्थना कैसी ! हठ करता हूँ, कितना क्या कहता हूँ, क्या-क्या चाहता हूँ । तुमलोग कहते हो—माँ मुझे रुपये नहीं देती, दवा नहीं देती । नहीं, माँ मुझको सब देती है । धन देती है, दवा देती है, शरीरपर हाथ फेरती है, सुलाती है, राज-रजवाड़े कोई मुझे कुछ भी नहीं देते ।

× × ×

मेरे प्रभु ! मैं और कुछ नहीं चाहता, तुमको चाहता हूँ । प्रभु ! तुम अपमानमें, शोकमें, दुःखमें फेंककर मुझे जलाते हो—इससे क्या ! मुझे अपना बना लेनेके लिये तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो । यथार्थमें ही यदि उनकी चाह होती है तो वे मिलते हैं । खोजते-खोजते, हाहाकार करते-करते, देखता हूँ—पीछे-पीछे कौन फिर रहा है ? कौन हो तुम ! तुम कौन हो मेरे पीछे ! एक बार, दो बार देखता हूँ, पहचान लेता हूँ । 'परिपूर्णमानन्दम्' से सारा ब्रह्माण्ड भर गया। उनके लिये भाषा नहीं है, शब्द नहीं हैं। विचार आया—कितना क्या कह जाऊँ, उनकी कितनी बातें प्रकट कर दूँ । परंतु उसी समय निर्बोधकी तरह—अज्ञानीकी तरह हो जाता हूँ । (क्या कहूँ !) न उनकी कहीं उपमा है, न तुलना है । गूँगेके स्वप्न-दर्शनकी भाँति ।

× × ×

जो धर्मके लिये लालायित हैं और धर्मका आचरण करते हैं, उनके ऊपर मानो पत्थर झूलता रहता है कि किसी प्रकार जरा-सा अहंकार-अभिमान आते ही सिरपर गिर पड़ेगा । जिन लोगोंकी धर्मकी ओर दृष्टि नहीं है, उनकी बात दूसरी है । जैसे धानको हवामें उड़ानेपर एक तरफ धान गिरता है और दूसरी ओर भूसा, उसी प्रकार भगवान् अच्छे-बुरेको पृथक्-पृथक् कर देते हैं ।

× × ×

धर्मके साथ धन, मान या सांसारिक वस्तुकी आशा करनेपर वह भाग जायगा । समय-समयपर अच्छा आहार भी आवश्यक है, किंतु शरीर-रक्षाके लिये अन्नका नित्य प्रयोजन है; इसी प्रकार उपासनाके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये ।

× × ×

यथार्थ भक्तिरस सुधाकी तरह है । जितना पीया जायगा, उतनी ही और पीनेकी इच्छा होगी ।

× × ×

अविश्वासी आदमी ईश्वरके पास मन-प्राणको बन्धक रखता है और कुछ दिनोंके बाद लौटा लेता है; परंतु पूर्ण विश्वासी अपनेको सम्पूर्णरूपसे उनके हाथों बेच डालता है ।

× × ×

पापका विष भीतर रहता है और प्रकाश बाहर । बाहरी प्रकाशको रोककर निश्चिन्त मत हो जाना । भीतरसे जहरको बिल्कुल बाहर निकाल फेंकना ।

× × ×

वास्तविक धर्मका लक्षण है—ईश्वर अनन्त ब्रह्माण्डका सृजन करके उसे चला रहे हैं । उनकी विधि, व्यवस्था, नियम, प्रणाली—सब अव्यर्थ हैं । प्रत्येक पदार्थकी ओर दृष्टिपात करनेपर सबमें असीमताका बोध होता है । जिसकी सृष्टि होती है, उसके लिये व्यवस्था है, नियम है । फिर हमलोग जो जरा-सी अधिक हवा, झड़, तूफान, गर्मी या वर्षा होनेपर सृष्टिकर्ताका अतिक्रम करके अपने विचारसे असंतोष प्रकट करते हैं, यह इसलिये कि मूलमें हमारा अविश्वास है । इस अविश्वासकी जड़ क्या है ? परनिन्दा, हिंसा, द्वेष और स्वार्थका चिन्तन करते रहनेसे इस दुर्गतिकी उत्पत्ति होती है; इसीलिये धार्मिकोंका एक लक्षण है कि वे प्राण जानेपर भी परनिन्दा नहीं करते, आत्म-प्रशंसाको विषके समान समझते हैं, हिंसाको हृदयमें स्थान नहीं देते । जीवके प्रति दया, भगवान्में विश्वास रखकर संतोषसे जीवन

बिताते हैं। अमंतोपका जन्म अविश्वाससे होता है; परंतु वास्तविक धार्मिक पुरुषकी स्थिति है सुखमें रक्खो या दुःखमें, तुम्हारी दी हुई सम्पत्ति विपत्ति दोनों ही मेरे लिये समान है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये आत्मदृष्टि होनी चाहिये।

× × ×

विश्वासी भक्त हरि-संकीर्तनके समय भाव-विभोर होकर तन्मयताको प्राप्त हो जाते हैं। वे अपनी सुधि भूल जाते हैं, परंतु जो लोग भावके घरमें चोरी करते हैं, भावकी नकल दिखाते हैं, उनके लिये इस राज्यका द्वार बंद रहता है।

× × ×

हरि-नाम लेते-लेते नशा आ जाता है। भाँग-गाँजा आदिका नशा कुछ भी नहीं है। नामका नशा कभी छूटता नहीं। सर्वथा स्थायी रहता है। हरिनाममें प्रेम-प्राप्तिका यह क्रम है—

(१) पापका बोध, (२) पाप-कर्ममें अनुताप, (३) पापमें अप्रवृत्ति, (४) कुसङ्गसे घृणा, (५) सत्सङ्गमें अनुराग, (६) नाममें रुचि और जगत्‌की चर्चामें अरुचि, (७) भावका उदय और (८) प्रेम।

विधि

(१) सत्य बोलो, दलबंदी छोड़कर सत्यनिष्ठ बनो।

(२) परनिन्दाका परित्याग करो। दूसरेके दोषकी कोई बात कहना ही निन्दा नहीं है, दूसरेको छोटा बतानेकी चेष्टा ही परनिन्दा है।

(३) सब जीवोंके प्रति दया, अर्थात् दूसरेके सुखसे सुखी और दुःखसे दुखी होना।

(४) पिता-माताकी सेवा करो।

(५) साधुपुरुषमें भक्ति करो। जो सत्यवादी जितेन्द्रिय हैं, वही साधु हैं। अपना विश्वास स्थिर रखकर साधु-सङ्ग करो।

निषेध

(१) दूसरेका जूँठा मत खाओ।

(२) मादक वस्तुका सेवन मत करो।

(३) माँस मत खाओ।

वाग्द्वारकी रक्षा

जो व्यक्ति सत्यव्रती, मधुरभाषी और अप्रमत्त होकर क्रोध, मिथ्या वाक्य, कुटिलता और लोक-निन्दाका सर्वथा त्याग कर देता है उसकी वाणीका द्वार सर्वथा सुरक्षित रहता है।

सत्यवादी बनो, सच्ची वाणी बोलो, सत्यका चिन्तन करो, सत्कार्य करो। असार वृथा कल्पना न करो, वृथा वाणी मत बोलो।

पर-निन्दा

परनिन्दा न करो। परनिन्दा मत सुनो। जहाँ परनिन्दा होती हो, वहाँ मत बैठो। दूसरेका दोष कभी मत देखो। अपने दोषोंको सदा ही देखो। अपने अंदर छिपे हुए दोषोंको जो खोज खोजकर देखता है, उसमें परनिन्दा करनेकी प्रवृत्ति नहीं होती, दूसरेका दोष देखनेकी इच्छा नहीं होती।

परनिन्दा सर्वथा त्याग करने योग्य है। प्रत्येकमें कुछ-न-कुछ गुण है। दोषके अंशको छोड़कर गुणका अंश ग्रहण करो। इससे हृदय परिशुद्ध होगा। निन्दनीय विषय (दोष) का ग्रहण करने और उसकी आलोचना करनेसे आत्मा अत्यन्त मलिन हो जाती है। जिस दोषके लिये निन्दा की जाती है, वही दोष क्रमशः निन्दकमें आ जाता है। दूसरेको किसीके सामने नीचा गिरानेके लिये कुछ भी कहने या भाव प्रकट करनेका नाम ही निन्दा है। बात सत्य होनेपर भी वह निन्दा है। दूसरेके उपकारके लिये जो कुछ किया जाता है, वह निन्दा नहीं है। जैसे पिता पुत्रके उपकारके लिये उसकी बुरी बातोंको बताता है। स्वयं क्रोधित होकर जब कोई बात कही जाती है, तब उससे दूसरेका उपकार नहीं होता। कुछ कहना हो तो केवल उपकारकी ओर ही दृष्टि रखकर कहना चाहिये।

मनुष्यमें हजारों दोषोंका रहना कुछ भी असम्भव नहीं है, परंतु उसमें जितना-सा गुण है, उसीको लेकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिये। सरल हृदयसे किसीकी प्रशंसा करनेपर ईश्वरोपासनाका काम होता है। दूसरेके गुण-कीर्तनसे पाप-ताप भाग जाते हैं, शान्ति-आनन्दका आगमन होता है। निन्दा करनेपर अपने सद्गुण नष्ट होकर नरककी प्राप्ति होती है।

हिंसा

अहिंसा परम धर्म है। हिंसाका अर्थ है हननकी इच्छा। हननका अर्थ है आघात। किसी भी व्यक्तिके प्राणोंपर आघात न लगे, इस तरह चलना चाहिये। काम और क्रोध भी हिंसाके समान अपकार नहीं करते।

दीननाथ, दीनबन्धु ! मैं और कुछ नहीं चाहता । मैं नराधम हूँ, मैं अबोध हूँ, मैं मूर्ख हूँ। दयामय, तुम्हीं एकमात्र दयालु हो । हे प्रभु ! हे कंगालके धन ! बड़े दयालु हो तुम ! इस प्रकार परिचय दिये विना क्या मेरी रक्षा होती ? मेरे हृदयके धन ! प्रभु ! मैं कुछ नहीं जानता । मैं कुछ नहीं जानता । मैं क्या कहूँ ? मेरी इच्छा होती है यह कहनेकी कि इस शरीरका एक-एक टुकड़ा मांस भी तुम हो; परंतु तुमको अपना अस्थि-मांस बताकर भी मुझे तृप्ति नहीं । मेरे प्राणकी वस्तु तुम हो । तुम्हारे शरणापन्न हूँ मैं ।

× × ×

मा ! मेरा सब कुछ भुला दो; जान-बूझकर जो अभिमान करता हूँ, वह सब भुला दो, जिससे मैं शयनमें, स्वप्नमें भी तुम्हें 'माँ' कह सकूँ । जैसा लड़कपनमें मुझे कर रक्खा था, वैसा ही फिर कर दो। तुच्छ हूँ मैं, तुच्छ हूँ मैं, तुच्छ हूँ मैं; केवल तुम्हारी ओर ही दृष्टि रखूँगा, मुझे भय नहीं है । मेरी माँ ! तुम्हीं धन्य हो, तुम्हीं धन्य हो ।

× × ×

माँके सामने प्रार्थना कैसी ! हठ करता हूँ, कितना क्या कहता हूँ, क्या-क्या चाहता हूँ । तुमलोग कहते हो—माँ मुझे रुपये नहीं देती, दवा नहीं देती । नहीं, माँ मुझको सब देती है । धन देती है, दवा देती है, शरीरपर हाथ फेरती है, सुलाती है, राज-रजवाड़े कोई मुझे कुछ भी नहीं देते ।

× × ×

मेरे प्रभु ! मैं और कुछ नहीं चाहता, तुमको चाहता हूँ । प्रभु ! तुम अपमानमें, शोकमें, दुःखमें फेंककर मुझे जलाते हो—इससे क्या ! मुझे अपना बना लेनेके लिये तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो । यथार्थमें ही यदि उनकी चाह होती है तो वे मिलते हैं । खोजते-खोजते, हाहाकार करते-करते, देखता हूँ—पीछे-पीछे कौन फिर रहा है ? कौन हो तुम ! तुम कौन हो मेरे पीछे ? एक बार, दो बार देखता हूँ, पहचान लेता हूँ । 'परिपूर्णमानन्दम्' से सारा ब्रह्माण्ड भर गया। उनके लिये भाषा नहीं है, शब्द नहीं हैं। विचार आया—कितना क्या कह जाऊँ, उनकी कितनी बातें प्रकट कर दूँ । परंतु उसी समय निर्बोधकी तरह—अज्ञानीकी तरह हो जाता हूँ । (क्या कहूँ !) न उनकी कहीं उपमा है, न तुलना है । गूँगेके स्वप्न-दर्शनकी भाँति ।

× × ×

जो धर्मके लिये लालायित हैं और धर्मका आचरण करते हैं, उनके ऊपर मानो पत्थर झूलता रहता है कि किसी प्रकार जरा-सा अहंकार-अभिमान आते ही सिरपर गिर पड़ेगा । जिन लोगोंकी धर्मकी ओर दृष्टि नहीं है, उनकी बात दूसरी है । जैसे धानको हवामें उड़ानेपर एक तरफ धान गिरता है और दूसरी ओर भूसा, उसी प्रकार भगवान् अच्छे-बुरेको पृथक्-पृथक् कर देते हैं ।

× × ×

धर्मके साथ धन, मान या सांसारिक वस्तुकी आशा करनेपर वह भाग जायगा । समय-समयपर अच्छा आहार भी आवश्यक है, किंतु शरीर-रक्षाके लिये अन्नका नित्य प्रयोजन है; इसी प्रकार उपासनाके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये ।

× × ×

यथार्थ भक्तिरस सुधाकी तरह है । जितना पीया जायगा, उतनी ही और पीनेकी इच्छा होगी ।

× × ×

अविश्वासी आदमी ईश्वरके पास मन-प्राणको बन्धक रखता है और कुछ दिनोंके बाद लौटा लेता है; परंतु *पूर्ण विश्वासी अपनेको सम्पूर्णरूपसे उनके हाथों बेच* डालता है ।

× × ×

पापका विष भीतर रहता है और प्रकाश बाहर ! बाहरी प्रकाशको रोककर निश्चिन्त मत हो जाना । भीतरसे जहरको बिल्कुल बाहर निकाल फेंकना ।

× × ×

वास्तविक धर्मका लक्षण है—ईश्वर अनन्त ब्रह्माण्डका सृजन करके उसे चला रहे हैं । उनकी विधि, व्यवस्था, नियम, प्रणाली—सब अव्यर्थ हैं । प्रत्येक पदार्थकी ओर दृष्टिपात करनेपर सबमें असीमताका बोध होता है । जिसकी सृष्टि होती है, उसके लिये व्यवस्था है, नियम है । फिर हमलोग जो जरा-सी अधिक हवा, झड़, तूफान, गर्मी या वर्षा होनेपर सृष्टिकर्ताका अतिक्रम करके अपने विचारसे असंतोष प्रकट करते हैं, यह इसलिये कि मूलमें हमारा अविश्वास है । इस अविश्वासकी जड़ क्या है ? परनिन्दा, हिंसा, द्वेष और स्वार्थका चिन्तन करते रहनेसे इस दुर्गतिकी उत्पत्ति होती है; इसीलिये धार्मिकोंका एक लक्षण है कि वे प्राण जानेपर भी परनिन्दा नहीं करते, आत्म-प्रशंसाको विषके समान समझते हैं, हिंसाको हृदयमें स्थान नहीं देते । जीवके प्रति दया, भगवान्में विश्वास रखकर संतोषसे जीवन

बिताते हैं। असंतोषका जन्म अविश्वाससे होता है; परन्तु वास्तविक धार्मिक पुरुषकी स्थिति है सुखमें रक्खो या दुःखमें, तुम्हारी दी हुई सम्पत्ति विपत्ति दोनों ही मेरे लिये समान है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये आत्मदृष्टि होनी चाहिये।

× × ×

विश्वासी भक्त हरि-संकीर्तनके समय भाव-विभोर होकर तन्मयताको प्राप्त हो जाते हैं। वे अपनी सुधि भूल जाते हैं, परंतु जो लोग भावके घरमें चोरी करते हैं, भावकी नकल दिखाते हैं, उनके लिये इस राज्यका द्वार बंद रहता है।

× × ×

हरि-नाम लेते-लेते नशा आ जाता है। भाँग-गाँजा आदिका नशा कुछ भी नहीं है। नामका नशा कभी छूटता नहीं। सर्वथा स्थायी रहता है। हरिनाममें प्रेम-प्राप्तिका यह क्रम है—

(१) पापका बोध, (२) पाप-कर्ममें अनुताप, (३) पापमें अप्रवृत्ति, (४) कुसङ्गसे घृणा, (५) सत्सङ्गमें अनुराग, (६) नाममें रुचि और जगत्की चर्चामें अरुचि, (७) भावका उदय और (८) प्रेम।

विधि

(१) सच बोलो, दलबंदी छोड़कर सत्यनिष्ठ बनो।

(२) परनिन्दाका परित्याग करो। दूसरेके दोषकी कोई बात कहना ही निन्दा नहीं है, दूसरेको छोटा बतानेकी चेष्टा ही परनिन्दा है।

(३) सब जीवोंके प्रति दया, अर्थात् दूसरेके सुखसे सुखी और दुःखसे दुखी होना।

(४) पिता-माताकी सेवा करो।

(५) साधुपुरुषमें भक्ति करो। जो सत्यवादी ...न्द्रिय हैं, वही साधु हैं। अपना विश्वास स्थिर रखकर ...-सङ्ग करो।

निषेध

(१) दूसरेका जूँठा मत खाओ।
(२) मादक वस्तुका सेवन मत करो।
(३) माँस मत खाओ।

वाग्द्वारकी रक्षा

...व्यक्ति सत्यव्रती, मधुरभाषी और अप्रमत्त ...त्य, कुटिलता और ...

कर देता है उसकी वाणीका द्वार सर्वथा सुरक्षित रहत...

सत्यवादी बनो, सच्ची वाणी बोलो, सत्यका चि... करो, सत्कार्य करो। असार वृथा कल्पना न करो, वृथा ब... मत बोलो।

पर-निन्दा

परनिन्दा न करो। परनिन्दा मत सुनो। जहाँ परनिन्दा होती हो, वहाँ मत बैठो। दूसरेका दोष कभी मत देखो। अपने दोषोंको सदा ही देखो। अपने अंदर छिपे हुए दोषोंको जो खोज-खोजकर देखता है, उसमें परनिन्दा करनेकी प्रवृत्ति नहीं होती, दूसरेका दोष देखनेकी इच्छा नहीं होती।

परनिन्दा सर्वथा त्याग करने योग्य है। प्रत्येकमें कुछ-न-कुछ गुण है। दोषके अंशको छोड़कर गुणका अंश ग्रहण करो। इससे हृदय परिशुद्ध होगा। निन्दनीय विषय (दोष) का ग्रहण करने और उसकी आलोचना करनेसे आत्मा अत्यन्त मलिन हो जाती है। जिस दोषके लिये निन्दा की जाती है, वही दोष क्रमशः निन्दकमें आ जाता है। दूसरेको किसीके सामने नीचा गिरानेके लिये कुछ भी कहने या भाव प्रकट करनेका नाम ही निन्दा है। बात सत्य होनेपर भी वह निन्दा है। दूसरेके उपकारके लिये जो कुछ किया जाता है, वह निन्दा नहीं है। जैसे पिता पुत्रके उपकारके लिये उसकी बुरी बातोंको बताता है। स्वयं क्रोधित होकर जब कोई बात कही जाती है, तब उससे दूसरेका उपकार नहीं होता। कुछ कहना हो तो केवल उपकारकी ओर ही दृष्टि रखकर कहना चाहिये।

मनुष्यमें हजारों दोषोंका रहना कुछ भी असम्भव नहीं है, परन्तु उसमें जितना-सा गुण है, उसीको लेकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिये। सरल हृदयसे किसीकी प्रशंसा करनेपर ईश्वरोपासनाका काम होता है। दूसरेके गुण-कीर्तनसे पाप-ताप भाग जाते हैं, शान्ति-आनन्दका आगमन होता है। निन्दा करनेपर अपने सद्गुण नष्ट होकर नरककी प्राप्ति होती है।

हिंसा

अहिंसा परम धर्म है। हिंसाका ...

...इच्छा। ...आघात ...नेष भी

क्रोध

क्रोध आनेपर मौन रहो। जिसके प्रति क्रोध आया है, उसके सामनेसे हट जाओ। किसीके कुछ कहनेपर अथवा अन्य किसी कारणसे क्रोधके लक्षण दीखनेपर अलग जा बैठो और नाम-कीर्तन करो।

अभिमान

अभिमानका नाश कैसे हो? अपनेको सबकी अपेक्षा हीन समझनेपर। जबतक अपनेको दीन नहीं बना सकोगे तबतक कुछ नहीं हुआ। कुली-मजदूर, अच्छा-बुरा—सभीके प्रति भक्ति करनी पड़ेगी। सभीसे अपनेको छोटा समझना पड़ेगा। मनमें अभिमानका अणुमात्र भी प्रवेश हो जाता है तो बड़े-बड़े योगियोंका भी पतन हो जाता है। अभिमान भयानक शत्रु है। मैं कामका त्याग करूँगा, क्रोधका त्याग करूँगा और लोग मुझे साधु कहेंगे, यह अभिमान सबकी अपेक्षा बड़ा शत्रु है।

जबतक इन्द्रियोंपर विजय नहीं होती, तबतक अभिमान-से कितना अनिष्ट हो सकता है यह समझमें नहीं आ सकता। इन्द्रिय-दमन होनेपर ही समझमें आता है कि अभिमानसे कितनी हानि होती है।

भगवदिच्छा

बहुत बार यह अनुभव होता है कि अपनी शक्ति कुछ है ही नहीं। जब जो कुछ होता है, भगवान्‌की इच्छासे ही होता है। यदि यथार्थरूपसे शिशुकी भाँति हम रह सकें तो भगवान् माताकी तरह सर्वदा हमारी देख-रेख रखते हैं।

अपनी ओरसे कुछ भी स्थिर नहीं करना है। भगवान्‌की इच्छापर निर्भर होकर रहना है। अपने ऊपर भार लेते ही कष्ट आ जाता है। भगवान्‌की इच्छासे जो घटना होती है, उस घटनामें कोई विशेष प्रयोजन है। भगवान् जब जिस भावमें रक्खें, उसीमें आनन्द मानना चाहिये। अपनी पसंदगीकी कोई बात नहीं। प्रभो! जैसे बाजीगर काठकी पुतलीको नचाता है, वैसे ही मुझे नचाओ। तुम्हीं मेरे जीवनके आधार हो। (तुम्हारी इच्छाके अतिरिक्त मेरे मनमें कभी कुछ आवे ही नहीं कि मैं यह करूँ, यह न करूँ।)

चतुरङ्ग साधन

(१) स्वाध्याय—अर्थात् सद्‌ग्रन्थोंका अध्ययन और नाम-जप।

(२) सत्सङ्ग।

(३) विचार—अर्थात् सर्वदा आत्मपरीक्षा। अपनी बड़ाई मीठी लगती है या विषके समान, परनिन्दा प्रीतिकर लगती है या अप्रीतिकर। धर्मभावना (दैवी सम्पत्ति और भगवान्‌की ओर रुचि) प्रतिदिन घट रही है या बढ़ रही है? यह आत्मपरीक्षा है और इस प्रकार करना सदा आवश्यक है।

(४) दान—शास्त्रकार कहते हैं कि 'दान' शब्दका अर्थ है दया। किसीके प्राणोंको किसी भी प्रकार क्लेश न देना। शरीर, वाणी अथवा अन्य किसी प्रकारसे किसीके प्राणोंको क्लेश पहुँचानेसे दया नहीं होती। वृक्ष, लता, कीट, पतंग, पशु-पक्षी और मनुष्य आदि सभी जीवोंके प्रति दया कर्तव्य है।

भीतर प्रवेश

शरीरमें प्रधान यन्त्र है जीभ। जीभके वश हो जानेपर सब कुछ वश हो जाता है। जबतक आँख, कान आदि इन्द्रियाँ बाहरी विषयोंकी ओर खिंचती हैं, तबतक शरीरसे लाँघकर भीतरकी ओर प्रवेश नहीं किया जा सकता और भीतर प्रवेश किये बिना शरीरको किसी तरह भूला नहीं जा सकता। किसी तरह एक बार भगवान्‌का दर्शन हो जाय, तब तो शरीरकी ओर दृष्टि नहीं रहती। सहज ही शरीरको भूला जा सकता है, परंतु यह स्थिति सबकी नहीं होती। इसलिये किसीके प्रति प्रेम करना होगा। वह प्रेम होना चाहिये अकृत्रिम और स्वार्थरहित। ऐसे प्रेमकी प्राप्तिके लिये अहिंसाका अभ्यास करना पड़ेगा। किसीको भी कष्ट न पहुँचाना। मारने, गाली देने, यहाँतक कि सर्वनाश कर देनेपर भी किसीका अमङ्गल न चाहना। तन, मन, वचन-से इसका अभ्यास करना पड़ेगा। इस प्रकार मनसे द्वेष और हिंसाके नष्ट होनेपर प्राणोंमें प्रेम आता है, इस प्रेमको किसी स्थानमें अर्पण करके उसका चिन्तन करते रहनेसे सब कुछ भूला जाता है। इस अवस्थामें सहज ही भगवान्‌को प्राप्त किया जा सकता है। एक भी मनुष्यको विशेषरूपसे प्रेम करना धर्म-साधनका सर्वप्रधान अङ्ग है।

सेवा

जैसे अपनी आवश्यकताको पूर्ण करनेकी इच्छा होती है, वैसे ही दूसरेकी आवश्यकता पूर्ण करनेके लिये व्याकुल होने-पर सेवा होती है। शिशुकी सेवा माँ इसी भावसे करती है।

[illegible] ही सेवा [illegible] सहायता [illegible]

वृक्ष-सेवा, पशु-पक्षी-सेवा, पिता-माताकी सेवा, पति-सेवा, सतान-सेवा, प्रभु-सेवा, राज-सेवा, भृत्य-सेवा, पत्नी-सेवा—इस भावसे करनेपर ही सेवा होती है। नहीं तो, उसे सेवा कहना उचित नहीं है। अहङ्कार नष्ट करनेका उपाय है—जीवकी सेवा। पशु-पक्षीके भी चरणोंमें नमस्कार करना होगा। यहाँतक कि विष्ठाके कीड़ेसे भी घृणा नहीं करना। जैसे तार टूटकर गिर जाता है, वैसे ही अहङ्कारसे योगियोंका भी हठात् पतन हो जाता है।

जाति-धर्मका विचार न करके सभी भक्तोंकी सेवा करो। माता-पिताको साक्षात् देवता जानकर उनकी पूजा करो। स्त्रीको भगवान्‌की शक्ति जानकर श्रद्धा करो, उसका भरण-पोषण करो, देख-रेख करो। जो पुरुष पत्नीको साक्षात् देवीके रूपमें नहीं देखता, उसके घरमें शान्ति और मङ्गल नहीं होता। स्त्रीको विलास-सामग्री अथवा दासी मत समझो।

सब जीवोंपर दया करो। वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मानव—सभीपर दया करो। किसीको भी क्लेश मत पहुँचाओ।

अतिथिका सत्कार करो। अतिथिका नाम-धाम मत पूछो। अतिथिको गुरु और देवता जानकर उसकी यथायोग्य पूजा करो।

भक्ति

भक्तिको कृपणके धनकी तरह गुप्त रखना होगा। शास्त्रकार युवतीके स्तनोंके साथ उसकी तुलना किया करते हैं। बालिका खुले शरीर घूमती फिरती है। पर युवती होनेपर वस्त्रके द्वारा स्तनोंको ढक लेती है। स्वामीके अतिरिक्त—पिता माता-गुरुजन कोई भी उन्हें नहीं देख पाता। भक्तिका भी यही रूप है। भक्तिको भी भगवान्‌के अतिरिक्त सबके सामने सावधानीके साथ गुप्त रखना चाहिये। पहले, जब भावका उच्छ्वास आरम्भ हुआ, आँखोंसे कुछ जल टपक पड़ता, तब मनमें आता कि लोग इसे देखें। पर पीछे यह चिन्ता हुई कि कैसे इसको छिपाऊँ। तब हृदयके एकान्त स्थानमें इसे छिपा रखनेकी इच्छा हुई, (क्योंकि) भक्ति गोपनीय है।

साधुका लक्षण

साधुका स्वभाव और कर्तव्य यही है कि उनके समीप जो भी विषय आयें, उन सबको वह भगवान्‌के निकट रख दे, फिर उनमेंसे जिसपर भगवान्‌की सुस्पष्ट ज्योति [illegible] दिखायी दे, उसीको स्वीकार करे। जो इसी नियमके अनुसार सारे कार्य करते हैं, वे ही यथार्थ साधु हैं। साधु सभी विषयोंमें, ईश्वरकी इच्छा क्या है—यह समझकर चलते हैं।

जिनके समीप जानेपर हृदयके श्रेष्ठ भाव प्रस्फुटित हो जाते हैं, भगवान्‌का नाम अपने-आप ही जीभसे उच्चारित होने लगता है और पापबुद्धि लज्जित होकर भाग जाती है, वही साधु है।

निरन्तर भगवान्‌का नाम-जप करते रहनेसे शरीरमें एक नवीन सौन्दर्यका उदय होता है। जिनके प्रत्येक श्वासमें भगवान्‌के नामका जप होता है, वे धीरे-धीरे भागवती तनु प्राप्त करते हैं। उनके रक्त-मांससे—प्रत्येक रोमकूपसे, अस्थिसे अपने आप ही भगवन्नामका जप होता रहता है।

शिष्योंके प्रति

(१) सत्य बोलो। (२) परनिन्दाका त्याग करो। (३) पिता-माताको प्रत्यक्ष देवता जानकर उनकी सेवा करो। (४) पति और पत्नीमें सदा सम्यक् प्रीति करो, कभी कोई किसीका भी अनादर, अपेक्षा और अपमान मत करो। (५) प्रतिदिन पञ्चयज्ञ—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, मनुष्ययज्ञ और भूतयज्ञ करो। (६) हिंदू, मुसल्मान, ईसाई, बौद्ध, जैन, शाक्त, शैव, वैष्णव, संन्यासी, गृहस्थ—सभी साधु भक्तोंकी भक्ति करो। साधुओंके सम्बन्धमें किसी सम्प्रदाय या वर्णाश्रमका विचार मत करो। (७) अपनेको किसी सम्प्रदाय या दलके अंदर मत समझो। जो जिस धर्म या सम्प्रदायमें हों वे उसीमें रहकर साधन करें। (८) सभी प्रकारके मादक पदार्थोंका त्याग करो। वे साधनमें घोर विघ्नरूप हैं। (९) मछली भी न खाओ, उससे (हिंसा) तथा तमोगुणकी वृद्धि होती है। और (१०) उच्छिष्ट मत खाओ।

प्रार्थना

प्रभो! मैं [illegible] थक गया हूँ। अब मुझसे अपनी शक्ति नहीं रह गयी है। तुम्हीं मेरा उद्धार करो।

तुम्हीं मेरे सब कुछ हो। [illegible] तुम्हारी [illegible] है, तुम्हारी [illegible] है। तुम्हीं [illegible] हो, तुम्हीं [illegible] हो, तुम्हीं [illegible] हो। प्रभो! तुम्हीं [illegible], [illegible] हो, [illegible] हो। [illegible]

लम्पट—सभी तुम हो। सारी प्रशंसा, स्तुति, प्रेम—सभी तुम्हारा है। तुम बाजीगर हो, केवल जादूके खेल खेलते हो। सार तुम हो, वस्तु तुम हो, प्रयोजन तुम हो। इहलोक, स्वर्गलोक, यमलोक, सत्यलोक, जनलोक, तपोलोक, ब्रह्मलोक, पितृलोक, मातृलोक, वैकुण्ठ, गोलोक—सभी तुम हो। मैं कुछ नहीं हूँ, कुछ नहीं हूँ, खाक-धूल—कुछ भी नहीं हूँ। तुम मेरे घर-द्वार हो, तुम मेरे दर्पण हो। तुम मधुर हो, मधुर हो, मधुर हो। 'मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्।

स्वामी श्रीशिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी महाराज

(जन्म—हवड़ा जिलेके वराहनगरके गङ्गातटपर। गृहस्थाश्रमका नाम—श्रीशशिभूषण सान्याल। अगाध पण्डित, सिद्ध योगी, महाज्ञानी और परम भक्त।)

(१) शिवकी—परमेश्वरकी उपासना और चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग—ये दोनों एक ही चीज हैं। जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग ही 'योग' है। जीवात्मा यद्यपि सदा ही सर्वव्यापक परमात्माके साथ युक्त होकर रहता है, तब भी 'आवरण' और 'विक्षेप' इन दो शक्तियोंके कारण जीवको यह बात मालूम नहीं होती। जिस उपायद्वारा इन दो शक्तियोंका नाश होता है, उस उपायका नाम योग है। अतः योगद्वारा जीवके अज्ञानका नाश होता है, अज्ञानका नाश होनेसे ही उसे मालूम हो जाता है कि जीव परमात्मासे भिन्न नहीं है।

(२) नास्तिक होकर, ईश्वरको दूर करनेकी चेष्टा करके, 'सभी जडशक्तिके परिणाम हैं'—ऐसे विश्वासको हृदयमें सुदृढ़ आसन देनेकी चेष्टा करके कोई पुरुष न तो कृतार्थ हो सके हैं और न हो सकेंगे ही।

(३) यथाविधि प्रार्थना करनेसे, श्रद्धापूर्ण, विमल हृदयसे प्रार्थना करनेसे फलप्राप्ति हुई है, हो रही है, होगी—यही सत्योक्ति है।

(४) सत्योक्तिसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और दिन-रातका प्रसार हुआ है, सत्योक्तिसे प्राणिमात्रको विश्राम मिलता है, सत्योक्तिसे ही प्राणिमात्रका विचलन—स्पन्दन हुआ करता है, जलका स्पन्दन होता है, सूर्यका नित्य उदय होता है। ······ अगर प्रतिभा प्रतिकूल न हो, तो यह बात समझमें आ जायगी कि सत्योक्ति ही सर्वजनोंकी अन्तर्यामिणी है; सत्योक्ति ही अखिल ज्ञान-विज्ञानकी प्रसूति है, प्रवृत्ति-निवृत्तिकी नियामिका है।

(५) जो विश्वके प्राण हैं, जो विश्वके बल हैं, जो विश्वके आत्मद और बलद हैं, जिनका शासन सभी कोई मानते हैं, देवतालोग भी जिनका शासन माना करते हैं, जिनकी छाया—आश्रय—शरणागति अमृत है (सर्वसुखनिधान मुक्तिका एकमात्र साधन है), जिनका विस्मरण ही मृत्यु है, उन मङ्गलमय प्रभुके अतिरिक्त हमलोग फिर किनकी प्रीतिके लिये कर्म करेंगे ?

श्रीनन्दकिशोर मुखोपाध्याय

(पिताका नाम—श्रीकालीपद मुखोपाध्याय। हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजीके प्रकाण्ड पण्डित।)

उपदेश देना साधारण बात है। पर विकट परिस्थितिमें भगवत्कृपाका अनुभव करते हुए प्रमुदित रहना—तनिक भी विचलित नहीं होना—भगवद्भक्तके ही वशकी बात होती है।

जीवनमें उतारे बिना, स्वयं पालन किये बिना—उपदेश व्यर्थ होता है।

शास्त्र-वाक्य भगवद्वाक्य-तुल्य हैं। प्रत्येक हिंदूको उन्हें आदर देना आवश्यक है। शास्त्र-विपरीत आचरण अकल्याणकर होता है।

एक पशु मर जाता है और उसकी बगलमें ही दूसरा पागुर करता रहता है। यही दशा आज मनुष्यकी हो गयी है। वह प्रतिदिन लोगोंको मृत्युमुखमें जाते देखकर भी

सम्राट्—सभी तुम हो। सारी प्रशंसा, स्तुति, प्रेम—सभी तुम्हारा है। तुम बाजीगर हो, केवल जादूके खेल खेलते हो। सार तुम हो, वस्तु तुम हो, प्रयोजन तुम हो। इहलोक, स्वर्गलोक, यमलोक, मर्त्यलोक, जनलोक, तपोलोक, ब्रह्मलोक, पितृलोक, मातृलोक, वैकुण्ठ, गोलोक—सभी तुम हो। मैं कुछ नहीं हूँ, कुछ नहीं हूँ, खाक-धूल—कुछ भी नहीं हूँ। तुम मेरे घर-द्वार हो, तुम मेरे दर्पण हो। तुम मधुर हो, मधुर हो, मधुर हो। 'मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्।

स्वामी श्रीशिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी महाराज

(जन्म—हवड़ा जिलेके बराहनगरके गङ्गातटपर। गृहस्थाश्रमका नाम—श्रीशशिभूषण सान्याल। अगाध पण्डित, सिद्ध योगी, ज्ञानी और परम भक्त।)

(१) शिवकी—परमेश्वरकी उपासना और चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग—ये दोनों एक ही चीज हैं। जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग ही 'योग' है। जीवात्मा यद्यपि सदा ही सर्वव्यापक परमात्माके साथ युक्त होकर रहता है, तब भी 'आवरण' और 'विक्षेप' इन दो शक्तियोंके कारण जीवको यह बात मालूम नहीं होती। जिस उपायद्वारा इन दो शक्तियोंका नाश होता है, उस उपायका नाम योग है। अतः योगद्वारा जीवके अज्ञानका नाश होता है, अज्ञानका नाश होनेसे ही उसे मालूम हो जाता है कि जीव परमात्मासे भिन्न नहीं है।

(२) नास्तिक होकर, ईश्वरको दूर करनेकी चेष्टा करके, 'सभी जडशक्तिके परिणाम हैं'—ऐसे विश्वासको हृदयमें सुदृढ़ आसन देनेकी चेष्टा करके कोई पुरुष न तो कृतार्थ हो सके हैं और न हो सकेंगे ही।

(३) यथाविधि प्रार्थना करनेसे, श्रद्धापूर्ण, विमल हृदयसे प्रार्थना करनेसे फलप्राप्ति हुई है, हो रही है, होगी—यही सत्योक्ति है।

(४) सत्योक्तिसे पृथ्वी, ... और दिन-रातका प्रसार हुआ है, प्राणिमात्रको विश्राम मिलता ... ही प्राणिमात्रका विचलन—स्प... है, अन्तका स्पन्दन होता ... उदय होता है। ...... अ... न हो, तो यह ... जायगी कि सत्योक्ति ही सर्व... सत्योक्ति ही अखिल ज्ञान-विज्ञा... निवृत्तिकी नियामिका है।

(५) जो विश्वके प्र... विश्वके आत्मद और बल... हैं, देवतालोग भी जि... छाया—आश्रय—... मुक्तिका एकमात्र ... उन मङ्गलमय ... लिये कर्म करें ...

श्रीनन्दकिशोर मुखोपा...

(पिताका नाम—श्रीकालीपद मुखोपाध्याय। हिंदी, संस्कृत ...

उपदेश देना साधारण बात ... पालन ... है। पर विकट परिस्थितिमें ... का अनुभव ... रहना ... होना ... ह

बुद्धि मेरे हैं' इस रंगमें। इस प्रकारके वेशोंमें अनर्थ करनेवाली श्रद्धा कुब्जा (उल्टा विश्वास) प्रतिसमय अहंकार (देहाध्यास या अहंता) को पुष्टि और बल देती रहती है। जबतक यह संसारासक्त दृष्टिवाली श्रद्धा सीधी होकर आत्मा (कृष्ण) की सहगामिनी और तद्रूपा न होगी, तबतक न तो अहंकार (कंस) मरेगा और न स्वराज्य मिलेगा। मारो जोरकी लात इस कुब्जाको, जमाओ विवेकरूपी मुक्का इस उल्टे विश्वासको, अलिफ (।) की भाँति सीधी कर दो इस कुबरी श्रद्धाकी कमर।

कद्दे-अलिफ पैदा कुनम् चूँ रास्त पुश्ते-नूँ कुनम्।

अर्थात् जब नून अक्षरकी पीठको सीधा करता हूँ तो अलिफके कदको मैं उत्पन्न कर देता हूँ।

अपने असली स्वरूप (परमात्मा) में पूर्ण विश्वास उत्पन्न करो, देह और देहाध्यास कैसे, तुम तो मुख्य ईश्वर हो।

सब ओर तू ही तू

जिस ओर हम दौड़े, वे सब दिशाएँ तेरी ही देखीं, अर्थात् सब ओर तू ही था और जिस स्थानपर हम पहुँचे, वह सब तेरी ही गलीका सिरा देखा, अर्थात् सर्वत्र तुझे ही पाया।

जिस उपासनाके स्थानको हृदयने प्रार्थनाके लिये ग्रहण किया, उस हृदयके पवित्र धामको तेरी भृकुटीका झुकाव देखा, अर्थात् उस स्थानपर तू ही झाँकता दृष्टिगोचर हुआ।

हर सर्वे-रवाँ (प्रिय वृक्ष अर्थात् प्रेमपात्र) को, जो कि इस संसार-वाटिकामें है, उसे तेरी नदी-तटकी वाटिकाका उगा हुआ देखा, अर्थात् जो भी इस जगत्में प्यारा दृष्टिगोचर हुआ, वह सब तुझसे ही प्रकट हुआ दिखायी दिया।

कल रात हमने पूर्वी वायुसे तेरी सुगन्ध सूँघी और उस प्राची पवनके साथ तेरी सुगन्धका समूह देखा, अर्थात् उसमें तेरी ही सुगन्ध बसी हुई थी।

संसारके समस्त सुन्दर पुरुषोंके मुखमण्डलोंको कौतूहलके लिये हमने देखा, किंतु तेरे मुखड़ेके दर्पणमें उनको देखा, अर्थात् इन समस्त सुन्दरोंमें तेरा ही रूप पाया।

समस्त संसारके प्यारोंकी मस्त आँखोंमें हमने जब देखा, तो तेरी जादूभरी नरगिस (आँख) देखी।

जबतक तेरे मुखमण्डलका सूर्य समस्त परमाणुओंपर न चमके, तबतक संसारके परमाणुओंपर तेरी ही ओर दौड़ते हुए देखा, अर्थात् जबतक तेरी किरण न पड़े, तबतक सत्यका जिज्ञासु तेरा ही इच्छुक रहेगा।

नानात्व खेल है

सोनेको क्या परवा है, जेवर (आभूषण) रहे चाहे न रहे। सोनेकी दृष्टिसे तो जेवर कभी हुआ ही नहीं। सोनेके जेवरके ऊपर भी सोना, नीचे भी सोना, चारों ओर भी सोना और बीचमें भी सोना, हर ओर सोना-ही-सोना है। आभूषण तो केवल नाममात्र है। सोना सब दशाओंमें और सब दिशाओंमें एकरस है। मुझमें नाम और रूप ही कभी स्थित नहीं हुए, तो नाम-रूपके परिवर्तन और रूपान्तर, रोग और नीरोगका कहाँ प्रवेश है! यह मेरी एक विचित्र आश्चर्य महिमाका चमत्कार है कि मैं सबमें भिन्न-भिन्न 'अहं' कल्पित कर देता हूँ, जिससे यह सब लीला व्यक्ति-व्यक्तिमें विभक्त होकर मेरा-तेराका शिकार (आखेट) हो जाती है। एक-दूसरेको अफसर-मातहत, गुरु-शिष्य, शासक-शासित, दुःखी-सुखी स्वीकार करके मदारीकी पुतलियोंकी तरह खेल दिखाने लगते हैं।

यह मेरी काल्पनिक बनावट मेरे प्रतिबिंब या आभासके कारण अपने-आपको मान बैठी है। इसके कारण मुझमें कदापि भिन्नता नहीं आती; क्योंकि समस्त अस्तित्व और सृष्टि, जो इन्द्रियगोचर है, मुझसे है। पिंजरेमें चिड़िया उछलती है, कूदती है, प्रसन्न होती है, शोक भी मानती है; किंतु व्याध जानता है कि इसमें क्या शक्ति है, चुप तमाशा देखा करता है। आनन्दस्वरूप मैं सदा एकान्त हूँ। आप ही-आप मेरेमें नानात्वका बाधक होना क्या अर्थ रखता है!

अंदर बाहर, ऊपर नीचे, आगे पीछे हम ही हम।
उर में, सिर में, नर में, सुर में, पुर में, गिर में हम ही हम॥

प्राणका दर्पण

तुझको हँसते हुए देखकर मैं दंग नहीं हुआ हूँ, मैं दंग नहीं हुआ हूँ; पर प्यारे! तेरे अधर और दाँतोंपर बलिहार।

सोसन (पुष्प) ने चमेलीका मंदिर बनानेको

कुफ्र और ईमानको उसके मुखड़े और जुल्फके आगे छोड़ दे और उस प्यारेके जुल्फ और मुखड़ेके सामने कुफ्र और ईमानकी चर्चा न कर।

याद रख, तू उस (प्यारे) से आगे नहीं बढ़ सकेगा, इसलिये तू इसके मिलाप (दर्शन) की चर्चा मत कर और इस हेतु कि तू उस (प्यारे) के बिना भी नहीं रह सकेगा, इसलिये वियोगकी भी चर्चा न कर।

याद रख, प्रकाशमान सूर्य उस (प्यारे) के मुखड़ेकी ज्योतिकी एक चमक है, इसलिये ऐ मगरबी! उसके सामने प्रकाशमान सूर्यकी भी चर्चा न कर।

मिलनकी मौज

हे वाक्-इन्द्रिय! क्या तुझमें है शक्ति उस आनन्दके वर्णन करनेकी? धन्य हूँ मैं! कृतकृत्य हूँ मैं!!

जिस प्यारेके घूँघटमेंसे कभी हाथ, कभी पैर, कभी आँख, कभी कान कठिनताके साथ दिखायी देता था, दिल खोलकर उस दुलारेका आलिङ्गन प्राप्त हुआ। हम नंगे, वह नंगा, छाती छातीपर है। ऐ हाड़-चामके जिगर और कलेजे! तुम बीचमेंसे उड़ जाओ। भेद-भाव! हट। फासले भाग! दूरी दूर हो। हम यार, यार हम। यह शादी (आनन्द) है कि शादी-मर्ग (आनन्दमयी मृत्यु अथवा आनन्दनिमग्न मौत)। आँसू क्यों छमाछम बरस रहे हैं। क्या यह विवाह-कालकी झड़ी है, अथवा मनके मर जानेका मातम (शोक)? संस्कारोंका अन्तिम संस्कार हो गया। इच्छाओंपर मरी पड़ी। दुःख-दरिद्र उजाला आते ही अँधेरेकी तरह उड़ गये। भले-बुरे कर्मोंका बेड़ा डूब गया।

× × ×

आँसुओंकी झड़ी है कि अभेदताका आनन्द दिलानेवाली वर्षा-ऋतु! ऐ सिर! तेरा होना भी आज सुफल है। आँखो! तुम भी धन्य हो गयीं। कानो! तुम्हारा पुरुषार्थ भी पूरा हुआ। यह आनन्दमय मिलाप मुबारक हो, मुबारक हो, मुबारक हो! मुबारकका शब्द भी आज कृतार्थ हो गया।

ऐ मेरे पगलेपनके आह्लाद! ऐ मेरे समस्त रोगोंकी ओषधि! ऐ मेरे अभिमान और मानकी ओषधि! ऐ मेरे लिये जालीनूस और अफलातून! तू आनन्दवान् हो।

अथवा ऐ मेरे प्रेमोन्मादके आह्लाद! तू आनन्दवान् हो। तू ही तो मेरे समस्त रोगोंकी ओषधि है। तू ही मेरे अभिमान और मानकी ओषधि है, तू ही मेरे लिये अफलातून और जालीनूस है।

अहंकारका गुड्डा और बुद्धिकी गुड़िया जल गये। अरे नेत्रो! तुम्हारा यह काला बादल बरसाना धन्य हो। यह मस्तीभरे नयनोंका सावन धन्य (मुबारक) है।

कुब्जाकी कमर सीधी करो

एक हाथमें स्वादिष्ट मिठाई और दूसरेमें अशर्फी बच्चेको दिखाकर कहा जाय कि इन दोनोंमेंसे कौन-सी एक वस्तु तुम्हें स्वीकार है, तो नासमझ बच्चा मिठाईको पसंद करेगा, जो उसी क्षण स्वाद दे जाती है। यह नहीं जानता कि अशर्फीसे कितनी मिठाई मिल सकती है। यही दशा उन संसारी लोगोंकी है जो श्रेष्ठ बनानेवाली सच्ची स्वतन्त्रताकी अशर्फीको छोड़कर जुगनूकी चमकवाली क्षणभङ्गुर स्वाद देनेवाली मिठाई अङ्गीकार कर रहे हैं। ग्वालपन छोड़कर जन्मजात स्वत्व (राजगद्दी) को सँभालनेके लिये कृष्ण भगवान्का कंसको मारना अत्यावश्यक कर्तव्य था, किंतु कंस तब मरेगा जब कुब्जा सीधी होगी। पान, सुपारी, चन्दन, इत्र, अबीर आदि लिये कंसकी सेवाको कुब्जा जा रही है, इतनेमें महाराजसे भेंट हो गयी। बाँकेके साथ कुब्जाकी बोल-चाल भी अत्यन्त टेढ़ी थी। एक मुक्का मारनेसे कुबरीकी पीठ सीधी हो गयी। नाम तो कुब्जा ही रहा, किंतु सीधी होकर अपने उपकारीके चरणोंपर गिरी। अब कंससे सम्बन्ध कैसा? पान, सुपारी, चन्दन, इत्र, अबीरसे भगवान्का पूजन किया और उन्हींकी हो रही। सीधी कुब्जाको सहृदय सखी बनाते ही कृष्ण भगवान्की कंसपर विजय है और स्वराज्य (पैतृक अधिकार) प्राप्त है। विषयोंके वनको त्यागकर सच्चे साम्राज्यको सँभालनेके लिये अहंकार (अहंता) रूपी कंसको मारना परम आवश्यक है, नहीं तो, अहंकार-रूपी कंसकी ओरसे होनेवाली भाँति-भाँतिकी पीड़ाएँ और चित्र-विचित्र अत्याचार कहीं चैनसे दम न लेने देंगे। अहंकार (कंस) तब मरेगा, जब कुब्जा सीधी होकर कृष्ण (आत्मा) की भेदी (आत्माके रहस्यको जाननेवाली) हो जायगी।

कुब्जा क्या है? श्रद्धा, विश्वास। सर्वसाधारणके यहाँ उल्टी (कुबरी) श्रद्धा अहंकारकी सेवामें दिन-रात लगी रहती है। 'घर मेरा है' इस रूपमें अथवा 'धन-सम्पत्ति मेरी है' इस रूपमें, 'स्त्री-पुत्र मेरे हैं' इस रूपमें, 'शरीर और

तलवार खींची, सोसनको तलवार किसने दी! तेरी रंगीली नरगिस (पुष्परूपी नेत्र) ने; क्योंकि नेत्रोंकी आकृतिकी तुलना नरगिसके पुष्पसे की जाती है।

तेरा चमकता हुआ मुखड़ा मेरे प्राणका दर्पण हुआ। इस प्रकार मेरे प्राण और तेरे, दोनों एक ही हुए; क्योंकि तेरे मुखड़ेमें मेरे प्राण और मेरे मुखड़ेमें तेरे प्राण दिखायी देते हैं।

निजानन्दकी मस्ती

प्रातःकालकी वायुका ठुमक-ठुमक चलना ही अपने प्यारे यार (स्वरूप) का संदेशा ला रहा है और जरा-सी आँख भी लगने नहीं देता; क्योंकि आँख जब जरा लग जाती है, तो झट उस प्यारे (स्वरूप) की दृष्टि (प्रकाश) का तीर लगना आरम्भ हो जाता है, जिससे मैं सोने न पाऊँ, अर्थात् उसे भूल न जाऊँ।

अगर अकस्मात् अक्ल और होशमें आने लगता हूँ, या मन-बुद्धिका सङ्ग करने लगता हूँ तो उसी समय प्यारा छेड़खानी करने लग जाता है, ताकि फिर बेहोश और आत्मानन्दसे पागल हो जाऊँ, अर्थात् मैं पुनः संसारका न रहूँ, सिर्फ प्यारे (स्व-स्वरूप) का ही हो जाऊँ।

(इस छेड़खानीसे) ऐसा मालूम होता है कि प्यारेका हमसे एक मतलब (स्वार्थ) के कारण प्यार है और वह मतलब हमारा दिल लेना है। भला सख्तीसे वह क्यों दिल छीनता है, क्या वैसे हमको इन्कार है! अर्थात् जब पहलेसे ही हम प्यारेके हवाले दिल करनेको तैयार बैठे हैं, तो फिर वह सख्तीसे क्यों छीनना चाहता है!

दिलको प्यारेके अर्पण करनेसे न लिखनेकी फुरसत रही और न किसी काम-काजकी। आप तो वह बेकार (अकर्ता) था ही, अब हमको भी वैसा ही बेकार कर दिया है।

जब प्रेमका समय आता है, तब वह (प्यारा) झट हमबगल (सङ्ग या मूर्तिमान्) हो जाता है। ऐसी दशामें हम किसपर गुस्सा निकालें; क्योंकि सामने तो वह स्वयं खड़ा है।

—— वह

जाग्रत्‌में पृथ्वी-जलके

.. हँसता है और

रोते समय वह (अभेद हुआ) आप रोता है, दशाओंमें वह ही स्वयं मौजूद है।

कभी चमकती हुई बिजलीके रूपमें है, कभी बरसते हुए घने बादलोंके रूपमें रोता है, प्रेमके रूप और रंगमें वही प्यारा प्रकट हुआ देता है।

ऐ प्यारे जिज्ञासु! इश्क (प्रेम) के धनको जानो, इसको मत खोओ, बल्कि इस प्रेमकी खातिर घर-बार और धन-दौलतको वार दो।

इस प्रेमके दर्दका इलाज करना तो अपनी ही मंजूर होता है; क्योंकि जब प्रेम ही माशूक (हो, तो क्या ऐसी नीरोगतामें भी बीमार है!

इतजार, मुसीबत, बला और जंगलका काँटा— सब उसी समय जलकर गुलनार (आगका पुष्प) हो गये जिस समय ज्ञानाग्नि भीतर प्रज्वलित हुई।

दौलत, बल, विद्या और इज्जत तो नहीं उस (अनन्य भक्त या ब्रह्मवित्) बेपरवाह बादशाहको केवल आत्मज्ञान (ब्रह्म-विद्या) की ही आवश्यकता है।

कई वर्षोंकी आशाएँ, जो स्वरूपके अनुभवमें ओटका काम कर रही हैं, इन सब छोटी-बड़ी आशाओंको (आत्मज्ञानसे) जला दो और जब इस तरहसे इच्छाओंकी दीवार उड़ जाय, तब फिर प्यारे (स्वस्वरूप) के दर्शनका आनन्द लो।

मंसूर एक मस्त ब्रह्मवेत्ताका नाम है, जब वह सूलीपर चढ़ाया गया, तब उस समय एक पुरुषने उससे प्यारेकी गली अर्थात् स्वस्वरूपके अनुभव करनेका रास्ता पूछा। मंसूर तो चुप रहा; क्योंकि वह उस समय सूलीपर था, परंतु सूलीकी नोकने अर्थात् सिरेने, जिसको फारसीमें दार कहते हैं, मंसूरके दिलमें साफ खुलकर बतला दिया कि यह रास्ता है, अर्थात् प्यारेके अनुभवका केवल दिलके भीतर जाना ही रास्ता है।

इस शरीरसे शारीरिक प्राण कूदकर तो अद्वैतकी गङ्गामें पड़ गये हैं। अब इस मृतक शरीर (मुर्दे) को (प्रारब्ध-भोग-रूपी) पक्षी आये और महोत्सव कर लें; क्योंकि साधुके मरनेके पश्चात् भंडारा अर्थात् भोजन दिया जाता है और मस्त पुरुष अपने शरीरको ही सबके आगे

करना भंडारा समझता है, इसलिये राम जब मस्त हुए तो शरीरको मृतक देखकर भंडारेके लिये पक्षियोंको बुलाते हैं।

जब इस निजानन्दके कारण नेत्र, मस्तिष्क और हृदयमें बेसुध उमड़ने लगे, तो उस समय अपने पास द्वैत दर्शानेवाली सांसारिक बुद्धि तू मत रख; क्योंकि यह बुद्धि व्यभिचारिणी राँड है।

जब राम अति मस्त हुए तो बोल उठे कि इस शरीरसे अब सम्बन्ध छूट गया है, इसलिये इसकी जिम्मेदारीकी सिरसे बला टल गयी। अब तो राम खून पीनेवाली तलवार (मुसीबत) का भी स्वागत करता है; क्योंकि रामको यह मौत बड़ा स्वाद देती है।

यह देह-प्राण तो अपने नौकर (ईश्वर) के हवाले करके उससे नित्यका ठेका ले लिया है। अब ऐ प्यारे (स्वस्वरूप)! तू जान, तेरा काम; हमको इस (शरीर) से क्या मतलब है।

नौकर बड़ा खुश होकर काम कर रहा है, राम अब बादशाह हो बैठा है; क्योंकि खिदमतगार (सेवक) बड़ा चतुर मिला हुआ है।

नौकर ऐसा अच्छा है कि दिन-रात जरा भी सोता नहीं, मानो उसकी आँखोंमें नींद ही नहीं और दम-भर भी उसको सुस्ती नहीं; वह हर घड़ी जगाता ही रहता है।

ऐ राम! मेरा नौकर कौन है और मालिक उसका कौन है? मैं क्या मालिक हूँ या नौकर हूँ? यह क्या आश्चर्यजनक रहस्य है (कुछ नहीं कहा जा सकता)।

मैं तो अकेला, अद्वैत, नित्य, अखण्ड और निर्विकार हूँ, मालिक और नौकरका भाव कहाँ? यह क्या गलत बोलचाल है।

मैं अकेला हूँ, मैं अकेला हूँ, जल-थलपर मैं अकेला हूँ। वाणी और वाक्-इन्द्रियका मुझतक पहुँचना कठिन है, अर्थात् वाणी इत्यादि मुझे वर्णन नहीं कर सकतीं।

ऐ दुनियाके बादशाहो! और ऐ मानो आसमानोंके तारो! मैं तुम सबपर राज्य करता हूँ। मेरा राज्य सबसे बड़ा है।

मैं अपने प्यारे (स्वरूप) की लड़भरी दृष्टि हूँ, निजानन्दभरी मस्तीकी शराबका नशा हूँ, अमृत-स्वरूप मैं हूँ, भवें (माया) मेरी तलवार हैं।

यह मेरी मायाकी जुल्फें (अविद्याके पदार्थ) पेचदार (आकर्षक) तो हैं मगर जो मुझे (मेरे असली स्वरूपकी ओर) सीधा आकर देखता है, उसको तो वास्तविक रामके दर्शन हो जाते हैं और जो उल्टा (पीठेको) होकर (मेरी मायारूपी काली जुल्फोंको) देखता है, उसको ('राम' शब्दका उल्टा शब्द 'मार') अविद्याका साँप काट डालता है।

अमावसकी रातको एक बजे गुफाके सामने गङ्गाने नरम-नरम बिछौना (रेणुकाका) बिछा दिया है। राम बादशाह लेट रहा है, गङ्गा चरणोंको छूती हुई बह रही है।

× × ×

गला रुका जाता है

जब लड़की पतिके साथ विवाही जाकर अपने माता-पिताके घरसे अलग होने लगती है, तो लड़की और माता-पिताके रोमाञ्च हो जाते हैं और आश्चर्य-दशा व्याप्त होनेसे गला रुक जाता है।

लड़कीको फिर घर वापस आनेकी अथवा माता-पिताके घरका ही बने रहनेकी कोई आशा मालूम नहीं देती, इस वास्ते सर्वदाकी जुदाई होते देखकर माता-पिता और लड़कीके रोंगटे खड़े हो जाते हैं और गला रुक आता है।

(लड़की फिर मनमें यह कहने लगती है कि) हे माता पिता! यह घर-बार तथा संसार तो आपको और मेरा पति मुझको मुबारक हो, पर यह (जुदा होते समयकी) आखिरी छवि (अवस्था) आप जरूर याद रखें कि 'रोंगटे खड़े हो रहे हैं और गला रुक रहा है।'

ऐसे ही जब मनुष्यकी वृत्ति-रूपी लड़की (अपने) पति (आत्मस्वरूप) के साथ विवाही जाती, अर्थात् आत्मासे तदाकार होती है, तब उसके माता-पिता (अहंकार और बुद्धि) के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और गला मारे वेदनाके रुकता जाता है तथा उस वृत्तिको अब वापस आते न देखकर इन्द्रियोंमें रोमाञ्च हो जाता है। उस समय वृत्ति भी अपने मनमन्दिरमें यह कहती मालूम देती है हे अहंकार-रूपी पिता! और बुद्धि-रूपी माता! यह घर-बार एवं दुनिया अब तुम्हें मुबारक हो और हमें हमारा दूल्हा (आत्मस्वरूप) मुबारक हो। (अहंकारकी) यह मौत दुनियामें सबसे उत्तम है और इस मौतके बराबर आनन्दको नहीं तो, हमने यूँ बढ़

इन सब की मददों के बाइस, चश्मा मस्ती का है जारी ।
गुम शीर कि शीरीं तुर्फो में, कोह और तेशा फरहादी है ॥
क्या ठंढक है, क्या राहत है, क्या शादी है, आजादी है ॥

इस मरने में क्या लज्जत है, जिस मुँह को चाट लगे इस की ।
थूके है शाहंशाही पर, सब नेमत दौलत हो फीकी ॥
मय चाहिये दिल सिर दे फूँको, और आग जलाओ भट्ठी की ।
क्या सस्ता बादा बिकता है 'ले लो' का शोर मुनादी है ॥
क्या ठंढक है, क्या राहत है, क्या शादी है, आजादी है ॥

इल्लत मालूल में मत डूबो, सब कारण-कार्य तुम ही हो ।
तुम ही दफ्तर से खारिज हो, और लेते चारज तुम ही हो ॥
तुम ही मसरूफ बने बैठे, और होते हारिज तुम ही हो ।
तू दावर है, तू वुकला है, तू पापी, तू फरयादी है ॥
नित राहत है, नित फरहत है, नित रंग नये आजादी है ॥

दिन शबका झगड़ा न देखा, गो सूरज का चिट्टा सिर है ।
जब खुलती दीदए-रौशन है, हँगामाए-ख्वाब कहाँ फिर है ॥
आनन्द सरूर समुद्र है जिस का आगाज न आखिर है ।
सब राम पसारा दुनिया का, जादूगर की उस्तादी है ॥
नित राहत है, नित फरहत है, नित रंग नये आजादी है ॥

अर्थ

जब प्रेमका समुद्र बहने लग पड़ा तो हर तरफ प्रेमकी बस्ती नजर आने लग पड़ी और रात दिन शादी तथा मुबारकबादीने मुँह दिखाना शुरू कर दिया। अब दिल सुन्दर पुष्पकी तरह हँसता और खिलता रहता है; चित्त नित्य आनन्द-प्रसन्न है। आप ही सूर्य बनकर चमक रहा है और आप ही जंगल-घाटी बन रहा है। अहा! कैसा नित्य आनन्द है, नित्य शान्ति है, नित्य सर्व प्रकारकी खुशी और आजादी हो रही है।

हर रग और नाड़ीमें तथा रोम-रोममें आनन्द-रूपी अमृत भरा हुआ है। जुदाईके सब दुःख और कष्ट दूर हो गये और मन इस अहंकारके मरने (मौत) की खुशीसे चूर हो गया है; अब प्रत्येक पत्ता बधाइयाँ दे रहा है; क्योंकि परमाणुमात्र भी इस ज्ञानाग्निसे अग्निके पर्वतकी तरह प्रकाशमान हो गया। अब जो है सो अपना ही झाँकी-स्थान या जाहिर करनेका स्थान है। चाहे वह पानीका प्राणी है, चाहे अग्निका और चाहे हवाका (यह समस्त कामदेवमें मुझको ही जाहिर करनेवाले हैं)।

आनन्दकी वर्षामें आँसू रिम-झिम बरस रहे हैं, और यह आनन्दका बादल क्या-क्या अच्छी बहार दे रहा है। इस जोरकी वर्षामें वह (चित्त) क्या खूब अभेदता (एकता) का आनन्द ले रहा है। शरीर-रूपी नौका तो आनन्दकी लहरोंमें डूबने लग रही है, मगर वह सच्चा (आनन्दमें) उन्मत्त उसे कब खेता है! (वह तो शरीरका ख्याल नहीं करता;) क्योंकि उसके लिये यह (देहाध्यासका) डूबना वास्तवमें जी उठना है। इसलिये हे प्यारो! इस मौतसे मत झिझको (क्योंकि झिझकनेमें अपनी बरबादी है)। इस मृत्युमें तो क्या ही ठंढक है, क्या ही आराम है, और क्या ही आनन्द और क्या ही स्वतन्त्रता है; इसका कुछ वर्णन नहीं हो सकता।

रोना-पीटना, शोक-चिन्ता, बीमारी, गल्ती, कमजोरी, निर्धनता, नीच-ऊँच, ठोकर और पुरुषार्थ, इन सबपर प्राण वारे जा रहे हैं और इन सबकी सहायतासे मस्तीका समुद्र बह रहा है। प्रिया शीरींके इश्कमें फरहादका तेशा पर्वत और शीरीं लोप हो रहे हैं। इस लोप होनेमें क्या शान्ति है, क्या आराम है, क्या आनन्द और क्या ही आजादी हो रही है।

इस मरनेमें क्या ही आनन्द (लज्जत) है, जिस मुँहको इस लज्जतकी चटक (स्वाद) लग गयी, वह शाहंशाहीपर थूकता है और धन दौलत (वैभव) उसे फीका हो जाता है। अगर आपको (आनन्दकी) शराब चाहिये, तो दिल और सिरको फूँककर (इस शराबके वास्ते) उसकी भट्टी जला दो। वाह! (निजानन्दकी) शराब (अपने सिरके बदले) क्या सस्ती बिक रही है और (कबीरकी तरह) ले लो, ले लो का शोर हो रहा है। इस शराबका फल क्या ही शान्ति, आराम, आनन्द और आजादी है।

हेतु (कारण) और फल (कार्य) में मत डूबो, क्योंकि सब कारण-कार्य तुम ही हो; और जो दफ्तरसे खारिज होता है अथवा जो नौकर होता है, वह सब तुम आप हो। तुम ही सब कामोंमें प्रवृत्त होते हो। तुम ही उनमें विरोध डालनेवाले होते हो। तुम ही न्यायकारी, तुम ही वकील और तुम ही पापी और फरयादी होते हो। आहा! क्या नित्य चैन है, नित्य शान्ति है और नित्य रागरंग और आजादी है।

सूर्य यद्यपि आप मौजूद है, परंतु दिन-रातका झगड़ा अर्थात् रोशन-अंधेरा भेद उसमें नहीं देखा जाता; क्योंकि दिन-रात तो पृथ्वीके घूमनेपर निर्भर है। ऐसे ही हर श्रेष्ठ

खुलती है तो स्वप्न फिर मेरा नहीं रहता, वरं चारों ओर अनन्त और नित्य आनन्दका समुद्र उमड़ता दिखायी देता है। यह संसार ठीक रामका पसारा है और जादूगर (राम) की उस्तादी है। इसलिये यहाँ वास्तवमें नित्य चैन है, शान्ति है और नित्य राग-रंग और नयी आजादी है।

× × ×

प्यारेके पास पहुँचनेके लिये

जबतक तुम कचीके समान अपने अहंकाररूपी सिरको ज्ञानरूपी आरेके नीचे नहीं रक्खोगे, तबतक उस प्यारेके सिरके बालोंको नहीं प्राप्त हो सकते।

जबतक सुरमेकी तरह पत्थरके नीचे पिस न जाओगे, तबतक सच्चे प्रियतमकी आँखोंतक नहीं पहुँच सकते।

जबतक मोतीकी तरह तारसे नहीं छिदोगे, प्यारेके कानतक नहीं पहुँच सकते।

ज्ञानी कुम्हार जबतक तेरी अहंकाररूपी मिट्टीके आबखोरे न बना लेगा, तबतक प्यारेके लाल अधरोंतक तू न पहुँच सकेगा।

जबतक कलमके समान सिर चाकूके नीचे न रख दोगे, कदापि उस प्यारेकी अँगुलियोंतक नहीं पहुँच सकते।

जबतक मेंहदीके समान पत्थरके नीचे पिस न जाओगे, तबतक प्यारेके चरणोंतक कदापि नहीं पहुँच सकते।

जबतक फूलकी तरह डालीसे अलग नहीं किये जाओगे, प्यारेतक किसी सूरतसे पहुँच नहीं सकते।

बाँसुरीके समान [illegible] अहंकारसे खाली हो जाओगे नहीं तो, बाँसुरी बजानेवाले प्यारेके ओठोंका चुम्बन लेना कदापि सम्भव नहीं।

× × ×

भारत-प्रेम

ऐ [illegible] हुए हैं! [illegible] है। [illegible] उस [illegible] अच्छा हो, [illegible]

संन्यासी, अछूत इत्यादि भारत-संतानके प्रत्येक बच्चेके रूपमें देखता और पूजता हूँ। ऐ भारत माता! मैं तेरे प्रत्येक रूपमें तेरी उपासना करता हूँ। तू ही मेरी गङ्गा है, तू ही मेरी कालीदेवी है, तू ही मेरी इष्टदेवी है और तू ही मेरा शालग्राम है। भगवान् कृष्णचन्द्र, जिनको भारतकी मिट्टी खानेकी रुचि थी, उपासनाकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि जिनका मन अव्यक्तकी ओर लगा हुआ है, उनके लिये बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि अव्यक्तका रास्ता प्रत्येकके लिये अत्यन्त कठिन है।

ऐ मेरे प्यारे कृष्ण! मुझे तो अब उस देवताकी उपासना करने दे जिसकी समस्त पूँजी एक बूढ़ा बैल, एक टूटी हुई चारपाई, एक पुराना चिमटा, थोड़ी-सी राख, नाग और एक खाली खोपड़ी है। क्या यह महिम्न-स्तोत्रके महादेव हैं! नहीं, नहीं! ये तो साक्षात् नारायण-स्वरूप भूखे भारतवासी हैं। यही मेरा धर्म है और भारतके प्रत्येक मनुष्यका यही धर्म, यही साधारण मार्ग, यही व्यावहारिक वेदान्त और यही भगवान्‌की भक्ति होनी चाहिये। केवल कोरी शाबाशी देने या थोड़ी-सी सहिष्णुता दिखानेसे काम नहीं चलेगा। भारतमाताके प्रत्येक पुत्रसे मैं ऐसा क्रियात्मक सहयोग चाहता हूँ जिससे वह चारों ओर दिन-प्रति दिन बढ़नेवाले शक्ति और जीवनका संचार कर सके। संसारमें कोई भी बच्चा शिशुपनके बिना युवावस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता। इसी तरह कोई भी मनुष्य उस समयतक विराट् भगवान्से अभेद होनेके आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता, जबतक कि समस्त राष्ट्रके साथ अभेदभाव उसकी नस-नसमें पूरा जोश न मारने लगे। भारत माताके प्रत्येक पुत्रको [illegible] इस दृष्टिसे तैयार रहना चाहिये कि 'समस्त देशकी सेवाके ही [illegible] शरीर है।' भारतवर्षका प्रत्येक नगर, नदी, वृक्ष, पहाड़ और प्राणी देवता माना जाता और इसी भावसे पूजा जाता है। क्या अभी यह समय नहीं आया जब हम अपनी मातृभूमिको देवी मानें और [illegible] प्रत्येक [illegible] सम्पूर्ण [illegible] देश और [illegible] कर दें। जब प्राण-प्रतिष्ठा करके [illegible] मूर्तियोंकी प्रतिमाको [illegible] मान लेते हैं, तो क्या यह ठीक नहीं कि हम अपनी मातृभूमिकी प्रतिमाको प्रतिष्ठित करें और [illegible] प्रतिष्ठा करें! आओ, [illegible] हम अपने [illegible] को एक करें, फिर हमारे लिये और हम अपने [illegible] सकेंगे।

× × ×

ईश्वरानुभवके लिये संन्यासीका-सा भाव रक्खो । भारत-माताकी महान् आत्मासे अपनी लघु आत्माको अभेद करते हुए अपने स्वार्थका नितान्त त्याग करो । ईश्वरानुभव अर्थात् परमानन्दको पानेके लिये सच्चे ब्राह्मण बनो, अर्थात् अपनी बुद्धिको देश हित-चिन्तनमें अर्पण करो । आत्मानन्दके अनुभवके लिये सच्चे क्षत्रिय बनो, अर्थात् अपने देशके लिये प्रतिक्षण अपने जीवनकी आहुति देनेको तैयार रहो। परमात्माको पानेके लिये सच्चे वैश्य बनो, अर्थात् अपनी सारी सम्पत्तिको केवल राष्ट्रकी धरोहर समझो । इहलोक या परलोकमें राम भगवान् या पूर्णानन्दको प्राप्त करनेके लिये अपने परोक्ष धर्मको अपरोक्षरूप (व्यावहारिक) बनाओ, अर्थात् तुमको पूर्ण संन्यास-भाव ग्रहणकर सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी शूरवीरता धारण करनी होगी। और जो सेवा पहले पवित्र शूद्रोंका कर्तव्य था, उसे अपने हाथ-पैरोंसे स्वीकार करना होगा। अछूत जातियोंके कर्तव्य-पालनमें संन्यासी-भावका संयोग होना चाहिये। आजकल कल्याणका केवल एक यही द्वार है।

× × ×

'यदि सूर्य मेरी दाहिनी ओर और चन्द्र मेरी बायीं ओर खड़े हो जायँ और मुझे पीछे हटनेको कहें, तो भी मैं उनकी आज्ञा कदापि-कदापि नहीं मानूँगा ।'

हम रूखे टुकड़े खायेंगे, भारत पर वारे जायेंगे।
हम सूखे चने चबायेंगे, भारत की बात बनायेंगे ॥
हम नंगे उमर बितायेंगे, भारत पर जान मिटायेंगे।
सूलों पर दौड़े जायेंगे, काँटों को राह बनायेंगे ॥
हम दर-दर धक्के खायेंगे, आनँद की झलक दिखायेंगे।
सब रिश्ते-नाते तोड़ेंगे, दिल इक आतम-सँग जोड़ेंगे ॥
सब विषयों से मुँह मोड़ेंगे, सिर सब पापों का फोड़ेंगे।

सत्य

सत्य किसी व्यक्ति-विशेषकी सम्पत्ति नहीं है; सत्य ईसाकी जागीर नहीं है; हमें ईसाके नामसे सत्यका प्रचार नहीं करना चाहिये। सत्य कृष्ण अथवा किसी दूसरे व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं है। वह तो प्रत्येक व्यक्तिकी सम्पत्ति है।

सत्य तो वह है जो तीनों कालोंमें एक समान रहता है, जैसा कल था, वैसा ही आज है और वैसा ही सदा आगे रहेगा। किसी घटना-विशेषसे उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

आप सत्यको प्राप्त कर सकें, आप ब्रह्मत्वका अनुभव कर सकें, इसके लिये यह जरूरी है कि आपकी प्यारी-से-प्यारी अभिलाषाएँ और आवश्यकताएँ पूर्णतः छिन्न-भिन्न कर दी जायँ, आपकी जरूरतें और प्यारी-से-प्यारी ममताएँ, आसक्तियाँ आपसे पृथक् कर दी जायँ और आपके चिर-परिचित अन्धविश्वास मटियामेट कर दिये जायँ । इनसे आपका, आपके शरीरका कोई सम्बन्ध न रहे।

तुम एकमात्र सत्यपर आरूढ़ हो, इस बातसे भयभीत मत हो कि अधिकांश लोग तुम्हारे विरुद्ध हैं।

सम्पूर्ण सत्यको ग्रहण करनेके लिये तुम्हें सांसारिक इच्छाओंका त्याग करना होगा, तुम्हें सांसारिक राग-द्वेषसे ऊपर उठना होगा। अपने उन सारे रिश्ते-नातोंको नमस्कार करना पड़ेगा, जो तुम्हें बाँधकर गुलाम बनाते और नीचे घसीटते हैं। यही साक्षात्कारका मूल्य है। जबतक मूल्य अदा न करोगे, सत्यको नहीं पा सकते।

त्याग

त्याग तो आपको सर्वोत्तम स्थितिमें रखता है; आपको उत्कर्षकी स्थितिमें पहुँचा देता है।

त्याग निश्चय ही आपके बलको बढ़ा देता है; आपकी शक्तियोंको कई गुना कर देता है; आपके पराक्रमको दृढ़ कर देता है; नहीं—आपको ईश्वर बना देता है। वह आपकी चिन्ताएँ और भय हर लेता है। आप निर्भय तथा आनन्दमय हो जाते हैं।

स्वार्थपूर्ण और व्यक्तिगत सम्बन्धोंको त्याग दो; प्रत्येक-में और सबमें ईश्वरत्वको देखो; प्रत्येकमें और सबमें ईश्वरके दर्शन करो।

त्याग क्या है ? अहंकारयुक्त जीवनको त्याग देना। निःसंशय और निःसंदेह अमर जीवन व्यक्तिगत और परिच्छिन्न जीवनको खो डालनेसे मिलता है।

वेदान्तिक त्याग कैसे हो ? आपको सदा त्यागकी चट्टानपर ही खड़ा होना पड़ेगा; अपने-आपको इस उत्कर्ष दशामें दृढतापूर्वक जमा कर, जो काम सामने आवे, उसके प्रति अपने आपको पूर्णतः अर्पण करना होगा। तब आप थकेंगे नहीं; फिर कोई भी कर्तव्य हो, आप उसे पूरा कर सकेंगे।

त्यागका आरम्भ सबसे निकट और सबसे प्रिय वस्तुओंसे

करना चाहिये। जिसका त्याग करना परमावश्यक है, वह है मिथ्या अहंकार अर्थात् 'मैं यह कर रहा हूँ', 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ' यही भाव हममें मिथ्या व्यक्तित्वको उत्पन्न करते हैं—इनको त्याग देना होगा।

त्याग आपको हिमालयके घने जंगलमें जानेका आदेश नहीं देता; त्याग आपसे कपड़े उतार डालनेका आग्रह नहीं करता; त्याग आपको नंगे पाँव और नंगे सिर घूमनेके लिये नहीं कहता।

त्याग न तो अकर्मण्य, लाचारी और नैराश्यपूर्ण निर्बलता है और न दर्पपूर्ण तपश्चर्या ही। ईश्वरके पवित्र मन्दिर अर्थात् अपने शरीरको बिना प्रतिरोध मांसाहारी निर्दयी भेड़ियोंको खाने देना कोई त्याग नहीं है!

त्यागके अतिरिक्त और कहीं वास्तविक आनन्द नहीं मिल सकता; त्यागके बिना न ईश्वर-प्रेरणा हो सकती है, न प्रार्थना।

ईश्वरत्व और त्याग पर्यायवाची शब्द हैं। संस्कृति और सदाचार उसकी बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं।

अहंकारपूर्ण जीवनका छोड़ देना ही त्याग है और यही सौन्दर्य है।

हृदयकी शुद्धताका अर्थ है अपने-आपको सांसारिक पदार्थोंकी आसक्तिसे अलग, पृथक् रखना। त्यागका अर्थ इससे रंचमात्र कम नहीं।

यह शरीर मेरा है—इस अधिकार-भावको छोड़ दो, सारे स्वार्थपूर्ण सम्बन्धोंको, 'मेरे' और 'तेरे' के भावोंको छोड़ दो। इनसे ऊपर उठो।

त्यागके भावको ग्रहण करो और जो कुछ प्राप्त हो, उसे दूसरोंपर प्रकाशित करो। स्वार्थपूर्ण शोषण मत करो। ऐसा करनेसे आप अवश्य ही श्वेत, उज्ज्वल हो जायँगे।

कामनासे रहित कर्म ही सर्वोत्तम त्याग अथवा पूजन है।

इच्छाका त्याग

इच्छाओंका त्याग कर दो; उनसे ऊपर उठो; आपको दुगुनी शान्ति मिलेगी—तात्कालिक विश्रान्ति और अन्तमें इच्छित फल। स्मरण रक्खो कि आपकी कामनाएँ तभी सिद्ध होंगी, जब आप उनसे ऊपर उठकर परम सत्यमें पहुँचेंगे। जब आप जानकर या अनजाने अपने-आपको सत्यमें लीन कर देते हैं, तभी और केवल तभी आपकी कामनाओंके पूर्ण होनेका काल सिद्ध होता है।

आपका कर्म सफल हो, इसके लिये आपको उसके परिणामपर ध्यान नहीं देना चाहिये, आपको उसके फलकी परवा नहीं करनी चाहिये। साधन और उद्देश्यको मिलाकर एक कर दो; काम ही आपका उद्देश्य या लक्ष्य बन जाय।

बस, परिणाम और फलकी परवा मत करो। सफलता अथवा असफलता मेरे लिये कुछ नहीं है, मुझे काम जरूर करना होगा; क्योंकि मुझे काम प्यारा लगता है। मुझे काम केवल कामके लिये ही करना चाहिये। काम करना मेरा उद्देश्य है; कर्ममें प्रवृत्त रहना ही मेरा जीवन है। मेरा स्वरूप, मेरी असली आत्मा स्वयं शक्ति है। अतः मुझे काम करना ही होगा।

परिणामके लिये चिन्ता मत करो, लोगोंसे कुछ भी आशा न रक्खो; अपने कामपर अनुकूल अथवा प्रतिकूल आलोचनाके विषयमें व्याकुल मत होओ।

जब आप इच्छाओंको छोड़ देते हैं, तभी, केवल तभी वे सफल होती हैं। जबतक आप अपनी अभिलाषारूपी धनुषडोरीको तनी रक्खेंगे, अर्थात् इच्छा, आकाङ्क्षा और अभिलाषा करना जारी रक्खेंगे, तबतक तीर दूसरे पक्षके वक्षःस्थलतक कैसे पहुँचेगा। ज्यों-ही आप उसे छोड़ देते हैं, त्यों-ही यह सम्बन्धित प्रतिपक्षीके हृदयको भेद देता है।

हृदयको पवित्र करो

मित्रोंद्वारा और शत्रुओंद्वारा किया हुआ दुःखदायी छिद्रान्वेषण आपको अपने सच्चे आत्माके प्रति सतेज कर सकता है, जैसे कि रातके भयानक स्वप्न आपको यकायक जगा देते हैं।

आपको इसी क्षण, इसी घड़ी साक्षात्कार हो सकता है। बस, अपनी आसक्तियोंको हटा दो। साथ ही सब प्रकारकी घृणा और ईर्ष्याको छोड़ दो; आप मुक्त हैं।

ईर्ष्या क्या है, घृणा क्या है? आसक्तिका विलोम या विपर्यय! हम किसीसे घृणा क्यों करते हैं; क्योंकि हमें किसी दूसरेसे मोह होता है।

सदा याद रखिये कि जब आप ईर्ष्या और द्वेष, छिद्रान्वेषण और दोषारोपण, घृणा और निन्दाके विचार अपनेसे बाहर किसीके प्रति भेजते हैं, तो

अपनी ओर बुलाते हैं। जब कभी आप अपने भाईकी आँखमें तिनका खोजते हैं, तभी आप अपनी आँखमें ताड़ खड़ा कर लेते हैं।

छिद्रान्वेषणकी कैंचीसे जब कभी आपकी भेंट हो, तब आप झट अपने भीतर दृष्टि डाल कर देखें कि वहाँ कैसे-कैसे भाव उदय हो रहे हैं।

शरीरसे ऊपर उठो। समझो और अनुभव करो कि मैं अनन्त हूँ, परम आत्मा हूँ और इसलिये मुझपर मनोविकार और लोभ भला कैसे प्रभाव डाल सकते हैं।

अपने चित्तको शान्त रक्खो, अपने मनको शुद्ध विचारोंसे भर दो। तब कोई भी आपके विरुद्ध खड़ा नहीं हो सकता। ऐसा दैवी विधान है।

हृदयकी पवित्रताका अर्थ है अपने-आपको सांसारिक पदार्थोंकी आसक्तियोंसे मुक्त कर लेना। उन्हें त्याग देना। हाँ, त्याग, त्याग इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं—यही हृदयकी पवित्रताका अर्थ है।

धन्य हैं वे, जिनका हृदय पवित्र है; क्योंकि वे ईश्वरके दर्शन करेंगे। आप भी इस पवित्रताको प्राप्त कीजिये और ईश्वरके दर्शन कीजिये।

दूसरोंके साथ बर्ताव

यदि आप मनुष्यकी पूजा करें; दूसरे शब्दोंमें, यदि आप मनुष्यको मनुष्य नहीं, ईश्वररूप मानें; यदि आप सभीको ईश्वररूप, परमात्मारूप समझें और इस प्रकार मनुष्यकी उपासना करें, तो यह ईश्वरकी उपासना होगी।

जो कोई आपके पास आये, ईश्वर समझकर उसका स्वागत करो, परंतु साथ ही साथ अपनेको भी अधम मत समझो। यदि आज आप मदीखानेमें पड़े हैं तो कल आप प्रतापवान् भी हो सकते हैं।

लोग चाहे आपसे [illegible] रक्खें; चाहे आपको नाना प्रकारकी [illegible] दें और चाहे आपको बदनाम करें; पर उनकी घृणा और क्रोध, उनकी धमकियों, [illegible] और [illegible] के होते हुए भी आपके [illegible] लिये, [illegible] चाहिये। आपके [illegible] प्रकट करना चाहिये, जिससे उनके लिये [illegible] प्रकार दृढ़ और [illegible] सिद्ध नहीं हो सकता।

दूसरोंके प्रति आपका क्या कर्तव्य है? जब लोग बीमार पड़ जायँ तो उनको अपने पास ले आओ और जिस प्रकार आप अपने शरीरके घावोंकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं, उसी प्रकार उनके घावोंको अपना घाव समझकर उनकी सेवा-टहल करो।

प्रेम और मैत्री

प्रेमका अर्थ है व्यवहारमें अपने पड़ोसियोंके साथ, उन लोगोंके साथ जिनसे आप मिलते-जुलते हैं, एकता और अभेदताका अनुभव करना।

सच्चा प्रेम सूर्यके समान आत्माको विकसित कर देता है। मोह मनको पालेके समान ठिठुराकर सङ्कुचित कर डालता है।

प्रेमको मोह मत समझो। प्रेम और है, मोह और है। इन्हें एक समझना भूल है।

विषय-वासनाहीन प्रेम ही आध्यात्मिक प्रकाश है।

प्रेम ही एकमात्र दैवी विधान है। और सब विधान केवल मुख्तलिफ दस्तूर हैं। केवल प्रेमको ही नियम मान करनेका अधिकार है।

'प्रेम' इस हदतक गलत समझा गया है कि प्रेम शब्दके उच्चारणमात्रसे ही प्यारे लोगोंके हृदयोंमें दिव्य ईश्वरीय स्फूर्तिकी जगह व्याकुलता और अपूर्णताके भाव उदय होने लगते हैं।

जिस मनुष्यने कभी प्रेम नहीं किया, वह कदापि ईश्वरानुभव नहीं कर सकता। यह एक तथ्य है।

दिखावटी प्रेम, झूठी मुस्कानें और कृत्रिम अनुराग—ये सब ईश्वरके प्रति अपराध हैं।

[illegible] क्या है? [illegible]

यह सच है कि [illegible]

[illegible]

व्यावहारिक—अमली वेदान्त

व्यावहारिक अथवा अमली वेदान्त क्या है—

१. साहसपूर्ण आगे बढ़नेवाला परिश्रम, न कि जकड़ देनेवाला आलस्य।

२. काममें आराम, न कि थकानेवाली बेगार वृत्ति।

३. चित्तकी शान्ति, न कि संशयरूपी घुन।

४. संघटन, न कि विघटन।

५. समुचित सुधार, न कि लकीरके फकीर।

६. गम्भीर और सत्य भावना, न कि लच्छेदार बातें।

७. तथ्य और सत्यभरी कविता, न कि कपोल-कल्पित कहानियाँ।

८. घटनाओंके आधारपर तर्क, न कि केवल प्राचीन लेखकोंके प्रमाण।

९. जीता-जागता अनुभव, न कि जीवनशून्य वचन।

यही सब मिलकर व्यावहारिक वेदान्त बनता है।

सुधारकके प्रति

ऐ नवयुवक भावी सुधारको! भारतवर्षके प्राचीन धर्म और रीति-रिवाजका अपमान न करो। भारतवासियोंमें फूटका नया बीज बोनेसे इनमें एकताका लाना अत्यन्त कठिन हो जायगा। भारतवर्षकी भौतिक अवनति भारतके धर्म एवं परमार्थ-निष्ठाका दोष नहीं है; वरं भारतकी विकसित और हरी-भरी फुलवारियाँ इसलिये लुट गयीं कि उनके आस-पास काँटों और झाड़ियोंकी बाड़ नहीं थी। काँटों और झाड़ियोंकी बाड़ अपने खेतोंके चारों ओर लगा दो, किंतु उन्नति और सुधारके बहाने सुन्दर गुलाबके पौधों और फलवाले वृक्षोंको न काट डालो। प्यारे काँटो और झाड़ियो! तुम मुबारक हो, तुम्हीं इन हरे-भरे लहलहाते हुए खेतोंके रक्षक हो। तुम्हारी इस समय भारतवर्षमें बहुत जरूरत है।

ऐ नवयुवक भावी सुधारक! तू भारतवर्षकी प्राचीन रीतियों और परमार्थनिष्ठाकी निन्दा मत कर। निरन्तर विरोधके नये बीज बोनेसे भारतवर्षके मनुष्य एकता प्राप्त नहीं कर सकते।

जो मनुष्य लोगोंका नेता बननेके योग्य होता है, वह अपने सहायकोंकी मूर्खता, अपने अनुगामियोंकी विश्वासघातकता, मानव-जातिकी कृतघ्नता और जनताकी गुण-ग्राहकहीनताकी कभी शिकायत नहीं करता।

भूले-भटकोंके उद्धारमें लगनेवाले आप कौन हैं? क्या स्वयं आपका उद्धार हो चुका है?

जो शक्ति हम दूसरोंकी जाँच-पड़ताल करनेमें नष्ट करते हैं, उसे हमें अपने आदर्शके अनुसार चलनेमें लगाना चाहिये।

ज्यों-ही हम संसारके सुधारक बननेके लिये खड़े होते हैं, त्यों-ही हम संसारके बिगाड़नेवाले बन जाते हैं।

विवाह और पति-पत्नीका सम्बन्ध

यह मत कहो कि विवाह और धर्ममें विरोध है, वरं जिस प्रकार आत्मानुभवका जिज्ञासु सच्चे परमानन्द, तत्त्व वस्तु और मूल तत्त्वोंपर विचार करता है, उसी प्रकार (विवाहावस्थामें) देखो कि आनन्दकी शुद्ध अवस्था क्या है और असली आत्मा क्या है।

ऐसे विवाह-सम्बन्ध, जो केवल मुखके रंग-रूप, आकार-प्रकार अथवा शारीरिक सौन्दर्यकी आसक्तिसे उत्पन्न होते हैं, अन्तमें हानिकारक और बहुत ही निरानन्द सिद्ध होते हैं।

पतिका उद्देश्य होना चाहिये कि वह अपने वैवाहिक सम्बन्धको उच्चतर और सात्त्विक बनाये। विलासिता और पारिवारिक सम्बन्धोंके दुरुपयोगसे मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है।

जबतक पति और पत्नियाँ एक-दूसरेके लिये परस्पर मुक्तिदाता बनना अङ्गीकार नहीं करते, तबतक संसारभरकी धर्म-पुस्तकें कुछ लाभ नहीं कर सकतीं।

जबतक पत्नी पतिका वास्तविक हित-साधन करनेको तत्पर न हो और पति पत्नीकी कुशल-क्षेमकी वृद्धिके लिये उद्यत न हो, तबतक धर्मकी उन्नति नहीं हो सकती; तबतक धर्मके लिये कोई आशा नहीं है।

अपना पर्दा आप ही

सच है, जबतक अपने-आपको स्वयं लेक्चर नहीं दोगे, दिलकी लगन क्यों बुझनेकी है!

तो खुद हिजाबे-खुदी पै दिल! अज़ मियाँ बर खेज़।

'अपना आवरण तू आप बना हुआ है, अतएव ऐ दिल! अपने भीतरसे तू आप जाग।'

हमबगल तुझसे रहता है, हर आन 'राम' तो।
बन परदा अपनी वस्ल में हायल हुआ है तू॥

अपने हाथोंमें अपना मुँह कबतक ढाँपोगे!

बर चेहरा-ए तो नक़ाब न बूद।
बर पहलू ए-यार-रक़ीब दरे॥

'तेरे चेहरेपर परदा कबतक रहेगा, सूर्यपर बादल कबतक रहेगा ?'

'एकमेवाद्वितीयम्'

रो-रोकर रुपयाको इकट्ठा करना और उससे जुदा होते समय फिर रोना, यह रुपयेके पीछे पागल बनना अनुचित है। अपने स्वरूपके धनको सँभालो। बात-बातमें 'लोग क्या कहेंगे', 'हाय! अमुक व्यक्ति क्या कहेगा'—इस भयसे सूखते जाना, औरोंकी आँखोंसे दूर बातका अंदाजा लगाना, केवल जनताकी सम्मतिसे सोचना, अपनी निजी आँख और निजी समझको खोकर मूर्ख और पागल बनना अनुचित है। मिटाओ द्वैतका नाम और चिह्न और अपने-आपको सँभालो। दीवाली घड़ीके पेंडुलमके अनुसार दुःख और सुखमें थरथराते रहना हताश कर देनेवाला पागलपन है। इसे जाने दो। अपने अकाल स्वरूपमें स्थित हो जाओ।

धनमें, भूमिमें, संततिमें, मानमें और संसारकी सैकड़ों वस्तुओंमें प्रतिष्ठा ढूँढ़नेवालो! तुम्हारे सैकड़ों उत्तर सब-के-सब अशुद्ध हैं। एक ही ठीक उत्तर तब मिलेगा, जब अहंकारको छोड़, देह और देहाध्यासके भावको ध्वंस कर और द्वैत—भिन्न दृष्टिको त्यागकर सच्चे तेज और प्रतापको सँभालोगे। इस प्रकार और केवल इस प्रकार अन्यका नाम नहीं रहने पाता, द्वैत और नानात्वका चिह्न बाकी नहीं रहता। परम स्वतन्त्र, परम स्वतन्त्र एकमेवाद्वितीयम्, एकमेवाद्वितीयम्।

× × ×

क्लेश और दुःख क्या है ? पदार्थोंको परिच्छिन्न दृष्टिसे देखना, अहंकारकी दृष्टिसे पदार्थोंका अवलोकन करना। केवल इतनी ही विपत्ति संसारमें है और कोई नहीं। संसारी लोगो! विश्वास करो, दुःख और क्लेश केवल तुम्हारा ही बनाया हुआ है; अन्यथा संसारमें वस्तुतः कोई विपत्ति नहीं है।

संसारके बगीचेमें पुष्पसे इतर कुछ नहीं। अपना भ्रम छोड़ो, यही एक काँटा है।

'मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं स्वतन्त्र हूँ, शोकसे नितान्त दूर हूँ। संसार-रूपी बुढ़ियाके नखरे और हाव-भावसे मैं नितान्त मुक्त और परे हूँ। ऐ संसार-रूपी बुढ़िया! यह सुन, नखरे-टखरे मत कर, तुझमें मेरा चित्त आसक्त नहीं।'

ईश्वरमें रहकर कर्म कीजिये

सफलता प्राप्त करनेके लिये, समृद्धिशाली बननेके लिये आपको अपने कामसे, अपने जीवनके दैनिक व्यवहारसे, अपने शरीर और पुट्ठोंको कर्मयोगकी प्रयोगाग्निमें भस्म कर देना होगा, दहन कर देना होगा। आपको अवश्य ही उनका प्रयोग करना होगा, आपको अपना शरीर और मन खर्च करना पड़ेगा। उन्हें जलती हुई अवस्थामें रखना पड़ेगा। अपने शरीर और मनको कर्मकी सलीबपर चढ़ाओ; कर्म करो, कर्म करो; और तभी आपके भीतरसे प्रकाश प्रदीप्त होगा।

शरीर निरन्तर काममें लगा रहे और मन आराम और प्रेममें डूबा रहे, तो आप यहीं इस जीवनमें पाप और तापसे मुक्ति पा सकते हैं।

ईश्वर आपके द्वारा काम करने लगे। फिर आपके लिये कर्तव्य-जैसी कोई चीज न रहेगी। ईश्वर आपके भीतरसे चमकने लगे; ईश्वर आपके द्वारा प्रकट हो; ईश्वरमें ही रहिये-सहिये; ईश्वरको खाइये और ईश्वरको ही पीजिये; ईश्वरमें श्वास लीजिये और सत्का साक्षात् कीजिये। शेष काम अपने आप होते रहेंगे।

राम आपसे कहता है, अपना कर्तव्य करो, पर न कोई प्रयोजन हो और न कोई इच्छा। अपना काम भर करो; काममें ही रस लो; क्योंकि काम स्वयं सुखरूप है; क्योंकि ऐसा काम ही साक्षात्कारका दूसरा नाम है।

अपने काममें जुट जाओ; क्योंकि काम तो तुम्हें करना ही होगा। काम ही तुम्हें साक्षात्कारपर पहुँचा देगा। इसके सिवा कामका और कोई हेतु न होना चाहिये।

परमानन्द—सुख

अनन्त ही परमानन्द है। किसी अन्तवान्‌मे परमानन्द नहीं होता। जबतक आप अन्तवान् हैं, तबतक आपको परमानन्द, परम सुख नहीं मिल सकता। अनन्त ही परमानन्द है, केवल अनन्त ही परमानन्द है।

आपके ही भीतर सच्चा आनन्द है। आपके ही भीतर दिव्यामृतका महासागर है। इसे अपने भीतर ढूँढ़िये, अनुभव कीजिये। भान कीजिये कि वह और भीतर है। आत्मा न तन है, न मन है, न बुद्धि है, न मस्तिष्क है, न इच्छाएँ हैं, न इच्छा-प्रवृत्ति हैं और न इच्छित पदार्थ; आप इन सबसे ऊपर हैं। ये सब प्रादुर्भावमात्र, नाम-रूप हैं। आप ही मुसकराते हुए फूलों और चमचमाते हुए तारोंके रूपमें प्रकट होते हैं। इस

संसारमें ऐसी कौन चीज है, जो आपमें किसी अभिलाषाको उत्पन्न कर सके।

सोना और लोहा खरीदनेके लिये ही ठीक हैं; बस, इससे अधिक उनका उपयोग नहीं। आनन्द इन भौतिक पदार्थोंकी श्रेणीमें नहीं है, अतः यह सोने और चाँदीसे कदापि, किसी प्रकार मोल नहीं लिया जा सकता।

जो ऐसा मानते हैं कि उनका आनन्द कुछ विशेष परिस्थितियोंपर अवलम्बित है, वे देखेंगे कि सुखका दिन सदा उनसे दूर-ही-दूर हटता जाता है। अगिया बेतालके समान निरन्तर उनसे भागता रहता है।

महान् सुखी और धन्य है वह, जिसका जीवन निरन्तर बलिदान है।

सुखी है वह जो निरहंकार जीवनके स्वागको स्त्री और पुरुषकी भीड़में वैसा ही प्रेरक देखता है जैसा वह गुलाबकी वाटिकाओं और शाहबलूतके बागोंमें गौर लेता है। वही संसारको स्वर्गीय उपवनमें बदल देता है।

परमानन्दका सागर लहरा उठा

ऐ परमानन्दके महासागर! उठो, खूब मौजसे लहरें लो और तूफान बरपा करो। पृथ्वी और आकाशको एक कर दो। विचारों और चिन्ताओंको डुबा दो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो, तितर-बितर कर दो। मुझे क्या प्रयोजन!

हटो! ऐ सबलो और इच्छाओ! हटो! तुम संसारकी क्षणभंगुर प्रशंसा और धनसे सम्बन्ध रखती हो। शरीर चाहे जिस दशामें रहे, मुझे उससे कोई वास्ता नहीं। मेरे शरीर मेरे ही हैं।

अरे, चोर! अरे, निन्दक, प्यारे डाकू! आओ, स्वागत, शीघ्र आओ; डरते क्यों हो!

मेरा अपना आप तेरा है और तेरा अपना आप मेरा है।

अच्छा जाने दो, यदि तुम चाहो तो, लुटाने ले जाओ इन वस्तुओंको जिनको तुम मेरी समझते हो। और यदि उचित समझो तो, एक ही चोटसे इस देहको मार डालो, और उसके टुकड़े टुकड़े कर डालो।

> शरीरको ले जाओ और जो कुछ कर सको, कर डालो।
> धन, नाम और इज्जतकी [illegible] मत करो!
> ले जाओ इन्हें! और [illegible] डालो!
> फिर भी देखोगे, मैं ही एक अखण्ड पूर्ण [illegible] और स्वच्छ हूँ।
> नमस्कार! प्यारे! नमस्कार!

फुटकर वचन

हे सत्यके जिज्ञासुओ! राम तुमको विश्वास दिलाता है कि यदि तुम आत्मिक परिश्रममें रात-दिन लगे रहोगे, तो तुम्हारी शारीरिक आवश्यकताएँ अपने-आप निवृत्त पड़ी होंगी। तुम्हें कुछ आवश्यकता नहीं कि तुम अपने असली आसनको छोड़कर चपरासी और दास लोगोंके कामको अपना धर्म मान बैठो।

संसारमें नियम है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यका पद ऊँचा होता है, शारीरिक श्रम और स्थूल (मोटे) काममें उपरामता मिलती जाती है। जैसे जज इस प्रकारका कोई काम नहीं करता, पर जजकी उपस्थितिसे ही सब काम पड़े होते हैं; जजका साक्षी होना ही चपरासियों, मुकदमे वालों और अरजीनवीसों इत्यादिको हलचलमें डाल देता है, वैसे ही कर्ता भोक्ताकी पूँछको उतारकर सचाईके उन्मादमें मग्न और सबकी साक्षी-रूप निर्लिप्त होना ही काम-धंधेको पड़ा चलाता है। जिस साक्षीके भयसे चन्द्र-सूर्य प्रकाश करते हैं, जिसके भयसे नदियाँ बहती हैं, जिसकी आज्ञासे वायु चलती है, ऐसे साक्षीको कामना और चिन्तासे क्या प्रयोजन।

× × ×

हृदयसे काम लो। माया कुछ वस्तु ही नहीं। जब तुम पलककी ओटमें [illegible] छिपा देते हो। जब आत्माका समुद्र अपार अनन्त है, तो कौन-सा हिमालय है जिसको कुदाल [illegible] कंकड़की तरह [illegible] नहीं ले जा सकता। वह कौन-सा समुद्र है जिसे तुम नहीं सुखा सकते। वह कौन-सा सूर्य है जिसे [illegible] नहीं [illegible] सकते!

> वह कौनसा उकदा है जो वा हो नहीं सकता।
> हिम्मत करे इन्सान, तो क्या हो नहीं सकता॥

× × ×

[illegible]

नहीं, कदापि नहीं। दीपक जल पड़नेसे पतंगे आप-ही-आप उसके आस-पास आने शुरू हो जाते हैं। चश्मा जहाँ वह निकलता है, प्यास बुझानेवाले वहाँ स्वयं जाने लग पड़ते हैं। फूल जहाँ खिल पड़ा, भौंरे आप-ही-आप उधर खिंचकर चले आते हैं। इसी प्रकार जिस देशमें धर्म (ईश्वरका नाम) रोशन हो जाता है, तो संसारके सर्वोत्तम पदार्थ, वैभव आप ही खिंचे हुए उस देशमें चले आते हैं। यही कुदरतका कानून है, यही प्रकृतिका नियम है।

सफलतापूर्वक जीवित रहनेका रहस्य है अपना हृदय मातृवत् बना लेना, क्योंकि माताको तो अपने सभी बच्चे, छोटे या बड़े, प्यारे लगते हैं।

अपने हृदयमें विश्वासकी अग्निको प्रज्वलित रक्खे बिना, ज्ञानकी मशाल जलाये बिना आप कोई भी काम पूरा नहीं कर सकते, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते।

जिस समय सब लोग तुम्हारी प्रशंसा करेंगे, वह समय तुम्हारे रोनेका होगा; क्योंकि इसी प्रकार झूठे पैगम्बरोंके पिताओंने उनकी प्रशंसा की थी।

धन्य हैं वे लोग जो समाचार-पत्र नहीं पढ़ते, क्योंकि उनको प्रकृतिके दर्शन होंगे, और फिर प्रकृतिके द्वारा पुरुषके दर्शन होंगे।

प्रार्थना करना कुछ शब्दोंका दुहराना नहीं है। प्रार्थना-का अर्थ है परमात्माका मनन और अनुभव करना।

जितना अधिक आपका हृदय सौन्दर्यके साथ एकस्वर होकर धड़कता है, उतना ही अधिक आपको यह भान होगा कि समस्त प्रकृतिभरमें आप ही अकेले साँस ले रहे हैं।

लोग तथा अन्य वस्तुएँ तभीतक हमें प्यारी लगती हैं, जबतक वे हमारा स्वार्थ सिद्ध करती हैं, हमारा काम निकालती हैं। जिस क्षण हमारे स्वार्थके सिद्ध होनेमें गड़बड़ होती है, उसी क्षण हम सब कुछ त्याग देते हैं।

किसी अत्यन्त एकान्त गुफामें कोई पाप करें, आप अविलम्ब यह देखकर चकित होंगे कि आपके पैरों तलेकी घास खड़ी होकर आपके विरुद्ध साक्षी देती है। आप अविलम्ब देखेंगे कि आसपासकी दीवारों और वृक्षोंमें जीभ लग गयी है और वे बोलते हैं। आप प्रकृतिको, ईश्वरको धोखा नहीं दे सकते। यह अटल सत्य है और यही दैवी विधान है।

शक्तिशाली मुद्रामें विश्राम मत करो, ईश्वरपर भरोसा रक्खो। इस पदार्थपर अथवा उस पदार्थपर भरोसा न करो। ईश्वरमें विश्वास करो। अपने स्वरूप, अपने आत्मामें विश्वास करो।

जहाँ कहीं रहो, दानीकी हैसियतसे काम करो; भिक्षुक-की हैसियत कदापि ग्रहण मत करो, जिससे आपका काम विश्वव्यापी काम हो, उसमें व्यक्तित्वकी गन्ध भी न रहे।

अहंकारी मत बनो, घमंडी मत बनो। यह कभी मत समझो कि आपकी परिच्छिन्न आत्मा किसी वस्तुकी स्वामी है। सब कुछ आपकी असली आत्मा, ईश्वरकी वस्तुएँ हैं।

जो व्यक्ति कल्पनाओंमें निवास करता है, वह भ्रम और आधि-व्याधिके संसारमें निवास करता है, और चाहे वह बुद्धिमान् और पण्डित ही क्यों न जान पड़े, परंतु उसकी बुद्धिमत्ता और पाण्डित्य उस लकड़ीके लट्ठेके समान खोखले हैं जिसे दीमकने खा लिया हो।

जैसा आप सोचते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। अपने-आपको पापी कहो, तो अवश्य ही पापी बन जाओगे; अपनेको मूर्ख कहो, तो अवश्य ही आप मूर्ख हो जाओगे; अपनेको निर्बल कहो, तो इस संसारमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो आपको बलवान् बना सके। अपने सर्वशक्तित्व-को अनुभव करो, तो आप सर्वशक्तिमान् हो जाते हैं।

अपने प्रति सच्चे बनिये और संसारकी अन्य किसी बातकी ओर ध्यान न दीजिये।

बिना काँटे गुलाब नहीं होता, वैसे ही इस संसारमें विशुद्ध भलाई भी अलभ्य है। जो पूर्णरूपसे शुभ है, वह तो केवल परमात्मा है।

एक-एक करके हमें अपने सम्बन्धोंको काटना होगा, बन्धनोंको यहाँतक तोड़ना पड़ेगा कि जब अन्तिम अनुग्रहके रूपमें मृत्यु सामने आये तो हम सभी अनिच्छित पदार्थोंको त्यागकर विजयी हो जायँ।

दैवी विधानका चक्र निर्दयतापूर्वक घूमता रहता है। जो इस विधानके अनुकूल चलता है, वह इसपर सवारी करता है; परंतु जो अपनी इच्छाको ईश्वर-इच्छा, दैवी विधानके विरोधमें अड़ाता है, वह अवश्य ही कुचला जायगा और उसे (यूनानी साहित्यमें वर्णित स्वर्गसे आग चुरानेवाले) प्रोमिथियसके समान पीड़ा भोगनी पड़ेगी (जिसका मांस गिद्धोंसे नुचवाया गया था)।

मुरलीसे मधुर राग निकालना यही है कि अपने सारे

जीवनको मुरली बना लो; अपने सारे शरीरको मुरली बना लो। इसको स्वार्थपरतासे खाली करके इसमें ईश्वरीय स्वास भर दो।

सच तो यह है कि परिस्थिति जितनी ही कठिन होती है, वातावरण जितना ही पीड़ाकर होता है, उन परिस्थितियोंसे निकलनेवाले उतने ही बलिष्ठ होते हैं। अतः इन समस्त बाहरी कष्टों और चिन्ताओंका स्वागत करो। इन परिस्थितियोंमें भी वेदान्तको आचरणमें लाओ। और जब आप वेदान्तका जीवन व्यतीत करेंगे, तब आप देखेंगे कि समस्त वातावरण और परिस्थितियाँ आपके वशमें आ रही हैं। वे आपके लिये उपयोगी हो जायँगी और आप उनके स्वामी बन जायँगे।

यदि आप विषय-वासनासे पथभ्रष्ट हो गये हैं, यदि आप कामुकताके दलदलमें फँसे हुए हैं, तो यही समय है कि अपनी मुर्दा संकल्प-शक्तिको जाग्रत् करके ब्रह्मभावनाको प्राप्त करो और उसे बनाये रक्खो।

तुम एक ही साथ इन्द्रियोंके दास और विश्वके स्वामी नहीं बन सकते।

तुम चाहो कि हम संसारका भी मजा लेते रहें, दुनियाके छोटे-मोटे और गंदे विषय-भोगों एवं पाशविक कामनाओंकी भी तृप्ति करते रहें और साथ-ही-साथ ईश्वर-साक्षात् भी कर लें, तो यह नहीं हो सकता।

आपकी भीतरी कमजोरी क्या है? वह है आपके हृदयमें अज्ञानका ऐसा काला धब्बा जिसके वशीभूत होकर आप अपनेको शरीर और इन्द्रियाँ मान बैठे हैं। इस भ्रमको मिटा दीजिये, दूर कर दीजिये और फिर देखिये—आप स्वयं शक्ति हो जायँगे।

सभा-समाजों और समुदायोंपर भरोसा मत करो। प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह स्वयं अपने भीतरसे बलवान् हो।

दूसरोंकी आँखोंसे अपने आपको देखनेका स्वभाव मिथ्या अहंकार और आत्मश्लाघा कहलाता है।

बुरे विचार, सांसारिक इच्छाएँ झूठे शरीर और झूठे मनसे सम्बन्ध रखती हैं। ये अन्धकारकी चीजें हैं।

श्रीशिवयोगी सर्पभूषणजी

(प्रेषक—के० श्रीहनुमंतराव हरणे)

(१) सत्य और नित्य होकर, लौकिक व्यवहारके भ्रमसे परब्रह्म वस्तुको भूलकर, तू अपना विनाश न कर।

(२) शरीर, पत्नी और पुत्रोंको अपना मानकर, तूने उनमें विश्वास कर रक्खा है। सो (मैं पूछता हूँ) मरणकालमें ये स्वयं तेरे साथ जायँगे अथवा उस द्रव्यको तेरे साथमें भेजेंगे जिसको तूने बटोर-बटोरकर कमाया है? अथवा जो यातनाएँ तुझे नरकमें भोगनी पड़ेंगी, उन यातनाओंसे तुझे ये सब बचायेंगे क्या?

(३) (सोच) तेरा जन्म होनेसे पहले तू कौन था और ये कौन थे? तेरे रहते ये जुदा नहीं होंगे? जब तेरा पुनर्जन्म होगा तब फिरसे आकर ये तेरी सहायता करेंगे क्या? ये दृश्यप्रपञ्च तो कुतियाके स्वप्नके समान हैं।

(४) यह शरीर तो बिजली-जैसे दीखकर और पानीके ऊपर रहनेवाले बुलबुलोंके सरीखा क्षणभरमें ही अदृश्य हो जाता है। तू सत्य, नित्य और आनन्दस्वरूप होकर भी शरीर-सुखके लिये जो प्रयत्न करता है सो तो मानो पानीमें अँगुली डुबोकर चाटनेके समान ही है।

(५) एकत्र हुए सब लोगोंके चले जानेके बाद जैसे बाजारका अस्तित्व नहीं रहता है, वैसे ही तेरा पुण्य समाप्त होते ही यह जो धन-दौलत आदि ऐश्वर्य है, यह सब चला जायगा। सच्चे मोक्षको छोड़कर लौकिक सुखोंकी आशा करना तो घृतकी आशासे जूँठा खानेके समान ही है।

(६) जैसे मधुकी आशासे उस मधुसे लिपटे हुए तीक्ष्ण खड्गको चाटकर दुःखका अनुभव करना पड़ता है, वैसे ही एक क्षणका रति-सुख प्राप्त करने जाकर अपार दुःख भोगना पड़ता है। यह जानकर सद्गुरुकी शरण होने और लौकिक व्यवहारको छोड़कर तत्त्वज्ञानको प्राप्त करके दुःखरहित होकर, उस परमानन्दमें लीन होनेको छोड़कर तू बुरा मत बन।

'दुःखालयमशाश्वतम्'

संसार ही दुःखालय है। दुःख ही यहाँ निवास करते हैं। किसी भी अवस्थामें यहाँ सुख मिलेगा—एक भ्रम ही है यह। इतना बड़ा भ्रम कि संसारके सभी लोग इसमें भ्रान्त हो रहे हैं।

सुकुमार शिशु—आनन्दकी मूर्ति। कवियोंकी कल्पना बालकके आनन्दकी बात करते थकती नहीं। वृद्ध पुरुष अपने बाल्यकालकी चर्चा करते हुए गद्गद हो उठते हैं। 'फिर लौट आता बचपन!' कितनी लालसा भरी है इसमें।

कोई बालक भी मिला है आपको जो बालक ही बना रहना चाहता हो? प्रत्येक बालक 'बड़ा होने' को समुत्सुक रहता है। क्योंकि वह बालक है—अपनी उत्सुकता छिपाये रहनेकी दम्भपूर्ण कला उसे आती नहीं। यदि शिशुतामें सुख है—बालक क्यों अपनी शिशुतामें संतुष्ट नहीं रहता?

बालकका अज्ञान—लेकिन बालकमें अज्ञान और असमर्थता न हो तो वह बालक रहेगा? वह चाहता है ज्ञान, वह चाहता है सामर्थ्य। आपकी भी स्पृहा अज्ञान और अशक्तिके लिये नहीं है, यह आप जानते हैं।

अबोध बालक और उसकी अशक्ति—उसे प्यास लगी है—रोता है। भूख लगी—रोता है। शरीरको मच्छर काटें—रोता है। शरीरमें कोई अन्तःपीड़ा हो—रोता है। रोना—रुदन ही उसका सहारा है। रुदन ही उसका जीवन है। रुदन सुखका लक्षण तो नहीं है न?

सुकुमार कच्ची त्वचा—मच्छर तो दूर, मक्खियाँ भी काटती हैं और उन्हें उड़ाया नहीं जा सकता। माता पता नहीं क्या-क्या अटर-सटर खा लेती है—उसका परिणाम शिशु भोगता है। उसके शरीरमें पीड़ा होती है; किंतु बता नहीं सकता। कितनी विवशता है। कौन ऐसी विवशता चाहेगा?

क्या हुआ जो शिशु कुछ बड़ा हो गया। उसका ज्ञान कितना? उसकी सभी आवश्यकताएँ दूसरे पूरी करें तो पूरी हों। उसका मन ललचाता है, वह मचलता है और अनेक बार इच्छा-पूर्तिके स्थानपर घुड़की या चपत पाता है।

अज्ञान और पराधीनताका नाम सुख तो नहीं है?

× × ×

बालक युवक हुआ। उत्साह, साहस और शक्तिका स्रोत फूट पड़ा उसमें। युवक क्या सुखी है? युवावस्था क्या सुखकी अवस्था है?

कामनाओंका दावानल हृदयमें प्रज्वलित हो गया। वासनाएँ प्रदीप्त हो उठीं और जहाँ काम है, क्रोध होगा ही।

वासना, असंतोष, अहंकार, क्रोध—युवावस्था इन सबको लिये आती है। चिन्ता, श्रम, श्रान्ति, निराशा, द्वेष—युवक इनसे कहाँ छूट पाता है?

वासना—वासना तो संतुष्ट होना जानती नहीं और असंतोष ही दुःखका मूल है, यह कुछ स्पष्ट करनेकी बात नहीं है।

× × ×

युवक वृद्ध हो गया। अनुभव परिपक्व हो गये। ठोकरें खाकर उसके आचरण व्यवस्थित हो गये। सोच-समझकर कुछ करनेकी बात समझमें आ गयी। अनुभवसम्पन्न, समादरणीय वृद्ध—तब क्या वार्धक्यमें सुख है?

कोई मूर्ख भी बुढ़ापेमें सुखकी बात नहीं करेगा।

अनुभव क्या काम आवे? समझ आयी; पर उसका आना रहा किस कामका? करनेकी शक्ति तो रह नहीं गयी। शरीर असमर्थ हो गया। रोगोंने घर कर लिया देहमें। आँख, कान, नाक, दाँत, हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ जवाब देने लगीं।

अशक्ति, पीड़ा और चिन्ताको छोड़कर बुढ़ापेमें है क्या? शरीरको रोगोंने पीड़ित कर रक्खा है और मन अपनी असमर्थतासे पीड़ित है। लोग तिरस्कार करते हैं। चारों ओर दुःख-ही-दुःख तो है।

× × ×

शरीरका अन्तिम परिणाम है मृत्यु—वह मृत्यु जिसका नाम ही दारुण है। मृत्युकी कल्पना ही कम्पित कर देती है। जिस शरीरपर इतना ममत्व—मृत्यु उसे छीनकर चितापर जलनेके लिये छोड़ देती है।

जन्म और मृत्यु—जीवनका प्रारम्भ घोर दुःखसे हुआ और उसका पर्यवसान दुःखमें हुआ। रोता आया, रोता गया। जिसका आदि-अन्त दुःख है, उसके मध्यमें सुख कहाँसे आयेगा? उसके मध्यमें भी दुःख-ही-दुःख है।

'दुःखमेव सर्वं विवेकिनाम्।'

दुःखालयमशाश्वतम्

संसारकूपमें पड़ा प्राणी

संसार-कूपमें पड़ा प्राणी

भव-कूप—यह एक पौराणिक रूपक है और है सर्वथा परिपूर्ण । इस संसारके कूपमें पड़ा प्राणी कूप-मंडूकसे भी अधिक अज्ञानके अन्धकारसे ग्रस्त हो रहा है । अहंता और ममताके घेरेमें घिरा प्राणी—समस्त चराचरमें परिव्याप्त एक ही आत्मतत्त्व है, इस परम सत्यकी बात स्वप्नमें भी नहीं सोच पाता ।

कितना भयानक है यह संसार-कूप—यह सूखा कुआँ है । इस अन्धकूपमें जलका नाम नहीं है । इस दुःखमय संसारमें जल—रस कहाँ है । जल तो रस है, जीवन है; किंतु संसारमें तो न सुख है, न जीवन है । यहाँका सुख और जीवन—एक मिथ्या भ्रम है । सुखसे सर्वथा रहित है संसार और मृत्युसे ग्रस्त है—अनित्य है ।

मनुष्य इस रसहीन सूखे कुएँमें गिर रहा है । कालरूपी हाथीके भयसे भागकर वह कुएँके मुखपर उगी लताओंको पकड़कर लटक गया है कुएँमें । लेकिन कबतक लटका रहेगा वह ? उसके दुर्बल बाहु कबतक देहका भार सम्हाले रहेंगे । कुएँके ऊपर मदान्ध गज उसकी प्रतीक्षा कर रहा है—बाहर निकला और गजने चीरकर कुचल दिया पैरोंसे ।

कुएँमें ही गिर जाता—कूद जाता; किंतु वहाँ तो महाविषधर फण उठाये फूत्कार कर रहा है । क्रुद्ध सर्प प्रस्तुत ही है कि मनुष्य गिरे और उसके शरीरमें पैने दंत तीक्ष्ण विष उँडेल दें ।

अभागा मनुष्य—यह देरतक लटका भी नहीं रह सकता । जिस लताको पकड़कर वह लटक रहा है, दो चूहे—काले और श्वेत रंगके दो चूहे उस लताको कुतरनेमें लगे हैं । वे उस लताको ही काट रहे हैं । लेकिन मूर्ख मानवको मुख फाड़े सिरपर और नीचे खड़ी मृत्यु दीखती कहाँ है । वह तो मग्न है । लतामें लगे शहदके छत्तेसे जो मधुविन्दु यदा-कदा टपक पड़ते हैं, उन सीकरोंको चाट लेनेमें ही वह अपनेको कृतार्थ मान रहा है ।

यह न रूपक है, न कहानी है । यह तो जीवन है—संसारके रसहीन अन्धकूपमें पड़े सभी प्राणी यही जीवन बिता रहे हैं । मृत्युसे चारों ओरसे ग्रस्त यह जीवन—कालरूपी कराल हाथी कुचल देनेकी प्रतीक्षामें है इसे । मौतरूपी सर्प अपना फण फैलाये प्रस्तुत है । कहीं भी मनुष्यका मृत्युसे छुटकारा नहीं । जीवनके दिन—आयुकी लता जो उसका सहारा है, कटती जा रही है । दिन और रात्रिरूपी सफेद तथा काले चूहे उसे कुतर रहे हैं । क्षण-क्षण आयु क्षीण हो रही है । इतनेपर भी मनुष्य मोहान्ध हो रहा है । उसे मृत्यु दीखती नहीं । विषय-सुखरूपी मधुकण जो यदा-कदा उसे प्राप्त हो जाते हैं, उन्हींमें रम रहा है वह—उन्हीं-को पानेकी ही चिन्तामें व्यग्र है वह ।

महात्मा श्रीमस्तरामजी महाराज

(काठियावाड़ और भावनगर राज्यके आसपासके स्थानोंमें विचरण करनेवाले एक राजस्थानी संत)

खाटा मीठा देख कै, जिभिया भर दे नीर ।
तब लग जिंदा जानिये, काया निपट कचीर ॥
चाह नहीं, चिंता नहीं, मनवाँ बेपरवाह ।
जाको कछू न चाहिये, सो जग साहंसाह ॥

फिकिर सभी को खा गया, फिकिर सभी का पीर ।
फिकिर की फाँकी जो करै, उसका नाम फकीर ॥
पेट समाता अन्न लै, देह समाता चीर ।
अधिक संग्रही ना बनै, उसका नाम फकीर ॥

संत रामदास चौरिया

दीपकपर गिरकर पतिंगा स्वयं ही जल जाता है, वह इस प्रतीक्षामें नहीं रहता कि दीपक मेरी तरफ लौ बढ़ावे ।

हम किसीसे कुछ कहें, इससे पहले यह सोच लें कि हमने अपने अंदर वह ताकत पैदा कर ली है या नहीं ।

साथ-ही-साथ अगर हम कहना ही चाहते हैं तो सुननेकी भी शक्ति रखनी चाहिये ।

श्रीसत्यभोला स्वामीजी

(गोंडा जिला, अजावलपुर ग्राम)

नारी को है धर्म पिया को हुकम बजावै ।
करि सेवा बहु भाँति पिया को सोवत जगावै ॥
कहै 'सत्यभोला' पुकारि नारि सोइ सयानी है ।
पिया को लेइ रिझाइ पिया मनमानी है ॥

अहै मित्र को धर्म मिताई चित मैं राखै ।
परै मित्र पर भीर तबै गुन आपन भाखै ॥
कहै 'सत्यभोला' पुकारि मित्र सोइ सत्य कहाई ।
परै मित्र पर भीर मित्र है करै सहाई ॥

बिन पनही पोसाक, बसन बिन गहना झूठो ।
बिना सुर गौनई, घृत बिन भोजन रूठो ॥
कहै 'सत्यभोला' पुकारि लवन बिन ब्यंजन जैसे ।
भजन बिना नर देह जगत मैं सोहत तैसे ॥

स्वामी श्रीसन्तदेवजी

(सत्यभोला स्वामीजीके शिष्यके शिष्य । अंजावलपुरके निवासी)

ऐसो को जेहि राम न भावै केहि मुख राम न आवै जी ।
बिना राम सब काम सकल के कैसे कै बनि आवै-जी ॥
भला बुरा मैं राम सहाई, राम मिलै सुख पावै जी ।
'संतदेव' गहै संत राम कों, राम संत गुन गावै जी ॥

कोई निंदै कोइ बंदै जग मैं मन मैं हरस न माखो जी ।
आठो जाम मस्त मतवारो राम नाम रस चाखो जी ॥
बिहँसि मगन मन करो अनंदा, सार सब्द मुख भाखो जी ।
'संतदेव' जाय बसो अमरपुर, आवागवन न राखो जी ॥

भक्त कारे खाँ

(भक्त मुसल्मान)

छल्बल कै थाक्यो अनेक गजराज भारी,
भयो बलहीन, जब नेक न छुड़ा गयो ।
कहिबे को भयो करुना की, कवि कारे कहै,
रही नेक नाक और सब ही डुबा गयो ॥

पंकज से पायन पयादे पलंग छाँड़ि,
पाँवरी बिसारि प्रभु ऐसी परि धा गयो ।
हाथी के हृदय माहिं आयो 'हरि' नाम सोय,
गर जौ न आयो गरुड़ेस तौलौं आ गयो ॥

श्रीख़ालसजी

तुम नाम-जपन क्यों छोड़ दिया ।
क्रोध न छोड़ा झूठ न छोड़ा,
सत्य वचन क्यों छोड़ दिया ॥
झूठे जग में दिल ललचाकर,
असल वतन क्यों छोड़ दिया ।
कौड़ी को तो ख़ूब सँभाला,
लाल रतन क्यों छोड़ दिया ॥
जिन सुमिरन से अति सुख पावे,
तिन सुमिरन क्यों छोड़ दिया ।
'ख़ालस' इक भगवान-भरोसे,
तन-मन-धन क्यों छोड़ दिया ॥

स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी

[श्रीअयोध्याके प्रसिद्ध संत, जन्म—संवत् १८७५ कार्तिक शुक्ल ७ फल्गुनदीके तटवर्ती ईसरामपुर (इस्लामपुर) के सारस्वत ब्राह्मणवंशमें ।]

(प्रेषक—श्रीमच्चूपर्मनाथसहायजी बी०ए०, ब०एल०)

१–श्रीसीतारामजीके भक्तोंको चाहिये कि ये छः गुण सदा धारण करें—१ मनको सदा वशमें रक्खें । यह महानीच ठग-चोर है, दैवी-सम्पत्तिको चुराना चाहता है । २ मृत्युको सदा समीप जान भजन करनेमें तनिक भी प्रमाद न करे । ३ सदा भगवान्‌के अनुकूल कार्य ही करे । जिससे भगवान् प्रसन्न हों, वही काम करे । ४ सदा यह समझता रहे कि भगवान् मेरा यह कर्म देख रहे हैं, इससे नीच आचरण नहीं होगा । ५ दृश्य पदार्थोंसे मोह न करे जिससे कि भगवान्‌की तरफ़ मन लगे । ६ दुःखको सुखसे श्रेष्ठ माने और संसारके दुःखसे रहित हो जाय ।

२–यह मन महाठग है, अनन्त-अनन्त प्रकारोंसे सदा यह भजनरूपी धनको हरता रहता है । इसीलिये सतजन सावधान होकर अपना घर बचाकर उसका अनादर करते रहते हैं । प्रथम घरको लुटाकर बादमें पछताना अच्छा नहीं ।

३–जिज्ञासुके दस लक्षण हैं—१ दया, २ नम्रता, ३ संतरनेह, ४ दम्भशून्यता, ५ समझता, ६ भावनिष्काम, ७ तीव्र वैराग्य, ८ शान्ति, ९ एकान्तवास और १० केवल भगवान्‌के लिये ही कर्म करना । सच्चे संतमें ये दसों लक्षण पाये जाते हैं । कोरे वेषधारीमें इनमेंसे एक भी नहीं होता । जबतक जिज्ञासु संतोंके इन स्वाभाविक गुणोंको धारण नहीं करता, तबतक निरे वाग्जालसे भगवान्‌के दर्शन नहीं होते ।

४–मृत्यु निश्चय है, धर्मके अतिरिक्त कुछ साथ नहीं जाता । अतः भगवान्‌का भजन करो—जो सर्वोपरि धर्म है ।

५–सज्जनोंके लक्षण—परायी स्त्री माता, पराया धन विष, पराया दुःख अपने दुःखके समान । ईश्वर कौन है ? मैं कौन हूँ ? जगत् क्या है ? इसका सम्यक् ज्ञान ।

६–शरणागतके मुख्य लक्षण—श्रीभगवान्‌का अखण्ड स्मरण, शान्ति, समता, सत-सेवा, नम्रता, परनिन्दारहित, मानापमानमें सम, प्राणिमात्रमें मैत्रीभाव ।

७–महामूर्ख वह है जो यह जानते हुए भी कि, एक दिन अवश्य मरना है, परलोककी चिन्ता न करके विषयासक्त हो श्रीभगवान्‌को भुला देता है ।

८–श्रीराम-भजन और धर्म करनेमें तनिक भी विलम्ब मत करो, जो कल करना हो उसे आज ही कर डालो जिससे कल प्रसन्नता और उत्साह रहे । मनको सदा काबूमें रक्खो । निश्चय समझो–यह मन महाधूर्त है ।

९–चार बातें संत भी बच्चोंसे सीखते हैं—१ भोजनादि चिन्ता-त्याग, २ आपसमें लड़कर क्रोधकी गाँठ नहीं रखना, ३ रोगी होनेपर भी भगवान्‌की निन्दा नहीं करना, ४ संगियोंके दुःख-सुखमें आसक्त न होना ।

१०–श्वानके ये दस गुण संत भी लेते हैं—१ भूखा रहता है, यह चिह्न भक्तोंका है । २ गृहरहित होता है, यह गुण विरक्तका है । ३ सदा सजग निद्रा लेता है, यह गुण प्रेमी भक्तका है । ४ मरे पीछे उसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं निकलता, यह गुण विरक्तका है । ५ कभी स्वामीका द्वार नहीं छोड़ता, यह सच्चे सेवकका गुण है । ६ थोड़ेसे ही स्थानमें निर्वाह कर लेता है, यह दीनताका—संतोष वृत्तिका

लक्षण है । ७ जहाँसे कोई उठा दे, वहाँसे उठ जाय, यह गुण प्रसन्न चित्तवालेका है । ८ बुलाये आता है, उठाये जाता है, यह गुण अमानियोंका है । ९ स्वामी जब चाहे दें, माँगता कुछ नहीं, यह गुण तपस्वियोंका है । १० कोई उसकी ओर देखे तो वह धरतीकी ओर देखता है, यह चिह्न भक्तिसिन्धुमें लीन पूर्ण संतोंका है ।

आदिहि श्री गुरुदेव सरन दृढ़ करि विश्वास सँभारे ।
ता पीछे परतीति नाम श्री धाम मनोहर धारे ॥
इस के बाद नवल मूरत निज नैनन नित्य निहारे ।
श्री युगलानन्यसरन सुंदर पथ चलत न सपनेहु हारे ॥

सीताराम नाम ही मे बेद संहिता पुरान,
ज्ञान, ध्यान, भावना समाधि सरसतु हैं ।
सीताराम नाम ही में तत्व भक्ति योग यग्य,
पर ब्यूह, विभव स्वरूप परसतु हैं ॥
सीताराम नाम ही में पाँचों मुक्ति, भुक्ति,
वरदायक, विचित्र, एक रस दरसतु हैं ।
युगलअनन्य सीताराम नाम ही में, मोद
विसद विनोद बार बार बरसतु हैं ॥

दोहा

गद गद बानी पुलक तन, नैन नीर मन पीर ।
नाम रटत ऐसी दसा, होत मिलत रघुबीर ॥
नवधा, दसधा, परा, रस रूपा भक्ति विचित्र ।
विविध भाव अनुराग सुख, नामाधीन सुमित्र ॥
जौ लौं रस रस से नहीं, सुधनि नाम निज सार ।
निकसत परम प्रकाशमय, मधुर मोहब्बत प्यार ॥
रटि ही मन मति लीन सहित श्री नामहि तौली ।
श्री युगल अनन्य अमल्य मौज मानत नहिं जौ लौ ॥

है बड़भागी मोद सुचि संत सियावर के अनुरागी अदागी ।
प्यार नहीं जिन के मन में कुछ दाह की रीति लखे लख आगी ॥
माँग के खात मधूकरी धाम में नाम मे चित्त लगाय विरागी ।
युग्म अनन्य के पूज्य सदा प्रिय प्रान हूँ ते जो पगे रघुरागी ॥

जूआ, चोरी, मसखरी, ब्याज, घूस, परनार ।
जो चाहै दीदार को, एती वस्तु निकार ॥

स्वामी श्रीजानकीवरशरणजी

(जन्म-स्थान—फैजाबाद जिलान्तर्गत कलाफरपुर ग्राम, पिताका नाम—मेहरवान मिश्र, सरयूपारीण ब्राह्मण, दीक्षागुरु—श्रीयुगलानन्यशरण स्वामीजी, मृत्यु संवत् १९५८ वि० माघी अमावस्या ।)

चित लै गयो चुराय जुलफों में लला ।
हम जानी, वे कृपासिंधु हैं, तब उनसे भई प्रीति भला ॥
बिरही जनको दुख उपजावत करत नयी नयी अजब कला ।
प्रीतिलता पीतम बेदरदी छाँडि हमे कित गयो चला ॥

स्वामी श्रीसियालालशरणजी 'प्रेमलता'

मानुस सरीर मिल्यौ केवल भगति-हित,
ताहि बिसराय धावै भोगन की ओर है ।
गर्भ में करार कियौ पायौ अति दुःख जहाँ,
बार-बार प्रभु-सनमुख कर जोर है ॥
रावरी सपथ नाथ ! रटिहौं सुनाम तव,
नासिये कृपालु बेगि यहै नर्क घोर है ।
'प्रेमलता' भूलि कै करार रह्यौ छिति इत,
रटत न नाम सियाराम सोई चोर है ॥

नाम को स्वाद लियौ न सुजीभ ते काहे को साधु भये तजि गेहा ।
जाति जमाति विहाय भली विधि नाम-सनेही सौं कीन्ह न नेहा ॥
काहे कौं स्वाँग बनायौ फकीर को भावै जो मौज अमीर की येहा ।
'प्रेमलता' सियराम रटे बिनु भोग बिरक्त कौं स्वान की खेहा ॥

नाम-नावपर चढहिं जे, इहिं विधि जन कलिकाल ।
सोइ बिनु श्रम तरि घोर भव, पैहहिं श्रीसियलाल ॥
राम नाम संजीवनी, श्रीसिय नाम गिरीस ।
'प्रेमलता' हनुमान रट, ज्यायौ जीव अहीस ॥
रटहिं नाम जो जीव जग, जीह पुकारि-पुकारि ।
विचरहिं महि मन मोद भरि, आसा-पास निवारि ॥
रटु मुख सीताराम नित, तजि सुख नाना संग ।
'प्रेमलता' अनुपम अमल, चढ़हि सुरंग अभंग ॥

महात्मा श्रीगोमतीदासजी

[अयोध्याके प्रसिद्ध संत, जन्म प्रायः २०० वर्ष पूर्व पंजाबमें सारस्वत ब्राह्मण, दीक्षागुरु श्रीसरयूदासजी]

(प्रेषक—श्रीसरयूधर्मनाथ सहायजी बी० ए०, बी० एल्०)

(१) संसारमें जितना काम करो—लौकिक या पारलौकिक—सब नियमबद्ध होकर करो; क्योंकि नियमसे मन अपने-आप बँधता है।

नेम जगावे प्रेम को, प्रेम जगावे जीव।
जीव जगावे मुक्ति को, मुक्ति मिलावे पीव॥

जैसे प्रेमके साथ भजन करनेकी आवश्यकता होती है, वैसे ही नियम पालन करनेकी भी भारी आवश्यकता है। अतः सपरिवार नियमपूर्वक श्रीयुगलनाम और श्रीमन्त्रराज नित्यप्रति जप करो और श्रीमानस-रामायणजीका पाठ भी नियमपूर्वक कर लिया करो।

(२) संसारका सब काम करते हुए भजन अहर्निश करते रहो, गाफिल एक क्षणके लिये भी मत रहो। हुकुम है, 'काम-काजमें रहके भजनमें रहे।'

(३) भजन करें और भजन करावें, धैर्य रक्खें और सावधान रहें—यही कल्याणका मार्ग है।

(४) आलस्य अपना शत्रु है, इसे अपने पास कदापि नहीं आने देना चाहिये।

(५) जबतक मनुष्यके ऊपर दुःख नहीं आता तभीतक उसके लिये उपाय कर लेना चाहिये कि दुःख आने न पावे। यदि आ ही जाय तो उसको धैर्यके साथ छाती ठोंककर सहन करना चाहिये।

(६) दुःख आनेपर सरकारसे धैर्यके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। यह नहीं कि दुःख छूट जाय बल्कि दुःख सहन करनेकी शक्ति भगवान्‌से माँगनी चाहिये।

(७) धर्मार्थमें आमदनीका दसवाँ हिस्सा सबको लगाना चाहिये। इससे धन, धर्म और ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है।

(८) भजनके लिये—१–कम बोलना, २–कम खाना, ३–रातको ज्यादा जागना, ४–सत्सङ्ग करना, ५–एकान्तवास करना—बहुत जरूरी है; परंतु जबतक मन काबूमें नहीं, सर्वथा एकान्तवास करना उचित नहीं।

(९) जो श्रीहनुमान्‌जीका भरोसा रखता है, उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं। 'रामके गुलामनको कामतरु रामदूत' 'तुमरो भजन रामको पावे।'

पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज

[स्थान—जानकीघाट, अयोध्या]

(प्रेषक—श्रीहनुमानशरणजी सिंघानिया)

१—भगवद्दर्शनके लिये इन बातोंको अवश्य करना पड़ता है—मन्त्र-जप, गुरुसेवा, संतसेवा, उत्साह और धैर्य। मन्त्रानुष्ठानसे दर्शन हो सकते हैं, किंतु गुरुदेवकी पूर्ण कृपा होनी चाहिये। संतोंका भूलकर भी अपराध न करे, प्रबल उत्साहके बिना कोई अनुष्ठान सफल नहीं होता। अन्नदोष और सङ्गदोषसे बचना चाहिये।

२—इस संसारमें सदा रहना नहीं है। इसलिये किसीसे मोह नहीं करना चाहिये और किसीसे द्वेष भी नहीं करना चाहिये।

३—भगवान्‌की सेवा ही जीवका धर्म है। श्रीहनुमान्‌जी तथा श्रीलक्ष्मीजी भी इसी बातकी चरित्रोंद्वारा शिक्षा देते हैं। लक्ष्मी और शेषजी भी यही आदर्श दिखला रहे हैं।

४—मानसी सेवा सेवाओंमें उत्तम है। किंतु बिना शरीरसे सेवा किये हुए मानसी सेवा सिद्ध नहीं होती।

५—सब साधनोंमें श्रीरामनाम-जप सर्वश्रेष्ठ साधन है। चलते-फिरते, उठते बैठते श्रीसीताराम नाम-जप करते रहना चाहिये। चौबीसों घंटे नामजप होनेपर जब काल आवेगा तब सदाके अभ्याससे अन्त समयमें भी नाम स्मरण हो जायगा।

६—भगवान्‌में अनन्य भक्ति होनेपर ही साधना आगे बढ़ती है। शरणागतिका मर्म पूर्ण आत्मसमर्पण है। बिना प्रभु-प्रेमके सब साधन ऊसर भूमिमें वर्षाके समान व्यर्थ हो जाते हैं। निष्काम भावना अत्यन्त दृढ़ होनी चाहिये।

संत श्रीहंसकलाजी

[जन्मस्थान—सारन जिलेमें गङ्गा-सरयूके संगमके समीप गंगहरा गाँव, जन्म-संवत् १८८८, पूर्वाश्रमका नाम नाना पाठक, दीक्षागुरु महात्मा रामदासजी। पूरा नाम रामचरणदासजी हंसकला, मृत्यु संवत् आश्विन शुक्ला १२ सं० १९६८]

(प्रेषक—श्रीअच्युधर्मनाथसहायजी बी० ए०, बी० एल०)

स्वाँसहु भर या जियन की, करै प्रतीति न कोय।
ना जाने फिर स्वाँस को, आवन होय न होय॥
परिजन भाई बापु, देखे देखत नित मरत।
अमर मोहबस आपु, याते अचरज कवन बड़॥

सोई निषिद्ध अरु त्याज्य सो, जाते बिसरे राम।
त्याग सूत्र यह राखु मन, विधि जपिबो हरिनाम॥
जियको फल पिय तबहि जब, आठ पहर तव नाम।
पिय तेरो सुमिरन बिना, जियबो कवने काम॥

संत श्रीरूपकलाजी

[बिहारके प्रसिद्ध संत, मृत्यु संवत् १९८९ पौष शुक्ल द्वादशी।]

(प्रेषक—श्रीअच्युधर्मनाथसहायजी बी० ए०, बी० एल०)

धन्य धन्य जे ध्यावहीं, चरण-चिन्ह सियराम के।
धनि धनि जन जे पूजहीं, साधु संत श्रीधाम के॥
तजि कुसंग सत्सग नित, कीजिय सहित विवेक।
सम्प्रदाय निज की सदा, राखिये सादर टेक॥
देह गेह बद्ध कर्म महँ, पर यह मानस नेम।
कर जोड़े सन्मुख सदा, सादर खड़ा सप्रेम॥
तन मन धन सब वारि, मन चित हिय अति प्रेम ते।
सम्मुख आखिन चारि, चितइये राजिवनयन छवि॥
आपु सहित सब धूर, विषय वासना तनु ममत।
कर्म मनन मजदूर, आपन करता 'मैं' नहीं॥
मरन सुखद निद्रा अचल, अति अनन्य मत नेम।
पिय सुभाव स्तुति मगन, नयन चारि सुख प्रेम॥
प्रियतम तुम्हरे सामने, काहू की न बसाय।
अनहोती पिय करि सको, होनिहार मिट जाय॥
प्रियतम तुम्हरे छोह ते, शान्त, अचञ्चल, धीर।
वचन-अल्प, अति प्रिय, मृदुल, शुद्ध, सप्रेम, गँभीर॥
श्रीजानकि-पद-कंज सखि, करहि जासु उर ऐन।
बिनु प्रयास तेहि पर द्रवहिं, रघुपति राजिवनैन॥

होठ पर नाम वही, चित्त वही देह कहीं।
हाथ में कंजचरन, जाप वही आप वहीं॥
हाथमें कंज-चरन, जाप वही आप वहीं।
दृष्टि पर ध्यान वहीं, चित्त वही देह कहीं॥

खात पियत बीती निसा, अँचवत भा भिनुसार।
रूपकला धिक धिक तोहि, गर न लगायो यार॥
दोष-कोष मोहि जानि पिय, जो कछु करहु सो थोर।
अस विचारि अपनावहु, समझि आपुनी ओर॥

संत श्रीरामाजी

(बिहारके प्रसिद्ध रामभक्त सारन (छपरा) जिलेके सेमराव गाँवमें, श्रीवास्तव कायस्थ कुलमें जन्म, पिताका नाम श्री[illegible] (श्रीरामनिवासलालजी), माताका नाम श्रीरामप्यारीदेवी, जन्म सं० १९२९ भाद्रपद कृष्ण सप्तमी, मृत्यु संवत् १९८५ जेठ बदी दूज।)

१—जीव जब भगवान्‌की शरणमें जाता है, तब उसे छः बातोंकी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है—(१) मैं आपके अनुकूल रहूँगा। (२) जो आप मना करेंगे वह न करूँगा। (३) आप ही मेरे रक्षक हैं। (४) आप मेरी रक्षा अवश्य करेंगे। (५) मैं आपका हूँ दूसरेका नहीं, सब सरकारका है दूसरेका नहीं। (६) आप हमारे हैं।

२—चार बातें सदा स्मरण रखनी चाहिये—(१) मृत्यु अवश्य है, मृत्यु अवश्य है, मृत्यु अवश्य है। (२) मेरा कुछ भी

नहीं है, मेरा कुछ भी नहीं है, मेरा कुछ भी नहीं है। (३) केवल पेटभरका ठिकाना है, केवल पेटभरका ठिकाना है। (४) सरकार ही मेरे अपने हैं, सरकार ही मेरे अपने हैं।

३—संसारका काम करना मना नहीं है। काम छोड़ना नहीं चाहिये। परंतु यह समझना चाहिये कि सब काम सरकारका ही है। इसे कोई बंद नहीं कर सकता। हमको यह काम सरकारकी ओरसे मिला है। यह समझकर सब काम करने चाहिये।

संत श्रीरामसखेजी

ये दोउ चन्द्र बसो उर मेरे।
दसरथ सुत अरु जनकनंदिनी, अरुन कमल कर कमलन फेरे॥
बैठे मंजु कुंज सरजू तट, आस पास ललना घन घेरे।
चन्द्रवती सिर चँवर ढुरावै, चन्द्रकला तन हँसि हँसि हेरे॥
ललित भुजा लिये अरसपरस झुकि, रहे हैं कैसे कपोलन नेरे।
'रामसखे' अब कहि न परत छबि, पान पीक मुख झुकि झुकि हेरे॥

स्वामी श्रीमोहनीदासजी

गहु मन! चरन सीताराम॥
जो चरन हर-हृदय मानस बसत आठों जाम।
जेहि परसि बनिता मुनी की गई है निज धाम॥
जा चरनतें निकसि सुरसरि भई सिव की बाम।
'दास मोहनि' चहत सो पद करहु पूरन काम॥

संत बाबा श्रीरघुपतिदासजी महाराज

[स्थान—सिन्धी ग्राम—भृगुक्षेत्र। मृत्युतिथि—६ अगस्त सन् १९३३]

(प्रेषक—श्रीरामप्रसाददासजी बैरिया)

१. तन काममें, मन राममें।

२. जिसके जन, दास, आश्रित सुखी रहें, उस घर, राष्ट्र एवं समाजका विनाश नहीं होता।

३. गृहस्थोंके लिये सब नारी जननी नहीं, परनारी जननी-सम है। संत साधुओंके लिये नारीके साथ परका विधान नहीं, संतवेश धारण करनेपर निज-नारी भी जननी-तुल्य होती है।

४. गृहस्थोंके लिये धनका अर्थ रुपया-पैसा, चाँदी सोना है। संत-साधुओंके लिये धनका अर्थ योग अर्थात् भगवान्में अपनेको जोड़ना है।

५. जब घरके पालतू जानवर गाय-बैल सुखी रहेंगे, तब घरमें किसी प्रकारका अभाव नहीं रहेगा।

६. शूद्र भक्त हो तो वह जातिसे ब्राह्मण नहीं होगा, पर ब्राह्मणका पूजनीय एवं आदरका पात्र बन जायगा।

श्रीमञ्जुकेशीजी

मानहु प्यारे! मोर सिखावन।
बूँद बूँद तालाब भरत है या भादों या सावन॥
तैसहिं नाद-बिंदु को धारन अंतःसुख सरसावन।
ध्वनि गूँजे जब सुगल रंध्र से परसे त्रिकुटी पावन॥
हिय में तीव्र भावना थिर वर पड़े दूध में जावन।
'केसी' सुरति न टूटन पावै दिव्य छटा दरसावन॥

रे मन! देस आपन कौन!
जहँ बसे प्रियतम प्रकृति-पति सुमुख सीतारौन॥
बिना समझे बिना बूझे करै इत उत गौन।
सुख मिलत नहिं तोहि सपने सदा खोजत जौन॥
अजहुँ सूझत नाहिं तोहि कछु करत आयु हि हौन।
कहति 'केसी' तहाँ चलु झट जहाँ अविचल भौन॥

राम-रहस के ते अधिकारी।
जिनको मन मरि गयउ और मिटि गई कलना सारी॥
चौदह भुवन एकरस दीखै, एक पुरुष इक नारी।
'केसी' बीज मंत्र सोइ जानै, प्यारै अवधविहारी॥

जो मानै मेरी हित सिखवन ॥
(तो) सत्य कहौं निज मन की बात,
सहिये हिम-तप-वर्षा-वात ।
कसिये मन को सब विधि तात,
जासौं छुटै यह आवागमन ॥
पहिले पक्षी पृथ्वी पगुरत,
फिर पंख जमे नभ मैं विचरत ।
अवसर आयें जल मैं पैरत,
(पै) भूलत नहिं निज मीत पवन ॥
करुना निधान की बानि हेरि,
पुनि महामंत्र गज-ध्वनि सौं टेरि ।
'केसी' सिय-स्वामिनि केरि चेरि,
समुझावति ध्याविय सिया-रवन ॥

संयम साँचो वाको कहिये ॥
जामें राम मिलन की मुक्ता गजराजन प्रति लहिये ।
मोहनिसा महँ नींद उचाटै चरन सिया-सिय गहिये ॥
भूर्भुवः स्वः के झोंकन तैं बार बार बचि रहिये ।
नवल नेह नित बाढ़ै 'केसी' कहहु और का चहिये ॥

चेतहु चेतन बीर, सबेरे ॥
इष्ट स्वरूप विठारहु मन में करकमलन धनु तीर ।
एकछटा करुना-वारिधि की अनुछन धारहु धीर ॥
भक्त-विपति-भंजन रघुनायक मंत्र विसद हर पीर ।
'केसी' प्रीतम पाँव पखारिय ढारि सुनयनन नीर ॥

सन्मुख, साति एक आधार ॥
राम सहज स्वरूप झंकत भावयुत शृंगार ।
कहत याको सिद्ध योगी तिल की ओट पहार ॥
छाँड़ि यह दुर्लभ नहीं कछु, करत संत विचार ।
सुखसिंधु सुखमाकंद 'केसी' परम पुरुष उदार ॥

विषयरस पान पीक सम त्याग ॥
वेद कहैं मुनि साधु सिखावैं विषय-समुद्री आग ।
को न पान करि भो मतवाला यह ताड़ी को झाग ॥
वीतराग पद मिलन कठिन अति काल कर्म के लाग ।
'केसी' एकमात्र तोहिं चाहिय रामचरन-अनुराग ॥

धाय धरो हरिचरन सबेरे ॥
को जानै कै बार फिरे हम चौरासी के फेरे ।
जन्मत-मरत दुसह दुख सहियत करियत पाप घनेरे ॥
भूलि आपनो भूप-रूप भये काम-कोहके चेरे ।
'केसी' नेक लही नहिं थिरता काल-कर्म के प्रेरे ॥

मारे रहो, मन ॥
राम भजन बिनु सुगति नहीं है, गाँठ आठ दृढ़ पारे रहो ।
अविस्वास करि दूरि सर्वथा, एक भरोसा धारे रहो ॥
सदा सिन्न-प्रिय सिय-रघुनंदन, जानि दर्प सब डारे रहो ।
'केसी' राम नाम की ध्वनि प्रिय, एक तार गुंजारे रहो ॥

रामलखन माते जे रहते ॥
तिन की चरन-धूरि ब्रह्मादिक, सिर धारन को चहते ।
याही ते मानव सरीर की, महिमा बुधजन कहते ॥
सो वपु पाय भजे नहि रामहिं, ते सठ डहडह डहते ।
'केसी' तोहिं उचित मारग सोइ जिहि मुनिनायक गहते ॥

श्रीश्यामनायकाजी

(प्रेषक—श्रीअच्युतधर्मनाथ सहायजी बी०ए०, बी०एल्०)

मन क्रम वचन नाम रुचि जेही ।
सोइ नामी को सत्य सनेही ॥
मन क्रम वचन नाम को नेमी ।
चिन्हिये तव नामी पद-प्रेमी ॥
नामी रूप प्रेम फुर ताही ।
मन क्रम वचन नाम रुचि जाही ॥
विह्वल प्रेम राम जब देही ।
सुधि बुधि तब एको नहिं रहही ॥

श्रीसिय-पद-पंकज गहे, सिय-मुख चन्द चकोर ।
सीताराम सप्रेम जपै, स्याम सुरति मन मोर ॥
सीयराम मन प्रेम तें, सुमिरौ ध्यान लगाय ।
सुरति निरंतर धरौ दृढ़, स्याम वृथा नहिं जाय ॥

भक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी

(जन्मस्थान—काशी । जन्म—९ सितम्बर १८५० । देहत्याग—६ जनवरी १८८५ । रसिक भक्त, हिंदीके महान् कवि और लेखक ।)

(१)

सब दीननि की दीनता, सब पापिन कौ पाप ।
सिमटि आइ मों मे रह्यौ, यह मन समुझहु आप ॥

प्रेम-सरोवर

जिहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय ।
जयति जगत पावन-करन प्रेम बरन यह दोय ॥
प्रेम प्रेम सब ही कहत प्रेम न जान्यौ कोय ।
जो पै जानहि प्रेम तो मरै जगत क्यों रोय ॥
प्राननाथ के न्हान हित धारि हृदय आनंद ।
प्रेम-सरोवर यह रचत रुचि सों श्री हरिचंद ॥
प्रेम-सरोवर यह अगम यहाँ न आवत कोय ।
आवत सो फिर जात नहिं रहत यहीं को होय ॥
प्रेम-सरोवर में कोऊ जाहु नहाय बिचारि ।
कछु के कछु ह्वै जाहुगे अपने हि आप बिसारि ॥
प्रेम-सरोवर नीर को यह मत जानेहु कोय ।
यह मदिरा को कुंड है न्हातहि बौरो होय ॥
प्रेम-सरोवर नीर है यह मत कीजौ ख्याल ।
परे रहैं प्यासे मरैं उलटी ह्याँ की चाल ॥
प्रेम-सरोवर पथ में चलिहैं कौन प्रवीन ।
कमल तंतु की नाल सों जाको मारग छीन ॥
प्रेम-सरोवर के लख्यौ चक्राबन चहुँ ओर ।
भँवर बिलच्छन चाहिए जो आवै या ठौर ॥
लोक-लाज की गाँठरी पहिले देइ डुबाय ।
प्रेम-सरोवर पंथ में पाछे राखै पाय ॥
प्रेम-सरोवर की लखी उलटी गति जग माँहि ।
जे डूबे तेई भले तिरे तरे ते नाँहि ॥
प्रेम-सरोवर की यहै तीरथ बिधि परमान ।
लोक बेद कों प्रथम ही देहु तिलांजलि-दान ॥
जिन पाँवन सों चलत तुम लोक बेद की गैल ।
सो न पाँव या सर धरौ जल ह्वै जैहै मैल ॥
प्रेम-सरोवर पंथ में कीचड़ छीलर एक ।
तहाँ इनारू के लगे तट पैं बृच्छ अनेक ॥
लोक नाम है पंक को बृच्छ बेद को नाम ।
ताहि देखि मत भूलियो प्रेमी सुजन सुजान ॥
गह्वर बन कुल बेद को जहँ छायो चहुँ ओर ।
तहँ पहुँचै केहि भाँति कोउ जा को मारग घोर ॥
तीछन बिरह दवागि सों भसम करत तरुबृंद ।
प्रेमीजन इत आवहीं न्हान हेत सानंद ॥
या सरवर की हौं कहा सोभा करौं बखान ।
मत्त मुदित मन भौंर जहँ करत रहत नित गान ॥
कबहुँ होत नहिं भ्रम-निसा इक रस सदा प्रकास ।
चक्रवाक बिछुरत न जहँ रमत एक रस रास ॥
नारद सिव सुक सनक से रहत जहाँ बहु मीन ।
सदा अमृत पी के मगन रहत होत नहिं दीन ॥
नंददास, आनंदघन, सूर, नागरीदास ।
कृष्णदास, हरिबंस, चैतन्य, गदाधर, ब्यास ॥
इन आदिक जग के जिते प्रेमी परम प्रसंस ।
तेई या सर के सदा सोभित सुंदर हंस ॥
तिन बिनु को इत आवई प्रेम-सरोवर न्हान ।
फँस्यौ जगत मरजाद में बृथा करत जन ध्यान ॥
अरे बृथा क्यों पचि मरौ ज्ञान-गरूर बढ़ाय ।
बिना प्रेम फीको सबै लाखन करहु उपाय ॥
प्रेम सकल श्रुति-सार है प्रेम सकल स्मृति-मूल ।
प्रेम पुरान प्रमान है कोउ न प्रेम के तूल ॥
बृथा नेम, तीरथ, धरम, दान, तपस्या आदि ।
कोऊ काम न आवई करत जगत सब बादि ॥
करत देखावन हेत सब जप तप पूजा पाठ ।
काम कछू इन सों नहीं, यह सब सूखे काठ ॥
बिना प्रेम जिय ऊपजै आनँद अनुभव नाहिं ।
ता बिनु सब फीको लगै समुझि लखहु जिय माँहि ॥
ज्ञान करम सों औरहू उपजत जिय अभिमान ।
दृढ़ निस्चै उपजै नहीं बिना प्रेम पहिचान ॥
परम चतुर पुनि रसिकबर कैसोहू नर होय ।
बिना प्रेम रूखो लगै बाजि चतुरई सोय ॥
जान्यो बेद पुरान पै सकल गुनन की खानि ।
जु पै प्रेम जान्यो नहीं कहा कियो सब जानि ॥
काम क्रोध भय लोभ मद सबन करन लय जौन ।
सदा सोहहू सों परे प्रेम मानियत तौन ॥

बिनु गुन जोबन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि ।
सुद्ध कामना तें रहित प्रेम सकल रस-खानि ॥
अति सूछम कोमल अतिहि अति पतरो अति दूर ।
प्रेम कठिन सब तें सदा नित इक रस भरपूर ॥
जग में सब कथनीय है सब कछु जान्यौ जात ।
पै श्री हरि अरु प्रेम यह उभय अकथ अलखात ॥
बँध्यौ सकल जग प्रेम में भयो सकल करि प्रेम ।
चलत सकल लहि प्रेम कों बिना प्रेम नहिं छेम ॥
पै पर प्रेम न जानहीं जग के ओछे नीच ।
प्रेम जानि कछु जानिबो बचत न या जग बीच ॥
दंपति-सुख अरु विषय-रस पूजा निष्ठा ध्यान ।
इन सों परे बखानिए शुद्ध प्रेम रस-खान ॥
जदपि मित्र सुत बंधु तिय इन में सहज सनेह ।
पै इन में पर प्रेम नहिं सो रे परे को एह ॥
एकंगी बिनु कारने इक रस सदा समान ।
पियहि गनै सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान ॥
डरै सदा चाहै न कछु सहै सबै जो होय ।
रहै एक रस चाहि कै प्रेम बखानौ सोय ॥

दशावतार

जयति वेणुधर चक्रधर शंखधर,
पद्मधर गदाधर शृंगधर वेत्रधारी ।
मुकुटधर क्रीटधर पीतपट-कटिन धर,
कंठ-कौस्तुभ-धरन दुःखहारी ॥
मत्स को रूप धरि वेद प्रगटित करन,
कच्छ को रूप जल मथनकारी ।
दलन हिरनाच्छ बाराह को रूप धरि,
दंत के अग्र धर पृथ्वि भारी ॥
रूप नरसिंह धर भक्त रच्छाकरन,
हिरनकस्यप-उदर नख बिदारी ।
रूप बावन धरन छलन बलिराज को,
परसुधर रूप छत्री सँहारी ॥
राम को रूप धर नाश रावन करन,
धनुषधर तीरधर जित सुरारी ।
मुसलधर हलधरन नीलपट सुभगधर,
उलटि करखन करन जमुन-बारी ॥
बुद्ध को रूप धर वेद निंदा करन,
रूप धर कल्कि कलजुग-सँघारी ।
जयति दस रूपधर कृष्ण कमलानाथ,
अतिहि अज्ञात लीला बिहारी ॥
गोरधर गोपिधर जयति गिरराजधर,
राधिका बाहु पर बाहु धारी ।
भक्तधर संतधर सोइ 'हरिचंद' धर
वल्लभाधीश द्विज वेषकारी ॥

विरह

(१)

सुन्दर स्याम कमलदल लोचन
कोटिन जुग बीते बिनु देखे ।
तलफत प्रान विकल निसि बासर
नैनन हूँ नहिं लगत निमेखे ॥
कोउ मोहिं हँसत करत कोउ निंदा
नहिं समुझत कोउ प्रेम परेखे ।
मेरे लेखे जगत बावरो
मैं बावरी जगत के लेखे ॥
ता पै ऊधव ज्ञान सुनावत
कहत करहु जोगिन के भेखे ।
बलिहारी यह रीझ रावरी
प्रेमिन लिखत जोग के लेखे ॥
बहुत सुने कपटी या जग मैं
पै तुम से तो तुमही पेखे ।
'हरीचंद' कहा दोष तुम्हारो
मेटै कौन करम की रेखे ॥

(२)

मोहन दरस दिखा जा ।
ब्याकुल अति प्रान-प्यारे दरस दिखा जा ॥
बिछुरी मैं जनम जनम की फिरी सब जग छान ।
अबकी न छोड़ों प्यारे यही राखी है ठान ।
'हरीचन्द' बिलम न कीजै दीजै दरसन दान ॥

(३)

हमें दरसन दिखा जाओ हमारे प्रान के प्यारे ॥
ते दरसन को ऐ प्यारे तरस रही आँख बरसों से ,
इन्हें आकर के समझाओ हमारे आँखों के तारे ॥
सिथिल भई हाय यह काया है जीवन ओठ पर आया ,
भला अब तो करो माया मेरे प्रानो के रखवारे ॥
अरज 'हरिचंद' की मानो लड़कपन अब भी मत ठानो ,
बचा लो प्रान दरसन दो अजी ब्रजराज के बारे ॥

(४)

पिय प्राननाथ मनमोहन सुन्दर प्यारे।
छिनहूँ मत मेरे होहु दृगन सों न्यारे॥
धनश्याम गोप-गोपी-पति गोकुल-राई।
निज प्रेमीजन-हित नित नित नव सुखदाई॥
बृन्दाबन-रच्छक ब्रज-सरबस बल-भाई।
प्रानहुँ ते प्यारे प्रियतम मीत कन्हाई॥
श्री राधानायक जसुदानंद दुलारे।
छिनहूँ मत मेरे होहु दृगन सों न्यारे॥ १॥

तुव दरसन बिन तन रोम रोम दुख पागे।
तुव सुमिरन बिनु यह जीवन विष सम लागे॥
तुमरे संजोग बिनु तन बियोग दुख दागे।
अकुलात प्रान जब कठिन मदन मन जागे॥
मम दुख जीवन के तुम ही इक रखवारे।
छिनहूँ मत मेरे होहु दृगन सों न्यारे॥ २॥

तुमहीं मम जीवन के अवलम्ब कन्हाई।
तुम बिनु सब सुख के साज परम दुखदाई॥
तुव देखे ही सुख होत न और उपाई।
तुमरे बिनु सब जग सूनो परत लखाई॥
हे जीवनधन मेरे नैनों के तारे।
छिनहूँ मत मेरे होहु दृगन सों न्यारे॥ ३॥

तुमरे बिनु इक छन कोटि कलप सम भारी।
तुमरे बिनु स्वरगहु महा नरक दुखकारी॥
तुमरे सँग बनहू घर सों बढ़ि बनवारी।
हमरे तौ सब कुछ तुमही हौ गिरधारी॥
'हरिचंद' हमारे राखौ मान दुलारे।
छिनहूँ मत मेरे होहु दृगन सों न्यारे॥ ४॥

(५)

इन दुखिया अँखियान कौं सुख सिरजोई नाहिं।
देखैं बनै न देखते बिन देखे अकुलाहिं॥
बिनु देखे अकुलाहिं बिकल अँसुवन झर लावैं।
सनमुख गुरुजन-लाज भरी ये लखन न पावैं॥
चित्रहु लखि 'हरिचंद' नैन भरि आवत छिन छिन।
सुपन नींद तजि जात चैन कबहूँ न पायो इन॥ १॥
बिनु देखे अकुलाहिं बिरह-दुख भरि भरि रोवैं।
खुली रहैं दिन रैन कबहुँ सपनेहुँ नहिं सोवैं॥
'हरीचंद' संजोग बियोग सम दुखित सदाहीं।
हाय निगोड़ी अँखिन सुख सिरजोई नाहीं॥ २॥
बिनु देखे अकुलाहिं बावरी है है रोवैं।
उघरी उघरी फिरैं लाज तजि सब सुख खोवैं॥
देखै 'श्रीहरिचंद' नैन भरि लखैं न सखियाँ।
कठिन प्रेम-गति रहत सदा दुखिया ये अँखियाँ॥ ३॥

विनय—प्रार्थना

(६)

तुम क्यों नाथ सुनत नहिं मेरी।
हम से पतित अनेकन तारे पावन की बिरुदावलि तेरी॥
दीनानाथ दयाल जगत पति सुनिये बिनती दीनहु केरी।
'हरीचंद' को सरनहिं राखौ अब तौ नाथ करहु मत देरी॥

(७)

अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं।
जा दिन मैं तजि और संग सब हम ब्रज-बास बसैहैं॥
संग करत नित हरि-भक्तन को हम नेकहु न अघैहैं।
सुनत श्रवन हरि-कथा सुधारस महामत्त है जैहैं॥
कब इन दोउ नैनन सों निसि दिन नीर निरंतर बहिहै।
'हरीचंद' श्री राधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं॥

(८)

अहो हरि वह दिन बेगि दिखाओ।
दै अनुराग चरन-पंकज को सुत-पितु-मोह मिटाओ॥
और छोड़ाइ सबै जग-वैभव नित ब्रज-बास बसाओ।
जुगल-रूप रस-अमृत-माधुरी निस दिन नैन पिआओ॥
प्रेम-मत्त है डोलत चहुँ दिसि तन की सुधि बिसराओ।
निस दिन मेरे जुगल नैन सों प्रेम-प्रवाह बहाओ॥
श्री बल्लभ-पद-कमल अमल मैं मेरी भक्ति दृढ़ाओ।
'हरीचंद' को राधा-माधव अपनो करि अपनाओ॥

(९)

उधारौ दीनबंधु महराज।
जैसे हैं तैसे तुमरे ही नाहिं और सों काज॥
जौ बालक कपूत घर जनमत करत अनेक बिगार।
तौ माता कहा वाहि न पूछत भोजन समय पुकार॥
कपटहु भेष किए जो जाँचत राजा के दरबार।
तौ दाता कहा वाहि देत नहिं निज प्रन जानि उदार॥
जौ सेवक सब भाँति कुचाली करत न एकौ काज।
तऊ न स्वामि सयान तजत तेहि बाँह गहे की लाज॥

विधि-निषेध कछु हम नहिं जानत एक आस बिस्वास।
अब तौ तारे ही बनिहै नहिं ह्वैहै जग उपहास॥
हमरो गुन कोऊ नहिं जानत तुमरो प्रन बिख्यात।
'हरीचंद' गहि लीजै भुज भरि नाहीं तो प्रन जात॥

(१०)

भरोसो रीझन ही लखि भारी।
हमहूँ को बिस्वास होत है, मोहन 'पतित उधारी'॥
जो ऐसो सुभाव नहिं हो तो क्यों अहीर कुल भायो।
तजिकै कौस्तुभ सो मनि गल क्यों गुंजा हार धरायौ॥
कीट मुकुट सिर छाँड़ि पखौआ मोरन को क्यों धारयौ।
फेंट कसी टेंटिन पै, मेवन को क्यों स्वाद बिसारयौ॥
ऐसी उलटी रीझि देखिकै, उपजति है जिय आस।
जग निंदित 'हरिचंद हुँ' को अपनावहिंगे करि दास॥

(११)

हमहूँ कबहूँ सुख सों रहते।
छाँड़ि जाल सब, निसिदिन मुख सों, केवल कृष्णहिं कहते॥
सदा मगन लीला अनुभव में, दृग दोउ अविचल बहते।
'हरीचंद' घनस्याम बिरह इक, जग दुख तृन सम दहते॥

(१२)

हमैं तुम देहौ का उतराई।
पार उतार देहिं जो तुम को करि कै बहुत लेवाई॥
जोबन धन बहु है तुम्हरे ढिग सो हम लेहिं छोड़ाई।
हम तुम्हरे बस हैं मन-मोहन चाहो सो करो कन्हाई॥
निरजन बन में नाव लगाई करी केलि मन-भाई।
'हरीचंद' प्रभु गोपी-नायक जग-जीवन ब्रजराई॥

(१३)

ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै।
गोपी पद-पंकज पावन की रज जा में सिर भीजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह बर 'हरीचंद' को दीजै॥

(१४)

तुम्हैं तो परिहास ही सों प्रीति।
लोकन वेद-विरुद्ध चलाई रची यह उलटी रीति॥
[illegible] हो निश्चय करि तुम सों किन्हों न नेह।
वेद-पुरान-कथन भक्तन को [illegible] यह [illegible]॥
[illegible]
[illegible] कछु न समान॥

जानत भए अजान कहो क्यों रहे तेल दै कान।
तुम्हैं छोड़ि जग को नहिं जो मोहिं निगरयौ करत बखान॥
बलिहारी यह रीझि रावरी कहाँ खुटानी आय।
'हरीचंद' सों नेह निबाहत हरि कछु कही न जाय॥

(१५)

नाथ तुम प्रीति निबाहत साँची।
करत इकंगी नेह जनन सों यह उलटी गति राँची॥
जेहि अपनायो तेहि न तज्यौ फिर अहो कठिन यह नेम।
जेहि पकरयौ छोड़त नहिं ता कों परम निबाहत प्रेम॥
सो भूले पै तुम नहिं भूलत सदा सँवारत काज।
'हरीचंद' की राखत हो बलि बाँह गहे की लाज॥

(१६)

प्यारे अब तो तारेहि बनिहै।
नाहीं तो तुम कों का कहिहै जो मेरी गति सुनिहै॥
लोक वेद में कहत सबै हरि अभय-दान के दानी।
तेहि करिहौ साँचो कै झूठो सो मोहि भाखो बानी॥
भले बुरे जैसे हैं तैसे तुम्हरे ही जग जानै।
'हरीचंद' को तारेहि बनिहै को अब औरहि मानै॥

(१७)

दीनदयाल कहाइ कै धाइ कै दीनन सों क्यों सनेह बढ़ायो।
त्यों 'हरिचंद' जू बेदन मैं करुनानिधि नाम कहो क्यों गनायो॥
एती रुखाई न चाहिये तापै कृपा करिकै जेहि को अपनायो।
ऐसो ही जो पै सुभाव रह्यौ तो गरीब-नेवाज क्यों नाम धरायो॥

(१८)

आजु लौं जौ न मिले तो कहा हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं॥
जो 'हरिचंद' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावैं॥

(१९)

नाथ तुम अपनी ओर निहारो।
हमरी ओर न देखहु प्यारे निज गुन गनन बिचारो॥
जो लखते अब लौं जन-औगुन अपने गुन बिसराई।
तो तारते किमि अजामेल से पापी देहु बताई॥
जब लौं तो कबहूँ नहिं देखे जन के औगुन प्यारे।
तो अब नाथ नई क्यों ठानत भाखहु बार हमारे॥
तुव गुन छमा दया सों मेरे अघ नहिं बढ़े कन्हाई।
तासों तारि लेहु नँदनंदन 'हरीचंद' को धाई॥

(२०)

मेरी देखहु नाथ कुचाली ।
लोक वेद दोउन सों न्यारी हम निज रीति निकाली ॥
जैसो करम करै जग में जो सो तैसो फल पावै ।
यह मरजाद मिटावन की नित मेरे मन में आवै ॥
न्याय सहज गुन तुमरो जग के सब मतवारे मानैं ।
नाथ ढिठाई लखहु ताहि हम निहचय झूठो जानैं ॥
पुन्यहि हेम हथकड़ी समझत तासों नहिं बिस्वासा ।
दयानिधान नाम की केवल या 'हरिचंद हि' आसा ॥

(२१)

अहो हरि अपुने बिरुदहि देखौ ।
जीवन की करनी करुनानिधि सपनेहुँ जनि अवरेखौ ॥
कहुँ न निबाह हमारो जौ तुम मम दोसन कहँ पेखौ ।
अवगुन अमित अपार तुम्हारे गाइ सकत नहिं सेखौ ॥
करि करुना करुनामय माधव हरहु दुखहि लखि भेखौ ।
'हरीचंद' मम अवगुन तुव गुन दोउन को नहिं लेखौ ॥

(२२)

तुम सम कौन गरीब-नेवाज ।
तुम साँचे साहिब करुनानिधि पूरन जन-मन-काज ॥
रहि न सकत लखि दुखी दीन जन उठि धावत ब्रजराज ।
बिह्वल होइ सँवारत निज कर निज भक्तन के काज ॥
स्वामी ठाकुर देव साँच तुम वृन्दावन-महराज ।
'हरीचंद' तजि तुमहिं और जे जाँचत ते बिनु लाज ॥

(२३)

तुमरी भक्त-बछलता साँची ।
कहत पुकारि कृपानिधि तुम बिनु,
और प्रभुन की प्रभुता काँची ॥
सुनत भक्त-दुख रहि न सकत तुम,
बिनु धाए इकहू छिन बाँची ।
प्रबल दयानिधि आरत लखतहि,
गाँव इक पगु लेत न जाँची ॥
दुखी देखि प्रह्लाद भक्त निज,
प्रगटे जग जै जै धुनि माची ।
'हरीचंद' हरि सोइ उबारयौ,
कीरति नहीं दूसरे हि साँची ॥

(२४)

मेरे माई प्रान जीवन धन माधो ।
नेम धरम ब्रत जप तप सबही ज्यू के मिलन अराधो ॥
जो कछु करों सबै इन के हित इन तजि और न साधौं ।
'हरीचंद' मेरे यह सरबस भजों कोटि तजि बाधो ॥

(२५)

तुम बिन प्यारे कहूँ सुख नाहीं ।
भटक्यो बहुत स्वाद रस-लंपट ठौर-ठौर जग माहीं ॥
प्रथम चाव करि बहुत पियारे जाइ जहाँ ललचाने ।
तहँ ते फिर ऐसो जिय उचटत आवत उलटि ठिकाने ॥
जित देखो तित स्वारथ ही की निरस पुरानी बातैं ।
अतिहि मलिन व्यवहार देखि के घिन आवत है तातैं ॥
हीरा जेहि समझत सो निकरत काँचो काँच पियारे ।
या व्यवहार नफा पाछे पछतानो कहत पुकारे ॥
सुंदर चतुर रसिक अरु नेही जानि प्रीति जित कीनो ।
तित स्वारथ अरु कारो चित हम भले सबहि लख लीनो ॥
सब गुन होई जुपै तुम नाहीं तौ बिनु लोन रसोई ।
ताही सों जहाज-पच्छी-सम गयो अहो मन होई ॥

(२६)

भूलि भव-भोगन भ्रमत फिरयौ ।
खर कूकर सूकर लौं इत उत डोलत रमत फिरयौ ॥
जहँ जहँ छुद्र लख्यौ छुद्री सुख तहँ तहँ भ्रमत फिरयौ ।
छन भर सुख नित दुखमय जे रस तिन में जमत फिरयौ ॥
कबहुँ न दुष्ट मनहि करि निज बस कामहिं दमत फिरयौ ।
'हरीचंद' हरि पद-पंकज गहि कबहुँ न नमत फिरयौ ॥

(२७)

तोसों और न कछु प्रभु जाँचौं ।
इतनो ही जाँचत करुना-निधि तुम ही में इक राचौं ॥
खर कूकुर लौं द्वार द्वार पै अरथ-लोभ नहिं नाचौं ।
या पाखान-सरिस हिय पै नाम तुम्हारोइ खाँचौं ॥
बिरह-पुंज मैं जग-दुख तजि तव बिरह-अगिन तन ताचौं ।
'हरीचंद' इक रस तुमसों मिलि अतिआनंद मन माचौं ॥

(२८)

कहाँ लौं निज नीचता बखानौं ।
जब सौं तुम सौं बिछुरे तब सौं अब ही जनम भिरानौं ॥
दुष्ट सुभाव विवेक बिनासे मंदहु छिनै मनाऊं ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
'हरीचंद' [illegible] ।

(२९)

प्रभु मैं सेवक निमक-हराम।
खाइ खाइ के मद्र मुटैहौं करिहौं कछू न काम॥
बात बनैहौं लंबी-चौड़ी बैठ्यौ बैठ्यौ धाम।
त्रिनहु नाहिं इत उत सरकैहौं रहिहौं बन्यौ गुलाम॥
नाम बेंचिहौं तुमरो करि करि उलटो अघ के काम।
'हरीचंद' ऐसन के पालक तुमहि एक घनस्याम॥

(३०)

उमरि सब दुख ही माँहि सिरानी।
अपने इनके उनके कारन रोअत रैन बिहानी॥
जहँ जहँ सुख की आसा करि कै मन बुधि सह लपटानी।
तहँ तहँ धन संबंध जनित दुख पायो उलटि महानी॥
सादर पियो उदर भरि बिष कहँ धोखे अमृत जानी।
'हरीचंद' माया-मंदिर सों मति सब बिधि बौरानी॥

(३१)

बैस सिरानी रोवत रोवत।
सपनेहुँ चौंकि तनिक नहिं जागी बीती सबही सोवत॥
गई कमाई दूर सबै छन रहे गाँठ को खोवत।
औरहु कजरी तन लपटानी मन जानी हम धोवत॥

(३२)

प्रभु हो अपनो बिरुद सम्हारो।
जथा-जोग फल देन जनन की या खल बानि बिसारो॥
न्यायी नाम छाँड़ि करुनानिधि दया-निधान कहाओ।
मेटि परम मरजाद श्रुतिन की कृपा-समुद्र बहाओ॥
अपुनी ओर निहारि साँवरे बिरदहु राखहु थापी।
जामैं निबहि जाँहि कोऊ बिधि 'हरिचंदहु' से पापी॥

(३३)

लावनी

वही तुम्हें जाने प्यारे जिस को तुम आप ही बतलाओ।
देखे वही बस, जिसे तुम खुद अपने को दिखलाओ॥
क्या मजाल है तेरे नूर की तरफ आँख कोई खोले।
क्या समझे कोई, जो इस झगड़े के बीच आ कर बोले॥
खयाल के बाहर की बातें भला कोई क्योंकर तोले।
ताकत क्या है, मुअम्मा तेरा कोई हल कर जो ले॥
कहाँ खाक यह कहाँ पाक तुम भला ध्यान में क्यों आओ।
देखे वही बस, जिसे तुम खुद अपने को दिखलाओ॥१॥

गरचे आज तक तेरी जुस्तजू खासो आम सब किया किये।
लिखीं किताबें हजारों लोगों ने ढेरे ही लिये॥
बड़े बड़े झगड़े में पड़े हर शख्स जान रहते थे दिये।
उम्र गुजारी, रहे गल्तां पेचाँ जब तक कि जिये॥
पर तुम ही वह शै कि किसी के हाथ कभी क्योंकर आओ।
देखे वही बस, जिसे तुम खुद अपने को दिखलाओ॥२॥

पहिले तो लाखों में कोई बिरला ही झुकता है इधर।
अपने ध्यान में, रहा वह चूर झुका भी कोई अगर॥
राह छोड़कर मजहब का खोजा न किसी ने तुम्हें मगर।
तुमको हाजिर, न पाया कभी किसी ने हर जाँ पर॥
दूर भागते फिरे तो कोई कहाँ से पाये बतलाओ।
देखे वही बस, जिसे तुम खुद अपने को दिखलाओ॥३॥

कोई छाँट कर शान फूल के ज्ञानी जो कहलाते हैं।
कोई आप ही, ब्रह्म बन करके भूले जाते हैं॥
मिला अलग निरगुन व सगुन कोई तेरा भेद बताते हैं।
गरज कि तुझ को, ढूँढ़ते हैं सब पर नहिं पाते हैं॥
'हरीचंद' अपनों के सिवा तुम नजर किसी के क्यों आओ।
देखे वही बस, जिसे तुम खुद अपने को दिखलाओ॥४॥

(३४)

लावनी

चाहे कुछ हो जाय उम्र भर तुझी को प्यारे चाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दम तक यार निबाहैंगे॥
तेरी नजर की तरह फिरैगी कभी न मेरी यार नजर।
अब तो यों ही, निभैगी यों ही जिंदगी होगी बसर॥
लाख उठाओ कौन उठे है अब न छुटैगा तेरा दर।
जो गुजरैगी, सहैंगे करैंगे यों ही यार गुजर॥
करोगे जो जो जुल्म न उनको दिलबर कभी उलाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दम तक यार निबाहैंगे॥१॥

आह करैंगे तरसैंगे गम खायंगे चिल्लायंगे।
दीन व ईमाँ, बिगाड़ेंगे घर-बार डुबायंगे॥
फिरैंगे दर दर बे-इज्जत हो आवारे कहलायंगे।
रोएँगे हम, हाल कह औरों को भी रुलायंगे॥
हाय हाय कर सिर पीटैंगे तड़पैंगे कि कराहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दम तक यार निबाहैंगे॥२॥

रुख फेरो मत मिलो देखने को भी दूर से तरसाओ।
इधर न देखो, रकीबों के घर में प्यारे जाओ॥

गाली दो कोसो झिड़की दो खफा हो घर से निकलवाओ।
कत्ल करो या, नीम-बिसमिल कर प्यारे तड़पाओ॥
जितना करोगे जुल्म हम उतना उलटा तुम्हें सराहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दम तक यार निबाहैंगे॥३॥

होके तुम्हारे कहाँ जाँय अब इसी शर्म से मरते हैं।
अब तो यों ही, जिंदगी के बाकी दिन भरते हैं॥
मिलो न तुम या कत्ल करो मरने से नहीं हम डरते हैं।
मिलेंगे तुम को, बाद मरने के कौल यह करते हैं॥
'हरीचंद' दो दिन के लिये घबरा के न दिल को डाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दम तक यार निबाहैंगे॥४॥

(३५)

लावनी

जबतक फँसे थे हम मैं तबतक दुख पाया औ बहुत रोए।
मुँह काला कर, बखेड़े का हम भी सुख से सोए॥
बिना बात इस में फँस कर रंज सहा हैरान रहे।
मजा बिगाड़ा, अपना नाहक ही को परेशान रहे॥
इधर उधर झगड़े में पड़े फिरते सब पर गरदान रहे।
अपना खोकर, कहाते बेवकूफो नादान रहे॥
बोझ फिक्र का नाहक को फिरते थे गरदन पर ढोए।
मुँह काला कर, बखेड़े का हम भी सुख से सोए॥१॥

मतलब की दुनिया है कोई काम नहीं कुछ आता है।
अपने हित को, मुहब्बत सब से सभी बढ़ाता है॥
कोई आज औ कल कोई सब छोड़ के आखिर जाता है।
गरज कि अपनी गरज को सभी मोह फैलाता है॥
जब तक इसे जमा समझे थे तब तक थे सब कुछ खोए।
मुँह काला कर, बखेड़े का हम भी सुख से सोए॥२॥

जिसको अमृत समझे थे हम वह तो जहर हलाहल था।
मीठा जिसको, जानते थे वह इनारू का फल था॥
जिसको सुख का घर समझे थे वह तो दुख का जंगल था।
जिन को सखा, समझते थे वह ठगों का दल था॥
जीवन फल की आशा में उलटे हमने थे विष बोए।
मुँह काला कर, बखेड़े का हम भी सुख से सोए॥३॥

जहाँ देखो वहाँ दगा और फरेब औ मक्कारी है।
दुख ही दुख से, बनाई यह सब दुनिया सारी है॥
आदि मध्य औ अंत एक रस दुख ही इसमें जारी है।
कृष्ण भजन बिनु, और जो कुछ है वह ख्वारी है॥

'हरीचंद' भव पंक छुटै नहिं बिना भजन-रस के धोए।
मुँह काला कर, बखेड़े का हम भी सुख से सोए॥४॥

उद्बोधन—चेतावनी

(३६)

रसने! रटु सुंदर हरि-नाम।
मंगल करन हरन सब अवगुन करन कलपतरु काम॥
तू तौ मधुर सलोनो चाहत प्राकृत स्वाद मुदाम।
'हरीचंद' नहिं पान करत क्यों कृष्ण-अमृत अभिराम॥

(३७)

आय कै जगत बीच काहू सों न करै बैर
कोऊ कछू काम करै इच्छा जौ न जोई की।
ब्राह्मण की छत्रिन की बैसनि की सूद्रन की
अन्त्यज म्लेछ की न ग्वाल की न भोई की॥
भले की बुरे की 'हरिचंद' से पतितहू की
थोरे की बहुत की न एक की न दोई की।
चाहे जो सुनिंदा भयो जग बीच मेरे मन
तौ न तू कबहुँ कहूँ निंदा कर कोई की॥

(३८)

तुझ पर काल अचानक टूटैगा।
गाफिल मत हो लवा बाज ज्यों हँसी खेल में लूटैगा॥
कब आवैगा कौन राह से प्रान कौन बिधि छूटैगा।
यह नहिं जानि परैगी चौचक यह तन दरपन फूटैगा॥
तब न बचावैगा कोई जब बाढ़ दइ सिर कूटैगा।
'हरीचंद' एक वही बचैगा जो हरिपद-रस घूँटैगा॥

(३९)

हम कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
देखो लाद चले सब पथी तुम क्यों रहे भुलाई॥
अब चलना ही निहचै है तो ले किन माल लदाई।
'हरीचंद' हरि-पद बिनु नहिं तो रहि जैहौ मुँह बाई॥

(४०)

आवैगी इक दिन मौत जरूर।
फिर क्यों इतने गाफिल होकर बने नशे में चूर॥
यही जुबैं तुम्हें खाइँगी जिन्हें समझते हूर।
माया मोह जाल की फाँसी इससे भागो दूर।
जग दुख-दद धोखा [illegible] है यह कौन [illegible]।
[illegible] मन से [illegible] अब [illegible] बहुत दूर॥

(५८)

याकी गति अंगन की मति पर गई मंद
मूल झाँझरी सी है कै देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई
सुख के समाज जित तित लागे दूर जान ॥
'हरीचंद' रावरे बिरह जग दुखमय
भयो कछू और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे बैनहु अथान लागे
आओ प्राननाथ अब प्रान लागे मुरझान ॥

(२)

भगवान् श्रीराधा-कृष्ण और श्रीसीता-रामके चरण-चिह्नोंका वर्णन

जयति जयति श्रीराधिका चरन जुगल करि नेम।
जाकी छटा प्रकास तें पावत पामर प्रेम ॥
कहँ हरि-चरन अगाध अति कहँ मोरी मति थोर।
तदपि कृपा-बल लहि कहत छमिय दिठाई मोर ॥

छप्पय

स्वस्तिक स्यंदन संख सक्ति सिंहासन सुंदर।
अंकुस ऊरध रेख अब्ज अठकोन अमलतर ॥
बाजी बारन बेनु बारिचर बज्र बिमल बर।
कुंत कुमुद कलधौत कुंभ कोदंड कलाधर ॥
असि गदा छत्र नवकोन जव तिल त्रिकोन तरु तीर गृह।
हरिचरन चिह्न बत्तिस लखे अमिकुंड अहि सैल सह ॥

स्वस्तिक-चिह्नका भाव

जे निज उर मैं पद धरत असुभ तिन्हैं कहुँ नाहिं।
या हित स्वस्तिक चिह्न प्रभु धारत निज पद माहिं ॥

रथका चिह्न

निज भक्तन के हेतु जिन सारथिपन हूँ कीन।
प्रगटित दीन-दयालुता रथ को चिह्न नवीन ॥
माया को रन जय करन बैठहु या पैं आइ।
यह दरसावन हेत रथ चिह्न चरन दरसाइ ॥

शङ्खका चिह्न

भक्तन की जय सर्वदा यह दरसावन हेतु।
संख चिह्न निज चरन मैं धारत भव-जल-सेतु ॥
परम अभय पद पाइहौ याकी सरनन आइ।
मनहुँ चरन यह कहत है संख बजाइ सुनाइ ॥
जग पावनि गंगा प्रगट याही सों इहि हेत।
चिह्न सुजल, के तत्त्व को धारत रमा-निकेत ॥

शक्ति-चिह्नका भाव

बिना मोल की दासिका भक्ति स्वतन्त्रा नाहिं।
भक्तिमान हरि याहि तें भक्ति चिह्न पद माहिं ॥

भक्तन के दुख दलन को बिधि की लीक मिटाइ।
परम सक्ति यामें अहै सोई चिह्न लखाइ ॥

सिंहासन-चिह्नका भाव

श्री गोपीजन के सुमन यामैं करैं निवास।
या हित सिंहासन धरत हरि निज चरनन पास ॥
जो आवै याकी सरन सो जग राजा होइ।
या हित सिंहासन सुभग चिह्न रह्यो दुख खोइ ॥

अंकुश-चिह्नका भाव

मन-मतंग निज जनन के नेकु न इत उत जाहिं।
एहि हित अंकुस धरत हरि निज पद कमलन माँहिं ॥
याको सेवक चतुरतर गननायक सम होइ।
या हित अंकुस चिह्न हरि चरनन सोहत सोइ ॥

ऊर्ध्व रेखा-चिह्नका भाव

कबहुँ न तिनकी अधोगति जे सेवत पद-पद्म।
ऊरध रेखा चिह्न पद येहि हित कीनो सद्म ॥
ऊरधरेता जे भये ते या पद कों सेइ।
ऊरध रेखा चिह्न यो प्रगट दिखाई देइ ॥
यातें ऊरध और कछु ब्रह्म अंड मैं नाहिं।
ऊरध रेखा चिह्न है या हित हरि-पद माँहिं ॥

कमल-चिह्नका भाव

सजल नयन अरु हृदय मैं यह पद रहिबे जोग।
या हित रेखा कमल की करत कृष्ण-पद भोग ॥
श्रीलक्ष्मी को धाम है याही चरनन-तीर।
या हित रेखा कमल की धारत पद बलबीर ॥
बिधि सों जग, बिधि कमल सों, सो हरि सों प्रगटाइ।
राधावर-पद-कमल मैं या हित कमल लखाइ ॥
फूलत मानिक दिन लखे मकुचत लखि तम रात।
या हित श्रीगोपाल-पद जलज चिन्ह दरसात ॥

श्रीगोपीजन-मन-भ्रमर के ठहरन की ठौर ।
या हित जल-सुत-चिन्ह श्रीहरिपद जन सिरमौर ॥
बढ़त प्रेम-जल के बढ़े घटे नाहिं घटि जात ।
यह दयालुता प्रगट करि पंकज चिन्ह लखात ॥
काठ ज्ञान बैराग्य मैं बँध्यो बेधि उड़ि जात ।
याहि न भेघत मन-भ्रमर या हित कमल लखात ॥

अष्टकोण-चिह्नका भाव

आठो दिसि भूलोक को राज न दुर्लभ ताहि ।
अष्टकोन को चिन्ह यह कहत जु सेवै याहि ॥
अनायास ही देत है अष्ट सिद्धि सुर-धाम ।
अष्टकोन को चिन्ह पद धारत येहि हित स्याम ॥

अश्व-चिह्नका भाव

हयमेधादिक जग्य के हम ही हैं इक देव ।
अश्व-चिन्ह पद धरत हरि प्रगट करन यह भेव ॥
याही सों अवतार सब हयग्रीवादिक देव ।
अवतारी हरि के चरन याही तें हय-रेख ॥
बैरहु जे हरि सों करहिं पावहिं पद निर्वान ।
या हित केसी-दमन-पद हय को चिन्ह महान ॥

हाथीके चिह्नका भाव

जाहि उधारत आपु हरि राखत तेहि पद पास ।
या हित गज को चिन्ह पद धारत रमा-निवास ॥
सब को पद गज-चरन मैं *सो गज हरि-पग माँहिं ।
यह महत्व सूचन करत गज के चिन्ह देखाहिं ॥
सब कवि कविता मैं कहत गजगति राधानाथ ।
ताहि प्रगट जग मैं करन धरयो चिन्ह गज साथ ॥

वेणु-चिह्नका भाव

सुर नर मुनि नर नाद के बस यहीं सों होत ।
या हित बंसी चिन्ह हरि पद मैं प्रगट उदोत ॥
गाँठ नहीं जिनके हृदय ते या पद के जोग ।
या हित बंसी चिन्ह पद जानहु सेवक लोग ॥
जे जन हरि-गुन गावहीं राखत तिन को पास ।
या हित बंसी चिन्ह हरि पद मैं करत निवास ॥
प्रेम भाव सों जे छिपे छेद करेजे माहिं ।
तेई या पद मैं बसैं आइ मढ़े कोउ नाहिं ॥
मनहुँ पोर सब वर्नत है बंसी हरि-पद पास ।
गोपी सह त्रैलोक के उन्नत की भरि आस ॥

श्रीगोपिन की सौति लखि पद-तर दीनी डारि ।
यातैं बंसी चिन्ह निज पद मैं धरत मुरारि ॥
आई केवल व्रज-वधू क्यों नहिं सब सुर-नारि ।
या हित कोपित होइ हरि दीनी पद तर डारि ॥
मन चोरयो बहु त्रियन को इन श्रवनन मग पैठि ।
ता प्राछित को तर करत मनु हरि-पद-सर बैठि ॥
बेन सरिस हू पातकी सरन गये रखि लेत ।
बेनु-धरन के कमल-पद बेनु चिन्ह यहि हेत ॥

मीन-चिह्नका भाव

अति चचल बहु ध्यान मों आवत हृदय मँझार ।
या हित चिन्ह सु-मीन को हरि-पद मैं निरधार ॥
जब लौं हिय मे सजलता तब लौं याको बास ।
सुष्क भए पुनि नहिं रहत इमि यह करत प्रकास ॥
जाके देखत ही बढ़े व्रज तिय मन मैं काम ।
रति-पति ध्वज को चिन्ह पद यातैं धारत स्याम ॥
हरि मनमथ को जीति कै ध्वज राख्यो पद लाइ ।
यातैं रेखा मीन की हरि-पद मैं दरसाइ ॥
महा प्रलय मैं मीन बनि जिमि मनु रच्छा कीन ।
तिमि भवसागर को चरन या हित रेखा मीन ॥

वज्र-चिह्नका भाव

चरन परस नित जे करत इन्द्र-तुल्य ते होत ।
वज्र-चिन्ह हरि-पद-कमल येहि हित करत उदोत ॥
पर्वत से निज जनन के पापहि काटन काज ।
वज्र-चिन्ह पद मैं धरत कृष्णचंद्र महराज ॥
वज्रनाभ यासों प्रगट जादव सेस लखाहिं ।
पालन-हित निज बंस भुवि वज्र चिन्ह पद माहिं ॥

बरछी-चिह्नका भाव

मनु हरिहू अघ सों हरन मति कहुँ आवै पास ।
या हित बरछी धारि पग करत दूर सों नास ॥

कुमुद-फूलके चिह्नका भाव

श्रीराधा-मुखचंद्र लखि अति अनंद भरिजात ।
कुमुद-चिन्ह श्रीकृष्ण-पद या हित प्रगट लखात ॥
सीतल निसि लखि फूलई तेज दिवस लखि बंद ।
यह सुभाव प्रगटित करत कुमुद चरन नँदनंद ॥

स्वर्णके पूर्ण कुम्भके चिह्नका भाव

नीरस कबैं नहिं बनै बसैं जे रस भरपूर ।
पूर्न कुंभ को चिन्ह मनु या हित धारत सूर ॥

---

* सर्वे यदा हरिपदे निवसतः ।

गोपीजन-विरहाग्नि पुनि निज जन के त्रयताप।
मेटन के हित चरन मैं कुंभ धरत हरि आप॥
सुरसरि श्रीहरि-चरन सों प्रगटी परम पवित्र।
या हित पूरन कुंभ को धारत चिन्ह विचित्र॥
कबहुँ अमंगल होत नहिं नित मंगल सुख-साज।
निज भक्तन के हेत पद कुंभ धरत ब्रजराज॥
श्रीगोपीजन-वाक्य के पूरन करिबे हेत।
सुकुच कुंभ को चिन्ह पग धारत रमानिकेत॥

धनुषके चिह्नका भाव

इहाँ लक्ष्य नहिं आवहीं आवहिं जे गइ जाहिं।
धनुष चिन्ह एहि हेतु है कृष्ण-चरन के माँहि॥
सुरत प्रेम के घन जहाँ दृग बरसा बरसात।
मन संध्या फूलत जहाँ तहँ यह धनुष लखात॥

चन्द्रमाके चिह्नका भाव

श्रीमित्र सों निज चरन सों प्रकट करन हित हेत।
चंद्र-चिन्ह हरि-पद बसत निज जन कों सुख देत॥
जे या चरनहिं सिर धरें ते नर रुद्र समान।
चंद्र-चिन्ह यहि हेतु निज पद राखत भगवान॥
निज जन पै बरसत सुधा हरत सकल त्रयताप।
चंद्र-चिन्ह येहि हेतु हरि धारत निज पद आप॥
भक्त जनन के मन सदा यामैं करत निवास।
यातें मन को देवता चंद्र-चिन्ह हरि पास॥
बहु तारन को एक पति जिमि ससि तिमि ब्रजनाथ।
दच्छिनता प्रगटित करत चंद्र-चिन्ह पद साथ॥
जाकी छटा प्रकाश तें हरत हृदय-तम घोर।
या हित ससि को चिन्ह पद धारत नंदकिसोर॥
निज भगिनी श्री देवि के चंद्र बसौ मनु आइ।
चंद्र-चिन्ह ब्रजचंद्र-पद यातें प्रगट लखाइ॥

तलवारके चिह्नका भाव

निज जन के अघ-अवगुन को यथा नसत करि रोष।
यहि हित असि पग मैं धरत दूर करत जन-दोष॥

गदा-चिह्नका भाव

कष्ट-कलुष दुख-दारुन गमाय जो नर माँहि।
गदा-चिन्ह येहि हेतु हरि धरत चरन सुख माँहि॥
भक्त-जन [illegible] दिन [illegible] मन मद प्रगट करंत।
गदा-चिन्ह निज [illegible] पद धारत [illegible]॥

छत्रके चिह्नका भाव

भय दुख आतप सों तपे तिनको अति प्रिय एह।
छत्र-चिन्ह येहि हेत पग धारत साँवल देह॥
ब्रज राख्यो सुर-कोप तें भव-जल तें निज दास।
छत्र-चिन्ह पद मैं धरत या हित रमानिवास॥
याकी छाया मैं बसत महाराज सम होय।
छत्र-चिन्ह श्रीकृष्ण पद यातें सोहत सोय॥

नवकोण-चिह्नका भाव

नवो खंड पति होत हैं सेवत जे पद-कंजु।
चिन्ह धरत नवकोन को या हित हरि-पद मंजु॥
नवधा भक्ति प्रकार करि तब पावत येहि लोग।
या हित है नवकोन को चिन्ह चरन गत सोग॥
नव जोगेश्वर जगत तजि यामैं करत निवास।
या हित चिन्ह सुकोन नव हरि-पद करत प्रकास॥
नव ग्रह नहिं बाधा करत जो एहि सेवत नेक।
याही तें नवकोन को चिन्ह धरत सविवेक॥
अष्ट सखिन के संग श्रीराधा करत निवास।
याही हित नवकोन को चिन्ह कृष्ण-पद पास॥
यामैं नव रस रहत हैं यह अनंद की खानि।
याही तें नवकोन को चिन्ह कृष्ण-पद जानि॥
नव को नव-गुन लगि गिनौ नवैं अंक सब होन।
तातें रेखा कहत जग यामैं ओत न प्रोत॥

यव-चिह्नका भाव

जीवन जीवन के यहै अन्न एक तिमि येह।
या हित जव को चिन्ह पद धारत साँवल देह॥

तिल-चिह्नका भाव

याके गरन गए बिना तिरन की गति नाहिं।
या हित तिल को चिन्ह हरि राखत निज पद माँहि॥

त्रिकोण-चिह्नका भाव

स्वीया परकीया बहुरि गनिका तीनहु नारि।
मन के पति प्रगटित करत [illegible] मुरारि॥
तीनहु गुन के मनुज को पद उद्धरन समर्थ।
यातें त्रिकोन को चिन्ह पद धारत यहि अर्थ॥
ब्रह्मा-हरि-हर तीनि गुन याही तें प्रगटात।
या हित चिन्ह त्रिकोन को धारत [illegible]॥
श्री भूलीला तीनहु [illegible] याही [illegible]।
यातें चिन्ह त्रिकोन को पद धारत भगवान॥

स्वर्ग-भूमि-पाताल मैं विक्रम है गए धाइ।
याहि जनावन हेत त्रय कोन चिन्ह दरसाइ॥
जो याके सरनहि गए मिटे तीनहूँ ताप।
या हित चिन्ह त्रिकोन को धरत हरत जो पाप॥
भक्ति-ज्ञान-बैराग हैं याके साधन तीन।
यातैं चिन्ह त्रिकोन को कृष्ण-चरन लखि लीन॥
त्रयी सांख्य आराधि कै पावत जोगी जौन।
सो पद है येहि हेत यह चिन्ह त्रिश्रुति को भौन॥
बृन्दावन द्वारावती मधुपुर तजि नहिं जाहिं।
यातैं चिन्ह त्रिकोन है कृष्ण-चरन के माहिं॥
का सुर, का नर, असुर का सब पैं दृष्टि समान।
एक भक्ति तैं होत बस या हित रेखा जान॥
नित सिव जू बंदन करत तिन नैनन की रेख।
या हित चिन्ह त्रिकोन को कृष्ण-चरन मैं देख॥

वृक्षके चिह्नका भाव

वृक्ष-रूप सब जग अहै बीज-रूप हरि आप।
यातैं तरु को चिन्ह पग प्रगटत परम प्रताप॥
जे भव आतप सौं तपे तिनहीं के सुख हेतु।
वृक्ष-चिन्ह निज चरन मैं धारत खगपति-केतु॥
जहँ पग धरैं निकुंजमय भूमि तहाँ की होय।
या हित तरु को चिन्ह पद पुरवत रस कों सोय॥
यहाँ कल्पतरु सों अधिक भक्त मनोरथ दान।
वृक्ष चिन्ह निज पद धरत यातैं श्रीभगवान॥
श्रीगोपीजन-मन-विहँग इहाँ करैं विश्राम।
या हित तरु को चिन्ह पद धारत हैं घनस्याम॥
केवल पर-उपकार-हित वृक्ष-सरिस जग कौन।
तातैं ताको चिन्ह पद धारत राधा-रौन॥
प्रेम-नयन-जल सौं सिंचे सुद्ध चित्त के खेत।
बनमाली के चरन में वृक्ष चिन्ह येहि हेत॥
पाहन मारेहु देत फल सोइ गुन यामैं जान।
वृक्ष-चिन्ह श्रीकृष्ण-पद पर-उपकार-प्रमान॥

बाण-चिह्नका भाव

सब कटाच्छ ब्रज-जुवति के बसत एक ही ठौर।
सोई बान को चिन्ह है कारन नहिं कछु और॥

गृह-चिह्नका भाव

केवल जोगी पावहीं नहिं यामैं कछु नेम।
या हित गृह को चिन्ह जिहि गृह लहैं करि प्रेम॥
मति डूबी भव-सिंधु मैं यामैं करौ निवास।
मानहु गृह को चिन्ह पद जनन बोलावत पास॥
सिव जू के मन को मनहुँ महल बनाये स्याम।
चिन्ह होय दरसत सोई हरि-पद-कंज ललाम॥
गृही जानि मन बुद्धि को दंपति नियसन हेत।
अपने पद कमलन दियो दयानिकेत निकेत॥

अग्निकुण्डके चिह्नका भाव

श्री बल्लभ हैं अनल-वपु तहाँ सरन जे जात।
ते मम पद पावत सदा येहि हित कुंड लखात॥
श्री गोपीजन को विरह रह्यौ जौन श्री गात।
एक देस मैं सिमिटि सोइ अग्निकुंड दरसात॥
मन तपि कै मम चरन मैं कथित धान सम होइ।
तब न और कछु जन चहै अग्निकुंड है सोइ॥
जग्य-पुरुष तजि और को को सेवै मतिमंद।
अग्निकुंड को चिन्ह येहि हित राख्यौ ब्रजचंद॥

सर्प-चिह्नका भाव

निज पद चिन्हित तेहि कियो ताको निज पद राखि।
काली-मर्दन-चरन यह भक्त-अनुग्रह-साखि॥
नाग-चिन्ह मत जानियो यह प्रभु-पद के पास।
भक्तन के मन बाँधिबे हित राखी अहि पास॥
श्री राधा के बिरह मैं मति त्रि-अनिल दुख देइ।
सर्प-चिन्ह प्रभु सर्वदा राखत हैं पद सेइ॥
याकी सरनन दीन जन सर्पहि* आवहु धाय।
सर्प-चिन्ह एहि हेतु पद राखत श्री ब्रजराय॥

शैल-चिह्नका भाव

सत्य-करन हरिदास वर श्री गिरिवर को नाम।
सैल-चिन्ह निज चरन मैं राख्यो श्री घनस्याम॥
श्री राधा के विरह में पग पग लगत पहार।
सैल-चिन्ह निज चरन मैं राख्यौ यहै विचार॥

श्रीगोपालतापिनी श्रुतिके मतसे चरण-चिह्न-वर्णन

परम ब्रह्म के चरन मैं मुख्य चिन्ह ध्वज-छत्र।
ऊरध अध अत्र लोक सौं सोई है पद अत्र॥
ध्वजा दंड सो मेरु है बन्यो स्वर्णमय सोय।
सूर्य-चन्द्र की कान्ति जो ध्वज पताक सो होय॥

* शीघ्र।

शृंगार [प्राचीन चित्र

ताम्बूलसेवन [प्राचीन चित्र

रास विलास सिंगार के ये उद्दीपन मान ।
आलंबन हरि मन ही राजत पद-जलजात ॥

आठ चिह्नोंके भेद

वज्र, अग्निकुण्ड, तिल, तलवार, मच्छ, गदा, अष्टकोण और सर्पके भाव

वज्र इन्द्र वपु, अनल है अग्निकुंड वपु आप ।
जम तिल वपु, तलवार वपु नैरित प्रगट प्रताप ॥
वरुन मच्छ वपु, गदा वपु वायु जानि पुनि लेहु ।
अष्टकोन वपु धनद है, अहि इसान कहि देहु ॥
शुभ वाहन सिद्धि इत्य आदिक को संबंध ।
इन चिन्हन सों देव सों जानहु करि मन सध ॥
कै आठौं दिगपाल मनु सेवत हरि-पद आइ ।
अथवा दिगपति होइ जो रहे चरन सिर नाइ ॥

पुनः

अंकुश, बरछी, शक्ति, पवि, गदा, धनुष, असि, तीर ।
आठ शस्त्र को चिन्ह यह धारत पद बलवीर ॥
आठहु दिसि सों जनन की मनु-इच्छा के हेत ।
निज पद मे ये शस्त्र सब धारत रमा-निकेत ॥

नौ चिह्नोंके भेद

वेणु, चन्द्र, पर्वत, रथ, अग्नि, वज्र, मीन, गज और स्वस्तिक चिह्नोंके भाव

वेनु-चन्द्र-गिरि-रथ-अनल-वज्र-मीन-गज-रेख ।
आठौं रस प्रगटत सदा नवम स्वस्तिकहु देख ॥
वेनु प्रगट शृंगार रस जो बिहार को मूल ।
चरन कमल में चन्द्रमा यह अद्भुत गत सूल ॥
[illegible] पद कहँ गिरि प्रगट यहै हास्य की बात ।
रन उद्यम आगे रहै रथ रस बीर लखात ॥
निसिचर-गनहि दहन हित अग्निकुंड भय-रूप ।
रौद्र गर्व को चिन्ह है दुष्टन काल-सरूप ॥
गज करुना रस रूप है जिन अति करी पुकार ।
मीन चिन्ह बीभत्स है संगाली-व्यवहार ॥
नाटक के ये आठ रस आठ चिन्ह सों होत ।
स्वस्तिक सों पुनि सात को रस नित करत उदोत ॥
[illegible] आनंदमय प्रभु सब रस की खान ।
[illegible] नव रस चिन्ह सब धारत पद भगवान ॥

दस चिह्नोंके भेद

वेणु, शंख, गज, कमल, यव, रथ, गिरि, गदा, वृक्ष और मीनके भाव

वेनु बढ़ावत श्रवन कौं, संख सुकीर्तन जान ।
गज सुमिरन कौं कमल पद, पूजन कमल बखान ॥
भोग रूप जव अरचनहि, बंदन गिरि गिरिराज ।
गदा दास्य हनुमान को, सख्य सारथी-साज ॥
तरु तन मन अरपन सबै, प्रेम लच्छना मीन ।
दस विधि उद्दीपन करहिं भक्ति चिन्ह मत नीन ॥

मत्स्य, अमृत-कुम्भ, पर्वत, वज्र, छत्र, धनुष, बाण, वेणु, अग्निकुण्ड और तलवारके चिह्नोंके भाव

प्रगट मत्स्य के चिन्ह सों विष्णु मत्स्य अवतार ।
अमृत-कुंभ सों कच्छ है भयो जो मथती बार ॥
पर्वत सों बाराह भे धरनि-उधारन-रूप ।
वज्र चिन्ह नरसिंह के जे नख वज्र-सरूप ॥
बामन जू हैं छत्र सों जो है बटु को अंग ।
परसुराम धनु चिन्ह हैं गए जो धनु के संग ॥
बान चिन्ह सों प्रगट श्री रामचन्द्र महराज ।
बेनु-चिन्ह हलधर प्रगट ब्यूह रूप सह साज ॥
अग्निकुंड सों बुध भए जिन मख निंदा कीन ।
कलकी असि सों जानिये म्लेच्छ-हरन-परवीन ॥
भीर परत जब भक्त पर तब अवतरहिं लेत ।
अवतारी श्रीकृष्ण पद दसौ चिन्ह एहि हेत ॥

ग्यारह चिह्नोंके भेद

शक्ति, अग्निकुण्ड, हाथी, कुम्भ, धनुष, चन्द्र, यव, वृक्ष, त्रिकोण, पर्वत और सर्पके चिह्नोंके भाव

श्री शिव जू हरि-चरन मैं बसत सदा [illegible] ।
आयुध भूषन आदि सह [illegible] रूप प्रकाश ॥
शक्ति जानि गिरि-नंदिनी [illegible] भक्ति [illegible] ।
अग्निकुंड तीजे नयन [illegible] धूनी [illegible] ॥
गज जानो गज को [illegible] ।
कुंभ गंग-जल को कहो [illegible] ॥
धनुष पिनाकहि [illegible] ।
चंद्र [illegible]

श्रीतनु नवधा भक्तिमय सोइ नवकोन ललाइ।
वृक्ष महावट वृक्ष है रहत जहाँ सुरराइ॥
नेत्र रूप वा सूल को रूप त्रिकोनहिं जान।
पर्वत सोइ कैलास है जहँ बिहरत भगवान॥
सर्प अभूखन अंग के कंकन मैं वा सेस।
एहि बिधि श्री सिव बसहिं नित चरन माँहि सुभ बेस॥
को इनकी सम करि सकै भक्तन के सिरताज।
आसुतोष जो रीझि कै देहिं भक्ति सह साज॥
जिन निज प्रभु कौं जा दिवस आतम-समर्पन कीन।
चंदन-भूषन-बसन-भय-सेज आदि तजि दीन॥
भस्म-सर्प-गज-छाल बिष परवत माँहि निवास।
तबसों अंगीकृत कियो तज्यो सबै सुखरास॥

अन्य मतोंके अनुसार चिह्नोंके वर्णन

स्वस्तिक पीवर वर्ण को, पाटल है अठ-कोन।
स्वेत रंग को छत्र है, हरित कलपतरु जौन॥
स्वर्ण बर्ण को चक्र है, पाटल जव की माल।
ऊरध रेखा अरुन है, लोहित ध्वजा बिसाल॥
पद्म बीजुरी रंग को, अंकुस है पुनि स्याम।
सायक त्रय चित्रित बरन, पद्म अरुन अठ-धाम॥
अन्य चित्र रँग को बन्यो, मुकुट स्वर्न के रंग।
सिंहासन चित्रित बरन सोभित सुभग सुढंग॥
व्योम नँवर को चिन्ह है नील वर्न अति स्वच्छ।
जर अँगुष्ठ के मूल में पाटल वर्न प्रतच्छ॥
रेखा पुरुषाकार है पाटल रंग प्रमान।
ये अठारह चिन्ह श्री हरि दहिने पद जान॥

जे हरि के दच्छिन चरन ते राधा-पद बाम।
कृष्ण बाम पद चिन्ह अब सुनहु विचित्र ललाम॥
स्वेत रंग को मत्स्य है, कलस चिन्ह है लाल।
अर्ध चंद्र पुनि स्वेत है, अरुन त्रिकोन बिसाल॥
स्याम बरन पुनि अनु पद, कारी धनु की रेख।
गोखुर पाटल रंग को, नभ नील रँग देख॥
[illegible] रंग रूपिनो, बिंदु चिन्ह है पीत।
[illegible] अरुन पटकोन, जल इंद स्याम की रीत॥
[illegible] रंग को पूर्ण चंद्र [illegible] रंग।
[illegible] रंग [illegible] है [illegible] चिन्ह सुढंग॥
[illegible] रंग के दोउ चरनन के जन।
[illegible] पद चिन्ह सो [illegible] दच्छिन [illegible]॥

या बिधि चौंतिस चिन्ह हैं जुगल चरन जलजात।
छाँड़ि सकल भवजाल को भजौ याहि हे तात॥

श्रीस्वामिनीजीके चरण-चिह्नोंके भाव

छप्पय

छत्र चक्र ध्वज लता पुष्प कंकन अंबुज पुनि।
अंकुस ऊरध रेख अर्ध ससि जव बाएँ गुनि॥
पास गदा रथ जग्यबेदि अरु कुंडल जानौ।
बहुरि मत्स्य गिरिराज संख दहिने पद मानौ॥
श्रीकृष्ण प्रानप्रिय राधिका चरन चिन्ह उन्नीस धर।
'हरिचंद' सीस राजत सदा कलिमल-हर कल्यानकर॥

वाम पद-चिह्न

छत्रके चिह्नका भाव

सब गोपिन की स्वामिनी प्रगट करन यह अत्र।
गोप-छत्रपति-कामिनी धरयो कमल-पद छत्र॥
प्रीतम-बिरहातप-समन हेतु सकल सुखधाम।
छत्र चिन्ह निज कंज पद धरत राधिका बाम॥
जदुपति ब्रजपति गोपपति त्रिभुवनपति भगवान।
तिनहूँ की यह स्वामिनी छत्र चिन्ह यह जान॥

चक्रके चिह्नका भाव

एक-चक्र ब्रजभूमि मैं श्रीराधा को राज।
चक्र चिन्ह प्रगटित करन यह गुन चरन बिराज॥
मान समै हरि आप ही चरन पलोटत आय।
कृष्ण कमल कर चिन्ह सो राधा-चरन लखाय॥
दहन पाप निज जनन के हरन हृदय-तम घोर।
तेज तत्व को चिन्ह पद मोहन नित को चोर॥

ध्वजके चिह्नका भाव

परम विजय सब तियन मौं श्रीराधा पद जान।
यह दरसावन हेतु पद ध्वज को चिन्ह महान॥

लता-चिह्नका भाव

निज मनोरथ की लता [illegible] मनु [illegible]।
लता चिन्ह है प्रगट सोइ राधा चरन [illegible]॥
करि आश्रय श्रीकृष्ण को रहत सदा [illegible]।
लता-चिन्ह यहि हेत सों रहत न [illegible]॥
देवी बृंदा [illegible] की प्रगट [illegible]।
लता चिन्ह श्रीराधिका धारत पद [illegible]॥

सकल महौषधि गनन की परम देवता आप।
सोइ भवरोग महौषधी चरन लता की छाप॥
लता चिन्ह पद आपु के वृक्ष चिन्ह पद स्याम।
मनहुँ रेख प्रगटित करत यह सबंध ललाम॥
चरन धरत जा भूमि पर तहाँ कुंजमय होत।
लता चिन्ह श्री कमल पद या हित करत उदोत॥
पाग चिन्ह मानहुँ रह्यौ लपटि लता आकार।
मानिनि के पद-पद्म में बुधजन लेहु विचार॥

पुष्पके चिह्नका भाव

कीरतिमय सौरभ सदा या सों प्रगटित होय।
या हित चिन्ह सुपुष्प को रह्यो चरन-तल सोय॥
पाय पल्लोदत मान में चरन न होय कठोर।
कुसुम चिन्ह श्रीराधिका धारत यह मति मोर॥
सब फल याही सों प्रगट सेवहु येहि चित लाय।
पुष्प चिन्ह श्री राधिका पद येहि हेत लखाय॥
कोमल पद लखि के पिया कुसुम पाँवड़े कीन।
सोइ श्रीराधा कमल पद कुसुमित चिन्ह नवीन॥

कंकणके चिह्नका भाव

पिय विहार में सुन्दर लखि पद तर दीनो डारि।
कंकन को पद चिन्ह सोइ धारत पद सुकुमारि॥
पिय कर को निज परस को प्रगट करन अति हेत।
मानिनि-पद में वलय को चिन्ह दिखाई देत॥

कमलके चिह्नका भाव

कमलालिय देवी सदा सेवत पद दै चित्त।
कमल चिन्ह श्रीकमला पद धारत एहि हित नित्त॥
अति कोमल सुकुमार श्री चरन कमल हैं आप।
नेत्र कमल के हरि की भौरें मानो छाप॥
कमल रूप पृथा लिखि कमल चरन में सोइ।
अरविन्दाक्ष [illegible] करन कमल कमल पद होइ॥
निज चरन सेवन करन [illegible] सुख-सद्म।
पद्मालय [illegible] के चिन्ह सोई पद-पद्म॥
पद्मालय मद [illegible] को करन पद-पद [illegible]।
[illegible] पद-चरन में पद चिन्ह [illegible]॥

ऊर्ध्व रेखाके चिह्नका भाव

अति ऊँची श्री चरन की पद करत [illegible]।
ऊरध रेखा चरन में [illegible] हेतु [illegible]॥

सरन गए ते तरहिंगे यहै लीक कहि दीन।
ऊरध रेखा चिन्ह है सोई चरन नवीन॥

अङ्कुशके चिह्नका भाव

बहु-नायक पिय-मन-मुगज मति औरन पै जाय।
या हित अंकुस चिन्ह श्री राधा पद दरसाय॥

अर्धचन्द्रके चिह्नका भाव

पूरन दस ससि-नखन सों मनहुँ अनादर पाय।
सुनि चंद्र आधो भयो सोई चिन्ह लखाय॥
जे अ-भक्त कु रसिक कुटिल ते न सकहिं इत आय।
अर्ध चंद्र को चिन्ह येहि हेत चरन दरसाय॥
निष्कलंक जग-वंद्य पुनि दिन दिन याकी वृद्धि।
अर्ध चन्द्र को चिन्ह है या हित करन समृद्धि॥
राहु ग्रसै पूरन ससिहि ग्रसै न येहि लखि वक्र।
अर्ध-चन्द्र को चिन्ह पद देखत जेहि [illegible]॥

यवके चिह्नका भाव

परम [illegible] निज सरन नर को जीवन प्रान।
राजत जव को चिन्ह पद राधा धरत सुजान॥
भोजन को [illegible] [illegible] पद तासु [illegible]।
जव को चिन्ह [illegible] पद हरत [illegible] को [illegible]॥

दक्षिणपद-चिह्न

पाशके चिह्नका भाव

भव-बंधन तिय के कटैं जे आवैं करि भाव।
यह अनुभव प्रगटित करन पास प्रिया पद पाव॥
जे आवैं दासी भाव कबहुँ न ते छुटि जाहिं।
पास चिन्ह श्री राधिका [illegible] चरन पद माहिं॥
निज जन बंधन हेत मनु पास चिन्ह पद [illegible]।
सेवत जाको मनु [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible]॥

[illegible]के चिह्नका भाव

जे उन्मत [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] चिन्ह पद [illegible] [illegible]॥

[illegible]-चिह्नका भाव

[illegible]।
[illegible]॥
[illegible]।
[illegible]॥

वेदीके चिह्नका भाव

अग्नि रूप है जगत को कियो पुष्टि रस दान।
या हित वेदी चिन्ह है प्यारी-चरन महान॥
जग्य रूप श्रीकृष्ण हैं स्वधा रूप हैं आप।
यातें वेदी चिन्ह है चरन हरन सब पाप॥

कुण्डलके चिह्नका भाव

प्यारी पग नूपुर मधुर धुनि सुनिबे के हेत।
मनहुँ करन पिय के बसे चरन सरन सुख देत॥
सांख्य योग प्रतिपाद्य हैं ये दोउ पद जलजात।
या हित कुंडल चिन्ह श्री राधा-चरन लखात॥

मत्स्यके चिह्नका भाव

जल बिनु मीन रहै नहीं तिमि पिय बिनु हम नाहिं।
यह प्रगटावन हेत हैं मीन चिन्ह पद माँहि॥

पर्वतके चिह्नका भाव

सब ब्रज पूजत गिरिवरहि सो सेवत है पाय।
यह महात्म्य प्रगटित करन गिरिवर चिन्ह लखाय॥

शंखके चिह्नका भाव

कबहूँ पिय को होइ नहिं बिरह ज्वाल की ताप।
नीर तत्व को चिन्ह पद यासों धारत आप॥

भक्त-मंजूषा आदि ग्रन्थोंके अनुसार वर्णन

जब बैंड़ो अंगुष्ठ मध ऊपर मुख को छत्र।
दच्छिन दिसि को फरहरै ध्वज ऊपर मुख तत्र॥
पुनि पताक ताके तले कल्पलता की रेख।
जो ऊपर दिसि कौं चढ़ी देत सकल फल लेख॥
ऊरध रेखा कमल पुनि चक्र आदि अति स्वच्छ।
दच्छिन श्री हरि के चरन इतने चिन्ह प्रतच्छ॥
श्री राधा के बाम पद अट पमको पद्म।
पुनि कनिष्ठिका के तले चाक चिन्ह को सद्म॥
अग्र भाग अंकुश करौ ताही के दिग ध्यान।
नीचे मुख को अर्ध ससि एड़ी मध्य प्रमान॥
ताके दिग है चक्र को चिन्ह परम सुख-मूल।
दच्छिन पद के चिन्ह अब सुनहु हरन भव-सूल॥
मत्स्य रह्यौ अंगुष्ठ मैं लखौ सुख अति दीन।
चार अँगुरियन के तले गिरिवर चिन्ह नवीन॥
ऊपर निरभर अंक-तुर रथ है ताके पास।
दच्छिन दिसि ताके लखत बंद अति विलास॥

एड़ी पैं ताके तले ऊपर मुख को मीन
चरन-चिन्ह तेहि भाँति श्री राधा-पद लखि लीन॥

दूसरे मतसे श्रीस्वामिनीजीके चरण-चिह्न

बाम चरन अंगुष्ठ तल जब को चिन्ह लखाइ।
अर्ध चरन लौं घूमि कै ऊरध रेखा जाइ॥
चरन-मध्य ध्वज अब्ज है पुष्प-लता पुनि सोइ।
पुनि कनिष्ठिका के तले अंकुस नासन मोह॥
चक्र मूल में चिन्ह है कंकन है अरु छत्र।
एड़ी में पुनि अर्ध ससि सुनो अबै अन्यत्र॥
एड़ी में सुभ सैल अरु स्यंदन ऊपर राज।
सक्ति गदा दोउ ओर दर अँगुठा मूल बिराज॥
कनिष्ठिका अँगुरी तले बेदी सुंदर जान।
कुंडल है ताके तले दच्छिन पद पहिचान॥

तुलसी-शब्दार्थ-प्रकाशके मतानुसार युगलस्वरूपके चरण-चिह्न

छप्पय

ऊरध रेखा छत्र चक्र जव कमल ध्वजाम्बर।
अंकुस कुलिस सुचारि सथीये चारि जंबुफर॥
अष्टकोन दस एक लच्छन दहिने पग जानौ।
बाम पाद आकास शंखवर धनुष पिछानौ॥
गोपद त्रिकोन घट चारि ससि मीन आठ ए चिन्हवर।
श्रीराधा-रमन उदार पद ध्यान सकल कल्यानकर॥
पुष्प लता जव बलय ध्वजा ऊरध रेखा वर।
छत्र चक्र बिधु कलस चारु अंकुस दहिने धर॥
कुंडल बेदी संख गदा बरछी रथ मीना।
बाम चरन के चिह्न सात ए कहत प्रवीना॥
ऐसे सत्रह चिह्न-जुत राधा-पद बंदन अमर।
सुमिरत अघहर अनघकर नंद-सुभन आनंदकर॥

गर्गसंहिताके मतानुसार चरण-चिह्न

चक्राङ्कुश जव छत्र ध्वज स्वस्तिक बिंदु नवीन।
अष्टकोन परि कमल तिल शंख कुंभ पुनि मीन॥
उरध रेख त्रिकोन धनु गोखुर आधो चंद।
ए उनीस सुभ चिन्ह निज चरन धरत नँदनंद॥

अन्य मतानुसार श्रीकृष्णके चरण-चिह्न

केतु छत्र स्यंदन कमल ऊरध रेखा चक्र।
अर्ध चंद्र कुस बिन्दु गिरि शंख [illegible] अरु वज्र॥
जोनी [illegible] [illegible] की गदा [illegible] है [illegible]।
सिंहासन पाटीन पुनि [illegible] [illegible] विमल॥

ए अष्टादस चिह्न श्री राधा-पद में जान।
जा कहँ गावत रैन दिन अष्टादसौ पुरान॥
जव श्रुवा को चिह्न है काहू के मत सोइ।
पुनि लक्ष्मी को चिह्नहू मानत हरि-पद कोइ॥
श्रीराधा-पद मोर को चिह्न कहत कोउ संत।
है फल की बरछी कोऊ मानत पद कुस अंत॥

श्रीमद्भागवतके अनेक टीकाकारोंके मतानुसार श्रीचरण-चिह्न

लाँबो प्रभु को श्री चरन चौदह अंगुल जान।
षट अंगुल बिस्तार में याको अहै प्रमान॥
दच्छिन पद के मध्य में ध्वजा-चिह्न सुभ जान।
अँगुरी नीचे पद्म है, पवि दच्छिन दिसि जान॥
अंकुस याके अग्र है, जव अँगुष्ठ के मूल।
स्वस्तिक काहू ठौर है हरन भक्त-जन-सूल॥
तल सों जहँ लौं मध्यमा सोभित ऊरध रेख।
ऊरध गति तेहि देत है जो वाको लखि लेख॥
आठ अँगुल तजि अग्र सों तर्जनि अँगुठा बीच।
अष्टकोन को चिह्न लखि सुभ गति पावत नीच॥
बाम चरन में अग्र सों तजि कै अंगुल चार।
बिना प्रतंचा को धनुष सोभित अतिहि उदार॥
मध्य चरन त्रैकोन है अमृत कलस कहुँ देख।
है मंडल को बिंदु नभ चिह्न अग्र पै लेख॥
अर्ध चंद्र त्रैकोन के नीचे परत लखाय।
गो-पद नीके धनुष के तीरथ को समुदाय॥
एड़ी पै पाठीन है दोउ पद जंबूरेख।
दच्छिन पद अंगुष्ठ मधि चक्र चिह्न यों लेख॥
छत्र चिह्न तार्के तले सोभित अतिहि पुनीत।
बाम अँगूठा संख है यह चिह्नन की रीत॥
जहँ पूरन प्रागट्य तहँ उनिस परत लखाइ।
अंस कला में एक है तीन कहूँ दरसाइ॥
बाल-बोधिनी तोषिनी चक्रवर्तिनी जान।
बैष्णव-जन-आनंदिनी तिनहो यहै प्रमान॥
चरन चिह्न निज ग्रंथ में यही लिख्यौ हरिराय।
विष्णु पुरान प्रमान पुनि पद्म-वचन कौं पाय॥
स्कंद-मत्स्य के वाक्य सों याको अहै प्रमान।
हयग्रीव की संहिता बाहू में यह जान॥

श्रीराधिकासहस्रनामके मतानुसार चरण-चिह्न

कमल गुलाब अटा सु-रथ कुंडल कुंजर छत्र।
फूल माल अरु बीजुरी दंड मुकुट पुनि तत्र॥
पूरन ससि को चिन्ह है बहुरि ओढ़नी जान।
नारदीय के बचन को जानहु लिखित प्रमान॥

भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजीके चरण-चिह्न

स्वस्तिक ऊरध रेख कोन अठ श्रीहल-मूसल।
अहि बाणाम्बर वज्र सु-रथ जव कंज अष्टदल॥
कल्पवृक्ष ध्वज चक्र मुकुट अंकुस सिंहासन।
छत्र चँवर जम-दंड माल जव की नर को तन॥
चौबीस चिन्ह ये राम-पद प्रथम सुलच्छन जानिए।
'हरिचंद' सोइ सिय बाम पद जानि ध्यान उर आनिए॥
सरजू गोपद महि जम्बू घट जय पताक दर।
गदा अर्ध ससि तिल त्रिकोन षटकोन जीव बर॥
शक्ति सुधा सर त्रिवलि मीन पूरन ससि बीना।
बंसी धनु पुनि हंस तून चन्द्रिका नवीना॥
श्री राम-बाम पद-चिन्ह सुभ ए चौबिस सिव उक्त सब।
सोइ जनकनंदिनी दच्छ पद भजु सब तजु 'हरिचंद' अब॥

रसिकनके हित ये कहे चरन-चिन्ह मत गाय।
मति देखै यदि और कोउ करियो यही उपाय॥
चरन चिन्ह ब्रजराय के जो गावहि मन लाय।
सो निहचै भव-सिंधुको गोपद सम करि जाय॥
लोक-वेद-कुल-धर्म बल सब प्रकार अति हीन।
पै पद-बल ब्रजराज के परम ढिठाई कीन॥
यह माला पद-चिन्ह की गुही अमोलक रत्न।
निज मुकुट में धारियो अहो रसिक करि जत्न॥
भटक्यौ बहु बिधि जग बिपिन मिल्यौ न कहुँ बिश्राम।
अब आनंदित है रह्यौ पाइ चरन घनस्याम॥
दोऊ हाथ उठाइ कै कहत पुकारि पुकारि।
जो अपनो चाहौ भलो तो भजि लेहु मुरारि॥
सुत तिय गृह धन राज्य हू या में सुख कछु नाहिं।
परमानंद प्रकास इक कृष्ण-चरन के माहिं॥
मोरो सुत घर ओर सों तोरौ भव के जाल।
छोरौ सब साधन सुनौ भजौ एक नँदलाल॥
अहो नाथ ब्रजनाथ हू किन लग्यौ निज दास।
बेगहि दरसन दीजिये व्यर्थ जात सब स्वास॥

भक्त सत्यनारायण

(जन्म-सं० १९४१ वि० माघ शुक्ला ३, ब्रजभाषाके सफल कवि)

(१)

माधव, अब न अधिक तरसैए।
जैसी करत सदा सौं आये, वही दया दरसैए॥
मानि लेउ हम कूर कुढंगी, कपटी कुटिल गँवार।
कैसे असरन सरन कहौ तुम, जन के तारनहार॥
तुम्हरे अछत तीन-तेरह यह, देस-दसा दरसावै।
पै तुम को यहि जनम धरे की, तनकहुँ लाज न आवै॥
आरत तुम हि पुकारत हम सब, सुनत न त्रिभुवनराई।
अँगुरी डारि कान में बैठे, धरि ऐसी निठुराई॥
अजहुँ प्रार्थना यही आप सौं, अपनो बिरुद सँवारौ।
'सत्य' दीन दुखियन की बिपदा, आतुर आइ निवारौ॥

(२)

अब न सतावौ।
करुनाघन इन नयनन सौं, द्वै बुँदियाँ तौ टपकावौ॥
सारे जग सौं अधिक कियौ का, हमने ऐसो पाप।
नित नव दई निर्दई बनि जो, देत हमैं संताप॥
साँची तुमैं सुनावत जो हम, चौंकत सकल समाज।
अपनी जाँघ उघारैं उघरति, बस, अपनी ही लाज॥
तुम आछे, हम बुरे सही, बस, हमरो ही अपराध।
करना हो सो अजहूँ कीजै, लीजै पुन्य अगाध॥
होरी-सी जातीय प्रेम यह फूँकि न धूरि उड़ावौ।
जुग कर जोरि यही 'सत' माँगत, अलग न और लगावौ॥

(३)

बस, अब नहिं जाति सही।
बिपुल बेदना बिबिध भाँति, जो तन-मन ब्यापि रही॥
कबलौं सहैं अवधि सहिबे की, कछु तौ निश्चित कीजै।
दीनबंधु यह दीन दसा लखि, क्यों नहिं हृदय पसीजै॥
बारन दुखटारन, तारन में प्रभु, तुम बार न लाये।
फिर क्यों करुना करत स्वजन पै करुनानिधि अलसाये॥
यदि जो कर्म जातना भोगत, तुम्हरे हूँ अनुगामी।
तौ करि कृपा बतायो चहियतु, तुम काहे को स्वामी॥
अथवा बिरुद बानि अपनी कछु, कै तुमने तजि दीनी।
या कारन हम सम अनाथ की, नाथ न जो सुधि लीनी॥
बेद बदत गावत पुरान सब, तुम भय-ताप नसावत।
सरनागत की पीर तनक हूँ, तुम्हैं तीर सम लागत॥
हम से सरनापन्न दुखी कौं, जाने क्यों बिसरायौ।
सरनागत बत्सल 'सत' यो ही, कोरो नाम धरायौ॥

(४)

हे घनस्याम, कहाँ घनस्याम !
रज मँडराति चरन रज कित सौं, सीस धरैं अठजाम॥
स्वेत पटल लै घन कहँ त्यागी सुरभी सुखद ललाम।
मोरनि घोर सोर चहुँ सुनियत, मोर मुकुट किहि ठाम॥
गरजत पुनि-पुनि, कहाँ बतावौ मुरली मृदु सुरधाम।
तड़पावत हौ तड़ितहिं, छिन-छिन, पीताम्बर नहिं नाम॥

महंत श्रीराधिकादासजी

(निम्बार्क सम्प्रदायके महात्मा)

स्वधर्मनिष्ठाका स्थान जीवनके सभी उद्देश्यों तथा कार्योंमें प्रधान होना चाहिये।

श्रीहरि तथा गुरुकी आज्ञा और उपदेशोंपर दृढ़ विश्वास ही हमारे कल्याणका सुगम मार्ग है।

प्रत्येक मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्तमें अपने इष्टदेवका ध्यान, भजन, जप स्वधर्मनिष्ठाके साथ करना चाहिये।

प्रत्येक गृहस्थ एवं विरक्तको अपनी दैनिक दिनचर्यामेंसे कुछ समय भगवान्‌-चिन्तनमें अवश्य लगाना चाहिये। ऐसा करनेसे आत्मविकास होता है।

भगवद्‌-आराधनके साथ सत्‌-शास्त्रोंका अध्ययन बहुत आवश्यक है। ज्ञान-प्राप्तिके इच्छुकोंको स्वाध्याय करना चाहिये।

परोपकार, सेवा, नम्र व्यवहारवाले मनुष्य भगवान्‌के प्रियजन हैं, ऐसा समझकर उपर्युक्त बातोंको अपने जीवनमें सभीको नित्य अपनाना चाहिये।

प्राणिमात्र भगवान्‌के हैं, ऐसा जानकर सभीसे प्रेम करना चाहिये। रागद्वेषकी भावना कभी मनमें नहीं लानी चाहिये।

देश-काल-मर्यादानुसार स्वधर्माचरण करते हुए सभीको सबका हित साधन करनेमें तत्पर रहना चाहिये।

(वृन्दावनवासी) सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीरामकृष्णदासजी

[जन्म-स्थान जयपुर, वि० सं० १९१४ के भादोंमें जन्म, वृन्दावनवासी सिद्ध महात्मा, देहावसान आश्विन कृष्ण ४ संवत् १९९७ वि०।]

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी पिलखुवा)

१–भगवान्‌का भजन ही सार है, और तो सब यों ही मरते रहते हैं। यह मनुष्यदेह बड़ी मुश्किलसे मिलती है फिर भी यदि हमने भजन नहीं किया तो क्या किया ? भजन करते कोई मर भी जायगा तो भी अच्छा है। एक बार श्रीव्यासजी महाराजने श्रीनारदजीसे पूछा था कि 'महाराज ! यदि कोई भजन करता हुआ मर जाय तो उसका क्या होगा ?' श्रीनारदजी महाराजने कहा कि 'जिस प्रकार कोई चटनी खाता हो तो वह चटनी खानेवाला शरीर भी जायगा, पर फिर वह चटनी खानेकी इच्छा करेगा। इसी प्रकार भजन करते करते जो मर जायगा, वह अगले जन्ममें भी भजन करेगा। क्या तुम यह नहीं देखते कि बड़े-बड़े घरानेके छोटे-छोटे लड़के घरको छोड़कर भजन करनेके लिये साधु होने आते हैं। यदि इन्हें भजन करनेका चस्का पहलेसे न लगा हुआ होता तो भला इतनी छोटी आयुमें घर छोड़कर कैसे चले आते ?

२–अब अनुष्ठान तो होते ही नहीं हैं। पहले हमारे सामने बहुत अनुष्ठान हुआ करते थे। अब तो नामका ही सहारा है। देख लो, श्रीवृन्दावनमें अभीतक कहीं कीर्तन होता है तो कहीं रास होता है, कहीं मन्दिरोंमें दर्शन होते हैं। कुछ-न-कुछ होता ही रहता है। फिर भी पहले जैसा नहीं होता। सब नामकी महिमा है, वह कहीं जाती थोड़े ही है। श्रीअयोध्याजीमें भी श्रीरामजीका कीर्तन-दर्शन खूब होता है। और जगह तो बहुत नास्तिकता आ गयी है।

३–प्रश्न–महाराजजी ! कुछ उपदेश कीजिये !

उत्तर–घरको छोड़कर भजन करो या फिर घरवालोंको भी भजनमें लगाओ। यही उपदेश है और क्या उपदेश है ? भजन करो यह मनुष्यदेह पैसे पैदा करनेको या खाने-सोनेको नहीं मिली है। यह तो बस, भजन करनेके लिये मिली है, इसलिये भजन करो।

भक्त श्रीराधिकादासजी (पं० रामप्रसादजी) (चिड़ावानिवासी)

(जन्म-स्थान चिड़ावा, जयपुर, जन्म पौष कृष्ण १९११ वि०, [illegible] सं० १९८९, वृन्दावनके प्रेमी वृन्दावनवासी [illegible])

त्वमेव बुद्धि प्राक् [illegible] निखिलं
त्वया [illegible] ।
विदाधातः सर्वं [illegible]
यदि [illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] भजनम् ॥

हे मन ! [illegible]

[illegible]

[illegible]

भजन

किया क्या तुम ने आकर के अगर सोचो तो साची है।
किया सिणगार काया का मगर काया तो काची है ॥टेर॥
मिले है जो लिखा तेरे, दौड़ छूटी करे हरदम।
करम के फेर में पड़कर, छोड़ दी बात आछी है ॥
फँसा है कर्म के फल में, कर्म भी नहिं बने तुझ से।
विषय के झोंक में फँसकर, अकर्मी बात जाची है ॥
है थोड़े काल का जीना, श्वास आवे या नहिं आवे।
आज अरु काल करने में, रचेगी क्या यह राची है ॥
शरण ले जाय श्रीहरि की, छोड़ अहंकार निज मन का।
रहेगा फेर पछितावा, कहै शिव मौत नाची है ॥

थारो भरोसो भारी, मारा समरथ थारो भरोसो भारी।
मैं हूँ शरण तुम्हारी ॥टेर॥
मैं हूँ अनाथ, नाथ मारो तू है, भूले मत त्रिपुरारी।
दीन दयाल दया विन करियों, कुरकेला आँख तुमारी ॥
कोई सबल तपस्या कीनी, वर पायो बहु भारी।
वाणूँ रीस मुझे मत विगरे, छोटा भक्त उधारी ॥
पाप पुण्य को लेखो नाहीं, मैं हूँ मिनाजी भारी।
ऐसी गलती देख हमारी, होना मत प्रभु आरी ॥
तारण आप, डूबता मैं हूँ, पकड़ो बाँह हमारी।
कहै शिव-शंकर धणी उबारो, त्राहि त्राहि भयहारी ॥
थारो भरोसो भारी ०॥

अवधूत श्रीकेशवानन्दजी

[स्थान—गुरुकुटी (रतलाम)]

(प्रेषक—श्रीगोपीवल्लभजी उपाध्याय)

काहे को सोच रहा रे मूरख नर,
काहे को सोच रहा रे ॥ टेक ॥
कीरी कुंजर सब को देत है,
जिन के नहिं व्यापार रे।
पशु अनेक को घास दिये है,
कीट-पतंग को चार रे ॥
अजगर के तो खेत नहीं है, मीन के नहीं गोरा रे।
हंसन के तो वनिज नहीं है, चुगते मोती न्यारा रे ॥
जिन के नाम है विष्णु,विश्वम्भर, उनको क्यों न सँभारा रे।
छोड़ दे काम-क्रोध, मद-ममता, मान ले कहा हमारा रे ॥
भाग लिखा है उतना पइहै, यही केशवानंद विचारा रे ॥

सत्संग बदरिया बरसे, होन लगी प्रेम कमाई हो राम ॥टेक॥
सम दम बैल विवेक हराई, तनुमध खेत चलाई हो राम।
जोत जोत के कियो है निरमल, धर्म के बीज बोवाई हो राम ॥
ऊग गयी बेल निशी-दिन बाढ़े, मत के टेका दिवाई हो राम।
श्रद्धा कमल फुलेला बहुरंग, ज्ञान के फल लगवाई हो राम ॥
पकि गये फल तृप्ति हो गये दिल-मन से वासना उठाई हो राम।
जरि गये कर्म छुटि गये बीज,तीनों लोक की चाह मिटाई हो राम॥
करत केशवानंद, पायो है आनंद, ऐसी सत्संग महिमा हो राम।
भाग बिना नहीं मिलती सत्संग, बिन की पूरब कमाई हो राम ॥

आत्मज्योति (गजल)

घटहि में ढूँढ ले प्यारे ये
बाहर क्या भटकता है।
अखंड है ज्योति जिस मणि की,
हमेशा वो दमकता है ॥
जले बिन तेल बाती के,
पवन से नहिं वह बुझता है।
पाई जिन के सहारे से, वो सूरज भी चमकता है ॥
हुए तमनाश जब घट का, जहाँ पर दीप जरता है।
विरोधी ज्ञान बाहर के, न अंतर वृत्ति भरता है ॥
मिटे अज्ञान से मूला, कार्य तूला में होता है।
जरे 'संचित' तथा 'क्रियमाण', एक प्रारब्ध रहता है ॥
छुटे प्रारब्ध फूटे घट, तबहि महाकाश मिलता है।
कहे 'केशव' लखे जब ही, गुरु की शरण बसता है ॥

गुरु-शरणागति (होली)

बिना ज्ञान मुक्ति नहि होई, लाख उपाय करो नर कोई ॥टेक॥
तन सुखाय के सिंगा कियो है, नख सिख जटा बँधाई।
अन्न को त्याग फलाहार कियो है, तो भी न पार उतराई।
वृथा सब उमर है खोई ॥

ऊपर से बहु त्याग कियो है, भीतर आश लगाई ।
आँखें मूँद ध्यान धर बैठे, भार के आग बसाई ॥
देखो ऐसे मूरख लोई ॥
घर के माँहि अँधार रहत है, कोटिन करे उपाई ।
बिन प्रकाश के तम नहिं नासि है, चाहे दंड से मारि भगाई ।
देखो ऐसे भ्रम के लोई ॥
मल, विक्षेप दूर सब करके, गुरु शरण जो आई ।
'अहं ब्रह्म' केशव ने लख्यो है, ताही से तम है नसाई ।
कहे केशवानन्द जनाई ॥

असार संसार (दादरा)

समझ मन सपने को संसार ॥ टेक ॥
सपने माँहि बहुत सुख पायो, राजपाट परिवार ।
जाग पड़ा तब ताज न लश्कर, ज्यों का त्यों निरुआर ॥
मात, तात, भ्राता, सुत, वनिता, मिथ्या सर्व विकार ।
कर सत्संग ज्ञान जब जाग्यो, नहिं कोई म्हारो न थार ॥
चमक चाम की देखि न भूलो, यह सब माया असार ।
छुटते ही स्वांस सब बिखर जायेंगे, ज्यों मनके का तार ॥
कर निष्काम प्रेम भक्ति को, जो चाहो भवपार ।
सत्य धर्म को कबहुँ न त्यागो, केशवानंद निरधार ॥

संत जयनारायणजी महाराज

[जन्म-स्थान—आगर (मालवा प्रान्त)। समाधिस्थान—पाँसवास]

(प्रेषक—श्रीगोपीवल्लभजी उपाध्याय)

जिस प्रकार मध्याह्नकालकी तपी हुई रेतीमें पड़े हुए घृतको पीछा उठा लेनेके लिये कोई बुद्धिमान् पुरुष समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्य-शरीरका नाश हो जानेपर फिर उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य-शरीरके सिवा अन्य सर्व ऊँच-नीच शरीरोंकी प्राप्ति दुर्लभ नहीं है । जिन स्त्री-पुत्रादिके लिये अधिकारी मनुष्य-शरीरको वृथा नष्ट करता है, उन स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्ति भी कुछ दुर्लभ नहीं है। यह तो स्वर्ग-नरक तथा चौरासी लक्ष योनियोंमें जहाँ-तहाँ शरीरके समान ही सब बिना प्रयत्नके आशानुसार हो जाती है।

यह अधिकारी शरीर एक बार प्राप्त होकर फिर प्राप्त होना महाकठिन है। इस भरतखण्डमें जो जीव मनुष्य-शरीर पाकर पुण्यकर्म करता है, वह स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है और जो पाप करता है, वह नरकको प्राप्त होता है। और जो दोनों ओरसे लक्ष्य हटाकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करते हुए आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है। इसलिये मनुष्यका सर्वोत्तम कर्तव्य है कि वह मनुष्य-जन्म पाकर आत्मसाक्षात्कार करके जीवन सफल करे।

× × ×

जो अधिकारी पुरुष मनुष्य-शरीर पाकर आत्मसाक्षात्कार नहीं कर पाता, उसकी महान् हानि होती है। श्रुतिमें कहा है—
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

अर्थात् जो अधिकारी पुरुष शरीरको पाकर आनन्द-स्वरूप आत्माको नहीं पहचानता, वह अज्ञानी पुरुष जन्म-मरणादि अनेक दुःख पाता है तथा जो आनन्द-स्वरूप आत्माको जानता है, वह मोक्षरूप अमृतको पाता है। यह मोक्ष आत्मज्ञान बिना नहीं होता। श्रुतिमें कहा है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् आत्मज्ञानके बिना कभी मुक्ति नहीं होती। इसके सिवा मुक्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। एक आत्मज्ञान ही मोक्ष-प्राप्तिका परम मार्ग है।'

परमहंस अवधूत श्रीगुप्तानन्दजी महाराज

[स्थान—विष्णुपुरी [मालवा प्रान्त]

(प्रेषक—श्रीगोपीवल्लभजी उपाध्याय)

मत पड़ रे भरम के कूप रूप लख अपना,
अजी एजी, मनुष तन तूँने पाया है ।
कर देखो तत्त-विचार कौन तूँ कहाँसे आया है ॥ टेक॥
यह तन धन सधा जानि खेल में लागा,
अजी एजी, बिसरि गया अपनी सुधि सारी ।
खान-पान में लग्या, विषयों की बढ गई बीमारी ॥
इस चमक चाम को देखि फिरत है फूल्या,
अजी एजी, कुफर के पलड़े में झूल्या ।
बकने लग्या तुफान, जमा सब अपनी को भूल्या ॥

जोती सरूप है आप तुही फिर, किस जोती की आस करे ।
अंतर बाहर तीन काल में, सबही का परकास करे ।
बुद्धी और अज्ञान में आके, तुही रूप आभास धरे ।
'अहं ब्रह्म' यह विरती करके, तुही आवरण नाश करे ।
सब तेरी चमक की दमक पड़ी, पवनरु पानी सभी बहै ॥

गुप्तरु परघट आप विराजे, तेरे तो मरयाद नहीं ।
सादि अनादि शब्द कहे दो, तेरे तो कोई आदि नहीं ।
वेद शास्त्र में नाना झगड़े, तुझ में तो कोई वाद नहीं ।
माया, अविद्या, जीव ईश में, तुझ में कोई उपाधि नहीं ।
काल का भय नहिं जरा भी तुझ मे, काहे को विरथा दुःख सहै ॥

रामनाम (कव्वाली)

शुभकर्म करो निष्काम, राम भजि उतरो भवपारा ॥टेक॥
जिन्हों ने सुमिरा हरि का नाम, उन्हीं के सब सिध हो गये काम ।
लगी नहिं कौड़ी एक छदाम, छूटि गया सभी कर्म का गारा ॥
जगत में पापी तिरे अनेक, लेकर रामनाम की टेक ।
जिन्हों ने नहिं धारा कोई भेख, नाम नौका चढ़ि उतरे धारा ॥
रहा सब के माँही रमता, ममा कर सब माँही समता ।
जब भाव उदय हो समता, अपने चित में करो विचारा ॥
गुप्त प्रकट में एकहि जान, सीख ले गुप्तगुरु से ज्ञान ।
अब तो मत रख तूँ अज्ञान, मानमद तजि दो सभी विकारा ॥

(२) तत्त्वज्ञान (लावनी-रंगत ख्याल)

काया मंदिर माँहि सिधारे, आतम ज्योतिर्लिंग रहे ।
मनीराम है तिसका पुजारी, तरह तरह के भोग धरे ॥टेक॥
गौण पुजारी और आठ हैं, अपने अपने काज चले ।
शब्द अरु स्पर्श रूप रस गंध को लेके हाजिर रहे ।
नौ तो पूजा करें ज्ञान से, मन, बुधि, चित, अहंकार मिले ।
दस पुजारी हैं कर्मकाण्ड के, करते अपने कर्म भले ।
सब मिलि पूजा करे हैं देव की, जन्म जन्म के पाप दहै ॥

धूप-दीप हैं साधन सारे, अरु जितने सतरा पोथी ।
निज आतम दितिरेक जो क्रिया, और सभी जानें थोथी ।
सत्-चित् आनँद तीन पुष्प धरि, निश्चय में शुद्धी सोती ।
मन वाणी की गम्य नहीं जहँ, मंद होय सब ही जोती ।
आप स्वयं परकाश विराजे, नेति नेति कर वेद कहै ॥

(३) चेतावनी (कव्वाली)

सुनि ले मुसाफिर प्यारे, दो दिन का है यह डेरा ।
करनी करो कोई ऐसी, पावे स्वरूप तेरा ॥टेक॥
योनी छुटे चौरासी, यम की कटे सब फाँसी ।
पावे तुझे अविनाशी, होवे नहीं फिर फेरा ॥
निष्काम कर्म को कीजे, मस्ती के रस को पीजे ।
फिर ज्ञान-तिलक को लीजे, कहना करो अब मेरा ॥
पाकर के अपना रूपा, हो जा भूपन का भूपा ।
सो सब से अजर अनूपा, कछु दूर नाहिं नेरा ॥
यह ज्ञान लखो गुप्ताई, सुन लीजो बाबू भाई ।
हम कहते हैं समझाई, छुटि जाय पाप का घेरा ॥

(४) रामनाम रस प्याला (भजन)

पीले राम नाम रस प्याला, तेरा मनुवा होय मतवाला ॥
जो कोई पीवे युग युग जीवे, दुख होय नहिं बाला ।
चौरासी के बचे फेर ते, कटि जाय यम का जाला ॥
इस प्याले के मोल न लागे, पकड़ हरी की माला ।
जन्म जन्म के दाग छुटें सब, मैल रहे नहिं काला ॥
सतसंगति में सौदा कर ले, वहाँ मिले सब इच्छा ।
गुरुदेव का शरण पकड़ो, तोड़ भरम का ताला ॥
तुम ज्ञान का दीपक बालो, जब होवे उजियाला ।
सब ही शत्रु मार गिराओ, कर पकड़ ज्ञान का भाला ॥

अवधूत, महाप्रभु बापजी श्रीनित्यानन्दजी महाराज

(प्रेषक—श्रीगोपीवल्लभजी उपाध्याय)

ज्ञानीकी दृष्टि (राग-मल्हार)

मो सम कौन बड़ो घरबारी ।
जा घर में सपनेहु दुख नाहीं,
केवल सुख अति भारी ॥टेक॥
पिता हमारा धीरज कहिये,
क्षमा मोर महतारी ।
शान्ति अर्ध-अंग सखि मोरी, बिसरे नाहिं बिसारी ॥
सत्य हमारा परम मित्र है, बहिन दया सम बारी ।
साधन सम्पन्न अनुज मोर मन, मया करी त्रिपुरारी ॥
शय्या सकल भूमि लेटन को, बसन दिशा दश धारी ।
ज्ञानामृत भोजन रुचि रुचि करूँ, श्रीगुरु की बलिहारी ॥
मम सम कुटुम्ब होय जिन जाके, वो जोगी अरु नारी ।
वो योगी निर्भय नित्यानंद, भययुत दुनिया-दारी ॥

अलौकिक व्यवहार

रमता जोगी आया नगर में, रमता जोगी आया ॥टेक॥
बेरंगी सो रंग में आया, क्या क्या नाच दिखाया ।
तीनों गुण औ पंचभूत में, साहब हमें बताया ॥
पाँच-पचीस को लेकर आया, चौदा भुवन समाया ।
चौदा भुवन से खेले न्यारा, यह अचरज की माया ॥
ब्रह्म निरंजन रूप गुरू को, यह हरिहर की माया ।
हर घट में काया बिच खेले, बनकर आतम राया ॥
भाँत-भाँत के वेष धरे वो, कहीं धूप कहीं छाया ।
समझ सेन गुरु कहे नित्यानंद, खोज ले अपनी काया ॥

प्रभुसरण

जा को नाम लिये दुख छीजे, जैसे पृथ्वी जल बरसन से ।
रोम रोम सब भीजे, जा को नाम लिये दुख छीजे॥टेक॥
नाम जिन का रट्या ध्रुवजी, मात बचन सिर धर के ।
पलभर उर से नहीं बिसारयो, मदद तिसी को करिजे ॥
पाँच बरस की उम्र अवस्था, राजपाट सब तज के ।
जाय बसे बन माँहि अकेले, यह राज अटल मोहि दीजे ॥
ऐसी टेर जब सुनी श्रीहरि ने, आय दरस प्रभु दीने ।
कही श्रीमुख से सुनहु ध्रुवजी, ये राज अटल तुम लीजे ॥
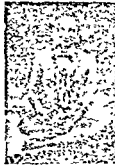
ऐसी दृढ़ भक्ति जो करते,
ते जन जग को जीते ।
कहत नित्यानंद यार चित्त सुन !
अब ऐसा अमित रस पीजे ॥

मङ्गल द्वादशी
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ कार रूपा चिति है सदा ॐ ।
न भू उसे है सब का निदा न ॥
मो दाम्नि में प्राण अपान हो मो ।
भ क्ति प्रिया के प्रिय हो चिदा भ ॥
ग ति प्रभावा वह है चिरा ग ।
व शी बनो, शुद्ध करो स्वभा व ॥
ते जो मयी में कुछ भी न हो ते ।
वा र्ता भवार्तो, मय वासवा वा ॥
सु धा चिति प्राण परा चिदा सु ।
दे ती सभी या कुछ भी नहीं दे ॥
वा णी परा ॐ चिति भावना वा ।
य श्रेष्ठ देवो सब को सदा य ॥

[प्रत्येक पंक्तिका पहला और अन्तिम अक्षर लेनेसे 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र बन जाता है ।]

अभिमान

किस पर करत गुमान रे मन, मान हमारी ॥टेक॥
हाड़ चाम का बना यह पींजरा, सकल पुरुष अरु नारी ।
तिस को तुम अपने कर मानो, यही भूल यह भारी ॥
कहे तू क्यों बिन यारी ॥
दो दिन की है चमक चाम की, सो तूँ लेहु बिचारी ।
बिन विचार कछु सार मिले ना, छाँड सकल जिन यारी ॥
आप तू सुद्ध गिरधारी ॥
दो दिन का है जीना जगत में, सो तूँ जाने अनारी ।
भवसागर से तिरना होय तो, हो अतिशय दुखियारी ॥
तब ही होवे भव पारी ॥
इस में संशय मत मन लाओ, यह सत्य भाव के वारी ।
कहे अलमस्त नित्यानंद स्वामी, गो गुरु है भौंर भारी ॥
कही तोहे मैं म्हारी ॥

संत सुधाकर

(प्रेषक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

कान्हा तेरी वेणु बजे रस की,
वेणु बजे रस की, मोहन तेरी वेणु बजे रस की ॥
तेरी वेणु को नाद श्रवण कर,
जागी प्यास दरस की ॥ कान्हा० ॥
रैन-दिना चित चैन गहत नहिं,
लागी लगन परस की ॥ कान्हा० ॥
तू मेरो मैं तेरी 'सुधाकर'
बतियाँ अरस-परस की ॥ कान्हा० ॥

एक बार प्रिय आओ, जग को पेर दिखाओ ॥
कान्हा मोहन श्याम मनोहर,
गौ-ग्वालन सुध लाओ ॥ एक० ॥
भारत के उन्नत होने हित,
गीता-मर्म सुनाओ ॥ एक० ॥
ज्योति दिखा ब्रजभूमि-सुधाकर,
मन का तमस हटाओ ॥
एक बार प्रिय आओ, जग को पेर दिखाओ ॥

लीलामय कान्ह को है अद्भुत स्वरूप विश्व
कान्ह की विचित्र छवि सारी जनताई है।
चन्द्र कान्ह, सूर्य कान्ह, ग्रह कान्ह, तारा कान्ह,
कान्हमय लता-पता भूमि लहराई है ॥

सुधाकर करके विचार नीके देखि लेहु
कान्ह तें न न्यारी कोई वस्तु दृष्टि आई है।
कान्ह को भयो है जन्म कान्ह ही प्रमोद छायो
कान्ह को ही देत कान्ह आनँद-बधाई है ॥

बने दुष्ट कानून रहे ना उच्च धर्म जहँ।
हो सुनीति का खून सुजन जन दंडित हों जहँ ॥
जहँ न होय सम्मान सत्य का मर्यादा का।
दुर्जन करैं बखान अमित उच्छृंखलता का ॥
दिन-रात प्रजा की पीर जहँ न कुछ शान्ति सुख दान दे।
राज-धर्मका लेश भी तहँ न सुधाकर जान ले ॥

पूजा-पाठ यज्ञ-याग जप-होम भूलि बैठे,
भूलि बैठे देश धर्म-कर्म की कहानी को।
भूलि बैठे जाति धर्म कुल धर्म देश धर्म,
भूलि बैठे राज धर्म वेद शास्त्र बानी को ॥
भला होगा कलि माँहि कैसे जग मानवों का,
भूलि बैठे प्रेमियों की प्रीति रसमानी को।
सुधाकर एक आज अब तो उपाय है यह,
भज धारै श्यामा श्याम जग सुखदानी को ॥

योगी गम्भीरनाथजी

(जन्म-स्थान—जम्मू (काश्मीर), गुरुका नाम—बाबा गोपालनाथजी गोरखपुरवाले, देहावसान—सन् १९१७ ई० २१ मार्च।)

भारतमें अनेक रूपोंमें एक ही परमात्माका निवास है, उनमें भेद-दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। यद्यपि रूप अनेक हैं तथापि उनमें सत्य एक ही है।

भगवान्‌के नामपर भरोसा करना चाहिये। भगवत्कृपासे आपकी समस्त इच्छाओंकी पूर्ति हो जायगी।

सदा सत्य बोलना चाहिये। छल-कपटसे दूर रहना चाहिये। 'अहम्' में नहीं चिपकना चाहिये। दूसरोंको कभी बुरा-भला नहीं कहना चाहिये। समस्त धर्मों और उन धर्मात्माओंका आदर करना चाहिये। निराश्रितों, दीन-दुखियों और असहायोंको दया-प्रेमसे शिक्षा देनी चाहिये और विचार करना चाहिये कि इस प्रकार हम ईश्वरकी ही पूजा कर रहे हैं।

बीते कर्मोंको कभी नहीं भोगना चाहिये। जो कुछ हो गया वह बदला नहीं जा सकता। पीछे न देखकर आगे बढ़ते रहना चाहिये।

यदि संदेशमें कभी कुछ माँगनेकी आवश्यकता पड़ जाय तो सदा उनसे प्रेम-भक्तिकी ही याचना करनी चाहिये।

अपने धर्म-कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। हम [illegible] [illegible] है। समस्त देश और कालके लिये [illegible] एक अपूर्व उपहार है।

ईश्वरके सिवा कुछ भी नहीं है, सब उन्हींके [illegible] है। सब उन्हींमें और सब उन्हींसे है।

अन्तर्मुख होकर इस विषयका [illegible] अनुभव होती है कि वह सत् है और वह आनन्द है, वह शिव है

और क्या अनित्य है, आत्माका क्या स्वरूप है और अनात्माका क्या लक्षण है, मुक्ति क्या है और बन्धन क्या है, बन्धनके हेतु कौन हैं और उसके नाशके उपाय क्या हैं ? भगवान्, जीव और जगत्के बीच क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि-इत्यादि ।

मुक्तिकी इच्छा रखनेवालोंको विचारपूर्वक यह हृदयङ्गम कर लेनेकी आवश्यकता है कि विषय-वासनाको जितना ही अवसर दिया जायगा, उतना ही बन्धन और क्लेशकी वृद्धि होती जायगी । भोगवासनाका संकोच और तत्त्वज्ञान-वासनाका विकास ही दुःख-निवृत्ति और कृतार्थता-प्राप्तिका प्रथम सोपान है । वासनाधीन होकर विषय-भोग करनेपर सम्पूर्ण प्रकारसे मनुष्यत्वकी हानि होती है और परमानन्द-प्राप्तिका पथ रुक जाता है, इस बातका विचार करते-करते ही वैराग्य जाग उठता है । इसीके साथ सारासार विचारके द्वारा—परमात्मा ही सार पदार्थ है, उसके अतिरिक्त अन्य सभी कुछ असार है,—इस तत्त्वको समझकर परमात्माके साथ सजीव सम्बन्ध स्थापन करना होगा । उसके बाद अपने अधिकारका विचार करके कर्म, उपासना, ध्यान, ज्ञान इत्यादि विभिन्न साधन-मार्गोंमेंसे कौन-सा मार्ग अपने लिये सहज ही परमात्माके साक्षात्कारमें विशेष अनुकूल होगा, इसका निर्णय करके ऐकान्तिक पुरुषार्थके साथ उसी पथपर अग्रसर होनेकी आवश्यकता है ।

श्रीकृष्णनन्दजी महाराज (रंकनाथजी)

[जन्म—वि० सं० १८४८ नजरपुरा गाँव (होशंगाबाद) । जाति—नार्मदीय ब्राह्मण । पिताका नाम—श्रीकाशीरामजी । देहावसान—वि० सं० १९३२ भादों सुदी ११ । उम्र ८४ वर्ष ।]

(प्रेषक—श्रीराधेश्यामजी पाराशर)

रामकृष्ण रामकृष्ण रामकृष्ण कहो रे मन ॥ टेक ॥
काल चक्र मस्तक पै उदय अस्त मझ रे ।
संत शास्त्र कहे बानि ताहि को समझ रे ॥
हरि रस बिन जितने रस सब रस अकाज रे ।
जग बिकार मंद मति सब ही को तज रे ॥
श्रीलालजीकूँ भक्तिप्रिय समझ भज रे ।
जात पाँत नाहीं देखि तार लियो गज रे ॥
रंक सदा काल सेवि संतन की रज रे ।
ब्राह्मण तनु पाया सब तनु की तूँ ध्वज रे ॥

जाको प्रभुपद से न अनुराग, अरे मन ताके निकट न जैये॥टेक॥
वाकूँ तजिये अंत करण मे जानिये कारो नाग ।
स्वच्छ न होय अन्त समुकारे दूध न्हवावो काग ॥
मृतक समान जीवत है जग में जीवन जिनको अकाज ।
रंक कहत उर शान न उनके ना छूटे उर दाग ॥

मत दीजो बड़प्पन रे प्रभु ॥ टेक ॥
पूँजी मेरी बृथा जायगी जोड़ रख्यो कन कन रे ।
बृद्धि पावै रज गुण बड़पन मो मों नहीं होत सहन रे ॥
गर्व आवे वामें बहुतेरो ऐसो चपल वो मन रे ।
रंक माँगू याहि प्रभु तुम से लागो रहु चरनन रे ॥

जिनकी लगन न नाथ से लागी ॥ टेक ॥
मृतक जीवन है जाको पूरब जन्म को दागी ।
प्रेम न आयो कहा कियो निज त्यागी ॥
रहत प्रपंच नाथ पद भूरत ताहि जान बड़ भागी ।
प्रभु जस सुनि मन द्रवत न कबहूँ सो मन जान अभागी ॥
रंक कहत प्रभु जस अघनासक ज्यों गंजिन कूँ आगी ॥

हरे मन जब लौं न भजे नंदनंदनको ॥ टेक ॥
तब लौं दाह मिटै नहीं तेरी मिटे न त्रास भव-फंदन को ।
ज्यों लौं तृष्णा थके नहीं तेरी त्यो लौं न सुलझ भव-बंधनको ॥
तब लो नाहिं घड़े सत्संगति घड़ेगो संग मति मंदन को ।
रंक भजन बिनु आयसु भोगे बृथा रूख जस चन्दनको ॥

जिनको धन्य जगत में जीवन जिनको सब जग करे बखान॥टेक॥
मुख ते भजन करत वे निश दिन करते दान देत बोलत सत ।
पग ते गमन करत मंदिर में कथा में साधव कान ॥
वे बैरी ना काहू के जग में कोउ करे बैर अजान ।
उनसे जिनको बुरो भलो नहीं मन में कोउ कर दे अपमान ॥
सत् सगत में आनंद जिनको करे नित प्रभु को ध्यान ।
नाम लपेटी बाणी बोले राखे सब को मान ॥
दुख सुख निज लेखे बराबर और लाभ निज हान ।
रंक उनको प्रणाम हमारो वे जन हमारे प्रान ॥

भजन करो जग जानु प्रभु को भजन करो जग जानु ॥टेक॥
जोग जग्य तप दान नेम व्रत तीर्थ गमन पहिचानु ।
इन में बिघन अनेक प्रकार के सत्त बचन पहिचानु ॥
कुल अभिमान से भजन बनत नहिं तातें फिरत बिगानुं ।
मरम डाल रही भरम सबन पर तामुं जग बहानुं ॥

जोगी जगी दानि व्रति नेमी ये सुत प्रभु को स्याणुं रे ।
भजन समान भक्त कछु जामे ना भक्त बाल है तानुं ॥
ये साधन जिन वृच्छ की धेनु जे कहे से कहेत दुझानु रे ।
भक्ति वच्छ हरि धेनु चरावे बछोड़ेगी पान्हु ॥
भामत जुग मत त्रेता जग कीन्हु द्वापर पूजा ठानु ।
रंक भक्ति केवल कलि काल मुं श्रीमत को पत जानुं ॥
काया गढ़का वासी मन रे तुने कहुँ लग देउँ शिखापण रे ।
नीच मांग छवि लूटि रह्या तूने जोड़यो कण कण रे ॥
मान बड़ाई अहंकार में यो वृथा जाय निज तन रे ।
भक्ति ज्ञान वैराग्य मिले ना तू जीत शत्रु को रण रे ॥
रंक कहे कुमती आफत से तू हुइ जाइस निरधन रे ।

कामना नाहिं भली मन जान करेगी जमपुर में हैरान ।
जिनने कामना जीती यारो उनके लज्जा भारी ।
ज्ञान राज की मारफत से हुई आलखत यारी ॥
कामना के वश में मन वागन जग मूल भुलाना ।
फेर जनम फिर मरना यारो फिर फिर आना जाना ॥
जिनके कामना अंत बसी है उनके अंत अँधेरा ।
अन्तकाल जम दूत सग है जाता जमपुर घेरा ॥

श्रीदीनदासजी महाराज

[नाम—श्रीसदाशिवजी शुक्ल । आविर्भाव—१८९० वि० सं० । जन्म-स्थान—रहटगाव (होशंगाबाद जिला) । जाति—नार्मदीय ब्राह्मण । पिताका नाम—नरोत्तमजी शुक्ल । गुरुका नाम—श्रीकृष्णानन्दजी रकनाथ ।]

(प्रेषक—श्रीराधेश्यामजी पाराशर)

गुन गाई लीजो रामजी को नाम अति मीठो ॥ टेक ॥
रामरस मीठो सो तो मीठो नहीं कोई रे
जाने जिनने रियो दूजो स्वाद लागे मीठो ।
जो नर राम रसायन त्यागे तेके जमका
दूत कूटी कूटी कर पीटो ॥
राम नाम वाल्मीक भजन कीरयो रे
रुयी समाधि उपर हुई गयो मीठो ।
महामुनि की पदवी पाई भील
करम तन मन से छूटयो ॥
निश्चय कर आवे तेवे प्रभु पद पावे रे
जैसो गुड़ से लिपटत चींटो ।
गुड़ की टूटे पांखी चुंगल नहीं छूटे रे
ऐसो भजन में मन कर दीठो ॥
प्रेम को संजोगी भाव भक्त को भोगी रे
नहीं सुहात तर पथ आगी को ।
दीनदास भजन करत है झांझ
मृदंग करताल ले पूरो ॥

मिल राम से प्रीत करो सजनी ॥
कहा सोवत नर मोहनी मधु काल अचानक हारे हरनी ।
प्रेम कुटी मुं बैठ के मनुवा गल बिच हार लो सो नाम वपनी ॥
मूल मन्त्र जो श्वास उसास से यई माला निश दिन जपनी ।
दीनदास धरो राम भरोसो शीतल करे तन की तपनी ॥

राम नाम बिन धरतो रे मन भव सागर से तरनो ॥
राम नाम सारो हिय मे धरनो तीन ताप नहीं जरनो ,
राम-रसायन प्रेम कटोरन पी पी आनन्द भरतो ॥
राम-रसिक की संगत करतो नहीं भवकूप में परतो ।
दीनदास देखे सब मत मुं नाम बिना नहीं सरतो ॥

तृष्णा बुरी रे बलाय जगत में ॥ टेक ॥
इस तृष्णा ने कई घर घाले ऋषी मुनी समुदाय ।
बड़े बड़े रजधानी लूटे ऐसन कर रही आहि ॥
ध्यान, वचन दे आसन सुमिरन प्रभु दरशन को जाय ।
खान-पान वनितादिक देखे ताहि में ललचाय ॥
या तृष्णा है ऐसी जैसे कार्तिक स्वान फिराय ।
भटकत भटकत फिरे रैन दिन तोहू न शान्ति लगाय ॥
पहिले सुख लागत है मीठो फिर फिर धुनि पछताय ।
है कोई ऐसो मन शूरमा याहि को देय छुड़ाय ॥
सदा ध्यान रख रामचरण को याही में सुख सार ।
जिन के चरण कमल की रजरज दीनदास बलि जाय ॥

जिन के साधन संग नहीं हृत, सो नर मरतो रहतो भव फेरा ॥ टेक ॥
भजन करत हरता जो करे दिन हो अनिसो जीवन तेरा ।
नामामृत का रस पान करन दे सो [illegible] [illegible] मसेन ॥
उदर नग्न [illegible] करिनाई जैसे बहुगुण [illegible] ।
दीनदास भजे नाम [illegible] भवसागर तर [illegible] ॥

उसे मरेगा चलना यार ॥ टेक ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]

भजन करार करनि तू आयो भूल गयो धन देखित ठाठ।
दीनदास रघुवीर भजन बिन छूटे नहीं तेरे मन की गाँठ॥

पड़े बाँकी बखत कोई आवे नहीं काम॥ टेक॥
तन मन से धन धाम सँवारो कियो संग्रह धन कस कर चाम॥
बात पित कफ कंठ कुं रोकत ठकमक देखत सुत अरु बाम।
जब काया में आग लगाई भगे लोग देखे जरतो चाम॥
बाँकी बख्त को राम बसीलो सीतापति शुभ सुंदर श्याम।
दीनदास प्रभु कृपा करे जब अंत समय मुख आवत राम॥

रसना राम नाम क्यों नहीं बोलत॥ टेक॥
निशि दिन पर-अपवाद बखानत क्यों पर-अघ को तोलत॥
संत समागम प्रेम कटोरा राम रसायन घोलत।
तहाँ जाय कुशब्द उचार के क्यों शुभ रस तूँ ढोलत॥
जो कोई दीन आवे तब सन्मुख मर्म वचन कहि बोलत।
मर्म वचन में सार न निकसत ज्यों काँदे खु छोलत॥
नर मुख मंदर सुंदर पाय के सुधा वचन क्यों न बोलत।
दीनदास हरि चरित बखानत आनंद सुख क्यों न डोलत॥

भजन कर आयु चली दिन रात॥ टेक॥
या नर देही सुंदर पाई उठो बड़ी परभात।
राम भजन कर तन मन धन से मान ले इतनी बात॥
कुटंब कबीला सुख के साथी अंत कूँ मारत लात।
दीनदास सुत राम-धाम तजि क्यों जमपुर को जात॥

संत श्रीनागा निरङ्कारीजी

(जन्म—अठीलपुरनरेशके घर, पंजाब-प्रान्तीय। स्थान—कानपुर जनपदका पाली राज्य।)

पड़ी मेरी नइया विकट मँझधार।
यह भारी अथाह भवसागर, तुम प्रभु करो सहार॥
आँधी चलत उड़त झराझर मेघ नीर बौछार।
झाँझर नइया भरी भार से, केवट है मतवार॥
किहि प्रकार प्रभु लगूँ किनारे, हेरो दया दीदार।
तुम समान को पर उपकारी, हो आला सरकार॥
खुले कपाट-यन्त्रिका हिय के, जहँ देखूँ निरविकार।
'नागा' कहै सुनो भाई संतो, सत्य नाम करतार॥

अब तो चेत मुसाफिर भाई॥
बार-बार पाहरू जगावत, छोड़त नहिं अलसाई।
अब तो मिलना कठिन पिया का, उलटी भसम रमाई॥
घर है दूर मेरे साईं को, जीव जंत सब उड़ जाई।
'नागा' कहै सुनो भाई संतो सत्य नाम की करो दुहाई॥

सिन्धी संत श्रीरामानन्द साहब लुकिमान

(प्रेषक—श्रीश्यामसुन्दरजी)

तुम शान्ति करो कोई शोर नहीं।
दुई दूरि करो कोई होर नहीं॥
तुम साधु बनो कोई चोर नहीं।
तुम आपु लखो तब तुं ही तूँ ही॥
ना मानो तो कोई जोर नहीं।

मेरे प्यारे! इस दुनियामें ऐसे रहो, जैसे जेलमें जेलर रहता है। जेलमें जेलर तथा कैदी दोनों रहते हैं। जेलर आजाद रहता है पर कैदी बन्धनमें रहता है। तुम जेलरकी भाँति आजाद होकर अपने आत्माका विलास जानकर सब काम करते रहो।

संत अचलरामजी

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरदीनजी रामपुरी)

मुझको क्या ढूँढ़े बन-बन में, मैं तो खेल रहा हर फन में॥
अकाश वायु तेज जल पृथ्वी इन पाँचों भूतन में।
पिंड ब्रह्मांड में व्यार रहा हूँ चौदह लोक भुवन में॥
सूर्य चन्द्र में बिजली तारे मेरा प्रकाश है इन में।

सारे जगत का करूँ उजारा हुआ प्रकाश सब जन में ॥
सब में पूरण एक बराबर पहाड़ और राइ तिल में ।
कमती-ज्यादा नहीं किसी में एक सार हूँ सब में ॥
रोम रोम रग-रग में ईश्वर इन्द्रिय प्राण तन मन में ।
अचलराम सतगुरु कृपा बिन नहीं आवत लेखन में ॥

पण्डित श्रीपीताम्बरजी

[स्थान—कच्छ देश। जन्मकाल वि० सं० १९०२]

(प्रेषक—श्रीधर्मदासजी)

जब जानत है निज रूपहि कूँ । तब जीवन्मुक्ति समीपहि कूँ ॥
भ्रम बंद निवृत्ति सदेहहि कूँ । सुख सम्पति होवत गेहहि कूँ ॥
विदवान तजे इस देहहि कूँ । तब पावत मुक्ति विदेहहि कूँ ॥
तम लेश भजे सद नाशहि कूँ । तज देत प्रपंच अभासहि कूँ ॥
सरिता इव सागर देशहि कूँ । चिन् मात्र मिलाय विशेषहि कूँ ॥
चिद होय भजे अवशेषहि कूँ । नहि जन्म पीतांबर शेषहि कूँ ॥

सद्गुरु श्रीपतानन्द आत्मानन्द स्वामी महाराज

(प्रेषक—श्रीआत्मानन्ददास रामानन्द बगड़ालवार)

मनुष्यो ! तुमने कभी सोचा है क्या, यह जो विशाल रूपसे विस्मृतिकी कल्पित सृष्टि दीख रही है वह वास्तवमें क्या है ? इसीको तुमने सत्य मानकर मान, अहंकृति, वैभव, विषयाभिलाषासे इस स्वप्नवत् क्षणभंगुर देहको ही अपना सर्वस्व समझ लिया है और केवल विचारहीन पशुवत् आचरण-को ही चातुर्य और प्राप्त कहनेका प्रयत्न किया जा रहा है। इस अभिलाषामें न तुमको धर्मकी पहचान है न ईश्वरकी। धर्म और ईश्वरको तुमने विषयाभिलाषाकी पूर्तिका एकमात्र साधन बना लिया है। इतने अन्याय, इतना स्वार्थमय खेल खेलकर भी, तुमने जिस इच्छासे और जिस कामनासे इस अमूल्य मानव-शरीरको धारण किया था, क्या उसमें तुमने कोई सफलता प्राप्त की है ? भाइयो ! इसी भूल और विस्मृतिसे विश्वके नियम चक्रमें इस स्थानको प्राप्त करके चौरासी लक्ष योनियोंके दुःखोंको सहन करते हुए तुम्हारा जीवन दुःखमय बन गया है, इसीलिये तुममें सच्चे दुःख और सुखका ज्ञान ही नहीं रहा। अपना जो सुखमय स्वरूप है, उसको तुमने पुराणोंके गपोड़े बतलाया और जिसने दुःखकी प्रज्वलित ज्वाला भड़काकर सारे प्राणियोंको अस्तित्वहीन बना दिया है, उस भौतिक जड़वाद राक्षसको तुमने अपना परम मित्र मान लिया है ! सोचो, विचार करो। भौतिकताका आधार यह शरीर कालके एक थपेड़ेसे मिट जायगा और तुमने यह जो भौतिकताका रंगीला महल बना लिया है, वह क्षणोंमें जहाँ-का-तहाँ विलीन हो जायगा ! यदि तुम मनुष्य हो तो अपनी ओर मुड़कर देखो, सोचो—यहाँपर तुम्हें क्या त्यागना है और क्या ग्रहण करना है। विचारसे देखनेसे तुमको यह सहज मालूम होगा कि विविध रूपोंमें जो विकृतिमय वस्तुएँ हमको दीख रही हैं, वे केवल अस्तित्वहीन और अपने स्वरूपपर ही प्रत्यारोपित हैं। प्रत्यारोप उसी अवस्थामें होता है कि जब अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है, जैसे रज्जुके भूलनेसे सर्पका आरोप या सुवर्णके भूलनेसे अलंकारका आरोप होता है। वास्तवमें हम अपने स्वरूपको भूलकर ही जन्म मृत्युके यन्त्रमें पीसे जा रहे हैं। स्वरूप-स्मृति होनेपर तो यह जन्म-मृत्युका खेल हमको बाल-लीलावत् और हास्यास्पद प्रतीत होगा। मैं सत्य और आन्तरिक प्रेरणासे अखिल मानव-समाजको यह प्रार्थनामय संकेत करना चाहता हूँ कि वे अपने ईश्वरमय स्वरूपकी प्राप्तिके बिना जो कुछ भी करना-कहना चाहते हैं, सब व्यर्थ वाणी-विलास है। मेरी मङ्गलमय स्वात्मारूपी प्रभुसे प्रार्थना है कि वे अखिल मानव-जातिके कल्याणके लिये शीघ्र मङ्गल-प्रभातका प्रादुर्भाव करके अखिल मानव-प्राणीको स्वरूपामृतका पीयूष पिलाकर सबको जन्म-मृत्युकी बाधासे मुक्त कर अजरामर बना दें।

महाराज चतुरसिंहजी

(उदयपुरके महाराणा फतहसिंहजीके जेठे भाई श्रीसूरतसिंहजीके चौथे पुत्र। जन्म-वि० सं० १९३६ माघ कृष्ण १४। परधामगमन-सं० १९८६ आषाढ़ कृष्ण ९। महान् भक्त, विद्वान्, कवि, वैराग्यवान्)

यों संसार बिसार चित, ज्यों अधार करतार।
त्यों करतार सँभार नित, ज्यों असार संसार॥
राम रावरे नाम में रही अनोखी बात।
दो गुरु आखर तऊ आखर मात न आत॥
जो टेरो तैं राम को तो बेरो भव-पार।
नाहिंत फेरो जगत को, परि है बारंबार॥

संत टेऊँरामजी

(सिन्धके प्रेमप्रकाशसम्प्रदायके मण्डलाचार्य। देह-त्याग सन् १९४२)

उसी देव को पूजत हूँ मैं, जिसका दरजा आला है।
सब के अंदर व्याप रहा जो, सब से रहत निराला है॥
देह बिना जो परम देव है, जाका नाम अकाला है।
टेऊँ तिसका ध्यान धरे मैं पाया धाम विशाला है॥

जो कुछ दीसै सोई है प्रभु, उस बिन और न कोई है।
नाम-रूप यह जगत बना जो, वासुदेव भी वोही है॥
अस्ति भाति प्रिय रूप जो, सत् चित् आनंद सोई है।
कह टेऊँ गुरु भ्रम मिटाया, जहँ देखूँ तहँ ओई है॥

टेऊँ गफलत नींद मे, बीते जन्म अनेक।
मनुष्य जन्म को पाइ के, तजी न सोवन टेक॥
मात-गर्भ मे सोय पुनि, सोये मा की गोद।
यौवन में तिय संग तुम, सोये किया विनोद॥
बूढ़ेपन में खाट पर, सोय रहे दिन रैन।
अरथी पर चढ़ अन्त में, कीन चिता पर सैन॥
ऐसे सोवत खोय दी, टेऊँ मानुष देह।
हाथ मले बिन हाथ कछु, आवत ना फिर एह॥

मानुष जन्म लेके, काम नीके नाहिं कीने,
आम के उखाड़ तर कीकर लगाये हैं।
पशुवत पेट भरे, हरि का न ध्यान कीना,
भव-कूप माँहि पड़ि, बहु दुःख पाये हैं॥
काम, क्रोध, लोभ माँहि, आयु सब खोय दीनी,
साधु-संग बैठके न हरि गुन गाये हैं।
कहे टेऊँ तीन लाज, तोड़ के न काज कीना,
आप जाने बिन तन रत्न गँवाये हैं॥

स्वामी श्रीस्वयंजोतिजी उदासीन

(ऋषिकेशनिवासी उदासीन सम्प्रदायके प्रसिद्ध संत)

सर्वेषामपि शास्त्राणां रहस्यं परमं जगुः।
भगवद्भक्तिनिष्ठां हि गीता तत्रे समाप्यते॥
सैव साधनरूपा च फलरूपा च निष्ठयोः।
ज्ञानकर्माख्ययोस्तस्माद्गीतान्ते उपसंहृता॥
सर्वेभ्यो वर्णधर्मेभ्यो ह्याश्रमधर्मेभ्यस्तथा।
भगवद्भक्तिरेकैव सामान्येभ्यो गरीयसी॥
भगवतो भक्तो यस्मादन्यापेक्षाविरहिणः।
तस्यैवानुमहाज्ज्ञानात्कृतार्थो भवति किल॥
विधेया भगवद्भक्तिरेकैवातो मुमुक्षुभिः।
धर्माः सन्तु न वा सन्तु सापेक्षैः खलु किंच तैः॥

(राजयोगप्रदीपिका, पञ्चम प्रकाश श्लोक २७०-२७४)

भगवद्-भक्तिकी निष्ठाको ही आचार्योंने समस्त शास्त्रोंका परम रहस्य बतलाया है, श्रीमद्भगवद्गीताका भी भगवद्भक्तिमें ही उपसंहार हुआ है। भगवद्भक्ति ज्ञाननिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा दोनोंका साधन भी है और फल भी। इसीलिये गीताके अन्तमें उसका उपसंहार किया गया है। निस्संदेह भगवद्भक्ति अकेली ही सम्पूर्ण सामान्य वर्णधर्मों एवं आश्रमधर्मोंमें बड़ी है; क्योंकि निश्चय ही भगवान्‌का भक्त अन्य किसी साधनकी अपेक्षा न रखकर केवल उनकी कृपासे ही ज्ञान प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है। इसलिये मोक्ष चाहनेवालोंको एकमात्र भगवद्भक्तिका ही अनुष्ठान करना चाहिये—उपर्युक्त धर्मोंका आचरण चाहे हो या न हो; क्योंकि उन धर्मोंसे क्या होना-जाना है, जो मुक्तिके स्वतन्त्र साधन नहीं हैं अपितु ज्ञानादिकी अपेक्षा रखते हैं।

हो तू सदाचारी सदा मन इन्द्रियों को जीत रे ।
ना स्वप्न में भी दूसरों की तू बुराई चीत रे ॥

क्या क्या करूँ कैसे करूँ, यह जानना यदि इष्ट है ।
तो शास्त्र संत बतायँगे, जो इष्ट या कि अनिष्ट है ॥
श्रद्धासहित जा शरण उन की त्याग निज अभिमान दे ।
निर्दम्भ हो निष्कपट हो, श्रुति संत को सम्मान दे ॥

'मैं' और 'मेरा' त्याग दे, मत लेश भी अभिमान कर ।
सब का नियंता मान कर विश्वेश का ही ध्यान धर ॥
मत मान कर्ता आप को, कर्तार भगवत जान रे ।
तो स्वर्ग द्वारा जाय खुल तेरे लिये सच मान रे ॥

निशि दिन निरंतर बरसती सुख मेघ की शीतल झड़ी ।
भीतर न तेरे जा सके है आड़ ममता की पड़ी ॥
ममता अहंता त्याग दे, वर्षा सुधा की आयगी ।
ईर्षा-जलन बुझ जायगी, चिन्ता-तपन मिट जायगी ॥

ममता अहंता वायु का झोंका न जबतक जायगा ।
विज्ञानदीपक चित्त में तेरे नहीं जुड़ पायगा ॥
श्रुति सत का उपदेश तबतक बुद्धि में नहिं आयगा ।
नहिं शांति होगी लेश भी नहिं तत्त्व समझा जायगा ॥

सिद्धान्त सच्चा है यही जगदीश ही कर्तार है ।
सब का नियंता है वही ब्रह्माण्ड का आधार है ॥
विश्वेश की मर्जी बिना नहिं कार्य कोई चल सके ।
ना सूर्य ही है तप सके, नहिं चन्द्र ही है हल सके ॥

'कुछ भी नहीं मैं कर सकूँ, करता सभी विश्वेश है ।'
ऐसी समझ उत्तम महा, सच्चा यही आदेश है ॥
'पूरा करूँगा कार्य यह, वह कार्य मैंने है करा ।'
पूरा यही अज्ञान है, अभिमान यह ही है खरा ॥

'मैं' क्षुद्र है, 'मेरा' बुरा, 'मुझ' भी मृषा है त्याग रे ।
अपना पराया कुछ नहीं, अभिमान से हट भाग रे ॥
यह मार्ग है कल्याण का हो जाय तू निष्पाप रे ।
देहादि 'मैं' मत मान रे, 'सोहं' किया कर जाप रे ॥

यदि शांति अविचल चाहता, यदि इष्ट निज कल्याण है ।
संशय रहित सच जान तेरा शत्रु यह अभिमान है ॥
मत देह में अभिमान कर, कुल आदि का तज मान दे ।
'नहिं देह मैं' 'नहिं देह मेरा' नित्य इसपर ध्यान दे ॥

है दर्प काला सर्प, सिर उसका कुचल दे, मार दे ।
ले जीत रिपु अभिमान को, निज देह में से टार दे ॥
जो श्रेष्ठ माने आप को, सो मूढ़ चोटें खाय है ।
तू श्रेष्ठ सब से है नहीं, क्यों श्रेष्ठता दिखलाय है ॥

मत तू प्रतिष्ठा चाह रे, मत तू प्रशंसा चाह रे ।
सब को प्रतिष्ठा दे, प्रतिष्ठित आप तू हो जाय रे ॥
वाणी तथा आचार में माधुर्यता दिखला सदा ।
विद्या विनय से युक्त होकर सौम्यता सिखला सदा ॥

कर प्रीति शिष्टाचार में वाणी मधुर उचार रे ।
मन बुद्धि को पावन बना, संसार से हो पार रे ॥
प्यारा सभी को हो सदा, कर तू सभी को प्यार रे ।
निःस्वार्थ हो निष्काम हो, जग जान तू निःसार रे ॥

छोटे बड़े निर्धन धनी, कर प्यार सब को एक सम ।
बट्टे सभी सिल एक के, कोई नहीं है बेश कम ॥
मत तू किसी से कर घृणा, सब की भलाई चाह रे ।
तब मार्ग में काँटे धरे, बो फूल उस की राह रे ॥

हिंसा किसी की कर नहीं, जो बन सके उपकार कर ।
विश्वेश को यदि चाहता है, विश्वभर को प्यार कर ॥
जो मृत्यु भी आ जाय तो उस की न तू परवाह कर ।
मत दूसरे को भय दिखा, रह आप भी सब से निडर ॥

निःस्वार्थ सेवी हो सदा, मन मलिन होता स्वार्थ से ।
जब तक रहेगा मन मलिन, नहिं भेट हो परमार्थ से ॥
जे शुद्ध मन नर होय हैं, वे ईश दर्शन पायँ हैं ।
मन के मलिन नहिं स्वप्न में भी, ईश सम्मुख जायँ हैं ॥

पीड़ा न दे तू हाथ से, कड़वा वचन मत बोल रे ।
संकल्प मत कर अशुभ तू, सच बोल पूरा तोल रे ॥
ऐसी किया कर भावना, नहिं दूर तुझ से लेश है ।
रहता सदा तेरे निकट, पावन परम विश्वेश है ॥

तू शुद्ध से भी शुद्ध अति जगदीश का नित ध्यान धर ।
हो आप भी जा शुद्ध तू, मैला न अपना चित्त कर ॥
हो चित्त तेरा खिन्न ऐसा शब्द तू मत सुन कभी ।
मत देख ऐसा दृश्य ही, मत सोच ऐसी बात भी ॥

जो नारि नर भगवद्विमुख संसार में आसक्त हैं ।
विपरीत करते आचरण, निज स्वार्थ में अनुरक्त हैं ॥
कंजूस कामी क्रूर जे, पर-दार-रत पर-धन हरें ।
मत पास उन के जा कभी, जो अन्य की निन्दा करें ॥

रह दूर हरदम पाप से, निष्पाप हो निष्काम हो।
निर्दोष पातक से रहित, निःसंग आत्माराम हो॥
भगवत् परम निष्पाप हैं, तू पाप अपने धोय रे।
भगवत् तुरत ही दर्श दें, अघहीन यदि तू होय रे॥

जे लोक की परलोक की, नहिं कामनाएँ त्यागते।
संसार के हैं श्वान जे, संसार में अनुरागते॥
कंचन जिन्हें प्यारा लगे, जे मूढ़ किंकर काम के।
नहिं शान्ति वे पाते कभी, नहिं भक्त होते राम के॥

रह लोभ से अति दूर ही, जा दर्प के तू पास ना।
बच काम से अरु क्रोध से, कर गर्व से सहवास ना॥
आलस्य मत कर भूल भी, ईर्षा न कर मत्सर न कर।
हैं आठ ये वैरी प्रबल, इन वैरियों से भाग डर॥

विश्वास से कर मित्रता, श्रद्धा सहेली ले बना।
प्रज्ञा तितिक्षा को बढ़ा, प्रिय न्याय का कर त्याग ना॥
गम्भीरता शुभ भावना, अरु धैर्य का सम्मान कर।
हैं आठ सच्चे मित्र ये, कल्याणकर भवभीर-हर॥

शिष्टाचरण की ले शरण, आचार दुर्जन त्याग दे।
मन इन्द्रियाँ स्वाधीन कर, तज द्वेष दे, तज राग दे॥
सुख शान्ति का यह मार्ग है, श्रुति संत कहते हैं सभी।
दुर्जन दुराचारी नहीं पाते अमर पद हैं कभी॥

अभ्यास ऐसा कर सदा, पावन परम हो जाय रे।
कर सत्य पालन नित्य ही, नहिं झूठ मन में आय रे॥
झूठे सदा रहते फँसे, मायानदी के जाल में।
तू सत्य भूमा प्राप्त कर, मत काल के जा गाल में॥

है सत्य भूमा एक ही, मिथ्या सभी संसार रे।
तल्लीन भूमा माँहि हो, कर तात! निज उद्धार रे॥
पर मुख्य निज कर्तव्य तू, स्वाराज्य भूमा प्राप्त कर।
मत यक्ष राक्षस पूजने में, दिव्य देह समाप्त कर॥

सच जान जो हैं आलसी, निज हानि करते हैं सदा।
करते उन्हों का संग जो, वे भी दुखी हों सर्वदा॥
आलस्य को दे त्याग तू, मन कर्म शिष्टाचार कर।
अभ्यास कर, वैराग्य कर, निज आत्म का उद्धार कर॥

मधुमक्षिका करती रहे हैं, रात दिन ही काम ज्यों।
मत दीर्घसूत्री बन कभी, कर तू निरन्तर काम त्यों॥

तन्द्रा तथा आलस्य में, मत खो समय को तू वृथा।
कर कार्य सारे नियम से, रवि चन्द्र करते हैं यथा॥

हो उद्यमी सन्तुष्ट तू, गम्भीर धीर उदार हो।
धारण क्षमा उत्साह कर, शुभ गुणन का भंडार हो॥
कर कार्य सर्व विचार से, समझे बिना मत कार्य कर।
शम दम यमादिक पाल तू, तप कर तथा स्वाध्याय कर॥

जो धैर्य नहिं हैं धारते, भय देख घबरा जायँ हैं।
सब कार्य उन के व्यर्थ हैं, नहिं सिद्धि वे नर पायँ हैं॥
चिन्ता कभी मिटती नहीं, नहिं दुःख उन का जाय है।
पाते नहीं सुख लेश भी, नहिं शान्ति मुख दिखलाय है॥

गरमी न थोड़ी सह सकें, सर्दी सही नहिं जाय है।
नहिं सह सके हैं शब्द रूक्ष, चढ़ क्रोध उन पर आय है॥
जिस में नहीं होती क्षमा, नहिं शान्ति सो नर पाय है।
शुचि शान्त मन संतुष्ट हो, सो नर सुखी हो जाय है॥

मर्जी करेगा दूसरों की, सुख नहीं तू पायगा।
नहिं चित्त होगा थिर कभी, विक्षिप्त तू हो जायगा॥
संसार तेरा घर नहीं, दो चार दिन रहना यहाँ।
कर याद अपने राज्य की, स्वाराज्य निष्कंटक जहाँ॥

सम्बन्ध लाखों व्यक्तियों से यदि करेगा तू सदा।
तो कार्य लाखों भाँति के करता रहेगा सर्वदा॥
कैसे भला फिर चित्त तेरा शान्त निर्मल होयगा।
लाखों जिसे बिच्छू डसें, कैसे बता सो सोयगा॥

तू न्यायकारी हो सदा, समबुद्धि निश्चल चित्त हो।
चिन्ता किसी की मत करे, निर्द्वन्द्व हो मन शान्त हो॥
प्रारब्ध पर दे छोड़ सब जग, ईश में अनुरक्त हो।
चिन्तन उसी का कर सदा, मत जगत् में आसक्त हो॥

कर्ता वही धर्ता वही, सब में वही सब है वही।
सर्वत्र उस को देख तू, उपदेश सच्चा है यही॥
अपना भला ज्यों चाहता, त्यों चाह तू सब का भला।
संतुष्ट पूर्ण शान्त हो, चिन्ता बुरी काली बला॥

हे पुत्र ! थोड़ा वेग भी यदि दुःख का न उठा सके।
तो शान्ति अविचल तत्त्व की, कैसे भला तू पा सके॥
हो मृत्यु का जब सामना, तब दुःख होवेगा घना।
कैसे सहेगा दुःख सो, यदि धैर्य तुझ में होय ना॥

कर तू तितिक्षा रात दिन, जो दुःख आवे झेल ले।
वह ही अमर पद पाय है, जो कष्ट से नहिं है हले॥
है दुःख ही सन्मित्र सब कुछ दुःख ही सिखलाय है।
बल बुद्धि देता दुःख दंढित धीर वीर बनाय है॥

बल बुद्धि तेरी की परीक्षा दुःख आकर लेय है।
जो पाप पहिले जन्म के हैं दूर सब कर देय है॥
निर्दोष तुझ को देय कर, पावन बनाता है तुझे।
क्या सत्य और असत्य क्या, यह भी सिखाता है तुझे॥

तू कष्ट से घबरा न जा रे, कष्ट ही सुख मान रे।
जो कार्य नहिं हो सिद्ध तो भी लाभ उसमें जान रे॥
बहु बार पटके खाय है, तब मल्ल मल्लन पीटता।
लड़ता रहे जो धैर्य से, माया-किला सो जीतता॥

यदि कष्ट से घबराय के, तू युद्ध से हट जायगा।
तो तू जहाँ पर जायगा, बहु भाँति कष्ट उठायगा॥
जन्मे कहीं भी जायके, नहिं, मुक्त होगा युद्ध से।
रह युद्ध करता धैर्य से, जबतक मिले नहिं शुद्ध से॥

इस में नहीं संदेह जीवन झंझटों से युक्त है।
वह ही यहाँ जय पाय है, जो धैर्य से संयुक्त है॥
समता क्षमा से युक्त ही मन शान्त रहता है यहाँ।
जो कष्ट सह सकता नहीं, सुख शान्ति उस को है कहाँ?॥

जो जो करे तू कार्य, कर सब शान्त होकर धैर्य से।
उत्साह से अनुराग से, मन शुद्ध से बलवीर्य से॥
जो कार्य हो जिस काल का, कर तू समय पर ही उसे।
दे मत बिगड़ने कार्य कोई मूर्खता आलस्य से॥

दे ध्यान पूरा कार्य में, मत दूसरे में ध्यान दे।
कर तू नियम से कार्य सब, खाली समय मत जान दे॥
सब धर्म अपने पूर्ण कर, छोटे बड़े से या बड़े।
मत सत्य से तू डिग कभी, आपत्ति कैसी ही पड़े॥

निःस्वार्थ होकर कार्य कर, बदला कभी मत चाह रे।
अभिमान मत कर लेश भी, मत कष्ट की परवाह रे॥
क्या खान हो क्या पान हो, क्या पुण्य हो क्या दान हो।
सब कार्य भगवत् हेतु हों, क्या होय जप क्या ध्यान हो॥

कुछ भी न कर अपने लिये, कर कार्य सब शिव के लिये।
पूजा करे या पाठ, कर सब प्रेम भगवत् के लिये॥

सब कुछ उसी को सौंप दे, निशि दिन उसी को प्यार कर।
सेवा उसी की कर सदा दूजा न कुछ व्यापार कर॥

सेवक उसी का बन सदा, सब में उसी का दर्श कर।
'मैं' और 'मेरा' मेट दे, सब में उसी का स्पर्श कर॥
निर्द्वन्द्व निर्मल चित्त हो, मत शोक कर मत हर्ष कर।
सब में उसी को देख तू, मत राग, मत आमर्ष कर॥

मानुष्य जीवन में यदपि आते हजारों विघ्न हैं।
जो युक्त योगी होय हैं, होते नहीं मन-खिन्न हैं॥
हो झंझटों से युक्त जीवन कुछ न तू परवाह कर।
भगवत् भरोसे से सदा, सुख शान्ति से निर्वाह कर॥

विद्या सभी ही भाँति की ले सीख तू आचार्य से।
उत्साह से अति प्रेम से, मन बुद्धि से अरु धैर्य से॥
एकाग्र होके पढ़ सदा, सब ओर से मन मोड़ के।
सब से हटाकर वृत्तियाँ, स्वाध्याय में मन जोड़ के॥

वेदाङ्ग पढ़, साहित्य पढ़, फिर काव्य पढ़ तू चाव से।
पढ़ गणित ग्रन्थन, तर्क शास्त्रन, धर्मशास्त्रन भाव से॥
इतिहास, अष्टादश पुराणन, नीतिशास्त्रन देख रे।
वैद्यक तथा पढ़ वेद चारों, योग विद्या पेख रे॥

सद्ग्रन्थ पढ़ तू भक्ति शिक्षक, ज्ञानवर्धक शास्त्र पढ़।
विद्या सभी पढ़ श्रेयकारिणि, मोक्षदायक शास्त्र पढ़॥
आदर सहित अनुराग से, सद्ग्रन्थका ही पाठ कर।
दे चित्त शिष्टाचार में, दुष्टाचरण पर लात धर॥

क्या ग्रन्थ पढ़ने चाहियें, आचार्य यह बतलायँगे।
पढ़ने नहीं हैं योग्य क्या क्या ग्रन्थ वे जतलायँगे॥
आचार्यश्री बतलायँ जो, वे ग्रन्थ पढ़ने चाहियें।
जो ग्रन्थ धर्म विरुद्ध हैं, नहिं देखने वे चाहियें॥

पढ़ ग्रन्थ नित्य विवेक के, मन स्वच्छ तेरा होयगा।
वैराग्य के पढ़ ग्रन्थ तू बहुजन्म के अघ धोयगा॥
पढ़ ग्रन्थ सादर भक्ति के, आह्लाद मन भर जायगा।
श्रद्धासहित स्वाध्याय कर, संसार से तर जायगा॥

जो जो पढ़े सब याद रख, दिन रात नित्य विचार कर।
श्रुतियाँ भले स्मृतियाँ पुराणादिक सभी निर्धार कर॥
अभ्यास से सत् शास्त्र के जब बुद्धि तीव्र बनायगा।
तो तीव्र प्रज्ञा की मदद से सत्य तू लख पायगा॥

जो नर दुराचारी तथा निज स्वार्थ में रत होत हैं।
गिर कूप में वे मोह के सुख शान्ति से नहिं सोत हैं ॥
भटका करें ब्रह्माण्ड में, बहुभाँति कष्ट उठावते।
मतिमन्द श्रुति के अर्थ को सम्यक् समझ नहिं पावते ॥

मत मोह में तू फँस कभी, निर्मुक्त हो संमोह से।
कर बुद्धि निर्मल स्वच्छ, रह तू दूर दुस्तर द्रोह से ॥
जब चित्त होगा स्वच्छ, तब ही शान्ति अक्षय पायगा।
जो जो पढ़ेगा शास्त्र तू, सम्यक् समझ में आयगा ॥

आचार्य द्वारा शास्त्र पढ़, हो शान्त मन एकाग्र से।
विभिन्नता को दूर करके, बुद्धि और विचार से ॥
कर गर्व विद्या का नहीं, अभिमान से निर्मुक्त हो।
ज्ञानी अमानी सरल गुरु से, पढ़ विनय संयुक्त हो ॥

एकाग्रता, मन शुद्धता, उत्साह पूरा, धैर्यता।
श्रद्धानुराग, प्रसन्नता, अभ्यास की परिपूर्णता ॥
मन बुद्धि की चातुर्यता, होवें सहायक सर्व ही।
फिर देर कुछ भी नहिं लगे, हो प्राप्त विद्या शीघ्र ही ॥

हो बुद्धि निर्मल सात्त्विकी, हो चित्त उत्तम धारणा।
हो कठिन से भी कठिन तो भी सहज हो निर्धारणा ॥
हों स्थूल अथवा सूक्ष्म बातें सब समझ में आयँगी।
इक बार भी सुन ले जिन्हें, मस्तिष्क से नहिं जायँगी ॥

विद्या सभी कर प्राप्त मत पाण्डित्य का अभिमान कर।
अभिमान विद्या का बुरा, इस पर सदा ही ध्यान धर ॥
मत वाद कर, न विवाद ही, कल्याणहित स्वाध्याय कर।
क्या सत्य और असत्य क्या, यह जानकर निज श्रेय कर ॥

विद्या बताती है तुझे, क्या धर्म और अधर्म है।
विद्या जताती है तुझे, क्या कर्म और अकर्म है ॥
विद्या सिखाती है तुझे, कैसे छुटे संसार से।
विद्या पढ़ाती है तुझे, कैसे मिले भण्डार से ॥

गुरु-वाक्य का कर अनुसरण, विश्वास श्रद्धायुक्त हो।
बतलाय है जो शास्त्र, कर आचार संशयमुक्त हो ॥
जो जो बताते शास्त्र गुरु, उपदेश सर्व यथार्थ है।
संशय न उनमें कर कभी, यदि चाहता परमार्थ है ॥

संध्यादि जितने कर्म हैं, सब ही नियम से पाल रे।
उत्साह से, अनुराग से, मन दोष सारे टाल रे ॥

जे कर्म पातकरूप हैं, मत चित्त से भी कर कभी।
जो जो करे तू कर्म निशिदिन, शुद्ध मन से कर सभी ॥

हो प्रेम पूरा कर्म में, परिपूर्ण मन उत्साह हो।
तन मन लगाकर कर्म कर, फल की कभी नहिं चाह हो ॥
चातुर्यता से कर्म कर, मत लेश भी अभिमान कर।
सब कार्य भगवत् हेतु कर, विश्वेश पूजन मान कर ॥

चौथे पहर में रात के, जब पुण्य ब्रह्म मुहूर्त हो।
दे त्याग निद्रा प्रथम ही, मत नींद में अनुरक्त हो ॥
विश्वेश का मन ध्यान कर, कल्याण अपने के लिये।
विश्वेश से कर प्रार्थना, निज भक्ति देने के लिये ॥

जप नाम भगवत् भावप्रिय का, भाव में तल्लीन हो।
हो प्रेम केवल ईश में, भगवच्चरण मन मीन हो ॥
अपना पराया भूल जा, हरि-प्रेम में अनुरक्त हो।
आसक्ति सब की छोड़ केवल विष्णु में आसक्त हो ॥

जप नाम हरि का जोर से, धीरे भले ही ध्यान में।
हरि नाम का हर रोम में से, शब्द आवे कान में ॥
विश्वेश को कर प्यार, प्यारे ! आत्म का कल्याण कर।
सब को मिटा दे, सर्व हो जा, ईश का नित गान कर ॥

सुख शान्ति का भंडार तेरे चित्तमें हीं गुप्त है।
पर्दा हटा, हो जा सुखी, क्यों हो रहा संतप्त है ॥
सुख-सिन्धुमें तू मग्न हो, मन-मैल सारा दे बहा।
हो शुद्ध निर्मल चित्त, तू ही विश्व में है भर रहा ॥

पावन परम शुचि शास्त्र में से, मन्त्र पावन सार चुन।
उनका निरंतर कर मनन, विश्वेश के गा नित्य गुण ॥
जो संत जीवन्मुक्त, ईश्वरभक्त पहिले हो गये।
उनकी कथाएँ गा सदा, मन शुद्ध करने के लिये ॥

सद्गुरु कृपा-गुण-युक्त का, उठ प्रात ही धर ध्यान रे।
निज देह से अरु प्राण से, प्यारा अधिकतर मान रे ॥
शिर को झुकाकर दण्डवत कर नमन आठों अंग से।
कल्याण सब का चाह मन से, दूर रह जन सग से ॥

एकान्त में फिर जाय के, तू वेग का परित्याग कर।
दाँतोन करके दाँत मल, मुख धोय जिह्वा साफ कर ॥
रवि के उदय से पूर्व ही, हो शुद्ध जा तू स्नान से।
शुचि वस्त्र तन पर धार के, कर प्रातसंध्या मान से ॥

कर तू तितिक्षा रात दिन, जो दुःख आवे झेल ले।
वह ही अमर पद पाय है, जो कष्ट से नहिं है इले॥
है दुःख ही सन्मित्र सब कुछ दुःख ही सिखलाय है।
बल बुद्धि देता दुःख पंडित धीर वीर बनाय है॥

बल बुद्धि तेरी की परीक्षा दुःख आकर लेय है।
जो पाप पहिले जन्म के हैं दूर सब कर देय है॥
निर्दोष तुझ को देय कर, पावन बनाता है तुझे।
क्या सत्य और असत्य क्या, यह भी सिखाता है तुझे॥

तू कष्ट से घबरा न जा रे, कष्ट ही सुख मान रे।
जो कार्य नहिं हो सिद्ध तो भी लाभ उसमें जान रे॥
बहु बार पटकें खाय है, तब मल्ल मल्लन पीटता।
लड़ता रहे जो धैर्य से, माया-किला सो जीतता॥

यदि कष्ट से घबराय के, तू युद्ध से हट जायगा।
तो तू जहाँ पर जायगा, बहु भाँति कष्ट उठायगा॥
जन्मे कहीं भी जायके, नहिं मुक्त होगा युद्ध से।
रह युद्ध करता धैर्य से, जबतक मिले नहिं शुद्ध से॥

इस में नहीं संदेह जीवन झंझटों से युक्त है।
वह ही यहाँ जय पाय है, जो धैर्य से संयुक्त है॥
समता क्षमा से युक्त ही मन शान्त रहता है यहाँ।
जो कष्ट सह सकता नहीं, सुख शान्ति उस को है कहाँ?॥

जो जो करे तू कार्य, कर सब शान्त होकर धैर्य से।
उत्साह से अनुराग से, मन शुद्ध से बलवीर्य से॥
जो कार्य हो जिस काल का, कर तू समय पर ही उसे।
दे मत बिगड़ने कार्य कोई मूर्खता आलस्य से॥

दे ध्यान पूरा कार्य में, मत दूसरे में ध्यान दे।
कर तू नियम से कार्य सब, खाली समय मत जान दे॥
सब धर्म अपने पूर्ण कर, छोटे बड़े से या बड़े।
मत सत्य से तू डिग कभी, आपत्ति कैसी ही पड़े॥

निःस्वार्थ होकर कार्य कर, बदला कभी मत चाह रे।
अभिमान मत कर लेश भी, मत कष्ट की परवाह रे॥
क्या खान हो क्या पान हो, क्या पुण्य हो क्या दान हो।
सब कार्य भगवत् हेतु हों, क्या होय जप क्या ध्यान हो॥

कुछ भी न कर अपने लिये, कर कार्य सब प्रिय के लिये।
पूजा करे या पाठ, कर सब प्रेम भगवत् के लिये॥

सब कुछ उसी को सौंप दे, निशि दिन उसी को प्यार कर
सेवा उसी की कर सदा दूजा न कुछ व्यापार कर

सेवक उसी का बन सदा, सब में उसी का दर्श कर
'मैं' और 'मेरा' मेट दे, सब में उसी का स्पर्श कर।
निर्द्वन्द्व निर्मल चित्त हो, मत शोक कर मत हर्ष कर।
सब में उसी को देख तू, मत राग, मत आमर्ष कर॥

मानुष्य जीवन में यदपि आते हजारों विघ्न हैं।
जो युक्त योगी होंय हैं, होते नहीं मन-खिन्न हैं॥
हो झंझटों से युक्त जीवन कुछ न तू परवाह कर।
भगवत् भरोसे से सदा, सुख शान्ति से निर्वाह कर॥

विद्या सभी ही भाँति की ले सीख तू आचार्य से।
उत्साह से अति प्रेम से, मन बुद्धि से अरु धैर्य से॥
एकाग्र होके पढ़ सदा, सब ओर से मन मोड़ के।
सब से हटाकर वृत्तियाँ, स्वाध्याय में मन जोड़ के॥

वेदाङ्ग पढ़, साहित्य पढ़, फिर काव्य पढ़ तू चाव से।
पढ़ गणित ग्रन्थन, तर्क शास्त्रन, धर्मशास्त्रन भाव से॥
इतिहास, अष्टादश पुराणन, नीतिशास्त्रन देख रे।
वैद्यक तथा पढ़ वेद चारों, योग विद्या पेख रे॥

सद्ग्रन्थ पढ़ तू भक्ति शिक्षक, ज्ञानवर्धक शास्त्र पढ़।
विद्या सभी पढ़ श्रेयकारिणि, मोक्षदायक शास्त्र पढ़॥
आदर सहित अनुराग से, सद्ग्रन्थका ही पाठ कर।
दे चित्त शिष्टाचार में, दुष्टाचरण पर लात धर॥

क्या ग्रन्थ पढ़ने चाहियें, आचार्य यह बतलायँगे।
पढ़ने नहीं हैं योग्य क्या क्या ग्रन्थ वे जतलायँगे॥
आचार्यश्री बतलायँ जो, वे ग्रन्थ पढ़ने चाहियें।
जो ग्रन्थ धर्म विरुद्ध हैं, नहिं देखने वे चाहियें॥

पढ़ ग्रन्थ नित्य विवेक के, मन स्वच्छ तेरा होयगा।
वैराग्य के पढ़ ग्रन्थ तू बहुजन्म के अघ धोयगा॥
पढ़ ग्रन्थ सादर भक्ति के, आह्लाद मन भर जायगा।
श्रद्धासहित स्वाध्याय कर, संसार से तर जायगा॥

जो जो पढ़े सब याद रख, दिन रात नित्य विचार कर।
श्रुतियाँ भले स्मृतियाँ पुराणादिक सभी निर्धार कर॥
अभ्यास से सत् शास्त्र के जब बुद्धि तीव्र बनायगा।
तो तीव्र प्रज्ञा की मदद से तत्त्व तू झट पायगा॥

जो नर दुराचारी तथा निज स्वार्थ में रत होंय हैं।
गिर कूप में वे मोह के सुख-शान्ति से नहिं सोंय हैं॥
भटका करें ब्रह्माण्ड में, बहुभाँति कष्ट उठावते।
मतिमन्द श्रुति के अर्थ को सम्यक् समझ नहिं पावते॥

मत मोह में तू फँस कभी, निर्मुक्त हो संमोह से।
कर बुद्धि निर्मल स्वच्छ, रह तू दूर दुखकर द्रोह से॥
जब चित्त होगा स्वच्छ, तब ही शान्ति अक्षय पायगा।
जो जो पढ़ेगा शास्त्र तू, सम्यक् समझ में आयगा॥

आचार्य द्वारा शास्त्र पढ़, हो शान्त मन एकाग्र से।
विशिलता को दूर करके, बुद्धि और विचार से॥
कर गर्व विद्या का नहीं, अभिमान से निर्मुक्त हो।
ज्ञानी अमानी सरल गुरु से, पढ़ विनय संयुक्त हो॥

एकाग्रता, मन शुद्धता, उत्साह पूरा, धैर्यता।
श्रद्धानुराग, प्रसन्नता, अभ्यास की परिपूर्णता॥
मन बुद्धि की चातुर्यता, होवें सहायक सर्व ही।
फिर देर कुछ भी नहिं लगे, हो प्राप्त विद्या शीघ्र ही॥

हो बुद्धि निर्मल सात्त्विकी, हो चित्त उत्तम धारणा।
हो कठिन से भी कठिन तो भी सहज हो निर्धारणा॥
हों स्थूल अथवा सूक्ष्म बातें सब समझ में आयँगी।
इक बार भी सुन ले जिन्हें, मस्तिष्क से नहिं जायँगी॥

विद्या सभी कर प्राप्त मत पाण्डित्य का अभिमान कर।
अभिमान विद्या का बुरा, इस पर सदा ही ध्यान धर॥
मत वाद कर, न विवाद ही, कल्याणहित स्वाध्याय कर।
क्या सत्य और असत्य क्या, यह जानकर निज श्रेय कर॥

विद्या बताती है तुझे, क्या धर्म और अधर्म है।
विद्या जताती है तुझे, क्या कर्म और अकर्म है॥
विद्या सिखाती है तुझे, कैसे छुटे संसार से।
विद्या पढ़ाती है तुझे, कैसे मिले भण्डार से॥

गुरु-वाक्य का कर अनुसरण, विश्वास श्रद्धायुक्त हो।
बतलाय है जो शास्त्र, कर आदर सदासंयुक्त हो॥
जो जो बताते शास्त्र गुरु, उपदेश सर्व यथार्थ है।
संशय न उनमें कर कभी, यदि चाहता परमार्थ है॥

संध्यादि जितने कर्म हैं, सब ही नियम से पाल रे।
उत्साह से, अनुराग से, मत रोष को टाल रे॥

जे कर्म पातकरूप हैं, मत चित्त से भी कर
जो जो करे तू कर्म निशिदिन, शुद्ध मन से क

हो प्रेम पूरा कर्म में, परिपूर्ण मन उत्सा
तन मन लगाकर कर्म कर, फल की कभी नहिं क
चातुर्यता से कर्म कर, मत लेश भी अभिमा
सब कार्य भगवत् हेतु कर, विश्वेश पूजन मा

चौथे पहर में रात के, जब पुण्य ब्रह्म मुहू
दे त्याग निद्रा प्रथम ही, मत नींद में अनुर
विश्वेश का मन ध्यान कर, कल्याण अपने
विश्वेश से कर प्रार्थना, निज भक्ति देने के

जप नाम भगवत् भावप्रिय का, मात्र में तह
हो प्रेम केवल ईश में, भगवच्चरण मन मी
अपना पराया भूल जा, हरि-प्रेम में अनुर
आसक्ति सब की छोड़ केवल विष्णु में आस

जप नाम हरि का जोर से, धीरे भले ही
हरि नाम का हर रोम में से, शब्द आवे
विश्वेश को कर प्यार, प्यारे! आत्म का कल्या
सब को मिटा दे, सर्व हो जा, ईश का नित गा

सुख शान्ति का भंडार तेरे चित्तमें ही गु
पर्दा हटा, हो जा सुखी, क्यों हो रहा
सुख-सिन्धुमें तू मग्न हो, मन मैल सारा
हो शुद्ध निर्मल चित्त, तू ही विश्व में है म

पावन परम शुचि शास्त्र में से, मन्त्र पावन मा
उनका निरंतर कर मनन, विश्वेश के गा निय
जो संत जीवन्मुक्त, ईश्वरभक्त पहिले हो
उनकी कथाएँ गा सदा, मन शुद्ध करने के

सद्गुरु कृपा-गुण-युक्त का, उठ प्रात ही धर
निज देह से अरु प्राण से, प्यारा अधिकार
सिर को झुकाकर दण्डवत् कर नमन आठों
कल्याण सब का चाह मन से, दूर रह उन

एकान्त में फिर जाय के, तू देह का
दातौन करके दाँत मल, शुभ धोत क्रिया
रवि के उदय से पूर्व ही, हो शुद्ध
शुचि वस्त्र तन पर धार के, कर

उच्चार पावन मन्त्र कर, मन मन्त्र में ही जोड़कर ।
कर अर्थ की भी भावना, भव-वासनाएँ छोड़कर ॥
कर ब्रह्म से मन पूर्ण, सब में ब्रह्म व्यापक देख रे ।
कर क्षीण पावन रेख पर भी मार दे तू मेख रे ॥

जो कर्म होवे आज का, ले पूर्व से ही सोच सब ।
यह कार्य कैसे होयगा, किस रीति से हो और कब ॥
जो कार्य जिस जिस काल का हो, पूर्ण मन में धार ले ।
जिस जिस नियम से कार्य करना हो भले निर्धार ले ॥

सम्मुख सदा रह ईश के, तेरा सहायक है वही ।
करुणा-जलधि हरि की शरण ले श्रेयकारक है वही ॥
जो लेय करुणानिधि शरण, संसार सो ही तर सके ।
जिस पर कृपा हो ईश की साधन वही है कर सके ॥

विश्वेश की ही ले शरण, संसिद्धि तब ही प्राप्त हो ।
केवल उसी का कर भरोसा, मात्र उस का भक्त हो ॥
जो कुछ तुझे हो इष्ट सो केवल उसी से माँग रे ।
मत कर भरोसा अन्य का आशा सभी की त्याग रे ॥

सच्चे हृदय से प्रार्थना, जब भक्त सच्चा गाय है ।
तो भक्तवत्सल कान में, वह पहुँच झट ही जाय है ॥
विश्वेश करुणाकर तुरत ही भक्त पर करुणा करे ।
लाखों करोड़ों जन्म के अघ, एक क्षण में ही हरे ॥

सच्चे हृदय की प्रार्थना, निश्चय सुने जग-वास है ।
नहिं भक्त से है दूर वह, रहता सदा ही पास है ॥
ज्यों ज्यों करेगा प्रार्थना, भय दूर होता जायगा ।
कर प्रार्थना, कर प्रार्थना, कर प्रार्थना सुख पायगा ॥

संसार मिथ्या वस्तुओं में, यदि तुझे नहिं राग हो ।
संशय नहीं, हरि-चरण में, जल्दी तुझे अनुराग हो ॥
कर प्रार्थना विश्वेश से, 'प्रभु ! भक्ति अपनी दीजिये ।
हो प्रेम केवल आप में, ऐसी कृपा प्रभु कीजिये' ॥

कर प्रार्थना फिर प्रेम से, 'प्रभु ! मम विनय सुन लीजिये ।
हे नाथ ! मैं भूला हुआ हूँ, मार्ग दिखला दीजिये ॥
मुझ अंध को प्रभु आँख दीजे, दर्श अपना दीजिये ।
निज चरण की रज-सेव में, मुझ को लगा प्रभु ! लीजिये ॥

संसारसागर पार मैं नहिं जा सकूँ हूँ हे प्रभो ! ।
मल्लाह मेरी नाव के नहिं आप जबतक हों विभो ! ॥
उठता यहाँ है ज्वारभाटा, रोक उस को लीजिये ।
संसारसागर पार मुझ को शीघ्र ही कर दीजिये ॥

सर्वज्ञ हैं प्रभु सर्वविद्, करुणा दया से युक्त हैं ।
स्वाभाविकी बल क्रिया से, प्रभु सहज ही संयुक्त हैं ॥
नहिं मैं हिताहित जानता, प्रभु ! ज्ञान मुझ को दीजिये ।
भूले हुए मुझ पथिक को, भव पार स्वामी ! कीजिये ॥

प्रभु ! आप की मैं हूँ शरण, निज चरण-सेवक कीजिये ।
मैं कुछ नहीं हूँ माँगता, जो आप चाहें दीजिये ॥
सिर आँख से मंजूर है, सुख दीजिये दुख दीजिये ।
जो होय इच्छा कीजिये, मत दूर दर से कीजिये ॥

हैं आप ही तो सर्व, फिर कैसे करूँ मैं प्रार्थना ।
सब कुछ करें हैं आप ही, क्या बोलना क्या चालना ॥
फिर बोलना किस भाँति हो, है मौन ही सब से भला ।
रक्षक तुही भक्षक तुंही, तलवार तू तेरा गला ॥

विश्वेश प्रभु के सामने, कर प्रार्थना इस रीति से ।
या अन्य कोई भाँति से, सच्चे हृदय से प्रीति से ॥
जो होय सच्ची प्रार्थना, विश्वेश सुनता है सभी ।
विश्वेश की आज्ञा बिना, पत्ता नहीं हिलता कभी ॥

फिर कार्य कर अपना सभी, दिन का नियम से ध्यान से ।
एकाग्र होकर धैर्य से, आनन्द मन, सुख चैन से ॥
घबरा न जा, मन शान्त रख, मत क्रोध मन में ला कभी ।
प्रभु देवदेव प्रसन्नता हित, कार्य जो हो, कर सभी ॥

जब शयन का आवे समय, एकान्त में तब बैठ कर ।
जो कार्य दिन में हो किया, ले सोच सब मन स्वस्थ कर ॥
जो जो हुई हों भूल दिन में, सर्व लिख ले चित पर ।
आगे कभी नहिं भूल होने पाय ऐसा यत्न कर ॥

जो कार्य करना हो तुझे, अच्छी तरह से सोच ले ।
मत कार्य कोई कर बिना सोचे बजा ले ठोक ले ॥
सोचे बिना जो कार्य करते, अन्त मे गिर जायँ हैं ।
जो कार्य करते सोचकर, वे ही सफलता पायँ हैं ॥

राजा नहुष जैसे गिरा था, स्वर्ग से ऋषि शाप से ।
आसक्त हों जो भोग में, हों तप्त वे संताप से ।
सब कार्य कर तू न्याय से, अन्याय से रह दूर तू
आश्रय सदा ले धर्म का, मत क्रुद्ध हो, मत क्रूर तू

हो उच्च तेरी भावना, मत तुच्छ कर तू कामना
कर्तव्य से मत चूक चाहे मृत्यु का हो सामना
जो पास भी हो मृत्यु तो भी मृत्यु से कुछ भय न क[illegible]
डरपोक कायर मृत्यु से भयभीत रहते, तू न ड[illegible]

आचार अपना शुद्ध रख, मत हो दुराचारी कभी ।
मत कार्य कोई रख अधूरा, कार्य पूरे कर सभी ॥
मत तुच्छ भोगों की कभी भी भूल के कर कामना ।
है ब्रह्म अक्षय नित्य सुख, कर तू उसी की भावना ॥

पुरुषार्थ अन्तिम सिद्ध कर, आशा जगत् की छोड़ रे ।
भय शोकप्रद हैं भोग सब, मुख भोग से तू मोड़ रे ॥
विश्वेश सुख के सिन्धु में ही चित्त अपना जोड़ दे ।
रिश्ता उसी से जोड़ दे, नाता सभी से तोड़ दे ॥

जैसे झड़ी बरसात की सब चर अचर की जान है ।
त्यों ही दया विश्वेश की, सब विश्व जीवनदान है ॥
सब पर दया है एक-सी, क्या अज्ञ है क्या प्राज्ञ है ।
सब के मिटाती दुःख, सब को ही बनाती तज्ज्ञ है ॥

सचमुच मिटाती कष्ट सारे शान्ति अक्षय देय है ।
कुंडी उसी की खटखटा, यदि चाहता निज श्रेय है ॥
अध्यात्म का अभ्यास कर, संसार से वैराग्य कर ।
कर्तव्य यह ही मुख्य है, विश्वेश में अनुराग कर ॥

संसार जीवन से बना, अध्यात्म जीवन आपना ।
सुख शान्ति जिस में पूर्ण, जिस में दुःख ना, संताप ना ॥

जीवन बिता इस भाँति से, नहिं प्राप्त फिर संसार हो ।
सद् ब्रह्म में तल्लीन होकर सार का भी सार हो ॥

शिष्टाचरण में प्रीति कर, हो धर्म पर आरूढ़ तू ।
हो शुभ गुणों से युक्त तू, रह अवगुणों से दूर तू ॥
जो धर्म पर आरूढ़ हैं, वे शूर होते धीर भी ।
हैं सत्य निशिदिन पालते, नहिं सत्य से हटते कभी ॥

यदि पुण्य में रत होयगा, तो धीर तू बन जायगा ।
जो पुण्य थोड़ा होय तो भी कीर्ति जग फैलायगा ॥
मत स्वप्न में भी पाप का आचार कर तू भूल कर ।
निष्पाप रह, निष्काम रह, पापाचरण पर धूल धर ॥

हो पुण्य में तू रत सदा, दे दान तू सन्मान से ।
उत्साह से सुख मान कर, दे दान मत अभिमान से ॥
हैं वस्तु सब विश्वेश की, अभिमान तेरा है वृथा ।
निज स्वार्थ तज कर कार्य कर, बादल करें वर्षा यथा ॥

अभिमान मत कर द्रव्य का, अभिमान तज दे गेह का ।
अभिमान कुल का त्याग दे, अभिमान मत कर देह का ॥
कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, सब ईश को ही मान रे ।
मन बुद्धि शिव को अर्प दे, शिव का सदा कर ध्यान रे ॥

स्वामी श्रीनिर्गुणानन्दजी

समझ मन ! इक दिन तन तजना ॥
बाँकी छबि छकि छकित रहत चित, नितप्रति हरि भजना ।
जगत-जाल-ज्वाला-मालाकुल, निसिबासर दजना ॥
कर कुकर्म सुभ चहत चित्त नर, आठ पहर लजना ।
'निरगुन' वेग सम्हार अपनपौ, हरि सम को सजना ॥

जग में काज किये मन भाये ॥
गुन-गोविंद सुने न सुनाये, ब्यर्थहि दिवस गँवाये ।
हरि-भक्तन को संग न कीन्हों, दुस्संगत चित लाये ॥
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-बस, परधन चित्त लुभाये ।
सत्कर्मादिक काज न कीन्हे, दोऊ लोक हँसाये ॥
बीती ताहि बिसार चित्तसौं, 'निर्गुन' तज पछताये ।
निसिबासर भज नंदनँदन कौं, करनी के फल पाये ॥

स्वामी श्रीदीनदयालगिरिजी

प्रीति मति अतिसै तू काहू सन करै मीत !
भले कै प्रतीति मानि प्रीति दुख-मूल है ।
जा में सुख रंच है बिसाल जाल दुःख ही को,
हहरि ज्यों बतौरन की बरछी की हूल है ॥
सुन लै सकद माहिं कान दै कपोत-कथा,
जातें मिटि जाइ महा मोहमई सूल है ।
तातें करि 'दीनदयाल' प्रीति नंदलाल संग,
जग को संबन्ध सबै सेमल को फूल है ॥

काहू की न प्रीति दृढ़ तेरे संग है रे मन,
काहें हठि प्रेम करि पचि-पचि मरै है ।
ये तो जग के हैं सब लोग ठग रूप मीत !
मीठे बैन-मोदक पै क्यों प्रतीति करै है ॥
मारिहैं प्रपंच बन बीच दगा फाँस डारि,
काहे मतिमंद मोही दुःख-फंद परै है ।
प्रेम तू लगाउ सुखधाम घनस्याम सों जो,
नाम के लिये तें तारि पार कोटि करै है ॥

भजनका अधिकार

क्रोधका नाश

एक वृद्ध अनुभवी संतके समीप एक युवक विरक्त होकर पहुँचा। वैराग्य सच्चा था। कहीं कोई कामना, कोई विषयासक्ति रही नहीं थी। भगवद्भजनकी प्रबल इच्छा थी। वृद्ध संतने एक ही दृष्टिमें यह सब समझ लिया। युवक उनके चरणोंमें गिरकर प्रार्थना कर रहा था—'मुझे अपने श्रीचरणोंमें स्थान दें।'

वृद्ध संतने कहा—'तुम स्नान करके पवित्र होकर आओ।'

युवक स्नान करने गया और वृद्ध संतने आश्रमके पास झाड़ू देती भंगिनको पास बुलाया। वे बोले—'जो नया साधु अभी स्नान करने गया है, वह लौटने लगे तब तुम इस प्रकार मार्गपर झाड़ू लगाना, जिससे उसके ऊपर उड़कर धूलि पड़ जाय। लेकिन तनिक सावधान रहना! वह मारने दौड़ सकता है।'

भंगिन जानती थी कि वृद्ध संत सच्चे महात्मा हैं। वह देखती थी कि अच्छे विद्वान् और दूसरे साधु उनके पास उपदेश पानेकी इच्छासे आते हैं। उसने आज्ञा स्वीकार की।

युवक स्नान करके लौटा। भंगिन जान-बूझकर तेजीसे झाड़ू लगाने लगी। धूल उड़कर युवकपर पड़ी और क्रोधके मारे वह पास पड़ा पत्थर उठाकर मारने झपटा। भंगिन असावधान नहीं थी। वह झाड़ू फेंककर दूर भाग गयी।

जो मुखमें आया, युवक बकता रहा। दुबारा स्नान करके वह महात्माके पास लौटा। संतने उससे कहा—'अभी तो तुम पशुके समान मारने दौड़ते हो। भगवान्का भजन तुमसे अभी कैसे होगा। अच्छा, एक वर्ष बाद आना। एक वर्षतक नाम-जप करते रहो।'

× × ×

युवकका वैराग्य सच्चा था, भजनकी इच्छा सच्ची थी, संतमें श्रद्धा भी सच्ची थी। भजन करके वर्ष पूरा होते ही वह फिर संतके समीप उपस्थित हुआ। उसे फिर स्नान करके आनेकी आज्ञा मिली। वह स्नान करने गया तो संतने भंगिनको बुलाकर आदेश दिया—'वह साधु फिर आया है। इस बार मार्गमें इस प्रकार झाड़ू लगाना कि जब वह पास आवे, झाड़ूकी एकाध सींक उसके पैरोंसे छू जाय। डरना मत, वह मारेगा नहीं। कुछ कहे तो चुपचाप सुन लेना।'

भंगिनको आज्ञापालन करना था। स्नान करके लौटते युवकके पैरसे भंगिनकी झाड़ू छू गयी। एक वर्षकी प्रतीक्षाके पश्चात् वह दीक्षा लेने जा रहा था और यह दुष्ट भंगिन—फिर बाधा दी इसने। युवकको क्रोध बहुत आया; किंतु मारनेकी बात उसके मनमें नहीं आयी। वह केवल भंगिनको कुछ कठोर वचन कहकर फिर स्नान करने लौट गया।

जब वह संतके पास स्नान करके पहुँचा, संतने कहा—'अभी भी तुम भूँकते हो। एक वर्ष और नाम-जप करो और तब यहाँ आओ।'

× × ×

एक वर्ष और बीता। युवक संतके पास आया। उसे पूर्वके समान स्नान करके आनेकी आज्ञा मिली। संतने भंगिनको बुलाकर कहा—'इस बार जब वह स्नान करके लौटे, अपनी कूड़ेकी टोकरी उँड़ेल देना उसपर। पर देखना टोकरीमें केवल कूड़ा-कचरा ही हो, कोई गंदी चीज न हो।'

भंगिन डरी; किंतु संतने उसे आश्वासन दिया—'वह कुछ नहीं कहेगा।'

आप समझ सकते हैं—युवकके ऊपर जब भंगिनने कूड़ेकी टोकरी उँड़ेली, युवकने क्या किया? न वह मारने दौड़ा, न रुष्ट हुआ। वह भंगिनके सामने भूमिपर मस्तक टेककर प्रणत हो गया और फिर हाथ जोड़कर बोला—'माता! तुम्हीं मेरी गुरु हो। तुमने मुझपर बड़ी कृपा की। तुम्हारी ही कृपासे मैं अपने बड़प्पनके अहङ्कार और क्रोधरूप शत्रुको जीत सका।'

दुबारा स्नान करके युवक जब संतके पास पहुँचा, संतने उसे हृदयसे लगा लिया। वे बोले—'अब तुम भजनके सच्चे अधिकारी हुए।'

क्रोध पाप को मूल है, क्रोध आपही पाप।
क्रोध मिटे बिनु ना मिटे कबहुँ जीव-संताप॥
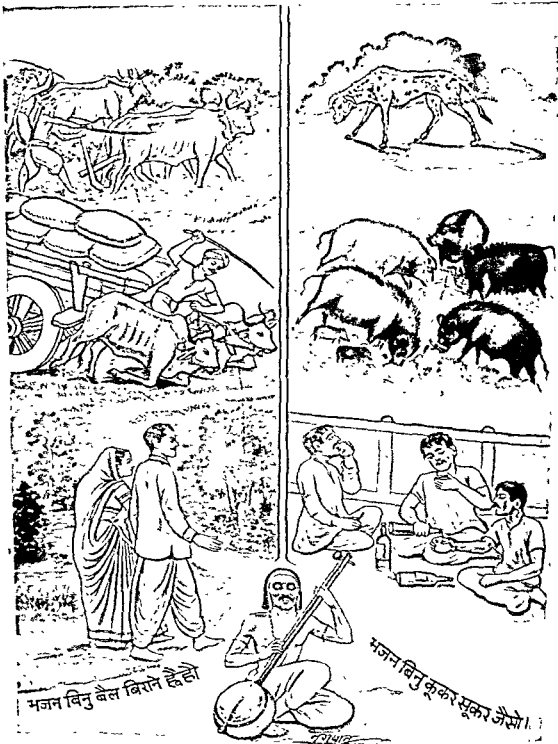
भजनका अधिकार

भजन बिनु बैल बिराने ह्वैहो।

भजन बिनु बैल बिराने ह्वैहौ ।
पाउँ चारि, सिर सींग, गूँग मुख, तब कैसैं गुन गैहौ ॥
चारि पहर दिन चरत-फिरत बन, तऊ न पेट अघैहौ ।
टूटे कंध अरु फूटी नाकनि, कौ लौं धौं भुस खैहौ ॥
लादत जोतत लकुट बाजिहैं, तब कहँ मूँड़ दुरैहौ ।
सीत, घाम, घन, बिपति बहुत बिधि, भार तरैं मरि जैहौ ॥
हरि-संतन कौ कह्यौ न मानत, कियौ आपुनौ पैहौ ।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु, मिथ्या जनम गँवैहौ ॥

—सूरदास

भजन बिनु कूकर-सूकर जैसौ ।
जैसैं घर बिलाव के मूसा, रहत बिषय-बस वैसौ ॥
बग-बगुली अरु गीध-गीधनी, आइ जनम लियो तैसौ ।
उनहूँ कैं गृह सुत दारा हैं, उन्हैं भेद कहु कैसौ ॥
जीव मारि कै उदर भरत हैं, तिन कौ लेखौ ऐसौ ।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु, मनौ ऊँट, वृष, भैंसौ ॥

—सूरदास

परमहंस श्रीबुद्धदेव

(प्रेषक—श्रीबुद्धिप्रकाशजी शर्मा उपाध्याय)

विदेह मुक्त

कुछ करता दीखे नहीं थिर बैठा चुप चाप ॥
थिर बैठा चुपचाप दौड़ उद्योग की नाहीं।
प्रभु शरणं चित चैन सैन चिन्ता बिसराहीं ॥
काम क्रोध अभिमान का दीना बीज जलाय।
यह देह अब खोखला ज्याें कुम्भ चकाय ॥
गर्भवास अब है नहीं, नहीं आवण की आस।
निज सत्ता से हूँ नहीं जीता प्रभु विश्वास ॥
'बुद्ध देव' निष्कर्म में, नहीं दोष त्रै ताप।
कुछ करता दीखे नहीं, थिर बैठा चुप चाप ॥

परिव्राजकानन्द रामराजाजी

(प्रेषक—श्रीगिरिजाशंकरजी शास्त्री अवस्थी, एम्० एम्० एस्०)

जोग तो वही सराहिये, भोग विलग है जाय।
तेल तक्र काई पड़े, जल सो साफ देखाय ॥
आशा जल को साफ कर, काई बासा मान।
बुद्धिहि तेल सराहिये, मन माठा में आन ॥
मन बुद्धिहि एक ठौर कर, गुन लीजे सब काम।
रति पति के संयोग से, शीतल सारी धाम ॥
बिना द्वैत के रूप नहिं, गुन लीजे मन माहिं।
द्वैत छोड़ि अद्वैत भा, आपै आप लखाहिं ॥
कारण सब सम्बन्ध का, जहँ देखो तहँ बन्ध।
कारण के छूटे बिना, छूटै नहिं सम्बन्ध ॥

महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामी

(जन्म—शकाब्द १५२९ पौष मास, जाति—ब्राह्मण, पिताका नाम—श्रीनृसिंहधर। घरका नाम—तैलङ्गधर, देहत्याग—शकाब्द १८०९ पौष शुक्ला ११, आयु—२८० वर्ष)

आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग सीखना पड़ता है। इसके लिये गृहत्याग या अरण्यवासकी कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकारके कुछ नियम हैं जिनका केवल चिन्तन करके तदनुरूप आचरण करनेसे योगफल और आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये अन्य किसी प्रकारकी कठिन साधना नहीं करनी पड़ती, केवल उनका ही अनुष्ठान करनेपर योगफल प्राप्त किया जाता है; उनको भी सरल योग कहते हैं। योगफल प्राप्त करनेके लिये जिन सब वृत्तियोंका निरोध करना आवश्यक होता है, उनको किये बिना योगफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उन नियमों और प्रकारोंको इस नियमावलीमें स्थान दिया गया है। इस प्रकार आचरण करने और हृदयमें इस प्रकारके भावोंको ग्रहण करनेपर निश्चय ही योगफलकी प्राप्ति हो सकती है। वे नियम इस प्रकार हैं—

१. असंतुष्ट मनुष्य किसीको भी संतुष्ट नहीं कर सकता, जो सर्वदा संतुष्ट रहता है वह सबको संतुष्ट कर सकता है।

२. जिह्वा पापकी बातें कहनेमें बहुत ही तत्पर रहती है, उसको संयत करना आवश्यक है।

३. आलस्य सब अनर्थोंका मूल है, यत्नपूर्वक आलस्यका परित्याग करो।

४. संसार धर्माधर्मकी परीक्षाकी भूमि है, सावधान होकर धर्माधर्मकी परीक्षा करके कार्यका अवलम्बन करो।

५. किसी धर्मके प्रति अश्रद्धा न रक्खो, सभी धर्म सत्य हैं और उनमें अवश्य ही सत्य निहित है।

६. दरिद्रको दान दो। धनीको दान देना व्यर्थ है; क्योंकि उसको आवश्यकता नहीं है, इसी कारण वह आनन्दित नहीं होता।

७. साधुका सहवास ही स्वर्ग तथा असत्सङ्ग ही नरकवासका मूल है।

८. आत्मज्ञान, सत्पात्रमें दान और संतोषका आश्रय करनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है।

९. जो शास्त्र पढ़कर तथा उसके अभिप्रायको जानकर
सका अनुष्ठान नहीं करते, वे पापीसे भी अधम हैं।

१०. किसी भी कार्यके अनुष्ठानके मूलमें धर्म होना
ाहिये, नहीं तो सिद्धि न होगी।

११. कभी किसीकी भी हिंसा न करो, सत् या असत्
हृदयसे कभी किसी प्राणीका वध न करो।

१२. जो आदमी पाप-कलङ्कको बिना धोये, मिताचारी
ौर सत्यानुरागी बिना हुए गेरुआ वस्त्र धारणकर ब्रह्मचारी
नता है, वह धर्मका कलङ्करूप है।

१३. बिना छप्परके घरमें जैसे वर्षाका पानी गिरता है,
सन्तानरहित मनमें भी उसी प्रकार शत्रु प्रवेश करते हैं।

१४. पापी लोग इहकालमें अनुतापाग्निसे दग्ध होते हैं,
जब-जब अपने कुकर्मोंको याद करते हैं, तब-तब उनके प्राणों-
अनुताप जाग उठता है।

१५. (क) मननशीलता अमरत्वकी प्राप्तिका मार्ग है,
नन-शून्यता मृत्युका मार्ग है।

(ख) गर्व न करो, कामोपभोगका चिन्तन न करो।

१६. शत्रु शत्रुका जितना अनिष्ट नहीं कर सकता, कुपथ-
ामी मन मनुष्यका उससे भी अधिक अनिष्ट करता है।

१७. मधुमक्खिका जैसे पुष्पके सौन्दर्य अथवा सुगन्ध-
ा अपचय न करके मधुसंग्रह करती है, तुम भी उसी प्रकार
ामें लिप्त न होकर ज्ञान प्राप्त करो।

१८. यह पुत्र मेरा है, यह ऐश्वर्य मेरा है, अति अज्ञानी
ोग भी इस प्रकार चिन्तन करके क्लेश पाते हैं। जब अपना
ाप अपना नहीं होता, तब पुत्र और सम्पत्ति किस प्रकार
पने हो सकते हैं!

१९. कम ही लोग भवसागर पार होते हैं, अधिकांश
ोग तो धर्मका ढोंग रचकर किनारेपर ही दौड़-धूप करते
हते हैं।

२०. संग्राममें जिसने लाखों मनुष्योंको जीत लिया है
ह मनुष्य वास्तविक विजयी नहीं है। जिसने अपने-आपको
ीत लिया है वही वास्तविक विजयी है।

२१. [illegible] आक्रमण नहीं कर [illegible]—
[illegible] न करो। एक-एक बूँद [illegible]
[illegible] है, वैसे ही [illegible] हो जाते हैं।

२२. [illegible]

बोलनेसे कठोर बात सुननी पड़ेगी। चोट करनेपर चोट सहनी
पड़ेगी। रुलानेसे रोना पड़ेगा।

२३. जो लोग वासनाको नहीं जीत सकते, उनका
मन नंगे बदन, जटा-धारण, भस्म-लेपन, उपवास, मृत्तिका-
शय्या—इत्यादिसे पवित्र नहीं हो सकता।

२४. दूसरोंको जैसा उपदेश देते हो, स्वयं भी वैसे ही
बन जाओ, जिसने अपनेको वशीभूत कर लिया है, वह दूसरे-
को भी वशमें कर सकता है। अपनेको वशमें करना ही
कठिन है।

२५. पाप और पुण्य सब निजकृत होते हैं, कोई आदमी
दूसरेको पवित्र नहीं कर सकता।

२६. यह जगत् जल-बुद्बुद, मृग-मरीचिकाके समान
है, जो इस जगत्को तुच्छ जानता है, मृत्यु उसको नहीं
देख पाती।

२७. दौड़ती हुई गाड़ीके समान उत्तेजित क्रोधको जो
संयत कर सकता है, वही यथार्थ सारथि है, दूसरे लोग तो
केवल रास पकड़े हुए हैं।

२८. प्रेमके बलसे क्रोधको जीतो, मङ्गलके द्वारा अमङ्गल
को जीतो, निःस्वार्थताके द्वारा स्वार्थको जीतो तथा सत्यके
द्वारा मिथ्याको जीतो।

२९. गुरु जो उपदेश दें, उसको मन लगाकर सुनो
और पालन करो।

३०. स्वयं मत बोला करो, जो अधिक बोलता है, वह
निश्चय ही अधिक झूठ बोलता है। जहाँतक हो, बात कम
करनेकी चेष्टा करो, उसके साथ ही शान्ति प्राप्त होगी।

× × × ×

योग सीखनेके लिये वनमें जाना या अनाचारी होना नहीं
पड़ता। चित्तवृत्तिके निरोधका नाम ही योग है। बाहरी ओर
दौड़ी हुई इन्द्रियोंको [illegible] जिसने है,
उसके लिये घर या वन दोनों समान ही हैं। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
है। [illegible]

धर्म और जलबिन्दुका अल्प धर्म परित्यक्त हो जायगा तथा समुद्र और बिन्दुकी जलमात्रमें एकता लक्षित होगी। इसी प्रकार एकताके विरोधी समष्टि और व्यष्टिभावमें प्रतीयमान स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप वाच्यभागका त्याग कर 'तत्' और 'त्वं' पदके चेतनभागमात्रकी एकता लक्ष्य करनी पड़ती है। भागत्यागलक्षणाद्वारा (सामवेदीय) 'तत्त्वमसि' महावाक्य जैसे जीव और परमेश्वरकी एकताका प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार अन्य तीन महावाक्योंके द्वारा भी जीव और ईश्वरकी एकता प्रतिपन्न होती है।

× × ×

'अयमात्मा ब्रह्म' (अथर्ववेदीय) इस महावाक्यमें 'आत्मा'पद जीववाच्य है तथा 'ब्रह्म'पद ईश्वरवाच्य है, उपर्युक्त रीतिसे भागत्याग-लक्षणाके द्वारा चेतनमात्र ही लक्ष्य है। ब्रह्मरूप आत्माकी अपरोक्षता ही 'अय' पद सिद्ध करता है। इसी प्रकार—'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस (यजुर्वेदीय) महावाक्यमें 'अहं' पद जीववाच्य और 'ब्रह्म' पद ईश्वरवाच्य है, तथा उपर्युक्त रीतिसे दोनों पद भागत्यागलक्षणाद्वारा चेतनमात्रको लक्ष्य करते हैं। और 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस (ऋग्वेदीय) महावाक्यमें 'प्रज्ञान' पदका अर्थ जीव तथा 'ब्रह्म'पदका अर्थ ईश्वर है। उपर्युक्त रीतिसे दोनों पदोंमें भागत्यागलक्षणा करनेपर चेतनमात्र लक्षित होता है। ब्रह्मरूप आत्मा आनन्दस्वरूप है, आनन्द पद इस अर्थका ज्ञापक है। सद्गुरुके मुखसे महावाक्यका अर्थ-श्रवण करनेसे अखण्ड ब्रह्मात्माका बोध और कैवल्यमुक्ति प्राप्त होती है।

× × ×

सजातीय, विजातीय और स्वगत—इन तीन प्रकारके भेदोंसे अतीत पदार्थ ही अखण्ड नामसे ख्यात है। वृक्षोंके परस्पर भेदका नाम 'सजातीय भेद' है, वृक्ष और पशुके भेदका नाम 'विजातीय भेद' है, तथा वृक्ष और उसके पत्र-पुष्पादिमें जो भेद होता है उसका नाम 'स्वगतभेद' है। आत्मामें ये तीनों ही भेद नहीं हैं; क्योंकि आत्मा दो या अनेक होता तो उसमें सजातीय भेद सम्भव होता; परंतु चेतन केवल एक है, इसलिये उसमें सजातीय भेद नहीं है, और अनात्म पदार्थ सत्य होते तो विजातीय भेद सम्भव था; परंतु अनात्मरूपा अविद्या और उसके कार्य मृगतृष्णाके समान मिथ्या हैं; अतएव आत्माका विजातीय भेद भी नहीं है, आत्मा यदि सावयव होता तो इसमें स्वगत भेद सम्भव था, परंतु निरवयव आत्माका स्वगत भेद नहीं हो सकता। अथवा देश-काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न पदार्थका नाम अखण्ड है। व्यापकताके कारण आत्मामें देश-परिच्छेद नहीं, आत्माकी नित्यताके कारण काल-परिच्छेद नहीं तथा एकत्वके कारण वस्तुपरिच्छेद भी नहीं है। इस प्रकार त्रिविध भेदसे रहित आत्मा अखण्डरूपमें अवस्थित है।

× × ×

'तत्-त्वं' और 'त्व-तत्'—इस प्रकार ओतप्रोत भावनाके द्वारा महावाक्यकी परोक्षता और परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति नष्ट होती है। 'तत्-त्वं' वाक्यके द्वारा 'तत्' और 'त्वं' पदके अर्थकी अभिन्नता कही जाती है। 'त्वं' पदका अर्थ (साक्षी नित्य आत्मा) परोक्षताको दूर करता है, एवं 'त्व-तत्' वाक्यके द्वारा 'त्वं' पदके साथ तत्पदके अभिन्नार्थके कारण तत् पदका व्यापकतारूप अर्थ परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिका नाश करता है। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'आत्मा ब्रह्म' आदि महावाक्योंके द्वारा परिच्छिन्नताकी हानि तथा 'ब्रह्म अहं', 'ब्रह्म प्रज्ञानं' और 'ब्रह्म आत्मा' महावाक्यके द्वारा परोक्षताकी हानि दूर होती है। ब्रह्मरूप आत्मासे पृथक् जो कुछ देखने या सुननेमें आता है, तथा शास्त्रमें स्वर्ग-नरक, पुण्य-पापादि जो कुछ कथित हुआ है, उस सबको मिथ्या भ्रमरूप जानो; परंतु मिथ्याकल्पित वस्तु अपने अधिष्ठानकी हानि नहीं कर सकती; क्योंकि स्वप्नमें मिथ्या भिक्षाके द्वारा राजा दरिद्र नहीं होता, मरुभूमिके मिथ्या जलसे भूमि आर्द्र नहीं होती, मिथ्या सर्प रज्जुको विपाक्त नहीं कर सकता। अतएव समस्त शुभाशुभ क्रियाका कर्ता होनेपर भी अपने अनुपमेय आश्रयस्वरूपको परमार्थतः अकर्ता ही जानो। सारांश यह है कि ब्रह्मसे अभिन्न तुम्हारे यथार्थ स्वरूपमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन त्रिविध शरीरोंके शुभाशुभ कर्म तथा उसके फल जन्म, मरण, स्वर्ग, नरक, सुख और दुःख—सब अविद्याकल्पित हैं, अतएव उपर्युक्त कल्पित पदार्थ तुम्हारे ब्रह्मभावको विकृत नहीं कर सकते। ज्ञान-प्राप्तिके पहले भी आत्मा ब्रह्मस्वरूप था और उसके साथ भूत-वर्तमान-भविष्य, किसी भी कालमें शरीर और धर्मादिका सम्बन्ध नहीं है। आत्मा सदा ही नित्यमुक्त है, ब्रह्मके साथ आत्माका किसी कालमें भी भेद नहीं होता।

समाधिका अर्थ है ब्रह्ममें मनका स्थिर हो जाना, परमात्मा और जीवात्माका एकीकरण; अतएव समाधि योगकी फलस्वरूपा है। जब चित्त वशीभूत होकर सब कार्योंसे निःस्पृह होकर आत्मामें ही अवस्थान करता है, तब उसीको समाधि कहते हैं। जब विशुद्ध अन्तःकरणद्वारा आत्माका अवलोकन करके आत्मामें ही परितृप्त होता है, तब साधकको केवल बुद्धिद्वारा प्राप्त, अतीन्द्रिय, आत्यन्तिक सुखकी उपलब्धि होती है। जिस अवस्थामें स्थित होनेपर आत्मतत्त्वसे च्युत नहीं होता, जिस अवस्थाको प्राप्त करनेपर अन्य लाभ लाभ नहीं जान पड़ते, जिस अवस्थामें स्थित होनेपर गुरुतर दुःख भी विचलित नहीं कर सकते, उसी अवस्थाका नाम योग है। मनको आत्मामें निहित करके स्थिर बुद्धिके द्वारा धीरे विरतिका अभ्यास करो, अन्य कोई चिन्तन न करो। स्वभाववाला मन जिन-जिन विषयोंमें विचरण करे, उन विषयोंसे उसको लौटाकर आत्माके वशीभूत करो। और तमोगुणसे विहीन योगी इस प्रकार मनको वशीभूत करके अनायास ही ब्रह्मसाक्षात्काररूप सर्वोत्कृष्ट-को प्राप्त होते हैं। सर्वत्र ब्रह्मदर्शी पुरुष समाहित सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखते हैं कामनाशून्य होकर जो योगका अभ्यास करते हैं, वे समाधिस्थ या मुक्त होने योग्य हैं। ईश्वरमें लीन होकर जीवात्मा और परमात्माके मिलनका नाम 'मुक्ति' है।

परमहंस स्वामी श्रीदयालदासजी

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यमें भागत्याग-लक्षणा स्वीकृत हुई है। इस सिद्धान्तके ज्ञानके लिये 'तत्' और 'त्वं' पद-का वाच्यार्थ कहा जाता है। सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक इत्यादि धर्मयुक्त मायाविशिष्ट ईश्वर चेतन ही 'तत्' पदका वाच्यार्थ है। और अल्पशक्तिमान्, अल्पज्ञ तथा परिच्छिन्नादि धर्मसे युक्त अविद्याविशिष्ट जीव-चैतन्य ही 'त्वं' पदका वाच्यार्थ है। ये दोनों ही एक हैं, यह 'असि' पदके द्वारा सिद्ध होता है। इस प्रकार जीव-ब्रह्मकी एकता शक्तिवृत्तिद्वारा सिद्ध होनेपर भी यह कैसे संगत हो सकती है! क्योंकि सर्वशक्तिमत्ता अल्पशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और अल्पज्ञता, व्यापकता और परिच्छिन्नता परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, अतएव इनकी एकता नहीं हो सकती। अतएव महावाक्यमें लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। परंतु जहत् और अजहत् लक्षणा महावाक्य-में प्रयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि जहत् लक्षणामें वाच्यार्थ-का पूर्ण त्याग तथा वाच्यके साथ सम्बन्धयुक्त अन्य अर्थ लक्षित होता है; 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें तत्पदका वाच्य ईश्वर-चेतन तथा त्वं पदका वाच्य जीव-चेतन है, अतएव जहत् लक्षणाद्वारा इन दोनों चेतनसत्ताका त्याग करनेपर लक्ष्य-के लिये अतिरिक्त अन्य चेतन पदार्थ नहीं रहता। इस कारण महावाक्यमें जहत् लक्षणाका प्रयोग युक्त नहीं होता। अजहत् लक्षणाका प्रयोग भी सङ्गत नहीं हो सकता; क्योंकि अजहत् लक्षणामें वाच्यार्थका अतिरिक्त अर्थ लक्षित होता है और महावाक्यस्थित वाच्यार्थ परस्परविरुद्ध-भावापन्न हैं। इस विरोधको दूर करनेके लिये अजहत् लक्षणा स्वीकार करनेसे काम न चलेगा, अतएव महावाक्यमें अजहत् लक्षणाका भी प्रयोग नहीं हो सकता। अन्ततः भागत्याग-लक्षणाका ही महावाक्यके अर्थ-विचारमें प्रयोग करना होगा। और 'तत्' तथा 'त्वं' पदके अर्थमें स्थित विरोधी भाग सर्वज्ञता और अल्पज्ञतादि धर्म तथा आभाससहित माया और आभाससहित अविद्या—इस वाच्यांशका त्याग करते हुए 'तत्' और 'त्वं' पदके चेतन अंशमात्रमें लक्षणा करनी पड़ेगी; अर्थात् सर्वज्ञता और अल्पज्ञतादि धर्मयुक्त एकताविरोधी समष्टि और व्यष्टि-भावमें स्थित स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन त्रिविध शरीरोंको मिथ्यारूप जानकर इनके आधार, प्रकाशक तथा सम्बन्ध-रहित शुद्ध, निर्विकार, अद्वितीय, सच्चिदानन्द ब्रह्मको ही निजस्वरूप निश्चय करना होगा, इसीका नाम भागत्यागलक्षणा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्माकी अखण्डरूपमें धारणा करनेपर आवरणदोष निवृत्त हो जाता है और यही 'अपरोक्ष-ज्ञान'के नामसे अभिहित होता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें भाग-त्यागलक्षणाद्वारा जीव और ब्रह्मकी एकता कथित हुई है, इस अर्थको दृढ करनेके लिये अन्य दृष्टान्त भी कहे जाते हैं। जैसे, 'समुद्र जलबिन्दु ही है।' इस वाक्यमें समुद्र-पदका वाच्यार्थ महद्धर्मयुक्त जल और जलबिन्दुका वाच्यार्थ अल्पधर्मविशिष्ट जलमात्र है; अतएव शक्तिवृत्तिसे इन दोनों-की एकता सिद्ध करनेपर भी यह असम्भव जान पड़ता है; क्योंकि महत् और अल्प धर्ममें परस्पर विरोध ही दीख पड़ता है, एकता सम्भव नहीं है। इसलिये समुद्र और बिन्दुपदका केवल जलमात्रमें भागत्याग-लक्षणा करनेपर, समुद्रका महत्

धर्म और जलबिन्दुका अल्प धर्म परित्यक्त हो जायगा तथा समुद्र और बिन्दुकी जलमात्रमें एकता लक्षित होगी। इसी प्रकार एकताके विरोधी समष्टि और व्यष्टिभावमें प्रतीयमान स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप वाच्यभागका त्याग कर 'तत्' और 'त्वं' पदके चेतनभागमात्रकी एकता लक्ष्य करनी पड़ती है। भागत्यागलक्षणाद्वारा (सामवेदीय) 'तत्त्वमसि' महावाक्य जैसे जीव और परमेश्वरकी एकताका प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार अन्य तीन महावाक्योंके द्वारा भी जीव और ईश्वरकी एकता प्रतिपन्न होती है।

× × ×

'अयमात्मा ब्रह्म' (अथर्ववेदीय) इस महावाक्यमें 'आत्मा'पद जीववाच्य है तथा 'ब्रह्म'पद ईश्वरवाच्य है, उपर्युक्त रीतिसे भागत्याग-लक्षणाके द्वारा चेतनमात्र ही लक्ष्य है। ब्रह्मरूप आत्माकी अपरोक्षता ही 'अय' पद सिद्ध करता है। इसी प्रकार—'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस (यजुर्वेदीय) महावाक्यमें 'अहं' पद जीववाच्य और 'ब्रह्म' पद ईश्वरवाच्य है, तथा उपर्युक्त रीतिसे दोनों पद भागत्यागलक्षणाद्वारा चेतनमात्रको लक्ष्य करते हैं। और 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस (ऋग्वेदीय) महावाक्यमें 'प्रज्ञान' पदका अर्थ जीव तथा 'ब्रह्म'पदका अर्थ ईश्वर है। उपर्युक्त रीतिसे दोनों पदोंमें भागत्यागलक्षणा करनेपर चेतनमात्र लक्षित होता है। ब्रह्मरूप आत्मा आनन्दस्वरूप है, आनन्द पद इस अर्थका ज्ञापक है। सद्गुरुके मुखसे महावाक्यका अर्थ-श्रवण करनेसे अखण्ड ब्रह्मात्माका बोध और कैवल्यमुक्ति प्राप्त होती है।

× × ×

सजातीय, विजातीय और स्वगत—इन तीन प्रकारके भेदोंसे अतीत पदार्थ ही अखण्ड नामसे ख्यात है। वृक्षोंके परस्पर भेदका नाम 'सजातीय भेद' है, वृक्ष और पशुके भेदका नाम 'विजातीय भेद' है, तथा वृक्ष और उसके पत्र-पुष्पादिमें जो भेद होता है उसका नाम 'स्वगतभेद' है। आत्मामें ये तीनों ही भेद नहीं हैं; क्योंकि आत्मा दो या अनेक होता तो उसमें सजातीय भेद सम्भव होता; परंतु चेतन केवल एक है, इसलिये उसमें सजातीय भेद नहीं है, और अनात्म पदार्थ सत्य होते तो विजातीय भेद सम्भव था; परंतु अनात्मरूपा अविद्या और उसके कार्य मृगतृष्णाके समान मिथ्या हैं। अतएव आत्माका विजातीय भेद भी नहीं है, आत्मा यदि सावयव होता तो इसमें स्वगत भेद सम्भव था, परंतु निरवयव आत्माका स्वगत भेद नहीं हो सकता। अथवा देश-काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न पदार्थका नाम अखण्ड है। व्यापकताके कारण आत्मामें देश-परिच्छेद नहीं, आत्माकी नित्यताके कारण काल-परिच्छेद नहीं तथा एकत्वके कारण वस्तुपरिच्छेद भी नहीं है। इस प्रकार त्रिविध भेदसे रहित आत्मा अखण्डरूपमें अवस्थित है।

× × ×

'तत्-त्वं' और 'त्वं-तत्'—इस प्रकार ओतप्रोत भावनाके द्वारा महावाक्यकी परोक्षता और परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति नष्ट होती है। 'तत्-त्वं' वाक्यके द्वारा 'तत्' और 'त्वं' पदके अर्थकी अभिन्नता कही जाती है। 'त्वं' पदका अर्थ (साक्षी नित्य आत्मा) परोक्षताको दूर करता है, एवं 'त्वं-तत्' वाक्यके द्वारा 'त्वं' पदके साथ तत्पदके अभिन्नार्थके कारण तत् पदका व्यापकतारूप अर्थ परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिका नाश करता है। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'आत्मा ब्रह्म' आदि महावाक्योंके द्वारा परिच्छिन्नताकी हानि तथा 'ब्रह्म अहं', 'ब्रह्म प्रज्ञानं' और 'ब्रह्म आत्मा' महावाक्यके द्वारा परोक्षताकी हानि दूर होती है। ब्रह्मरूप आत्मासे पृथक् जो कुछ देखने या सुननेमें आता है, तथा शास्त्रमें स्वर्ग-नरक, पुण्य-पापादि जो कुछ कथित हुआ है, उस सबको मिथ्या भ्रमरूप जानो; परंतु मिथ्याकल्पित वस्तु अपने अधिष्ठानकी हानि नहीं कर सकती; क्योंकि स्वप्नमें मिथ्या भिक्षाके द्वारा राजा दरिद्र नहीं होता, मरुभूमिके मिथ्या जलसे भूमि आर्द्र नहीं होती, मिथ्या सर्प रज्जुको विपाक्त नहीं कर सकता। अतएव समस्त शुभाशुभ क्रियाका कर्ता होनेपर भी अपने अनुपमेय आश्चर्यस्वरूपको परमार्थतः अकर्ता ही जानो। साराश यह है कि ब्रह्मसे अभिन्न तुम्हारे यथार्थ स्वरूपमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन त्रिविध शरीरोंके शुभाशुभ कर्म तथा उसके फल जन्म, मरण, स्वर्ग, नरक, सुख और दुःख—सब अविद्याकल्पित हैं, अतएव उपर्युक्त कल्पित पदार्थ तुम्हारे ब्रह्मभावको विकृत नहीं कर सकते। ज्ञान-प्राप्तिके पहले भी आत्मा ब्रह्मस्वरूप था और उसके साथ भूत-वर्तमान-भविष्य, किसी भी कालमें शरीर और धर्मादिका सम्बन्ध नहीं है। आत्मा सदा ही नित्यमुक्त है, ब्रह्मके साथ आत्माका किसी कालमें भी भेद नहीं होता।

स्वामी श्रीएकरसानन्दजी

[जन्म—वि० सं० १९२३, भाद्रशुक्ला (ऋषिपंचमी), पिताका नाम—पं० राधाकृष्णजी, महाराष्ट्रीय ब्राह्मण, माताका नाम—श्री बाई, स्थान—भूमियाणा। देहावसान—आश्विन कृष्णा २, वि० सं० १९९५]

१–संसारको स्वप्नवत् जानो—

उमा कहौं मैं अनुभव अपना।
सत हरि भजन जगत सब सपना॥

२–अति हिम्मत रक्खो—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत काल परखिये चारी॥

३–अखण्ड प्रफुल्लित रहो दुःखमें भी—

फिरत सनेह मगन सुख अपने।
हर्ष बिषाद सोक नहिं सपने॥

४–परमात्माका स्मरण करो, जितना बन सके—

देह धरे कर यह फल भाई।
भजिअ राम सब काम बिहाई॥

५–किसीको दुःख मत दो, बने तो सुख दो—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीडा सम नहिं अधमाई॥

६–सभीपर अति प्रेम रक्खो—

सरल सुभाव सबहि सन प्रीती।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती॥

७–नूतन बालवत् स्वभाव रक्खो—

सेवक सुत पितु मातु भरोसे।
रहै असोच बने प्रभु पोसे॥

८–मर्यादानुसार चलो—

नीति निपुन सोइ परम सयाना।
श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना॥

९–अखण्ड पुरुषार्थ करो गङ्गा-प्रवाहवत्, आलसी मत बनो—

करहु अखंड परम पुरुषारथ।
स्वारथ सुजस धर्म परमारथ॥

१०–जिसमें तुमको नीचा देखना पड़े, ऐसा काम मत करो—

गुरु पितु मातु स्वामि सिख पालें।
चलत कुमग पग परत न खालें॥

दो०–यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानहिं कोय।
जानें ते रघुपति कृपाँ सपनेहुँ मोह न होय॥

श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी श्रीदेवनायकाचार्यजी महाराज

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

भारतमें जन्म लेकर भी जो अपने वेद-शास्त्रोंको नहीं मानता, वह तो पशुसे भी गया-बीता है। याद रक्खो, शास्त्र मनुष्योंके लिये ही हैं, पशुओंके लिये नहीं। कुछ मनुष्य कहते हैं कि 'हम शास्त्रोंको क्यों मानें? हम शास्त्रोंको नहीं जानते।' हम उनसे पूछते हैं कि आप पशु हैं या मनुष्य? जितने भी कानून हैं, सब मनुष्यके लिये हैं। आपने देखा होगा कि मनुष्य यदि सड़कपर मल-मूत्र कर दे तो वह पकड़ लिया जाता है, परंतु यदि पशु कर दे तो उसका कुछ भी नहीं होता; क्योंकि सब जानते हैं कि वह पशु है और इसे ज्ञान नहीं है। अतः मनुष्यके लिये ही शास्त्र हैं और हमें शास्त्रोंको अवश्य ही मानना चाहिये।

हमने अपने चाल-चलन पुराने रहन-सहन आदि सबको छोड़ दिया है इसीसे आज हम पराधीन हो गये हैं। पहिले मनुष्य जप-तपमें, भजन-पूजनमें भी अपना कुछ समय अवश्य लगाते थे और बिना स्नान किये भोजन करनेमें पाप मानते थे; परंतु आजकल तो प्रातःकाल बिना स्नान ध्यान किये ही लोग चाय-बिस्कुट खाना प्रारम्भ कर देते हैं। यह बड़ा अनर्थ है, इससे बचना चाहिये।

पण्डित वही है कि जो विद्वान् होकर भी शास्त्र को,

तर्पण करे, संध्या-वन्दन करे, भजन-पूजन करे और सदाचारी तथा जितेन्द्रिय हो।

स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंको सुख पहुँचाना चाहिये। जिस प्रकार नमक अपनेको तो साग-दालमें गला देता है; परंतु साग-दालको अच्छा बना देता है। वैसे ही मनुष्यको परहितके लिये अपनेको गला देना चाहिये।

सब तो मर जाते हैं परंतु जिसने भगवान्‌की भक्ति की, वह नहीं मरता; जिसने देशकी सेवा की, वह नहीं मरता; जिसने मंदिर, कुँआ, बावड़ी बनवाया, वह नहीं मरता। ऐसे धर्मात्मा मनुष्योंका नाम सदा अमर रहता है। वेनका नाश हो गया क्यों? अधर्मसे। और पृथुकी जय हुई क्यों? धर्मका पालन करनेसे।

हम आज सर्वथा आत्मविस्मृत हो गये हैं। हमारे देशके ही मनुष्य अपनी बोली न बोलकर अंग्रेजी बोलते हैं और इसमें शान समझते हैं। हमारा खाना भी आज अंग्रेजी हो गया है और हम होटलोंमें अपवित्र विदेशी खाना खाने लगे हैं।

परम मन्त्रका जप करो और गो-ब्राह्मणकी रक्षा करो। भगवान् श्रीकृष्णने गो-ब्राह्मणकी ही रक्षा की थी। भगवान् श्रीरामने भी गो-ब्राह्मणोंकी ही रक्षा की थी। तुम भी गो-ब्राह्मणकी सेवा करो।

किसी भी देशमें चले जाइये, हमारे भारतके समान कोई भी पवित्र देश नहीं मिलेगा। भारतकी तरह कहीं भी आपको श्रीगङ्गाजी नहीं मिलेंगी, जिसके परम पवित्र जलको पान करके हम कृतकृत्य हो जाते हैं।

कोई भी ऐसा देश नहीं है कि जिसके निवासी अपने देशसे प्रेम न करते हों। परंतु दुःखकी बात है कि हम आज अपने देशसे प्रेम न कर दूसरोंकी नकल करते हैं। जिन श्रीगङ्गाजीका हजारों कोसकी दूरीपर नाम लेनेमात्रसे पाप कट जाते हैं, हम उन्हीं श्रीगङ्गाजीके पवित्र जलको न पीकर जूठा-गंदा सोडावाटर पीते हैं; बताओ, हमारा कितना पतन हो गया है। पहिले हमें अपने खान-पानको शुद्ध करना चाहिये।

दुःखके साथ कहना पड़ता है कि आज हमारे बहुतसे महामहोपाध्याय और विद्यावारिधि लोगोंके लड़के अंग्रेजी कालेजोंमें पढ़ते हैं, इससे बढ़कर पतन और क्या होगा! हमें अपने लड़कोंका संस्कार कराकर उन्हें सदाचारी बनाना चाहिये, उनसे संध्या-वन्दन कराना चाहिये और उन्हें देववाणी संस्कृत पढ़ानी चाहिये।

स्वामी श्रीअद्वैतानन्दजी महाराज

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

अपने अपने वर्णाश्रमधर्मानुसार चलनेपर ही कल्याण होगा।

वेद, शास्त्र, पुराण, रामायण, गीता, महाभारतको प्राणोंसे प्यारा समझकर इनके अनुसार चलो।

मांस, मछली, अंडे, मदिरा आदि खाना-पीना तो दूर, इन्हें छूओ भी मत।

गो ब्राह्मणोंको, देव-मन्दिरोंको प्राणोंसे भी प्यारा समझो और श्रद्धासे सिर झुकाओ, प्रणाम करो, सीधे हाथसे लो। भूलकर भी कभी बंदरोंको मत मारो। मोर, नीलकण्ठ आदि किसी भी जीवको कभी मत सताओ।

बड़ा भयानक समय आनेवाला है। अपने सनातनधर्मको मत छोड़ना, इसे पकड़े रहना, इसीसे कल्याण होगा।

हरा वृक्ष कभी मत काटना और पीपलको तो भूलकर भी नहीं, एवं नित्य श्रीतुलसीका पूजन करना। इनसे भगवान् प्रसन्न होते हैं।

अपने घरोंमें अंडे, प्याज, लहसुन, शलजम, तम्बाकू मत आने देना। ये पापोंकी जड़ हैं।

जितना बन सके, खूब श्रीभगवन्नामामृतका पान करना, महात्मा पुरुष ब्राह्मणोंके श्रीचरणोंकी धूलिको मस्तकपर लगाना और धर्मपर दृढ़ रहना।

भूलकर भी सिनेमा मत देखना, महफिलोंमें सम्मिलित मत होना।

परस्त्रीको भयानक विषके समान समझकर त्याग देना, सर्वदा दूर रहना; इसीमें भलाई है।

एकादशीको श्रीगङ्गायमुनामें स्नान दान दीप कर दीन और श्रीगङ्गायमुनाका पूजन कर पुण्य लूटना।

देवी-देवताओंका पूजन करना, घरमें बड़ा प्रेमसे भजन-पूजन करते रहना। यही कल्याणका मार्ग है।

भगवान्‌के सिवा किसीसे कुछ न माँगना। इसीमें भलाई है।

स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी महाराज

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रश्न	उत्तर
मङ्गलमय देव कौन है ?	परमात्मा ।
दया किनपर की जाय ?	दीन जनोंपर ।
मायाकी फाँसी कैसे छूटे ?	सच्चे ज्ञानसे ।
नम्रताका लक्षण क्या है ?	अभिमानका अभाव ।
कर्म किसे नहीं बाँधते ?	आत्मज्ञानीको ।
पुण्य-क्षीणका हेतु क्या है ?	गुणोंका गर्व ।
ब्रह्मदर्शी कौन होता है ?	उत्तम साधक ।
शुद्ध भाव क्योंकर हों ?	ममत्वके त्यागसे ।
बन्धका कारण क्या है ?	दृढ़ आसक्ति ।
धन्यवादके योग्य कौन है ?	समदृष्टि पुरुष ।
श्रेष्ठ पुरुष कौन है ?	अहंकाररहित ।
बाँधनेवाली साँकल क्या है ?	भोगवासना ।
सुख कैसे प्राप्त होता है ?	तृष्णाके त्यागसे ।
जन्मोंका हेतु कौन है ?	अज्ञान ।
नरकके समान क्या है ?	क्रोधादि बुरी वृत्तियाँ ।
स्वर्ग कैसे प्राप्त होता है ?	जीव-दयासे ।
सदा जाग्रत् कौन है ?	विवेकी जन ।
अत्यन्त शत्रु क्या है ?	विषयरत प्रबल इन्द्रियाँ ।
परम मित्र कौन है ?	विजय किया हुआ मन ।
दरिद्रताका हेतु क्या है ?	तृष्णा ।
ज्ञानका साधन क्या है ?	पूर्ण वैराग्य ।
मृत्युके समान कौन है ?	प्रमाद ।
परम प्रेमका विषय क्या है ?	सत्य आत्मा ।
भाग्यवान् कौन है ?	सन्तोषी जन ।
दृढ़ बन्धन कौन-सा है ?	विषयासक्ति ।
प्रीति किससे की जाय ?	परमार्थ-साधनासे ।
सर्वोत्तम मारक कौन है ?	धन ।
अन्धा कौन है ?	कामातुर ।
धर्मका मूल क्या है ?	दया ।
[illegible] कैसे हो ?	प्रभुके ध्यानसे ।
[illegible] है ?	महात्माओंके दर्शन ।
[illegible] क्या है ?	श्रेष्ठ गुण ।
[illegible] कौन है ?	दुराचारी ।
श्रेष्ठ जीवन क्या है ?	प्रभु-भक्तिसे पूर्ण ।
तत्त्व-प्रदर्शक कौन है ?	ब्रह्मविद्या ।
परम समाधि क्या है ?	ब्रह्मसे एकता ।
जगत् किसने जीता है ?	जिसने मनको जीता ।
उत्तम कर्म कौन-सा है ?	भजन-कीर्तन ।
शूरवीर कौन है ?	कामविजयी ।
सुखका उपाय क्या है ?	अनासक्ति ।
भारी विष कौन-सा है ?	विषय-भोग ।
धन्यवादके योग्य कौन है ?	परोपकारी ।
उत्तम कीर्ति किनकी है ?	भक्तजनोंकी ।
निकृष्ट कर्म कौन-सा है ?	कामनायुक्त ।
सद्गुरु किसको मानें ?	तत्त्वदर्शीको ।
दुस्तर पीड़ा कौन-सी है ?	आवागमनकी ।
आनन्द कौन पाता है ?	निष्कामी पुरुष ।
उत्तम भूषण क्या है ?	शीलस्वभाव ।
चिन्तनीय वस्तु क्या है ?	ब्रह्मतत्त्व, भगवान् ।
सच्चा शिष्य कौन है ?	गुरु-आज्ञाकारी ।
महान् तीर्थ कौन-सा है ?	आत्म-शुद्धि ।
त्याग करने योग्य क्या है ?	दुर्भावनाएँ ।
क्षमा करनेका फल क्या है ?	दुःखकी निवृत्ति ।
सदैव सुनने योग्य क्या है ?	भगवद्गुणानुवाद ।
पाप क्यों होते हैं ?	कामनासे ।
शारीरिक तप कौन-सा है ?	इन्द्रियसंयम ।
ब्राह्मणोंका धर्म क्या है ?	सर्वथा संतोष ।
क्षत्रियका मुख्य धर्म क्या है ?	दीन रक्षा ।
वैश्यका मुख्य धर्म क्या है ?	परोपकार, सात्त्विक दान ।
शूद्रके कल्याणका हेतु क्या है ?	निष्कपट सेवा ।
सदैव दुःखी कौन है ?	लोभग्रस्त ।
सर्वथा पूज्य कौन है ?	समदर्शी ।
भक्ति क्षीण कैसे होती है ?	भोगेच्छासे ।
साधन मार्ग कैसे घटता है ?	अहंकारसे ।
सदैव क्या करना चाहिये ?	धर्मका पालन ।
संसार दृढ़ कैसे होता है ?	[illegible] ।

प्रश्न	उत्तर	प्रश्न	उत्तर
भारी पातक क्या है !	स्त्रीमें कुदृष्टि ।	ज्ञानका लक्षण क्या है !	एकता और समता ।
जीतेजी मृतक कौन है !	आलसी ।	पापोंका मूल क्या है !	स्वार्थ ।
मोह कैसे नष्ट हो !	भोगोंमें दोषदृष्टि होनेपर ।	स्वार्थका हेतु क्या है !	अज्ञान ।
दृढ़ फाँसी क्या है !	विषयोंसे सुखकी आशा ।	सत्यका लक्षण क्या है !	जो एकरस रहे ।
प्रभु किसके अधीन हैं !	प्रेमियोंके ।	कर्मोंका प्रेरक कौन !	अपने संस्कार ।
सुखद आहार कौन-सा है !	अल्प और सादा ।	ईश्वर क्या करते हैं ?	कर्म-फल-दान ।
उत्तम प्रकृति कैसे हो !	शान्त वृत्तिसे ।	धर्म सफल कैसे हो ?	सद्भावोंसे ।
संगति किसकी बुरी है !	दुराचारीकी ।	उत्तम गति कैसे प्राप्त हो !	सत्संगसे ।
बड़ाईका मारण क्या है !	याचना ।	वाणी पवित्र कैसे हो ?	सत्य भाषणसे ।
महत्त्वका हेतु क्या है !	अयाचकता ।	सावधान किससे रहे !	मन-इन्द्रियोंसे ।
उत्तम सहकारी कौन है !	आत्मिक बल ।	सदा भय किससे करना है !	दुर्व्यसनोंसे ।
स्वर्गका साम्राज्य क्या है !	तृष्णाका अभाव ।	परमपदका साधन क्या है !	सदा अभ्यास ।
समाधिका फल क्या है !	शान्ति प्राप्ति ।	हानिकारक कौन है !	व्यर्थ आडम्बर ।
भारी कष्टोंका हेतु क्या है !	मनके दुर्वेग ।	दुःखोंका कारण कौन है !	अधिक व्यय ।
भगवान् कैसे रीझते हैं !	सच्ची प्रार्थनासे ।	श्रद्धा कैसे बढ़ती है !	निष्कामतासे ।
धर्मका साधन क्या है ?	सरल निष्कपट व्यवहार ।	तप क्षीण किससे होता है !	क्रोध या दम्भसे ।
साधक क्या त्याग करें !	कुतर्क दृष्टि ।	पराक्रम कैसे बढ़ता है !	ब्रह्मचर्यसे ।
प्रेमका स्वरूप क्या है !	प्रेमास्पदका हो रहना ।	देह दुखी क्यों रहती है !	मिथ्याहार-विहारसे ।
क्षणभंगुर क्या है !	संसारके भोग ।	बुद्धि निर्मल कैसे हो !	स्वाध्यायसे ।
प्रबल शत्रु कौन है !	न जीता हुआ मन ।	आरोग्यता कैसे रहती है !	सदाचारसे ।
मन कैसे वशमें हो !	अभ्यास, वैराग्यसे ।	भक्तिका परिणाम क्या है !	भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति ।

स्वामी श्रीब्रह्मर्षिदासजी महाराज

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

(१) भारतवर्ष भगवान्‌की अवतार-भूमि है। श्रीभगवान्‌ने यहाँ विविध रूपोंमें चौबीस अवतार धारण किये हैं। साथ ही यह तपोभूमि भी है। यहाँके पुण्यक्षेत्र श्रीनैमिषारण्यमें ८८ हजार सिद्ध महात्माओंने तपश्चर्या की है। ऐसी पुण्यस्थलीमें वे ही लोग नित्य निवास कर सकते हैं और सुखसे जीवनयापन कर सकते हैं जो श्रीभगवद्भक्त और तपोनिष्ठ हों। फिर चाहे वे सद्गृहस्थ हों या संतजन। इस पूज्य पद्धतिके विरुद्ध जो किञ्चित् भी अनधिकार चेष्टा करेगा वह अक्षम्य अपराधी माना जायगा। आज कहीं भी रावण, हिरण्यकशिपु, वेन और कंसका अस्तित्व नहीं दिखलायी पड़ता; किंतु विभीषण, प्रह्लाद और ध्रुवके चारु चरित्रोंसे आज भी चतुर्दिक्—दिग्दिगन्त आलोकित हो रहा है। यह भारतीय सिद्धान्त सदासे महामान्य रहा है और अन्ततक रहेगा। आज चाहे जड़वादकी जड़तामें इसे न महत्त्व दें; किंतु इसमें हमारी ही क्षति है, हमारा ही पतन है और हमारा ही सर्वनाश है।

(२) भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। जो धर्मकी खिल्ली उड़ाते हुए धर्मप्राण पुरुषोंका उपहास कर रहे हैं वे सावधान हो जायँ और भगवान् श्रीमनुकी इस अमर वाणीको न भूलें—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

और धर्मप्रिय बन्धुओंसे तो मैं यही कहूँगा कि वे सदा-सर्वदा और सर्वथा 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो

कोई खतरा नहीं है ! जो योगिजन प्राणोंका नियमन करते हैं, उनका भी प्राण सुषुम्णा नाड़ीमें सूक्ष्म गतिसे संचालित होता रहता है। क्या उनका आत्यन्तिक ध्वंस मृत्युस्वरूप न होगा ? रात्रिमें सूर्य-चन्द्रके अभावमें हम दीपक, टार्च, बिजलीकी रोशनी जलाते हैं तो क्या उससे सार्वभौम प्रकाश प्राप्त हो सकता है ? क्या एकके यहाँका प्रकाश दूसरेके अन्धकारस्थलको खटकता नहीं है ? ठीक इसी तरह आज हम भारतीय वैदिक धर्मको ठुकराकर दूसरोंके नाना वाद-विवादोंको, मतमतान्तरोंको महत्त्व प्रदान करते जा रहे हैं, क्या यह हास्यास्पद और घृणास्पद नहीं है ? क्या आज धर्म और ईश्वरके अभावने उन अनार्योंको स्पर्धाका विषय नहीं बना रक्खा है जो रात-दिन धर्म और ईश्वरको ढोंग कहकर चिल्लाया करते हैं ? क्या उनका अन्तःकरण पूर्ण प्रशान्त है ? क्या उनका जीवन सम्यक् सुख-शान्तिमय है ? यदि नहीं तो क्यों ? इसीलिये कि उनका कोई आधार-आधेय नहीं है। हमारा भारतवर्ष श्रीभगवदाश्रित रहकर और धर्माचरण करके सदा-सर्वदा सुरक्षित रहा है और अन्ततक रहेगा। हाँ, जिन लोगोंने धर्म और ईश्वरको ढोंग बतलाया, उनका कहीं भी अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। वास्तवमें धर्म ही हमारा जीवन-सर्वस्व है, पैतृक सम्पत्ति है, जन्मसिद्ध अधिकार है। ईश्वर ही एकमात्र हमारे आधार हैं। उनके बिना हमारा जीवन मृतप्राय है। भगवान्के बिना ये समस्त भोग रोगमय हैं। ईश्वर तथा धर्मको मानकर ही हम फल-फूल सकते हैं—उन्हें मिटाकर नहीं। 'नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रम्'। धर्मके पथमें चलते हुए हमें जो कुछ धर्म-संकटका सामना करना पड़ेगा, उसके लिये हमें तैयार रहना चाहिये और सदा कमर कसकर रहकर स्वागतसे उसका प्रतीकार करना चाहिये। सोनेको जब तपाया जाता है तभी वह खोटसे रहित बनकर कुन्दन हो जाता है। हीरेको जब खराद-पर चढ़ाते हैं तब उसकी प्रतिभा निखरकर वह महान् मूल्यवान् हो जाया करता है। इससे उसकी कुछ हानि थोड़े ही होती है, बल्कि उसके ऐश्वर्य-सौन्दर्यका मूल्य अधिक हो जाता है। इसी तरह धर्मके पथमें भी समझना चाहिये। परम पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीमहेशस्वामीजी महाराजने कहा है—

> [illegible] ॥
> [illegible] ॥

इसे हमें कदापि भी नहीं भूलना चाहिये।

(७) धर्मक्षेत्रोंमें रहते हुए भी धार्मिक जीवनयापन करना चाहिये। यही धर्मशास्त्रकी विशेष आज्ञा है। इसका मतलब यह नहीं है कि अन्यत्र अधर्म ही करना चाहिये। लिखा है—

> अन्यक्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति ।
> पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥

दूसरी जगह किया हुआ पाप पुण्यक्षेत्रमें नष्ट हो जाता है पर पुण्यक्षेत्रमें किया हुआ पाप तो वज्रलेप हो जाता है। इसे हमें कदापि नहीं भुलाना चाहिये।

किसी बड़भागीका पुण्यक्षेत्रमें निवास करना ही सौभाग्य-सूचक है। फिर जिसकी वह जन्मभूमि हो उसका तो कहना ही क्या है ? जिसके विषयमें कहा गया है—

> अहो मधुपुरी धन्या स्वर्गादपि गरीयसी ।
> विना कृष्णप्रसादेन क्षणमेकं न तिष्ठति ॥

उस मधुर पुण्यभूमिमें जो बड़भागी आये हुए हों वे चाहे शरणार्थी हों या तीर्थयात्री हों अथवा नित्य निवासी हों, उन्हें यहाँ ही सावधानीसे श्रीभगवद्धामका सेवन करना चाहिये। मनसा, वाचा, कर्मणा व्रजरजके महत्त्वको समझना चाहिये। 'मथुरा तीन लोकते न्यारी' और 'गोकुल गाँव को पैंड़ो ही न्यारो है' इन लोकोक्तियोंका उदात्त अर्थ अनुभव करना चाहिये। किंचित् भी मर्यादाके विरुद्ध, शास्त्रके विरुद्ध, धर्मके विरुद्ध अनाचार चेष्टा नहीं करनी चाहिये। अन्यथा वह अनन्त गुना कटुफलदायक सिद्ध होगी। यहाँ सदासे ही वैष्णवताका बोलबाला रहा है, विधर्मीपनका नहीं। अतएव हमें विशुद्ध वैष्णवधर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। दानवताकी दुर्दमनीय लीलाका दुर्दम्य पर्दा कदापि भी नहीं उपस्थित करना चाहिये। यह भगवान्की मधुभूमि है, जहाँ भगवान्की भक्ति-[illegible] मधुर [illegible] रही है। उसमें अपने आपको अवगाहन कराके सदाके लिये तन मनसे शुद्ध हो जाना चाहिये और अपने पूर्वोक्त [illegible] सर्वथा करके पावन बन जाना चाहिये—कृतार्थ हो जाना चाहिये और एक ही साथ भगवान्के [illegible] और नित्य लीलाका नित्य दर्शन करना चाहिये और उन्हींका बनकर उनके श्रीचरणोंमें लिप्त हो जाना चाहिये।

भयावहः' इस श्रीभगवद्वाणीकी बार-बार आवृत्ति करते हुए धर्मकी बलिवेदीपर अपनेको उत्सर्ग कर दें। यही उनका धर्म है और ईश्वरीय आदेशका पालन है। श्रुति-श्रुण-मे मक्तिका भी यही महामन्त्र है।

(३) आज सर्वत्र मतगणनाका बाहुल्य है, जन-समुदायका आधिक्य है तथा अन्धानुकरण-कर्ताओंका वैशिष्ट्य है; किंतु क्या अनन्त तारागणोंके होते हुए भी अमावस्याके घोर अन्धकारका आत्यन्तिक ध्वंस हो जाता है? नहीं-नहीं, कदापि भी नहीं- त्रिकालमें भी नहीं। अन्धकारका अन्त तो वास्तवमें एकमात्र सोमके द्वारा ही होता है। ठीक इसी प्रकार शास्त्रपद्धतिसे पराङ्मुख अनन्त लोगोंका भी प्राधान्य हो जाय तो क्या उससे शाश्वती शान्ति और स्थायी आनन्दका आविर्भाव हो जायगा? नहीं, कदापि नहीं। एक धर्मात्मा पुरुषके द्वारा, एक तपोनिष्ठ महात्माके द्वारा, एक भगवद्भक्त व्यक्तिके द्वारा विश्वका कल्याण और जगत्का उद्धार हो सकता है। एक प्रह्लाद और एक विभीषणके द्वारा दैत्यकुलका मुख उज्ज्वल हो गया और वे भुवनभूषण बन गये। आज यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रत्येक *संस्था* और सम्प्रदाय *जन-संख्याकी वृद्धिके साधनमें संलग्न हैं।* और धर्म निष्ठ पुरुष अँगुलियोंपर गिनने योग्य भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। तो क्या इससे उनका महत्त्व कम हो जायगा! अनन्त नदियोंके बीचमें अकेली श्रीगङ्गाजीकी महिमा क्या न्यूनतम है! किसी मनुष्यके खजानेमें करोड़ों रुपये हों पर वे हों खोटे, तो उनसे क्या हो सकता है? उन्हींकी जगह एक खरा रुपया हो तो उससे अनेक कार्य हो सकते हैं। बल्कि खोटे रुपये रखनेके जुर्ममें उसे गिरफ्तार किया जा सकता है। अधर्म करनेवाला अपवादभाजन बनता है और धर्माचरण करनेवाला प्रशंसाका पात्र होता है। अनेकानेक *शृगाल जंगलमें* हौआ-हौआ करते हैं, इससे क्या वनराजका कुछ बिगड़ जाता है! किंतु अकेले उठकर मैदानमें सिंहनाद करनेवाले केशरीका यह प्रबल प्रताप होता है कि सारा वन्य-प्रदेश प्रकम्पित हो जाता है और सारा अरण्यमण्डल आतङ्कित हो उठता है तथा वहाँके सभी जीव स्तम्भित और मृतप्राय हो जाते हैं।

(४) वैदिक धर्मकी विजय-वैजयन्ती फहराते हुए भाष्यकार भगवान् जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजने अकेले होते हुए भी बौद्धधर्मके बाहुल्यका विध्वंस कर दिया और दसों दिशाओंमें अपने वैदिक सिद्धान्तकी दुन्दुभि बजा दी। क्या उन बौद्धोंके सम्मुख उनका महत्त्व कुछ कम था! उनका आदर्श न्यून था? इसी तरह एक भी कर्तव्यनिष्ठ महापुरुष अनेकानेक अकर्मण्य प्राणियोंको उपहासास्पद बना सकता है और उसका लोहा माननेके लिये सभीको बाध्य होना पड़ता है। अगणित आलसियोंका आधिक्य होनेसे एक कर्तव्यनिष्ठ पुरुषका पराभव नहीं होता। बल्कि उसकी प्रतिभा और भी प्राञ्जल हो जाती है।

(५) वर्णव्यवस्था वैदिक धर्मका बीज है। वर्णव्यवस्था-को माने बिना वैदिक धर्मकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। *वर्णव्यवस्था ही हिंदूधर्मकी चहारदीवारी है।* वृक्ष, लता, पत्ता और पशु-पक्षियोंतकमें वर्णव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है; फिर भला इस वैदिक और प्रकृतिसिद्ध वर्णव्यवस्था-को कौन मिटा सकता है? हाँ, जो मिटानेपर तुले हुए हैं, सम्भव है वे स्वयं मिट जायँ। कर्मणा वर्णव्यवस्थाको मानना क्या है मानो बहुरूपियाका स्वाँग धारण करना है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं श्रीगीताजीमें कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

क्या कोई इस भगवदुक्तिको मिटानेमें समर्थ है! भगवान्ने स्वयं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६। २४)

—कहकर अर्जुनके लिये शास्त्र-व्यवस्थाका विधान किया है और जो उसे नहीं मानता है उसके लिये भी कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे बर्तता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है और न परमगतिको तथा न सुखको ही प्राप्त होता है। वर्णव्यवस्थाको मिटाना या कर्मणा वर्णव्यवस्थाका मनमाना प्रचार करना सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है और इसका परिणाम भी उन्हें भोगना ही होगा।

(६) आज धर्मके परिवर्तन करनेकी आवश्यकता समझी जा रही है, किंतु क्या यह सम्भव है? इस शरीरका धर्म प्राण है जो इसकी सतत संजीवनी है। क्या इसके निष्कासनमें

कोई खतरा नहीं है ? जो योगिजन प्राणोंका नियमन करते हैं, उनका भी प्राण सुषुम्णा नाड़ीमें सूक्ष्म गतिसे संचालित होता रहता है। क्या उनका आत्यन्तिक ध्वंस मृत्युस्वरूप न होगा ? रात्रिमें सूर्य चन्द्रके अभावमें हम दीपक, टार्च, बिजलीकी रोशनी जलाते हैं तो क्या उनसे सार्वभौम प्रकाश प्राप्त हो सकता है ? क्या एकके यहाँका प्रकाश दूसरेके अन्धकारसत्त्वको खटकता नहीं है ? ठीक इसी तरह आज हम भारतीय वैदिक धर्मको ठुकराकर दूसरोंके नाना वाद-विवादोंको, मतमतान्तरोंको महत्त्व प्रदान करते जा रहे हैं, क्या यह हास्यास्पद और घृणास्पद नहीं है ? क्या आज धर्म और ईश्वरके अभावने उन अनार्योंको स्पर्धाका विषय नहीं बना रक्खा है जो रात-दिन धर्म और ईश्वरको ढोंग कहकर चिल्लाया करते हैं ? क्या उनका अन्तःकरण पूर्ण प्रशान्त है ? क्या उनका जीवन सम्यक् सुख-शान्तिमय है ? यदि नहीं तो क्यों ? इसीलिये कि उनका कोई आधार-आधेय नहीं है। हमारा भारतवर्ष श्रीभगवदाश्रित रहकर और धर्माचरण करके सदा-सर्वदा सुरक्षित रहा है और अन्ततक रहेगा। हाँ, जिन लोगोंने धर्म और ईश्वरको ढोंग बतलाया, उनका कहीं भी अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। वास्तवमें धर्म ही हमारा जीवन-सर्वस्व है, पैतृक सम्पत्ति है, जन्मसिद्ध अधिकार है। ईश्वर ही एकमात्र हमारे आधार हैं। उनके बिना हमारा जीवन मृतप्राय है। भगवान्‌के बिना ये समस्त भोग रोगमय हैं। ईश्वर तथा धर्मको मानकर ही हम फल-फूल सकते हैं—उन्हें मिटाकर नहीं। 'नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रम्'। धर्मके पथमें चलते हुए हमें जो कुछ धर्म-संकटका सामना करना पड़ेगा, उसके लिये हमें तैयार रहना चाहिये और सदा बद्धपरिकर रहकर प्राणपणसे उसका प्रतीकार करना चाहिये। सोनेको जब तपाया जाता है तभी वह खोटेसे खरा बनकर कुन्दन हो जाता है। हीरेको जब खराद-पर चढ़ाते हैं तब उसकी प्रतिभा निखरकर वह महान् मूल्यमय हो जाया करता है। इससे उसकी कुछ क्षति थोड़े ही होती है, बल्कि उसके ऐश्वर्य-सौन्दर्यका मूल्य अधिक हो जाता है। इसी तरह धर्मके पथमें भी समझना चाहिये। परम पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामीजी महाराजने कहा है—

> सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धर्म हित कोटि कलेसा॥
> रंतिदेव बलि भूप सुजाना। सहे धर्म हित संकट नाना॥

इसे हमें कदापि भी नहीं भूलना चाहिये।

(७) धर्मक्षेत्रोंमें रहते हुए भी धार्मिक जीवनयापन करना चाहिये। यही धर्मशास्त्रकी विशेष आज्ञा है। इसका मतलब यह नहीं है कि अन्यत्र अधर्म ही करना चाहिये। लिखा है—

> अन्यक्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति।
> पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

दूसरी जगह किया हुआ पाप पुण्यक्षेत्रमें नष्ट हो जाता है पर पुण्यक्षेत्रमें किया हुआ पाप तो वज्रलेप हो जाता है। इसे हमें कदापि नहीं भुलाना चाहिये।

किसी बड़भागीका पुण्यक्षेत्रमें निवास करना ही सौभाग्य-सूचक है। फिर जिसकी वह जन्मभूमि हो उसका तो कहना ही क्या है ? जिसके विषयमें कहा गया है—

> अहो मधुपुरी धन्या स्वर्गादपि गरीयसी।
> विना कृष्णप्रसादेन क्षणमेकं न तिष्ठति॥

उस प्रचुर पुण्यभूमिमें जो बड़भागी आये हुए हों वे चाहे शरणार्थी हों या तीर्थयात्री हों अथवा नित्य निवासी हों, उन्हें बड़ी ही सावधानीसे श्रीभगवद्धामका सेवन करना चाहिये। मनसा, वाचा, कर्मणा व्रजरजके महत्त्वको समझना चाहिये। 'मथुरा तीन लोकते न्यारी' और 'गोकुल गाँव को पैंड़ो ही न्यारो है' इस लोकोक्तिका उदात्त अर्थ अनुभव करना चाहिये। किंचित् भी मर्यादाके विरुद्ध, शास्त्रके विरुद्ध, धर्मके विरुद्ध अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिये। अन्यथा वह अनन्त गुना कटुफलदायक सिद्ध होगी। यहाँ सदासे ही वैष्णवताका बोलबाला रहा है, विधर्मीपनका नहीं। अतएव हमें विशुद्ध वैष्णवधर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। दानवताकी दुर्दमनीय लीलाका दुर्दृश्य यहाँ कदापि भी नहीं उपस्थित करना चाहिये। यह भगवान्‌की जन्मभूमि है, जहाँ भगवान्‌की भक्ति-भागीरथी सर्वत्र लहरा रही है। उसमें अपने आपको अवगाहन कराके सदाके लिये पाप-तापसे मुक्त हो जाना चाहिये और अपने पूर्वार्जित पापोंका पूर्णतः प्रायश्चित्त करके पावन बन जाना चाहिये—कृतार्थ हो जाना चाहिये और एक ही साथ भगवान्‌के नाम-रूप-लीला-धामका रसास्वादन और नित्य लीलाका दिव्य दर्शन करना चाहिये और उन्हींका बनकर उनके श्रीव्रजरजमें मिल जाना चाहिये।

स्वामी श्रीआत्मानन्दजी महाराज

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

जिस प्रकार पहला ग्रास खाते हैं, तब उस पहले ग्राससे ही तृप्ति शुरू होने लगती है और अन्तिम ग्रासमें अन्तिम तृप्ति होती है, लेकिन तृप्ति शुरूसे ही होने लगती है, इसी प्रकार जिस दिन हमारा जन्म होता है, काल भी हमें उसी दिनसे ही खाने लगता है। हाँ, अन्तिम श्वास उसका अन्तिम ग्रास होता है। श्रेष्ठ पुरुष इसीलिये नहीं रोते। वे जानते हैं कि पहलेसे ही खाये जाते रहे हैं अब क्या रोना है?

जिस प्रकार जिसे भूख-प्यास लगी हो, वही जब अन्न-जल खाये-पीयेगा तभी उसकी भूख-प्यास दूर होगी, किसी दूसरेके खाने-पीनेसे दूर नहीं होगी, इसी प्रकार अपने करनेसे ही सब कुछ होगा, दूसरेसे नहीं।

जब तुम अपने मनसे बुराई उठा दोगे तो तुम आप-ही-आप रह जाओगे। बुराई दूसरेमें तो है ही नहीं, अपनेमें ही है। 'समीप होनेसे' अपनेमें तो मनुष्य बुराई देख नहीं सकता, उसे दूसरेमें प्रतीत होती है। जिस प्रकार अपनी ही आँखोंमें काजल होनेपर भी अपनेको नहीं दीखता है, इसी प्रकार अपनेमें बुराई होनेपर भी नहीं दीखती है। यदि अपने मुखपर खराबी है तो दर्पणमें भी वही खराबी दीखेगी। सो यदि तुम दर्पणमें अपने मुखको अच्छा देखना चाहते हो तो अपने मुखको पहले साफ करो। फिर दर्पणमें भी आप ही शुद्ध दीखने लगेगा।

प्रश्न—महाराजजी! मन एकाग्र नहीं होता?

उत्तर—तुमने कौन-सा उपाय मनको रोकनेका किया कि जिससे मन एकाग्र नहीं होता?

भक्त—महाराजजी! जैसे संध्या-वन्दन करने बैठे कि मन चला?

उत्तर—जैसे जंगली पशुको एकदम बाँधनेसे वह नहीं रुकता। हाँ, उसे एक घंटे बाँध दिया और फिर छोड़ा। फिर अगले दिन दो घंटे बाँध दिया फिर छोड़ दिया। ऐसे ही उसे आदत डालेंगे तो वह फिर हिल जायगा। इसी प्रकार मनको आज एक मिनिट, अगले दिन दो मिनिट रोका जाय तो धीरे-धीरे आदत पड़ जायगी। गीतामें भी 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण' कहा है। चञ्चल मनको वशमें करना एकदम कठिन है; परंतु धीरे-धीरे अभ्यास करनेसे यह वशमें हो जाता है।

प्रश्न—कौन-सी अवस्थामें गृहस्थको छोड़ देना चाहिये?

उत्तर—बिना वैराग्यके तीसरी अवस्था बीतनेपर चौथी अवस्थामें गृहस्थका त्याग करे। बाकी जिस दिन भी वैराग्य हो जाय, उसी दिन गृहस्थका त्याग कर संन्यास ले ले। पर वैराग्य होना चाहिये सच्चा। बिना वैराग्यके संन्यासी होना उचित नहीं है।

जितने सीधे हैं, भोले हैं और छल-कपटसे रहित हैं उतने ही वे सिद्ध पाये जाते हैं। और जितने चतुर हैं उनमें यह बात नहीं पायी जाती।

आत्माको खींचनेवाले जो पदार्थ हैं, उन पदार्थोंमें तो ग्लानि हो और इधर अभ्यास हो, तभी काम चलता है।

जिस प्रकार हाथसे दीपकको छोड़कर कोई अँधेरेको अँधेरेसे दूर करना चाहे तो यह असम्भव है, इसी प्रकार बिना अभ्यास और वैराग्यके मनका निग्रह करना भी असम्भव है।

अँधेरेसे अँधेरा दूर नहीं होता, इसी प्रकार विषयोंके तन्तुओंसे यह मनरूपी हाथी बाँधा नहीं जा सकता। यह तो प्रबल अभ्याससे ही वशमें होता है।

बुरे कर्मसे बचना चाहिये। बुरे कर्मका फल यहाँपर भी भोगना होता है और धर्मराजके यहाँ भी। ईश्वर यहाँ इसलिये भुगवाते हैं कि जिससे दूसरे लोगोंको भी शिक्षा मिले और कोई बुरे कर्म न करे।

एक उदरसे पैदा हुए भाइयोंमें परस्पर मेल बड़े ही पुण्योंसे होता है। यह कलिकालकी महिमा है कि आज भाई-भाईमें भी प्रेम नहीं है।

प्रश्न—आत्माका स्वरूप क्या है?

उत्तर—सत्-चित्-आनन्द—यही आत्माका स्वरूप है।

काशीके सिद्ध संत श्रीहरिहरबाबाजी महाराज

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

प्रश्न—बाबा! हमारा क्लेश कैसे मिटेगा?

उत्तर—राम-राम जपो। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम नाम बिनु सुनहु खगेसा। मिटहिं न जीवन केर कलेसा॥

श्रीराम-नाम जपनेसे सब क्लेश मिट जायँगे।

प्रश्न—श्रीमहाराजजी! हमें क्या करना चाहिये?

उत्तर—सुबह-शाम श्रीभगवान्‌का नाम खूब जपो और श्रीमद्भागवतका श्रवण करो। जितने भी भगवद्भक्त या भागवत हुए हैं इसमें प्रायः सभीकी कथा है, इसीसे इसका नाम 'भागवत' है।

प्रश्न—बाबा! श्रीभगवान्‌के नाममें प्रेम कैसे हो?

उत्तर—निरन्तर सत्सङ्ग करो। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

भक्ति स्वतंत्र सकल गुनखानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

बिना सत्सङ्गके भक्तिलाभ नहीं होता और भक्तिसे ही सब लाभ होता है।

प्रश्न—महाराजजी! कुछ लोग कहते हैं कि श्रीभगवान्‌के दर्शनसे विशेष लाभ नहीं होता?

उत्तर—भगवान्‌के दर्शन हो गये तो फिर बाकी ही क्या रह गया? इससे बढ़कर और लाभ क्या होगा? भक्ति करो, दृढ़ भाव रक्खो, श्रीभगवान्‌का नाम जपो— यही सार है।

प्रश्न—बाबा! हमें क्या करना चाहिये?

उत्तर—शिव-शिव जपो, ॐ नमः शिवाय जपो।

प्रश्न—बाबा! शिव शिव मालापर जपें या [illegible]?

उत्तर—मालापर ही जपो या कैसे भी जपो। पर जपो।

प्रश्न—क्या सामने मूर्ति रखनेकी भी जरूरत है?

उत्तर—हाँ, मूर्ति भी सामने रक्खो।

प्रश्न—बाबा! और कुछ भी करें?

उत्तर—पहले स्नान करो, फिर मूर्तिको स्नान कराओ और फिर उस मूर्तिका चन्दनादिके द्वारा पूजन करके तब फिर भगवान्‌का नाम जपो। जपो भगवान्‌का नाम निष्काम। श्रीरामनामके बराबर कुछ भी नहीं है। जो भी श्रीरामनाम जपता है उसके सब काम पूरे हो जाते हैं और उसे मोक्षकी भी प्राप्ति हो जाती है।

जब श्रीसूर्यनारायण निकलें तो उन्हें दण्डवत् करो और जब स्नान करो, तब श्रीसूर्यनारायणको जल दो। श्रीसूर्यनारायण भगवान्‌को प्रणाम करके ही श्रीराम-श्रीराम जपना चाहिये।

प्रश्न—महाराजजी! हमें भक्ति करनी चाहिये या शास्त्रविचारक ग्रन्थ देखने चाहिये?

उत्तर—भक्तिसे ज्ञान होता है और ज्ञानका अर्थ है—भगवान्‌का दर्शन हो जाना।

प्रश्न—बाबा! आजकल कुछ लोग कहते हैं कि वर्णाश्रमधर्म कुछ नहीं है, [illegible] कुछ नहीं है इसे नहीं मानना चाहिये?

उत्तर—कौन है जो मर्यादाको तोड़ेगा? जब भगवान्‌ने मर्यादा बनायी है तो उसे कौन तोड़ सकता है? चारों वेद, छः शास्त्र, पुराण सभी वर्णविभाग मानते हैं।

स्वामी श्रीमग्नानन्दजी

[[illegible]]

(प्रेषक—[illegible])

[illegible] सिव [illegible] नहिं कोई।
[illegible] सब [illegible] आनंद [illegible] न होई।
[illegible] कछु [illegible] बिलग है [illegible]
[illegible] सब [illegible]।
[illegible]

[illegible] नहीं है [illegible]।
[illegible] नहीं [illegible]
[illegible]।
[illegible] नहीं [illegible]
[illegible]।

वेद कुरान शिष्य नहिं मुरशिद अलख अरूप अजाया ॥
नाम रूप क्रिया रज्जु सर्प जिमि अद्‌भुत खेल दिखाया ।
मग्नानन्द स्वरूप अखण्डित गुरु दृष्टि दरशाया ॥

चेतन में चित दृष्टि प्रभासत दृष्टि में सृष्टि अनन्त भई है ।
दृष्टि के नासत सृष्टि विनासत दृष्टि प्रकासत सृष्टि भई है ॥
दृष्टि का साक्षी सदा निर्लेप अरूप अजक्रिय मोदमई है ।
रघुवीर सो ज्ञान अखंडित रूपमनन्दित पूरण ब्रह्म सोई है॥

निशिदिन अमृत बरसत सारे ।
मधुर मधुर ध्वनि बादर गरजत
कोटिन चन्द्र सहस उजियारे ॥
सुरति कटोरी भरि भरि पीवे
पियत पियत छकि अगर जिया रे ॥
मग्नानन्द स्वरूप अखण्डित
पिया हेरत भये आप पिया रे ॥

श्रीउड़िया स्वामीजी महाराज

साधकके लिये

साधकके लिये विषयी पुरुषोंका सङ्ग और विषयमें प्रेम— ये पतनके कारण हैं ।

ईश्वरमें प्रेम होनेसे विषय-प्रेम दूर हो जाता है ।

साधकको शरीर स्वस्थ और खान-पानका संयम रखना चाहिये ।

भजन गुप्तरूपसे करना चाहिये । अपनेको भजनानन्दी प्रकट न करना चाहिये ।

भजनसे कभी तृप्त न होना चाहिये ।

भगवान्‌से सांसारिक विषयकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये।

खोटे पुरुषोंका सङ्ग त्यागकर सदा ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ।

पापकर्म, छल, कपट, मान, धन और स्त्रीका अनुराग, पर-निन्दा और परचर्चाका प्रेम, गर्व, अभिमान, धूर्तता तथा पाखण्ड आदि दोषयुक्त मनुष्योंका सङ्ग—सदा त्याग करना चाहिये ।

परदोषदर्शन भगवत्प्राप्तिमें महान् विघ्न है ।

साधकको साम्प्रदायिक झगड़ोंमें नहीं पड़ना चाहिये ।

निरन्तर जप, पाठ, पूजन और ध्यानमें समय बिताना चाहिये ।

एकान्त स्थानमें रहनेका अभ्यास करना चाहिये । निद्रा या आलस्य सतावे तो ऊँचे स्वरसे सद्‌ग्रन्थ-पाठ अथवा ; करना चाहिये ।

[illegible] छोड़कर किये हुए सभी शुभ कर्म भजनमें [illegible] ।

प्रकारके दुःखोंको शान्तिपूर्वक सहना चाहिये ।

क्रोधीके प्रति क्षमा और वैरीके प्रति प्रेम करना चाहिये तथा बुरा करनेवालेके साथ भी भलाई करनी चाहिये ।

अपनेको सबसे छोटा समझना, अभिमान न करना, किसीका दोष न देखना, किसीसे घृणा न करना, कम बोलना, अनावश्यक न बोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना, यथासाध्य सबकी सेवा करना, दीनोंपर दया करना, विवाह-उत्सव आदि जनसमूहमें कम शामिल होना, पापोंसे सावधान रहना और ईश्वरपर पूर्ण विश्वास रखना—ये साधकके आवश्यक गुण हैं ।

सुवर्ण और स्त्री इन दोनोंसे बचकर रहो । ये भगवान् और जीवके बीचमें खाई बनाते हैं, जिससे यमराज मुँहमें धूल डालता है ।

अविनाशी भगवान् और जीवके बीचमें तीन धाराएँ (नदियाँ) हैं—(१) कुल, (२) काञ्चन और (३) कामिनी । जो इन तीनोंको पार कर लेता है (इनमें आसक्त नहीं होता), वह भगवान्‌के पास पहुँच जाता है ।

तीन बातें सदा याद रखनी चाहिये (१) दीनता, (२) आत्मचिन्तन और (३) सद्‌गुरुसेवा ।

भजनके विघ्न ये हैं—

(१) लोकमें मान-प्रतिष्ठा होना ।
(२) देश-देशान्तरमें ख्याति होना ।
(३) धन-लाभ होना ।
(४) स्त्रीमें आसक्ति होना ।
(५) संकल्पसिद्धि अर्थात् जिस पदार्थकी मनमें इच्छा हो वही प्राप्त हो जाना ।

भगवत्प्राप्तिके लिये ये उपाय करने चाहिये—

(१) सहनशीलताका अभ्यास ।

(२) समयको व्यर्थ न गँवाना ।

(३) पदार्थ पास होनेपर भी भोगनेकी इच्छा न करना।

(४) निरन्तर इष्टदेवका चिन्तन करना ।

(५) सद्गुरुकी शरण ग्रहण करना ।

श्रीभगवान् चार मनुष्योंपर अधिक प्रेम करते हैं और चारपर अधिक क्रोध करते हैं ।

किन चारपर अधिक प्रेम करते हैं ?

(१) दान करनेवालेपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो कंगाल होते हुए भी दान करता है, उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं ।

(२) शूरवीरपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो शूरवीर विचारवान् होता है उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(३) दीनपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो धनी होकर भी दीन हो जाता है उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं।

(४) भक्तपर प्रेम करते हैं, लेकिन जो बचपन या जवानीसे ही भक्ति करता है, उसपर ज्यादा प्रेम करते हैं ।

किन चारपर अधिक क्रोध करते हैं ?

(१) लोभीपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो धनी होकर लोभ करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं ।

(२) पाप करनेवालेपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो बुढ़ापेमें पाप करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं ।

(३) अहंकारीपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो भक्त होकर अहंकार करता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं ।

(४) क्रियाभ्रष्टपर क्रोध करते हैं, लेकिन जो विद्वान् होकर क्रियाभ्रष्ट होता है, उसपर ज्यादा क्रोध करते हैं ।

विश्वास करो, मङ्गलमय श्रीहरि तुम्हारे साथ निरन्तर खेल कर रहे हैं । दुखी क्यों होते हो ? दुखी होना अपनेको अविश्वासकी अवस्थामें फेंकना है । सारी परिस्थितिके रचयिता ईश्वर हैं । जिस प्रभुने तुम्हें पैदा किया है, जिस प्रभुने तुम्हारी जीवन-रक्षाके हेतु नाना वस्तुओंकी सृष्टि की है, जिस प्रभुने सूर्य और चाँद-जैसी मनोहर दिव्य वस्तुएँ दी हैं; वही प्रभु तुम्हें इष्टियोग भी प्रदान करेगा ।

किंतु आवश्यकता है—सर्वतोभावेन अपनेको उसके ऊपर छोड़ देनेकी—निछावर कर देनेकी । अपनी सारी अहंता और ममताको उसीके चरणोंमें रख दो । अहंता और ममता ही बन्धन हैं । बन्धनमें क्यों पड़े हो ? इस महा-दुःखदायी बन्धनको अपना महाशत्रु समझ उतारकर फेंक दो ।

भगवत्प्राप्तिके चार उपाय हैं—(१) भगवद्दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा, (२) निरन्तर नामजप, (३) विषयोंमें अरुचि, (४) सहनशीलता ।

मैं चार बातें सबको बतलाता हूँ—१—सहनशक्ति, २—निरभिमानता, ३—निरन्तर नामस्मरण और ४—'भगवान् अवश्य मिलेंगे' इस बातपर पूर्ण विश्वास । जहाँ इसमें संदेह हुआ कि सब गया । इन चार बातोंमें जब तुम पास हो जाओगे तब समझ लो कि सब कुछ हो गया ।

जिस कार्यसे भगवच्चिन्तनमें कमी हो उसको कभी न करे । एक वक्त या दो वक्त भूखे रहनेसे यदि भजन बढ़ता हो तो वही करना चाहिये । जहाँतक हो खर्च कम करे, आवश्यकताओंको न बढ़ावे । विरक्तको तो माँगना ही नहीं चाहिये । साधु दाल-रोटी माँगकर खा ले या गृहस्थके घरमें जो मिले वही खाना चाहिये ।

उपयोगी साधन

प्र०—चित्तशुद्धिका साधन क्या है और यह कब समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हो गया ?

उ०—चित्तशुद्धिके लिये दो बातोंकी आवश्यकता है—विवेक और ध्यान । केवल आत्मा-अनात्माका विवेक होनेपर भी यदि ध्यानके द्वारा उसकी पुष्टि नहीं की जायगी तो वह स्थिर नहीं रह सकता । इसके सिवा इस बातकी भी बहुत आवश्यकता है कि हम दूसरोंके दोष न देखकर निरन्तर अपने चित्तकी परीक्षा करते रहें ।

जिस समय चित्तमें राग-द्वेषका अभाव हो जाय और चित्त किसी भी दृश्य पदार्थमें आसक्त न हो, उस समय समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हुआ; परंतु राग-द्वेषसे मुक्त होनेके लिये परमात्मा और महापुरुषोंके प्रति राग होना तो परम आवश्यक है ।

प्र०—राग-द्वेष किन्हें कहते हैं ?

उ०—जिस समय मनुष्य नीतिको भूल जाय, उसे सदाचारके नियमोंका कोई ध्यान न रहे, तब समझना चाहिये कि वह राग-द्वेषके अधीन हुआ है । राग-द्वेषका मूल अहंकार

जो चित्त दृश्य-जगत्में आसक्त है, वह परमतत्त्वका चिन्तन नहीं कर सकता। जिस अवस्थामें पहुँचनेके लिये तुम तड़प रहे हो, उसके समीप पहुँचनेके पूर्व तुम्हें बहुत-से कार्मोको समाप्त करना होगा, अपनी सारी बुराइयोंको दूर करके सात्त्विक संसारमें उतरना होगा।

क्रोध पापका प्रधान कारण है। पापियोंका चिह्न क्रोध है। जिसमें क्रोध है, चाहे वह कोई भी हो, उसे पापी समझना चाहिये। राग-द्वेष मिश्रित क्रोध मनुष्यको उत्थान-प्रगतिकी ओर जानेसे रोकता है। विशेषतया गुरुजनों और श्रेष्ठजनोंके प्रति क्रोध करना ही नहीं चाहिये।

जिस किसीने रागद्वेषमय जीवन बिताया है, वही उन्नति-की सुनहली पगडंडीपर चलनेसे वञ्चित रहा है। आवश्यकता है उद्दण्ड मनपर शासन करनेकी।

गीताका एक श्लोक मुझे बहुत ही पसंद है। यह सबके लिये उपयोगी है। सभी सम्प्रदायके लोग इससे लाभ उठा सकते हैं।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(८।८)

जिसने अभ्यासमय जीवन बिताया है, उसीने परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति की है।

भेरिया (भृगुक्षेत्र) के बंगालीबाबा सुनाया करते थे। एक बार ऋषिकेशकी झाड़ीमें साधु-महात्माओंका सत्सङ्ग हो रहा था। सभी अपने-अपने अनुभव प्रकट कर रहे थे। इतनेमें झाड़ीमेंसे एक बूढ़ा साधु निकला। लोगोंके बहुत आग्रह करनेपर वृद्ध साधुने कहा—'साधन दो तरहके हैं—(१) अन्तरंग और (२) बहिरंग। दोनों ही आवश्यक हैं। (१) निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। किसी क्षण भी चित्तमें 'तत्त्वचिन्तन' से इतर विचार न होने चाहिये। (२) प्रतिग्रह (दूसरेसे लेना), परिग्रह (सञ्चय करना), उपग्रह (बार-बार खाना), परचर्चा (निन्दा-स्तुति करना)—इन चारोंसे बच जाय तो भजनका फल प्राप्त हो।

अविवेकीके लिये शास्त्र भारस्वरूप प्रतीत होता है, रागी-को ज्ञान भार है, अशान्त लोगोंको मन भार है। अनात्म-दर्शीको शरीर भार है। इसी आशयका एक श्लोक है—

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः॥

शुद्धि छः तरहकी होती है—मनकी शुद्धि, वाणीकी शुद्धि, अन्न शुद्धि, हस्त-शुद्धि, कच्छ-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि।

मनकी शुद्धि—मनको विषय-भोगके पदार्थोंसे पृथक् करके सत्य चिन्तन करनेसे होती है।

वाणीकी शुद्धि—सत्य, मधुर, सरल भाषण तथा श्रीहरिका गुणगान करनेसे होती है।

अन्न-शुद्धि—साधुके लिये भिक्षान्न पानेसे शुद्धि होती है; किंतु गृहस्थियोंको शुद्ध आजीविका ही अपेक्षित है।

हस्त-शुद्धि—प्रतिग्रह न लेनेसे तथा हाथोंद्वारा शुभ कर्म करनेसे होती है।

कच्छ-शुद्धि—वीर्यकी रक्षा करनेसे, पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन बितानेसे होती है।

क्रियाशुद्धि—शुद्ध, निष्कपट व्यवहार करनेसे होती है। प्रत्येक कार्यमें शुद्धता होनी चाहिये।

प्रेम या भयके बिना वैराग्य नहीं होता। भय इस बातसे होना चाहिये कि ये सब वस्तुएँ भगवान्की हैं, इन्हें मुझे अपने काममें नहीं लाना चाहिये—इन्हें अपनी समझकर भोगना पाप है। इस प्रकार जब भगवान्की तरफ मन लग जायगा तब विषयोंमें और विषयी लोगोंमें तुम्हारा मन नहीं लगेगा। भगवान्में प्रेम न होनेसे ही अन्य पदार्थोंमें मन जाता है। जबतक बड़प्पनका अभिमान रहेगा तबतक प्रेम या वैराग्य नहीं हो सकता। क्रोध न करनेकी प्रतिज्ञा करनेसे क्रोधका त्याग हो सकेगा। यदि किसी दिन क्रोध आ जाय तो उस दिन उपवास करो।

× × × ×

राग-द्वेष किस प्रकार दूर किया जाय? पहले शुभ कर्म-का आचरण और अशुभका त्याग करे। त्यागद्वारा अन्तः-करण शुद्ध हो जानेसे साधक ईश्वरोपासनाका अधिकारी होता है। फिर उपासना करनी चाहिये। उपासना परिपक्व हो जानेपर भगवान्का मिलन होता है। भगवान्के मिलनेसे राग-द्वेष जाता रहता है और ईश्वर, जीव तथा जगत्का पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

प्रेम सत्त्वगुण, काम रजोगुण और प्रमाद या मोह तमो-गुण है। सत्त्वगुण हुए बिना ज्ञान नहीं होता। अतः प्रेम परमार्थ है और काम स्वार्थ है। जहाँ स्वार्थ है वहाँ काम है। जिस समय स्वार्थ नहीं रहता, उसी समय प्रेम होता है।

जीवका स्वभाव प्रेम करना है। ज्ञानीका प्रेम वैराग्यमें होता है, कामीका प्रेम संसारमें होता है और भक्तका प्रेम भगवान्‌में होता है। ज्ञानी शिवरूप है, वह कामका शत्रु है; भक्त विष्णुरूप है, काम उसके अधीन है तथा मन ब्रह्मारूप है, संसार उसकी संतान है।

ज्ञान अज्ञानका नाश करता है, व्यवहारका नाश नहीं करता। दैवी सम्पत्ति ज्ञानको पुष्ट करती है और आसुरी उसका आच्छादन करती है। इसलिये शुभ कर्मको छोड़ना नहीं चाहिये। चित्तका स्वभाव ही चिन्तन करना है। शुभ कर्म छोड़ देनेसे चित्त विषय-चिन्तन करेगा। कर्म बुद्धिका विषय है, साक्षीका नहीं। अतः विचारवान् पुरुष कर्म करता हुआ उसका साक्षी बना रहे।

जो परमात्माके दर्शन करना चाहे, सदा सुख भोगना चाहे तथा भव-बन्धनसे छूटना चाहे उसे कामिनी और काञ्चनमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। जो इनमें मन लगाये रहते हैं उन्हें सिद्धि नहीं मिलती। भगवान् उनसे सदा दूर रहते हैं।

जिसका रूप और शब्दमें थोड़ा-सा भी अनुराग है वह सगुणोपासनाका ही अधिकारी है। निर्गुणोपासनाका अधिकारी वही है जिसका रूप या शब्दमें बिल्कुल प्रेम न हो।

बंगलामें एक कहावत है 'येमनि मन तेमनि भगवान' अर्थात् जैसा मन होता है वैसा ही भगवान् होता है। भगवान्‌का स्वरूप भक्तकी भावनाके अनुकूल ही है।

जिस भावसे सत्त्वगुण, ज्ञान और भक्तिकी वृद्धि हो तथा मन शान्त हो ऐसा भाव करना ही मुख्य कर्तव्य है।

भगवत्स्मरण और भगवद्भक्तोंका सङ्ग करना ही भक्तोंका मुख्य कर्तव्य है।

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, विक्षेप और संशय—ये सब साधनके विघ्न हैं।

श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, उत्साह, धैर्य, मिताहार, आचार, शरीर, वस्त्र और गृह आदिकी पवित्रता, सहिष्णुता, इन्द्रिय-संयम और सदाचारका सेवन तथा कुचिन्ता और कुसङ्गका सर्वथा परित्याग—ये सब सत्त्वगुणको बढ़ानेवाले हैं।

भगवच्चिन्तनमें समय व्यतीत करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। भक्तके लिये भगवान्‌की सम्पत्तिका आश्रय आवश्यक है।

अनावश्यक भाषणका परित्याग करना चाहिये।

सर्वदा नियम-निष्ठामें तत्पर रहना चाहिये, मन प्रसन्न रखनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये तथा भगवान्‌को सर्वव्यापक समझकर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, शत्रुता और कुत्सितभावका त्याग करना चाहिये।

अनावश्यक कर्मका परित्याग करना चाहिये; तथा 'भगवान् सर्वदा मेरे समीप हैं' ऐसा निश्चय रखना चाहिये। सरलता भक्तिमार्गका सोपान है तथा संदेह और कपट अवनतिका चिह्न है।

शारीरिक स्वास्थ्य, संयम एवं भगवत्-सेवा ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है।

संसारकी चमकीली वस्तुओंको देखकर अपनेको न भूल जाना चाहिये।

विश्वास करो, फल अवश्य मिलेगा।

रोते रोते आये हो, ऐसा काम करो कि हँसते-हँसते जाओ।

न्याय-मर्यादाका उल्लङ्घन न करना चाहिये।

हे भगवन्! आप मुझे जिस प्रकार रक्खेंगे मुझे उसी प्रकार रहना स्वीकार है। आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि मैं आपको न भूलूँ।

शरीरके लिये आहार है, आहारके लिये शरीर नहीं।

भक्त सच्छास्त्र, सत्सङ्ग, सदालोचना, सद्विचार और सत्कर्मकी सहायतासे भगवान्‌के प्रेममयत्व, मङ्गलमयत्व, सर्वमयत्व, ज्ञानमयत्व और सर्वकर्तृत्वका अनुभव करनेके योग्य होता है।

यदि मनुष्यको प्रेमी, निःस्वार्थी, उदार प्रकृति, निरभिमान, श्रोत्रिय और भगवन्निष्ठ गुरु प्राप्त हो तो उनके ही चरणकमलोंमें आत्मविसर्जन करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।

भगवत्-विषयका प्रश्नकर्ता, उत्तरदाता एवं श्रोता तीनों ही पवित्र होते हैं।

हे जगन्मङ्गल! हे परमपिता! मेरी वाणी आपके गुणकीर्तनमें, कर्ण महिमा-श्रवणमें, हाथ युगल चरण-सेवामें, चित्त चरण-चिन्तनमें, मस्तक प्रणाममें और दृष्टि आपके स्वरूप साधुओंके दर्शनमें नियुक्त रहे।

भगवान्‌का नित्य स्मरण ही ज्ञान, भक्ति और वैराग्यका उपाय है।

भक्त मोक्षकी आशा नहीं करता, कामना-रहित भगवत्प्रेम ही उसका एकमात्र प्रयोजन है।

जैसे निरन्तर विषय-चिन्तन करनेसे विषयमें आसक्ति होती है वैसे ही भगवच्चिन्तन करनेसे भगवान्‌में अनुराग होता है।

भगवान् मेरे समीप हैं और सदा रक्षा करते हैं ऐसा निश्चय करना चाहिये।

मौन, चेष्टाहीनता और प्राणायामसे शरीर, मन और वाणी वशीभूत होते हैं।

गार्हस्थ्यसम्बन्धी कार्य यथासमय नियमानुकूल सम्पादन करनेसे भजनमें सहायता मिलती है।

जबतक क्रोध, द्वेष, कपट, स्वार्थपरता, अभिमान और लोकनिन्दाका भय हमारे हृदयमें विद्यमान रहेगा तबतक कठोर तप करनेपर भी भक्ति-लाभ करना दुष्कर है।

ब्रह्मचर्यमय जीवन परम पुरुषार्थमय जीवन है।

सद्भाषण, सद्विचार, सद्भावना और न्यायनिष्ठाका परित्याग कर बाह्य आडम्बरसे धर्मात्मा नहीं बन सकता।

जो भक्त ब्रह्मचर्य धारणकर शेष रात्रिमें ध्यान-भजनका अभ्यास करता है, उसको प्रातःकाल स्नान करनेकी आवश्यकता नहीं है।

रसास्वादके लोभसे भोजन करनेसे तमोगुण बढ़ता है। रसनेन्द्रिय वशीभूत न होनेसे अन्य इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं।

संध्या-समय भोजन न करना चाहिये। भोजनके समय भाषण न करना चाहिये। भोजनसे पहले हाथ-पैर धोना चाहिये और पवित्र वस्त्र धारणकर पवित्र स्थानमें उत्तर अथवा पूर्व मुख होकर भोजन करना चाहिये। तामस भोजन सर्वदा वर्जनीय है। दूसरोंके अवगुणोंका देखना ही अवनतिका कारण है। प्रत्येक व्यक्तिसे गुण ग्रहण करना ही उन्नतिका कारण है।

अपकारीके प्रति क्षमा तथा सम्पत्-विपत्, मान-अपमान और सुख-दुःखमें समचित्त रहना ही भक्तका लक्षण है।

राग-द्वेष, अल्प ज्ञान और अभिमान जीवके बन्धन हैं। कुचिन्ता, कुदृष्टि और कुसङ्ग अवनति है तथा सच्चिन्ता, सद्दृष्टि और सत्सङ्ग उन्नतिका उपाय है।

विश्राम ही फल लाभका उपाय है।

देवता, वेद, गुरु, मन्त्र, तीर्थ, ओषधि और महात्मा—ये सब श्रद्धासे फल देते हैं, तर्कसे नहीं।

अनेक विघ्न होनेपर भी जो धीर पुरुष कर्तव्यसे चलायमान नहीं होता वही भगवान्‌का कृपापात्र है।

दया, तितिक्षा, संयम, वैराग्य, अमानित्व, अदम्भित्व, मिताहार, सत्यपरायणता, सदाचार, असूयारहित उत्साह, अध्यवसाय और अव्यभिचारिणी भक्ति—ये सब उन्नतिके लिये आवश्यक हैं।

अधिक भाषण करना मिथ्यावादीका चिह्न है।

हास्य-परिहास करना, तमाशा देखना, छलसे बात करना और अन्यायसे दूसरोंका धन हरण करना अभक्तोंका लक्षण है।

दूसरोंकी समालोचना न करना वैराग्यका लक्षण है।

अधिक जप करनेसे शरीरके परमाणु मन्त्राकार हो जाते हैं।

विद्वान् होकर शान्त रहना अर्थात् वाद-विवाद न करना श्रेष्ठ पुरुषोंका लक्षण है।

श्रद्धापूर्वक विधिवत् तीर्थभ्रमण करनेसे चित्त शुद्धि होती है। तीर्थोंमें कुभावनाके उदय होनेसे पाप समूह होता है।

'मैं दुर्बल हूँ', 'मैं असमर्थ हूँ'—यह मनकी दुर्बलताका लक्षण है। धैर्य एवं उत्साहसे कार्यमें तत्पर होना सबल मनका लक्षण है।

मनका शान्त रहना ही आरोग्य शरीरका लक्षण है।

प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या-समय और घोर रात्रिमें ध्यान करनेसे विशेष एकाग्रता होती है। मन्त्र ध्यान स्थूल है, चिन्तामय ध्यान सूक्ष्म है और चिन्तारहित ध्यान परम सूक्ष्म है।

विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म और छद्मधर्म भी अधर्मके नाते त्यागने योग्य हैं।

आलस्य, अनुसंधानका त्याग, संसारी मनुष्योंसे भय एवं वासना भगवत्प्राप्तिके विघ्न हैं।

भक्तकी भगवान्, भजन और गुरुवाक्य इनको छोड़कर और किसीमें श्रद्धा नहीं होती।

काम-क्रोधादि मनकी तरङ्गें हैं; मन शान्त होनेसे ज्ञान, विराग, वैराग्य और आनन्द प्राप्त होते हैं।

जीवका स्वभाव प्रेम करना है। ज्ञानीका प्रेम वैराग्यमें होता है, कामीका प्रेम संसारमें होता है और भक्तका प्रेम भगवान्‌में होता है। ज्ञानी शिवरूप है, वह कामका शत्रु है; भक्त विष्णुरूप है, काम उसके अधीन है तथा मन ब्रह्मा-रूप है, संसार उसकी संतान है।

ज्ञान अज्ञानका नाश करता है, व्यवहारका नाश नहीं करता। दैवी सम्पत्ति ज्ञानको पुष्ट करती है और आसुरी उसका आच्छादन करती है। इसलिये शुभ कर्मको छोड़ना नहीं चाहिये। चित्तका स्वभाव ही चिन्तन करना है। शुभ कर्म छोड़ देनेसे चित्त विषय-चिन्तन करेगा। कर्म बुद्धिका विषय है, साक्षीका नहीं। अतः विचारवान् पुरुष कर्म करता हुआ उसका साक्षी बना रहे।

जो परमात्माके दर्शन करना चाहे, सदा सुख भोगना चाहे तथा भव-बन्धनसे छूटना चाहे उसे कामिनी और काञ्चनमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। जो इनमें मन लगाये रहते हैं उन्हें सिद्धि नहीं मिलती। भगवान् उनसे सदा दूर रहते हैं।

जिसका रूप और शब्दमें थोड़ा-सा भी अनुराग है वह सगुणोपासनाका ही अधिकारी है। निर्गुणोपासनाका अधिकारी वही है जिसका रूप या शब्दमें बिल्कुल प्रेम न हो।

बंगलामें एक कहावत है 'येमनि मन तेमनि भगवान' अर्थात् जैसा मन होता है वैसा ही भगवान् होता है। भगवान का स्वरूप भक्तकी भावनाके अनुकूल ही है।

जिस भाषणसे सत्त्वगुण, ज्ञान और भक्तिकी वृ तथा मन शान्त हो ऐसा भाषण करना ही मुख्य क

भगवत्स्मरण और भगवद्भक्तोंका सङ्ग करना मुख्य कर्तव्य है।

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, विक्षेप और साधनके विघ्न हैं।

श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, उत्साह, धैर्य, शरीर, वस्त्र और घर आदिकी पवित्रता, संयम और सदाचरणका सेवन तथा ... सर्वथा परित्याग—ये सब ...

भगवच्चिन्तनमें कर्तव्य है। ... करना महान

अनावश्यक भाषणका परित्या

सर्वदा नियम-निष्ठामें तत्पर रखनेके लिये प्रयत्न करना चाहि समझकर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, ... करना चाहिये।

अनावश्यक कर्मका

'भगवान् सर्वदा मेरे सम

सरलता भक्तिमार्गका अवनतिका चिह्न है।

शारीरिक स्वास्थ्य का मुख्य साधन

संसारकी जाना चाहिये

विश्व

रोते

जाओ।

इनमें स्वप्नदर्शन अधम, प्रत्यक्ष दर्शन मध्यम और तल्लीनता उत्तम है। तल्लीनताके पश्चात् साधक जगत्को रामरूप देखता है। जबतक ऐसा शुभ दिन प्राप्त न हो, तबतक कष्ट सहन करके श्रद्धा और धैर्यके साथ भजन-ध्यान करना चाहिये। कितने ही साधक संसारी कर्म त्यागकर दिन-रात जप करते रहते हैं; परंतु किसी प्रकारका कष्ट उपस्थित होनेपर वे उसे सहन करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। इसका कारण केवल ध्यानका अभाव है। इसलिये जपके साथ ध्यान, मानसपूजा और ईश्वरप्रार्थना भी करनी चाहिये।

प्रतिदिन नियत समयमें इष्टदेवको हृदयसिंहासनपर विराजमान कर मानसिक द्रव्यद्वारा पूजा करनी चाहिये। पूजाके उपरान्त जप आरम्भ करना चाहिये। नाम-जपसे सम्पूर्ण पापोंका क्षय एवं सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। अन्य चिन्ताएँ त्यागकर यथासाध्य नाम-जप करना ही मङ्गल है। साधकके लिये नाम-जप, सद्ग्रन्थ पाठ, पवित्रता और नियम-निष्ठा भक्ति-पथमें सहायक हैं।

सम्पूर्ण नदियोंका जल गङ्गाजीमें मिलकर गङ्गारूप हो जाता है। भगवान्को निवेदन करनेसे सम्पूर्ण पदार्थ पवित्र हो जाते हैं। भक्तिमार्ग ज्ञानमार्गकी अपेक्षा सरल और सुमधुर है; किंतु श्रद्धाहीन तर्कवादीको दुर्लभ है।

भक्तके लिये 'संसार नित्य है या अनित्य' यह विचार करना आवश्यक नहीं है। उसे तो जो कुछ दिखलायी देता है वह लीलामय पुरुषोत्तमका लीलास्थान है।

भक्तके लिये नाम-स्मरण तथा ध्येय मूर्तिको प्रेमके साथ देखना ही मुख्य साधन है। देखनेका अभ्यास जितना अधिक होगा, चित्तकी चञ्चलता उतनी ही कम होगी।

वाणीके मौनसे कोई मुनि नहीं होता। मनकी चञ्चलताके अभावसे मुनि होते हैं।

भजनमें चार विघ्न हैं—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद। लय—ध्यानके आरम्भमें निद्रा-तन्द्रासे ध्येयको भूल जाना ही लय है। विक्षेप—ध्यानके समय अगली-पिछली बातें याद करना विक्षेप है। कषाय—ध्यानके समय राग-द्वेषका सूक्ष्म संस्कार चित्तमें रहनेसे शून्य हो जाना कषाय है। रसास्वाद—स्वल्प आनन्दमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेना रसास्वाद है।

सत्कर्म और सच्चिन्तासे अपना और संसारका लाभ है तथा असत्कर्म और असच्चिन्तासे अपनी और संसारकी हानि है।

भक्त निरन्तर अभ्यासके बलसे रागद्वेषरहित होकर विधि-निषेधरूपी भवसागरको पार कर जाता है।

साधकको स्त्री, धन और नास्तिकसम्बन्धी चरित्रोंकी समालोचना नहीं करनी चाहिये।

भक्तिपरायण पुरुषोंको स्त्रियोंसे जितना भय होता है, भक्तिपरायणा स्त्रियोंके लिये भी पुरुष उतना ही भयदायक है।

संत श्रीरामानन्दजी एम्० ए०

[जन्म—ई० सन् १९१७ के लगभग।]

(प्रेषक—श्रीकपूरीलालजी अग्निहोत्री, एम्० ए०)

साधकोंके लिये

यह जानते हुए कि विश्वके प्राणियोंके स्वरूपमें प्रभु ही विकासकी विभिन्न दशाओंको व्यक्त कर रहे हैं, यदि हम व्यक्तियोंके विभिन्न व्यवहारोंमें उनके विकासकी माँगके अनुसार, उनकी सेवा करें, तो हम सभी प्रभुका दर्शन कर सकेंगे और सभी कुछ प्रभु ही दीखेगा।

अपने शब्दोंकी और व्यवहारकी दूसरोंमें होनेवाली प्रतिक्रियाके प्रति सावधान रहते हुए, असफलताओं और दूसरोंके अशोभनीय शब्दों और व्यवहारसे निरुत्साहित हुए बिना दूसरोंकी सेवाको सौभाग्य माननेवाला मनुष्य शीघ्र ही प्रेम-प्रसारका केन्द्र बन जाता है।

प्रत्येक नारी जगन्माता महाशक्तिका प्रतीक है।

जिस विश्वम्भरने तुम्हारे उत्थान और विकासका भार लिया है, वही दूसरोंका भी कल्याणकर्ता है। तुम्हारा यह सोचना कि तुम किसीके भाग्य-विधाता हो, अपराध है।

अपनेको बदल डालनेके लिये 'रामनाम' से अधिक प्रभावशाली और अनुभूत दवा मैं नहीं जानता हूँ। इसपर जितना कोई निर्भर करेगा, जितना अधिक जप करेगा, उतने ही शीघ्र अपनेमें उसे परिवर्तनका अनुभव होगा।

विश्वासके साथ डाल दो अपने आपको उसके श्रीचरणोंपर। प्रत्येक दशामें ईश्वरेच्छाको नम्रतासे स्वीकार करते हुए प्रसन्न रहो। यही शरणागति और समर्पण है।

ध्यान करो—मैं शक्तिमय, ज्ञानमय, आनन्दमय और मङ्गलमय हूँ! राम अनन्त शक्तिमय, अनन्त ज्ञानमय, अनन्त आनन्दमय और अनन्त मङ्गलमय हैं! मैं राममय हूँ—अमृतमय हूँ!

ध्यान अधिक होनेसे मनकी शान्ति होती है । जिस दिन ध्यान अधिक हो और जप कम हो, उस दिन कोई चिन्ता न करनी चाहिये; किंतु यदि जप अधिक हो, ध्यान कम हो तो उसके लिये चिन्तित होना चाहिये ।

जप और ध्यानमें चित्त न लगनेपर जिस पुस्तकमें तुम्हारा अधिक प्रेम हो, उसका पाठ करो । अधिक पुस्तकें देखना भी भजनका विघ्न ही है ।

वायुरहित स्थानमें निष्कम्प, स्थिर और शान्तभावसे आधा-आधा घंटा बैठनेका अभ्यास करो ।

भोग्यवस्तुके साथ अधिक प्रेम होनेसे चित्त नीचे आनेकी सम्भावना है, इस बातको अच्छी तरह याद रक्खो ।

प्रीति, संतोष, प्रसन्नता, उत्साह, धैर्य, साहस और निर्भयता भगवत्प्राप्तिके सहायक हैं ।

जिस विषयको ग्रहण करके अनेक विघ्न होनेपर भी त्यागनेकी सामर्थ्य न हो, उसीको निष्ठा समझना चाहिये । निष्ठा अनेक प्रकारकी है । जैसे—धर्मनिष्ठा, नियमनिष्ठा, समयनिष्ठा, भक्तिनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा आदि ।

शारीरिक स्वास्थ्यसे मनकी शान्ति होती है । अति भोजन और अपथ्य भोजन सर्वथा त्याज्य है । जिस वस्तुको खानेसे शरीरमें रोग उत्पन्न हो उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये । भजन, भोजन और निद्रा प्रतिदिन नियत समयमें ही होनी चाहिये । बिछौना, ओढ़ना और वासस्थान परिष्कृत रखना चाहिये, किंतु विलासिताका सर्वथा त्याग करना चाहिये । शिष्टाचारको कभी न छोड़ना चाहिये । हाँ, परनिन्दाका अवश्य त्याग करना चाहिये ।

आलस्य सबसे अधिक विघ्नकारक है । आलस्यसे शरीर और मन दोनों ही दुर्बल होते हैं ।

भगवन्नाम-स्मरण करनेके लिये सुसमय-कुसमय, शुचि-अशुचि अथवा सुस्थान-कुस्थानका विचार न करना चाहिये ।

जिस समय विघ्न उपस्थित हो, उस समय सरल भावसे भगवान्‌की प्रार्थना करनी चाहिये ।

ध्यानारम्भके समय प्रथम ध्येय-मूर्तिके चरणसे मस्तक-पर्यन्त मनको घुमाना चाहिये और पहले छः मिनिटसे अधिक ध्यान न करना चाहिये ।

इष्टदेवमें प्रेम होनेसे निद्रा नहीं आती ।

विश्वास और निर्भरता होनेसे निद्रा आदि सम्पूर्ण दोष दूर हो जायँगे ।

जो व्यक्ति कुप्रवृत्तिमें तत्पर, मनुष्यत्व-हीन, संसार-विष्ठाका कृमि, पशुधर्मी, मोहान्ध, उन्नतिकी आशासे रहित तथा प्रवृत्तिपरायण होता है, उसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती ।

जो व्यक्ति विचारपरायण, सत्यनिष्ठ, संयमशील, शान्तिकामी, दुःख-निवृत्तिमें तत्पर, पवित्रताका ही आदर्श रखनेवाला, भगवान्‌को ही लक्ष्य बनानेवाला, श्रद्धा और वीर्यको ही बन्धु बनानेवाला तथा भगवन्नामका ही आभूषण पहननेवाला होता है, वह भगवान्‌को प्रेमरज्जुसे बाँध लेता है ।

जिस प्रकार सुकरातने प्रसन्न वदनसे विष-पान कर लिया, किंतु सत्यका त्याग नहीं किया, हरिदासने काजीके अत्याचारसे हरिनाम नहीं छोड़ा, हिरण्यकशिपुके अत्याचारसे प्रह्लाद विचलित नहीं हुआ, इसी प्रकार धर्मनिष्ठ, सत्यवादी, कर्तव्य-परायण भगवद्भक्तको भगवद्विघ्नोंसे विचलित न होना चाहिये ।

साधकके लिये लोकसंग्रह अत्यन्त विघ्नकारी है तथा ब्रह्मचर्य, सरलता, निर्भरता और वैराग्य सहायक हैं । साधन परिपक्व हो जानेपर लोक-संग्रह हानिकारक नहीं होता ।

भगवान्‌की दया और निजकी चेष्टा दोनोंसे ही उन्नति होती है । वृद्धावस्थामें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा होनेपर भी भक्ति-लाभ होना कठिन है । भगवद्भक्तको प्रत्येक कार्यके आरम्भमें भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये ।

निद्रा, घृणा, द्वेष और अभिमान जीवके लिये बन्धनकी शृङ्खला हैं ।

समय व्यर्थ न बिताना चाहिये । जिस समय कोई काम न हो उस समय जप, मानसपूजा अथवा सद्ग्रन्थोंका पाठ करना चाहिये ।

मनमें कुत्सित चिन्ता उत्पन्न होनेसे उसके हटानेके लिये जप अथवा धर्मचिन्ता या वैराग्यभावना करनी चाहिये ।

प्रथम ध्यान एवं मानस-पूजाका अभ्यास बढ़ाकर मनको स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । मन अधिक ठहरनेसे भगवान्‌में अनुराग उत्पन्न होता है । पहले-पहल मन ठहरना कठिन होता है । मन न लगे तो मानसिक जप करना चाहिये । कुछ काल अभ्यास करनेके पश्चात् थोड़ा-थोड़ा आनन्द आने लगता है, फिर कुछ समयतक अभ्यास दृढ़ हो जानेसे अधिक ध्यान करनेका उत्साह उत्पन्न होता है । उसके बाद ध्यानकी मात्रा अधिक हो जानेसे चित्त भगवत्प्रेम-में डूब जाता है । यही अवस्था साधनका पूर्ण पद है । इसी अवस्थाको भगवत्साक्षात्कार समझना चाहिये ।

साक्षात्कार तीन प्रकारका होता है—(१) इष्टदेवका प्रत्यक्ष दर्शन, (२) स्वप्नदर्शन और (३) तल्लीनता ।

गृहस्थ संत
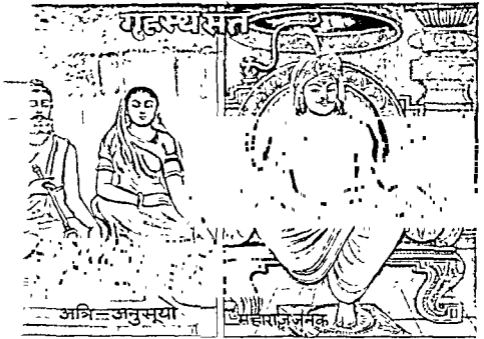
ध्यान अधिक होनेसे मनकी शान्ति होती है । जिस दिन ध्यान अधिक हो और जप कम हो, उस दिन कोई चिन्ता न करनी चाहिये; किंतु यदि जप अधिक हो, ध्यान कम हो तो उसके लिये चिन्तित होना चाहिये ।

जप और ध्यानमें चित्त न लगनेपर जिस पुस्तकमें तुम्हारा अधिक प्रेम हो, उसका पाठ करो । अधिक पुस्तकें देखना भी भजनका विघ्न ही है ।

वायुरहित स्थानमें निष्कम्प, स्थिर और शान्तभावसे आधा-आधा घंटा बैठनेका अभ्यास करो ।

भोग्यवस्तुके साथ अधिक प्रेम होनेसे चित्त नीचे जानेकी सम्भावना है, इस बातको अच्छी तरह याद रक्खो ।

प्रीति, संतोष, प्रसन्नता, उत्साह, धैर्य, साहस और निर्भयता भगवत्प्राप्तिके सहायक हैं ।

जिस विषयको ग्रहण करके अनेक विघ्न होनेपर भी त्यागनेकी सामर्थ्य न हो, उसीको निष्ठा समझना चाहिये । निष्ठा अनेक प्रकारकी है । जैसे—धर्मनिष्ठा, नियमनिष्ठा, समयनिष्ठा, भक्तिनिष्ठा और शरननिष्ठा आदि ।

शारीरिक स्वास्थ्यसे मनकी शान्ति होती है । अति भोजन और अपथ्य भोजन सर्वथा त्याज्य है । जिस वस्तुको खानेसे शरीरमें रोग उत्पन्न हो उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये । भजन, भोजन और निद्रा प्रतिदिन नियत समयमें ही होनी चाहिये । बिछौना, ओढ़ना और वासस्थान परिष्कृत रखना चाहिये, किंतु विलासिताका सर्वथा त्याग करना चाहिये । शिष्टाचारको कभी न छोड़ना चाहिये । हाँ, परनिन्दाका अवश्य त्याग करना चाहिये ।

आलस्य सबसे अधिक विघ्नकारक है । आलस्यसे शरीर और मन दोनों ही दुर्बल होते हैं ।

भगवन्नाम-स्मरण करनेके लिये सुसमय कुसमय, शुचि-अशुचि अथवा सुस्थान-कुस्थानका विचार न करना चाहिये ।

जिस समय विघ्न उपस्थित हो, उस समय सरल भावसे भगवान्‌की प्रार्थना करनी चाहिये ।

ध्यानारम्भके समय प्रथम इष्टमूर्तिके चरणसे मस्तक-पर्यन्त मनको घुमाना चाहिये और पहले छः मिनिटसे अधिक ध्यान न करना चाहिये ।

इष्टदेवमें प्रेम होनेसे निद्रा नहीं आती ।

विराग और निर्भरता होनेसे निद्रा आदि सम्पूर्ण दोष दूर हो जायँगे ।

जो व्यक्ति पुनरुक्तिमें तत्पर, सदुपदेश-हीन, संसार-विष्ठाका कृमि, पशुधर्मी, मोहान्ध, उन्नतिकी आशासे रहित तथा प्रवृत्तिपरायण होता है, उसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती ।

जो व्यक्ति विचारपरायण, सत्यनिष्ठ, संयमशील, शान्तिकामी, दुःख-निवृत्तिमें तत्पर, पवित्रताका ही आदर्श रखनेवाला, भगवान्‌को ही लक्ष्य बनानेवाला, श्रद्धा और वीर्यको ही बन्धु बनानेवाला तथा भगवन्नामका ही आभूषण पहननेवाला होता है, वह भगवान्‌को प्रेमरज्जुसे बाँध लेता है ।

जिस प्रकार सुकरातने प्रसन्न वदनसे विष-पान कर लिया, किंतु सत्यका त्याग नहीं किया, हरिदासने काजीके अत्याचारसे हरिनाम नहीं छोड़ा, हिरण्यकशिपुके अत्याचारसे प्रह्लाद विचलित नहीं हुआ, इसी प्रकार धर्मनिष्ठ, सत्यवादी, कर्तव्य-परायण भगवद्भक्तको भगवन्निष्ठासे विचलित न होना चाहिये ।

साधकके लिये लोकसंग्रह अत्यन्त विघ्नकारी है तथा ब्रह्म-चर्य, सरलता, निर्भरता और वैराग्य सहायक हैं । साधन परिपक्व हो जानेपर लोक-संग्रह हानिकारक नहीं होता ।

भगवान्‌की दया और निजकी चेष्टा दोनोंसे ही उन्नति होती है । वृद्धावस्थामें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा होनेपर भी भक्ति-लाभ होना कठिन है । भगवद्भक्तको प्रत्येक कार्यके आरम्भमें भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये ।

निद्रा, घृणा, द्वेष और अभिमान जीवके लिये बन्धनकी शृङ्खला हैं ।

समय व्यर्थ न बिताना चाहिये । जिस समय कोई काम न हो उस समय जप, मानसपूजा अथवा सद्ग्रन्थोंका पाठ करना चाहिये ।

मनमें कुत्सित चिन्ता उत्पन्न होनेसे उसके हटानेके लिये जप अथवा धर्मचिन्ता या वैराग्यभावना करनी चाहिये ।

प्रथम ध्यान एवं मानस पूजाका अभ्यास बढ़ाकर मनको स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । मन अधिक ठहरनेसे भगवान्‌में अनुराग उत्पन्न होता है । पहले पहल मन ठहरना कठिन होता है । मन न लगे तो मानसिक जप करना चाहिये । कुछ काल अभ्यास करनेके पश्चात् थोड़ा थोड़ा आनन्द आने लगता है, फिर कुछ समयतक अभ्यास हो जानेसे अधिक ध्यान करनेका उत्साह उत्पन्न होता है । उसके बाद ध्यानकी मात्रा अधिक हो जानेसे चित्त भगवत्प्रेममें डूब जाता है । यही अवस्था साधनका पूर्ण पद है । इसी अवस्थाको भगवत्साक्षात्कार समझना चाहिये ।

साक्षात्कार तीन प्रकारका होता है—(१) प्रत्यक्ष दर्शन, (२) स्वप्नदर्शन और (३) [illegible]

इनमें स्वप्नदर्शन अधम, प्रत्यक्ष दर्शन मध्यम और तल्लीनता उत्तम है । तल्लीनताके पश्चात् साधक जगत्‌को स्वप्नवत् देखता है । जबतक ऐसा शुभ दिन प्राप्त न हो, तबतक कष्ट सहन करके श्रद्धा और धैर्यके साथ भजन-साधन करना चाहिये । कितने ही साधक संसारी कर्म त्यागकर दिन-रात जप करते रहते हैं; परंतु किसी प्रकारका कष्ट उपस्थित होनेपर वे उसे सहन करनेमें असमर्थ हो जाते हैं । इसका कारण केवल ध्यानका अभाव है । इसलिये जपके साथ ध्यान, मानसपूजा और ईश्वरप्रार्थना भी करनी चाहिये ।

प्रतिदिन नियत समयमें इष्टदेवको हृदयसिंहासनपर विराजमान कर मानसिक द्रव्यद्वारा पूजा करनी चाहिये । पूजाके उपरान्त जप आरम्भ करना चाहिये । नाम-जपसे सम्पूर्ण पापोंका क्षय एवं सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं । अन्य चिन्ताएँ त्यागकर यथासाध्य नाम-जप करना ही मङ्गल है । साधकके लिये नाम-जप, सद्ग्रन्थ-पाठ, पवित्रता और नियम-निष्ठा भक्ति-पथमें सहायक हैं ।

सम्पूर्ण नदियोंका जल गङ्गाजीमें मिलकर गङ्गारूप हो जाता है । भगवान्‌को निवेदन करनेसे सम्पूर्ण पदार्थ पवित्र हो जाते हैं । भक्तिमार्ग ज्ञानमार्गकी अपेक्षा सरल और सुमधुर है; किंतु श्रद्धाहीन तर्कवादीको दुर्लभ है ।

भक्तके लिये 'संसार नित्य है या अनित्य' यह विचार करना आवश्यक नहीं है । उसे तो जो कुछ दिखलायी देता है वह लीलामय पुरुषोत्तमका लीलास्थान है ।

भक्तके लिये नाम-स्मरण तथा ध्येय मूर्तिको प्रेमके साथ देखना ही मुख्य साधन है । देखनेका अभ्यास जितना अधिक होगा, चित्तकी चञ्चलता उतनी ही कम होगी ।

वाणीके मौनसे कोई मुनि नहीं होता । मनकी चञ्चलताके अभावसे मुनि होते हैं ।

भजनमें चार विघ्न हैं—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद । लय—ध्यानके आरम्भमें निद्रा तन्द्रासे ध्येयको भूल जाना ही लय है । विक्षेप—ध्यानके समय अगली-पिछली बातें याद करना विक्षेप है । कषाय—ध्यानके समय राग-द्वेषका सूक्ष्म संस्कार चित्तमें रहनेसे शून्य हो जाना कषाय है । रसास्वाद—स्वल्प आनन्दमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेना रसास्वाद है ।

सत्कर्म और सच्चिन्तासे अपना और संसारका लाभ है तथा असत्कर्म और असच्चिन्तासे अपनी और संसारकी हानि है ।

भक्त निरन्तर अभ्यासके बलसे रागद्वेषरहित होकर विधि-निषेधरूपी भवसागरको पार कर जाता है ।

साधकको स्त्री, धन और नास्तिकसम्बन्धी चरित्रोंकी समालोचना नहीं करनी चाहिये ।

भक्तिपरायण पुरुषोंको स्त्रियोंसे जितना भय होता है, भक्तिपरायणा स्त्रियोंके लिये भी पुरुष उतना ही भयदायक है ।

संत श्रीरामानन्दजी एम्० ए०

[जन्म—ई० सन् १९१७ के लगभग ।]

(प्रेषक—श्रीकपूरीलालजी अग्निहोत्री, एम्० ए०)

साधकोंके लिये

यह जानते हुए कि विश्वके प्राणियोंके स्वरूपमें प्रभु ही विकासकी विभिन्न दशाओंको व्यक्त कर रहे हैं, यदि हम व्यक्तियोंके विभिन्न व्यवहारोंमें उनके विकासकी माँगके अनुसार, उनकी सेवा करें, तो हम सभी प्रभुका दर्शन कर सकेंगे और सभी कुछ प्रभु ही दीखेगा ।

अपने शब्दों और व्यवहारसे दूसरोंमें होनेवाली प्रतिक्रियाके प्रति सावधान रहते हुए, असफलताओं और दूसरोंके अशोभनीय शब्दों और व्यवहारसे निरुत्साहित हुए बिना दूसरोंकी सेवाको सौभाग्य माननेवाला मनुष्य शीघ्र ही प्रेम-प्रसारका केन्द्र बन जाता है ।

प्रत्येक नारी जगन्माता महाशक्तिका प्रतीक है ।

जिस विश्वम्भरने तुम्हारे उत्थान और विकासका भार लिया है, वही दूसरोंका भी कल्याणकर्ता है । तुम्हारा यह सोचना कि तुम किसीके भाग्य-विधाता हो, अपराध है ।

अपनेको बदल डालनेके लिये 'रामनाम' से अधिक प्रभावशाली और अनुभूत दवा मैं नहीं जानता हूँ । इसपर जितना कोई निर्भर करेगा, जितना अधिक जप करेगा, उतने ही शीघ्र अपनेमें उसे परिवर्तनका अनुभव होगा ।

विश्वासके साथ डाल दो अपने आपको उसके श्रीचरणोंपर । प्रत्येक दशामें ईश्वरेच्छाको नम्रतासे स्वीकार करते हुए प्रसन्न रहो । यही शरणागति और समर्पण है ।

ध्यान करो—मैं शक्तिमय, ज्ञानमय, आनन्दमय और मङ्गलमय हूँ ! राम अनन्त शक्तिमय, अनन्त ज्ञानमय, अनन्त आनन्दमय और अनन्त मङ्गलमय हैं ! मैं राममय हूँ—अमृतमय हूँ !

गृहस्थ संत

संत विरक्त ही हों, यह आवश्यक नहीं है। संतोंका न कोई वर्ण है, न आश्रम। वे सभी वर्णोंमें, सभी आश्रमोंमें, सभी देशोंमें, गृहस्थ-विरक्त सभीमें हुए हैं—हो सकते हैं। स्त्री-पुरुष सबने संत होते आये हैं।

अत्रि-अनुसूया

महर्षि अत्रि और उनकी पत्नी श्रीअनुसूयाजी—ब्रह्मा, विष्णु और शंकरजी भी जिनके पुत्र बने चन्द्रमा, दत्तात्रेय तथा दुर्वासारूपमें, जो महर्षि-मण्डलीमें सदासे पूज्य हैं—धन्य है उनका गार्हस्थ्य। जगज्जननी श्रीजानकीजी-को भी जो पातिव्रत-धर्मका उपदेश कर सकें—अनुसूयाजीको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा हो सकता है।

महाराज जनक

पूरे राज्यका संचालन करते हुए उससे सर्वथा अनासक्त, अपने शरीरका भी जिन्हें मोह नहीं—इसीसे तो वे 'विदेह' कहे जाते हैं। विरक्तशिरोमणि श्रीशुकदेवजी भी जिन्हें गुरु बनाकर ज्ञानोपदेश प्राप्त करने गये, उन परम ज्ञानीके सम्बन्धमें क्या कहा जाय। क्या हुआ जो वे क्षत्रिय थे, क्या हुआ जो वे नरेश थे। उनका तत्त्वज्ञान, उनकी अनासक्ति, उनकी भगवद्भक्ति—जगत् उससे सदा प्रकाश पाता रहेगा।

तुलाधार वैश्य

संत होनेके लिये जैसे विरक्त होना आवश्यक नहीं, वैसे ही अमुक साधन भी आवश्यक नहीं। उपनिषदोंके अध्ययन, योगके अभ्यास, सविधि यज्ञ या देवार्चन तथा माला-झोली लटकाये बिना कोई संत नहीं होगा—ऐसी कोई बात नहीं। ये उत्तम साधन हैं; किंतु ये ही साधन नहीं हैं। भगवान्‌ने गीतामें बताया—

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'

तुलाधार वैश्य थे—व्यापार उनका स्वकर्म था और उसीसे वे अर्चन करते थे घटघटविहारी प्रभुका। व्यापार उनके निजी लाभका साधन नहीं था, वह आजीविकाका साधन था—यह गौण बात है। उनके पास ग्राहकोंके नाना रूपमें जो जगन्नियन्ता आते थे, उनकी सेवाका साधन था व्यापार। ग्राहक आया—वे सोचते थे 'ये इस वेषमें प्रभु आये। इस समय इनके इच्छानुसार इनकी सेवा कैसे हो!' ग्राहकका हित, ग्राहकका लाभ—यह था उनके व्यापारका आदर्श और ईमानदारीके इस व्यापारने—इसी साधनने उन्हें संत बना दिया। ऐसे संत बन गये वे कि एक वनवासी, त्यागी, तपस्वी ब्राह्मण-को अपनी तपस्या छोड़कर उनसे धर्मोपदेश प्राप्त करने आना आवश्यक जान पड़ा।

धर्मव्याध

वे शूद्र थे—उनके द्वारपर भी उसी त्यागी तपस्वी ब्राह्मणको आना पड़ा—आना पड़ा धर्मोपदेश प्राप्त करने और उन्होंने अपना परम धर्म प्रत्यक्ष दिखला दिया—'ये मेरे धर्म हैं, ये मेरे आराध्य हैं, मैं और कोई ज्ञान और धर्म नहीं जानता।' यह कहकर उन्होंने अपने माता-पिताके दर्शन करा दिये। माता-पिताकी तत्परता, विनम्रता और श्रद्धापूर्वक सेवा—यही साधन था जिसने उन्हें विप्र-वन्द्य संत बना दिया था।

गृहस्थ संत

विरक्त संत

विरक्त-संत

महर्षि याज्ञवल्क्य

परम योगीश्वर, ज्ञानियोंके शिरोमणि महाराज जनकके भी गुरुदेव महर्षि याज्ञवल्क्य प्रारम्भमें गृहस्थ ही थे। जब वे गृहस्थ थे महाराज जनककी सभामें जो गायें सर्वश्रेष्ठ ज्ञानीके लिये थीं, उन्हें अपने शिष्यको उन्होंने हाँक देनेको कहा। शास्त्रार्थमें वे विजयी हुए, सभी ऋषियोंने उन्हें सर्वश्रेष्ठ माना, किंतु ध्यान देने योग्य तो उनकी नम्रता है। उनसे गौएँ ले जाते समय लोगोंने पूछा—'याज्ञवल्क्य ! तुम अपनेको सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी मानते हो ?' उन्होंने सरलतासे उत्तर दिया—'ज्ञानियोंको तो मैं नमस्कार करता हूँ। मुझे तो गायोंकी आवश्यकता है, इसलिये ले जा रहा हूँ।' वही महर्षि समय आनेपर विरक्त हो गये। संन्यासाश्रम स्वीकार किया उन्होंने। एक कोपीन और जलपात्रके अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं था।

भगवान् ऋषभदेव

सम्पूर्ण पृथ्वीके चक्रवर्ती सम्राट् थे भगवान् ऋषभदेव। लेकिन वे तो पृथ्वीपर आये ही थे अवधूत वेशका परम आदर्श विश्वको दिखाने। उन्होंने उपदेश किया था—'वह गुरु गुरु नहीं, वे स्वजन स्वजन नहीं, वह पिता पिता नहीं, वह माता माता नहीं, वह भाग्य भाग्य नहीं और वह स्वामी स्वामी नहीं जो आती मौतसे बचा न सके।' संसार मृत्यु-ग्रस्त है, इसमें सर्वत्र मृत्युकी ही दुर्दमनीय छाया है। यह प्रत्यक्ष दिखलानेके लिये चक्रवर्ती सिंहासनका उन्होंने त्याग कर दिया। त्यागकी पराकाष्ठा—भोजन और जलतकका त्याग, मुखमें एक पत्थरका टुकड़ा रख लिया उन्होंने और मौन होकर उन्मत्तके समान वनोंमें विचरते रहे। वनमें दावाग्नि लगी—उनकी वह पवित्र देह आहुति बन गयी; किंतु जो शरीर नहीं, जिसकी शरीरमें तनिक भी आसक्ति नहीं, उसे अग्निका क्या भय। अग्नि हो या काल हो, वह उनकी वन्दना ही तो कर सकता था।

श्रीशुकदेवजी

महाराज परीक्षित् जब राज्य त्याग करके मृत्युकी प्रतीक्षामें निर्जल व्रत लेकर भगवती भागीरथीके किनारे आ बैठे, सभी ऋषि-मुनि उन परम भागवतके समीप आये। उनमें भगवान् परशुराम और भगवान् व्यास थे, समस्त देवता-असुरोंके पिता महर्षि कश्यप थे, परम तेजस्वी महर्षि भृगु थे, सभी देवर्षि-महर्षि थे; किंतु षोडशवर्षीय नवजलधरसुन्दर दिगम्बर अवधूत व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीके आनेपर सब उठ खड़े हुए। सबने उच्चासनपर महाराजने उन्हें बैठाकर उनकी पूजा की। यह ज्ञान, वैराग्य, त्याग और भक्तिका अपार प्रभाव और ऐसे ऋषियोंके भी उन परम वन्दनीयने सुनाया क्या—श्रीमद्भागवत। 'श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीचरणोंमें अनुराग ही समस्त साधनोंका परम फल है।' यही उनका अमृतोपदेश है।

श्रीशङ्कराचार्य

उच्छिन्नप्राय वैदिक धर्मकी स्थापना की किसने ! किसने कन्याकुमारीसे हिमालयतक सनातन-धर्मका विजयघोष कराया ! जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यके अतिरिक्त इसमें भला दूसरा कौन समर्थ था। वे विरक्तशिरोमणि, उन्होंने तो स्पष्ट घोषित किया—'समस्त दृश्य प्रपञ्च मिथ्या है। अज्ञानी ही मोहवश इसे सत्य मानकर इसमें आसक्त रहता है। सत्य तो केवल एक चेतन सत्ता है। निर्विकार, नित्य, निर्गुण, अनवच्छिन्न, ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसत्ता। उसकी अनुभूति ही ज्ञान है और उस ज्ञानसे ही जीव अपने जीवत्वसे मुक्त होता है।'

संत श्रीराजचन्द्र

[जन्म-स्थान ववाणिया (सौराष्ट्र), जन्म-सं० १९२४ वि०, देहावसान सं० १९५७।]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

बहु पुण्य केरा पुंज थी
शुभ देह मानव नो मल्यो।
तो ये अरे भव चक्र नो
आँटो नहीं एके टल्यो॥
सुख प्राप्त करताँ सुख टले
छे लेश ये लक्षे लहो।
क्षण क्षण भयंकर भाव मरणे
कां अहो राची रहो॥

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां
शुं वध्युं ते तो कहो।
शुं कुटुंब के परिवार थी
वधवापणुं एनेय ग्रहो॥
वधवापणुं संसार नुं नर
देह ने हारी जवो।
एनो विचार नहीं अहो हो
एक पल तमने हवो॥

बाबा किनारामजी अघोरी

(जन्म बनारस जिलेके चन्दौली तहसीलमें रामगढ़ गाँव। पिताका नाम श्रीअकबरसिंह। दीक्षागुरु श्रीकालूराम अघोरी। सिद्ध संत एवं अघोरमतके प्रचारक।)

संतो भाई मैं भूल्यो कि जग बौरानो, यह कैसे करि कहिये।
याही बड़ो अचंभो लागत, समुझि समुझि उर रहिये॥
कथै ग्यान अग्यान जाय ग्रत, उर में कपट समानी।
प्रगट छाँड़ि करि दूर बतावत, सो कैसे पहचानी॥
हाड़ चाम अरु मांस रक्त मल, मज्जा को अभिमानी।
ताहि खाय पंडित कहलावत, यह कैसे हम मानी॥
पढ़े पुराण कोरान वेद मत, जीव दया नहिं जानी।
जीवनि भिन्न भाव करि मारत, पूजत भूत भवानी॥
यह अदृष्ट सूझै नहिं तनिको, मन में रहै रिसानी।
अंधहि अंधा डगर बतावत, बहिरहि बहिरा बानी।
'राम किना' सतगुरु सेवा बिनु, भूलि मरयो अग्यानी॥

× × ×

शब्द का रूप साँचो जगत पुकार है,
शब्द का भेद कोई संत जाने।
शब्द अज अमर अद्वितीय व्यापक पुरुष,
संत गुरु शब्द मुखिसार आने॥
शब्द में शब्द है, शब्द में शब्द है,
आप अनुभौ करो, एक माने।
'राम किना' अगम यह राह बाँकी निपट,
निकट को छाँड़ि कै प्रीति ठाने॥

साँचि कहिय साँचो सुनिय, साँचो करिय विचार।
साँच समान न और कछु, साँचो सत्य सम्हार॥
पाँच तत्व गुन तीनि है, रच्यो सकल ब्रह्मांड।
पिंड माहँ सो देखिये, भुवन सहित नव खंड॥
सो सब प्रभु महँ रमि रह्यो, जड़ चेतन निज ठौर।
तातें राम सँभारि गहु, सब नामन को मौर॥
नहीं दूरि नहिं निकट अति, नहीं कहूँ अस्थान।
बेदी पै दृढ़ गहि करै, जपै सो अजपा जान॥
आपु विचारै आपु में, आपु आपु महँ होय।
आपु निरंतर रमि रहै, पद पर पावै सोय॥
यथा योग्य व्यवहार को, जानि रहै निर्द्वंद्व।
अभय अभक्ष अभेद है, जाने अजरा देह॥
अनुभव सोई जानिये, जो नित रहै विचार।
राम किना सत शब्द गहि, उतर जाव भौ पार॥
छोड़ चमारी चूहड़ी, सब नीचन ते नीच।
तूँ तो पूरन ब्रह्म था, चाहै न होते कीच॥

१. अद्भुत, परमेश्वर, परमात्म। २. इच्छा, कामना।

श्रीकोलेश्वर बाबा

[स्थान—सारन जिला, बिहार]

(प्रेषक—श्री[illegible]नाथ सहायजी, बी० ए०, बी० एल्०)

(१) प्राणिमात्रसे प्रेम करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति सहजमें हो सकती है। प्रेमका दर्जा बहुत बड़ा है। इसीसे मनुष्य ईश्वरको प्राप्त कर सकता है। पर प्रेम सच्चा होना चाहिये 'रामहि केवल प्रेम पिआरा'।

(२) संत तो संत ही हैं, जीवमात्रकी सेवा करना ही उनका जीवन है।

(३) हृदयसे बुरी वासनाओंको निकाल रखना। जितना ही हृदय शुद्ध, कोमल, पवित्र, सात्त्विक और साफ रहेगा, उतने ही जल्दी भगवान् उसमें आयेंगे।

'जेकर घर महल, तेकर घर गहल।
जेकर घर साफ, तेकर घर आप॥'

(४) 'झुटमुट मेंहे सचमुच होय। सचमुच मेंहे बिरले कोय॥
जो कोई मेंहे मन चित लाय। हेंते हेंते होइय जाय॥'

(५) जब बूझे तब सूझे, जब ना बूझे तब जूझे।

(६) कहता तो बहुता मिला, गहता मिला न कोय।
सो कहता बहि जान दे, जो नहीं गहता होय॥
सुमिरन की सुधि यों करो, जैसे कामी काम।
एक पलक बिसरे नहीं, निसिदिन आठों याम॥
पुन्यवान नर होइ जे, तिन कर यह पहचान।
ईश्वर डर जके सदा, पुन्यवान सोइ जान॥
मन लिपटे [illegible] को, जो जन मोजी होय।
जो यह [illegible] हृदय बसे, दुःख रहे नहिं कोय॥

(७) भगवान्‌के इन वचनोंको याद रखो—
जो 'मैं' होत मेरा, तो जगत कहाँ तेरा।
जो 'मैं' नहीं मेरा, तो जग मरे बहुतेरा॥

महात्मा श्रीमंगतरामजी

(प्रेषक—[illegible])

निर्वैरी निष्कामता, सतगुरुसों से हेत।
दुर्लभ पाइय संतजन, 'मगत' कहत हैं [illegible]॥

धर्मोपदेशकोंके लक्षण

(१) जबतक अपना अन्तःकरण बिलकुल शुद्ध न हो, अर्थात् वासनारूपी विकारसे निर्मल न हो चुका हो, तबतक उसे किसीको उपदेश करनेका कोई हक नहीं है।

(२) जो व्यक्तिगत स्वार्थके लिये अर्थात् अपने गुजरानके लिये अथवा मानके लिये उपदेश करता है वह उपदेशक दुराचारी है, देश और धर्मको बिगाड़नेवाला है।

(३) जिसके अंदर सत्य, आत्मनिवेदन करनेकी शक्ति, निष्कामता और उदासीनता नहीं है, वह बोलने-वाला विद्वान् भी मूर्ख है।

(४) उपदेशकके लिये [illegible] और [illegible] —दोनों आवश्यक हैं। [illegible] ही समाजको सच्चा सुख प्रदान कर सकता है।

(५) जिसने [illegible] मनको [illegible] किया है, ईश्वरीय प्रेम और विश्वासको दृढ़ किया है [illegible] ईश्वरका [illegible] है, [illegible] ईश्वरका [illegible] है और [illegible] ईश्वरका [illegible] है, वही उपदेशक [illegible] प्रदान कर सकता है।

साधु श्रीयज्ञनारायणजी पाण्डेय

([illegible])

[illegible]

[illegible]

संत श्रीराजचन्द्र

[जन्म-स्थान ववाणिया (सौराष्ट्र), जन्म-सं० १९२४ वि०, देहावसान सं० १९५७ ।]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

बहु पुण्य केरा पुंज थी
शुभ देह मानव नो मल्यो ।
तो ये अरे भव चक्र नो
आँटो नहीं एके टल्यो ॥
सुख प्राप्त करताँ सुख टले
छे लेश ये लक्षे लहो ।
क्षण क्षण भयंकर भाव मरणे
कां अहो राची रहो ॥

लक्ष्मी अने अधिकार वधता
शु वध्युं ते तो कहो ।
शु कुटुंब के परिवार थी
वधवापणुं एनेय ग्रहो ॥
वधवापणुं संसार नुं नर
देह ने हारी जवो ।
एमों विचार नहीं अहो हो
एक पल तमने हवो ॥

बाबा किनारामजी अघोरी

(जन्म बनारस जिलेके चन्दौली तहसीलमें रामगढ़ गाँव । पिताका नाम श्रीअकबरसिंह । दीक्षागुरु श्रीकालूराम अघोरी । सिद्ध संत एवं अघोरमतके प्रचारक ।)

संतो भाई मैं भूल्यो कि जग बौरानो, यह कैसे करि कहिये ।
याही बड़ो अचंभो लागत, समुझि समुझि उर रहिये ॥
कथै ग्यान अस्नान जग्य व्रत, उर में कपट समानी ।
प्रगट छाँड़ि करि दूर बतावत, सो कैसे पहचानी ॥
हाड़ चाम अरु मांस रक्त मल, मज्जा को अभिमानी ।
ताहि खाय पंडित कहलावत, वह कैसे हम मानी ॥
पढ़े पुराण कोरान वेद मत, जीव दया नहिं जानी ।
जीवनि भिन्न भाव करि मारत, पूजत भूत भवानी ॥
वह अदृष्ट सूझे नहिं तनिकौ, मन में रहै रिसानी ।
अंधहि अंधा डगर बतावत, बहिरहि बहिरा बानी ।
'राम किना' सतगुरु सेवा बिनु, भूलि मरयो अग्यानी ॥

× × ×

शब्द का रूप साँचो जगत पुरुष[1] है ,
शब्द का भेद कोई संत जानै ।
शब्द अज अमर अद्वितीय व्यापक पुरुष ,
संत गुरु शब्द सुविचार आनै ॥
नंद में जोति है, जोति में नंद है ,
अरथ अनुभौ करे, एक मानै ।
'राम किना' अगम यह राह बाँकी निपट ,
निकट को छाँड़ि कै प्रीति ठानै ॥

साँचि कहिय साँचो सुनिय, साँचो करिय विचार ।
साँच समान न और कछु, साँचो सग सम्हार ॥
पाँच तत्व गुन तीनि लै, रच्यौ सकल ब्रह्मंड ।
पिंड माहँ सो देखिये, भुवन सहित नव खंड ॥
सो सब प्रभु महँ रमि रह्यौ, जड़ चेतन निज ठौर ।
तातैं राम सँभारि गहु, सब नामन को मौर ॥
नहीं दूरि नहिं निकट अति, नहीं कहूँ अस्थान ।
बेदी पै दृढ़ गहि करै, जपै सो अजपा जान ॥
आपु विचारै आपु मैं, आपु आपु महँ होय ।
आपु निरंतर रमि रहै, यह पद पावै सोय ॥
यथा योग्य व्यवहार को, जानि रहै निरस्नेह ।
अभय असंक असोच है, जानै अजपा येह ॥
अनुभव सोई जानिये, जो नित रहै विचार ।
राम किना सत शब्द गहि, उतर जाय भौ पार ॥
चाँद चमारी चूहड़ी, सब नीचन ते नीच ।
तूँ तो पूरन ब्रह्म था, चाह[2] न होती बीच ॥

१. ब्रह्म, परमेश्वर, परमतत्त्व । २. इच्छा, कामना ।

भजन करो, सिद्धियाँ स्वयं तुम्हारे चरणोंमें ठोकर खायँगी । पराधीनताका नहीं, स्वाधीनताका मार्ग अपनाओ ।

८. परमार्थका मार्ग व्यवहारसे ही होकर जाता है । इसलिये व्यवहारको शास्त्र-मर्यादाके अनुसार बनाओ । व्यवहार अमर्यादित हुआ तो परमार्थका पता नहीं चलेगा ।

९. परमात्मा व्यापक है, तुम्हारे अंदर भी है । पासकी चीजको दूर देखोगे तो ढूँढनेमें देर लगेगी ।

१०. जो काम स्वयं कर सको, उसीमें हाथ लगाओ । दूसरोंके बलपर काम उठानेमें अशान्ति भोगनी पड़ेगी ।

११. अपनी दिनचर्या ऐसी बनाओ जिससे अनन्तशक्ति और अखण्डानन्द प्राप्त हो । ऐसा न करो कि सब शक्ति क्षय हो जाय और दुःखके पहाड़ोंसे घिर जाओ ।

१२. कहीं भी किसी भी परिस्थितिमें रहो, मनमें कमजोरी मत आने दो । जहाँ रहो मस्त रहो ।

१३. पापियोंके ऐश्वर्यको देखकर धर्म-फलमें संदेह मत करो । फाँसीकी सजाका जो मुल्जिम होता है, उसको फाँसीके पहले इच्छानुसार भोग-सामग्री दी जाती है ।

१४. कोई गलती हो जाय तो उसे सुधार लेना चाहिये । दुराग्रह करके गलतीका समर्थन करनेसे अनर्थपरम्परा बढ़ती जायगी और तुम्हारा जीवन नष्ट होगा और दूसरोंकी भी हानि होगी ।

१५. भगवान्‌का भजन करो, पर उनसे कुछ माँगो मत; क्योंकि जितना भगवान् दे सकते हैं उतना तुम माँग ही नहीं सकते । माँगना और देना दोनों अपनी हैसियतके अनुसार होता है । तुम माँगोगे तो अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीवकी हैसियतसे माँगोगे और यदि भगवान् स्वयं देंगे तो वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्‌की हैसियतसे देंगे । इसलिये इसीमें लाभ है कि शुभ कर्म करो और उसका फल कुछ माँगो मत, भगवान्‌पर छोड़ दो, जैसा वे चाहें करें ।

१६. यदि कोई तुम्हारी निन्दा करे तो भीतर-भीतर प्रसन्न होना चाहिये, उससे शत्रुता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि निन्दा करके वह तुम्हारा पाप अपने ऊपर ले रहा है—तुम बिना प्रयत्नके ही पापोंसे मुक्त हो रहे हो । इसलिये निन्दकको परमार्थमें सहायक ही मानना चाहिये । इसीलिये कबीर कहते थे—

निंदक नेरे राखिये आँगन कुटी छवाय ।

१७. जिसे आत्मानन्दका अनुभव है, वह विषयानन्दमें नहीं फँसेगा । क्या कोई चक्रवर्ती सम्राट् दो गाँवकी मीरकी इच्छा कर सकता है !

१८. ऐसा करो कि गर्भवासमें फिर न आना पड़े, तभी मनुष्य-जन्म सार्थक होगा ।

१९. मालीसे सम्बन्ध रक्खोगे तो पूरी वाटिकासे लाभ उठा सकोगे । भगवान्‌से सम्बन्ध बना लो तो भगवान्‌की वाटिकारूप यह सारा संसार तुम्हारा हो जायगा ।

२०. कोई काम हो सोच-समझकर करो । आतुरता चाहे जिस काममें हो, अच्छी नहीं । सत्सङ्ग भी सोच-समझकर करना चाहिये; क्योंकि साधुवेषमें भी न जाने कितने सी० आई० डी० और चोर-डाकू भरे पड़े हैं, जिनके सम्पर्कसे हानि हो सकती है । इसलिये सतर्क रहना आवश्यक है ।

२१. विषयीका सङ्ग साक्षात् विषयसे अधिक भयावह है । विषय तो साक्षात् अग्नि है और विषयी अग्निके सम्पर्कमें रहनेवाले चिमटेके समान है । अग्नि (अङ्गार) को हाथमें उठाकर जल्दीसे फेंक दो तो उतना नहीं जलोगे, पर यदि चिमटा कहीं छू जाय तो चाहे जितनी जल्दी करो पर फफोला अवश्य पड़ जायगा । इसलिये चिमटोंसे सदा बचते रहो ।

२२. पहले तो यही प्रयत्न करना चाहिये कि विषयी और दुर्जनोंसे व्यवहार न करना पड़े । पर यदि कोई कार्य आ ही जाय तो उनसे वैसा ही सम्बन्ध रक्खो जैसा पाखानेसे रखते हो । आवश्यकता पड़नेपर पाखानेमें जाते हो, पर काम हुआ कि वहाँसे हटे, जल्दी-से-जल्दी बाहर आनेकी कोशिश करते हो । इसी प्रकार इन लोगोंसे काम लेकर जल्दी-से-जल्दी दूर हट जाना चाहिये ।

२३. सदा उचित और अनुचितका ध्यान रक्खो । ऐसा नहीं कि जिसने टुकड़ा डाल दिया, उसीके दरवाजे पूँछ हिलाने लगे । उदर-पोषणके लिये अपने भाग्यपर विश्वास रक्खो । किसीके दबावमें आकर अनुचित कार्य करके पापका संग्रह मत करो; क्योंकि जब उस पापका फल तुम्हारे पास आवेगा तब तुम्हें अकेले ही भोगना पड़ेगा । उस समय कोई हिस्सा बँटाने नहीं आवेगा । इसलिये जो कुछ करो, पाप-पुण्यका विचार करके करो । ऐसा बीज मत बोओ जिसमें काँटे फलें ।

२४. ठगो मत चाहे ठगा जाओ; क्योंकि संसारमें हमेशा नहीं रहना है, जाना अवश्य है और साथ कुछ नहीं जायगा—

करो। दो ही दोहा, एक ही दोहा सही, पर छोड़ो मत। पाठ करते जाओ। श्रीराममें मन लगेगा। श्रीराममें मन लगनेका अर्थ जगत्से मुक्ति है।

दो घंटे रात रहते जग जाओ। ध्यान करो, जप करो। यह न हो सके तो गा-गाकर धीरे-धीरे प्रभु-प्रार्थना करो। सोनेके पहले भी प्रार्थना करो।

सत्सङ्ग ढूँढ़ते रहो। तीर्थोंमें जाते रहो। साधु-महात्माओंकी सेवा करते रहो। तुम अपनी जिम्मेदारीसे मुक्त माने जाओगे।

पापसे डरो, झूठ मत बोलो। परायी स्त्रीपर कुदृष्टि कभी भी मत डालो। सर्वत्र भगवान्‌को देखनेका प्रयत्न करो। तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

संत श्रीपयोहारी बाबा

(जन्म—सिलौटा ग्राम जिला बनारस। उत्तरप्रदेशके गाजीपुर जिलेमें गांगी नामक छोटी-सी नदीके तटपर सिसौरा नामक गाँवमें कुटीपर निवास। केवल दूध (पय) लेनेसे इनका नाम पयोहारी बाबा पड़ गया।)

जिन्होंने संसारको ही सर्वस्व मान लिया है, उनकी बात नहीं, पर जो संसारके उस पारपर भी विश्वास करते हैं—उन्हें भगवान्‌का भजन करना आवश्यक है। भजनमें बड़ा सुख है, पर जबतक भजन नहीं किया जाय, कैसे पता चले।

मन नहीं लगता, कोई बात नहीं। बिना मनके नाम रटो, रटते जाओ। अभ्याससे तीक्ष्ण मिर्च भी प्रिय लगने लगती है। भगवन्नाम तो बहुत मधुर है।

रात-दिन सोनेमें ही मत बिताओ। कितने जन्म और कितने कालसे सोते आये हो। अब जग जाओ, सजग हो जाओ। भगवान्‌को पानेके लिये चल दो, तुरंत चलो। नहीं तो सदा रोते ही रहोगे।

मन, वाणी और शरीरसे पवित्र रहो।

भगवान्‌का गुण गाओ, सुनो। भगवान्‌का सभी गुण-गान करें—इसके लिये प्रयत्न करो। पर पहले स्वयं गुणगान करो। तुम्हारा मङ्गल होगा।

परमहंस स्वामी श्रीराधेश्यामजी सरस्वती

[जन्म—संवत् १८७२]

(प्रेषक—डा० श्रीबालगोविन्दजी अग्रवाल)

जब लग लखै न आप को, तब लग नहीं सुहात।
आप लखे शीतल भयो, नहिं कहुँ आवत जात॥
हिय मन्दिर शोधा नहीं, करे अन्य की सेव।
मृग-तृष्णा में भरमि के, लख्यो न आतमदेव॥
नव खिड़की का पींजरा, चिड़िया बोल अमोल।
कुछ दिन में उड़ जायगी, रहा पोल का पोल॥
मन दर्पण काई लगी, नहिं दरसत है ज्ञान।
जैसे घन की ओट में छिपा रहत है भान॥
जब लग फुरना प्राण में, तब लग झूठा ज्ञान।
अचल भयो फुरना नहीं, बूँद में सिन्धु समान॥

श्रीशंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजी सरस्वती महाराज

१. पहले अपनेको बनाओ, फिर दूसरेकी चिन्ता करो।

२. धर्म इन्द्रियोंपर नियन्त्रण करता है इसीलिये इन्द्रियोंके गुलाम धर्मको बोझा समझते हैं।

३. धर्मका मार्ग प्रत्येक क्षेत्रमें स्थायी सफलताका मार्ग है।

४. धर्मका खण्डन करनेवाला सबके हितका विरोधी है।

५. एकको (भगवान्‌को) मजबूतीसे पकड़ लो तो अनेकोंकी खुशामद नहीं करनी पड़ेगी।

६. दुर्जनके लिये दुर्जन मत बनो। दुर्जनकी दुर्जनताको अपनी सज्जनतासे दबाओ।

७. विषयोंके चक्करमें ठोकरें खाते मत फिरो। भगवान्‌का

भजन करो, सिद्धियाँ स्वयं तुम्हारे चरणोंमें ठोकर खायेंगी । पराधीनताका नहीं, स्वाधीनताका मार्ग अपनाओ ।

८. परमार्थका मार्ग व्यवहारसे ही होकर जाता है । इसलिये व्यवहारको शास्त्र-मर्यादाके अनुसार बनाओ । व्यवहार अमर्यादित हुआ तो परमार्थका पता नहीं चलेगा ।

९. परमात्मा व्यापक है, तुम्हारे अंदर भी है । पासकी चीजको दूर देखोगे तो ढूँढनेमें देर लगेगी ।

१०. जो काम स्वयं कर सको, उसीमें हाथ लगाओ । दूसरोंके बलपर काम उठानेमें अशान्ति भोगनी पड़ेगी ।

११. अपनी दिनचर्या ऐसी बनाओ जिससे अनन्तशक्ति और अखण्डानन्द प्राप्त हो । ऐसा न करो कि सब शक्ति क्षय हो जाय और दुःखके पहाड़ोंसे घिर जाओ ।

१२. कहीं भी किसी भी परिस्थितिमें रहो, मनमें कमजोरी मत आने दो । जहाँ रहो मस्त रहो ।

१३. पापियोंके ऐश्वर्यको देखकर धर्म-फलमें संदेह मत करो । फाँसीकी सजाका जो मुल्जिम होता है, उसको फाँसीके पहले इच्छानुसार भोग-सामग्री दी जाती है ।

१४. कोई गलती हो जाय तो उसे सुधार लेना चाहिये । दुराग्रह करके गल्तीका समर्थन करनेसे अनर्थपरम्परा बढ़ती जायगी और तुम्हारा जीवन नष्ट होगा और दूसरोंकी भी हानि होगी ।

१५. भगवान्‌का भजन करो, पर उनसे कुछ माँगो मत; क्योंकि जितना भगवान् दे सकते हैं उतना तुम माँग ही नहीं सकते । माँगना और देना दोनों अपनी हैसियतके अनुसार होता है । तुम माँगोगे तो अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीवकी हैसियतसे माँगोगे और यदि भगवान् स्वयं देंगे तो वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्‌की हैसियतसे देंगे । इसलिये इसीमें लाभ है कि तुम कर्म करो और उसका फल कुछ माँगो मत, भगवान्‌पर छोड़ दो, जैसा वे चाहें करें ।

१६. यदि कोई तुम्हारी निन्दा करे तो भीतर-भीतर प्रसन्न होना चाहिये, उससे शत्रुता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि निन्दा करके वह तुम्हारा पाप अपने ऊपर ले रहा है—तुम बिना प्रयत्नके ही पापोंसे मुक्त हो रहे हो । इसलिये निन्दकको परमार्थमें सहायक ही मानना चाहिये । इसीलिये कबीर कहते थे—

निंदक नेरे राखिये आँगन कुटी छवाय ।

१७. जिसे आत्मानन्दका अनुभव है, वह विषयानन्दमें नहीं फँसेगा । क्या कोई चक्रवर्ती सम्राट् दो गाँवकी सीरकी इच्छा कर सकता है ?

१८. ऐसा करो कि गर्भवासमें फिर न आना पड़े, तभी मनुष्य-जन्म सार्थक होगा ।

१९. मालीसे सम्बन्ध रखोगे तो पूरी वाटिकासे लाभ उठा सकोगे । भगवान्‌से सम्बन्ध बना लो तो भगवान्‌की वाटिकारूप यह सारा संसार तुम्हारा हो जायगा ।

२०. कोई काम हो सोच-समझकर करो । आतुरता चाहे जिस काममें हो, अच्छी नहीं । सत्सङ्ग भी सोच-समझकर करना चाहिये; क्योंकि साधुवेषमें भी न जाने कितने सी० आई० डी० और चोर-डाकू भरे पड़े हैं, जिनके सम्पर्कसे हानि हो सकती है । इसलिये सतर्क रहना आवश्यक है ।

२१. विषयीका सङ्ग साक्षात् विषयसे अधिक भयावह है । विषय तो साक्षात् अग्नि है और विषयी अग्निके सम्पर्कमें रहनेवाले चिमटेके समान है । अग्नि (अङ्गार) को हाथमें उठाकर जल्दीसे फेंक दो तो उतना नहीं जलोगे, पर यदि चिमटा कहीं छू जाय तो चाहे जितनी जल्दी करो पर फफोला अवश्य पड़ जायगा । इसलिये चिमटोंसे सदा बचते रहो ।

२२. पहले तो यही प्रयत्न करना चाहिये कि विषयी और दुर्जनोंसे व्यवहार न करना पड़े । पर यदि कोई कार्य आ ही जाय तो उनसे वैसा ही सम्बन्ध रक्खो जैसा पाखानेसे रखते हो । आवश्यकता पड़नेपर पाखानेमें जाते हो, पर काम हुआ कि वहाँसे हटे, जल्दी-से-जल्दी बाहर आनेकी कोशिश करते हो । इसी प्रकार इन लोगोंसे काम लेकर जल्दी-से-जल्दी दूर हट जाना चाहिये ।

२३. सदा उचित और अनुचितका ध्यान रक्खो । ऐसा नहीं कि जिसने टुकड़ा डाल दिया, उसीके दरवाजे पूँछ हिलाने लगो । उदर-पोषणके लिये अपने भाग्यपर विश्वास रक्खो । किसीके दबावमें आकर अनुचित कार्य करके पापका संग्रह मत करो; क्योंकि जब उस पापका फल तुम्हारे पास आवेगा तब तुम्हें अकेले ही भोगना पड़ेगा । उस समय कोई हिस्सा बँटाने नहीं आयेगा । इसलिये जो कुछ करो, पाप-पुण्यका विचार करके करो । ऐसा बीज मत बोओ जिसमें काँटे फलें ।

२४. ठगो मत चाहे ठगा जाओ; क्योंकि संसारमें हमेशा नहीं रहना है, जाना अवश्य है और साथ कुछ नहीं जायगा—

यह भी निश्चित है । यदि किसीको ठग लोगे तो ठगी हुई वस्तु तो नष्ट हो जायगी या यहीं पड़ी रह जायगी; पर उसका पाप तुम्हारे साथ जायगा और उसका फल भोगना ही पड़ेगा। यदि तुमको कोई ठग ले तो तुम्हारा भाग्य तो वह ले नहीं जायगा—विचार कर लो कि उसीके भाग्यकी चीज थी, धोखेसे तुम्हारे पास आ गयी थी, अब ठीक अपनी जगह पहुँच गयी। या ऐसा सोच लो कि किसी समयका पिछला ऋण उसका तुम्हारे ऊपर था सो अब चुक गया । इस विचारसे ठगा जानेमें ज्यादा हानि नहीं, ठगनेमें ज्यादा हानि है।

२५. सावधान रहो कि कोई काम यहाँ ऐसा न हो जाय कि जिसके लिये चलते समय पछताना पड़े । यदि सतर्क नहीं रहोगे तो नीचे गिरनेसे बच नहीं सकते । संसारका प्रवाह नीचे ही गिरायेगा ।

२६. शासन-सत्ताकी सब बातें मानो, पर धर्मविरुद्ध बातें मत मानो; क्योंकि—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

यह स्वाभाविक नियम है कि जो वेद-शास्त्रोक्त अपने धर्मकी अवहेलना करता है, वह नाशको प्राप्त होता है। और जो धर्मानुसारी आचरण करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति और समाजके कल्याणकी दृष्टिसे ही हमारा यह कहना है कि कोई भी शासन-सत्ता हो, उसकी सब बातें मानो, पर धर्मविरुद्ध बातें मत मानो। राष्ट्र तो हमारा है। जहाँतक राष्ट्रकी उन्नतिका प्रश्न है, हम सर्वथा सहमत हैं; परंतु यदि सरकार धर्मका विरोध करनेमें राष्ट्रका हित समझती है तो इतने अंशमें हम उससे सहमत नहीं । हम तो यही कहेंगे कि जनताको स्वधर्म-पालनमें लगाना भी शासन-सत्ताका ही कार्य है; क्योंकि यह नीति है कि—

विषये योजयेच्छत्रुं मित्रं धर्मेण योजयेत्।

अर्थात् शत्रुको विषयकी ओर प्रवृत्त करो और मित्रको अर्थात् जिसकी भलाई चाहते हो उसको स्वधर्म-पालनमें लगाओ। इसलिये यदि शासनाधिकारी प्रजाकी भलाई चाहते हैं तो उन्हें स्वधर्मपालनमें प्रोत्साहन देना चाहिये।

२७. धर्महीन शिक्षा ही समाजमें बढ़ते हुए नैतिक पतनका कारण है।

२८. शासन-सत्ता सावधान रहे। भौतिक उन्नतिके लिये प्रयत्नशील होनेके साथ-साथ यदि शिक्षामें धार्मिक, दार्शनिक और यौगिक तत्त्वोंका प्राधान्य न किया गया तो देशमें केवल अर्थ और कामकी प्रवृत्तियाँ जागेंगी और समाजको पशुभावमय भोगप्रधान बनाकर रसातलमें पहुँचा देंगी।

२९. मौखिक उपदेश उतना प्रभावशाली और स्थायी नहीं होता जितना चरित्रका आदर्श । इसलिये यदि दूसरोंपर प्रभाव रखना चाहते हो तो चरित्रवान् बनो। चरित्र शुद्ध होनेसे संकल्प-बल बढ़ता है और संकल्प-शक्ति ही क्रिया सिद्धिका कारण होती है।

'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

३०. यदि हम श्रीभगवन्नामका श्रीभगवान्के लिये ही उपयोग करते हैं, उनके प्रेमके लिये ही लगाते हैं तब तो ठीक करते हैं और यदि श्रीभगवन्नामको संसारी चीजोंके लिये लगाते हैं तो हम नामका अपमान करते हैं। श्रीभगवन्नामका तो बस, भगवान्के लिये ही उपयोग करो। यदि तुम्हें विवाह करना है तो उसके लिये नाम जपनेकी जरूरत नहीं, उस समय देवानुष्ठान करनेकी जरूरत है। नाम तो भगवान्के लिये ही होना चाहिये ।

३१. श्रीभगवन्नाम बहुत सुन्दर है, परंतु वह भी सत्यको चाहता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

आज देखनेमें आ रहा है कि जो श्रीरामभक्तिकी डींग मारते हैं, वे भी रमाकी खोजमें रहते हैं और किसी प्रकार हमें धन मिले—इसीकी चिन्तामें डूबे रहते हैं। किसी भी प्रकार सबको अपने अनुकूल कर लेना और उनसे रुपये कमाना तथा उन रुपयोंको चाहे जहाँ विलास-वासनामें खर्च करना—बस, यही रह गया है। आजकल धर्मकी ओटमें सब कुछ हो रहा है। देनेवाले भी धन तो दे देते हैं पर यह खयालतक नहीं करते कि हमारा धन कहाँ जा रहा है। आपको मालूम है कि जो विरक्त महात्मा हैं, उनके पीछे लक्ष्मी क्यों दौड़ती है ! इसीलिये कि वह हमारे पति श्रीविष्णु भगवान्को छोड़ दे। इसे बड़ा विघ्न समझना चाहिये और इससे बचना चाहिये। जो सच्चे महात्मा हैं, उनके लिये यह लक्ष्मी तुच्छातितुच्छ है। लोगोंके सामने भक्त बनकर रोना-हँसना और उनसे धन लेना बड़ा बुरा है। ऐसा रोना-हँसना तो एक वेश्या भी कर सकती है। यह कोई बड़ी बात नहीं है। व्याख्यान देकर ऐसा कोई भी कर सकता है।

३२. श्रीभगवन्नाम तो सबको अखण्ड स्मरण करना चाहिये परन्तु साथ ही पाखण्डसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। तभी विशेष लाभ होगा।

३३. हम अपनेको सनातनधर्मी भी कहते जायँ और फिर वेद और शास्त्रोंके विरुद्ध भी चलते जायँ यह बड़े दुःख तथा आश्चर्यकी बात है। वे अपनेको सनातनधर्मी कैसे कहते हैं! यह ठीक नहीं कि दिनभर माला भी घुमाते रहें और मिथ्या भी खूब बोलते रहें।

३४. गुरुओंका कर्तव्य है कि वे अपने शिष्योंकी बुद्धिको शुद्ध करें। यह जानते हुए भी कि शिष्य झूठ बोलता है, अन्य पाप करता है, उससे कुछ भी न कहकर उलटे यह कह दें कि 'कोई बात नहीं, तुम्हारा कल्याण हो ही जायगा।' बड़ा ही अनर्थ है। वेद-शास्त्रको सामने रखना और अत्याचार-अनाचार करना उचित नहीं है। प्रभु घट-घटकी देख रहा है। वह अंधा नहीं है। इसे याद रखना चाहिये।

३५. एक मनुष्यने हमसे प्रश्न किया कि 'महाराजजी! जब श्रीभगवन्नामसे ही सब काम हो सकता है तो फिर हम सन्ध्या, तर्पण, यज्ञ और दान आदि क्यों करें?' हमने उत्तर दिया—हाथी भी खेतोंमें हल चला सकता है; फिर बैलसे ही हल क्यों चलाया जाता है? हाथी एक हल नहीं, दस हल चला सकता है; परन्तु हाथीसे कोई हल नहीं चलाता, बैलसे ही सब चलाते हैं। इसी प्रकार छोटेसे कामके लिये भगवन्नाम-जैसे महान् साधनकी क्या जरूरत है?

३६. शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये आज्ञा है कि वह एकमात्र अपने पूज्य पतिकी ही सेवा करे। इसीमें स्त्रीका कल्याण है। एकमात्र अपने पतिकी सेवा करते करते उसकी वृत्ति तदाकार हो जायगी। मृत्युके समय पतिका ही ध्यान रहेगा, इससे वह स्त्री योनिसे मुक्त होकर पुरुष-योनिको प्राप्त हो जायगी और पुरुष बनकर वह फिर मुक्ति प्राप्त करेगी। शास्त्रोंने स्त्रियोंके लिये पति सेवा करनेकी आज्ञा उनके साथ द्वेष करके नहीं दी है, बल्कि स्त्रियोंके कल्याणके लिये ही यह विधान है। स्त्रियोंको अपने पतिसे कहना चाहिये कि 'पतिदेव! आप तो परमात्माका ध्यान करके मनुष्ययोनिसे मुक्त हो जायँ और इधर मैं आपका ध्यान करके स्त्री-योनिसे मुक्त हो जाऊँगी। इस प्रकार हम दोनोंका कल्याण हो जायगा।

३७. पतिको भी परमात्माका ही ध्यान करना चाहिये, स्त्रीका नहीं। वह यदि स्त्रीका ध्यान करेगा और स्त्रीका ध्यान करते-करते मरेगा तो उसे स्त्री होना पड़ेगा।

३८. हमारा यही कहना है कि स्त्रियोंका पति सेवासे ही कल्याण हो सकेगा। स्त्रियोंको उतना लाभ श्रीकृष्णभक्तिसे भी नहीं होगा जितना कि उन्हें पति-सेवासे हो सकेगा। हमारे शास्त्रोंमें इसीसे पति-सेवापर जोर दिया गया है। स्त्रीको जब भी बच्चा होता है, तभी उसे मृत्युका सामना करना पड़ता है। पुरुषकी मृत्यु एक बार ही होती है। इस बार-बारकी मृत्युसे बचनेके लिये उसे पुरुषकी सेवा करनी चाहिये और आगे पुरुष शरीर मिलनेपर परमात्माका ध्यान करना चाहिये, जिससे मृत्युसे आत्यन्तिक छुटकारा प्राप्त हो और सदाके लिये मुक्ति मिल जाय।

(प्रेषक—श्रीशारदाप्रसादजी नेवटिया)

३९. भगवान्‌का भक्त होकर कोई भी दुखी नहीं रह सकता, यह हमारा अनुभव है।

४०. ईश्वरप्राप्तिकी कामना जबतक दृढ़ नहीं होगी तबतक अनेक वासनाओंके चक्करमें पतंगेकी भाँति न जाने कहाँ-कहाँ उड़ते फिरोगे।

४१. यदि कोई पापकर्म हो जाय तो परमात्मासे यही प्रार्थना करनी चाहिये कि भगवन्! हमारा इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं है, क्षमा किया जाय, भविष्यमें फिर ऐसा नहीं होगा। परन्तु ऐसा नहीं कि पाप भी करते जाओ और भगवान्‌का भजन भी—भगवान्‌की कृपाके बलपर पाप करनेका विधान नहीं है।

४२. पेटके लिये धर्म मत छोड़ो, ईश्वरको अंधा बनानेका व्यर्थ प्रयास मत करो। चरित्रवान् बनो, पाप करनेसे डरो।

४३. शास्त्र-मर्यादाओंको लिये रहोगे तो लोकमें ऐसे ही कार्य होंगे जो परलोकको उज्ज्वल बना देंगे।

४४. राष्ट्रके चरित्र-बलकी वृद्धि और हर प्रकारसे राष्ट्रकी उन्नतिके लिये देशमें धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकता है।

४५. मनमें सदा भगवान्‌का स्मरण बना रहे और मर्यादाका उल्लङ्घन न हो, यही महासाधन है।

४६. जगत्‌के व्यवहारमें केवल कर्तव्यबुद्धि रक्खो, उसमें इष्ट बुद्धि मत रक्खो—यानी संसारमें कमल-पत्रवत् बने रहो।

४७. मनसे कभी किसीका अनिष्ट-चिन्तन न करो।

४८. मनुष्य-जीवनकी सफलता भगवत्-प्राप्तिमें है। यह तन बार-बार मिलनेका नहीं। इसलिये आगेकी यात्राके लिये, अभीसे भगवत्-भजनरूपी धन साथ ले लो।

महर्षि रमण

(घरका नाम—श्रीवेंकटरामन । जन्म—३० दिसम्बर सन् १८७९ ई० । पिताका नाम—श्रीसुंदरमय्यर । देहावसान—१४ अप्रैल १९५० ई०)

समर्पणका सच्चा अर्थ समझनेके बाद ही समर्पण सफल होता है । ऐसा ज्ञान बार-बार विचार करने और अनुशीलन करनेके बाद ही होता है । निश्चितरूपमें उसका परिणाम आत्मसमर्पण है । मन, वचन और कर्मसे किये हुए किसी समर्पण और ज्ञानमें अन्तर नहीं है । समर्पण तभी सम्पूर्ण हो सकता है जब वह संदेहरहित हो । यह सौदेका विषय नहीं है । भगवान्से कुछ माँगा भी नहीं जा सकता । ऐसे समर्पणमें सब समा जाता है । ज्ञान या वैराग्य वही है, भक्ति और प्रेम भी वही है ।

किसी भी उपायसे अहंकार तथा ममताका नाश करनेका नाम ही मुक्ति है; फिर भी ये दोनों एक दूसरेके आश्रयमें टिके रहते हैं । इसलिये एकका नाश दूसरेके नाशका कारण बन जाता है । मन-वाक्से अगोचर ऐसी मनोदशा प्राप्त करनेके लिये अहंकारको निकाल देना ज्ञानमार्ग है और ममताको मार भगाना भक्तिमार्ग है । इन दोनोंमेंसे कोई एक मार्ग पर्याप्त है । भक्ति और ज्ञानमार्गका परिणाम भी समान है । इसके विषयमें शङ्का करनेका कोई कारण नहीं है ।

स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज

(प्रेषक—श्रीब्रह्मदत्तजी)

१—मनको शुभ गुणोंसे संस्कृत करना हो तो उसके मल—हिंसा, असत्य, क्रोध आदिको हटाना आवश्यक है ।

२—हिंसा-त्यागके बिना दान दिखलावा या दम्भमात्र हो जाता है, जिसका चतुर मनुष्य भोले लोगोंको ठगनेके लिये दुरुपयोग करते हैं ।

३—ऐसा कौन-सा सदुपदेश है जिसका विवेकच्युत मनुष्य दुरुपयोग नहीं करता ? चोरीके भयसे धनोपार्जन नहीं त्यागा जा सकता ।

४—मनको यज्ञादि कर्मोंमें लगाये रखना ही उसके अनर्थकारी प्रबल वेगको रोकनेका सफल उपाय है ।

५—जो इहलौकिक भोगोंको ही सब कुछ समझता है उसके कर्तव्य-पालनकी नींव बहुत निर्बल होती है और वह लोभादिके हल्केसे आघातसे ही गिर सकती है ।

६—इहलौकिक भोगोंको ही सब कुछ समझनेसे साधारण सामाजिक व्यवहारोंमें शुद्ध प्रेम तथा कर्तव्यकी दृष्टिका लोप हो जाता है ।

७—सामान्य सुख-दुःखोंमें उपरामकी वृत्ति, उदासीनता, सहनशीलता, अनासक्ति आदिको भी प्राणी किसी अन्य [illegible] के लिये अपनाता है ।

८—जगत्में दिखनेवाले सुख-दुःखका क्या कारण है ? बिना बुद्धि-गम्य प्रत्यक्ष कारणके सुख-दुःखकी धारा अकस्मात् क्यों टूट जाती है ? मनुष्यके सुखके लिये किये जानेवाले प्रयत्न क्यों विफल हो जाते हैं ? यह जीवनधारा क्यों और कहाँसे आती है ? और कहाँ कैसे चली जाती है ?—इत्यादि प्रश्नोंका समाधान, देहकी अवधिमात्रतक ही प्राणीके अस्तित्ववादद्वारा नहीं हो पाता ।

९—शास्त्रीय प्रवृत्तिमार्ग लौकिक सुव्यवस्थाका साधक है और निवृत्तिमार्ग केवल ब्रह्मविद्यापरायण महात्माओंकी सहायता करता है ।

१०—शास्त्रीय प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों एक ही लक्ष्यके परम साधन होनेसे परस्पर सहकारी हैं, विरोधी नहीं ।

११—निवृत्तिमार्गी महात्मा अपने तप, शुद्धाचरण तथा ब्रह्माभ्यासके द्वारा आध्यात्मिक वायुमण्डलकी सामान्यतया अप्रत्यक्ष शुद्धि और प्रवृत्तिमार्गियोंके लिये परम [illegible] निर्देश न करें तो प्रवृत्तिमार्ग केवल भोग-लिप्साका ही कारण बनकर संसारका संहार करनेवाला बन जाय ।

१२—मानव-जीवनके उच्च आदर्शोंको प्राप्त करनेमें धन और शक्ति आवश्यक साधन हैं । परंतु ध्यान रहे इनकी प्राप्तिका आधार दम्भ, छल, दुराचार, अन्याय और देशद्रोह नहीं होना चाहिये ।

१३—ज्ञानी मुक्त महात्माद्वारा ब्रह्मज्ञानका उपदेश करना है । ज्ञानीसे सामान्य लौकिक सेवाका कार्य लेना आयुर्वेद विद्याके प्रवीण धन्वन्तरिसे औषधि कूटनेके समान है ।

१४–ब्रह्मचर्याश्रम शास्त्रीय दृष्टिकी प्राप्तिके लिये द्वार है।

१५–जो लोग भोग-वासनामें आसक्त हैं, अतएव साक्षात् परम लक्ष्यके मार्गपर नहीं चल सकते, उनके लिये शास्त्रीय प्रवृत्तिरूपी गृहस्थाश्रम है।

१६–ब्रह्म-साक्षात्कारद्वारा परम इष्टकी सिद्धि करना और इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये आदर्श वातावरण बनाना ही वानप्रस्थ तथा सन्यासका कर्तव्य है।

१७–परम आनन्दकी उपलब्धिके लिये मनका और वाणीके भी व्यापाररूपी विक्षेपका निरोध आवश्यक है।

१८–पशु व्यवहारके औचित्य और अनौचित्यका निर्णय अपने शारीरिक बलके आधारपर ही किया करता है।

१९–परम ज्ञानीकी स्वाभाविक रुचि और शास्त्रादेशमें कुछ अन्तर नहीं रह जाता।

२०–सामान्य मानवीय या शास्त्रीय परिभाषामें जिसे धर्म कहा जाता है, वही ज्ञानीकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जैसे अग्निकी दाह-प्रवृत्ति।

२१–ज्ञानीसे आत्म-अनात्मकी ग्रन्थि खोलनेके लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश लेनेमें ही संसारका हित है।

भक्त श्रीरामदयाल मजूमदार

(प्रे०—श्रीविमलकृष्ण 'विद्यारत्न')

'मरण, देहका मरण तो है ही, पर मैं सियार-कुत्तेकी मौत नहीं मरूँगा। श्रीभगवान्‌का स्मरण करते-करते ही मरूँगा।' पहलेसे ही इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञा करो। 'सदा श्रीभगवान्‌का स्मरण करूँगा' इसे बार-बार प्रतिदिन स्मरण करो। कभी भूलो नहीं।

गीताका आश्रय लेनेपर उस देशमें पहुँचा जा सकता है, उसी भूमाको प्राप्त किया जा सकता है; किंतु भगवती गीताकी कृपा बिना उनका आश्रय कौन प्राप्त कर सकता है? कृपा उसी व्यक्तिको प्राप्त होती है, जो गीतासे प्रेम करता है, गीतामें प्रेम करता है और गीताके प्रेमका अनुभव करके गीताके उपदेशको जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करता है।

यदि समीर ही बहुत कुछ प्राप्त हो जाय, तो समझना बहुत दूर है। ऐसा न हो और बहुत दूर भी कुछ मिल जाय तो समझना कि अभी विलम्ब है और जब समीप या दूर कुछ भी न रहे, तब समझना कि प्राप्त हो गया है।

आलस्य, अनिच्छा और मंद इच्छाको प्रश्रय मत देना। इतनेपर भी ऐसा हो तो विचार करना कि अशुभ भावना मुझे अशुभ कार्यमें प्रवृत्त कर रहा है, मुझे अमङ्गल मल्लमें डाल रहा है। अशुभ घड़ी आते ही प्रणाम करते-करते, प्रार्थना करते-करते पुरुषार्थका बल बढ़ाना।

हताश मत होओ। आश्वस्त होओ। विश्वास रक्खो। जीवित रूपसे प्रभुको पुकारो। मनुष्यके सामने अपने दुःखकी बात मत कहो। उनके साथ बातें करनेका अभ्यास करो। उनके साथ जो लोग हैं, उनको जनाओ। वे तुम्हें मार्ग दिखा देंगे।

जो चाहते हो, वह मिलेगा ही। गुरुमें भ्रम जानकर उस भ्रमको दूर करनेके लिये तपस्या करो। तपस्या ही भारतकी विशेषता है। इस तपस्याको छोड़कर दूसरी तरफ चेष्टा करनेसे कुछ भी मङ्गल नहीं होगा।

साधनामें सचमुच कष्ट है। परन्तु साधनामें उनकी निश्चय ही प्राप्ति होगी। ऐसा विश्वास होनेपर सारे कष्ट अभाव हो जाते हैं।

जिसका चित्त ब्रह्ममें रमण करता है, उसीको आनन्द है, निश्चय ही आनन्द है। तुम हम 'अन्न' को लेकर सोचते हैं, आनन्द मिल गया। परन्तु यह आनन्द नहीं है। आनन्दके आभासका लेश स्पर्श लेनेसे तो दुःख ही होगा।

नाम-कीर्तन करो। दूसरी चिन्ता जितनी ही जोरसे मनमें उठे, उतने ही घने घने उच्चस्वरसे नाम-कीर्तन करो। सब कट जायगा।

नाम-जप करो। सब कुछ मिलेगा। जब नाम-जपमें रुचि न हो, तब समझना पाप है। साधु-सङ्गमें नामकी महिमा श्रवण करो।

प्रभु श्रीजगद्बन्धु

(जन्म—सन् १८७१ ई० । जन्म-स्थान—डाहापाड़ा (मुर्शिदाबाद), ब्राह्मण-कुल । देहावसान—अपनी कुटी श्रीअङ्गनमें १७ सितम्बर १९२१ ई० ।)

दूसरेकी चर्चा विषवत् छोड़ो, न स्वयं करो, न कानोंसे सुनो। निन्दासे धर्म नहीं होता, केवल पाप मिलता है। परचर्चा और बाह्यदृष्टि सदाके लिये त्याग करो। दूसरेके बाबत ख्याल करनेसे अपना चित्त मलिन होता है। मालिन्य दूर करो। घरकी दीवारपर लिख रक्खो—'परचर्चा निषेध, बाह्यदृष्टि त्याग।'

निन्दया नैधते धर्मः पापं लभ्यं हि केवलम्।
ततो निन्दां न कुर्वन्ति महाभागवता जनाः॥

जीवहिंसासे मनुष्यकी उन्नति कभी नहीं होती। हिंसा करनेवालेका परिणाम कष्ट ही होता है। अहिंसाके साथ सिंहविक्रमसे चलो। तुम किसीको आघात न करो। जीवदेहमें नित्यानन्दका वास है। जीवदेहपर आघात करना मानो नित्यानन्दको ही आघात करना है। सब जीवोंको नित्यानन्दके स्वरूप समझो।

आत्मसंयमसे ही आत्मरक्षा होती है, सदा पवित्रता सदा निष्ठा। आत्मशौचसे शरीररक्षा होती है। निष्ठा ही आरोग्य है, अनिष्ठामें व्याधि और मृत्यु है। किसीकी हवा अङ्गपर न लगने दो। नैष्ठिक होनेसे कोई भी उसके काममें बाधा नहीं दे सकता। तुमलोग पवित्र रहकर हरिनाम कहो।

श्रीकृष्ण सब जानते हैं, तो भी अपने मुखसे सबको कहना चाहिये, निर्जनमें स्थिर-चित्त होकर प्रार्थना और निवेदन करना चाहिये। उनको न जनानेसे, उनके पास न जानेसे वे कुछ नहीं कर सकते। अचलकी भाँति पड़े रहते और देखते रहते हैं।

महात्मा श्रीहरनाथ ठाकुर

[जन्म—बंगला सन् १२७२ की १८ वी आषाढ। जन्म-स्थान—सोनामुखी गाँव (बाँकुड़ा जिला)। पिताका नाम—जयराम बन्द्योपाध्याय (के औरस)। माताका नाम—श्रीभगवती सुन्दरी देवी।]

श्रीकृष्ण-प्रेम

सदा हरिप्रेममें मस्त रहो, हरिनाममें रमते रहो, परोपकारके व्रती बने रहो, अवश्य ही श्रीकृष्ण कृपा करेंगे। श्रीकृष्णका मोल बस एक लालसा है, अन्य कोई धन या रत्न देकर श्रीकृष्णको नहीं पा सकते। जपबल, तपबल, व्रत, अध्ययन आदि किसी वस्तुसे उन्हें वशमें नहीं किया जा सकता, इसीलिये कहता हूँ प्रेम बना रहे। श्रीकृष्णके लिये सब समान हैं। जगत्को अपना समझो; जगत् कृष्णका है; कृष्ण हमारे हैं; इसलिये उनकी वस्तु अवश्य ही प्रिय होगी। जगत्को जगत्रूपसे मत प्यार करो; जगत्को श्रीकृष्णका जानकर प्यार करो; ऐसा करनेसे हिंसा नहीं होगी, किसीका द्वेष न होगा; क्योंकि जब किसी वस्तुको कोई दूसरेकी समझ लेता है तब उसे कभी अपनी नहीं समझ सकता। चरवाहे अपने मालिककी गौओंको चराते हुए आपसमें उन गौओंको अपनी कहकर बतलाया करते हैं, कहते हैं—भाई, हमारी गौओंको घेर लाओ, मेरी गौ बीमार है, मेरी गौके बछड़ा हुआ है, इत्यादि। पर यह सब कहते हुए भी इसका सुख-दुःख उन्हें कुछ नहीं होता; क्योंकि अपने दिलमें वे जानते हैं कि गौएँ उनकी नहीं हैं, केवल मुँहसे अपनी बतलाते हैं। इसी प्रकार यदि यह बात मनको जँच जाय कि यह सब जो कुछ है श्रीकृष्णका है, तो किसी भी वस्तुमें आसक्ति न होगी और फिर भी सब वस्तुओंको अपनी कह सकेंगे। इसीका नाम संन्यास, आत्मसंयम आदि है। इसीके चिन्तनसे जीव मुक्त होता है, ऐसा जीव ही जीवन्मुक्त होता है। इसलिये सदा इसी भावमें रहो। इसी भावमें रहते हुए परोपकार करनेसे कभी अहंकार नहीं होगा। अहंकारके न होनेसे अभिमानरहित होने और

निताईको पानेसे चैतन्य करतलगत होंगे, तब तुम निश्चिन्त हो जाओगे। तब केवल तुम ही आनन्दमें मगन होओगे, सो नहीं, बल्कि तुम्हारे कारण कितने ही लोग प्रेमानन्दमें प्रवाहित होंगे, कितनोंको तुम प्रेममें डुबा दोगे।

श्रीकृष्णनाम

सर्वदा ही ईश्वरके नाममें मत्त बने रहो; कभी भी मनमें शुचि तथा अशुचिका विचार मत आने दो। इस संसारमें अशुचि कुछ है ही नहीं, यदि कुछ हो भी तो वह श्रीकृष्णके नाम-स्पर्शसे शुचितम हो जाता है। इसीलिये कहता हूँ कि शयनमें, स्वप्नमें सदा इसी नाममें डूबे रहो। यह नाम ही मन्त्र है, नाम ही तन्त्र और नाम ही ईश्वर है। नामसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। श्रीकृष्णका नाम श्रीकृष्णसे भी बड़ा तथा गुरु वस्तु है। इस नाम महामन्त्रके उच्चारणसे भवरोग निवारण होता है, दैहिक व्याधियोंका तो पूछना ही क्या? किसी प्रकारकी चिन्ता न करो। नामोच्चारण करो—सारा संसार तुम्हारा ही हो जायगा—तुम इसके हो जाओगे। चिदानन्दमें मग्न रहोगे—निरानन्दकी छाया भी देखनेको न मिलेगी। तुम्हें आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक किसी प्रकारका भय न रहेगा, सभी भय भयभीत होकर भाग खड़े होंगे। सदाके लिये तुम निश्चिन्त हो जाओगे। इसीसे कहता हूँ कि नाम लेना जीवोंका एकमात्र कर्तव्य तथा उद्देश्य है। नाम भूल जानेपर इन्द्रका इन्द्रत्व भी महानरक-भोगमें परिगणित होता है। श्रीकृष्णको भूलनेसे ही मायाके दास और श्रीकृष्णको स्मरण करनेसे ही जीवन्मुक्त हो जाओगे। जिसे जितने क्षण जीना हो, उसे श्रीकृष्णका नाम लेकर जीवन सार्थक बनाना चाहिये। श्रीकृष्णको भूल जानेपर ब्रह्मत्व और शिवत्व भी कुछ नहीं है। सुख-दुःख क्षणस्थायी हैं, इनके फेरमें पड़कर श्रीकृष्णके नामको भूल जाना विषपान करनेके बराबर है।

श्रीकृष्णकी अपेक्षा श्रीकृष्णका नाम अधिक शक्तिशाली तथा परम शान्तिदायक है। ऐसा सजीव महामन्त्र दूसरा कोई भी नहीं है। दृढ़ विश्वासके साथ नाम लेते रहो, बिना श्रद्धाके भी नाम लेना व्यर्थ नहीं जाता। इस क्षणस्थायिनी पृथ्वीको चिरशान्तिका स्थान समझकर भुलावेमें पड़ जाना ठीक नहीं। इस पृथ्वीपर हम जो कुछ देखते हैं, सर्वत्र वे-ही-वे हैं। उनके चिरस्थायी होनेपर भी हमारे लिये वे क्षणस्थायी हैं; क्योंकि पृथ्वी तो जैसी है वैसी ही है किंतु हम तो

चिरकालतक किसी भी रूपमें नहीं रह सकते। मैं अभी हूँ सम्भव है एक क्षणमें न रहूँ। इसीलिये कहता हूँ कि दो दिनकी पृथ्वीको चिरकालीन मानकर जिसमें हमलोग उस अनन्त शान्ति-निकेतनको न भूल जायँ। उस दयामयसे हमारी यही प्रार्थना है। प्रभु हमारी मानसिक आकाङ्क्षाको अवश्य पूरी करेंगे। इसलिये कहता हूँ कि चिरकाल तथा सभी अवस्थाओंके निष्कपट बन्धु श्रीकृष्णको और सदाके सम्बन्धी श्रीकृष्ण-नामको भूलकर दो दिनके पार्थिव सुख-दुःख, पुत्र-परिवारको अपना समझकर हम कहीं भूल न कर बैठें। नाम न भूलना सभी शक्तियोंके आधार तथा बीजस्वरूप नाममें विश्वास करना तथा कायमनोवाक्यसे उसीका आश्रय ग्रहण करना सबका कर्तव्य है। जिस मित्रके निकट रहनेसे सदा ईश्वरका नाम लेना पड़े, उसे सच्चा मित्र समझना चाहिये और जो लोग पृथ्वीके बन्धनोंको और भी दृढ और कड़ा करनेकी चेष्टा करते हैं, वे कभी भी पवित्र बन्धुपदको प्राप्त नहीं कर सकते। यहाँके जो-जो कर्तव्य हैं, उन्हें कर्तव्यज्ञानके विचारसे करो और नामको अपना परम अङ्ग और प्रीतिदायक निज-स्व मानकर उसे प्राणोंसे भी प्रिय समझो। किसीको भी अपने प्राण अर्पण न करो। पृथ्वीके शरीरको पृथ्वीको ही प्रदान कर दो और श्रीकृष्णके प्राण और मनको उन्हें ही प्रदान कर सुखी होओ। कष्टकातर न होओगे, तो किसीका भी भय न रहेगा। जो संसारके बीज तथा संसारके मूल कारण हैं, उन्हें प्रेम करनेसे सबका प्रेम करना होता है, जैसे वृक्षकी जड़में जलसिञ्चन करनेसे उसके सभी अङ्गोंका विकास होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णसे प्रेम करनेपर सभीसे प्रेम करना होता है। जिसके वे मित्र हैं, उसके स्थावर, जङ्गम सभी मित्र हैं, इसलिये सभी कारणोंके कारण उन श्रीकृष्णसे प्रेम करना सबका कर्तव्य है। इसीसे शास्त्रोंने कहा है कि, 'जो मनुष्य श्रीकृष्णका भजन करता है वह बड़ा चतुर है।'

भगवान्‌को प्राप्त करनेके दूसरे भी अनेक मार्ग हैं, किंतु कलियुगमें इससे अधिक सुगम और कोई नहीं है; क्योंकि इस युगमें दुष्टोंका सबसे अधिक भय होता है। जो उपाय दूसरे युगमें बताये गये हैं, वे अब इस युगमें लाभदायक नहीं हो सकते। जब दुष्ट शक्तियाँ मनुष्यमें बहुत हो जाती हैं तब भगवान्‌का केवल नाम लेनेसे ही उनका नाश हो जाता है।

'दयालु परमात्मन्! हमें नाम लेनेसे प्रेम करना सिखलाइये और प्रेमके भावसे प्रमत्त बनाइये। अन्य किसी

वस्तुके लिये आपसे क्या प्रार्थना करें ? आपने हमें सब कुछ दिया है और अब भी आप हरेक वस्तु, जिसकी हमको आवश्यकता होती है, दे रहे हैं। हम नहीं जानते कि आपके पास क्या-क्या अमूल्य रत्न हैं। हम तो सदैव आपकी कृपा चाहते रहते हैं।'

उस मनुष्यको भगवान्‌से कुछ नहीं माँगना चाहिये जो केवल उनका प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है। हमेशा अपने मनमें भगवान्‌को स्मरण रखना चाहिये और उनसे ही अपने दुःख प्रकट करना चाहिये। वे ही केवल हमारे दुःखभरे शब्दोंको सुनते हैं। जब मनुष्य हर समय उनको याद रखता है तो वे उसके कहनेको अवश्य सुनेंगे, वे अपने भक्तोंके शोकसे भरे अश्रुओंको कदापि नहीं देख सकते हैं।

सत्सङ्गति तथा सद्विचारोंका प्रभाव

यदि मनुष्य बुरी सङ्गतिमें पड़ जाते हैं तो वे प्रायः अपनी इच्छाके विरुद्ध भी बुरे काम कर डालते हैं, इसलिये मनुष्यको सदैव कुसङ्गतिसे घृणा करनी चाहिये और सदैव अच्छी सङ्गतिकी खोजमें रहना चाहिये। अच्छे मित्र न मिल सकें तो अकेले रहना ही उचित है। मनुष्य सच्चा सुख चाहता है तो उसे सदैव अच्छी सङ्गति करनी चाहिये। दुष्ट मनुष्योंकी सङ्गति ध्यानमें न लानी चाहिये। मनुष्यके परम प्रिय मित्र बुरे स्थानोंमें जानेके लिये और दुष्ट जनोंकी सङ्गति करनेके लिये विवश करें तो उनके प्रति भी घृणा करनी चाहिये।

यदि मनुष्यको किसी कामके करनेमें डर हो तो उसपर विचार करनेसे भी डरना चाहिये। ऐसे कामोंसे दूर रहना चाहिये जिनके केवल स्मरण करनेसे चित्त दुःखी होता है। बुरे विचार बुरे कामोंसे अधिक शक्तिशाली हैं; इसलिये ऐसे विचार पूर्णतया मनसे निकाल देने चाहिये। मनुष्यको अपने विचार सदैव पवित्र बनाने चाहिये। यदि विचार अच्छी तरह पवित्र बन जायँगे तो उनका प्रकाश बिजलीके समान अँधेरी कोठरीमें भी प्रकाश करेगा। विचारकी शक्ति सचमुच महान् है। विचार इतने बलवान् होते हैं कि इनके द्वारा ऐसे ऐसे कार्य मनमें आ जाते हैं जिनकी और मनुष्यका ध्यान भी नहीं सकता। सांसारिक विचार शरीरका नाश कर देते हैं; किंतु भगवान्‌को समर्पित हुए सब विचार हृदय, शरीर और आत्माको प्रसन्न बनाते हैं। जिस प्रकार स्वच्छ साबुनसे शरीर साफ हो जाता है, उसी प्रकार सद्विचारोंसे हृदय शुद्ध हो जाता है। जितना अधिक निर्मल साबुन होता है उतना ही अधिक शरीर निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्यके जितने ही अधिक शुद्ध विचार होते हैं, उतना ही अधिक उसका हृदय शुद्ध बन जाता है।

जीवनकी समस्या

इस संसारमें हरेक पदार्थ नाशवान् है। जो आज है वह कल न रहेगा; अतएव यदि मनुष्य इस संसारके किसी पदार्थपर आवश्यकतासे अधिक प्रेम करते हैं तो वे बहुत भूल करते हैं। कुछ मनुष्य अज्ञानवश अपने बच्चोंको बहुत ही अधिक प्यार करते हैं और ऐसा करनेपर भी उनकी आज्ञाके बिना उनके बच्चे उनसे विदा हो जाते हैं; तब उनको बिछोहके कारण असहनीय दुःख उठाना पड़ता है। यह संसार कुछ दिनोंके लिये है और इसके दुःख-सुख भी थोड़े समयके लिये हैं, इसलिये मनुष्यको यह कदापि उचित नहीं है कि वह सांसारिक दुःख-सुखमें पड़कर स्थायी सुखको भूल बैठे। भगवान् ही केवल सर्वकालमें हमारे सच्चे मित्र हैं, वे ही सच्चे बन्धु और प्राणाधार हैं, इसलिये उन्हें कभी न भूलना चाहिये। कितनी बार हमको माता, पिता, पुत्र, कन्या, स्त्री तथा पति मिले। हम क्षणभरके लिये अपने पूर्वजन्मके सम्बन्धियोंके विषयमें विचार नहीं करते हैं और वे भी हमको भूल गये हैं।

इस संसारमें कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। जो कुछ आज दिया गया है, कल ले लिया जायगा। जो देता है वही फिर उसे वापस ले लेता है। कुछ समयके लिये हम उसको अपनी रक्षामें रखते हैं, इसलिये हम उसको अपना समझने लगते हैं; किंतु जब हम उससे पृथक् होते हैं, तब हमको शोक होता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसको हम अपना कहकर पुकार सकें। यहाँतक कि यह नाशवान् शरीर भी ईश्वरका है और जब वे चाहें तब ले सकते हैं। आश्चर्यकी बात है कि दूसरेकी सम्पत्तिको अपनी समझते हुए जब हम उससे अलग होते हैं तब हम दुःखी होते हैं। अतएव चतुर ज्ञानवान् मनुष्यको किसी प्रकारका दुःख-सुखका चिन्तन न करते हुए केवल कर्म करना चाहिये। उसको किसी मनुष्यके विषयमें अधिक चिन्ता न करना चाहिये और न किसी वस्तुसे अधिक मोह करना चाहिये, तभी वह सदाके लिये सुखी बन सकता है।

प्राणिमात्रके प्रति प्रेम

यह प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह दूसरेके बच्चोंको अपने बच्चोंके समान समझे। इस प्रकार सांसारिक नीतिकी सीमाका उल्लङ्घन करता हुआ वह भगवान्का प्रेमपात्र बन सकता है। दीनोंके दुःखको भोजन तथा अन्य पदार्थोंके द्वारा यथाशक्ति दूर करना चाहिये।

भगवान्ने सार्वजनिक प्रेम उत्पन्न करनेके लिये अपने पड़ोसियोंके प्रति तथा दूरवालोंके प्रति प्रेमका सम्बन्ध स्थापित किया है। मनुष्य पहले अपने माता, पिता, भाई, बहिन आदिसे प्रेम करता है। जब वे बड़े हो जाते हैं तब वे अपने मित्रों तथा साथियोंसे प्रेम करने लगते हैं। जब उनके विवाह हो जाते हैं तब वे दूसरे कुटुम्बवालोंसे प्रेम करने लगते हैं। जब उनको अपने बच्चोंके विवाह करने पड़ते हैं तब वे बहुत-से अन्य मनुष्योंसे प्रेमका नाता जोड़ते हैं। इस प्रकार प्रेमका सम्बन्ध यहाँतक बढ़ जाता है कि मनुष्य अपने पासवाले सम्बन्धियोंके प्रति प्रेम करना भूल बैठते हैं। इस प्रकार उनका प्रेम सार्वजनिक हो जाता है; तभी मनुष्य भगवान्की सच्ची सेवा करते हैं और असीम सुखका अनुभव करते हैं। दूसरोंके प्रति प्रेम करनेमें कुछ भी नहीं खर्च करना पड़ता है; किंतु मनुष्यको इतना ही करना पड़ता है कि वह अपने हृदयके किवाड़ोंको पूरा पूरा खोल दे। इस प्रकार सार्वजनिक प्रेम करना सीखना चाहिये ऐसा करनेपर शनैः-शनैः उसका हृदय कोमल हो जायगा।

बादशाहोंके बादशाहको भी उसी तरह मरना पड़ता है जिस प्रकार एक भिखारी मरता है। इस संसारमें मनुष्य अपने साथ कुछ भी नहीं लाता है और न वह विदा होते समय इस संसारसे कोई वस्तु ले जाता है, केवल अपने भले-बुरे कर्मोंको ही इस संसारमें लाता है और मरनेके बाद उनको ले जाता है, अतएव उसको अच्छे ही कर्म करनेमें लगे रहना चाहिये। और दीनोंकी सेवा करना सर्वोत्तम कर्म है। यदि वह धन कमानेकी प्रबल इच्छामें लगा है तो उसे अवकाश नहीं मिलेगा। यदि ऐसी इच्छा नहीं है और दूसरोंकी सेवा करना चाहता है तो वह समय बचाकर अपने मनको इस ओर लगा सकेगा।

शारीरिक शक्ति तथा भोजनकी ओर ध्यान

शक्ति ही जीवन है। इस जीवन-शक्तिका सम्पादन करना प्रत्येक मनुष्यका प्रथम कर्तव्य होना चाहिये। यदि मनुष्य कोई उद्देश्य रखता है तो उसके सफल करनेके लिये जीवनशक्तिका बनाये रखना प्रधान साधन है। यदि शरीर स्वस्थ होता है तो सांसारिक कर्तव्योंके पालन करनेमें अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है; किंतु यदि शरीर स्वस्थ नहीं रहता है तो आनन्दमय जीवन व्यतीत करना असम्भव है। सब कर्तव्य स्वास्थ्यपर ही निर्भर हैं तो इससे अधिक कौन-सी शोकप्रद बात हो सकती है कि आरोग्यतारूपी अमूल्य खजानेको नष्ट कर दिया जाय। इसके विपरीत मनुष्यका कर्तव्य है कि वह स्वास्थ्यकी ओर अधिक ध्यान रक्खे। जिस तरह वर्षाऋतुमें पानीके बहावके कारण गड्ढे पड़ जाते हैं तो उनकी मरम्मत की जाती है, उसी प्रकार यदि मनुष्यका स्वास्थ्य किसी कारणसे बिगड़ गया हो तो उसे पूर्णरूपसे ठीक कर लेना चाहिये। चाहे उसको कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े।

शरीरकी शक्ति भोजनपर निर्भर है। इस कारण मनुष्यको भोजनपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। लाभदायक भोजन करना चाहिये और बुरे तथा उत्तेजक पदार्थोंसे घृणा करनी चाहिये। यदि इस शरीरको स्वस्थ रखना चाहते हैं तो सबसे पहले अपने भोजनको नियमित कर लेना चाहिये। कभी भोजनका परिमाण अधिक नहीं होना चाहिये; किंतु इसके विपरीत आवश्यकतासे कम भोजन करना भी अनुचित है। अच्छा और शक्ति-उत्पादक भोजन निःसंदेह शरीरको स्वस्थ बनाता है। मिट्टीके बने हुए पदार्थ मिट्टी ही बने रहेंगे और स्वर्णसे बने हुए पदार्थ स्वर्ण ही कहलायेंगे। मिट्टीका स्वर्ण नहीं बन सकता है और सोना मिट्टीके रूपमें नहीं बदल सकता है। ठीक इसी प्रकार अपवित्र और कुपथ्य भोजन शरीर शक्तिको ही केवल नाश नहीं करता है; किंतु इससे चरित्रपर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

माता-पिताकी सेवा

जिस माताने अपने हृदयके रक्तसे प्रयत्न करके शरीरको पाला, उस माताका सम्मान प्रेम और भक्तिसे करना चाहिये। जिस मनुष्यने अपने माता पिताकी सेवा करनेका पाठ नहीं याद किया है, वह कभी भी ईश्वरकी सेवा करनेके योग्य नहीं हो सकता है। विद्यार्थीका प्रथम कर्तव्य यह है कि वह शब्दोंके हिज्जे ध्यानपूर्वक याद करे। यदि ऐसा नहीं करेगा तो वह परीक्षामें पास नहीं हो सकता। इसी प्रकार मनुष्यका पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने माता-पिताकी सेवा करे,

नहीं तो, जीवनरूपी परीक्षामें सफल होना उसके लिये असम्भव है।

जिस ओर दृष्टि जाती है उसी ओर माताका प्रेम बच्चोंके प्रति प्रकट होता है। यदि ऐसा प्रेम न होता तो संसार भी स्थिर न रहता। जिस प्रकार कोई भी वृक्ष विना जड़के नहीं रह सकता है, उसी प्रकार संसार माताके प्रेमके विना नहीं रह सकता। यदि माता अपने पुत्रसे प्रसन्न होती है और उसको आशीर्वाद देती है तो उस पुत्रको इस संसारमें किसी बातकी कमी नहीं रहती है। वह सदैव अपने जीवनको सुख तथा शान्तिसे व्यतीत करता है और अन्तमें भगवान्के चरणोंको प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि सुखी-से-सुखी मनुष्य अपनी माताको कष्ट देता है तो उसके घरसे सब सम्पत्ति शीघ्र ही विदा हो जाती है। चाहे कितना भी धार्मिक वह क्यों न हो, अन्तमें वह अवश्य नरकका अधिकारी होगा।

देखिये, माताका गौरव स्त्रीरूपमें कहाँतक है। हम गायका दूध पीते हैं इसलिये वह हमारी माता है; पृथ्वीपर हम निवास करते हैं इसलिये वह भी हमारी माता है; बहुत-से देव तथा देवियाँ हमारे कल्याणका ध्यान रखती हैं, इसलिये हम उनकी भी पूजा करते हैं; साधु हमको कुमार्गसे बचाकर सदैव सन्मार्गपर लाते हैं इसलिये हम उनका भी सम्मान करते हैं; गुरु हमको मोक्षके लिये शिक्षा देते हैं इसलिये हम उनको भी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। अब ध्यान देकर विचारिये कि माता हमको दूध पिलाती है, अपनी छातीपर सुलाती है, सदैव हमारी सुखशान्तिका ध्यान रखती है और [illegible] तथा धर्मसम्बन्धी सभी कार्योंकी शिक्षा देती है तथा हमको बताती है कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये और इस प्रकार वह हमारे भविष्यका सदैव ध्यान रखती है। इससे सिद्ध होता है कि केवल माताने ही गौ, पृथ्वी, देव और देवियों, साधु और गुरुके गुण [illegible] है। इस बातको ध्यान रखना चाहिये [illegible] होते [illegible] सकते हैं।

[illegible]

स्त्री और उसका स्थान

स्त्री शक्ति कहलाती है; क्योंकि हम संसारकी बहुत-सी बातोंमें शक्तिहीन होते हुए, उससे सहायता लेते हैं और इस प्रकार उसकी सङ्गतिसे शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। वह सहधर्मिणी है; क्योंकि वह हमारे धार्मिक कार्योंमें सहारा देती है। वह जाया है; क्योंकि वह हमारे उत्तराधिकारीको अपने गर्भमें धारण करती है। अतएव यही कारण है कि स्त्री जीवनकी हरेक अवस्थामें, धर्ममें, धनमें, इच्छामें और मोक्षमें प्रधान सहायक है। वही हमको नरकमें ले जाती है और वही हमको मोक्षका मार्ग दिखला सकती है, अतएव हमको उसके अनादर करनेका विचार कदापि हृदयमें न लाना चाहिये।

अपनी स्त्रीको गुणवती बनानेके लिये शिक्षा देते रहना चाहिये। उसको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि वह दीन मनुष्योंकी सहायता करे, नहीं तो, इस संसारमें सुख तथा शान्ति प्राप्त न होकर भय और आपत्ति मिलेगा। स्त्री पुरुष दोनोंको एकमय बन जाना चाहिये। जबतक ये दोनों अपना स्वार्थ छोड़कर एकमय नहीं हो जायँगे; तबतक वे मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। इस संसारमें स्त्री पुरुषका सम्बन्ध अपने अपने स्वार्थके लिये नहीं है। अपनी स्त्रीको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि वह पतिके सहित माता पिताकी सेवा करके दीन-दुखियोंकी सेवा करना सीखे। जिस मनुष्यने अपनी पत्नी बना लिया है, उसको अपना कर्तव्य पूर्णरूपसे निभानेमें कदापि न चूकना चाहिये।

भगवान्की पूजा करना सहज होकर भी आसान नहीं है, किंतु इसमें चतुराईकी आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग सुगम हो ही नहीं सकता। गृहस्थ होते हुए भगवान्की भक्तिके लिये प्रयत्न करना बहुत कठिन है। इस मार्गमें आवश्यकता इस बातकी है कि स्त्री पुरुष एकमत हो जायँ। आप कदाचित् पूछेंगे कि किस प्रकार भिन्न भिन्न स्वभावोंके होते हुए भी वे एकमत हो सकते हैं? ऐसा होनेके लिये स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अपना [illegible] परस्पर प्रेम करना सीखें। उनको अपने स्वार्थका [illegible] न रखना चाहिये; वे [illegible] छोड़कर [illegible] करें। इस प्रकार [illegible] अवश्य ही सुख प्राप्त होगा।

[illegible]

है, उसके गृहमें शान्ति और पवित्रता आती है। जो मनुष्य धार्मिक स्त्री नहीं रखता है, उसको वैकुण्ठ भी नरकके समान है। उसका जीवन मृत्युके समान है और मृत्यु ही वास्तवमें उसका जीवन है।

महात्मा अश्विनीकुमार दत्त

(जन्मस्थान—पटुआखाली, बंगाल, पिताका नाम—व्रजमोहन दत्त, माताका नाम—प्रसन्नमयी, जन्म—सन् १८५६, २५ जनवरी, देहावसान—सन् १९२३, ७ नवम्बर)

क्रमशः शास्त्राध्ययन, शास्त्र-श्रवण तथा भगवान्‌के स्वरूप-प्रतिपादक तर्क करते-करते और सुनते-सुनते भगवद्विषयमें मति होती है, उसमें भाव होता है। ऐसे मधुर विषयकी आलोचना करते-करते उसमें लोभ न हो, यह नहीं हो सकता। लोभ होनेपर प्राणमें आकर्षण होता है, आकर्षण होनेपर रागात्मिका भक्ति उदय होती है। बार-बार भगवान्‌का नाम सुनते-सुनते मनुष्य कबतक स्थिर रह सकता है? कितने ही नास्तिक भगवान्‌की कथा सुनते-सुनते पागल हो गये हैं।

जो सर्वान्तःकरणसे भक्त होना चाहता है, भगवान् उसके सहायक होते हैं। उसकी कामना सिद्ध होती ही है। किसीको यह बात मुँहपर भी नहीं लानी चाहिये कि इस संसारमें भक्त होनेका कोई उपाय नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय तो यह भगवान्‌के प्रति भयानक दोषारोपण होगा। कोई दुराचारी भी भगवान्‌को पुकारे तो वह भी थोड़े ही दिनोंमें धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति प्राप्त करता है। तब फिर निराश होनेका कारण कहाँ है! सभी कमर कसकर अग्रसर हो सकते हैं, भगवान् सभीको कृतार्थ करेंगे। हम जितने भी जगाई-मधाई (महापापी) हैं, सभीका उद्धार हो जायगा।

चुम्बक पत्थर जैसे लोहेका आकर्षण करता है, उसी प्रकार वे हमलोगोंका आकर्षण करते हैं। कीचड़से सने हुए लोहेके समान होनेके कारण हम उनमें लग नहीं पाते हैं, रोते-रोते जब कीचड़ धुल जायगा, तब हम चटसे उनमें लग जायँगे। उनको पुकारना पड़ेगा तथा पापके कारण रोना पड़ेगा; इसीसे उनकी कृपाकी अनुभूति होगी। इसमें विद्या, धन और मानकी आवश्यकता नहीं है। वे जिसपर कृपा करते हैं, वही व्यक्ति उनको पाता है।

भगवान्‌को पुकारने, उनकी कृपा प्राप्त करने तथा उन्हें प्राण समर्पण करनेके मार्गमें कुछ बाधाएँ हैं। कुसङ्ग, कुचित्र-दर्शन, कुसङ्गीत-श्रवण, कुग्रन्थ-अध्ययन आदि भक्तिपथके भारी कण्टक हैं। और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, उच्छृङ्खलता, सांसारिक दुश्चिन्ता, पटवारी-बुद्धि अर्थात् कौटिल्य, बहुत बोलनेकी प्रवृत्ति, कुतर्क करनेकी इच्छा, धर्माडम्बर तथा लोकभय आदि भक्तिपथके मानस-कण्टक हैं।

भक्तिपथके सहायक

आत्मचिन्तन भक्तिपथका प्रधान सहायक है। प्रत्येक दिन यदि हम विचार करें कि हम किस प्रकार जीवनयापन करते हैं, कितना सत्कर्म करते हैं, कितना असत्कर्म करते हैं, पापके साथ किस प्रकार संग्राम करते हैं तो हम अपनी यथार्थ अवस्था देखकर सिहर उठेंगे। इस प्रकार जो अपनी यथार्थ अवस्थाको समझते हैं, वे ही भगवान्‌के शरणापन्न होनेके लिये व्याकुल होते हैं। यही भक्तिका प्रथम सोपान है। जैसे कुसङ्ग भक्तिपथका कण्टक है, उसी प्रकार सत्सङ्ग भक्ति-पथका सहायक है। साधुजन अपने मधुरोपदेशरूपी किरण-मालाके द्वारा लोगोंके हृदयके पापरूपी अन्धकारको पूर्णतया नष्ट कर देते हैं। जो लोग प्राणोंसे भगवच्चर्चा करते हैं, उनकी चरणधूलि ग्रहण करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रकारके व्यक्तिके पास उपस्थित होते ही फल प्राप्त होता है। 'फल निश्चय ही रस लाता है'। साधुसङ्गसे जो उपकार होता है उसका दृष्टान्त है—जगाई-मधाईका उद्धार।

जो जिस देवताका उपासक है वह उसी देवताकी पूजा आराधना करके भक्तिलाभ कर सकता है। जिनका मूर्तिमें विश्वास नहीं होता, उनके लिये प्रकृतिमें भगवान्‌को उपलब्ध करके उनका चिन्तन और लीला-कीर्तन आदि करना ही श्रीकृष्ण-सेवा है। विश्वमय भगवान्‌के आश्चर्य रचना-कौशल और विविध क्रीड़ाको देखकर किसका प्राण उनसे द्रव नहीं जाता!

धर्मग्रन्थोंका पठन और श्रवण विशेष उपकारी होता है। भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन, लीला-कीर्तन, भक्ति-प्रचार और भक्तोंके चरित्र जिन ग्रन्थोंमें प्रचुर परिमाणमें पाये जाते हैं, उनका अध्ययन और श्रवण करनेपर मन भक्तिरससे आप्लुत होता है।

नाम-कीर्तन, श्रवण और जप भक्तिपथके प्रधान सहायक हैं। जिन्होंने भगवान्‌के नाम और लीला-कीर्तनरूपी व्रतका अवलम्बन किया है, उस प्रियतम भगवान्‌का नाम-कीर्तन करते-करते उनके हृदयमें अनुरागका उदय होता है और चित्त द्रवीभूत हो जाता है। बन्धु-बान्धवोंको साथ लेकर प्रतिदिन किसी समय नाम-संकीर्तन करनेके समान आनन्दका व्यापार और कुछ भी नहीं है। सचमुच ही उस समय आनन्द-सागर उमड़ उठता है, प्राणोंमें शान्ति प्राप्त होती है, विषयवासना अन्ततः उस समय तिरोहित हो जाती है। नाम-संकीर्तन करते-करते प्रेमका संचार और पापका नाश होता है।

नाम-जप करनेके लिये नामका अर्थ और शक्ति जान लेनी चाहिये। जो जिस नामका मन्त्रके रूपमें जप करते हैं उनको उसका अर्थ और शक्तिको जान लेना आवश्यक है। जो साधक मन्त्रका अर्थ और शक्ति नहीं जानता, वह सौ-सौ बार जप करनेपर भी मन्त्र सिद्ध नहीं कर पाता। क्रमशः नाम-जप करनेपर जो लाभ होता है, उसको भक्त कबीरने अपने जीवनमें समझ पाया था। कबीर अपने एक दोहेमें कहते हैं—

(कबीर) तूँ तूँ करता तूँ भया मुझमें रही न हूँ।
बलिहारी इस नाम की जित देखूँ तित तूँ॥

जप करते-करते साधक इस अवस्थाको प्राप्त होता है, भगवान्‌में डूब जाता है, चारों ओर भगवान्‌के सिवा और कुछ नहीं देख पाता, उसे समस्त ब्रह्माण्डमय भगवत्स्फूर्ति होने लगती है।

तीर्थ-भ्रमण या तीर्थमें वास करनेसे हृदयमें भक्तिका भाव जागरित होता है। तीर्थको पुण्यभूमि क्यों कहते हैं? भूमिका कुछ अद्भुत प्रभाव, जलका कोई अद्भुत तेज अथवा मुनियोंका अधिष्ठान होनेके कारण तीर्थ पुण्यस्थान कहलाते हैं।

ज्वालामुखी तीर्थमें पहाड़से निकलनेवाली अग्निशिखा, सीताकुण्डमें उष्ण जलका प्रस्रवण, केदारनाथमें तुषार-मण्डित गिरिशृङ्ग, हरद्वारमें प्रसन्नसलिला भागीरथीका दर्शन करनेपर किसके प्राण भक्तिरससे आप्लुत नहीं हो जाते? और वृन्दावनमें श्रीकृष्णका स्मरण करके, नवद्वीपमें श्रीगौराङ्गकी लीलाका ध्यान करके, अयोध्यामें श्रीरामचन्द्रके कीर्ति-चिह्नको देखकर किसके हृदयमें पवित्र भावका उदय नहीं होता? और केवल साधु-महात्माओंकी बात ही क्यों कहें? तीर्थस्थलोंमें महापुरुषोंका साक्षात्कार प्राप्त कर कितने लोग कृतार्थ हो गये हैं; यह याद करनेपर भी प्राणोंमें भक्तिका संचार होता है।

× × × ×

भगवान्‌को निवेदन बिना किये कोई कार्य न करो, कोई वचन न बोलो, किसी विचारको मनमें स्थान न दो—यदि हम इस प्रकारके भावको एक बार हृदयमें दृढ़ कर सकें तो अपने-आप प्राण भक्तिसे भर जायँगे। सब विषयोंमें उनका स्मरण करनेपर मनुष्य उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता।

भक्ति-रस

जब ईश्वरमें निष्ठा होती है, जब संसारासक्ति लुप्त हो जाती है, तभी मन शान्त होता है। शान्तरस भक्तिका प्रथम सोपान है। परमेश्वर परम ब्रह्म परमात्मा हैं—यह ज्ञान भक्तके चित्तमें शान्तरसमें उदय होता है।

दास्यरतिमें भक्तके मनमें ममताका संचार होता है। वह भगवान्‌की सेवा करनेमें व्यस्त होता है। श्रीकृष्ण-सेवाके सिवा उसको और कुछ अच्छा नहीं लगता। वह भगवान्‌से कुछ भी कामना नहीं करता, केवल उनकी सेवा करना चाहता है।

सख्यरसका प्रधान लक्षण यह है कि भक्तके सामने भगवान्‌की अपेक्षा और कोई प्रियतर नहीं होता। गुहराज कहते हैं—'पृथ्वीपर रामकी अपेक्षा कोई मेरा प्रियतर नहीं।' जो भक्त प्राणोंके भीतर भगवान्‌के साथ क्रीड़ा करता है, वही सख्यरसकी माधुरीका उपभोग कर सकता है। सख्य-रतिमें भक्त भगवान्‌को अपना अलङ्कार बना लेता है। वृन्दावनके मार्गमें अन्ध बिल्वमङ्गलके पथ-प्रदर्शक श्रीकृष्ण बलपूर्वक जब उनका हाथ छुड़ाकर चले जाते हैं, तब बिल्वमङ्गल कहते हैं—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

'श्रीकृष्ण! तुम बलपूर्वक हाथ छुड़ाकर चले जाते हो, इसमें आश्चर्य क्या है? हृदयसे यदि तुम दूर हो सको, तब मैं जानूँ कि तुममें बल है।' भक्तने अपने भगवान्‌को सर्वथा हृदयका अलङ्कार बनाकर बाँध रक्खा है। अब भगवान्‌के लिये भागनेका रास्ता नहीं है।

वात्सल्य-रसमें भगवान् गोपाल हैं। भक्त उनको पुत्रके समान प्यार करता है, स्नेह करता है, गोदमें ले लेता है। माता यशोदाके सामने भगवान् गोपाल-वेशमें उपस्थित होकर प्रेमलीला करते थे, वह उनको थोड़ा-सा प्रेम दिखलाकर फिर विमुग्ध कर देते थे। फिर यदि वह अन्तर्हित हो

जाते थे तो गोपालके वियोगमें भक्त अनुतापसे छटपटाने लगते थे।

प्राणोंमें मधुर रसका संचार होनेपर—'सती जैसे पतिके सिवा दूसरेको नहीं जानती'—भक्त भी उसी प्रकार भगवान्‌के सिवा और किसीको नहीं जानता। इस अवस्थामें भक्त और भगवान् सती और पति हैं। महाप्रभु श्रीचैतन्य इसी भावमें बेसुध हो गये थे। चैतन्य और भगवान् राधा और श्रीकृष्ण हैं, जीवात्मा और परमात्मा हैं। जो इस मधुररसमें डूब गया है उसके फिर बाहरके धर्म-कर्म नहीं रह जाते। वह 'वेदविधि छोड़ चुका।' पागल हाफिजने इसी कारण अपने शास्त्रोक्त कर्मकाण्डका त्याग कर दिया था। वृन्दावनकी गोपिकाओंका कामगन्ध-हीन प्रेम मधुररसका परम आदर्श है।

इस रसके आवेशमें प्राणमें किस भावका उदय होता है। यह हम क्या जानें? उस समय हृदयवल्लभको वक्षःस्थल चीरकर हृदयके भीतर भरकर रखनेपर भी प्यास नहीं बुझती। भगवान्‌के साथ हृदय-से-हृदय मिलाकर, मुँह-से-मुँह मिलाकर रहना क्या है, इसको क्या हम कुछ समझ सकते हैं? इसी भावके आवेशमें विभोर होकर विल्वमङ्गलने कहा—'इस विभुका शरीर मधुर है, मुखमण्डल मधुर है, मधुर है, मधुर है, अहो! मृदु हास्य मधुगन्धयुक्त है, मधुर है, मधुर है, मधुर है!'

भक्तिका चरमोत्कर्ष यहींतक है। इसके आगे क्या है, उसे कौन बतलावेगा?

निष्काम कर्मयोग

यह संसार कर्मभूमि है। स्वयं भगवान् महाकर्मी हैं। वे इस ब्रह्माण्ड-गृहके महागृहस्थ हैं। स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वव्यापी इस महापरिवारमें जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता है, उसको वह वस्तु ठीक तौरसे प्रदान करनेका प्रभु सदा प्रबन्ध करते रहते हैं। इस संसारमें कर्मके बिना कोई ठहर नहीं सकता। आत्म-रक्षा और जगत्-रक्षाके लिये सभी कर्मचक्रमें घूम रहे हैं। निष्काम कर्मयोगके सिवा हमारे उद्धारका और कोई मार्ग नहीं है। जातीय उत्थान-पतन कभी कर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। भारतवर्ष जबसे निष्काम कर्मके उच्च आदर्शको भूल गया, तभीसे इस देशकी अवनति प्रारम्भ हुई। कर्मको अन्तर्मुख कर लेनेपर जैसे उसके द्वारा बाहरी मङ्गल-साधन होता है, उसी प्रकार भीतरका मङ्गल भी सम्पादित होता है। कर्मभ्रष्ट, अकाल संन्यासी, और कर्मान्ध फेर किसी विषयके लिये भी यह धारणा स्थिर नहीं रह सकता।

भगवान् सच्चिदानन्द हैं। हमारे जीवनमें भी इस सच्चिदानन्दकी लीला चलती है। हम जबतक अपने हृदयोंमें इस सच्चिदानन्दको प्रतिष्ठित नहीं करेंगे, तबतक 'कर्मयोग' 'कर्मभोग' में ही पर्यवसित होगा। जगत्‌में व्याप्त होकर क्रमशः आंशिक भावमें जो सच्चिदानन्दकी प्रतिष्ठा हो रही है, इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

× × × ×

महाभारतमें विदुरने कहा है—'जो सब भूतोंका हितोत्पादक है, वही हमारे लिये सुखप्रद होगा। कर्ताके लिये यही सर्वार्थसिद्धिका मूल है।'

दार्शनिकचूड़ामणि काण्टने भी यही बात कही है—'इस प्रकार कर्म करो कि तुम्हारे कर्मका मूलसूत्र सार्वभौम विधिके रूपमें ग्रहण किया जा सके।'

सुप्रसिद्ध जोसेफ मैजिनीने कार्यकर्ताओंको उपदेश दिया है—'तुम परिवारके लिये या देशके लिये जो काम करने जा रहे हो, उस प्रत्येक कार्यके पहले अपनेसे पूछो, मैं जो करने जा रहा हूँ, वह यदि सभी लोग करते तथा सबके लिये किया जाता तो उसके द्वारा समस्त मानव-समाजका लाभ होता या हानि? यदि तुम्हारा विवेक कहता है कि हानि होगी तो उस कार्यको मत करो, यदि उसके द्वारा स्वदेश तथा स्वपरिवारका आपाततः कोई लाभ भी होता हो तथापि उस कार्यको मत करो।'

अहङ्कारसे हानि

ऋषियोंने, भक्तोंने इस देशकी अस्थि-मज्जामें सात्त्विक भाव इतनी दृढ़तासे प्रविष्ट करा दिया था कि आज भी साधारण किसान तीर्थ-भ्रमण करके लौटनेपर अपनी तीर्थयात्राके विषयमें कुछ वर्णन करनेके लिये इच्छुक न होगा, क्योंकि ऐसा करनेसे उसके मनमें अहङ्कार उत्पन्न हो जायगा। आज भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जो समाचारपत्रोंमें नाम न छपे, इस कारण बहुत गुप्त रीतिसे दान देते हैं।

'कर्ताके श्रीचरणोंमें प्रार्थना करता हूँ, किसी जातिके प्रति हिंसा-द्वेषसे दग्धबुद्धि होकर हम कहीं निकृष्ट भावसे उन्नतिके मोहसे मुग्ध न हों। हम ऋषिनिर्दिष्ट आध्यात्मिक लक्ष्यको स्थिर करके शुभेच्छाके द्वारा समस्त मानवजातिका मङ्गल करें। हमारा समस्त सामाजिक, जातीय और राष्ट्रिय उत्थान, अनुष्ठान और प्रचेष्टा केवल विश्वमैत्रीपर्यवसित हो।'

प्रेम

आजकल बाजारमें केवल प्रेमके नामसे अनिष्टकर पदार्थ बेच रहा है। युवक-युवती इसे न समझकर उसे खरीद रहे हैं। प्रेमके नामपर काम और मोह बिक रहे हैं। असली प्रेम अमृतमय है, अमूल्य पदार्थ है, स्वर्गसे प्रेरित होता है पृथ्वीको स्वर्गमें परिणत करनेके लिये। यह प्रेमरूपी अमृत

प्रेमको प्रेरित करते हैं। जहाँ भगवद्-बुद्धि नहीं है, वहाँ प्रेम खड़ा नहीं हो सकता। प्रेमकी भित्ति हैं भगवान्। युवको! खोज करके देखो तुम्हारे प्रेमके मूलमें भगवान् हैं या नहीं! जिससे प्रेम करते हो, उसके साथ भगवच्चर्चा करनेकी इच्छा होती है या नहीं? पवित्रता-संचयके लिये परस्पर सहायता करते हो या नहीं?

जहाँ पवित्रता नहीं, वहाँ प्रेम नहीं। प्रेमस्वरूपकी सत्ता पवित्रतामय है। पृथ्वीका कोई कलङ्क जिस प्रेममें लगा है, वह प्रेम कभी 'प्रेम'के नामके उपयुक्त नहीं है। तुम जिससे प्रेम करते हो, एक बार उसकी ओर ताककर देखो, उसका मुख देखनेपर भगवान् याद आते हैं या नहीं?

प्रेमके सम्बन्धमें सर्वदा आत्मपरीक्षा करो। तुम्हारा प्रेम-पात्र तुम्हारे आत्मसंयमको नष्ट करता है या नहीं? कर्तव्य-कार्य करनेकी इच्छाको कम करता है या नहीं? उसके मिलन या विरहमें प्राण विशेषरूपसे चञ्चल होते हैं या नहीं? उसको लेकर चञ्चल आमोद करनेकी इच्छा होती है या नहीं? तुमसे जो प्रेम करता है वह दूसरे किसीको प्रेम करे तो मनमें ईर्ष्याका उदय होता है या नहीं? यदि देखो कि आत्मसंयम नष्ट होता है, कर्तव्य-कार्यमें बाधा पड़ती है, चञ्चल आमोद करनेकी इच्छा होती है, ईर्ष्याका उदय होता है, तो जान लो कि तुम्हारा यह कलङ्कित प्रेम यथार्थ प्रेम नहीं है!

प्रेमका सर्वप्रधान धर्म है—स्वार्थरहित होना। प्रेम कभी अपनेको नहीं पहचानता। दूसरेके लिये सदा उन्मत्त रहता है। स्वार्थपरता और प्रेम परस्पर-विरोधी हैं। जहाँ स्वार्थ-परता है वहाँ प्रेम नहीं है। जितनी ही प्रेमकी वृद्धि होती है, उतना ही स्वार्थपरताका ह्रास होता है। प्रेमी प्रेमास्पदके सुखके लिये अपने सुखका त्याग करता है। साधारण सुख-स्वच्छन्दताके किसी नगण्य-से पदार्थका भोग प्राप्त होनेपर भी पहले प्रेमास्पदको भोग मिलना चाहिये, अन्यथा प्रेमी उसका भोग नहीं कर सकता। और विषम संकट उपस्थित होनेपर जब मरुभूमिमें प्यासके मारे प्राण जानेको प्रस्तुत हो जाते हैं, एकसे अधिक दो आदमीतकके पीनेयोग्य पानीका पता नहीं मिलता, वहाँ भी प्रेमास्पदके जीवनकी रक्षा पहले की जाती है। पिथियस कहता है, 'डामन, तुम रहो, मैं मरूँगा।' फिर डामन कहता है, 'न, यह नहीं होगा, मैं ही मरूँगा।' कदापि डामन पिथियसको, और पिथियस डामनको मरने नहीं दे सकते। दोनों ही अपने प्राण देकर अपने मित्रके प्राण बचानेके लिये पागल हैं। यही प्रेमीका चित्र है। प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता, मोह प्रतिदान चाहता है।

'देते-लेते बदला पाते, मिट जाती है प्रेम-पिपास।'

—यह विनिमयका भाव तो वणिक् वृत्ति है। यथार्थ प्रेमी कभी वणिक् नहीं हो सकते। वे प्रेम करके ही सुखी होते हैं, प्रेमास्पदका प्रेम पानेके लिये व्याकुल नहीं होते। 'वे प्रेम करेंगे, इस हेतु मैं प्रेम नहीं करता'—यह प्रेमीका भाव है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

इन्द्रियगम्य बाह्य सुखोंकी अपेक्षा बुद्धिगम्य अन्तःसुखकी अर्थात् आध्यात्मिक सुखकी योग्यता अधिक तो है ही, परंतु इसके साथ एक बात यह भी है कि विषय-सुख अनित्य है। यह दशा नीति-धर्मकी नहीं है। इस बातको सभी मानते हैं कि अहिंसा, सत्य आदि धर्म कुछ बाहरी उपाधियों अर्थात् सुख-दुःखोंपर अवलम्बित नहीं हैं, किंतु वे सभी अवसरोंके लिये और सब कर्मोंमें एक समान उपयोगी हो सकते हैं, अतएव नित्य हैं।

कर्म-स्वरूपसे [illegible] कर्मको छोड़ देना उचित नहीं है, किंतु [illegible] बुद्धिको [illegible] परमेश्वरके [illegible] करो [illegible] ही [illegible] है। कर्मको छोड़ देना उचित नहीं है, [illegible] कहीं [illegible] नहीं [illegible]।

प्रतीक कुछ भी हो, भक्तिमार्गका फल प्रतीकमें नहीं है, किंतु उस प्रतीकसे जो हमारा आन्तरिक भाव होता है उस भावमें है, इसलिये यह सत्य है कि प्रतीकके बारेमें झगड़ा मचानेसे कुछ लाभ नहीं।

जिस का कोई न हो हृदय से उसे लगाले,
[illegible] के लिये प्रेम की [illegible] उतार।
[illegible] सिंधु की [illegible] मन की [illegible],
है बस [illegible] की [illegible]॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]
उस सिंधु का [illegible]॥

मृगतृष्णा——संसार-सुखोंका नग्न रूप

मृगतृष्णा—संसार-सुखोंका नग्न रूप

परिणाममें नरक-भोग

मरुप्रदेश और उसमें भी ज्येष्ठकी तपती दोपहरी। ऊपर मार्तण्डकी अग्नि-वर्षा और नीचे भड़भूजेके भाड़की रेणुकासे प्रतिद्वन्द्विता करती बालुका-राशि। न कहीं वृक्षकी छाया है, न जलका लेश। चिलचिलाती दोपहरीमें सूर्यकी किरणें—जैसे प्यासी प्रेतिनियोंका समूह धराका समस्त रस चूस लेनेको खप्पर लेकर निकल पड़ा हो।

बड़ी उष्णता, भयंकर उत्ताप, तीव्र पिपासा—हरिनोंका झुंड दौड़ता जा रहा है। प्राणोंकी शक्ति पैरोंमें आ गयी है। पूरी छलाँगें भरते मृग दौड़ रहे हैं। एक आशा—एक विश्वास—'आगे समुद्र लहरा रहा है। वहाँ पहुँचते ही ताप शान्त हो जायगा। प्यास बुझ जायगी।'

एक दल नहीं है। अनेक यूथ हैं मृगोंके। वे दौड़ते जा रहे हैं—दौड़ते ही जा रहे हैं। प्रत्येक यूथ अपने आगेके यूथको देखता है और सोचता है—'वे मृग पहुँच गये। मिट गयी उनकी पिपासा। वे सुखी हैं, तृप्त हैं। हमें भी वहीं पहुँचना है।' प्रत्येक यूथ अपनेसे आगेके यूथको ही देखता दौड़ा जा रहा है।

यह दौड़, यह प्रगति—ज्वाला बढ़ती जा रही है, ताप उत्तरोत्तर भीषण होता जा रहा है। लहराती किरणोंमें दीखता जल आगे ही दीख पड़ता है। तड़पन, मूर्छा, मृत्यु—यहाँ दूसरा क्या मिलना है। जहाँ जल है ही नहीं, वहाँ जल या शीतलता मिल कैसे सकती है।

× × ×

मृग पशु हैं—पशु ही हैं संसारके भोगोंमें आसक्त मानव भी। उनकी तृष्णा भटका रही है उन्हें। 'भोगोंमें सुख है। धनमें सुख है। मान-प्रतिष्ठामें, पद और अधिकारमें या व्यसनोंके सेवनमें सुख है।' मृग-मरीचिकामें मृगोंको लहराता समुद्र दीखता है—मानवको भोगोंमें सुख दीख रहा है। संसारके भोग—मरुभूमिकी उष्ण रेणुका है। उसमें शीतल जल दीखता हो उठती है; किंतु भोगोंकी रेणुका शीतल होना सम्भव ही नहीं।

'वे सुखी हैं। वे सम्पन्न हैं। उनके पास इतने भोग-साधन हैं। हमें भी वे साधन प्राप्त करने हैं। हमें भी उस स्थितिमें पहुँचना है। हम वहाँ पहुँचकर सुखी होंगे।' प्रत्येक अपनेसे आगे, अपनेसे समृद्धको देखता है। प्रत्येक पूरा प्रयास करता है वहाँतक बढ़ जानेका। सब असंतुष्ट हैं, सब अधिक-अधिक भोग-सामग्री पानेके प्रयत्नमें लगे हैं। बढ़ती जा रही है तृष्णा, बढ़ती जा रही है अशान्ति, बढ़ता जा रहा है संघर्ष और बढ़ता जा रहा है दुःख!

भोगोंके सेवनसे मिलते हैं रोग। भोगोंकी प्राप्तिसे मिलता है संघर्ष, भय, अशान्ति। भोगोंकी प्राप्तिके उद्योगमें मिलता है श्रम, द्वेष, कटुता, छीना-झपटी, वैर और हिंसा। जहाँ सुख है नहीं, वहाँ सुख मिलेगा कैसे। भोगोंमें तो सुख है नहीं। वहाँ तो अशान्ति, असंतोष, संघर्षकी ज्वाला है। वहाँसे भ्रान्ति, निराशा और दुःख ही मिलते हैं।

× × ×

मरुभूमिमें भटकते मृग मूर्छित होते हैं, तड़प-तड़पकर मरते हैं; किंतु एक बार मरते हैं। लेकिन संसारके भोगोंमें आसक्त मानव—जीवनभर दुःख, नैराश्य एवं अशान्ति भोगनेके बाद मृत्युको प्राप्त होता है। सहस्र-सहस्र बार दारुण मृत्युको प्राप्त करता है वह। क्योंकि—

भोगोंको प्राप्त करता है वह पापसे। भोगोंकी प्राप्तिके प्रयत्नमें पाप होते हैं और भोगोंकी प्राप्ति होनेपर प्रमत्त मानव पाप करता है। पापमय ही हैं भोग। छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, चोरी, हिंसा, अनाचार आदि पापोंका मूल है मानसिक भोगोंकी तृष्णा।

पापका परिणाम है नरक। भोगासक्त प्राणी पापरत होता है और पापरत होकर नरकमें जाता है। सहस्र-सहस्र वर्षोंतक उसे वहाँ नरककी दारुण यन्त्रणा दी जाती है। भोगोंमें रत, अर्थसञ्चयमें और [illegible] मानवकी—उसकी दुर्दशा कितनी भयानक होती है। ऐसे उसके दुर्भाग्यका परिणाम प्राणीको नरक देकर भोगना ही पड़ता है!

महामना पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय

(जन्म—वि० सं० १९१८, पौष कृ० ८, प्रयाग । पिताका नाम—पं० श्रीव्रजनाथजी । देहावसान—वि० सं० २००३ मार्गशीर्ष कृ० ४, काशीधाममें ।)

हिंदू-धर्मोपदेश

हिताय सर्वलोकानां
निग्रहाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय
प्रणम्य परमेश्वरम् ॥
ग्रामे ग्रामे सभा कार्या
ग्रामे ग्रामे कथा शुभा ।
पाठशाला मल्लशाला प्रतिपर्वमहोत्सवः ॥
अनाथा विधवा रक्ष्या मन्दिराणि तथा च गौः ।
धर्म्यं संघटनं कृत्वा देयं दानं च तद्धितम् ॥
स्त्रीणां समादरः कार्यो दुःखितेषु दया तथा ।
अहिंसका न हन्तव्या आततायी वधार्हणः ॥
अभयं सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा ।
सेव्यं सदामृतमिव स्त्रीभिश्च पुरुषैस्तथा ॥
कर्मणां फलमस्तीति विस्मर्तव्यं न जातु चित् ।
भवेत् पुनः पुनर्जन्म मोक्षस्तद्नुसारतः ॥
स्मर्तव्यः सततं विष्णुः सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
एक एवाद्वितीयो यः शोकपापहरः शिवः ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च लोकानां योऽव्ययः पिता ॥
उत्तमः सर्वधर्माणां हिंदूधर्मोऽयमुच्यते ।
रक्ष्यः प्रचारणीयश्च सर्वभूतहिते रतैः ॥

परमेश्वरको प्रणाम कर, सब प्राणियोंके उपकारके लिये, बुराई करनेवालोंको दबाने और दण्ड देनेके लिये और धर्मकी स्थापनाके लिये, धर्मके अनुसार संघटन एवं विचार कर गाँव-गाँवमें सभा करनी चाहिये । गाँव-गाँवमें कथा बिठानी चाहिये । गाँव-गाँवमें पाठशाला और अखाड़ा खोलना चाहिये और पर्व-पर्वपर मिलकर महोत्सव मनाना चाहिये ।

सब भाइयोंको मिलकर अनाथोंकी, मन्दिरोंकी और गोमाता गौकी रक्षा करनी चाहिये और इन सब कामोंके लिये दान देना चाहिये । स्त्रियोंका सम्मान करना चाहिये । दुःखियोंपर दया करनी चाहिये ।

उन जीवोंको नहीं मारना चाहिये जो किसीपर चोट नहीं करते । मारना उनको चाहिये जो आततायी हों अर्थात् जो स्त्रियोंपर या किसी दूसरेके धन या प्राणपर आक्रमण करते हों और जो किसीके घरमें आग लगाते हों । ऐसे लोगोंको मारे बिना यदि अपना या दूसरोंका प्राण या धन न बच सके तो उनको मारना धर्म है ।

स्त्रियोंको और पुरुषोंको भी निडरपन, सचाई, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, धीरज और क्षमाको अमृतके समान सदा सेवन करना चाहिये ।

इस बातको कभी न भूलना चाहिये कि भले कर्मोंका फल भला और बुरे कर्मोंका फल बुरा होता है और कर्मोंके अनुसार ही प्राणीको बार-बार जन्म लेना पड़ता है या मोक्ष मिलता है ।

घट-घटमें बसनेवाले विष्णु—सर्वव्यापी ईश्वरका सुमिरन सदा करना चाहिये, जिनके समान दूसरा कोई नहीं, जो एक ही अद्वितीय हैं और जो दुःख और पापके हरनेवाले शिव-स्वरूप हैं, जो सब पवित्र वस्तुओंसे अधिक पवित्र, जो सब मङ्गल कर्मोंके मङ्गलस्वरूप हैं, जो सब देवताओंके देवता हैं और जो समस्त संसारके एक अविनाशी पिता हैं ।

सब धर्मोंमें उत्तम इसी धर्मको हिंदू-धर्म कहते हैं । सब प्राणियोंका हित चाहते हुए धर्मकी रक्षा और प्रचार करना हमारा धर्म है ।

ईश्वर और उसकी सर्वव्यापकता

……इस बातका ध्यान रक्खो कि यह सम्पूर्ण सृष्टि एक ही है और इसका नियन्ता तथा व्यवस्थापक एक अविनाशी, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, शक्ति अथवा परमात्मा है, जिसके बिना कुछ भी जीवित नहीं रह सकता । यह याद रक्खो कि यह विश्व उसी अद्वितीय शक्तिका साक्षात्कार है । जैसा कि उपनिषदोंने बताया है कि दृश्य अथवा अदृश्य, सबका कर्ता तथा भर्ता वही परमात्मा है । इस बातका ध्यान रक्खो कि यह शक्ति—उसे ब्रह्म कहो अथवा ईश्वर कहो—समीप और दूर तथा सब में वर्तमान है । जीवित प्राणियोंका वही जीवन है । जब कभी आपको इस शक्तिके अस्तित्वमें सन्देह

पैदा हो तो आप अपनी दृष्टि आकाशकी ओर फेरिये, जो उन ताराओं और ग्रहोंसे विचित्र प्रकारसे सुशोभित है, जो असंख्य युगोंसे मनोहारी ढंगसे भ्रमण करते आये हैं। उस प्रकाशकी ओर ध्यान दो जो अत्यन्त दूरस्थ सूर्यसे पृथ्वीपरके जीवोंकी रक्षाके लिये आश्चर्यकारी वेगसे यात्रा करके आता है। अपनी दृष्टि तथा अपने मस्तिष्कको अपनी शक्तिरूपी अद्भुत मशीनरी ओर झुकाओ, जिसे परमात्माने आपको दिया है और इस वस्की अद्भुत बनावट और शक्तिपर गम्भीरतापूर्वक विचार करो। अपने चारों ओर निगाह फेरो और सुन्दर पशु-पक्षियोंको, मनोहर वृक्षोंको, कमनीय पुष्पों और स्वादिष्ट फलोंको देखो। इस बातको स्मरण रक्खो कि वह परमात्मा, जिसे हम ब्रह्म अथवा ईश्वर कहते हैं, इस सम्पूर्ण जीवधारी सृष्टिमें उसी प्रकार वर्तमान है जैसे मुझमें या आपमें। यही सब धार्मिक उपदेशोंका तत्त्व है—

> स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातु चित्।
> सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥

ईश्वरको सदैव स्मरण रखना चाहिये। उसे कभी न भुलाओ। सभी धार्मिक आदेशों तथा निषेधोंका इन्हीं दो वाक्योंसे पालन हो जाता है। यदि आप यह याद रक्खेंगे कि परमात्मा विद्यमान है और वही सभी जीवधारियोंमें विद्यमान है तो उस ईश्वर तथा अन्य जीवधारी भाइयोंसे आपका सच्चा सम्बन्ध सदा बना रहेगा। इसी विश्वाससे कि परमात्मा सभी प्राणधारियोंमें विद्यमान है, मूल उपदेशोंका निर्माण हुआ है जिनमें सभी प्रकारके मानवधर्मके आदेशों तथा धर्मोंका समावेश हो जाता है। जैसे—

> आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात्, दूसरोंके प्रति कोई भी ऐसा आचरण न करो जिसे तुम अपने प्रति किये जानेपर अप्रिय समझते हो, तथा—

> यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्।

अर्थात्, जो कुछ तुम अपने प्रति चाहते हो, वैसा ही तुम्हें दूसरोंके प्रति भी करना आवश्यक है, ऐसा समझना चाहिये।

ये दो प्राचीन आदेश मनुष्यमात्रके लिये पूर्ण आचरणीय हैं।

यदि कोई मनुष्य आपकी घड़ी अथवा आपकी अन्य कोई वस्तु चुरावे तो आपको दुःख होता है। इसी प्रकार दूसरोंकी घड़ी आदि चुराकर आप उसे दुःख न पहुँचाइये। जब आप बीमार या प्यासे रहते हैं उस समय आप चाहते हैं कि कोई आपको ओषधि देता और आपकी प्यास बुझा देता। इसलिये यदि आपका कोई भाई या आपकी बहन उसी प्रकारकी सेवाकी आवश्यकतामें हो तो आपका यह धर्म है कि उनकी सेवा करें। इन दो अकरणीय तथा करणीय आदेशोंको आप याद रक्खें; क्योंकि धर्मके ये ही दो स्वर्ण-नियम हैं, जिनकी प्रशंसा संसारके सभी धर्मोंमें की गयी है। धर्म तथा नीतिके ये ही आत्मा हैं। ईसाई-धर्म तो इसे अपना मुख्य धर्म मानता है। परंतु वास्तवमें यह एक बहुत ही पुरातन उपदेश है, जो ईसाके जन्मसे हजारों वर्ष पहले महाभारतमें प्रशंसा पा चुका था। मैं किसी सङ्कुचित विचारसे ऐसा नहीं कहता। मेरा अभिप्राय यह है कि आपके हृदयमें यह बात दृढ़ हो जाय कि ये प्राचीन उपदेश हमारे यहाँ परम्परासे चले आते हैं और हमारी अमूल्य बपौती हैं। ये केवल हिंदुओंके ही लिये नहीं हैं बल्कि सारी मनुष्य-जातिकी अमूल्य निधि हैं। आप इन्हें अपने हृदयमें संचित कर लीजिये और मुझे पूर्ण विश्वास है कि ईश्वर तथा मनुष्य दोनोंके साथ आपका सम्बन्ध सत्य तथा प्रिय रहेगा।

जन्म-भूमि भारतकी महिमा

आपको यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि यह देश आपका जन्म-स्थान है। यह एक सुन्दर देश है। सभी बातोंके विचारसे संसारमें इसके समान कोई दूसरा देश नहीं है। आपको इस बातके लिये कृतज्ञ तथा गौरवान्वित होना चाहिये कि उस कृपालु परमेश्वरने आपको इस देशमें पैदा किया। आपका इसके प्रति एक मुख्य कर्तव्य है। आपने इसी माताकी गोदमें जन्म लिया है, इसने आपको भोजन दिया, वस्त्र दिया तथा आपका पालन-पोषण करके आपको बड़ा बनाया है। यही आपको सब प्रकारकी सुविधा, सुख, लाभ तथा यश देती है। यही आपकी क्रीड़ा-भूमि रही है और यही आपके जीवनका कार्य क्षेत्र बनेगी तथा आपकी सभी आशाओं तथा उमंगोंका केन्द्र रहेगी। यही आपके पूर्वजों तथा जातिके बड़े-से-बड़े अथवा छोटे-से-छोटे मनुष्यका कार्य क्षेत्र रही है। अतएव पृथ्वीके धरातलपर यही भूमि आपके लिये सबसे बढ़कर प्रिय और आदरणीय होनी चाहिये।

अहिंसा धर्म और अपनी रक्षाका हक

इसमें कुछ शक नहीं कि 'अहिंसा परमो धर्मः' अहिंसा

हमारा मुख्य धर्म है। लेकिन मनुस्मृतिमें यह भी लिखा है कि किसी आततायीको बिना विचारे मार दो। आततायी उसे कहते हैं जो चोरी-डाका डालने, लूट-मार करने, आग लगाने या बेकसूरोंके सतानेके इरादेसे हमला करे। अंग्रेजी कानूनमें भी यह बात आती है। मुसल्मानी तहज़ीबमें भी इसकी इजाज़त है। हमारे यहाँ 'गौ-गोहार' और 'त्रिया-गोहार' बहुत मशहूर हैं कि जब कभी गौ या किसी देवीपर मुसीबत आयी, उसने पुकार की कि फौरन तमाम गाँव इकट्ठा हो गया और पाजी-दुष्टोंको भगा दिया। भाइयो! अब हम अपने पुराने आचारको छोड़ बैठे हैं, नयेको भी ग्रहण नहीं किया। सन् १८६० ई० में जाब्ता फौजदारी बनाया गया था। उसकी रूसे भी आत्मरक्षा करनेका हक हर एकको हासिल है। ताज़ीराते हिंदमें भी ऐसी धाराएँ हैं, जो इस बातकी इजाजत देती हैं कि अपनी जायदाद वो जिस्मनीज़ दूसरोंके बदन वो जायदादकी रक्षाका हर एकको पूरा हक हासिल है। अपनी या किसी औरकी जात व जायदादे मन-कूला, व गैरमनकूलाको, चोरी-डकैती, नुकसान, मुदाखलते बेजाके फ्रेलसे बचाने या उसकी कोशिशको रोक-थामके लिये जोरका इस्तैमाल करनेकी कानून इजाजत देता है। मेरी रायमें एक पुस्तिका हर एक भाषामें छपाकर हर एक मनुष्यको जाननेके लिये वितरण करनी चाहिये। जाब्ता फौजदारीके बनानेवालोंमेंसे लार्ड मेकाले एक थे। उन्होंने आत्मरक्षाके हककी बाबत कुछ भूमिका लिखी है। उसका आशय यह है कि हिंदुस्तानके लोग जुल्मको सबके साथ बर्दाश्त कर लेते हैं। उनमें मर्दानगीकी तबीयत पैदा करनेके लिये अपनी रक्षाके हकका अधिकार हर एकको दिया जाता है। बेन्थम साहबने भी लिखा है कि 'हर एक मनुष्यको अपनी रक्षा करनी आवश्यक है।' हम बहुत कम इस हकको इस्तैमाल करते हैं। मरहूमकी जिन्दगी तो नहीं बचती, परन्तु अगर मैं जिन्दा रहता तो कमसे कम इन बेदीनोंको तो [illegible] और [illegible] [illegible] हूँ। [illegible] अपनी रक्षा खुद कर सकेंगे। लेकिन भाई! तुम इनको क्या मुँह दिखाओगे! [illegible] तुमको अपनी [illegible] हककी [illegible] [illegible]।

तीन प्रतिज्ञा

'[illegible] यह [illegible] हुए, हम ईश्वरको [illegible] हुई [illegible] नहीं करेंगे। अपनी किसी हरकतसे किसी पड़ोसीके दिलमें अपनी निस्बत शक भी पैदा नहीं करेंगे।'

दूसरी प्रतिज्ञा यह होनी चाहिये कि 'हम हिंदुस्तानकी इज्जतका खयाल रक्खेंगे। यूरोपके लोग हँसते हैं कि ये लोग एक दूसरेकी बहू-बेटियोंपर हमले करते हैं, लाठियाँ चलाते हैं……'

'किसी भी मज़हबकी माँ, बहन और बेटियाँ हों, वे सब इज्जतके लायक हैं। अपनी औरतके सिवा तमाम औरतोंको अपनी बहनके बराबर जानना चाहिये।'

अधोगतिका कारण धर्म-विमुखता

'……हमारी इस अधोगतिका मुख्य कारण यह है कि हिंदू-जाति अपने धर्मसे विमुख हो रही है। अल्पायुमें बालकों और बालिकाओंका विवाह करनेसे हमारा बल घट रहा है। हिंदू-समाजमें अनेक बुराइयोंने अपना घर कर लिया है। हिंदू-धर्मकी शिक्षा क्या है? यह धर्म हमें औरोंके मतों का मान करना सिखाता है, सहनशील होना बताता है और किसीपर आक्रमण करनेकी शिक्षा नहीं देता। साथ ही यह भी आदेश देता है कि यदि तुम्हारे धर्मपर कोई आक्रमण करे तो अपनी रक्षाके लिये प्राणतक निछावर करनेमें कभी गरेज न करो। इस धर्मकी शुद्ध हृदयसे और आचरण पालन करनेसे ही हिंदू-मुसल्मानोंमें एकता स्थापित हो सकती है। जबतक हिंदू-मुसल्मान दोनों ही इतने बलवान् और साहसी नहीं हो जाते कि वे दूसरी जातिके गुंडों और बदमाशोंसे अपनी रक्षा कर सकें, तबतक उनमें एकता स्थापित नहीं हो सकती।'

गोमाता

'आप जानते हैं कि भारतके [illegible] लिये [illegible] अनिवार्य है। [illegible] जो [illegible] [illegible] किया है उसके महत्त्वको जानते हुए भी [illegible] करते हैं और [illegible] नहीं देते। यह उनका भ्रम और अन्याय है। जो लोग [illegible] करते [illegible] अपना धर्म समझते हैं उनके [illegible] नहीं। [illegible] [illegible] करना [illegible] धर्मयुक्त नहीं कहा जा सकता। [illegible] है कि जो लोग [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible]

सब सज्जनोंसे मैं अनुरोध करता हूँ कि गो-रक्षाके प्रश्नपर विशेष ध्यान दें और प्राणपणसे इस बातकी चेष्टा करें कि भारतमें फिर वही दिन आ जाय जब गौ सचमुचमें माता समझी जाय और उसकी रक्षाके लिये हम अपने प्राणोंका मोह न करें। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि आप ऐसा संकल्प कर लेंगे और गो-रक्षाके अनुष्ठानमें तन-मन-धनसे लग जायँगे तो वे दिन दूर नहीं हैं, जब फिर देशमें दूधकी नदियाँ बहें और प्रत्येक भारतीय गोमाताको पूज्यदृष्टिसे देखे। याद रहे कि इस्लाम या कुरान-शरीफमें गोवधका विधान नहीं है जो हमें उसके रोकनेमें मजहबकी अड़चन पड़े। गो-माताकी सभी संतान हैं। हिंदू, मुसल्मान या ईसाईका सवाल गोमाताके घरमें नहीं है। उदार अकबरको इस बातका ज्ञान था। उसने गो-वध बंद करवा दिया था। समझो और औरोंको समझाओ कि दिव्य जीवनके लिये गो-सेवा कितने महत्त्वकी चीज है। विश्वास रक्खो कि यदि आप गो-पालनके लिये तैयार हो गये तो परमात्मा अवश्य आपकी मदद करेगा और आप जरूर अपने काममें सफल होंगे।'

धर्म

'प्रह्लादने अपने साथी बालकोंको बचपनमें धर्म पालनकी शिक्षा दी थी। इसका पालन जवानीमें नहीं बल्कि वृद्ध होनेपर पालन कर लेंगे, ऐसा विचार त्यागकर कौमार-अवस्थामें ही धार्मिक शिक्षाकी नींवपर जीवनकी भित्ति खड़ी कर दो। 'कौमारे आचरेद्धर्मम्' धर्मभावना आजीवनकी बना लो। मनुष्य-जीवन अन्य जीवोंके जीवनसे विशेषता रखता है। दूसरे प्राणी, पशु, पक्षी, हाथी, घोड़ा, कुत्ते आदि इन्द्रियोंका सुख पाते हैं। उनमें और मनुष्यमें सब गुण समान होते हैं। वे हमलोगोंकी तरह भोजनप्रेमी हैं, वे सोते हैं, आराम करते हैं; किंतु उनमें विवेक-बुद्धि नहीं है। मछली मछलीको खाती है। एक पशु दूसरे पशुका शिकार करता है। उन प्राणियोंमें विचार नहीं है।'

'……थोड़े ही व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें देखा जाता है कि अधर्मसे सांसारिक सुख पा रहे हैं। परंतु उनका परिणाम अच्छा नहीं होता। उन्हें अधर्मसे शान्ति नहीं मिलती। उनका आत्मा टूट जाता है। वे पापका दुष्ट फल अवश्य पाते हैं।'

'पर नारी पैनी छुरी मति न लाओ अंग'

'मातृवत् परदारेषु'

'दूसरी स्त्रीपर माताका भाव रखना चाहिये। जो स्त्री अवस्थामें बड़ी हो वह मातृवत् है, जो बराबरीकी है वह बहन-तुल्य है और जो छोटी है उसे पुत्रीवत् मानो। शारीरिक बलकी शक्ति ब्रह्मचर्यव्रत-पालनसे प्राप्त होती है। गन्धर्वने अर्जुनसे हार जानेपर कहा था कि 'तुम ब्रह्मचारी हो, इसलिये मैं तुम्हें जीत नहीं सका।' गाड़ीमें दो बैलोंके आगे ब्रह्मचारी बढ़ता रहता है जो चढ़ावपर अपनी शक्तिसे गाड़ीको खींचकर ले जाता है।'

'जो छात्र विवाहित हैं, वे यहाँ ब्रह्मचारी बनें। उनका रहन-सहन आचार-विचार लक्ष्मणकी तरह हो। लक्ष्मणने चौदह वर्ष ब्रह्मचर्यका पालन किया, उसीसे वे मेघनादका वध कर सके। उसी तरह विवाहित छात्र अपनी धर्मपत्नीको छोड़कर अन्य स्त्रियोंको मातृवत् देखें। इसी ब्रह्मचर्यपालनसे मनुष्य ऊपर उठता है, ऐसा न करें कि अपना जीवन नीचे गिरे।'

'……संसारमें सब पदार्थ बदलते रहते हैं, सुख दुःख होते रहते हैं, किंतु धर्म नित्य है, वह कभी नहीं बदलता। यदि प्राण भी जाता हो तो धर्म न त्यागो।'

महाभारत

'महाभारतकी बड़ी महिमा है, उसका वर्णन करना कठिन है। इस [illegible]। जो महाभारतका पाठ करता है, वह [illegible] लाभ उठाता है। यदि एक श्लोक भी पढ़ ले तो भी उसे कुछ न कुछ आनन्द तो अवश्य मिलता है। मनुष्यका धर्म है कि गङ्गास्नान, [illegible] हरिकी पूजा और महाभारतका पाठ अवश्य करे। इन तीन कामोंको जो करता है वह अपने जीवनको सफल करता है। पूरा ज्ञान [illegible] महाभारतमें भर दिया है। [illegible] [illegible] महाभारतमें मिलता है। [illegible]

महाभारतमें [illegible], [illegible], विदुरकी नीति, वसुदेवका [illegible] उपदेश भी है। [illegible]

उस अङ्गपर शस्त्रका भय नहीं रहेगा।' किंतु दुर्योधन लंगोटी लगाकर माताके सामने आया, इसीसे भीमने गदा कमरमें मारी और दुर्योधनकी मृत्यु हुई। हर एक छात्र महाभारतके अध्यायोंको पढ़े और उनसे अमूल्य उपदेशोंका लाभ उठावे। वे अधिक न पढ़ सकें तो महाभारतका सारांश गीताका पाठ करें। गीतामें उन्हीं श्रीकृष्ण भगवान्ने उपदेश दिया है, जिन्होंने सत्य तथा धर्मका पक्ष लिया था। सब जानते हैं कि राज्यके कारण कौरव और पाण्डवोंका झगड़ा हुआ। यद्यपि अंधे धृतराष्ट्रके पुत्रोंको राज्य करनेका अधिकार न था तथापि उन्होंने अन्याय किया और पाण्डवोंको राज्यसे निकाल दिया। श्रीकृष्ण भगवान्ने पाँच गाँव माँगे पर दुर्योधनने सुईकी नोक बराबर भी जमीन न दी।

माता कुन्तीने कृष्ण भगवान्से कहा कि 'मेरे पुत्रोंको वही उपदेश दो जो विदुलाने अपने पुत्र संजयको दिया था। विदुलाका पुत्र संजय अधिक शत्रु-सेना देख युद्धक्षेत्रसे भाग आया था। माताने कहा कि 'तूने मेरी कोखमें दाग लगाया। कुलको कलङ्कित किया। तू मर जाता तो अच्छा था।' अन्तमें संजय युद्धमें गया और माताके उपदेशसे विजयी हुआ। जिस व्यक्तिने दान, तपस्या, सत्य, विद्या तथा अर्थका लाभ न किया, उसका जन्म व्यर्थ है। माता कुन्तीका उपदेश पाकर पाण्डवोंने विजय पायी और अर्जुनके कारण गीताका उपदेश आज भी सहस्रों मनुष्योंको शान्ति-सुख दे रहा है।

गीता

गीता संसारका एक अनमोल रत्न है और उसके एक-एक अध्यायमें कितने रत्न भरे पड़े हैं। इसके पद-पद और अक्षर-अक्षरसे अमृतकी धारा बहती है। गीता पढ़नेका यहाँ माहात्म्य कहा गया है—

> गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
> विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥
> गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामरतस्य च।
> नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥
> मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
> सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥
> गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
> या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥
> भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
> गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

'जो मनुष्य इस पवित्र गीताशास्त्रको पवित्र और शुद्ध होकर पढ़ता है, वह भय और शोकरहित होकर विष्णुलोकको प्राप्त होता है।

गीता अध्ययन करनेवाले तथा प्राणायाम करनेवालोंको पूर्वजन्ममें किये हुए पापोंका फल नहीं लगता। प्रतिदिन जल-स्नान करनेवालेका बाहरी मल धुल जाता है; किंतु गीतारूपी जलमें एक बारके ही स्नानमात्रसे संसाररूपी मल नष्ट हो जाता है।

सब शास्त्रोंको छोड़कर गीताका ही भलीभाँति गायन करना चाहिये जो कि स्वयं भगवान्के मुखकमलसे निकली हुई है।

महाभारतरूपी अमृतका सार विष्णु भगवान्के मुँहसे निकला है। यह गीतारूपी अमृत पीनेसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।'

'''कहनेका तात्पर्य यह है कि जितना भी बन सके उतना गीताका पाठ करना चाहिये। प्रातः स्नान करके गीताका पाठ कर चुकनेपर यह विचार करो कि हमें क्या करना चाहिये। जैसे अँधेरेमें लालटेन हमें प्रकाश देती है और हमें ठीक मार्ग बतलाती है, ठीक उसी प्रकार गीता भी हमें कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान कराती है। यह हमें आध्यात्मिक और सांसारिक दोनोंका ऊँचे-से-ऊँचा उपदेश देती है।

संसारमें जितने नगर और गाँव हैं, वहाँ प्रति सप्ताह सब लोगोंको मिलकर गीता-पाठ करना चाहिये। मैं समझता हूँ कि आपलोग इसमें अवश्य सहयोग देंगे; क्योंकि इस गीता-प्रचारकी भावनाका मूल हिंदू-विश्वविद्यालय है। यहाँ अनेक साधु, महात्मा और विद्वान् रहते हैं। यहाँ देशभरके विद्यार्थी पढ़नेके लिये आते हैं। इनका कर्तव्य है कि ये लोग गीताका अध्ययन करके देशभरमें उसका प्रचार करें। उसका एक सरल उपाय यही है कि प्रति सप्ताहमें जो समय निश्चित है उस समय यहाँ आकर अध्ययन करें या सुनें।'

परमात्माकी स्तुति हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य

'''सबसे पहला कर्तव्य हमारा यह है कि हम परमात्माकी स्तुति करें, उनके गुणगान करें, जो [illegible] है, सृष्टि रचना करनेवाले हैं। हमारा [illegible] है कि हम परमात्माको समझें। हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थ, वेद,

उपनिषद् उसी परम शक्तिका गुणगान करते हैं। हमारे ज्योतिष शास्त्रमें उसकी विराट् रचनाका वर्णन है। आकाशमें अनेक तारागण उसीकी विभूति हैं। उसीकी ज्योतिसे यह सब रचना हो रही है। केवल आकाशकी विभूतियाँ नहीं, वरं पृथ्वीमण्डलपर भिन्न-भिन्न प्रकारके मनुष्य, जीव, जन्तु सब उसीके भिन्न-भिन्न आकार हैं। ये सब रूप उसीके बनाये हुए हैं। पृथ्वीमण्डलके किसी भी भागपर चले जाइये, एक ढाँचेके मनुष्य मिलेंगे। सबकी शरीर-रचना एक-सी है। सबकी रचना गर्भमें होती है, ईश्वर ही करता है। गौ, सिंह, मयूर आदिका कैसा-कैसा विचित्र रूप-रंग बनाया है जो समझमें नहीं आता कि कैसे किया। वह छिपा हुआ सब कुछ करता रहता है। भिन्न-भिन्न प्रकारके पेड़-पौधे, फूल-फल आदि उसीकी रचनाका चमत्कार है। इनकी बनावट मनुष्य नहीं कर सकता।'

मानव-शरीरका कर्तव्य

'मानव-शरीर अनेक जन्मोंके पुण्योंसे प्राप्त होता है। जो शरीर देवोंको दुर्लभ है उसे व्यर्थ नष्ट कर देनेमें हमारी भूल है। हम अपने कर्तव्यको भुला दें, उसका स्मरण न करें, उसके बनाये नियमोंका पालन न करें, तब हम दुखी न हों तो कौन होगा? पञ्चतत्त्वका यह सुन्दर शरीर है। उसकी प्रभासे देदीप्यमान हो रहा है। उसके सम्बन्धसे सबसे सम्बन्धित हैं। उसके कारण ही एक-एक छोटे-छोटे शरीर-रूपी ब्रह्माण्डका चमत्कार होता रहता है। भीतर-ही-भीतर पावर हाउसका काम करता रहता है और सब काम होते रहते हैं। यही स्टोर है, जिसमें पदार्थोंका रस एकत्र होता रहता है (ईश्वर अंस जीव अबिनासी)। उसकी कृपाको सब चाहते हैं। जब ज्योति निकल जाती है तो शरीर शीघ्र नष्ट कर दिया जाता है, उसे फेंक देते हैं। कोई देखना भी नहीं चाहता। क्या विचित्र परिवर्तन हो जाता है। माता-स्त्री सब उस शरीरसे मोह त्याग देते हैं।'

उपदेश-पञ्चामृत

हमारा कर्तव्य है कि हम अपने भाव और विचार मातृ-भाषामें प्रकट करें। पहले हमारा जन्म होता है और माताकी शिक्षा मिलती है। माताकी बोलीका हम अनुकरण करते हैं। अतः मातृभाषाका गौरव रखना पहला कर्तव्य है, फिर अंग्रेजी भाषामें देश, काल तथा पात्रके अनुसार बोलनेका अभ्यास करें।

आज मैं आपलोगोंको पञ्चामृत पान कराना चाहता हूँ। पञ्चामृतमें दूध, दही, घी, मधु (मिठास) और मिश्री रहती है। मैंने माताका दूध पिया, फिर गोमाताका दूध पिया, जिससे मेरा शरीर बना। माताने ही शक्ति दी जिससे बोल रहा हूँ। माताने ही आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक बल दिया है। माताकी कृपासे ही शरीरबल बढ़ा। तब बुद्धिबल पा सका। शुद्ध पवित्र भोजन, शुद्ध वस्तु-सेवनसे शरीर, धन, सम्पत्ति, विद्या, पाण्डित्य और यश प्राप्त हुआ। पवित्र व्यवहार और सदाचार ही शरीरकी परीक्षा है। इनके द्वारा मनुष्य पचहत्तरसे ऊपर सौ वर्षतक ही नहीं, वर इससे अधिक जीनेकी शक्ति रखता है। उसे मृत्युका भय नहीं रहता, उसमें तेज दिखायी पड़ता है।

हम नित्य प्रातःकाल, मध्याह्न और संध्याकालकी संध्यामें सूर्यभगवान्से स्तुति करते हैं कि सौ वर्षतक सुनें, बोलें और दीन न हों। हममें शक्ति हो, सुख हो, परमात्माका स्मरण रहे। ईसाई धर्मवाले ईश्वरसे माँगते हैं कि हमें नित्य भोजन मिले। उन्हें रोटी ही बहुत है। उनका आदर्श सिर्फ लोकसुख, व्यक्तिगत, शारीरिक सुखतक सीमित है। परंतु हम परमात्मासे इस लोकके सुखके साथ परमानन्दकी प्रार्थना करते हैं। हम इस जीवनमें अच्छा दिव्य जीवन चाहते हैं। जबतक हमारा यह भौतिक शरीर है, तबतक दीन न हों, तगड़े रहें। इसका तात्पर्य यह है कि हममें शक्ति रहे, हमारा जीवन उज्ज्वल हो।

हम नारायणका स्मरण करते रहें। जिन माता-पिताने जन्म दिया है, उनका स्मरण करते रहें तथा उनकी सेवा करते रहें। गुरुने ज्ञान दिया है, उस गुरुको न भूलें; क्योंकि गुरुने ऐसी बुद्धिका विकास किया है जो बारहसे सोलह वर्षकी अवस्थामें ही तेजस्वी दीखने लगते हैं और कोई-कोई तेरह, चौदह, पंद्रह या सोलह वर्षकी आयुमें।

पञ्चामृतमें केवल पाँच चीजें ही नहीं ली गयीं; किंतु छः चीजें भी ली गयी हैं, जैसे 'ॐ नमः शिवाय' पञ्चाक्षर मन्त्र कहलाता है। यद्यपि इसमें छः अक्षर लिये गये हैं। प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह परमात्माकी स्तुति करे। जिस प्रभुने जन्म दिया है, उसका स्मरण करे। एक परमात्माके द्वारा शरीर मिला है, उसीसे ज्ञान प्राप्त होता है। इसी कारण संध्यामें गायत्री मन्त्रका जप करते हैं। गायत्री सब देवोंकी माता है। गायत्री मन्त्रमें सविताम्भी परमात्माका ध्यान करते हैं, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

ईश्वरकी सत्ता और उसका रचना-कौशल

जो सविता तीनों लोकोंको प्रकाश देता है, उसे नमस्कार है। चौदह लोकोंमेंसे प्रधान तीन लोक भूर्भुवः स्वः हैं। जललोकमें अनेक जीवजन्तु रहते हैं। गौरीशंकर पर्वत-शिखरकी ऊँचाईके बराबर गहरे महासागरोंमें सुन्दर मछलियाँ रहती हैं। इंगलैंडके अजायब-घरमें चार-पाँच मील नीचे-की सुन्दर मछलियाँ हैं, उनके मस्तकपर वैसी ही सुनहरी पट्टी है जैसी हमारे देशकी स्त्रियाँ बिंदियाँ बाँधती हैं। इतने गहरे समुद्रमें ऐसी सुन्दर मछलियाँ किसने बनायीं। एक परमात्मा ही सबका बनानेवाला है। इसी तरह पृथ्वीपर अनेक जीव-जन्तु हैं। कितने सुन्दर नर-नारी हैं, कितने फूल-पत्ते हैं। एक ही स्थानपर गेंदा और गुलाब दोनों पैदा होते हैं, पर दोनों अपने-अपने रूप और गुण रखते हैं, अपनी-अपनी सुगन्ध रखते हैं। बिल्ली, कुत्ते, बछड़े कैसे उछलते-कूदते हैं। उनमें क्या शक्ति भरी है। उनको देखकर हमारा मन उछलने लगता है। कैसे-कैसे पक्षी हैं। मोरकी कैसी सुन्दर पूँछ है, कोयलकी कैसी सुन्दर बोली है, सुग्गेका कैसा सुन्दर कण्ठ है और उसकी चोंच कितनी सुन्दर है। इन सबका बनानेवाला कोई-न-कोई अवश्य है। इसी तरह आकाशमें कैसे-कैसे ग्रह चलते रहते हैं और समय-समयपर अपना प्रकाश देते हैं। नक्षत्र अपना भ्रमण करते रहते हैं। सूर्य हजारों मील दूर है, पर उदय होते ही आठ मिनटमें हमारे पास उसकी किरणें आ जाती हैं। ये सब ग्रह अपनी-अपनी कक्षामें हैं। यदि एक भी टूटे तो संसारमें प्रलय हो जाय, पर वही परमात्मा सबको चला रहा है। वह सबमें विचरने-वाला सब कुछ देखने तथा करनेवाला है। जैसे माता अपनी संतानकी देख-रेख करती है वैसे ही परमात्मा भक्तकी रक्षा करता है। उस भगवान्‌की सत्ता बुद्धने भी मानी है और उसे पानेके लिये नियम बतलाये हैं। सदाचार, यम, नियम-द्वारा हृदय शुद्ध करनेका आदेश दिया है। सत्य बोले, हृदय पवित्र करे, तब ज्ञान-चक्षुसे परमात्माका दर्शन हो।

परमात्मा इस शरीरके अंदर बैठा है जैसे कोई मोटरमें सवार हो। शरीर कपड़ेकी तरह है, जिसे हम जीर्ण होनेपर बदल लेते हैं। आत्मा सब जीवोंमें एक-सा है। मच्छड़में वही आत्मा है। मच्छड़ कानमें कहता है मैं भी वही हूँ। मक्खी उड़ती रहती है, उसे भी दुःख या सुख होता है। उस आत्माका दर्शन पवित्र हृदयवालेको हर जगह होता है। शीशेकी तरह मन उज्ज्वल करे, बुद्धिको शीशेके समान निर्मल कर ले, तब ध्यान आता है। आत्मा सूतकी तरह है जो मणियोंको गूँथे रहती है। वह कीट-पतंगमें रहती है। पहली शिक्षा इन बातोंसे मिलती है कि परमात्मा है, उसकी सत्ता नित्य है। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि जब परमात्मा सबमें है तो कौन किसे मारे, किसे कष्ट दे। कोई अपनेको कष्ट नहीं देता। वैसे ही एक परमात्माका सब वैभव है। वही हममें और तुममें है—'अब हौं कासों बैर करौं।'

उपयोगी नियम

प्रत्येक मनुष्यको ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जो वह मातासे न कह सके। ऐसा नियम मैंने किया था। इस नियमसे मैं कई पापोंसे बचा, मुझे शक्ति मिली और मेरा जीवन उत्साह और दिव्य ज्योतिसे उज्ज्वल होता गया।

परम उपयोगी बातें

जो काम करे वह परमात्मा श्रीकृष्णको अर्पण कर दे। ईश्वरको पवित्र भाव, पवित्र विचार अर्पण किये जाते हैं। झूठे व्यवहार परमात्माको अच्छे नहीं लगते। ईश्वर सत्यका प्रेमी है। पाँचवीं शिक्षा मुझे यह मिली कि ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करे। सब धर्मोंसे हिंदू-धर्ममें एक विशेषता यह है कि वह ब्रह्मचर्यका महत्त्व बतलाता है। ब्रह्मचर्य जीवन है। ब्रह्मचर्यव्रत पालनकर पचीस वर्षतक विद्या प्राप्त करे। संध्या, नित्य-कर्म और ईश्वर-प्रार्थना कर शरीर और आत्माको पुष्ट करे। पचीससे पचासतक गृहस्थ बने, कुल-मर्यादाका पालन करे, माता-पिताकी सेवा करे, अपनी पत्नीके सिवा अन्य स्त्रीपर मातृभाव रक्खे। संतान पैदा करे, सामाजिक जीवन बिताये; अतिथि-सत्कार, श्राद्ध, तर्पण, कुटुम्ब-पालन करे। पचाससे पचहत्तरतक वानप्रस्थ रहे। गृहस्थीका भार संतानको दे और उनको शिक्षा देकर उनका जीवन उज्ज्वल करे। परमात्मा-की ओर लक्ष्य बढ़ावे। पचहत्तर वर्षके उपरान्त संन्यासी हो। लोक-सुखसे विमुख हो, परमात्माका चिन्तन और ध्यान करे।

ब्रह्मचर्यका आजीवन पालन करे। केवल संतान प्राप्ति-के लिये विवाह कहा गया है, विषयभोगके लिये नहीं। सब जीव भोग विलासमें लिप्त रहते हैं, केवल मनुष्य रोककर अपना जीवन उज्ज्वल करता है, प्राणायाम कर मन और इन्द्रियोंको रोकता है। मनुष्य परोपकार कर अपना और दूसरोंका हित करता है। एक बार मेरे बच्चोंको एक अंग्रेजने

[illegible]से बढ़कर था, मैं उनके उपकारको नहीं भूल सकता।

यदि सब दिन हो तो प्रार्थना कर ले, फिर अपने पाठ न करे। सवेरे उठो और [illegible] कर ईश्वरसे प्रार्थना कर ले। जैसे स्नानसे शरीर शुद्ध होता है, वैसे ही भजनसे हृदय। सबसे पहले धर्मचिन्तन और परमात्माका स्मरण, दूसरा काम माता-पिता और गुरुकी सेवा, तीसरा काम [illegible]का [illegible], चौथा काम देशसेवा और सब प्राणियोंकी सेवाका भाव ले।

विद्यार्थियोंसे

यह शरीर परमात्माका मन्दिर है। इसमें ईश्वरका निवास है। सदैव उसको अपने भीतर अनुभव करो और इस मन्दिरको कभी अपवित्र न होने दो। इस मन्दिरको अपवित्र बना देनेवाली कुछ बातें हैं जिनसे सदा बचो। भूलकर भी स्वप्नमें भी असत्य मुँहसे न निकले, इसकी कोशिश बराबर करो। यदि कहीं भूलसे झूठ निकल जाय तो उस असत्यके लिये प्रार्थना करो, क्षमा माँगो, सच्चे और पवित्र हृदयसे उसके चरणोंमें गिरो और पुनः असत्य न बोलनेका व्रत लो। उसे अपना प्राण देकर भी पालो।

इस पवित्र मन्दिरका रक्षक ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही हमें वह आत्मबल देता है जिसके द्वारा हम संसारको जीत सकते हैं। ब्रह्मचर्यकी ही यह महत्ता है कि मेघनादको पराजय करनेके लिये लक्ष्मण-जैसा ब्रह्मचारी चुना गया। अर्जुनने भी ब्रह्मचर्यके बलसे जयद्रथको हराया था। महावीर, भीष्म, अर्जुन, लक्ष्मण, शङ्कर ब्रह्मचर्यकी मूर्ति हैं। हम ब्रह्मचर्यके द्वारा अपने शरीरके भीतर वह विद्युत् शक्ति भर सकते हैं जिसे प्राप्तकर हम विश्वविजयी बन सकते हैं। लक्ष्मण और अर्जुनको सदा ध्यानमें रक्खो। ब्रह्मचर्यके पालनमें उनका स्मरण बड़ी सहायता देगा। भारतवर्षका मस्तक इन्हीं ब्रह्मचारियोंने ऊँचा रक्खा है और आज इसकी रक्षाका भार तुम्हारे सिरपर है। महापुरुषोंके चित्र अपने कमरेमें लगा लो और उन्हींके उपदेश एवं आचरणपर अपने मनको लगाओ। हृदयको कभी कलुषित न होने दो। मनको सदा प्रफुल्ल और उल्लसित रक्खो।

तुमलोग धर्मके सैनिक हो, धर्मकी रक्षाके लिये स्वतन्त्रताके सैनिक हो। सैनिक आदर्श अपने सामने रक्खो। प्रातःकाल पाँच बजेके पूर्व अपना बिस्तर छोड़ दो और नित्य-कर्मोंसे निवृत्त होकर एकान्तमें भगवान्‌से प्रार्थना करो।

आह्निक (डायरी) लिखनेसे मनुष्यको उन्नतिमें बहुत सहायता मिलती है। संसारके अनेक महापुरुषोंके चरित्रमें यह पाओगे कि वे अपनी दुर्बलताको डायरीमें नोट करते जाते थे और उसे दूर करनेके लिये भी अथक प्रयत्न करते जाते थे। डायरीमें अपना हृदय खोलकर रख दो। वहाँ अपने सम्मुख भगवान्‌को समझकर अपनी बुराइयों, दोषों और अपराधोंके लिये पश्चात्ताप करो और परमात्मासे क्षमा माँगो। तुम्हारे जीवनको पवित्र, सुखी, नियमयुक्त बनानेके लिये गीताका यह श्लोक बहुत लाभदायक सिद्ध होगा—

> युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
> युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

सभी बातोंमें संयम सीखो। वाणीमें संयम, भोजनमें संयम रक्खो और अपने सभी कार्योंमें शीलवान् बनो। शीलसे ही मनुष्य मनुष्य बनता है। 'शीलं परं भूषणम्'। शील ही पुरुषका सबसे उत्तम भूषण है।

कठोर काममें अनवरत लगे रहनेका अभ्यास डालो। पढ़ते समय सारी दुनियाको एक ओर रख दो और पुस्तकोंमें, लेखककी विचारधारामें डूब जाओ। यही तुम्हारी समाधि है, यही तुम्हारी उपासना है और यही तुम्हारी पूजा है। कठिन परिश्रम करना सीखो। खूब गड़कर, जमकर मेहनत करो और अपने उच्च और पवित्र आदर्शोंको कभी मत भूलो। शास्त्र और शस्त्र, बुद्धिबल और बाहुबल, दोनोंका उपार्जन करो। सादा जीवन और उच्च विचारका आदर्श न भूलो। स्त्री-जातिका सदा आदर करो। जो बड़ी हैं उन्हें माताके समान देखो। जो बराबरकी हैं, उन्हें बहनके समान और जो छोटी हैं उन्हें पुत्रीके समान देखो। उनके प्रति कभी कोई रूखापन या अपराध न करो।'

महात्मा गाँधी

(पूरा नाम—श्रीमोहनदास कर्मचन्द गाँधी, जन्म—वि० सं० १९२५ आश्विन कृ० १२ (ई० सन् १८६९, २ अक्टूबर), जन्म-स्थान—पोरबंदर अथवा सुदामापुरी (काठियावाड़), पिताका नाम—श्रीकर्मचन्दजी गाँधी, माताका नाम पुतलीबाई, देहावसान—३० जनवरी १९४८)

ईश्वरके अस्तित्वकी अनुभूति

'…मैं धुँधले तौरपर जरूर यह अनुभव करता हूँ कि जब मेरे चारों ओर सब कुछ बदल रहा है, मर रहा है, तब भी इन सब परिवर्तनोंके नीचे एक जीवित शक्ति है जो कभी नहीं बदलती, जो सबको एकमें ग्रथित करके रखती है, जो नयी सृष्टि करती है, उसका संहार करती है और फिर नये सिरेसे पैदा करती है। यही शक्ति ईश्वर है, परमात्मा है। मैं मानता हूँ कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है। वह परम मङ्गल है।'

जीवनमें ईश्वरका स्थान

'आजकल तो यह एक फैशन-सा बन गया है कि जीवनमें ईश्वरका कोई स्थान नहीं समझा जाता और सच्चे ईश्वरमें अडिग आस्था रखनेकी आवश्यकताके बिना ही सर्वोच्च जीवनतक पहुँचनेपर जोर दिया जाता है।'…… पर मेरा अपना अनुभव तो मुझे इसी ज्ञानपर ले जाता है कि जिसके नियमानुसार सारे विश्वका संचालन होता है, उस शाश्वत नियममें अचल विश्वास रक्खे बिना पूर्णतम जीवन सम्भव नहीं है। इस विश्वाससे विहीन व्यक्ति तो समुद्रसे अलग आ पड़नेवाली उस बूँदके समान है जो नष्ट होकर ही रहती है।'

ईश्वर और उसकी साधना

'…यदि हमारे अंदर सच्ची श्रद्धा है, यदि हमारा हृदय वास्तवमें प्रार्थनाशील है तो हम ईश्वरको प्रलोभन नहीं देंगे, उसके साथ शर्तें नहीं करेंगे। हमें उसके आगे अपनेको शून्य—नगण्य—कर देना होगा।……जबतक हम अपनेको शून्यतातक नहीं पहुँचा देते, तबतक हम अपने अंदरके दोषोंको नहीं हटा सकते। ईश्वर पूर्ण आत्म-समर्पणके बिना संतुष्ट नहीं होता। वास्तविक स्वतन्त्रताका इतना मूल्य वह अवश्य चाहता है। और जिस क्षण मनुष्य इस प्रकार अपनेको भुला देता है, उसी क्षण वह अपनेको प्राणिमात्रकी सेवामें लीन पाता है। वह उसके लिये आनन्द और श्रम-परिहारका विषय हो जाती है। तब वह एक बिलकुल नया मनुष्य हो जाता है और ईश्वरकी सृष्टिकी सेवामें अपनेको खपाते हुए कभी नहीं थकता।'

रामनाम

'……करोड़ोंके हृदयका अनुसंधान करने और उनमें ऐक्य भाव पैदा करनेके लिये एक साथ रामनामकी धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है। कई नौजवान इसपर एतराज करते हैं कि मुँहसे रामनाम बोलनेसे क्या लाभ जब कि हृदयमें जबर्दस्ती रामनामकी धुन जाग्रत् नहीं की जा सकती। लेकिन जिस तरह गायनविद्या-विशारद जबतक सुर नहीं मिलते, बराबर तार कसता रहता है और ऐसा करते हुए जैसे उसे अकस्मात् योग्य स्वर मिल जाता है। उसी तरह हम भी भावपूर्ण हृदयसे रामनामका उच्चारण करते रहें तो किसी-न-किसी वक्त अकस्मात् ही हृदयके छुपे हुए तार एकतान हो जायँगे। यह अनुभव मेरे अकेलेका नहीं है; कई दूसरोंका भी है। मैं खुद इस बातका साक्षी हूँ कि कई एक नटखट लड़कोंका तूफानी स्वभाव निरन्तर रामनामके उच्चारणसे दूर हो गया और वे रामभक्त बन गये हैं। लेकिन इसकी एक शर्त है। मुँहसे रामनाम बोलते समय वाणीको हृदयका सहयोग मिलना चाहिये; क्योंकि भावनाशून्य शब्द ईश्वरके दरबारतक नहीं पहुँचते।'

'……रामनामके प्रतापसे पत्थर तैरने लगे, रामनाम-के बलसे वानर-सेनाने रावणके छक्के छुड़ा दिये, रामनामके सहारे हनुमान्‌ने पर्वत उठा लिया और राक्षसोंके घर अनेक मास रहनेपर भी सीता अपने सतीत्वको बचा सकी। भरतने चौदह सालतक प्राण धारण कर रक्खा; क्योंकि उनके कण्ठसे रामनामके सिवा दूसरा कोई शब्द न निकलता था। इसलिये तुलसीदासने कहा कि कलिकालका मल धो डालनेके लिये रामनाम लो।'

'इस तरह प्राकृत और संस्कृत दोनों प्रकारके मनुष्य रामनाम लेकर पवित्र होते हैं। परंतु पावन होनेके लिये रामनाम हृदयसे लेना चाहिये, जीभ और हृदयको एक-रस करके रामनाम लेना चाहिये। मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं संसारमें यदि व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो रामनाम-की बदौलत। मैंने दावे तो बड़े-बड़े किये हैं, परंतु यदि मेरे पास रामनाम न होता तो तीन स्त्रियोंको मैं बहिन कहनेके लायक न रहा होता। जब-जब मुझपर विकट प्रसंग आये हैं, मैंने रामनाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटोंसे रामनामने मेरी रक्षा की है।'

'मेरा विश्वास है कि रामनामके उच्चारणका विशेष महत्त्व है। अगर कोई जानता है कि ईश्वर सचमुच उसके हृदयमें बसता है, तो मैं मानता हूँ कि उसके लिये मुँहसे रामनाम जपना जरूरी नहीं है। लेकिन मैं ऐसे किसी आदमीको नहीं जानता। उल्टे, मेरा अपना अनुभव कहता है कि मुँहसे रामनाम जपनेमें कुछ अनोखापन है; क्यों या कैसे, यह जानना आवश्यक नहीं।'

'जिन्हें थोड़ा भी अनुभव है, वे दिलसे गायी जानेवाली रामधुनकी, यानी भगवान्‌का नाम जपनेकी शक्तिको जानते हैं। मैं लाखों सिपाहियोंके अपने बैण्डकी लयके साथ कदम उठाकर मार्च करनेसे पैदा होनेवाली ताकतको जानता हूँ। फौजी ताकतने दुनियामें जो बरबादी की है, उसे रास्ते चलनेवाला भी देख सकता है। हालाँ कि यह कहा जाता है कि लड़ाई खतम हो गयी, फिर भी उसके बादके नतीजे लड़ाई-से भी ज्यादा बुरे साबित हुए हैं। यही फौजी ताकतके दिवालियापनका सबूत है।

मैं बिना किसी हिचकिचाहटके साथ कह सकता हूँ कि लाखों आदमियोंद्वारा सच्चे दिलसे एक ताल और लयके साथ गायी जानेवाली रामधुनकी ताकत फौजी ताकतके दिखावेसे बिल्कुल अलग और कई गुना बढ़ी-चढ़ी होती है। दिलसे भगवान्‌का नाम लेनेसे आजकी बरबादीकी जगह टिकाऊ शान्ति और आनन्द पैदा होगा।'

'जो रामनामका प्रचार करना चाहता है, उसे स्वयं अपने हृदयमें ही उसका प्रचार करके उसे शुद्ध कर लेना चाहिये और उसपर रामनामका साम्राज्य स्थापित करके उसका प्रचार करना चाहिये। फिर उसे संसार भी ग्रहण करेगा और लोग भी रामनामका जप करने लगेंगे। लेकिन हर किसी स्थानपर रामनामका जैसा-तैसा भी जप करना पाखण्ड-की वृद्धि करना है और नास्तिकताके प्रवाहका वेग बढ़ाना है।'

'रामनामके प्रभावका आधार इस बातपर है कि आपकी उसमें सजीव श्रद्धा है या नहीं। अगर आप गुस्सा करते हैं, सिर्फ शरीर-हिफाजतके लिये नहीं, बल्कि मौज-शौकके लिये खाते और सोते हैं, तो समझिये कि आप रामनामका सच्चा अर्थ नहीं जानते। इस तरह जो रामनाम जपा जायगा, उसमें सिर्फ होठ हिलेंगे, दिलपर उसका कोई असर न होगा। रामनामका फल पानेके लिये आपको जपते समय उसमें लीन हो जाना चाहिये और उसका प्रभाव आपके जीवनके तमाम कामोंमें दिखायी पड़ना चाहिये।'

'जो आदमी रामनाम जपकर अपनी अन्तरात्माको पवित्र बना लेता है, वह बाहरी गंदगीको बरदाश्त नहीं कर सकता। अगर लाखों-करोड़ों लोग सच्चे हृदयसे रामनाम जपें तो न तो दंगे—जो सामाजिक रोग हैं—हों और न बीमारी हो। दुनियामें रामराज्य कायम हो जाय।'

'विषय जीतनेका सुवर्ण नियम 'रामनाम' के सिवा कोई नहीं है।'

× × ×

'रामनाम उन लोगोंके लिये नहीं है जो ईश्वरको हर तरहसे फुसलाना चाहते हैं और हमेशा अपनी रक्षाकी आशा उससे लगाये रहते हैं।'

'स्वप्नमें व्रतभंग हुआ तो उसका प्रायश्चित्त सामान्यतः अधिक सावधानी और जागृति आते ही रामनाम है।'

'विकारी विचारसे बचनेका एक अमोघ उपाय रामनाम है।'

'कोई भी व्याधि हो, अगर मनुष्य हृदयसे रामनाम ले तो व्याधि नष्ट होनी चाहिये। रामनाम यानी ईश्वर, खुदा, अल्लाह, गॉड।'

'रामनाम पोथीका बैंगन नहीं, यह तो अनुभवकी प्रसादी है। जिसने उसका अनुभव किया है, वही यह दवा दे सकता है, दूसरा नहीं।'

'प्राकृतिक चिकित्सामें मध्यबिन्दु तो रामनाम ही है न! रामनामसे आदमी सुरक्षित बनता है। शर्त यह है कि नाम भीतरसे निकलना चाहिये।'

'सत्य और अहिंसाका पालन करनेके लि-

जितनी दवाइयाँ हैं, उनमेंसे सबसे अच्छी दवाई रामनाम है।'

'रामनामका जन्तर-मन्तरसे कोई वास्ता नहीं।'

'सच्चा डाक्टर तो राम ही है।'

'श्रद्धापूर्वक रामनामका उच्चारण करनेसे एकाग्रचित्त हो सकते हैं।'

'रामनामका चमत्कार सब लोगोंको प्रतीत नहीं होता; क्योंकि यह हृदयसे निकलना चाहिये, कण्ठसे तो तोता भी निकालता है।'

'भगवान् न मन्दिरमें है, न मस्जिदमें; न भीतर है, न बाहर; कहीं है तो दीनजनोंकी भूख और प्यासमें है। चलो, हम उनकी भूख और प्यास मिटानेके लिये नित्य कातें या ऐसी जात मेहनत उनके निमित्त रामनाम लेकर करें।'

'लेकिन अगर ईश्वरका नाम जपनेवाले लोग शराब पीते हैं, व्यभिचार करते हैं, बाजारोंमें सट्टा खेलते हैं, जुआ खेलते हैं और काला बाजार वगैरह करते हैं तो उनका रामधुन गाना बेकार है।'

'हमें तो ईश्वरका नाम भूलना ही नहीं चाहिये। हमारे हृदयमें जितनी बार धड़कन होती है उतनी बार तो, अर्थात् निरन्तर, हमें उसका चिन्तन जरूर करना चाहिये। इसमें स्वदेशी अवश्य सहायभूत है, परंतु दोनों बात एक नहीं है। स्वदेशी देहका धर्म है, ईश्वर-स्तवन आत्माका गुण है।'

'...विषय जीतनेका सुवर्ण नियम रामनाम अथवा दूसरे कई ऐसे मन्त्र हैं। द्वादश मन्त्र भी यही काम देता है। अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मन्त्रका जप करना चाहिये। मुझे लड़कपनसे रामनाम सिखाया गया था। मुझे उसका सहारा बराबर मिलता रहता है, इससे मैंने उसे सुझाया है। जो मन्त्र हम जपें, उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिये। मन्त्र जपते समय दूसरे विचार आवें तो परवा नहीं। फिर भी श्रद्धा रखकर मन्त्रका जप यदि करते रहेंगे तो अन्तको अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे। मुझे इसमें रत्ती भर शक नहीं है। यह मन्त्र उसकी जीवन-डोर होगी और उसे तमाम ... बचायेगी। ऐसे पवित्र मन्त्रोंका उपयोग किसीको ...र्थक लाभके लिये हरगिज नहीं करना चाहिये। इस मन्त्रका ... है हमारी नीतिको सुरक्षित रखनेमें और यह अनुभव प्रत्येक साधकको थोड़े ही समयमें मिल जायगा। हाँ, इतना याद रखना चाहिये कि तोतेकी तरह इस मन्त्रको न पढ़े। उसमें अपनी आत्मा लगा देनी चाहिये। तोते यन्त्रकी तरह ऐसे मन्त्र पढ़ते हैं। हमें ज्ञानपूर्वक पढ़ना चाहिये.......अवाञ्छनीय विचारोंको निवारण करनेकी भावना रखकर और वैसा करनेका मन्त्रकी शक्तिमें विश्वास रखकर।'

'जब तुम्हारे विकार तुमपर हावी होना चाहें, तब तुम घुटनोंके बल झुककर भगवान्से मददकी प्रार्थना करो।'

'रामनाम अचूक रूपसे मेरी मदद करता है।'

'रामकी मदद लेकर हमें विकारोंके रावणका वध करना है और यह सम्भवनीय है। जो रामपर भरोसा रख सको तो तुम श्रद्धा रखकर निश्चिन्तताके साथ रहना। सबसे बड़ी बात यह है कि आत्मविश्वास कभी मत खोना। खानेका खूब नाप रखना, ज्यादा और ज्यादा तरहका भोजन न करना।'

'अभ्याससे ही चित्त एकाग्र होता है। शुभ और इष्ट विषयमें लीन होनेसे एकाग्र बननेका अभ्यास हो सकता है; जैसे—कोई रोगीकी सेवा करनेमें, कोई चरखा चलानेमें और कोई खादीका प्रचार करनेमें। श्रद्धापूर्वक रामनामका उच्चारण करनेसे एकाग्र हो सकते हैं।'

'राम-जपके द्वारा पापहरण इस प्रकार होता है। शुद्ध भावसे नाम जपनेवालोंमें श्रद्धा होती ही है—नाम-जपके द्वारा पापहरण होगा ही। इस निश्चयसे वह आरम्भ करता है। पापहरण अर्थात् आत्मशुद्धि। श्रद्धाके साथ नाम जपनेवाला थक ही नहीं सकता अर्थात् जो जीभसे बोला जाता है, वह अन्तमें हृदयमें उतरता है और उससे आत्माकी शुद्धि होती है। यह अनुभव निरपवाद है। मानस-शास्त्रियोंका भी यही विचार है कि मनुष्य जैसा विचार करता है, वैसा बनता है। रामनाम इस नियमका ही अनुसरण करता है। नाम-जपपर मेरी श्रद्धा अटूट है। नाम-जपकी जिसने खोज की, वह अनुभवी था और उसकी यह खोज अत्यन्त महत्त्वकी है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है। निरक्षरकी भी शुद्धिका द्वार खुला रहना चाहिये, यह नामजपसे होता है। (देखो गीता ९। २२, १०। १७) माला इत्यादि एकाग्र होनेके साधन हैं।'

'रोना-हँसना दिलमेंसे निकलता है। मनुष्य दुःख मानकर रोता है। उसी दुःखको सुख मानकर हँसता है।

इसीलिये राम-नामका सहारा चाहिये। सब उनको अर्पण करना तो आनन्द-ही-आनन्द है।'

'आश्चर्य है, वैद्य मरते हैं, डाक्टर मरते हैं, उनके पीछे हम भटकते हैं। लेकिन राम जो मरता नहीं है, हमेशा जिंदा रहता है और अचूक वैद्य है, उसे हम भूल जाते हैं।'

'इसी तरह बूढ़े, बच्चे, जवान, धनी, गरीब सबको मरते हुए पाते हैं तो भी संतोषसे बैठना नहीं चाहते हैं, लेकिन थोड़े दिनके जीनेके लिये रामको छोड़ सब प्रयत्न करते हैं।'

'कैसा अच्छा हो कि इतना समझकर हम राम-भरोसे रहकर जो व्याधि आवे, बरदाश्त करें और अपना जीवन आनन्दमय बनाकर व्यतीत करें।'

'नामकी महिमा सिर्फ तुलसीदासने ही गायी है, ऐसा नहीं है। बाइबिलमें भी मैं वही पाता हूँ। दसवें रोमनके १३ कलममें कहते हैं जो कोई ईश्वरका नाम लेंगे वे मुक्त हो जायँगे।'

("For whosoever shall call upon the name of the Lord shall be saved." *The New Testament Romans* 10 13)

'मनुष्य जानता है कि जब मरनेके नजदीक पहुँचता है सिवा ईश्वरके कोई सहारा नहीं है, तो भी रामनाम लेने हिचकिचाहट होती है। ऐसा क्यों?'

प्रार्थना

'·····प्रार्थना करना याचना करना नहीं है, वह तो आत्माकी पुकार है।'

'हम जब अपनी असमर्थता खूब समझ लेते हैं और सब कुछ छोड़कर ईश्वरपर भरोसा करते हैं तब उसी भावना-का फल प्रार्थना है।'

'एक मनुष्यको हम पत्र लिखते हैं। उसका भेजा हुआ उत्तर मिलता भी है और नहीं भी मिलता। वह पत्र [illegible] कागजका टुकड़ा ही है। ईश्वरको पत्र लिखनेमें न कागज चाहिये, न कलम-दावात ही और न अक्षर ही। ईश्वरको जो पत्र लिखा जाता है उसका उत्तर न मिले, यह [illegible] ही नहीं। इस पत्रका नाम पत्र नहीं, प्रार्थना है, पूजा है। [illegible] ऐसे बड़ेसे बड़े [illegible] लिखते हैं और [illegible] कि उनके [illegible] उत्तर [illegible] है

ही दिया है। यह निरपवाद सिद्धान्त है—भक्त भले ही उसका कोई बाह्य प्रमाण न दे सके। उसकी श्रद्धा ही उसका प्रमाण है। उत्तर प्रार्थनामें ही भरा रहा है, भगवान्-की ऐसी प्रतिज्ञा है।'

'···प्रार्थना या भजन जीभसे नहीं हृदयसे होता है। इसीसे गूँगे, तुतले, मूढ़ भी प्रार्थना कर सकते हैं। जीभपर अमृत हो और हृदयमें हलाहल तो जीभका अमृत किस कामका? कागजके गुलाबसे सुगन्ध कैसे निकल सकती है?'

'······स्तुति, उपासना, प्रार्थना अन्ध-विश्वास नहीं, बल्कि उतनी अथवा उससे भी अधिक सच बातें हैं, जितना कि हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, बैठते हैं ये सच हैं। बल्कि यों भी कहनेमें अत्युक्ति नहीं कि यही एकमात्र सच है; दूसरी सब बातें झूठ हैं, मिथ्या हैं।'

'ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना वाणीका वैभव नहीं है। उसका मूल कण्ठ नहीं, बल्कि हृदय है। अतएव यदि हम हृदयको निर्मल बना लें, उसके तारोंका सुर मिला लें तो उसमेंसे जो सुर निकलता है, वह गगनगामी हो जाता है। उसके लिये जीभकी आवश्यकता नहीं। वह तो स्वभावतः ही अद्भुत वस्तु है। विकारकी सफाई [illegible] लिये हार्दिक उपासना एक औषध नहीं है।'

साधु-जीवन

'·· साधु-जीवनसे ही आत्म-दर्शनकी प्राप्ति सम्भव है। यही इहलोक और परलोक, दोनोंका साधन है। साधु-जीवनका अर्थ है सत्य और अहिंसामय जीवन, सम्पूर्ण जीवन। [illegible] कभी धर्म नहीं बन सकता, धर्मकी जड़ तो [illegible] है।'

× × ×

शान्ति

[illegible] नहीं [illegible] | वह [illegible] नहीं है। वह तो हृदयकी [illegible] [illegible] है, और [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible] है।'

[illegible] शान्ति नहीं।

[illegible]

'पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीजकी जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकारमें वह है, उससे चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी है। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिये।'

'इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मनसे हमारा किसी चीजके पानेकी इच्छा करना या उसपर जूठी नजर डालना चोरी है।'

'वस्तुकी भाँति ही विचारोंकी चोरी भी—चोरी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझा, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमे ही वह पहले सूझा, विचारकी चोरी है।'

अपरिग्रह

'—अपरिग्रहको अस्तेयसे सम्बन्धित समझना चाहिये। वास्तवमें चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरी-का-सा माल हो जाता है। परिग्रहका अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता।'

'......नित्य अपने परिग्रहकी जाँच करते रहें और जहाँतक बने उसे घटाते रहें। सच्चे सुधारका, सच्ची सभ्यताका लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसको घटाना है।' परिग्रह घटाते जानेसे सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता जाता है, सेवा-शक्ति बढ़ती है।

'......वस्तुओंकी भाँति विचारका भी अपरिग्रह होना चाहिये। अपने दिमागमें निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वरसे विमुख रखते हों अथवा ईश्वरके प्रति न ले जाते हों वे सब परिग्रहके अंदर आते हैं और इसलिये त्याज्य हैं।'

अभय

'—अभयके मानी हैं बाहरी भयमात्रसे मुक्ति—मौतका भय, धन-दौलत लुट जानेका भय, कुटुम्ब-परिवारविषयक भय, रोगभय, शस्त्र-प्रहारका भय, प्रतिष्ठाका भय, किसीके [illegible] भय। भयकी यह पीढ़ी चाहे जितनी लंबी [illegible] सकती है।'

'......भयमात्र देहके कारण हैं। देह-विषयक राग दूर हो जानेसे अभय सहजमें प्राप्त हो जा सकता है। इस दृष्टिसे मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी उपज है। धनसे, परिवारसे, शरीरसे 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहाँ ! 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह रामबाण वचन है। कुटम्ब, धन, देह ज्यों-के-त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारेमें अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, यह 'मेरे' नहीं हैं; यह ईश्वरके हैं, 'मैं' उसीका हूँ; 'मेरी' कहलानेवाली इस संसारमें कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिये हो सकता है ! इसलिये उपनिषत्कारने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करनेभरकी ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायँ, शून्यवत् होकर रहें तो सहजमें भयमात्रको जीत लें, सहजमें शान्ति पा जायँ, सत्यनारायणके दर्शन प्राप्त कर लें।'

प्रेम

'......प्रेम-तत्त्व ही संसारपर शासन करता है। मृत्युसे घिरे रहते हुए भी जीवन अटल रहता है। विनाशके निरन्तर जारी रहते हुए भी यह विश्व बराबर चलता ही रहता है। असत्यपर सत्य सदा जय पाता है। प्रेम घृणाको जीत लेता है। ईश्वर शैतानपर सदैव विजय पाता है।'

× × ×

'......जहाँ शुद्ध प्रेम होता है वहाँ अधीरताको स्थान ही नहीं होता। शुद्ध प्रेम देहका नहीं, आत्माका ही सम्भव है। देहका प्रेम विषय ही है।......आत्म-प्रेमको कोई बन्धन बाधारूप नहीं होता है परंतु उस प्रेममें तपश्चर्या होती है और धैर्य तो इतना होता है कि मृत्युपर्यन्त वियोग रहे तो भी क्या हुआ !'

× × ×

'जगत्का नियमन प्रेम-धर्म करता है। मृत्युके होते हुए भी जीवन मौजूद ही है। प्रतिक्षण विध्वंस चल रहा है, परंतु फिर भी विश्व तो विद्यमान ही है। सत्य असत्यपर विजय प्राप्त करता है, प्रेम द्वेषको परास्त करता है और ईश्वर निरन्तर शैतानके दाँत खट्टे करता है।'

× × ×

संतोष

'देखनेमें आता है कि जिंदगीकी जरूरतोंको बढ़ानेमें

मनुष्य आचार-विचारमें पीछे रह जाता है। इतिहास यही बतलाता है। संतोषमें ही मनुष्यको सुख मिलता है। चाहिये जितना मिलनेपर भी जिस मनुष्यको असंतोष रहता है, उसे तो अपनी आदतोंका गुलाम ही समझना चाहिये। अपनी वृत्तिकी गुलामीसे बढ़कर कोई दूसरी गुलामी आजतक नहीं देखी। सब ज्ञानियोंने और अनुभवी मानस-शास्त्रियोंने, पुकार-पुकारकर कहा है कि मनुष्य स्वयं अपना शत्रु है और वह चाहे तो अपना मित्र भी बन सकता है। बन्धन और मुक्ति मनुष्यके अपने हाथमें है। जैसे यह बात एकके लिये सच्ची है, वैसे ही अनेकके लिये भी सच्ची है। यह युक्ति केवल सादे और शुद्ध जीवनसे ही मिल सकती है।'

× × ×

संयम

'संयमहीन स्त्री या पुरुषको तो गया-बीता समझिये। इन्द्रियोंको निरङ्कुश छोड़ देनेवालेका जीवन कर्णधारहीन नावके समान है, जो निश्चय पहली चट्टानसे ही टकराकर चूर-चूर हो जायगी।'

× × ×

असत्य और व्यभिचार

'.....मैं तो असत्यको सब पापोंकी जड़ मानता हूँ। और जिस संस्थामें झूठको बर्दाश्त किया जाता है, वह संस्था कभी समाजकी सेवा नहीं कर सकती; न उसकी हस्ती ही ज्यादा दिनोंतक रह सकती है।.....व्यभिचारी तीन दोष करता है। झूठका दोष तो करता ही है; क्योंकि अपने पापको छिपाता है। व्यभिचारको दोष मानता ही है और व्यक्ति-का भी पतन करता है।'

'.....थोड़ा-सा झूठ भी मनुष्यका नाश करता है, जैसे दूधको एक बूँद जहर भी।'

× × ×

क्रोध

'.....क्रोधके लक्षण शराब और अफीम दोनोंसे मिलते हैं। शराबीकी भाँति क्रोधी मनुष्य भी पहले आवेशवश लाल-पीला होता है। फिर आवेशके मन्द होनेपर भी क्रोध न घटा तो वह अफीमका काम करता है और वह मनुष्यकी बुद्धिको मन्द बना देता है। अफीमकी तरह वह दिमागको कुरेद डालता है। क्रोधके लक्षण क्रमशः सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश माने गये हैं।'

हिंदूधर्म

'...हिंदू वह है जो ईश्वरमें विश्वास करता है। आत्माकी अनश्वरता, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और मोक्षमें विश्वास करता है और अपने दैनिक जीवनमें सत्य और अहिंसाका अभ्यास करनेका प्रयत्न करता है और इसलिये अत्यन्त व्यापक अर्थमें गोरक्षा करता है और वर्णाश्रम-धर्मको समझता है और उसपर चलनेका प्रयत्न करता है।

× × ×

'...वर्णाश्रम धर्म संसारको हिंदूधर्मकी अपूर्व भेंट है। हिंदूधर्मने हमें भयसे बचा लिया है। अगर हिंदूधर्म मेरे सहारेको नहीं आता तो मेरे लिये आत्महत्याके सिवा और कोई चारा नहीं होता। मैं हिंदू इसलिये हूँ कि हिंदूधर्म ही वह चीज है जो संसारको रहने लायक बनाता है।'

× × ×

'हिंदूधर्मकी प्रतिष्ठा सत्य और अहिंसापर निर्भर है और इस कारण हिंदूधर्म किसी धर्मका विरोधी नहीं हो सकता है। हिंदूधर्मीकी नित्य प्रदक्षिणा यह होनी चाहिये कि जगत्के सर्वप्रतिष्ठित धर्मोंकी उन्नति हो और उसके द्वारा सारे संसारकी।'

× × ×

गीता और रामायण

'मेरे लिये तो गीता ही संसारके सब धर्मग्रन्थोंकी कुंजी हो गयी है। संसारके सब धर्मग्रन्थोंमें गहरे-से गहरे जो रहस्य भरे हुए हैं, उन सबको मेरे लिये यह खोलकर रख देती है।'

× × ×

'भगवद्गीता और तुलसीदासकी रामायणसे मुझे अत्यधिक शान्ति मिलती है। मैं खुल्लमखुल्ला कबूल करता हूँ कि कुरान, बाइबिल तथा दुनियाके अन्यान्य धर्मोंके प्रति मेरा अति आदरभाव होते हुए भी मेरे हृदयपर उनका उतना असर नहीं होता, जितना कि श्रीकृष्णकी गीता और तुलसीदासकी रामायणका होता है।'

× × ×

'रामचरितमानसके लिये यह दावा अवश्य है कि उससे लाखों मनुष्योंको शान्ति मिली है; जो लोग ईश्वर-विमुख थे वे ईश्वरके सम्मुख गये हैं और आज भी जा रहे हैं।

जितनी दवाइयाँ हैं, उनमेंसे सबसे अच्छी दवाई रामनाम है।'

'रामनामका जन्तर-मन्तरसे कोई वास्ता नहीं।'

'सच्चा डाक्टर तो राम ही है।'

'श्रद्धापूर्वक रामनामका उच्चारण करनेसे एकाग्रचित्त हो सकते हैं।'

'रामनामका चमत्कार सब लोगोंको प्रतीत नहीं होता; क्योंकि यह हृदयसे निकलना चाहिये, कण्ठसे तो तोता भी निकालता है।'

'भगवान् न मन्दिरमें है, न मस्जिदमें; न भीतर है, न बाहर; कहीं है तो दीनजनोंकी भूख और प्यासमें है। चलो, हम उनकी भूख और प्यास मिटानेके लिये नित्य कातें या ऐसी जात मेहनत उनके निमित्त रामनाम लेकर करें।'

'लेकिन अगर ईश्वरका नाम जपनेवाले लोग शराब पीते हैं, व्यभिचार करते हैं, बाजारोंमें सट्टा खेलते हैं, जुआ खेलते हैं और काला बाजार वगैरह करते हैं तो उनका रामधुन गाना बेकार है।'

'हमें तो ईश्वरका नाम भूलना ही नहीं चाहिये। हमारे हृदयमें जितनी बार धड़कन होती है उतनी बार तो, अर्थात् निरन्तर, हमें उसका चिन्तन जरूर करना चाहिये। इसमें स्वदेशी अवश्य सहायभूत है, परंतु दोनों बात एक नहीं है। स्वदेशी देहका धर्म है, ईश्वर-स्तवन आत्माका गुण है।

'...विषय जीतनेका सुवर्ण नियम रामनाम अथवा दूसरे कई ऐसे मन्त्र हैं। द्वादश मन्त्र भी यही काम देता है। अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मन्त्रका जप करना चाहिये। मुझे लड़कपनसे रामनाम सिखाया गया था। मुझे उसका सहारा बराबर मिलता रहता है, इससे मैंने उसे सुझाया है। जो मन्त्र हम जपें, उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिये। मन्त्र जपते समय दूसरे विचार आवें तो परवा नहीं। फिर भी श्रद्धा रखकर मन्त्रका जप यदि करते रहेंगे तो अन्तको अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे। मुझे इसमें रत्ती भर शक है। यह मन्त्र उसकी जीवन-डोर होगी और उसे संकटोंसे बचायेगी। ऐसे पवित्र मन्त्रोंका उ... आर्थिक लाभके लिये हरगिज नहीं करना है... चमत्कार है हमारी नीतिको सुरक्षित रखनेमें प्रत्येक साधकको थोड़े ही समयमें मिल... याद रखना चाहिये कि तोतेकी तरह इस मन्त्रको न पढ़े। उसमें अपनी आत्मा लगा देनी चाहिये। तोते मन्त्रकी तरह ऐसे मन्त्र पढ़ते हैं। हमें ज्ञानपूर्वक पढ़ना चाहिये........अवाञ्छनीय विचारोंको निवारण करनेकी भावना रखकर और वैसा करनेका मन्त्रकी शक्तिमें विश्वास रखकर।'

'जब तुम्हारे विकार तुमपर हावी होना चाहें, तब तुम घुटनोंके बल झुककर भगवान्से मददकी प्रार्थना करो।'

'रामनाम अचूक रूपसे मेरी मदद करता है।'

'रामकी मदद लेकर हमें विकारोंके रावणका वध करना है और यह सम्भवनीय है। जो रामपर भरोसा रख सको तो तुम श्रद्धा रखकर निश्चिन्तताके साथ रहना। सबसे बड़ी बात यह है कि आत्मविश्वास कभी मत खोना। खानेका खूब नाप रखना, ज्यादा और ज्यादा तरहका भोजन न करना।'

'अभ्याससे ही चित्त एकाग्र होता है। शुभ और इष्ट विषयमें लीन होनेसे एकाग्र बननेका अभ्यास हो सकता है। जैसे—कोई रोगीकी सेवा करनेमें, कोई चरखा चलानेमें, कोई खादीका प्रचार करनेमें। श्रद्धापूर्वक रामनामका... करनेसे एकाग्र हो सकते हैं।'

'राम-जपके द्वारा पापहरण इस प्रकार है... भावसे नाम जपनेवालोंमें श्रद्धा होती ही है— पापहरण होगा ही। इस निश्चयसे वह... पापहरण अर्थात् आत्मशुद्धि। श्रद्धाके... थक ही नहीं सकता अर्थात् जो ... अन्तमें हृदयमें उतरता है और ... है। यह अनुभव निरपवाद है। ... विचार है कि मनुष्य जै... है। रामनाम इस नियम... जपपर मेरी श्रद्धा अट... यह अनुभवी था... है। यह मेरा दृढ़... खुला रहना चाहि... १।२२,१० ... साधन है।'

पैदा करते हैं तो अपनी योनिके तात्पर्यकी उचित दरजेपर पूर्ति करते हैं। हम यह मान लेते हैं कि प्रतिहिंसा या बदला हमारे जीवनका नियम है, जब कि प्रत्येक शास्त्रमें हम देखते हैं कि प्रतिहिंसा कहीं अनिवार्य नहीं, बल्कि क्षम्य मानी गयी है। संयम—नियन्त्रण—अलबत्ता अनिवार्य है।……'संयम हमारे अस्तित्वका मूल मन्त्र है। सर्वोच्च पूर्णताकी प्राप्ति सर्वोच्च संयमके बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार कष्ट-सहन मानव-जातिका बैज (पहिचानका लक्षण) है।'

× × ×

'……अहिंसा और कायरता परस्पर-विरोधी शब्द हैं। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ सद्गुण है; कायरता बुरी-से-बुरी बुराई है। अहिंसाका मूल प्रेममें है; कायरताका घृणामें। अहिंसक सदा कष्ट-सहिष्णु होता है, कायर सदा पीड़ा पहुँचाता है। सम्पूर्ण अहिंसा उच्चतम वीरता है……।'

ब्रह्मचर्य

'ब्रह्मचर्यके मूल अर्थको सब याद रक्खें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मकी—सत्यकी शोधमें चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थमें सर्वेन्द्रिय-संयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है।'

'……ब्रह्मचर्यका अर्थ है मन, वचन और कायासे समस्त इन्द्रियोंका संयम।'……'जबतक अपने विचारोंपर इतना कब्जा न हो जाय कि अपनी इच्छाके बिना एक भी विचार न आने पाये, तबतक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं।'

'……इस ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, करीब-करीब असम्भव माना गया है। इसके कारणकी खोज करनेसे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्यको संकुचित अर्थमें लिया गया है। जननेन्द्रिय विकारके निरोधभरको ही ब्रह्मचर्यका पालन मान लिया गया है। मेरे ख्यालसे यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषयमात्रका निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निःसंदेह जो अन्य इन्द्रियोंको जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इन्द्रियको रोकनेका प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कानसे विकारी बातें सुनना, आँखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभसे विकारोत्तेजक वस्तुका स्वाद लेना, हाथसे विकारोंको उभारनेवाली चीजको छूना और फिर भी जननेन्द्रियको रोकनेका इरादा रखना तो आगमें हाथ डालकर जलनेसे बचनेके प्रयत्नके समान है। इसलिये जननेन्द्रियको रोकनेका निश्चय करनेवालेके लिये इन्द्रियमात्रका, उनके विकारोंसे रोकनेका निश्चय होना ही चाहिये।……'मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इन्द्रियोंको एक साथ वशमें करनेका अभ्यास डालें तो जननेन्द्रियको वशमें रखनेका प्रयत्न तुरत सफल हो सकता है।'

'मुझे यह बात कहनी ही होगी कि ब्रह्मचर्य-व्रतका तब-तक पालन नहीं हो सकता, जबतक कि ईश्वरमें, जो जीता-जागता सत्य है, अटूट विश्वास न हो।'

अस्वाद

'ब्रह्मचर्यके साथ यह व्रत बहुत निकट सम्बन्ध रखनेवाला है। मेरे अनुभवके अनुसार इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ होनेपर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय संयम बिलकुल सहज हो जाता है।'

'अस्वादका अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवाके खानेमें हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीरको उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाणमें ही सेवन करते हैं, वही बात अन्नके विषयमें समझनी चाहिये।……किसी भी वस्तुको स्वाद लेनेके लिये चखना व्रतका भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तुका अधिक परिमाणमें लेना तो अनायास व्रतका भंग हो गया।'

'अस्वाद व्रतका महत्त्व समझ लेनेपर हमें उसके पालनके लिये नया प्रयत्न करना चाहिये, इसके लिये चौबीसों घंटे खानेके बारेमें ही सोचते रहनेकी जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानी की, जागृतिकी पूरी आवश्यकता रहती है। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमें हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वादके वशमें पड़ते हैं और कब शरीर-पोषणके लिये खाते हैं। यह मालूम हो जानेपर हमें दृढ़तापूर्वक स्वादोंको घटाते ही जाना चाहिये।'

अस्तेय

'—अस्तेयका अर्थ है चोरी न करना।……दूसरेकी चीजको उसकी आज्ञाके बिना लेना तो चोरी है ही, पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली चीजकी भी चोरी करता है, जैसे—एक बाप अपने बच्चोंको जताये बिना, उनसे छिपाने की नीयत रखकर चुपचुप कोई चीज खा ले।'

मिलनेसे चिढ़ जाता है, वह भक्त नहीं है। भक्तकी सच्ची सेवा आप भक्त बननेमें है।'

× × ×

सत्य

'सत्य' शब्द 'सत्'से बना है। सत्का अर्थ है अस्ति— सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्यके बिना दूसरी किसी चीजकी हस्ती ही नहीं है। परमेश्वरका सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है।'

'इस सत्यकी आराधनाके लिये ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिये हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिये हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिये। ऐसा करना सीख जानेपर दूसरे सब नियम सहजमें हमारे हाथ लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्यके बिना किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है।

'सत्यकी आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेलीपर लेकर चलनेका सौदा' है, अथवा वह 'हरिका मार्ग' है जिसमें कायरताकी गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नामकी कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीनेका मन्त्र' है।

'···सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यों-ज्यों सेवा की जाती है, त्यों-त्यों उसमें अनेक फल आते हुए दिखायी देते हैं। उनका अन्त ही नहीं होता। ज्यों-ज्यों हम गहरे पैठते हैं, त्यों-त्यों उनमेंसे रत्न निकलते हैं, सेवाके अवसर हाथ आते रहते हैं।'

शुद्ध सत्यकी शोध

'···राग-द्वेषादिसे भरा हुआ मनुष्य सरल हो सकता है; वह वाचिक सत्य भले ही पाल ले, पर उसे शुद्ध सत्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध सत्यकी शोध करनेके मानी हैं राग-द्वेषादि द्वन्द्वसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना।'

अहिंसा

'अहिंसा मानो पूर्ण निर्दोषता ही है। पूर्ण अहिंसाका अर्थ है प्राणिमात्रके प्रति दुर्भावका पूर्ण अभाव।'

'(अहिंसामें) किसीको न मारना इतना तो है ही, कुविचारमात्र हिंसा है। उतावल (जल्दबाजी) हिंसा है। मिथ्या-भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसीका बुरा चाहना हिंसा है। जगत्के लिये जो आवश्यक वस्तु है, उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है।'

'······अहिंसा बिना सत्यकी खोज असम्भव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं, जैसे सिक्केके दोनों रुख या चिकनी चकतीके दो पहलू। उसमें किसको उलटा कहें, किसे सीधा? तथापि अहिंसाको साधन और सत्यको साध्य मानना चाहिये।'

सत्यके दर्शन बिना अहिंसाके हो ही नहीं सकते। इसीलिये कहा है कि 'अहिंसा परमो धर्मः'।

'······अहिंसा कोई ऐसा गुण तो है नहीं जो गढ़ा जा सकता है। यह तो एक अंदरसे बढ़नेवाली चीज है, जिसका आधार आत्यन्तिक व्यक्तिगत प्रयत्न है।'

× × ×

'······संसार आज इसलिये खड़ा है कि यहाँपर घृणासे प्रेमकी मात्रा अधिक है, असत्यसे सत्य अधिक है। धोकेबाजी और जोर-जब्र तो बीमारियाँ हैं; सत्य और अहिंसा स्वास्थ्य हैं। यह बात कि संसार अभीतक नष्ट नहीं हो गया है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि संसारमें रोगसे अधिक स्वास्थ्य है।'

× × ×

'अगर मनुष्य और पशुके बीच कोई मौलिक और सबसे महान् अन्तर है तो वह यही है कि मनुष्य दिनों-दिन इस धर्मका अधिकाधिक साक्षात्कार कर सकता है और अपने व्यक्तिगत जीवनमें उसपर अमल भी कर सकता है। संसारके प्राचीन और अर्वाचीन सब संत पुरुष अपनी-अपनी शक्ति और पात्रताके अनुसार इस परम जीवन-धर्मके ज्वलन्त उदाहरण थे। निस्संदेह यह सच है कि हमारे अंदर छिपा हुआ पशु कई बार सहज विजय प्राप्त कर लेता है पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह धर्म मिथ्या है। इससे तो केवल यह सिद्ध होता है कि यह आचरणमें कठिन है।'

× × ×

'जब मनुष्य अपनेमें निर्दोष होता है तो कुछ देवता नहीं बन जाता। तब वह सिर्फ सच्चा आदमी बनता है। अपनी वर्तमान स्थितिमें हम आंशिक रूपसे मनुष्य और आंशिक रूपसे पशु हैं और अपने अज्ञान, बल्कि मद या उद्दण्डतामें कहते हैं कि हम घूँसेका जवाब घूँसेसे देते हैं और इस कार्यके लिये क्रोधकी उपयुक्त मात्रा अपने अंदर

पैदा करते हैं तो अपनी योनिके तात्पर्यकी उचित ढंगपर पूर्ति करते हैं। हम यह मान लेते हैं कि प्रतिहिंसा या बदला हमारे जीवनका नियम है, जब कि प्रत्येक शास्त्रमें हम देखते हैं कि प्रतिहिंसा कहीं अनिवार्य नहीं, बल्कि क्षम्य मानी गयी है। संयम—नियन्त्रण—अलबत्ता अनिवार्य है।'……संयम हमारे अस्तित्वका मूल मन्त्र है। सर्वोच्च पूर्णताकी प्राप्ति सर्वोच्च संयमके बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार कष्ट-सहन मानव-जातिका बैज (पहिचानका लक्षण) है।'

× × ×

'……अहिंसा और कायरता परस्पर-विरोधी शब्द हैं। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ सद्‌गुण है; कायरता बुरी-से-बुरी बुराई है। अहिंसाका मूल प्रेममें है; कायरताका घृणामें। अहिंसक सदा कष्ट-सहिष्णु होता है, कायर सदा पीड़ा पहुँचाता है। सम्पूर्ण अहिंसा उच्चतम वीरता है……।'

ब्रह्मचर्य

'ब्रह्मचर्यके मूल अर्थको सब याद रक्खें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मकी—सत्यकी शोधमें चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थमें सर्वेन्द्रिय-संयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है।'

'……ब्रह्मचर्यका अर्थ है मन, वचन और कायासे समस्त इन्द्रियोंका संयम।'……'जबतक अपने विचारोंपर इतना कब्जा न हो जाय कि अपनी इच्छाके बिना एक भी विचार न आने पाये, तबतक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं।'

'……इस ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, करीब-करीब असम्भव माना गया है। इसके कारणकी खोज करनेसे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्यको संकुचित अर्थमें लिया गया है। जननेन्द्रिय विकारके निरोधभरको ही ब्रह्मचर्यका पालन मान लिया गया है। मेरे ख्यालमें यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषयमात्रका निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निःसंदेह जो अन्य इन्द्रियोंको जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इन्द्रियको रोकनेका प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कानसे विकारी बातें सुनना, आँखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभसे विकारोत्तेजक वस्तुका स्वाद लेना, हाथसे विकारोंको उभारनेवाली चीजोंको छूना और फिर भी जननेन्द्रियको रोकनेका इरादा रखना तो आगमें हाथ डालकर जलनेसे बचनेके प्रयत्नके समान है। इसलिये जननेन्द्रियको रोकनेका निश्चय करनेवालेके लिये इन्द्रियमात्रका, उनके विकारोंसे रोकनेका निश्चय होना ही चाहिये।'……'मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इन्द्रियोंको एक साथ वशमें करनेका अभ्यास डालें तो जननेन्द्रियको वशमें रखनेका प्रयत्न तुरंत सफल हो सकता है।'

'मुझे यह बात कहनी ही होगी कि ब्रह्मचर्य-व्रतका तबतक पालन नहीं हो सकता, जबतक कि ईश्वरमें, जो जीता जागता सत्य है, अटूट विश्वास न हो।'

अस्वाद

'ब्रह्मचर्यके साथ यह व्रत बहुत निकट सम्बन्ध रखनेवाला है। मेरे अनुभवके अनुसार इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ होनेपर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय-संयम बिल्कुल सहज हो जाता है।'

'अस्वादका अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद यानी रस। जैसे दवाके खानेमें हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीरको उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाणमें ही सेवन करते हैं, वही बात अन्नके विषयमें समझनी चाहिये।……किसी भी वस्तुको स्वाद लेनेके लिये चखना व्रतका भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तुका अधिक परिमाणमें लेना तो अनायास व्रतका भंग हो गया।'

'अस्वाद व्रतका महत्त्व समझ लेनेपर हमें उसके पालनके लिये नया प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये चौबीसों घंटे खानेके बारेमें ही सोचते रहनेकी जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानीकी, जागृतिकी पूरी आवश्यकता रहती है। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमें हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वादके फेरमें पड़ते हैं और कब शरीर-पोषणके लिये खाते हैं। यह मालूम हो जानेपर हमें दृढ़तापूर्वक स्वादोंको घटाते ही जाना चाहिये।'

अस्तेय

'—अस्तेयका अर्थ है चोरी न करना।……दूसरेकी चीजको उसकी आज्ञाके बिना लेना तो चोरी है ही, पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली चीजकी भी चोरी करता है, जैसे—एक बाप अपने बच्चोंको जनाये बिना, उनसे छिपाकर ही चुपचुप कोई चीज खा जाता है।'

'पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीजकी जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकारमें वह है, उससे चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी है। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिये।'

'इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मनसे हमारा किसी चीजके पानेकी इच्छा करना या उसपर जूठी नजर डालना चोरी है।'

'वस्तुकी भाँति ही विचारोंकी चोरी भी—चोरी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझा, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचारकी चोरी है।'

अपरिग्रह

'—अपरिग्रहको अस्तेयसे सम्बन्धित समझना चाहिये। वास्तवमें चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरी-का-सा माल हो जाता है। परिग्रहका अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता।'

'……नित्य अपने परिग्रहकी जाँच करते रहें और जहाँतक बने उसे घटाते रहें। सच्चे सुधारका, सच्ची सभ्यताका लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसको घटाना है।' परिग्रह घटाते जानेसे सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता जाता है, सेवा-शक्ति बढ़ती है।

'……वस्तुओंकी भाँति विचारका भी अपरिग्रह होना चाहिये। अपने दिमागमें निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वरसे विमुख रखते हों अथवा ईश्वरके प्रति न ले जाते हों वे सब परिग्रहके अंदर आते हैं और इसलिये त्याज्य हैं।'

अभय

'—अभयके मानी हैं बाहरी भयमात्रसे मुक्ति—मौतका भय, धन-दौलत लुट जानेका भय, कुटुम्ब-परिवारविषयक भय, रोगभय, शस्त्र-प्रहारका भय, प्रतिष्ठाका भय, किसीके बुरा माननेका भय। भयकी यह पीढ़ी चाहे जितनी लंबी बढ़ायी जा सकती है।'

'……भयमात्र देहके कारण हैं। देह-विषयक राग दूर हो जानेसे अभय सहजमें प्राप्त हो जा सकता है। इस दृष्टिसे मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी उपज है। धनसे, परिवारसे, शरीरसे 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहाँ! 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह रामबाण वचन है। कुटम्ब, धन, देह ज्यों-के-त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारेमें अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, यह 'मेरे' नहीं हैं; यह ईश्वरके हैं, 'मैं' उसीका हूँ; 'मेरी' कहलानेवाली इस संसारमें कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिये हो सकता है! इसलिये उपनिषत्कारने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करनेभरकी ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायँ, शून्यवत् होकर रहें तो सहजमें भयमात्रको जीत लें, सहजमें शान्ति पा जायँ, सत्यनारायणके दर्शन प्राप्त कर लें।'

प्रेम

'……प्रेम-तत्त्व ही संसारपर शासन करता है। मृत्युसे घिरे रहते हुए भी जीवन अटल रहता है। विनाशके निरन्तर जारी रहते हुए भी यह विश्व बराबर चलता ही रहता है। असत्यपर सत्य सदा जय पाता है। प्रेम घृणाको जीत लेता है। ईश्वर शैतानपर सदैव विजय पाता है।'

× × ×

'……जहाँ शुद्ध प्रेम होता है वहाँ अधीरताको स्थान ही नहीं होता। शुद्ध प्रेम देहका नहीं, आत्माका ही सम्भव है। देहका प्रेम विषय ही है।……आत्म-प्रेमको कोई बन्धन बाधारूप नहीं होता है परंतु उस प्रेममें तपश्चर्या होती है और धैर्य तो इतना होता है कि मृत्युपर्यन्त वियोग रहे तो भी क्या हुआ!'

× × ×

'जगत्का नियमन प्रेम-धर्म करता है। मृत्युके होते हुए भी जीवन मौजूद ही है। प्रतिक्षण विध्वंस चल रहा है, परंतु फिर भी विश्व तो विद्यमान ही है। सत्य असत्यपर विजय प्राप्त करता है, प्रेम द्वेषको परास्त करता है और ईश्वर निरन्तर शैतानके दाँत खट्टे करता है।'

× × ×

संतोष

'देखनेमें आता है कि जिंदगीकी जरूरतोंको बढ़ानेसे

मनुष्य आचार-विचारमें पीछे रह जाता है। इतिहास यही बतलाता है। संतोषमें ही मनुष्यको सुख मिलता है। चाहिये जितना मिलनेपर भी जिस मनुष्यको असंतोष रहता है, उसे तो अपनी आदतोंका गुलाम ही समझना चाहिये। अपनी वृत्तिकी गुलामीसे बढ़कर कोई दूसरी गुलामी आजतक नहीं देखी। सब ज्ञानियोंने और अनुभवी मानस शास्त्रियोंने, पुकार-पुकारकर कहा है कि मनुष्य स्वयं अपना शत्रु है और वह चाहे तो अपना मित्र भी बन सकता है। बन्धन और मुक्ति मनुष्यके अपने हाथमें है। जैसे यह बात एकके लिये सच्ची है, वैसे ही अनेकके लिये भी सच्ची है। यह युक्ति केवल सादे और शुद्ध जीवनसे ही मिल सकती है।'

× × ×

संयम

'संयमहीन स्त्री या पुरुषको तो गया-बीता समझिये। इन्द्रियोंको निरङ्कुश छोड़ देनेवालेका जीवन कर्णधारहीन नावके समान है, जो निश्चय पहली चट्टानसे ही टकराकर चूर-चूर हो जायगी।'

× × ×

असत्य और व्यभिचार

'······मैं तो असत्यको सब पापोंकी जड़ मानता हूँ। और जिस संस्थामें झूठको बर्दाश्त किया जाता है, वह संस्था कभी समाजकी सेवा नहीं कर सकती; न उसकी हस्ती ही ज्यादा दिनोंतक रह सकती है।······व्यभिचारी तीन दोष करता है। झूठका दोष तो करता ही है; क्योंकि अपने पापको छिपाता है। व्यभिचारको दोष मानता ही है और व्यक्तिका भी पतन करता है।'

'······थोड़ा-सा झूठ भी मनुष्यका नाश करता है, जैसे दूधको एक बूँद जहर भी।'

× × ×

क्रोध

'······क्रोधके लक्षण शराब और अफीम दोनोंसे मिलते हैं। शराबीकी भाँति क्रोधी मनुष्य भी पहले आवेशवश लाल-पीला होता है। फिर आवेशके मन्द होनेपर भी क्रोध न घटा तो वह अफीमका काम करता है और वह मनुष्यकी बुद्धिको मन्द बना देता है। अफीमकी तरह वह दिमागको कुरेद डालता है। क्रोधके लक्षण क्रमशः सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश माने गये हैं।'

हिंदूधर्म

'···हिंदू वह है जो ईश्वरमें विश्वास करता है। आत्माकी अनश्वरता, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और मोक्षमें विश्वास करता है और अपने दैनिक जीवनमें सत्य और अहिंसाका अभ्यास करनेका प्रयत्न करता है और इसलिये अत्यन्त व्यापक अर्थमें गोरक्षा करता है और वर्णाश्रम-धर्मको समझता है और उसपर चलनेका प्रयत्न करता है।

× × ×

'···वर्णाश्रम-धर्म संसारको हिंदूधर्मकी अपूर्व भेंट है। हिंदूधर्मने हमें भयसे बचा लिया है। अगर हिंदूधर्म मेरे सहारेको नहीं आता तो मेरे लिये आत्महत्याके सिवा और कोई चारा नहीं होता। मैं हिंदू इसलिये हूँ कि हिंदूधर्म ही वह चीज है जो संसारको रहने लायक बनाता है।'

× × ×

'हिंदूधर्मकी प्रतिष्ठा सत्य और अहिंसापर निर्भर है और इस कारण हिंदूधर्म किसी धर्मका विरोधी नहीं हो सकता है। हिंदूधर्मीकी नित्य प्रदक्षिणा यह होनी चाहिये कि जगत्के सर्वप्रतिष्ठित धर्मोंकी उन्नति हो और उसके द्वारा सारे संसारकी।'

× × ×

गीता और रामायण

'मेरे लिये तो गीता ही संसारके सब धर्मग्रन्थोंकी कुञ्जी हो गयी है। संसारके सब धर्मग्रन्थोंमें गहरे-से-गहरे जो रहस्य भरे हुए हैं, उन सबको मेरे लिये वह खोलकर रख देती है।'

× × ×

'भगवद्गीता और तुलसीदासकी रामायणसे मुझे अत्यधिक शान्ति मिलती है। मैं खुल्लमखुल्ला कबूल करता हूँ कि कुरान, बाइबिल तथा दुनियाके अन्यान्य धर्मोंके प्रति मेरा अति आदरभाव होते हुए भी मेरे हृदयपर उनका उतना असर नहीं होता, जितना कि श्रीकृष्णकी गीता और तुलसीदासकी रामायणका होता है।'

× × ×

'रामचरितमानसके लिये यह दावा अवश्य है कि उससे लाखों मनुष्योंको शान्ति मिली है; जो लोग ईश्वर-विमुख थे वे ईश्वरके सम्मुख गये हैं और आज भी जा रहे हैं।

मानसका प्रत्येक पृष्ठ भक्तिसे भरपूर है। मानस अनुभवजन्य ज्ञानका भण्डार है।'

प्रकीर्ण

जो मनुष्य अपनेपर काबू नहीं रख सकता है, वह दूसरोंपर कभी सच्चा काबू नहीं रख सकता।

× × ×

पानीका स्वभाव नीचे जानेका है, इसी तरह दुर्गुण नीचे ले जाता है, इसलिये सहल होना ही चाहिये। सद्गुण ऊँचे ले जाता है, इसलिये मुश्किल-सा लगता है।

संकटका सामना करनेके बदले उससे दूर भागना उस श्रद्धासे इन्कार करना है, जो मनुष्यकी मनुष्यपर, ईश्वरपर और अपने आपपर रहती है। अपनी श्रद्धाका ऐसा दिवाला निकालनेसे बेहतर तो यह है कि इन्सान डूबकर मर जाय।

× × ×

'जो दूसरोंकी सेवा करता है उसके हृदयमें ईश्वर अपने-आप अपनी गरजसे रहता है।'

'गरीबोंकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है।'

'हम ओठोंसे असत्य कड़ुवे वचन न निकालें। कानोंसे किसीकी निन्दा या गंदी बातें न सुनें। आँखोंसे इन्द्रियोंको विचलित करनेवाला कुछ न देखें, जीभसे सच ही बोलें, ईश्वरका नाम जपें, कानोंसे भजन-कीर्तन सुनें, हमें आगे बढ़ावे ऐसा कुछ सुनें और आँखोंसे ईश्वरकी लीला देखें, संतजनोंके दर्शन करें। जो ऐसा करेगा, वही सत्यके दर्शन पायेगा।'

श्रीअरविन्द

(जन्म—१५ अगस्त सन् १८७२ ई०, कलकत्ता। देहावसान—५ दिसम्बर १९५० ई०)

साधनाका सामान्य क्रम

विषयासक्तिवाली निम्न प्रकृति और उससे अपने मार्गमें पड़नेवाली बाधाओं-का निस्तार साधनाका अभावपक्ष है। इन बाधाओंको देखना, समझना और हटाना अवश्य ही एक काम है, पर इसीको सब कुछ समझकर इसीमें सर्वात्मना सदा लगे रहना ठीक नहीं। साधनाका जो भावपक्ष है, अर्थात् परा शक्तिके अवतरणका अनुभव—यही मुख्य है। यदि कोई यही प्रतीक्षा करता रहे कि पहले निम्न प्रकृति सदाके लिये सर्वथा शुद्ध हो ले, तब परा प्रकृतिके आनेकी बाट जोही जाय, तो ऐसी प्रतीक्षा तो सदा करते ही रह जाना पड़ेगा। यह सच है कि निम्न प्रकृति जितनी ही शुद्ध होगी, उतना ही परा प्रकृतिका उतर आना आसान होगा। पर यह भी सच है, बल्कि उससे भी अधिक सच है कि परा प्रकृतिका उतरना जितना होगा, उतनी ही निम्न प्रकृति निर्मल होगी। पूर्ण शुद्धि या स्थिररूपसे पूर्ण अवतरण एकबारगी ही नहीं हो सकता, यह दीर्घकालमें निरन्तर धैर्यपूर्वक क्रमशः ही होनेका काम है। चित्तकी शुद्धि और भगवत्-शक्तिका अवतरण दोनोंका काम एक साथ चलता है और दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक स्थिरता और दृढ़ताके साथ दोनों एक-दूसरेको आलिङ्गन करते हैं—साधनाका यही सामान्य क्रम है।

दिव्यीकरणका प्रथम सोपान

किसीका सद्भावका आत्यन्तिक अभिनिवेश चित्तमें होकर भी तबतक नहीं ठहरता, जबतक अपनी मानवी बोधशक्ति बदलकर दिव्य नहीं हो जाती—दिव्य भावको आत्मसात् करके यह क्रिया परदेके अंदर ऊपरी आवरणसे छिपकर भीतर हुआ करती है और ऊपरी आवरणकी बोध-शक्तिको केवल मूढ़ताकी-सी स्थितिका अनुभव होता है और ऐसा भी प्रतीत होता है कि जो कुछ दिव्य भाव-सा पहले मिला था वह भी चला गया, पर जब जीव जागता है, उसकी बोधशक्ति जाग उठती है, तब वह देख सकता है कि किस प्रकार भीतर-ही-भीतर आत्मसात् करनेकी क्रिया हो रही है और कोई भी दिव्य भाव पाया हुआ नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि जो दिव्य भाव उतर आया था, वह अब स्थिर होकर बैठा है।

विशालता और अपार शान्ति और मौनका साधकको जो अनुभव होता है वह आत्मा शान्त ब्रह्म है। कई योगोंका तो इसी आत्मा या शान्त ब्रह्मको पाकर उसमें रहना एकमात्र ध्येय होता है। परंतु हमारे योगमें तो भगवत्सत्ताकी अनुभूतिका तथा जीवके क्रमशः उस भगवच्चैतन्यको प्राप्त होनेका—जिसे हम दिव्यीकरण कहते हैं,—यह केवल प्रथम सोपान है।

जीवनका एकमात्र सत्य

जीवनसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि इस संसारमें बराबर ही प्रत्येक चीज मनुष्यको निराशा प्रदान करती है । एकमात्र भगवान् ही उसे निराश नहीं करते, अगर वह पूर्णरूपसे उनकी ओर मुड़ जाय । तुम्हारे ऊपर जो चोटें पड़ रही हैं, उनका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हारे अंदर कोई बुरी चीज है—चोटें तो सभी मनुष्योंपर पड़ती हैं; क्योंकि वे ऐसी चीजोंकी कामनाओंसे भरे होते हैं जो बराबर नहीं टिक सकतीं और वे उन्हें खो बैठते हैं, अथवा अगर वे उन्हें पाते भी हैं तो उन्हें उनसे निराशा ही प्राप्त होती है, वे चीजें उन्हें कभी संतुष्ट नहीं कर सकतीं । अतएव भगवान्‌की ओर मुड़ना ही जीवनका एकमात्र सत्य है ।

हमारा उद्देश्य

योगका उद्देश्य है भगवान्‌की सत्ता और चेतनामें प्रवेश करना और उनके द्वारा अधिकृत होना, एकमात्र भगवान्‌के लिये भगवान्‌से प्रेम करना, अपनी प्रकृतिके अंदर भगवान्‌की प्रकृतिके साथ समस्वर होना और अपने संकल्प, कर्म तथा जीवनमें भगवान्‌का यन्त्र बनना । इसका उद्देश्य कोई बड़ा योगी या अतिमानव होना (यद्यपि वह अवस्था आ सकती है) नहीं है अथवा अहंकारकी शक्ति, दम्भ या सुखभोगके लिये भगवान्‌को हस्तगत करना नहीं है । यह योग मोक्षके लिये भी नहीं है, यद्यपि इससे मोक्ष प्राप्त होता है और अन्य सभी चीजें आ सकती हैं, परंतु ये सब चीजें हमारा उद्देश्य कभी नहीं होनी चाहिये । एकमात्र भगवान् ही हमारे उद्देश्य हैं ।

साधनाके अङ्ग

साधनाका अर्थ है—योगका अभ्यास करना ।

तपस्याका अर्थ है साधनाका फल पानेके लिये और निम्न प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी संकल्पशक्तिको एकाग्र करना ।

आराधनाका अर्थ है भगवान्‌की पूजा करना, भगवान्‌के साथ प्रेम करना, उन्हें आत्मसमर्पण करना, उन्हें पानेकी अभीप्सा करना, उनका नाम जपना, प्रार्थना करना ।

ध्यानका अर्थ है अपनी चेतनाको भीतरमें एकाग्र करना, समाधिके अंदर चले जाना ।

ध्यान, तपस्या और आराधना—ये सब साधनाके अङ्ग हैं ।

विश्वास रक्खो

भगवान्‌पर, भगवान्‌की कृपापर विश्वास रक्खो । साधनाके सत्यके ऊपर मन, प्राण और शरीरकी कठिनाइयोंपर आत्माकी अन्तिम विजयके ऊपर विश्वास रक्खो । साधन-मार्ग और गुरुपर विश्वास रक्खो । उन बातोंकी अनुभूतिपर विश्वास रक्खो जो हेगेल या हक्सले या बर्टेण्ड रसेलकी फिलासफीमें नहीं लिखी हैं; क्योंकि अगर ये बातें सच्ची न होतीं तो फिर योगका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता ।

भक्तिका साधन

अहैतुकी भक्तिके मार्गमें प्रत्येक चीजको साधन बनाया जा सकता है—उदाहरणार्थ कविता और संगीत केवल कविता और संगीत ही नहीं और भक्तिकी अभिव्यक्ति मात्र भी नहीं रह जाते, बल्कि वे स्वयं प्रेमकी और भक्तिकी अनुभूतिको ले जानेवाले साधन बन जाते हैं । ध्यान स्वयं मनको एकाग्र करनेका प्रयास ही नहीं रह जाता, बल्कि प्रेम, आराधना और पूजाकी एक धारा बन जाता है ।

भक्ति और ज्ञान

मनके द्वारा साधनाके विषयमें कुछ जानना आवश्यक नहीं है । अगर साधकके हृदयकी गम्भीर नीरवतामें भक्ति और अभीप्सा हो, अगर उसमें भगवान्‌के लिये सच्चा प्रेम हो तो उसकी प्रकृति स्वयं ही उद्घाटित होगी । उसे सच्ची अनुभूति प्राप्त होगी । श्रीमाँकी शक्ति उसके अंदर कार्य करेगी और आवश्यक ज्ञान उसमें आ जायगा ।

निर्भरता और प्रयास

साधकको भगवान्‌पर ही निर्भर करना चाहिये, पर साथ ही कुछ उपयोगी साधना भी करनी चाहिये । भगवान् साधनाके अनुपातमें फल नहीं देते बल्कि अन्तरात्माकी सचाई और इसकी अभीप्साके अनुपातमें देते हैं । (अन्तरात्माकी सचाईसे मेरा मतलब है भगवान्‌के लिये उसकी चाह और उच्चतर जीवनके लिये उसकी अभीप्सा ।) फिर इस प्रकार दुश्चिन्ता करनेसे भी कोई लाभ नहीं कि 'मैं ऐसा होऊँगा, मैं वैसा बनूँगा, मैं क्या बनूँगा ।' बल्कि यह कहो 'मैं जो कुछ चाहता हूँ वैसा बननेको मैं

तैयार नहीं हूँ, बल्कि जैसा भगवान् चाहते हैं वैसा मैं बनना चाहता हूँ।'— शेष सभी चीजें, बस, इसी आधारके ऊपर होनी चाहिये।

भगवत्कृपाविषयक सत्य

भगवत्कृपाके विषयमें कोई संशय नहीं हो सकता। यह भी पूर्णतः सत्य है कि यदि मनुष्य सच्चा है तो वह भगवान्‌तक पहुँचेगा, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह तत्काल सरलतासे बिना देरी पहुँच जायगा। तुम्हारी भूल इसमें है कि तुम भगवान्‌के लिये पाँच-छः वर्षका समय निर्धारित करते हो और संशय करते हो कि क्यों फल नहीं मिलता। मनुष्य केन्द्रीय तौरपर सच्चा हो सकता है फिर भी ऐसी अनेकों वस्तुएँ उसमें हो सकती हैं जिन्हें परिवर्तित करना जरूरी हो, इससे पूर्व कि अनुभूति प्रारम्भ हो सके। उसे अपनी सच्चाईसे सदा धीरज मिलना चाहिये; क्योंकि यह भगवान्‌के लिये अभीप्सा है जिसे कोई भी वस्तु, वह चाहे देरी हो या निराशा या बाधा या अन्य कुछ, नहीं बुझा सकती।

दो आवश्यक चीजें

जीवनमें सब प्रकारके भय, संकट और विनाशके प्रति सशस्त्र होकर चलनेके लिये दो ही जरूरी चीजें हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माताकी कृपा और दूसरी तुम्हारी ओरसे ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पणसे गठित हो।

आवश्यक निर्देश

एक बात प्रत्येक व्यक्तिको याद रखनी चाहिये कि प्रत्येक कार्य योग एवं साधनाकी दृष्टिसे तथा श्रीमाँकी चेतनाके अंदर प्राप्त दिव्य जीवनमें वर्धित होनेके उद्देश्यसे किया जाना चाहिये। अपने मन और उसकी धारणाओंपर आग्रह करना, अपने प्राणगत वेदनाओं और प्रतिक्रियाओंके द्वारा अपने-आपको परिचालित होने देना, यहाँ जीवनका नियम नहीं होना चाहिये। साधकको इन सबसे पीछे हटकर अन्तरमें स्थित होना चाहिये, अनासक्त हो जाना चाहिये और इनके स्थानपर ऊपरसे सच्चा ज्ञान और भीतरसे अन्तरात्माके सच्चे अनुभवोंको प्राप्त करना चाहिये। ऐसा तबतक नहीं किया जा सकता, जबतक कि मन और प्राण समर्पित नहीं हो जाते, जबतक कि वे अपने उस अज्ञानके प्रति जिसे वे सत्य, सुकृत और न्यायके नामसे पुकारते हैं, अपनी आसक्तिका परित्याग नहीं कर देते। सारी विपत्ति इसीसे उत्पन्न होती है, अगर इसको अतिक्रम कर लिया जाय तो वर्तमान समयकी विपत्ति और कठिनाईके स्थानपर भगवान्‌के साथ प्राप्त एकताके अंदर जीवन, कर्म और सामंजस्यका तथा सभी चीजोंका सच्चा आधार उत्तरोत्तर स्थापित हो जायगा।

उद्बोधन

हे भगवान्‌के सैनिक और वीर योद्धा! कहाँ है तेरे लिये शोक, लज्जा या दुःख-कष्ट! क्योंकि तेरा जीवन तो एक गौरवकी वस्तु है। तेरे कर्म हैं आत्मनिवेदन, विजय है तेरा देवत्व-लाभ, पराजय है तेरी सफलता।

युद्ध कर, जबतक तेरी भुजाएँ मुक्त हैं। अपनी भुजाओंसे, अपनी वाणीसे, अपने मस्तिष्कसे और सब प्रकारके अस्त्रोंसे युद्ध कर। क्या तू अपने शत्रुकी कालकोठरीमें जंजीरोंसे बँधा है और उसकी लगामोंने तुझे मौन कर दिया है! युद्ध कर अपने नीरव सर्व आक्रामक अन्तरात्मासे और सुदूर प्रसारित संकल्पशक्तिसे और जब तू मर जाय तब भी युद्ध कर उस विश्वव्यापिनी शक्तिसे जो तेरे अंदर विराजमान भगवान्‌से निःसृत हुई थी।

समुद्रकी तहमें कोई हलचल नहीं होती, पर ऊपरमें होता है उसका उल्लासपूर्ण वज्रनिर्घोष तथा तटोन्मुख तीव्र अभिधावन, बस, ऐसी ही अवस्था होती है प्रचण्ड कर्ममें निरत मुक्तात्माकी। आत्मा कर्म नहीं करता, वह तो केवल अपने अंदरसे दुर्धर्ष कर्मका प्रश्वास छोड़ता रहता है।

सभीमें भगवान्

भगवान् सत्, चित्, आनन्द हैं। जगत्‌के सब पदार्थोंमें अपनेको वितरण करते हैं और पुनः अपने सत्, चित् और आनन्दकी शक्तिद्वारा अपनेको समेट लेते हैं। यह जगत् भागवत-शक्तिके कर्मका ही जगत् है। यह शक्ति असंख्य प्रकारके जीवोंमें नाना रूपमें अपनेको परिणत करती है और प्रत्येक वस्तुके अंदर इसी शक्तिकी विशेष विशेष शक्तियाँ रहती हैं। प्रत्येक वस्तु भगवान्‌का एक-एक रूप है, भगवान् जैसे सिंह बने हैं, वैसे ही हरिण भी बने हैं, देवता बने हैं और दानव भी बने हैं। आकाशमें उड़ते हुए अचेतन गुलं बने हैं और जगत्‌के द्रष्टा सचेतन मनुष्य बने हैं। दुर्गोंके द्वारा भी

विकृतिकी सृष्टि बनती है वह केवल एक नीचेका खेल है, मूल भाव नहीं है। मूल वस्तु है भागवत-शक्तिके आत्मप्रकाशकी लीला। उच्च मनीषी पुरुष धीर, मनुष्योंके नेता, महान् गुरु, ऋषि, ज्ञानी, धर्मसंस्थापक, साधु, मानव-प्रेमी, उच्च कवि, महान् शिल्पी, असाधारण वैज्ञानिक, इन्द्रिय-विजयी, संन्यासी, जगज्जयी, शक्तिमान् मनुष्य आदि—सभीमें भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। जो कुछ कार्य हो रहे हैं, महान् काव्य, सर्वाङ्गसुन्दर रूप-सृष्टि, गम्भीर प्रेम, महान् कर्म, दिव्य सिद्धि आदि सभी भगवान्के कर्म हैं। सभी आत्मप्रकाश-लीलामें भगवान् हैं।

इस सत्यको सभी प्राचीन शिक्षा-दीक्षाओंने स्वीकार किया है और इसपर श्रद्धा की है, आधुनिक मनुष्योंके मनकी एक दिशा इस सत्यसे विमुख हो रही है, वह उसमें केवल तेज और शक्तिकी ही पूजा देखती है, वह समझती है कि इस भावसे शक्तिमान्की पूजा करनेसे मनुष्यके आत्माको हीन बनाया जाता है, पर यह केवल आसुरी अभिमानका तत्त्व है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस सत्यको लोग भूलसे दूसरे भावमें ग्रहण कर सकते हैं, परंतु इस सत्यकी वास्तविक उपयोगिता है। जगत्में भगवान्की जो लीला चल रही है, उसमें इस सत्यको स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता। इस सत्यकी वास्तविक सार्थकता और उपयोगिता क्या है, यही बात गीताने दिखलायी है। सभी मनुष्योंमें, सभी जीवोंमें भगवान् हैं, इस ज्ञानपर इस सत्यको प्रतिष्ठित करना पड़ेगा, जिससे यह उच्च-नीच और उज्ज्वल-मलिन आदि सभीमें समभाव रखनेका विरोधी न हो जाय। मूर्ख, नीच, दुर्बल, अधम, पतित आदि सभीके अंदर भगवान्को देखना पड़ेगा और सभीसे प्रेम करना होगा। विभूतिकी भी जो पूजा होगी सो उसके बाहरी व्यक्तित्वकी नहीं, परंतु उसके अंदर जो एक भगवान् प्रकाशित हैं, उनकी पूजा होगी।

विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

(जन्म-स्थान कलकत्ता। जन्मतिथि ७ मई सन् १८६१। पिताका नाम—महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर। निधनतिथि—७ अगस्त सन् १९४१)

मस्तक मेरा नत कर दो हे अपने चरणधूलिके तलमें।
तुरत डुबा दो अहंकार सब मेरा प्रभु नयनोंके जलमें॥
निजको देकर गौरव-दान।
केवल करता निज-अपमान॥
केवल अपनेको ही घेर घूम-घूम मरता दल-दलमें।
तुरत डुबा दो अहंकार सब मेरा प्रभु नयनोंके जलमें॥
जाँच रहा है परम शान्ति तव।
प्राण प्राणमें परम कान्ति तव॥
मुझे आड़ रख खड़े रहो तुम मेरे हृदय कमलके दलमें।
तुरत डुबा दो अहंकार-सब मेरा प्रभु नयनोंके जलमें॥

× × ×

आज हमें अच्छी तरह समझ-बूझकर निर्णय करना होगा कि जिस सत्यके द्वारा भारतवर्षने अपने-आपको निश्चित रूपसे प्राप्त किया था, वह सत्य क्या है? वह सत्य मुख्यतः वणिक्-वृत्ति नहीं, स्वराज्य नहीं, सार्वदेशिकता नहीं; वह सत्य है विश्व-जागतिकता। वह सत्य भारतवर्षके तपोवनमें साधित हुआ है, उपनिषद्में उच्चारित हुआ है, गीतामें व्याख्यात हुआ है। बुद्ध और महावीरने उस सत्यको संसारमें समग्र मानव-जातिके नित्य व्यवहारमें सफल बनानेके लिये तपस्या की है। और कालान्तरमें, नाना प्रकारकी दुर्गति और विकृतियोंमेंसे गुजरते हुए भी, कबीर, नानक आदि महापुरुषोंने उसी सत्यका प्रचार किया है। भारतवर्षका सत्य है ज्ञानमें अद्वैत तत्त्व, भावमें विश्व-मैत्री और कर्ममें योग-साधना। भारतवर्षके हृदयमें जो उदार तपस्या गम्भीर-भावसे संचित है, वही तपस्या आज हिंदू, मुसल्मान, जैन, बौद्ध और अंग्रेजोंको अपनेमें मिलाकर एक कर लेनेके लिये प्रतीक्षा कर रही है, दासरूपमें नहीं, जड़रूपमें नहीं, बल्कि सात्त्विक भावसे, साधक-भावसे। जबतक ऐसा न होगा, तबतक हमें दुःख ही उठाना पड़ेगा, अपमान सहना पड़ेगा; तबतक नाना दिशाओंसे बारम्बार हमें व्यर्थ होना पड़ेगा, असफल होना पड़ेगा। हमारे भारतवर्षमें ब्रह्मचर्य, ब्रह्मज्ञान, सब जीवोंपर दया, सब प्राणियोंमें आत्मोपलब्धि और स्व-आत्माकी अनुभूति किसी भी युगमें केवल एक काव्य-कथा या मतवादके रूपमें नहीं थी, किंतु प्रत्येक जीवन-

संत श्रीमोतीलालजी महाराज

[जन्म—श्रावण कृष्णा १३, वि० सं० १९४१ । जन्मस्थान—बरई (संयुक्तप्रान्त), गुजरातके खेडावाल ब्राह्मण।]

(प्रेषक—श्रीहरिकिशनजी झवेरी)

भक्त अपने प्राण-प्रियतम प्रभुके दृष्टिसे ओझल हो जानेपर उनसे कहता है—

'प्रभो ! आप मौन क्यों हैं, बोलिये, आप कहाँ चले गये ? मुझे आपका यह खेल पसंद नहीं । यदि आपको यही खेल खेलना है तो मुझे संकेतसे कह दीजिये, मैं खेल कर रहा हूँ रे !

यदि आप दर्शन नहीं देना चाहते हैं तो दयामय ! आपका दिल बड़ा है पर मुझे इस तरह क्यों छटपटाते और सिसकाते हैं, यदि तंग ही करना है तो फिर मृत्यु देकर खतम कर दीजिये, जिससे छुटकारा ही हो जाय ।'

इस विश्वमें जो विषय-सुखका भान होता है, वह वास्तवमें सुख ही नहीं है अपितु लहरकी तरह सुखका केवल-आभासमात्र है । विषयरूपी हवाके कारण जो लहरें उठती हैं, उन्हींके कारण सच्चे सुख-चन्द्रका सम्यक् दर्शन नहीं हो पाता । इस विषयरूपी पवनको रोकनेके लिये अतृष्णारूपी ईंटों और संतोषरूपी सीमेंटसे बनी दृढ़ अभ्यासरूपी दीवारकी जरूरत है । अतः सद्गुरुके उपदेशामृतके आधार (नींव) पर उस दीवारको बनाओ और अपने इष्टके भजन-रूपी चूनेको पीसकर रक्खो, फिर अनीर्षा और अमोहका पानी छिड़ककर जमीनको तर कर लो और उसपर काम-रहित मसाले और मत्सररहित प्लास्टर दीवारके ऊपर लगाते जाओ । इस प्रकारकी अच्छी चहारदिवारी त्यागवृत्ति और सुख-दुःखके प्रति मनमें समत्व रखकर बनाओ । इस दीवारके बन जानेके बाद विषयरूपी पवन फिर अंदर नहीं आ सकेगा और मनोसरके पानीका हिलना बंद होकर वह स्थिर हो जायगा । तब तुम सच्चे सुख-चन्द्रको सम्यक् प्रकारसे देख सकोगे ।

× × × ×

शिव शिव हर हर शिव शिव हर हर,
बाघाम्बर धर डमरू सुकर धर,
कर त्रिशूल धर भस्म सुअंग धर
मस्त भङ्गधर जटाजूट धर ॥ शिव० ॥

भाल चन्द्रधर तीन नयनधर,
नागहारधर मुण्डमालधर ॥ शिव० ॥
जटारंग सारंग अङ्गधर,
उमा वाम श्री दक्षनाथधर ॥ शिव० ॥
गरल कण्ठधर नीलकण्ठधर ।
नन्दिपीठ भवभूत भार धर ॥ शिव० ॥
क्रिया कर्म कारण अनन्त सर,
भक्त, 'मोति' कर सार सुधर धर ॥ शिव० ॥

ललिते ललित नाम गोविन्द । (टेक)
गाओ सुमधुर मुरली ध्वनि स्वर, श्रीमाधव गोविन्द ॥
ललिते० ॥

ताप विदारण भक्त उधारण केशव बालमुकुन्द ;
अनुपम अलख सुधर बिम्बाधर तारण तर मुचकुन्द ॥
ललिते० ॥

अच्युत धरणीधर धर सर पर रवि स्वभक्त अरविन्द ;
नारायण नर तारण कारण हरण विषय मदनन्द ॥
ललिते० ॥

जय गोपाल लाल ललना व्रज तारण शरणानन्द ;
'मोती' जपत देव गुणगण तब छूट जाय भवफन्द ॥
ललिते० ॥

जय मुरलीधर जय पीताम्बर कस्तूरीका तिलक सुधर धर ।
बनमालाधर रत्नहारधर कौस्तुभमणिधर श्रीराधावर ॥
कुण्डलधर भुजधर कंकणधर कटी किंकिणि नूपुर सुधर ।
अधर सुधाधर मुरलि अधर धर गोपी कर धर नाचत मग पर ॥
अङ्ग अङ्ग आभरण दिव्यधर रूप कलाधर प्रकृति मनहर ।
पार त्रिताप निवार मंजुकर 'मोति' भक्त भव तार पार कर ॥

झूलनेमें क्या हमारा छुट रहा,
यारकी सूरत पे दिल क्यों लुट रहा !
कुदरतमें कारीगरी न्यारा भी,
फिर किसीकी आँमार क्यों छुट रहा !
दिलकी हरकत देख ही या दूर था,
कुछ भी हो परदेमें प्यारा छुट रहा ।

आँख थी मेरी न पहलू पर गयी,
क्या कहूँ किस पर यहाँ कुछ झुक रहा।
था अँधेरेमें तमाशा देखता,
रोके हँसना क्यों जिगर फट झुक रहा!

तेलमें पड़ उड़ गईं क्या मक्खियाँ।
मर मिटा 'मोती' कहो क्यों झुक रहा!
वाह अब क्या पूछते हो क्या' कहा!
जल रहा 'मोती' इसीसे झुक रहा॥

तपस्वी अबुउस्मान हेरी

(जन्मस्थान—खुरासान, मस्त फकीर)

पृथ्वीमें तीन प्रकारके मनुष्य श्रेष्ठ हैं—

(१) जो ज्ञानी ज्ञान-भक्तिकी ही चर्चा करता है।

(२) जो साधक सांसारिक वस्तुओंमें आसक्तिरहित होता है।

(३) जो ऋषि अलौकिक रीतिसे ईश्वरकी प्रशंसा करता है।

चार बातोंसे जीवका कल्याण होता है—

(१) ईश्वरके प्रति दीनता रखना।

(२) ईश्वरके सिवा सभी पदार्थोंमें निःस्पृहता रखना।

(३) ईश्वरके ध्यानपरायण होना।

(४) विनयी होना।

विनयके तीन मूल हैं—

(१) अपने अज्ञानका स्मरण करना।

(२) अपने पापका स्मरण करना।

(३) अपनी त्रुटियों और आवश्यकताओंको प्रभुके प्रति निवेदन करना।

जो मनुष्योंके साथ लज्जाके सम्बन्धमें बातें करता है, परंतु ईश्वरसे लज्जित नहीं होता, उसका कथन निरर्थक ही [illegible] होता है।

जो कलके लिये चिन्ता और पैरवी न करके प्रभुमें रत रहता है, वही सच्चा सहनशील है।

जबतक तुम संसारसे ही सुख-संतोष प्राप्त करनेकी आशामें रहोगे, तबतक ईश्वरके प्रति संतोषी नहीं बन सकोगे। यदि तुम संसारियोंका भय रक्खा करोगे तो तुम्हारे अन्तरमें ईश्वरका भय नहीं रहेगा।

जो मनुष्य ईश्वरके सिवा दूसरेसे भय नहीं करता और ईश्वरके सिवा दूसरेसे कोई आशा नहीं रखता, उसने अपने सुख-संतोषकी अपेक्षा प्रभुकी प्रसन्नताकी ओर अधिक ध्यान दिया है। ऐसे ही मनुष्यका ईश्वरके साथ मेल होता है।

ईश्वरका भय तुम्हें ईश्वरके पास ले जायगा। दम्भ और अभिमान तो तुम्हें ईश्वरसे दूर ही रक्खेंगे।

दूसरोंका तिरस्कार करना और उनको नीच मानना बड़े-से-बड़ा मानसिक रोग है।

इन तीन बातोंको अपना महान् शत्रु मानना चाहिये—

(१) धनका लोभ।

(२) लोगोंसे मान-बड़ाई प्राप्त करनेकी लालसा।

(३) लोकप्रिय बननेकी आकांक्षा।

ईश्वरकी ओर [illegible] तुम्हारी उन्नति ही होगी। इस रास्तेमें कभी अवनति तो होती ही नहीं।

तपस्वी अबुल हुसेन अली

([illegible] सन् ३९१ [illegible])

तुम ईश्वरके अतिरिक्त जो कुछ भी जानते हो, सब भूल जाओ और [illegible] बातें न जानते हो [illegible] लिये भटको मत। केवल ईश्वरसे ही प्रीति रखो। [illegible]

जबतक तुम्हारे मनमें संसार वर्तमान है, तबतक प्रभु तुमसे दूर है। [illegible] और तुम्हारी [illegible] ईश्वर-की ओर तुम्हारी [illegible] होगी, [illegible] और ईश्वरका [illegible] तुम्हारे अन्तरमें [illegible], फिर ईश्वरके सिवा कुछ [illegible] है नहीं। ईश्वरके सिवा कोई दूसरी वस्तु तुम्हारी [illegible] और [illegible] नहीं। यह [illegible] अवस्था है।

तपस्वी शाहशुजा

(जन्म-स्थान—करमान देश, राजवंशमें उत्पत्ति)

साधुताके तीन लक्षण हैं—(१) संसारकी मान-बड़ाई-को तुम्हारे अन्तरमें स्थान नहीं मिलना चाहिये। उदाहरणके लिये सोना-चाँदी तथा पत्थर-मिट्टी तुम्हारी दृष्टिमें समान होना चाहिये। जैसे मिट्टी हाथसे फेंक दी जाती है, उसी तरह हाथमें आये हुए सोने-चाँदीके लिये भी होना चाहिये।

(२) लोगोंकी दृष्टि तुम्हारी ओर नहीं रहनी चाहिये अर्थात् लोगोंकी प्रशंसासे तुम्हें फूल नहीं जाना चाहिये और न लोक-निन्दासे ग्लानि ही होनी चाहिये।

(३) तुम्हारे हृदयमें किसी भी लौकिक विषयकी कामना नहीं रहनी चाहिये। संसारी लोगोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे और स्वादिष्ट भोजनसे जैसा आनन्द मिलता है, वैसा ही आनन्द तुम्हें कामनाओंके त्याग और भोगोंके प्रति वैराग्यमें होना चाहिये। जब तुम ऐसे बनोगे, तभी साधुपुरुषोंके समागम करने योग्य बन सकोगे। ऐसा हुए बिना केवल साधुताकी बातोंमें क्या रक्खा है।

सहनशीलताके तीन लक्षण हैं—(१) निन्दाका त्याग, (२) निर्मल संतोष, (३) आनन्दपूर्वक ईश्वरकी आज्ञाओं-का पालन।

जो मनुष्य अशुद्ध दर्शनसे अपनी आँखोंको और दूसरे भोगोंसे इन्द्रियोंको बचाता है, नित्य ध्यानयोगसे हृदयको निर्मल रखकर और स्वधर्मके पालनसे अपने चरित्रको शुद्ध करता है एवं सदा ही धर्मसे प्राप्त पवित्र अन्नका भोजन करता है, उसके ज्ञानमें कभी कमी नहीं आती।

तपस्वी इब्राहिम आदम

(पहले बल्खके बादशाह, पीछे फकीर)

तुमने जिन (धन, सद्‌गुण आदि) को कैद कर रक्खा है, उन्हें (दान तथा लोकसेवा आदिके लिये) मुक्त कर दो, और जिन (इन्द्रियाँ, काम, क्रोध, लोभादि शत्रु आदि) को स्वतन्त्र कर रक्खा है, उन्हें कैद कर लो।

इस दुनियाकी सफरके लिये मैं चार तरहकी सवारियाँ रखता हूँ—

१—जब सम्पत्तिका प्रदेश आ पड़ता है, तब कृतज्ञता-की सवारीपर सफर करता हूँ।

२—जब पूजाका प्रदेश आता है, तब मैं प्रभु-प्रेमके वाहनका उपयोग करता हूँ।

३—विपत्तिके प्रदेशमें सहनशीलतापर सवारी करता हूँ और—

४—पापके प्रदेशसे बाहर निकलनेके लिये मैं पश्चात्ताप-रूपी वाहनका उपयोग करता हूँ।

तपस्वी हैहया

(रीहस-निवासी)

१—तू बीज बोता है नरकाग्निके और आशा रखता है स्वर्गभोगकी, इससे अधिक मूर्खता और क्या होगी !

२—पश्चात्ताप करके छोड़ा हुआ पाप यदि फिरसे किया जाय तो यह पश्चात्ताप करनेसे पहलेके सत्तर पापोंसे भी अधिक हानिकारक होता है।

३—मनुष्य रोगकी सम्भावना होनेपर भोजन करना बंद कर देता है; परंतु दण्ड और मृत्युका निश्चित भय होनेपर भी पाप करनेसे नहीं रुकता, यही आश्चर्यकी बात है।

४—सावधान रहना; क्योंकि यह संसार शैतानकी दूकान है। इस दूकानसे भूलकर भी कोई चीज न ले लेना। नहीं तो, यह शैतान तुम्हारे पीछे पड़कर उस वस्तुके बदलेमें तुम्हारा धर्मरूपी धन लूट लेगा।

५—संसारकी मान-बड़ाई शैतानकी शराब है। जो मनुष्य इस सुराको पीकर मस्त होता है, वह अपने पापोंके लिये

पश्चात्ताप और आत्मग्लानिरूपी तीन तपस्या नहीं कर सकता और उसे ईश्वरीय लाभ भी नहीं मिल सकता।

६–संसार-लोलुप मनुष्यके लिये संसारमें शोक और चिन्ताका सामान आगे-पीछे तैयार रहता है और परलोकमें सजा तथा पीड़ा तैयार रहती है, फिर उसे सुख-शान्ति तो मिलती ही कहाँसे।

७–इन तीन मनुष्योंको बुद्धिमान् समझना चाहिये—

(१) जो संसारकी आसक्तिका त्याग कर देता है।

(२) जो मरनेसे पहले ही सारी तैयारी कर रखता है।

(३) जो पहलेसे ही ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है।

८–साधक भी तीन प्रकारके होते हैं—

(१) विरागी, (२) अनुरागी और (३) कर्मयोगी। विरागीका धन सहनशीलता है। अनुरागीका धन प्रभुके प्रति प्रेम और कृतज्ञता है और योगीका धन सबके प्रति समता और बन्धुभाव है।

९–सच्ची धीरज और प्रभुपरायणताकी परीक्षा विपत्तिमें ही होती है।

१०–ईश्वरका भय एक ऐसा वृक्ष है कि जिसके प्रभु-प्रार्थना और आर्तनादरूपी परम सुखदायक महान् फल हैं।

११–जो ईश्वरको ही अपना सर्वस्व मानता है, वही यथार्थ धनवान् है। जो सांसारिक वस्तु-स्थितियोंको ही अपनी सम्पत्ति मानता है उसको सदाके लिये दरिद्री—निर्धन समझना चाहिये।

तपस्वी फजल अयाज

ईश्वरके प्रति नम्र रहना, उनकी आज्ञाके अनुसार आचरण करना और उनके इच्छानुसार जो कुछ हो, उसीको सिर चढ़ाना, इसका नाम प्रभुके प्रति विनय है।

जो मनुष्य ईश्वरके सिवा दूसरेकी आशा नहीं रखता और ईश्वरके अतिरिक्त दूसरेका भय नहीं रखता, उसीको सच्चा ईश्वर-निर्भर जानना चाहिये।

जो मनुष्य अपने बन्धुओंके प्रति बाहरसे प्रेम दिखलाता है और अंदर शत्रुता रखता है, उसपर तो ईश्वरका शाप ही उतरता है।

जिसके हृदयमें सदा प्रभुका भय रहता है, उसकी जीभ अनर्गल नहीं बोलती। उसके हृदयमें रहनेवाले प्रभु-भयकी अग्नि उसकी संसारासक्ति और विषय-कामनाको जलाकर भस्म कर देती है।

संसारमें प्रवेश करना सहज है पर निकल सकना बहुत कठिन।

जो मनुष्य अपनेको महान् ज्ञानी मानता है, वह अज्ञानी और विनयरहित है।

तपस्वी हुसेन बसराई

(समय लगभग—१३०० वर्ष पूर्व, स्थान—मदीना)

विषयी मनुष्य तीन बातोंके लिये अफसोस करते हुए मरते हैं—

(१) इन्द्रियोंके भोगोंमें तृप्ति नहीं हुई।

(२) मनकी आशाएँ पूरी न होकर अधूरी ही रह गयीं।

(३) परलोकके लिये पाथेय नहीं लिया जा सका।

इस संसारमें इन्द्रियोंको बाँधनेके लिये जितनी मजबूत साँकलकी जरूरत है, उतनी मजबूत साँकलकी जरूरत पशुओंको बाँधनेके लिये नहीं है।

जो मनुष्य संसारको नाशवान् और धर्मको सदाका साथी समझकर चलता है, वही उत्तम गति पाता है। और जो नाशवान् पदार्थोंमें मोह न रखकर संसारका सारा भार प्रभुपर ही छोड़कर भाररहित बन जाता है, वह सहज ही संसार-सागरसे तर जाता है।

जो मनुष्य प्रभुको पहचानता है, वही उनपर विश्वास और प्रेम रख सकता है, परंतु जो मनुष्य केवल संसारको ही पहचानता है, वह तो प्रभुके प्रति शत्रुता ही किया करता है।

जो मनुष्य विचार कर नहीं बोलता, वह विपत्तिमें पड़ता है। जो मनुष्य विचार कर मौन नहीं रहता, उसका मन

दुष्ट इच्छाओंका स्थान बन जाता है और जो मनुष्य अपनी दृष्टिको वशमें नहीं रखता, उसकी दृष्टि उसे कुमार्गमें ले जाती है।

जिसने वासनाओंको पैरोंसे कुचल दिया है, वही मुक्तात्मा हो सका है। जिसने ईर्ष्याका त्याग किया है, वही प्रेम प्राप्त कर सका है और जिसने धैर्य धारण किया है, उसीको शुभ परिणामकी प्राप्ति हुई है।

मनुष्योंकी अपेक्षा तो भेंड़ और बकरे भी अधिक सावधान हैं; क्योंकि वे रखवालेकी आवाज सुनते ही तुरंत उसकी तरफ दौड़ जाते हैं, खाना-पीना भी छोड़ देते हैं परंतु मनुष्य इतने लापरवाह हैं कि वे ईश्वरकी ओर जानेकी पुकार (बाँग) सुननेपर भी उसकी तरफ नहीं जाते और आहार-विहारादिमें ही रचे-पचे रहते हैं।

तुम्हारी मृत्युके बाद संसार तुम्हारे लिये कैसे विचार प्रकट करेगा, इसको जीते-जी ही जानना हो तो दूसरे मनुष्योंकी मृत्युके पश्चात् उनके लिये संसार कैसे विचार प्रकट करता है, इसे देख लो।

तुम्हारे मनका चिन्तन ही तुम्हारे लिये दर्पण-रूप है; क्योंकि तुम्हारा शुभ या अशुभ जो कुछ होनेवाला है, वह उसीमें दीख जायगा (जैसा चिन्तन वैसा परिणाम)।

अनासक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—(१) साधक स्वयं बड़ा महात्मा, शोधक या बड़ा उद्धारक है, इस रूपमें नहीं बोलता। वह केवल प्रभुकी आज्ञाका ही अनुवाद करता है। (२) जिस बातको प्रभु पसंद नहीं करते, उसकी तरफ अपनी इन्द्रियोंको नहीं जाने देता। (३) जिस बातसे प्रभु प्रसन्न होते हैं, वह उसीका आचरण करता है।

तपस्वी जुन्नुन मिसरी

(मिश्रनिवासी)

मनुष्य छः विपत्तियोंमें डूबा रहता है—(१) पारलौकिक कर्त्तव्योंकी ओरसे लापरवाह, (२) शरीरको शैतान (दुर्गुण, दुराचाररूपी शत्रुओं) के अधिकारमें सौंप देना, (३) मृत्युके समयकी निराशा, (४) ईश्वरको संतोष देनेकी अपेक्षा मनुष्यके संतोषको विशेष महत्त्व देना, (५) सात्त्विक कार्योंको छोड़कर राजस-तामस प्रवृत्तियोंमें लगे रहना, (६) अपने दोषोंके समर्थनमें पूर्वके धार्मिक पुरुषोंके दोषोंका हवाला देना।

बीमारको पागलपनकी अवस्थामें जो वैद्य दवा और परहेज बताता है, वह वैद्य भी मूर्ख माना जाता है, इसी प्रकार जो मनुष्य सांसारिक धन, कीर्ति इत्यादिके मदमें मतवाला हो रहा है, उसे उपदेश देना भी मूर्खताका ही काम है।

निम्नलिखित चार लक्षण मनुष्यके मानसिक रोगी होनेका प्रमाण है—

(१) ईश्वरकी उपासनामें आनन्द न मिलना।

(२) ईश्वरसे डरकर न चलना।

(३) बोध प्राप्त करनेकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुको न देखना।

(४) ज्ञानकी बात सुनकर भी उसके मर्मको ग्रहण न कर सकना।

ईश्वरका कटु आदेश पालन करनेमें भी प्रसन्नता बनाये रखना चाहिये। ईश्वरका आदेश सुनना-समझना चाहते हो तो सबसे पहले अभिमानका त्याग करो और आदेश सुननेके बाद उसका पालन करनेमें निमग्न हो जाओ तथा विपत्तिकालमें भी प्रभु-प्रेमके ही श्वासोच्छ्वास लो।

सहनशीलता और सत्यपरायणताके संयोग बिना प्रभु-प्रेम पूर्णताको नहीं प्राप्त हो सकता।

सच्चे प्रेमीके दो लक्षण हैं—(१) स्तुति-निन्दा, मानापमानमें समभाव रखना, (२) धर्मके पालन और अनुष्ठानमें कोई भी लौकिक कामना न रखना।

विश्वासके तीन लक्षण हैं—(१) तमाम पदार्थोंमें ईश्वरको देखना, (२) समस्त कार्य ईश्वरकी ओर दृष्टि रखकर ही करना, (३) प्रत्येक अवस्थामें ईश्वरसे सहायताकी याचना करना।

प्रभुके प्रति विश्वासके तीन चिह्न हैं—(१) जीवित दशामें विषयासक्त लोगोंको अत्यन्त विरोधी (विपरीत

मार्गपर चलनेवाले) जानकर उनसे दूर रहना, (२) दान देनेवालोंकी प्रशंसा या खुशामद न करना, (३) दुःख देनेवालेकी निन्दा और तिरस्कार न करना ।

निर्भयताकी प्राप्तिके क्या लक्षण हैं ? संसार-प्रेमी लोगोंसे निःस्पृह इच्छारहित होना और मनको साधन भजनमें लगाकर बड़ेपनके मोहसे—लोक-कीर्तिसे दूर रखना ।

संसार क्या है ? जो तुम्हें ईश्वरसे अलग रक्खे ।

अधम कौन है ? जो मनुष्य ईश्वरके मार्गका अवलम्बन नहीं करता ।

सङ्ग किसका करना चाहिये ? जिसमें 'मैं' और 'तू' न हो।

इस संसारमें सुखी कौन है ? दूसरे तमाम पदार्थों और लोगोंसे जिसने ईश्वरको ही सर्वोपरि समझा हो ।

तपस्वी जुन्नेद बगदादी

(बगदादनिवासी)

अहंभावको छोड़कर विपत्तिको भी सम्पत्ति मानना—इसीका नाम सच्चा संतोष है ।

तुम जो धन, धामादि प्राप्त करनेके लिये दौड़-धूप करते हो, इसके बदले जिस ईश्वरने स्वयं तुम्हारे प्रत्येक आवश्यक कार्यको पूरा करने, तुम्हारा योग-क्षेम वहन करनेका भार ले रक्खा है, उसपर श्रद्धा और निर्भरता प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करो तो तुम सदाके लिये सभी बातोंमें परिपूर्ण हो जाओगे, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

प्रायश्चित्तकी तीन सीढ़ियोंपर चढ़ना चाहिये—(१) आत्मग्लानि, (२) फिर पाप न करनेका निश्चय, (३) आत्मशुद्धि ।

गया हुआ समय वापस लौटकर किसी प्रकार भी नहीं आता, इसीलिये समयके सदृश कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है ।

जो आँखें ईश्वरकी आज्ञाके अधीन रहनेमें कल्याण नहीं देखतीं, उन आँखोंसे अन्धा होना अच्छा है; जो जीभ ईश्वरकी चर्चामें नहीं लगती, उससे गूँगा रहना ही अच्छा; जो कान सत्यको नहीं सुन सकते, उनसे बहरा रहना ही अच्छा और जो शरीर ईश्वरकी सेवामें नहीं लगता, उसका तो मर जाना ही सबसे अच्छा है ।

उच्च और पवित्र भावना एक ऐसी विचित्र वस्तु है जो मनुष्यके अन्तःकरणमें आती तो है पर स्थिर नहीं रहती । मनुष्यपर उसका तो बड़ा प्रेम है, पर मनुष्यका उसपर प्रेम हो तभी वह टिक सकती है ।

किसी भी वस्तुको उसके मूलस्वरूपमें देखना, यही उसका वास्तविक दर्शन है ।

तपस्वी यूसुफ हुसेन रयी

जो गम्भीर भावसे ईश्वरका स्मरण-चिन्तन करते हैं, वे ही दूसरे पदार्थोंको भूल जाते हैं ।

जो ईश्वरके प्रति विशेष प्रेम करते हैं, उनको लोगोंकी ओरसे क्लेश और अपमान ही अधिक मिलते हैं, परंतु वे प्रभुके बन्दे भी ऐसे जबर्दस्त होते हैं कि उनके बदलेमें वे उनके प्रति विशेष दया ही करते हैं ।

तमाम अवस्थाओंमें प्रभुके और प्रभु-भक्तोंके दास बनकर रहना—इसीका नाम अनन्य और एकनिष्ठ भक्ति है ।

अदर प्रभु-प्रेम करना और बाहरसे अपने साधनको प्रसिद्ध न होने देकर गुप्त रखना, यही साधुताका मुख्य लक्षण है ।

विशुद्ध प्रभुप्रेम इस जगत्में दुर्लभ पदार्थ है । मनसे कपट-बुद्धिको दूर करनेके लिये जब मैंने प्रबल प्रयत्न किया, तभी प्रभु-प्रेमने अपने सद्गुणोंके रूपमें आकर हृदयपर अधिकार जमा लिया ।

लोभी मनुष्य सबसे अधम है और निर्लोभी साधु सर्वोत्तम है ।

तपस्वी बायजिद बस्तामी

जो मनुष्य प्रभुके सिवा दूसरे पदार्थोंका अनुसरण करता है, उसे मनुष्य ही नहीं कहना चाहिये; क्योंकि ऐसे मनुष्य अपनी मनःशक्तिका पूरा उपयोग किये बिना केवल अपने आसपास जो-जो अनित्य पदार्थ देखते हैं, उन्हींको प्राप्त करना चाहते हैं और इससे सदा साथ न रहनेवाले लौकिक पदार्थ ही उनको मिलते हैं।

अन्तःकरणमें एक भण्डार है। उस भण्डारमें एक रत्न है और उस रत्नका नाम है 'प्रभु-प्रेम'। जो इस रत्नको प्राप्त कर सकता है, वही संत हो सकता है।

जो मनुष्य साधनारूपी शस्त्रसे समस्त जागतिक कामनाओंका मस्तक काट डालता है, जिसकी समस्त आकाङ्क्षाएँ केवल प्रभु-प्रेममें ही अदृश्य हो जाती हैं, ईश्वर जिसको चाहते हैं उसीके प्रति जो प्रेम करता है और ईश्वर जैसे रखना चाहते हैं, उसी प्रकार रहना चाहता है, उसी-को सच्चा योगी और सच्चा पुरुषार्थी जानना चाहिये।

जो ईश्वरको जानता है, वह ईश्वरके सिवा दूसरे विषयकी बात ही नहीं करता।

ईश्वर जिसपर प्रसन्न होता है, उसे तीन प्रकारका स्वभाव देता है—(१) नदीके जल-जैसी दानशीलता, (२) सूर्यके सदृश उदारता और (३) पृथ्वी-जैसी सहनशीलता।

ये सारे वाद-विवाद, शब्दाडम्बर और अहंता-ममता केवल पर्देके बाहरकी ही चीजें हैं। पर्देके अंदर तो नीरवता, स्थिरता तथा शान्ति ही व्याप रही है।

जो मनुष्य लौकिक मान-बड़ाई प्राप्त करनेके लिये लगा रहता है, उसे परमात्माकी कृपा या समीपता नहीं मिल सकती; परंतु जो मनुष्य प्रभुको पानेके लिये संसारसे अलग होकर लौकिक मान-बड़ाईको तिलाञ्जलि देना जानता है, वही ईश्वरीय-मार्गसे पतित न होकर उसकी समीपता, कृपा, प्रतिष्ठा और परम-पद भी प्राप्त कर सकता है।

तुम या तो जैसे अंदर हो वैसे ही बाहरसे दिखलायी देते रहो और या जैसे बाहरसे दीखते हो वैसे अंदरसे बन जाओ।

धर्मकी भूख बादलके समान है। जहाँ वह ठीक-ठीक लग जाती है और चातककी तरह आतुरतारूपी गरमी बढ़ जाती है तो फिर तुरंत ही ईश्वरीय कृपारूपी अमृतकी वर्षा होने लगती है।

जो मनुष्य अपनी ही शक्तिसे प्रभुको पाना चाहता है, वह तो उल्टा मृत्युके ही मुखमें जा पड़ता है।

एक बार प्रभुने पूछा क 'बायजिद! तू क्या चाहता है?' मैंने कहा 'प्रभो! तुम्हारी जो इच्छा हो, उसीको मैं अपनी इच्छा बनाना चाहता हूँ।' तब उन्होंने कहा 'यह तो सहज बात है और जगत्‌की रचना हुई तभीसे सबके लिये खुला सदाव्रत है। जो कोई जितना भी मेरा बनेगा, उतना ही मैं उसका बनूँगा।'

एक बार मैंने प्रभुसे याचना की कि 'तुम्हारे पास कब और किस रास्तेसे तुरंत पहुँचा जा सकता है?' उन्होंने कहा 'यह तो बहुत ही सहज बात है। तू अपने सिरपर उठाये हुए अहंता-ममतारूपी मिथ्याभिमानको नीचे डाल दे, तो तुरंत ही मेरे पास पहुँच जायगा।'

तपस्विनी रबिया

(जन्म—तुर्किस्तानके बसरा नगरमें)

दारुण दशामें रबिया प्रभुसे प्रार्थना करती है—'हे प्रभो! मुझे अपनी इस दुर्दशाका शोक नहीं है। मैं तुझे भूलूँ नहीं और तू मुझपर प्रसन्न रहे, बस, यही एक प्रार्थना है।'

एक रातमें प्रभुसे प्रार्थना करते रबियाने प्रभुसे कहा—

'हे प्रभो! तेरी ही सेवामें मेरा रात-दिन बीते, ऐसी मेरी इच्छा है; पर मैं क्या करूँ? तूने मुझे पराधीन दासी बनाया है, इसीलिये मैं सारा समय तेरी उपासनामें नहीं दे सकती। प्रभु! इसके लिये मुझे क्षमा कर।'

'हे प्रभु! यदि मैं नरकके डरसे ही तेरी पूजा करती होऊँ तो मुझे उस नरककी आगमें जला डाल और यदि स्वर्गके लोभसे तेरी सेवा करती होऊँ तो वह स्वर्गका द्वार मेरे

लिये बंद कर दे; किंतु यदि मैं तेरी प्राप्तिके लिये ही तेरा पूजन करती होऊँ तो तू अपने अपार सुन्दर स्वरूपसे मुझे वञ्चित न रख ।'

ईश्वरपर सतत दृष्टि रखना ही ईश्वरीय ज्ञानका फल है ।

ईश्वरकी प्रार्थनासे पवित्र हुए हृदयको जो उसी स्थितिमें उस प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देता है, अपनी सारी सँभाल भी उस प्रभुपर ही छोड़ देता है और खुद उसके ध्यान-भजनमें मस्त रहता है, वही सच्चा महात्मा है ।

पूरे जागे हुए मनका यही अर्थ है कि ईश्वरके सिवा दूसरी किसी चीजपर चले ही नहीं । जो मन उस परवरदिगार-की खिदमतमें लीन हो जाता है उसे फिर दूसरे किसीकी क्या जरूरत ?

सेवक अपने प्रभुपर संतुष्ट है, यह कब समझा जाय ? सम्पत्ति मिलनेपर लोग जैसे उपकार मानते हैं, वैसे ही दुःखकी प्राप्ति होनेपर भी प्रभुका उपकार समझें तब ।

मानव ! ईश्वरके मार्गमें न आँखोंकी जरूरत है न जीभ-की । उसके लिये तो एक पवित्र हृदयकी ही आवश्यकता है । अतएव ऐसा प्रयत्न कर कि तेरा मन उस पवित्रताको प्राप्त करनेके लिये सतत जाग्रत् रहे ।

पूरे जाग्रत् मनका अर्थ यही है कि ईश्वरके अतिरिक्त दूसरे किसी विषयकी इच्छा या उद्देश्य मनमें रहे ही नहीं और जिसका मन सर्वैश्वर्यसम्पन्न परम प्रभुकी स्मृतिमें ही नित्य डूबा रहे ।

तपस्वी अबू हसन खर्कानी

(महमूद गजनीके समसामयिक)

ईश्वर जब स्वयं अपने दासको अपना मार्ग दिखलाता है, तभी उसकी गति और स्थिति अध्यात्मराज्यमें होती है ।

ईश्वरको पानेके लिये जिसका हृदय तड़पता रहता है, उसीकी माता धन्य है; क्योंकि उसका सारा हित ईश्वरमें ही समाया होता है ।

तन, मन, धन और वाणीके द्वारा लोग ईश्वरके अपराध करते हैं । इसके बदले यदि वे शरीरको उसकी सेवामें तथा वाणीको उसके गुणानुवादमें लगाये रक्खें तो मन भी अपराध करनेसे बाज आये । मन भी प्रभुको ही अर्पण कर देना चाहिये, परंतु यह तभी हो सकता है जब कि अपना सर्वस्व प्रभुको अर्पण कर दिया जाय । और जैसे ही इन चार वस्तुओंको तुम प्रभुको अर्पण करते हो, वैसे ही उनकी ओरसे भी तुमको ये चार वस्तुएँ प्राप्त होती हैं—(१) प्रभुका प्रेम, (२) तेजस्विता, (३) प्रभुमय जीवन और (४) प्रभुमें मिल जाना ।

जबतक तुम मानुषी भावोंमें रहोगे, तबतक तुमको जीवनकी कटुता और खटासका स्वाद चखना ही पड़ेगा । जब इन भावोंसे मुक्त होकर प्रभुकी ओर बढ़ोगे तभी प्रभुमय, सच्चिदानन्दमय जीवन प्राप्त कर सकोगे ।

मेरे पास न शरीर है, न वाणी और न मन; क्योंकि इन तीनोंको मैंने ईश्वरके अधिकारमें सौंप दिया है ।

जो प्रभुप्रेमी हो गया, वही प्रभुको प्राप्त करता है और जिसने प्रभुको प्राप्त किया, वह अपनेको भी भूल जाता है और उसका 'मैं'पन भी खो जाता है ।

पश्चात्तापरूपी वृक्ष रोपो तो कड़वेके बदले मीठा फल प्राप्त हो । लोगोंके आगे दुःख रोनेकी अपेक्षा प्रभुके आगे ही रोओ तो सम्पत्ति भी प्राप्त हो ।

तपस्वी महमद अली हकीम तरमोजी

१. उन्नत कौन है ?—जिसको पाप नहीं दबा सकता ।
२. मुक्त कौन है ?—सांसारिक लोभ जिसको गुलाम नहीं बनाता ।
३. मर्द कौन है ?—आसुरी वृत्ति जिसको बाँध नहीं सकती ।
४. ज्ञानी कौन है ?—जो ईश्वरकी प्राप्तिके लिये सर्वभावसे एकनिष्ठ हो गया है ।
५. जो मनुष्य वैराग्यरहित होनेपर भी ज्ञानकी ही बातें किया करता है, वही इस जगत्में सर्वोपरि नास्तिक, ठग और पाखण्डी है ।
६. जिसकी दृष्टिमें जन्म और मरण दोनों समान हैं, वही सच्चा साधु है ।
७. ईश्वरके ही प्रसङ्गमें सदा अनुराग रखना—यह प्रभुप्रेम-का स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण लक्षण है ।

विजयी और पराजित

गर्वका अन्त

इस युगके—यूरोपके तीन महान् गर्विष्ठ—नेपोलियन, मुसोलिनी और हिटलर। तीनों अपनेको अपराजित माननेवाले। तीनोंने विश्व-साम्राज्यका स्वप्न देखा। तीनों तपे—खूब तपे; किंतु—

सम्राट् नेपोलियन—वह कहता था—'शब्द-कोषसे 'असम्भव' शब्द निकाल देना चाहिये। यूरोपको उसकी विजयवाहिनीने रौंदकर धर दिया। नेपोलियन जिधर गया—विजय उसका स्वागत करनेको पहलेसे प्रस्तुत मिली।

वही नेपोलियन—एक नन्हे-से समुद्री टापूमें कारागारमें मरा वह। उसकी विजयका क्या महत्त्व रह गया? एक साधारण कैदी बनकर वह जेलमें जब सड़ता रहा—कहाँ गया उसका गर्व?

× × ×

मदान्ध मुसोलिनी—पूरा दानव बन गया था वह। अपनी वायुसेनापर उसे बड़ा गर्व था। शक्तिके मदमें चूर मुसोलिनी—उसने कहा था—'युद्ध तो विश्वकी अनिवार्य आवश्यकता है।' नन्हे-से देश अबीसीनियापर बर्बर आक्रमण करके प्रसन्न होता रहा वह। उसने उस असमर्थ देशके निवासियोंपर विषैली गैसें डलवायीं—विजयके लिये।

वही मुसोलिनी—युद्धको विश्वकी अनिवार्य आवश्यकता बतानेवाला, वही सीन्योर मुसोलिनी—युद्धने ही उसे समाप्त कर दिया। फाँसीके तख्ते-पर प्राणान्त हुआ उसका।

× × ×

हिटलर—हिटलरका तो नाम ही आतङ्कका प्रतीक बन गया था। हिटलरने जैसे एक हाथमें हथकड़ी और दूसरे हाथमें बम लेकर विश्वको चुनौती दे दी थी—'हथकड़ी पहिनो! मेरी परतन्त्रता स्वीकार करो। नहीं तो मैं तुम्हारे ऊपर बम पटक दूँगा। भून दूँगा मैं तुम्हें!'

युद्धकी अग्नि स्वयं हिटलरने लगायी और उस युद्धने उसके सामने ही जर्मनीको खंडहर कर दिया। हिटलर—एडाल्फ हिटलरका अस्तित्व इस प्रकार मिट गया कि उसके शवका भी किसी-को पता न चला।

× × ×

भगवान् गर्वहारी हैं। मनुष्यका गर्व मिथ्या है। धनका, बलका, सेनाका, ऐश्वर्यका—किसी-का, कितना भी बड़ा गर्व—गर्व तो मिटेगा—मिटकर रहेगा। गर्व भूलकर भी नहीं करना!

विजयी और पराजित—गर्वका अन्त

मर्मी मृत्युके मुखमें
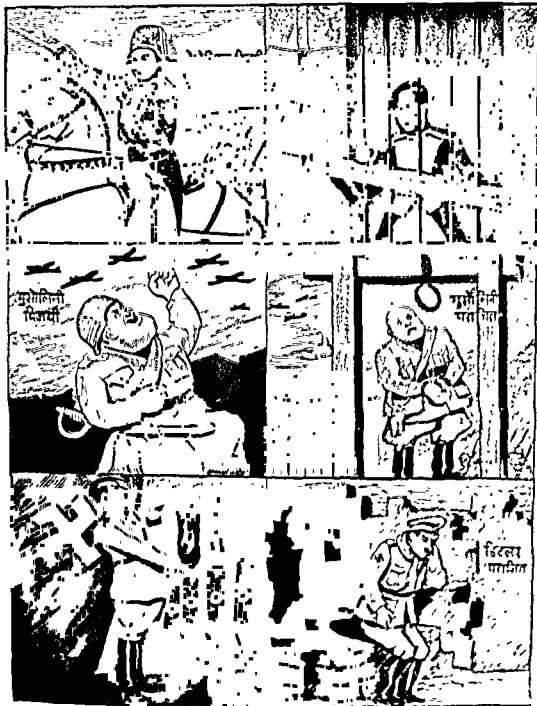
सभी मृत्युके मुखमें

नेवलेने सर्पको पकड़ रक्खा है, सर्पने मेढकको और मेढक मक्खियोंके आखेटमें मग्न है। एक रूपक है यह।

सारा संसार मृत्युके मुखमें पड़ा है। मृत्युने पकड़ रक्खा है, केवल निगल जानेकी देर है—किसी क्षण वह निगल लेगी। प्रतिदिन लोग हम सबके सामने मरते हैं। हम स्वयं किसी क्षण मर सकते हैं।

मृत्युके मुखमें पड़ा हुआ भी यह मनुष्य दूसरोंको सताना, दूसरोंको पीड़ा देना, दूसरोंका स्वत्व हरण करना, दूसरोंको मारना छोड़ता नहीं है। स्वार्थसे प्रमत्त मनुष्य—सर्वथा विवेकशून्य चेष्टा है उसकी।

छल-कपट, हिंसा-चोरी, झूठ-ठगीसे प्राप्त धन—क्या काम आयेगा यह धन? क्या सुख देंगे ये भोग?

बड़े छोटोंको, सबल निर्बलोंको, धनी निर्धनोंको सताने, धमकाने, ठगने—चूसनेमें लगे हैं। मनुष्य मनुष्यका शत्रु बना घूम रहा है! किसलिये?

उसका वैभव, उसका उपार्जन, उसके स्वजन—जिस सुखके लिये, जिन स्वजनोंके लिये, जिस शरीरके लिये वह यह पाप कर रहा है, वे सब नष्ट होंगे। महाकाल उन सब भोगों, पदार्थों और व्यक्तियोंको पीस देनेवाला है। स्वयं मनुष्य मर्त्य है—मृत्युके मुखमें पड़ा है।

यह पापकी कमाई—जन्म-जन्मतक मृत्युरूपी सर्पके मुखमें पड़े रहनेकी यह तैयारी—इसे छोड़े बिना कल्याण नहीं है। इस मोहसे छूटकर ही मृत्युसे छूटा जा सकता है।

भगवान्—केवल भगवान् ही बचा सकते हैं कालसर्पसे ग्रस्त प्राणीको। उन दयामयकी शरण—उन मङ्गलमयका स्मरण—कल्याणकी कामना हो तो यही एकमात्र मार्ग है।

तपस्वी अबू बकर वासती

(निवासस्थान—पहले फरगान, पीछे बासन)

जहाँ उपदेश अधिक दिया जाता है, वहाँ गम्भीरता कम होती है और जहाँ गम्भीरता अधिक होती है, वहाँ उपदेश कम होता है।

विधाताने तुम्हारे लिये जो विधान कर रक्खा है, उसका विरोध करना—यह हलका स्वभाव है, अर्थात् जो विधि-विधान है उसको प्रार्थना या प्रयत्नके द्वारा बदलना चाहते हो, यह उत्तम नहीं है।

सारे सांसारिक पदार्थोंके कर्ता परमात्माको प्राप्त करना—किसी भी पदार्थको प्राप्त करनेकी अपेक्षा सुलभ है, तथापि तुम उसके पाससे सांसारिक पदार्थोंको ही प्राप्त करने और उसका हिस्सेदार होनेकी इच्छा करते हो यह कैसी बात है !

जो भी भक्त या भेषधारी मनुष्य सांसारिक [illegible] सामने गर्व करता है, अपना बड़प्पन दिखलाता है अपने ज्ञान-वैराग्यकी हँसी ही कराता है; क्योंकि उसके भीतरसे संसारकी सत्यता और मोह-ममता निक[illegible] गयी होती तो उनसे (संसार और सांसारिकोंसे) [illegible] हो जानेके कारण वह जरा भी गर्व नहीं करता।

तुम किसी भी विषयके वैराग्य या निवृत्तिके लिये [illegible] गर्व करते हो ! ईश्वरके सम्मुख तुम्हारे ये सब (त्याग वैराग्य, निवृत्ति और गर्व) मच्छरकी पाँखसे भी तुच्छ हैं। जिस मनुष्यका अन्तःकरण प्रभुचिन्तनकी ज्योतिसे प्रकाशित होता है और जो सदा प्रभुके विश्वासकी बात कहता है, वही सच्चा सूफी या ज्ञानी है।

तपस्वी सहल तस्तरी

(स्थान—तस्तर)

१. पवित्र भोजनके बिना एकान्तमें भी उत्तम साधना नहीं हो सकती और ईश्वरार्पण किये बिना कोई भी वस्तु पवित्र नहीं हो सकती।

२. इन चार बातोंका पालन करोगे, तभी तुमसे विशुद्ध साधना हो सकेगी—(१) भूखकी अपेक्षा कम भोजन करना, (२) लोक-प्रतिष्ठाका त्याग, (३) निर्धनताका स्वीकार और (४) ईश्वरेच्छामें संतोष।

३. अन्यायसे प्राप्त वस्तुका उपभोग करनेवालेके सारे अङ्ग पापसे लिप्त हो जाते हैं। उसकी अपनी इच्छा न हो तो भी वह पापमें ही डूबता चलता है। जो मनुष्य (न्याय-पूर्वक प्राप्त) पवित्र वस्तुका उपयोग करता है, उसके सारे अङ्ग साधनाके अनुकूल बर्तते हैं और बाह्य संयोग-रूपमें ईश्वरकृपा भी उसको विशेषरूपसे आकर प्राप्त होती है।

४. जो मनुष्य चाहता है कि उसे सच्ची निवृत्ति प्राप्त करनी है तो उसको सब प्रकारके पापकर्मोंसे और विपरीत ज्ञानसे हाथ खींच लेना चाहिये।

५. तुम जो भी काम करो, वह यदि उसकी आज्ञाके अनुसार नहीं है तो उससे तुमको दुःख ही प्राप्त होगा।

६. ईश्वरभक्त जबतक अदृश्य वस्तु-स्थितिकी ओर प्रेम नहीं पैदा करता और 'मृत्यु सिरपर है'—यह बात याद नहीं रखता, तबतक उसमें सर्वाङ्गसुन्दर तपश्चर्या आती ही नहीं।

७. ईश्वरके सिवा दूसरे किसी भी पदार्थमें जो मनुष्य सुख मानता है उसका मन ही दूषित है, इसलिये उसके हृदयमें प्रभुविश्वास और पवित्रताकी ज्योतिका प्रकट होना कठिन है।

८. तुम बाहरसे निर्धन दीख पड़नेवाले साधु पुरुषोंके प्रति अवज्ञा और गर्व दिखलाते हो। पर यह अच्छी तरह जान लो कि वे ही प्रभुकी सच्ची संतान, पूर्ण प्रतिनिधि और सर्वोत्तम सम्पत्तिवान् हैं।

९. इन छः विषयोंका अवलम्बन करना ठीक है—(१) ईश्वरीय ग्रन्थका अवलम्बन, (२) ऋषि-मुनियोंके द्वारा प्रचारित ईश्वरीय आज्ञाओंका अनुसरण, (३) खान-पानको पवित्र रखना, (४) हिंसा और निन्दा करनेवालोंकी हिंसा और निन्दा करनेसे बचना, (५) निषिद्ध विषयोंसे

दूर रहना और (६) जो कुछ भी देनेका विचार उठे, तुरंत ही दे डालना।

१०. धर्मके तीन मूल हैं—(१) विचार तथा आचारमें महात्माओंके मार्गपर चलना, (२) पवित्र खान-पान करना, (३) सत्कार्यमें ही स्थिति और प्रीति रखना।

११. ये दो बातें मनुष्यके लिये घातक हैं—(१) लोकमें मान प्रतिष्ठा-प्राप्तिके लिये दौड़ना और (२) निर्धनतासे भयभीत होना।

१२. इस जगत्में प्रभुके समान कोई भी सच्चा सहायक नहीं और प्रभुप्रेरित महापुरुषके समान कोई सन्मार्गदर्शक नहीं।

१३. मनको सत्यमार्गपर चलानेकी पहली सीढ़ी है सत्यका स्वीकार; दूसरी सीढ़ी है संसारसे उपरति; तीसरी सीढ़ी है आचरणकी उच्चता और पवित्रता तथा चौथी सीढ़ी है प्रभुके प्रति अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना।

१४. जो पुरुष मनकी मलिनतासे मुक्त और सद्विचारशील है, ईश्वरके सान्निध्यके कारण जिसका मायाबन्धन छिन्न-भिन्न हो गया है और जिसकी दृष्टिमें धूल और सुवर्ण एक समान है, वही सच्चा सूफी या ज्ञानी ऋषि है।

१५. अल्पाहारमें, दिव्य शान्तिमें और लोक-संसर्गके त्यागमें साधुता रहती है।

१६. कोई भी अत्यन्त आवश्यक वस्तु तुम्हारे पास न हो तो समझो कि तुम्हारे भलेके लिये ही प्रभुकी ऐसी इच्छा है, इस प्रकार सच्चे समाधानके साथ शान्त रहनेका नाम ही प्रभुपर निर्भरता है।

१७. प्रभुपर निर्भर रहनेवालोंके तीन लक्षण हैं—(१) दूसरोंके सामने याचक न बनना, (२) मिलनेपर भी न लेना, (३) और लेना भी पड़े तो उसे बाँट देना।

१८. आत्म-समर्पण किये बिना कोई प्रभुके ऊपर निर्भर नहीं रह सकता और स्वार्थ-साधनका त्याग किये बिना आत्म-समर्पण नहीं हो सकता।

१९. प्रभुपर निर्भर रहनेवालोंको तीन वस्तुएँ प्राप्त होती हैं—(१) प्रभुमें पूर्ण श्रद्धा, (२) अध्यात्मविद्याका प्रकाश और (३) परमात्माका साक्षात्कार।

२०. ईश्वरने तुमको जो देना स्वीकार किया है, उसमें जरा भी सन्देह न रखना—इसीका नाम निर्भरता अर्थात् प्रभुके ऊपर निर्भर रहना है।

२१. जिस वस्तुकी जरूरत हो, वह वस्तु जिसके पास हो उसीसे जान-पहचान करनी चाहिये। तुम्हें मोक्ष चाहिये तो वह भी ईश्वरके पास भरपूर होनेके कारण उसीसे जान पहचान करनेपर प्राप्त होगा, सांसारिक भाई-बन्धुओंसे नहीं।

२२. प्रभुको पानेके लिये दीनता और हीनता (लौकिक पदार्थ न रखना) के समान दूसरा सरल मार्ग नहीं है।

तपस्वी मारुफ गोरखी

ईश्वरके आश्रयपर रहनेवाले मनुष्योंके ये लक्षण हैं—(१) उनके विचारका प्रवाह ईश्वरकी ओर ही बहता रहता है। (२) ईश्वरमें ही उनकी स्थिति होती है और (३) ईश्वरकी प्रीतिके लिये ही वे सारे काम करते हैं।

जिस मनुष्यको सत्ता और प्रभुत्व प्रिय है, उसको कभी मुक्ति नहीं मिल सकती।

मैं एक ऐसा मार्ग जानता हूँ कि जिस मार्गपर चलनेसे ईश्वरके पास जल्दी पहुँचा जा सकता है। वह मार्ग यह है कि तुम कभी मनुष्यके पाससे किसी वस्तुकी इच्छा न करो और तुम्हारे पाससे किसी वस्तुकी कोई इच्छा करे, तब वैसी वस्तुको कभी तुम अपने पास न रहने दो।

तपस्वी सर्री सक्ती

(स्थान—बगदाद)

१. धनवान् पड़ोसी और राजसभाके पण्डितोंसे दूर ही रहो।

२. नीचे लिखे परिमाणसे अधिक मिले तो वह निष्प्रयोजन और भारस्वरूप ही है—(१) प्राण बचा सके, इतना अन्न, (२) प्यास बुझे, इतना जल, (३) लज्जा निवारण हो, इतना वस्त्र, (४) रहनेजितना घर

और (५) उपयोगी हो इतना ज्ञान।

३. अपने दोषोंको न देखने और न सुधारनेका ही नाम धर्मान्धता है।

४. कहनीके अनुसार रहनी न हो—इसीका नाम ठगई है।

५. जिस शक्तिके द्वारा इन्द्रियों और मनको वश कर सको, उसीका नाम शक्ति है।

६. जो मनुष्य सम्पत्तिका सदुपयोग नहीं कर सकता, उसकी सम्पत्तिका इतनी जल्दी विनाश होगा कि वह उसे जान भी नहीं सकेगा।

७. मन तीन प्रकारका होता है—एक प्रकारका मन पर्वतके समान अचल होता है, अतएव उसको कोई चलायमान नहीं कर सकता। दूसरे प्रकारका मन वृक्ष-जैसा होता है, अतएव उसको बाह्य संयोगरूपी वायु बराबर सञ्चालित करती रहती है। तीसरे प्रकारका मन खर—तिनकेके समान होता है, उसको बाह्य संयोगरूपी पवन उधर ही उड़ाया करता है।

८. जिस अन्तःकरणमें सांसारिक ... हैं, उनमें से पाँच बातें नहीं रह सकतीं— ... भय, (२) ईश्वरसे आशा, (३) ... (४) ईश्वरसे लज्जा और (५) ईश्वरके ...

९. किसी भी मनुष्यके आत्म-ज्ञानकी माप ... है कि वह ईश्वरके समीप कितना पहुँचा हुआ है ...

१०. सत्यके लिये जो मनुष्य धैर्य प्राप्त कर ... वही आगे बढ़ता है।

११. ईश्वर कहता है कि 'हे भक्त! जब ... मेरा स्मरण-मनन अधिक प्रबल होगा, तभी मैं तेरे ... आसक्त हूँगा।'

तपस्वी अबु उस्मान सैयद

१. अभिमानीकी अपेक्षा तो जो मनुष्य सीधा-सादा पापी होता है वही श्रेष्ठ है; क्योंकि पापी मनुष्यमें तो कुछ नम्रता और पापके स्वीकारकी भावना होती ही है अथवा हो सकती है, परंतु मिथ्याभिमानी तो सदाके लिये पापकी बेड़ियोंमें बँधा रहकर दुर्गतिके घोर अन्धकारकी ओर ही ढुलकता जाता है।

२. जो मनुष्य लोभके कारण धनिकोंका धन या ... लेनेके लिये हाथ फैलाता है, वह कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं ... सकता। जो मनुष्य आपद्धर्मके कारण बाध्य होकर धनी आद... का अन्न खाता है, उसको वह नुकसान नहीं पहुँचा सकता।

३. जो मनुष्य दूसरोंके ही दोषोंको देखता और विचार... रहता है, उसका अपना जीवन भी दूषित ही होता जाता है।

तपस्वी अबुल कासिम नसरावादी

(जन्मभूमि—नसराबाद [खुरासन])

जो मनुष्य अपने श्रोताओंको केवल मौखिक ज्ञानसे ही ईश्वर-प्राप्तिका मार्ग दिखलाता है, वह तो उनको दुर्दशामें ही डालता है और जो मनुष्य अपने उत्तम आचरणद्वारा ईश्वरीमार्ग दिखलाता है, वही सुन्दर स्थितिको प्राप्त करवाता है।

जिसने अपने जीवनमें धर्म-नीतिका पालन नहीं किया, वह सच्ची उन्नति प्राप्त कर ही नहीं सकता। जिसमें मानसिक नीति ही नहीं, वह आध्यात्मिक नीति कहाँसे समझ सकेगा? और जिसमें आध्यात्मिक नीति नहीं, वह प्रभुके पास पहुँचेगा कैसे और किस प्रकार सदाके लिये सच्चिदानन्दपद पर विराजमान होगा? जिस मनुष्यने उच्च नीति प्राप्त की हो और जो बाह्य विषयोंसे तथा आन्तरिक दोषोंसे निर्लेप रहा हो, उसके सिवा दूसरा कोई भी क्या इस महत्तम पदको प्राप्त कर सकता है?

जो मनुष्य प्रसन्नताकी भूमिकामें जानेकी इच्छा करे, उससे कहो कि ईश्वर जिस रीतिसे प्रसन्न होता है, उसी रीतिको वह धारण करे तथा उसीका आश्रय ले।

तपस्वी अबू अली दक्काक

तुम्हें सच्चा सुख प्राप्त करना हो तो तुम अपना भार भी अपने ऊपरसे प्रभुके ही ऊपर डाल दो और बाहरसे शवके समान अपर्ता तथा अंदरसे प्रभुका ही भजन करनेवाले बने रहो। जो मनुष्य अपने प्रेमपात्रके ऊपर अपने प्राणोंको न्योछावर नहीं कर सकता, वह वास्तविक प्रेमी ही नहीं है।

साध्यको सिद्ध करनेमें प्रारम्भसे ही जिसको अनुभवी पुरुषका संयोग नहीं मिला और उच्च गुणोंकी प्राप्तिके लिये जबतक किसी सिद्ध आत्माकी सेवा नहीं की गयी, तबतक ईश्वरके साथ योग होना कठिन है।

सम्पूर्ण जीवनमें एक बार भी जिसने ठीक-ठीक ईश्वरकी अर्चना कर ली, वह मनुष्य नरकमें भले ही जाय, तथापि उसके भीतर एक बार जो ईश्वरी प्रकाश पड़ा हुआ है, उस प्रकाशको वह जब कभी प्रकट करता है या स्मरण आता है, तभी वह नरककी आग भी बुझ जाती है और वह नरक स्वर्गके समान हो जाता है।

राजाओं और बड़े लोगोंके संसर्गसे दूर रहना; क्योंकि इनका मनोभाव छोटे बच्चोंके समान अस्थिर तथा इनका प्रताप बिगड़े हुए बाघके समान जोरावर और घातक होता है।

तपस्वी अबू इसाक इब्राहीम खैयास

(स्थान—ईराक देशमें रय नामक नगर)

१. जो आदमी लोगोंके आगे तो ईश्वरकी बातें करता है, परंतु भीतरसे लोगोंमें मान प्राप्त करने या ऐसी ही दूसरी-तीसरी वस्तुओंको स्थान देता है, वह शीघ्र या देरसे बेआबरू होकर आफतमें ही जा पड़ता है। पश्चात् जब वह अपने अयोग्य आचरणको अयोग्य समझकर पश्चात्ताप करता है तथा वैसे कार्योंसे निवृत्त होकर प्रभुपरायण बनता है, तभी वह तमाम संकटोंसे बाहर निकलता है।

२. जो मनुष्य संसार-त्याग तथा प्रभुपरायणताका बाना पहनकर लोगोंमें ही प्रार्थना करता फिरता है, उसकी ओर लोगोंकी कुछ भी दया या श्रद्धा नहीं रहने पाती और अन्तमें वह इतना हल्का पड़ जाता है कि उसका जीवन निराशा और कष्टमें मर जाता है और उसके हाथमें केवल अफसोस और अवगुण ही रह जाते हैं।

तपस्वी हारेस महासवी

लोगोंके आगे अपना दोष स्वीकार करनेमें जिसको लेशमात्र भी संकोच नहीं होता, इतना ही नहीं, बल्कि इसमें जो अपना कल्याण देखता है; अपना सत्कार्य दूसरोंके सामने प्रकट करनेकी इच्छा नहीं करता तथा जो दृढ़ संकल्पवाला है, वही भक्तनिष्ठ और सच्चा साधक है।

ऐसा काम करो कि प्रभुके प्रीतिपात्र बनो। मनुष्यका प्रीतिपात्र बन जाना तो अधोगतिमें ही जा गिरना है। यही अन्तिम और सारभूत बात है।

जो मनुष्य साधनाके लिये तैयार होता है या इच्छा करता है, उसको रास्ता दिखाना तो प्रभु अपना आनन्द तथा प्रथम कार्य मानते हैं।

ईश्वरकी महिमा जाननेवाले लोग सदा प्रभु कृपाकी अमृत-सरोवरमें मग्न रहते हैं, प्रभुके निर्मल[illegible] सागरमें वे बार-बार डुबकी मारते हैं और प्रभु-प्रेमकी अमूल्य मोती चुगकर बाहर आते हैं। इस प्रकारकी [illegible] और अमूल्य सामग्रीके कारण ही वे प्रभुदर्शन और प्रभुमिलन प्राप्त करते हैं।

तपस्वी अबू तोराब

१. जब ईश्वरभक्त भक्तिपूर्वक अनुष्ठानमें लगता है, तब आरम्भमें ही अनुष्ठानकी मधुरताके स्वादका उसको अनुभव होता है।

२. जिसको ईश्वर करते हैं [illegible] दूसरी कोई भी नहीं; क्योंकि वह जिस ही [illegible] सब वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाली भूमिका है। जिसका जिक्र और चिन्तन ईश्वर होता है, उसके [illegible] नहीं हो सकते, बल्कि विशुद्ध [illegible] ही होते हैं।

तपस्वी मंसूर उमर

साधक दो प्रकारके होते हैं—पहले प्रकारके साधक जगत्को ही पहचानते हैं और इस कारण उसीकी प्रसन्नताके लिये कठोर साधनाके पीछे लगे रहते हैं। और दूसरे प्रकारके साधक प्रभुको पहचानते हैं; इसलिये उसीकी प्रसन्नता प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं।

श्रेष्ठ लोग दो प्रकारके होते हैं—जो केवल ईश्वरका ही साक्षात्कार करना चाहते हैं और दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते, वे उच्च कोटिके हैं; और जो लोग किसीके भी आगे अपनी आवश्यकताएँ नहीं दिखलाते तथा ऐसा समझते हैं कि निर्वाहके विषयमें और जीवन तथा मरणके विषयमें ईश्वरने जो कुछ निर्धारित किया होगा, वही होगा—वह किसीसे भी बदला नहीं जा सकता। अतएव वे ईश्वरके सिवा दूसरी सारी वस्तुओंसे निःस्पृह रहते हैं।

तपस्वी अहमद अन्ताकी

१. मनुष्यके जीवनमें अभी जो दिन बचे हैं उसका भी यदि वह ज्ञानपूर्वक सदुपयोग करे तो उससे भी पूर्वकी सारी भूलों और पापोंको धोकर वह प्रभुसे क्षमा प्राप्त कर सकता है।

२. आन्तरिक रोगके ये पाँच औषध हैं—(१) सत्संग, (२) धर्म-शास्त्रका अध्ययन, (३) अल्प आहार-विहार, (४) रात्रिकी और प्रातःकालकी उपासना तथा (५) जो भी कुछ करे उसे एकाग्रतापूर्वक तथा सारी शक्तिसे करनेकी पद्धति।

३. सदाचरणके दो प्रकार हैं—(१) जनसमाजके प्रति धर्मसे और नीतिपूर्वक बर्तना—इसका नाम बाह्य-सदाचार है; और (२) प्रभुके प्रति ध्यान-भजन, श्रद्धा, प्रार्थना, संतोष, कृतज्ञता, दर्शनकी आतुरता, प्रेम, आज्ञापालन इत्यादिके रूपमें जो आचरण होता है, वह आन्तरिक सदाचार है।

४. भयका फल है पापसे दूर रहना और परमात्म-श्रद्धाका फल है उसकी खोज करना। जो मनुष्य अपनेको नीतिमान् या उपदेशकके रूपमें परिचय देता है तथापि पापसे दूर नहीं रहता; तथा जो अपनेको श्रद्धालु अथवा भक्तके रूपमें परिचय देता है, फिर भी प्रभुको नहीं खोजता या उसकी आज्ञा नहीं पालन करता—ये दोनों प्रकारके मनुष्य झूठे हैं, बड़े पाखण्डी हैं और महान् ठग भी हैं।

तपस्वी अबू सैयद खैराज

१. ईश्वर जब अपने दासके ऊपर कृपा करता है, तब उसके लिये गुणानुवादका द्वार खोलता है, फिर उसको एकताके मन्दिरमें ले जाता है और वहाँ उसकी दृष्टि महिमा और गौरवपर पड़ती है। जब वह इस स्थितिमें पहुँचता है, तभी वह अहंता और ममतासे पूरा-पूरा छूटकर प्रभुमें—सच्चिदानन्द-पदमें स्थित होता है।

२. ईश्वरके गुणानुवादके तीन प्रकार हैं—(१) केवल जीभके द्वारा ही गुणानुवाद गाया जाय और अन्तःकरण उसमें जुड़ा हुआ न हो, (२) जीभके द्वारा गुणानुवाद-गानके साथ ही अन्तःकरण भी उसमें जुड़ा हुआ हो, इस प्रकारके गुणगानसे पुण्यका संचय और प्रभु-कृपाकी प्राप्ति होती है। (३) केवल अन्तःकरणसे ही गुणानुवाद गाता हो और जीभ जरा भी न हिले। इस प्रकारके गुणानुवादका पुण्य इतना अधिक होता है कि स्वयं प्रभुके सिवा और कोई उसको जान ही नहीं सकता।

३. जब परमात्माका साक्षात्कार होता है, तब अन्तःकरणमें अन्य किसी भी विषयका या किसी भी प्रकारके अस्तित्वका आभासतक नहीं रहता।

तपस्वी अहमद खजरुया बलखी

(स्थान—खुरासानमें बलख नगर)

प्रश्न—प्रभुप्रेमीके क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—प्रभुप्रेमीके मनको इहलोक या परलोकके कोई भी पदार्थ अच्छे नहीं लगते । उसका अन्तःकरण प्रभुकी ही महिमा और मनन-चिन्तनमें डूबा रहता है और प्रभुसेवाके सिवा दूसरी कोई भी उसमें वासना नहीं रहती । अपने परिवारमें रहकर वह खाता-पीता, बोलता-चलता और बैठता-उठता है, फिर भी वह अपनेको विदेशी मेहमान ही जानता है; क्योंकि अपने परम सखा प्रभुके हृदयमें उसने जो उच्च स्थिति प्राप्त की है, उस स्थितिको उसके परिवार या संसारमें कोई भी शायद ही समझ या अनुभव कर सकता है ।

तपस्वी अबू हाजम मक्की

तुम संसारकी कामनाओंसे निवृत्त हो जाओ । जो संसारमें आसक्ति रक्खेगा, उसके सारे साधन और भजन परलोकमें विनष्ट हो जायँगे और ऐसा कहलायेगा कि 'देखो, ईश्वरने जिन वस्तुओंको तुच्छ समझकर थोड़ा-थोड़ा, जहाँ-तहाँ, जैसे-तैसे बिखेर रक्खा है, उन अत्यन्त तुच्छ (असत्, जड और दुःखरूप) वस्तुओंको इस मूर्ख आदमीने हृदयके हारके समान गलेमें धारण कर रक्खा है ।

इस संसारकी लौकिक वस्तुओंमें तो ऐसा कुछ है ही नहीं, जो तुमको निर्मल आनन्द प्रदान कर सके; क्योंकि संसारमें निर्मल आनन्दका सृजन ही नहीं हुआ । तो भी यदि तुम ऐसे तुच्छ पदार्थोंमें आसक्त रहोगे तो वह बताशेके बदले रुपया दे देनेके समान, परलोकके महान् पदार्थोंसे दूर ही रखनेवाला होगा ।'

तपस्वी बशर हाफी

(जन्मभूमि—मरम)

'लोग मेरी योग्यताको जान लें तो कितना अच्छा हो ।' जो ऐसी इच्छा करता है, वह स्वर्गीय मधुरता प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि लोगोंमें जानकार होनेकी इच्छा करना—यह भी असार संसारमें सारबुद्धि और आसक्तिका ही लक्षण है ।

तीन बातें कठिन हैं—(१) निर्धनतामें भी उदारता रखना, (२) एकान्तमें भी वैराग्यकी रक्षा करना, और (३) जिसका भय लगता हो उसको भी सच-सच ही कह देना ।

प्रत्येक क्षण अपने जीवनमें सूक्ष्म विचार करो और संदेहजनक वस्तुसे अलग रहो, यही पुण्यकी ओर प्रीति होनेका लक्षण है ।

तपस्वी यूसुफ आसबात

१. पापनिवृत्तिके ये लक्षण हैं—(१) पाखण्डी लोगोंसे दूर रहना, (२) असत्यका त्याग करना, (३) अहंकारियोंसे दूर रहना, (४) प्रभुकी ओर अग्रसर होना, (५) कल्याणके मार्गपर ही चलना, (६) अधर्म, अनीति और पापकर्म छोड़नेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करना, (७) कृत पापोंको दूर करनेके लिये प्रयत्नशील रहना और (८) नालायकके साथ नालायक न बनना ।

२. वैराग्यके ये लक्षण हैं—(१) सांसारिक और वस्तुस्थितिका त्याग करना, (२) त्याग की हुई तथा नाशको प्राप्त हुई वस्तुकी याद भी न करना, (३) उपास्य प्रभुका ही स्मरण-सेवन करना, (४) प्रभुप्राप्तिके लिये दूसरे सारे स्वार्थोंका त्याग करना, (५) अन्तःकरणको पवित्र बनाना, (६) ऐसा हरेक आचरण, जो प्रेमपात्र प्रभुको प्रिय लगे, करना, (७) आहार और निद्राको, जहाँतक बन सके, कम करना, (८) वैराग्यका यह भी एक लक्षण है कि जो साधक ईश्वरमें ही शान्ति नहीं पाता, उसमें सच्चा वैराग्य ही नहीं होता ।

३. सात्त्विकताके ये लक्षण हैं—(१) जो बात कोई गुप्त रखना चाहता है उसको जाननेकी इच्छा न होना, (२) संदेहवाली वस्तुओंसे दूर रहना और भले-बुरेका विचार करना, (३) भविष्यकी चिन्ता न करना, (४) लाभ-हानिमें समानता रखना, (५) दूसरी बातोंको छोड़कर प्रभुकी प्रसन्नताकी ही ओर ध्यान रखना, (६) राजस और तामस खान-पान तथा सहवाससे दूर रहना, (७) संग्रह किये हुए पदार्थोंका सदुपयोग करना और (८) अपना गौरव प्रदर्शित करनेसे दूर रहना।

४. धैर्य धारण करनेके ये लक्षण हैं—(१) ओछी प्रवृत्तियोंपर अङ्कुश रखना, (२) प्राप्त ज्ञानको दृढ़ करके आचरणमें लाना, (३) प्रभुप्रेमकी प्राप्तिके पीछे लगे रहना, (४) घबराहट और उतावलापन न करना, (५) सात्त्विकताका अनुसरण करनेकी अभिलाषा होना, (६) साधनकी सिद्धिमें दृढ़ होना, (७) उचित कार्योंके लिये पूर्ण प्रयत्न करना, (८) आचार-व्यवहारमें सच्ची निष्ठा, सत्यपरायणता रखना, (९) शुभप्रयत्न करते रहना और (१०) अशुद्धि—अपवित्रता दूर करना।

५. सत्यनिष्ठाके कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—(१) जैसा भीतर हो वैसा ही मुँहसे बोलना, (२) वाणी और बर्ताव एक रखना, (३) लोकप्रतिष्ठाकी लालसा छोड़ देना, (४) कर्त्तापनके अहंकारसे दूर रहना, (५) इस लोककी अपेक्षा परलोककी श्रेष्ठताको बढ़कर समझना और (६) प्रवृत्तिको काबूमें रखना।

६. निर्भरताके कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—(१) ईश्वर जिस बातके लिये जामिन हो गया है उस बातकी चिन्ता न करना, (२) जिस समय जो कुछ प्राप्त हो उसमें संतोष रखना, (३) तन-मन-धनको सदा प्रभुकी ही सेवा-साधनामें जोड़े रखना, (४) प्रभुता (मालिकी) का परित्याग करना, (५) 'मैं पद' को छोड़ देना, (६) सांसारिक सम्बन्धोंका त्याग करना, (७) मन, वाणी और कर्मसे सत्यका ही अनुसरण करना, (८) तत्त्वज्ञान प्राप्त करना और (९) सांसारिक लोगोंकी आशा छोड़कर निराशाको ही पकड़ना।

७. ईश्वर-प्रेमीके कुछ लक्षण ये हैं—(१) एकान्तमें रहना, (२) संसारमें डूब जानेका भय, (३) प्रभुके गुणानुवादमें सुखास्वादन, (४) साधन-भजनमें सुखका भान और (५) ईश्वरीय आदेशके अनुसार आचरण।

८. लज्जाके कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—(१) मानसिक शरम, (२) विचार करके बोलना, (३) जिसके करनेसे क्षमा माँगनी पड़े, ऐसे कार्योंसे समय रहते ही दूर रहना, (४) जिस कार्यके करनेमें लज्जा लगे, वैसे विचारोंसे ही दूर रहना, (५) नेत्र, कान और जीभको वशमें रखना, (६) भोजनमें सावधानता रखना तथा (७) शव, समाधि-स्थान तथा श्मशानका स्मरण करना।

तपस्वी अबू याकूब नहरजोरी

तुम जिस सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये प्रभुका उपकार मानना आवश्यक समझो और उपकार मानो, उस सम्पत्तिका विनाश नहीं होगा। और जिस सम्पत्तिके लिये उसका उपकार न मानकर, अपनेको ही बड़ा पराक्रमी मान बैठो, वह सम्पत्ति टिकनेवाली नहीं।

जब साधक पूरा-पूरा श्रद्धालु बनता है, तब विपत्ति भी उसके लिये सम्पत्ति बन जाती है। संसारके ऊपर भरोसा रखना, यह तो उसके लिये विपत्तिका ही कारण हो जाता है।

ईश्वरीय आनन्द प्राप्त करनेके तीन साधन हैं—(१) सर्वभाव और एकनिष्ठापूर्वक साधन-भजन, (२) संसार और संसारियोंसे दूर रहना और (३) ईश्वरके सिवा किसी दूसरेका स्मरण न हो, ऐसा प्रयत्न करना।

तपस्वी अबू अब्दुल्ला मुहम्मद फज़ल

इन चारोंमें कोई-सा भी काम करनेवालेको धर्म छोड़ जाता है—(१) जिस विषयका ज्ञान होता है, उस विषयमें भी वह ज्ञानके अनुसार नहीं चलता, (२) जिस विषयका ज्ञान न हो, उस विषयमें भी काम करनेके लिये घुसता है, अथवा तीसमार खाँ बन बैठता है, (३) प्राप्त ज्ञानको छिपाकर योग्य मनुष्यको भी नहीं सिखाता और

(४) दूसरे लोग ज्ञानका आदान-प्रदान करते हों तो उसमें विघ्न डालता है।

प्रभु-प्रेमकी चार स्थितियाँ हैं—(१) ईश्वरके गुणानुवादमें प्रेम और आनन्द उत्पन्न होना, (२) भीतर भी प्रभुका गुणानुवाद हुआ करना, (३) विषयानुरागको नष्ट कर ईश्वरसे दूर रखनेवाली तथा वियोग करानेवाली सारी बातोंसे दूर रहना, (४) अपने पाण्डित्यकी अपेक्षा, तथा इस लोक और परलोकमें ईश्वरके सिवा दूसरा जो कुछ है, उस सबकी अपेक्षा प्रभुको ही श्रेष्ठता प्रदान करना।

तपस्वी अबू बकर ईराक

लोगोंके द्वारा प्रभु इन आठ बातोंको चाहते हैं—ईश्वरीय आज्ञाके प्रति पूज्यभाव तथा प्रभुके बनाये सारे जीवोंके प्रति प्रीतिभाव—इन दो बातोंको अन्तःकरणमें देखना चाहते हैं। एकेश्वरवादको स्वीकार करना और लोगोंके साथ मधुर वचन बोलना—इन दो बातोंको जिह्वामें देखना चाहते हैं। ईश्वराज्ञाका अनुसरण और प्रभुपरायण व्यक्तिकी सेवामें उत्साह—इन दो बातोंको देहमें देखना चाहते हैं। ईश्वरेच्छामें धीरज और लोगोंके प्रति गम्भीरता—इन दो बातोंको चरित्रमें देखना चाहते हैं।

नीचे लिखी पाँच वस्तुएँ सदा तुम्हारे साथ ही रहती हैं—(१) परमेश्वर, (२) सांसारिक जीवन, (३) पापवासना अथवा आसुरी बुद्धि, (४) घर-संसार और (५) जन-समाज। इनमें ईश्वरके साथ मिलनकी रक्षा करो, और उसने जो कुछ कहा है तथा जो कुछ करता है, उसके अनुसार बरतो। सांसारिक जीवनसे विरुद्ध चलना, आसुरी बुद्धिके साथ शत्रुता करना, संसारके सम्बन्धमें धीरज रखना तथा जन-समाजके प्रति दयालु आचरण रखना। यदि तुम इस प्रकार करनेमें समर्थ होओगे तो तुम भी मुक्तात्मा हो जाओगे; ऐसा न करोगे तो अधोगतिके अन्ध कूपमें जा गिरोगे। दोनों मार्ग सामने हैं, जँचे जिसपर चलो!

जबतक तुमने सांसारिक आसक्तिको निर्मूल नहीं किया, तबतक प्रभुको पानेकी कभी भी आशा न रक्खो।

तुम्हारे और ईश्वरके बीच जो साधन और सहायक हो, उसकी ओर पूज्य और पवित्र भाव रक्खो; और तुम तथा तुम्हारी बाह्य प्रवृत्तिके बीच जो कुछ साधनादि हो, उसकी ओर सहनशीलता रक्खो।

प्राप्त सम्पत्तिको प्रभुके प्रीत्यर्थ समर्पण करना तथा उस मार्गमें समर्पण करानेके लिये प्रभुका हृदयसे उपकार मानना—इसीका नाम है प्रभुके प्रति कृतज्ञ बनना—न कि मुँहसे केवल चार शब्द कृतज्ञताके उच्चारण करना।

तपस्वी अहमद मशरूक

जो मनुष्य ईश्वरको भूलकर अन्य विषयोंमें आनन्द लेता है, उसके सारे आनन्दोंका परिणाम दुःखरूप होता है। ईश्वरकी सेवा-पूजामें जिसको प्रीति नहीं पैदा होती, उसकी अन्य सब प्रीतियोंका परिणाम भयरूप होता है; और जो प्रभुमें हृदय लगाता है, उसको सब आपत्तियोंसे प्रभु बचा लेते हैं।

प्रभुका सम्मान करनेमें प्रभुके भक्तोंका भी सम्मान आ जाता है; परंतु प्रभुभक्तोंका सम्मान करनेमें तो प्रभुके सम्मानके अतिरिक्त प्रभुको पानेका महत्त्वपूर्ण द्वार भी खुल जाता है।

तपस्वी अबू अली जुरजानी

साधकके सौभाग्यके चार चिह्न हैं—(१) साधनका सहज समझमें आना, (२) धर्मपालनमें मेहनत न जान पड़ना, (३) साधुजनोंके प्रति स्नेहशील होना और (४) सबके साथ उदाचरणसे बर्तना।

जिन साधुने अपने प्राणोंको प्रभुमें ही स्थापित किया है, जिन साधुका पार्थिव जीवन बदल गया है तथा जिसने ईश्वर-दर्शनसे अमृतत्व प्राप्त किया है, उसके सारे कार्योंमें प्रेरक, प्रभु, कर्ता और नेता भी ईश्वर ही होते हैं; क्योंकि उसने

अपने पास तो तनिक भी कर्तव्य, कर्तृत्व या प्रभुत्व-जैसी कोई भी वस्तु रक्खी नहीं।

जिसने अपना सम्पूर्ण हृदय प्रभुको अर्पण कर दिया है और देहको लोकसेवामें लगा दिया है, वही सच्चा त्यागी, दाता और तत्त्वज्ञानी है।

तुम प्रभुमय रहनेमें ही श्रेष्ठता समझो, लौकिक असाधारणता या चमत्कारोंका अभिलाषी होनेमें नहीं; क्योंकि ऐसी इच्छा जागी तो फिर तुम्हारी चित्तवृत्ति मार्गमें स्थिर रहनेवाली नहीं, जिस स्थिरताको तुममें [illegible] आयी हुई देखना चाहता है। अधीनता (अर्थात् [illegible] आज्ञा और इच्छाके अधीन रहना) प्रभुभक्तिका धाम [illegible] धैर्य उस धाममें प्रवेशका द्वार है और आत्मविसर्जन उस मन्दिरके अंदरका भाग है कि जिस धाममें सदाके [illegible] सर्वोत्तम सुख, चेतना और शान्ति-ही-शान्ति रहा करती है

तपस्वी अबू बकर केतानी

अन्न-जल न मिलनेपर भी जो अत्यन्त प्रफुल्ल रहता है और मृत्युपर्यन्त साधन-भजनमें लगा रहता है; बल्कि जो दुःखको भी प्रभुकी कृपा समझ सकता है और मृत्यु आनेपर भी जो हँसता दीखता है, वही सच्चा वैरागी है।

प्रायश्चित्त यद्यपि एक ही शब्द है, फिर भी इसमें ये छः भाव रहते हैं—(१) पूर्व किये गये पापोंके लिये खेद, (२) फिरसे पापमें प्रवृत्ति न हो इसके लिये सावधानी, (३) ईश्वरके लिये किये जानेवाले कर्तव्योंमें जो कमियाँ रह गयी हों उनको दूर करना, (४) अन्य लोगोंके प्रति जो अवाञ्छनीय आचरण हो गया हो उसका बदला चुका देना, (५) शरीरका रक्त-मांस, जो अवाञ्छनीय भोगसे बढ़ा हो, उसको क्षय करना और (६) जिस मनने पापकी मधुरता चक्खी हो, उस मनको साधनाकी कटुता भी चखाना।

तपस्वी अबू नसर शिराज

भक्तके हृदयमें जब प्रभुप्रेमकी ज्वाला पूरे जोरसे भभक उठती है, तब ईश्वरके सिवा दूसरी जो भी कोई वस्तु उसमें रहती है, उसको वह ज्वाला जलाकर भस्म करके बाहर फेंक देती है।

नीति तीन प्रकारकी है—(१) 'संसारियोंकी नीति'—इसमें वाणीकी मधुरता, चतुराई, बाह्य विषयोंका ज्ञान, धनिकों-अफसरों और राजाओंका गुणानुवाद आदि। (२) समयका सदुपयोग, कहे अनुसार चलना, शत्रुओंसे न डरना, प्रभु-प्रार्थनामें तथा हरिभक्तोंसे भेंट होनेपर विनय प्रदर्शित करना—ये सब 'सत्पुरुषोंकी नीति' है। (३) आन्तरिक शोधन, गूढ रहस्योंका ज्ञान, इन्द्रिय-निग्रह, चित्तसंयम, वासनाका त्याग और साधना—ये सब 'धर्मात्माओंकी नीति' है।

तपस्वी फतह मोसली

सब आदमी जानते हैं कि अन्न बिना भी मनुष्य जी सकता है, परंतु उनके साथ इतना नहीं जानते कि जो मनुष्य अपने अन्तःकरणको साधु-समागमसे अथवा भक्त-जनोंके चरित्रोंसे वञ्चित रखता है, उसके अन्तःकरणकी तो भूखसे मृत्यु ही हो जाती है—अर्थात् वह अधर्म, अनीतिमें ही डूबता चला जाता है।

जो मनुष्य पूर्ण निष्काम बनकर ईश्वरकी शरण लेता है, उसीके अन्तःकरणमें प्रभुप्रेम प्रवेश कर सकता है; क्योंकि जो केवल प्रभुको ही पानेकी कामनावाला होता है, वह प्रभुके सिवा सारी वस्तुओंसे विमुख बनता है।

तपस्वी मम्शाद दनयरी

जो मनुष्य सांसारिक पदार्थोंके ऊपर आसक्त नहीं होता, इतना ही नहीं, बल्कि उल्टा अपनी देह और जीवन-तकको दुःखरूप और दोषमय समझकर उससे भी असंतुष्ट रहता है, वही सच्चा विरागी—वीतरागी है।

जबतक तुम्हारा अन्तःकरण सांसारिक विषयोंसे उपरत होकर प्रभुके मार्गमें आसक्त और स्थिर नहीं हो जाता तथा परमेश्वरके दिये हुए वचनोंमें तुमको दृढ़ विश्वास नहीं हो जाता, तबतक तुम चाहे जितनी क्रिया, उपासना, ध्यान, उपवास और व्रत किया करो, तथा चाहे जितने विषयोंका सूक्ष्मज्ञान इकट्ठा किया करो, परंतु सूफियोंकी कृपा, आचरण, अवस्था या पद तुम्हें प्राप्त होनेवाला नहीं है।

ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी

(प्रेषक—डाक्टर एम्० हफीज सैयद एम० ए०, पी-एच्० डी०)

१—साधकको चाहिये कि स्वादमें कम खाय। स्वादके लोभसे अधिक भोजन करना भोगीके लक्षण हैं।

२—भोजन इसलिये किया जाता है कि शरीर स्वस्थ रहे और उस शरीरसे ईश्वरकी आराधना की जाय। साधकका वस्त्र भी सात्त्विक हो और उसमें किसी प्रकारका दिखावटीपन न हो।

३—साधकका धर्म है कि वह कम सोये और कम बोले। सांसारिक व्यवहारोंसे अपनेको अलिप्त रक्खे।

४—बिना पूर्ण त्याग और वैराग्यके भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। दृष्टान्तके तौर हजरत बायजीद बस्तामीको भी सत्तर सालकी आराधनाके बाद, पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति उस समय हुई थी जब कि उन्होंने अपने पासकी बची हुई दो वस्तुओंको (एक मिट्टीका बर्तन और एक वस्त्र) भी त्याग दिया था।

ख्वाजा फरीदुद्दीन गंजशकर

(प्रेषक—डा० एम्० हफीज सैयद एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

१—ईश्वरके मार्गपर चलनेवाला साधक अपने आहारकी चिन्ता नहीं करता। अगर समयपर आहार न मिलनेसे उसका मन चिन्तित होता है तो वह ईश्वरीय दृष्टिकोणसे पापी समझा जाता है। ईश्वर ही सबका अन्नदाता है और वही सबको आहार पहुँचाता है। इसलिये सदा उसी भगवान्‌के ही अधीन रहना चाहिये।

२—सच्चा बुद्धिमान् व्यक्ति वह है जो संसारके सब कामोंको ईश्वरपर छोड़ देता है और हरि-इच्छाको ही अपना आदर्श बनाता है।

३—त्यागी साधुओंके लिये आवश्यक है कि वे इस संसार और परलोकसे अपने हृदयको स्वच्छ रखते हुए उनसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रक्खें।

४—साधकका परम धर्म है कि वह हर समय सोते-जागते, उठते-बैठते भगवान्‌के स्मरणमें ही अपनेको लगाये रक्खे।

५—जबतक साधक ईश्वरके ध्यानमें लीन रहता है, वह जीवित समझा जाता है और जब वह भगवान्‌का ध्यान नहीं करता, तब मुर्देके समान समझा जाता है।

ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती

(प्रेषक—डा० एम्० हफीज सैयद एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

१—जो व्यक्ति ईश्वर उपासनाकी निन्दा करता है वह दूर है। ईश्वरके नामपर दान पुण्य करना [illegible] नमाजसे बड़ी अच्छी है।

२—[illegible] व्यक्तिका सबसे बड़ा गुण [illegible] है। ईश्वर [illegible] है। परंतु जो व्यक्ति अपने [illegible] लिये अपने गुरुजनोंके

ही अभिमान रखता है, वह अधर्मी समझा जाता है; क्योंकि अन्नदाता ईश्वर ही है और वही सबको आहार देता है।

३–विपत्तिके समय जो मनुष्य दुखी होता है, वह ईश्वरके दृष्टिकोणसे अविश्वासी समझा जाता है।

४–अगर कोई मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता हो और उस समय कोई भिखारी और गरीब उसके पास आ जाय, तो उसका धर्म है कि अपनी उपासना छोड़कर गरीब व्यक्तिकी ओर ध्यान दे और उसकी सहायता करे।

५–तीन प्रकारके मनुष्य स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सकते—(१) वे जो झूठ बोलते हैं, (२) जो कंजूस हैं और (३) वे जो पराये धनको अपनाना चाहते हैं।

६–ज्ञानी पुरुष वे हैं जो ईश्वरकी भक्तिमें लीन रहते हैं और सोते-जागते ईश्वरका ही स्मरण करते हैं। पूर्ण ज्ञानी वे हैं जो इस लोक और परलोकसे अपने मनको हटाकर सबसे विरक्त हो जाते हैं।

(७) ज्ञानी अपने अंदर दैवी गुणोंको पैदा करता है और ईश्वरसे पूर्ण प्रेम करता है। ईश्वरकी प्राप्तिके लिये अपना तन, मन, धन सब कुछ लुटानेके लिये तैयार रहता है।

संत शेख सादी

(प्रेषक—श्रीरामअवतारजी चोरसिया 'अनन्त')

सच्चे फकीरका आदर्श दूसरा ही होता है। अगर वह अपनेको खुदाका बंदा स्वीकार करता है तो खुदाके सिवा और किसीको नहीं जानता-समझता, आखिर खुदासे नाता रखनेवालेको दुनियाके भले-बुरेसे क्या लेना-देना !

इंसानको चाहिये कि अपनी अच्छी हालतमें उन लोगोंकी तरफ मददका हाथ बढ़ाता रहे जो दीन-दुखी हों, सहायताके मोहताज हों, इसलिये कि दीन-दुखियोंकी मदद-इमदाद करनेमें इंसानकी बला टलती रहती है। जो धन दीन-दुखियोंकी मददमें काम नहीं आता, वह आखिर जालिमके हाथका शिकार होता है।

जो आदमी अक्लमंद होता है, वह लोगोंके खेल-कूदसे ही सभी कुछ सीख लेता है। मगर जो बेवकूफ होता है वह हिकमतके तत्त्व-ज्ञानके सौ अध्याय सुननेके बाद भी कुछ नहीं सीखता।

अगर मनुष्य पेटको भोजनसे खाली रखने यानी थोड़ा भोजन करे तो उसे ईश्वरीय ज्ञानका प्रकाश नजर आने लगे। इसके विरुद्ध जो नाकतक भोजनसे भरे रहते हैं, वे मानो अक्लसे खाली रहते हैं। वे अक्सर शैतानकी तरफ बढ़ते हैं।

दुनियादारी आदमीकी आँखें या तो संतोषसे भर सकती [illegible]

ही न फायदा उठाओ, बल्कि दूसरोंको भी फायदा उठानेका मौका दो।

एक तरफ तो जिंदगी बितानेकी उम्मीद और दूसरी तरफ जिंदगी जानेका डर। इसलिये जिंदगी बितानेकी उम्मीदमें जिंदगीको तकलीफमें डालना अक्लमंदीकी रायके खिलाफ है।

न तो काम-काजसे घबराना, न सुस्ती होना; क्योंकि अमृत हमेशा अँधेरेमें ही रहता है।

सब्र कड़ुआ होता है मगर उसका फल मीठा होता है।

ईश्वरीय दया-दृष्टिपर गौर कीजिये। वह सबके गुण देखता है, दोष भी देखता है; मगर किसीकी रोजी नहीं छीनता।

अगर तुम्हें अपने पैरके नीचे दबी हुई चींटीकी हालत मालूम है तो समझना चाहिये कि उसकी वैसी हालत ही है जैसी हाथीके पैर तले दबनेसे तुम्हारी हो सकती है। दूसरेके दुःखको अपनेसे मिलान किये बगैर अपनी असली हालत नहीं जान सकते।

जब तुम झगड़ेका सामान देखो तो खामोश हो जाओ; इसलिये कि खामोश मिजाज झगड़ेका फाटक बंद कर देता है। इसके साथ ही बदमिजाजोंके साथ मेहरबानी [illegible]

होती है कि तुम हाथीको भी सिर्फ एक बालके जरिये जहाँ भी चाहो, ले जा सकते हो।

इंसान अगर लालचको ठुकरा दे, तो बादशाहसे भी ऊँचा दर्जा हासिल कर ले; क्योंकि संतोष ही हमेशा इंसानका माथा ऊँचा रख सकता है।

हम इस खाकमें पीछे मिलें, पहले अपनेको ही खाक बना डालें।

अगर इंसान सुख-दुःखकी चिन्तासे ऊपर उठ जाय तो आसमानकी ऊँचाई भी उसके पैरोंके तले आ जाय।

आदतसे ही बुरा काम करनेवाला आदमी एक-न-एक दुश्मनके हाथमें गिरफ्तार रहता है। वह कहीं भी जाय, सजा देनेवाले हाथोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। और तो और, अगर ऐसा आदमी बलाके चंगुलसे छूटनेके लिये आसमानपर भी जा पहुँचे, तो अपनी आदतसे अपनी बदकारीसे बलाके हाथों गिरफ्तार हो जायगा।

जो शख्स किसी मनमानी करनेवाले और बद-मिजाज आदमीको नसीहत करता है, वह खुद नसीहतका मोहताज है।

लालची आदमी पूरी दुनिया पानेपर भी भूखा रहता है। मगर सब्र करनेवाला एक रोटीसे ही पेट भर लेता है।

भोग-विलास एक आग है, दोजखकी आग। उससे बचते रहना, उसे तेज मत करना; तुम उसकी आँच सहनेकी ताकत कहाँसे पाओगे? इसलिये उसपर सब्रका ठंडा पानी छिड़क देना।

जो आदमी अच्छे जमानेमें ताकत और अख्तियार रहते हुए नेकी नहीं करता, वह बुरे जमानेमें ताकत और अख्तियार चले जानेके बाद बेहद परेशानी उठाता है। जालिमसे ज्यादा बदनसीब और कोई नहीं होता; क्योंकि मुसीबतके वक्त कोई उसका दोस्त नहीं रहता।

सब्रसे बहुत काम निकल आते हैं। मगर जल्दबाज मुँहकी खाते हैं। मैंने जंगलमें अपनी आँखों देखा है कि धीरे-धीरे चलनेवाला तो मंजिलपर पहुँच गया, मगर तेज दौड़नेवाला बाजी खो बैठा। तेज चलनेवाला घोड़ा तो चलते-चलते थक गया, मगर धीरे-धीरे चलनेवाला ऊँट बराबर चलता रहा।

लोगोंके छिपे हुए ऐब जाहिर मत करो। इससे उसकी इज्जत तो जरूर घट जायगी, मगर तेरा तो एतबार ही उठ जायगा।

जो शख्स नसीहत नहीं सुनता, वह लानत-मलामत सुननेका शौक रखता है, तू अगर नसी-हतसे दूर भागता है तो तुझे लानत-मलामतके पास रहना चाहिये।

मौलाना हजरत अली

[पैगम्बर हजरत मुहम्मदके दामाद—उनकी वाणीसे अनुवादित]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

अकेला रहना मर्दका भला उससे जो बैठे बुरेके साथ।
बुरेके साथ बुराई सीखे और न कुछ भी लागे हाथ॥
नित उठि नेक संगतिमें बैठो जिससे सीखो इल्म नेकी।
नेक न पावो तो रहो अकेले बुरे संगसे भला एकी॥

× × ×

जीभ चुप्पीसे पुरुष सलामत चुप रहनेमें बहुत है गुन।
जीभ बाँधो ध्यानको खोलो आप चुप रहो औरकी सुन॥
बहुत बोलेसे बन्धन होता ज्यों तोता बुलबुल मैना।
बोलत ही पिंजरेमें डाले पंछीसे किसका क्या लेना॥

× × ×

साँस उसीसे सुमिरन कर ले और हिरस हवा सब छोड़।
हक बिना सब हिरस हवा है तुम हकसे मुहब्बत जोड़॥
जो जो सुख दुनिया उकबाके सबसे दिलको जल्द निसार।
जो पावेगा वसल हकका तो यह सब होंगे ताबेदार॥

× × ×

अव्वल आखर जाहिर बातन दरसता सुनता सो है।
है सब ही में सबसे न्यारा और नहीं सब ही वो है॥
मैं और तू की दुई छोड़कर एक देख कुछ दो नहीं है।
ऐसा समझ फना हो उसपर तू नहीं तब सही वह है॥

श्रीअनवर मियाँ

[जन्म—वैशाख वदी ७ शुक्रवार, वि० सं० १८९९, स्थान—विसनगर, पिताका नाम—आजा मियाँ, गुरुका नाम—सैयद हैदरशाह फकीर ।]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

समझ मन मेरा ॥

समझ मन मेरा रे यहाँ कोई नहीं तेरा ।
क्या गफलतमें कहता है तूँ नाहक मेरा मेरा ॥ समझ० ॥
बाप भाई और लड़का लड़की औरत कुटुँब कबीला ।
दोस्त आस्ना सब दुनियाँके, क्यूँ गफलतने घेरा ॥ समझ० ॥
महल झरोखा काम न आवे, साहेबकी दरगामें ।
एक दिन ऐसा आयेगा बंदे, जंगल होगा डेरा ॥ समझ० ॥
खाओ, पीओ, खरचो प्यारे, धर्म-पुण्य कुछ कर लो।
संग तुम्हारे हो उजियाला, आगे राह अँधेरा ॥ समझ० ॥
ज्ञानी ! तुम वेपारको आये, कुछ तो सौदा कर लो ।
जब मूठीमें खोट पड़ेगी, फोकट जायगा फेरा ॥ समझ मन मेरा रे ॥

हरिको देखा दरसन में, समझकर मगन हुआ मन में ॥ टेक ॥
जलमें देखा, थलमे देखा, देखा पवन-अगनमें, रे भाई।
कंकर पाथर सबमें देखा, मनवा भया मगनमें ॥ हरि० ॥
झाड़में देखा, पातमें देखा, देखा फूल-फलनमें, रे भाई।
ठाम-ठाममें दरसन पाया ज्ञानरूप दरपनमें ॥ हरि० ॥
तुममें देखा, हममें देखा, देखा सब पुरुषनमें, रे भाई।
कोई उस बिन नजर न आया, हमको जग-दरसनमें ॥ हरि० ॥
अकास देखा, पताल देखा, देखा गहन-गगनमें, रे भाई।
तीन लोकमें उसको देखा, रमता सबके मन में ॥ हरि० ॥
उसके बिना कोइ चीज न देखी, दरिया बस्ती बनमें, रे भाई।
चौदह भुवनमें आप समाया, तरह-तरहके फनमें ॥ हरि० ॥
हर जगहमें उसको देखा, नूर भया लोचनमें, रे भाई।
उस बिन दूजा कछू न देखा, बोला सत्य बचनमें ॥ हरि० ॥
उसमे डोरी लगी है सबकी, खींचे सब कारनमें, रे भाई।
बाजीगर ज्यूँ पुतलियोंका खेल करे लोकनमें ॥ हरि० ॥
कभी हमारा संग न छोडे जाग्रत् और सुपनमें, रे भाई।
आठ पहर हाजिर ही रहता, 'ज्ञानी' के चेतनमें ॥ हरि० ॥

मेरे दिलमें दिलका प्यारा है मगर मिलता नहीं ।
चश्मोंमें उसका नजारा है मगर मिलता नहीं ॥
ढूँढता फिरता हूँ उसको दर बदर औ कू-बकू ।
हर जगह वो आशिकारा है मगर मिलता नहीं ॥
ऐ रकीबो गर खबर हो, तो लिल्लाह दो जवाब ।
मेरे घरमें मेरा प्यारा है मगर मिलता नहीं ॥
शेख ढूँढे है हरममें औ बिरहमन देरमें ।
हर जगह उसको पुकारा है मगर मिलता नहीं ॥
मैं पड़ा जख्मी तड़पता हूँ फिराके यारमें ।
तीर मिजगा उसने मारा है मगर मिलता नहीं ॥
मेरे अन्दर वोही खेले औ खिलावे मुझको वोह ।
घरमें दुल्हनका दुलारा, है मगर मिलता नहीं ॥
क्या करें कुछ बस नहीं, अनवर यहाँ लाचार है ।
पास वह दिलबर हमारा है मगर मिलता नहीं ॥

श्रीखलील जिब्रान

(जन्मस्थान—सीरियाके लबनानमे बशेरी नामक ग्राम । समय—ई० सन् १८८३ जनवरी । मृत्युके समय उम्र ४८ वर्ष, मृत्युस्थान—न्यूयार्क)

मेरे मित्रो ! स्मरण रखो कि जो भिक्षा तुमने वृद्ध, अशक्त या आवश्यकतासे पीड़ित दरिद्रके हाथमे दिया है, वह भिक्षा नहीं रह जाता । वह ईश्वरीय हृदयके साथ तुम्हारे हृदयको जोड़नेवाली स्वर्ण-शृङ्खला बन जाता है ।

प्रेम मृत्युसे बलवान् है और मृत्यु जीवनसे बलवान् । यह जानते हुए भी मनुष्य मनुष्यके बीचमें कितने क्षुद्र भेद खड़े कर लेता है ।

मैं किसीकी हत्या करने-जैसा क्षुद्र बनूँ, इससे पूर्व अच्छा यही है कि कोई और मुझे मार डाले ।

आवश्यकता और विलासके मध्य कोई रेखा कोई

मनुष्य नहीं सींच सकता। केवल देवदूत यह काम कर सकता है और देवदूत—यह तो हमारे सद्विचारोंका ही नाम है।

इतना स्मरण रखना, कोई वासना यहाँ अपूर्ण नहीं रहती। आकांक्षा, इच्छा, कामना, राग—देर-सबेर जीवनमेंसे इन्हें अपनी तृप्तिकी शोध करनी ठहरी और जीवनको यह प्रदान करना ठहरा। (तात्पर्य यह कि पाशविक वासनाएँ उठेंगी तो उनकी पूर्तिके लिये पशु होना पड़ेगा। शुभ वासनाएँ ही उठें, इसीमें जीवनका हित है।)

महान् शोक अथवा महान् आनन्द—तुम्हारे सत्यको यही प्रकट कर सकते हैं और कोई नहीं। इसका यह अर्थ हुआ कि सत्यकी प्राप्तिके लिये या तो तुम्हें अपार कष्ट सहने होंगे या आनन्दकी मस्ती प्राप्त करनी होगी—दोमेंसे एक।

तुम्हें जिसकी आवश्यकता नहीं है, वह मुझे दे दो; इसमें कोई उदारता नहीं है। जिसकी आवश्यकता तुम्हें मुझसे अधिक है, वह तुम मुझे दे दो—यही सच्ची उदारता है।

मैं कब समझूँगा कि मुझे जो अन्याय (कष्ट आदि) मिला, वह मेरे द्वारा किये अन्यायोंका केवल पासँग मात्र है।

अपने मर्यादित ज्ञानसे दूसरेको मापनेके बदले यह मापनेका काम ही छोड़ दो।

वृत्तियों—कामनाओंका संघर्ष—यह और कुछ नहीं है, जीवन व्यवस्थित होना चाहता है। उसकी माँगको समझो।

धनी और कंगालके मध्यका अन्तर कितना नगण्य है। एक ही दिनकी क्षुधा या एक ही घंटेकी प्यास दोनोंको समान बना देती है।

मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही कूड़ा-करकट हूँ। मेरी अग्नि मेरे कूड़े-करकटको भस्म कर दे—इसका नाम है—शाश्वत जीवन।

अपना मन ही अपनेको भ्रममें डालता है और अपने नियम-संयमको भंग करता है। लेकिन मनसे परे एक तत्त्व है जो नियम-संयम भंग करनेवाले मनके वशमें नहीं होता। मनको वशमें करनेके लिये उसका आश्रय लेना ही पड़ेगा

यह आश्चर्य देखो, मेरे दुःखका एक भाग—प्रधान भाग मेरे सुख पानेकी इच्छाओंमें ही है। मुझे यह जानकर नवीनता लगी कि सुख पानेकी इच्छाका ही अर्थ है—दुःख।

मैंने अपने आपको सात अवसरोंपर क्षुद्र बनते देखा—

१–जब मैं मनुष्यके सामने विनम्र रंक बना, इस आशासे कि इससे संसारमें उन्नत अवस्था प्राप्त करूँगा।

२–जब मैं निर्बल लोगोंके समक्ष गर्वसे फुदकता चलने लगा। जैसे मेरी शक्ति मेरे विकासका एक भाग न होकर दुर्बलोंसे स्पर्धा करनेका साधन हो।

३–कठिनाइयोंसे भरे कार्य-क्षेत्र और सरलतासे मिलनेवाला सस्ता (वैषयिक) सुख—इन दोनोंमेंसे एकको पसंद करनेका अवसर आनेपर जब मैंने सरलतासे मिलनेवाला सस्ता सुख चुना।

४–जब मैंने अपराध करके पश्चात्ताप एवं परिमार्जन करनेके बदले उसका समर्थन करते हुए कह दिया—'ऐसे तो चला ही करता है। दूसरे भी तो यही करते हैं।'

५–जब अपनी दुर्बलताको मैंने सहन कर लिया, इतना ही नहीं—इस दुर्बलताको सहन कर लेनेमें भी अपनी भक्ति मान ली।

६–जब मैंने कुरूप चेहरेकी ओर घृणा प्रदर्शित की, किंतु यह नहीं जाना कि घृणाका ही एक आच्छादन यह कुरूपता है।

७–जब किसीके द्वारा प्रशंसा सुनकर मैंने समझा कि सचमुच मैंने श्रेष्ठ कार्य किया है। दूसरोंके द्वारा प्रशंसा पानेको अच्छाईकी कसौटी मान लेना—यह तो हद हो गयी।

इस प्रकार सात अवसरोंपर मैंने अपने आपको क्षुद्र बनते देखा।

नंगी पृथ्वीपर सोये मनुष्यके स्वप्न और गुदगुदे गद्देपर सोनेवाले मनुष्यके स्वप्नमें कोई अन्तर नहीं होता। जबसे मुझे इस बातका पता लगा, मैंने समझ लिया कि कहो-न-कहो; किंतु संसारमें न्यायात्माका न्याय ही चलता है। जीवनका मार्ग न्यायका मार्ग है—इसमें मेरी अचल श्रद्धा हो गयी।

संस्मरणका अर्थ है शान्त मिलन; किंतु विस्मरणका अर्थ? संत कहते हैं कि यही मुक्ति है। जो भूल गया—भूलने योग्य सब कुछ जो भूल गया, वह उन सबके बन्धनोंसे मुक्त हो गया।

तुम्हारे ज्ञानके ऊपर पड़े हुए जटिलके आवरणको दूर करनेके लिये तुमको प्रकृतिकी ओरसे एक वस्तु प्रदान की गयी है—वह है तुम्हारी वेदना!

संत पीथागोरस

(जन्म—ईसापूर्व ५८६ वर्ष। देहान्त—ईसाके लगभग ५१० वर्ष पूर्व।)

संतोंके द्वारा निर्दिष्ट क्रमके अनुसार देवाधिदेव—परमेश्वरकी पूजा करो तथा धर्म-पालनमें गौरवका अनुभव करो।

अपने माता-पिता, गुरुजनों तथा सगे-सम्बन्धियोंका आदर करो। पुण्यात्माओंसे मित्रता करो, उनकी मधुर सीख तथा सदाचरणके अनुसार जीवन बिताओ, छोटे-से अपराध—साधारण भूलके लिये उनसे अपने प्रेम-सम्बन्धका विच्छेद न करो।

इसको सच मान लो और उदर, आलस्य, भोग-विलास तथा क्रोधपर विजय प्राप्त करना सीख लो।

दूसरोंके तथा अपने प्रति और आत्मसम्मानको पतनकी ओर ले जानेवाला कोई नीच कर्म—कुकर्म मत करो।

कर्म और वचनसे सत्यका आचरण करो, किसी भी वस्तुके प्रति अन्याय न हो जाय, इसका सदा ध्यान रखो; इसको जान लो कि सब-के-सब अवश्य मर जायँगे। धन आता है और चला जाता है।

यदि कोई असत्य बोलता है तो तुम शान्त रहो।

तुम उसे मत करो जिसे नहीं समझ पाते हो, जो शुभ है उसका ज्ञान प्राप्त करो, इससे तुम्हारा जीवन मधुर हो जायगा।

चीनी संत कन्फ्यूसियस

(जन्म—ईसापूर्व ५५० या ५५१ वर्ष, ल्यू राज्यमें। पिताका नाम—शुहलेंग हेह। देहान्त—ईसापूर्व ४७८ वर्ष।)

ईश्वरके प्रति अपराध करनेवालेके लिये कोई दूसरा नहीं बचता है जिसकी वह प्रार्थना कर सके।

यदि आप ईमानदारीसे जनताका सुधार करना चाहते हैं तो कौन ऐसा प्राणी है जो अपना सुधार नहीं चाहेगा अथवा अपनी गलती नहीं सुधारेगा?

यदि आप स्पष्टरूपसे भलाईकी कामना करेंगे तो निस्संदेह लोग भले होंगे।

जो उत्थानके योग्य हैं, उनका उत्थान करो और जो अयोग्य हैं, उन्हें उपदेश दो जिससे कि वे कल्याणमार्गकी ओर अग्रसर हो सकें।

शासन वही उत्तम है जो अपने अधीनस्थोंको सुखी रक्खे और जो अपनेसे दूर हैं, उन्हे आकर्षित करे।

बुद्धिमान् और उत्तम शासक वही है जो प्रजापर बोझ डालकर भी उसे क्षुब्ध नहीं होने देता। वह स्वयं भी किसी प्रकारका प्रमाद नहीं करता, चाहे उसे अधिक आदमियोंसे व्यवहार करना पड़े अथवा कम आदमियोंसे, साधारण काम हो या महान्।

जिन विषयोंका स्वयं उन्हें ज्ञान नहीं, बुद्धिमान् पुरुष उन विषयोंमें अपना निर्णय कभी प्रकट नहीं करते।

जो स्वयं अपना ही सुधार नहीं कर सकता, उसे सुधारकी बात करनेका भला, अधिकार ही क्या है!

जो काम शीघ्रतासे किया जाता है, वह पूर्णतया कभी सम्पादित नहीं होता।

मनुष्यको कभी तुच्छ विषयोंपर विचार नहीं करना चाहिये। यदि वह उन्हींमें उलझा रहेगा तो महान् कार्य यों ही रह जायँगे।

स्वामीकी सेवा करते समय, सेवाको सदा मुख्य और पारिश्रमिकको गौण समझो।

दूसरोंने उसकी पूछ नहीं की, इस बातको जानकर भी जो उद्विग्न नहीं होता, क्या वह महापुरुष नहीं है!

महान् पुरुष वही है जो कथनके पूर्व ही क्रिया करता है और केवल उसी बातको कहता है जिसे कि उसे करना है। वह सदा साम्प्रदायिक झंझटोंसे दूर रहता है।

महान् पुरुष क्षणमात्रके लिये भी सत्यका त्याग नहीं करते—भीषण-से-भीषण दुःख और विपत्तिके समयमें भी वे अचल रहते हैं।

शुभके जानकारसे शुभका इच्छुक उत्तम है; उससे भी उत्तम वह है जो निरन्तर शुभमें ही रमण करता है।

जो गुण अपनेमें हो नहीं, उसे जो दिखानेका ढोंग करता है, क्या ऐसे दाम्भिकके हृदयमें कभी सत्यकी प्रतिष्ठा हो सकती है!

सरलता और सचाईके साथ मनुष्यको आत्मसंशोधनका प्रयत्न करना चाहिये।

सच्चा मनुष्य कभी उद्विग्न नहीं होता।

जो व्यवहार तुम दूसरोंसे अपने प्रति नहीं चाहते, वैसा व्यवहार तुम भी दूसरोंके प्रति कभी मत करो।

जो भय और शोकसे रहित हो गया है, वही महान् है।

भद्र पुरुष सदा दूसरोंके गुणोंको ही बखाना करते हैं, दोषोंकी तो वे कभी आलोचना ही नहीं करते।

(इसी प्रकार सच्चा मित्र सदा अपने मित्रके गुणोंको ही प्रकाशमें लाता है, दोषोंको सदा यह छिपाता है।)

स्वार्थका दमन और आचारके स्वाभाविक नियमोंका पालन करना ही सची भद्रता है।

सच्चे पुरुष सदा कर्मठ होते हैं, वे व्यर्थ बकवाद कभी नहीं करते। वे सम्मानित होते हुए भी अभिमानसे सदा दूर रहते हैं।

सच्चा पुरुष सदा साहसी होता है, पर साहसी पुरुष सदा सच्चा ही हो, सो बात नहीं। साहस तो चोर-डाकुओंमें भी होता है, पर उन्हें भला कोई नहीं कहता।

क्रोध आनेपर बुद्धिमान् पुरुष सदा परिणामपर विचार करते हैं। लाभका संयोग उपस्थित होनेपर कर्तव्यकी ओर देखते हैं।

दूसरोंका सम्मान करो, लोग तुम्हारा भी सम्मान करेंगे।

जो कदाचित् ही पूर्व अनिष्टोंको याद करता है, उसके थोड़े ही शत्रु होते हैं।

वचन दे देनेके बाद, मनुष्यको कभी भी काम करनेमें पीछे नहीं हटना चाहिये।

बहुत-से आदमी बिल्कुल ईमानदार हो सकते हैं, चाहे उन्होंने सदाचारसम्बन्धी पुस्तकोंका अध्ययन ही न किया हो।

बुद्धिमान् पुरुष कभी यह नहीं सोचते कि उन्होंने सब कुछ सीख लिया है, भले ही वे जिज्ञासुओंको उपदेश देनेमें पूर्ण समर्थ हों।

मनुष्यको केवल ज्ञानप्राप्तिके लिये नहीं भटकना चाहिये, उसे जीवनमें उतारनेका भी अभ्यास करना चाहिये।

जाननेपर यह समझना कि मैं जानता हूँ और न जाननेपर यह अनुभव करना कि मैं नहीं जानता—यही सच्ची जानकारी है।

कर्तव्य-कर्ममें प्रमाद मनुष्यके नैतिक पतनका सूचक है।

जो विद्यार्थी केवल कल्याण-सूत्रोंके अध्ययनमें ही संलग्न है, पर जिसे मोटा खाने और मोटा पहननेमें संकोच होता है, वह कभी शिक्षा पानेका अधिकारी नहीं।

गुणोंका दुराव असम्भव है, उन्हें लोग जानेंगे ही।

जो केवल अपने ही दोषोंको देखें, ऐसे पुरुष बड़े ही दुर्लभ होते हैं।

तुम इसकी चिन्ता मत करो कि लोग तुम्हें नहीं जानते, बल्कि चिन्ता करो कि तुम जानने योग्य नहीं हो।

खानेको मोटा भोजन, पीनेको शुद्ध जल और सहारेके लिये अपनी मुड़ी हुई बाँह हो—ऐसी स्थितिमें भी मनुष्य सुखी रह सकता है।

बिना आत्म-संयम किये कोरी बुद्धिमानी कायरतामें और स्पष्टवादिता अशिष्टतामें बदल जाती है।

किसी विशाल वाहिनीके नायकको छीना जा सकता है, परंतु किसी गरीब आदमीसे उसकी दृढ़ताको नहीं छीना जा सकता।

गुण-ग्रहणमें असफलता, प्राप्त ज्ञानका परीक्षण और व्याख्या न कर सकना, मार्ग-दर्शन करा दिये जानेके उपरान्त भी सत्पथपर न चल सकना, अपने दोषोंको दूर न कर सकना—ये मनुष्योंको दुःख देनेवाले कारण हैं।

चीनी संत मेनसियस

(चीनी संत कन्फ्यूसियसके शिष्य । जन्म—ईसाके पूर्व चौथी शताब्दीके प्रथम चरणमें । मृत्यु—२८९ ई० पूर्व ।)

प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें सहानुभूति, शालीनता, मृदुता और न्यायपरता रहती है; जिसमें इन सद्गुणोंका अभाव होता है वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है । प्रेम मानवका हृदय है, सदाचार उसका पथ है ।

मैं जीवन और सदाचार दोनों चाहता हूँ । यदि वे साथ-ही-साथ मुझे नहीं मिलते हैं तो जीवनको छोड़ दूँगा और सदाचारपर दृढ़ रहूँगा । मेरी इच्छित और प्यारी वस्तुओंमेंसे जीवन भी एक वस्तु है पर यदि जीवनसे भी बड़ी कोई वस्तु है तो उसे मैं दुराचारसे अपने पास नहीं रक्खूँगा । इसी प्रकार मेरी घृणित वस्तुओंमेंसे मृत्यु भी एक वस्तु है, पर यदि इनमें मृत्युसे भी बड़ी और भयंकर कोई वस्तु है तो इन भयंकर और घृणित वस्तुओंसे बचना नहीं चाहूँगा ।

दार्शनिक प्लेटो

(समय ईसापूर्व ४२७ वर्ष)

अन्याय सहन करनेकी अपेक्षा, अन्यायकारी बनना अधिक निन्दनीय (घृणित) है ।

प्रकृतिके अनुसार सभी मनुष्य समान हैं तथा एक ही कारीगरद्वारा समान मिट्टीसे ही बनाये गये हैं । हम अपने-आपको निःसंदेह धोखा दे लें (भ्रममें डाल लें), किंतु भगवान्‌को तो निर्धन कृषक और शक्तिशाली राजकुँवर समानरूपसे ही प्रिय हैं ।

× × × ×

ईश्वर सत्य है (सत्यता ही ईश्वर है) तथा प्रकाश उसका प्रतिबिम्ब (छाया) है ।

जिसने भली प्रकार रहना (जीवन-यापन करना) सीखा है, वही सत्य (यथार्थता) को प्राप्त करेगा, और फिर तभी, उससे पूर्व नहीं, वह सब कष्टोंसे मुक्त भी हो जायगा ।

× × × ×

सभी उपाधियोंके मनुष्योंको, चाहे वे सफल हों अथवा असफल, चाहे वे विजय प्राप्त करें अथवा न करें, चाहिये कि वे अपने कर्तव्य-कर्मको करके संतोषपूर्वक विश्राम करें ।

महात्मा सुकरात

[जन्म—ईसापूर्व ४७० वर्ष,स्थान एथेन्स नगर । पिताका नाम—सोफ्रोनिसकस । माताका नाम फायनेरेट । मृत्यु—ईसापूर्व ३९९ वर्ष।]

(प्रेषक—श्रीकृष्णबहादुर सिन्हा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

'हमारा ध्येय सत्य होना चाहिये न कि सुख ।'

'किसी वस्तुका निर्णय करनेके लिये तीन तत्त्वोंकी आवश्यकता होती है—अनुभव, ज्ञान और व्यक्त करनेकी क्षमता ।'

'अच्छा जीवन, ज्ञान और भावनाओं तथा बुद्धि और सुख दोनोंका सम्मिश्रण होता है ।'

'हमारी आत्मा अमर है·····क्या तुम जानते हो कि ·· है और अनश्वर है ! ग्लाकन (शिष्यका नाम) मेरी ओर दृष्टिपात किया और कहा—'भगवन् ! नहीं, क्या आप सिद्ध कर सकते हैं !'

'वृद्ध पुरुषोंसे पूछ-ताछ करना परम हितकारी है; क्योंकि उनको मैं उन यात्रियोंके समान समझता हूँ जो लम्बा मार्ग तय कर चुके हैं और शायद उसी मार्गपर हम सबको जाना है ।'

'दार्शनिक कौन है ? जिसको प्रत्येक प्रकारके ज्ञानको प्राप्त करनेका ज्वर होता है, जिसको सदा जाननेकी इच्छा बनी रहती है और जो कभी संतुष्ट नहीं होता है, वही सच्चा दार्शनिक है ।'

'जो सत्यकी झलकके प्रेमी हैं वही सच्चे दार्शनिक हैं ।'

यूनानके संत एपिक्यूरस

[काल—ईसापूर्व वर्ष ३४२–२७०]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

जिस समय हमलोग कलह-विवाद करते हैं, परस्परकी हानि करते हैं, क्रोधसे उन्मत्त होते हैं, उग्र चण्डमूर्ति धारण करते हैं, उस समय हमलोग कितना नीचे गिर जाते हैं ! उस समय हमलोग हिंस्र पशुओंके समान हो जाते हैं !

लोगोंकी क्या भलाई करोगे ! तुमने क्या अपनी कुछ भलाई की है ?

दूसरेके दोषका क्या संशोधन करोगे ! अपने दोषका क्या संशोधन किया है ?

तुम यदि उन लोगोंकी भलाई करना चाहो तो उनके पास जाकर बहुत-सा बकवाद मत करना; बल्कि तत्त्वज्ञानकी शिक्षाके फलसे किस प्रकार मनुष्य तैयार होता है, उसीका उदाहरण अपने जीवनमें दिखाओ । जो लोग तुम्हारे साथ भोजन करते हैं, वे जिसमें तुम्हारा भोजन देखकर अच्छे हो सकें, जो तुम्हारे साथ पान करते हैं, वे जिसमें तुम्हारा पान करना देखकर अच्छे हो सकें, तुम वैसा ही करो ।

आत्म-त्याग स्वीकार करो, सबको रास्ता दे दो, सबकी बातों और आचरणोंको सह लो, इसी प्रकारसे तुम उन लोगोंकी भलाई कर सकोगे । उन लोगोंके ऊपर क्रोध उगलकर, उनपर कटु वाक्योंकी वर्षा करके तुम उन लोगोंकी भलाई नहीं कर सकोगे ।

'मेरी जो इच्छा है, वही हो'—इस प्रकार आकाङ्क्षा न करके यदि तुम ऐसा विचार करो कि 'चाहे जैसी घटना हो, मैं उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करूँगा' तो तुम सुखी होगे ।

दूसरे किसी आदमीके दोषसे तुम्हारा अनिष्ट होगा, ऐसा अपने मनमें मत सोचो ।

अपनेको तत्त्वज्ञानी कहकर कभी प्रसिद्ध मत करो, दूसरे साधारण लोगोंके सामने तत्त्वज्ञानकी बातें अधिक मत बोलो, तत्त्वज्ञानके जो उपदेश हैं, उन्हें तुम कार्यमें परिणत करो ।

जिनसे हमलोगोंका कोई लगाव नहीं है, उन्हीं विषयोंसे हमलोग प्रकृतिका अभिप्राय जान सकते हैं । जब कोई बालक दूसरे किसी बालकका प्याला तोड़ डालता है, तब हम लोग स्वभावतः यही कहते हैं—'यह संयोगसे टूट गया' अतएव दूसरेका प्याला टूटनेपर तुम जिस भावसे देखते हो, अपना प्याला टूटनेपर भी तुम्हें उसी भावसे देखना उचित है । और भी बड़े-बड़े विषयोंमें इसका प्रयोग करो । किसी दूसरेका लड़का अथवा स्त्री मर गयी है, यह सुनते ही कौन नहीं कहेगा—'यह विधाताका अखण्डनीय नियम है, यही मनुष्योंकी साधारण गति है ।' किंतु तुम्हारा अपना लड़का अथवा तुम्हारी अपनी स्त्री मृत्यु-मुखमें पड़ती है, तब तुम कहते हो—'हाय ! मैं कैसा अभागा हूँ' किंतु ऐसे समयमें एक बार तुम्हें यह विचार कर देखना चाहिये कि दूसरेके अवसरपर तुमने किस प्रकार विचार किया था । प्रकृतिका नियम सबके लिये ही समान है ।

रोमके संत मारकस अरलियस

(पिताका नाम—एनियस वेरस, जन्म—ईसापूर्व १८० वर्ष, अप्रैल मासमें, देहान्त–१२१ वर्ष ईसापूर्व, १० मार्च)

प्रत्येक कार्य करते समय उसे अपने जीवनका अन्तिम कार्य समझना चाहिये । इसी प्रकार जीवनके प्रत्येक दिनको अपना अन्तिम दिन जानना चाहिये ।

सज्जन ही ईश्वरीय कार्यकी पूर्तिमें योग देता है और धर्माचरण सिखाता है ।

छोटे-से-छोटा कार्य भी करना चाहिये तथा वस्तुओंके लौकिक और अलौकिक रूपके प्रति सदा सावधान रहना चाहिये ।

यदि आप हँसते और असमर्थ हैं तो दूसरोंकी सहायता और कृपाके सत्सङ्गके लिये ईश्वरीय वरदानके समान अनुभव नहीं करना चाहिये ।

चीनी संत मेनसियस

(चीनी संत कन्फ्यूसियसके शिष्य । जन्म—ईसाके पूर्व चौथी शताब्दीके प्रथम चरणमें । मृत्यु—२८९ ई० पूर्व ।)

प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें सहानुभूति, शालीनता, मृदुता और न्यायपरता रहती है; जिसमें इन सद्गुणोंका अभाव होता है वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। प्रेम मानवका हृदय है, सदाचार उसका पथ है।

मैं जीवन और सदाचार दोनों चाहता हूँ। यदि वे साथ-ही-साथ मुझे नहीं मिलते हैं तो जीवनको छोड़ दूँगा और सदाचारपर दृढ़ रहूँगा। मेरी इच्छित और प्यारी वस्तुओंमेंसे जीवन भी एक वस्तु है पर यदि जीवनसे भी बड़ी कोई वस्तु है तो उसे मैं दुराचारसे अपने पास नहीं रक्खूँगा। इसी प्रकार मेरी घृणित वस्तुओंमेंसे मृत्यु भी एक वस्तु है, पर यदि इनमें मृत्युसे भी बड़ी और भयंकर कोई वस्तु है तो इन भयंकर और घृणित वस्तुओंसे बचना नहीं चाहूँगा।

दार्शनिक प्लेटो

(समय ईसापूर्व ४२७ वर्ष)

अन्याय सहन करनेकी अपेक्षा, अन्यायकारी बनना अधिक निन्दनीय (घृणित) है।

प्रकृतिके अनुसार सभी मनुष्य समान हैं तथा एक ही कारीगरद्वारा समान मिट्टीसे ही बनाये गये हैं। हम अपने-आपको निःसंदेह धोखा दे लें (भ्रममें डाल लें), किंतु भगवान्‌को तो निर्धन कृषक और शक्तिशाली राजकुँवर समानरूपसे ही प्रिय हैं।

× × × ×

ईश्वर सत्य है (सत्यता ही ईश्वर है) तथा प्रकाश उसका प्रतिबिम्ब (छाया) है।

जिसने भली प्रकार रहना (जीवन-यापन करना) सीखा है, वही सत्य (यथार्थता) को प्राप्त करेगा, और फिर तभी, उससे पूर्व नहीं, वह सब कष्टोंसे मुक्त भी हो जायगा।

× × × ×

सभी उपाधियोंके मनुष्योंको, चाहे वे सफल हों अथवा असफल, चाहे वे विजय प्राप्त करें अथवा न करें, चाहिये कि वे अपने कर्तव्य-कर्मको करके संतोषपूर्वक विश्राम करें।

महात्मा सुकरात

[जन्म—ईसापूर्व ४७० वर्ष, स्थान एथेन्स नगर। पिताका नाम—सोफ्रोनिसकस। माताका नाम फायनेरेट। मृत्यु—ईसापूव ३९९ वर्ष।]

(प्रेषक—श्रीकृष्णबहादुर सिन्हा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

'हमारा ध्येय सत्य होना चाहिये न कि सुख।'

'किसी वस्तुका निर्णय करनेके लिये तीन तत्त्वोंकी आवश्यकता होती है—अनुभव, ज्ञान और व्यक्त करनेकी क्षमता।'

'अच्छा जीवन, ज्ञान और भावनाओं तथा बुद्धि और सुख दोनोंका सम्मिश्रण होता है।'

'हमारी आत्मा अमर है'·····'क्या तुम जानते हो कि आत्मा अमर है और अनश्वर है ! ग्लाकन (शिष्यका नाम) ने आश्चर्यसे मेरी ओर दृष्टिपात किया और कहा—'भगवन् ! नहीं, क्या आप सिद्ध कर सकते हैं !'

'वृद्ध पुरुषोंसे पूछ-ताछ करना परम हितकारी है; क्योंकि उनको मैं उन यात्रियोंके समान समझता हूँ जो लम्बा मार्ग तय कर चुके हैं और शायद उसी मार्गपर हम सबको जाना है।'

'दार्शनिक कौन है ! जिसको प्रत्येक प्रकारके ज्ञानको प्राप्त करनेका ज्वर होता है, जिसको सदा जाननेकी इच्छा बनी रहती है और जो कभी संतुष्ट नहीं होता है, वही सच्चा दार्शनिक है।'

'जो सत्यकी झलकके प्रेमी हैं वही सच्चे दार्शनिक हैं।'

यूनानके संत एपिक्यूरस

[काल—ईसापूर्व वर्ष ३४२—२७०]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

जिस समय हमलोग कलह-विवाद करते हैं, परस्परकी हानि करते हैं, क्रोधसे उन्मत्त होते हैं, उग्र चण्डमूर्ति धारण करते हैं, उस समय हमलोग कितना नीचे गिर जाते हैं ! उस समय हमलोग हिंस्र पशुओंके समान हो जाते हैं !

लोगोंकी क्या भलाई करोगे ! तुमने क्या अपनी कुछ भलाई की है !

दूसरेके दोषका क्या संशोधन करोगे ! अपने दोषका क्या संशोधन किया है !

तुम यदि उन लोगोंकी भलाई करना चाहो तो उनके पास जाकर बहुत-सा बकवाद मत करना, बल्कि तत्त्वज्ञानकी शिक्षाके फलसे किस प्रकार मनुष्य तैयार होता है, उसीका उदाहरण अपने जीवनमें दिखाओ। जो लोग तुम्हारे साथ भोजन करते हैं, वे जिसमें तुम्हारा भोजन देखकर अच्छे हो सकें, जो तुम्हारे साथ पान करते हैं, वे जिसमें तुम्हारा पान करना देखकर अच्छे हो सकें, तुम वैसा ही करो।

आत्म-त्याग स्वीकार करो, सबको रास्ता दे दो, सबकी बातों और आचरणोंको सह लो, इसी प्रकारसे तुम उन लोगोंकी भलाई कर सकोगे। उन लोगोंके ऊपर क्रोध उगलकर, उनपर कटु वाक्योंकी वर्षा करके तुम उन लोगोंकी भलाई नहीं कर सकोगे।

'मेरी जो इच्छा है, वही हो'—इस प्रकार आकाङ्क्षा न करके यदि तुम ऐसा विचार करो कि 'चाहे जैसी घटना हो, मैं उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करूँगा' तो तुम सुखी होगे।

दूसरे किसी आदमीके दोषसे तुम्हारा अनिष्ट होगा, ऐसा अपने मनमें मत सोचो।

अपनेको तत्त्वज्ञानी कहकर कभी प्रसिद्ध मत करो, दूसरे साधारण लोगोंके सामने तत्त्वज्ञानकी बातें अधिक मत बोलो, तत्त्वज्ञानके जो उपदेश हैं, उन्हें तुम कार्यमें परिणत करो।

जिनसे हमलोगोंका कोई लगाव नहीं है, उन्हीं विषयोंसे हमलोग प्रकृतिका अभिप्राय जान सकते हैं। जब कोई बालक दूसरे किसी बालकका प्याला तोड़ डालता है, तब हम लोग स्वभावतः यही कहते हैं—'वह संयोगसे टूट गया' अतएव दूसरेका प्याला टूटनेपर तुम जिस भावसे देखते हो, अपना प्याला टूटनेपर भी तुम्हें उसी भावसे देखना उचित है। और भी बड़े-बड़े विषयोंमें इसका प्रयोग करो। किसी दूसरेका लड़का अथवा स्त्री मर गयी है, यह सुनते ही कौन नहीं कहेगा—'यह विधाताका अलङ्घनीय नियम है, यही मनुष्योंकी साधारण गति है।' किंतु तुम्हारा अपना लड़का अथवा तुम्हारी अपनी स्त्री मृत्यु-मुखमें पड़ती है, तब तुम कहते हो—'हाय ! मैं कैसा अभागा हूँ' किंतु ऐसे समयमें एक बार तुम्हें यह विचार कर देखना चाहिये कि दूसरेके अवसरपर तुमने किस प्रकार विचार किया था। प्रकृतिका नियम सबके लिये ही समान है।

रोमके संत मारकस अरलियस

(पितृदत्त नाम—एनियस वेरस, जन्म—ईसापूर्व १८० वर्ष, अप्रैल महीने, देहान्त—१२१ वर्ष ईसापूर्व, १० मार्च)

प्रत्येक कार्य करते समय उसे अपने जीवनका अन्तिम कार्य समझना चाहिये। इसी प्रकार जीवनके प्रत्येक दिनको अपना अन्तिम दिन जानना चाहिये।

सज्जन ही ईश्वरीय कार्योंकी पूर्तिमें योग देता है और धर्माचरण सिखाता है।

छोटे-से-छोटा कार्य भी करना चाहिये तथा वस्तुओंके लौकिक और अलौकिक रूपके प्रति सदा सावधान रहना चाहिये।

यदि आप लँगड़े और असमर्थ हैं तो दूसरोंकी सहायता और कृपासे सत्कार्यके लिये दीवालपर चढ़नेमें लज्जाका अनुभव नहीं करना चाहिये।

संत पाल

(जन्म—साईलीसियाके अन्तर्गत टारससमें । पिताका नाम— पॉलस । ईसाके समसामयिक ।)

यह जान लो कि तुम ईश्वरके मन्दिर हो, तुममें ईश्वरका अंश है । यदि कोई ईश्वरके मन्दिरका नाश करता है तो वह नष्ट हो जाता है । ईश्वरका मन्दिर पवित्र होता है और वह तुम्हीं हो ।

उदारता बिना विश्वास और आशाके ठहर ही नहीं सकती । इन तीनों दिव्य सद्गुणोंमें जो अमूल्य रूपसे ईश्वरीय कृपाके फलस्वरूप न्यायतः हमें प्राप्त हैं, उदारता सर्वश्रेष्ठ है और शाश्वत—अमर जीवन ही उसका पुरस्कार है ।

इसके अतिरिक्त, मैं एक सर्वोत्तम मार्ग दिखाता हूँ । यदि मैं मानव और देवदूतकी तरह मधुर वाणी बोलता हूँ और उदारतासे शून्य हूँ तो मैं पीतलकी झनझनाहट और करतालकी खनखनाहटके समान हूँ । यदि मैं भविष्य-कथनमें योग्य हूँ, सारे रहस्य और ज्ञान समझता हूँ और पहाड़ोंको स्थानान्तरित करनेका मुझमें सुदृढ़ विश्वास है, पर उदारता नहीं है, तो मैं कुछ भी नहीं हूँ ।

उदारता सहनशीलता और दयाका नाम है । उदारता ईर्ष्या, दिखावे, अहंता, दुर्व्यवहार, स्वार्थ, जलन और दुराचारणसे परेकी वस्तु है । वह दुष्टतापर गर्वित नहीं होती है, सत्यसे आनन्दित रहती है, कार्योंमें उसकी स्वाभाविक रुचि होती है, वह सबका विश्वास करती है, सबसे आशा रखती है और सबका साथ निबाहती है ।

पैलस्टाइन (गैलिली) के संत फिलिप

(महात्मा ईसाके सम-सामयिक)

हे आनन्दोंके आनन्द, परमानन्दस्वरूप परमेश्वर ! आपके बिना किसी आनन्दकी सत्ता ही नहीं है, आप सच्चिदानन्द हैं । मैं आपको कब प्राप्त करूँगा !

हे समस्त गुणोंकी निधि परमेश्वर ! आप मुझे अपने सौन्दर्य और ऐश्वर्यकी कुछ किरणोंसे ही धन्य कर दें—कृतार्थ कर दें ।

मेरे हृदयमें निरन्तर आपके प्रेमकी ज्वाला जलती रहे तथा आपमें ही लीन होनेकी मेरी उत्सुकता बनी रहे ।

आपको प्रत्यक्ष देखने, रात-दिन आपके ही भजन और कीर्तनमें लगे रहने, आपके दिव्य ऐश्वर्य और आनन्दका रसास्वादन करते रहने, सदा आपके प्रेममें ही आसक्त रहने और किसी-न-किसी अंशमें आपके स्वरूपभूत हो जानेकी ही मेरी परम इच्छा है ।

पैलस्ताइनके संत पीटर बालसम

(जन्म-स्थान—एल्यूथिरोपोलिस प्रान्तका एक ग्राम । अस्तित्वकाल ३११ ई० के लगभग ।)

मैं ईश्वरीय शासनके नियम मानता हूँ । ईश्वर ही समस्त लोक-लोकान्तरके अधिपति हैं ।

मुझे लोहेके अंकुशसे छेदकर टुकड़े-टुकड़े भले ही कर दो, पर मैं *आसुरी शक्तिके सामने कभी मस्तक नत नहीं* करूँगा । मैं ईश्वरके लिये सर्वस्व स्वाहा कर दूँगा ।

मैंने ईश्वरसे निवेदन किया है; मेरी सदा यही याचना रहेगी कि मैं आजीवन उनके ही लोकमें निवास करूँ ।

सीरियाके संत इफ्रम

(काल—ईसाकी चतुर्थ शताब्दी)

मैंने कभी धनका संचय नहीं किया । मैंने धरतीपर भी अपना कोई राज्य स्थापित नहीं किया, मेरे हृदयमें सोने और चाँदीके लिये कोई वासना नहीं है, किसी भी सांसारिक पदार्थमें मेरी रुचि नहीं है ।

जिनके हृदयमें कृपा है वे मुझपर कृपा करें। मेरी दिखावटी पोशाकको हटा दीजिये तो आप देखेंगे कि मेरा शरीर कीड़ोंसे भरा हुआ है, उसमें आपको मलिनता—अपवित्रता और दुर्गन्धका ही दर्शन होगा। मेरे तनको ढकनेवाले छद्म और छलका परदा उठते ही आप मुझे एक कुरूप और वीभत्स शवके रूपमें देखेंगे।

अपने आगेकी पीढ़ीके सत्यप्रेमियोंके लिये मेरा यही संदेश है कि रात-दिन परमेश्वरके भजनमें लगे रहना चाहिये, जिस प्रकार कड़े श्रमके परिणामस्वरूप किसान अच्छी फसल काटता है, उसी प्रकार अविच्छिन्न भगवद्भक्तिसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है। अनवरत ईश्वरका भजन करते रहना चाहिये।

सीरियाके संत थैलीलियस

मैं अपने पापी शरीरको इसलिये यातना दे रहा हूँ कि ईश्वर मेरे क्लेश और सङ्कटसे द्रवीभूत होकर मेरे पाप क्षमा कर दें तथा मुझे मिलनेवाले जन्मके दुःखोंसे मुक्त कर दें या उन्हें कम कर दें।

ईश्वरकी दयासे आत्मसंतोष और पश्चात्तापके लिये हमें समय मिला हुआ है, यदि हम उपेक्षा करते हैं तो यह हमारे लिये बड़े अभाग्य और दुःखकी बात है।

संत ग्रेगरी

(फारस—कैपोडोसियाके संत। अस्तित्वकाल ३३०—३९१ ई० के लगभग।)

सांसारिक वैभव और विपत्तिको हमें कभी वास्तविक रूप तथा महत्त्व नहीं देना चाहिये। हमें अपना ध्यान दूसरी ओर रखना चाहिये। *हमारी दृष्टि सदा स्वर्गपर रहनी* चाहिये। इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि पाप ही सबसे बड़ा दुर्गुण है और पुण्योंसे परमात्माकी प्राप्ति होती है।

परमात्मामें ही हमें पूर्ण आत्मसमर्पण करना चाहिये जिससे हम सदा पूर्ण रूपसे उन्हींमें अवस्थित रहें।

हमें सदा परमात्माके ही गुणोंका स्तवन करना चाहिये।

वे हमारी समस्त इच्छाओंको बहुत मूल्यवान् समझनेकी कृपा करते हैं। उनकी यह बहुत बड़ी इच्छा रहती है कि हम उन्हें चाहें तथा उनसे प्रेम करें। हम उनसे जब वस्तुओंके लिये कृपायाचना करते हैं, तब वे इसे अपने ही प्रति की गयी कृपा समझते हैं; मानो ऐसा करके हम लोगोंने उन्हींका उपकार किया है। उनसे याचित वस्तु पाकर हमें जितनी प्रसन्नता होती है, उससे कहीं अधिक प्रसन्नता उस वस्तुको हमें देनेमें उन्हें होती है। हमें इस बातके लिये सदा सावधान रहना चाहिये कि हम परमात्मासे तुच्छ वस्तुओंके लिये प्रार्थना न करें या अपनी इच्छाओंको संकुचित और सीमित न कर दें। हमें उनसे असार—तुच्छ वस्तुओंकी याचना नहीं करनी चाहिये, यह माँग उनकी उदारताके अनुकूल नहीं हो सकती। उनकी दृष्टिमें कोई भी ऐसी बड़ी वस्तु नहीं है जिसे साधारण-से-साधारण मनुष्य या बड़े-से-बड़ा सम्राट् अथवा महान्-से-महान् विद्वान् अर्पित न कर सके। परम पवित्र और पूर्ण प्रेमसे अपने-आपको परमात्माके चरणोंपर समर्पित कर देना चाहिये।

अलेक्जन्ड्रियाके संत मैकेरियस

(काल—ईसाकी चतुर्थ शताब्दी)

परधाममें ईश्वर और उनके देवदूतोंके पास पहुँचनेपर इस बातका स्मरण रखना चाहिये कि संसारमें फिर न आना पड़े; संसारके पदार्थोंको महत्त्व नहीं देना चाहिये।

संत आगस्तीन

(पश्चिमके विशप और डाक्टर जन्म–१३ नवम्बर । सन् ३५४, टगास्टी (अफ्रीका) । पिताका नाम–पैट्रीशियस । माताका नाम–मोनिका । मृत्यु–सन् ४३०)

हे नित्यनवीन–अनादि सौन्दर्यके मूल अधिष्ठान परमेश्वर ! अपने समयका अधिकांश खो देनेके बाद मैंने आपको अपना प्रेमास्पद स्वीकार किया है । आप निरन्तर मुझमें विद्यमान थे, पर मैं आपसे दूर था । आपने मुझे अपने पास बुलाया, पुकारा और मेरा बहिरापन नष्ट कर दिया । आपने मेरा स्पर्श किया और आपके प्रेमालिङ्गनकी आकाङ्क्षा मेरे मनमें उदय हुआ । वह आपको कम चाहता है जो साथ-ही-साथ अपने मनमें किसी दूसरी वस्तुकी, जो आपकी पूजाके लिये नहीं है—अभिलाषा रखता है । हे प्रेमस्वरूप परमेश्वर ! अनन्त-शाश्वत ज्योतिःस्वरूप देव !! मेरे हृदयमें कृपापूर्वक अपनी अविनश्वर प्रेम-ज्योति भर दीजिये ।

मेरे लिये विरक्तिमें रहना श्रेयस्कर है, मैं विरक्तिमें स्वस्थ रहता हूँ; क्योंकि परमेश्वरने मेरे लिये इसीका विधान किया है । यदि हम उनकी इच्छाके विपरीत स्थितिका वरण करेंगे तो हम अपराधी हैं, ईश्वरने तो हमारे लिये उसी स्थितिकी व्यवस्था की है जो उनकी सत्य समझमें सर्वथा उचित और न्यायपूर्ण है ।

देवी सिंक्लेटिका

(जन्म-स्थान—अलक्जेन्ड्रिया नगर (मिश्रदेश), समय चतुर्थ शताब्दी ।)

अरे, हमलोग कितने हर्षित और प्रसन्न होते यदि हमने दिव्य धाम और ईश्वरके लिये उतने प्रयत्न किये होते जितने संसारी लोग धन-संचय और नश्वर पदार्थोंके लिये करते हैं ।

पृथ्वीपर वे डाकुओं और चोरोंका सामना करते हैं; समुद्रमें अपने-आपको अंधड़ और तूफानके सम्मुख झोंक देते हैं; उनके जहाज नष्ट हो जाते हैं, वे संकटोंको सहन करते हैं; अपने जीवनकी बाजी लगा देते हैं; सब कुछ स्वाहा कर देते हैं पर हमलोग इतने महान् और शक्तिमान् स्वामी (ईश्वर) की सेवा तथा अमूल्य पदार्थ (परम धन) की प्राप्तिमें विघ्न-बाधाओंसे भयभीत हो जाते हैं ।

हमें सावधान और सचेत रहना चाहिये । हम अनवरत युद्धमें संलग्न हैं । यदि हम सावधान नहीं हैं तो शत्रु किसी भी समय आक्रमण कर सकता है ।

कभी-कभी जहाज झंझावात और अंधड़मेंसे सुरक्षित निकल आता है, पर यदि शान्तिकालमें भी नाविक उसपर विशेष ध्यान नहीं रखता है तो झंझावातके एक झोंकेसे ही वह (जहाज) डूब सकता है ।

एक अज्ञात समुद्रके समान इस जीवनमें हमारी यात्रा हो रही है । हमारे मार्गमें चट्टान, रेत और दलदल पाये मिलेंगे । कभी-कभी हमारी यात्रा शान्तिपूर्ण और निर्विघ्न होती है और कभी-कभी हम तूफानद्वारा इधर-उधर बहा दिये जाते हैं । ······हम कभी सुरक्षित नहीं हैं, कभी संकटमुक्त नहीं हैं; यदि हम सो जायँगे तो निश्चित नष्ट हो जायँगे ।

संत वरनर्ड

(काल—सन् १०९१–११५३ ई०)

जो मनुष्य अपने बड़े कामोंमें व्यस्त रहता है तथा उसके भीतर क्या हो रहा है—इसकी ओर ध्यान नहीं देता है, वह समझता है कि मैं ही सब कुछ हूँ पर वास्तवमें वह कुछ भी नहीं ।

[illegible] उसके सब बड़े कामोंमें रहती है, वह संतोष कर लेता है—अपने मन-ही-मन सोचता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, ठीक है; न तो उसका ध्यान इस ओर जाता है और न वह समझता ही है कि कोई गुप्त कीड़ा—दोष अपना [illegible] उसे निर्बल तथा कमजोर बनाता जा रहा है । ऐसा [illegible] करता है, अपने जीवनको धार्मिक [illegible]

बनाता है, पवित्रता और तपस्यासे जीवन बिताता है पर ईश्वरकी उसके लिये यही घोषणा है कि वह मुझसे दूर ही है। वह मनुष्य बाह्यरूपसे साधना, तपस्या और व्रत-पालनमें केवल हाथका उपयोग करता है, उसका हृदय तो नितान्त नीरस और कठोर होता है। उसके सारे कर्मोंकी पूर्ति स्वाभाविक रूपसे किसी विशेष नियम या संयमके अन्तर्गत होती है, वह अपना कोई भी कार्यक्रम अधूरा नहीं छोड़ता है, पर अपने छोटे-से-छोटे लाभके लिये वह अमूल्य-से-अमूल्य पदार्थकी हानि कर बैठता है। वह अपनी इच्छाका दास बना रहता है, कामना, तुच्छ तथा नश्वर वैभव और धन-लिप्साका शिकार हो जाता है। इनमेंसे किसी-न-किसी या प्रायः सारे दुर्गुणोंसे उसका हृदय आक्रान्त रहता है।

संत फ्रांसिस

(असीसीसाईके महात्मा। जन्म ११८२, मृत्यु १२२६ ई०)

प्रभो! मुझे अपनी शान्तिका साधन बना। द्वेषकी जगह मुझे प्रेमका बीज बोने दे। अत्याचारके बदले क्षमा, संदेहके बदले विश्वास, निराशाके स्थानपर आशा, अन्धकारकी जगह प्रकाश और विषादकी भूमिमें आनन्दका निर्माण करनेकी शक्ति मुझे दे।

भगवन्! दया करके मुझे वह शक्ति दे कि किसीको मेरी सान्त्वनाकी आवश्यकता ही न पड़े। लोग मुझे समझें, इसकी जगह मैं ही उनको समझूँ; लोग मुझे प्यार करें, इससे पहले मैं ही उन्हें प्यार करूँ। हमें प्राप्त वही होता है जो दिया जाता है। क्षमा करनेसे ही मनुष्य क्षमाका पात्र बनता है और आत्मोत्सर्गमें ही नित्य-जीवनका मार्ग निहित है।

संत एडमंड

(आर्चबिशप ऑफ केन्टरबरी। पिताका नाम—रेनाल्ड रिच, माताका नाम—मेबिलिया, स्थान—बकशायर (एबरिंगडन), मृत्यु—१६ नवम्बर, सन् १२४२ सोयसीमें।)

हजारों मनुष्य प्रार्थनाके समय अनेक उद्गार प्रकट कर धोखा खाते हैं। पाँच हजार शब्दोंकी अपेक्षा सच्चे भावसे हृदयसे निकले केवल पाँच शब्दोंका ही प्रभाव विशेषरूपसे पड़ता है। मनुष्य जिन शब्दोंको मुखसे निकालता है, उनकी वास्तविकताका अनुभव उसे अपने हृदयमें करना चाहिये।

परमेश्वर! मैंने आपमें विश्राम किया है। लोगोंको मैंने आपकी आराधना और उपासनाकी सीख दी है। आप इस बातके साक्षी हैं कि मैंने पृथ्वीपर आपको छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहा है। आप जानते ही हैं कि मेरा हृदय सदा आपकी इच्छाके अनुरूप आचरण करना चाहता है, इसलिये मेरी हार्दिक अभिलाषा पूर्ण करनेकी कृपा कीजिये।

साध्वी एलिजावेथ

(जन्म—सन् १२०७, हंगरीमें। पिताका नाम—हंगरी-नरेश सिकन्दर द्वितीय, माताका नाम—रानी गरट्रूड (Gertrude), पतिका नाम—लुई, मृत्यु—१९ नवम्बर १२३१ ई०।)

हे प्राणेश्वर! मुझे इस योग्य बना दीजिये कि मैं आपको छोड़कर किसी भी अन्य वस्तुसे, जो आपके लिये न हो, प्रेम न करूँ। हे परमेश्वर! आपकी मधुर इच्छाके अतिरिक्त मेरी अन्य वस्तुएँ मेरे लिये क्लेशकारिणी और अरुचिकर हों, यदि वे आपकी पूजामें काम न आ सकें।

देव! जो आपकी इच्छा है, वही मेरी इच्छा हो। जिस प्रकार परधाममें आपकी ही इच्छाके अनुरूप नियमपूर्वक सारे कार्य सम्पन्न होते रहते हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर सभी [illegible] तथा विशेषरूपसे मेरे द्वारा आपकी मधुर इच्छाकी नियमपूर्वक पूर्ति होती रहे। प्रेम निश्चयरूपसे [illegible] है; निश्चयके [illegible] है।

परमेश्वर! मैं पूर्णरूपसे अपने-आपको आपके हाथमें

सौंपती हूँ। मैं हृदयसे समस्त ऐश्वर्य और समृद्धिका त्याग करती हूँ। यदि मेरे पास लोक-लोकान्तरका साम्राज्य होता तो मैं उसे छोड़कर दीनता और विरक्तिके सहारे आपका ही आश्रय ग्रहण करती। आप मेरे लिये स्वयं दैन्यका वरण करते रहते हैं।

हृदयेश्वर! मैं आपको बहुत चाहती हूँ। यह सच है कि आपके प्रेमको पानेके लिये पवित्र मनसे दैन्यको ही अपनाती हूँ; क्योंकि दैन्य आपको अत्यन्त प्रिय है। देव! मैं अपने अहंकारको छोड़ती हूँ जिससे मैं आपमें ही स हो जाऊँ और मेरा अहंकार—त्याग आपकी प्रसन्नत कारण बने।

प्रियतम! मेरे परमेश्वर! आप पूर्णरूपसे मेरे हो ज और मैं पूर्णरूपसे आपकी हो जाऊँ। मुझे सर्वाधिक प्रेम के आपसे ही करने दीजिये। मुझे अपने आपसे भी आप (ईश्वर तथा आपमें परिव्याप्त समस्त वस्तुओंके लिये ही प्रेम क दीजिये। मैं एकाग्रचित्त और हृदयसे आपको ही प्रेम करें

टॉमस अकिनस

(जन्म—ईस्वी सन् १२२६ के अन्तिम चरणमें। पिताका नाम—लेण्डल्फ, काउन्ट ऑफ अकिनस। माताका नाम—थियोडे देहान्त—७ मार्च, १२७४ ई०।)

मृत्यु-समयकी वाणी

शीघ्र, अति शीघ्र, आनन्दमय प्रभु मुझपर कृपा-दृष्टि करें, मेरी सारी कामनाएँ पूरी होंगी। मैं उनमें लीन होकर पूर्ण तृप्त हो जाऊँगा। मैं उनके आनन्दमें सम्प्लावित हो उठूँगा। उनके परम धामकी समृद्धिसे उन्मत्त हो जाऊँगा। मैं अपने जीवनमूल—परमात्मामें सत्यके प्रकाशका दर्शन करूँगा।

मैंने प्रभुसे सदा यही याचना की थी कि सीधे-स आचारनिष्ठ प्राणीकी तरह इस संसारसे पार हो जाऊँ अ अब मैं इसके लिये उनको धन्यवाद देता हूँ।'''' उन्होंने अपने अन्य सेवकोंकी अपेक्षा मुझपर विशेष कृपा क है कि इतने शीघ्र इस असार-संसारसे मुक्त कर मुझे अप आनन्दधाममें बुलाया है। मेरे लिये कोई दुखी न हो, आनन्दविभोर हूँ।

संत लेविस

(टोलोसीके बिशप—जन्म—ई०सन् १२७४ ब्रिगनोलेस प्रान्तमें। पिता नेपल्स और सिसलीके राजा चार्ल्स द्वितीय। माताक नाम—मेरी (हंगरीके राजाकी पुत्री)। मृत्यु—१९ अगस्त, १२९७)

भगवत्सेवा ही जिनका कर्म है, उनके लिये विपत्ति बड़े लाभकी वस्तु है; इससे हमें सहनशीलता, विनम्रता और भगवच्छरणागतिकी शिक्षा मिलती है। हमारे भीतर समस्त सद्गुणोंका सुचारु रूपसे अभ्यास बढ़ता है। सम्पत्तिके मदसे जीवात्मा अन्धा, उन्मत्त और चञ्चल हो जाता है। धन और वैभवके उन्मादमें वह अपने-आपको तथा ईश्वरको भूल जाता है। इससे वासनाएँ बलवती होती हैं, अहंकार बढ़ता है और मन स्वार्थसे आक्रान्त हो जाता है।

साध्वी कैथेरिन

(जन्म—सन् १३४७ ई० इटलीका सायेना नगर, देहत्याग—२९ अप्रैल सन् १३८० ई०)

जो जीव आत्मविस्मृत होकर एवं समस्त संसारको भुलाकर केवल स्रष्टाकी ओर दृष्टि रखता है, वही सिद्ध है।

जो जीव अपने तन-मनकी अयोग्यता और निर्बलताको समझ सकता है और उसके लिये 'जो कुछ भी सुखदायक या मङ्गलकारी है वह सब उसे ईश्वरसे प्राप्त होता है' ऐसा अनुभव करता है, वही सर्वभावसे ईश्वरको आत्म-समर्पण कर सकता है और वही परमात्मामें तल्लीन हो सकता है।

जो जीव ईश्वरके साथ योगयुक्त होकर जितना उनसे मिल सकता है, उतना ही वह अपने पापों और मलिन भावों-

की तरफ घृणा प्रकट कर सकता है। जिसके हृदयमें अपने पापों और मलिन भावोंके प्रति घृणा उत्पन्न नहीं होती, उस-के हृदयमें ईश्वरका प्रेम संचरित नहीं होता, यह निश्चित बात है।

तुम विनयी बनो। परीक्षा और दुःखके समय सहिष्णुता रक्खो। सौभाग्यके समय गर्वमें फूल न जाओ। अपने-आप-को सर्वदा संयम और शासनमें रक्खो। इस प्रकार आचरण करनेमें तुम ईश्वर और मनुष्योंके प्रियपात्र बन सकोगे।

थोमस ए केम्पिस

[काल सन् ११८०–१४७१ ई०]

(प्रेषिका—बहिन श्रीकृष्णा सहगल)

वाणीका दुरुपयोग

यदि बोलना उचित और आवश्यक ही मालूम पड़े तो ऐसी चीजोंके बारेमें बोलो, जिनसे आत्माकी उन्नति होती है। शब्दोंका अपव्यय और आत्म-निरीक्षणका अभाव ही मुखका बुरा उपयोग करना सिखाते हैं। हाँ, आध्यात्मिक सत्सङ्ग और चर्चासे आत्मिक उन्नतिमें बड़ी सहायता मिलती है।

आत्माकी प्यास बड़ी-बड़ी बातोंसे नहीं बुझती, सदाचार-मय जीवनसे ही मनको शक्ति मिलती है। पवित्र और शुद्ध अन्तःकरण ईश्वरमें हमारे विश्वासको दृढ़ करता है।

तेरे असंयमित और बेकाबू मनोविकारोंसे अधिक तेरी उन्नतिमें बाधक और तुझे दुःख देनेवाली और कौन चीज है ? जब कोई आदमी किसी वस्तुकी अनुचित वाञ्छा करता है या उसके प्रति अपवित्र आग्रह करता है तो उसका हृदय अशान्त हो जाता है। वासनाओंकी विजयसे ही हृदयको शान्ति मिलती है, न कि उनके अधीन होनेसे।

अपनेको बहुत बड़ा बुद्धिमान् न समझ लो बल्कि अपने अज्ञान और अपनी छोटाईको स्वीकार करते रहो। हम सभी अत्यन्त निर्बल प्राणी हैं; किंतु तुम अपनेसे अधिक निर्बल और किसीको न समझो।

सत्कर्मोंपर गर्व मत करो। मनुष्यका निर्णय कुछ होता है, ईश्वरका मन कुछ होता है। प्रायः जो बातें हमें प्रिय लगती हैं, वही भगवान्‌को अप्रिय होती हैं। अपनी योग्यता या चतुराईपर घमंड न करो, इससे तुम भगवान्‌को अप्रसन्न करोगे, स्मरण रक्खो कि तुम्हारे अंदर जो कुछ अच्छा है, सब भगवान्‌ने ही तुम्हें दिया है।

आज्ञा-पालन और अधीनता

मैंने प्रायः सुना है कि उपदेश और सलाह देनेकी अपेक्षा, दूसरोंके उपदेश सुनना और सलाह लेना ज्यादा कल्याणकारी है। मनुष्यके लिये यह एक बहुत अच्छी बात है कि वह एक पथ-प्रदर्शककी आज्ञाकारितामें रहे और उसके आदेशानुसार जीवन व्यतीत करे, न कि मनमाना चले। उच्छृङ्खल होनेकी अपेक्षा अधीनतामें रहना कम खतरनाक है।

प्रत्येक मनुष्यको अपना हृदय मत दिखाओ। जो विवेकी है और भगवान्‌से डरता है, उसके सामने अपनी समस्याएँ रक्खो।

जो व्यक्ति अधीन रहना तथा प्रसन्नतापूर्वक आज्ञापालन करना नहीं जानता, वह भलीभाँति योग्यतापूर्वक शासन भी नहीं कर सकता।

नित्य-साधना तथा शान्ति और कल्याणके उपाय

यदि तू सर्वदा आत्मपरीक्षा नहीं कर सकता तो प्रति-दिन एक बार प्रातः या सायंकालमें तो अवश्य आत्मदर्शन-में प्रवृत्त हो।

अपनी आँखें अपनी ओर फेर; दूसरोंके कर्मोंका निर्णायक (जज) मत बन। दूसरोंसे अपनेको अच्छा मत समझ। कौन जाने भगवान्‌के सम्मुख तू ही सबसे बुरा निकले; क्योंकि वह तो मनुष्यके भीतरकी सब बातें जानता है।

यदि हम जीवन-युद्धमें भलीभाँति वीरोंकी तरह धर्मयोद्धाओं-की भाँति दृढ़तापूर्वक खड़े हों तो हम देखेंगे कि स्वर्गसे ईश्वरकी सहायता हमें मिल रही है; क्योंकि ईश्वर उनकी सहायताके लिये सदा तैयार रहता है जो उसके लिये लड़ते हैं और उसकी [illegible] जिनका विश्वास है। वह हमें यह

भी इसीलिये देता है कि हमें (बुराइयों और कठिनाइयोंसे) युद्ध करनेका अवसर मिले और हम उनपर विजय प्राप्त कर सकें।

× × ×

पर-छिद्रान्वेषण

दूसरेके दोष और कमजोरियोंको, चाहे वे किसी प्रकारकी हों, सहन करने और निभानेमें धीर और सहनशील होनेका अभ्यास कर; कारण, तुझमें बहुत-सी ऐसी कमजोरियाँ हैं जो दूसरोंको सहनी पड़ती हैं। जब तू अपनेको ही अपनी इच्छाके अनुकूल नहीं बना पाता है तो दूसरोंसे अपने इच्छानुसार बन जानेकी आशा कैसे रख सकता है ? हम लोग प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक दूसरोंको पूर्ण बनानेकी इच्छा करते हैं, किंतु अपने दोषोंको दूर नहीं करते। दूसरेके दोषोंपर शासन करना चाहते हैं, पर स्वयं शासित होनेकी बात हमारे मनमें नहीं आती। हम दूसरोंकी दुर्बलता, छूट और अपरिचित स्वाधीन आचरणसे असंतुष्ट और दुखी होते हैं, किंतु अपने लिये तो हम जो कुछ करते हैं, उसमेंसे किसी बातके लिये इनकार सुनना पसंद नहीं करते। दूसरोंको इस कठिन व्यवस्थाके अधीन रखना चाहते हैं; किंतु अपने किसी व्यवस्थाके अधीन नहीं होना चाहते।

प्रभुके साथ घनिष्ठ मैत्री एवं प्रेम

जो प्रभुको प्राप्त कर लेता है, वह संसारका सर्वोत्कृष्ट धन और वैभव प्राप्त कर लेता है और जो प्रभुको खो देता है वह सभी कुछ खो देता है। जो प्रभुसे हीन है, वही दरिद्र है और जो उसके साथ आलाप करता है वही सच्चा धनी है।

किस प्रकार प्रभुसे बातचीत की जाती है, इसे जानना ही विज्ञता है और किस प्रकार प्रभुको हृदयमें प्रत्यक्ष करना, यह जानना ही परम ज्ञानका विषय है।

कष्टोंसे पराजित और निराश न हो, वरं भगवान्की इच्छापर अपनेको सम्पूर्णतया छोड़ दे। जो भी कष्ट-दुःख आ पड़े, उसे प्रभुकी महिमाके लिये चुपचाप सहन कर। यह याद रख कि शिशिरके बाद वसंत, रातके बाद दिन और तूफानके बाद शान्तिका आगमन अवश्य होता है।

यदि तू केवल भगवान्की इच्छा-पूर्ति और पड़ोसियोंके कल्याणकी चेष्टा करनेमें लग जाय तो निश्चय ही तू आन्तरिक स्वाधीनता प्राप्त करनेमें समर्थ होगा। यदि तेरा हृदय सरल एवं पवित्र हो तो संसारका प्रत्येक प्राणी तेरे लिये जीवनका दर्पण और पवित्र ग्रन्थके सदृश अनुभव होगा। संसारकी कोई वस्तु इतनी क्षुद्र और अपदार्थ नहीं कि उसमें भगवान्की विभूति वर्तमान न हो।

× × ×

बातचीत आरम्भ होनेपर शब्दोंके अपव्ययको रोकनेकी अपेक्षा मनुष्यके लिये एकदम मौन रहना सदा ही अधिक सरल है। बाहर प्रलोभनोंसे अपनी रक्षा करनेकी अपेक्षा घरमें एकान्त-सेवन करना अधिक सरल है। इसलिये जो आत्मिक एवं आध्यात्मिक उन्नतिके अभिलाषी हैं, उनका जन-समाजसे दूर रहना आवश्यक है।

सानन्द बाहर जानेपर भी कभी-कभी दुःखके साथ घर लौटना पड़ता है। संध्याकालके आमोदके बाद कई बार प्रातःकाल दुःखका संदेश लिये हुए आता है। शारीरिक सुखका यही हाल है; वह मृदु हँसी हँसते-हँसते आता है, किंतु अन्तमें अपने तीव्र दंशनसे डँसता और मार डालता है।

दार्शनिक संत पिकस

(मिरन्डुलाके राजकुमार, जन्म—१४६२ ई०, मृत्यु—१४९४ ई०।)

संसारके बहुत-से लोगोंका यह विचार है कि मान प्रतिष्ठा, अधिकार और राजकीय भोग विलासमें ही जीवनका सर्वोत्कृष्ट सुख सन्निहित है। मुझे इनका विशेष अनुभव है, ये मेरे जीवनके विशेष अङ्ग थे। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि मेरे आत्माको इनमेंसे एकसे भी शान्ति और संतोषकी प्राप्ति न हुई। मुझे एकान्त और ईश्वरके चिन्तनमें ही आनन्द मिल सका।

मेरा ऐसा मत है कि यदि सीजर (रोमके सम्राट्) अपनी समाधिसे बोल सकते तो वे यही कहते कि [illegible], हमलोगोंसे, जो जगत्के राजकार्यमें तत्पर थे, एकान्तमें रहनेवाले कहीं अधिक प्रसन्न और सुखी हैं। यदि मृत प्राणी जीवित हो सकते तो वे दूसरी मृत्युकी यन्त्रणा तत्काल स्वीकार कर लेते, पर सांसारिक कार्यों और मान प्रतिष्ठामें पड़कर अपनी मुक्तिको—आध्यात्मिक शान्तिको खतरेमें न डालते।

संत एगनाशियस लायला

(जन्म–ई० सन् १४९१ स्थान लायलामें। पिताका नाम–डॉन बट्राम। माताका नाम–मेरी। मृत्यु–३१ जुलाई सन् १५५६)

हमारे लिये परमात्माने जो विधान निश्चित किया है, उसीके अनुरूप हमें आचरण करना चाहिये। हमें दूसरा रास्ता, यह बहाना कर कि यही सुरक्षित और सुविधापूर्ण है, नहीं अपनाना चाहिये। शैतान अपनी कलासे जीवके सम्मुख एक स्थिति उत्पन्न कर देता है, जो पवित्र होते हुए भी जीवके लिये असम्भव होती है अथवा उसके स्वरूपसे भिन्न होती है—जिससे इस नवीनताके मोहमें वह अपनी वर्तमान स्थितिमें, जिसमें ईश्वरने उसे रक्खा है और जो उसके लिये सर्वश्रेष्ठ है, अरुचि और शिथिलताका अनुभव करे।······मैं परमात्मासे प्रेम करता हूँ और वे मुझे बहुत चाहते हैं।

हे मेरे परम प्रेमास्पद परमात्मा! हे परमानन्द-स्वरूप ईश्वर!! यदि मनुष्य आपकी शक्ति अच्छी तरह जान जाते तो वे कभी आपके प्रति अपराध नहीं करते। आप मेरे-ऐसे पापीसे भी सम्बन्ध निबाहते हैं, आप कितने भले हैं!

कुमारी टेरसा

(जन्म–२८ मार्च १५१५, अवील्लाका ओल्ड केसटाइलमें। पिताका नाम–आल्फांसस सेनचेज ऑफ केपीडा। माताका नाम–बियट्रीस अहेम्डा। देहावसान–४ अक्टूबर सन् १५८२)

परमेश्वर! मैं आपके संस्पर्श-सुखका रसास्वादन तबतक नहीं कर सकती, जबतक अपने-आपको दिव्य भागवत-प्रेमकी आगमें पूर्णरूपसे मोमकी तरह गला देने और अपनी लौकिक विषयासक्तिको आपके प्रेमके चरणोंपर चढ़ा देनेकी परम अभिलाषाका मुझमें उदय नहीं होता है। आपका सौजन्य अपार है, दुराचारी और पापीसे भी आप प्रेम करते हैं तथा उनके हितमें निरन्तर लगे रहते हैं। जो लोग थोड़े समयके भी लिये आपकी सेवामें लग जाते हैं, उनके समस्त दोष और अपराध पश्चात्तापकी बाढ़में नष्ट—निर्मूल हो जाते हैं। ऐसा तो मुझे स्वयं अपने आपका ही अनुभव है।······मैं इसका कारण नहीं समझ पाती हूँ कि लोग आपके सम्पर्कमें आकर आपकी मैत्रीसे आत्मकल्याण क्यों नहीं कर लेते!

मुझे ऐसा लगता है कि केवल दुःखोंको सहनेके लिये ही मुझे जीवित रहना चाहिये। मैं ईश्वरसे बड़े प्रेमसे दुःखकी ही याचना करती हूँ। कभी कभी मैं उनसे हृदय खोलकर यही कहती हूँ कि आप मुझे मृत्यु और दुःख—दोनोंमेंसे कृपापूर्वक एक अवश्य दे दें। मुझे अपने-आपके लिये और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-ही-त्यों मुझे बड़ा आराम मिलता है कि मैं अपने प्रियतम परमात्माके निकटतर हो रही हूँ; क्योंकि मेरे जीवनकी एक-एक घड़ी समाप्त होती जा रही है।

संत फिलिप नेरी

(फ्लोरेन्स नगर (इटली)के संत। जन्म—सन् १५१५ ई०। पिताका नाम—फ्रांसिस नेरी। माताका नाम—ल्यूक्रेशिया सोल्डी। देहावसान—२५ मई १५९५ ई० लगभग)

हे परमेश्वर! बस कीजिये—बस, थोड़ी ही देरके लिये इस समय अपने माधुर्य-स्रोतको मेरे सामनेसे मोड़ लीजिये। हे देव! इस समय कुछ देरके लिये आप मेरे सामनेसे चले जाइये, परे जाइये। मैं मर्त्य मानव हूँ, इस स्वर्गीय आनन्दका मैं अधिक देरतक रसास्वादन नहीं कर सकता हूँ। मेरे परम प्रिय! सनातन परमेश्वर! मैं मर रहा हूँ, आप मेरी सहायता कीजिये।

हे परमेश्वर! मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि हम लोगोंपर आपका अनन्त प्रेम है। आपने हमलोगोंको आपसे प्रेम करनेके लिये केवल एक ही—इतना ठंडा और इतना कठोर हृदय दिया है!

मेरी मगडालेन

(फ्लोरेन्स (इटली) की साध्वी देवी । जन्म—१० सन् १५६६ । देहान्त—२५ मई सन् १६०७)

ईश्वरकी इच्छा ही परम प्रिय और मधुर है । जब हम अपना प्रत्येक कार्य परम पवित्र और सुदृढ़ समर्पण-भावनासे ईश्वरकी प्रसन्नता और पूजाके लिये करने लग जाते हैं, तब हमारे और ईश्वरके बीचका सम्बन्ध अमित समृद्ध हो उठता है ।

प्राणियो ! आओ, आओ, ईश्वरसे प्रेम करो, वे तुम्हें बहुत चाहते हैं । हे प्रेम ! जब मुझे यह पता चलता है कि तुम्हें लोग कम जानते हैं और वे तुम्हें बहुत कम चाहते हैं तब मुझे मरणान्तक पीड़ा होती है । प्रेम ! प्रेम ! यदि तुम्हें कहीं अन्यत्र स्थान न मिलता हो तो पूर्णरूपसे मेरे पास चले आओ । मैं तुम्हें शरण प्रदान करूँगी । प्रेमात्माओ ! तुम प्रेम क्यों नहीं करते ? तुम्हें प्रेमने ही जीवन दिया है ।

जर्मन संत जेकब ब्यूमी

[काल सन् १५७५—१६२० ई०]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

जहाँ किसी प्रकारका भी संसार नहीं है, ऐसे प्रदेशमें एक क्षण भी यदि तू अपनेको रख सके तो तू भगवान्‌का शब्द सुन सकता है, यदि थोड़ी देर भी अपने विचार और इच्छाको तू बंद कर सके तो भगवान्‌की आश्चर्यजनक वाणी तू सुन सकता है ।

प्रभुमय जीवनके तीन उपाय हैं—(१) अपनी इच्छाका त्याग करके तुझे प्रभुकी शरण जाना चाहिये और उसकी कृपाके लिये अत्यन्त दीन होना चाहिये । (२) अपनी इच्छाके ऊपर तुझे धिक्कार देना चाहिये और जिस ओर तेरी इच्छा तुझे ले जाय, उधर नहीं जाना चाहिये । (३) तुझे दुःख सहन करना सीखना चाहिये, जिससे तू संसारके मोहसे छूटनेके दुःखको सहन कर सके । इस प्रकार यदि तू कर सकेगा तो भगवान् तेरे साथ बातें करेगा और तेरी इच्छाको वह अपनेमें प्रविष्ट कर लेगा ।

प्रभुके साथ एक होनेसे वह तुझको प्रभु-जैसा कर डालता है । प्रेमसे मनुष्य उसकी महिमा प्राप्त करता है । प्रेममें रहनेवाले हृदयकी महिमा कभी कही नहीं जा सकती; क्योंकि वह जीवात्माको ईश्वरकी सृष्टि-जैसा बड़ा बना देता है ।

यदि तू जगत्‌को और अनित्य वस्तुओंको देखा करेगा और उनको पानेकी इच्छा किया करेगा तो तुझको सच्ची सुख-शान्ति नहीं मिलेगी । जगत्‌की सारी प्रवृत्ति छोड़कर निवृत्तिकी शान्ति जीवको मिले, यह असुरको पसंद नहीं, परंतु उसको आदर—मान मत प्रदान कर । इसी प्रकार वह जो कहे उसे बिल्कुल मत कर । उसके कहनेके अनुसार करनेसे अन्धकार बढ़ेगा, उससे वासना बढ़ेगी, उससे प्रभुके सौन्दर्यके बीच परछाईं पड़ेगी और अपनी दृष्टिसे तू उस परमात्माके प्रेममय मुखके तेजको नहीं देख सकेगा । विघ्न करना तो असुरका स्वभाव है, परंतु तेरी मर्जीके बिना असुर कुछ भी नहीं कर सकेगा । इसलिये तुझको यदि अपनी आत्मामें भगवान्‌का तेज देखना है, उसके प्रकाशका अनुभव करना है तो तेरे लिये यह बहुत नजदीकका रास्ता है; किंतु अपनी आत्माकी दृष्टिको जड पदार्थोंमें मत जाने दे । स्वर्गकी अथवा पृथ्वीकी कोई भी वस्तु उसमें मत भर, बल्कि दृढ़ श्रद्धासे उसके तेजमें प्रविष्ट हो और पवित्र प्रेमसे प्रभुका तेज प्राप्त कर और उसकी शक्ति तुझे प्राप्त हो; इसके लिये उसके-जैसा शरीर तू धारण कर और ऐसा कर कि तेरा सारा जीवन प्रभुमय हो जाय । भगवान्‌के प्रेमका रास्ता तो जगत्‌के मनमें मूर्खका रास्ता है, परंतु भगवान्‌के बालककी दृष्टिमें वही बुद्धिमानीका रास्ता है ।

भाई लारेंस

(जन्म—सन् १६१० ई०, फ्रांसके लोरेन प्रान्तमें, जन्म-नाम—निकोलस हरमन, भगवान्‌का विश्वासी परम भक्त)

भगवान्‌के साथ निरन्तर वार्तालापके अभ्यासद्वारा अपने-को भगवत्-सान्निध्यके भावमें भलीभाँति स्थिर कर लेना चाहिये। भगवान्‌के साथ (मानसिक) वार्तालापको छोड़कर तुच्छ एवं मूर्खताभरी बातोंको सोचना लज्जाकी बात है।

हमें चाहिये कि अपने भगवद्विश्वासको सजीव बनायें। भगवान्‌में हमारा विश्वास कितना कम है, यही तो शोचनीय विषय है। भगवद्विश्वासको अपने आचरणका आधारस्तम्भ न बनाकर लोग मनोविनोदके लिये प्रतिदिन बदलनेवाले तुच्छ साधनोंका आश्रय लेते हैं। भगवद्विश्वासकी साधना ही भगवान्‌की सच्ची आराधना है और यही हमें पूर्णताके अति निकट ले जानेके लिये पर्याप्त है।

लौकिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रमें हमें कुछ न रखकर सर्वस्व भगवान्‌को समर्पित कर देना चाहिये और उनके प्रत्येक विधानमें सतोषका अनुभव करना चाहिये, चाहे वह विधान सुखके रूपमें प्रकट हो अथवा दुःखके। आत्मसमर्पण हो जानेपर विधानके सभी रूप हमारे लिये समान हो जायँगे। प्रार्थनामें जब हमें नीरसता, भावशून्यता अथवा शिथिलताका अनुभव हो, उस समय हमें भगवद्विश्वासकी आवश्यकता होती है; क्योंकि भगवद्विश्वासके अनुपातसे ही भगवान् हमारे प्रेमकी परीक्षा लेते हैं। यह वही समय है जब हम समर्पणके सुन्दर एवं सफल कार्य कर सकते हैं। ऐसा एक भी कार्य बन जानेपर वह हमारी आध्यात्मिक उन्नतिको प्रायः अग्रसर करनेमें सहायक होता है।

बुद्धि और आत्मशक्तिद्वारा होनेवाली क्रियाओंमें हमें एक विशेष अन्तर देखना चाहिये। आत्मशक्तिसे सम्पन्न होनेवाली क्रियाओंके सामने बुद्धिद्वारा होनेवाली क्रियाओंका कुछ भी महत्त्व नहीं। हमारे लिये यही एक कर्तव्य है कि भगवान्‌से प्रेम करें और उन्हींमें ही रमण करें।

भगवत्प्रेमसे रिक्त निग्रहकरणके जितने भी साधन सम्भव हो सकते हैं, यदि उनको जुटा लें तो भी उनसे हमारे एक भी पापका नाश नहीं हो सकता। सम्पूर्ण हृदययोगके द्वारा भगवान्‌से प्रेम करनेपर हमारे पापोंका स्वतः मार्जन हो जाता है। उसके लिये चिन्ताकी कहीं गुंजाइश नहीं रह जाती। ऐसा लगता है, मानो भगवान्‌ने बड़े-से-बड़े पापियोंपर महान्-से-महान् अनुग्रह कर अपनी दयाका एक अनुपम कीर्तिस्तम्भ खड़ा कर दिया है।

बड़े-से-बड़े क्लेशों और महान्-से-महान् सुखोंका आध्यात्मिक जगत्‌में जो मुझे अनुभव हुआ, उसके सामने भौतिक जगत्‌के दुःख सुख कुछ भी नहीं। मैं तो भगवान्‌से यही माँगता हूँ कि कहीं मुझसे उनका अपराध न बन जाय; इसके सिवा न तो मुझे किसी बातकी परवा है और न किसी-का भय ही।

भगवद्विश्वासके प्रति मेरी जो महत्ताकी भावना एवं आदरबुद्धि है, वही मेरे आध्यात्मिक जीवनका मूल आधार है। इस तथ्यको एक बार हृदयङ्गम कर लेनेपर मुझे केवल इसी बातका सदा ध्यान रहा है कि मेरे सब काम भगवत्प्री-त्यर्थ हों और इससे इतर विचारोंके लिये मेरे मनमें कहीं कोई स्थान न रहे।

जो व्यक्ति भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पण कर देता है और उनके लिये प्रत्येक कष्ट सहन करनेको कटिबद्ध हो जाता है, भगवान् उसे न तो कभी धोखा दे सकते हैं और न बहुत समयतक उसे यन्त्रणाका भोग ही कराते हैं।

भगवच्छरणागतिके लिये न तो किसी शिक्षणकी आवश्यकता है और न किसी विशेष कलाकी ही; आवश्यकता है दृढ निश्चयसे युक्त हृदयकी, जो अनन्य भावसे भगवान्‌का चिन्तन करे और उन्हींमें सर्वभावेन रमण करे।

जो वस्तुएँ एवं क्रियाएँ हमें भगवदभिमुख न करें, भगवन्मार्गमें केवल कंटकरूप ही बनें, उनका सच्चे हृदयसे त्याग ही भगवच्छरणागतिकी प्रक्रियाका सुन्दर स्वरूप है। स्वतन्त्रता एवं सरलतापूर्वक निरन्तर भगवान्‌के साथ वार्ता-लाप करनेका हम अपनेको अभ्यासी बनायें। उनको अपने अत्यन्त निकट अनुभव करें; उनके सम्मुख प्रणिधान अपनेको समझें। जिस कार्यके करनेमें हमें संदेह हो, उसके विषयमें भगवान्‌की इच्छा जाननेके लिये, एवं जिस कार्यको हम स्पष्टरूपसे मानते हैं कि भगवान् हमसे करवाना चाहते हैं, उसको समुचित ढंगसे करनेके लिये हम उनसे उनकी सहायताकी याचना करें और कार्यको करनेके पहले उसे

मेरी मगडालेन

(फ्लोरेन्स (इटली) की साध्वी देवी । जन्म—१० सन् १५६६ । देहान्त—२५ मई सन् १६००)

ईश्वरकी इच्छा ही परम प्रिय और मधुर है । जब हम
[हमा]रा प्रत्येक कार्य परम पवित्र और सुदृढ़ समर्पण-भावनासे
[ई]श्वरकी प्रसन्नता और पूजाके लिये करने लग जाते हैं, तब
हमारे और ईश्वरके बीचका सम्बन्ध अमित सम्पृक्त हो
उठता है ।

प्राणियो ! आओ, आओ, ईश्वरसे प्रेम करो, वे तुम्हें
बहुत चाहते हैं । हे प्रेम ! जब मुझे यह पता चलता है कि
तुम्हें लोग कम जानते हैं और वे तुम्हें बहुत कम चाहते हैं
तब मुझे मरणान्तक पीड़ा होती है । प्रेम ! प्रेम ! यदि
तुम्हें कहीं अन्यत्र स्थान न मिलता हो तो पूर्णरूपसे मेरे
पास चले आओ । मैं तुम्हें शरण प्रदान करूँगी । हे
प्रेमात्माओ ! तुम प्रेम क्यों नहीं करते ? तुम्हें प्रेमने ही
जीवन दिया है ।

जर्मन संत जेकब ब्यूमी

[काल सन् १५७५—१६२० ई०]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

जहाँ किसी प्रकारका भी संसार नहीं है, ऐसे प्रदेशमें
एक क्षण भी यदि तू अपनेको रख सके तो तू भगवान्‌का
शब्द सुन सकता है, यदि थोड़ी देर भी अपने विचार और
इच्छाको तू बंद कर सके तो भगवान्‌की आश्चर्यजनक वाणी
तू सुन सकता है ।

प्रभुमय जीवनके तीन उपाय हैं—(१) अपनी
इच्छाका त्याग करके तुझे प्रभुकी शरण जाना चाहिये
और उसकी कृपाके लिये अत्यन्त दीन होना चाहिये ।
(२) अपनी इच्छाके ऊपर तुझे धिक्कार देना चाहिये
और जिस ओर तेरी इच्छा तुझे ले जाय, उधर नहीं जाना
चाहिये । (३) तुझे दुःख सहन करना सीखना चाहिये,
जिससे तू संसारके मोहसे छूटनेके दुःखको सहन कर सके ।
इस प्रकार यदि तू कर सकेगा तो भगवान् तेरे साथ बातें करेगा
और तेरी इच्छाको वह अपनेमें प्रविष्ट कर लेगा ।

प्रभुके साथ एक होनेसे वह तुझको प्रभु-जैसा कर डालता
है । प्रेमसे मनुष्य उसकी महिमा प्राप्त करता है । प्रेममें रहनेवाले
हृदयकी महिमा कभी कही नहीं जा सकती; क्योंकि वह
जीवात्माको ईश्वरकी सृष्टि-जैसा बड़ा बना देता है ।

यदि तू जगत्‌को और अनित्य वस्तुओंको देखा करेगा
और उनको पानेकी इच्छा किया करेगा तो तुझको
सुख-शान्ति नहीं मिलेगी । जगत्‌की सारी प्रवृत्ति
निवृत्तिकी शान्ति जीवको मिले, यह असुरको पसंद
परंतु उसको आदर—मान मत प्रदान कर । इस
प्रकार वह जो कहे उसे बिल्कुल मत कर । उसके
अनुसार करनेसे अन्धकार बढ़ेगा, उससे वासना
उससे प्रभुके सौन्दर्यके बीच परछाईं पड़ेगी और
दृष्टिसे तू उस परमात्माके प्रेममय मुखके तेजको नहीं
सकेगा । विघ्न करना तो असुरका स्वभाव है,
मर्जीके बिना असुर कुछ भी नहीं कर सकेगा । इसलिये
यदि अपनी आत्मामें भगवान्‌का तेज देखना है,
प्रकाशका अनुभव करना है तो तेरे लिये यह बहुत न
का रास्ता है; किंतु अपनी आत्माकी दृष्टिको जड़
मत जाने दे । स्वर्गकी अथवा पृथ्वीकी कोई भी
मत भर, बल्कि दृढ़ श्रद्धासे उसके तेजमें प्रविष्ट
पवित्र प्रेमसे प्रभुका तेज प्राप्त कर और उसकी
प्राप्त हो; इसके लिये उसके-जैसा शरीर तू धारण
ऐसा कर कि तेरा सारा जीवन प्रभुमय हो
भगवान्‌के प्रेमका रास्ता तो जगत्‌के मनमें मूर्खका
परंतु भगवान्‌के बालककी दृष्टिमें वही बुद्धिमानीका

भाई लारेंस

(जन्म—सन् १६१० ई०, फ्रांसके लोरेन प्रान्तमें, जन्म-नाम—निकोलस हरमन, भगवान्‌पर विश्वासी परम भक्त)

भगवान्‌के साथ निरन्तर वार्तालापके अभ्यासद्वारा अपनेको भगवत्-सान्निध्यके भावमें भलीभाँति स्थिर कर लेना चाहिये। भगवान्‌के साथ (मानसिक) वार्तालापको छोड़कर तुच्छ एवं मूर्खताभरी बातोंको सोचना लज्जाकी बात है।

हमें चाहिये कि अपने भगवद्विश्वासको सजीव बनायें। भगवान्‌में हमारा विश्वास कितना कम है, यही तो सोचनीय विषय है। भगवद्विश्वासको अपने आचरणका आधारस्तम्भ न बनाकर लोग मनोविनोदके लिये प्रतिदिन बदलनेवाले तुच्छ साधनोंका आश्रय लेते हैं। भगवद्विश्वासकी साधना ही भगवान्‌की सच्ची आराधना है और यही हमें पूर्णताके अति निकट ले जानेके लिये पर्याप्त है।

लौकिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रमें हमें कुछ न रखकर सर्वस्व भगवान्‌को समर्पित कर देना चाहिये और उनके प्रत्येक विधानमें संतोषका अनुभव करना चाहिये, चाहे वह विधान सुखके रूपमें प्रकट हो अथवा दुःखके। आत्मसमर्पण हो जानेपर विधानके सभी रूप हमारे लिये समान हो जायँगे। प्रार्थनामें जब हमें नीरसता, भावशून्यता अथवा शिथिलताका अनुभव हो, उस समय हमें भगवद्विश्वासकी आवश्यकता होती है; क्योंकि भगवद्विश्वासके अनुपातसे ही भगवान् हमारे प्रेमकी परीक्षा लेते हैं। यह वही समय है जब हम समर्पणके सुन्दर एवं सफल कार्य कर सकते हैं। ऐसा एक भी कार्य बन जानेपर वह हमारी आध्यात्मिक उन्नतिको प्रायः अग्रसर करनेमें सहायक होता है।

बुद्धि और आसक्तिद्वारा होनेवाली क्रियाओंमें हमें एक विशेष अन्तर देखना चाहिये। आसक्तिसे सम्पन्न होनेवाली क्रियाओंके सामने बुद्धिद्वारा होनेवाली क्रियाओंका कुछ भी महत्त्व नहीं। हमारे लिये यही एक कर्तव्य है कि भगवान्‌से प्रेम करें और उन्हींमें ही रमण करें।

भगवत्प्रेमके लिये नियमधर्मके जितने भी साधन सम्भव हो सकते हैं, यदि उनको छोड़ दें तो भी उनसे हमारी एक भी हानि नहीं हो सकती। सम्पूर्ण हृदयसे [illegible] भगवान्‌से प्रेम करनेपर हमारे [illegible] हो जाता है। इसके लिये किसीकी बड़ी दुहाईकी आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसा जान पड़ता है, मानो भगवान्‌ने बड़े-से-बड़े पापियोंपर अनुग्रह-से-महान् अनुग्रह कर अपनी दयाका एक अनुपम कीर्तिस्तम्भ खड़ा कर दिया है।

बड़े-से-बड़े कष्टों और महान्-से-महान् सुखोंसे आध्यात्मिक जगत्‌में जो मुझे अनुभव हुआ, उसके सामने भौतिक जगत्‌के दुःख-सुख कुछ भी नहीं। मैं तो भगवान्‌से यही माँगता हूँ कि कहीं मुझसे उनका अपराध न बन जाय; इसके सिवा न तो मुझे किसी बातकी परवा है और न किसीका भय ही।

भगवद्विश्वासके प्रति मेरी जो महत्ताकी भावना एवं आदरबुद्धि है, वही मेरे आध्यात्मिक जीवनका मूल आधार है। इस तथ्यको एक बार हृदयङ्गम कर लेनेपर मुझे केवल इसी बातका सदा ध्यान रहता है कि मेरे सब काम भगवत्प्रीत्यर्थ हों और इससे इतर विचारोंके लिये मेरे मनमें कहीं कोई स्थान न रहे।

जो व्यक्ति भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पण कर देता है और उनके लिये प्रत्येक कष्ट सहन करनेको कटिबद्ध हो जाता है, भगवान् उसे न तो कभी धोखा दे सकते हैं और न बहुत समयतक उसे यन्त्रणाका भोग ही करने देते हैं।

भगवत्सान्निध्यके लिये न तो किसी विज्ञानकी आवश्यकता है और न किसी विशेष कलाकी ही; आवश्यकता है दृढ़ निश्चयसे युक्त हृदयकी, जो अनन्य भावसे भगवान्‌का चिन्तन करे और उन्हींमें संलग्न रहा करे।

जो वस्तुएँ एवं क्रियाएँ हमें [illegible] न करें, भगवत्प्रेममें केवल [illegible] ही बनें, [illegible] भगवत्सान्निध्यकी [illegible] है। [illegible] एवं भगवान्‌के [illegible] करनेकी [illegible]। [illegible] करनेके लिये [illegible]। जिस कार्यके करनेसे [illegible], उसके [illegible] है कि भगवान् हमें [illegible]। [illegible] और [illegible]

भगवान्‌को समर्पित कर दें तथा उसके सम्पन्न हो जानेपर उन्हें इसके लिये हार्दिक धन्यवाद दें।

अपनी त्रुटियों एवं कमजोरियों अथवा पापोंसे निरुत्साह न होकर भगवान्‌के अनन्त गुणोंपर भरोसा रखते हुए उनकी अहैतुकी कृपाके लिये हम पूर्ण श्रद्धाके साथ प्रार्थना करें।

जब हम अपनी शङ्काओंके समय निरुपाय होकर भगवान्‌से उनके समाधानके लिये प्रार्थना करते हैं, तब वे दयालु हमें सदा प्रकाश प्रदान करते हैं।

भगवान्‌की शरणमें जानेकी सर्वोत्तम प्रक्रिया तो यही है कि लोगोंकी प्रसन्नताका विचार न करके हम अपने नित्य-प्रतिके कार्योंको जहाँतक हो सके, एकमात्र भगवत्प्रीत्यर्थ ही करें।

हमें चाहिये कि निश्चितरूपसे हार्दिक प्रसन्नताके साथ अपना सारा विश्वास भगवान्‌में स्थापित कर दें और उन्हींके पदारविन्दोंमें पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण भी करें। ऐसी दृढ़ निष्ठा बनाये रखना चाहिये कि भगवान् कभी किसी कालमें भी हमें धोखा नहीं दे सकते।

भगवत्प्रीत्यर्थ छोटे-से-छोटा कार्य करते हुए हमें कभी उकताना नहीं चाहिये। भगवान् कार्यकी महत्ताकी ओर नहीं देखते; वे देखते हैं एकमात्र हमारी भावनाको, जिससे प्रेरित होकर हम कार्य करते हैं। ऐसा प्रायः होता है कि आरम्भमें हम प्रयत्न करते हुए भी कभी-कभी असफल हो जाते हैं; इसपर न तो आश्चर्य प्रकट करना चाहिये और न निराशा ही। प्रयत्नको अविरतरूपसे जारी रखनेपर अन्तमें हमें एक ऐसी सुन्दर स्थिति प्राप्त होगी, जो हमसे बिना हमारी किसी सावधानीके ऐसे कार्य कराती रहेगी जिनसे हमें अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त होगी।

श्रद्धा, विश्वास तथा दया—ये धर्मकी साररूप त्रिपुटी हैं; इसके सेवनसे हमारा जीवन भगवत्संकल्पमय हो जाता है और इसके अतिरिक्त जो कुछ बच रहता है, उसका कोई महत्त्व नहीं। हाँ, उसको हम श्रद्धा एवं दयासे अभिभूत कर अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें प्रयुक्त कर सकते हैं।

श्रद्धाके सामने सब कुछ सम्भव है; विश्वास कठिनको सुगम बनाता है और प्रेम तो उसे सुगमतर बना देता है। और जो इन तीनों सद्गुणोंका दृढ़तापूर्वक अभ्यास करता है उसके लिये तो कहना ही क्या, समस्त मार्ग कण्टकहीन होकर उसका स्वागत करता है।

भगवच्छरणकी प्राप्तिकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रक्रियाओंको मैंने बहुत-सी पुस्तकोंमें पढ़ा और आध्यात्मिक जीवन बनानेके लिये विविध प्रकारके साधनोंका अध्ययन भी किया। परंतु मुझे ऐसा लगा कि जिस बातकी खोजमें मैं हूँ यदि पुस्तकोंमें लिखे हुए सब साधनोंके अनुसार चलूँ, तो ये मेरा मार्ग सुगम बनानेकी अपेक्षा और भी जटिल बना देंगे। मेरी लालसा एकमात्र सब प्रकारसे भगवान्‌का ही हो जानेमें थी। अन्तमें मैंने निश्चय किया कि पूर्ण (भगवान्) की प्राप्तिके लिये मैं सम्पूर्ण लौकिक वस्तुओंका त्याग कर दूँ। और पापमोचन भगवान्‌में पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण कर मैंने उनके प्रेमके लिये ही उनके सिवा अन्य सब वस्तुओंका परित्याग कर दिया। तथा मैं इस प्रकार रहने लगा मानो मेरे और भगवान्‌के सिवा संसारमें दूसरा कोई है ही नहीं। कभी मैं अपनेको भगवान्‌के सम्मुख ऐसा समझता, जैसे न्यायाधीशके चरणोंपर गिरा हुआ कोई अपराधी! और कभी अपने पिता, अपने परमात्माके रूपमें अपने हृदयमें उनका साक्षात्कार करता। अधिकतर यथासम्भव भगवान्‌को मैं अपने सम्मुख समझकर पूजा-अर्चा करता। जब-जब मेरा मन इधर-उधर भटकता, उसी-उसी क्षण मैं उसे खींचकर भगवान्‌में लगा देता। इस प्रक्रियामें मुझे पर्याप्त संतापका अनुभव हुआ। तथापि कठिनाइयोंके उपस्थित होनेपर और मनके बलात् विचलित हो जानेपर भी मैं बिना किसी घबराहट या अशान्तिके तत्परताके साथ अपने अभ्यासमें लगा रहता। उपासनाके निर्धारित समयमें जैसे मैं भगवान्‌में संलग्न रहता, उसी प्रकार मैंने सारे दिन रहनेका अपना नियम बना लिया। सब समय, प्रतिपल, प्रतिक्षण, यहाँतक कि कार्यमें अति व्यस्त रहनेपर भी मैं अपने मनको भगवद्विस्मरण करानेवाले समस्त विचारोंसे बचाता रहता।

भगवान्‌के प्रति मैंने सब प्रकारके अपराध किये हैं, मेरा जीवन दुर्गुण और भ्रष्टाचारकी मूर्ति ही है; ऐसा मानकर मैं अपने-आपको सबसे अधिक दीन-हीन समझता हूँ। अपने अपराधोंके पश्चात्तापसे अभिभूत होकर मैं भगवान्‌के सम्मुख इनको स्वीकारकर क्षमा माँगता हूँ और अपने-आपको उनके हाथोंमें सौंप देता हूँ; वे जैसा चाहें, मेरे साथ व्यवहार करें। परंतु दण्ड देना तो दूर रहा, भगवान् मेरे अपराधोंकी ओर देखतेतक नहीं, कृपा दयासे गद्गद होकर वे मुझे आलिङ्गन करते हैं। अपने साथ साथ मिलाते हैं और अपने करकमलोंसे मुझे सहलाते हैं, यहाँतक कि अपने भण्डारकी

चावी मुझे सौंप देते हैं। हजारों प्रकारसे वे मेरे साथ बात-चीत तथा क्रीड़ाएँ करते हैं और पूर्णरूपसे मुझे अपना कृपा-पात्र बना लेते हैं। इस प्रकार समय समयपर मैं अपने-आपको भगवान्‌की पवित्र संनिधिमें अनुभव करता रहता हूँ।

कदाचित् हम यह समझ पाते कि भगवान्‌की कृपा एवं सहायताकी हमें कितनी अधिक आवश्यकता है तो हम कभी एक क्षणके लिये भी भगवद्विस्मरण न कर सकते। आप मेरी बात मानिये और इसी क्षण पवित्र एवं दृढ निश्चय कीजिये कि अबसे जान-बूझकर भगवान्‌को कभी नहीं भुलायेंगे और जीवनके शेष दिन परम पावन भगवत्-सांनिध्यमें ही *व्यतीत करेंगे। यदि भगवान्‌की यह इच्छा हो कि उनके* प्रेमके लिये आप अन्य सब सुखों एवं आश्वासनोंसे वञ्चित किये जायँ तो आशा है, आप इसका भी सहर्ष अनुमोदन *करेंगे।*

भगवान्‌में हमारी अनन्य श्रद्धा हो, इसके लिये आवश्यक है कि हम अन्य सब प्रकारकी चिन्ताओंको तिलाञ्जलि दे दें। बाहरी विशेष विधि-विधानोंको, जिनमें मनुष्य प्रायः विवेकशून्य होकर प्रवृत्त होते हैं और जो चाहे देखनेमें *कितने ही अच्छे क्यों न हों, नमस्कार कर लें;* क्योंकि आखिर ये बाहरी साधन ध्येयकी प्राप्तिके लिये ही तो किये जाते हैं, और जब भगवत्-सांनिध्यके अनुभवमें हम स्वयं भगवान्‌को ही प्राप्त कर लेते हैं जो हमारे ध्येय हैं, तो फिर इन साधनोंका आश्रय ग्रहण करनेकी हमें क्या आवश्यकता रह जाती है। अपने हृदयके अनेक भावोंद्वारा कभी भगवान्‌की स्तुति, आराधना एवं आराधनाकी अभिलाषा करते हुए और कभी उन्हींको आत्मसमर्पण तथा धन्यवाद देते हुए कृतज्ञतापूर्वक हम उन्हींकी संनिधिमें रहें और उन्हींमें रमण करें।

नितान्त निष्कपट एवं दीनभावसे हम अपने समस्त अपराधोंको भगवान्‌के सम्मुख स्वीकार कर लें और सदैव विनम्र बने रहें। प्रार्थना करते समय शब्दाडम्बर रचा जाय, ऐसा मैं आपको कदापि परामर्श नहीं दे सकता; क्योंकि प्रार्थनाके समय जब हम वाग्विलासकी क्रीड़ामें फँसकर लंबे-चौड़े स्तुति-पाठ आलापने लगते हैं, तो हमारा मन बहुधा अवसर पाकर चुपकेसे भाग निकलता है। प्रार्थनाके समय भगवान्‌के सम्मुख आप अपने-आपको ऐसा समझें कि मैं एक मूढ अथवा पक्षाघातसे ग्रस्त भिक्षुक हूँ। अत्यन्त दीन-हीन अवस्थामें एक परम दयालु धनवान्‌के हूँ। उस समय आपका एक ही काम है कि अपने मनको सब ओरसे बटोरकर एकमात्र परमपिता भगवान्‌की संनिधिके अनुभवमें लगा दें। फिर भी यदि कभी आपका मन पूर्वाभ्यासके कारण भगवान्‌से हटकर इधर-उधर भटकने लगे तो इसके लिये आप विशेष चिन्तित न हों; क्योंकि खेद एवं विषाद मनको अधीन करनेमें सहायक होनेकी अपेक्षा उसे और भी विक्षिप्त बना देते हैं। बल्कि आत्मबलके द्वारा अपने मनको फिरसे शान्तिपूर्वक वापस खींचकर भगवान्‌में *लगावें। इस प्रकार यदि आप लगातार* दृढतापूर्वक *अभ्यास* करेंगे तो भगवान् निश्चय ही आपपर अनुग्रह करेंगे। *प्रार्थना-कालमें मनको सुगमतापूर्वक वशमें तथा शान्त रखनेका* एक और भी उपाय है, वह यह कि अन्य सब समय हम सावधान रहें। देखते रहें कि मन कहीं विषयोंका चिन्तन *तो नहीं कर रहा है। जब कभी वह भटके, आप उसे* पुचकारकर लौटावें और भगवत्सांनिध्यके अनुभवमें जोड़ दें। इस प्रकार बार-बारके अभ्याससे जब भगवच्चिन्तन उत्तरोत्तर बढ़ेगा, तब प्रार्थना-कालमें मनको शान्त रखनेमें आपको कुछ भी कठिनाई नहीं होगी और यदि कभी *किसी समय वह विषयोंका चिन्तन करने भी लगेगा तो वहाँसे उसे हटानेमें* आपको कोई परिश्रम नहीं होगा; क्योंकि भगवत्सांनिध्यकी अनुभूतिमें जो परम सुख मिलता है, उसका वह रसास्वादन कुछ तो कर ही चुका होगा।

आप दुःखों एवं क्लेशोंसे छूट जायँ, इसके लिये मैं भगवान्‌से कदापि प्रार्थना नहीं करता। मैं तो उन दयामयसे यही हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि जितने समयतक वे आपको इन दुःखों एवं क्लेशोंमें रक्खें, आपको इन्हें सहन करनेकी शक्ति तथा धैर्यसे भी सम्पन्न बनावें। जिन भगवान्‌ने कृपावश आपके लिये दुःखोंका विधान रचा है, आप उन्हें अपने संनिकट अनुभव कर सुखी हों। वे जब चाहेंगे, इन्हें दूर कर देंगे। सचमुच वे लोग भाग्यशाली हैं, जो दुःखमें भी भगवान्‌को अपने पास समझते हैं। आपको भी इसी प्रकार भगवान्‌को अपने अत्यन्त समीप समझते हुए प्रसन्नतापूर्वक दुःख भोगनेका अभ्यास करना चाहिये और *जितने कालतक वे आपको दुःखरूप विधानमें रक्खें, आप* उनसे और कुछ न [illegible] सहन करनेका ही [illegible] न समझ [illegible] क्योंकि वे

देहाभिमानी होनेके कारण जब देहके सुख-दुःखसे प्रसन्न और विषण्ण होते रहते हैं। रोग एवं क्लेशोंको वे भगवान्‌की ओरसे आया हुआ मङ्गलविधान न मानकर शरीरके कष्टसे दुखी हो नाना प्रकारकी यन्त्रणाओंको बाध्य होकर रो रोकर भोगते हैं; परंतु जो लोग रोगको भगवान्‌का कृपाप्रसाद मानते हैं और समझते हैं कि यह सब तो हमारे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही प्रभुका रचा हुआ अनूठा ढंग है, वे भयानक रोगमें भी प्रायः अत्यन्त सुख एवं आश्वस्तताका अनुभव करते हैं।

कितना अच्छा होता यदि आप विश्वास कर सकते कि भगवान् किसी-न-किसी रूपमें हम सबके सदैव संनिकट रहते हैं; स्वस्थ अवस्थाकी अपेक्षा रोगमें तो और भी विशेषरूपमें वे हमारे पास उपस्थित रहते हैं। भगवान्‌के अतिरिक्त आप किसी दूसरे चिकित्सकपर भरोसा न करें; क्योंकि मैं समझता हूँ, आपके रोगका इलाज उन्होंने अपने ही हाथमें ले रक्खा है। भगवान्‌में पूर्ण विश्वास कीजिये और देखिये कि इससे आपके स्वास्थ्यपर कितना अच्छा प्रभाव पड़ता है। भगवान्‌को छोड़कर केवल औषध आदिमें विश्वास रखनेसे तो सुधारकी अपेक्षा हानि ही होती है।

दूसरे, रोगको दूर करनेके जितने भी उपाय आप करते हैं, उन सबकी सफलता भी तो भगवान्‌की इच्छापर निर्भर करती है। भगवान् स्वयं ही जब हमारे लिये दुःखका विधान रचते हैं तो फिर भाई! उनको छोड़कर उसे दूर करनेकी और किसकी सामर्थ्य है। सचमुच हमारे अन्तःकरणके मलको दूर करनेके लिये ही भगवान् हमें शारीरिक रोग प्रदान करते हैं। शरीर और अन्तःकरणके रोगोंका नाश करनेवाले एकमात्र भगवान्‌की सेवकी शरण ग्रहण सुख-शान्ति लाभ करना चाहिये।

भगवान् आपको जैसी भी स्थितिमें रक्खें, आपको संतुष्ट रहना चाहिये। आप मुझे चाहे कितना भी अधिक सुखी समझें, पर मैं आपकी इस रुग्णावस्थासे ईर्ष्या ही करता हूँ। क्योंकि, दुःखके समय भगवान्‌के दर्शन विशेषरूपमें होते हैं। भाई! भगवान् साथ हों तो भारी-से-भारी दुःख—क्लेशको भी भोगते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके सामने स्वर्गका सुख कुछ भी महत्त्व नहीं रखता और भगवान्‌के बिना महान्-से-महान् सुख भी नारकीय यन्त्रणा ही देनेवाला होता है। भगवान्‌के लिये जो कुछ भी दुःख भोगना पड़े, उसमें एक विलक्षण सुखानुभूति होती है।

'हमारा समस्त जीवन-व्यापार भगवत्प्राप्तिके लिये ही होना चाहिये। भगवान्‌में जितना-जितना हम प्रवेश करते हैं, उतना ही अधिक उनको जाननेकी उत्सुकता बढ़ती है। अपने प्रेमास्पदके परिचयके अनुपातसे ही उसके प्रति हमारा प्रेम होता है। जितना अधिक हमें उसकी महिमाका ज्ञान होता है उतनी ही महान् एवं गम्भीर हमारी भक्ति उसके प्रति बढ़ती है। सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक भगवान्‌की असीम महिमाका जिस-किसीको भी अनुभव हो जाता है, वह संसारकी आधि-व्याधि और विषमताको सहजमें ही उल्लङ्घन कर जाता है। सुख और दुःख दोनोंमें उसकी समान स्थिति हो जाती है; क्योंकि भगवान् और उनकी कृपाके अतिरिक्त उसके अनुभवमें कोई दूसरी वस्तु आती ही नहीं। यही भगवत्प्रेमकी महिमा है।'

संत दा-मोलेनस पिगल

[जन्म सन् १६४० ई०]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

जिस स्थितिमें संकल्प-विकल्प नहीं होता, वह भगवान्‌को प्राप्त करनेकी सुयोग्य स्थिति है।

अन्तःकरणकी शान्तिका रास्ता यह है कि सब बातोंमें भगवान्‌की इच्छाके अनुसार चले।

अपनी इच्छाकी चञ्चलता अपने विक्षेपका एक विशेष कारण है। हम भगवान्‌की इच्छाके अधीन नहीं रहते हैं और इसी कारण हमको बहुत दुःख और विक्षेप घेरे रहते हैं।

अपने हृदयमें स्थित भगवान्‌की गद्दीको स्वच्छ रखनेके लिये तुमको पुरुषार्थी होना चाहिये, जिससे वह सम्राट् वहाँ आराम कर सके।

वाणी बंद करके नम्र शरणागत भावसे ही भगवान्‌के पास जाना हो सकता है। महापुरुष, उनका मत तथा

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी
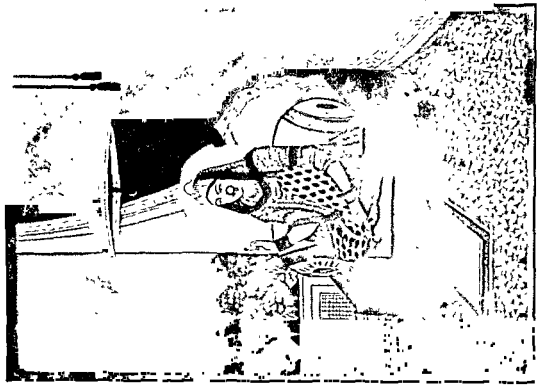
माता श्रीजानकीजी

उनका जीवन साधकके लिये दर्पण होता है, भूमिका होती है, रास्ता होता है। वह द्वार होता है, जिससे वे नित्य जीवनके क्षेत्रमें प्रविष्ट हो सकते हैं।

जो लोक-कल्याणके लिये जन्म लेता है, जो दुःख भोगता है, वह महात्मा मोक्षका मार्ग बता देता है। शरणागतिके रूपमें बिताया गया सामान्य जीवन भी जीवके अपने किये हुए तपकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् होता है। भगवान्‌की सेवा करना हो तो दूसरोंका भला करो और दुःख सहन करो। जो मनुष्य विषय-सुख और संतोषके रास्ते पूर्ण होना चाहता है, वह अपनेको धोखा देता है। अपने बाहर जाकर मदद मत खोजो, अत्यन्त कल्याण तो मौनमें, दुःखमें शान्तिसे धीरज रखनेमें रहता है।

रोये बिना और दुःखके बिना भगवान्‌को कौन पा सकता है? देवके सुखकी अपेक्षा भगवान्‌का दिया हुआ दुःख अधिक श्रेष्ठ है। अच्छा लाभ सुखमें नहीं है, बल्कि शान्तिसे भोगे जानेवाले दुःखमें है।

शान्ति खोनेसे दुश्मनको अंदर आनेका रास्ता मिलता है। जो जीव भगवान्‌को पानेके लिये बहुत खोता है उसको सदाके लिये बहुत मिलता है।

सच्चे विरही मनुष्यका स्वभाव ऐसा होता है कि वह विषय सुखका अनादर करता है।

आनन्द और अन्तरकी शान्ति प्रभुमय जीवनका फल है, परंतु जो जीव अपने हृदयके अंदर भगवान्‌की शरणागति नहीं लेता, उसको वह नहीं मिलता।

सच्चा संत यही चाहता है कि अपने विषयमें लोग कुछ भी न जानें, और भगवान् जो देता है उसमें संतोष मानता है।

सच्चा दीन मनुष्य अपने हृदयमें आराम लेता है और शान्त रहता है। दुःख, विघ्न और मृत्यु भी उसके आनन्दके स्थान हैं।

सच्चा दीन मनुष्य जगत्‌में जो कुछ मान मिलता है, उसको धिक्कारता है। अपनेको भी धिक्कारता है।

सच्चा दीन मनुष्य बहुत देखता है तो भी किसीके विषयमें अपना निर्णय नहीं देता। वह मानता है कि मैं स्वयं ही खराब हूँ। सच्चा दीन मनुष्य, जो अपनेको दुःख देता है, उसको अच्छा बतलाता है। इस प्रकारके अच्छे हेतुवाले मनुष्यके ऊपर कौन क्रोध करेगा?

बुद्धिमान् आदमी करते हैं अधिक और बोलते हैं कम।

दिव्यज्ञानसे दीनता आती है, विद्वत्तासे अभिमान बढ़ता है, बुद्धिमान् और ज्ञानी कहलानेकी अपेक्षा मूर्ख कहलानेमें अधिक मान है। बुद्धिमान् और सच्चा आध्यात्मिक मनुष्य आवश्यकताके बिना नहीं बोलता, जरूरी कामके बिना किसीको जवाब नहीं देता और संतोष मानकर रहता है।

जगत्‌की वस्तुओंके अधीन होना उस बुद्धिमान् और सारवान् मनुष्यको नरकके समान लगता है।

हे भगवन्! ऐसे कितने कम जीव हैं जो बाहरकी वस्तुओंके प्रति अन्धे, बहरे और गूँगे हैं तथा पूर्ण अन्तर्मुख होकर रहते हैं!

संत जॉन जोसफ

(इटलीके संत, जन्म—ईस्वी सन् १६५४। निवास स्थान—नेपल्स। मठका नाम—... । देहावसान—५ मार्च, १७३४)

जो प्राणी ईश्वरोन्मुख होता है, वह कभी पाप नहीं कर सकता, सदा निर्दोष रहता है और आगे चलकर एक महान् संत हो जाता है।

हमें सदा ईश्वरपर भरोसा करना चाहिये, ऐसा करनेसे निस्सन्देह हमें बहुत बड़ी सान्त्वना मिलेगी।

ईश्वर दयालु पिताकी तरह सबसे प्रेम करते हैं और सबकी सन्तान अपने मनानुसार करते हैं। संदेह नहीं करना चाहिये, ईश्वरका चिन्तन करना चाहिये, वे हमारी समस्त आवश्यकताएँ पूरी कर देते हैं।

सदा ईश्वरसे प्रेम करते रहनेकी ही हमारी कामना हो; ईश्वर हमसे सदा प्रेम करते हैं। बालकके समान ईश्वरसे ही प्रेम करना चाहिये, ईश्वरके प्रति प्रेम एक विलक्षण निधि है। वह प्राणी भाग्यवान्—धन्य है जो ईश्वरसे प्रेम करता है।

है; ये उपर्युक्त क्रमसे नियमबद्ध होनेपर आपके भीतर प्रकाशका प्रसारण करते रहेंगे तथा आप भी हीरेकी ही तरह चमकेंगे। समस्त वस्तु चेतनतासे परिव्याप्त है; हमें सत्यसे मिथ्या प्रकाशसे अन्धकारको पृथक् करनेकी शिक्षा लेनी है।

श्रीजेम्स एलन

जहाँपर आशङ्का, दुःख, चिन्ता, भय, कष्ट, क्षोभ और निरुत्साह होता है वहींपर विश्वासका अभाव भी होता है। ये मानसिक परिस्थितियाँ स्वार्थके प्रत्यक्ष फल हैं और इनका आधार बुराइयोंकी शक्ति और प्रधानताके सहज विश्वासपर है। इस कारण ये नास्तिकताके वास्तविक स्वरूप हैं और बराबर इन्हीं निषेधात्मक आत्म-विनाशक मानसिक अवस्थाओंके अनुसार ही रहना और उनका कारण बनना सच्ची नास्तिकता है।

कोई कठिनाई, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो, ऐसी नहीं, जो शान्ति और शक्तिके साथ चित्त एकाग्र करनेपर जीती न जा सकती हो; और कोई न्यायानुमोदित उद्देश्य ऐसा नहीं, जो अपनी आध्यात्मिक शक्तियोंके विवेकपूर्ण प्रयोग और संचालनसे तुरंत प्राप्त न किया जा सके।

जिन बड़े अधिकारों और उच्च स्थानोंको महान् पुरुषोंने प्राप्तकर उनका उपभोग किया था, वे केवल छलाँग मारकर एकाएक नहीं पहुँचे थे, बल्कि वे केवल रात्रिमें, जिस वक्त उनके साथी सोते थे, बराबर जागकर पूर्ण उन्नतिके लिये परिश्रम किया करते थे।

इच्छा ही नरक है और उसीमें सारी पीड़ाएँ केन्द्रस्थ हैं। इच्छाओंको छोड़ना स्वर्ग प्राप्त करना है, जहाँपर सब प्रकारके सुख यात्रीकी प्रतीक्षा करते हैं।

जिस समय आप अपने स्वार्थको छोड़कर त्यागपर उद्यत हो जायँगे, उसी समय स्थायी सुख आपको प्राप्त होने लगेगा।

दूसरोंके प्रेममें जिस हृदयने अपनेको भुला दिया है, उसको केवल सर्वोत्तम परमानन्दका ही सुख प्राप्त नहीं है, बल्कि अब वह अमरत्वमें प्रवेश कर गया; क्योंकि परमेश्वरका अनुभव अब उसे प्राप्त हो गया।

नर-नारी अन्धे बनकर इधर-उधर सुखकी खोजमें ... नहीं मिल सकता। ये इस बातको नहीं मान लेते कि सुख उनके अंदर ही है, उनके चारों ओर विश्वमें भरा पड़ा है और अपनी स्वार्थमयी खोजसे वे अपनेको सुखसे अलग हटाते चले जा रहे हैं।

त्यागके बिना न तो कोई उन्नति हो सकती है और न किसी उद्देश्यकी पूर्ति। सांसारिक सफलता वहींतक प्राप्त हो सकेगी, जहाँतक कि मनुष्य अपने पाशविक विचारोंका हनन कर लेगा, अपने मस्तिष्कको अपनी आयोजनापर स्थिर रक्खेगा और स्वावलम्बी होते हुए अपने भरोसे दृढ़ रहेगा। अपने विचारोंको वह जितना ही ऊँचा उठा लेगा, उतना ही वह सच्चा धर्मात्मा और साहसी बन जायगा, उतनी ही उसे स्थायी सफलता भी मिलेगी और वह सुखका भागी होगा।

जितनी भी सफलताएँ हैं, चाहे वे व्यापारमें हों या मानसिक या आध्यात्मिक, वे सब विचारोंको ठीक मार्गपर लगानेसे ही मिलती हैं। सबके लिये एक ही नियम है, एक ही विधि है, अन्तर केवल उद्देश्यमें है।

आत्मसंयम धनसे भी मूल्यवान् है। शान्तिसे मनुष्यका स्थायी कल्याण होता है।

एक विद्वान्का कथन है कि मनुष्यके लिये सत्य वैसी ही अमूल्य वस्तु है जैसे कि स्त्रीके लिये शील। जिस मनुष्यमें सत्य नहीं है उसे मनुष्य कहलानेका कोई अधिकार नहीं है और वह पशुओंसे भी गया-बीता है। अतएव हमें सत्य बोलना चाहिये। हम चाहे कहीं हों और किसी दशामें हों, सत्यका कभी परित्याग न करें।

मनुष्य जबतक मनसा, वाचा और कर्मणा झूठ बोलना नहीं छोड़ देता, जबतक उसे इस भयानक पापका दुष्परिणाम भलीभाँति अवगत नहीं हो जाता, तबतक वह सच्चा ईमानदार नहीं बन सकता। जिस प्रकार पागल मनुष्य आसमानसे सूर्यको पकड़कर नहीं ला सकता, उसी प्रकार बेईमान ईमानदारको नुकसान नहीं पहुँचा सकता। बेईमान यदि

लौटकर बेईमानको ही हानि पहुँचायेगा और ईमानदार साफ बच जायगा।

अपनी बुद्धि और अपने नैतिक बलको कायम रखकर और सरलतासे जीवन बिताकर मनुष्य बड़ा हो सकता है। उसकी किसी असली वस्तुकी हानि नहीं होती। वह केवल बनावटीपनको निकालकर फेंक देता है जिससे उसका चरित्ररूपी असली सोना चमकता रहता है। जहाँ सचाई है वहीं प्राकृतिक सरलता होती है।

पक्षपातहीन मनुष्य बुद्धिमान् होता है। उसकी बुद्धि उसकी सहायक होती है। उसके काम उसकी रक्षा करते हैं। बुद्धिके द्वारा वह सुमार्गमें चलकर सुखी होता है।

पक्षपातहीनताका स्तम्भ इस प्रकार बड़ा वजनी और मजबूत होता है और उन्नतिके मन्दिरको सुशोभित करता हुआ वह उसके भारको सँभाले रहता है।

सहानुभूति ऐसी सार्वभौमिक भाषा है जिसे जानवर भी समझ लेते हैं और उनकी कद्र करते हैं। चाहे जानवर हो चाहे मनुष्य, दुःख सभीको उठाना पड़ता है, इसलिये सहानुभूतिका अनुभव सभी प्राणी करते हैं।

स्वार्थी मनुष्य दूसरोंको हानि पहुँचाकर अपना भला करते हैं, किंतु सहानुभूति करनेवाला अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरोंको लाभ पहुँचाता है। स्वार्थका त्याग करनेसे कोई वास्तविक हानि नहीं होती; क्योंकि स्वार्थीका आनन्द थोड़े समयके लिये होता है, किंतु सहानुभूति करनेवालेकी अच्छी कृति चिरस्थायी होती है।

मामूली काममें भी सहानुभूतिसे बड़ा काम निकलता है; क्योंकि लोग उस पुरुषकी ओर हमेशा झुकते हैं जिसका स्वभाव कोमल और दयालु होता है तथा उस पुरुषकी ओरसे खिंचे रहते हैं जो निर्दय और कठोर होता है। सहानुभूति करनेवाला साधारण बुद्धिका भी मनुष्य सहानुभूति न करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषसे हर जगह बाजी मार ले जाता है।

स्वावलम्बन और स्वाभिमानमें अन्तर है। पहला बहुत ही ऊँचा गुण है और दूसरा निम्नकोटिका अवगुण। स्वावलम्बनमें कोई तुच्छ चीज नहीं हो सकती और स्वाभिमानमें कोई बड़ी चीज नहीं हो सकती।

जीवनका कोई भाग ऐसा नहीं जिसमें स्वावलम्बनके आधारपर मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। अध्यापक, धार्मिक, उपदेशक, व्यवसायक, प्रबन्धक और ओवरसियर (जिनके पास बहुत-से आदमी रहते हैं) को तो अवश्य ही स्वावलम्बी होना चाहिये।

स्वावलम्बनमें चार महान् गुण हैं—

(१) निश्चय, (२) दृढ़ता, (३) गौरव, (४) स्वतन्त्रता।

मनुष्यको अपने और अपने समाजके हितके लिये परिश्रम करना चाहिये। जबतक वह लँगड़ा न हो जाय, जबतक वह अपाहिज न हो जाय, तबतक उसे दूसरोंके सहारे नहीं रहना चाहिये। यदि सहारे रहना स्वतन्त्रता है तो उसे निकृष्ट दर्जेकी गुलामी समझना चाहिये। जो दूसरोंके सहारे रहेगा उसका लोग समय आनेपर खुले आम अपमान करेंगे।

× × ×

अधिक खाना भी स्वास्थ्यके लिये बुरा है और कम खाना भी बुरा है। खाने पीनेमें मनुष्यको संयमी होना चाहिये। जो मनुष्य संयमी नहीं होते, वे ही मदिरा आदिका सेवन करने लगते हैं और विषय वासनामें लिप्त हो जाते हैं। इन सब ऐबोंसे संयमी मनुष्य बचे रहते हैं। वे उतना ही भोजन करते हैं जितना वे पचा सकते हैं और जो स्वास्थ्यके लिये लाभदायक होता है। शरीर और स्वास्थ्यके लिये बहुत सादे और हल्के भोजनकी जरूरत है। हम साधारणतया यह कह सकते हैं कि गायका दूध बहुत ही हल्का, सादा, सात्त्विक और स्वास्थ्यप्रद है। यह प्रायः बालकसे लेकर वृद्धतक सभीके लिये उपयोगी है। इसका सेवन मनुष्य प्रत्येक अवस्थामें कर सकता है।

आत्माका काफी बल क्रोधादिके कारण नष्ट होता है। शरीरको भस्म कर देनेके लिये क्रोधसे बढ़कर कोई चीज नहीं। क्रोधी मनुष्य दिन-रात अपनेको जलाया करता है। चिन्ता भी मनुष्यके शरीरके लिये विषतुल्य है। चिन्ताकी उपमा चितासे दी जाती है। ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, घृणा सब शरीरको घुलानेवाली हैं। इनसे मन और शरीर दोनोंकी अवनति होती है। महीनोंसे उत्तम काम करके मनुष्य इतना नहीं बढ़ता, जितना क्रोध करके अथवा चिन्ता करके एक घंटेमें घट जाता है। हमने देखा है कि कभी-कभी मनुष्य क्रोधके आवेशमें पागल बन जाते हैं, बेहोश हो जाते हैं और कई तो आत्महत्यातक कर लेते हैं।

मित्र हो चाहे भाई, मित्र हो चाहे सम्बन्धी, दूसरोंके

श्री एच० पी० ब्लेवास्तकी

[जन्म सन् १८०१, मृत्यु १८९१ ई०, थियासोफी मतकी प्रवर्तिका, रूसीमहिला ।]

(प्रेषक—श्रीमदनबिहारीजी)

शुद्ध जीवन, उन्मुक्त मन, पवित्र हृदय, उत्सुक बुद्धि, आवरणरहित आध्यात्मिक दृष्टि, सबके प्रति भ्रातृ-प्रेम, सलाह और शिक्षा लेने-देनेकी तत्परता, अपने प्रति किये गये अन्यायोंका वीरतापूर्वक सहन, सिद्धान्तोंकी निर्भीक घोषणा, अन्य लोगों-पर अन्यायपूर्वक आक्षेप होनेपर उनका दृढ़तापूर्वक संरक्षण तथा ब्रह्मविद्याप्रदर्शित मानव-उन्नति एवं पूर्णताके आदर्शोंपर निरन्तर दृष्टि—ये ही स्वर्ण-सोपान हैं, जिनके द्वारा जिज्ञासु ब्रह्मज्ञान-मन्दिरतक पहुँच सकता है ।

डाक्टर एनी बेसेंट

(थियोसोफीकी प्रधान प्रचारिका, जन्म आयर्लैण्डमें सन् १८४७, मृत्यु १९३३ ई०)

उन्नतिके मार्गपर चलनेवाले पुरुषका ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों उनका यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि संसारकी समस्त क्रियाएँ पूर्ण नीतिसे तथा न्याय-पूर्वक होती हैं । उन्नति करके जब पुरुष ऊर्ध्व लोकोंमें जाकर तथा वहाँकी लीलाको दृष्टिगोचर कर—उस ज्ञानको जाग्रत् अवस्थाकी उपाधिमें लाने लगता है, तब यह निश्चय अधिक होता जाता है और इससे आनन्द भी अधिक बढ़ता है कि सत्य-नीतिका व्यवहार इस प्रकार होता है कि उसमें कभी भूल-चूक नहीं होती और उसके अधिकारी ऐसी निर्भ्रान्त अन्तर्दृष्टि और सुनिश्चित शक्तिसे काम करते हैं कि उसमें किसी प्रकारका दोष नहीं आता है ।

जो मनुष्य प्राप्त अवसरका यथाशक्ति पूर्णरूपसे परोपकारमें सदुपयोग करता है, उसे इसके फलस्वरूप आगामी जन्ममें परोपकार करनेका विशेष समागम—योग मिलता है। जो मनुष्य इस जीवनमें अपने संसर्गमें आनेवाले प्रत्येक मनुष्यकी सहायता करता है, उसे आगामी जन्ममे ऐसे सम्बन्धोंमें देह मिलता है, जिनमें परोपकार और सेवा करने-का पर्याप्त समय सुलभ रहता है ।

केवल हमारे कर्म ही हमको रोकते हैं और हमारी इच्छाएँ ही हमें बाँधती हैं—एक बार भी इस सत्यका अनुभव हो जानेसे मुक्तिका द्वार सुलभ हो जाता है । प्रकृति उस मनुष्यको बन्धनमें नहीं रख सकती है, जिसने ज्ञानद्वारा बल (शक्ति) प्राप्त कर लिया है और इन दोनों (ज्ञान और शक्ति) को ईश्वरार्पण कार्योंमें सदुपयोग .. है ।

'हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार मनुष्य अपने विचारोंद्वारा ही बना है । मनुष्य जैसा सोचता है वैसा बन जाता है अतएव हमें नित्य उस अनन्तका चिन्तन करना चाहिये ।' इस्राइलके एक ज्ञानी राजाने बुरे मनुष्योंके सहवाससे बचनेके लिये सावधान करते हुए कहा है—'जैसा मनुष्य अपने हृदयमें सोचता है वैसा ही वह है ।' भगवान् बुद्धने भी कहा है कि 'जो कुछ हम हैं अपने विचारोंद्वारा ही बने हैं ।' विचार कार्यको जन्म देता है अर्थात् कार्य विचारद्वारा ही पैदा होते हैं; हम जैसे विचार करते हैं, वही रूप हमारा स्वभाव धारण कर लेता है । आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि शरीर विचारका अनुगमन करता है ।

विचारोंमें जब ऐसी प्रबल शक्ति है तब स्वभावतः यह जानना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि इन विचारोंसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेके लिये इनका प्रयोग हम कैसे करें । ध्यान या मननद्वारा हम इस विचार-शक्तिका अच्छे-से-अच्छा प्रयोग कर सकते हैं । इसका सबसे सरल मार्ग निम्नलिखित है । सभी लोग स्वयं प्रयास करके इसकी उपयोगिताकी परीक्षा कर सकते हैं ।

अपने स्वभावका निरीक्षण करके उसका कोई अवगुण या दोष ढूँढ़ लो । अब देखो कि इस अवगुणका विपरीत गुण क्या है ? मान लो कि तुम बड़े चिड़चिड़े स्वभावके हो; अब इसके विपरीत गुण धैर्यको ले लो और नियमितरूपसे नित्य प्रातःकाल सांसारिक कार्योंमें प्रवृत्त होनेके पूर्व ही चार-पाँच मिनटतक शान्त भावसे बैठो तथा 'धैर्य' पर विचार करो । इसके गुण तथा इसकी सुन्दरताका अपने मनमें मनन

करो। चिढ़नेका अवसर आनेपर किस प्रकार धैर्यका प्रयोग करोगे, इसकी कल्पना करो। आज उसके एक पहलूपर, कल किसी दूसरे पहलूपर ध्यान करो। मन जब इधर-उधर भागे तब उसे हटा अपने विषयपर लगाओ। ध्यानमें ही तुम अपनेको पूर्ण धैर्यवान् तथा धैर्यके एक आदर्शके रूपमें देखो तथा इस संकल्पके साथ इस ध्यानको समाप्त करो—'यह धैर्य जो मेरा वास्तविक स्वरूप है, इसीका मैं आज अनुभव करूँगा और आजके जीवनमें धैर्यका प्रदर्शन पूर्णरूपेण करूँगा।'

कदाचित् कुछ दिनोंतक कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर न होगा तथा चिड़चिड़ापन अभी भी तुम अनुभव करोगे और उसे प्रकट भी कर दोगे; किंतु नित्य प्रातःकाल अभ्यास करते जाओ। धीरे-धीरे ऐसा होगा कि जैसे ही चिड़चिड़ेपन-की कोई बात तुम्हारे मुँहसे निकलेगी, वैसे ही तुम्हारे मनमें यह भाव भी पैदा होगा कि हमें धैर्यवान् होना चाहिये था। फिर भी अभ्यासमें लगे रहो। चिड़चिड़ेपनका भाव क्रमशः क्षीण होता जायगा और अन्तमें तुम देखोगे कि चिड़चिड़ापन तुम्हारे अंदरसे एकदम विलुप्त हो गया है तथा धैर्य तुम्हारा स्वाभाविक गुण बन गया है।

यह एक प्रयोग है जिसका कोई भी व्यक्ति अभ्यास करके इसकी सत्यताको अपने लिये सिद्ध कर सकता है। एक बार इसकी सत्यता प्रमाणित हो जानेपर वह ऐसे प्रयोग-द्वारा सभी गुणोंको अपना सकता है और इस प्रकार विचारोंकी शक्तिका सदुपयोग कर अपना स्वभाव आदर्श बना सकता है। विचारोंका दूसरा उपयोग हम दूसरोंतक अच्छे विचारोंको भेजकर कर सकते हैं। किसी दुःखी व्यक्ति-को धैर्यका विचार भेजकर हम उसकी सहायता कर सकते हैं। एक मित्र जो सत्यके अन्वेषणमें है, उसके पास जो कुछ सत्यता हम जानते हैं, उसे स्वच्छ और निश्चित विचारोंद्वारा भेजकर हम उसकी सहायता कर सकते हैं। मानसिक वायु-मण्डलमें हम ऐसे विचार भेज सकते हैं जो ग्रहणशील स्वभाववालोंके उत्थानमें प्रेरणा दे सकते हैं, उनको पावन बना सकते हैं एवं उनके हृदयमें उत्साह उत्पन्न कर सकते हैं। जिन्हें हम प्रेम करते हैं, उनके पास सुरक्षक विचार भेजकर उनके लिये रक्षक तैयार कर सकते हैं। जिस प्रकार झरनेका मीठा पानी प्यासोंकी सहायता करता है, उसी प्रकार सत्य और उत्कृष्ट विचार सतत आशीर्वाद और हितकामनाके रूपमें लोगोंको लाभान्वित करता रहता है।

इसके विपरीत चित्रको भी हमें नहीं भूलना चाहिये। जिस प्रकार अच्छे विचारोंसे भलाई होती है, उसी प्रकार बुरे विचारोंसे तत्काल बुराई भी होती है। विचारोंसे चोट भी *पहुँचायी जा सकती है तथा कष्ट-निवारण भी किया जा सकता है।* दुःख भी हो सकता है सुख भी। बुरे विचार, जो वायु-मण्डलमें भेजे जाते हैं, दूसरोंतक पहुँचकर उनके मस्तिष्कमें विष पैदा कर देते हैं। क्रोध और बदला लेनेवाले विचार हत्या करनेमें प्रोत्साहन एवं प्रेरणा दे सकते हैं। दूसरोंकी बुराई करनेवाले विचार किसीपर झूठा दोषारोपण करनेवाले-की जिह्वाको पैनी कर सकते हैं तथा उसके क्रोधरूपी बाणमें और तेजी ला देते हैं। दुष्ट विचारोंसे भरा हुआ मस्तिष्क, एक ऐसा चुम्बक बन जाता है, जो दूसरोंके वैसे ही बुरे विचारोंको अपनी ओर आकर्षित करता रहता है और इसी तरह उस मौलिक बुराईमें और भी परिवृद्धि होती जाती है। बुरा विचार करना बुराई करनेकी ओर प्रथम कदम है तथा एक कलुषित कल्पनाका परिणाम बुराई ही होता है। 'मनुष्य जैसा सोचता है वैसा वह बन जाता है' यह उक्ति अच्छे और बुरे दोनों तरहके कार्योंमें समभावसे लागू होती है। सभी मनुष्योंके अंदर एक ऐसी उत्कृष्ट प्रवृत्ति रहती है जो बुराईसे दूर रहनेके लिये प्रेरणा देती रहती है; यह प्रवृत्ति बुरे विचारोंमें रत रहनेसे नष्ट हो जाती है तथा मनुष्य स्वच्छन्दतासे बुराई करने लगता है।

संत सियारामजी

(जन्मस्थान ग्राम मरदी, जिला चित्रकूट-बाँदा)

अपने मुँहसे अपनी स्तुति करना दम्भ है, जब कोई दूसरा आपकी तारीफ करे, तब आप उसमें न फँसें। अपनी कमजोरियोंका ख्याल करें कि 'अभी तो यह बात कुछ भी नहीं है, बहुत-सी कमी है, जो उनको नहीं मालूम।' बल्कि तारीफ करनेवालेसे कह दें कि 'भाई! मैं इस तारीफके लायक नहीं हूँ। अपनी कमजोरियोंको मैं ही जानता हूँ।'

खाना, पीना, टट्टी जाना, पेशाब करना, मंजन, कुल्ला, मल करना, सिर मोंजना, कच्चे पेड़ काटना और

श्री एच० पी० ब्लेवास्तकी

[जन्म सन् १८०१, मृत्यु १८९१ ई०, थियासोफी मार्गी प्रवर्तिका, रूसीमहिला ।]

(प्रेषक—श्रीमदनबिहारीजी)

शुद्ध जीवन, उन्मुक्त मन, पवित्र हृदय, उत्सुक बुद्धि, आवरणरहित आध्यात्मिक दृष्टि, सबके प्रति भ्रातृ-प्रेम, सलाह और शिक्षा लेने-देनेकी तत्परता, अपने प्रति किये गये अन्यायोंका वीरतापूर्वक सहन, सिद्धान्तोंकी निर्भीक घोषणा, अन्य लोगों-पर अन्यायपूर्वक आक्षेप होनेपर उनका दृढतापूर्वक [illegible] तथा ब्रह्मविद्याप्रदर्शित मानव-उन्नति एवं पूर्णताके [illegible] निरन्तर दृष्टि—ये ही स्वर्ण-सोपान हैं, जिनके द्वारा [illegible] ब्रह्मज्ञान-मन्दिरतक पहुँच सकता है ।

डाक्टर एनी बेसेंट

(थियोसोफीकी प्रधान प्रचारिका, जन्म आयर्लेण्डमें सन् १८४७, मृत्यु १९३३ ई०)

उन्नतिके मार्गपर चलनेवाले पुरुषका ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि संसारकी समस्त क्रियाएँ पूर्ण नीतिसे तथा न्याय-पूर्वक होती हैं । उन्नति करके जब पुरुष ऊर्ध्व लोकोंमें जाकर तथा वहाँकी लीलाको दृष्टिगोचर कर—उस ज्ञानको जाग्रत् अवस्थाकी उपाधिमें लाने लगता है, तब यह निश्चय अधिक होता जाता है और इससे आनन्द भी अधिक बढ़ता है कि सत्य-नीतिका व्यवहार इस प्रकार होता है कि उसमें कभी भूल-चूक नहीं होती और उसके अधिकारी ऐसी निर्भ्रान्त अन्तर्दृष्टि और सुनिश्चित शक्तिसे काम करते हैं कि उसमें किसी प्रकारका दोष नहीं आता है ।

जो मनुष्य प्राप्त अवसरका यथाशक्ति पूर्णरूपसे परोपकारमें सदुपयोग करता है, उसे इसके फलस्वरूप आगामी जन्ममें परोपकार करनेका विशेष समागम—योग मिलता है। जो मनुष्य इस जीवनमें अपने संसर्गमें आनेवाले प्रत्येक मनुष्यकी सहायता करता है, उसे आगामी जन्ममें ऐसे सम्बन्धोंमें देह मिलता है, जिनमें परोपकार और सेवा करने-का पर्याप्त समय सुलभ रहता है ।

केवल हमारे कर्म ही हमको रोकते हैं और हमारी इच्छाएँ ही हमें बाँधती हैं—एक बार भी इस सत्यका अनुभव हो जानेसे मुक्तिका द्वार सुलभ हो जाता है । प्रकृति उस मनुष्यको बन्धनमें नहीं रख सकती है, जिसने ज्ञानद्वारा बल (शक्ति) प्राप्त कर लिया है और इन दोनों (ज्ञान और शक्ति) को ईश्वरार्पण कार्योंमें सदुपयोग करता है ।

'हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार मनुष्य अपने विचारोंद्वारा ही बना है । मनुष्य जैसा सोचता है वैसा बन जाता है अतएव हमें नित्य उस अनन्तका चिन्तन करना चाहिये ।' इस्राइलके एक ज्ञानी राजाने बुरे मनुष्योंके सहवाससे बचनेके लिये सावधान करते हुए कहा है—'जैसा मनुष्य अपने हृदयमें सोचता है वैसा ही वह है ।' भगवान् बुद्धने भी कहा है कि 'जो कुछ हम हैं अपने विचारोंद्वारा ही बने हैं।' विचार कार्यको जन्म देता है अर्थात् कार्य विचारद्वारा ही पैदा होते हैं; हम जैसे विचार करते हैं, वही रूप हमारा स्वभाव धारण कर लेता है । आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि शरीर विचारका अनुगमन करता है ।

विचारोंमें जब ऐसी प्रबल शक्ति है तब स्वभावतः यह जानना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि इन विचारोंसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेके लिये इनका प्रयोग हम कैसे करें । ध्यान या मननद्वारा हम इस विचार-शक्तिका अच्छे-से-अच्छा प्रयोग कर सकते हैं । इसका सबसे सरल मार्ग निम्नलिखित है । सभी लोग स्वयं प्रयास करके इसकी उपयोगिताकी परीक्षा कर सकते हैं ।

अपने स्वभावका निरीक्षण करके उसका [illegible] दोष ढूँढ़ लो । अब देखो कि इस [illegible] का विपरीत [illegible] है ? मान लो कि तुम बड़े चिड़चिड़े स्वभाव[illegible] इसके विपरीत गुण धैर्यको ले लो और [illegible] प्रातःकाल सांसारिक कार्योंमें प्रवृत्त [illegible] मिनटतक शान्त भावसे बैठो तथा [illegible] इसके गुण तथा इसकी सुन्दरता[illegible]

बुद्धि-बल तथा धैर्य दीजिये कि मैं इस दुःखको सहार जाऊँ । यह आपकी मेरे ऊपर बड़ी दयालुता होगी ।' जो पुरुष सच्चे दिलसे ईश्वरसे बारम्बार प्रार्थना करता है, प्रभु कभी-न-कभी उसकी प्रार्थनाको स्वीकार कर ही लेते हैं । जितने प्राणधारी हैं, दुःख सबको होता है । जो ईश्वरविश्वासी धार्मिक तथा धैर्यवान् हैं, वे सहार जाते हैं । जो अधीर हैं वे रोते रहते हैं ।

गीतामें भगवान् कहते हैं जो सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ इत्यादि द्वन्द्वोंको सहारते हैं, वे ही मोक्षके अधिकारी होते हैं; क्योंकि ये सब जीवके भोग हैं, जो उसके प्रारब्ध-अनुसार होते हैं । इनसे भागना पाप है । जो कुछ आ गया उसको धैर्यके साथ भुगत लेना ही धार्मिक पुरुषोंको उचित है ।

देह धरेका दण्ड है सब काहू को होय ।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से मूरख भुगते रोय ॥

बड़े-बड़े साधु-महात्माओंपर भी दुःख आता है, परंतु वे इस तरह रोते-पीटते नहीं । वे अपने मनको प्रभुकी बंदगीमें लगाये रहते हैं और इस तरहसे समय निकाल देते हैं । जहाँ-जहाँ भक्तोंका मन फँसा होता है, वहाँ-वहाँसे वे किसी-न-किसी तरह हटा लेते हैं । उनकी महिमाको कोई समझ नहीं सकता । यहाँ एक बड़े भारी सेठ थे, जो श्रीकृष्ण भगवान्‌के भक्त थे और वृन्दावन-वास करते थे । जब उनका जवान लड़का, जो उनके साथ ही यहाँ रहता था, मर गया, तब उन्होंने बड़ी खुशी मनायी और बिरादरीको पीले पत्र भेजे कि मुझको बहुत आनन्द हुआ जो मेरा लड़का वृन्दावनमें मरा, वह सीधा परधामको जायगा । देखो ! भक्तोंका हृदय और धैर्य ऐसा होता है ।

भगवान् कहते हैं जो संसारको लात मारकर मेरी शरणमें आता है, उसकी जरूरतोंको मैं आप ही पूर्ण करता हूँ और कराता हूँ । इसलिये तुमको ईश्वरपर पूर्ण भरोसा रखना चाहिये । परमेश्वर तो हमेशा हैं, वे ही तो असली रक्षक हैं । जिसका हृदय शुद्ध है उसकी रक्षा परमात्मा आप ही करते हैं और ऐसा ही सलाह प्राप्त करा देते हैं । जिनका पिछला पुण्य अधिक है, उनको मुकाबला कम करना पड़ता है । और जिनका कुछ कम है, उनको कुछ अधिक मुकाबला करना पड़ता है, परन्तु परीक्षा होती जरूर है । प्रह्लाद, ध्रुव, मीराँबाई आदि सबकी परीक्षा हुई है । और अब भी होती रहती है । जितनी ही कठिन परीक्षामें पास होकर जीव निकलता है, उतनी ही उसकी उन्नति अधिक होती है और वह ईश्वरका प्यारा बनता है । और जल्दी ही इस आवागमनरूपी बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌की गोदमें जा पहुँचता है ।

इस जन्ममें जो हानि-लाभ, संयोग-वियोग, सुख-दुःख प्राप्त हो रहा है, वह पिछले जन्मोंके अनुसार हो रहा है । इसलिये तुमको ईश्वरके न्यायपर सब्र करना चाहिये ।

जो दुष्ट लोग हैं, वे अपने स्वभावको नहीं छोड़ सकते; क्योंकि उनको उसीमें सुख प्रतीत होता है, चाहे पीछे उनको उसका बुरा फल भोगना पड़े । परन्तु पीछेकी वे परवा नहीं करते । वे तो अभी जिससे सुख मिले वही करते हैं; परन्तु जो ईश्वरभक्त हैं, वे उनकी दुष्टतासे बुरा नहीं मानते; क्योंकि—

खल परिहास मोर हित होई ।

महात्मा तुलसीदासजी कहते हैं—दुष्टोंके हँसनेसे और मेरी बुराई करनेसे मेरा भला है । इसलिये उन्होंने रामायणकी रचना करते हुए दुष्टोंको भी प्रणाम ही किया है ।

संत श्रीशाहन्शाहजी

(राजपुर [देहरादून] में आश्रम, प्रसिद्ध संत, देहान्त १ अप्रैल सन् १९५२ ई०)

राम नाम जपते रहो जिस बिध जपिया जाय ।
कभी तो दीनदयालजी बोलेंगे मुसुकाय ॥
बोलेंगे मुसुकाय छोड़ दो आनाकानी ।
रहो नाममें लिप्त, न हो जिससे कछु हानी ॥
कहे शाहन्शाह आप सदा लेते रहो नाम ।
काम करेंगे पूर्ण सभी रे तुम्हरे श्रीराम ॥

प्रेम

प्रेम गलीमें पग धरा, औ सिरका करे बचाव ।
डूबेगी मँझधारमें, कागजकी यह नाव ॥
कागजकी यह नाव कभी न पार पहुँचाय ।
अपने [illegible] प्रेम हुए [illegible] ॥

पालन करना—इतनी बातें पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े और मनुष्योंमें एक-जैसी होती हैं । यदि मनुष्य-शरीर पाकर इतना ही किया तो वह पशुओंके बराबर रहा और वह मरकर अधोगतिको प्राप्त होगा; परंतु यदि उसने विचार किया और धर्मको समझा तथा दुःखके कारणको नाश किया, थोड़ेसे सुखके लिये अपने आपको दुःखमें न डाला, इन्द्रियोंके विषयोंकी परवा न की, उनको जीत लिया, तो उसने देवलोकको जीत लिया । मरनेपर उसकी बहुत उत्तम गति होगी और यहाँ भी वह सुखी रहेगा।

राजा धृतराष्ट्र अन्धे थे, इसलिये वे नेत्रोंका सुख नहीं ले सकते थे । उनकी स्त्री गान्धारी सच्ची पतिव्रता थी, इसलिये उसने भी नेत्रोंका सुख लेना छोड़ दिया था। वह आँखोंमें पट्टी बाँधे रखती थी । बुद्ध महाराजकी स्त्रीने जब देखा कि उसके पतिने पलंगपर सोना तथा नमक, खटाई, मिठाई आदि स्वादिष्ट पदार्थोंको खाना छोड़ दिया, तब उसने भी ऐसा ही किया । इन बातोंसे उसका पति जन्मभर उससे प्रसन्न रहा । राज-पाट छोड़ दिया; परंतु उससे प्रेम नहीं छोड़ा । जो सच्ची पतिव्रता होती हैं, वे उस सुखको नहीं ग्रहण करतीं, जिसको पति नहीं ग्रहण करता और उसके साथ-साथ अपना भी सुधार करती जाती हैं, परंतु जो दिखलावेकी पतिव्रता होती हैं, वे मनमाना करती हैं, बल्कि पतिके कल्याणके रास्तेमें विघ्नरूपसे खड़ी हो जाती हैं । इससे वे इस जन्मको गँवाती हैं और परलोक भी बिगाड़ लेती हैं; परंतु जो सच्ची पतिव्रता होती हैं, वे देवलोकको जीत लेती हैं, यहाँ भी उनका यश होता है और वे सुखी रहती हैं तथा मरनेपर बहुत उत्तम गतिको प्राप्त होती हैं ।

जो पुरुष किसी दुश्मनसे लड़ना चाहता है और दुश्मनके पक्षके आदमियोंको अपनी तरफ मिलाकर जीतना चाहता है, उस मूर्खको जीतकी आशा छोड़ देनी चाहिये; क्योंकि जब दुश्मनके पक्षके आदमी दुश्मनकी ही तरफदारी करनेवाले हैं, तब वे कब फतह होने देंगे ? इसी तरह जो पुरुष काम-क्रोध आदि विषयोंको नष्ट करना चाहता है, उसे चाहिये कि उनके पक्षके लड़नेवालोंको अपनी सहायतामें न रक्खे, नहीं तो, उसका पक्ष निर्बल रहेगा और वह धोखा खायेगा । जितना पापका अंश है वह उनके पक्षका है और जो पुण्य अर्थात् धर्मका अंश है, वह उनके विरुद्ध पक्षका है । जो मनुष्य किञ्चित् मात्र भी पापसे काम लेना चाहता है, उसके लिये इनको जीतना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। परंतु जो पुरुष अपने हृदयसे प्रथम पापका बीज नाश करता है, केवल धर्म अर्थात् सचाईपर खड़ा होता है । (धर्मका लक्षण मनुस्मृति या गीताके सोलहवें अध्यायमें अच्छी तरह निर्णय किया गया है), वही Sooner or later (शीघ्र तथा देरसे) फतह पानेकी उम्मीद रख सकता है ।

यदि तुम सफलता चाहते हो तो तुमको ईश्वरके सामने दृढ़ प्रण करना चाहिये कि 'बस, अब पाप बिल्कुल नहीं करूँगा । सचाईसे कभी नहीं गिरूँगा' और ईश्वरसे सच्चे मनसे प्रार्थना करो, कि वे तुमको सहायता प्रदान करें । जब तुम धर्मपर आरूढ़ होकर पुरुषार्थ करोगे, तभी सफलताकी आशा कर सकते हो । नहीं तो, प्रथम तो तुमको सफलता-सी दीखेगी, परंतु पीछे पापसे हृदय मलिन होकर गिर जाओगे, मलिन हृदयमें सत्यका प्रकाश कभी नहीं होता ।

अभ्यासमें उन्नति न होनेका सबसे प्रथम कारण वैराग्य पूरा न होना है । दूसरा, पिछले कर्मोंका असर है । तीसरा, भोजनका सात्त्विक न होना है । यह गुण और कर्म-भेदसे दो प्रकारका होता है । चौथा कारण स्थानका सात्त्विक न होना है । और पाँचवाँ, वर्तमानमें व्यवहार सात्त्विक न होना है।

भोग बलवान् होता है । बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंकी बुद्धिको फेर देता है, फिर भी पुरुषार्थके साथ लड़ाई होती है । यदि पुरुषार्थ बलवान् हो तो उसीकी विजय होती है, इसलिये अभिमानसे बचना चाहिये और आलस्यरहित होकर आगेको प्रत्येक मिनट सावधान रहना चाहिये ।

कोशिशके फलके लिये ईश्वरपर ही निर्भर रहना चाहिये । यदि सफलता हो गयी तो ठीक है, परंतु यदि दैववशात् सफलता न हो तो अफसोस नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो कुछ प्रभु करते है, ठीक करते हैं । जीव अपनी कुबुद्धिसे उलटा समझकर ईश्वरको दोष लगाता है, अपने पापोंपर दृष्टि नहीं देता । इसीलिये दुखी रहता है। जो धार्मिक आत्मा है, वह ईश्वरपर विश्वास रखता है कि प्रभु न्यायकारी और दयालु भी हैं । वे जीवको जो दुःख देते हैं, वह बिना उसके अपराधोंके नहीं देते । चाहे वे अपराध पूर्वजन्मोंके हों, चाहे इसी जन्मके । और उसीकी दयापर विश्वास रखते हुए बिना शिकायत किये हुए उनसे यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभु ! आपने जो दुःख दिया है, वह आपने न्याय ही किया है । अब आपसे यह विनती है कि कृपा करके मुझे

बुद्धि-बल तथा धैर्य दीजिये कि मैं इस दुःखको सहार जाऊँ । यह आपकी मेरे ऊपर बड़ी दयालुता होगी ।' जो पुरुष सच्चे दिलसे ईश्वरसे बारम्बार प्रार्थना करता है, प्रभु कभी-न-कभी उसकी प्रार्थनाको स्वीकार कर ही लेते हैं । जितने प्राणधारी हैं, दुःख सबको होता है । जो ईश्वरविश्वासी धार्मिक तथा धैर्यवान् हैं, वे सहार जाते हैं । जो अधीर हैं वे रोते रहते हैं ।

गीतामें भगवान् कहते हैं जो सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ इत्यादि द्वन्द्वोंको सहारते हैं, वे ही मोक्षके अधिकारी होते हैं; क्योंकि ये सब जीवके भोग हैं, जो उसके प्रारब्ध-अनुसार होते हैं । इनसे भागना पाप है । जो कुछ आ गया उसको धैर्यके साथ भुगत लेना ही धार्मिक पुरुषोंको उचित है ।

> देह धरे का दण्ड है सब काहू को होय ।
> ज्ञानी भुगते ज्ञान से मूरख भुगते रोय ॥

बड़े-बड़े साधु-महात्माओंपर भी दुःख आता है, परंतु वे इस तरह रोते-पीटते नहीं । वे अपने मनको प्रभुकी बंदगीमें लगाये रहते हैं और इस तरहसे समय निकाल देते हैं । जहाँ-जहाँ भक्तोंका मन फँसा होता है, वहाँ-वहाँसे वे किसी-न-किसी तरह हटा लेते हैं । उनकी महिमाको कोई समझ नहीं सकता । यहाँ एक बड़े भारी सेठ थे, जो श्रीकृष्ण भगवान्के भक्त थे और वृन्दावन-वास करते थे । जब उनका जवान लड़का, जो उनके साथ ही यहाँ रहता था, मर गया, तब उन्होंने बड़ी खुशी मनायी और बिरादरीको पीले पत्र भेजे कि मुझको बहुत आनन्द हुआ जो मेरा लड़का वृन्दावनमें मरा, वह सीधा परधामको जायगा । देखो ! भक्तोंका हृदय और धैर्य ऐसा होता है ।

भगवान् कहते हैं जो संसारको लात मारकर मेरी शरणमें आता है, उसकी जरूरतोंको मैं आप ही पूर्ण करता हूँ और कराता हूँ । इसलिये तुमको ईश्वरपर पूर्ण भरोसा रखना चाहिये । परमेश्वर तो हमेशा हैं, वे ही तो असली रक्षक हैं । जिनका हृदय शुद्ध है उनकी रक्षा परमात्मा आप ही करते हैं और ऐसा ही सत्सङ्ग प्राप्त करा देते हैं । जिनका पिछला पुण्य अधिक है, उनको मुकाबला कम करना पड़ता है । और जिनका कुछ कम है, उनको कुछ अधिक मुकाबला करना पड़ता है, परन्तु परीक्षा होती जरूर है । प्रह्लाद, ध्रुव, मीराँबाई आदि सबकी परीक्षा हुई है । और अब भी होती रहती है । जितनी ही कठिन परीक्षामें पास होकर जीव निकलता है, उतनी ही उसकी उन्नति अधिक होती है और वह ईश्वरका प्यारा बनता है । और जल्दी ही इस आवागमनरूपी बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्की गोदमें जा पहुँचता है ।

इस जन्ममें जो हानि-लाभ, संयोग-वियोग, सुख-दुःख प्राप्त हो रहा है, वह पिछले जन्मोंके अनुसार हो रहा है । इसलिये तुमको ईश्वरके न्यायपर सब्र करना चाहिये ।

जो दुष्ट लोग हैं, वे अपने स्वभावको नहीं छोड़ सकते; क्योंकि उनको उसीमें सुख प्रतीत होता है, चाहे पीछे उनको उसका बुरा फल भोगना पड़े । परन्तु पीछेकी वे परवा नहीं करते । वे तो अभी जिससे सुख मिले वही करते हैं; परन्तु जो ईश्वरभक्त हैं, वे उनकी दुष्टतासे बुरा नहीं मानते; क्योंकि—

> पर परिहास मोर हित होई ।

महात्मा तुलसीदासजी कहते हैं—दुष्टोंके हँसनेसे और मेरी बुराई करनेसे मेरा भला है । इसलिये उन्होंने रामायणकी रचना करते हुए दुष्टोंको भी प्रणाम ही किया है ।

संत श्रीशाहन्शाहजी

(राजपुर [देहरादून] में आश्रम, प्रसिद्ध संत, देहान्त १ अप्रैल सन् १९५३ ई०)

> राम नाम जपते रहो जिस विध जपिया जाय ।
> कभी तो दीनदयालजी बोलेंगे मुसुकाय ॥
> बोलेंगे मुसुकाय छोड़ दो आनाकानी ।
> रहो नाममें निरत, न हो जिससे कछु हानी ॥
> कहे शाहन्शाह आप सदा लेते रहो नाम ।
> काम बनेंगे पूर्ण सभी रे तुम्हरे भगवान ॥

प्रेम

> प्रेम गलीमें पग धरा, औ सिरका करे बखान ।
> डूबेगी मझधारमें, कागजकी यह नाव ॥
> कागजकी यह नाव कभी न पार पहुँचावे ।
> आये सिरका प्रेम तुझे अरे कैसे हुनर ॥

कहे शाहन्शाह प्रेम नहीं जाने कछु नेम।
यदि नेम कछु राखे नहीं है पूरा प्रेम॥

प्रेम गलीमें बास कर, राखे भीतर मान।
कभी न पूरा समझिए, वाका ज्ञान औ ध्यान॥
वाका ज्ञान औ ध्यान सभी तुम बिरथा जानो।
प्रेम पूर्ण जो पुरुष उसे ही ज्ञानी मानो॥
कहे शाहन्शाह प्रेम रहे तब रहे न नेम।
नेम न उतरे पूरा यदि न होवे प्रेम॥

चोट प्रेम लागी जिसे, औ सूझे संसार।
वाको झूठा जानिए, कपटी औ मक्कार॥
कपटी औ मक्कार भेद जो मनमें राखे।
ब्रह्मानन्दके रसको कभी न कपटी चाखे॥
कहे शाहन्शाह राखे जो टट्टीकी ओट।
कभी निशाने लागे नाहीं उसकी चोट॥

मन प्रेमीका हर घड़ी, रहे तहाँ जहाँ प्रीत।
जगत न वाको भासता, उलटी ताकी रीत॥
उलटी ताकी रीत रसम नहीं जाने जगकी।
बात करे वह सदा ही सबसे प्रेमके मगकी॥
कहे शाहन्शाह करे निछावर तन मन औ धन।
सब बातोंमें देखे हैं वह प्रभुको जामन॥

जिसकी प्रेम कमानका, हृदय लागा बान।
आठ पहर चौसठ घड़ी, राखे वाका ध्यान॥
राखे वाका ध्यान रखे नहीं कान वह मनमें।
लागी रहे है लगन सदा ही उसके तनमें॥
कहे शाहन्शाह जाने दुनियाँ गाँठ है जिसकी।
लगा रहे है ध्यान उसीमें लागी जिसकी॥

नाम प्रेम जाने सभी, बिरला बरते प्रेम।
जहाँ प्रेम नहिं नेम है, जहाँ नेम नहिं प्रेम॥
जहाँ नेम नहिं प्रेम इसे निश्चय कर जानो।
रहे दया भरपूर जो उसको प्रेमी मानो॥
कहे शाहन्शाह तजे यह सगरे औघट काम।
जात बरण कुल भेद तजे यह रूप अरु नाम॥

रहे प्रेम नित जिस हृदय, तामें भगवत बास।
[illegible]ा रहे भरपूर यह, कभू न निपटे रास॥
[illegible] न निपटे रास आस हो सगरी पूरी।
हरिसे राखे काम जगत पर डारे धूरी॥
कहे शाहन्शाह दुख-सुख सारे सुखसे सहे।
जिस बिध राखे राम उसी बिध राजी रहे॥

जप तप व्रत सब ही करे, त्यागे बस्तर अन्न।
शाहन्शाह बिन प्रेमके, कभू न हो परसन्न॥
कभू न हो परसन्न, प्रभू धूनीके तापे।
पावे निश्चय ग्यान तजे जो झूठे स्यापे॥
कहे शाहन्शाह दूर होवें तीनों ही ताप तब।
करे जो हरिको याद छोड़के सगरे तप जप॥

प्रार्थना

दयासिंधु भगवंतजी, सुनिए हमरी टेर।
मिलनेको हमरे प्रभु, काहे करी है देर॥
काहे करी है देर हरी कछु मुखसे बोलो।
करैं खुला दीदार बेग घूँघट-पट खोलो॥
कहें शाहन्शाह हमसे क्या कुछ औगुण भया।
अब लों स्वामी हम पर जो नहीं भई है,दया॥

बिना तुम्हारी मेहरके, दरस कभी नहिं होय।
चाहे हम सब माल धन, सहित जानके खोय॥
सहित जानके खोय बुद्धी विद्या सगरी।
नहीं होवें दीदार बिना किरपाके तुमरी॥
कहे शाहन्शाह छोड़ सकल चतुराई मना।
नहीं बनेगा काम हरि किरपाके बिना॥

दीनसरण दुखहरण हो, तुम स्वामी मैं दास।
तुमरी कृपा-कटाक्ष बिन, कभी मिटै नहिं त्रास॥
कभी मिटै नहीं त्रास आस छूटे नहीं तनकी।
दूर न हो आभास फास निकसे नहिं मनकी॥
कहे शाहन्शाह ध्यानमें हो जो तुमरे लीन।
मिटे ताप संताप रहे कबहूँ न दीन॥

जाना तुमको है प्रभु, घट घट जाननहार।
फिर परदा क्यों राखियो, हे मेरे करतार॥
हे मेरे करतार! करो अब दूर यह परदा।
दया दृष्टि अब करो आनके अपना बरदा॥
कहे रंक हो दयाल गुसाईं कृपानिधाना।
राखो अपने साथ मिटा आना औ जाना॥

हमने तो तुमपर भलाई औ बुराई छोड़ दी।
भूतके करमोंकी अपने आज गरदन तोड़ दी॥
टूटा रिस्ता गाँठा है तुमसे जहाँसे तोड़कर।
दुनियाके नखरेकी हाँडी अब तो हमने फोड़ दी॥
चाहे तुम मानो न मानो हमने तो माना तुम्हें।
टूटी थी जो तार पहले उसको फिरसे जोड़ दी॥
ऐ शाहन्शाह सच्चे दिलसे करके रुख तेरी तरफ।
बाग अब तो दुन्याए-दूकी तरफसे मोड़ दी॥

भक्तराज श्रीयादवजी महाराज

[जन्म-स्थान सुदामापुरी, भाद्रसुदा (वामन) द्वादशी, संवत् १९१२, देहावसान ज्येष्ठ कृष्णा ११ संवत् १९८८]

(प्रेषक—श्रीभवानीशंकर 'सिंह' जोशी)

१. जवानीमें मौज करना और बुढ़ापा आनेपर माला लेकर भगवान्‌को भजना, आम खाकर गुठलीका दान करने-जैसा है, अतः जवानीसे ही प्रभुकी भक्ति करनी चाहिये।

२. धनी मनुष्यके आमने-सामने बैठनेसे तो साधु पुरुषके आगे बैठना अच्छा है। भक्तजन तो भगवान्‌के स्मरण-कीर्तनको ही अपनी आजीविका समझते हैं।

३. बबूलके पेड़के नीचे बैठनेसे काँटा लगता ही है, वैसे ही दुष्टजनोंकी संगतिसे दुःख होना अवश्यम्भावी है।

४. जिस प्रकार सर्पके एक ही जहरीले दंशनसे मनुष्य मर जाता है, उसी प्रकार नरकमें जानेके लिये एक ही पाप काफी है।

५. जैसे टूटे हुए नगारेकी आवाज अच्छी नहीं होती, वैसे ही अनीतिमान् गुरुका बोध भी भक्तपर असर नहीं करता।

६. फलवाली डाल जैसे झुकी रहती है, वैसे ही गुणवान् पुरुष भी नम्र बने रहते हैं।

७. जिसके हृदयमें प्रभुका वास होता है, वहाँ 'अहं' भाव नहीं रहता; जहाँ 'अहं' भाव रहता है वहाँ प्रभुका निवास नहीं होता।

८. जिन विश्वरूप भगवान्‌की कृपासे तुम्हें धन प्राप्त हुआ है, उन्हींकी सेवामें खर्च करनेमें ही उसकी शोभा है।

९. जैसे इत्रकी शीशी खोलनेसे सदा सुगन्ध ही आती है, वैसे ही सद्गुरुके मुखसे सदा उपदेश-वाक्य ही निकला करते हैं।

१०. जो आदमी दूसरेको कुएँसे बाहर निकालना चाहता है, उसे पहले अपने पैर मजबूत कर लेने चाहिये। इसी तरह जो गुरु बनना चाहे, उसे पहले स्वयं पूरा ज्ञानी बनना चाहिये।

११. जैसे नाव चारों ओर पानीसे घिरी हुई रहती है, फिर भी जल उसमें प्रवेश नहीं कर सकता, उसी प्रकार संसारकी घोर वासनाओंके बीचमें रहते हुए भी संतजन अलिप्त रहते हैं।

१२. मनुष्यको अपने घरपर स्नेह होता है, परंतु पैसोंवाली तिजोरीपर उससे ज्यादा स्नेह होता है, उसी प्रकार भगवान्‌को सारा संसार प्यारा है, पर उसमें भी जो भक्तजन हैं वे उनको अधिक प्यारे हैं।

१३. जिस प्रकार सूर्यके सामने जानेवालेको अपनी छाया नहीं दीखती, इसी प्रकार भगवान्‌के सम्मुख जानेवालेको अज्ञान और नरकका मुँह भी नहीं देखना पड़ता।

१४. शक्तिसे उपरान्त पैसे खर्च करके तीर्थयात्रा करनेकी अपेक्षा तो घर बैठे ही मन शुद्ध करना अधिक उत्तम तीर्थ-सेवन है।

१५. भला करनेवालेका भला तो प्रायः सभी करते हैं, पर जो बुरा करनेवालेका भी भला करता है, वही असलमें भगवान्‌का भक्त है।

१६. सांसारिक पुरुषोंको जैसे कुटुम्बियोंके यहाँ जाना अच्छा लगता है, वैसे ही जब तुम्हें भगवान्‌के मन्दिरमें जाना अच्छा लगे, तभी समझना कि भक्तिका प्रारम्भ हुआ है।

१७. ईश्वर मनुष्यके लिये अवतार लेता है, परंतु मनुष्य अपनेको ईश्वरके अर्पण नहीं करता।

१८. जैसे सब नदियाँ समुद्रकी ओर जाती हैं, वैसे ही सब धर्म प्रभुका ज्ञान बतलाते हैं।

१९. संसार तो मुसाफिरखाना है, असली घर तो प्रभुका धाम है।

२०. जिसे घरमें चोर न घुसने देना हो, उसे चौकस

विश्वास रखकर और अपने अन्तःकरणको उन कर्मोंमें बहुत प्रीतियुक्त तथा एकाग्र रखकर कर्म करो। इस प्रकार यदि तुम शास्त्रोक्त कर्मोंको करोगे तो अवश्य तुम्हारे हृदयकी पवित्रता बढ़ेगी और तुमको परमार्थके साधन सम्पादन करनेकी अधिक योग्यता प्राप्त होगी। विधिका त्याग करके, कर्म तथा फलके सम्बन्धको पूर्णतया न समझकर, पूरा विश्वास न रखकर, बिना प्रीतिपूर्वक तथा चित्तको एकाग्र न रखकर किया गया कर्म फलदाता नहीं होता, उसमें केवल श्रम ही होता है—यह कदापि न भूलना। तुम जो शास्त्रोक्त कर्म करते हो, उस कर्मके द्वारा शास्त्रमें कहे गये फलका तुम्हारे अन्तःकरणमें कितना अनुभव होता है, यह देखते रहना और उस कर्ममें जो-जो सुधार करनेकी आवश्यकता जान पड़े, वह उचित सुधार तुम्हें प्रीतिपूर्वक करते रहना चाहिये।

हे प्रभुकी अनन्य भक्तिकी इच्छा करनेवालो! तुम अपने अन्तःकरणकी ओर दृष्टि करो और तुम्हारे अन्तःकरणमें प्रीतिका स्रोत किन-किन प्राणियोंकी ओर बह रहा है, इसे सावधानतापूर्वक निश्चय करो। पश्चात् परमात्मासे भिन्न किसी प्राणि-पदार्थकी ओर तुम्हारे अन्तःकरणके जो-जो स्रोत बड़े और वेगसे बहनेवाले जान पड़ें, उन उन स्रोतोंको, छोटे और मन्द गतिवाले बनानेका प्रयत्न करो तथा परमात्माकी ओर बहनेवाले अपने अन्तःकरणके स्रोतको उत्तरोत्तर अधिक बड़ा तथा अधिकाधिक वेगयुक्त करनेके लिये सर्वदा आदरपूर्वक प्रयत्न करते रहो। इस प्रकार निरन्तर आदरपूर्वक प्रयत्न करते हुए अपने अन्तःकरणके अन्य प्राणि-पदार्थोंकी ओर बहनेवाले स्रोतोंको लगभग शुष्क तथा वेग-रहित कर डालो और परमात्माकी ओर बहनेवाले अपने अन्तःकरणके स्रोतोंको अधिक बड़ा तथा अधिक तीव्र वेगवान् बनाओ। परमात्मामें अगाध और अटूट विशुद्ध प्रीति रखना ही भक्ति है। केवल परमात्माकी प्रतिमाका भटकते मनसे पूजन करना वास्तविक भक्ति नहीं, यह कदापि न भूलना। यदि तुमको परम कृपालु और आनन्द-महोदधि परमात्माके समीप पहुँचना है और वहीं सर्वदा निवास करना है तो देहाभिमानरूप, सांसारिक तृष्णारूप भार रखकर वहाँ जाओ, जबतक देहाभिमान और संसारानुराग तुम्हारे चित्तमें रहेगा, तबतक तुम वहाँ जा नहीं सकते—यह सदा स्मरण रखना।

हे चित्तनिरोधकी इच्छा करनेवालो! तुम मैली—बोलीको, नाना प्रकारके आसनोंको, कुम्भकोंको तथा मुद्राओं-को ही योग मानकर वहाँ ही अटके न रहो। चित्तकी [illegible] प्रकारकी वृत्तियोंका रोध करना ही योग है। इसलिये [illegible] योगको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करो। पहले अपने चि[illegible] शास्त्रोक्त कर्मोंसे और प्रभुभक्तिसे पवित्र करो और फिर [illegible] सद्गुरुके उपदेशके अनुसार अपने चित्तको एकाग्र तथा नि[illegible] करनेका प्रयत्न करो।

हे ब्रह्मज्ञान सम्पादन करनेकी इच्छा करनेवालो! तु[illegible] यदि सर्वव्यापक और सबके कारणरूप ब्रह्मका ज्ञान सम्[illegible] करना है तो तुम विवेकादि चार साधनोंका भली[illegible] सम्पादन करो। संसारको असार समझकर श्रोत्रिय, ब्रह्म[illegible] और परम कारुणिक सद्गुरुकी शरणमें जाओ; बहुत मान[illegible] और दीनतासे उसकी सेवा करो। उनके हितकर उपदे[illegible] खूब भावसे श्रवण करो, उनको ग्रहण तथा धारण क[illegible] एकान्तमें उन उपदेशोंका युक्ति और आदरके साथ म[illegible] करते रहो। तुमको उनके उपदेश किये हुए ब्रह्म-स्व[illegible] लेशभर भी संशय न रहे, तब तुम उस ब्रह्मके आ[illegible] अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंके प्रवाहको चलानेका प्रयत्न [illegible] अन्य जड पदार्थोंके आकारमें बने हुए, अन्तःक[illegible] चिरकालसे पड़े हुए स्वभावको धीरे-धीरे क्षीण कर डा[illegible] अनात्माकार वृत्तियोंको रोकनेमें और आत्माकार वृत्ति[illegible] तथा ब्रह्माकार वृत्तियोंके प्रवाहको सतत चलानेमें पहले तु[illegible] बहुत परिश्रम प्रतीत होगा, परन्तु इससे घबराना नहीं। [illegible] प्रीति और सावधानतापूर्वक चिरकालतक यह प्रयत्न निर[illegible] करते रहनेसे तुम्हें अपना श्रम सफल दीख पड़ेगा। [illegible] साधनोंके द्वारा साध्यकी प्राप्ति होती है, यह तुम्हारे [illegible] सज्जनको अज्ञात हो, यह सम्भव नहीं। तुमको दुर्लभ [illegible] परमानन्दरूप सर्वोत्तम स्थिति प्राप्त करनी हो तो इस [illegible] को प्राप्त करनेके लिये तुम्हें उसके साधनोंका अनुष्ठान [illegible] बहुत उत्तम रीतिसे करना चाहिये।

हे दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पानेवालो! यदि तुमको दु[illegible] दुराचरण और दुर्व्यसन सन्मार्गमें प्रवृत्त होने नहीं [illegible] तो तुम सत्सङ्गमें रहना शुरू करो, सद्ग्रन्थोंका अध्ययन [illegible] और दान तथा दूसरे पुण्य कर्मोंको करते रहो। तुमको [illegible] दुराचरण या दुर्व्यसन लग गया हो या तुमने [illegible] या दुर्व्यसनको पकड़ रक्खा हो, उसे [illegible] धीरे-धीरे करते रहो। यदि [illegible] करते रहोगे तो [illegible]

करनेके अपने प्रयत्नमें अधिक या न्यून परिमाणमें जल्दी या देरसे अवश्य कृतकार्य होगे।

हे दयालु स्वभाववालो! जैसे तुम दुःखरहित परमानन्द-स्वरूपको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हो, वैसे ही तुम्हारे पोष्यवर्गमें अथवा सधवा या विधवा स्त्रियाँ हों तो, उनको भी ऐसी स्थिति प्राप्त करनेकी इच्छा हो सकती है, इसलिये उनको भी ऐसी स्थिति प्राप्त करनेमें जो-जो उपयोगी सामग्री आवश्यक हो तथा उनको यह कार्य सिद्ध करनेके लिये जितने समयकी आवश्यकता हो, उतनी सामग्री और उतना समय उनको मिले, ऐसी सर्व प्रकारकी सुविधा करके तुम अपने हृदयको अवश्य उदारतावाला बनाओ।

अपने पुत्र-पुत्रियोंको भी तुम बचपनसे ही पवित्रताके पालनमें, नीतिके पालनमें और शुभकर्ममें प्रीतिमान् बनाओ। बचपनमें पड़ा हुआ शुभ संस्कार बड़े होनेपर बहुत उपयोगी हो जाता है। इसे कदापि न भूलो।

धन-तृष्णा और पुरुषके लिये स्त्रीतृष्णा सत्यकी यथार्थ प्रतीति नहीं होने देती, इसलिये विवेकके द्वारा इन तृष्णाओं-को कम करनेका प्रयत्न करना चाहिये। क्रोध, अविवेक, अभिमान, ईर्ष्या, दम्भ, भय, शोक और आश्चर्य—इन दोषोंको भी विवेकके द्वारा बलहीन कर डालो। जबतक अन्तःकरण रजोगुण और तमोगुणके दोषोंसे मलिन रहेगा, तबतक तुमको सत्यका यथार्थ भान नहीं हो सकेगा। इसलिये पवित्र पुरुषोंका सङ्ग करके मनके इन दोषोंको क्रमशः निवृत्त करते रहो तथा मनकी पवित्रता और शान्तिको बढ़ाते रहो। यह सब तुम्हें अपने ही इहलोक या परलोकके सुखके लिये या मोक्षकी प्राप्तिके लिये ही करना है, किसी दूसरेके ऊपर उपकारके रूपमें नहीं, यह मत भूलो।

सर्वदा शुभ विचार और शुभ कर्म यदि न भी कर सकते हो तो विशेष हानि नहीं है, परंतु कुविचार और कुकर्म अवश्य ही महान् हानिकर हैं। इसलिये कुविचार और कुकर्मसे तो सब मनुष्योंको सदा बहुत दूर रहना चाहिये।

जिस विचार या जिस क्रियाके द्वारा परम शान्ति और परम सुखकी प्राप्तिकी प्रबल सम्भावना हो, उसी विचार और उसी क्रियाके पक्षपाती बनो, परंतु मत-मतान्तरका, मज़हबका या रूढ़िका पक्षपाती किसी भी सत्यसुखकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको नहीं होना चाहिये।

अपने तथा प्रतीत होनेवाले जगत्के वास्तविक कारणको तुम्हें खोज करनी है, वह कारण एक और अद्वैतस्वरूप है, अतएव तुम्हें प्रतीत होनेवाले भेदोंको धीरे-धीरे विवेक विचारसे दूर करते रहना चाहिये।

जिस-जिस वस्तु, क्रिया या विचारके सेवनसे तुमको अपने अन्तःकरणमें मूढ़ता, व्याकुलता, चञ्चलता और क्लेशका अनुभव होता हो, उस-उस वस्तु, क्रिया या विचार-से अपने अन्तःकरणको मुक्त करने तथा मुक्त रखनेका सतत प्रयत्न करते रहो।

भक्त श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण

(जन्म-स्थान—बंगालके वीरभूमि जिलेमें एकचक्रा ग्राम, गौडीय वैष्णव-सम्प्रदायके महान् विद्वान्, १०७ वर्षकी उम्रमें देह-त्याग)

स्वाधीनता

हमारे मनमें निरन्तर परस्पर आघात करती हुई जो वासनाएँ समुद्रके तरङ्गोंकी भाँति हमको उत्क्षिप्त, विक्षिप्त और प्रक्षिप्त कर डालती हैं; निरन्तर जो विद्रोह, संग्राम हमारे हृदय-क्षेत्रको बेलाक्लावके अशान्तिमय रणक्षेत्रसे भी घोर अशान्ति-मय कर डालता है—अनन्त ज्वालामुखीकी सृष्टि कर रहा है; हम निरन्तर जो सारहीन भोग-लालसाकी कामनासे परिचालित और विचालित हो रहे हैं, उन सब कामनाओंको निरस्त किये बिना कहाँ तो हमारा यथार्थ स्वराज्य है और कहाँ स्वाधीनता है! जो लोग निरन्तर पाशवी वासनाजालमें, वासनाकी बेड़ियोंमें जकड़े हुए हैं, राज-द्रोहमें उनकी स्वाधीनता या स्वराज्य-प्राप्तिकी कोई सम्भावना नहीं है। मैं तो आपकी इन सब बातोंका कोई अर्थ ही नहीं समझ पाता।

यदि आप सच्चा स्वराज्य और यथार्थ स्वाधीनता-प्राप्तिको ही अपने जीवनका पुण्यव्रत मानते हैं, तो सर्वप्रथम अपने गृह-शत्रु कामनाके विजयके लिये प्रस्तुत होइये। सबसे पहले वह उपाय खोजिये, जिसके द्वारा हृदयनिहित स्वार्थ-संतान' अजेय वासनाके संग्राममें विजय प्राप्त हो। मनुष्यको दुःख क्यों उत्पन्न होता है? मनु कहते हैं—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

अतएव पराधीनता दुःखका मूल है। यह सभी स्वीकार

करते हैं। किंतु 'पर' कौन है और 'अपना' कौन है ? इसके लिये न्याययुक्त वैज्ञानिक विचारमें प्रवृत्त होनेपर जान पड़ेगा कि केवल स्वेच्छाचारी, अत्याचारी राजा ही हमारा 'पर' नहीं है। केवल उसकी स्वार्थप्रेरित विधि-व्यवस्थाके अधीन होकर चलना ही हमारे दुःखका हेतु नहीं है। इससे हमारा यह कहना नहीं है कि यह दुःखका बिल्कुल ही कारण ही नहीं है। परंतु उस दुःखकी मात्रा अति अल्प है, उसको हम अनायास अग्राह्य भी कर सकते हैं। परंतु हमारे लिये अत्यन्त 'पर' है—हमारी हृदयगत न्यायरहित वासनाओंका समूह। नाना प्रकारकी स्वार्थवासनाएँ रात-दिन हमें व्याकुल करती रहती हैं। जिसको हम दासत्व कहकर घृणा करते हैं, स्वाधीनताका ढोंग करनेवाला मानकर दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, वह शत्रु है हमारे हृदयमें रहनेवाली वासना। हम वस्तुतः राजकीय विधानके दास नहीं हैं; हम रात-दिन दास हैं अपनी वासनाके। हमने चाट-चाटकर वासनाओंकी बेड़ीसे अपने पैरोंको जकड़ (We have forged our own shackles) रक्खा है। इस बेड़ीसे अपनेको मुक्त किये बिना हमारी सच्ची स्वाधीनताकी आशा विडम्बनामात्र है—स्वराज्य-प्राप्तिकी व्यर्थ आशा केवल मनमोदक खानेके समान है। हमारी वास्तविक स्वाधीनता तथा स्वराज्यकी प्राप्तिका उपाय स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें बतला दिया है—

> एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
> जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
> (३।४३)

अर्जुन ! तुम इस प्रकार आत्माको जानकर तथा मनको बुद्धिके द्वारा निश्चल करके कामरूप दुरासद शत्रुका विनाश करो। सकलसे उत्पन्न कामनाओंका पूर्णतया त्याग करो, मनके द्वारा इन्द्रियोंको संयत करो, धृतिगृहीत बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे चित्तको वशमें लाओ—यही स्वाधीनता-प्राप्तिका उपाय है, यही स्वराज्य-लाभका उपाय है।

सांख्यज्ञानका एक विशिष्ट सिद्धान्त भगवद्गीतामें व्याख्यात हुआ है। पुरुष स्वयं कर्त्ता नहीं है। प्रकृतिके गुणरूप इन्द्रियोंके द्वारा सारे कर्म निष्पन्न हो रहे हैं। जीव उस प्रकृतिके अहंकारके द्वारा विमूढ़ होकर 'मैं कर्त्ता हूँ' यह समझ रहा है। 'अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।'

इसी कारण जीव पराधीन है, इसीसे जीवका दासभाव (Slave-mentality) है। प्रकृति (Nature) ने स्वयं एक जीवयन्त्र(Mechanism)की सृष्टि कर रक्खी है। प्रकृतिके गुणरूप इन्द्रियाँ और इन्द्रियवृत्तियाँ तेलीके अनवट बाँधे बैलके समान निरन्तर जीवोंको दासत्वकी बेड़ीमें बाँधे रखती हैं। प्रकृतिके इस संयोग-सम्बन्धका विनाश किये बिना जीवकी मुक्ति नहीं, स्वाधीनता नहीं और न उसे स्वराज्यकी ही प्राप्ति हो सकती है; यही सांख्यज्ञानका सिद्धान्त है। गीताके 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' इस श्लोकमें सांख्यज्ञानकी प्रतिध्वनि है। आश्चर्यका विषय यह है कि जर्मन दार्शनिक काण्टने भी कपिलके इस सिद्धान्तकी प्रतिध्वनि करते हुए कहा है—"Freedom from the mechanism of Nature, and subjection of the Will only to laws given it as belonging to the Rational world.—'Abridged from Kant.'"

मनुष्य जबतक प्रकृतिके दासत्वसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसकी आत्माको स्वराज्य प्राप्त नहीं होगी तथा वह स्वतन्त्रता-प्राप्तिमें भी समर्थ न होगा। अपना शरीर, अपनी इन्द्रियाँ, अपना मन—ये भी हमारे स्वत्वके प्रतिद्वन्द्वी हैं। भूख, प्यास और निद्राकी इच्छा अनवरत हमारी स्वाधीनताके मस्तकपर लात मार रही है—नाना प्रकारकी इन्द्रियसुखकी वासनाएँ हमारी नकेल पकड़कर गधे या बैलके समान हमको इधर-उधर भटका रही हैं। नाना प्रकारकी वासनाएँ अनवरत हमारे स्वाधीन भावोंका विनाश कर रही हैं।

क्षण-क्षणमें हमारे शरीरमें जगह-जगह जो खुजलाहट पैदा होकर हमें अत्यन्त अस्थिर कर डालती है—क्या यह हमारी स्वाधीनताको नष्ट करनेवाली नहीं है ? रात-दिन क्षण-क्षण हमारी स्वाधीनता हमारे देहस्थ सहस्र-सहस्र जीवाणुओं-द्वारा आहत हो रही है। इसके अतिरिक्त रोग है, शोक है, क्रोध है, कामका तो बाहुल्य है ही। मान-अभिमान और यश-लिप्साकी असह्य खुजलाहट हमें उन्मत्तके समान परिभ्रान्त कर रही है। अधिक क्या, राजनीतिक प्रसङ्गोंमें सदस्य आदिके चुनावके समय हमें कितने लोगोंकी अधीनता स्वीकार करके बिना खाये-पिये, रातों जाग-जागकर कितना क्लेश सहन करना पड़ता है—यह सब तो सदा ही सबकी आँखोंके सामने होता है। स्वाधीनता कहाँ है ?

× × ×

मनुष्यके हृदयमें जो कुसुम-कोमल वृत्तियाँ हैं, उनमें प्रेमभक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है। हम माता-पिताके प्रति

भक्ति करते हैं, पत्नी और माता आदिके साथ प्रणयसूत्रमें आबद्ध होते हैं; पवित्र भाई-बहिन और पुत्र-पुत्री आदिसे स्नेह करते हैं। ये सभी प्रेमके विभिन्न रूप हैं। मनुष्यका हृदय जब मनुष्यके मनुष्योचित सांसारिक आत्मीय सम्बन्धोंके परे ऊपर अज्ञात—अदृश्य किसी अतीन्द्रिय नित्य सुहृद्‌का संधान पाता है और कुसुम-कोमला भक्ति जब उसको खोजनेका प्रयास करती है, तब मानव-हृदय उस निरुपम, नित्यसुहृद्‌का संधान पाकर उसके सम्मुख मनकी बात और प्राणोंकी पीड़ा प्राण खोलकर रख देता है; इसीका नाम 'प्रार्थना' है। अतएव यह प्रार्थना-व्यापार मानव-हृदयकी अति समुन्नत, समुज्ज्वल स्वाभाविक क्रियाविशेष है। अर्द्धरात्रिमें नीरव—निर्जनमें, संसारके विविध विचित्र व्यापारोंसे मुक्त होकर हृदय जब हृदयेश्वरके चरणोंमें जी खोलकर सारी बातें कहने लगता है, तब वह व्यापार स्वभावतः ही अति सुन्दर अति मधुर होता है। उसमें हृदयका भाव अति उन्नत हो जाता है, सांसारिक दुश्चिन्तासे कलुषित और दग्ध हृदय पवित्र और प्रशान्त हो जाता है। वासना-प्रपीड़ित दुर्बल हृदयमें तड़ित्-शक्तिके सदृश नवीन बल संचारित होता है। साधकका विषादयुक्त मुख-मण्डल आनन्दमयकी आनन्द-किरणोंसे समुज्ज्वल और सुप्रसन्न हो उठता है। सत्यस्वरूप श्रीभगवान्‌की सच्चिदानन्द-ज्योतिसे उसका मुख-मण्डल समुद्भासित हो उठता है। हृदयका घनीभूत आनन्द, हिमालयके तुषारके सदृश विगलित होकर यमुना-जाह्नवीकी धाराके समान नयन-पथसे प्रवाहित होकर संसारके त्रितापतप्त वक्षःस्थलको सुशीतल कर देता है। दैन्य-दारिद्र्यकी तीव्र पीड़ा, गर्वित समाजकी दृप्त गर्जना, दुर्जनकी दुष्ट ताड़ना, रोग-शोककी दुःसह यातना तथा स्वार्थ-लम्पटोंकी कायरतापूर्ण लाञ्छना—ये सब इस सरल व्याकुल आन्तरिक प्रार्थनासे तिरोहित हो जाती हैं। नित्य-मधुर नित्य-सखाकी सुधा-मधुर-मुखच्छवि चित्तमुकुरमें प्रतिबिम्बित हो जाती है। उनकी मधुमयी वाणी कानोंमें मधु-धाराका संचार करती है। उसके एक-एक झंकारसे संसार-की विविध यन्त्रणा चित्तसे दूर हो जाती है। नयी-नयी आशाओंमें सौन्दर्य-माधुर्यमयी मोहिनी मूर्ति हृदयमें आकर दर्शन देती है, तब भय और निराशाको हृदयमें स्थान नहीं मिलता। हृदयमें पापमयी कुवासनाओंके प्रवेशका द्वार अवरुद्ध हो जाता है। प्रेमाभक्तिकी मन्दाकिनीके प्रवाहमें भीषण मरुस्थल, सहसा आनन्दके महासागरमें ो जाता है। प्रार्थनाके इस प्रकारके महाप्रभावके सहसा उद्गमके समय उसकी अमोघ क्रियाएँ इन्द्रजाल समान जान पड़ती हैं; परंतु कार्यतः ये क्रियाएँ नित्य सत्य रूपमें तथा शाश्वतरूपमें साधक-हृदयमें प्रतिष्ठित होकर साधकको इस नश्वर मर्त्य-जगत्‌में अमर कर देती हैं। दुःख दावानलके भीतर भी उसको स्निग्ध शीतल जाह्नवी-सलिल सुखमय निकेतनमें संरक्षित करती है।

हम सांसारिक जीव हैं, निरन्तर संसारके दुःखानलसे संतप्त हैं। विष्ठाकुण्डका कृमि जिस प्रकार निरन्तर विष्ठामें रहता हुआ उसकी दुर्गन्धका अनुभव नहीं कर पाता, हमारी दशा भी ठीक वैसी ही है। रोगके बाद रोग, शोकके बाद शोक, दैन्य—दुर्भिक्ष, लाञ्छन-गञ्जन और दुर्वासनाकी तरङ्गें सागर-तरङ्गोंकी भाँति क्षण-क्षण हमें अभिभूत किये डालती हैं। तथापि हम मुक्तिके उपायका अनुसंधान नहीं करते। भगवत्-प्रार्थनासे जो नित्य सुख-शान्तिकी प्राप्तिका एक अमोघ उपाय प्राप्त होता है, उसके लिये एक क्षण भी अवकाशका समय हम नहीं निकाल पाते। इससे बढ़कर दुर्भाग्यकी बात और क्या हो सकती है! एक दिन-रातमें चौबीस घंटे होते हैं, तेईस घंटा छोड़कर केवल एक घंटाका समय भी हम भगवत्प्रार्थनामें नहीं लगा सकते! यथार्थ बात यह है कि इस विषयके प्रति हमारी मति-गतिका अत्यन्त अभाव है। हमको अवकाश नहीं मिलता, यह कहना सर्वथा मिथ्या है।

आत्मोन्नतिके लिये जो अपने हृदयमें सदिच्छा रखते हैं, वे अनेकों कार्योंमें सतत नियुक्त रहकर भी अपने भजन-साधनके लिये समय निकाल लेते हैं। देहके अभावकी पूर्तिके लिये जैसे दैहिक भूख-प्यास स्वभावतः ही उदित होती है, उसी प्रकार भगवत्-चरणामृतके प्यासे आत्माको भी भूख-प्यास लगती है। आत्मा स्वाभाविक अवस्थामें भगवत्प्रसादकी प्राप्तिके लिये सहज ही व्याकुल होता है। निर्जन और शान्त स्थानमें बैठकर उनके चरणोंमें मनकी बात, प्राणोंकी व्यथा कहनेके लिये अधीर और व्याकुल हो उठता है और जबतक उनके साक्षात्कारका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, तबतक साधक-के हृदयको और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हमारे ऐहिक शरीरके सम्बन्धमें भी यही नियम है। स्वस्थ सबल देहको समयानुसार भूखमें अन्न और प्यासमें जल न मिले तो वह अत्यन्त व्याकुल और व्यस्त हो उठता है, परंतु आत्माका आवेग देहके आवेगकी अपेक्षा कहीं अधिकतर प्रबल होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि फिर आत्मामें भगवत्-उपासनाके लिये भूख-प्यास क्यों नहीं लगती ?—इसका उत्तर बहुत सहज है। अनेक जन्मोंके संचित अविद्यारूप श्लेष्माके गाढ़े और घने आवरणमें हमारी आत्माकी भगवत्-उपासनाकी जठराग्नि (God-hunger) एक प्रकारसे बुझ-सी गयी है। उस अग्नि को एक बार पुनः संदीप्त करना पड़ेगा, प्रज्वलित करना पड़ेगा। इसके बिना आत्माका यह मन्दाग्नि (Despepsia) रोग दूर न होगा। और उसका विषमय फल होगा आत्महत्या। यह आत्महत्या इस जगत्‌की आत्महत्याके समान नहीं है। साधारण आत्महत्यामें जो अपराध होता है, सुदीर्घकालके बाद उस महापापसे आत्माका छुटकारा होकर उसको सद्गति मिल सकती है। परंतु निरन्तर भगवत्सेवाविमुख होनेके कारण आत्माके अगोचरमें होनेवाली आत्महत्या एक महान् भीषण अपराध है। इस विषयमें समस्त नर-नारियोंको सावधान होनेकी आवश्यकता है। चिकित्सा कठिन नहीं है, औषध भी विकट नहीं है। यदि उपयुक्त औषध भलीभाँति विचारपूर्वक चुनी जाय तो यह होमियोपैथिक ओषधिके समान निर्विघ्न निर्विवाद तुरंत फल प्रदान करती है। प्रतिदिन कुछ समय भगवान्‌का नाम-जप करना, नाम-कीर्तन करना और सरल व्याकुल हृदयसे सकाम या निष्काम भावसे उनके चरणोंमें प्रार्थना करना ही यह अमोघ महौषध है।

× × ×

सकाम प्रार्थना

सकाम प्रार्थनाओंके लिये गृहस्थ लोग जो उपासना आदि किया करते हैं; उसको हम असङ्गत नहीं कह सकते। असहाय अवस्थामें अपने आवश्यक पदार्थोंके लिये लड़के-लड़कियाँ जिस प्रकार माता-पिताके सामने ऊधम मचाते हैं, जगत्पिता जगदीश्वरके सामने निःसहाय जीवका उसी प्रकार प्रार्थना करना अस्वाभाविक नहीं है। भगवद्विभूति इन्द्रादि देवगण वैदिक याग-यज्ञरूप उपासनाके वशीभूत होकर जो फल प्रदान करते हैं, वह भी प्राकृतिक नियमके बाहर नहीं।

इस विशाल अखिल ब्रह्माण्डके कार्यकलापकी पर्यालोचना करनेसे जान पड़ता है कि यह विचित्र ब्रह्माण्ड अत्यन्त शृङ्खलासे रचित है। यह इस प्रकार गठित है कि एक-दूसरेका सहायक हो सके, एक पदार्थ दूसरे पदार्थके साथ सम्बन्धमें संश्लिष्ट है। हममेंसे प्रत्येक ही इसके अंशस्वरूप हैं। अतएव आवश्यकता होनेपर हम अपने अदृश्य सजातीय ज्ञानमय जीवोंके द्वारा सहायता प्राप्त कर सकते हैं। अपने प्रत्यक्ष परिचित बन्धुओंसे वार्तालाप करके उनके द्वारा जैसे हम अपना कार्यसाधन कर सकते हैं, उसी प्रकार अदृश्य उन्नतर जीव अर्थात् देवताओंसे प्रार्थना करके विशेष फल प्राप्त करना हमारे लिये सम्भव हो सकता है।

परंतु जिनका चित्त अधिक उन्नत है, वे स्वार्थपूर्तिके लिये प्रार्थना करनेके लिये तैयार नहीं होते। 'धनं देहि जनं देहि' इत्यादि प्रार्थनाएँ अनुन्नत साधकके लिये प्रयोजनीय होनेपर भी शुद्ध भक्तलोग ऐसी प्रार्थना नहीं करते। यहाँतक कि जिस मुक्तिके द्वारा समस्त दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति होती है तथा सर्वानन्दकी प्राप्ति होती है, वे इस प्रकारकी मुक्तिको भी निरतिशय तुच्छ मानते हैं। भागवत परमहंस लोगोंमें जो विशुद्ध भक्त हैं, वे मुक्तिकी भी कामना नहीं करते।

श्रीमद्भागवतमें इसके अनेकों प्रमाण पाये जाते हैं। शुद्ध भक्तजन केवल भगवत्सेवाके सिवा अपने स्वार्थ-सम्बन्धकी कोई दूसरी प्रार्थना नहीं करते। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

अर्थात् 'हे गोविन्द ! मैं धन, जन, दिव्य स्त्री अथवा यशस्करी विद्या—कुछ भी नहीं चाहता। मेरी यही प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तर तुम्हारे चरणोंमें मेरी अहैतुकी भक्ति हो।' यह भी कामना तो है, परंतु इस कामनामें अपना भोग-सुख, इन्द्रिय-विलास—यहाँतक कि सर्वदुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिस्वरूप मोक्षकी प्रार्थनातक भी निरस्त हो गयी है। यदि भगवत्सेवामें या उनके सृष्ट जीवोंकी सेवामें अनन्त दुःख भोग करना पड़ता है, तो शुद्ध भक्त प्रसन्न चित्तसे, अम्लान वदनसे उसको भी स्वीकार करता है। श्रीगौराङ्ग-लीलामें देखा जाता है कि भगवान् श्रीगौराङ्ग जब महाप्रकाश-लीला प्रकट करके भक्तोंको वर माँगनेका आदेश देते हैं, तब अन्यान्य भक्त अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार वर माँगते हैं। वासुदेव नामक एक प्रसिद्ध भक्त थोड़ी दूरपर चुपचाप खड़ा इस व्यापारको देख रहा है। गौराङ्गसुन्दर बोले—'वासु ! तुम चुप क्यों हो, तुम क्या चाहते हो ?' वासुदेवने हाथ जोड़कर कहा—'दयामय ! यदि आप इस अधमको कोई वरदान देना चाहते हैं, तो यही वर दें कि समस्त जगत्‌की दुःख-यातना मुझको ही भोगनी पड़े। मैं सबके पाप-तापोंको ग्रहण करके अनन्त कालतक दुःख-

नरकमें पड़ा रहूँ, 'जगत्के जीव आनन्द प्राप्त करें।' इस प्रार्थनामें देखा जाता है कि जो लोग आत्म-सुखकी इच्छा छोड़कर परदुःखसे कातर होते हैं, समस्त क्लेशोंकी यातना सहन करके भी वे जगत्के जीवोंको सुख-शान्ति प्रदान करनेके लिये निष्कपट और मुक्तचित्तसे भगवान्से प्रार्थना करते हैं। वह प्रार्थना पूर्ण हो या न हो, किंतु प्रार्थयिताके हृदयकी विशाल उदारता तथा परदुःख-विमोचनके लिये उसका प्रभुसे अलौकिक अद्भुत प्रार्थना करना विश्वप्रेमका एक विपुल उच्चतम कीर्तिस्तम्भ है।

यही विशुद्ध भक्तकी प्रार्थनाका विशुद्ध आदर्श है।

भक्त कोकिल साईं

(जन्म-स्थान सिन्ध प्रान्तके जेकमाबाद जिलेका मीरपुर ग्राम, जन्म सं० १९४२, पिताका नाम श्रीरोचलदासजी और माताका नाम श्रीसुखदेवीजी। परलोकवास वृन्दावनमें सं० २००४।)

'ईश्वरके टेलीफोनका नम्बर निरहंकारता है। वह ईश्वर-की ओरसे सदा जुड़ा रहता है। कभी इंगेज नहीं होता। इधरसे ही जोड़नेकी जरूरत है। अहंकार छोड़कर अटल मनसे ऊँचे स्वरसे भगवान्के नाम-गुण-लीलाका कीर्तन करे। जैसे वायुके सम्बन्धसे पुष्पकी सुगन्ध नासिकातक पहुँचती है, वैसे ही सत्पुरुषके सम्बन्धसे निर्मलचित्त अनायास ही ईश्वरतक पहुँच जाता है।'

'व्याकरणके अनुसार भक्तिका अर्थ है विश्वासपूर्वक निष्कपट सेवा। हृषीकेश और उनके प्यारे संतोंकी सर्व शुभ इन्द्रियोंसे सेवा करना ही भक्ति है।'

'साधनाको छोटी वस्तु मत समझो। यह सद्गुरुकी दी हुई सिद्ध अवस्था है। यह रास्ता नहीं, मंजिल है। आनन्द-की पराकाष्ठा है। रास्ता समझोगे तो मंजिल दूर जानकर मन आलसी होगा। है भी यही बात। साधना ही मंजिल है। जो लोग बिना किसी लालचके रास्तेपर नहीं चल सकते, उनके लिये ही मंजिल अलग बतानी पड़ती है; नहीं तो भैया, मंजिलपर पहुँचकर करोगे क्या! करना तो यही पड़ेगा।'

'जितना सत्संग करे, उससे दुगुना मनन करे। थोड़ा खाकर अधिक चबानेसे स्वाद बढ़ता है। जैसे नींवके बिना महलका टिकना असम्भव है, वैसे ही मननके बिना सत्संगका। जैसे भोजनके एक-एक ग्राससे भूख मिटती है, तृप्ति होती है और शरीरका बल बढ़ता है, वैसे ही सत्संगकी जुगाली करनेसे विषयकी भूख मिटती है, रसकी वृद्धि होती है, प्रेमका एक-एक अङ्ग परिपुष्ट होता है।'

'भक्तिके मार्गमें पहले-पहल ईश्वरताकी बड़ी आवश्यकता है। ईश्वरकी निकटता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, दयालुता [illegible] सोचकर ही तो जीव उनसे डरकर सदाचारका पालन करते हैं। उनके समीप पहुँचनेकी इच्छा करते हैं और उनको जानते हैं। जब प्रभुका प्यार रग-रगमें भर जाता है, तब सहज ही ईश्वरता भूल जाती है। जब उनसे कुछ लेना ही नहीं, तब महाराज और ग्वारियामें क्या भेद रहा! वे हमारे प्यारे हैं, इसलिये हम उनकी कुशल चाहते हैं। एकने कहा—'वे बड़े दयालु हैं।' दूसरेने कहा—'वे तो अपने ही हैं।'

'जबतक जीव व्याकुल होकर ईश्वरके चरित्रमें डुबकी न लगायेगा, तबतक ईश्वरके घरकी झाँकी नहीं देख सकेगा। जैसे तागेको कोमल करके सुईमें पिरोते हैं, वैसे ही विरह-भावनासे मनको कोमल करके ईश्वरमें लगाना चाहिये। ईश्वरके लिये व्याकुलता अनायास ही संसारको छुड़ा देती है और मन प्रियतमके पास रहने लगता है।'

'जबतक यह संसार, इसका जीवन, इसकी जानकारी, इसका सुख प्यारेसे अलग, प्यारेके सम्बन्धसे रहित मालूम पड़ता है, तभीतक इसको असत्य कहनेकी जरूरत रहती है। जब इसके कण-कणमें, जर्रे-जर्रेमें श्रीप्रियतमकी ज्योति जगमगा रही है, उन्हींकी चमकसे सब चमक रहा है, वे स्वयं ही अपना सुख, अपना आनन्द सबके अंदर उँड़ेल रहे हैं, उनसे ही सब सराबोर हैं, वे ही अपने प्रेमोद्यानमें रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी क्रीड़ा कर रहे हैं, तब इसको असत्य कैसे कहें!'

'हमने यह अच्छी तरह सोच-समझकर देखा है कि यह असमर्थ जीव कादरचित्त और कमजोर-दिल है। दुःखमें इसे कोई-न-कोई पुकारनेकी जगह जरूर चाहिये। अगर इसके सभी रास्ते बंद होंगे तो यह निष्काम भक्तिमार्गपर नहीं चल सकेगा। जब चलते-चलते इसका प्यार प्रियतममें गाढ़ा हो जायगा, तब इसे कोई दूसरी इच्छा नहीं रहेगी। फिर

अपने आप पूर्ण निष्काम हो जायगा । मन कुछ प्रियतमके लिये चाहेगा ।'

× × ×

'नाम-जपके समय धाम, रूप, लीला और सेवाका चिन्तन होनेसे ही सच्चे भगवद्रसका उदय होता है । इसके बिना जो नाम-जप होगा, उससे वृत्तियोंकी शिथिलतामात्र होगी, द्रवता नहीं । वह मिट्टीके उस ढेलेके समान होगी जो गीला तो है, पर पिघलकर किसीकी ओर बहता नहीं है। तदाकारता तब होती है, जब चित्तवृत्ति पिघलकर इष्टदेवके साँचेमें ढलती है । केवल नामजपके समय जो आनन्द होता है, वह संसारकी चिन्ता और दुःखका भार उतर जानेका आनन्द है । इस भारमुक्त वृत्तिपर जब विरह-तापकी व्याकुलताकी आँच लगती है, तब पिघलकर वह इष्टदेवके आकारके साँचेमें ढलती है और लीलारसका अनुभव होने लगता है । इसलिये नाम-जपसे यदि चरित्र-समाजका अनुभव न होता हो तो बीच-बीचमें लीलाके पद गा-गाकर लीलाका भाव जाग्रत् करना चाहिये । नाम-जपसे विक्षेपकी निवृत्ति और पदसे लीलाका आविर्भाव होता है, फिर विक्षेप आने तो नाम-जप करो । जपसे मन एकाग्र हो तो फिर लीला चिन्तन करो ।'

'यह भगवान्का चिन्तन घंटे-दो-घंटेकी ड्यूटी अथवा धर्मपालन नहीं है । इसके लिये जीवनका सारा समय ही अर्पित करना पड़ता है । चलते-फिरते, काम-धंधा करते भी हृदयमें महापुरुषोंकी वाणीके अर्थका विचार करता रहे । उनमें अनेक भाव सूझें । उन भावोंसे मिलती-जुलती रसिकजनोंकी वाणियोंको ढूँढ़कर मिलान करे । उनमें लीलाके जो सुन्दर-सुन्दर भाव हैं, उनका अनुभव करे । इससे संसारके संकल्प मिटेंगे और भगवान्के प्रति मन-बुद्धिका अर्पण होगा । यह मनीराम बड़े रसिक हैं । चसका लग जानेपर नये-नये रस घोलते रहते हैं ।'

श्रीजीवाभक्त

धीरज तात छमा तुम मात, ह्र मानि सुलोचनि वाम प्रमानौ ।
सत्य सुपुत्र, दया भगिनी अरु भ्रात भले मन-संयम मानौ ॥
ज्ञानको भोजन, वस्त्र दसौं दिसि, भूमि पलंग, सदा सुखदानौ ।
'जीवन' ऐसे सगे जग मैं सब कष्ट कहा अब योगी कौं जानौ ॥

श्रीवल्लभरसिकजी

जोरी धन सौं गाँठिले, छोरी तन मन गाँठि ।
टोरी होरी कहत है, बोरी आनँद गाँठि ॥
छूटि-छूटि अचल गये, टूटि-टूटि गये हार ।
लूटि-लूटि छवि पिय छके, घूँटि-घूँटि रस सार ॥
मन पटुका मन कर गह्यौ फगुवा कहि तब नैन ।
मन दीये, मन ही लिये, भये दुहुँन मन चैन ॥
होरी खेल कहै न क्यों, दुहुनि मैं न सुख दैन ।
'वल्लभरसिक' सखीन के, रोम रोम मैं चैन ॥

संत श्रीरामरूप स्वामीजी

[श्रीचरणदासजीके शिष्य]

(प्रेषक—[illegible])

वृथा बन बन भटकना, कबहुँ न मिलिहैं राम ।
रामरूप सतसँग बिना, सब फिरिया बेकाम ॥
धन संतोषी साधु के, साँचे बेपरवाह ।
रामरूप हरि सुमरिके, मेटी उरकी चाह ॥
उत्तम हरिके भक्त हैं, उत्तम हरिके नाम ।
मध्यम सुख सम्पतिका रामरूप [illegible] काम ॥
सब गये ना मेरे जहँ आवे हरिदास ।
रामरूप संगत भये हरि मिलनेकी आस ॥
[illegible] ॥
रामरूप दृढ़ रस रहे, [illegible] ॥

संतका महत्त्व

'प्रभो ! इन लोगोंको क्षमा कीजिये, ये बेचारे नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं !' यह प्रार्थना है महात्मा ईसामसीहकी ।

किनके लिये यह प्रार्थना ईसामसीहने की थी, यह आप जानते हैं ? जिन यहूदियोंने ईसाको सूलीपर चढ़वाया था, जिनके दुराग्रहसे उस सत्पुरुषके हाथ-पैरोंमें कीलें ठोंकी गयी थीं, उन अपने प्राणहर्ता लोगोंको क्षमा कर देनेके लिये ईसाने भगवान्‌से प्रार्थना की ।

सूलीपर ईसाको चढ़ा दिया गया था । उनके हाथ-पैरोंमें कीलें ठोंक दी गयी थीं । उनके शरीरकी क्या दशा होगी—कोई कल्पना तो कर देखे । उस दारुण कष्टमें, प्राणान्तके उस अन्तिम क्षणमें भी उस महापुरुषको भगवान्‌से प्रार्थना करना था—यह प्रार्थना करना था कि वे भक्तवत्सल पिता उसको पीड़ित करनेवालोंको क्षमा कर दें ।

शरीर नश्वर है । कोई भी किसको कष्ट देगा ? शरीरको ही तो । शरीरके सुख-दुःखको लेकर मित्रता-शत्रुता तो पशु भी करते हैं । मनुष्यका पशुत्व ही तो है कि शरीरके कारण शत्रुताका विस्तार करता है ।

उत्पीड़कको उसके अन्यायका दण्ड देना—यह सामान्य मनुष्यकी बात है । उत्पीड़कके अपराध चुप-चाप सहन कर लेना—सत्पुरुषका कार्य है यह; किंतु संत—संतका महत्त्व तो उसकी महान् एकात्मतामें है ।

उत्पीड़क—यदि कोई समझदार हो तो क्या स्वयं अपनी हानि करेगा ? उत्पीड़क—दूसरे किसीको द्वेषवश कष्ट देनेवाला समझदार कहाँ है ? कर्मका फल बीज-वृक्ष-न्यायसे मिलता है । आजका बोया बीज फल तो आगे देगा, समय आनेपर देगा; किंतु एक बीजके दानेसे कितने फल मिलेंगे ? आजका कर्म भी फल आगे देता है, समयपर देता है; किंतु फल तो शतगुणित—सहस्रगुणित होकर मिलता है । दूसरेको पीड़ा देनेवाला अपने लिये उससे हजारों गुनी पीड़ाकी प्रस्तावना प्रस्तुत करता है ।

बालक भूल करता है, जब अग्नि पकड़ने लपकता है—भूल करता है । समझदार व्यक्ति उसे रोकता है । कोई जब अत्याचार करता है—किसीपर करे, भूल करता है । भूला हुआ है वह । वह नहीं जानता कि वह कर क्या रहा है । दयाका पात्र है वह । संतका महत्त्व इसीमें तो है कि वह उस भूले हुएकी भूलको नहीं तौलता । वह तो उस भूले हुएपर दया करता है—उसका हृदय सच्ची सहानुभूतिसे कहता है—'ये भूले हुए हैं । ये नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं । दयामय प्रभो ! क्षमा करो इन्हें ।'

संतकी महिमा

'भोगोंसे मुँह मोड़कर, दलबंदियों और मूढ़ आग्रहोंसे निकलकर भगवान्‌के मार्गपर चलनेवाले मानवरत्नोंपर भोगवादी और दलवादी लोगोंका रोष हुआ ही करता है और उनके द्वारा दी हुई यन्त्रणाओंको उन्हें भगवान्‌की भेजी हुई उपहार-सामग्री मानकर सिर चढ़ाना ही पड़ता है । भक्तराज प्रह्लाद, महात्मा ईसा, भक्त हरिदास आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं । मंसूर भी इसी श्रेणीके संत थे । मंसूरकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ रहा ही नहीं था, इससे वे सदा 'अनलहक' मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा कहा करते थे । दलवादी खलीफाको यह सहन नहीं हुआ । खलीफाने हुक्म दिया कि जबतक यह 'अनलहक' बोलता रहे, इसे लकड़ियोंसे पीटा जाय और फिर इसे मार डाला जाय । लकड़ीकी प्रत्येक मारके साथ मंसूरके मुखसे वही अनलहक शब्द निकलता था । उन्हें जल्लाद सूलीके पास ले गया ।

पहले हाथ काट डाले गये, फिर पैर काटे गये । अपने ही खूनसे अपने हाथोंको रंगकर मंसूर बोले—यह एक प्रभु-प्रेमीकी 'वजू' है । जल्लाद जब इनकी जीभ काटनेको तैयार हुआ, तब ये बोले—

''जरा ठहर जाओ, मुझे कुछ कह लेने दो—'मेरे परमेश्वर ! जिन्होंने मुझको इतनी पीड़ा पहुँचायी है, उनपर तू नाराज मत होना, उन्हें सुखसे वञ्चित मत करना, उन्होंने तो मेरी मंजिलको कम कर दिया । अभी ये मेरा सिर काट डालेंगे तो मैं सूलीपरसे तेरे दर्शन कर सकूँगा ।'

यही तो संतकी महिमा है ।

संतका महत्त्व

संतकी महिमा
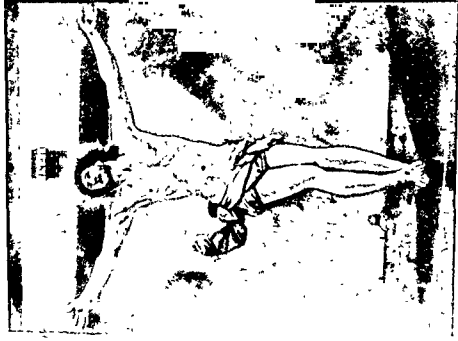
महाप्रभुका कुष्ठरोगीसे प्यार

गाँधीजीद्वारा कुष्ठरोगीकी सेवा

महाप्रभुका कुष्ठरोगीसे प्यार

धन्यं नौमि चैतन्यं वासुदेवं दयार्द्रधीः ।
नष्टकुष्ठं रूपपुष्टं भक्तितुष्टं चकार यः ॥

'जिन्होंने दयार्द्र होकर वासुदेव नामक पुरुषके गलित कुष्ठको नष्ट करके उसे सुन्दर रूप प्रदान किया और भगवद्भक्ति देकर सतुष्ट किया ऐसे धन्यजीवन श्रीचैतन्यको हम नमस्कार करते हैं।'

श्रीचैतन्य आन्ध्र देशके एक गाँवमें पधारे हैं; वासुदेव उसी ग्राममें रहता है। सारे अङ्गोंमें गलित कुष्ठ है, घाव हो रहे हैं और उनमें कीड़े पड़ गये हैं। वासुदेव भगवान्‌का भक्त है और मानता है कि यह कुष्ठ रोग भी भगवान्‌का दिया हुआ है। इससे उसके मनमें कोई दुःख नहीं है। उसने सुना, एक रूपलावण्ययुक्त तरुण विरक्त सन्यासी पधारे हैं और कूर्मदेव ब्राह्मणके घर ठहरे हैं। उनके दर्शनमात्रसे हृदयमें पवित्र भावोंका संचार हो जाता है और जीभ अपने-आप 'हरि-हरि' पुकार उठती है। वासुदेवसे रहा नहीं गया, वह कूर्मदेवके घर दौड़ा गया। उसे पता लगा कि श्रीचैतन्य आगेके लिये चल दिये हैं। वह जोर-जोरसे रोने लगा और भगवान्‌से कातर प्रार्थना करने लगा।

भगवान्‌की प्रेरणा हुई, श्रीचैतन्यदेव थोड़ी ही दूरसे लौट पड़े और कूर्मदेवके घर आकर वासुदेवको जबरदस्ती बड़े प्रेमसे उन्होंने हृदयसे लगा लिया। वासुदेव पीछेकी ओर हटकर बोला—'भगवन्! क्या कर रहे हैं। अरे! मेरा शरीर घावोंसे भरा है, मवाद बह रहा है, कीड़े किलबिला रहे हैं। आप मेरा स्पर्श मत कीजिये। आपका सोने-सा शरीर मवादसे अपवित्र हो जायगा। मैं बड़ा पापी हूँ। मुझे आप छूइये नहीं।' परंतु प्रभु क्यों सुनने लगे, वे उसके शरीरसे बड़े जोरोंसे चिपट गये और गद्गद कण्ठसे बोले—'ब्राह्मण देवता! तुम-जैसे भक्तोंका स्पर्श करके मैं स्वयं अपनेको पवित्र करना चाहता हूँ।'

प्रभुके अङ्गोंका आलिङ्गन पाते ही, वासुदेवके तन-मनका सारा कुष्ठ सदाके लिये चला गया। उसका शरीर नीरोग होकर सुन्दर स्वर्णके समान चमक उठा। धन्य दयामय प्रभु!

गान्धीजीद्वारा कुष्ठरोगीकी सेवा

सत्य और अहिंसाके पुजारी महात्मा गान्धी—भारतके राष्ट्रपिता। उनको ठीक ही तो राष्ट्र 'बापू' कहता है। भारत के अर्धनग्न दीनोंका वह प्रतिनिधि—वह लँगोटीधारी तपस्वी।

महात्माजीका जीवन ही त्याग और सेवाका जीवन है। अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने दरिद्र-नारायणकी सेवामें समर्पित कर दिया था। पीड़ितोंकी, दुःखियोंकी, अभावग्रस्त दलितोंकी, रोगियोंकी—प्रत्येक कष्टमें पड़े प्राणीकी सेवाको सदा समुद्यत और सावधान वह महापुरुष। सेवामें उन्हें आनन्द आता था। सेवा उनकी आराधना थी।

सन् १९३९ की बात है। सेवाग्रामके आश्रमके अध्यापक श्रीपरचुरे शास्त्री रुग्ण हो गये थे। बड़ा भयंकर था उनका रोग। उन्हें गलित कुष्ठ हो गया था।

गलित कुष्ठ—छूतका महारोग कुष्ठ—राजरोग कुष्ठ। कुष्ठके रोगीकी भला परिचर्या कौन करेगा! रोगीकी वायु न लगे—यहाँतक तो लोग बचाव रखते हैं!

परचुरे शास्त्री किसी चिकित्सा-भवनमें नहीं भेजे गये। स्वयं महात्माजीने उनकी परिचर्या अपने ऊपर ली। महात्माजीने स्वयं परिचर्याका भार लिया तो आश्रमके लोगोंको भी उसे लेना पड़ा। महात्माजीने किसीको नहीं कहा, किसीपर दबाव नहीं डाला।

पूरे अक्टूबर और नवम्बर—जबतक कि रोगी स्वस्थ नहीं हो गया, नियमपूर्वक प्रतिदिन महात्माजी स्वयं सेवाका अपना भाग उत्साहसे पूर्ण करते थे।

गलित कुष्ठके घाव—लेकिन महात्माजीको घृणा आ कैसे सकती थी। वे स्वयं रोगीके घाव धोते और [illegible] लगाते थे, घावमें पट्टी बाँधते थे। घाव धोकर अङ्गुलि[illegible] घावकी स्थिति एवं कुष्ठके कीटाणुओंका [illegible] निरीक्षण करते थे। [illegible] सावधानीसे देखते थे कि किस अङ्गकी [illegible] और किस [illegible] कैसी है।

श्रीपरचुरे शास्त्री नहीं चाहते थे कि स्वयं बापू [illegible] स्पर्श करें, किंतु बापू थे कि वे [illegible] रहते और आश्वासन दिया करते।

संत श्रीखोजीजी महाराज

(जोधपुरके 'पोह' ग्राम-निवासी)

'खोजी' खोयो खाकमें अनुपम जीवन रत्न।
कीन्हों मूरख क्यों नहीं राम मिलनको यत्न॥
'खोजी' खोजत जग मुआ लगा न कुछ भी हाथ।
तजिके जग जंजालको भजु सीता-रघुनाथ॥
'खोजी' खटपट छोड़िके प्रभुपदमें मन जोड़।
काज न देगी अंतमें पूँजी लाख करोड़॥
'खोजी' मेरो मत यही नीक लगे तो मान।
हो शरणागत रामके कर अपनो कल्यान॥
'खोजी' कहै पुकारिके ऊँचो वैष्णव धर्म।
पटतर याके होयँ किमि यागादिक सत्कर्म॥
बानो श्रीरघुनाथको 'खोजी' धारयो अंग।
तब कैसे नीको लगे हरि-विमुखनको संग॥
'खोजी' ताल बजायके सुमिरो श्रीरघुबीर।
जिन्हकी कृपा कटाक्षसे छूटि जाय भव-भीर॥

श्रीब्रह्मदासजी महाराज (काठिया)

(डाकोरके प्रसिद्ध संत)

रे मन! मूरख मान ले 'ब्रह्मदास' की बात।
भज ले सीतारामको काल करेगो घात॥
'ब्रह्मदास' तूँ जान ले पहले अपनो रूप।
चिदचिद्-युत पुनि जान तूँ प्रभुको सत्यस्वरूप॥
अन्तर्यामी राम हैं जड चेतनके ईश।
'ब्रह्मदास' सब जीव है सेवक विश्वाधीश॥
'ब्रह्मदास' ये जीव किमि स्वयं ब्रह्म बन जाय।
बकवादिनकी जालसों, रहियो सदा बचाय॥
स्वामी रामानंदको मन विशिष्ट अद्वैत।
'ब्रह्मदास' मान्यो तरयो परयो न माया खेत॥
'ब्रह्मदास' हैं ब्रह्म पर श्रीसीतापति राम।
अपर देव उनके सभी मानहु चरण गुलाम॥

श्रीबजरंगदासजी महाराज (श्रीखाकीजी)

(जन्म अयोध्याजीके पूर्व-उत्तर अठारह कोसपर सरयू-किनारे, श्रीकमलदासजी महाराजके शिष्य)

'खाखी' होगा खाक तूँ कहते संत पुकार।
भज श्रीसीतारामको तज झूँठे व्यवहार॥
खलक खेल श्रीरामका 'खाखी' देख विचार।
कब पूरा हो जायगा रहना तूँ तैयार॥
'खाखी' जनमत ही लगी तेरे तनमें आग।
कर श्रीसीतारामके चरणनमें अनुराग॥
स्वामी रामानंदजी जगको गये सिखाय।
परब्रह्म प्रभु रामको भजिये नेह लगाय॥
खावत पीवत खो, गई 'खाखी' जीवन रैन।
बिना भजन भगवानके क्यों पावहुगे चैन॥
'खाखी' मेरा मत यही सबसे मीठो दूध।
तप तीरथ सत्कर्मको फल हरि भजन विशुद्ध॥
'खाखी' बात प्रसिद्ध है सबसे मीठी भूख।
राम भजनकी भूख जो लगै भगै जग-दुःख॥
इक दिन तेरा देह यह 'खाखी' होगा खाख।
जगकी लालच छोड़के प्रेम सुधारस चाख॥

संत श्रीहरिहरप्रसादजी महाराज

(श्रीकाष्ठजिह्व-देवस्वामीजीके अन्तरङ्ग भक्त)

इत कलँगी, उत चंद्रिका कुंडल तरिवन कान।
सिय सियवल्लभ मो सदा बसो हिये बिच आन॥
सोभा हूँ सोभा लहत जिनके अंग-प्रसंग।
विधि-हरि-हर बानी-रमा-उमा होहिं लखि दंग॥
तिन सिय सिय-वल्लभ चरन बार बार सिर नाय।
चरनधूरि परिकर जुगल नयनन्हि माँझ लगाय॥
सांख्य-योग-वेदान्तको छाँड़ि-छाँड़ि मद संग।
चरन सरन सिय है रहहु करि मन माँह उमंग॥
अधमा-मलिना राछसी नित दुखदायी जौन
तिन हूँ की रच्छा करी को अस करुना भौन॥

संत वाणी अंक, पहला खण्ड समाप्त

श्रीहरिः

संत-वाणी-अङ्क

दूसरा खण्ड

['संत-वाणी-अङ्क' के इस दूसरे खण्डमें पुराणोंमें वर्णित भगवान्के विविध ध्यान, सिद्ध स्तोत्र, आचार्यों, संतों और भक्तोंके सिद्धान्तपरक छोटे-छोटे ग्रन्थ तथा स्वार्थ-परमार्थ-साधक विविध स्तोत्र आदिके लगभग तीन हजार श्लोक देनेका विचार किया गया था, परंतु संतोंकी चुनी हुई वाणियोंमें स्थान अधिक लग गया। इसलिये अनुवाद किये हुए बहुतसे छोटे-बड़े ग्रन्थ नहीं दिये जा सके। इसमें यहाँ महाभागा गोपियोंके चार गीत, भगवान् श्रीविष्णु, श्रीशङ्कर, श्रीराम और श्रीकृष्णके ध्यान, कुछ सिद्ध स्तोत्र, श्रीशङ्कराचार्यके कुछ छोटे ग्रन्थ तथा स्तवन, श्रीरामानुजाचार्यके गद्य, श्रीनिम्बार्काचार्यके स्तवन, श्रीवल्लभाचार्यके कुछ छोटे ग्रन्थ और स्तवन, श्रीचैतन्य-सम्प्रदायके मान्य कुछ छोटे ग्रन्थ और स्तवन आदि दिये जा रहे हैं।]

प्रेमस्वरूपा गोपियोंद्वारा गाया हुआ वेणुगीत

गोप्य ऊचुः

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥ १॥
चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेशौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥ २॥
गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥ ३॥
वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम्॥ ४॥
धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेशम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥ ५॥
कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥ ६॥
गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥ ७॥
प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥ ८॥

मालूम हुआ सखी ! सुनो तो, जब उनके हृदयमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जग जाती है, तब वे अपना धीरज खो बैठती हैं, बेहोश हो जाती हैं; उन्हें इस बातका भी पता नहीं चलता कि उनकी चोटियोंमें गुँथे हुए फूल पृथ्वीपर गिर रहे हैं। यहाँतक कि उन्हें अपनी साड़ीका भी पता नहीं रहता, वह कमरसे खिसककर जमीनपर गिर जाती है ॥ ६ ॥ अरी सखी ! तुम देवियोंकी बात क्या कह रही हो, इन गौओंको नहीं देखतीं ? जब हमारे कृष्ण-प्यारे अपने मुखसे बाँसुरीमें स्वर भरते हैं और गौएँ उनका मधुर संगीत सुनती हैं, तब ये अपने दोनों कानोंके दोने सम्हाल लेती हैं—खड़े कर लेती हैं और मानो उनसे अमृत पी रही हों, इस प्रकार उस संगीतका रस लेने लगती हैं ! ऐसा क्यों होता है सखी ! अपने नेत्रोंके द्वारसे श्यामसुन्दरको हृदयमें ले जाकर वे उन्हें वहीं विराजमान कर देती हैं और मन-ही-मन उनका आलिङ्गन करती हैं। देखती नहीं हो, उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू छलकने लगते हैं ! और उनके बछड़े, बछड़ोंकी तो दशा ही निराली हो जाती है। यद्यपि गायोंके थनोंसे अपने-आप दूध झरता रहता है, वे जब दूध पीते-पीते अचानक ही वंशीध्वनि सुनते हैं, तब मुँहमें लिया हुआ दूध-का घूँट न उगल पाते हैं और न निगल पाते हैं। उनके हृदयमें भी होता है भगवान्‌का संस्पर्श और नेत्रोंमें छलकते होते हैं आनन्दके आँसू। वे ज्यों-के-त्यों ठिठके रह जाते हैं ॥ ७ ॥ अरी सखी ! गौएँ और बछड़े तो हमारे घरकी वस्तु हैं। उनकी बात तो जाने ही दो। वृन्दावनके पक्षियों-को तुम नहीं देखती हो ! उन्हें पक्षी कहना ही भूल है ! सच पूछो तो उनमेंसे अधिकांश बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हैं ! वे वृन्दावनके सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंकी नयी और मनोहर कोंपलों-वाली डालियोंपर चुपचाप बैठ जाते हैं और आँखें बंद नहीं करते, निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णकी रूप-माधुरी तथा प्यार-भरी चितवन देख-देखकर निहाल होते रहते हैं तथा कानोंसे अन्य सब प्रकारके शब्दोंको छोड़कर केवल उन्हींकी मोहनी वाणी और वंशीका त्रिभुवनमोहन संगीत सुनते रहते हैं। मेरी प्यारी सखी ! उनका जीवन कितना धन्य है ! ॥ ८ ॥

अरी सखी ! देवता, गौओं और पक्षियोंकी बात क्यों करती हो ? वे तो चेतन हैं। इन जड नदियोंको नहीं देखतीं ? इनमें जो भँवर दीख रहे हैं, उनसे इनके हृदयमें श्यामसुन्दरसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षाका पता चलता है ! उसके वेगसे ही तो इनका प्रवाह रुक गया है। इन्होंने भी प्रेम-स्वरूप श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुन ली है। देखो, देखो ! ये अपनी तरङ्गोंके हाथोंसे उनके चरण पकड़कर कमलके फूलोंका उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं, मानो उनके चरणोंपर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं ॥ ९ ॥ अरी सखी ! ये नदियाँ तो हमारी पृथ्वीकी, हमारे वृन्दावनकी वस्तुएँ हैं; तनिक इन बादलोंको भी देखो ! जब वे देखते हैं कि व्रजराजकुमार श्रीकृष्ण और बलरामजी ग्वालबालोंके साथ धूपमें गौएँ चरा रहे हैं और साथ-साथ बाँसुरी भी बजाते जा रहे हैं, तब उनके हृदयमें प्रेम उमड़ आता है। वे उनके ऊपर मँडराने लगते हैं और वे श्यामघन अपने सखा घनश्यामके ऊपर अपने शरीरको ही छाता बनाकर तान देते हैं। इतना ही नहीं, सखी ! वे जब उनपर नन्ही-नन्ही फुहियोंकी वर्षा करने लगते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है कि वे उनके ऊपर सुन्दर-सुन्दर श्वेत कुसुम चढ़ा रहे हैं। नहीं सखी, उनके बहाने वे तो अपना जीवन ही निछावर कर देते हैं ! ॥ १० ॥

अरी भटू ! हम तो वृन्दावनकी इन भीलनियोंको ही धन्य और कृतकृत्य मानती हैं। ऐसा क्यों सखी ? इसलिये कि इनके हृदयमें बड़ा प्रेम है। जब ये हमारे कृष्ण-प्यारेको देखती हैं, तब इनके हृदयमें भी उनसे मिलनेकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठती है। इनके हृदयमें भी प्रेमकी व्याधि लग जाती है। उस समय ये क्या उपाय करती हैं, यह भी सुन लो। हमारे प्रियतमकी प्रेयसी गोपियाँ अपने वक्षःस्थलोंपर जो केसर लगाती हैं, वह श्यामसुन्दरके चरणोंमें लगी होती है और वे जब वृन्दावनके घास-पातपर चलते हैं, तब उनमें भी लग जाती है। ये सौभाग्यवती भीलनियाँ उन्हें उन तिनकोंपरसे छुड़ाकर अपने स्तनों और मुखोंपर मल लेती हैं और इस प्रकार अपने हृदयकी प्रेम-पीड़ा शान्त करती हैं ॥ ११ ॥ अरी गोपियो ! यह गिरिराज गोवर्द्धन तो भगवान्‌के भक्तोंमें बहुत ही श्रेष्ठ है। धन्य हैं इसके भाग्य ! देखती नहीं हो, हमारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम बलरामके चरण-कमलोंका स्पर्श प्राप्त करके यह कितना आनन्दित रहता है। इसके भाग्यकी सराहना कौन करे ? यह तो उन दोनोंका—ग्वालबालों और गौओंका बड़ा ही सत्कार करता है। स्नान-पानके लिये झरनोंका जल देता है, गौओंके लिये सुन्दर हरी-हरी घास प्रस्तुत करता है। विश्राम करनेके लिये कन्दराएँ और खानेके लिये कन्द-मूल फल देता है। वास्तवमें यह धन्य है ! ॥ १२ ॥

अरी सखी ! इन साँवरे-गोरे किशोरोंकी तो गति ही निराली है । जब वे सिरपर नोवना (दुहते समय गायके पैर बाँधनेकी रस्सी) लपेटकर और कंधोंपर फंदा (भागनेवाली गायोंको पकड़नेकी रस्सी) रखकर गायोंको एक वनसे दूसरे वनमें हाँककर ले जाते हैं, साथमें ग्वालबाल भी होते हैं और मधुर-मधुर संगीत गाते हुए बाँसुरीकी तान छेड़ते हैं, उ[illegible] समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, अन्य शरीरधारियोंमें [illegible] चलनेवाले चेतन पशु-पक्षी और जड़ नदी आदि तो सि[illegible] हो जाते हैं तथा अचल वृक्षोंको भी रोमाञ्च हो आता है [illegible] जादूभरी वंशीका और क्या चमत्कार सुनाऊँ ! ॥ १३ ॥

प्रेमस्वरूपा गोपियोंद्वारा गाया हुआ प्रणय-गीत

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥ १ ॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ २ ॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३ ॥
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥ ४ ॥
सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥ ५ ॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥ ६ ॥
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ७ ॥
तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥ ८ ॥
वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ९ ॥
का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥ १० ॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम् ॥ ११ ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २९ । ३१-४१)

(अनुवादक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[illegible] कहा—प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम घट-घटव्यापी हो । [illegible] बात जानते हो । तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरतामरे नहीं कहने चाहिये । हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणोंमें ही प्रेम करती हैं । इसमें संदेह नहीं कि तुम स्वतन्त्र और हठीले हो । तुमपर हमारा कोई वश नहीं है । फिर भी तुम अपनी ओरसे, जैसे आदिपुरुष-भगवान् नारायण

कृपा करके अपने मुमुक्षु भक्तोंसे प्रेम करते हैं, वैसे ही हमें स्वीकार कर लो। हमारा त्याग मत करो ॥ १ ॥

प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम सब धर्मोंका रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि 'अपने पति, पुत्र और भाई-बन्धुओंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है'—अक्षरशः ठीक है। परंतु इस उपदेशके अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी चाहिये; क्योंकि तुम्हीं सब उपदेशोंके पद (चरम लक्ष्य) हो; साक्षात् भगवान् हो। तुम्हीं समस्त शरीरधारियोंके सुहृद् हो, आत्मा हो और परम प्रियतम हो ॥ २ ॥ आत्मज्ञानमें निपुण महापुरुष तुमसे ही प्रेम करते हैं; क्योंकि तुम नित्य प्रिय एवं अपने ही आत्मा हो। अनित्य एवं दुःखद पति-पुत्रादिसे क्या प्रयोजन है ! परमेश्वर ! इसलिये हमपर प्रसन्न होओ। कृपा करो। कमलनयन ! चिरकालसे तुम्हारे प्रति पाली-पोसी आशा-अभिलाषाकी लहलहाती लताका छेदन मत करो ॥ ३ ॥ मनमोहन ! अबतक हमारा चित्त घरके काम-धंधोंमें लगता था। इसीसे हमारे हाथ भी उनमें रमे हुए थे। परंतु तुमने हमारे देखते-देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। इसमें तुम्हें कोई कठिनाई भी नहीं उठानी पड़ी, तुम तो सुखस्वरूप हो न ! परंतु अब तो हमारी गति-मति निराली ही हो गयी है। हमारे ये पैर तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर एक पग भी हटनेके लिये तैयार नहीं हैं, नहीं हट रहे हैं। फिर हम व्रजमें कैसे जायँ ! और यदि वहाँ जायँ भी तो करें क्या ! ॥ ४ ॥ प्राणवल्लभ ! हमारे प्यारे सखा ! तुम्हारी मन्द-मन्द मधुर मुसकान, प्रेमभरी चितवन और मनोहर संगीतने हमारे हृदयमें तुम्हारे प्रेम और मिलनकी आग धधका दी है। उसे तुम अपने अधरोंकी रसधारासे बुझा दो। नहीं तो प्रियतम ! हम सच कहती हैं, तुम्हारी विरह-व्यथाकी आगसे हम अपने-अपने शरीर जला देंगी और ध्यानके द्वारा तुम्हारे चरणकमलोंको प्राप्त करेंगी ॥ ५ ॥

प्यारे कमलनयन ! तुम वनवासियोंके प्यारे हो और वे भी तुमसे बहुत प्रेम करते हैं। इससे प्रायः तुम उन्हींके पास रहते हो। यहाँतक कि तुम्हारे जिन चरणकमलोंकी सेवाका अवसर स्वयं लक्ष्मीजीको भी कभी-कभी ही मिलता है, उन्हीं चरणोंका स्पर्श हमें प्राप्त हुआ। जिस दिन यह सौभाग्य हमें मिला और तुमने हमें स्वीकार करके आनन्दित किया, उसी दिनसे हम और किसीके सामने एक क्षणके लिये भी ठहरनेमें असमर्थ हो गयी हैं—पति-पुत्रादिकी सेवा तो दूर रही ॥ ६ ॥ हमारे स्वामी ! जिन लक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये बड़े-बड़े देवता तपस्या करते रहते हैं, वही लक्ष्मीजी तुम्हारे वक्षःस्थलमें बिना किसीकी प्रतिद्वन्द्विताके स्थान प्राप्त कर लेनेपर भी अपनी सौत तुलसीके साथ तुम्हारे चरणोंकी रज पानेकी अभिलाषा किया करती हैं। अबतकके सभी भक्तोंने उस चरणरजका सेवन किया है। उन्हींके समान हम भी तुम्हारी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हैं ॥ ७ ॥ भगवन् ! अबतक जिसने भी तुम्हारे चरणोंकी शरण ली, उसके सारे कष्ट तुमने मिटा दिये। अब तुम हमपर कृपा करो। हमें भी अपने प्रसादका भाजन बनाओ। हम तुम्हारी सेवा करनेकी आशा-अभिलाषासे घर, गाँव, कुटुम्ब—सब कुछ छोड़कर तुम्हारे युगल चरणोंकी शरणमें आयी हैं। प्रियतम ! वहाँ तो तुम्हारी आराधनाके लिये अवकाश ही नहीं है। पुरुषभूषण ! पुरुषोत्तम ! तुम्हारी मधुर मुसकान और चारु चितवनने हमारे हृदयमें प्रेमकी—मिलनकी आकाङ्क्षाकी आग धधका दी है; हमारा रोम-रोम उससे जल रहा है। तुम हमें अपनी दासीके रूपमें स्वीकार कर लो। हमें अपनी सेवाका अवसर दो ॥ ८ ॥ प्रियतम ! तुम्हारा सुन्दर मुखकमल, जिसपर घुँघराली अलकें झलक रही हैं; तुम्हारे ये कमनीय कपोल, जिनपर सुन्दर-सुन्दर कुण्डल अपना अनन्त सौन्दर्य बिखेर रहे हैं; तुम्हारे ये मधुर अधर, जिनकी सुधा सुधाको भी लजानेवाली है; तुम्हारी यह नयनमनोहारी चितवन, जो मन्द मन्द मुसकानसे उल्लसित हो रही है; तुम्हारी ये दोनों भुजाएँ, जो शरणागतों-को अभयदान देनेमें अत्यन्त उदार हैं और तुम्हारा यह वक्षःस्थल, जो लक्ष्मीजीका—सौन्दर्यकी एकमात्र देवीका नित्य क्रीडास्थल है, देखकर हम सब तुम्हारी दासी हो गयी हैं ॥ ९ ॥ प्यारे श्यामसुन्दर ! तीनों लोकोंमें भी और ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोह-क्रमसे विविध प्रकारकी मूर्छनाओंसे युक्त तुम्हारी वंशीकी तान सुनकर तथा इस त्रिलोकसुन्दर मोहिनी मूर्तिको—जो अपने एक बूँद सौन्दर्यसे त्रिलोकीको सौन्दर्यका दान करती है एवं जिसे देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और हरिन भी रोमाञ्चित, पुलकित हो जाते हैं—अपने नेत्रोंसे निहारकर आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जाय, कुल-कान और लोक-लज्जाको त्यागकर तुममें अनुरक्त न हो जाय ॥ १० ॥ हमसे यह बात छिपी नहीं है कि जैसे भगवान् नारायण देवताओंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम व्रजमण्डलका भय और दुःख मिटानेके लिये ही

प्रकट हुए हो। और यह भी स्पष्ट ही है कि दीन-दुखियोंपर तुम्हारा बड़ा प्रेम, बड़ी कृपा है। प्रियतम! हम भी बड़ी दुःखिनी हैं। तुम्हारे मिलनकी आकाङ्क्षाकी आगसे हमारा वक्षःस्थल जल रहा है। तुम अपनी इन दासियोंके वक्षःस्थल और सिरपर अपने कोमल करकमल रखकर इन्हें अपना लो; हमें जीवनदान दो॥ ११॥

प्रेमस्वरूपा गोपियोंद्वारा गाया हुआ गोपिका-गीत

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥ १॥
शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥ २॥
विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥ ३॥
न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥ ४॥
विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्॥ ५॥
व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय॥ ६॥
प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्॥ ७॥
मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः॥ ८॥
तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥ ९॥
प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥ १०॥
चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥ ११॥
दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि॥ १२॥
प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्॥ १३॥
सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ १४॥

भी अमृतस्वरूपा है। विरहसे सताये हुए लोगोंके लिये तो वह जीवन-सर्वस्व ही है। बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओं—भक्त कवियोंने उसका गान किया है; वह सारे पाप-ताप तो मिटाती ही है, साथ ही श्रवणमात्रसे परम मङ्गल—परम कल्याणका दान भी करती है। वह परम सुन्दर, परम मधुर और बहुत विस्तृत भी है। जो तुम्हारी उस लीला-कथाका गान करते हैं, वास्तवमें भूलोकमें वे ही सबसे बड़े दाता हैं॥ ९॥ प्यारे! एक दिन वह था, जब तुम्हारी प्रेमभरी हँसी और चितवन तथा तुम्हारी तरह-तरहकी क्रीडाओंका ध्यान करके हम आनन्दमें मग्न हो जाया करती थीं। उनका ध्यान भी परम मङ्गलदायक है; उसके बाद तुम मिले। तुमने एकान्तमें हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं, प्रेमकी बातें कहीं। हमारे कपटी मित्र! अब वे सब बातें याद आकर हमारे मनको क्षुब्ध किये देती हैं॥ १०॥

हमारे प्यारे स्वामी! तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकोमल और सुन्दर हैं। जब तुम गौओंको चरानेके लिये व्रजसे निकलते हो, तब यह सोचकर कि तुम्हारे वे युगल चरण कंकड़, तिनके और कुश-काँटे गड़ जानेसे कष्ट पाते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है। हमें बड़ा दुःख होता है॥ ११॥ दिन ढलनेपर जब तुम वनसे घर लौटते हो, तो हम देखती हैं कि तुम्हारे मुखकमलपर नीली-नीली अलकें लटक रही हैं और गौओंके खुरसे उड़-उड़कर घनी धूल पड़ी हुई है। हमारे वीर प्रियतम! तुम अपना वह सौन्दर्य हमें दिखा-दिखाकर हमारे हृदयमें *मिलनकी आकाङ्क्षा—प्रेम* उत्पन्न करते हो॥ १२॥ प्रियतम! एकमात्र तुम्हीं हमारे सारे दुःखोंको मिटानेवाले हो। तुम्हारे चरणकमल शरणागत भक्तोंकी समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। स्वयं लक्ष्मीजी उनकी सेवा करती हैं और पृथ्वीके तो वे भूषण ही हैं। आपत्तिके समय एकमात्र उन्हींका चिन्तन करना उचित है, जिससे सारी आपत्तियाँ कट जाती हैं। कुञ्जविहारी! तुम अपने वे परम कल्याणस्वरूप चरणकमल हमारे वक्षःस्थलपर रखकर हृदयकी व्यथा शान्त कर दो॥ १३॥ वीरशिरोमणे! तुम्हारा अधरामृत मिलनके सुखको, आकाङ्क्षाको बढ़ानेवाला है। यह विरहजन्य समस्त शोक-संतापको नष्ट कर देता है। यह गानेवाली बाँसुरी भलीभाँति उसे चूमती रहती है। ...न एक बार उसे पी लिया, उन लोगोंको फिर दूसरों और दूसरोंकी आसक्तियोंका स्मरण भी नहीं होता। हमारे वीर! अपना वही अधरामृत हमें वितरण करो, पिलाओ॥ १४॥ प्यारे! दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और जब तुम संध्याके समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकोंसे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, उस समय पलकोंका गिरना हमारे लिये भार हो जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंकी पलकोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख है॥ १५॥ प्यारे श्यामसुन्दर! हम अपने पति-पुत्र, भाई-बन्धु और कुल-परिवारका त्याग कर, उनकी इच्छा और आशाओंका उल्लङ्घन करके तुम्हारे पास आयी हैं। हम तुम्हारी एक-एक चाल जानती हैं, संकेत समझती हैं और तुम्हारे मधुर गानकी गति समझकर, उसीसे मोहित होकर यहाँ आयी हैं। कपटी! इस प्रकार रात्रिके समय आयी हुई युवतियोंको तुम्हारे सिवा और कौन त्याग सकता है॥ १६॥ प्यारे! एकान्तमें तुम मिलनकी आकाङ्क्षा, प्रेम-भावको जगानेवाली बातें करते थे। ठिठोली करके हमें छेड़ते थे। तुम प्रेमभरी चितवनसे हमारी ओर देखकर मुसकरा देते थे और हम देखती थीं तुम्हारा वह विशाल वक्षःस्थल, जिसपर लक्ष्मीजी नित्य-निरन्तर निवास करती हैं। तबसे अबतक निरन्तर हमारी लालसा बढ़ती ही जा रही है और हमारा मन अधिकाधिक मुग्ध होता जा रहा है॥ १७॥ प्यारे! तुम्हारी यह अभिव्यक्ति व्रज-वनवासियोंके सम्पूर्ण दुःख-तापको नष्ट करनेवाली और विश्वका पूर्ण मङ्गल करनेके लिये है। हमारा हृदय तुम्हारे प्रति लालसासे भर रहा है। कुछ थोड़ी-सी ऐसी ओषधि दो, जो तुम्हारे निजजनोंके हृदयरोगको सर्वथा निर्मूल कर दे॥ १८॥ तुम्हारे चरण कमलसे भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनोंपर भी डरते-डरते बहुत धीरेसे रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाय। उन्हीं चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर जंगलमें छिपे-छिपे भटक रहे हो! क्या कंकड़, पत्थर आदिकी चोट लगनेसे उनमें पीड़ा नहीं होती? हमें तो इसकी सम्भावनामात्रसे ही चक्कर आ रहा है। हम अचेत होती जा रही हैं। श्रीकृष्ण! श्यामसुन्दर! प्राणनाथ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारे लिये जी रही हैं, हम तुम्हारी हैं॥ १९॥

प्रेमस्वरूपा गोपियोंद्वारा गाया हुआ युगलगीत

श्रीशुक उवाच

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः। कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥ १ ॥

गोप्य ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम्।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥ २ ॥
व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ ३ ॥
हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ॥ ४ ॥
वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥ ५ ॥
बर्हिणस्तबकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः।
कर्हिचित् सबल आलि स गोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥ ६ ॥
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥ ७ ॥
अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः।
वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाऽऽह्वयति गाः स यदा हि ॥ ८ ॥
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥ ९ ॥
दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन् यर्हि संधितवेणुः ॥ १० ॥
सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥ ११ ॥
सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥ १२ ॥
महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः।
सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभिश्छायया च विदधत् प्रतपत्रम् ॥ १३ ॥
विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः ॥ १४ ॥
सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥ १५ ॥

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥ १६ ॥
व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कबरं वसनं वा ॥ १७ ॥

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा मालया दयितगन्धतुलस्याः ।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥ १८ ॥
क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः ।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥ १९ ॥

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥ २० ॥
मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन ।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥ २१ ॥

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥ २२ ॥
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् ।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥ २३ ॥

मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥ २४ ॥
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥ २५ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला नु गायतीः । रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥ २६ ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ३५ । १—२६)

(अनुवादक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णके गौओंको चरानेके लिये प्रतिदिन वनमें चले जानेपर उनके साथ गोपियोंका चित्त भी चला जाता था । उनका मन श्रीकृष्णका चिन्तन करता रहता और वे वाणीसे उनकी लीलाओंका गान करती रहतीं । इस प्रकार वे बड़ी कठिनाईसे अपना दिन बितातीं ॥ १ ॥

गोपियाँ आपसमें कहतीं—अरी सखी ! अपने प्रेमीजनोंको प्रेम वितरण करनेवाले और द्वेष करनेवालों तकको मोक्ष दे देनेवाले श्यामसुन्दर नटनागर जब अपने बायें कपोलको बायीं बाँहकी ओर लटका देते हैं और अपनी भौंहें नचाते हुए बाँसुरीको अधरोंसे लगाते हैं तथा अपनी सुकुमार अंगुलियोंको उसके छेदोंपर फिराते हुए मधुर तान छेड़ते हैं, उस समय सिद्धपत्नियाँ आकाशमें अपने पति सिद्धगणोंके साथ विमानोंपर चढ़कर आ जाती हैं और उस तानको सुनकर अत्यन्त ही चकित तथा विस्मित हो जाती हैं । पहले तो उन्हें अपने पतियोंके साथ रहनेपर भी चित्तकी यह दशा देखकर लज्जा मालूम होती है; परंतु क्षणभरमें ही उनका चित्त प्रेमबाणसे बिंध जाता है, वे विवश और अचेत हो जाती हैं । उन्हें इस

बातकी भी सुधि नहीं रहती कि उनकी नीवी खुल गयी है और उनके वस्त्र खिसक गये हैं ॥ २-३ ॥

अरी गोपियो ! तुम यह आश्चर्यकी बात सुनो ! ये नन्दनन्दन कितने सुन्दर हैं ! जब वे हँसते हैं तब हास्यरेखाएँ हारका रूप धारण कर लेती हैं, शुभ्र मोती-सी चमकने लगती हैं । अरी वीर ! उनके वक्षःस्थलपर लहराते हुए हारमें हास्यकी किरणें चमकने लगती हैं । उनके वक्षःस्थलपर जो श्रीवत्सकी सुनहरी रेखा है, वह तो ऐसी जान पड़ती है, मानो श्याम मेघपर बिजली ही स्थिररूपसे बैठ गयी है । वे जब दुःखीजनों-को सुख देनेके लिये, विरहियोंके मृतक शरीरमें प्राणोंका संचार करनेके लिये बाँसुरी बजाते हैं, तब व्रजके झुंड-के-झुंड बैल, गौएँ और हरिन उनके पास ही दौड़ आते हैं । केवल आते ही नहीं, सखी ! दाँतोंसे चबाया हुआ घासका ग्रास उनके [illegible]हमें ज्यों-का-त्यों पड़ा रह जाता है, वे उसे न निगल पाते [illegible]र न तो उगल ही पाते हैं । दोनों कान खड़े करके इस [illegible]ार स्थिरभावसे खड़े हो जाते हैं, मानो सो गये हैं या केवल [illegible]पर लिखे हुए चित्र हैं । उनकी ऐसी दशा होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह बाँसुरीकी तान उनके चित्तको चुरा है ॥ ४-५ ॥

हे सखि ! जब वे नन्दके लाड़ले लाल अपने सिरपर [illegible]यका मुकुट बाँध लेते हैं, घुँघराली अलकोंमें फूलके गुच्छे [illegible]ते हैं, रंगीन धातुओंसे अपना अङ्ग-अङ्ग रँग लेते हैं [illegible]ये-नये पल्लवोंसे ऐसा वेष सजा लेते हैं, जैसे कोई [illegible]डा पहलवान हो और फिर बलरामजी तथा ग्वालबालोंके [illegible] बाँसुरीमें गौओंका नाम ले-लेकर उन्हें पुकारते हैं; [illegible] प्यारी सखियो ! नदियोंकी गति भी रुक जाती है । [illegible] हैं कि वायु उड़ाकर हमारे प्रियतमके चरणोंकी [illegible]रे पास पहुँचा दे और उसे पाकर हम निहाल [illegible]तु सखियो ! वे भी हमारे-जैसी ही मन्दभागिनी [illegible]न्दनन्दन श्रीकृष्णका आलिङ्गन करते समय इनकी [illegible]जाती है और जड़ताकर सञ्चारी-भावका उदय हो [illegible]पने हाथोंको हिला भी नहीं पातीं, वैसे ही वे भी [illegible]पने लगती हैं । दो चार हम अपनी तरङ्गरूप [illegible]लिये उठती तो अवश्य हैं, परन्तु फिर [illegible]स्थिर हो जाती हैं, प्रेमावेशके स्तम्भित हो [illegible] ॥

[illegible] ! जैसे देवलोग अनन्त और अचिन्त्य [illegible] नटनागर श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करते हैं,

वैसे ही ग्वालबाल अनन्तसुन्दर नटनागर श्रीकृष्णकी लीलाओं[illegible]का गान करते रहते हैं । वे अचिन्त्य ऐश्वर्य-सम्पन्न श्रीकृ[illegible] जब वृन्दावनमें विहार करते रहते हैं और बाँसुरी बजाकर गिरिराज गोवर्धनकी तराईमें चरती हुई गौओंको नाम ले-लेकर पुकारते हैं, उस समय वनके वृक्ष और लताएँ फूल और फलोंसे लद जाती हैं, उनके भारसे डालियाँ झुककर धरती छूने लगती हैं, मानो प्रणाम कर रही हों, वे वृक्ष और लताएँ अपने भीतर भगवान् विष्णुकी अभिव्यक्ति सूचित करती हुई-सी प्रेमसे फूल उठती हैं, उनका रोम-रोम खिल जाता है और सर-की-सब मधुधाराएँ उँड़ेलने लगती हैं ॥ ८-९ ॥

अरी सखी ! जितनी भी वस्तुएँ संसारमें या उसके बाहर देखनेयोग्य हैं, उनमें सबसे सुन्दर, सबसे मधुर, सबके शिरोमणि हैं—ये हमारे मनमोहन । उनके साँवले ललाटपर केसरकी खौर कितनी फबती है—बस, देखती ही जाओ । गलेमें घुटनोंतक लटकती हुई वनमाला, उसमें पिरोयी हुई तुलसीकी दिव्य गन्ध और मधुर मधुसे मतवाले होकर झुंड-के-झुंड भौंरे बड़े मनोहर [illegible] उस [illegible] गुंजार करते रहते हैं । हमारे नटनागर श्यामसुन्दर भौंरोंकी उस गुनगुनाहटका आदर करते हैं और उन्हींके स्वरमें स्वर मिलाकर अपनी बाँसुरी फूँकने लगते हैं । उस समय सखि ! उस मुनिजनमोहन संगीतको सुनकर सरोवरमें रहनेवाले सारस हंस आदि पक्षियों का भी चित्त उनके हाथसे निकल जाता है, छिन जाता है । वे विवश होकर प्यारे श्यामसुन्दरके पास आ बैठते हैं तथा आँखें मूँद, चुपचाप, चित्त एकाग्र करके उनकी आराधना करने लगते हैं, मानो कोई विहङ्गम[illegible] हो, भला कहो तो यह कितने आश्चर्यकी बात है ! ॥ १०-११ ॥

अरी व्रजदेवियो ! हमारे श्यामसुन्दर [illegible] कुण्डल [illegible] अपने कानोंमें धारण कर लेते हैं और [illegible] गिरिराजके [illegible] खड़े होकर [illegible] करते हुए बाँसुरी बजाने लगते हैं—बाँसुरी क्या बजाने [illegible] करने लगते हैं—उस समय [illegible] बाँसुरी [illegible] [illegible] है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

ऊपर आकर छाया कर लेता है, उनका छत्र बन जाता है। अरी वीर! वह तो प्रसन्न होकर बड़े प्रेमसे उनके ऊपर अपना जीवन ही निछावर कर देता है—नन्ही-नन्ही फुहियोंके रूपमें ऐसा बरसने लगता है, मानो दिव्य पुष्पोंकी वर्षा कर रहा हो। कभी-कभी बादलोंकी ओटमें छिपकर देवतालोग भी पुष्पवर्षा कर जाया करते हैं॥ १२-१३॥

सतीशिरोमणि यशोदाजी! तुम्हारे सुन्दर कुँवर ग्वालबालों-के साथ खेल खेलनेमें बड़े निपुण हैं। रानीजी! तुम्हारे लाड़ले लाल सबके प्यारे तो हैं ही, चतुर भी बहुत हैं। देखो, उन्होंने बाँसुरी बजाना किसीसे सीखा नहीं। अपने ही अनेकों प्रकार-की राग-रागिनियाँ उन्होंने निकाल लीं। जब वे अपने बिम्बा-फल-सदृश लाल-लाल अधरोंपर बाँसुरी रखकर ऋषभ, निषाद आदि स्वरोंकी अनेक जातियाँ बजाने लगते हैं, उस समय वंशीकी परम मोहिनी और नयी तान सुनकर ब्रह्मा, शङ्कर और इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता भी—जो सर्वज्ञ हैं—उसे नहीं पहचान पाते। वे इतने मोहित हो जाते हैं कि उनका चित्त तो उनके रोकनेपर भी उनके हाथसे निकलकर वंशीध्वनिमें तल्लीन हो ही जाता है, सिर भी झुक जाता है, और वे अपनी सुध-बुध खोकर उसीमें तन्मय हो जाते हैं॥१४-१५॥

अरी वीर! उनके चरणकमलोंमें ध्वजा, वज्र, कमल, अङ्कुश आदिके विचित्र और सुन्दर-सुन्दर चिह्न हैं। जब व्रजभूमि गौओंके खुरसे खुद जाती है, तब वे अपने सुकुमार चरणोंसे उसकी पीड़ा मिटाते हुए गजराजके समान मन्दगति-से आते हैं और बाँसुरी भी बजाते रहते हैं। उनकी वह वंशीध्वनि, उनकी वह चाल और उनकी वह विलासभरी चितवन हमारे हृदयमें प्रेमका, मिलनकी आकाङ्क्षाका आवेग बढ़ा देती है। हम उस समय इतनी मुग्ध, इतनी मोहित हो जाती हैं कि हिल-डोलतक नहीं सकतीं, मानो हम जड़ वृक्ष हों! हमें तो इस बातका भी पता नहीं चलता कि हमारा जूड़ा खुल गया है या बँधा है, हमारे शरीरपरका वस्त्र उतर गया है या है॥ १६-१७॥

अरी वीर! उनके गलेमें मनियोंकी माला बहुत ही भली मालूम होती है। तुलसीकी मधुर गन्ध उन्हें बहुत प्यारी है। इसीसे तुलसीकी मालाको तो वे कभी छोड़ते ही नहीं, सदा धारण किये रहते हैं। जब वे श्यामसुन्दर उस मनियोंकी मालासे गौओंकी गिनती करते-करते किसी प्रेमी सखाके गलेमें बाँह डाल देते हैं और भाव बता-बताकर बाँसुरी बजाते हुए गाने लगते हैं, उस समय बजती हुई उस बाँसुरीके मधुर स्वरसे मोहित होकर कृष्णसार मृगोंकी पत्नी हरिनियाँ भी अपना चित्त उनके चरणोंपर निछावर कर देती हैं और जैसे हम गोपियाँ अपने घर-गृहस्थीकी आशा छोड़कर गुणसागर नागर नन्दनन्दनको घेरे रहती हैं, वैसे ही वे भी उनके पास दौड़ आती हैं और वहीं देखती हुई खड़ी रह जाती हैं, लौटनेका नाम नहीं लेतीं॥ १८-१९॥

नन्दरानी यशोदाजी! वास्तवमें तुम बड़ी पुण्यवती हो तभी तो तुम्हें ऐसे पुत्र मिले हैं। तुम्हारे वे लाड़ले लाल बड़े प्रेमी हैं, उनका चित्त बड़ा कोमल है। वे प्रेमी सखाओंको तरह-तरहसे हास-परिहासके द्वारा सुख पहुँचाते हैं। कुन्दकलीका हार पहनकर जब वे अपनेको विचित्र वेषमें सजा लेते हैं और ग्वाल-बाल तथा गौओंके साथ यमुनाजीके तटपर खेलने लगते हैं, उस समय मलयज चन्दनके समान शीतल और सुगन्धित स्पर्शसे मन्द-मन्द अनुकूल बहकर वायु तुम्हारे लालकी सेवा करती है और गन्धर्व आदि उपदेवता वंदीजनोंके समान गा-बजाकर उन्हें संतुष्ट करते हैं तथा अनेकों प्रकारकी भेंटें देते हुए सब ओरसे घेरकर उनकी सेवा करते हैं॥ २०-२१॥

अरी सखी! श्यामसुन्दर व्रजकी गौओंसे बड़ा प्रेम करते हैं। इसीलिये तो उन्होंने गोवर्धन धारण किया था। अब वे सब गौओंको लौटाकर आते ही होंगे; देखो, सायंकाल हो चला है। तब इतनी देर क्यों होती है, सखी! रास्तेमें बड़े-बड़े ब्रह्मा आदि वयोवृद्ध और शङ्कर आदि ज्ञानवृद्ध उनके चरणोंकी वन्दना जो करने लगते हैं। अब गौओंके पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए वे आते ही होंगे। ग्वाल-बाल उनकी कीर्तिका गान कर रहे होंगे। देखो न, यह क्या आ रहे हैं। गौओंके खुरोंसे उड़-उड़कर बहुत-सी धूल वनमालापर पड़ गयी है। वे दिनभर जंगलोंमें घूमते-घूमते थक गये हैं। फिर भी अपनी इस शोभासे हमारी आँखोंको कितना सुख, कितना आनन्द दे रहे हैं। देखो, ये यशोदाकी कोखसे प्रकट हुए सबको आह्लादित करनेवाले चन्द्रमा हम प्रेमी जनोंकी भलाईके लिये, हमारी आशा-अभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिये ही हमारे पास चले आ रहे हैं॥ २२-२३॥

सखी! देखो कैसा सौन्दर्य है! मदभरी आँखें कुछ चढ़ी हुई हैं। कुछ-कुछ ललाई लिये हुए कैसी भली जान पड़ती

हैं। गलेमें वनमाला लहरा रही है। सोनेके कुण्डलोंकी कान्तिसे वे अपने कोमल कपोलोंको अलङ्कृत कर रहे हैं। इसीसे मुँहपर अधरके बेरके समान कुछ पीलापन जान पड़ता है। और रोम-रोमसे, विशेष करके मुखकमलसे प्रसन्नता फूटी पड़ती है। देखो, अब वे अपने सखा ग्वालबालोंका सम्मान करके उन्हें विदा कर रहे हैं। देखो, देखो सखी! व्रज-विभूषण श्रीकृष्ण गजराजके समान मदभरी चालसे इस संध्या-वेलामें हमारी ओर आ रहे हैं। अब व्रजमें रहनेवाली गौओंका, हमलोगोंका दिनभरका असह्य विरह-ताप मिटानेके लिये उदित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति ये हमारे प्यारे श्यामसुन्दर समीप चले आ रहे हैं ॥ २४-२५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! बड़भागिनी गोपियोंका मन श्रीकृष्णमें ही लगा रहता था। वे श्रीकृष्णमय हो गयी थीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण दिनमें गौओंको चरानेके लिये वनमें चले जाते, तब वे उन्हींका चिन्तन करती रहतीं और अपनी अपनी सखियोंके साथ अलग-अलग उन्हींकी लीलाओंका गान करके उसीमें रम जातीं। इस प्रकार उनके दिन बीत जाते ॥ २६ ॥

शेषशायी भगवान् विष्णुका ध्यान

मृणालगौरायतशेषभोगपर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्नद्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥ १ ॥
प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः संध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्यवनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥ २ ॥
आयामतो विस्तरतः स्वमानदेहेन लोकत्रयसंग्रहेण।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम् ॥ ३ ॥
पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गैरभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम्।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दुमयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥ ४ ॥
मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा ॥ ५ ॥
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा स्वलंकृतं मेखलया नितम्बे।
हारेण चानन्तधनेन वत्स श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥ ६ ॥
परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेकपर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम्।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रमहीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥ ७ ॥
चराचरौको भगवन्महीध्रमहीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम्।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्गमाविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥ ८ ॥
निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम्।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥ ९ ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । ८ । २३—३१)

(अनुवादक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

उस प्रलयकालीन जलमें शेषजीके कमलनालसदृश गौर और विशाल विग्रहकी शय्यापर पुरुषोत्तम भगवान् अकेले ही लेटे हुए हैं। शेषजीके दस हजार फण छत्रके समान फैले हुए हैं। उनके मस्तकोंपर किरीट शोभायमान हैं, उनमें जो मणियाँ जड़ी हुई हैं, उनकी कान्तिसे चारों ओरका अन्धकार दूर हो गया है ॥ १ ॥ वे अपने श्याम शरीरकी आभासे मरकतमणिके पर्वतकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं। उनकी कमरका पीताम्बर पर्वतके प्रान्त देशमें छाये हुए सायंकालके

पीले-पीले चमकीले मेघोंकी आभाको मलिन कर रहा है, सिरपर सुशोभित सुवर्णमुकुट सुवर्णमय शिखरोंका मान मर्दन कर रहा है। उनकी वनमाला पर्वतके रत्न, जलप्रपात, ओषधि और पुष्पोंकी शोभाको परास्त कर रही है तथा उनके भुजदण्ड वेणुदण्डका और चरण वृक्षोंका तिरस्कार करते हैं ॥ २ ॥ उनका वह श्रीविग्रह अपने परिमाणसे लंबाई-चौड़ाईमें त्रिलोकीका संग्रह किये हुए है। वह अपनी शोभासे विचित्र एवं दिव्य वस्त्राभूषणोंकी शोभाको सुशोभित करनेवाला होनेपर भी पीताम्बर आदि अपनी वेष-भूषासे सुसज्जित है ॥ ३ ॥ अपनी-अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्गोंसे पूजा करनेवाले भक्तजनोंको कृपापूर्वक अपने भक्तवाञ्छा-कल्पतरु चरणकमलोंका दर्शन दे रहे हैं, जिनके सुन्दर अंगुलिदल नखचन्द्रकी चन्द्रिकासे अलग-अलग स्पष्ट चमकते रहते हैं ॥ ४ ॥ सुन्दर नासिका, अनुग्रहवर्षी भौंहें, कानोंमें झिलमिलाते हुए कुण्डलोंकी शोभा, बिम्बाफलके समान लाल-लाल अधरोंकी कान्ति एवं लोकार्तिहारी मुसकानसे युक्त मुखारविन्दके द्वारा वे अपने उपासकोंका सम्मान—अभिनन्दन कर रहे हैं ॥ ५ ॥ वत्स ! उनके नितम्बदेशमें कदम्बकुसुम-की केसरके समान पीतवस्त्र और सुवर्णमयी मेखला ... है तथा वक्षःस्थलमें अमूल्य हार और सुनहरी रेखावाले वत्सचिह्नकी अपूर्व शोभा हो रही है ॥ ६ ॥ वे ... चन्दनवृक्षके समान हैं। महामूल्य केयूर ... मणियोंसे सुशोभित उनके विशाल भुजदण्ड ही मानो ... की सहस्रों शाखाएँ हैं और चन्दनके वृक्षोंमें ... से बड़े साँप लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार उनके कंधोंको ... फणोंने लपेट रक्खा है ॥ ७ ॥ वे नागराज ... श्रीनारायण ऐसे जान पड़ते हैं, मानो कोई जलसे घिरे ... पर्वतराज ही हों। पर्वतपर जैसे अनेकों जीव रहते हैं, ... प्रकार वे सम्पूर्ण चराचरके आश्रय हैं; शेषजीके फणोंपर ... सहस्रों मुकुट हैं, वे ही मानो उस पर्वतके सुवर्णमण्डित ... हैं तथा वक्षःस्थलमें विराजमान कौस्तुभमणि उसके ... प्रकट हुआ रत्न है ॥ ८ ॥ प्रभुके गलेमें वेदरूप ... गुञ्जायमान अपनी कीर्तिमयी वनमाला विराज रही है; सू... चन्द्र, वायु और अग्नि आदि देवताओंकी भी आपतक ... नहीं है तथा त्रिभुवनमें बेरोक-टोक विचरण ... सुदर्शनचक्रादि आयुध भी प्रभुके आसपास ही घूमते ... हैं, उनके लिये भी आप अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ९ ॥

भगवान् विष्णुका ध्यान

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्। नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ १ ॥
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् । श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥ २ ॥
मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया। परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥ ३ ॥
काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्। दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ ४ ॥
अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम्। सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥ ५ ॥
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम्। ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥ ६ ॥
स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्। प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥ ७ ॥
तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्। विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥ ८ ॥

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥ ९ ॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥ १० ॥
जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत् संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥ ११ ॥

ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमानावोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमानकाञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बविम्बम् ॥१२॥
नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य ध्यायेद् द्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥१३॥
वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥१४॥
वाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन निर्णिक्तवाहुवलयानधिलोकपालान् ।
संचिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ॥१५॥
कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ॥१६॥
भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः संचिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥१७॥
यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु ॥१८॥
तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोरतापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं ध्यायेच्चिरं विपुलभावनया गुहायाम् ॥१९॥
हासं हरेरवनताखिललोकतीव्रशोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥२०॥
ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठभासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोर्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥२१॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २८ । १३—३३)

(अनुवादक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

भगवान्का मुखकमल आनन्दसे प्रफुल्ल है, नेत्र कमल-कोशके समान रतनारे हैं, शरीर नीलकमलदलके समान श्याम है; हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा (पद्म) धारण किये हैं ॥ १ ॥ कमलकी केसरके समान पीला रेशमी वस्त्र लहरा रहा है, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न है और गलेमें कौस्तुभमणि झिलमिला रही है ॥ २ ॥ वनमाला चरणोंतक लटकी हुई है, जिसके चारों ओर भ्रमर सुगन्धसे मतवाले होकर मधुर गुंजार कर रहे हैं; अङ्ग-प्रत्यङ्गमें महामूल्य हार, कङ्कण, किरीट, भुजबन्ध और नूपुर आदि आभूषण विराजमान हैं ॥ ३ ॥ कमरमें करधनीकी लड़ियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही हैं; भक्तोंके हृदयकमल ही उनके आसन हैं, उनका दर्शनीय श्यामसुन्दर स्वरूप अत्यन्त शान्त एवं मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाला है ॥ ४ ॥ उनकी अति सुन्दर किशोर अवस्था है, वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आतुर हो रहे हैं। बड़ी मनोहर झाँकी है । भगवान् सदा सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दित हैं ॥ ५ ॥ उनका पवित्र यश परम कीर्तनीय है और वे राजा बलि आदि परम यशस्वियोंके भी यशको बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार श्रीनारायणदेवका सम्पूर्ण अङ्गोंके सहित तबतक ध्यान करे, जबतक चित्त वहाँसे हटे नहीं ॥ ६ ॥ भगवान्की लीलाएँ बड़ी दर्शनीय हैं; अतः अपनी रुचिके अनुसार खड़े हुए, चलते हुए, बैठे हुए, पौढ़े हुए अथवा अन्तर्यामीरूपमें स्थित हुए उनके स्वरूपका विशुद्ध भावयुक्त चित्तसे चिन्तन करे ॥ ७ ॥ इस प्रकार योगी जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवद्विग्रहमें चित्तकी स्थिति हो गयी, तब वह उनके समस्त अङ्गोंमें लगे हुए चित्तको विशेष रूपसे एक-एक अङ्गमें लगावे ॥ ८ ॥

भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करना चाहिये । वे
वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके मङ्गलमय चिह्नोंसे युक्त
हैं तथा अपने उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नखचन्द्र-
मण्डलकी चन्द्रिकासे ध्यान करनेवालोंके हृदयके अज्ञानरूप
घोर अन्धकारको दूर कर देते हैं ॥ ९ ॥ इन्हींकी धोवनसे
नदियोंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी प्रकट हुई थीं, जिनके पवित्र जलको
मस्तकपर धारण करनेके कारण स्वयं मङ्गलरूप श्रीमहादेवजी
और भी अधिक मङ्गलमय हो गये । ये अपना ध्यान करने-
वालोंके पापरूप पर्वतोंपर छोड़े हुए इन्द्रके वज्रके समान
हैं । भगवान्‌के इन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन
करे ॥ १० ॥

भवभयहारी अजन्मा श्रीहरिकी दोनों पिंडलियों एवं
घुटनोंका ध्यान करे, जिनको विश्वविधाता ब्रह्माजीकी
माता सुरवन्दिता कमललोचना लक्ष्मीजी अपनी जाँघोंपर
रखकर अपने कान्तिमान् कर-किसलयोंकी कान्तिसे लाड़
लड़ाती रहती हैं ॥ ११ ॥ भगवान्‌की जाँघोंका ध्यान करे,
जो अलसीके फूलके समान नीलवर्ण और बलकी निधि हैं
तथा गरुड़जीकी पीठपर शोभायमान हैं । भगवान्‌के नितम्ब-
बिम्बका ध्यान करे, जो एड़ीतक लटके हुए पीताम्बरसे
ढका हुआ है और उस पीताम्बरके ऊपर पहनी हुई
सुवर्णमयी करधनीकी लड़ियोंको आलिङ्गन कर रहा है ॥१२॥

सम्पूर्ण लोकोंके आश्रयस्थान भगवान्‌के उदरदेशमें स्थित
नाभिसरोवरका ध्यान करे; इसीमेंसे ब्रह्माजीका आधारभूत
सर्वलोकमय कमल प्रकट हुआ है । फिर प्रभुके श्रेष्ठ मरकत-
मणिसदृश दोनों स्तनोंका चिन्तन करे, जो वक्षःस्थलपर पड़े
हुए शुभ्र हारोंकी किरणोंसे गौरवर्ण जान पड़ते हैं ॥ १३ ॥
इसके पश्चात् पुरुषोत्तम भगवान्‌के वक्षःस्थलका ध्यान करे,
जो महालक्ष्मीका निवासस्थान और लोगोंके मन एवं नेत्रोंको
आनन्द देनेवाला है । फिर सम्पूर्ण लोकोंके वन्दनीय भगवान्‌के
गलेका चिन्तन करे, जो मानो कौस्तुभमणिको भी सुशोभित
करनेके लिये ही उसे धारण करता है ॥ १४ ॥

समस्त लोकपालोंकी आश्रयभूता भगवान्‌की चारों भुजाओं-
का ध्यान करे, जिनमें धारण किये हुए कङ्कणादि आभूषण
समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलकी रगड़से और भी उजले
हो गये हैं । इसी प्रकार जिसके तेजको सहन नहीं कि[illegible]
जा सकता, उस सहस्र धारोंवाले सुदर्शनचक्रका
उनके कर-कमलमें राजहंसके समान विराजमान [illegible]
चिन्तन करे ॥ १५ ॥ फिर विपक्षी वीरोंके रुधिरसे [illegible]
हुई प्रभुकी प्यारी कौमोदकी गदाका, भौंरोंके [illegible]
गुंजायमान वनमालाका और उनके कण्ठमें सुशोभित [illegible]
जीवोंके निर्मलतत्त्वरूप कौस्तुभमणिका ध्यान करे* ॥ १६ ॥

भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही यहाँ साकार रूप धा[illegible]
करनेवाले श्रीहरिके मुखकमलका ध्यान करे, जो [illegible]
नासिकासे सुशोभित है और झिलमिलाते हुए [illegible]
कुण्डलोंके हिलनेसे अतिशय प्रकाशमान स्वच्छ [illegible]
कारण बड़ा ही मनोहर जान पड़ता है ॥ १७ ॥
काली घुँघराली अलकावलीसे मण्डित भगवान्‌का [illegible]
अपनी छबिके द्वारा भ्रमरोंसे सेवित कमलकोशका [illegible]
तिरस्कार कर रहा है और उनके कमलसदृश विशाल [illegible]
चञ्चल नेत्र उस कमलकोशपर उछलते हुए [illegible]
जोड़ेकी शोभाको मात कर रहे हैं । उन्नत भ्रूलताओं[illegible]
सुशोभित भगवान्‌के ऐसे मनोहर मुखारविन्दकी मनमें [illegible]
करके आलस्यरहित हो उसीका ध्यान करे ॥ १८ ॥

हृदयगुहामें चिरकालतक भक्तिभावसे भगवान्‌के [illegible]
चितवनका ध्यान करना चाहिये—जो कृपासे और [illegible]
मुसकानसे क्षण-क्षण अधिकाधिक बढ़ती रहती है, [illegible]
प्रसादकी वर्षा करती रहती है और भक्तजनोंके अत्यन्त
तीनों तापोंको शान्त करनेके लिये ही प्रकट हुई है ॥ १९ ॥
श्रीहरिका हास्य प्रणतजनोंके तीव्र-से-तीव्र शोकके अश्रुसागरको
सुखा देता है और अत्यन्त उदार है । मुनियोंके हितके लि[illegible]
कामदेवको मोहित करनेके लिये ही अपनी मायासे श्रीहरि[illegible]
अपने भ्रूमण्डलको बनाया है—उनका ध्यान करना चाहि[illegible]
॥ २० ॥ अत्यन्त प्रेमार्द्रभावसे अपने हृदयमें [illegible]
श्रीहरिके खिलखिलाकर हँसनेका ध्यान करे, जो [illegible]
ध्यानके ही योग्य है तथा जिसमें ऊपर और नीचेके दो[illegible]
होठोंकी अत्यधिक अरुण कान्तिके कारण उनके कुन्दक[illegible]
समान शुभ्र छोटे-छोटे दाँतोंपर लालिमा-सी प्रतीत होने [illegible]
है । इस प्रकार ध्यानमें तन्मय होकर उनके सिवा [illegible]
अन्य पदार्थोंको देखनेकी इच्छा न करे ॥ २१ ॥

---

* [illegible] निर्गुणब्रह्म । [illegible] कौस्तुभमणि [illegible] भगवान् [illegible] ॥
[illegible] निर्गुण, निर्विशेष [illegible] कौस्तुभमणिके रूपमें भगवान् धारण करते हैं ।

भगवान् श्रीरामका ध्यान

[illegible] उवाच

[illegible] ॥
[illegible] सर्वकामसमृद्धिदम् ॥
[illegible] नामितनाशनम् ॥
[illegible] देवेन्द्रपूजितम् ॥
[illegible] ॥
[illegible] विराजितम् ॥
[illegible] ॥
[illegible] निवासा सुगन्धाः शास्त्रसंयुताः ॥
[illegible] बिभ्रतं परम् ॥
[illegible] सानुजविभो ॥
[illegible] सुमनोहरम् ॥
[illegible] प्रियान्वितम् ॥
[illegible] ॥
[illegible] संसारसागरं त्वं तरिष्यसि ॥
[illegible] परम् ॥
[illegible] संसारजलधिं तर ॥

(पद्मपुराण पातालखण्ड ३५ । [illegible])

महर्षि [illegible] भगवान् [illegible] कहते हैं—[illegible] अयोध्यापुरीमें परम [illegible] मण्डप शोभा पा रही है। उसके भीतर एक कल्पवृक्ष है, जिसके मूलभागमें परम मनोहर सिंहासन विराजमान है। वह सिंहासन बहुमूल्य मरकतमणि, सुवर्ण तथा नीलमणि आदिसे सुशोभित है और अपनी कान्तिसे गहन अन्धकारका नाश कर रहा है। वह सब प्रकारकी मनोवाञ्छित समृद्धियोंको देनेवाला है। उसके ऊपर भक्तोंका मन मोहनेवाले श्रीरघुनाथजी बैठे हुए हैं। उनका दिव्य विग्रह दूर्वादलके समान श्याम है, जो देवराज इन्द्रके द्वारा पूजित होता है। भगवान्‌का सुन्दर मुख अपनी शोभासे पौर्णमासीके पूर्णचन्द्रकी कमनीय कान्तिको भी तिरस्कृत कर रहा है। उनका तेजस्वी ललाट अष्टमीके अर्धचन्द्रकी उपमा धारण करता है। मस्तकपर काले-काले घुँघराले [illegible] शोभा पा रहे हैं। मुकुटकी मणियोंसे उनका मुखमण्डल सुशोभित हो रहा है। कानोंमें पहने हुए मकराकार कुण्डल उनके [illegible] भगवान्‌की शोभा बढ़ा रहे हैं। मूँगेके समान सुन्दर कान्ति धारण करनेवाले लाल-लाल ओठ बड़े मनोहर जान पड़ते हैं। चन्द्रमाकी किरणोंसे होड़ लगानेवाली दन्तपङ्क्तियों तथा जपाकुसुमके समान लाल जिह्वाके कारण उनके श्रीमुखका सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। शङ्खके आकारवाला कमनीय कण्ठ, जिसमें ऋक् आदि चारों वेद तथा सम्पूर्ण शास्त्र निवास करते हैं, उनके श्रीविग्रहको सुशोभित कर रहा है। श्रीरघुनाथजी सिंहके समान ऊँचे और पुष्ट कंधेवाले हैं। वे केयूर एवं कड़ोंसे विभूषित विशाल भुजाएँ धारण किये हुए हैं। अँगूठीमें जड़े हुए हीरेकी शोभासे देदीप्यमान उनकी वे दोनों बाँहें घुटनोंतक लम्बी हैं। विस्तृत वक्षःस्थल लक्ष्मीके निवाससे शोभा पा रहा है। श्रीवत्स आदि चिह्नोंसे अङ्कित होनेके कारण भगवान् अत्यन्त मनोहर जान पड़ते हैं। महान् उदर, गहरी नाभि तथा सुन्दर कटिभाग उनकी शोभा बढ़ाते हैं। रत्नोंकी

बनी हुई करधनीके कारण श्रीअङ्गोंकी सुषमा बहुत बढ़ गयी है। निर्मल ऊरु और सुन्दर घुटने भी सौन्दर्यवृद्धिमें सहायक हो रहे हैं। भगवान्‌के चरण, जिनका योगीगण ध्यान करते हैं, बड़े कोमल हैं। उनके तलवेमें वज्र, अङ्कुश और यव आदिकी उत्तम रेखाएँ हैं। उन युगल-चरणोंसे श्रीरघुनाथजीके विग्रहकी बड़ी शोभा हो रही है।

इस प्रकार ध्यान और स्मरण करके तुम संसार-सागरसे तर जाओगे। जो मनुष्य प्रतिदिन चन्दन आदि सामग्रियोंसे इच्छानुसार श्रीरामचन्द्रजीका पूजन करता है, उसे इहलोक और परलोककी उत्तम समृद्धि प्राप्त होती है। तुमने श्रीराम-के श्रेष्ठ ध्यानका प्रकार पूछा था सो मैंने बता दिया। इसके अनुसार ध्यान करके तुम संसार-सागरसे पार हो जाओ।

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

नारद उवाच

सुमप्रकरसौरभोद्गलितमाध्विकाधुल्लसत्सुशाखिनवपल्लवप्रकरनम्रशोभायुतम् ।
प्रफुल्लनवमञ्जरीललितवल्लरीवेष्टितं स्मरेत सततं शिवं सितमतिः सुवृन्दावनम् ॥ १ ॥
विकासिसुमनोरसास्वदनमञ्जुलैः संचरच्छिलीमुखमुखोद्गतैर्मुखरितान्तरं झङ्कृतैः ।
कपोतशुकसारिकापरभृतादिभिः पत्त्रिभिर्विरावितमितस्ततो भुजगशत्रुनृत्याकुलम् ॥ २ ॥
कलिन्ददुहितुश्चलल्लहरिविप्रुषां वाहिभिर्विनिद्रसरसीरुहोदररजश्चयोद्धूसरैः ।
प्रदीपितमनोभवव्रजविलासिनीवाससां विलोलनपरैर्निषेवितमनारतं मारुतैः ॥ ३ ॥
प्रवालनवपल्लवं मरकतच्छदं मौक्तिकप्रभाप्रकरकोरकं कमलरागनानाफलम् ।
स्थविष्ठमखिलर्तुभिः सततसेवितं कामदं तदन्तरपि कल्पकाङ्घ्रिपदमुञ्चितं चिन्तयेत् ॥ ४ ॥
सुहेमशिखराचले उदितभानुवद्भासुरामधोऽस्य कनकस्थलीममृतशीकरासारिणः ।
प्रदीप्तमणिकुट्टिमां कुसुमरेणुपुञ्जोज्ज्वलां स्मरेत् पुनरतन्द्रितो विगतषट्तरङ्गां बुधः ॥ ५ ॥

तद्रत्नकुट्टिमनिविष्टमहिष्ठयोगपीठेऽष्टपत्त्रमरुणं कमलं विचिन्त्य ।
उद्यद्विरोचनसरोचिरमुष्य मध्ये संचिन्तयेत् सुखनिविष्टमथो मुकुन्दम् ॥ ६ ॥
सुत्रामहेतिदलिताञ्जनमेघपुञ्जप्रत्यग्रनीलजलजन्मसमानभासम् ।
सुस्निग्धनीलघनकुञ्चितकेशजालं राजन्मनोज्ञशितिकण्ठशिखण्डचूडम् ॥ ७ ॥
रोलम्बलालितसुरद्रुमसूनसम्प्रयुक्तं समुत्कचनवोत्पलकर्णपूरम् ।
लोलालिभिः स्फुरितभालतलप्रदीप्तगोरोचनातिलकमुज्ज्वलचिल्लिचापम् ॥ ८ ॥
आपूर्णशारदगताङ्कशशाङ्कबिम्बकान्ताननं कमलपत्त्रविशालनेत्रम् ।
रत्नस्फुरन्मकरकुण्डलरश्मिदीप्तगण्डस्थलीमुकुरमुन्नतचारुनासम् ॥ ९ ॥
सिन्दूरसुन्दरतराधरमिन्दुकुन्दमन्दारमन्दहसितद्युतिदीपिताशम् ।
वन्यप्रवालकुसुमप्रचयावक्लृप्तग्रैवेयकोज्ज्वलमनोहरकम्बुकण्ठम् ॥ १० ॥
मत्तभ्रमद्भ्रमरघुष्टविलम्बमानसंतानकप्रसवदामपरिष्कृतांसम् ।
हारावलीभगणराजितपीवरोरोव्योमस्थलीलसितकौस्तुभभानुमन्तम् ॥ ११ ॥
श्रीवत्सलक्षणसुलक्षितमुन्नतांसमाजानुपीनपरिवृत्तसुजातबाहुम् ।
आबन्धुरोदरमुदारगभीरनाभिं भृङ्गाङ्गनानिकरमञ्जुलरोमराजिम् ॥ १२ ॥
नानामणिप्रघटिताङ्गदकङ्कणोर्मिग्रैवेयकारसननूपुरतुन्दबन्धम् ।
दिव्याङ्गरागपरिपिञ्जरिताङ्गयष्टिमापीतवस्त्रपरिवीतनितम्बबिम्बम् ॥ १३ ॥

चारूरुजानुमनुवृत्तमनोज्ञजङ्घं कान्तोन्नतप्रपदनिन्दितकूर्मकान्तिम् ।
माणिक्यदर्पणलसन्नखराजिराजद्रक्ताङ्गुलिच्छदनसुन्दरपादपद्मम् ॥ १४ ॥
मत्स्याङ्कुशारिदरकेतुयवाब्जवज्रैः संलक्षितारुणकराङ्घ्रितलाभिरामम् ।
लावण्यसारसमुदायविनिर्मिताङ्गं सौन्दर्यनिन्दितमनोभवदेहकान्तिम् ॥ १५ ॥
आस्यारविन्दपरिपूरितवेणुरन्ध्रलोलत्कराङ्गुलिसमीरितदिव्यरागैः ।
शश्वद्द्रवैः कृतनिविष्टसमस्तजन्तुसंतानसंततिमनन्तसुखाम्बुराशिम् ॥ १६ ॥
गोभिर्मुखाम्बुजविलीनविलोचनाभिरूधोभरस्खलितमन्थरमन्दगाभिः ।
दन्ताग्रदष्टपरिशिष्टतृणाङ्कुराभिरालम्बिवालधिलताभिरथाभिवीतम् ॥ १७ ॥
सप्रस्नुतस्तनविभूषणपूर्णनिश्चलास्याद् दृढक्षरितफेनिलदुग्धमुग्धैः ।
वेणुप्रवर्तितमनोहरमन्दगीतदत्तोच्चकर्णयुगलैरपि तर्णकैश्च ॥ १८ ॥
प्रत्यग्रशृङ्गमृदुमस्तकसम्प्रहारसंरम्भभावनविलोलखुराग्रपातैः ।
आमेदुरैर्बहुलसास्नगलैरुदग्रपुच्छैश्च वत्सतरवत्सतरीनिकायैः ॥ १९ ॥
हम्भारवक्षुभितदिग्वलयैर्महद्भिरप्युक्षभिः पृथुककुद्भरभारखिन्नैः ।
उत्तम्भितश्रुतिपुटीपरिपीतवंशीध्वानामृतोद्धतविकासिविशालघोणैः ॥ २० ॥
गोपैः समानगुणशीलवयोविलासवेशैश्च मूर्च्छितकलस्वनवेणुवीणैः ।
मन्द्रोच्चतारपटुगानपरैर्विलोलदोर्वल्लरीललितलास्यविधानदक्षैः ॥ २१ ॥
जङ्घान्तपीवरकटीरतटीनिबद्धव्यालोलकिङ्किणिघटारणितैरटद्भिः ।
मुग्धैस्तरक्षुनखकल्पितकान्तभूषैरव्यक्तमञ्जुवचनैः पृथुकैः परीतम् ॥ २२ ॥
अथ सुललितगोपसुन्दरीणां पृथुकबरीष्टनितम्बमन्थराणाम् ।
गुरुकुचभरभङ्गुरावलग्नत्रिवलिविजृम्भितरोमराजिभाजाम् ॥ २३ ॥
तदतिरुचिरचारुवेणुवाद्यामृतरसपल्लविताङ्गजाङ्घ्रिपस्य ।
मुकुलविसररम्यरूढरोमोद्गमसमलंकृतगात्रवल्लरीणाम् ॥ २४ ॥
तदतिरुचिरमन्दहासचन्द्रातपपरिजृम्भितरागवारिराशेः ।
तरलतरतरङ्गभङ्गविप्रुट्प्रकरसमश्रमबिन्दुसंततानाम् ॥ २५ ॥
तदतिललितमन्दचिल्लिचापच्युतनिशितेक्षणमारबाणवृष्ट्या ।
दलितसकलमर्मविह्वलाङ्गप्रविसृतदुःसहवेपथुव्यथानाम् ॥ २६ ॥
तदतिरुचिरवेषरूपशोभामृतरसपानविधानलालसानाम् ।
प्रणयसलिलपूरवाहिनीनामलसविलोलविलोचनाम्बुजानाम् ॥ २७ ॥
विस्रंसत्कबरीकलापविगलत्फुल्लप्रसूनस्रवन्-
माध्वीलम्पटचञ्चरीकघटया संसेवितानां मुहुः ।
मारोन्मादमदस्खलन्मृदुगिरामालोलकाञ्च्युल्लस-
न्नीवीविश्लथमानचीनसिचयान्ताविर्नितम्बत्विषाम् ॥ २८ ॥
स्खलितललितपादाम्भोजमन्दाभिघातक्वणितमणितुलाकोट्याकुलाशामुखानाम् ।
चलदधरदलानां कुड्मलत्पक्ष्मलाक्षिद्वयसरसिरुहाणामुल्लसत्कुण्डलानाम् ॥ २९ ॥

द्राघिष्ठश्वसनसमीरणाभितापप्रम्लानीभवदरुणौष्ठपल्लवानाम् ।
नानोपायनविलसत्कराम्बुजानामालीभिः सततनिषेवितं समन्तात् ॥ ३० ॥
नासामायतलोलनीलनयनव्याकोशलीनाम्बुजस्रग्भिः संपरिपूजिताखिलतनुं नानाविलासास्पदम् ।
तन्मुग्धाननपङ्कजप्रविगलन्माध्वीरसास्वादिनीं बिभ्राणं प्रणयोन्मदाक्षिमधुकृन्मालां मनोहारिणीम् ॥३१॥
गोपीगोपपशूनां बहिः स्मरेदग्रतोऽस्य गीर्वाणघटां वित्तार्थिनीं विरिञ्चित्रिनयनशतमन्युपूर्विकां स्तोत्रपराम् ॥ ३२ ॥

तद्वद् दक्षिणतो मुनिनिकरं दृढधर्मवाञ्छया समाम्नायपरम् ।
योगीन्द्रानथ पृष्ठे मुमुक्षमाणान् समाधिना तु सनकाद्यान् ॥ ३३ ॥
सव्ये सकान्तानथ यक्षसिद्धान् गन्धर्वविद्याधरचारणांश्च ।
सकिन्नरानप्सरसश्च मुख्याः कामार्थिनीर्नर्तनगीतवाद्यैः ॥ ३४ ॥
शङ्खेन्दुकुन्दधवलं सकलागमज्ञं सौदामिनीततिपिशङ्गजटाकलापम् ।
तत्पादपङ्कजगतामभलां च भक्तिं वाञ्छन्तमुज्झिततरान्यसमस्तसङ्गम् ॥ ३५ ॥
नानाविधश्रुतिगुणान्वितसप्तरागग्रामत्रयीगतमनोहरमूर्छनाभिः ।
सम्प्रीणयन्तमुदिताभिरपि प्रभक्त्या संचिन्तयेन्नभसि मां द्रुहिणप्रसूतम् ॥ ३६ ॥
इति ध्यात्वाऽऽत्मानं पटुविशदधीर्नन्दतनयं नरो बौद्धैर्वाऽर्घप्रभृतिभिरनिन्द्योपहृतिभिः ।
यजेद्भूयो भक्त्या स्ववपुषि बहिष्ठैश्च विभवैरिति प्रोक्तं सर्वं यदभिलषितं भूसुरवराः ॥३७॥

(पद्म० पाताल० ९९ । २१—५८)

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

ध्यान करनेवाले मनुष्यको सदा शुद्ध-चित्त होकर पहले उस परम कल्याणमय सुन्दर वृन्दावनका चिन्तन करना चाहिये, जो पुष्पोंके समुदाय, मनोहर सुगन्ध और बहते हुए मकरन्द आदिसे सुशोभित सुन्दर-सुन्दर वृक्षोंके नूतन पल्लवोंसे ढका हुआ शोभा पा रहा है तथा प्रफुल्ल नवल मञ्जरियों और ललित लताओंसे आवृत है ॥ १ ॥

उसका भीतरी भाग चञ्चल मधुकरोंके मुखसे निकले हुए मधुर झंकारोंसे मुखरित है। विकसित कुसुमोंके मकरन्दका आस्वादन करनेके कारण उन भ्रमर-झंकारोंकी मनोरमता और बढ़ गयी है। कबूतर, तोता, मैना और कोयल आदि पक्षियोंके कलरवोंसे भी उस वनका अन्तःप्रान्त समधुर ध्वनि-पूर्ण हो रहा है और वहाँ इधर-उधर सब ओर कितने ही स्थानोंमें मयूर नृत्य कर रहे हैं ॥ २ ॥

कलिन्दनन्दिनी यमुनाकी [illegible] [illegible] कमलोंके [illegible] [illegible] धारण करनेसे धूसर हुई वायु [illegible] [illegible] हो रही है, उन [illegible] बार-बार हिलाती या उड़ाती हुई निरन्तर उस वृन्दावनका सेवन करती रहती है ॥ ३ ॥

उस वनके भीतर भी एक कल्पवृक्षका चिन्तन करे, जो बहुत ही मोटा और ऊँचा है, जिसके नये-नये पल्लव मूँगेके समान लाल हैं, पत्ते मरकतमणिके सदृश नीले हैं, कलियाँ मोतीके प्रभा-पुञ्जकी भाँति शोभा पा रही हैं और नाना प्रकारके फल पद्मरागमणिके समान जान पड़ते हैं। समस्त ऋतुएँ सदा ही उस वृक्षकी सेवामें रहती हैं तथा वह सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है ॥ ४ ॥

फिर आत्मसंयमी हो विद्वान् पुरुष धारावाहिक रूपसे अमृतकी बूँदें बरसानेवाले उस कल्पवृक्षके नीचे सुवर्णकी वेदीकी भावना करे, जो मेरुगिरिपर उदित हुए सूर्यकी भाँति प्रभासे उद्भासित हो रही है, जिसका फर्श जगमगाती हुई मणियोंसे बना है, जो पुष्पोंके पराग-पुञ्जसे कुछ धवल-सी हो रही है तथा जहाँ भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ नहीं पहुँचने पातीं ॥ ५ ॥

उस वेदीपर [illegible] एक विशाल योगपीठके

ऊपर लाल रंगके अष्टदलकमलका चिन्तन करके उसके मध्यभागमें सुखपूर्वक बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करे, जो अपनी दिव्य प्रभासे उदयकालीन सूर्यदेवकी भाँति देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ ६ ॥

भगवान्‌के श्रीविग्रहकी आभा इन्द्रके वज्रसे विदीर्ण हुए कज्जलगिरि, मेघोंकी घटा तथा नूतन नील कमलके समान श्याम रंगकी है; श्याम मेघके सदृश काले-काले घुँघराले केश-कलाप बड़े ही चिकने हैं तथा उनके मस्तकपर मनोहर मोर-पंखका मुकुट शोभा पा रहा है ॥ ७ ॥

कल्पवृक्षके कुसुमोंसे, जिनपर भ्रमर मँडरा रहे हैं, भगवान्‌का शृङ्गार हुआ है। उन्होंने कानोंमें खिले हुए नवीन कमलके कुण्डल धारण कर रक्खे हैं, जिनपर चञ्चल चञ्चरीक उड़ रहे हैं। उनके ललाटमें चमकीले गोरोचनका तिलक चमक रहा है तथा धनुषाकार भौंहें बड़ी सुन्दर प्रतीत हो रही हैं ॥ ८ ॥

भगवान्‌का मुख शरत्पूर्णिमाके कलङ्कहीन चन्द्रमण्डलकी भाँति कान्तिमान् है, बड़े-बड़े नेत्र कमलदलके समान सुन्दर हैं, दर्पणके सदृश स्वच्छ कपोल रत्नोंके कारण चमकते हुए मकराकृत कुण्डलोंकी किरणोंसे देदीप्यमान हो रहे हैं तथा ऊँची नासिका बड़ी मनोहर जान पड़ती है ॥ ९ ॥

सिन्दूरके समान परम सुन्दर लाल-लाल ओठ हैं, चन्द्रमा, कुन्द और मन्दार पुष्पकी-सी मन्द मुसकानकी छटासे सामने की दिशा प्रकाशित हो रही है तथा वनके कोमल पल्लवों और पुष्पोंसे सम्पूर्णद्वारा बनाये हुए हारसे शङ्ख सदृश मनोहर ग्रीवा बड़ी सुन्दर जान पड़ती है ॥ १० ॥

अँगूठियाँ, हार, करधनी, नूपुर और पेटी आदि आभूषण भगवान्‌के श्रीविग्रहपर शोभा पा रहे हैं, उनके समस्त अङ्ग दिव्य अङ्गरागोंसे अनुरञ्जित हैं तथा कटिभाग कुछ हल्के रंगके पीताम्बरसे ढका हुआ है ॥ १३ ॥

दोनों जाँघें और घुटने सुन्दर हैं; पिण्डलियोंका भाग गोलाकार एवं मनोहर है; पादाग्रभाग परम कान्तिमान् तथा ऊँचा है और अपनी शोभासे कछुएके पृष्ठ-भागकी कान्तिको मलिन कर रहा है तथा दोनों चरण स्वच्छ माणिक्य तथा दर्पणके समान स्वच्छ नखपङ्क्तियोंसे सुशोभित लाल-लाल अङ्गुलिदलोंके कारण बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं ॥ १४ ॥

मत्स्य, अङ्कुश, चक्र, शङ्ख, पताका, जौ, कमल और वज्र आदि चिह्नोंसे चिह्नित लाल-लाल हथेलियों तथा तलवोंसे भगवान् बड़े मनोहर प्रतीत हो रहे हैं। उनका श्रीअङ्ग लावण्यके सार-समूहसे निर्मित जान पड़ता है तथा उनके सौन्दर्यके सामने कामदेवके शरीरकी कान्ति फीकी पड़ जाती है ॥ १५ ॥

भगवान् अपने मुखारविन्दसे मुरली बजा रहे हैं; उस समय मुरलीके छिद्रोंपर उनकी अँगुलियोंके हिलनेसे निरन्तर दिव्य रागोंकी सृष्टि हो रही है, जिससे प्रभावित हो समस्त जीव जन्तु अलौकिक रसमें डूबकर आनन्दकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। भगवान् गोविन्द अनन्त आनन्दके समुद्र हैं ॥ १६ ॥

[illegible] मन्द मन्द [illegible] दाँतोंके [illegible] बने हुए [illegible] अङ्कुर [illegible] भगवान्‌के मुखारविन्दमें [illegible] रही है ॥ १७ ॥

संत-स्वभाव

अनेक बार ऐसा होता है—तनिक-सी असावधानीसे जीभ दाँतोंके नीचे आ जाती है। अत्यन्त कोमल जीभ और कठोर तीक्ष्ण दाँत—जीभ कट जाती है। बड़ा कष्ट होता है।

आपको कभी क्रोध आया है दाँतोंपर ? कभी आपके मनमें भी यह बात आयी है कि दाँत दुष्ट हैं—बिना अपराध उन्होंने जीभको काट लिया, इन्हें दण्ड देना चाहिये ?

आप कहेंगे कि कैसा व्यर्थ प्रश्न है। जीभ अपनी और दाँत भी अपने। जीभ कटी तो कष्ट हुआ। अब क्या दाँतोंको दण्ड देकर और कष्ट भोगना है। दाँतोंको दण्डका कष्ट भी तो अपनेको ही होगा।

× × ×

एक संत कहीं घूमते हुए जा रहे थे। कहाँ जा रहे थे ? हमें इसका पता नहीं है। संत होते ही रमते राम हैं। एक स्थानपर टिककर उन्हें रहना नहीं आता। यह तो लोकोक्ति है—'बहता पानी और रमता संत ही निर्मल रहता है।'

एक वनमें एक दुष्ट प्रकृतिका मनुष्य रहता था। साधु-संतोंसे उसे चिढ़ थी। चिढ़ थी सो थी। दुष्टका स्वभाव ही अकारण शत्रुता करना, सीधे लोगोंको अकारण कष्ट देना होता है।

संत घूमते हुए उस वनमें निकले। दुष्टने उन्हें देखा तो पत्थर उठाकर मारने दौड़ा—'तू इधर क्यों आया ? क्या धरा है तेरे बापका यहाँ ?'

संतने कहा—'मैंने तुम्हारी कोई हानि नहीं की है। तुम क्यों अप्रसन्न होते हो ? तुम्हें मेरा इधर आना बुरा लगता है तो मैं लौट जाता हूँ।'

'तू आया ही क्यों ?' दुष्ट अपनी दुष्टतापर आ गया था। संतको उसने कई पत्थर मारे। सिर और दूसरे अङ्गोंमें चोटें लगीं। रक्त बहने लगा। लेकिन संत भी संत ही थे। बिना कुछ बोले लौट आये।

कुछ दिनों बाद फिर संत उसी ओर गये। उनका हृदय कहता था—'बेचारा पता नहीं किस कारण साधुके वेशसे चिढ़ता है। साधुओंको कष्ट देकर तो वह नरकगामी होगा। उसको सुबुद्धि मिलनी चाहिये। उसका उद्धार होना चाहिये।'

वह दुष्ट आज दीखा नहीं। संत उसकी झोंपड़ीके पास गये। वह तो खाटपर बेसुध पड़ा था। तीव्र ज्वर था उसे। जैसे अपना पुत्र ही बीमार पड़ा हो—संत उसके पास जा बैठे। उसकी सेवा-शुश्रूषामें लग गये।

उस दुष्टके नेत्र खुले। उसने साधुको देखा। उसके मुखसे कठिनाईसे निकला—'आप !'

संतने उसे पुचकारा—'तुम पड़े रहो। चिन्ताकी कोई बात नहीं है। अरे अपने ही दाँतसे अपनी जीभ कट जाय तो कोई क्रोध किसपर करे ? तुम अलग हो और मैं अलग हूँ, यही तो भ्रम है। एक ही विराट् पुरुषके हम सब अङ्ग हैं।'

जीभ और दाँत
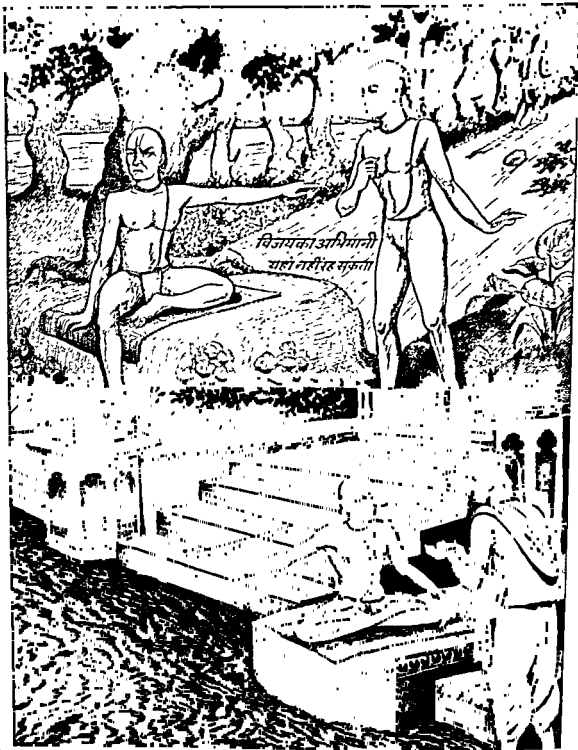
संतका स्वभाव—मान-धनकी तुच्छता

मान और धनकी तुच्छता

विजयका त्याग

वह दिग्विजयका युग था। राजाओंके लिये तो दिग्विजयका युग समाप्त हो गया था; किंतु विद्वानोंके लिये दिग्विजयका युग था। संस्कृतके प्रतिभाशाली विद्वान् बड़ी-से-बड़ी जो कामना कर सकते थे—दिग्विजयकी कामना थी। यह दिग्विजय शस्त्रोंसे नहीं, पाण्डित्यसे शास्त्रार्थ करके प्राप्त की जाती थी।

व्रजमें एक विद्वान् दिग्विजय करते हुए पहुँचे। व्रजके विद्वानोंने उनकी शास्त्रार्थकी चुनौतीके उत्तरमें कहा—'व्रजमें तो सनातन गोस्वामी और उनके भतीजे जीव गोस्वामी ही श्रेष्ठ विद्वान् हैं। वे आपको विजय-पत्र लिख दें तो हम सभी उसपर हस्ताक्षर कर देंगे।'

दिग्विजयी पहुँचे सनातन गोस्वामीके यहाँ। 'शास्त्रार्थ कीजिये या विजय-पत्र लिख दीजिये।' उनकी सर्वत्र जो माँग थी, वही माँग वहाँ भी थी।

'हम तो विद्वानोंके सेवक हैं। शास्त्रार्थ करना हम क्या जानें! शास्त्रका मर्म कहाँ समझा है हमने।' श्रीसनातन गोस्वामीकी नम्रता उनके ही उपयुक्त थी। उन्होंने दिग्विजयीको विजयपत्र लिख दिया।

दिग्विजयी आनन्द और गर्वसे झूमते लौटे। मार्गमें ही जीव गोस्वामी मिल गये। दिग्विजयीने कहा—'आपके ताऊ सनातनजीने तो विजयपत्र लिख दिया है। आप उसीपर हस्ताक्षर करेंगे या शास्त्रार्थ करेंगे?'

जीव गोस्वामी युवक थे और थे प्रकाण्ड पण्डित। नवीन रक्त—अपने श्रद्धेय श्रीसनातन गोस्वामीके प्रति दिग्विजयीका तिरस्कार-भाव उनसे सहा नहीं गया। वे बोले—'मैं शास्त्रार्थ करनेको प्रस्तुत हूँ।'

बेचारा दिग्विजयी क्या शास्त्रार्थ करता? वह विद्वान् था; किंतु केवल विद्वान् ही तो था। महामेधावी जीव गोस्वामी—और फिर जिसपर व्रजके उस शैवयुवराजका वरद हस्त हो, उसकी पराजय कैसी! दो-चार प्रश्नोत्तरोंमें ही दिग्विजयी निरुत्तर हो गया। विजयपत्र उसने फाड़ फेंका। गर्व चूर हो गया। कितना दुःखित होकर लौटा वह—कोई कल्पना कर सकता है।

जीव गोस्वामी पहुँचे श्रीसनातनजीके पास। दिग्विजयीकी पराजय सुना दी उन्होंने। सुनकर सनातनजीके नेत्र कठोर हो गये। उन्होंने जीव गोस्वामीको झिड़कते हुए कहा—'जीव! तुम तुरंत यहाँसे चले जाओ! मैं तुम्हारा मुख नहीं देखना चाहता। एक ब्राह्मणका अपमान किया तुमने। तुमसे भजन क्या होगा, जब कि तुममें इतना अहंकार है। किसीको विजयी स्वीकार कर लेनेमें बिगड़ता क्या है?'

× × ×

पारसका त्याग

बहुत दूर वर्दवानसे चलकर एक ब्राह्मण आया था व्रजमें। वह पूछता हुआ सनातन गोस्वामीके पास पहुँचा। उसे पारस पत्थर चाहिये। कई वर्षसे वह तप कर रहा था। भगवान् शङ्करने स्वप्नमें आदेश दिया था कि व्रजमें सनातन गोस्वामीको पारसका पता है, वहाँ जाओ।

ब्राह्मणकी बात सुनकर सनातनजीने कहा—'मुझे अकस्मात् एक दिन पारस दीख गया। मैंने उसे रेतमें ढक दिया कि आते-जाते भूलसे छू न जाय। वहाँ उस स्थानपर खोदकर निकाल लो। मैं स्नान कर चुका हूँ। उसे छूनेपर मुझे फिर स्नान करना पड़ेगा।'

निर्दिष्ट स्थानपर रेत हटाते ही पारस मिल गया। उससे स्पर्श होते ही लोहा सोना बन गया। ब्राह्मणका तप सफल हो गया। उसे सचमुच पारस प्राप्त हुआ—अमूल्य पारस। जिससे स्वर्ण उत्पन्न होता है, उस पारसका मूल्य कोई कैसे बता सकता है।

पारस लेकर ब्राह्मण चल पड़ा। कुछ दूर जाकर फिर लौटा और सनातन गोस्वामीके पास आकर खड़ा हो गया। सनातनजीने पूछा—'आपको पारस मिल गया?'

'जी, पारस मिल गया!' ब्राह्मणने दोनों हाथ जोड़े—'लेकिन एक प्रश्न भी मिला उसके साथ। उस प्रश्नका उत्तर आप ही दे सकते हैं। जिस पारसके लिये मैंने वर्षोंतक कठोर तप किया, वह पारस आपको प्राप्त था। आपने उसे रेतमें ढक दिया था और उसका स्पर्शतक नहीं करना चाहते थे। आपके पास पारससे भी अधिक मूल्यवान् कोई वस्तु होनी चाहिये। क्या वस्तु है वह?'

'तुमको वह चाहिये?' सनातन गोस्वामीने दृष्टि उठायी—'वह चाहिये तो पारस फेंको यमुनाजीमें।'

ब्राह्मणने पारस फेंक दिया। उसे वह बहुमूल्य वस्तु मिली। वह वस्तु जिसकी तुलनामें पारस एक कङ्कड़-जितना भी नहीं था। वह वस्तु—श्रीकृष्ण-प्रेम।

जगज्जननी श्रीपार्वतीका ध्यान

सुनीलाञ्जनवर्णाभां स्वाङ्गैश्च प्रतिभूषिताम् ।
त्रिनेत्रादृतनेत्रान्तामन्यवारितलोचनाम् । ईषद्धास्यप्रसन्नास्यां सकटाक्षां मनोहराम् ॥
सुचारुकवरीभारां चारुपत्रकशोभिताम् । कस्तूरीबिन्दुभिः सार्धं सिन्दूरबिन्दुशोभिताम् ॥
सद्रत्नकुण्डलाभ्यां च चारुगण्डस्थलोज्ज्वलाम् । मणिरत्नप्रभामुष्टिदन्तराजिविराजिताम् ॥
मधुबिम्बाधरोष्ठां च रत्नयावकसंयुताम् । रत्नदर्पणहस्तां च क्रीडापद्मविभूषिताम् ॥
चन्दनागरुकस्तूरीकुङ्कुमेनातिचर्चिताम् । क्वणन्मञ्जीरपादां च रक्ताङ्घ्रितलराजिताम् ॥

(शिवमहापुराण—रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्ड ४६ । २३-३०)

(जगज्जननी श्रीपार्वतीजीका इस प्रकार ध्यान करे—)

गिरिराज-किशोरीकी अङ्ग-कान्ति नील अञ्जनके समान श्याम है । वे अपने मनोहर अङ्गोंसे ही विभूषित हैं । उनके नेत्रप्रान्तका त्रिनेत्रधारी भगवान् शङ्करके हृदयमें बड़ा आदर है । उनकी आँखें भगवान् शिवके सिवा दूसरे किसी पुरुषकी ओर नहीं जातीं । उनका प्रसन्न मुखारविन्द मन्द मुसकानसे सुशोभित है । वे अपने प्रियकी ओर कटाक्षपूर्ण दृष्टिसे देखती हैं । उनकी आकृति बड़ी मनोहर है । बँधी हुई लटें बड़ी सुन्दर दिखायी देती हैं । उनके कपोल आदि अङ्गोंपर मनोहर पत्र-रचना शोभा दे रही है । कस्तूरीकी बेंदीके साथ सिन्दूरकी बेंदी भी उनके भालदेशकी शोभा बढ़ा रही है । मनोरम कपोलस्थली दो सुन्दर रत्नमय कुण्डलोंसे जगमगा रही है । मणि एवं रत्नोंकी प्रभाको छीन लेनेवाली दन्तपङ्क्ति उनके मुखारविन्दको उद्भासित कर रही है । लाल-लाल अधर मधुर बिम्ब-फलकी अरुणिमाको लज्जित कर रहे हैं । युगल चरणोंमे रत्नमय आभूषण और तलवोंमें महावरकी अद्भुत शोभा दिखायी देती है । अथवा रत्नमय यावकचूर्णसे उनके तलवे अनुरञ्जित हो रहे हैं । वे एक हाथमें रत्नमय दर्पण लेकर अपनी प्रतिच्छवि निहार रही हैं और उनके दूसरे हाथमें क्रीडाकमल शोभा दे रहा है । उनका श्रीअङ्ग यथास्थान चन्दन, अगुरु, कस्तूरी और केसरसे अत्यन्त अलंकृत है । दोनों पैरोंमें मंजीरकी मधुर झनकार हो रही है । लाल-लाल तलवे उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं ।

भगवान् शिवका ध्यान

पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥
भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥

(कुमारसम्भव ३ । ४५ —५०)

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

भगवान् शशिशेखर वीरासनमें विराजमान हैं, उनके शरीरका ऊर्ध्वभाग निश्चल, सरल और समुन्नत है तथा दोनों स्कन्ध समानरूपसे अवस्थित हैं, दोनों हाथोंको अपने क्रोडमें रक्खे हुए हैं। जान पड़ता है कि वहाँ एक कमल विकसित हो रहा है। उनके जटाजूट सर्पके द्वारा चूडाके समान समुन्नतभावसे बँधे हुए हैं, द्विगुणित रुद्राक्षमाला उनके कानोंको सुशोभित कर रही है, संलग्न-ग्रन्थियुक्त कृष्णवर्ण मृगचर्मकी श्यामता नीलकण्ठकी प्रभासे और भी घनीभूत हो रही है। उनके तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागको लक्ष्यकर स्थिर हो रहे हैं। उस निस्पन्द और स्थिर नेत्र-रोमराजिसे विभूषित त्रिनेत्रके नासिकाग्रपर स्थिर सन्निवेशित होनेके कारण उनसे नीचेकी ओर एक समुज्ज्वल ज्योति निकलकर इतस्ततः छिटक रही है।

उन्होंने उस समाधि-अवस्थामें देहान्तश्चारी वायुसमूहको निरुद्ध कर रक्खा है, जिससे उन्हें देखकर जान पड़ता है कि मानो वे आडम्बरशून्य तथा जलपूर्ण बरसनेवाले एक गम्भीर आकृतिके बादल हैं अथवा तरंगहीन प्रशान्त महासागर हैं किंवा निर्वात प्रदेशमें निष्कम्प शिखाधारी समुज्ज्वल प्रदीप हैं।

उन समाधिमग्न त्रिलोचनके ललाटस्थित नेत्रसे एक प्रकारकी ज्योतिशिखा आलोकधाराके समान बाहर निकल रही है, योगमग्न चन्द्रशेखरके शिरोदेशसे निकलकर यह ज्योतिशिखा नेत्रपथके द्वारा बाहर निकल रही है एवं उनके शिरःस्थित मृणालसूत्रके समान कोमल चन्द्रकलाको मानो झुलस रही है।

योगनिष्ठ त्रिपुरारिने समाधिके बलसे शरीरके नवद्वारोंमें अन्तःकरणको निरुद्धकर उसे हृदय-कमलरूप अधिष्ठानमें अवस्थित कर रक्खा है एवं क्षेत्रज्ञ जिसे अविनाशी ब्रह्म कहा करते हैं उसी आत्मस्वरूप परमात्माका वे आत्मामें ही साक्षात्कार कर रहे हैं।

सिद्ध नारायणवर्म

(इस स्तोत्रके श्रद्धा-विधिपूर्वक पाठ और अनुष्ठानसे प्राणसंकट, शत्रुसंकट और काम-क्रोधादिका वेगरूप संकट दूर होते हैं। यह देवराज इन्द्रका अनुभूत सिद्ध कवच है।)

श्रीशुक उवाच

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते । नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु ॥ १ ॥

विश्वरूप उवाच

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः । कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः ॥ २ ॥
नारायणमयं वर्म संनह्येद् भय आगते । पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥ ३ ॥
मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोंकारादीनि विन्यसेत् । ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥ ४ ॥
करन्यासं ततः कुर्याद् द्वादशाक्षरविद्यया । प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥ ५ ॥
न्यसेद्धृदय ओंकारं विकारमनु मूर्धनि । षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया दिशेत् ॥ ६ ॥
वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसंधिषु । मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद् बुधः ॥ ७ ॥
सविसर्गं फडन्तं तत् सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत् । ॐ विष्णवे नम इति ॥ ८ ॥
आत्मानं परमं ध्यायेद् ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम् । विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥ ९ ॥

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।
दरारिचर्मासिगदेषुचापपाशान् दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥ १० ॥

जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्तिर्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात्।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात् त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः॥ ११॥
दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः॥ १२॥
रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः।
रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे सलक्ष्मणोऽव्याद् भरताग्रजोऽस्मान्॥ १३॥
मामुग्रधर्मादखिलात् प्रमादान्नारायणः पातु नरश्च हासात्।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः पायाद् गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात्॥ १४॥
सनत्कुमारोऽवतु कामदेवाद्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात्।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात् कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात्॥ १५॥
धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्याद् द्वन्द्वाद् भयादृषभो निर्जितात्मा।
यज्ञश्च लोकादवताज्जनान्ताद् बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः॥ १६॥
द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद् बुद्धस्तु पाखण्डगणात् प्रमादात्।
कल्किः कलेः कालमलात् प्रपातु धर्मावनायोरुकृतावतारः॥ १७॥
मां केशवो गदया प्रातरव्याद् गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः।
नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्तिर्मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः॥ १८॥
देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा सायं त्रिधामावतु माधवो माम्।
दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः॥ १९॥
श्रीवत्सधामापररात्र ईशः प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः।
दामोदरोऽव्यादनुसंध्यं प्रभाते विश्वेश्वरो भगवान् कालमूर्तिः॥ २०॥
चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि भ्रमत् समन्ताद् भगवत्प्रयुक्तम्।
दन्दग्धि दन्दग्ध्यरिसैन्यमाशु कक्षं यथा वातसखो हुताशः॥ २१॥
गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षोभूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन्॥ २२॥
त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृपिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन्।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितो भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन्॥ २३॥
त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्यमीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि।
चक्षूंषि चर्मञ्छतचन्द्र छादय द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम्॥ २४॥

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च। सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा॥ २५॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात्। प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः॥ २६॥
गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तोभश्छन्दोमयः प्रभुः। रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः॥ २७॥
सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः। बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् पान्तु पार्षदभूषणाः॥ २८॥
यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत्। सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः॥ २९॥
यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम्। भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया॥ ३०॥

तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः। पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः॥ ३१॥

विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्तादन्तर्बहिर्भगवान् नारसिंहः।
प्रहापयँल्लोकभयं स्वनेन स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः॥ ३२॥

मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम्। विजेष्यस्यञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान्॥ ३३॥
एतद् धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा। पदा वा संस्पृशेत् सद्यः साध्वसात् स विमुच्यते॥ ३४॥
न कुतश्चिद् भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्। राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याघ्रादिभ्यश्च कर्हिचित्॥ ३५॥

(श्रीमद्भागवत ६।८।३—३७)

(अनुवादक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित्! जब देवताओंने विश्वरूपको पुरोहित बना लिया, तब देवराज इन्द्रके प्रश्न करनेपर विश्वरूपने उन्हें नारायणकवचका उपदेश किया। तुम एकाग्रचित्तसे उसका श्रवण करो॥ १॥

विश्वरूपने कहा—देवराज इन्द्र! भयका अवसर उपस्थित होनेपर नारायणकवच धारण करके अपने शरीरकी रक्षा कर लेनी चाहिये। उसकी विधि यह है कि पहले हाथ-पैर धोकर आचमन करे, फिर हाथमें कुशकी पवित्री धारण करके उत्तर मुँह बैठ जाय। इसके बाद कवचधारण-पर्यन्त और कुछ न बोलनेका निश्चय करके पवित्रतासे 'ॐ नमो नारायणाय' और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इन मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास तथा करन्यास करे। पहले 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रके ॐ आदि आठ अक्षरोंका क्रमशः पैरों, घुटनों, जाँघों, पेट, हृदय, वक्षःस्थल, मुख और सिरमें न्यास करे। अथवा पूर्वोक्त मन्त्रके यकारसे लेकर ॐकारपर्यन्त आठ अक्षरोंका सिरसे आरम्भ करके उन्हीं आठ अङ्गोंमें विपरीत क्रमसे न्यास करे॥ २—४॥

तदनन्तर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रके ॐसे लेकर य-पर्यन्त बारह अक्षरोंका दायीं तर्जनीसे बायीं तर्जनीतक दोनों हाथोंकी आठ अँगुलियों और दोनों अँगूठोंकी दो-दो गाँठोंमें न्यास करे॥ ५॥ फिर 'ॐ विष्णवे नमः' इस मन्त्रके पहले अक्षर 'ॐ' का हृदयमें, 'वि' का ब्रह्मरन्ध्रमें, 'ष्' का भौंहोंके बीचमें, 'ण' का चोटीमें, 'वे' का दोनों नेत्रोंमें और 'न' का शरीरकी सब गाँठोंमें न्यास करे। तदनन्तर 'ॐ मः अस्त्राय फट्' कहकर दिग्बन्ध करे। इस प्रकार न्यास करनेसे इस विधिको जाननेवाला पुरुष मन्त्रस्वरूप हो जाता है॥ ६—८॥ इसके बाद समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्यसे परिपूर्ण इष्टदेव भगवान्‌का ध्यान करे और अपनेको भी तद्रूप ही चिन्तन करे। तत्पश्चात् विद्या, तेज और तपःस्वरूप इस कवचका पाठ करे—॥ ९॥

भगवान् श्रीहरि गरुड़जीकी पीठपर अपने चरणकमल रक्खे हुए हैं। अणिमादि आठों सिद्धियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। आठ हाथोंमें शङ्ख, चक्र, ढाल, तलवार, गदा, बाण, धनुष और पाश (फंदा) धारण किये हुए हैं। वे ही ॐकारस्वरूप प्रभु सब प्रकारसे, सब ओरसे मेरी रक्षा करें॥ १०॥ मत्स्यमूर्ति भगवान् जलके भीतर जलजन्तुओंके रूपमें स्थित वरुणके पाशसे मेरी रक्षा करें। मायासे ब्रह्मचारीका रूप धारण करनेवाले वामन भगवान् स्थलपर और विश्वरूप श्रीत्रिविक्रम भगवान् आकाशमें मेरी रक्षा करें॥ ११॥ जिनके घोर अट्टहाससे सब दिशाएँ गूँज उठी थीं और गर्भवती दैत्यपत्नियोंके गर्भ गिर गये थे, वे दैत्य-यूथपतियोंके शत्रु भगवान् नृसिंह जंगल, रणभूमि आदि विकट स्थानोंमें मेरी रक्षा करें॥ १२॥ अपनी दाढ़ोंपर पृथ्वीको धारण करनेवाले यज्ञमूर्ति वराह भगवान् मार्गमें, परशुरामजी पर्वतोंके शिखरोंपर और लक्ष्मणजीके सहित भरतके बड़े भाई भगवान् रामचन्द्र प्रवासके समय हमारी रक्षा करें॥ १३॥ भगवान् नारायण ऋषि मारण-मोहन आदि भयंकर अभिचारों और सब प्रकारके प्रमादोंसे मेरी रक्षा करें। ऋषिश्रेष्ठ नर गर्वसे, योगेश्वर भगवान् दत्तात्रेय योगके विघ्नोंसे और त्रिगुणाधिपति भगवान् कपिल कर्मबन्धनोंसे मेरी रक्षा करें॥ १४॥ परमर्षि सनत्कुमार कामदेवसे, हयग्रीव भगवान् मार्गमें चलते समय देवमूर्तियोंको नमस्कार आदि न करनेके अपराधसे, देवर्षि नारद सेवापराधोंसे और भगवान् कच्छप सब प्रकारके नरकोंसे मेरी रक्षा करें॥ १५॥ भगवान् धन्वन्तरि कुपथ्यसे, जितेन्द्रिय भगवान् ऋषभदेव सुख-दुःख आदि भयदायक द्वन्द्वोंसे, यज्ञ भगवान् लोकापवादसे, बलरामजी प्रलयसे

और श्रीशेषजी क्रोधवश नामक सर्पोंके गणसे मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी अज्ञानसे तथा बुद्धदेव पाखण्डियोंसे और प्रमादसे मेरी रक्षा करें। धर्मरक्षाके लिये महान् अवतार धारण करनेवाले भगवान् कल्कि कालके मलरूप कलिकालसे मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥ प्रातःकाल भगवान् केशव अपनी गदा लेकर, कुछ दिन चढ़ आनेपर भगवान् गोविन्द अपनी बाँसुरी लेकर, दोपहरके पहले भगवान् नारायण अपनी तीक्ष्ण शक्ति लेकर और दोपहरको भगवान् विष्णु चक्रराज सुदर्शन लेकर मेरी रक्षा करें ॥ १८ ॥ तीसरे पहरमें भगवान् मधुसूदन अपना प्रचण्ड धनुष लेकर मेरी रक्षा करें। सायंकालमें ब्रह्मा आदि त्रिमूर्तिधारी माधव, सूर्यास्तके बाद तथा अर्धरात्रिके पूर्व हृषीकेश तथा अर्धरात्रिके समय अकेले भगवान् पद्मनाभ मेरी रक्षा करें ॥ १९ ॥ रात्रिके पिछले प्रहरमें श्रीवत्सलाञ्छन श्रीहरि, उषःकालमें खड्गधारी भगवान् जनार्दन, सूर्योदयसे पूर्व श्रीदामोदर और सम्पूर्ण संध्याओंमें कालमूर्ति भगवान् विश्वेश्वर मेरी रक्षा करें ॥ २० ॥

सुदर्शन! आपका आकार चक्र (रथके पहिये) की तरह है। आपके किनारेका भाग प्रलयकालीन अग्निके समान अत्यन्त तीव्र है। आप भगवान्‌की प्रेरणासे सब ओर घूमते रहते हैं। जैसे आग वायुकी सहायतासे सूखे घास-फूसको जला डालती है, वैसे ही आप हमारी शत्रु-सेनाको शीघ्र-से-शीघ्र जला दीजिये, जला दीजिये ॥ २१ ॥ कौमोदकी गदा! आपसे छूटनेवाली चिनगारियोंका स्पर्श वज्रके समान असह्य है। आप भगवान् अजितकी प्रिया हैं और मैं उनका सेवक हूँ। इसलिये आप कूष्माण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत और प्रेतादि ग्रहोंको पीस डालिये, कुचल डालिये तथा मेरे शत्रुओंको चूर-चूर कर दीजिये ॥ २२ ॥ शङ्खश्रेष्ठ पाञ्चजन्य! आप भगवान् श्रीकृष्णके फूँकनेसे भयंकर शब्द करके मेरे शत्रुओंका दिल दहलाते हुए यातुधान, प्रमथ, प्रेत, मातृका, पिशाच तथा ब्रह्मराक्षस आदि क्रूरदृष्टिवाले प्राणियोंको यहाँसे दूर भगा दीजिये ॥ २३ ॥ भगवान्‌की श्रेष्ठ तलवार! आपकी धार बहुत तीक्ष्ण है। आप भगवान्‌की प्रेरणासे मेरे शत्रुओंको छिन्न-भिन्न कर दीजिये। भगवान्‌की प्यारी ढाल! आपमें सैकड़ों चन्द्राकार मण्डल हैं। आप

पापदृष्टि पापात्मा शत्रुओंकी आँखें
उन्हें सदाके लिये अंधा बना दीजिये।

सूर्य आदि जिन-जिन ग्रह, धूमके
केतुओं, दुष्ट मनुष्यों, सर्पादि रेंगनेवाले
पशुओं तथा भूत-प्रेत आदि पापी प्रा
जो-जो हमारे मङ्गलके विरोधी हों—
रूपी आयुधोंका कीर्तन करनेसे
॥ २५-२६ ॥ बृहद्, रथन्तर आदि सा
स्तुति की जाती है, वे वेदमूर्ति भगवा
विष्वक्सेनजी अपने नामोंके द्वारा
विपत्तियोंसे बचायें ॥ २७ ॥ श्रीहरिके
आयुध हमें सब प्रकारकी आपत्तियोंसे
हमारी बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणों

जितना भी कार्य अथवा का
वास्तवमें भगवान् ही हैं—इस सत्य
उपद्रव नष्ट हो जायँ ॥ २९ ॥ जो ले
एकताका अनुभव कर चुके हैं, उनकी
समस्त विकल्पों—भेदोंसे रहित है; फि
माया-शक्तिके द्वारा भूषण, आयुध औ
को धारण करते हैं—यह बात निश्चितरू
के बलसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक भगवान्
स्वरूपोंसे हमारी रक्षा करें ॥ ३०-३१
अट्टहाससे सब लोगोंके भयको भग
तेजसे सबका तेज ग्रस लेते हैं, वे
विदिशाओंमें, नीचे-ऊपर, बाहर-भीतर—
करें ॥ ३२ ॥

देवराज इन्द्र! मैंने तुम्हें यह ना
इस कवचसे सुरक्षित होकर तुम
यूथपतियोंको जीत लोगे ॥ ३३ ॥
धारण करनेवाला पुरुष जिसको भी अ
अथवा पैरसे छू देता है, वह तत्काल
मुक्त हो जाता है ॥ ३४ ॥ जो इस वै
धर लेता है, उसे राजा, डाकू, प्रेत-
बाघ आदि हिंसक जीवोंसे कभी कि
होता ॥ ३५ ॥

न मे लोकयात्राप्रवाहप्रवृत्तिर्न मे बन्धबुद्ध्या दुरीहानिवृत्तिः ।
प्रवृत्तिर्निवृत्त्यास्य चित्तस्य वृत्तिर्यतस्त्वन्वहं तत्स्वरूपः शिवोऽहम् ॥ ५ ॥
निदानं यदज्ञानकार्यस्य कार्यं विना यस्य सत्त्वं स्वतो नैव भाति ।
यदाद्यन्तमध्यान्तरालान्तरालप्रकाशात्मकं स्यात् तदेवाहमस्मि ॥ ६ ॥
यतोऽहं न बुद्धिर्न मे कार्यसिद्धिर्यतो नाहमङ्गं न मे लिङ्गभङ्गम् ।
हृदाकाशवर्ती गताङ्गत्रयार्तिः सदा सच्चिदानन्दमूर्तिः शिवोऽहम् ॥ ७ ॥
यदासीद् विलासाद् विकारं जगद् यद् विकाराश्रयं नाद्वितीयत्वतः स्यात् ।
मनोबुद्धिचित्ताहमाकारवृत्तिप्रवृत्तिर्यतः स्यात् तदेवाहमस्मि ॥ ८ ॥
यदन्तर्बहिर्व्यापकं नित्यशुद्धं यदेकं सदा सच्चिदानन्दकन्दम् ।
यतः स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य भानं यतस्तत्प्रसूतिस्तदेवाहमस्मि ॥ ९ ॥
यदर्केन्दुविद्युत्प्रभाजालमालाविलासास्पदं यत् स्वभेदादिशून्यम् ।
समस्तं जगद् यस्य पादात्मकं स्याद् यतः शक्तिभानं तदेवाहमस्मि ॥ १० ॥
यतः कालमृत्युर्बिभेति प्रकामं यतश्चित्तबुद्धीन्द्रियाणां विलासः ।
हरिब्रह्मरुद्रेन्द्रचन्द्रादिनामप्रकाशो यतः स्यात् तदेवाहमस्मि ॥ ११ ॥
यदाकाशवत्सर्वगं शान्तरूपं परं ज्योतिराकारशून्यं वरेण्यम् ।
यदाद्यन्तशून्यं परं शंकराख्यं यदन्तर्विभाव्यं तदेवाहमस्मि ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ निर्वाणमञ्जरी सम्पूर्णा ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

मैं न तो देवता हूँ, न मनुष्य हूँ और न दैत्य ही हूँ। गन्धर्व, यक्ष और पिशाचोंके भेदमें भी कोई नहीं हूँ। न पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ और न नपुंसक ही हूँ। मैं उत्कृष्ट प्रकाशस्वरूप शिव हूँ ॥ १ ॥ मैं न बालक हूँ न युवक हूँ, न वृद्ध हूँ न सवर्ण हूँ, न ब्रह्मचारी हूँ न गृहस्थ हूँ, न वानप्रस्थी हूँ और न संन्यासी ही हूँ। सम्पूर्ण जगत्‌के जन्म एवं नाशका एकमात्र हेतु शिव हूँ ॥ २ ॥ मैं प्रमाणों-द्वारा मापा नहीं जा सकता। माया मेरे सामने तिरोहित हो जाती है तथा मुझे देखनेके लिये अपनेसे पृथक् कोई उपाय भी नहीं है। तीनों शरीरोंका आलिङ्गन किये रहनेपर भी मैं सदा अद्वितीय, इन्द्रियातीत एवं सर्वरूप शिव हूँ ॥ ३ ॥ मैं मनन और गमन करनेवाला नहीं हूँ। बोलनेवाला, कर्ता, भोक्ता तथा मुक्त पुरुषोंके आश्रममें रहनेवाला संन्यासी भी नहीं हूँ। जैसे मैं मनोवृत्ति-भेद-स्वरूप हूँ, उसी प्रकार सम्पूर्ण वृत्तियोंका प्रकाशक शिव हूँ ॥ ४ ॥ लोकयात्राके प्रवाहमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है। बन्धन-बुद्धि रखकर दुश्चेष्टाओंसे मेरी निवृत्ति भी नहीं है। प्रवृत्ति और निवृत्तिके साथ-साथ इस चित्तकी वृत्ति भी सदा जिससे प्रकट होती है, मैं उसीका स्वरूपभूत शिव हूँ ॥५॥ जो इस अज्ञानके कार्यरूप जगत्‌का आदि कारण है, कार्यके विना जिसकी सत्ता स्वतः नहीं भासित होती तथा जो आदि, अन्त, मध्य और अन्तरालके अन्तरालका भी प्रकाशक-रूप है, वही ब्रह्म मैं हूँ ॥ ६ ॥ मैं बुद्धि नहीं हूँ, मेरे कार्यकी सिद्धि नहीं होती, मैं अङ्ग नहीं हूँ और न मेरे लिङ्ग (सूक्ष्म शरीर) का लय ही होता है। मैं हृदयाकाशमें रहनेवाला, तीनों शरीरोंकी पीड़ाओंसे रहित तथा सदा सच्चिदानन्दस्वरूप शिव हूँ ॥ ७ ॥ जिससे लीलापूर्वक यह जगत्‌रूप विकार प्रकट हुआ है, जो अद्वितीय होनेके कारण किसी भी विकारका आश्रय नहीं है तथा जिससे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकाराकार वृत्तिकी प्रवृत्ति होती है, वही परब्रह्म मैं हूँ ॥८॥ जो भीतर और बाहर व्यापक है, नित्य शुद्ध है, एक है और सदा सच्चिदानन्दकन्द है, जिससे स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चका भान होता है तथा जिससे उसका प्राकट्य हुआ है, वही परब्रह्म परमात्मा मैं हूँ ॥ ९ ॥ जो सूर्य, चन्द्रमा एवं विद्युत् रूप प्रभा-पुञ्जके विलासका आश्रय है, जो स्वगत-भेद आदिसे रहित है, सम्पूर्ण जगत् जिसका एक पाद (चतुर्थांश) रूप है, तथा जिससे सबको शक्तिका भान होता है, वही परमात्मा मैं

हूँ ॥ १० ॥ जिससे काल और मृत्यु पूर्णरूपसे डरते हैं, जिससे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको विकास प्राप्त होता है, विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा चन्द्र आदि नामोंका जिससे प्रकाश होता है, वही परमात्मा मैं हूँ ॥ ११ ॥ जो आकाशकी भाँति सर्वव्यापी, शान्तस्वरूप, परम ज्योतिर्मय, आकारशून्य और श्रेष्ठ है, तथा जो आदि-अन्तरहित शंकरनामधारी परम तत्त्व अन्तःकरणमें चिन्तन करने योग्य है, वह परब्रह्म परमात्मा मैं हूँ ॥ १२ ॥

(निर्वाणमञ्जरी सम्पूर्ण)

मायापञ्चकम्

निरुपमनित्यनिरंशकेऽप्यखण्डे मयि चिति सर्वविकल्पनादिशून्ये।
घटयति जगदीशजीवभेदं त्वघटितघटनापटीयसी माया ॥ १ ॥
श्रुतिशतनिगमान्तशोधकानप्यहह धनादिनिदर्शनेन सद्यः।
कलुषयति चतुष्पदाद्यभिन्नानघटितघटनापटीयसी माया ॥ २ ॥
सुखचिदखण्डविबोधमद्वितीयं वियदनलादिविनिर्मिते नियोज्य।
भ्रमयति भवसागरे नितान्तं त्वघटितघटनापटीयसी माया ॥ ३ ॥
अपगतगुणवर्णजातिभेदे सुखचिति विप्रविडाद्यहंकृतिं च।
स्फुटयति सुतदारगेहमोहं त्वघटितघटनापटीयसी माया ॥ ४ ॥
विधिहरिहरविभेदमप्यखण्डे बत विरचय्य बुधानपि प्रकामम्।
भ्रमयति हरिहरविभेदभावानघटितघटनापटीयसी माया ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ मायापञ्चकं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक- पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

मैं उपमारहित, नित्य, निरवयव, अखण्ड, चिन्मय तथा सब प्रकारके विकल्प आदिसे रहित हूँ; तो भी माया मुझमें जीव-ईश्वरभेदकी कल्पना कर देती है। अहो! यह अघटित घटना संघटित करनेमें अत्यन्त पटु है ॥ १ ॥ अहा! हा! जो सैकड़ों श्रुतियों और वेदान्त-वाक्योंके शोधक हैं, उन्हें भी माया धन आदिका लोभ दिखाकर तुरंत इतना कलुषित कर देती है कि उनमें और पशु आदिमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। अहो! वह कैसी अघटितघटना-पटीयसी (असम्भवको सम्भव कर दिखानेमें समर्थ) है ॥ २ ॥ जो सुखस्वरूप, चिन्मय, अखण्ड बोधरूप और अद्वितीय है, उसे भी आकाश और अग्नि आदिद्वारा निर्मित तथा सागरके समान विस्तृत संसाररूप चक्रमें डालकर जो निरन्तर भटकाती रहती है, वह माया अघटित घटनाको भी संघटित करनेमें अत्यन्त पटु है ॥ ३ ॥ जो गुण, वर्ण और जातिके भेदसे रहित चिदानन्दस्वरूप है, उसमें भी माया ब्राह्मण, वैश्य आदिका अभिमान भरकर स्त्री-पुत्र-गेहविषयक मोह उत्पन्न कर देती है। अहो! वह कैसी असम्भवको भी सम्भव कर दिखानेमें कुशल है ॥ ४ ॥ अखण्ड परमात्मामें भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन भेदोंकी रचना करके विद्वानोंके हृदयमें भी हरि-हरविषयक भेदकी भावना सुदृढ़कर माया उन सबको मनमाने रूपमें नचाती है। अहो! वह अघटितघटनाके निर्माणमें कितनी पटु है ॥ ५ ॥

(मायापञ्चक सम्पूर्ण)

उपदेशपञ्चकम्

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः
पापौघः परिधूयतां

सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम् ।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥ २ ॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम् ।
ब्रह्मास्मीति विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां
देहेऽहंमतिरुज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम् ॥ ३ ॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन संतुष्यताम् ।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥ ४ ॥

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिवलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ उपदेशपञ्चकं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

प्रतिदिन वेद पढ़ो । वेदोक्त कर्मोंका भलीभाँति अनुष्ठान करो । उन्हीं कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करो । सकाम कर्ममें मन न लगाओ । पापराशिको धो डालो । सांसारिक सुखमें दोषका विचार करो । आत्मज्ञानकी इच्छा दृढ़ करो और अपने घरसे शीघ्र निकल जाओ ॥ १ ॥ सत्पुरुषोंका सङ्ग करो । अपने हृदयमें भगवान्‌की सुदृढ भक्ति धारण करो । शम, दम आदिका सुदृढ परिचय प्राप्त करो । कर्मोंको शीघ्र त्याग दो । श्रेष्ठ विद्वान् गुरुकी शरण लो । प्रतिदिन उनकी चरणपादुका-का सेवन करो । एकमात्र अक्षरब्रह्मके बोधके लिये प्रार्थना करो और वेदान्तशास्त्रका श्रवण करो ॥ २ ॥ वेदान्त वाक्योंके अर्थका विचार करो । उपनिषद्के पक्षका आश्रय लो । कुतर्कोंसे विरत हो जाओ । वेदानुकूल तर्कका अनुसरण करो । मैं ब्रह्म हूँ ऐसा दिनरात चिन्तन करो । अभिमान छोड़ो । शरीरमें अहंबुद्धिका त्याग करो और विद्वानोंके साथ विवाद न करो ॥ ३ ॥ क्षुधारूपी रोगकी चिकित्सा करो । प्रतिदिन भिक्षान्नरूपी औषध खाओ । स्वादिष्ट अन्नकी याचना न करो । भाग्यवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे संतुष्ट रहो । शीत और उष्ण आदिको पूर्णरूपसे सहन करो । व्यर्थकी बातें न बोलो । उदासीन वृत्तिकी अभिलाषा रक्खो । लोगोंपर कृपा करना या उनके प्रति निष्ठुर व्यवहार करना छोड़ दो ॥ ४ ॥

एकान्तमें सुखसे आसन लगाकर बैठो । परब्रह्म परमात्मामें चित्त लगाओ । सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माका दर्शन करो । इस जगत्‌को परमात्मासे बाधित देखो । ज्ञानबलसे पूर्वकर्मोंका नाश करो । भावी कर्मोंमें आसक्त न होओ । प्रारब्धका यहाँ उपभोग करो और परब्रह्मरूपसे सदा स्थित रहो ॥ ५ ॥

(साधनपञ्चक समाप्त)

धन्याष्टकम्

तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां तज्ज्ञेयं यदुपनिषत्सुनिश्चितार्थम् ।
ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्तः ॥ १ ॥
आदौ विजित्य विषयान् मदमोहरागद्वेषादिशत्रुगणमाहृतयोगराज्याः ।
ज्ञात्वा मतं समनुभूय परात्मविद्याकान्तासुखं वनगृहे विचरन्ति धन्याः ॥ २ ॥
त्यक्त्वा गृहे रतिमधोगतिहेतुभूतामात्मेच्छयोपनिषदर्थरसं पिबन्तः ।
वीतस्पृहा विषयभोगपदे विरक्ता धन्याश्चरन्ति विजनेषु विरक्तसङ्गाः ॥ ३ ॥
त्यक्त्वा ममाहमिति बन्धकरे पदे द्वे मानावमानसदृशाः समदर्शिनश्च ।
कर्तारमन्यमवगम्य तदर्पितानि कुर्वन्ति कर्मपरिपाकफलानि धन्याः ॥ ४ ॥
त्यक्त्वैषणात्रयमवेक्षितमोक्षमार्गा भैक्षामृतेन परिकल्पितदेहयात्राः ।
ज्योतिः परात्परतरं परमात्मसंज्ञं धन्या द्विजा रहसि हृद्यवलोकयन्ति ॥ ५ ॥
नासन्न सन्न सदसन्न महन्न चाणु न स्त्री पुमान्न च नपुंसकमेकबीजम् ।
यैर्ब्रह्म तत् सममुपासितमेकचित्तैर्धन्या विरेजुरितरे भवपाशबद्धाः ॥ ६ ॥
अज्ञानपङ्कपरिमग्नमपेतसारं दुःखालयं मरणजन्मजरावसक्तम् ।
संसारबन्धनमनित्यमवेक्ष्य धन्या ज्ञानासिना तदवशीर्य विनिश्चयन्ति ॥ ७ ॥
शान्तैरनन्यमतिभिर्मधुरस्वभावैरेकत्वनिश्चितमनोभिरपेतमोहैः ।
साकं वनेषु विदितात्मपदस्वरूपं तद्वस्तु सम्यगनिशं विमृशन्ति धन्याः ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ धन्याष्टकं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

ज्ञान वह है, जो इन्द्रियोंको शान्त करनेवाला हो। ज्ञेय वह है, जो उपनिषदोंमें भलीभाँति निश्चित किया गया हो। इस पृथ्वीपर वे मनुष्य धन्य हैं, जिनकी सारी चेष्टाएँ निश्चित ही परमार्थके लिये होती हैं। शेष सभी लोग भ्रमकी दुनियामें भटक रहे हैं ॥ १ ॥ पहले विषयोंको जीतकर तथा मद, मोह, राग, द्वेष आदि शत्रुओंको परास्त करके फिर योगसाम्राज्य प्राप्त करके शास्त्रका मत जानकर परमात्मविद्यारूपी प्रेयसीके समागम-सुखका अनुभव करते हुए धन्य पुरुष वनरूपी गृहमें विचरते हैं ॥ २ ॥ घरमें होनेवाली आसक्ति अधोगतिका हेतु है। उसे त्यागकर स्वेच्छानुसार उपनिषदोंके अर्थभूत ब्रह्मरसका पान करते हुए वीतराग हो विषयभोगोंकी इच्छा न रखकर धन्य मानव एकान्त स्थानोंमें विरक्तोंके साथ विचरते हैं ॥ ३ ॥ मेरा और मैं—ये दो बन्धनमें डालनेवाले भाव हैं। इन दोनोंको त्यागकर मान और अपमानमें तुल्य और समदर्शी हो अपनेसे भिन्न दूसरे (ईश्वर) को कर्ता मानकर कर्मफलोंको उन्हींके अर्पण कर देते हैं ॥ ४ ॥ तीनों एषणाओंका त्याग करके मोक्षमार्गपर दृष्टि रखकर भिक्षारूपी अमृतसे शरीरयात्राका निर्वाह करते हुए धन्य द्विज एकान्तमें बैठकर अपने हृदयमें परात्पर परमात्म-संज्ञक ज्योतिका दर्शन करते हैं ॥ ५ ॥ जो न असत् है न सत् है, न सदसद्रूप है, न महान् है न सूक्ष्म है, न स्त्री है न पुरुष है और न नपुंसक ही है, जो अकेला ही सबका आदिकारण है, उस ब्रह्मकी जिन लोगोंने एकचित्त होकर उपासना की है, वे धन्य महानुभाव विराज रहे हैं। दूसरे लोग संसाररूपी बन्धनमें बँधे हुए हैं ॥ ६ ॥ यह संसाररूपी रज्जु अज्ञानरूपी पङ्कमें डूबी हुई, सारहीन, दुःखका घर और जन्म, मृत्यु एवं जरामें आसक्त है। इसे अनित्य देखकर धन्य पुरुष ज्ञानरूपी खड्गसे छिन्न-भिन्न करके परमात्मतत्त्वको निश्चित-रूपसे जान लेते हैं ॥ ७ ॥ जो शान्त हैं, जिनकी बुद्धि परमात्माके सिवा अन्यत्र नहीं जाती, जिनका स्वभाव मधुर है, जिनके मनमें जीवात्मा और परमात्माके एकत्वका निश्चय हो

गया है और जो सर्वथा मोहरहित हैं, ऐसे महात्माओंके साथ वनमें रहकर धन्य पुरुष आत्मस्वरूप परब्रह्म परमात्माको जानकर निरन्तर उसीका भलीभाँति चिन्तन करते रहते हैं ॥ ८ ॥

(धन्याष्टक समाप्त)

दशश्लोकी स्तुति

साम्बो नः कुलदैवतं पशुपते साम्ब त्वदीया वयं साम्बं स्तौमि सुरासुरोरगगणाः साम्बेन संतारिताः।
साम्बायास्तु नमो मया विरचितं साम्बात्परं नो भजे साम्बस्यानुचरोऽस्म्यहं मम रतिः साम्बे परब्रह्मणि ॥
विष्णवाद्याश्च पुरत्रयं सुरगणा जेतुं न शक्ताः स्वयं यं शम्भुं भगवन्! वयं तु पशवोऽस्माकं त्वमेवेश्वरः।
स्वस्वस्थाननियोजिताः सुमनसः स्वस्था बभूवुस्ततस्तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥
क्षोणी यस्य रथो रथाङ्गयुगलं चन्द्रार्कबिम्बद्वयं कोदण्डः कनकाचलो हरिरभूद्बाणो विधिः सारथिः।
तूणीरो जलधिर्हयाः श्रुतिचयो मौर्वी भुजङ्गाधिपस्तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥
येनापादितमङ्गजाङ्गभसितं दिव्याङ्गरागैः समं येन स्वीकृतमब्जसम्भवशिरः सौवर्णपात्रैः समम्।
येनाङ्गीकृतमच्युतस्य नयनं पूजारविन्दैः समं तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥
गोविन्दादधिकं न दैवतमिति प्रोच्चार्य हस्तावुभावुद्धृत्याथ शिवस्य संनिधिगतो व्यासो मुनीनां वरः।
यस्य स्तम्भितपाणिरानतिकृता नन्दीश्वरेणाभवत् तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥
आकाशश्चिकुरायते दशदिशाभोगो दुकूलायते शीतांशुः प्रसवायते स्थिरतरानन्दः स्वरूपायते।
वेदान्तो निलयायते सुविनयो यस्य स्वभावायते तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥
विष्णुर्यस्य सहस्रनामनियमादम्भोरुहैरर्चयन्नेकेनापचितेषु नेत्रकमलं नैजं पदाब्जद्वये।
सम्पूज्यासुरसंहतिं विदलयंस्त्रैलोक्यपालोऽभवत् तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥
शौरिं सत्यगिरं वराहवपुषं पादाम्बुजादर्शने चक्रे यो दयया समस्तजगतां नाथं शिरोदर्शने।
मिथ्यावाचमपूज्यमेव सततं हंसस्वरूपं विधिं तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥
यस्यासन् धरणीजलाग्निपवनव्योमार्कचन्द्रादयो विख्यातास्तनवोऽष्टधा परिणता नान्यत्ततो वर्तते।
ओंकारार्थविवेचनी श्रुतिरियं चाचष्ट तुर्यं शिवं तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥
विष्णुब्रह्मसुराधिपप्रभृतयः सर्वेऽपि देवा यदा सम्भूताज्जलधेर्विषात्परिभवं प्राप्तास्तदा सत्वरम्।
तानार्तान्शरणागतानिति सुरान् योऽरक्षदर्द्धक्षणात् तस्मिन्मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥

॥ इति श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचिता दशश्लोकी सम्पूर्णा ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

अम्बा पार्वतीसहित भगवान् शिव हमारे कुलदेवता हैं। जीवरूपी पशुओंके स्वामी साम्बसदाशिव ! हमलोग आपके भक्त हैं, हम अम्बिकासहित महेश्वरकी स्तुति करते हैं। अम्बासहित भगवान् शिवने कितने ही देवताओं, असुरों और नागोंका उद्धार किया है। हमने अम्बिका-सहित महादेवजीके लिये नमस्कार किया है। अम्बासहित भगवान् शिवके सिवा दूसरे किसी देवताका हम भजन नहीं करते। हम केवल साम्बसदाशिवके ही सेवक हैं। अम्बासहित परब्रह्म परमात्मा शिवमें मेरा सदा अनुराग बना रहे ॥

विष्णु आदि सब देवता जब असुरोंके तीनों पु[रोंको] जीतनेमें स्वयं असमर्थ हो गये, तब जिन भगवान् श[िवके] पास आकर यों बोले—'भगवन्! हम तो पशु हैं, [आप] ही हमारे पति या ईश्वर हैं।' उनकी यह प्रार्थना सु[नकर] जिन्होंने सब देवताओंको सान्त्वना दे त्रिपुरका नाश [करके] सबको अपने-अपने स्थानमें नियुक्त किया, जिससे वे [स्व]स्थ हो सके, उन्हीं साम्बसदाशिव परब्रह्म परमा[त्मा]

मेरा हृदय सुखपूर्वक रमता रहे ॥ २ ॥ त्रिपुर-विनाशके समय पृथ्वी जिनका रथ हुई, चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डल जिनके रथके दो पहिये बने, मेरुपर्वत धनुष बना, स्वयं भगवान् विष्णु बाण बन गये, ब्रह्माजी जिनका रथ हाँकनेके लिये सारथि हुए, समुद्रने तरकसका काम सँभाला, चारों वेद चार घोड़े बन गये और नागराज अनन्तने जिनके धनुषकी प्रत्यञ्चाका रूप धारण किया, उन्हीं परब्रह्म परमात्मा साम्बसदाशिवमें मेरा हृदय सुखपूर्वक रमण करे ॥ ३ ॥ जिन्होंने कामदेवके शरीरको भस्म बनाकर उसे दिव्य अङ्गरागोंके समान स्वीकार किया है, जिनके द्वारा अङ्गीकार किया हुआ ब्रह्माजीका मस्तक (जो कपालके रूपमें शिवजीके हाथमें है) सुवर्णपात्रके समान महत्त्व रखता है तथा जिन्होंने पूजामें चढ़नेवाले कमलपुष्पोंके समान भगवान् विष्णुके एक नेत्रको भी अङ्गीकार कर लिया, उन्हीं साम्ब-सदाशिव परब्रह्ममें मेरा हृदय सुखपूर्वक रमण करे ॥ ४ ॥ एक समय मुनिश्रेष्ठ व्यास दोनों बाँहें ऊपर उठाकर बड़े जोरसे यह घोषणा करते हुए कि 'भगवान् विष्णुसे बढ़कर दूसरा कोई देवता नहीं है' भगवान् शिवके समीप गये। उस समय जिनके सेवक नन्दीश्वरने ही उनकी उन बाँहोंको स्तम्भित कर दिया, उन्हीं परब्रह्मस्वरूप साम्ब-सदाशिवमें मेरा हृदय सानन्द रमण करता रहे ॥ ५ ॥

आकाश जिनके लिये केश-कलापका काम दे रहा है, दसों दिशाओंका विस्तार जिनके लिये वस्त्र-सा बना हुआ है, शीतरश्मि चन्द्रमा जिनके मस्तकपर पुष्पमय आभूषण-से प्रतीत होते हैं, अक्षय आनन्द जिनका स्वरूप ही है, वेदान्त जिनका विश्राम-स्थान है तथा अत्यन्त विनय जिनका स्वभाव-सा है, उन्हीं परब्रह्मस्वरूप साम्बसदाशिवमें मेरा मन सुखसे रमता रहे ॥ ६ ॥ भगवान् विष्णु जिनके सहस्र नामोंद्वारा एक-एक नामसे एक-एक कमलपुष्प चढ़ानेका नियम लेकर कमलोंद्वारा पूजा करने लगे और एक कमल घट जानेपर अपने कमलोपम नेत्रको ही निकालकर उन्होंने जिनके युगल चरणारविन्दोंपर चढ़ा दिया और संकल्पित पूजन सम्पन्न किया तथा उसी पूजनकी महिमासे वे असुरसमूहका विनाश करते हुए तीनों लोकोंके रक्षक हो गये, उन्हीं परब्रह्मस्वरूप साम्बसदाशिवमें मेरा हृदय सुखपूर्वक रमता रहे ॥ ७ ॥ जिन्होंने अपने चरणारविन्दोंका पता लगानेके लिये पाताललोकतक गये हुए वाराहरूपधारी श्रीविष्णुको 'मुझे आपके श्रीचरणोंका दर्शन न हो सका' इस प्रकार सत्य बोलनेपर दया करके सम्पूर्ण जगत्का अधिपति बना दिया और मस्तक-दर्शनके विषयमें झूठ बोलनेपर हंसरूपधारी ब्रह्माको सर्वथा अपूज्य ही बना दिया, उन परब्रह्मस्वरूप साम्बसदाशिवमें मेरा मन रमता रहे ॥ ८ ॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा आदि[1] जिनके आठ प्रसिद्ध शरीर बताये गये हैं। इन आठोंके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। ॐकारके अर्थका विवेचन करनेवाली माण्डूक्य श्रुति भी जिन भगवान् शिवको तुरीय बताती है, उन्हीं परब्रह्मस्वरूप साम्बसदाशिवमें मेरा मन रमता रहे ॥ ९ ॥ जब समुद्रसे प्रकट हुए विषसे विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र आदि सब देवता पराजित हो तुरत ही भगवान् शिवकी शरणमें गये, उस समय जिन्होंने विषपान करके आधे ही क्षणमें उन पीड़ित एवं शरणागत देवताओंकी रक्षा कर ली, उन्हीं परब्रह्मस्वरूप साम्बसदाशिवमें मेरा हृदय सानन्द रमण करता रहे ॥ १० ॥

(दशश्लोकी स्तुति सम्पूर्ण)

षट्पदी-स्तोत्रम्

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥ १ ॥

दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे। श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥ २ ॥

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥

उद्धृतनग नगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे। दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः ॥ ४ ॥

मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवतावता सदा वसुधाम्। परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥ ५ ॥

---

१. आदि शब्दसे यहाँ प्रकृतिको ग्रहण करना चाहिये।

दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द । भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे ॥ ६ ॥
नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ । इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु ॥ ७ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ षट्पदीस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी)

हे विष्णो ! (मेरे) अविनयको दूर करो, मनको दमन करो, विषयरूपी मृगतृष्णा (के मोह)को शमन करो । भूतों (प्राणियों) के प्रति दयाके भावका विस्तार करो, (और मेरा) संसारसागरसे उद्धार करो ॥ १ ॥ सुरधुनी (गङ्गा) रूपी मकरन्द या मधुसे युक्त (जिन युगल चरण-कमलोंके) परिमलका सम्भोग ही सच्चिदानन्दरूप है, जो संसारभयसे उत्पन्न खेदके नाशक हैं, श्रीपति भगवान् विष्णुके उन चरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥ हे नाथ ! मुझमें और तुममें भेद न होनेपर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि (समुद्र और तरङ्गमें भेद न होनेपर भी) समुद्रका अंश तरङ्ग होता है, तरङ्गका अंश समुद्र कदापि नहीं होता ॥ ३ ॥ जिन्होंने गोवर्द्धन पर्वतको उठा लिया, जो पर्वतोंका छेदन करनेवाले इन्द्रके अनुज (अर्थात् उपेन्द्र) हैं, जो दनुजकुलके शत्रु हैं; सूर्य चन्द्र जिनके चक्षु हैं, हे प्रभो ! आपका साक्षात्कार होनेपर क्या भव (जन्म-मरण) का तिरस्कार नहीं होता ? ॥ ४ ॥ हे परमेश्वर ! मत्स्यादि अवतारोंके द्वारा (तुमने) सदा ही वसुधाका पालन किया है, भवतापसे भयभीत मैं तुम्हारेद्वारा परिपालनयोग्य हूँ ॥ ५ ॥ हे दामोदर ! हे गुणोंके मन्दिर, हे सुन्दरमुख कमलविशिष्ट ! गोविन्द ! संसारसमुद्रके मन्थनमें मन्दराचल स्वरूप ! तुम मेरे परम भयको दूर करो ॥ ६ ॥ हे नारायण ! करुणामय ! मैं तुम्हारे उभय चरणोंकी शरण लेता हूँ । यह छः पदोंकी समष्टिरूप भ्रमरी सदा मेरे मुखकमलमें वास करे ॥ ७ ॥

(षट्पदीस्तोत्र सम्पूर्ण)

श्रीकृष्णाष्टकस्तोत्रम्

श्रियाश्लिष्टो विष्णुः स्थिरचरगुरुर्वेदविषयो धियां साक्षी शुद्धो हरिरसुरहन्ताब्जनयनः ।
गदी शाङ्गी चक्री विमलवनमाली स्थिररुचिः शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ १ ॥
यतः सर्वं जातं वियदनिलमुख्यं जगदिदं स्थितौ निःशेषं योऽवति निजसुखांशेन मधुहा ।
लये सर्वं स्वस्मिन् हरति कलया यस्तु स विभुः शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ २ ॥
असूनायम्यादौ यमनियममुख्यैः सुकरणैर्निरुध्येदं चित्तं हृदि विलयमानीय सकलम् ।
यमीड्यं पश्यन्ति प्रवरमतयो मायिनमसौ शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ ३ ॥
पृथिव्यां तिष्ठन् यो यमयति महीं वेद न धरा यमित्यादौ वेदो वदति जगतामीशममलम् ।
नियन्तारं ध्येयं मुनिसुरनृणां मोक्षदमसौ शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ ४ ॥
महेन्द्रादिर्देवो जयति दितिजान् यस्य बलतो न कस्य स्वातन्त्र्यं क्वचिदपि कृतौ यत्कृतिमृते ।
कवित्वादेर्गर्वं परिहरति योऽसौ विजयिनः शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ ५ ॥
विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता ।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स विभुः शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ ६ ॥
नरातङ्कोट्टङ्कः शरणशरणो भ्रान्तिहरणो घनश्यामो वामो व्रजशिशुवयस्योऽर्जुनसखः ।
स्वयम्भूर्भूतानां जनक उचिताचारसुखदः शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ ७ ॥
यदा धर्मग्लानिर्भवति जगतां क्षोभकरणी तदा लोकस्वामी प्रकटितवपुः सेतुधृगजः ।
सतां धाता स्वच्छो निगमगणगीतो व्रजपतिः शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥ ८ ॥
इति हरिरखिलात्माराधितः शङ्करेण श्रुतिविशदगुणोऽसौ मातृमोक्षार्थमाद्यः ।
यतिवरनिकटे श्रीयुक्त आविर्बभूव स्वगुणवृत उदारः शङ्खचक्राब्जहस्तः ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीकृष्णाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

जो चराचर जगत्‌के गुरु, वेदप्रतिपाद्य, लक्ष्मीके द्वारा आश्लिष्ट श्रीविष्णु हैं, जो बुद्धियोंके साक्षी, शुद्धस्वरूप, असुरोंका नाश करनेवाले, कमलनयन, गदा, शङ्ख और चक्र धारण करनेवाले श्रीहरि हैं, वे लोकाधिपति, सबको शरण देनेवाले, स्वच्छ वनमाला धारण करनेवाले, नित्योज्ज्वल-दीप्ति श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों (मुझे दर्शन प्रदान करें) ॥ १ ॥

आकाश, वायु आदिका परिणामस्वरूप यह सारा जगत् जिससे उत्पन्न हुआ है, स्थितिकालमें जो मधुसूदन निज-गुणांशके द्वारा सबका पालन करते हैं तथा प्रलयकालमें जो अपनी एक कलाके द्वारा सबको अपनेमें विलीन कर लेते हैं, वे लोकाधिपति, सबको शरण देनेवाले विभु श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ॥ २ ॥

उत्तम बुद्धिवाले मुनिगण पहले प्राणायाम करके यम-नियमादि श्रेष्ठ साधनोंके द्वारा इस चित्तका निरोध करके हृदयमें पूर्णतः विलीनकर जिन स्तवन करने योग्य मायाधि-पतिको देखते हैं, वे लोकाधिपति, सबको शरण देनेवाले श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ॥ ३ ॥

पृथिवीपर रहते हुए जो इस पृथिवीको नियमित करता है, परंतु पृथिवी जिसको नहीं जानती; 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि स्थलोंमें श्रुति जिनको निरञ्जन, जगदीश्वर, नियन्ता और ध्येय कहती है; जो देव-मुनि-मानवोंको मोक्ष प्रदान करने-वाले और सबको शरण देनेवाले हैं, वे लोकाधिपति श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ॥ ४ ॥

जिनके बलसे इन्द्रादि देवता दैत्योंपर विजय प्राप्त करते हैं, जिनके किये बिना कहीं किसी भी कार्यमें किसीका स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं है, जो दिग्विजयी पण्डितोंके कवित्व आदिके गर्वको हर लेते हैं, वे सबको शरण देनेवाले लोकाधिपति श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ॥ ५ ॥

जिनके ध्यानके बिना जीव शूकर आदि पशुयोनिको प्राप्त होता है, जिनको जाने बिना लोग जन्म और मरणके भयको प्राप्त होते हैं, जिनको स्मरण किये बिना शत-शत जन्मोंतक कृमियोनि प्राप्त होती है, वे सबको शरण देनेवाले लोकाधिपति सर्वव्यापी श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ॥ ६ ॥

जो भक्त-जनकी भीति हर लेते हैं, रक्षकोंके भी रक्षक हैं, जगत्‌की भ्रान्तिको हर लेते हैं, जो घनके समान श्याम-द्युति हैं, लोकोंको सुख देनेवाले हैं, व्रज-बालकों-के मित्र हैं, अर्जुनके सखा हैं, स्वयम्भू हैं, सब प्राणियोंके उत्पादक हैं, सदाचारी पुरुषोंको सुख प्रदान करते हैं, वे सबको शरण देनेवाले लोकाधिपति श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ॥ ७ ॥

जब-जब जगत्‌में क्षोभ पैदा करनेवाली धर्मकी ग्लानि होती है, तब-तब अज होते हुए भी जो त्रिलोकीके स्वामी शरीर धारण करके धर्मकी मर्यादाकी रक्षा करते हैं, जो साधु पुरुषोंके रक्षक हैं, निर्विकार हैं, जिनके गुणोंका कीर्तन वेदादि शास्त्र करते हैं, वे सबको शरण देनेवाले, लोकाधिपति व्रजपति श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों ॥ ८ ॥

परिव्राजकप्रवर श्रीशङ्कराचार्यने जब माताकी मुक्तिके निमित्त इस प्रकार श्रुतिवर्णित गुणवाले अखिल जगत्‌की आत्मा श्रीहरिकी आराधना की, तब वे निजगुणोंके सहित शङ्ख, चक्र, कमल हाथमें लिये श्रीसम्पन्न उदार रूपमें उनके सामने आविर्भूत हुए ॥ ९ ॥

(श्रीकृष्णाष्टक सम्पूर्ण)

भगवन्मानसपूजा

हृदम्भोजे कृष्णः सजलजलदश्यामलतनुः सरोजाक्षः स्रग्वी मुकुटकटकाद्याभरणवान् ।
शरद्राकानाथप्रतिमवदनः श्रीमुरलिकां वहन् ध्येयो गोपीगणपरिवृतः कुङ्कुमचितः ॥ १ ॥
पयोऽम्भोधेर्द्वीपान्मम हृदयमायाहि भगवन् मणिव्रातभ्राजत् कनकवरपीठं भज हरे ।
सुचिह्नौ ते पादौ यदुकुलज नेनेज्मि सुजलैर्गृहाणेदं दूर्वाफलजलवदर्घ्यं मुररिपो ॥ २ ॥
त्वमाचामोपेन्द्र त्रिदशसरिदम्भोऽतिशिशिरं भजस्वेमं पञ्चामृतरचितमाप्लावमघहन् ।
द्युनद्याः कालिन्द्या अपि कनककुम्भस्थितमिदं जलं तेन स्नानं कुरु कुरु कुरुष्वाचमनकम् ॥ ३ ॥

तडिद्वर्णे वस्त्रे भज विजयकान्ताधिहरण प्रलम्बारिभ्रातर्मृदुलमुपवीतं कुरु गले।
ललाटे पाटीरं मृगमदयुतं धारय हरे गृहाणेदं माल्यं शतदलतुलस्यादिरचितम् ॥४॥
दशाङ्गं धूपं सद्वरदचरणाग्रेऽर्पितमिदं मुखं दीपेनेन्दुप्रभवरजसा देव कलये।
इमौ पाणी वाणीपतिनुत सुकर्पूररजसा विशोध्याग्रे दत्तं सलिलमिदमाचाम नृहरे॥५॥
सदातृप्तान्नं षड्रसवदखिलव्यञ्जनयुतं सुवर्णामत्रे गोघृतचषकयुक्ते स्थितमिदम्।
यशोदासूनो त्वं परमदययाशान सखिभिः प्रसादं वाञ्छद्भिः सह तदनु नीरं पिब विभो॥६॥
सचन्द्रं ताम्बूलं मुखरुचिकरं भक्षय हरे फलं स्वादु प्रीत्या परिमलवदास्वादय चिरम्।
सपर्य्यापर्याप्त्यै कनकमणिजातं स्थितमिदं प्रदीपैरारार्तिं जलधितनयाश्लिष्ट रचये॥७॥
विजातीयैः पुष्पैरतिसुरभिभिर्विल्वतुलसीयुतैश्चेमं पुष्पाञ्जलिमजित ते मूर्ध्नि निदधे।
तव प्रादक्षिण्यक्रमणमघविध्वंसि रचितं चतुर्वारं विष्णो जनिपथगतश्रान्तिविदुषा॥८॥
नमस्कारोऽष्टाङ्गः सकलदुरितध्वंसनपटुः कृतं नृत्यं गीतं स्तुतिरपि रमाकान्त त इयम्।
तव प्रीत्यै भूयादहमपि च दासस्तव विभो कृतं छिद्रं पूर्णं कुरु कुरु नमस्तेऽस्तु भगवन्॥९॥
सदा सेव्यः कृष्णः सजलघननीलः करतले दधानो दध्यन्नं तदनु नवनीतं मुरलिकाम्।
कदाचित् कान्तानां कुचकलशपत्रालिरचनासमासक्तः स्निग्धैः सह शिशुविहारं विरचयन्॥१०॥

॥ इति श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं भगवन्मानसपूजनं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

भगवन्मानसपूजा

ध्यान

भगवान्‌का ध्यान इस प्रकार करें—हृदयकमलके आसन-पर सजल जलधरके समान श्याम शरीरवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं। उनके गलेमें वनमाला शोभा पा रही है। मयूराकार मुकुट, हाथोंमें कंगन तथा अन्यान्य अङ्गोंमें उनके योग्य आभूषण धारण किये हुए हैं। शरत्कालके चन्द्रमाके समान उनका मनोरम मुख है। वे हाथमें मुरली धारण किये हैं। केसरयुक्त चन्दनसे उनका शृङ्गार किया गया है और गोपियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हैं॥१॥

आवाहन-आसन-पाद्य-अर्घ्य

भगवन्! ऐरावतके दाँतोंसे बने हृदयमन्दिरमें पधारिये। हरे! [illegible] इस सुन्दर सर्वाङ्गमय सिंहासनपर विराजमान होइये। यदुकुलभूषण! मैं सुन्दर निर्मल [illegible] आपके दोनों चरणोंको [illegible] रहा हूँ। मुरारे! दूर्वा, धान और [illegible] युक्त यह अर्घ्य ग्रहण कीजिये॥२॥

आचमन, पञ्चामृत-स्नान, शुद्धोदक-स्नान और पुनराचमन

सुरेन्द्र! आप [illegible] कीजिये। पापहारी प्रभो! यह पञ्चामृतसे तैयार किया हुआ तरल पदार्थ आपके स्नानके लिये प्रस्तुत है। इसके पश्चात् सोनेके घड़ोंमें रक्खा हुआ जो यह गङ्गा और यमुनाका जल है, इससे शुद्ध स्नान कीजिये। तदनन्तर पुनः आचमन कीजिये॥३॥

वस्त्र, यज्ञोपवीत, चन्दन और माला

अर्जुनके प्रिय मित्र! और सबकी मानसिक चिन्ता दूर करनेवाले श्रीकृष्ण! आप विद्युत्‌के समान रंगवाले ये दो पीताम्बर धारण कीजिये। बलरामजीके छोटे भैया! यह कोमल यज्ञोपवीत भी गलेमें डाल लीजिये। हरे! अपने ललाटमें कस्तूरीमिश्रित चन्दन धारण कीजिये। साथ ही कमल और तुलसी आदिसे निर्मित यह सुन्दर माला ग्रहण कीजिये॥४॥

धूप, दीप, करशुद्धि और आचमन

[illegible] श्रेष्ठ वर देनेवाले आपके चरणोंमें [illegible] कीजिये। आपके आगे यह दशाङ्ग धूप अर्पित है। देव! मैं [illegible] दीपकद्वारा आपकी मुखकान्तिको [illegible] कर रहा हूँ। [illegible] द्वारा [illegible] नृसिंहदेव! सुन्दर कर्पूरचूर्णसे इन दोनों हाथोंको शुद्ध करके [illegible] यह [illegible] आचमनके उपयोगमें लाइये॥५॥

नैवेद्य-निवेदन, आचमन-अर्पण

यशोदानन्दन ! गोकुलकी ग्वालिनोंसहित सोनेके पात्रमें रखा हुआ यह सम्पूर्ण व्यञ्जनोंसे युक्त षड्रस भोजन प्रस्तुत है, जो सदा तृप्ति प्रदान करनेवाला है। आप अत्यन्त कृपा करके प्रसाद देनेकी इच्छावाले सखाओंके साथ यह अन्न ग्रहण करें। प्रभो! तत्पश्चात् यह जल पी लें ॥ ६ ॥

ताम्बूल, फल, दक्षिणा और आरती

हरे! यह कर्पूरसहित ताम्बूल मुखकी शुद्धि करनेवाला है। इसे भक्षण कीजिये। साथ ही स्वादिष्ट और सुगन्धित इन फलोंका प्रेमपूर्वक देरतक आस्वादन कीजिये। लक्ष्मीसे आलिङ्गित श्रीहरे! इस मानस-पूजाकी पूर्णताके लिये सुवर्ण और रत्नोंकी यह राशि यहाँ प्रस्तुत है। अब मैं अनेक उत्कृष्ट दीपकोंद्वारा आपकी आरती उतारता हूँ ॥ ७ ॥

पुष्पाञ्जलि और प्रदक्षिणा

अजित श्रीकृष्ण! मैं विभिन्न जातिके अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों और बिल्वपत्र तथा तुलसी दलोंद्वारा यह पुष्पाञ्जलि आपके मस्तकपर अर्पित करता हूँ। विष्णो! जन्मके मार्गपर आनेमें जो दुःख उठाना पड़ता है, उसे मैं जानता हूँ; इसीलिये मैंने आपकी चार बार परिक्रमा की है, जो समस्त पापोंका नाश करनेवाली है ॥ ८ ॥

साष्टाङ्ग प्रणाम, स्तुति, पूजा-समर्पण, क्षमा-प्रार्थना और नमस्कार

रमाकान्त! सम्पूर्ण पापराशिका विध्वंस करनेमें समर्थ यह साष्टाङ्ग प्रणाम आपको समर्पित है। आपकी प्रसन्नताके लिये यह नृत्य, गीत तथा स्तुतिका भी आयोजन किया गया है। सर्वव्यापी प्रभो! यह पूजन आपकी प्रसन्नता बढ़ानेवाला हो। मैं आपका दास बना रहूँ। इस पूजनमें जो त्रुटि हो, उसे आप पूर्ण करें, पूर्ण करें। भगवन्! आपको नमस्कार है ॥ ९ ॥

उपसंहारकालिक ध्यान

जो अपने हाथमें दही-भात, मक्खन और मुरली लिये हुए हैं और अपने स्नेही सखाओंके साथ बालोचित क्रीडाएँ करते हैं, जो कभी कभी प्रेयसी गोपसुन्दरियोंके कुचकलशोंपर पत्ररचना करनेमें आसक्त होते हैं, वे सजल जलधरके समान कान्तिवाले श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण सदा सेवन करने योग्य हैं ॥ १० ॥

(भगवन्मानसपूजा सम्पूर्ण)

श्रीअच्युताष्टकम्

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ॥ १ ॥
अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम्।
इन्दिरामन्दिरं चेतसा सुन्दरं देवकीनन्दनं नन्दजं संदधे ॥ २ ॥
विष्णवे जिष्णवे शङ्खिने चक्रिणे रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः ॥ ३ ॥
कृष्ण गोविन्द हे राम नारायण श्रीपते वासुदेवाजित श्रीनिधे।
अच्युतानन्त हे माधवाधोक्षज द्वारकानायक द्रौपदीरक्षक ॥ ४ ॥
राक्षसक्षोभितः सीतया शोभितो दण्डकारण्यभूपुण्यताकारणः।
लक्ष्मणेनान्वितो वानरैः सेवितोऽगस्त्यसम्पूजितो राघवः पातु माम् ॥ ५ ॥
धेनुकारिष्टकानिष्टकृद् द्वेषिहा केशिहा कंसहृद्वंशिकावादकः।
पूतनाकोपकः सूरजाखेलनो बालगोपालकः पातु मां सर्वदा ॥ ६ ॥
विद्युदुद्योतवत्प्रस्फुरद्वाससं प्रावृडम्भोदवत्प्रोल्लसद्विग्रहम्।
वन्यया मालया शोभितोरःस्थलं लोहिताङ्घ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे ॥ ७ ॥
कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः।
हारकेयूरकं कङ्कणप्रोज्ज्वलं किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे ॥ ८ ॥

अच्युतस्याष्टकं यः पठेदिष्टदं प्रेमतः प्रत्यहं पूरुषः सस्पृहम् ।
वृत्ततः सुन्दरं कर्तृविश्वम्भरस्तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम् ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतमच्युताष्टकं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

अच्युत, केशव, राम, नारायण, कृष्ण, दामोदर, वासुदेव, हरि, श्रीधर, माधव, गोपिकावल्लभ तथा जानकी-नायक श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ ॥ १ ॥ अच्युत, केशव, सत्यभामापति, लक्ष्मीपति, श्रीधर, राधिकाजीद्वारा आराधित, लक्ष्मीनिवास, परम सुन्दर, देवकीनन्दन, नन्दकुमारका मैं चित्तसे ध्यान करता हूँ ॥ २ ॥ जो विभु हैं, विजयी हैं, शङ्ख-चक्रधारी हैं, रुक्मिणीजीके परम प्रेमी हैं, जानकीजी जिनकी धर्मपत्नी हैं तथा जो व्रजाङ्गनाओंके प्राणाधार हैं, उन परम-पूज्य, आत्मस्वरूप, कंसविनाशक, मुरलीमनोहर आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥ हे कृष्ण ! हे गोविन्द ! हे राम ! हे नारायण ! हे रमानाथ ! हे वासुदेव ! हे अजेय ! हे शोभाधाम ! हे अच्युत ! हे अनन्त ! हे माधव ! हे अधोक्षज ! (इन्द्रियातीत !) हे द्वारकानाथ ! हे द्रौपदी-रक्षक ! (मुझ-पर कृपा कीजिये) ॥ ४ ॥ जो राक्षसोंपर अति कुपित हैं, श्रीसीताजीसे सुशोभित हैं, दण्डकारण्यकी भूमिकी पवित्रताके कारण हैं, श्रीलक्ष्मणजीद्वारा अनुगत हैं, वानरोंसे सेवित हैं और अगस्त्यजीसे पूजित हैं, वे रघुवंशी श्रीरामचन्द्रजी मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥ धेनुक और अरिष्टासुर आदिका अनिष्ट करनेवाले, शत्रुओंका ध्वंस करनेवाले, केशी और कंसका वध करनेवाले, वंशीको बजानेवाले, पूतनापर कोप करनेवाले, यमुनातटविहारी बाल-गोपाल मेरी सदा रक्षा करें ॥ ६ ॥ विद्युत्-प्रकाशके सदृश जिनका पीताम्बर विभासित हो रहा है, वर्षा-कालीन मेघोंके समान जिनका अति शोभायमान शरीर है, जिनका वक्षःस्थल वनमालासे विभूषित है और जिनके चरणयुगल अरुणवर्ण हैं, उन कमलनयन श्रीहरिको मैं भजता हूँ ॥ ७ ॥ जिनका मुख घुँघराली अलकोंसे सुशोभित है, मस्तकपर मणिमय मुकुट शोभा दे रहा है तथा कपोलोंपर कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं, उज्ज्वल हार, केयूर (बाजूबंद), कङ्कण और किङ्किणी-कलापसे सुशोभित उन मञ्जुलमूर्ति श्रीश्यामसुन्दरको मैं भजता हूँ ॥ ८ ॥ जो पुरुष इस अति सुन्दर छन्दवाले और अभीष्ट फलदायक अच्युताष्टकको प्रेम और श्रद्धासे नित्य पढ़ता है, विश्वम्भर, विश्वकर्ता श्रीहरि शीघ्र ही उसके वशी-भूत हो जाते हैं ॥ ९ ॥

(अच्युताष्टक सम्पूर्ण)

श्रीगोविन्दाष्टकम्

सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यमनाकाशं परमाकाशं गोष्ठप्राङ्गणरिङ्खणलोलमनायासं परमायासम् ।
मायाकल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारं क्ष्माया नाथमनाथं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ १ ॥
मृत्स्नामत्सीहेति यशोदाताडनशैशवसंत्रासं व्यादितवक्त्रालोकितलोकालोकचतुर्दशलोकालिम् ।
लोकत्रयपुरमूलस्तम्भं लोकालोकमनालोकं लोकेशं परमेशं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ २ ॥
त्रैविष्टपरिपुवीरघ्नं क्षितिभारघ्नं भवरोगघ्नं कैवल्यं नवनीताहारमनाहारं भुवनाहारम् ।
वैमल्यस्फुटचेतोवृत्तिविशेषाभासमनाभासं शैवं केवलशान्तं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ३ ॥
गोपालं भूलीलाविग्रहगोपालं कुलगोपालं गोपीखेलनगोवर्धनधृतिलीलालालितगोपालम् ।
गोभिर्निगदितगोविन्दस्फुटनामानं बहुनामानं गोधीगोचरदूरं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ४ ॥
गोपीमण्डलगोष्ठीभेदं भेदावस्थमभेदाभं शश्वद्गोखुरनिर्धूतोद्गतधूलीधूसरसौभाग्यम् ।
श्रद्धाभक्तिगृहीतानन्दमचिन्त्यं चिन्तितसद्भावं चिन्तामणिमहिमानं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ५ ॥
स्नानव्याकुलयोषिद्वस्त्रमुपादायागमुपारूढं व्यादित्सन्तीरथ दिग्वस्त्रा दातुमुपाकर्षन्तं ताः ।
निर्धूतद्वयशोकविमोहं बुद्धं बुद्धेरन्तःस्थं सत्तामात्रशरीरं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ६ ॥

कान्तं कारणकारणमादिमनादिं कालमनाभासं कालिन्दीगतकालियशिरसि सुनृत्यन्तं मुहुरत्यन्तम् ।
कालं कालकलातीतं कलिताशेषं कलिदोषघ्नं कालत्रयगतिहेतुं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ७ ॥
वृन्दावनभुवि वृन्दारकगणवृन्दाराध्यं वन्देऽहं कुन्दाभामलमन्दस्मेरसुधानन्दं सुहृदानन्दम् ।
वन्द्याशेषमहामुनिमानसवन्द्यानन्दपदद्वन्द्वं वन्द्याशेषगुणाब्धिं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ ८ ॥
गोविन्दाष्टकमेतदधीते गोविन्दार्पितचेता यो गोविन्दाच्युत माधव विष्णो गोकुलनायक कृष्णेति ।
गोविन्दाङ्घ्रिसरोजध्यानसुधाजलधौतसमस्ताघो गोविन्दं परमानन्दामृतमन्तःस्थं स समभ्येति ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं श्रीगोविन्दाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

जो सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त एवं नित्य हैं, आकाशसे भिन्न होनेपर भी परम आकाशस्वरूप हैं, जो व्रजके प्राङ्गणमें रेंगते हुए चञ्चल हो रहे हैं, परिश्रमसे रहित होकर भी बहुत ही थके-से प्रतीत होते हैं, आकारहीन होनेपर भी मायानिर्मित नानास्वरूप धारण किये विश्वरूपसे प्रकट हैं और पृथ्वीनाथ होकर भी अनाथ (बिना स्वामीके) हैं, उन परमानन्दमय गोविन्दकी वन्दना करो ॥ १ ॥ 'क्या तू यहाँ मिट्टी खा रहा है ?' यह पूछती हुई यशोदाद्वारा मारे जानेका जिन्हें शैशवकालोचित भय हो रहा है, मिट्टी न खानेका प्रमाण देनेके लिये जो मुँह फैलाकर उसमें लोकालोक पर्वतसहित चौदहों भुवन दिखला देते हैं, त्रिभुवनरूपी नगरके जो आधार-स्तम्भ हैं, आलोकसे परे (अर्थात् दर्शनातीत) होनेपर भी जो विश्वके आलोक (प्रकाश) हैं, उन परमानन्दस्वरूप, लोकनाथ, परमेश्वर गोविन्दको नमस्कार करो ॥ २ ॥ जो दैत्यवीरोंके नाशक, पृथ्वीका भार हरनेवाले और संसार-रोगको मिटा देनेवाले कैवल्य (मोक्ष) पदरूप हैं, आहाररहित होकर भी नवनीतभोजी एवं विश्वभक्षी हैं, आभाससे पृथक् होनेपर भी मलरहित होनेके कारण स्वच्छ चित्तकी वृत्तिमें जिनका विशेषरूपसे आभास मिलता है, जो अद्वितीय, शान्त एवं कल्याणस्वरूप हैं, उन परमानन्द गोविन्दको प्रणाम करो ॥ ३ ॥ जो गौओंके पालक हैं, जिन्होंने पृथ्वीपर लीला करनेके निमित्त गोपाल-शरीर धारण किया है, जो वंशद्वारा भी गोपाल (ग्वाला) हो चुके हैं, गोपियोंके साथ खेल करते हुए गोवर्धन-धारणकी लीलासे जिन्होंने गोपजनोंका पालन किया था, गौओंने स्पष्टरूपसे जिनका गोविन्द नाम बतलाया था, जिनके अनेकों नाम हैं, उन इन्द्रिय तथा बुद्धिके अविषय परमानन्दरूप गोविन्दको प्रणाम करो ॥ ४ ॥ जो गोपीजनोंकी गोष्ठीके भीतर प्रवेश करनेवाले हैं, भेदावस्थामें रहकर भी अभिन्न भासित होते हैं, जिन्हें सदा गायोंके खुरसे ऊपर उड़ी हुई धूलिद्वारा धूसरित होनेका सौभाग्य प्राप्त है, जो श्रद्धा और भक्तिसे आनन्दित होते हैं, अचिन्त्य होनेपर भी जिनके सद्भावका चिन्तन किया गया है, उन चिन्तामणिके समान महिमावाले परमानन्दमय गोविन्दकी वन्दना करो ॥ ५ ॥ स्नानमें व्यस्त हुई गोपाङ्गनाओंके वस्त्र लेकर जो वृक्षपर चढ़ गये थे और जब उन्होंने वस्त्र लेना चाहा, तब देनेके लिये उन्हें पास बुलाने लगे, (ऐसा होनेपर भी) जो शोक-मोह दोनोंको ही मिटानेवाले ज्ञानस्वरूप एवं बुद्धिके भी परवर्ती हैं, सत्तामात्र ही जिनका शरीर है—ऐसे परमानन्दस्वरूप गोविन्दको नमस्कार करो ॥ ६ ॥ जो कमनीय, कारणोंके भी आदिकारण, अनादि और आभासरहित कालस्वरूप होकर भी यमुनाजलमें रहनेवाले कालियनागके मस्तकपर बारंबार अत्यन्त सुन्दर नृत्य कर रहे थे, जो कालरूप होकर भी कालकी कलाओंसे अतीत और सर्वज्ञ हैं, जो त्रिकाल गतिके कारण और कलियुगीय दोषोंको नष्ट करनेवाले हैं, उन परमानन्दस्वरूप गोविन्दको प्रणाम करो ॥ ७ ॥ जो वृन्दावनकी भूमिपर देववृन्द तथा वृन्दा नामकी वनदेवताके आराध्यदेव हैं, जिनकी प्रत्येक लीला वन्दनीय है, जिनकी कुन्दके समान निर्मल मन्द मुस्कानमें सुधाका आनन्द भरा है, जो मित्रोंको आनन्ददायी हैं, जिनका आमोदमय चरणयुगल समस्त वन्दनीय महामुनियोंके भी हृदयके द्वारा वन्दनीय है, उन अभिनन्दनीय अशेष गुणोंके सागर परमानन्दमय गोविन्दको नमस्कार करो ॥ ८ ॥ जो भगवान् गोविन्दमें अपना चित्त लगा, गोविन्द ! अच्युत ! माधव ! विष्णो ! गोकुलनायक ! कृष्ण ! इत्यादि उच्चारणपूर्वक उनके चरणकमलोंके ध्यानरूपी सुधा-सलिलसे अपना समस्त पाप धोकर इस गोविन्दाष्टकका पाठ करता है, वह अपने अन्तःकरणमें विद्यमान परमानन्दामृतरूप गोविन्दको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

(गोविन्दाष्टक सम्पूर्ण)

शरणागतिगद्यम्

(यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्मरुक्मव्यामोहतस्तदितराणि तृणाय मेने ।
अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धो रामानुजस्य चरणौ शरणं प्रपद्ये ॥)

(वन्दे वेदान्तकर्पूरचामीकरकरण्डकम् । रामानुजार्यसूर्याणां चूडामणिमहर्निशम् ॥)

भगवन्नारायणाभिमतानुरूपस्वरूपरूपगुणगणविभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणां पद्मवनालयां भगवतीं श्रियं देवीं नित्यानपायिनीं निरवद्यां देवदेवदिव्यमहिषीमखिलजगन्मातरमस्मन्मातरमशरण्यशरण्यामनन्यशरणः शरणमहं प्रपद्ये । पारमार्थिकभगवच्चरणारविन्दयुगलैकान्तिकात्यन्तिकपरभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिकृतपरिपूर्णानवरतनित्यविशदतमानन्यप्रयोजनानवधिकातिशयातिप्रियभगवदनुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकैंकर्यप्राप्त्यपेक्षया पारमार्थिकी भगवच्चरणारविन्दशरणागतिर्यथावस्थिताविरतास्तु मे। अस्तु ते । तयैव सर्वं सम्पत्स्यते । अखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतान स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपस्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनन्तगुणनिधिदिव्यस्वरूप स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजस्सौशील्यवात्सल्यमार्दवार्जवसौहार्दसाम्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यचातुर्यस्थैर्यधैर्यशौर्यपराक्रमसत्यकामसंकल्पकृतित्वकृतज्ञताद्यसंख्येयकल्याणगुणगणौघमहार्णव स्वोचितविविधविचित्रानन्ताश्चर्यनित्यनिरवद्यनिरतिशयसुगन्धनिरतिशयसुखस्पर्शनिरतिशयौज्ज्वल्यकिरीटमुकुटचूडावतंसमकरकुण्डलग्रैवेयकहारकेयूरकटकश्रीवत्सकौस्तुभमुक्तादामोदरबन्धनपीताम्बरकाञ्चीगुणनूपुराद्यपरिमितदिव्यभूषण स्वानुरूपाचिन्त्यशक्तिशङ्खचक्रगदाशार्ङ्गाद्यसंख्येयनित्यनिरवद्यनिरतिशयकल्याणदिव्यायुध स्वाभिमतनित्यनिरवद्यानुरूपस्वरूपरूपगुणविभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणश्रीवल्लभ एवम्भूतभूमिलीलानायक स्वच्छन्दानुवृत्तिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदाशेषशेषतैकरतिरूपनित्यनिरवद्यनिरतिशयज्ञानक्रियैश्वर्याद्यनन्तकल्याणगुणगणशेषशेषाशनगरुडप्रमुखनानाविधानन्तपरिजनपरिचारिकापरिचरितचरणयुगल परमयोगिवाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभाव स्वाभिमतविविधविचित्रानन्तभोग्यभोगोपकरणभोगस्थानसमृद्धानन्ताश्चर्यानन्तमहाविभवानन्तपरिमाणनित्यनिरवद्यनिरतिशयवैकुण्ठनाथ, स्वसंकल्पानुविधायिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिस्वशेषतैकस्वभाव प्रकृतिपुरुषकालात्मकविविधविचित्रानन्तभोग्यभोक्तृवर्गभोगोपकरणभोगस्थानरूपनिखिलजगदुदयविभवलयलील सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते श्रीमन्नारायण श्रीवैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यैकजलधे अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूतनिखिलनियमननिरत अशेषचिदचिद्वस्तुशेषीभूत निखिलजगदाधार अखिलजगत्स्वामिन् अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्यसंकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख श्रीमन्नारायण अशरण्यशरण्य अनन्यशरणस्त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये ।

पितरं मातरं दारान्पुत्रान्बन्धून्सखीन्गुरून् । रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान् । लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो ॥
त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च गुरुस्त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

मनोवाक्कायैरनादिकालप्रवृत्तानन्ताकृत्यकरणकृत्याकरणभगवदपचारभागवतापचारासह्यापचाररूपनानाविधानन्तापचारानारब्धकार्याननारब्धकार्यान् कृतान् क्रियमाणान् करिष्यमाणांश्च सर्वानशेषतः क्षमस्व अनादिकालप्रवृत्तविपरीतज्ञानमात्मविषयं कृत्स्नजगद्विषयं च विपरीतवृत्तं चाशेषविषयमद्यापि वर्तमानं वर्तिष्यमाणं च सर्वं क्षमस्व । मदीयानादिकर्मप्रवाहप्रवृत्तां भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीं विपरीतज्ञानजननीं स्वविषयायाश्च भोग्यबुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन सूक्ष्मरूपेण चावस्थितां दैवीं गुणमयीं मायां दासभूतः शरणागतोऽस्मि तवास्मि दास इति वक्तारं मां तारय ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
इत्यादिश्लोकत्रयोदितज्ञानिनं मां कुरुष्व ।

'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यो' 'मद्भक्तिं लभते पराम्'
इति स्थानत्रयोदितपरभक्तियुक्तं मां कुरुष्व । परभक्तिपरज्ञानपरमभक्त्येकस्वभावं मां कुरुष्व ।

परभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिकृतपरिपूर्णानवरतनित्यविशदतमानन्यप्रयोजनानवधिकातिशयप्रियभगवदनुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकिंकरो भवानि । एवम्भूतमत्कैंकर्यप्राप्त्युपायतयावक्लृप्तसमस्तवस्तुविहीनोऽप्यनन्ततद्विरोधिपापाक्रान्तोऽप्यनन्तमदीयापचारयुक्तोऽप्यनन्तासह्यापचारयुक्तोऽप्येतत्कार्यकारणभूतानादिविपरीताहंकारविमूढात्मस्वभावोऽप्येतदुभयकार्यकारणभूतानादिविपरीतवासनासम्बद्धोऽप्येतदनुगुणप्रकृतिविशेषसम्बद्धोऽप्येतन्मूलाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकसुखदुःखतद्धेतुतदितरोपेक्षणीयविषयानुभवज्ञानसंकोचरूपमच्चरणारविन्दयुगलैकान्तिकात्यन्तिकपरभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिविघ्नप्रतिहतोऽपि येन केनापि प्रकारेण द्वयवक्ता त्वं केवलं मदीययैव दयया निःशेषविनष्टसहेतुकमच्चरणारविन्दयुगलैकान्तिकात्यन्तिकपरभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिविघ्नो मत्प्रसादलब्धमच्चरणारविन्दयुगलैकान्तिकात्यन्तिकपरभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिर्मत्प्रसादादेव साक्षात्कृतयथावस्थितमत्स्वरूपरूपगुणविभूतिलीलोपकरणविस्तारोऽपरोक्षसिद्धमन्नियाम्यतामद्दास्यैकस्वभावात्मस्वरूपो मदेकानुभवो मद्दास्यैकप्रियः परिपूर्णानवरतनित्यविशदतमानन्यप्रयोजनानवधिकातिशयप्रियमदनुभवस्त्वं तथाविधमदनुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकिंकरो भव । एवम्भूतोऽसि । आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखविघ्नगन्धरहितस्त्वं द्वयमर्थानुसंधानेन सह सदैवं वक्ता यावच्छरीरपातमत्रैव श्रीरङ्गे सुखमास्व । शरीरपातसमये तु केवलं मदीययैव दययातिप्रबुद्धो मामेवावलोकयन्नप्रच्युतपूर्वसंस्कारमनोरथः जीर्णमिव वस्त्रं सुखेनेमां प्रकृतिं स्थूलसूक्ष्मरूपां विसृज्य तदानीमेव मत्प्रसादलब्धमच्चरणारविन्दयुगलैकान्तिकात्यन्तिकपरभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिकृतपरिपूर्णानवरतनित्यविशदतमानन्यप्रयोजनानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकिंकरो भविष्यसि । मा ते भूदत्र संशयः ।

'अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन' 'रामो द्विर्नाभिभाषते' ।
'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'
इति मयैव ह्युक्तम् । अतस्त्वं तत्त्वतो मज्ज्ञानदर्शनप्राप्तिषु निःसंशयः सुखमास्स्व ।
अन्त्यकाले स्मृतिर्या तु तव कैङ्कर्यकारिता । तामेनां भगवन्नद्य क्रियमाणां कुरुष्व मे ॥

॥ इति श्रीभगवद्रामानुजाचार्यविरचितं शरणागतिगद्यं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

(जिन्होंने नित्य-निरन्तर भगवान् नारायणके युगल चरणारविन्दरूपी सुवर्णके मोहसे उससे भिन्न सभी वस्तुओंको तिनकेके समान समझा था; तथा जो दयाके एकमात्र सागर थे, उन अपने गुरु भगवान् श्रीरामानुजाचार्यके चरणोंकी शरण लेता हूँ ॥ १ ॥)

(जो वेदान्तरूपी कर्पूरकी सुरक्षाके लिये सोनेकी पेटीके समान हैं, उन आचार्यसूर्योंके चूडामणि श्रीरामानुजको मैं अहर्निश प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥)

जो भगवान् नारायणकी अभिरुचिके अनुरूप स्वरूप, रूप, गुणगण, वैभव, ऐश्वर्य और शील आदि असीम निरतिशय एवं असंख्य कल्याणमय गुणसमुदायसे सुशोभित हैं, जिनका कमलवनमें निवास है, जो भगवान् विष्णुसे कभी अलग नहीं होतीं—नित्य-निरन्तर उनके हृदयधाममें निवास करती हैं, जिनमें कोई भी दोष नहीं है, जो देवदेव श्रीहरिकी दिव्य पटरानी, सम्पूर्ण जगत्की माता, हमारी माता और अशरणोंको शरण देनेवाली हैं, उन भगवती श्रीदेवीकी मैं अनन्यशरण होकर शरण ग्रहण करता हूँ। भगवान्के युगल चरणारविन्दोंके प्रति पारमार्थिक अनन्यभावापन्न, शाश्वत पराभक्ति, परज्ञान एवं परमभक्तिसे परिपूर्ण, निरन्तर उज्ज्वलतम, अन्य प्रयोजनसे रहित, असीम, निरतिशय, अत्यन्त प्रिय भगवद्बोधजनित अनन्त अतिशय प्रीतिसे उत्पादित, सभी अवस्थाओंके अनुरूप, सम्पूर्ण दास्यभाव-विषयक एकमात्र अनुरागमय नित्य-कैंकर्यकी प्राप्तिकी अपेक्षासे पारमार्थिक भगवच्चरणारविन्दशरणागति मुझे निरन्तर यथार्थरूपसे प्राप्त हो। तुम्हें भी प्राप्त हो। उसीसे सब कुछ सम्पन्न होगा। भगवन्! आप सम्पूर्ण हेय गुणगणोंके विरोधी सबके एकमात्र कल्याणमें ही दत्तचित्त हैं। अपने अतिरिक्त समस्त वस्तुओंसे विलक्षण एकमात्र अनन्तज्ञानानन्दस्वरूप हैं। आपका दिव्य विग्रह स्वेच्छानुरूप, एकरस, अचिन्त्य दिव्य, अद्भुत, नित्य-निर्मल, निरतिशय औज्ज्वल्य (प्रकाशरूपता), सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य, लावण्य और यौवन आदि अनन्त गुणोंका भंडार है। आप स्वाभाविक असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, पराक्रम, शक्ति, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मृदुता, सरलता, सौहार्द, समता, करुणा, माधुर्य, गाम्भीर्य, उदारता, चतुरता, स्थिरता, धैर्य, शौर्य, पराक्रम, सत्यकामता, सत्यसंकल्पता, सत्यकर्म तथा कृतज्ञता आदि असंख्य कल्याणमय गुणसमूहरूप जलप्रवाहके महासागर हैं। आप अपने ही योग्य विविध विचित्र अनन्त आश्चर्यमय, नित्य-निर्मल, निरतिशय सुगन्ध, निरतिशय सुखस्पर्श, निरतिशय औज्ज्वल्यसे युक्त किरीट, मुकुट, चूडामणि, मकराकृत कुण्डल, कण्ठहार, केयूर (भुजबन्ध), कंगन, श्रीवत्स, कौस्तुभ, मुक्ताहार, उदरबन्धन, पीताम्बर, काञ्चीसूत्र तथा नूपुर आदि अपरिमित दिव्य आभूषणोंसे भूषित हैं। अपने ही अनुरूप अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न, शङ्ख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग-धनुष आदि असंख्य नित्य-निर्मल, निरतिशय कल्याणमय दिव्य आयुधोंसे सम्पन्न हैं। अपने अनुरूप नित्य, निरवद्य, इच्छानुरूप रूप, गुण, वैभव, ऐश्वर्य, शील आदि सीमारहित अतिशय असंख्य कल्याणमय गुणसमूहसे शोभायमान श्रीलक्ष्मीजीके प्रियतम हैं। इन्हीं विशेषणोंसे विभूषित भूदेवी और लीलादेवीके भी अधिनायक हैं। आपकी इच्छाके अनुसार चलनेवाले तथा आपके संकल्पके अनुसार स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्तिके भेदोंसे सम्पन्न, पूर्ण दास्यभावविषयक अनन्य अनुरागके मूर्तिमान् स्वरूप नित्य-निरवद्य निरतिशय ज्ञान, क्रिया, ऐश्वर्य आदि अनन्त कल्याणमय गुणसमूहोंसे युक्त शेषनाग तथा शेषभोजी गरुड आदि अनेक प्रकारके अनन्त पार्षद और परिचारकगण आपके युगल चरणारविन्दोंकी परिचर्या करते हैं। आपका स्वरूप एवं स्वभाव बड़े-बड़े योगियोंके भी मन और वाणीसे अतीत है, आप अपने ही योग्य विविध विचित्र अनन्त भोग्य, भोगसाधन और भोगस्थानोंसे सम्पन्न, अनन्त आश्चर्यमय अपार महावैभव और असीम विस्तारसे युक्त नित्य-निर्मल, निरतिशय वैकुण्ठलोकके अधिपति हैं। अपने संकल्पका अनुसरण करनेवाली स्वरूपस्थिति और प्रवृत्तियोंमें सम्पूर्णता ही एकमात्र आपका स्वरूप है। प्रकृति, पुरुष और कालस्वरूप, विविध विचित्र अनन्त भोग्य, भोक्तृवर्ग, भोगोपकरण और भोगस्थानरूप निखिल जगत्का उद्भव, पालन और संहार आपकी लीला हैं। आप सत्यकाम, सत्यसंकल्प, परब्रह्मस्वरूप, पुरुषोत्तम, महावैभवसम्पन्न श्रीमन्नारायण और श्रीवैकुण्ठनाथ हैं। अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्यके महासागर हैं। व्यक्तिविशेषका विचार किये बिना ही सम्पूर्ण जगत्को शरण देनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं। शरणागतोंकी समस्त पीडाओंको दूर करनेवाले हैं। शरणागतवत्सलताके एकमात्र समुद्र हैं। आपको सम्पूर्ण भूतोंके यथार्थ स्वरूपका निरन्तर ज्ञान बना रहता है। आप ही समस्त जगत्के आधार हैं।

सम्पूर्ण विश्वके और मेरे भी स्वामी हैं। आपकी कामना और संकल्प सत्य होते हैं। अपने अतिरिक्त समस्त वस्तुओंसे आप विलक्षण हैं, याचकोंकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेके लिये कल्पवृक्षके समान हैं। विपत्तिके समय सबके एकमात्र सखा—सहायक हैं। जिनके लिये कहीं भी शरण नहीं है, उन्हें भी शरण देनेवाले श्रीमन्नारायण! मैं किसी दूसरेका आश्रय न लेकर केवल आपके युगल चरणारविन्दोंकी शरणमें आया हूँ। (यहाँ इस वाक्यको दो बार कहना चाहिये)।

प्रभो! पिता, माता, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र, गुरु, रत्न, धन, धान्य, क्षेत्र, गृह, सम्पूर्ण धर्म, समस्त कामनाओं और अक्षर-तत्त्वको भी छोड़कर मैं (त्रिविक्रमरूपसे) सम्पूर्ण जगत्को लाँघ जानेवाले आपके युगल चरणोंकी शरणमें आया हूँ। देवदेव! आप ही माता हैं, आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही विद्या, आप ही धन और आप ही मेरे सर्वस्व हैं। अनुपम प्रभावशाली परमेश्वर! आप इस चराचर जगत्के पिता हैं, आप ही इसके अत्यन्त गौरवशाली पूजनीय गुरु हैं। तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है; फिर आपसे बढ़कर तो हो ही कैसे सकता है। इसलिये मैं आपको प्रणाम करके अपने शरीरको आपके चरणोंमें डालकर स्तवन करनेयोग्य आप परमेश्वरको प्रसन्न करना चाहता हूँ। देव! जैसे पिता पुत्रका, मित्र मित्रका और प्रियतम अपनी प्रेयसीका अपराध सह लेता है, उसी प्रकार आपके लिये भी मेरे अपराधोंको क्षमा करना ही उचित है।

प्रभो! मन, वाणी और शरीरद्वारा अनादिकालसे मेरे किये हुए असंख्य बार न करनेयोग्य काम करने और करने योग्य कार्य न करनेके अपराधोंको, भगवदपराध, भागवतापराध और असह्य अपराधरूप अनेक प्रकारके अगणित अपराधोंको, जिन्होंने अपना फलभोगदानरूप कार्य आरम्भ कर दिया है अथवा नहीं किया है, जो किये जा चुके हैं, किये जा रहे हैं अथवा किये जानेवाले हैं; उन सभी अपराधोंको निःशेषरूपसे क्षमा कर दीजिये। आत्मा और सम्पूर्ण जगत्के विषयमें अनादिकालसे जो विपरीत ज्ञान हमारे भीतर चला आ रहा है तथा मेरे प्रति जो आज भी विपरीत बर्ताव चल रहा है और भविष्यमें भी चलनेवाला है, यह सब भी क्षमा कर दीजिये। मेरे अनादि कर्मोंके प्रवाहरूपमें जिनकी प्रवृत्ति दिखायी देती है, जो भगवत्स्वरूपको छिपा देनेवाली और विपरीत ज्ञान उत्पन्न करनेवाली है, जो अपनेमें भोग्यबुद्धि पैदा करती है, देह, इन्द्रिय और भोग्यरूपसे तथा अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे जिसकी स्थिति है,

आपकी उस त्रिगुणमयी दैवी मायाका मैं दासभावसे आश्रय लेता हूँ। 'भगवन्! मैं आपका दास हूँ।' यों कहनेवाले मुझ सेवकको आप इस संसारसागरसे उबारिये।

'उनमें नित्ययुक्त और एकमात्र (मुझमें) भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरा प्रिय है। ये सभी उदार हैं, परंतु मेरा मत है कि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है; क्योंकि वह युक्तात्मा मुझ सर्वोत्तम प्राप्य वस्तुमें ही स्थित है। बहुत-से जन्मोंके अन्तमें ज्ञानवान् 'यह सब वासुदेव ही है, इस भावसे जो मेरी शरण ग्रहण करता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

इन तीन श्लोकोंमें जिसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, वैसा ही ज्ञानी मुझे बनाइये।

'पृथापुत्र अर्जुन! वह परमपुरुष सच्चमुच अनन्य भक्तिसे प्राप्त करने योग्य है। अनन्यभक्तिके द्वारा मैं तत्त्वसे जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ', 'मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है।' मुझे इन तीनों स्थलोंपर बतायी गयी पराभक्तिसे सम्पन्न बनाइये। पराभक्ति, परज्ञान और परमभक्ति ही जिसका एकमात्र स्वभाव हो, ऐसा भक्त मुझे बनाइये। मैं पराभक्ति, परज्ञान और परमभक्तिके फलस्वरूप परिपूर्ण, अनवरत, नित्य उज्ज्वलतम, अन्य प्रयोजनसे रहित, अनन्त एवं अतिशय प्रिय भगवदनुभवजनित, सीमारहित, निरतिशय प्रीतिसे उत्पादित समग्र अवस्थाओंके अनुरूप सम्पूर्ण दास्यभावमय आनन्द अनुराग का मूर्तिमान् स्वरूप नित्य किंकर बन जाऊँ। प्रभो! आप मुझे यह वर दीजिये कि 'आजसे तुम मेरे पूर्वोक्त प्रकार नित्य किंकरकी प्रवृत्तिके उपयुक्त जितनी वस्तुएँ अपेक्षित हुई हैं, उन सबसे सम्पन्न हो, उन नित्य किंकरोंके विरोधी अनन्त पापोंसे रहित हुए हो। मेरे प्रति अनन्त अपराधोंसे मुक्त हो। अनन्त अपराध अपराधोंसे मुक्त हो। [illegible]
[illegible]
हो गया है। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
उनके [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

बाधाओंने आक्रान्त कर लिया है, तो भी जिस किसी प्रकारसे भी दो बार अपनेको दास बतानेवाले तुम केवल मेरी ही दयासे मेरे भक्त हो जाओ। मेरे युगल चरणारविन्दोंके प्रति अनन्य एवं अन्तररहित पराभक्ति, परज्ञान एवं परमभक्तिकी प्राप्तिमें जितने भी विघ्न हैं, वे सब तुम्हारे लिये अपने मूलकारणोंसहित सर्वथा नष्ट हो जायँ। मेरी कृपासे तुम्हें मेरे युगल चरणारविन्दोंके प्रति अनन्य एवं कभी न नष्ट होनेवाली पराभक्ति, परज्ञान एवं परमभक्ति प्राप्त हो जाय। मेरे कृपा-प्रसादसे ही तुम्हें मेरे यथार्थ स्वरूप, रूप, गुण, ऐश्वर्य और लीला-सामग्रीके विस्तारका साक्षात्कार हो जाय। जीव सदा मेरा नियाम्य (वशवर्ती) है, इस भावनाके साथ तुम्हें मेरे स्वरूपकी अनुभूति हो। तुम्हारी अन्तरात्मा एकमात्र मेरे दास्यरसमें मग्न रहनेके स्वभाववाली हो जाय। तुम्हें एकमात्र मेरे तत्त्वका बोध हो। एकमात्र मेरी दास्यरति ही तुम्हें प्रिय लगे। परिपूर्ण, अनवरत, नित्य परमोज्ज्वल, अन्य प्रयोजनसे रहित, निस्सीम और अतिशय प्रिय मेरे तत्त्वका बोध तुम्हें प्राप्त हो। तुम मेरे स्वरूपके वैसे अनुभवसे प्रकट हुई अनन्त, अतिशय प्रीतिसे उत्पादित अशेषावस्थाके योग्य सम्पूर्ण दास्यभाव-विषयक अनन्य अनुरागके मूर्तिमान् स्वरूप नित्य-किंकर हो जाओ। ऐसे नित्य-किंकर तुम हो ही। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख एवं विघ्नकी गन्धसे रहित हो। तुम अर्थानुसंधानपूर्वक सदा पूर्वोक्त दो शरणागतिद्योतक वाक्योंका पाठ करते हुए जबतक यह शरीर गिर न जाय, तबतक यहीं श्रीरङ्गक्षेत्रमें सुखपूर्वक रहो (अथवा यहीं श्रीलक्ष्मीजीके साथ क्रीडा करनेवाले भगवान् नारायणके चिन्तनमें लगे रहो)। देहपातके समय केवल मेरी ही दयासे अत्यन्त बोधसम्पन्न हो मेरा ही दर्शन करते हुए अपने पूर्वसंस्कार एवं मनोरथसे भ्रष्ट न होकर पुराने वस्त्रकी भाँति इस स्थूल-सूक्ष्मशरीररूपा प्रकृतिका सुखपूर्वक परित्याग करके तत्काल ही मेरे कृपा-प्रसादसे प्राप्त हुई मेरे युगल चरणारविन्दविषयक अनन्य एवं कभी न नष्ट होनेवाली पराभक्ति, परज्ञान और परमभक्तिसे प्रेरित परिपूर्ण, नित्य-निरन्तर परमोज्ज्वल, अन्य प्रयोजनरहित अनन्त अतिशय प्रीतिद्वारा उत्पादित अशेषावस्थाके अनुरूप सम्पूर्ण दास्यभावविषयक अनन्य अनुरागके मूर्तिमान् स्वरूप नित्य-किंकर हो जाओगे। इस विषयमें तुम्हें तनिक भी संशय नहीं होना चाहिये।

'मैंने पहले कभी न तो असत्य कहा है और न आगे कभी कहूँगा।'

'राम दो प्रकारकी बातें नहीं कहता।'

"जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर 'मैं आपका हूँ' यों कहकर मुझसे रक्षा-याचना करता है, उसे मैं सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।"

'सब धर्मोंको छोड़कर तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। शोक न करो।'

ये सब बातें मैंने ही कही हैं। अतः तुम यथार्थरूपसे मेरे ज्ञान, दर्शन और प्राप्तिके विषयमें संशयरहित हो सुखसे रहो।

भगवन्! अन्तकालमें जो आपके दास्यभावसे उद्भावित आपकी स्मृति होती है, उसकी साधना करनेवाले मुझ सेवकके लिये आज उसे सुलभ कर दीजिये।

(शरणागतिगद्य सम्पूर्ण)

श्रीरङ्गगद्यम्

स्वाधीनत्रिविधचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदं क्लेशकर्माद्यशेषदोषासंस्पृष्टं स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजस्सौशील्यवात्सल्यमार्दवार्जवसौहार्दसाम्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यचातुर्यस्थैर्यधैर्यशौर्यपराक्रमसत्यकामसत्यसंकल्पकृतित्वकृतज्ञताद्यसंख्येयकल्याणगुणगणौघमहार्णवं परब्रह्मभूतं, पुरुषोत्तमं, श्रीरङ्गशायिनमस्मत्स्वामिनं, प्रबुद्धनित्यनियाम्यनित्यदास्यैकरसात्मस्वभावोऽहं तदेकानुभवस्तदेकप्रियः परिपूर्णं, भगवन्तं विशदतमानुभवेन निरन्तरमनुभूय, तदनुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकिंकरो भवानि। स्वात्मनित्यनियाम्यनित्यदास्यैकरसात्मस्वभावानुसंधानपूर्वकभगवदनवधिकातिशयस्वाम्याद्यखिलगुणानुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकनित्यकैंकर्यप्राप्त्युपायभक्तितदुपायसम्यग्ज्ञानतदुपायसमीचीनक्रियातदनुगुणसात्त्विक-

त्वास्तिक्यादिसमस्तात्मगुणविहीनः, दुरुत्तरानन्ततद्विपर्ययज्ञानक्रियानुगुणानादिपापवासनामहार्णवान्तर्निमग्नः, तिलतैलवद्दारुवह्निवद्दुर्विवेचत्रिगुणक्षणक्षरणस्वभावाचेतनप्रकृतिव्याप्तिरूपदुरत्ययभगवन्मायातिरोहितस्वप्रकाशः, अनाद्यविद्यासंचितानन्ताशक्यविस्रंसनकर्मपाशप्रग्रथितः, अनागतानन्तकालसमीक्षयाप्यदृष्टसंतारोपायः, निखिलजन्तुजातशरण्य श्रीमन्नारायण तव चरणारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।

एवमवस्थितस्याप्यर्थित्वमात्रेण परमकारुणिको भगवान्, स्वानुभवप्रीत्योपनीतैकान्तिकात्यन्तिकनित्यकैंकर्यैकरतिरूपनित्यदास्यं दास्यतीति विश्वासपूर्वकं भगवन्तं नित्यकिंकरतां प्रार्थये।

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम् । देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा ॥
सर्वावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिस्तव । भवेयं पुण्डरीकाक्ष त्वमेवैवं कुरुष्व माम् ॥

एवम्भूततत्त्वयाथात्म्यावबोधितदिच्छारहितस्याप्येतदुच्चारणमात्रावलम्बनेनोच्यमानार्थपरमार्थनिष्ठं मे मनस्त्वमेवाद्यैव कारय। अपारकरुणाम्बुधे अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यैकमहोदधे अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूत निखिलनियमनिरत अशेषचिदचिद्वस्तुशेषीभूत निखिलजगदाधार अखिलजगत्स्वामिन् अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्यसंकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख काकुत्स्थ श्रीमन्नारायण पुरुषोत्तम श्रीरङ्गनाथ मम नाथ नमोऽस्तु ते।

॥ इति श्रीमद्भगवद्रामानुजाचार्यविरचितं श्रीरङ्गगद्यं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक— पाण्डेय प० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

जो त्रिविध चेतनाचेतन जगत्के स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्तिके भेदको अपने अधीन रखते हैं, क्लेश, कर्म और आशय आदि सम्पूर्ण दोष जिनका स्पर्श नहीं कर सकते, जो स्वाभाविक, असीम, अतिशय, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सुशीलता, वत्सलता, मृदुता, सरलता, सौहार्द, समता, करुणा, माधुर्य, गाम्भीर्य, उदारता, चतुरता, स्थिरता, धीरता, शौर्य, पराक्रम, सत्यकामता, सत्यसंकल्पता, सत्यकर्म और कृतज्ञता आदि असंख्य कल्याणमय गुणसमुदाय रूपी जलप्रवाहके परम आश्रयभूत महासागर हैं, परब्रह्म स्वरूप और पुरुषोत्तम हैं, श्रीदेवीकी रङ्गस्थलीमें शयन करनेवाले मेरे स्वामी हैं, उन परिपूर्ण भगवानके तत्त्वका अत्यन्त निर्मल अनुभव-शक्तिके द्वारा निरन्तर अनुभव करके 'जीव भगवान्का नित्यवशवर्ती सेवक है' इस भावनाको उद्बुद्ध करके नित्य दास्यरसमें ही अपने अन्तरात्माको निमग्न रखनेके स्वभाववाला होकर एकमात्र उन्हींका अनुभव करता हुआ केवल उन्हींको अपना प्रियतम मानकर उनके अनुभवजनित अनन्त अतिशय प्रीतिद्वारा उत्पादित अशेषावस्थाके अनुरूप सम्पूर्ण दास्यभावविषयक अनन्य अनुरागका मूर्तिमान् स्वरूप होकर भगवान्का मैं नित्य किंकर बनूँ।

प्रभो! जीव भगवान्का नित्यवशवर्ती सेवक है, नित्य भगवद्दास्य-रसके एकमात्र सिन्धुमें अवगाहन करना उसका निज स्वभाव है। उसे अपने इस स्वभावका निरन्तर अनुसंधान (विचार) करते रहना चाहिये। भगवान्के स्वामी होने आदिके समस्त सद्गुण असीम और अतिशय मात्रामें विद्यमान हैं। अपने पूर्वोक्त स्वभावके अनुसंधान पूर्वक भगवत्सम्बन्धी समस्त सद्गुणोंके अनुभवसे जो असीम अतिशय प्रीति उत्पन्न होती है, उसके द्वारा सर्वावस्थोचित सम्पूर्ण दास्यभावकी उद्भावना होती है। वही नित्य कैंकर्य है। उसकी प्राप्तिका उपाय है—भक्ति और उसका उपाय है—सम्यक् ज्ञान; उस ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय है शास्त्रीय कर्मोंका सम्यक् अनुष्ठान। तदनुरूप जो आस्तिकता, आस्तिकता आदि सद्गुण उदित होते हैं, उनसे मैं सर्वथा वञ्चित हूँ।

इसके सिवा विपरीत ज्ञान और विपरीत कर्मोंके अनुरूप अनादि पापवासनाके दुस्तर एवं अनन्त महासागरमें मैं डूबा हुआ हूँ। जिसमें तेल और ईंधनमें अग्निके समान परस्पर मिले हुए तीनों गुणोंका प्रतिक्षण क्षरण करनेवाली अचेतन प्रकृतिकी व्याप्तिरूप दुर्लङ्घ्य भगवन्मायाने मेरे प्रकाश (बोध) को ढँक दिया है। मैं अनादि अविद्याद्वारा संचित अनन्त एवं अटूट कर्मपाशमें जकड़ा हुआ हूँ। भावी अनन्त कालकी प्रतीक्षा करनेपर भी मुझे अपने उद्धारका कोई

उपाय नहीं दिखायी दिया है। अतः सम्पूर्ण जीवोंको शरण देनेवाले श्रीमन्नारायण! मैं आपके युगल चरणारविन्दोंकी शरण लेता हूँ। ऐसी दशामें स्थित होनेपर भी प्राणियोंके याचना करनेमात्रसे परमदयालु भगवान् अपने अनुभवमें प्रकट हुई प्रीतिद्वारा उत्पादित अनन्य, आत्यन्तिक नित्यकैंकर्यविषयक एकमात्र अनुरागस्वरूप नित्य दास्यभाव प्रदान करेंगे ही, इस विश्वासके साथ मैं भगवान्से नित्य किंकरताकी याचना करता हूँ।

नाथ! आपके स्वरूपके अनुभवसे प्रकट हुई प्रीतिद्वारा उत्पादित दास्यभाव मुझे कृपापूर्वक प्रदान करें। इसके सिवा दूसरी कोई गति मैं नहीं जानता।

कमलनयन! मैं सभी अवस्थाओंमें उचित आपके प्रति सम्पूर्ण दास्यभावविषयक अनन्य अनुरागसे युक्त होऊँ; आप मुझे ऐसा ही दास बना दीजिये।

इस प्रकारके तत्त्वका यथावत् बोध करानेवाली जिज्ञासासे रहित होनेपर भी इस गद्यके पाठमात्रका अवलम्बन लेनेके कारण मेरे मनको आप स्वयं ही अभी इस गद्यद्वारा प्रतिपादित तत्त्वमें यथार्थ निष्ठा रखनेवाला बना दीजिये। अपारकरुणावरुणालय! व्यक्तिविशेषका विचार किये बिना सम्पूर्ण जगत्को शरण देनेवाले परमेश्वर! प्रणतजनोंकी पीड़ा दूर करनेवाले प्रभो! शरणागतवत्सलताके एकमात्र महासमुद्र! सम्पूर्ण भूतोंके यथार्थ स्वरूपका निरन्तर ज्ञान रखनेवाले विभो! समस्त चराचरस्वरूप परमात्मन्! अखिल जगन्नियन्ता परमेश्वर! समस्त जड-चेतन पदार्थ आपके शेष (सेवक, अवयव या अंश) हैं और आप सबके शेषी (स्वामी, अवयवी या अंशी) हैं। आप सम्पूर्ण जगत्के आधार, अखिल विश्वके स्वामी और मेरे नाथ हैं। आपके काम और संकल्प सत्य हैं। आप अपनेसे भिन्न सभी वस्तुओंसे विलक्षण हैं। याचकोंकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये कल्पवृक्ष हैं। विपत्तिके एकमात्र सखा हैं। आपने श्रीरामरूपमें अवतार लेकर ककुत्स्थ-कुलको गौरव प्रदान किया है। श्रीमन्नारायण! पुरुषोत्तम! श्रीरङ्गनाथ! मेरे स्वामी! आपको नमस्कार है।

(श्रीरङ्गगद्य सम्पूर्ण)

श्रीवैकुण्ठगद्यम्

यामुनार्यसुधाम्भोधिमवगाह्य यथामति। आदाय भक्तियोगाख्यं रत्नं संदर्शयाम्यहम्॥

स्वाधीनत्रिविधचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदं क्लेशकर्माद्यशेषदोषासंस्पृष्टं स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृत्यसंख्येयकल्याणगुणगणौघमहार्णवं परमपुरुषं भगवन्तं नारायणं स्वामित्वेन सुहृत्त्वेन गुरुत्वेन च परिगृह्य ऐकान्तिकात्यन्तिकतत्पादाम्बुजद्वयपरिचर्यैकमनोरथः, तत्प्राप्तये च तत्पादाम्बुजद्वयप्रपत्तेरन्यन्न मे कल्पकोटिसहस्रेणापि साधनमस्तीति मन्वानः, तस्यैव भगवतो नारायणस्याखिलसत्त्वदयैकसागरस्यानालोचितगुणागुणाखण्डजनानुकूलमर्यादाशीलवतः स्वाभाविकानवधिकातिशयगुणवत्तया देवतिर्यङ्मनुष्याद्यखिलजनहृदयानन्दनस्य आश्रितवात्सल्यैकजलधेर्भक्तजनसंश्लेषैकभोगस्य नित्यज्ञानक्रियैश्वर्यभोगसामग्रीसमृद्धस्य महाविभूतेः श्रीमच्चरणारविन्दयुगलमनन्यात्मसंजीवनेन तद्गतसर्वभावेन शरणमनुव्रजेत्।

ततश्च प्रत्यहमात्मोज्जीवनायैवमनुस्मरेत्। चतुर्दशभुवनात्मकमण्डं दशगुणितोत्तरं चावरणसप्तकं समस्तं कार्यकारणजातमतीत्य परमव्योमशब्दाभिधेये ब्रह्मादीनां वाङ्मनसागोचरे श्रीमति वैकुण्ठे दिव्यलोके सनकविधिशिवादिभिरप्यचिन्त्यस्वभावैश्वर्यैर्नित्यसिद्धैरनन्तैर्भगवदानुकूल्यैकभोगैर्दिव्यपुरुषैर्महात्मभिरापूरिते, तेषामपीयत् परिमाणमियदैश्वर्यमीदृशस्वभावमिति परिच्छेत्तुमयोग्ये दिव्यावरणशतसहस्रावृते दिव्यकल्पतरूपशोभिते दिव्योद्यानशतसहस्रकोटिभिरावृते अतिप्रमाणे दिव्यायतने कस्मिंश्चिद्विचित्रदिव्यरत्नदिव्यास्थानमण्डपे दिव्यरत्नस्तम्भशतसहस्रकोटिभिरुपशोभिते दिव्यनानारत्नकृतस्थलविचित्रिते दिव्यालंकारालंकृते परितः पतितैः पतमानैः पादपस्थैश्च नानागन्धवर्णैर्दिव्यपुष्पैः शोभमानैर्दिव्यपुष्पोपवनैरुपशोभिते, संकीर्णपारिजातादिकल्पद्रुमोपशोभितैरसंकीर्णैश्च कैश्चिदन्तस्स्थपुष्परत्नादिनिर्मितदिव्यलीलामण्डप-

शतसहस्रोपशोभितैस्सर्वदानुभूयमानैरप्यपूर्ववदाश्चर्यमावहद्भिः क्रीडाशैलशतसहस्रैरलंकृतैः, कैश्चिन्नारायण-
दिव्यलीलासाधारणैः कैश्चित् पद्मवनालयादिव्यलीलासाधारणैः कैश्चिच्छुकशारिकामयूरकोकिलादिभिः
कोमलकूजितैराकुलैर्दिव्योद्यानशतसहस्रकोटिभिरावृते, मणिमुक्ताप्रवालकृतसोपानैर्दिव्यामलामृतरसोदकै-
र्दिव्याण्डजवरैरतिरमणीयदर्शनैरतिमनोहरमधुरस्वरैराकुलैरन्तस्स्थमुक्तामयदिव्यक्रीडास्थानोपशोभितैर्दिव्य-
सौगन्धिकवापीशतसहस्रैर्दिव्यराजहंसावलीविराजितैरावृते, निरस्तातिशयानन्दैकरसतया चानन्त्याच्च प्रविष्टा-
नुन्मादयद्भिः क्रीडोद्देशैर्विराजिते, तत्र तत्र कृतदिव्यपुष्पपर्यङ्कोपशोभिते, नानापुष्पासवास्वादमत्तभृङ्गावली-
भिरुद्गीयमानदिव्यगान्धर्वेणापूरिते चन्दनागुरुकर्पूरदिव्यपुष्पावगाहिमन्दानिलासेव्यमाने, मध्ये पुष्पसंचय-
विचित्रिते, महति दिव्ययोगपर्यङ्के अनन्तभोगिनि श्रीमद्वैकुण्ठैश्वर्यादिदिव्यलोकमात्मकान्त्या विश्वमा-
प्याययन्त्या शेषशेषाशनादिसर्वं परिजनं भगवतस्तत्तदवस्थोचितपरिचर्यायामाज्ञापयन्त्या, शीलरूपगुण-
विलासादिभिरात्मानुरूपया श्रिया सहासीनं प्रत्यग्रोन्मीलितसरसिजसदृशनयनयुगलं स्वच्छनीलजीमूत-
संकाशम् अत्युज्ज्वलपीतवाससं स्वया प्रभयातिनिर्मलयातिशीतलयातिकोमलया स्वच्छमाणिक्याभया कृत्स्नं
जगद्भासयन्तम् अचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्ययौवनस्वभावलावण्यमयामृतसागरम् अतिसौकुमार्यादीषत्प्रस्विन्नवदा-
लक्ष्यमाणललाटफलकदिव्यालकावलीविराजितं प्रबुद्धमुग्धाम्बुजचारुलोचनं सविभ्रमभ्रूलतमुज्ज्वलाधरं
शुचिस्मितं कोमलगण्डमुन्नसम् उदग्रपीनांसविलम्बिकुण्डलालकावलीबन्धुरकम्बुकन्धरं प्रियावतंसोत्पलकर्ण-
भूषणश्लथालकाबन्धविमर्दशंसिभिश्चतुर्भिराजानुविलम्बिभिर्भुजैर्विराजितम् अतिकोमलदिव्यरेखालंकृताताम्र-
करतलम्, दिव्याङ्गुलीयकविराजितमतिकोमलदिव्यनखावलीविराजितातिरक्ताङ्गुलीभिरलंकृतं तत्क्षणो-
न्मीलितपुण्डरीकसदृशचरणयुगलम् अतिमनोहरकिरीटमुकुटचूडावतंसमकरकुण्डलग्रैवेयकहारकेयूरकटक-
श्रीवत्सकौस्तुभमुक्तादामोदरबन्धनपीताम्बरकाञ्चीगुणनूपुरादिभिरत्यन्तसुखस्पर्शैर्दिव्यगन्धैर्भूषणैर्भूषितं श्री-
मत्या वैजयन्त्या वनमालया विराजितं शङ्खचक्रगदासिशार्ङ्गादिदिव्यायुधैस्सेव्यमानं स्वसंकल्पमात्रावक्लृप्त-
जगज्जन्मस्थितिध्वंसादिके श्रीमति विष्वक्सेने न्यस्तसमस्तात्मैश्वर्यं वैनतेयादिभिस्स्वभावतो निरस्तसमस्त-
सांसारिकस्वभावैर्भगवत्परिचर्याकरणयोग्यैर्भगवत्परिचर्यैकभोगैर्नित्यसिद्धैरनन्तैर्यथायोग्यं सेव्यमानम् आत्म-
भोगेनानुसंहितपरादिकालं दिव्यामलकोमलावलोकनेन विश्वमाह्लादयन्तम् ईषदुन्मीलितमुखाम्बुजोदर-
विनिर्गतेन दिव्याननारविन्दशोभाजननेन दिव्यगाम्भीर्यौदार्यसौन्दर्यमाधुर्याद्यनवधिकगुणगणविभूषितेन
अतिमनोहरदिव्यभावगर्भेण दिव्यलीलालापामृतेन अखिलजनहृदयान्तराण्यापूरयन्तं भगवन्तं नारायणं
ध्यानयोगेन दृष्ट्वा ततो भगवतो नित्यस्वाम्यमात्मनो नित्यदास्यं च यथावस्थितमनुसंधाय कदाहं भगवन्तं
नारायणं मम कुलनाथं मम कुलदैवतं मम कुलधनं मम भोग्यं मम मातरं मम पितरं मम सर्वं साक्षात्कर-
वाणि चक्षुषा ? कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वयं शिरसा संग्रहीष्यामि ? कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वयपरिचर्याशया
निरस्तसमस्तेतरभोगाशोऽपगतसमस्तसांसारिकस्वभावस्तत्पादाम्बुजद्वयं प्रवेक्ष्यामि ? कदाहं भगवत्-
पादाम्बुजद्वयपरिचर्याकरणयोग्यस्तत्पादौ परिचरिष्यामि ? कदा मां भगवान् स्वकीययातिशीतलया दृशाव-
लोक्य स्निग्धगम्भीरमधुरया गिरा परिचर्यायामाज्ञापयिष्यतीति भगवत्परिचर्यायामाशां वर्धयित्वा तयैवा-
शया तत्प्रसादोपबृंहितया भगवन्तमुपेत्य दूरादेव भगवन्तं शेषभोगे श्रिया सहासीनं वैनतेयादिभिस्सेव्यमानं
'समस्तपरिवाराय श्रीमते नारायणाय नमः' इति प्रणम्योत्थायोत्थाय पुनः पुनः प्रणम्यात्यन्तसाध्वसविनया-
वनतो भूत्वा भगवत्पारिषद्गणनायकैर्द्वारपालैः कृपया स्नेहगर्भया दृशावलोकितस्सम्यगभिवन्दितैस्तैस्तै-
रेवानुमतो भगवन्तमुपेत्य श्रीमता मूलमन्त्रेण मामैकान्तिकात्यन्तिकपरिचर्याकरणाय परिगृह्णीष्वेति याचमानः
प्रणम्यात्मानं भगवते निवेदयेत् ।

ततो भगवता स्वयमेवात्मसंजीवनेन मर्यादाशीलवतातिप्रेमान्वितेनावलोकनेनावलोक्य सर्वदेशसर्वकालसर्वावस्थोचितात्यन्तशेषभावाय स्वीकृतोऽनुज्ञातश्चात्यन्तसाध्वसविनयावनतः किंकुर्वाणः कृताञ्जलिपुटो भगवन्तमुपासीत।

ततश्चानुभूयमानभावविशेषो निरतिशयप्रीत्यान्यत्किञ्चित्कर्तुं द्रष्टुं स्मर्तुमशक्तः पुनरपि शेषभावमेव याचमानो भगवन्तमेवाविच्छिन्नस्रोतोरूपेणावलोकयन्नासीत।

ततो भगवता स्वयमेवात्मसंजीवनेनावलोकनेनावलोक्य सस्मितमाहूय समस्तक्लेशापहं निरतिशयसुखावहमात्मीयं श्रीमत्पादारविन्दयुगलं शिरसि कृतं ध्यात्वामृतसागरान्तर्निमग्नसर्वावयवः सुखमासीत।

॥ इति श्रीमद्रामानुजाचार्यविरचितं वैकुण्ठगद्यं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

मैं परम गुरु श्रीयामुनाचार्यरूपी सुधासागरमें अवगाहन करके अपनी बुद्धिके अनुसार भक्तियोग नामक रत्न लाकर सबको दिखा रहा हूँ।

जो तीनों गुणोंके भेदसे त्रिविध जड-चेतनात्मक जगत्के स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्तिके भेदको अपने अधीन रखते हैं, क्लेश, कर्म और आशय आदि सम्पूर्ण दोष जिन्हें कभी छू भी न सके हैं, जो स्वाभाविक, असीम और अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति एवं तेज आदि असंख्य कल्याणमय गुण-समुदायरूपी जलप्रवाहके महासागर हैं, उन परम पुरुष भगवान् नारायणको स्वामी, सुहृद् और गुरुरूपमें स्वीकारकर साधक अनन्य और कभी न समाप्त होनेवाले भक्तिभावसे उनके युगल चरणारविन्दोंकी परिचर्या (सेवा) की ही अभिलाषा करे। तथा उन भगवच्चरणारविन्दोंकी सेवा प्राप्त करनेके लिये उन्हीं भगवान्के दोनों चरणकमलोंकी शरणमें जानेके सिवा मेरे लिये सहस्र कोटि कल्पोंतक भी दूसरा कोई साधन नहीं है—ऐसा विश्वास करे। जो सम्पूर्ण जीवोंके प्रति उमड़नेवाली दयाके एकमात्र सागर हैं, जो गुण-अवगुणका विचार किये बिना ही सब लोगोंके अनुकूल मर्यादा और शील धारण करते हैं, स्वाभाविक, असीम और अतिशय गुणोंमें युक्त होनेके कारण जो देवता, पशु-पक्षी और मनुष्य आदि सभी जीवोंके हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, शरणागतवत्सलताके एकमात्र सागर हैं, भक्तजनोंको अपने हृदयसे लगा लेना ही जिनका एकमात्र भोग है, जो नित्य ज्ञान, नित्य क्रिया, नित्य ऐश्वर्य तथा नित्य भोग-सामग्रीसे सम्पन्न हैं; उन्हीं महावैभवशाली भगवान् नारायणके शोभायमान युगल चरणारविन्दोंको अनन्यभावसे अपना जीवनाधार मानकर अपने मन-प्राणोंकी सम्पूर्ण भावनाओं उन्हींमें समर्पित करके पूर्वोक्त विश्वासके साथ उन भगवदीय चरणोंकी शरण ग्रहण करे।

तदनन्तर प्रतिदिन अपने आत्माके उत्थानके लिये बार-बार इस प्रकार चिन्तन करे—यह जो चौदह भुवनोंमें विभाजित ब्रह्माण्ड है, उसके जो उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरण हैं तथा जो समस्त कार्य-कारण-समुदाय है, उन सबसे परे दिव्य शोभासे सम्पन्न अलौकिक वैकुण्ठधाम विराजमान है। उसका दूसरा नाम है—परमव्योम। ब्रह्मा आदि देवताओंके मन-वाणी भी वहाँतक नहीं पहुँच सकते। वह नित्यधाम वैकुण्ठ असंख्य दिव्य महात्मा पुरुषोंसे भरा हुआ है। वे महात्मा नित्यसिद्ध हैं। भगवान्की अनुकूलता ही उनका एकमात्र भोग (सुख-साधन) है। उनका स्वभाव और ऐश्वर्य कैसा है, इसका वर्णन करना तो दूर रहा, सनकादि महात्मा, ब्रह्मा और शिव आदि भी इसको मनसे सोचतक नहीं सकते। उन महात्माओंका ऐश्वर्य इतना ही है, उसकी इतनी ही मात्रा है अथवा उसका ऐसा ही स्वभाव है—इत्यादि बातोंका परिच्छेद (निर्धारण या निश्चय) करना भी वहाँके लिये नितान्त अनुचित है। वह दिव्य धाम एक लाख दिव्य आवरणोंसे आवृत है, दिव्य कल्पवृक्ष उसकी शोभा बढ़ाते रहते हैं, वह वैकुण्ठलोक शतसहस्र कोटि दिव्य उद्यानोंसे घिरा हुआ है। उसका दीर्घ विस्तार नापा नहीं जा सकता, वहाँके निवासस्थान भी अलौकिक हैं। वहाँ एक दिव्य सभाभवन है, जो विचित्र एवं दिव्यरत्नोंसे निर्मित है। उसमें शतसहस्रकोटि दिव्य रत्नमय खंभे लगे हैं, जो उस भवनकी शोभा बढ़ाते रहते हैं। उसका फर्श नाना प्रकारके दिव्य रत्नोंसे निर्मित होनेके कारण अपनी विचित्र छटा दिखाता है। वह सभाभवन दिव्य अलंकारोंसे सजा हुआ है। जितने ही दिव्य उपवन सब ओरसे उस सभा-भवनकी श्रीवृद्धि करते हैं। उनमें भाँति-भाँतिकी सुगन्धसे भरे हुए रंग बिरंगे दिव्य पुष्प सुशोभित हैं, जिनमेंसे कुछ नीचे गिरे रहते हैं, कुछ वृक्षोंसे झड़ते रहते हैं और कुछ उन वृक्षोंकी डालियोंपर ही खिले रहते हैं।

फलोंकी पंक्तियोंमें लगे हुए पारिजात आदि कल्पवृक्षोंसे शोभायमान लक्षकोटि दिव्योद्यान भी उक्त सभा-भवनको पृथक्-पृथक् घेरे हुए हैं। उन उद्यानोंके भीतर पुष्पों तथा रत्न आदिसे निर्मित लाखों दिव्य लीलामण्डप उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वे सर्वदा उपभोगमें आते रहनेपर भी अपूर्वकी भाँति वैकुण्ठवासियोंके लिये अत्यन्त आश्चर्यजनक जान पड़ते हैं। लाखों क्रीडापर्वत भी उक्त उद्यानोंको अलंकृत कर रहे हैं। उनमेंसे कुछ उद्यान तो केवल भगवान् नारायणकी दिव्यलीलाओंके असाधारण स्थान हैं और कुछ पद्मवनमें निवास करनेवाली भगवती लक्ष्मीकी दिव्यलीलाओंके विशेष स्थल हैं। कुछ उद्यान शुक, सारिका, मयूर और कोकिल आदि दिव्य विहंगमोंके कोमल कलरवसे व्याप्त रहते हैं। उक्त सभाभवनको सब ओरसे घेरकर दिव्य सौगन्धिक कमल-पुष्पोंसे भरी लाखों बावलियाँ शोभा पा रही हैं। दिव्य राजहंसोंकी श्रेणियाँ उन बावलियोंकी श्रीवृद्धि करती हैं। उनमें उतरनेके लिये मणि, मुक्ता और मूँगोंकी सीढ़ियाँ बनी हैं। दिव्य निर्मल अमृतरस ही उनका जल है। अत्यन्त रमणीय दिव्य विहग-प्रवर, जिनके मधुर कलरव बड़े ही मनोहर हैं, उन बावलियोंमें भरे रहते हैं। उनके भीतर बने हुए मोतियोंके दिव्य क्रीडा-स्थान शोभा देते हैं। सभाभवनके भीतर भी कितने ही क्रीडाप्रदेश उसकी शोभा बढ़ाते हैं, जो सर्वाधिक आनन्दैकरसस्वभाव एवं अनन्त होनेके कारण अपने भीतर प्रवेश करनेवाले वैकुण्ठवासियोंको आनन्दोन्मादसे उन्मत्त किये देते हैं। उस भवनके विभिन्न भागोंमें दिव्य पुष्प-शय्याएँ बिछी रहती हैं। नाना प्रकारके पुष्पोंका मधु पीकर उन्मत्त हुई भ्रमरावलियाँ अपने गाये हुए दिव्य संगीतकी मधुर ध्वनिसे उक्त सभामण्डपको मुखरित किये रहती हैं। चन्दन, अगुरु, कर्पूर और दिव्य पुष्पोंकी सुगन्धमें डूबी हुई मन्द मन्द वायु प्रवाहित होकर उक्त सभाके सदस्योंकी सेवा करती रहती है। उस सभामण्डपके मध्यभागमें महान् दिव्य योग-शय्या सुशोभित है, जो दिव्य पुष्पराशिके संचयसे विचित्र सुषमा धारण किये हुए है। उसपर भगवान् अनन्त (शेषनाग) का दिव्य शरीर शोभा पाता है। उसपर भगवान् अनुरूप-शील, रूप और गुण-विलास आदिसे सुशोभित भगवती श्रीदेवीके साथ भगवान् श्रीहरि विराजमान रहते हैं। वे श्रीदेवी अनुपम शोभाशाली वैकुण्ठके ऐश्वर्य आदिसे सम्पन्न सम्पूर्ण दिव्य लोकको अपनी अनुपम कान्तिसे आप्यायित (परिपुष्ट) करती रहती हैं। शेष और गरुड आदि समस्त पार्षदोंको विभिन्न अवस्थाओंमें भगवान्‌की आवश्यक सेवाके लिये आदेश देती रहती हैं। भगवान्‌के दोनों नेत्र तुरंतके खिले हुए कमलोंकी शोभाको तिरस्कृत करते हैं। उनके श्रीअङ्गोंका सुन्दर रंग निर्मल श्याम मेघसे भी अधिक मनोहर है। श्रीविग्रहपर पीले रंगका प्रकाशमान वस्त्र सुशोभित रहता है। भगवान् अपनी अत्यन्त निर्मल और अतिशय शीतल, कोमल, स्वच्छ माणिक्यकी-सी प्रभासे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रभावित करते हैं। वे अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत, नित्य-यौवन, स्वभाव और लावण्यमय अमृतके समुद्र हैं। अत्यन्त सुकुमारताके कारण उनका ललाट कुछ पसीनेकी बूँदोंसे विभूषित दिखायी देता है और वहाँतक फैली हुई उनकी दिव्य अलकें अपूर्व शोभा बढ़ाती हैं। भगवान्‌के मनोहर नेत्र विकसित कोमल कमलके सदृश मनोहर हैं। उनकी भ्रूलताकी भङ्गिमासे अद्भुत विभ्रम-विलासकी सृष्टि होती रहती है। उनके अरुण अधरोंपर उज्ज्वल हासकी छटा बिखरी रहती है। उनकी मन्द मुस्कान अत्यन्त पवित्र है। उनके कपोल कोमल और नासिका ऊँची है। ऊँचे और मांसल कंधोंपर लटकी हुई लटों और कुण्डलोंके कारण भगवान्‌की शङ्खसदृश ग्रीवा बड़ी सुन्दर दिखायी देती है। प्रियतमा लक्ष्मीके कानोंकी शोभा बढ़ानेवाले कमल, कुण्डल और शिथिल केशपाशोंके वेणीबन्धके विमर्दनको सूचित करनेवाली घुटनोंतक लंबी चार भुजाओंसे भगवान्‌के श्रीविग्रहकी अद्भुत शोभा है। उनकी हथेलियाँ अत्यन्त कोमल दिव्य रेखाओंसे अलङ्कृत और कुछ-कुछ लाल रंगकी हैं। अङ्गुलियोंमें दिव्य मुद्रिका शोभा देती है। अत्यन्त कोमल दिव्य नखावलीसे प्रकाशित लाल-लाल अङ्गुलियाँ उनके करकमलोंको अलंकृत करती हैं। उनके दोनों चरण तुरंतके खिले हुए कमलोंके सौन्दर्यको छीने लेते हैं। अत्यन्त मनोहर किरीट, मुकुट, चूडामणि, मकराकृत कुण्डल, कण्ठहार, केयूर, कंगन, श्रीवत्स चिह्न, कौस्तुभमणि, मुक्ताहार, कटिबन्ध, पीताम्बर, काञ्चीसूत्र और नूपुर आदि अत्यन्त सुखद स्पर्शवाले दिव्य गन्धयुक्त आभूषण भगवान्‌के श्रीअङ्गोंको विभूषित करते हैं। शोभाशालिनी वैजयन्ती वनमाला उनकी शोभा बढ़ाती है। शङ्ख, चक्र, गदा, खड्ग और शार्ङ्गधनुष आदि दिव्य

आयुध उनकी सेवा करते हैं। अपने संकल्पमात्रसे सम्पन्न होनेवाले संसारकी सृष्टि, पालन और संहार आदिके लिये भगवान्‌ने अपना समस्त ऐश्वर्य श्रीमान् विष्वक्सेनको अर्पित कर रखा है। जिनमें स्वभावसे ही समस्त सांसारिक भावोंका अभाव है, जो भगवान्‌की परिचर्या करनेके सर्वथा योग्य हैं तथा भगवान्‌की सेवा ही जिनका एकमात्र भोग है, वे गरुड़ आदि नित्यसिद्ध असंख्य पार्षद यथावसर श्रीभगवान्‌की सेवामें संलग्न रहते हैं। उनके द्वारा होनेवाले आत्मानन्दके अनुभवसे ही पर, परार्द्ध आदि कालका अनुसंधान होता रहता है। वे भगवान् अपनी दिव्य निर्मल और कोमल दृष्टिसे सम्पूर्ण विश्वको आह्लादित करते रहते हैं। भगवान् दिव्यलीला-सम्बन्धी अमृतमय वार्तालापसे सब लोगोंके हृदयको आनन्दसे परिपूर्ण करते रहते हैं। उस दिव्य लीलालापमें अत्यन्त मनोहर दिव्यभाव छिपा रहता है। उनके किंचित् खुले हुए मुखारविन्दके भीतरसे निकला हुआ वह अमृतमय वचन उनके दिव्य मुखकमलकी शोभा बढ़ाता है। उस वार्तालापको दिव्य गाम्भीर्य, औदार्य, सौन्दर्य और माधुर्य आदि अनन्त गुणसमुदाय विभूषित करते हैं। इस प्रकार ध्यानयोगके द्वारा भगवान् नारायणका दर्शन करके इस यथार्थ सम्बन्धका मन-ही-मन चिन्तन करे कि भगवान् मेरे नित्य स्वामी हैं और मैं उनका नित्य दास हूँ। मैं कब अपने कुलके स्वामी, देवता और सर्वस्व भगवान् नारायणका, जो मेरे भोग्य, मेरे माता, मेरे पिता और मेरे सब कुछ हैं, इन नेत्रोंद्वारा दर्शन करूँगा। मैं कब भगवान्‌के युगल चरणारविन्दोंको अपने मस्तकपर धारण करूँगा? कब वह समय आयेगा जब कि मैं भगवान्‌के दोनों चरणारविन्दोंकी सेवाकी आशासे अन्य सभी भोगोंकी आशा-अभिलाषा छोड़कर समस्त सांसारिक भावनाओंसे दूर हो भगवान्‌के युगलचरणारविन्दोंमें प्रवेश कर जाऊँगा। कब ऐसा सुयोग प्राप्त होगा जब मैं भगवान्‌के युगल चरण-कमलोंकी सेवाके योग्य होकर उन चरणोंकी आराधनामें ही लगा रहूँगा। कब भगवान् नारायण अपनी अत्यन्त शीतल दृष्टिसे मेरी ओर देखकर स्नेहयुक्त, गम्भीर एवं मधुर वाणी-द्वारा मुझे अपनी सेवामें लगनेका आदेश देंगे? इस प्रकार भगवान्‌की परिचर्याकी आशा-अभिलाषाको बढ़ाते हुए उसी आशासे, जो उन्हींके कृपाप्रसादसे निरन्तर बढ़ रही हो, भावनाद्वारा भगवान्‌के निकट पहुँचकर दूरसे ही भगवती लक्ष्मीके साथ शेषशय्यापर बैठे हुए और गरुड़ आदि पार्षदोंकी सेवा स्वीकार करते हुए भगवान्‌को 'समस्त परिवारसहित भगवान् श्रीनारायणको नमस्कार है' यों कहकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे। फिर बार-बार उठने और प्रणाम करनेके पश्चात् अत्यन्त भय और विनयसे नतमस्तक होकर खड़ा रहे। जब भगवान्‌के पार्षदगणोंके नायक द्वारपाल कृपा और स्नेहपूर्ण दृष्टिसे साधककी ओर देखें तो उन्हें भी विधिपूर्वक प्रणाम करे। फिर उन सबकी आज्ञा लेकर श्रीमूलमन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का जप करते हुए भगवान्‌के पास पहुँचे और यह याचना करे कि 'प्रभो! मुझे अपनी अनन्य नित्य सेवाके लिये स्वीकार कीजिये।' तदनन्तर पुनः प्रणाम करके भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर दे।

इसके बाद भगवान् स्वयं ही जब अपनेको जीवनदान देनेवाली मर्यादा और शीलसे युक्त अत्यन्त प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखकर सब देश, सब काल और सब अवस्थाओंमें उचित दासभावके लिये साधकको सदाके लिये स्वीकार कर लें और सेवाके लिये आज्ञा दे दें, तब वह अत्यन्त भय और विनयसे विनम्र होकर उनके कार्यमें संलग्न रहकर हाथ जोड़े हुए सदा भगवान्‌की उपासना करता रहे।

तदनन्तर भावविशेषका अनुभव होनेपर सर्वाधिक प्रीति प्राप्त होती है, जिससे साधक दूसरा कुछ भी करने, देखने या चिन्तन करनेमें असमर्थ हो जाता है। ऐसी दशामें वह पुनः दासभावकी ही याचना करते हुए निरन्तर अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे भगवान्‌की ही ओर देखता रहे। उसके बाद भगवान् स्वयं ही भक्तको जीवनदान करनेवाली अपनी कृपापूर्ण दृष्टिसे देखकर मंद मुस्कुराहटके साथ बुलाकर सब क्लेशोंको दूर करनेवाले और निरतिशय सुखकी प्राप्ति करानेवाले अपने युगल चरणारविन्दोंको मेरे मस्तकपर रख देंगे, ऐसा ध्यान करके आनन्दामृतमहासागरमें सम्पूर्णरूपसे निमग्न हो सुखी हो जाय।

(श्रीवैकुण्ठगद्य सम्पूर्ण)

श्रीराधाष्टकम्

(ॐ) नमस्ते श्रियै राधिकायै परायै नमस्ते नमस्ते मुकुन्दप्रियायै।
सदानन्दरूपे प्रसीद त्वमन्तःप्रकाशे स्फुरन्ती मुकुन्देन सार्धम् ॥ १ ॥
स्ववासोऽपहारं यशोदासुतं वा स्वदध्यादिचौरं समाराधयन्तीम्।
स्वदाम्नोदरं या बबन्धाशु नीव्या प्रपद्ये नु दामोदरप्रेयसीं ताम् ॥ २ ॥
दुराराध्यमाराध्य कृष्णं वशे त्वं महाप्रेमपूरेण राधाभिधाऽभूः।
स्वयं नामकृत्या हरिप्रेम यच्छ प्रपन्नाय मे कृष्णरूपे समक्षम् ॥ ३ ॥
मुकुन्दस्त्वया प्रेमदोरेण बद्धः पतङ्गो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन् कृपा वर्तते कारयातो मयेष्टिम् ॥ ४ ॥
व्रजन्तीं स्ववृन्दावने नित्यकालं मुकुन्देन सार्कं विधायाङ्कमालम्।
सदा मोक्ष्यमाणानुकम्पाकटाक्षैः श्रियं चिन्तयेत् सच्चिदानन्दरूपाम् ॥ ५ ॥
मुकुन्दानुरागेण रोमाञ्चिताङ्गीमहं व्याप्यमानां तनुस्वेदबिन्दुम्।
महाहार्दवृष्ट्या कृपापाङ्गदृष्ट्या समालोकयन्तीं कदा त्वां विचक्षे ॥ ६ ॥
पदाङ्कावलोके महालालसौघं मुकुन्दः करोति स्वयं ध्येयपादः।
पदं राधिके ते सदा दर्शयान्तर्हृदीतो नमन्तं किरद्रोचिषं माम् ॥ ७ ॥
सदा राधिकानाम जिह्वाग्रतः स्यात् सदा राधिका रूपमक्ष्यग्र आस्ताम्।
श्रुतौ राधिकाकीर्तिरन्तःस्वभावे गुणा राधिकायाः श्रिया एतदीहे ॥ ८ ॥
इदं त्वष्टकं राधिकायाः प्रियायाः पठेयुः सदैवं हि दामोदरस्य।
सुतिष्ठन्ति वृन्दावने कृष्णधाम्नि सखीमूर्तयो युग्मसेवानुकूलाः ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रविरचितं श्रीराधाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

[प्रेषक—ब्रह्मचारी श्रीनन्दकुमारशरणजी]

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

(ॐ) श्रीराधिके! तुम्हीं श्री (लक्ष्मी) हो, तुम्हें नमस्कार है, तुम्हीं पराशक्ति राधिका हो, तुम्हें नमस्कार है। तुम मुकुन्दकी प्रियतमा हो, तुम्हें नमस्कार है। सदानन्दस्वरूपे देवि! तुम मेरे अन्तःकरणके प्रकाशमें श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके साथ सुशोभित होती हुई मुझपर प्रसन्न होओ ॥ १ ॥ जो अपने वस्त्रका अपहरण करनेवाले अथवा अपने दूध-दही, माखन आदि चुरानेवाले यशोदानन्दन श्रीकृष्णकी आराधना करती हैं, जिन्होंने अपनी नीवीके बन्धनसे श्रीकृष्णके उदरको शीघ्र ही बाँध लिया था, जिसके कारण उनका नाम 'दामोदर' हो गया; उन दामोदरकी प्रियतमा श्रीराधा रानीकी मैं निश्चय ही शरण लेता हूँ ॥ २ ॥ श्रीराधे! जिनकी आराधना कठिन है, उन श्रीकृष्णकी भी आराधना करके तुमने अपने महान् प्रेमसिन्धुकी बाढ़से उन्हें वशमें कर लिया। श्रीकृष्णकी आराधनाके ही कारण तुम राधानामसे विख्यात हुईं। श्रीकृष्णस्वरूपे! अपना यह नामकरण स्वयं तुमने किया है, इसलिये अपने सम्मुख आये हुए मुझ शरणागतको श्रीकृष्णका प्रेम प्रदान करो ॥ ३ ॥ तुम्हारी प्रेमडोरीमें बँधे हुए भगवान् श्रीकृष्ण पतंगकी भाँति सदा तुम्हारे आस-पास ही चक्कर लगाते रहते हैं, हार्दिक प्रेमका अनुसरण करके तुम्हारे पास ही रहते और क्रीडा करते हैं। देवि! तुम्हारी कृपा अपार है, अतः मेरे द्वारा अपनी आराधना (सेवा) कराओ ॥ ४ ॥ जो प्रतिदिन नित्य समय श्रीश्यामसुन्दरके साथ [illegible] अपने वृन्दावनमें विहार करती हैं, [illegible] कृपा-कटाक्षोंसे सुशोभित उन सच्चिदानन्दस्वरूपा श्रीराधाका चिन्तन करे ॥ ५ ॥ श्रीराधे! तुम्हारा मन [illegible] श्रीकृष्णका प्रगाढ़ अनुराग [illegible] रोमाञ्चसे विभूषित है और अङ्ग-अङ्ग [illegible] बिन्दुओंसे सुशोभित होता है। तुम अपनी कृपा-कटाक्षपूर्ण दृष्टिसे [illegible]

देख रही हो; इस अवस्थामें मुझे कब तुम्हारा दर्शन होगा ? ॥ ६ ॥ श्रीराधिके ! यद्यपि श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण स्वयं ही ऐसे हैं कि उनके चारु-चरणोंका चिन्तन किया जाय, तथापि वे तुम्हारे चरण-चिह्नोंके अवलोकनकी बड़ी लालसा रखते हैं। देवि ! मैं नमस्कार करता हूँ। इधर मेरे अन्तःकरणके हृदय-देशमें ज्योति-पुञ्ज बिखेरते हुए अपने चिन्तनीय चरणारविन्दका मुझे दर्शन कराओ ॥ ७ ॥ मेरी जिह्वाके अग्रभागपर सदा श्रीराधिकाका नाम विराजमान रहे। मेरे नेत्रोंके समक्ष सदा श्रीराधाका ही रूप प्रकाशित हो। कानोंमें श्रीराधिकाकी कीर्ति-कथा गूँजती रहे और अन्तर्हृदयमें लक्ष्मीस्वरूपा श्रीराधाके ही असंख्य गुणगणोंका चिन्तन हो, यही मेरी शुभ कामना है ॥ ८ ॥ दामोदरप्रिया श्रीराधाकी स्तुतिसे सम्बन्ध रखनेवाले इन आठ श्लोकोंका जो लोग सदा इसी रूपमें पाठ करते हैं, वे श्रीकृष्णधाम वृन्दावनमें युगल सरकारकी सेवाके अनुकूल सखी-शरीर पाकर सुखसे रहते हैं ॥ ९ ॥

(श्रीराधाष्टक सम्पूर्ण)

प्रातःस्मरणस्तोत्रम्

प्रातः स्मरामि युगकेलिरसाभिषिक्तं वृन्दावनं सुरमणीयमुदारवृक्षम् ।
सौरीप्रवाहवृतमात्मगुणप्रकाशं युग्माङ्घ्रिरेणुकणिकाञ्चितसर्वसत्त्वम् ॥ १ ॥

प्रातः स्मरामि दधिघोषविनीतनिद्रं निद्रावसानरमणीयमुखानुरागम् ।
उन्निद्रपद्मनयनं नवनीरदाभं ह्यानवद्यललनाञ्चितवामभागम् ॥ २ ॥

प्रातर्भजामि शयनोत्थितयुग्मरूपं सर्वेश्वरं सुखकरं रसिकेशभूपम् ।
अन्योन्यकेलिरसचिह्नचमत्कृताङ्गं सख्यावृतं सुरतकाममनोहरं च ॥ ३ ॥

प्रातर्भजे सुरतसारपयोधिचिह्नं गण्डस्थलेन नयनेन च संदधानौ ।
रत्याद्यशेषशुभदौ समुपेतकामौ श्रीराधिकावरपुरन्दरपुण्यपुञ्जौ ॥ ४ ॥

प्रातर्धरामि हृदयेन हृदीक्षणीयं युग्मस्वरूपमनिशं सुमनोरमं च ।
लावण्यधाम ललनाभिरुपेयमानमुत्थाप्यमानमनुमेयमशेषवेदैः ॥ ५ ॥

प्रातर्व्रजामि युगलौ वपुषामरामौ राधामुकुन्दपशुपालसुतौ वरिष्ठौ ।
गोविन्दचन्द्रवृषभानुसुतावरिष्ठौ सर्वेश्वरौ स्वजनपालनतत्परेशौ ॥ ६ ॥

प्रातर्नमामि युगलाङ्घ्रिसरोजकोशमष्टाङ्गयुक्तवपुषा भवदुःखहारम् ।
वृन्दावने सुविचरन्तमुदारचिह्नं लक्ष्म्या उरोजधृतकुङ्कुमरागपुष्टम् ॥ ७ ॥

प्रातर्नमामि वृषभानुसुतापदाब्जं नेत्रालिभिः परिणुतं व्रजसुन्दरीणाम् ।
प्रेमातुरेण हरिणा सुविशारदेन श्रीमद्व्रजेशतनयेन सदाभिवन्द्यम् ॥ ८ ॥

सञ्चिन्तनीयमनुमृग्यमभीष्टदोहं संसारतापशमनं चरणं महार्हम् ।
नन्दात्मजस्य सततं मनसा गिरा च संसेवयामि वपुषा प्रणयेन रम्यम् ॥ ९ ॥

प्रातःस्तवमिमं पुण्यं प्रातरुत्थाय यः पठेत् । सर्वकालं क्रियास्तस्य सफलाः स्युः सदा ध्रुवाः ॥१०॥

॥ इति श्रीमन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रविरचितं श्रीप्रातःस्मरणस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

(प्रेषक—ब्रह्मचारी श्रीआनन्दकुमारशरणजी)

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

युगल सरकार नन्दनन्दन तथा वृषभानुनन्दिनीके प्रेम-रसमें जिसका अभिषेक होता रहता है, जो परम रमणीय है, जहाँके वृक्ष भी मनोवाञ्छित वस्तु देनेमें दक्ष होनेके कारण अत्यन्त उदार हैं, सूर्य-कन्या यमुनाके जल-प्रवाहने जिसे सब ओरसे घेर रखा है, जहाँका प्रत्येक जीव-जन्तु श्रीव्रजराजकिशोर-किशोरीकी चरणरेणुओंकी कणिकासे पूजित एवं धन्य-धन्य हो गया है; अपने अलौकिक गुणोंको प्रकाशित करनेवाले उसी श्रीवृन्दावनका मैं प्रातःकाल स्मरण करता हूँ ॥ १ ॥

मोरोंकी ऊँची कलरवकी आवाज सुनकर जिनकी निद्रा दूर हो गयी है, नींदसे उठनेपर जिनके मुखका रंग बहुत ही मनोहर दिखायी देता है, जो विकसित कमल-पुष्पके समान सुन्दर और विशाल नयन रखते हैं, श्रीअङ्गोंकी कान्ति नवीन जलधरके समान श्याम है; तथा जिनका वाम भाग मनोहर और अनिन्द्य सौन्दर्य-राशिसे सुशोभित गोपाङ्गनाद्वारा आलिङ्गित एवं पूजित है, उन श्रीश्यामसुन्दर श्रीकृष्णका मैं प्रातःकाल स्मरण करता हूँ ॥ २ ॥

युगल स्वरूप श्रीकिशोरी और नन्दनन्दन निकुञ्जमें सोकर उठे हैं, उनका एक-एक अङ्ग परस्परके प्रेम-मिलन-रससे चमत्कृत जान पड़ता है, मधुर मिलन-वासनासे उनका रूप और भी मनोहर हो उठा है, उन्हें सखियोंने सब ओरसे घेर रखा है, वे रसिकशेखरोंके राजा युगल सरकार सबके अधीश्वर तथा सभीको सुख देनेवाले हैं; मैं प्रातःकाल उन्हीं प्रिया-प्रियतमका भजन-ध्यान करता हूँ ॥ ३ ॥

जो अपने कपोलों और नयनोंके द्वारा प्रेममिलनके मार-भूत आनन्द-समुद्रमें अवगाहनके चिह्न धारण करते हैं, जो पूर्णकाम हैं तथा प्रेमी भक्तोंको माधुर्यरति आदि अशेष कल्याणमय वस्तुएँ देते हैं, उन श्रीराधिका तथा राधावल्लभ श्रीकृष्ण इन पुण्यपुञ्ज युगल दम्पतिका मैं प्रातःकाल भजन करता हूँ ॥ ४ ॥ जो हृदयमें निरन्तर दर्शन करने योग्य हैं, जिनकी झाँकी अत्यन्त मनोरम है, जो लावण्यके भण्डार हैं, असंख्य ललनाएँ जिनकी सेवामें उपस्थित होतीं और उठाती-बैठाती हैं, सभी वेदोंमें जिनका अनुमान हो सकता है, उन युगलस्वरूप श्रीराधा-कृष्णको मैं प्रातःकाल अपने हृदयमें धारण करता हूँ ॥ ५ ॥ जिनके श्रीअङ्ग देवताओंके समान तेजस्वी हैं, तथापि जो श्रेष्ठ ग्वालबालके रूपमें अवतीर्ण हो श्रीराधा और मुकुन्द नामसे विख्यात हैं, जो सबके ईश्वर हैं और स्वजनोंके पालनमें सदा तत्पर रहनेवाले हैं, उन श्री-कृष्णचन्द्र और वृषभानुनन्दिनी—युगल दम्पतिको मैं प्रातःकाल पुकारता हूँ ॥ ६ ॥ मैं प्रातःकाल किशोर किशोरी-के उन युगल चरणोंको साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ, जो कमल-कोशके समान कमनीय और सांसारिक दुःखको विदीर्ण करने-वाले हैं, जिनमें उदारतासूचक चिह्न अङ्कित हैं, जो वृन्दावनमें विचरते हैं और लक्ष्मीजीके उरोजोंमें लगे हुए केसरके राग-से परिपुष्ट होते हैं ॥ ७ ॥ परम चतुर व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीहरि प्रेमसे व्याकुल हो जिनकी सदा वन्दना किया करते हैं तथा व्रज-सुन्दरियोंके नेत्ररूपी भ्रमर जिनकी स्तुति करते हैं, वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके उन चरणारविन्दोंको मैं प्रातःकाल प्रणाम करता हूँ ॥ ८ ॥ जो सब प्रकारसे चिन्तन करने योग्य, श्रुतियोंके अनुसन्धानके विषय, मनोवाञ्छित वस्तु देने-वाले, संसार-तापको शान्त करनेवाले तथा बहुमूल्य हैं, नन्द-नन्दन श्रीकृष्णके उन रमणीय चरणोंका मैं सदा मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रेमपूर्वक सेवन करता हूँ ॥ ९ ॥ जो प्रातः-काल उठकर इस प्रातःस्मरण नामक पवित्र स्तोत्रका सदा पाठ करता है, उसकी सभी क्रियाएँ सदा सफल एवं अक्षय होती हैं ॥ १० ॥

(प्रातःस्मरणस्तोत्र सम्पूर्ण)

श्रीमधुराष्टकम्

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ १ ॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ २ ॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ३ ॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम्।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ४ ॥
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं स्मरणं मधुरम्।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ५ ॥

गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ६॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम्।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ७॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ८॥
॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यकृतं मधुराष्टकं सम्पूर्णम्॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है। उनके अधर मधुर हैं, मुख मधुर हैं, नेत्र मधुर हैं, हास्य मधुर है, हृदय मधुर है और गति भी अति मधुर है॥ १॥ उनके वचन मधुर हैं, चरित्र मधुर हैं, वस्त्र मधुर हैं, अङ्गभंगी मधुर है, चाल मधुर है और भ्रमण भी अति मधुर है, श्रीमधुराधिपतिका सब कुछ मधुर है॥ २॥ उनकी वेणु मधुर है, चरणरज मधुर है, करकमल मधुर हैं, चरण मधुर हैं, नृत्य मधुर है और सख्य भी अति मधुर है, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ३॥ उनका गान मधुर है, पान मधुर है, भोजन मधुर है, शयन मधुर है, रूप मधुर है और तिलक भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ४॥ उनका कार्य मधुर है, तैरना मधुर है, हरण मधुर है, स्मरण मधुर है, उद्गार मधुर है और शान्ति भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ५॥ उनकी गुञ्जा मधुर है, माला मधुर है, यमुना मधुर है, उसकी तरङ्गें मधुर हैं, उसका जल मधुर है और कमल भी अति मधुर हैं; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ६॥ गोपियाँ मधुर हैं, उनकी लीला मधुर है, उनका संयोग मधुर है, भोग मधुर है, निरीक्षण मधुर है और प्रसाद भी मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ७॥ गोप मधुर हैं, गौएँ मधुर हैं, लकुटी मधुर है, रचना मधुर है, दलन मधुर है और उसका फल भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ८॥

(श्रीमधुराष्टक समाप्त)

श्रीयमुनाष्टकम्

नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम्।
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्॥ १॥
कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता।
सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा मुकुन्दरतिवर्द्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता॥ २॥
भुवं भुवनपावनीमधिगतामनेकस्वनैः प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः।
तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुकां नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम्॥ ३॥
अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेवस्तुते घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे।
विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते कृपाजलधिसंश्रिते मम मनः सुखं भावय॥ ४॥
यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका समागमनतोऽभवत् सकलसिद्धिदा सेवताम्।
तया सदृशतामियात् कमलजा सपत्नीव यद्धरिप्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम्॥ ५॥
नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः।
यमोऽपि भगिनीसुतान् कथमु हन्ति दुष्टानपि प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर्यथा गोपिकाः॥ ६॥
ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये।
अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात् तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितैः॥ ७॥

स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्नि प्रिये हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः ।
इयं तव कथाधिका सकलगोपिकासङ्गमस्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः ॥ ८ ॥
तवाष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः ।
तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति स्वभावविजयो भवेद् वदति वल्लभः श्रीहरेः ॥ ९ ॥

॥ श्रीवल्लभाचार्यविरचित यमुनाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

मैं सम्पूर्ण सिद्धियोंकी हेतुभूता यमुनाजीको सानन्द नमस्कार करता हूँ, जो भगवान् मुरारिके चरणारविन्दोंकी चमकीली और अमन्द महिमावाली धूल धारण करनेसे अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हुई हैं और तटवर्ती नूतन काननोंके सुगन्धित पुष्पोंसे सुवासित जलराशिके द्वारा देव-दानव-वन्दित मदुम्नपिता भगवान् श्रीकृष्णकी श्याम सुषमाको धारण करती हैं ॥ १ ॥ कलिन्दपर्वतके शिखरपर गिरती हुई तीव्र वेगवाली जलधारामें जो अत्यन्त उज्ज्वल जान पड़ती हैं, लीलाविलासपूर्वक चलनेके कारण शोभायमान हैं, सामने प्रकट हुई चट्टानोंसे जिनका प्रवाह कुछ ऊँचा हो जाता है, गम्भीर गर्जनयुक्त गतिके कारण जिनमें ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं और ऊँचे-नीचे प्रवाहके द्वारा जो उत्तम झूलेपर झूलती हुई-सी प्रतीत होती हैं, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रगाढ़ अनुरागकी वृद्धि करनेवाली वे सूर्यसुता यमुना सर्वत्र विजयिनी हो रही हैं ॥ २ ॥ जो इस भूतलपर पधारकर समस्त भुवनको पवित्र कर रही हैं, शुक-मयूर और हंस आदि पक्षी भाँति-भाँतिके वचनोंद्वारा प्रिय सखियोंकी भाँति जिनकी सेवा कर रहे हैं, जिनकी तरङ्गरूपी भुजाओंके कङ्कणमें जड़े हुए मुक्तिरूपी मोतीके कण ही बालुका बनकर चमक रहे हैं तथा जो नितम्बसदृश तटोंके कारण अत्यन्त सुन्दर जान पड़ती हैं, उन श्रीकृष्णकी चौथी पटरानी श्रीयमुनाजीको नमस्कार करो ॥ ३ ॥ देवि यमुने ! तुम अनन्त गुणोंसे विभूषित हो । शिव और ब्रह्मा आदि देवता तुम्हारी स्तुति करते हैं । मेघोंकी गम्भीर घटाके समान तुम्हारी अङ्गकान्ति सदा श्याम है । ध्रुव और पराशर जैसे भक्तजनोंको तुम अभीष्ट वस्तु प्रदान करनेवाली हो । तुम्हारे तटपर विशुद्ध मथुरापुरी सुशोभित है । समस्त गोप और गोपसुन्दरियाँ तुम्हें घेरे रहती हैं । तुम करुणासागर भगवान् श्रीकृष्णके आश्रित हो । मेरे अन्तःकरणको सुखी बनाओ ॥ ४ ॥ भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंसे प्रकट हुई गङ्गा जिनसे मिलनेके कारण ही भगवान्को प्रिय हुई और अपने सेवकोंके लिये सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाली हो सकीं, उन यमुनाजीकी समता केवल लक्ष्मीजी कर सकती हैं और वह भी एक सपत्नीके सदृश । ऐसी महत्त्वशालिनी श्रीकृष्णप्रिया कलिन्दनन्दिनी यमुना सदा मेरे मनमें निवास करें ॥ ५ ॥ यमुने ! तुम्हें सदा नमस्कार है । तुम्हारा चरित्र अत्यन्त अद्भुत है । तुम्हारा जल पीनेसे कभी यमयातना नहीं भोगनी पड़ती है । अपनी सन्तानके पुत्र दुष्ट हों तो भी यमराज उन्हें कैसे मार सकते हैं । तुम्हारी सेवासे मनुष्य गोपाङ्गनाओंकी भाँति श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका प्रिय हो जाता है ॥ ६ ॥ श्रीकृष्णप्रिये यमुने ! तुम्हारे समीप मेरे शरीरका नवनिर्माण हो—मुझे नूतन शरीर धारण करनेका अवसर मिले । इतनेसे ही मुरारि श्रीकृष्णमें प्रगाढ़ अनुराग दुर्लभ नहीं रह जाता, अतः तुम्हारी अच्छी तरह स्तुति प्रशंसा होती रहे—तुम्हारा लाड़ लड़ाया जाय । तुमसे मिलनेके कारण ही देवनदी गङ्गा इस भूतलपर उत्कृष्ट बतायी गयी हैं; परन्तु पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंने तुम्हारे समागमके बिना केवल गङ्गाकी कभी स्तुति नहीं की है ॥ ७ ॥ लक्ष्मीकी सपत्नी हरिप्रिये यमुने ! तुम्हारी स्तुति कौन कर सकता है ? भगवान्की निरन्तर सेवासे मोक्षपर्यन्त सुख प्राप्त होता है; परन्तु तुम्हारे लिये विशेष महत्त्वकी बात यह है कि तुम्हारे जलका सेवन करनेसे सम्पूर्ण गोपसुन्दरियोंके साथ श्रीकृष्णके समागमसे जो प्रेमजनित अमित श्रमजलकण सम्पूर्ण अङ्गोंसे प्रकट होते हैं, उनका सम्पर्क सुलभ हो जाता है ॥ ८ ॥ सूर्यकन्ये यमुने ! जो तुम्हारी इस आठ श्लोकोंकी स्तुतिका प्रसन्नतापूर्वक सदा पाठ करता है, उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है और उसे भगवान् श्रीकृष्णका प्रगाढ़ प्रेम प्राप्त होता है । इससे ही समस्त सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं, भगवान् श्रीकृष्ण सन्तुष्ट होते हैं और स्वभावपर विजय प्राप्त हो जाती है । यह श्रीहरिके वल्लभ [illegible] ॥ ९ ॥

रोम-रोममें राम

श्रीहनुमान्‌जी

'जिस वस्तुमें राम-नाम नहीं, वह वस्तु तो दो कौड़ीकी भी नहीं। उसके रखनेसे लाभ ?' श्रीहनुमान्‌जीने अयोध्याके भरे दरबारमें यह बात कही।

स्वयं जानकीमैयाने बहुमूल्य मणियोंकी माला हनुमान्‌जीके गलेमें डाल दी थी। राज्याभिषेक-समारोहका यह उपहार था—सबसे मूल्यवान् उपहार। अयोध्याके रत्नभण्डारमें भी वैसी मणियाँ और नहीं थीं। सभी उन मणियोंके प्रकाश एवं सौन्दर्यसे मुग्ध थे। मर्यादापुरुषोत्तमको श्रीहनुमान्‌जी सबसे प्रिय हैं—सर्वश्रेष्ठ सेवक हैं पवनकुमार, यह सर्वमान्य सत्य है। उन श्रीआञ्जनेयको सर्वश्रेष्ठ उपहार प्राप्त हुआ—यह न आश्चर्यकी बात थी, न ईर्ष्याकी।

असूयाकी बात तो तब हो गयी जब हनुमान्‌जी अलग बैठकर उस हारकी महामूल्यवान् मणियोंको अपने दाँतोंसे पटापट फोड़ने लगे। एक दरबारी जौहरीने टोका, तो उन्हें बड़ा विचित्र उत्तर मिला।

'आपके शरीरमें राम-नाम लिखा है ?' जौहरीने कुढ़कर पूछा था। लेकिन मुँहकी खानी पड़ी उसे। हनुमान्‌जीने अपने वज्रनखसे अपनी छातीका चमड़ा उधेड़कर दिखा दिया। श्रीराम हृदयमें विराजित थे और रोम-रोममें राम लिखा था उन श्रीराम-दूतके।

'जिस वस्तुमें राम नहीं, वह वस्तु तो दो कौड़ीकी है। उसे रखनेसे लाभ। श्रीहनुमान्‌जीकी यह वाणी। उन केशरीकुमारका शरीर राम-नामसे ही निर्मित हुआ है। उनके रोम-रोममें राम-नाम अङ्कित है।

उनके वस्त्र, आभूषण, आयुध—सब राम-नामसे बने हैं। उनके कण-कणमें राम-नाम है। जिस वस्तुमें राम-नाम न हो, वह वस्तु उन पवनपुत्रके पास रह कैसे सकती है ?

राम-नाममय है श्रीहनुमान्‌जीका श्रीविग्रह—

राम माथ, मुकुट राम, राम सिर, नयन राम, राम कान, नासा राम, ठोढ़ी राम नाम है।
राम कंठ, कंध राम, राम भुजा बाजूबंद, राम हृदय अलंकार, हार राम नाम है॥
राम उदर, नाभि राम, राम कटी कटी-सूत्र, राम बसन, जंघ राम, जानु-पैर राम है।
राम मन, बचन राम, राम गदा, कटक राम, मारुति के रोम रोम व्यापक राम नाम है॥

रोम-रोममें राम

हरि सदा कीर्तनीय

कीर्तनीयः सदा हरिः

सबमें भगवान्‌को देखनेवाला तथा सदा भगवान्‌के नाम-गुणका कीर्तन करनेवाला भक्त कितना और कैसा विनम्र और सहिष्णु होता है, उसका स्वरूप श्रीचैतन्यमहाप्रभुने बतलाया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

तिनका सदा सबके पैरोंके नीचे पड़ा रहता है, वह कभी किसीके सिरपर चढ़नेकी आकांक्षा नहीं करता। हवा जिधर उड़ा ले जाय, उधर ही चला जाता है, पर भक्त तो अपनेको उस नगण्य तृणसे भी बहुत नीचा मानता है, वह जीवमात्रको भगवान् समझकर उनकी चरणधूलि लेता है, उन्हें दण्डवत्-प्रणाम करता है और उनकी सेवामें उनके इच्छानुसार लगा रहता है।

वृक्ष कड़ी धूप सहता है, आँधी और घनघोर वर्षाका आघात सहता है, काटने-जलानेवालेको भी छाया देता है, स्वयं कटकर लोगोंके घरोंकी चौखट, किंवाड़, शहतीर, खंभे बनकर उनको आश्रय और रक्षा देता है, जलकर भोजन बनाता है, यज्ञ सम्पन्न करता है, मरे हुएको भी जलाकर उसके अन्त्येष्टि संस्कारमें अपनेको होम देता है। सभीको अपने पुष्पोंकी सुगन्धि देता है, पत्थर मारकर चोट पहुँचानेवालोंको पके फल देता है। इसी प्रकार भक्त संत भी अपना अपकार करनेवालेको अपना सर्वस्व देकर लाभ पहुँचाता है।

मान मीठा विष है, इसे बड़े चावसे प्रायः सभी पीते हैं। संसारके पद-परिवार और धन-सम्पत्तिका परित्याग करनेवाले भी मानके भूखे रहा करते हैं; परंतु भक्त स्वयं अमानी रहकर जिनको कोई मान नहीं देता, उनको भी मान देता है।

सदा कीर्तन करनेयोग्य कुछ है तो वह भगवान्‌का नाम-गुण ही है, भक्त सदा कीर्तन करता है। और उस कीर्तनके प्रभावसे उसमें उपर्युक्त दैन्य आ जाता है अथवा उपर्युक्त दैन्यके प्रभावसे ही वह सदा कीर्तन करनेयोग्य होता है। दोनोंमें अन्योन्याश्रय है। इस चित्रमें देखिये—

भक्त—नगण्य तृणको भी अपने दाँतोंमें दबा कर उनका सम्मान कर रहा है।

वृक्ष—घाम-वर्षा सहकर, कटकर और पत्थर मारनेवालेको भी मधुर फल देकर भक्तका आदर्श उपस्थित कर रहा है।

भक्त—स्वयं अमानी होकर मानहीनको मान दे रहा है और भक्त—श्रीहरिके कीर्तनरंगमें मग्न होकर नृत्य कर रहा है।

बालबोधः

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसंग्रहम्। बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम्॥ १॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम्। जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः॥ २॥
अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः। लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया॥ ३॥
लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः। धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात्॥ ४॥
त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते। मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः॥ ५॥
द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ। त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः॥ ६॥
अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहंकृतौ। स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते॥ ७॥
तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता। ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः॥ ८॥
अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि। यमादयस्तु कर्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता॥ ९॥
पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते। ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते॥ १०॥
ते सर्वार्था न चाद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम्। अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ॥ ११॥
वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ। ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ॥ १२॥
निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता। भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि॥ १३॥
भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः। लोकेऽपि यत् प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित्॥ १४॥
अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि। नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः॥ १५॥
प्रत्येकं साधनं चैतद् द्वितीयार्थे महान् श्रमः। जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा॥ १६॥
श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति। मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा॥ १७॥
समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्। अतदीयतया चापि केवलश्चेत् समाश्रितः॥ १८॥
तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत्। स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा॥ १९॥
इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः।

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितो बालबोधः सम्पूर्णः॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

मैं सदानन्दस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार करके बालबुद्धि पुरुषोंके बोधके लिये अच्छी तरह निश्चय किये हुए सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका संक्षिप्त संग्रह बता रहा हूँ॥ १॥ मनीषी पुरुषोंके मतमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षनामक चार पुरुषार्थ हैं। वे जीव और ईश्वरके विचारसे दो प्रकारके निश्चित किये गये हैं (अर्थात् एक तो ईश्वरद्वारा विचारित पुरुषार्थ हैं, दूसरे जीवद्वारा विचारित)॥ २॥ ईश्वरद्वारा विचारित पुरुषार्थ अलौकिक माने गये हैं। उनका साध्य-साधनसहित वर्णन वेदोंमें किया गया है। भगवान्‌की ही आज्ञासे महर्षियोंने जिन पुरुषार्थोंका वर्णन किया है, वे लौकिक कहे गये हैं॥ ३॥ मैं यहाँ लौकिक पुरुषार्थोंका वर्णन करूँगा; क्योंकि अलौकिक पुरुषार्थोंकी प्रसिद्धि वेदसे ही होती है। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और कामशास्त्र—ये क्रमशः धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंके साधक हैं। अतः इनका निर्णय यहाँ नहीं किया जाता है॥ ४॥ लौकिक मोक्षके प्रतिपादनके लिये चार शास्त्र हैं। एक तो दूसरेकी कृपासे मोक्ष प्राप्त करना, दूसरे स्वयं प्रयत्न करके मुक्त होना—ये मोक्षके दो भेद हैं। इन दोनोंके ही दो-दो भेद और हैं। स्वयं अपने प्रयत्नसे जो मोक्ष प्राप्त किया जाता है, उसके साधक दो शास्त्र बताये गये हैं—सांख्य और योग। एकमें त्यागका उपदेश है और दूसरेमें त्याग न करनेका। इस भेदसे ही ये दोनों शास्त्र भिन्न हैं। सांख्यमें त्यागका प्रतिपादन किया गया है। उसमें अहंता और ममताका नाश हो जानेपर सर्वथा अहंकार-शून्यताकी स्थितिमें आकर जब जीव अपने स्वरूपमें स्थि-

होता है, तब उसे कृतार्थ या कृतकृत्य कहते हैं ॥ ५-७ ॥ इसके लिये ऋषियोंने पुराणोंमें भी कोई-कोई प्रक्रिया बतायी है। यह प्रक्रिया अनेक प्रकारकी कही गयी है तो भी अन्तरङ्ग साधन होनेके कारण सबका फल एक है ॥ ८ ॥ त्याग न करनेके पक्षमें योगमार्गका साधन है। उसमें यदि कहीं कोई त्याग बताया भी गया है तो वह मनके द्वारा ही करने योग्य है। योगमार्गमें यम-नियम आदि जो आठ अङ्ग या साधन हैं, वे पालन करने योग्य ही हैं, त्याज्य नहीं हैं। उनके अनुष्ठानसे योगके सिद्ध होनेपर कृतकृत्यता प्राप्त होती है ॥ ९ ॥ दूसरेके आश्रयसे जो मोक्ष प्राप्त होता है, उसका भी दो प्रकारसे निरूपण किया जाता है—(एक तो भगवान विष्णुके आश्रयसे प्राप्त होनेवाला मोक्ष है और दूसरा भगवान शिवके आश्रयसे)। ब्रह्माजी ब्राह्मणत्वको प्राप्त हैं, अतः ब्राह्मणरूपसे ही उनकी आराधना की जाती है ॥१०॥ पूर्वोक्त सारे पुरुषार्थ आदिदेव ब्रह्माजीके द्वारा नहीं प्राप्त हो सकते। उन्होंने उन पुरुषार्थोंकी प्राप्तिके लिये कुछ शास्त्रोंका वर्णन किया है। अतः भगवान् शिव और विष्णु—ये दो ही जगत्के लिये परम हितकारक हैं ॥ ११ ॥ प्रत्येक वस्तुका संरक्षण और संहार—ये दो उनके कार्य हैं। वे दोनों ही शास्त्रोंके प्रवर्तक हैं। ब्रह्म ही सर्वस्वरूप है; अतः सर्वस्वरूप होनेके कारण वे दोनों (शिव और विष्णु) ब्रह्मस्वरूप ही कहे गये हैं ॥ १२ ॥ उन-उन शास्त्रों (शिव-पुराण, विष्णु-पुराण आदि) में उन दोनोंको निर्दोष और सर्वसद्गुणसम्पन्न बताया गया है। यद्यपि वे दोनों ही भोग और मोक्षरूप फल देनेमें समर्थ हैं, तथापि भोग तो शिवसे और मोक्ष भगवान् विष्णुसे प्राप्त होता है—यही निश्चय किया गया है। लोकमें भी यह प्रसिद्ध है कि स्वामी जिस वस्तुका स्वयं उपभोग करता है, उसे कभी दूसरेको नहीं देता। (विष्णु महान् ऐश्वर्यका स्वयं उपभोग करते हैं, अतः वे भक्तको मोक्ष देते हैं और शिव मोक्ष सुखका अनुभव करनेवाले हैं; अतः वे भक्तजनोंको ऐश्वर्य-भोग प्रदान करते हैं) ॥ १३ १४ ॥ अत्यन्त प्रिय व्यक्तिको अपने उपयोगकी वस्तु भी दी जाती है, किंतु ऐसा कहीं कदाचित् ही होता है। अपने इष्टदेवको नियत वस्तु समर्पित करके उन्हींका बनकर रहना उनका आश्रय लेना कहा गया है। भोग और मोक्षके लिये क्रमशः भगवान् शिव और भगवान् विष्णुका आश्रय ही साधन है। परंतु द्वितीय पुरुषार्थको अर्थात् भगवान् विष्णुको भोग देनेमें तथा भगवान् शिवको मोक्ष देनेमें महान् श्रम होता है। जीव स्वभावसे ही अनेक प्रकारके दोषोंसे युक्त हैं। उन दोषोंकी निवृत्तिके लिये सदा प्रेमपूर्वक श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति करनी चाहिये। उससे सब कार्य सिद्ध होता है। मोक्ष तो श्रीविष्णुसे सुलभ होता है और भोग शिवसे ॥ १५-१७ ॥ भगवानको आत्मसमर्पण करनेसे निश्चय ही तदीयता (मैं भगवान्का हूँ इस विश्वास) की प्राप्ति होती है। यदि मैं भगवान्का हूँ, इस सुदृढ भावनाके बिना केवल आश्रय ग्रहण किया गया हो तो भगवान् ही मेरे आश्रय हैं और मैं भगवान्का हूँ, इस भावकी अनुभूतिके लिये स्वधर्मका पालन करते हुए कुछ साधन करे। अन्यथा दूना भार चढ़ जाता है ॥ १८ ॥ इस प्रकार सब सिद्धान्त यहाँ बताया गया है। इसे अच्छी तरह समझ लेनेपर पुनः भ्रम होनेकी सम्भावना नहीं रहती ॥ १९ ॥

(बालबोध सम्पूर्ण)

सिद्धान्तमुक्तावली

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्। कृष्णसेवा   । सा परा मता ॥ १ ॥

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै   निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥

परं ब्रह्म तु कृष्णो   तस्माद् विलक्षणम् ॥ ३ ॥

अपरं   चेति नैकधा ॥ ४ ॥

तदेवै   यं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥

ग ब्रह्मापि पुष्यताम् ॥ ६ ॥

प्रवादाभिरबुद्धये ॥ ७ ॥

ते ॥ ८ ॥

यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् । यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥
जगत् तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः । देवतारूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥१०॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा । परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥११॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् । आत्मनि ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतना ॥१२॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने । गङ्गातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति ॥१३॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति । संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥१४॥
अपेक्षितजलादीनामभावात् तत्र दुःखभाक् । तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥१५॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् । लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥१६॥
क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा । ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु ॥१७॥
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः । अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥१८॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति । ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥१९॥
भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः । अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात् स्थानाच्च नश्यति ॥२०॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् । एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥२१॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

मैं श्रीहरिको नमस्कार करके अपने सिद्धान्तके विशेष निश्चयका वर्णन करूँगा । सदा भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये । वह सेवा यदि मानसी हो (मनके द्वारा की गयी हो) तो सबसे उत्तम मानी गयी है ॥ १ ॥ चित्तको भगवान्‌के चिन्तनमें लगाये रखना मानसी सेवा है । इसकी सिद्धिके लिये तनुजा (शरीरसे होनेवाली) और वित्तजा (धनसे सम्पन्न होनेवाली) भगवत्सेवा करनी चाहिये । उस सेवासे संसार-दुःखकी निवृत्ति हो जाती है और परब्रह्म परमात्माका यथार्थ बोध प्राप्त होता है ॥ २ ॥ वह सच्चिदानन्द-स्वरूप व्यापक परब्रह्म साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं । उस व्यापक ब्रह्मके दो रूप हैं—एक तो सर्वजगत्स्वरूप अक्षर ब्रह्म है और दूसरा उससे विलक्षण (परब्रह्म) है ॥ ३ ॥ पूर्वोक्त विश्वरूप ब्रह्मके विषयमें बहुत से वादियोंका कहना है कि अक्षर ब्रह्म 'मायिक', 'सगुण', 'कार्य' और 'स्वतन्त्र' आदि* भेदोंसे अनेक प्रकारका है ॥ ४ ॥ वह ब्रह्म ही इस जगत्‌के रूपमें प्रकट होता है, यह वेदका मत है । गङ्गाजीके समान ब्रह्मके भी दो रूप जानने चाहिये । (एक जगत्‌रूप और दूसरा अक्षरब्रह्मरूप) । जैसे गङ्गा एक तो जलरूपिणी हैं और दूसरी अनन्त माहात्म्यसे युक्त सच्चिदानन्दमयी देवी हैं, जो मर्यादा-मार्गकी विधिसे सेवा या उपासना करनेवाले मनुष्योंको भोग एवं मोक्ष प्रदान करती हैं (पहला उनका आधिभौतिक रूप है और दूसरा आधिदैविक)। इसी प्रकार ब्रह्मके विषयमें भी जानना चाहिये ॥ ५-६ ॥ उन जलरूपिणी गङ्गामें ही देवीस्वरूपा गङ्गाकी भी स्थिति है, जो विशेष भक्तिमान् होनेपर कभी-कभी किसीको प्रत्यक्ष दर्शन देती हैं । गङ्गाके जलप्रवाहसे अपनी अभिन्नताका बोध करानेके लिये ही वे वहाँ दर्शन देती हैं ॥ ७ ॥ वे देवी स्वरूपा गङ्गा सबको प्रत्यक्ष नहीं होतीं, तो भी गङ्गाजलमें भक्तिभावपूर्वक स्नान आदि करनेसे उन्हींके द्वारा भक्तोंके अभीष्ट मनोरथकी पूर्ति होती है । इस प्रकार शास्त्रोक्त फलकी प्राप्ति और प्रतीतिसे भी यह गङ्गाजीका जल अन्य साधारण जलकी अपेक्षा विशिष्ट महत्त्व रखता है ॥ ८ ॥ जैसे गङ्गाजी का जल है, वैसे सम्पूर्ण जगत् है (यह गङ्गाका आधिभौतिक

* शङ्कर वेदान्तके अनुसार [illegible] ब्रह्मके [illegible] मायिक [illegible] है । [illegible] सगुण [illegible] है [illegible] कार्य [illegible] स्वतन्त्र [illegible]

[illegible] सांख्य [illegible] प्रकार [illegible] बताया गया है ।

रूप है और यह ब्रह्मका)। जैसे शक्तिशालिनी तीर्थस्वरूपा गङ्गा हैं, वैसे ही ब्रह्म है (वह गङ्गाका व्यापक रूप है और यह ब्रह्मका)। और जैसे देवीस्वरूपा गङ्गा हैं, वैसे ही यहाँ श्रीकृष्ण कहे गये हैं (वह गङ्गाका परम मनोहर सगुण साकार विग्रह है और यह ब्रह्मका) ॥ ९ ॥ सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे जगत् तीन प्रकारका बताया गया है; अतः उन तीनोंके अधिदैवतारूपसे विष्णु, ब्रह्मा और शिवका प्रतिपादन किया गया है। जैसे शरीरमें आत्मा है, उसी प्रकार ब्रह्ममें श्रीकृष्णकी स्थिति मानी गयी है ॥ १० ॥ इस लोकमें इच्छानुसार भोगोंकी प्राप्ति तो ब्रह्मा आदि देवताओंसे ही होती है, और किसी प्रकारसे नहीं होती। परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं। अतः अपने भीतर परमानन्दकी उपलब्धि उन्हींसे होती है, यह सिद्धान्त है ॥ ११ ॥ अतः ब्रह्मवाद (शुद्धाद्वैतवाद) के द्वारा अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा श्रीकृष्णमें मन-बुद्धिको लगाओ। जैसे जितने भी छिद्र या अवकाश हैं वे आकाशमें ही स्थित हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण चेतन (जीवात्मा) सर्वात्मा ब्रह्मरूप श्रीकृष्णमें ही स्थित हैं ॥ १२ ॥ जैसे गङ्गाजीके तटपर रहता हुआ गङ्गाजीका उपासक उनके जल-प्रवाहमें देवीस्वरूपा गङ्गाका दर्शन प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार उपाधिनाश होनेपर जब विज्ञानका उदय होता है और सबकी ब्रह्मरूपताका बोध हो जाता है, उस समय ज्ञानी भक्त अपने भीतर परब्रह्म श्रीकृष्णका साक्षात्कार कर लेता है। जो संसारमें आसक्त रहकर भजन करता है, वह गङ्गाजीसे दूर रहनेवाले उपासककी भाँति प्रभुसे दूर रहकर अपेक्षित गङ्गा-जल आदि साधनोंके अभावमें दुःखका भागी होता है। अतः श्रीकृष्णके मार्गमें स्थित उपासकको चाहिये कि वह सब लोगोंके सम्पर्कसे अलग रहकर आत्मानन्द-समुद्रमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णका ही विशेष चिन्तन करे। यदि कोई लौकिक पदार्थोंकी इच्छा रखकर श्रीकृष्णका भजन करे तो वह सब प्रकारसे क्लेशका भागी होता है ॥ १३-१६ ॥ यदि क्लेशमें पड़ा हुआ मनुष्य भी श्रीकृष्णका भजन करे तो उसकी लोकासक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। पुष्टिमार्गपर चलनेवाला पुरुष ज्ञानके अभावमें भगवान्‌की पूजा तथा भगवत्सम्बन्धी उत्सव आदिमें संलग्न रहे ॥ १७ ॥ मर्यादा-मार्गपर चलनेवाले भक्तको तो गङ्गाजीके तटपर रहकर श्रीमद्भागवतके स्वाध्याय एवं भगवद्भक्त पुरुषोंके सत्सङ्गमें लगे रहना चाहिये। पुष्टिमार्गमें केवल श्रीभगवान्‌का अनुग्रह नियामक है (अतः उसे भगवत्कृपाका ही आशा-भरोसा रखकर भजनमें लगे रहना चाहिये)—यही व्यवस्था है ॥ १८ ॥ मर्यादा और पुष्टि—दोनों मार्गोंमें (अथवा ज्ञानी और भक्त—दोनोंके लिये) क्रमशः पूर्वोक्त भक्ति या मानसिक सेवा ही फल देनेवाली होगी; इसलिये यहाँ ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है, इस बातका निरूपण किया गया है ॥ १९ ॥ भक्तिके अभावमें मनुष्य अपने दुष्कर्मोंद्वारा अन्यथा भावको प्राप्त होकर उत्तम स्थानसे भ्रष्ट हो जाता है—ठीक वैसे ही, जैसे गङ्गाजीके तटपर स्थित रहनेवाला पुरुष यदि गङ्गामें उसकी आन्तरिक भक्ति न हो तो दुष्टतापूर्ण कर्मोंद्वारा पाखण्ड आदिको प्राप्त हो पवित्र स्थानसे नीचे गिर जाता है ॥ २० ॥ इस प्रकार मैंने अपने शास्त्रके सर्वस्व सारभूत गूढ सिद्धान्तका निरूपण किया है। इसे जान लेनेपर मनुष्य सब प्रकारके संशयसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

॥ सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्ण ॥

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्। जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥ १ ॥
वक्ष्यामि सर्वसंदेहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः। भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥
द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः। वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥ ३ ॥
कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात्। सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ ४ ॥
न सर्वोऽतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः। यदा यस्येति वचनान्नाहं वेदैरितीरणात् ॥ ५ ॥
मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ। न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥ ६ ॥
जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यताश्रुतेः। यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥ ७ ॥
प्रमाणभेदाद् भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः। सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥ ८ ॥

यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्। यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९॥
जगत् तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः। देवतारूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥१०॥
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा। परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥११॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्। आत्मनि ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतना ॥१२॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने। गङ्गातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति ॥१३॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति। संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥१४॥
अपेक्षितजलादीनामभावात् तत्र दुःखभाक्। तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥१५॥
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्। लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥१६॥
क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा। ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु ॥१७॥
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः। अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥१८॥
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति। ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ॥१९॥
भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः। अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात् स्थानाच्च नश्यति ॥२०॥
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्। एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥२१॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

मैं श्रीहरिको नमस्कार करके अपने सिद्धान्तके विशेष निश्चयका वर्णन करूँगा। सदा भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये। वह सेवा यदि मानसी हो (मनके द्वारा की गयी हो) तो सबसे उत्तम मानी गयी है ॥ १ ॥ चित्तको भगवान्के चिन्तनमें लगाये रखना मानसी सेवा है। इसकी सिद्धिके लिये तनुजा (शरीरसे होनेवाली) और वित्तजा (धनसे सम्पन्न होनेवाली) भगवत्सेवा करनी चाहिये। उस सेवासे संसार-दुःखकी निवृत्ति हो जाती है और परब्रह्म परमात्माका यथार्थ बोध प्राप्त होता है ॥ २ ॥ वह सच्चिदानन्द-स्वरूप व्यापक परब्रह्म साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं। उस व्यापक ब्रह्मके दो रूप हैं—एक तो सर्वजगत्स्वरूप अपर ब्रह्म है और दूसरा उससे विलक्षण (परब्रह्म) है ॥ ३ ॥ पूर्वोक्त विश्वरूप ब्रह्मके विषयमें बहुत-से वादियोंका कहना है कि अपर ब्रह्म 'मायिक', 'सगुण', 'कार्य' और 'स्वतन्त्र' आदि* भेदोंसे अनेक प्रकारका है ॥४॥ वह ब्रह्म ही इस जगत्के रूपमें प्रकट होता है, यह वेदका मत है। गङ्गाजीके समान ब्रह्मके भी दो रूप जानने चाहिये। (एक जगत्रूप और दूसरा अक्षरब्रह्मरूप)। जैसे गङ्गा एक तो जलरूपिणी हैं और दूसरी अनन्त माहात्म्यसे युक्त सच्चिदानन्दमयी देवी हैं, जो मर्यादा-मार्गकी विधिसे सेवा या उपासना करनेवाले मनुष्योंको भोग एवं मोक्ष प्रदान करती हैं (पहला उनका आधिभौतिक रूप है और दूसरा आधिदैविक)। इसी प्रकार ब्रह्मके विषयमें भी जानना चाहिये ॥ ५-६ ॥ उन जलरूपिणी गङ्गामें ही देवीस्वरूपा गङ्गाकी भी स्थिति है, जो विशेष भक्तिभाव होनेपर कभी-कभी किसीको प्रत्यक्ष दर्शन देती हैं। गङ्गाके जलप्रवाहसे अपनी अभिन्नताका बोध करानेकेलिये ही वे वहाँ दर्शन देती हैं ॥ ७ ॥ वे देवी-स्वरूपा गङ्गा सबको प्रत्यक्ष नहीं होतीं, तो भी गङ्गाजलमें भक्तिभावपूर्वक स्नान आदि करनेसे उन्हींके द्वारा भक्तोंके अभीष्ट मनोरथकी पूर्ति होती है। इस प्रकार शास्त्रोक्त फलकी प्राप्ति और प्रतीतिसे भी वह गङ्गाजीका जल अन्य साधारण जलकी अपेक्षा विशिष्ट महत्त्व रखता है ॥ ८ ॥ जैसे गङ्गाजी-का जल है, वैसे सम्पूर्ण जगत् है (वह गङ्गाका आधिभौतिक

* शाङ्कर वेदान्तके अनुसार सबके अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें मायासे जगत्की प्रतीति हो रही है; इसलिये सारा दृश्य प्रपञ्च 'मायिक' है। सांख्यवादी इसे त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका कार्य बताते हैं; अतः उनके मतानुसार यह 'सगुण' है। नैयायिकोंके मतमें जगत् 'कार्य' है, और ईश्वर कर्ता। मीमांसकोंकी मान्यताके अनुसार यह जगत् अनादि कालसे यों ही चला आ रहा है; अतः वे इसे नित्यसिद्ध कार्य न मानकर 'स्वतन्त्र' कहते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य दार्शनिक भी 'जगत्' के सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारकी धारणाएँ रखते हैं; इसीलिये यहाँ इसे अनेक प्रकारका बताया गया है।

रूप है और यह ब्रह्मका)। जैसे शक्तिशालिनी तीर्थस्वरूपा गङ्गा हैं, वैसे ही ब्रह्म है (यह गङ्गाका व्यापक रूप है और यह ब्रह्मका)। और जैसे देवीस्वरूपा गङ्गा हैं, वैसे ही यहाँ श्रीकृष्ण कहे गये हैं (वह गङ्गाका परम मनोहर सगुण साकार विग्रह है और यह ब्रह्मका) ॥ ९ ॥ सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे जगत् तीन प्रकारका बताया गया है; अतः उन तीनोंके अधिदेवतारूपसे विष्णु, ब्रह्मा और शिवका प्रतिपादन किया गया है। जैसे शरीरमें आत्मा है, उसी प्रकार ब्रह्ममें श्रीकृष्णकी स्थिति मानी गयी है ॥ १० ॥ इस लोकमें इच्छानुसार भोगोंकी प्राप्ति तो ब्रह्मा आदि देवताओंसे ही होती है, और किसी प्रकारसे नहीं होती। परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं। अतः अपने भीतर परमानन्दकी उपलब्धि उन्हींसे होती है, यह सिद्धान्त है ॥ ११ ॥ अतः ब्रह्मवाद (शुद्धाद्वैतवाद) के द्वारा अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा श्रीकृष्णमें मन-बुद्धिको लगाओ। जैसे जितने भी छिद्र या अवकाश हैं वे आकाशमें ही स्थित हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण चेतन (जीवात्मा) सर्वात्मा ब्रह्मरूप श्रीकृष्णमें ही स्थित हैं ॥ १२ ॥ जैसे गङ्गाजीके तटपर खड़ा हुआ गङ्गाजीका उपासक उनके जल-प्रवाहमें देवीस्वरूपा गङ्गाका दर्शन प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार उपाधिनाश होनेपर जब विज्ञानका उदय होता है और सबकी ब्रह्मरूपताका बोध हो जाता है, उस समय ज्ञानी भक्त अपने भीतर परब्रह्म श्रीकृष्णका साक्षात्कार कर लेता है। जो संसारमें आसक्त रहकर भजन करता है, वह गङ्गाजीसे दूर रहनेवाले उपासककी भाँति प्रभुसे दूर रहकर अपेक्षित गङ्गाजल आदि साधनोंके अभावसे दुःखका भागी होता है। अतः श्रीकृष्णके मार्गमें स्थित उपासकको चाहिये कि वह सब लोगोंके सम्पर्कसे अलग रहकर आत्मानन्द-समुद्रमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णका ही विशेष चिन्तन करे। यदि कोई लौकिक पदार्थोंकी इच्छा रखकर श्रीकृष्णका भजन करे तो वह सब प्रकारसे क्लेशका भागी होता है ॥ १३-१६ ॥ यदि क्लेशमें पड़ा हुआ मनुष्य भी श्रीकृष्णका भजन करे तो उसकी लोकासक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। पुष्टिमार्गपर चलनेवाला पुरुष ज्ञानके अभावमें भगवान्‌की पूजा तथा भगवत्सम्बन्धी उत्सव आदिमें संलग्न रहे ॥ १७ ॥ मर्यादामार्गपर चलनेवाले भक्तको तो गङ्गाजीके तटपर रहकर श्रीमद्भागवतके स्वाध्याय एवं भगवद्भक्त पुरुषोंके सत्सङ्गमें लगे रहना चाहिये। पुष्टिमार्गमें केवल श्रीभगवान्‌का अनुग्रह नियामक है (अतः उसे भगवत्कृपाका ही आशा-भरोसा रखकर भजनमें लगे रहना चाहिये)—यही व्यवस्था है ॥ १८ ॥ मर्यादा और पुष्टि—दोनों मार्गोंमें (अथवा ज्ञानी और भक्त—दोनोंके लिये) क्रमशः पूर्वोक्त भक्ति या मानसिक सेवा ही फल देनेवाली होगी; इसलिये यहाँ ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है, इस बातका निरूपण किया गया है ॥ १९ ॥ भक्तिके अभावमें मनुष्य अपने दुष्कर्मोंद्वारा अन्यथा भावको प्राप्त होकर उत्तम स्थानसे भ्रष्ट हो जाता है—ठीक वैसे ही, जैसे गङ्गाजीके तटपर स्थित रहनेवाला पुरुष यदि गङ्गामें उसकी आन्तरिक भक्ति न हो तो दुष्टतापूर्ण कर्मोंद्वारा पाखण्ड आदिको प्राप्त हो पवित्र स्थानसे नीचे गिर जाता है ॥ २० ॥ इस प्रकार मैंने अपने शास्त्रके सर्वस्व सारभूत गूढ सिद्धान्तका निरूपण किया है। इसे जान लेनेपर मनुष्य सब प्रकारके भयसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

॥ सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्ण ॥

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः

पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्। जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥ १ ॥
वक्ष्यामि सर्वसंदेहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः। भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥
द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः। वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता ॥ ३ ॥
कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात्। सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ ४ ॥
न सर्वोऽतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः। यदा यदेति वचनान्नाहं वेदैरितीरणात् ॥ ५ ॥
मार्गैकत्वेऽपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ। न तद्युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥ ६ ॥
जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यताश्रुतेः। यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥ ७ ॥
प्रमाणभेदाद् भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः। सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥ ८ ॥

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः । वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥ ९ ॥
मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च । कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकधा ॥१०॥
तानहं द्विषतो वाक्याद् भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः । अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥
तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः । भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥
स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च । तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥१३॥
तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि । ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥१४॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये । पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥१५॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः । एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते ॥१६॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि । गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥१७॥
आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् । अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥१८॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवाः । महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥१९॥
भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि । लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा ॥२०॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः । सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥२१॥
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु । क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् । प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥२३॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिताः । ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥२४॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः । प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थैस्तैर्न युज्यते ॥२५॥
सोऽपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितः पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः सम्पूर्णः ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

अब मैं जीव, शरीर और क्रियाओंके भेद, प्रवाह तथा फलका निरूपण करते हुए पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा—इन तीनों मार्गोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करूँगा । साथ ही यह भी बताऊँगा कि ये तीनों मार्ग एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, जिसके श्रवण करने मात्रसे सब प्रकारके संदेह दूर हो जायँगे । शास्त्रोंमें भक्तिमार्गका प्रतिपादन होनेसे पुष्टिमार्गकी सत्ताका निश्चय होता है ॥ १—२ ॥ श्रीमद्भगवद्गीतामें 'द्वौ भूतसर्गौ' इत्यादि श्लोकके द्वारा दैवी और आसुरी—दो अनादि सृष्टियोंका उल्लेख किया गया है; इससे प्रवाहमार्गकी भी स्थिति सूचित होती है । वर्णाश्रमादि धर्म-मर्यादाके प्रतिपादक वेद आज भी विद्यमान हैं, अतः मर्यादामार्गकी सत्ता भी सुनिश्चित ही है ॥ ३ ॥ गीतामें कहा गया है—'हजारों साधकोंमें कोई एक ही मेरा भक्त मुझे ठीक-ठीक जान पाता है' 'जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ।' भगवान्‌के इन वचनोंसे तथा सर्वत्र भगवत्कृपापर निर्भर रहनेवाले भक्तोंके उत्कर्षका भगवान्‌के श्रीमुखसे ही वर्णन होनेसे 'पुष्टिमार्ग' है, यह निश्चय होता है ॥ ४ ॥ श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि 'भगवान् जब जिसपर अनुग्रह करते हैं, तब वह लौकिक और वैदिक फलोंकी आसक्ति (अथवा लोक-वेदकी आस्था) को त्याग देता है ।' गीताका भी वचन है कि 'अर्जुन ! तुमने जिस प्रकार मेरा दर्शन किया है, वैसा मेरा दर्शन किसीको वेदाध्ययन, तपस्या, दान अथवा यज्ञसे भी नहीं हो सकता ।' इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि सब नहीं, कोई-कोई ही भगवत्कृपासे उनके दर्शनका अधिकारी बन पाता है। अतः स्पष्ट है कि पुष्टिमार्ग प्रवाहसे भिन्न है । वेद अर्थात् मर्यादामार्गसे भी उसका भेद है ॥ ५ ॥ 'यदि कहें, तीनों मार्गोंकी एकता स्वीकार कर ली जाय तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि अन्तिम दोनों मार्ग (प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग) पुष्टिमार्गकी अपेक्षा दुर्बल होनेपर भी भक्तिकी प्राप्ति करानेवाले ही माने गये हैं, तो यह कहना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि भक्तिसूत्रके प्रमाणसे तथा युक्तिसे भी सिद्ध है कि वेदोक्त मर्यादामार्ग पुष्टिमार्गसे भिन्न है ॥ ६ ॥ जैसे

श्रुतिसे यह सिद्ध है कि जीव, उनके शरीर और उनके कर्म परस्पर भिन्न हैं, परंतु जीवात्मा नित्य हैं, उसी प्रकार पुष्टिमार्गमें शेष दो मार्गोंका निषेध होनेसे तथा उनके प्रमाणोंमें भेद होनेसे पुष्टिमार्गको प्रवाह और मर्यादासे भिन्न प्रतिपादित किया गया है।

अब मैं स्वरूप, अङ्ग और क्रियासहित जीवोंके सृष्टि-भेदका वर्णन करूँगा। श्रीहरिने मनके संकल्पमात्रसे प्रवाह-की सृष्टि की है। वाणीसे वेदमार्ग (मर्यादामार्ग) को प्रकट किया है और अपने श्रीअङ्गसे पुष्टिमार्गको उत्पन्न किया है। यह निश्चित मत है ॥ ७—९ ॥ संसारका अनादि प्रवाह भगवदिच्छासे उनके मनसे उत्पन्न हुआ है; अतः लोकमें उस मूल इच्छाके अनुसार ही फल प्रकट होता है; वैदिक (मर्यादा) मार्गपर चलनेसे वेदोक्त फलकी प्राप्ति होती है तथा पुष्टिमार्गमें भगवान्‌के श्रीविग्रहद्वारा फल प्रकट होता है। इस प्रकार फलप्राप्तिकी इच्छाओं या उद्गमस्थानोंमें भेद होनेसे भी उक्त तीनों मार्गोंको एक नहीं माना जा सकता ॥ १० ॥ गीतामें कहा है—'मैं उन द्वेष करनेवाले अशुभ एवं क्रूर नराधमोंको संसारके भीतर सदा आसुरी योनियोंमें ही डाला करता हूँ' इस भगवद्वचनसे सिद्ध होता है कि प्रवाह-मार्गीय जीव भिन्न हैं; इसीसे यह भी सूचित होता है कि मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्गके जीव भी परस्पर भिन्न हैं। साथ ही उनका जीवभाव सान्त (अन्तवान्) है; क्योंकि मोक्षके समय वे भगवान्‌में प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥ अतः पुष्टिमार्गमें भी जीव भिन्न ही हैं, इसमें संशय नहीं है। भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये ही उनकी सृष्टि हुई है, इसके सिवा और कोई उनकी सृष्टिका प्रयोजन नहीं है ॥ १२ ॥ रूप, अवतार, लिङ्ग और गुणकी दृष्टिसे उनके स्वरूपमें, शरीरमें अथवा उनकी क्रियाओंमें कोई तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) नहीं होता है ॥ १३ ॥ तथापि जितना जिसके लिये आवश्यक है, उसके लिये उतना तारतम्य भगवान् स्वयं ही कर देते हैं। पुष्टिमार्गीय जीव दो प्रकारके होते हैं—शुद्ध और मिश्र। मिश्र पुष्टिमार्गीय जीवोंके फिर तीन भेद होते हैं—पुष्टिमिश्र पुष्टि, मर्यादामिश्र पुष्टि और प्रवाहमिश्र पुष्टि ॥ १४ ॥ भगवत्कार्य-की सिद्धिके लिये प्रवाह आदिके भेदसे ये तीन भेद बनते हैं। पुष्टिमिश्रपुष्टि जीव सर्वज्ञ होते हैं। प्रवाहमिश्रपुष्टि जीव सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं ॥ १५ ॥ मर्यादामिश्रपुष्टि जीव भगवद्गुणोंके ज्ञाता होते हैं। शुद्ध पुष्टिमार्गीय जीव भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण होनेके कारण अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस प्रकार जीवोंके सर्गभेदका वर्णन किया गया। अब यहाँ उनके फलका निरूपण किया जाता है ॥ १६ ॥

भगवान् ही पुष्टिमार्गीय जीवोंके अभीष्ट फल हैं। वे इस भूतलपर जिस रूपमें अवतीर्ण होते हैं, उसी रूपसे गुण और स्वरूपके भेदसे जीवोंका जैसा अधिकार है, उसके अनुसार उन्हें फलरूपमें प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ यदि लोकमें उन जीवोंमेंसे किसीको आसक्ति या अहंकार हो तो उसे राहपर लानेके लिये भगवान् ही कभी-कभी शाप दिला देते हैं ॥ १८ ॥ शापग्रस्त होनेपर भी वे महानुभाव भक्त पाखण्डी नहीं होते, रोग आदि उपद्रवोंके भी शिकार नहीं होते। उनकी शुद्धिके लिये प्रायः श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंका स्वाध्याय ही साधन कहा गया है ॥ १९ ॥ भगवान्‌के तारतम्यसे ही वे तारतम्य धारण करते हैं। पुष्टिमार्गीय जीवोंका लौकिक या वैदिक कर्मोंमें लगे रहना दिखावामात्र है (वास्तवमें भगवान्‌के सिवा अन्य किसी वस्तुमें उनका प्रेम नहीं होता)। अन्यथा उनमें उन कर्मोंकी कोई संगति नहीं है ॥ २० ॥ वैष्णवता (श्रीकृष्णपरायणता) ही उनका सहज धर्म है। उससे भिन्न स्थलोंमें उनकी स्वाभाविक रुचि नहीं है। विभिन्न सम्बन्धोंमें बँधे हुए जो प्रवाही या दूसरे जीव हैं, वे 'चर्षणी' कहलाते हैं। ('चर्षणी' का अर्थ करछुल है, करछुल जैसे भोजन और व्यञ्जनमें डूबी रहनेपर भी उसके रसका आस्वादन नहीं करती, उसी प्रकार) वे सब चर्षणी जीव क्षण भरमें सभी मार्गोंमें जाकर तदनुरूप हो जाते हैं; तथापि उनकी स्वाभाविक रुचि कहीं भी नहीं होती ॥ २१—२२ ॥ उन्हें अपनी क्रियाके अनुसार सर्वत्र सभी फल प्राप्त होते हैं।

अब मैं प्रवाहमार्गमें स्थित जीवोंका उनके स्वरूप, अङ्ग और कर्मोंके सहित वर्णन करूँगा ॥ २३ ॥ वे सभी जीव आसुर कहे गये हैं, जिनका गीतामें 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च' इत्यादि श्लोकोंद्वारा वर्णन किया गया है। वे आसुर जीव दो प्रकारके हैं, अज्ञ और दुर्ज्ञ ॥ २४ ॥ भगवान्‌ने श्रीमुखसे जिन आसुर जीवोंका वर्णन किया है, वे दुर्ज्ञ हैं; जो उनका अनुकरण करते हैं, वे अज्ञ हैं। प्रवाह (जगत्) में आकर भी पुष्टिमार्गीय जीव ऐसे लोगोंसे मेल-जोल नहीं रखता है ॥ २५ ॥ क्योंकि उनके संसर्गसे वह भी उन्हींके कुलमें उत्पन्न होकर कर्मसे भी असुर बन सकता है ॥ २६ ॥

(पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद सम्पूर्ण)

सिद्धान्तरहस्यम्

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि । साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः । संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन । असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः । न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् । दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् । सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः । गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना ॥ ८ ॥
गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं सिद्धान्तरहस्यं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

श्रावणके शुक्लपक्षकी एकादशी तिथिको आधीरातके समय साक्षात् भगवान्ने जो बात कही थी, उसे यहाँ अक्षरशः बताया जा रहा है ॥ १ ॥ सबके शरीर और जीवका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेसे (ब्रह्मार्पण कर देनेसे) सब प्रकारके दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है । दोष पाँच प्रकारके कहे गये हैं ॥ २ ॥ सहज, देश-कालसम्भूत, लोकवेदनिरूपित, संयोगज और स्पर्शज—ये पाँचों दोष किसी तरह भी अङ्गीकार करने योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥ ब्रह्म-सम्बन्ध (भगवत्समर्पण) किये बिना किसी प्रकार भी सब दोषोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती; अतः जो वस्तुएँ भगवान्के अर्पण न की गयी हों, उनका सर्वथा परित्याग करे ॥ ४ ॥ जो आत्मनिवेदन (ब्रह्म-सम्बन्ध) कर चुके हों, ऐसे लोगोंको सब वस्तुएँ भगवान्को अर्पित करके ही अपने उपयोगमें लानी चाहिये । यही भक्तका आचार है । जिसमेंसे आधे भागका उपयोग कर लिया गया हो, ऐसी वस्तुका देवाधिदेव भगवान्के लिये अर्पण करना कदापि *उचित नहीं है ॥ ५ ॥* इसलिये सभी कार्योंमें पहले सब वस्तुओंको भगवान्की सेवामें समर्पित करना चाहिये । प्रसाद-रूपसे उनका उपयोग करनेमें दत्तापहार (दिये हुएका अपहरण) रूप दोष नहीं आता; क्योंकि सभी वस्तुओंके स्वामी सदा श्रीहरि ही हैं (अतः उन्हींकी वस्तु उन्हें दी जाती है) ॥ ६ ॥ 'दी हुई वस्तु नहीं ग्रहण करनी चाहिये' यह वचन भक्तिमार्गसे भिन्न स्थलोंसे सम्बन्ध रखता है । जैसे लोकमें सेवकोंका व्यवहार चलता है (वे स्वामीको उनकी वस्तु समर्पण करके उनके देनेपर स्वयं उसका उपयोग करते हैं) उसी प्रकार सब कुछ भगवान्को समर्पित करके ही प्रसाद-रूपमें ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार समर्पण करनेसे सभी वस्तुएँ ब्रह्मरूप मानी गयी हैं । गङ्गाजीमें पड़नेपर सभी दोष गङ्गारूप हो जाते हैं । उन गुण-दोषोंका वर्णन भी गङ्गारूपसे ही करनेयोग्य है । उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये (अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धसे सब कुछ ब्रह्मरूप ही हो जाता है, यह जानना चाहिये) ॥ ७–९ ॥

(सिद्धान्तरहस्य सम्पूर्ण)

नवरत्नम्

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति । भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥१॥
निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः । सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥२॥
सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः । अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥३॥
अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् । यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥४॥
तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे । विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥५॥
लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति । पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥६॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया। अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥
चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति। तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥
तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम। वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं नवरत्नं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

जिन्होंने भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर दिया है, उन्हें कभी किसी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। भगवान् भी सदा अनुग्रह करनेमें तत्पर हैं, वे अपने शरणागत भक्तोंकी लौकिक (अभक्त जनोंकी भाँति साधारण) गति नहीं करेंगे ॥ १ ॥ वैसे आत्मनिवेदनशील पुरुषोंको सर्वथा इस बातका स्मरण रखना चाहिये कि हमारा जीवन भगवान्‌को समर्पित है। सबके ईश्वर और सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अपनी इच्छासे जैसी उचित समझेंगे वैसी ही सेवकके लिये सब व्यवस्था करेंगे ॥ २ ॥ सबका भगवान्‌से सम्बन्ध है, किसी एकका ही नहीं, यही वस्तुस्थिति है। अतः भगवदिच्छासे यदि दूसरेके लिये किसी वस्तुका उपयोग हो गया तो अपने लिये अपनेको क्या चिन्ता है; क्योंकि वह दूसरा भी तो भगवान्‌का ही है। (जैसे उसके लिये भगवान् कुछ करते हैं, वैसे मेरे लिये भी स्वयं करेंगे। मैं क्यों चिन्ता करूँ !) जिन्होंने बिना जाने अथवा जान-बूझकर भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर दिया है, उनके प्राण श्रीकृष्णके अधीन हो गये हैं; अतः उन्हें अपनी रक्षाके लिये क्या चिन्ता अथवा शोक है ! ॥ ३-४ ॥

इसी प्रकार श्रीपुरुषोत्तमके लिये निवेदन या अन्यके लिये विनियोगके विषयमें भी चिन्ता त्याग देनी चाहिये; क्योंकि श्रीहरि स्वतः सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ॥ ५ ॥ भगवान् लोक अथवा वेदमें भी स्वस्थता नहीं करेंगे; क्योंकि वे पुष्टिमार्ग (अनुग्रहके पथ) में स्थित हैं, इस बातके सब लोग साक्षी रहें ॥ ६ ॥ हरि-इच्छासे भगवान्‌की सेवा बने, गुरुकी आज्ञाका पालन हो अथवा उसमें कोई बाधा पड़ जाय—यह सब कुछ सम्भव है, अतः चिन्ता न करे। चित्तको सेवापरायण बनाकर सुखसे रहे ॥ ७ ॥ चित्तमें उद्वेग डालकर भी भगवान् जो-जो करेंगे, 'वैसी ही उनकी लीला हो रही है'—ऐसा मानकर तत्काल चिन्ता त्याग देनी चाहिये ॥ ८ ॥ इसलिये सब प्रकारसे सदा 'श्रीकृष्ण ही मेरे लिये शरण हैं' इसका निरन्तर जप करते हुए ही स्थिर रहना चाहिये। यही मेरा मत है ॥ ९ ॥

(नवरत्न सम्पूर्ण)

अन्तःकरणप्रबोधः

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु। कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥
चाण्डाली चेद् राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता। कदाचिदपमानेऽपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥
समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः। का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥
सत्यसंकल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति। आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति। आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद् द्वयं मया। देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा। लौकिकप्रभुवत् कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव। प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा। लोकवच्चेत् स्थितिर्मे स्यात् किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन। इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितोऽन्तःकरणप्रबोधः सम्पूर्णः ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

मेरे अन्तःकरण ! तुम सावधान होकर मेरी बात सुनो। वास्तवमें श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई दोषरहित देवता नहीं है ॥ १ ॥ यदि कोई चाण्डाल-कन्या राजाकी पत्नी हो गयी और राजाने उसे सम्मान दे दिया तो उसका महत्त्व तो बढ़ ही गया। फिर कदाचित् राजाद्वारा उसका अपमान भी हो तो भी मूलतः उसकी क्या हानि हुई ! (वह पहले ही कौन बड़ी सम्मानित थी ! इस समय तो चाण्डालीसे रानी बन गयी ! अब रानीसे चाण्डाली नहीं हो सकती) ॥ २ ॥ भगवान्को आत्मसमर्पण करनेसे पूर्व मैं क्या सदा उत्तम ही रहा ! और अब मुझमें किस अधमताकी सम्भावना हो गयी, जिसके लिये पश्चात्ताप हो ॥ ३ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण सत्यसंकल्प हैं, वे अपनी सच्ची प्रतिज्ञाके विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे। अतः हम लोगोंको सदा उनकी आज्ञाका ही पालन करना चाहिये; अन्यथा स्वामीसे द्रोह करनेका अपराध होगा ॥ ४ ॥ सेवकका तो यही धर्म है कि वह स्वामीकी आज्ञाका पालन करे। स्वामी अपने कर्तव्यका पालन स्वयं करेंगे। पूर्वकालमें गङ्गासागरसङ्गमपर और फिर वृन्दावनमें मेरे लिये जो आज्ञाएँ प्राप्त हुईं, उन दोनोंका पालन मुझसे न हो सका। देह और देशके परित्यागके सम्बन्धमें जो तीसरा आदेश है, वह सब लोकोंके समक्ष है ॥ ५-६ ॥ मैं तो सेवक हूँ, अतः स्वामीकी आज्ञाके विपरीत कुछ नहीं कर सकता, फिर मुझे पश्चात्ताप कैसा ? श्रीकृष्णको लौकिक प्रभुओंकी भाँति कदापि नहीं देखना चाहिये। यदि भक्तिभावसे तुमने सब कुछ भगवान्को सौंप दिया, तो कृतार्थ हो गये। अब सुखी रहो। जैसे कोई-कोई माता-पिता स्नेहाधिक्यके कारण सयानी कन्याको भी उसके पतिके पास नहीं भेजते (और वरको असंतुष्ट होनेका अवसर देते हैं) वही बर्ताव इस शरीरके विषयमें भी नहीं करना चाहिये। अर्थात् ममता या आसक्तिवश इस शरीरको अपने स्वामी श्रीकृष्णकी सेवामें लगानेसे न चूके; अन्यथा वर असंतुष्ट हो जायगा। मेरे मन ! यदि साधारण लोगोंकी ही भाँति मेरी भी स्थिति रही तो क्या होगा, यह तुम स्वयं विचार लो ॥ ७-९ ॥ अशक्तावस्थामें श्रीहरि ही एकमात्र सहायक हैं। अतः तुम्हें किसी प्रकार मोहमें नहीं पड़ना चाहिये। यह चित्तके प्रति श्रीकृष्णदास वल्लभका वचन है, जिसे सुनकर भक्त पुरुष चिन्तारहित हो जाता है ॥ १०-११ ॥

(अन्तःकरणप्रबोध सम्पूर्ण)

विवेक-धैर्याश्रय-निरूपण

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः। विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥
प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्। सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥
अभिमानश्च संत्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात्। विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात्। आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम्। विवेकोऽयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥
त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा। तक्रवद् देहवद् भाव्यं जडवद् गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥
प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्। भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥
स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्। अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत्। एतत् सहनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निरूप्यते ॥ ९ ॥
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः। दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते। अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥
अहंकारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे। पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरिः। एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च। प्रार्थनाकार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः । ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥
यथाकथंचित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि । किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् । कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुस्साध्या इति मे मतिः ॥१७॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं विवेकधैर्याश्रयनिरूपणं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

सदा विवेक और धैर्यकी रक्षा करनी चाहिये । इसी प्रकार भगवान्का आश्रय लेकर रहना भी उचित है । 'भगवान् सब कुछ अपनी इच्छासे करेंगे', ऐसा विचार होना ही विवेक है ॥ १ ॥ जब स्वामी स्वयं ही सेवककी इच्छा पूर्ण करते हैं, तब उनसे मुँह खोलकर माँगनेपर भी उससे अधिक क्या मिलेगा ? स्वामीके अभिप्रायको समझनेमें सेवकको सदा संशय रहता है; अतः वह उनके श्रीमुखसे प्राप्त हुई आज्ञाका ही पालन करता है; परंतु स्वामी तो सर्वज्ञ हैं, फिर उनसे प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता ? उनकी सर्वत्र पहुँच है; सब कुछ उनका है और उनमें सब कुछ जानने तथा करनेकी शक्ति है ॥ २ ॥ 'मैं सदा स्वामीकी आज्ञाके अधीन हूँ' ऐसी भावना करके अहङ्कारका सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये । यदि अन्तःकरणमें प्रभुकी कोई विशेष आज्ञा स्फुरित हो, तो देह-सम्बन्धसे भिन्न भगवत्सम्बन्धी विशेष गति आदिकी भावना करनी चाहिये । आपत्प्राप्ति आदि कार्योंमें हठका सर्वथा त्याग करना चाहिये ॥३-४॥ कहीं भी आग्रह न रखना और सर्वत्र धर्माधर्मका पहले ही विचार कर लेना—यह विवेक कहा गया है ।

अब धैर्यका निरूपण किया जाता है—॥ ५ ॥ सदा सब ओरसे प्राप्त हुए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके दुःखोंको मृत्युपर्यन्त शान्तभावसे सहते रहना धैर्य कहलाता है । इसके दृष्टान्त हैं—तक्र, शरीर, जडभरत और गोपभार्या ॥६॥ यदि भगवान्की इच्छासे दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय स्वतः सिद्ध हो जाय तो उन दुःखोंको भोगनेका भी आग्रह न रखे । स्त्री-पुत्रोंके, दूसरोंके तथा दुष्टोंके भी आक्रमणको चुपचाप सह ले ॥ ७ ॥ स्वयं शरीर, वाणी और मनके द्वारा इन्द्रियोंके कार्यों (विषयों) को त्याग दे । असमर्थको भी अपनी असमर्थताकी भावना करके विषयोंको त्याग देना चाहिये ॥ ८ ॥ जिस कार्यके साधनमें हमलोग असमर्थ हैं, उसमें श्रीहरि ही सहायक हैं । उनके आश्रयसे सब कुछ सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार यहाँ सहनशीलता या धैर्यका वर्णन किया गया । अब आश्रयका निरूपण किया जाता है ॥ ९ ॥ इहलोक और परलोकसम्बन्धी कार्योंमें सर्वथा श्रीहरि ही हम सबके आश्रय हैं । दुःखोंकी हानि, पाप, भय, इच्छा आदिकी अपूर्णता, भक्तद्रोह, भक्तिके अभाव, भक्तोंद्वारा उनके उल्लङ्घन, अशक्तावस्था तथा सशक्तावस्थामें भी सब प्रकारसे श्रीहरि ही शरण हैं ॥ १०-११ ॥ अहंकार करनेमें, पोष्यवर्गकी पुष्टि और रक्षणमें, पोष्यजनोंका उल्लङ्घन या अवहेलना होनेपर तथा इसी प्रकार शिष्योंका अतिक्रमण करनेपर और अलौकिक (भगवत्सेवापरायण) मनकी अभीष्टसिद्धिमें—सारांश यह कि सभी कार्योंमें श्रीभगवान् ही शरण हैं । इस प्रकार मनमें सदा भावना करे और वाणीद्वारा भी 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का कीर्तन करे ॥ १२-१३ ॥ श्रीभगवान्के सिवा अन्य देवताका भजन, स्वतः उनके भजनमें जाना तथा अन्य देवताओंसे प्रार्थना करना त्याग दे । भगवान्के सिवा, अन्य देवताके लिये ये तीनों बातें वर्जित हैं ॥ १४ ॥ अविश्वास कभी नहीं करना चाहिये । वह सब प्रकारसे बाधा देनेवाला होता है । इस विषयमें ब्रह्मास्त्र और चातकके दृष्टान्तका अनुशीलन करे ।* दैवेच्छासे जो कुछ प्राप्त हो, उसका ममता और आसक्तिसे रहित होकर सेवन करे ॥ १५ ॥ जिस किसी प्रकारसे सम्भव हो, छोटे-बड़े सब कार्य करे । अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता ? 'भगवान् श्रीहरि हमारे आश्रय हैं' इस रूपमें भगवान्का चिन्तन करे ॥१६॥ इस प्रकार आश्रयका निरूपण किया गया, जो सदा सब लोगोंके लिये हितकर है । कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग सबके लिये दुस्साध्य हैं, ऐसा मेरा विचार है (अतः भगवान्का आश्रय लेकर ही सब कार्य करने चाहिये) ॥ १७ ॥

(विवेकधैर्याश्रय-निरूपण सम्पूर्ण)

* जैसे मेघनादने ब्रह्मास्त्रसे हनुमान्जीको बाँधा था और वे उससे बँध भी गये थे, परंतु रावणको उसपर विश्वास न हुआ; अतः उसने लोहेकी मोटी जंजीरसे उन्हें बाँध दिया । इससे ब्रह्मास्त्रने अपना बन्धन ढीला कर दिया । फल यह हुआ कि हनुमान्जीने उन जंजीरको भी तोड़ दिया । यह अविश्वाससे हानिका उदाहरण है । चातकको मेघपर विश्वास रहता है, अतः वह उसकी प्यास बुझानेके लिये स्वातीका जल बरसाता ही है; यह विश्वाससे लाभका उदाहरण है ।

श्रीकृष्णाश्रयः

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि । पाखण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च । सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह । तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु । लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु । तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु । पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥
अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥
प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् । पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः । पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् । शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसंनिधौ । तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

इस दुष्टधर्मवाले कलियुगमें साधनके सभी मार्ग नष्ट हो गये और लोगोंमें अत्यन्त पाखण्ड फैल गया है, अतएव श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ १ ॥ समस्त देश म्लेच्छोंके द्वारा आक्रान्त हो गये और एक मात्र पापके निवासस्थान बन गये, सत्पुरुषोंकी पीड़ासे लोग व्यग्र हो रहे हैं, अतएव श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ २ ॥ दुष्ट लोगोंके द्वारा छाये हुए गङ्गादि श्रेष्ठ तीर्थोंके अधिष्ठाता देवता तिरोहित हो गये हैं, अतएव श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ३ ॥ (इस समय) सत्पुरुष भी अहङ्कारसे विमूढ़ हो चले हैं, पापका अनुकरण कर रहे हैं और सांसारिक लाभ तथा पूजा प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लग गये हैं, अतएव श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ४ ॥ मन्त्रोंका ज्ञान न होनेसे वे प्रायः लुप्त हो गये हैं, उनके व्रत और प्रयोग अज्ञात हैं तथा उनके वास्तविक अर्थ और देवता भी तिरोहित हो गये हैं; इस दशामें श्रीकृष्ण ही एक मात्र मेरे आश्रय हैं ॥ ५ ॥ नाना मतवादोंके कारण समस्त शास्त्रीय कर्म और व्रत आदिका नाश हो गया है, लोग केवल पाखण्डके लिये प्रयत्नशील हैं। अतएव श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ६ ॥ अजामिल आदि (महापापियों) के दोषोंका नाश करनेवाले आप (भक्तोंके) अनुभवमें स्थित हैं। ऐसे अपने समस्त माहात्म्यका ज्ञान करानेवाले श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ७ ॥ समस्त देवता प्रकृतिके अधीन हैं, बृहत् (ब्रह्म) के भी आनन्दकी अवधि है। श्रीहरि ही पूर्ण आनन्दमय हैं, अतएव श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ८ ॥ विवेक, धैर्य और भक्ति आदिसे रहित और पापमें विशेषरूपसे आसक्त मुझ अत्यन्त दीनके तो श्रीकृष्ण ही रक्षक हैं ॥ ९ ॥ सर्वशक्तिमान् और (दीनोंके) सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले तथा शरणमें आये हुए (जीवमात्रका) भली भाँति उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णसे मैं प्रार्थना करता हूँ ॥ १० ॥ इस कृष्णाश्रय नामक स्तोत्रका श्रीकृष्णके समीप जो कोई पाठ करे, श्रीकृष्ण उसके आश्रय (रक्षक) हों, इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं ॥ ११ ॥

(श्रीकृष्णाश्रय सम्पूर्ण)

चतुःश्लोकी

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः । स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥
एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति । प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥
यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि । ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥
अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः । स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

सदा सर्वतोभावेन (हृदयके सम्पूर्ण अनुरागके साथ) व्रजेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी ही आराधना करनी चाहिये। अपना (जीव-मात्रका) यही धर्म है। कभी कहीं भी इसके सिवा दूसरा धर्म नहीं है ॥ १ ॥ सदा ऐसा ही (सम्पूर्णभावसे भगवान्‌का भजन ही) करना चाहिये। प्रभु श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् हैं, वे स्वयं ही हमारी सँभाल करेंगे—ऐसा समझकर अपने योग-क्षेमकी ओरसे निश्चिन्त रहे। ॥ २ ॥ यदि गोकुलाधीश्वर नन्दनन्दनको सब प्रकारसे हृदयमें धारण कर लिया है, तो बताओ, लौकिक और वैदिक कर्मोंका इसके सिवा और क्या प्रयोजन है (भगवान्‌को हृदयमें बसा लेना ही तो जीवनका परम और चरम फल है।) ॥ ३ ॥ अतः सदा सम्पूर्ण हृदयसे गोकुलाधीश्वर श्यामसुन्दरके युगल चरणारविन्दोंका चिन्तन और भजन कभी नहीं छोड़ना चाहिये, यही मेरा मत है ॥ ४ ॥

(चतुःश्लोकी सम्पूर्ण)

भक्तिवर्धिनी

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते। बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥
बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा। ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति। स्नेहाद् रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते। यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकम्। त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्। त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात् तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः। अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्। यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसम्भावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते। हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥
इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम्। य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता भक्तिवर्धिनी सम्पूर्णा ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

जिससे भक्तिभावकी वृद्धि हो, वैसे उपायका निरूपण किया जाता है—बीजभावके दृढ होनेपर तथा त्यागसे और भगवान्‌के नाम, गुण एवं लीला आदिके श्रवण-कीर्तनसे भक्तिकी वृद्धि हो सकती है ॥ १ ॥ बीजभावकी दृढताका प्रकार यह है—घरपर रहकर, स्वधर्म-पालनसे विमुख न होकर भगवत्स्वरूपकी सेवा-पूजा और भगवत्कथा-श्रवण आदिके द्वारा श्रीकृष्णका भजन करे ॥ २ ॥ जो कर्मोंके अनुष्ठानसे दूर हटा हुआ है, वह भी भगवान्‌में चित्त लगाये और सदा उनके श्रवण-कीर्तन आदिके लिये प्रयत्नशील रहे। इससे जब भगवान्‌में प्रेम, आसक्ति और व्यसन हो जाते हैं, तब बीजकी दृढता होती है ॥ ३ ॥ शास्त्रमें उसी बीजको दृढ कहा जाता है, जो कभी नष्ट नहीं होता। भगवान्‌में स्नेह होनेसे लौकिक रागासक्ति नष्ट होती है और भगवान्‌के प्रति आसक्ति होनेसे गृहस्थाश्रमकी ओरसे अरुचि (विरक्ति) हो जाती है ॥ ४ ॥ गृहस्थोंके [illegible] बाधकता और अनात्मीयताकी प्रतीति होने लगती है। जब श्रीकृष्णविषयक व्यसन उत्पन्न होता है, तब मनुष्य उसी क्षण कृतार्थ हो जाता है ॥ ५ ॥ [illegible] लिये भी सदा घरमें ही रहना विनाशकारी होता है। [illegible] मनसे एकमात्र भगवत्प्राप्तिकी ही [illegible] करके जो भगवान्‌के लिये प्रयत्नशील होता है, [illegible] एवं सर्वोत्कृष्ट [illegible] प्राप्त कर लेता है। [illegible] करनेपर भी कुसङ्ग और [illegible] बहुत-सी बाधाएँ प्राप्त होती हैं; [illegible] एवं [illegible]) के [illegible] रहना चाहिये। [illegible] चित्त दूषित न हो ॥ ६–८ ॥ [illegible]

भगवान्की कथामें जिसकी जीवनभर दृढ़ आसक्ति बनी रहती है, उसका कभी कहीं भी नाश (अधःपतन) नहीं होता, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ९ ॥ यदि बाधाकी सम्भावना हो तो एकान्तमें रहना अभीष्ट नहीं है। भगवान् श्रीहरि सब ओरसे रक्षा करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं ॥ १० ॥ इस प्रकार गूढ़ तत्त्वसे भरे हुए भगवान् शास्त्र निरूपण किया गया है। जो इसका अध्ययन करेगा, उसका भी भगवान्में दृढ़ अनुराग होगा ॥ ११ ॥

(भक्तिवर्धिनी सम्पूर्ण)

जलभेदः

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्। भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसंदेहवारकान् ॥ १ ॥
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः। गायकाः कूपसंकाशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेऽपि सम्मताः। कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः। वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥
जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः। ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥
संदेहवारकास्तत्र सूदा गम्भीरमानसाः। सरः कमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः। कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥
योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः। तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥
अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः। कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥
देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः। साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः ॥ १० ॥
प्रेममूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः। यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥ ११ ॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः। अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥ १२ ॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि। निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥ १३ ॥
एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः। पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥ १४ ॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः। लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥ १५ ॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः। गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ १६ ॥
सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः। तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥ १७ ॥
तादृशानां क्वचिद् वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्। अजामिलाकर्णनवद् विन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा। तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥ १९ ॥
उद्धृतोदकवत् सर्वे पतितोदकवत् तथा। उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥ २० ॥
इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि। रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितो जलभेदः सम्पूर्णः ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

अब मैं श्रीहरिको नमस्कार करके उन-उन गुणोंके भेद सूचित करनेवाले बीस प्रकारके भावोंका, जो वक्ताओंमें प्रकट होकर सब प्रकारके संदेहोंका निवारण करनेवाले हैं, वर्णन करूँगा ॥ १ ॥ जलमें जितने विभिन्न गुण माने गये हैं, उतने ही वक्ताओंके भी भिन्न-भिन्न गुण हैं। गान करनेवाले लोग 'गन्धर्व' नामसे विख्यात हैं। उनकी उपमा कूपजलसे दी जाती है ॥ २ ॥ कूपके जितने भेद हैं, उतने ही उनके भी हैं। जो लोग इस भूतलपर प्राचीन परम्परासे युक्त होकर पुराण-कथा कहते हैं, उनको नहरके समान बताया गया है ॥ ३ ॥ जैसे नहरका पानी खेतमें पड़नेपर खेतीको उपजानेवाला होता है, उसी प्रकार परम्पराप्राप्त जीविकाके लिये कथा कहनेवाले पौराणिक भी

सत्सङ्गकी उत्पत्तिमें ही कारण होते हैं। जो देश आदिके साथ रहकर उन्मत्तभावसे गान करनेवाले हैं, वे गड्ढेके जलके समान हैं ॥ ४ ॥ गानसे जीविका चलानेवाले लोग उन गहरे गड्ढोंके समान हैं, जो गँदले जलके संग्रहके लिये ही बने होते हैं। परंतु जो भगवत्-शास्त्रोंके अनुशीलनमें तत्पर रहते हैं, उन पण्डितजनोंको अगाध जलसे परिपूर्ण ह्रद (सरोवर) कहा गया है ॥ ५ ॥ उनमें भी जो श्रोताओंके संदेहका निवारण करनेवाले, गम्भीर-हृदय तथा भगवत्प्रेमसे पूर्ण विद्वान् हैं, वे स्वच्छ जल और कमलोंसे भरे हुए सुन्दर सरोवरोंके समान हैं ॥ ६ ॥ जिन्होंने शास्त्राध्ययन तो बहुत कम किया है, किंतु जो भगवान्‌के प्रेमी हैं, वे वेशन्त (छोटे जलाशय) के तुल्य कहे गये हैं। जिनमें शास्त्र-ज्ञान और भक्ति दोनों ही अल्पमात्रामें हैं, किंतु जो कर्मसे शुद्ध हैं, वे पल्वल (जङ्गलके छोटे-से तालाब) के सदृश हैं ॥७॥ योग और ध्यान आदिसे संयुक्त गुण वर्षाके जलके समान बताये गये हैं। तप, ज्ञान आदि भावोंसे युक्त गुणोंको स्वेदज (पसीनेके जल) के तुल्य कहा गया है ॥ ८ ॥ कभी-कभी शब्दप्रमाणगम्य जो भगवद्गुण अलौकिक शब्दद्वारा वर्णित होते हैं, वे जलप्रपातके सदृश कहे गये हैं ॥ ९ ॥ देवता आदि-की उपासनासे उद्भूत होनेवाले गुण या भाव उपासकोंके नहीं हैं, तो भी उनके-से प्रतीत होते हैं। जैसे ओसके कण पृथ्वीसे नहीं प्रकट हुए हैं तथापि उससे उद्भूत हुए-से जान पड़ते हैं। साधन आदिके भेदसे नवधा भक्तिके मार्गसे चलकर प्रेमके रूपमें अभिव्यक्त होनेवाले जो भगवत्शरणरूपी स्वधर्म हैं, वे झरनेके समान कहे गये हैं। जिनमें भावकी वृद्धि या न्यूनता नहीं होती, इसीलिये जो जैसे-के-तैसे कहे गये हैं तथा जो एकमात्र मर्यादामार्गमें ही प्रतिष्ठित हैं, उन्हें स्थावर कहा गया है। जो अनेक जन्मोंसे सिद्धिके लिये प्रयत्नशील रहकर सदा जन्मसे ही साधनमें लगे रहते हैं तथा इस पृथ्वीपर सत्सङ्ग और कुसङ्ग आदिके गुण-दोषोंसे जिनके भावकी कभी वृद्धि और कभी न्यूनता होती है, वे निरन्तर उद्यमशील साधक पुरुष उद्गमयुक्त नदियोंके समान कहे गये हैं ॥ १०–१३ ॥ ऐसे ही साधक जब स्वतन्त्र (सिद्ध) हो जाते हैं, तब 'सिन्धु' कहलाते हैं। जो पूर्णरूपेण भगवान्‌के होकर रहते हैं, वे शेष, वेदव्यास, अग्नि, हनुमान्, जडभरत, देवर्षि नारद और मैत्रेय आदि महात्मा समुद्र कहे गये हैं। जो कोई महात्मा लौकिक और वैदिक गुणोंसे मिश्रित करके श्रीहरिके गुणोंका वर्णन करते हैं, वे क्षार आदि छः समुद्रोंके समान बताये गये हैं। जो विचक्षण महापुरुष भगवान् विष्णुके उन समस्त सद्गुणोंका, जो उन्हींके समान गुणातीत होनेके कारण विशुद्ध एवं सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, वर्णन करते हैं, वे अमृतमय जलके महासागर कहे गये हैं। उनके वचनामृतोंका पान अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १४–१७ ॥ ऐसे महापुरुषोंका कहीं कोई वचन यदि सुननेको मिल जाय, जैसे कि अजामिलने विष्णुपार्षदोंकी बातें सुनी थीं, तो वह (श्रवण)—'अमृतबिन्दु-पान'—कहा गया है ॥ १८ ॥ जब राग और अज्ञान आदि भावोंका सर्वथा नाश हो जाता है, उस समय किया हुआ भगवद्गुणगान अपने आनन्दके उद्रेकका कारण होता है; अतः उसे भगवद्रसका लेहन (आस्वादन) कहा गया है ॥ १९ ॥ ऊपर जिनका वर्णन किया गया है, उनसे अतिरिक्त जो वक्ता हैं, उन सबके वचन पात्रसे निकाले हुए और धरतीपर गिरे हुए जलके समान हैं। उनका फल भी वैसा ही है (तात्पर्य यह है कि ऐसे वक्ताओंके वचन विशेष लाभकारी नहीं होते)। इस प्रकार जीवों और उनकी इन्द्रियोंमें स्थित हो नाना भावको प्राप्त हुए श्रीहरिके जो गुण इस पृथ्वीपर प्रकट होते हैं, उनके स्वरूप और फलका निरूपण किया गया ॥ २०-२१ ॥

(जलभेद सम्पूर्ण)

पञ्चपद्यानि

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाऽरतिवर्जिताः । अनिर्वृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

निःसंदिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः । ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥ २ ॥

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः । अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ ३ ॥

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा । अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु । देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि सम्पूर्णानि ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

जिनका हृदय श्रीकृष्ण-चिन्तन-रसमें निमग्न है, जो श्रीकृष्णके सिवा, अन्यत्र लौकिक और वैदिक भोगोंमें आनन्द नहीं मानते हैं, जिनको भगवत्कथासे कभी अरुचि नहीं होती तथा जो सदा भगवान्‌की लीला-कथा सुननेके लिये अत्यन्त उत्सुक रहते हैं, वे उत्तम श्रोता हैं ॥ १ ॥ जिनका मन भगवत्प्रेमसे घनीभूत होता है, जो भगवान्‌के स्मरणसे विह्वल हो उठते हैं और उनकी कथा सुननेके लिये उत्सुक हो कथाके अर्थपर ही विशेष ध्यान देते हैं, वे मध्यम श्रोता हैं ॥ २ ॥ जो संदेहरहित श्रीकृष्णतत्त्वको सब प्रकारसे जानते हैं, कथा सुनते समय आवेशसे अथवा कथामें सहसा रुकावट हो जानेपर शोकसे विकल हो उठते हैं, जो किसी व्याज या दम्भसे नहीं—वास्तविक रूपसे ही विह्वलता प्रदर्शित करते हैं, वे श्रेष्ठ भक्त हैं ॥ ३ ॥ जो कभी-कभी सम्पूर्ण भावसे पूर्णकामताका अनुभव करते हैं, परंतु इस भावमें सदा जिनकी स्थिति नहीं होती तथा जो कथा सुनते समय भी दूसरे कार्योंमें आसक्त रहते हैं, वे अधम श्रोता कहे गये हैं ॥ ४ ॥ देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्मके प्रकारको जानकर तदनुसार यज्ञादिका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंकी अपेक्षा वे मनुष्य उत्तम हैं, जो कि अनन्य मनसे श्रवण-कीर्तन आदि नवधा-भक्तिमें लगे रहते हैं ॥ ५ ॥

(पञ्चपद्य सम्पूर्ण)

संन्यासनिर्णयः

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते । स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥
कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः । अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद् विचारणा ॥ २ ॥
श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यत्वेन नेष्यते । सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः । गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा । स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥ ५ ॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः । अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते । स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् । भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥
विकलत्वं तथा स्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि । ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् । भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥ १० ॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः । बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद् यदि ॥ ११ ॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा । गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥ १२ ॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते । स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥ १३ ॥
दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा । ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः ॥ १४ ॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् । ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥ १५ ॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा । पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥ १६ ॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः । भक्तिमार्गेऽपि चेद् दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥ १७ ॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः । स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद् बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥ १८ ॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे । अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति । आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् । अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥
इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् । संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितः संन्यासनिर्णयः सम्पूर्णः ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

पञ्चसंसारकी निवृत्तिके लिये जो परित्याग या संन्यास किया जाता है, उसके स्वरूपका विचार करते हैं। विशेषतः भक्ति और ज्ञान इन्हीं दो मार्गोंके लिये संन्यासका प्रतिपादन किया गया है। (तात्पर्य यह कि संन्यासके दो भेद हैं—एक भक्तिमार्गीय संन्यास और दूसरा ज्ञानमार्गीय संन्यास) ॥ १ ॥ इस समय कराल-कलिकाल चल रहा है। अतः कर्म मार्गमें संन्यास ग्रहण करना उचित नहीं है। भक्ति-मार्गमें संन्यास ग्रहण करना उचित बताया गया है। अतः पहले भक्तिमार्गीय संन्यासका ही विचार किया जाता है ॥ २ ॥ यदि कहें श्रवण-कीर्तन आदिकी सिद्धिके लिये संन्यास करना उचित है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि श्रवण और कीर्तन आदि दूसरोंकी सहायता और सङ्गसे सिद्ध होनेवाले हैं और संन्यासीके लिये एकाकी रहनेकी विधि है। नवधा भक्तिके साधनोंकी रक्षाके लिये दूसरे मनुष्योंके सहयोगकी आवश्यकता है। भक्तिमार्गमें अभिमान और नियोग (आज्ञापालन) हैं, जिनका संन्यास-धर्मके साथ विरोध है। यदि कहें कि भक्तियोगके साधनमें गृह आदि बाधक होते हैं, अतः उक्त साधनके लिये गृह आदिका संन्यास आवश्यक है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि गृह-त्यागके पश्चात् वैसे ही लोगोंका सङ्ग प्राप्त होगा, जो गृह-त्यागी नहीं हैं; क्योंकि कलिकाल होनेसे अच्छे संन्यासीका मिलना सम्भव नहीं है। अतः विषयी पुरुषोंके सङ्गसे यदि त्यागी स्वयं भी विषयाक्रान्त हो जाय तो संन्यास-वेषके विरुद्ध आचरणके कारण वह पाखण्डी हो जायगा ॥ ३–५ ॥ जिनका शरीर विषय-वासनाके वशीभूत है, उनके भीतर कभी श्रीहरिका आवेश नहीं होता। अतः यहाँ साधन-भक्तिमें संन्यास सुखद नहीं माना गया है ॥ ६ ॥ भगवान्‌के विरहकी अनुभूतिके लिये संन्यासकी प्रशंसा की जाती है। संन्यासका जो दण्ड-धारण आदि वेष है, वह आत्मीयजनोंके सम्बन्धसे प्राप्त होनेवाले बन्धनकी निवृत्ति-के लिये ही यहाँ स्वीकार किया जाता है। उसे ग्रहण करनेका और कोई कारण नहीं है ॥ ७ ॥ भक्तिमार्गमें कौण्डिन्य ऋषि और गोपिकाएँ गुरु हैं और उन्होंने जो साधन अपनाया था, वही साधन है। भावनासिद्ध भाव (भगवच्चिन्तनसे बढ़ा हुआ प्रगाढ़ अनुराग) ही यहाँ साधन है। उसके सिवा और कोई साधन अभीष्ट नहीं है ॥ ८ ॥ इस मार्गमें व्याकुलता, अनन्यता और प्रवृत्ति—ये प्राकृत मनुष्योंके स्वभाव नहीं हैं। इस अवस्थामें रहनेवाले भक्तोंके लिये ज्ञान और लौकिक गुण साधनामें बाधक सिद्ध होते हैं ॥ ९ ॥ संन्यास-विशिष्ट ज्ञानसे सत्यलोकमें स्थिति होती है। जहाँ भावना (अनुरागयुक्त चिन्तन) साधन है, उस भक्तिमार्गमें फल भी वैसा ही होता है। (प्रेमास्पद प्रभुकी प्राप्ति ही वहाँका परम फल है) ॥ १० ॥ पूर्वोक्त संन्यासविशिष्ट संन्यासी सत्यलोकमें ही प्रतिष्ठित होते हैं, इसमें संशय नहीं है। यदि बाहर प्रकट हुआ अपना आत्मा अग्निके समान भीतर प्रवेश करे तो उसी समय सारा बन्धन नष्ट हो जाता है—अन्यथा नहीं ॥ ११ ॥ भगवान्‌के गुण भक्तके जीवन निर्वाहके लिये होते हैं। भगवान्‌के सङ्गसे रहित होनेके कारण भक्त उनके गुणोंका श्रवण-कीर्तन करके ही जीते हैं ॥ १२ ॥ भगवान् श्रीहरि फल-स्वरूप होनेके कारण इसमें बाधक नहीं होते। भगवान्‌से अपनी स्वस्थताके लिये प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। भगवान् दयालु हैं, स्वयं ही सब कुछ करेंगे। वे अपनी दयालुताके विरुद्ध कुछ भी नहीं करते ॥ १३ ॥ यह भक्तिमार्गीय संन्यास दुर्लभ है। वह प्रेमसे ही सिद्ध होता है—अन्यथा नहीं। ज्ञानमार्गमें जो संन्यास है, वह दो प्रकारका है ॥ १४ ॥

एक ज्ञानप्राप्तिके लिये संन्यास लिया जाता है (इसीको विविदिषा-संन्यास कहते हैं) और दूसरा ज्ञानका उत्तराङ्ग संन्यास है, जिसे विद्वत्-संन्यास भी कहते हैं। इस संन्यास-को सैकड़ों जन्मोंके पश्चात् सिद्धि प्राप्त होती है। श्रुतिमें यज्ञादिकी विधिका वर्णन होनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानको साधनकी अपेक्षा रहती है। (तात्पर्य यह है कि यज्ञ आदि कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्तिके साधन माने गये हैं) ॥ १५ ॥ अतः कलियुगमें संन्यास केवल पश्चात्तापके लिये ही होता है—अन्यथा नहीं। उसमें पाखण्डकी भी सम्भावना रहती है। अतः कलिकालमें दोषोंकी प्रबलता होनेके कारण ज्ञानमार्गमें संन्यास न ले, ऐसा ही निर्णय है।

भक्तिमार्गमें भी यदि दोष प्राप्त होवें तो तब क्या करना चाहिये? इसके उत्तरमें कहते हैं—यहाँ आरम्भमें नाश नहीं होता—कोई बाधा नहीं आती। भक्तिमार्गमें किये हुए कर्म-के नष्ट या बाधित होनेका कोई उदाहरण भी नहीं मिलता। इसके सिवा, यहाँ लौकिक स्वार्थके त्यागका परित्याग बताया गया है; अतः किसके द्वारा इसमें बाधा आनेकी सम्भावना हो सकती है ॥ १६–१८ ॥ औरोंकी तो बात ही क्या है? स्वयं भगवान् भी इसमें बाधा नहीं डाल सकते। अन्यथा यदि भगवान् ही अपने बालकोंके कार्यमें बाधा डालें, तब तो माताएँ कहीं भी अपने स्तनका दूध पिलाकर बच्चोंका पालन-पोषण ही न करें ॥ १९ ॥ ज्ञानियोंके साधनकालमें भी भगवान् अपने भक्तको मोहमें नहीं डालेंगे। जो भक्तोंके

प्रियतम हैं और उन्हें अपने-आप तकको दे डालते हैं, वे भगवान् भला किसलिये भक्तोंको मोहमें डालेंगे ? ॥ २० ॥

अतः उपर्युक्त प्रकारसे व्यवस्थापूर्वक ही संन्यासका विधान करना चाहिये। अन्यथा संन्यासी अपने पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। यह मेरा निश्चित विचार है ॥ २१ ॥ इस प्रकार वल्लभने श्रीकृष्ण-कृपासे भक्तिमार्गमें ही संन्यासका वरण निश्चित किया है; अन्यथा (इसके विपरीत) संन्यास स्वीकार करनेवाला पुरुष पतित हो जाता है ॥ २२ ॥

(संन्यास-निर्णय सम्पूर्ण)

निरोधलक्षणम्

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले। गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥ १ ॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्। यत् सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा। वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥
महतां कृपया यद्वद् भगवान् दययिष्यति। तावदानन्दसंदोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥
महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा। न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते। यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥
क्लिश्यमानाञ्जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्। सदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥
सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः। हृद्गतः स्वगुणाञ्छ्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान् ॥ ८ ॥
तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः। सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥
अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः। निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥१०॥
हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे। ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥११॥
संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै। कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥१२॥
गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः। संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम् ॥१३॥
तदा भवेद् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता। बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोऽपि सिध्यति ॥१४॥
भगवद्धर्मसामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिरः। गुणैर्हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥१५॥
एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने। अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥१६॥
हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि। दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥१७॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः। पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥१८॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते। तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥१९॥
नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः। नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात् परम् ॥२०॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं निरोधलक्षणं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

जब व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्यामसुन्दर गोकुलसे मथुरा जाने लगे, उस समय यशोदा मैयाको, नन्द आदि गोपोंको और समस्त गोप-सुन्दरियोंको जो विरहके महान् दुःखका अनुभव हुआ था, क्या वैसा ही दुःख कभी मेरे अनुभवमें भी आ सकता है ? ॥ १ ॥ गोकुलमें गोपाङ्गनाओं तथा समस्त व्रजवासियोंने भगवान्‌के जिस सांनिध्य-सुखका आस्वादन किया था; क्या वही सुख कभी भगवान् मुझे भी देंगे ? ॥ २ ॥ श्रीवृन्दावन अथवा गोकुलमें उद्धवजीके पधारनेपर प्रत्येक घरमें जैसा महान् उत्सव छा गया था, क्या वैसा ही उत्सव या उत्साह कभी मेरे मनमें भी होगा ? ॥ ३ ॥ महात्मा पुरुषोंकी कृपासे दयासिन्धु भगवान् जबतक अपने ऊपर दया करेंगे, तबतक उन आनन्दसंदोह-स्वरूप प्रभुका संकीर्तन ही अपने लिये सुखकर होगा ॥ ४ ॥ महात्माओंकी कृपासे भगवान्‌के नाम, गुण और लीलाओंका कीर्तन जैसा सुखद जान पड़ता है, वैसा लौकिक मनुष्योंके चरित्रका वर्णन नहीं। घीसे स्निग्ध भोजन और रूखे भोजनमें जो

अन्तर है, वही भगवच्चरित्र और लौकिक पुरुषोंके चरित्रके कीर्तनमें है ॥ ५ ॥ शुक आदि महात्माओंको गोविन्दके गुणगानमें जैसा सुख मिलता है, वैसा आत्मचिन्तनमें भी नहीं मिलता; फिर अन्य किसी साधनसे तो मिल ही कैसे सकता है ! ॥ ६ ॥ भक्तजनोंको अपनी प्राप्तिके लिये क्लेश उठाते देख जब भगवान् कृपापरवश हो जाते हैं, उस समय हृदय-के भीतरका सम्पूर्ण सत्स्वरूप आनन्द बाहर प्रकट हो जाता है ॥ ७ ॥ प्रभु पूर्णानन्दघन-रूप हैं, तो भी उनका कृपानन्द अत्यन्त दुर्लभ है । वे हृदयके भीतर बैठे-बैठे जब अपने गुणोंको सुनते हैं, तब वे पूर्ण परमात्मा उन भक्त-जनोंको आनन्द-सिन्धुमें आप्लावित कर देते हैं ॥ ८ ॥ इसलिये सदानन्द-स्वरूप प्रभुकी आराधनामें तत्पर भक्तोंको चाहिये कि वे अपनी चित्त-वृत्तियोंके निरोधपूर्वक सदा सबकी आसक्ति छोड़कर प्रभुके गुणोंका निरन्तर गान करें । इससे सच्चिदा-नन्दस्वरूपताकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥ मैं इन्द्रिय-निग्रह-पूर्वक भगवान्‌में निरुद्ध (आसक्त) हो निरोधमार्गको प्राप्त हुआ हूँ । अतः जो संसारमें निरुद्ध (आसक्त) हैं, उनका भगवत्स्वरूपमें निरोध (स्थापन) करनेके लिये मैं निरोध-का स्वरूप बता रहा हूँ ॥ १० ॥ भगवान्‌ने जिन्हें छोड़ दिया है, वे भवसागरमें डूबे हुए हैं और जिनको उन्होंने अपनेमें निरुद्ध कर लिया है, वे ही यहाँ निरन्तर आनन्द-मग्न रहते हैं ॥ ११ ॥ संसारके आवेशसे दूषित इन्द्रियोंके हितके लिये सम्पूर्ण वस्तुओंका सर्वव्यापी जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध जोड़ दे ॥ १२ ॥ जिनका चित्त सदा मुरारि भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंमें आसक्त है, उन्हें संसार-बन्धन और भगवद्विरहके क्लेश नहीं प्राप्त होते । वे साक्षात् श्रीहरि-के ही तुल्य सुख पाते हैं ॥ १३ ॥ ऐसी व्यवस्था होनेपर ही भगवान्‌में दयालुता मानी गयी है; अन्यथा क्रूरता ही मानी जाती । यहाँ बाधककी शङ्का भी नहीं है । भगवान्‌में किया हुआ अध्यास (आरोप) भी सफल होता है ॥ १४ ॥ भगवद्धर्मकी शक्तिसे विषयोंमें स्थिर विराग उत्पन्न होता है । भगवद्गुणोंके गानेसे जो सुख प्राप्त होता है, उससे कभी किसी दुःखका पता ही नहीं चलता ॥ १५ ॥ इस प्रकार ज्ञान-मार्गकी अपेक्षा भगवद्गुणगानके मार्गमें अधिक उत्कर्षकी प्राप्ति होती है । इसीलिये मत्सरता और लोभ छोड़कर सदा श्रीहरिके गुणोंका कीर्तन करना चाहिये ॥ १६ ॥ मानसिक संकल्पसे भी भगवन्मूर्तिका सदा ध्यान करते रहना चाहिये । उस मूर्तिमें दर्शन, स्पर्श, कृति और गति आदिकी सदा स्पष्ट भावना करनी चाहिये ॥ १७ ॥ भगवद्गुणोंका श्रवण और कीर्तन तो स्पष्टरूपसे करना उचित है । श्रीकृष्णप्रेमी पुत्रका जन्म हो, इस उद्देश्यसे ही स्त्री-सहवास करे (अथवा श्रीकृष्ण-प्रेमी पुत्रपर ही प्रीति या अनुराग रक्खे) । पायु (गुदा) आदिके मलाशको छोड़कर शरीरके शेष सभी भागोंको भगवान्‌की सेवामें लगा दे ॥ १८ ॥ जिस इन्द्रियके द्वारा जब भगवत्सम्बन्धी कार्य होता स्पष्ट न दिखायी दे, उस समय उस इन्द्रियको अवश्य वशमें करके भगवत्सेवामें नियुक्त रखना चाहिये, यही निश्चय है ॥ १९ ॥ इससे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है । इससे श्रेष्ठ कोई स्तोत्र नहीं है । इससे बड़ी कोई विद्या नहीं है और इससे बढ़कर कोई परात्पर तीर्थ नहीं है ॥ २० ॥

(निरोधलक्षण सम्पूर्ण)

सेवाफलम्

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते । अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिद्ध्येन्मनोरथः ॥ १ ॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः । उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात् तु बाधकम् ॥ २ ॥
अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि । यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥
बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथापरम् । निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥
सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ । द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥
नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम् । अवश्येयं सदा भाव्या सर्वमन्यन्मनोभ्रमः ॥ ६ ॥
तदीयैरपि तत्कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत् । गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं सेवाफलं सम्पूर्णम् ॥

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

भगवान्‌की सेवाका जैसा स्वरूप कहा गया है, उसके सिद्ध हो जानेपर तदनुकूल फल बताया जाता है। अलौकिक फल-के दान (या समर्पण) से साधकके प्रधान मनोरथकी सिद्धि होती है ॥ १ ॥ भगवत्सेवाके फल या अधिकारके विषयमें कालका कोई नियन्त्रण नहीं है। उद्वेग, प्रतिबन्ध अथवा भोग—यही सेवामें बाधक होता है ॥ २ ॥ उद्वेग तभी होता है, जब भगवान्‌को सर्वथा वह सेवा न करानी हो अथवा उसका फल न देना हो; उस दशामें तो उस सेवाको सम्पन्न करनेका कोई उपाय भी नहीं है। अथवा उद्वेग-दशामें भी तत्त्वका निश्चय और विवेक—ये सेवाके साधन माने गये हैं ॥ ३ ॥ प्रतिबन्धकोंका परित्याग (निवारण) भी आवश्यक है। भोगके दो भेद हैं—एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। इनमें भी पहला ही त्याज्य है। दूसरा विघ्न-रहित है, उससे सेवामें कोई बाधा नहीं आती। महान् अर्थात् अलौकिक भोग सदा सेवाके प्रधान फलकी श्रेणीमें आता है; अतः उससे उसका कोई विरोध नहीं है ॥ ४ ॥ अल्प अर्थात् लौकिक भोग विघ्नयुक्त होनेके कारण सेवामें बाधक होता है। ये दोनों—उद्वेग और प्रतिबन्ध सदा बल-पूर्वक विघ्नकारक माने गये हैं। प्रतिबन्धरूप द्वितीय बाधकके विषयमें सर्वथा चिन्ता त्याग देनी चाहिये; क्योंकि उसके होने-पर संसार-बन्धनका होना निश्चित है (अतः अवश्यम्भावी परिणामके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है) ॥ ५ ॥ आदि बाधक उद्वेगके होनेपर यह समझना चाहिये कि भगवान्‌को इस समय सेवाका फल देनेकी इच्छा नहीं है, तीसरी श्रेणीके बाधक भोगकी उपस्थिति होनेपर घर ही भगवत्सेवामें बाधक होता है। इन सब बातोंपर अवश्य विचार करना चाहिये। इससे भिन्न जो कुछ कहा गया है, वह मनका भ्रम है ॥ ६ ॥ भगवदीय जनोंको भगवत्सेवन निरन्तर करते रहना चाहिये। भगवान् अनुग्रहमें कभी विलम्ब नहीं कर सकते। त्रिगुणात्मक विषयोंके द्वारा क्षोभ होनेपर भी इन्हीं उपर्युक्त बातोंपर दृष्टि रखनी चाहिये। यही मेरा मत है। यदि इस विषयमें किसीके द्वारा कोई विपरीत कल्पना या कुतर्क उपस्थित किया गया तो निश्चय ही वह भी भ्रम है ॥ ७-८ ॥

(सेवाफल सम्पूर्ण)

श्रीदामोदराष्टकम्

नमामीश्वरं सच्चिदानन्दरूपं लसत्कुण्डलं गोकुले भ्राजमानम्।
यशोदाभियोलूखलाद्धावमानं परामृष्टमत्यन्ततो द्रुत्य गोप्या ॥ १ ॥
रुदन्तं मुहुर्नेत्रयुग्मं मृजन्तं कराम्भोजयुग्मेन सातङ्कनेत्रम्।
मुहुः श्वासकम्पत्रिरेखाङ्ककण्ठस्थितग्रैवदामोदरं भक्तिबद्धम् ॥ २ ॥
इतीदृक् स्वलीलाभिरानन्दकुण्डे स्वघोषं निमज्जन्तमाख्यापयन्तम्।
तदीयेशितज्ञेषु भक्तैर्जितत्वं पुनः प्रेमतस्तं शतावृत्ति वन्दे ॥ ३ ॥
वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह।
इदं ते वपुर्नाथ गोपालबालं सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः ॥ ४ ॥
इदं ते मुखाम्भोजमव्यक्तनीलैर्वृतं कुन्तलैः स्निग्धरक्तैश्च गोप्या।
मुहुश्चुम्बितं बिम्बरक्ताधरं मे मनस्याविरास्तामलं लक्षलाभैः ॥ ५ ॥
नमो देव दामोदरानन्त विष्णो प्रसीद प्रभो दुःखजालाब्धिमग्नम्।
कृपादृष्टिवृष्ट्यातिदीनं बतानुगृहाणेश मामज्ञमेध्यक्षिदृश्यः ॥ ६ ॥
कुबेरात्मजौ बद्धमूर्त्यैव यद्वत् त्वया मोचितौ भक्तिभाजौ कृतौ च।
तथा प्रेमभक्तिं स्वकां मे प्रयच्छ न मोक्षे ग्रहो मेऽस्ति दामोदरेह ॥ ७ ॥
नमस्तेऽस्तु दाम्ने स्फुरद्दीप्तिधाम्ने त्वदीयोदरायाथ विश्वस्य धाम्ने।
नमो राधिकायै त्वदीयप्रियायै नमोऽनन्तलीलाय देवाय तुभ्यम् ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीसत्यव्रतमुनिविरचितं श्रीदामोदराष्टकं सम्पूर्णम् ॥

जिनके कानोंमें मकराकृत कुण्डल सुशोभित हैं, जो गोकुलमें अपनी अलौकिक प्रभाका प्रसार करते हुए माँ यशोदाके भयसे छींकेपर रक्खे हुए माखनको चुरानेका प्रयत्न छोड़कर उलटाये हुए ऊखलपरसे भाग छूटते हैं और जिन्हें उसी दशामें नन्दरानी वेगपूर्वक दौड़कर पकड़ लेती हैं, उन सच्चिदानन्द-विग्रह सर्वेश्वर श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥ जननीके तर्जनसे भयभीत होकर रोते हुए वे बार-बार अपने दोनों सभीत नेत्रोंको युगल हस्तकमलोंसे मसल रहे हैं। बार-बार सुबकनेके कारण जिनके त्रिरेखायुक्त कण्ठमें पड़ी हुई मोतियोंकी माला कम्पित हो रही है । माता यशोदाने अपनी अनुपम भक्तिके बलसे उनकी कमरको रस्सीसे बाँध दिया है। इस प्रकार अपने दामोदर नामको चरितार्थ करते हुए श्रीनन्दनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥ जो अपनी ऐसी-ऐसी लीलाओंके द्वारा गोकुलवासियोंको आनन्दसरोवरमें निमग्न करते तथा अपने दासोंपर इस प्रकार अपनी भक्तपरवशता प्रकट करते रहते हैं, उन लीला-विहारी प्रभुको मैं पुनः प्रेम-पूर्वक शत-शत वन्दना करता हूँ ॥ ३ ॥ हे देव ! यद्यपि आप वर देनेमें सब प्रकार समर्थ हैं, फिर भी मैं आपसे वररूपमें न तो मोक्षकी याचना करता हूँ और न मोक्षकी परम अवधिरूप श्रीवैकुण्ठादि लोकोंकी प्राप्ति ही चाहता हूँ। न मैं इस जगत्से सम्बन्ध रखनेवाला कोई दूसरा वरदान ही आपसे माँगता हूँ । मैं तो आपसे इतनी ही कृपाकी भीख माँगता हूँ कि नाथ ! आपका यह बाल-गोपाल-रूप ही निरन्तर मेरी चित्तभूमिपर अवस्थित रहे; मुझे और वस्तुओंसे क्या प्रयोजन है ॥ ४ ॥ अत्यन्त नीलवर्ण, सुचिक्कण एवं कुछ-कुछ लालिमा लिये हुए घुँघराले बालोंसे घिरा हुआ तथा नन्दरानी यशोदाके द्वारा बार-बार चूमा हुआ तुम्हारा कमल-सा मुखड़ा तथा पके हुए बिम्बफल-सदृश लाल-लाल अधर-पल्लव मेरे मानस-पटलपर सदा थिरकते रहें; मुझे लाखों प्रकारके दूसरे लाभोंसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥५॥ हे देव ! हे दामोदर ! हे अनन्त ! हे विष्णो ! तुम्हें प्रणाम है। प्रभो ! मुझपर प्रसन्न होओ एवं दुःखसमूहरूप समुद्रमें डूबे हुए मुझ अति दीन एव अज्ञ प्राणीको कृपादृष्टि-की वर्षासे निहाल कर दो और हे स्वामिन् ! तुम सदा ही मेरे नेत्रगोचर बने रहो ॥ ६ ॥ हे दामोदर ! जिस प्रकार तुमने अपने दामोदररूपसे ही ऊखलमें बँधे रहकर कुबेरके यमज पुत्रोंका वृक्षयोनिसे उद्धार तो किया ही, साथ-ही-साथ उन्हें अपना भक्त भी बना लिया, उसी प्रकार मुझे भी अपनी प्रेमभक्तिका दान करो । मेरा मोक्षके लिये तनिक भी आग्रह नहीं है ॥ ७ ॥ जगमगाते हुए प्रकाशपुञ्जसदृश उस रज्जुको प्रणाम है ! सम्पूर्ण विश्वके आधारभूत तुम्हारे उदरको भी नमस्कार है; तुम्हारी प्रियतमा श्रीराधारानीके चरणोंमें मेरा बार-बार प्रणाम है और अनन्त लीलामय देवाधिदेव तुमको भी मेरा शत-शत प्रणाम है ॥ ८ ॥

(श्रीदामोदराष्टक सम्पूर्ण)

श्रीजगन्नाथाष्टकम्

कदाचित् कालिन्दीतट-विपिन-संगीत-तरलो मुदाभीरी-नारी-वदन-कमलास्वाद-मधुपः ।
रमा-शम्भु-ब्रह्मामरपतिगणेशार्चितपदो जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ १ ॥
भुजे सव्ये वेणुं शिरसि शिखिपिच्छं कटितटे दुकूलं नेत्रान्ते सहचर-कटाक्षं विदधते ।
सदा श्रीमद्वृन्दावन-वसति-लीला-परिचयो जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ २ ॥
महाम्भोधेस्तीरे कनकरुचिरे नीलशिखरे वसन् प्रासादान्तः सहजबलभद्रेण बलिना ।
सुभद्रामध्यस्थः सकलसुरसेवावसरदो जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ ३ ॥
कृपापारावारः सजलजलदश्रेणिरुचिरो रमावाणीरामः स्फुरदमलपङ्केरुहमुखः ।
सुरेन्द्रैराराध्यः श्रुतिगणशिखागीतचरितो जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ ४ ॥
रथारूढो गच्छन् पथि मिलितभूदेवपटलैः स्तुतिप्रादुर्भावं प्रतिपदमुपाकर्ण्य सदयः ।
दयासिन्धुर्बन्धुः सकलजगतां सिन्धु-सदयो जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ ५ ॥
परब्रह्मापीडः कुवलयदलोत्फुल्लनयनो निवासी नीलाद्रौ निहितचरणोऽनन्तशिरसि ।
रसानन्दी राधा-सरसवपुरालिङ्गनसुखो जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ ६ ॥

श्रीमुकुन्दमुक्तावली

नवजलधरवर्णं चम्पकोद्भासिकर्णं विकसितनलिनास्यं विस्फुरन्मन्दहास्यम् ।
कनकरुचिदुकूलं चारुबर्हावचूलं कमपि निखिलसारं नौमि गोपीकुमारम् ॥ १ ॥
मुखजितशरदिन्दुः केलिलावण्यसिन्धुः करविनिहितकन्दुः बल्लवीप्राणबन्धुः ।
वपुरुपसृतरेणुः कक्षनिक्षिप्तवेणुः वचनवशगधेनुः पातु मां नन्दसूनुः ॥ २ ॥
ध्वस्तदुष्टशङ्खचूड बल्लवीकुलोपगूढ भक्तमानसाधिरूढ नीलकण्ठपिच्छचूड ।
कण्ठलम्बिमञ्जुगुञ्ज केलिलब्धरम्यकुञ्ज कर्णवर्तिफुल्लकुन्द पाहि देव मां मुकुन्द ॥ ३ ॥
यज्ञभङ्गरुष्टशक्र नुन्नघोरमेघचक्र वृष्टिपूरखिन्नगोपवीक्षणोपजातकोप ।
क्षिप्रसव्यहस्तपद्म धारितोच्चशैलसद्मगुप्तगोष्ठ रक्ष रक्ष मां तथाद्य पङ्कजाक्ष ॥ ४ ॥
मुक्ताहारं दधदुडुचक्राकारं सारं गोपीमनसि मनोजारोपी ।
कोपी कंसे खलनिकुरम्बोत्तंसे वंशी रङ्गी दिशतु रतिं नः शार्ङ्गी ॥ ५ ॥
लीलोद्दामा जलधरमाला श्यामा क्षामाः कामादभिरचयन्ती रामाः ।
सा मामव्यादखिलमुनीनां स्तव्या गव्यापूर्तिः प्रभुरघशत्रोर्मूर्तिः ॥ ६ ॥
पर्ववर्तुलशर्वरीपतिगर्वरीतिहराननं नन्दनन्दनमिन्दिराकृतवन्दनं धृतचन्दनम् ।
सुन्दरीरतिमन्दिरीकृतकन्दरं धृतमन्दरं कुण्डलद्युतिमण्डलप्लुतकन्धरं भज सुन्दरम् ॥ ७ ॥
गोकुलाङ्गणमण्डनं कृतपूतनाभवमोचनं कुन्दसुन्दरदन्तमम्बुजवृन्दवन्दितलोचनम् ।
सौरभाकरफुल्लपुष्करविस्फुरत्करपल्लवं दैवतव्रजदुर्लभं भज बल्लवीकुलवल्लभम् ॥ ८ ॥
तुण्डकान्तिदण्डितोरुपाण्डुरांशुमण्डलं गण्डपालिताण्डवालिशालिरत्नकुण्डलम् ।
फुल्लपुण्डरीकषण्डक्लृप्तमाल्यमण्डनं चण्डबाहुदण्डमत्र नौमि कंसखण्डनम् ॥ ९ ॥
उत्तरङ्गदङ्गरागसंगमातिपिङ्गलस्तुङ्गशृङ्गसङ्गिपाणिरङ्गनालिमङ्गलः
दिग्विलासिमल्लिहासकीर्तिवल्लिपल्लवस्त्वां स पातु फुल्लचारुचिल्लिरद्य बल्लवः ॥ १० ॥

इन्द्रनिवारं व्रजपतिवारं निर्धुतवारं हृतनववारम् ।
रक्षितगोत्रं प्रीणितगोत्रं त्वां धृतगोत्रं नौमि सगोत्रम् ॥ ११ ॥
कंसमहीपतिहृद्गतशूलं संततसेवितयामुनकूलम् ।
वन्दे सुन्दरचन्द्रकचूलं त्वामहमखिलचराचरमूलम् ॥ १२ ॥
मलयजरुचिरस्तनुजितमुदिरः पालितविबुधस्तोषितवसुधः ।
मामतिरसिकः केलिभिरधिकः सितसुभगरदः कृपयतु वरदः ॥ १३ ॥
उररीकृतमुरलीरुतभङ्गं नवजलधरकिरणोल्लसदङ्गम् ।
युवतिहृदयधृतमदनतरङ्गं प्रणमत यामुनतटकृतरङ्गम् ॥ १४ ॥
नवाम्भोदनीलं जगत्तोषिशीलं मुखासङ्गिवंशं शिखण्डावतंसम् ।
करालम्बिवेत्रं वराम्भोजनेत्रं धृतस्फीतगुञ्जं भजे लब्धकुञ्जम् ॥ १५ ॥
हृतक्षोणिभारं कृतक्लेशहारं जगद्गीतसारं महारत्नहारम् ।
मृदुश्यामकेशं लसद्वन्यवेशं कृतप्रेमलेशं भजे बल्लवेशम् ॥ १६ ॥

उल्लसद्बल्लवीवाससां तस्करस्तेजसा निर्जितप्रस्फुरद्भास्करः ।
पीनदोःस्तम्भयोरुल्लसच्चन्दनः पातु वः सर्वतो देवकीनन्दनः ॥ १७ ॥

न वै याचे राज्यं न च कनकमाणिक्यविभवं न याचेऽहं रम्यं सकलजनकाम्यं वरवधूम् ।
सदा काले काले प्रमथपतिना गीतचरितो जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ ७ ॥
हर त्वं संसारं द्रुततरमसारं सुरपते ! हर त्वं पापानां विततिमपरां यादवपते ! ।
अहो दीनेऽनाथे निहितचरणो निश्चितमिदं जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ ८ ॥
जगन्नाथाष्टकं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः शुचिः । सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीगौरचन्द्रमुखपद्मविनिर्गतं श्रीश्रीजगन्नाथाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

जो कभी श्रीयमुनाके तटवर्ती वनमें गायन-रत होकर अत्यन्त चञ्चल रहते हैं और कभी भ्रमरके समान आभीरनारियोंके मुखारविन्दका आनन्दपूर्वक आस्वादन करते हैं तथा श्रीलक्ष्मीजी, भगवान् शंकर, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, देवराज इन्द्र और श्रीगणेशजी जिनके चरणोंका अर्चन करते हैं, वे मेरे स्वामी जगन्नाथजी कृपापूर्वक मेरे नयनगोचर हों ॥ १ ॥

जो बायें हाथमें वंशी, मस्तकपर मोरपंख, कटितटमें पीताम्बर तथा नेत्रोंके प्रान्तमें सखाओंके प्रति कटाक्षपूर्ण दृष्टि धारण करते हैं, जो सदा-सर्वदा निरतिशय शोभाशाली वृन्दावनधाममें ही निवास करते हैं तथा वहीं जिनकी विविध लीलाओंका परिचय होता है, वे मेरे स्वामी जगन्नाथजी कृपापूर्वक मेरे नेत्रपथमें प्रकट हों ॥ २ ॥

जो महासागरके तटपर स्वर्णकी-सी कान्तिवाले नीलाचल-पर दिव्यातिदिव्य प्रासादमें अपने अग्रज महाबली श्रीबलभद्रजी एवं बहिन सुभद्राके बीचमें विराजमान रहकर समस्त देव-वृन्दोंको अपनी पुनीत सेवाका शुभ अवसर प्रदान करते हैं, वे जगन्नाथ स्वामी सदा मेरे नेत्रोंके सम्मुख रहें ॥ ३ ॥

जो कृपाके सागर हैं, जिनकी छटा सजल मेघोंकी घटाको मात करती है, जो अपनी गृहिणियों श्रीलक्ष्मी तथा सरस्वतीको आनन्दित करते रहते हैं, जिनका श्रीमुख देदीप्यमान निर्मल कमलकी शोभाको धारण करता है, बड़े-बड़े देवताओंके द्वारा जो आराधन किये जाने योग्य हैं तथा श्रुतियोंके शीर्षस्थानीय उपनिषदोंमें जिनके पावन चरित्रोंका गान किया गया है, वे मेरे प्रभु श्रीजगन्नाथजी सदा मुझे दर्शन देते रहें ॥ ४ ॥

जो रथयात्राके समय मार्गमें एकत्रित हुए भूसुरवृन्दोंके द्वारा किये हुए स्तवनको सुनकर पद-पदपर दयासे द्रवित होते रहते हैं, वे दयासागर, निखिल ब्रह्माण्डोंके बन्धु एवं समुद्रपर कृपा करके उसके तटपर निवास करनेवाले श्रीजगन्नाथ स्वामी मेरे नयनोंके अतिथि बनें ॥ ५ ॥

साक्षात् परब्रह्म ही जिनके मस्तकपर भूषणरूपमें विद्यमान हैं, जिनके नेत्र खिले हुए कमलके समान सुन्दर हैं, जो नीलाचलपर भक्तोंको सुख देनेके लिये निवास करते हैं तथा जो शेषशायीरूपसे भगवान् अनन्तके मस्तकपर चरण रखे रहते हैं और प्रेमानन्दमय विग्रहसे श्रीराधाके रसमय शरीरके आलिङ्गनका अनुपम सुख लूटते रहते हैं, वे मेरे प्रभु श्रीजगन्नाथजी निरन्तर मेरे नेत्रोंको आनन्दित करते रहें ॥ ६ ॥

न तो मैं राज्यकी ही याचना करता हूँ और न स्वर्ण एवं माणिक्यादि रत्नोंके वैभवकी ही प्रार्थना करता हूँ। जिसे सब लोग चाहते हों, ऐसी सुन्दरी एवं श्रेष्ठ रमणीकी भी मुझे कामना नहीं है; मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि भगवान् भूतपति समय-समयपर जिनके निर्मल चरित्रोंका गान करते रहते हैं वे मेरे प्रभु श्रीजगन्नाथजी सदा-सर्वदा मेरे नेत्रोंके सम्मुख नाचते रहें ॥ ७ ॥

हे सुरेश्वर ! शीघ्रातिशीघ्र इस असार-संसारको मेरे नेत्रोंके सामनेसे हटा दो। हे यदुनाथ ! मेरे पापोंकी अमित राशिको भस्म कर दो। अरे ! यह ध्रुव सत्य है कि मेरे स्वामी दीन-अनाथोंको अपने श्रीचरणोंका प्रसाद अवश्य देते हैं। वे ही श्रीजगन्नाथजी मेरे नेत्रोंको भी दर्शनसे कृतार्थ करें ॥ ८ ॥

इस पवित्र श्रीजगन्नाथाष्टकका जो एकाग्रचित्त एवं पवित्र होकर पाठ करता है उसके अन्तःकरणके समस्त पाप धुल जाते हैं और अन्तमें उसे विष्णुलोककी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

(श्रीजगन्नाथाष्टक सम्पूर्ण)

श्रीमुकुन्दमुक्तावली

नवजलधरवर्णं चम्पकोद्भासिकर्णं विकसितनलिनास्यं विस्फुरन्मन्दहास्यम् ।
कनकरुचिदुकूलं चारुबर्हावचूलं कमपि निखिलसारं नौमि गोपीकुमारम् ॥ १ ॥
मुखजितशरदिन्दुः केलिलावण्यसिन्धुः करविनिहितकन्दुः बल्लवीप्राणबन्धुः ।
वपुरुपसृतरेणुः कक्षनिक्षिप्तवेणुः वचनवशगधेनुः पातु मां नन्दसूनुः ॥ २ ॥
ध्वस्तदुष्टशङ्खचूड बल्लवीकुलोपगूढ भक्तमानसाधिरूढ नीलकण्ठपिच्छचूड ।
कण्ठलम्बिमञ्जुगुञ्ज केलिलब्धरम्यकुञ्ज कर्णवर्तिफुल्लकुन्द पाहि देव मां मुकुन्द ॥ ३ ॥
यज्ञभङ्गरुष्टशक्र नुन्नघोरमेघचक्र वृष्टिपूर खिन्नगोपवीक्षणोपजातकोप ।
क्षिप्रसव्यहस्तपद्म धारितोच्चशैलसद्मगुप्तगोष्ठ रक्ष रक्ष मां तथाद्य पङ्कजाक्ष ॥ ४ ॥
मुक्ताहारं दधदुडुचक्राकारं सारं गोपीमनसि मनोजारोपी ।
कोपी कंसे खलनिकुरम्बोत्तंसे वंशे रङ्गी दिशतु रतिं नः शार्ङ्गी ॥ ५ ॥
लीलोद्दामा जलधरमाला श्यामा क्षामाः कामादभिरचयन्ती रामाः ।
सा मामव्यादखिलमुनीनां स्तव्या गव्यापूर्तिः प्रभुरघशत्रोर्मूर्तिः ॥ ६ ॥
पर्ववर्तुलशर्वरीपतिगर्वरीतिहराननं नन्दनन्दनमिन्दिराकृतवन्दनं धृतचन्दनम् ।
सुन्दरीरतिमन्दिरीकृतकन्दरं धृतमन्दरं कुण्डलद्युतिमण्डलप्लुतकन्धरं भज सुन्दरम् ॥ ७ ॥
गोकुलाङ्गणमण्डनं कृतपूतनाभवमोचनं कुन्दसुन्दरदन्तमम्बुजवृन्दवन्दितलोचनम् ।
सौरभाकरफुल्लपुष्करविस्फुरत्करपल्लवं दैवतव्रजदुर्लभं भज बल्लवीकुलवल्लभम् ॥ ८ ॥
तुण्डकान्तिदण्डितोरुपाण्डुरांशुमण्डलं गण्डपालिताण्डवालिशालिरत्नकुण्डलम् ।
फुल्लपुण्डरीकषण्डक्लृप्तमाल्यमण्डनं चण्डबाहुदण्डमत्र नौमि कंसखण्डनम् ॥ ९ ॥
उत्तरङ्गदङ्गरागसंगमातिपिङ्गलस्तुङ्गशृङ्गसङ्गिपाणिरङ्गनालिमङ्गलः
दिग्विलासिमल्लिहासिकीर्तिवल्लिपल्लवस्त्वां स पातु फुल्लचारुचिल्लिरद्य बल्लवः ॥ १० ॥

इन्द्रनिवारं व्रजपतिवारं निर्धुतवारं हृतघनवारम् ।
रक्षितगोत्रं प्रीणितगोत्रं त्वां धृतगोत्रं नौमि सगोत्रम् ॥ ११ ॥
कंसमहीपतिहृद्गतशूलं संततसेवितयामुनकूलम् ।
वन्दे सुन्दरचन्द्रकचूलं त्वामहमखिलचराचरमूलम् ॥ १२ ॥
मलयजरुचिरस्तनुजितमुदिरः पालितविबुधस्तोषितवसुधः ।
मामनिरसिकः केलिभिरधिकः सितसुभगरदः कृपयतु वरदः ॥ १३ ॥
उररीकृतमुरलीरुतभङ्गं नवजलधरकिरणोल्लसदङ्गम् ।
युवतिहृदयधृतमदनतरङ्गं प्रणमत यामुनतटकृतरङ्गम् ॥ १४ ॥
नवाम्भोदनीलं जगत्तोषिशीलं मुखासङ्गिवंशं शिखण्डावतंसम् ।
करालम्बिवेत्रं वराम्भोजनेत्रं धृतस्फीतगुञ्जं भजे लब्धकुञ्जम् ॥ १५ ॥
हृतक्षोणिभारं कृतक्लेशहारं जगद्गीतसारं महारत्नहारम् ।
मृदुश्यामकेशं लसद्वन्यवेशं कृपाभिनदेशं भजे बल्लवेशम् ॥ १६ ॥

उल्लसद्बल्लवीवाससां तस्करस्तेजसा निर्जितप्रस्फुरद्भास्करः ।
पीनदोःस्तम्भयोरुल्लसच्चन्दनः पातु वः सर्वतो देवकीनन्दनः ॥ १७ ॥

संसृतेस्तारकं तं गवां चारकं वेणुना मण्डितं क्रीडने पण्डितम् ।
धातुभिर्वेषिणं दानवद्वेषिणं चिन्तय स्वामिनं वल्लवीकामिनम् ॥ १८ ॥

उपात्तकवलं परागशवलं सदैकशरणं सरोजचरणम् ।
अरिष्टदलनं विकृष्टललनं नमामि समहं सदैव तमहम् ॥ १९ ॥
विहारसदनं मनोज्ञरदनं प्रणीतमदनं शशाङ्कवदनम् ।
उरःस्थकमलं यशोभिरमलं करात्तकमलं भजस्व तमलम् ॥ २० ॥
दुष्टध्वंसः कर्णिकारावतंसः खेलद्वंशीपञ्चमध्वानशंसी ।
गोपीचेतः केलिभङ्गीनिकेतः पातु स्वैरी हन्त वः कंसवैरी ॥ २१ ॥
वृन्दाटव्यां केलिमानन्दनव्यां कुर्वन्नारी चित्तकन्दर्पधारी ।
नर्मोद्गारी मां दुकूलापहारी नीपारूढः पातु बर्हावचूडः ॥ २२ ॥
रुचिरनखे रचय सखे वलितरतिं भजनततिम् ।
त्वमविरतिस्त्वरितगतिर्नतशरणे हरिचरणे ॥ २३ ॥
रुचिरपटः पुलिननटः पशुपगतिर्गुणवसतिः ।
स मम शुचिर्जलदरुचिर्मनसि परिस्फुरतु हरिः ॥ २४ ॥
केलिविहितयमलार्जुनभञ्जन सुललितचरितनिखिलजनरञ्जन ।
लोचननर्त्तनजितचलखञ्जन मां परिपालय कालियगञ्जन ॥ २५ ॥
भुवनविसृत्वरमहिमाडम्बर विरचितनिखिलखलोत्कर संवर ।
वितर यशोदातनय वरं वरमभिलषितं मे धृतपीताम्बर ॥ २६ ॥
चिकुरकरम्बितचारुशिखण्डं भालविनिर्जितवरशशिखण्डम् ।
रदरुचिनिर्धुतमुद्रितकुन्दं कुरुत बुधा हृदि सपदि मुकुन्दम् ॥ २७ ॥
यः परिरक्षितसुरभीलक्षस्तदपि च सुरभीमर्दनदक्षः ।
मुरलीवादनखुरलीशाली स दिशतु कुशलं तव वनमाली ॥ २८ ॥

रमितनिखिलडिम्बे वेणुपीतोष्ठबिम्बे हतखलनिकुरम्बे वल्लवीदत्तचुम्बे ।
भवतु महितनन्दे तत्र वः केलिकन्दे जगदविरलतुन्दे भक्तिरुर्वी मुकुन्दे ॥ २९ ॥
पशुपयुवतिगोष्ठी चुम्बितश्रीमदोष्ठी स्मरतरलितदृष्टिर्निर्मितानन्दवृष्टिः ।
नवजलधरधामा पातु वः कृष्णनामा भुवनमधुरवेशा मालिनी मूर्त्तिरेषा ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमद्रूपगोस्वामिविरचिता श्रीमुकुन्दमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

जिनका वर्ण नवीन जलधरके समान है, जिनके कानोंमें चम्पाके फूल सुशोभित हैं, खिले हुए पद्मके समान जिनका मुख है, जिसपर मन्दहास्य सदा खेलता रहता है, जिनके वस्त्रकी कान्ति स्वर्णके समान है, जो मस्तकपर मोरमुकुट धारण किये रहते हैं, उन सबके साररूप श्रीयशोदाकुमारका मैं स्तवन करता हूँ ॥ १ ॥

जिनके मुखकी अनुपम शोभा शरद्ऋतुके पूर्ण चन्द्रका पराभव करती है, जो क्रीडारस एवं लावण्यके समुद्र हैं, जो ... कन्दुक लिये रहते हैं तथा गोपियोंके प्राणबन्धु हैं, जिनका मङ्गलविग्रह गोधूलिसे धूसरित रहता है, जो बगलमें वंशी लिये रहते हैं और गौएँ जिनकी वाणीके वशीभूत रहती हैं, वे नन्दनन्दन मेरी रक्षा करें ॥ २ ॥

हे मुकुन्द ! आपने शङ्खचूड़-जैसे दुष्टका बात-की-बातमें संहार कर दिया । भाग्यवती गोपरमणियाँ बड़े ही प्रेमसे आप-को हृदयसे लगाती हैं । भक्तोंकी मानस-भूमिपर आप सदा ही आरूढ़ रहते हैं । मयूरपिच्छके द्वारा आप अपने केशपाश-को सजाये रहते हैं । आपके कण्ठदेशमें मनोहर गुञ्जाओंके हार लटकते रहते हैं । अपनी रसमयी क्रीडाओंके लिये आप रमणीय

पुष्पोंका आश्रय लेते हैं और अपने कानोंमें खिले हुए कुन्दके फूल खोंसे रहते हैं। देव! आप मेरी रक्षा करें॥ ३॥

हे कमलनयन! यज्ञ बंद कर दिये जानेसे रुष्ट हुए इन्द्रने भयंकर मेघमण्डलीको प्रेरितकर जब व्रजभूमिपर मूसलधार वर्षा प्रारम्भ की, उस समय इस अतर्कित विपत्तिसे दुखी हुए गोपालोंको देखकर आपके क्रोधका पार नहीं रहा और आपने तुरत अपने बाँयें करकमलपर उत्तुङ्ग गोवर्द्धन गिरिको धारणकर उसीकी छत्रछायामें सम्पूर्ण व्रजमण्डलको उबार लिया, उसी प्रकार आज मुझ अनाथकी भी रक्षा करें॥ ४॥

जो अपने वक्षःस्थलपर नक्षत्रमण्डलीके समान मोतियोंका बहुमूल्य एवं श्रेष्ठ हार धारण किये रहते हैं, जो गोपाङ्गनाओंके चित्तमें प्रेमका संचार करते रहते हैं, दुष्टमण्डलीका शिरोभूषणरूप कंस जिनके क्रोधका शिकार बन गया और जिनकी वंशीपर विशेष प्रीति है, वे श्रीकृष्ण हमें अपने दुर्लभ प्रेमका दान करें॥ ५॥

स्वच्छन्द क्रीडामें रत रहनेवाली, मेघमालाके समान श्याम, गोपबालाओंको प्रेम-व्याधिसे जर्जर कर देनेवाली, अखिल मुनिमण्डलीके द्वारा स्तवनके योग्य एवं दूध, मक्खन आदि गव्य पदार्थोंसे पूर्ण तृप्तिका अनुभव करनेवाली भगवान् अघसूदन श्रीनन्दनन्दनकी सर्वैश्वर्यपूर्ण मञ्जुलमूर्ति मेरी रक्षा करे॥ ६॥

जिनका मनोहर मुखमण्डल पूर्णिमाके चन्द्रमाके गर्वको चूर्ण कर देता है (जिससे वह लज्जासे मानो पुनः क्षीण होने लगता है), भगवती लक्ष्मी जिनके चरणोंका सदा ही वन्दन किया करती हैं, जो अपने श्रीविग्रहपर दिव्यातिदिव्य चन्दनका लेप किये रहते हैं, जो व्रजसुन्दरियोंका प्रेमोपहार स्वीकार करनेके लिये गिरिराजकी कन्दराओंको मन्दिर बना लेते हैं, घनघोर वर्षासे व्रजको बचानेके लिये जिन्होंने गोवर्द्धनगिरिको लीलासे ही अपने करकमलपर धारण कर लिया है एवं जिनकी ग्रीवा चमचमाते हुए पुष्पोंके प्रभामण्डलसे परिम्लान रहती है, उन श्यामसुन्दर नन्दनन्दनका ही निरन्तर सेवन करते रहो॥ ७॥

जो गोकुलके प्राङ्गणको अपनी मनोमुग्धकारी लीलाओंसे मण्डित करनेवाले, पूतना जैसी राक्षसीको जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छुड़ा देनेवाले हैं, जिनकी दन्तपङ्क्ति कुन्दकलियोंके समान शुभ्र एवं मनोहर है, जिनके नित्य सेवन योग्य अम्बुज-वृन्दके [illegible] हैं, जिनके कर-कमल [illegible] पुष्पवृष्टिके समान शोभायमान हैं और जिनका दिव्य-दर्शन देव-वृन्दके लिये भी दुर्लभ है, उन गोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्णका सदा स्मरण करते रहो॥ ८॥

जिनके मनोहर मुखमण्डलकी कान्ति पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलके गर्वको भी खण्डित करती रहती है, रत्ननिर्मित कुण्डल जिनके गण्ड-मण्डलपर ताण्डव करते रहते हैं, फूले हुए कमलोंकी मालासे जिनका वक्षःस्थल सदा मण्डित रहता है और जिनके बाहुदण्ड शत्रुओंके लिये बड़े ही प्रचण्ड हैं, उन कंसमर्दन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं स्तुति करता हूँ॥ ९॥

उठती हुई तरङ्गोंके समान अङ्गरागके लेपसे जिनकी अङ्गकान्ति पीताभ हो गयी है, जो हृत्कमलमें लवा-सा गीत धारण किये हुए हैं, जो व्रजाङ्गनाओंकी मण्डलीके लिये अत्यन्त मङ्गलरूप हैं, जिनकी कीर्तिवल्लीके पल्लव दिशाओंको मण्डित करनेवाले मालतीके पुष्पोंका परिहास करते हैं और जिनकी कमनीय भ्रूलताएँ कान्तिसे उल्लसित रहती हैं, वे वल्लवकुमार आज आपकी रक्षा करें॥ १०॥

हे श्रीकृष्ण! आपने ही तो अपने पिता व्रजराज (श्रीनन्दजी) को इन्द्रपूजासे रोका था तथा मानभङ्गसे रुष्ट हुए इन्द्रका निरादर किया था और अपने सङ्कल्पसे ही उनके द्वारा बरसायी हुई अपार जलराशिका शोषण किया था; आपने ही बाणोंके द्वारा गाड़ी की हुई मोटी दीवारको हटाया था और इस प्रकार व्रजकी रक्षा करके अपने कुलको आनन्दित किया था। उन गोपेन्द्रनन्दन गिरिधारी श्रीकृष्णकी उनके कुलके सहित मैं स्तुति करता हूँ॥ ११॥

आप [illegible] राजा बलिके हृदयमें सूर्यकी भाँति [illegible] रहते हैं तथा निरन्तर यमुनातटका ही सेवन किया करते हैं। आपके [illegible] सुन्दर मयूरपिच्छ सुशोभित रहता है। सम्पूर्ण चराचर आपके अधिकारमें [illegible] आपकी मैं वन्दना करता हूँ॥ १२॥

जिनका श्रीअङ्ग चन्दनके लेपसे अत्यन्त सुशोभित है, जो अपनी अङ्गकान्तिसे नवीन जलधरका भी तिरस्कार करनेवाले हैं, जिन्होंने देववृन्दकी [illegible] और जो दुष्टोंके [illegible] करते रहते हैं, जिनकी दन्तपङ्क्ति कुन्दके समान [illegible] एवं कमनीय है और जो अपनी [illegible] हैं, वे [illegible] श्रीकृष्ण [illegible] करें॥ १३॥

जो दुष्टोंकी [illegible] करते रहते हैं, जिनके [illegible] रहती है, जो [illegible] हृदयमें [illegible]

हैं और जो यमुनाजीके तटपर क्रीडा करते रहते हैं, उन भगवान् श्यामसुन्दरको प्रणाम करो ॥ १४ ॥

जिनका नवीन जलधरके समान श्यामवर्ण है, जो अपने मधुर स्वभाव एवं आचरणसे समस्त ब्रह्माण्डको संतुष्ट करते रहते हैं, जिनके श्रीमुखसे वंशी कभी अलग नहीं होती, जो मयूरपिच्छका मुकुट धारण किये रहते हैं, जिनके करकमलमें वेत्रदण्ड सुशोभित है, जिनके नेत्र कमलके समान शोभायमान हैं, जो बड़े-बड़े गुञ्जाओंकी मालाएँ धारण किये रहते हैं और जो वृन्दावनके कुञ्जोंमें विहार करते रहते हैं, उन श्रीकृष्णका ही मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥ १५ ॥

जो महाबलशाली दानवोंका संहार करके पृथ्वीका भार हरण करते हैं और प्रणत एवं साधुजनोंका क्लेश दूर करते हैं, जिनके बलका जगत्‌में यशोगान होता है, जो अमूल्य रत्नोंके हार धारण किये रहते हैं; जिनके केश अत्यन्त मृदु एवं श्याम हैं, जो वनवासियोंका-सा वेश धारण किये रहते हैं तथा कृपाके पारावार हैं, उन गोपेन्द्रकुमारका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥ १६ ॥

जो गोपबालाओंके चमकीले वस्त्रोंका हरण कर लेते हैं तथा अपने दिव्य प्रकाशसे तेजोमय भगवान् भास्करको भी पराजित करते हैं, जिनकी पीन भुजाओंमें चन्दनका लेप सुशोभित है, वे भगवान् यशोदानन्दन आपलोगोंकी सब प्रकार रक्षा करें ॥ १७ ॥

जो प्रणतजनोंको संसारसे तार देते हैं तथा गौओंके वृन्दको वन-वनमें घूमकर चराते रहते हैं, वंशीसे विभूषित रहते हैं और विविध प्रकारकी क्रीडाओंमें अत्यन्त कुशल हैं, जो गैरिक धातुओंसे अपने श्रीअङ्गोंको मण्डित किये रहते हैं तथा दानवोंके शत्रु हैं, उन गोपीजनोंके प्रेमी जगदीश्वर श्रीकृष्णका ही चिन्तन किया करो ॥ १८ ॥

जो हाथमें दही-भातका कौर लिये रहते हैं, जिनके श्रीअङ्ग रेणुसे चित्र-विचित्र बने रहते हैं, जो सज्जनोंके एकमात्र आश्रय हैं, जिनके पाद-पल्लव कमलके सदृश कोमल हैं, जो अरिष्टासुर एवं भक्तजनोंके अशुभका विनाश करनेवाले हैं, जो अपनी प्रेमभरी चेष्टाओंसे कामिनियोंका चित्त चुरानेवाले हैं और जो सदा ही आनन्दसे पूर्ण रहते हैं, उन नन्दनन्दन-[illegible] सदैव नमन करता हूँ ॥ १९ ॥

विविध प्रकारकी लीलाओंके धाम हैं, जिनकी दन्त-पङ्क्ति बड़ी ही मनोहर है, जो व्रजयुवतियोंके हृदयमें प्रेमका संचार करते रहते हैं, जिनका मुखमण्डल चन्द्रबिम्बके समान है, जिनके वक्षःस्थलपर स्वर्ण-रेखाके रूपमें भगवती लक्ष्मी सदा निवास करती हैं, जिनकी निर्मल कीर्ति समस्त दिशाओंमें फैली हुई है और जो हाथमें लीलाकमल फिराते रहते हैं, उन श्रीकृष्णका ही सर्वतोभावेन भजन करो ॥ २० ॥

जो दुष्टोंका दलन करते एवं कनेरके फूलोंको कर्णभूषणके रूपमें धारण किये रहते हैं, जो अपनी जगन्मोहिनी मुरलीसे पञ्चम स्वरका सर्वत्र विस्तार करते रहते हैं, श्रीगोपीजनोंका चित्त जिनकी विविध विलासपूर्ण भङ्गियोंका निकेतन बना हुआ है, वे परम स्वतन्त्र कंसारि श्रीकृष्ण आप सबकी रक्षा करें ॥ २१ ॥

वृन्दाकाननमें नित्य नवीन आनन्द देनेवाली क्रीडाएँ करते हुए जो गोपाङ्गनाओंके चित्तमें नित्य नूतन अनुराग उत्पन्न करते रहते हैं, गोपबालाओंकी प्रेमवृद्धिके लिये जो मधुर परिहास करते हुए उनके वस्त्रोंका अपहरण करके कदम्बके वृक्षपर चढ़ जाते हैं, वे मयूरपिच्छका मुकुट धारण करनेवाले श्रीकृष्ण मेरी रक्षा करें ॥ २२ ॥

जिनके नख अत्यन्त सुन्दर हैं और जो प्रणतजनोंके आश्रय हैं, उन श्रीहरिके चरणोंका, हे मित्र ! तुम जल्दी-से-जल्दी एक क्षणका भी विराम न लेकर अनुरागसहित निरन्तर भजन करो ॥ २३ ॥

जिनके वस्त्र अत्यन्त सुन्दर हैं, जो श्रीयमुनाजीके तीरपर नृत्य करते रहते हैं, जो व्रजवासी गोपोंकी एकमात्र गति हैं और अनन्त कल्याण गुणोंके सद्म हैं, वे जलदकान्ति एवं अत्यन्त निर्मलस्वरूप श्रीहरि मेरे चित्तपटलपर सदा ही प्रकाशित रहें ॥ २४ ॥

हे कालियमर्दन श्रीकृष्ण ! आप खेल-ही-खेलमें अर्जुनके दो जुड़वाँ वृक्षोंको जड़से उखाड़ देते हैं, अपने अत्यन्त मनोहर चरित्रोंसे समस्त जनोंको आनन्दित करते रहते हैं, आप अपने नेत्रोंके नर्तनसे चपल खञ्जनका तिरस्कार करते हैं। आप मेरा सब ओरसे पोषण करें ॥ २५ ॥

हे यशोदानन्दन ! आपकी महिमाका विस्तार सम्पूर्ण भुवनोंमें व्याप्त हो रहा है, आप समस्त दुष्टजनोंका संहार करनेवाले हैं तथा पीताम्बर धारण किये रहते हैं। आप कृपा करके मुझे मनचाहा उत्तम-से-उत्तम वरदान दीजिये ॥ २६ ॥

जिनके घुँघराले बालोंमें मनोहर मयूरपिच्छ शोभा पाता है,

जिनका ललाट सुन्दर अष्टमीके चन्द्रका भी पराभव करनेवाला है, जिनकी दशनकान्ति कुन्दकलियोंको मात करती है, हे विचारवान् पुरुषो! उन श्रीमुकुन्दको शीघ्र-से-शीघ्र अपने हृदयासनपर विराजमान करो ॥ २७ ॥

जो लाखों गौओंका पालन करते हैं और देवताओंके भयको दूर करनेमें अत्यन्त कुशल हैं तथा जिन्हें निरन्तर मुरली बजानेका अभ्यास हो गया है, वे वनमालाधारी भगवान् श्रीकृष्ण आपका सब प्रकार कुशल करें ॥ २८ ॥

जो अपने प्रेमीस्वभाव एवं मधुर व्यवहारसे समस्त गोपबालकोंका रञ्जन करते रहते हैं, भाग्यवती मुरली जिनके अधरामृतका निरन्तर पान करती रहती है, जो दुर्जनवृन्दका नाश करते रहते हैं, गोपरमणियाँ जिन्हें अपने हृदयका प्यार देती रहती हैं, जो पितृभक्तिके कारण नन्दरायजीका आदर करते हैं, जो विविध लीलारसकी वर्षा करनेवाले मेघके समान हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिनके उदरमें समाये रहते हैं, उन मुक्तिदाता भगवान् श्रीकृष्णमें आपलोगोंकी प्रचुर भक्ति हो ॥ २९ ॥

गोपयुवतियोंका वृन्द जिसे सब ओरसे प्यार करता है और जिसकी दृष्टि उनके प्रति अनुरागसे भरी रहती है तथा जो उनपर सदा आनन्दकी वर्षा करती रहती है, जिसकी अङ्गकान्ति नवीन जलधरके समान है और जो अपने वेशसे त्रिभुवनको मोहित करती रहती है, वह श्रीकृष्णनामकी वनमालाविभूषित दिव्य मूर्ति आपलोगोंकी रक्षा करे ॥ ३० ॥

(श्रीमुकुन्दमुक्तावली समाप्त)

श्रीयुगलकिशोराष्टकम्

नवजलधरविद्युद्द्योतवर्णौ प्रसन्नौ वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ।
अलकतिलकभालौ केशवेशप्रफुल्लौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥ १ ॥
वसनहरितनीलौ चन्दनालेपनाङ्गौ मणिमरकतदीप्तौ स्वर्णमालाप्रयुक्तौ।
कनकवलयहस्तौ रासनाट्यप्रसक्तौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥ २ ॥
अति मधुरसुवेशौ रङ्गभङ्गीत्रिभङ्गौ मधुरमृदुलहास्यौ कुण्डलाकीर्णकर्णौ।
नटवरवररम्यौ नृत्यगीतानुरक्तौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥ ३ ॥
विविधगुणविदग्धौ वन्दनीयौ सुवेशौ मणिमयमकराद्यैः शोभिताङ्गौ स्फुरन्तौ।
स्मितनमितकटाक्षौ धर्मकर्मप्रदत्तौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥ ४ ॥
कनकमुकुटचूडौ पुष्पितोद्भूषिताङ्गौ सकलवननिविष्टौ सुन्दरानन्दपुञ्जौ।
चरणकमलदिव्यौ देवदेवादिसेव्यौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥ ५ ॥
अतिसुवलितगात्रौ गन्धमाल्यैर्विराजौ कतिकतिरमणीनां सेव्यमानौ सुवेशौ।
मुनिसुरगणभाव्यौ वेदशास्त्रादिविज्ञौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥ ६ ॥
अतिसुमधुरमूर्तौ दुष्टदर्पप्रशान्तौ सुरवरवरदौ द्वौ सर्वसिद्धिप्रदानौ।
अतिरसवशमग्नौ गीतवाद्यप्रतानौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥ ७ ॥
अगमनिगमसारौ सृष्टिसंहारकारौ वयसि नवकिशोरौ नित्यवृन्दावनस्थौ।
शमनभयविनाशौ पापिनस्तारयन्तौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥ ८ ॥

इदं मनोहरं स्तोत्रं श्रद्धया यः पठेन्नरः।
राधिकाकृष्णचन्द्रौ च सिद्धिदौ नात्र संशयः ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमद्रूपगोस्वामिविरचितं श्रीयुगलकिशोराष्टकं सम्पूर्णम् ॥

जिनका वर्ण क्रमशः नवीन जलपूर्ण मेघ एवं विद्युच्छटाके समान है, जिनके मुखपर सदा प्रसन्नता छायी रहती है, जिनके मुख एवं नेत्र कमलके समान प्रफुल्लित हैं, जिनके मस्तकपर क्रमशः मयूरपिच्छका मुकुट एवं स्वर्णमय चन्द्रिका सुशोभित है, जिनके ललाटपर सुन्दर तिलक किया हुआ है और अलकावली बिखुरी हुई है और जो अद्भुत केश-रचनाके कारण फूले-फूले-से लगते हैं, अरे मेरे मन! तू उन श्रीराधिका एवं श्रीकृष्णचन्द्रका ही निरन्तर सेवन कर ॥ १ ॥

जिनके श्रीअङ्गोंपर क्रमशः पीले और नीले वस्त्र सुशोभित हैं, जिनके श्रीविग्रह चन्दनसे चर्चित हो रहे हैं, जिनकी अङ्गकान्ति क्रमशः मरकतमणि एवं स्वर्णके सदृश है, जिनके वक्षःस्थलपर स्वर्णहार सुशोभित है, हाथोंमें सोनेके कंगन चमक रहे हैं और जो रासक्रीडामें संलग्न हैं, अरे मन! उन श्रीवृषभानुकिशोरी एवं श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका ही नित्य सेवन किया कर ॥ २ ॥

जिन्होंने अत्यन्त मधुर एवं सुन्दर वेष बना रक्खा है, जो अत्यन्त मधुर भङ्गीसे त्रिभङ्गी होकर स्थित हैं, जो मधुर एवं मृदुल हँसी हँस रहे हैं, जिनके कानोंमें कुण्डल एवं कर्णफूल सुशोभित हैं, जो श्रेष्ठ नट एवं नटीके रूपमें सुसज्जित हैं तथा नृत्य एवं गीतके परम अनुरागी हैं, अरे मन! उन राधिका-कृष्णचन्द्रका ही तू भजन किया कर ॥ ३ ॥

जो विविध गुणोंसे विभूषित हैं और सदा वन्दनके योग्य हैं, जिन्होंने अत्यन्त मनोहर वेष धारण कर रक्खा है, जिनके श्रीअङ्गोंमें मणिमय मकराकृत कुण्डल आदि आभूषण सुशोभित हैं, जिनके अङ्गोंसे प्रकाशकी किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं, जिनके नेत्रप्रान्तोंमें मधुर हँसी खेलती रहती है और जो हमारे धर्म-कर्मके फलस्वरूप हमें प्राप्त हुए हैं, अरे मन! उन वृषभानुकिशोरी एवं नन्दनन्दन श्रीकृष्णमें ही सदा लवलीन रह ॥ ४ ॥

जो मस्तकपर स्वर्णका मुकुट एवं सोनेकी ही चन्द्रिका धारण किये हुए हैं, जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग फूलोंके शृङ्गार एवं विविध आभूषणोंसे विभूषित हैं, जो व्रजभूमिके समस्त वन-प्रान्तोंमें प्रवेश करके नाना प्रकारकी लीलाएँ रचते रहते हैं, जो सौन्दर्य एवं आनन्दके मूर्तरूप हैं, जिनके चरणकमल अत्यन्त दिव्य हैं और जो देवदेव महादेव आदिके भी आराध्य हैं, अरे मन! उन श्रीराधा-कृष्णका ही तू निरन्तर चिन्तन किया कर ॥ ५ ॥

जिनके अङ्गोंका संचालन अत्यन्त मधुर प्रतीत होता है, जो नाना प्रकारके सुगन्धित द्रव्योंका लेप किये हुए और नाना प्रकारके पुष्पोंकी मालाओंसे सुसज्जित हैं, असंख्य व्रजसुन्दरियाँ जिनकी सेवामें सदा संलग्न रहती हैं, जिनका वेश अत्यन्त मनोमोहक है, बड़े-बड़े देवता एवं मुनिगण भी जिनका ध्यानमें ही दर्शन कर पाते हैं और जो वेद-शास्त्रादिके महान् पण्डित हैं, अरे मन! तू उन कीर्तिकुमारी एवं यशोदानन्दनका ही ध्यान किया कर ॥ ६ ॥

जिनका श्रीविग्रह अत्यन्त मधुर है, जो दुष्टजनोंके दर्पको चूर्ण करनेमें परम दक्ष हैं, जो बड़े-बड़े देवताओंको भी वर देनेकी सामर्थ्य रखते हैं और सब प्रकारकी सिद्धियों-को प्रदान करनेवाले हैं, जो सदा ही परमोत्कृष्ट प्रेमके वशीभूत होकर आनन्दमें मग्न रहते हैं तथा गीतवाद्यका विस्तार करते रहते हैं, अरे मन! उन्हीं दोनों राधा-कृष्णकी तू भावना किया कर ॥ ७ ॥

जो अगम्य वेदोंके सारभूत हैं, सृष्टि और संहार जिनकी लीलामात्र हैं, जो सदा नवीन किशोरावस्थामें प्रकट रहते हैं, वृन्दावनमें ही जिनका नित्य-निवास है, जो यमराजके भयका नाश करनेवाले और पापियोंको भी भवसागरसे तार देनेवाले हैं, अरे मन! तू उन राधिका-कृष्णचन्द्रको ही भजता रह ॥ ८ ॥

इस मनोहर स्तोत्रका जो कोई मनुष्य श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा, उसके मनोरथको श्रीराधा-कृष्ण निस्संदेह पूर्ण करेंगे ॥ ९ ॥

(श्रीयुगलकिशोराष्टक सम्पूर्ण)

उपदेशामृतम्

वाचोवेगं मनसः क्रोधवेगं जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥ १ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पोऽनियमाग्रहः। जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥ २ ॥

उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् तत्तत्कर्मप्रवर्त्तनात्। सङ्गत्यागात् सतो वृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसीदति ॥ ३ ॥

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ४ ॥

कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत दीक्षास्ति चेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम्।
शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्यनिन्दादिशून्यहृदमीप्सितसङ्गलब्ध्या ॥ ५ ॥

दृष्टैः स्वभावजनितैर्वपुषस्तु दोषैर्न प्राकृतत्वमिह भक्तजनस्य पश्येत्।
गङ्गाम्भसां न खलु बुद्बुदफेनपङ्कैर्ब्रह्मद्रवत्वमपगच्छति नीरधर्मैः ॥ ६ ॥

स्यात् कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्यापित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा स्वाद्वी क्रमाद् भवति तद्गदमूलहन्त्री ॥ ७ ॥

तन्नामरूपचरितादिसुकीर्त्तनानुस्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारः ॥ ८ ॥

वैकुण्ठाज्जनिता वरा मधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद्
वृन्दारण्यमुदारपाणिरमणात्तत्रापि गोवर्द्धनः।
राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृतप्लावनात्
कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः ॥ ९ ॥

कर्मिभ्यः परितो हरेः प्रियतया व्यक्तिं ययुर्ज्ञानिन-
स्तेभ्यो ज्ञानविमुक्तभक्तिपरमाः प्रेमैकनिष्ठा यतः।
तेभ्यस्ताः पशुपालपङ्कजदृशस्ताभ्योऽपि सा राधिका
प्रेष्ठा तद्वदियं तदीयसरसी तां नाश्रयेत् कः कृती ॥ १० ॥

कृष्णस्योच्चैः प्रणयवसतिः प्रेयसीभ्योऽपि राधा
कुण्डं चास्या मुनिभिरभितस्तादृगेव व्यधायि।
यत्प्रेष्ठैरप्यलमसुलभं किं पुनर्भक्तिभाजां
तत् प्रेमादः सकृदपि सरः स्नातुराविष्करोति ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीजीवगोस्वामिपादशिक्षार्थं श्रीमद्रूपगोस्वामिपादेनोक्तमुपदेशामृतं समाप्तम् ॥

वाणीका वेग (उच्छृङ्खल प्रयोग), मनका क्रोधरूपी वेग, जिह्वाका चटोरेपनका वेग, उदरका क्षुधारूप वेग और उपस्थेन्द्रियका वेग—इन समस्त वेगोंको जो धीर पुरुष सह लेता है, विचलित नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर भी शासन कर सकता है ॥ १ ॥

अधिक भोजन, धूलेमें अधिक परिश्रम, अधिक बकवाद, भजन आदिका नियम न रखना, अधिक लोगोंमें मिलना जुलना और चञ्चलता—इन छः दोषोंसे भक्तिका पौधा मुरझा कर नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥ भजनमें उत्साह, भगवान्‌के अस्तित्व एवं कृपाका दृढ़ निश्चय, विपत्तिमें समय धैर्य रखना, भजनमें सहायक कर्मोंमें प्रवृत्त होना, आसक्तिका त्याग और सदाचारका सेवन—इन छः गुणोंसे भक्ति खिल उठती है ॥ ३ ॥ वस्तु एवं द्रव्यका आदान-प्रदान, गुप्त से-गुप्त बात निस्सङ्कोच होकर कहना और पूछना, खाना और खिलाना—ये छः प्रीतिके लक्षण हैं ॥ ४ ॥

जिसकी जिह्वापर श्रीकृष्णका नाम हो, उस पुरुषका मनसे आदर करना चाहिये; यदि उसे किसी वैष्णव-मन्त्रकी दीक्षा प्राप्त हो तो उसे शरीरसे भी प्रणाम करना उचित है। यदि वह भगवान्का भजन करता हो तो उसे सेवासे भी प्रसन्न करे। यदि उसकी भजनमें परिपक्व निष्ठा हो गयी हो और वह श्रीकृष्णका अनन्य उपासक होनेके साथ निन्दादिसे शून्य हृदयवाला हो तो उसका यथेष्ट सङ्ग भी करे ॥ ५ ॥ शरीरगत स्वभावसे उत्पन्न हुए दोषोंको देखकर भक्तजनोंके प्रति प्राकृत-दृष्टि (सामान्य-बुद्धि) कदापि न करे। बुद्बुद, फेन और पङ्क आदि जलके धर्मोंसे गङ्गाजलकी ब्रह्मद्रवता नष्ट नहीं हो जाती ॥ ६ ॥

जिनकी जिह्वाका स्वाद अविद्यारूपी पित्तके दोषसे बिगड़ा हुआ है, उन्हें कृष्ण-नाम एवं उनकी लीला आदिका गानरूप मिश्री भी मीठी नहीं लगती। किंतु उसी मिश्रीका आदरपूर्वक प्रतिदिन सेवन किया जाय तो क्रमशः वह निश्चय ही मीठी लगने लगती है और पित्तके विकारका समूल नाश भी कर देती है ॥ ७ ॥ श्रीकृष्णके नाम-रूप-चरितादिकोंके कीर्तन और स्मरणमें क्रमसे रसना और मनको लगा दे—जिह्वासे श्रीकृष्ण-नाम रटता रहे और मनसे उनकी रूप-लीलाओंका स्मरण करता रहे तथा श्रीकृष्णके प्रेमीजनोंका दास होकर व्रजमें निवास करते हुए अपने जीवनके सम्पूर्ण कालको व्यतीत करे। यही सारे उपदेशोंका सार है ॥ ८ ॥

वैकुण्ठकी अपेक्षा भी मथुरापुरी अधिक श्रेष्ठ हो गयी है और रासोत्सवकी भूमि होनेके कारण वृन्दावन मथुराकी अपेक्षा भी अधिक वरणीय है। वृन्दावनमें भी उदारपाणि भगवान् श्रीकृष्णको विशेष आनन्द देनेके कारण गोवर्धनकी तरेटी और भी श्रेष्ठ है। गोवर्धनकी तरेटीमें भी भगवान् गोकुलेश्वरको प्रेमामृतमें अवगाहन करानेके कारण राधाकुण्ड और भी वरेण्य है; अतः ऐसा कौन विवेकी पुरुष होगा, जो उक्त गोवर्धनकी तरेटीमें विराजमान श्रीराधाकुण्डका सेवन नहीं करेगा ॥ ९ ॥

कर्मियोंकी अपेक्षा (जो भगवान्की अपने-अपने कर्मोंके द्वारा आराधना करते हैं) ज्ञानीजन (भगवान्के तत्त्वको जाननेवाले) श्रीहरिके विशेष प्रियरूपमें प्रसिद्ध हैं। उनकी अपेक्षा भी अभेदज्ञानरहित भक्तिके परायण हुए लोग अधिक प्रिय हैं। भक्तोंकी अपेक्षा भी श्रीकृष्णप्रेमकी अनन्य निष्ठावाले प्रेमीजन और भी विशेष प्रिय हैं। ऐसे प्रेमियोंकी अपेक्षा भी व्रजगोपीजन प्रियतर हैं और उनमें भी वे प्रसिद्ध श्रीराधिका तो भगवान्को सर्वापेक्षा अधिक प्रिय हैं तथा उनका यह राधाकुण्ड उन्हीं श्रीराधाके समान ही श्रीकृष्णको प्रिय है। ऐसी दशामें ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो इस राधाकुण्डका सेवन नहीं करेगा ॥ १० ॥ वृषभानुकिशोरी श्रीराधिका श्रीकृष्णकी प्रेयसियोंकी अपेक्षा भी अधिक प्रेमपात्री हैं और उनके कुण्ड (राधाकुण्ड) को मुनियोंने सब प्रकार उन्हीं श्रीराधाके समान दर्जा दिया है; क्योंकि उसकी प्राप्ति, भक्तोंकी तो बात ही क्या, श्रीकृष्णके प्रेमियोंको भी दुर्लभ है। उस राधाकुण्डमें जो एक बार भी स्नान कर लेता है, उसके हृदयमें यह कुण्ड उसी श्रीकृष्णप्रेमको प्रकट कर देता है ॥ ११ ॥

(उपदेशामृत सम्पूर्ण)

स्वयम्भगवत्त्वाष्टकम्

स्वजन्मन्यैश्वर्यं बलमिह वधे दैत्यविततेर्यशः पार्थत्राणे यदुपुरि महासम्पदमधात्।
परं ज्ञानं जिष्णौ मुसलमनु वैराग्यमनु यो भगैः षड्भिः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥ १ ॥

चतुर्बाहुत्वं यः स्वजनिसमये यो मृदशने जगत्कोटिं कुक्ष्यन्तरपरिमितत्वं स्ववपुषः।
दधिस्फोटे ब्रह्मण्यतनुत परानन्ततनुतां महैश्वर्यैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥ २ ॥

बलं बक्यां दन्तच्छदनवरयोः केशिनि नृगे नृपे बाह्वोरङ्घ्रेः फणिनि वपुषः कंसमरुतोः।
गिरित्रे दैत्येष्वप्यतनुत निजास्त्रस्य यदतो महौजोभिः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥ ३ ॥

असंख्याता गोप्यो व्रजभुवि महिष्यो यदुपुरे सुताः प्रद्युम्नाद्याः सुरतरुसुधर्मादि च धनम्।
बहिर्द्वारि ब्रह्माद्यपि बलिवहं स्तौति यदतः श्रियां पूरैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥ ४ ॥

यतो दत्ते मुक्तिं रिपुविततये यन्नरजनिर्विजेता रुद्रादेरपि नतजनाधीन इति यत्।
सभायां द्रौपद्या वरकृदतिपूज्यो नृपमखे यशोभिः स्वैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥ ५ ॥

न्यधाद् गीतारत्नं त्रिजगदतुलं यत् प्रियसखे परं तत्त्वं प्रेम्णोद्धवपरमभक्ते च निगमम्।
निजप्राणप्रेष्ठास्वपि रसभृतं गोपकुलजास्ततो शास्त्रैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥ ६ ॥
कृतागस्कं व्याधं सतनुमपि वैकुण्ठमनयन्ममत्वस्यैकाग्रानपि परिजनान् हन्त विजहौ।
यदप्येते श्रुत्या ध्रुवतनुनयोस्तास्तदपि हा सवैराग्यैः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥ ७ ॥
अजत्वं जन्मित्वं रतिररतितेहारहितता सलीलत्वं व्याप्तिः परिमितिरहंताममतयोः।
पदे त्यागात्यागावुभयमपि नित्यं सदुररीकरोतीशः पूर्णः स भवतु मुदे नन्दतनयः ॥ ८ ॥
समुद्यत्संदेहज्वरशतहरं भेषजवरं जनो यः सेवेत प्रथितभगवत्त्वाष्टकमिदम्।
तदैश्वर्यास्वादैः स्वधियमतिवेलं सरसयन् लभेतासौ तस्य प्रियपरिजनानुग्यपदवीम् ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिठक्कुरविरचितस्तवामृतलहर्यां श्रीश्रीस्वयम्भगवत्त्वाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

जिन्होंने अपने प्राकट्यके समय श्रीवसुदेव-देवकीके सम्मुख अपना ऐश्वर्य (ईश्वररूप) धारण किया, दैत्यवृन्दका वध करते समय बलका प्रकाश किया, पाण्डवोंकी रक्षाके अवसरपर निर्मल कीर्तिका विस्तार किया, यादवोंकी राजधानी द्वारिकामें अतुल वैभवको स्वीकार किया, सखा अर्जुनको उपदेश देते समय श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें सर्वश्रेष्ठ ज्ञानको प्रकट किया और अन्तमें लोहमय मुसलके व्याजसे यदुकुलका संहार करते समय वैराग्यका आदर्श उपस्थित किया, वे उक्त छहों भगवद्गुणोंसे परिपूर्ण भगवान् नन्द-नन्दन सबका आनन्दवर्धन करें ॥ १ ॥

इतना ही नहीं, जिन्होंने अपने प्राकट्यके समय चतुर्भुज-रूप ग्रहण किया, मृद्भक्षणके अवसरपर करोड़ों ब्रह्माण्ड अपने मुखमें प्रकट किये, दधिभाण्ड फोड़ देनेपर दयावश माताके हाथों बँधकर अमेय होनेपर भी अपने शरीरको उदरके परिमाणका करके दिखा दिया तथा ब्रह्माजीको छकानेके लिये अनन्त चराचर स्वरूप धारण किये, वे महान् ऐश्वर्यशाली भगवान् नन्दकिशोर सबको आनन्दित करें ॥२॥

जिन्होंने पूतनावधके समय अपने श्रेष्ठ ओठोंका बल, केशी दैत्यको मारते तथा राजा नृगको गिरगिटके रूपमें कुएँसे बाहर निकालते समय बाहुबल, कालियनागका दर्प चूर्ण करनेके लिये चरणोंका बल, महाबली यम एवं बवंडरके रूपमें प्रकट होनेवाले तृणावर्त दैत्यका संहार करते समय शरीरका गुरुतारूप बल और बाणासुरके साथ युद्ध करते समय उक्त असुरके पक्षमें युद्ध करनेके लिये आये हुए भगवान् शंकरको मोहित करनेके लिये तथा दैत्योंका वध करते समय अस्त्रबल प्रकट किया, वे महान् बलशाली भगवान् नन्दसूनु हमें सदा आनन्दित करते रहें ॥ ३ ॥

व्रजमें रासलीलाके समय जिन्होंने असंख्य गोपियोंके साथ क्रीड़ा की, यदुपुरी द्वारिकामें सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके साथ विहार किया, प्रद्युम्न आदि लक्षाधिक पुत्र उत्पन्न किये तथा पारिजात एवं सुधर्मा सभा आदिके रूपमें अतुल वैभव प्रकट किया और जिनकी ड्योढ़ीपर ब्रह्मादि लोक-पालगण उपहार लेकर स्तुति करते हुए खड़े रहते थे, वे परम श्रीसम्पन्न भगवान् नन्दकुमार हमें आनन्दसमुद्रमें निमग्न करते रहें ॥ ४ ॥

जिन्होंने शत्रुवर्गको भी खुले हाथों मुक्तिका दान किया, नररूपमें प्रकट होकर भी रुद्र आदि देवगणोंपर विजय प्राप्त की और सर्वेश्वर एवं परमस्वतन्त्र होकर भी भक्त-जनोंकी अधीनता स्वीकार की, कौरवोंकी सभामें द्रौपदीको अनन्त वस्त्रराशिरूप वर प्रदान किया और महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें उपस्थित सुर-मुनिजनोंके समक्ष प्रथम पूजा ग्रहण की, वे अमितयशस्वी भगवान् व्रजेन्द्र-नन्दन हम सबको आह्लादित करें ॥ ५ ॥

यही नहीं, जिन्होंने अपने प्रिय सखा अर्जुनको गीतारूप ऐसा देदीप्यमान रत्न प्रदान किया, जिसकी त्रिलोकीमें कोई तुलना नहीं है, परम भक्त उद्धवको परमधाम पधारते समय प्रेमके वशीभूत होकर परमतत्त्वका उपदेश किया तथा अपनी प्राणप्रियतमा श्रीव्रजाङ्गनाओंके लिये परम रसमय रस-तत्त्वका निरूपण किया; वे सम्पूर्ण ज्ञानके आश्रयस्वरूप भगवान् गोविन्दकुमार हम सबका आनन्द सम्पादन करें ॥ ६ ॥

जिन्होंने अपने अपराधी जरा नामक व्याधको (जिसने उनके चरणको मृग समझकर बाणसे बींध दिया था) सदेह वैकुण्ठ भेज दिया और इसके विपरीत यादवोंका—जो उनके कुटुम्बी थे और ममताके मुख्य पात्र थे—परित्याग कर दिया, यद्यपि वेदोंने उनकी देहको भगवान्‌की ही भाँति नित्य बताया है, वे परम वैराग्यशाली भगवान् नन्दनन्दन हमें आनन्दमग्न करते रहें ॥ ७ ॥

जो अजन्मा होते हुए भी जन्म-मरणकी लीला करते हैं, जिनमें आसक्ति और अनासक्ति एक कालमें विद्यमान रहती हैं, जो चेष्टारहित होते हुए भी विविध प्रकारकी लीलाएँ करते हैं, जो एक ही साथ सर्वव्यापक और परिच्छिन्न दोनों हैं तथा जो सदा ही अहंता और ममताके आश्रयभूत अपने श्रीविग्रह एवं निज जनोंका त्याग और रक्षा दोनों स्वीकार करते हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नन्दनन्दन सदा हम सबके आनन्दके हेतु बनें ॥ ८ ॥

उपर्युक्त भगवत्त्वाष्टक नामक इस विख्यात स्तोत्रका—जो बढ़ते हुए संदेहरूप सैकड़ों प्रकारके ज्वरोंको शान्त करनेवाली श्रेष्ठ ओषधिके समान है, जो भी मनुष्य सेवन करेगा, वही भगवान् नन्दनन्दनके ऐश्वर्य-रसास्वादनके द्वारा अपनी नीरस बुद्धिको असीम सरस बनाता हुआ उनके चिर परिजनोंके सेवकपदको प्राप्त करेगा ॥ ९ ॥

(श्रीभगवत्त्वाष्टक सम्पूर्ण)

श्रीजगन्मोहनाष्टकम्

गुञ्जावलीवेष्टितचित्रपुष्पचूडावलन्मञ्जुलनव्यपिच्छम् ।
गोरोचनाचारुतमालपत्रं वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम् ॥ १ ॥
भ्रूवल्गनोन्मादितगोपनारीकटाक्षबाणावलिविद्धनेत्रम् ।
नासाग्रराजन्मणिचारुमुक्तं वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम् ॥ २ ॥
भालोल्लसत्कालककान्तिचुम्बिगण्डस्थलप्रोन्नतचारुहास्यम् ।
वामप्रगण्डोच्चलकुण्डलाढ्यं वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम् ॥ ३ ॥
बन्धूकबिम्बद्युतिनिन्दिकुड्मलाधरभ्राजितवेणुवक्त्रम् ।
किंचित्तिरश्चीनशिरोऽधिभातं वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम् ॥ ४ ॥
[illegible] ।
[illegible] वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम् ॥ ५ ॥
[illegible] ।
[illegible] वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम् ॥ ६ ॥
[illegible] ।
[illegible] वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम् ॥ ७ ॥
[illegible] ।
[illegible] वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम् ॥ ८ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ९ ॥

[illegible]

जिनके श्रीमस्तकपर गुञ्जामालासे परिवेष्टित चित्र-विचित्र पुष्पोंके बने हुए मुकुटके बीचोंबीच सुन्दर नवीन मयूरपिच्छ लहराता रहता है तथा जो गोरोचनसे चर्चित कमनीय तमालतरुकी शोभाको धारण करते हैं, उन अपने इष्टदेव जगन्मोहन श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

भ्रूचालनमात्रसे उन्मादित हुई गोपाङ्गनाओंके कटाक्ष-बाणोंसे जिनके नेत्र सदा विद्ध रहते हैं और जिनकी नासिका-के अग्रभागमें मणिजटित सुन्दर मुक्ताफल सुशोभित रहता है, उन अपने इष्टदेव विश्वविमोहन मोहनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

लहराते हुए घुँघराले बालोंकी कान्तिको चूमनेवाले जिन-के नील कपोलोंपर मञ्जुल एवं उद्दाम हास्य खेलता रहता है तथा जिनके बायें कंधेपर मकराकृत कुण्डलोंका निम्नभाग झूलता रहता है, उन अपने इष्टदेव त्रिभुवनमोहन श्रीकृष्णको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

बन्धूकपुष्प एवं पक्व बिम्बफलकी शोभाको मात करनेवाले जिनके कुञ्चित अधरप्रान्तोंमें मुरलीका अग्रभाग सुशोभित है तथा जिनका मस्तक किंचित् झुका हुआ है, उन अपने इष्टदेव त्रैलोक्यमोहन श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा प्रणाम है ॥ ४ ॥

अत्यन्त रसरूपमें रेखात्रयसे सुशोभित जिनके श्रीकण्ठमें विविध स्वरोंसे भूषित मूर्च्छनाएँ तथा रागरागिनियाँ खेलती रहती हैं, जिनके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि देदीप्यमान रहती है और जिनके कंधे कुछ उभरे हुए हैं, उन अपने प्रेष्ठ त्रिभुवनमोहन श्रीकृष्णको बार बार प्रणाम है ॥ ५ ॥

घुटनोंपर्यन्त लटकती हुई तथा केयूर-कङ्कण आदि विविध भूषणोंसे विभूषित जिनकी गोल-गोल भुजाएँ कामदेवका तिरस्कार करनेवाली अर्गलाओंके समान सुशोभित हैं और जो अपने उरःस्थलपर अमूल्य मुक्तामणि एवं पुष्पमाला धारण किये हुए हैं, उन अपने आराध्यदेव जगन्मोहनके चरणोंमें मेरी प्रणति स्वीकार हो ॥ ६ ॥

श्वास प्रश्वासके कारण काँपते हुए, पीपलके पत्तेके समान आकारवाले जिनके उदरके बीचोंबीच रोमराजि सुरम्य रेखाके रूपमें विद्यमान है, जो पीताम्बर धारण किये हुए हैं और जिनके कटिप्रदेशमें क्षुद्रघण्टिकाओंका मधुर शब्द हो रहा है, उन अपने परमाराध्य जगन्मोहन श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा मस्तक नत है ॥ ७ ॥

कल्पवृक्षके नीचे जो बायें चरणको दाहिनी ओर एवं दाहिने चरणको बायीं ओर रखते हुए ललित त्रिभङ्गीसे खड़े रहकर श्रीवृषभानुकिशोरीके साथ अत्यन्त मनोहर लीला कर रहे हैं, जिनके चरणोंमें मणिमय नूपुर सुशोभित हैं, उन अपने आराध्यदेव जगन्मोहन श्यामसुन्दरके चरणोंमें हम सिर नवाते हैं ॥ ८ ॥

जो कोई भक्तजन उपर्युक्त आठ पद्योंके द्वारा जगन्मोहन श्रीकृष्णका स्मरण करेगा, उसे निश्चय ही प्रेमाभक्ति प्राप्त होगी, जिसके द्वारा वह उनका प्रभुके भावोंकी भाँति ऐसा रूप अमृत-सरोवरमें निमग्न हो जायगा ॥ ९ ॥

साथ क्या गया !

मृत्युशय्यापर सिकंदर

इकट्ठे गर जहाँके जर सभी मुल्कोंके माली थे ।
सिकंदर जब गया दुनियाँसे दोनों हाथ खाली थे ॥

नगर खँडहर हुए, राज्य ध्वस्त हुए, सृष्टिके सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानवके शरीर शृगाल, कुत्ते, गीध आदिके आहार बननेको छोड़ दिये गये । यह सब इसलिये कि सिकंदरको विजय प्राप्त करना था।

शस्यश्यामल खेत धूलिमें मिल गये, उपवन तो क्या—वनतक उजड़ते चले गये, शान्त सुखी निरीह नागरिक भय-विह्वल हो उठे; क्योंकि सिकंदरको अपनी विजयके लिये किसी भी विनाशकी सृष्टि करनेमें संकोच नहीं था ।

घर-द्वार छूटा, स्वजन-सम्बन्धी छूटे और शरीरका मोह छूटा । अथक यात्राएँ, घोर परिश्रम, भयंकर मार-काट—सहस्रों मनुष्य सैनिक बनकर मृत्युके दूत बन गये और वे ऐसे अपरिचित देशोंमें संहार करने पहुँचते रहे, जहाँके लोगोंसे उनकी कोई शत्रुता नहीं थी, जहाँके लोगोंने उनका नामतक नहीं सुना था । अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर दूसरोंकी हत्यापर उतारू ये सहस्र-सहस्र सैनिक केवल इसलिये दौड़ रहे थे कि एक मनुष्यको अपने अहंकारको संतुष्ट करना था। वह मनुष्य था सिकंदर ।

पृथ्वी रक्तसे लथ-पथ हुई, मैदानोंमें शवोंके समूह बिछ गये, अनाथ बच्चों एवं निराश्रय नारियोंके क्रन्दनसे आकाश गूँजता रहा और यह केवल इसलिये कि सिकंदरको विजय मिले ।

सिकंदर महान्—विश्व-विजयी सिकंदर; किंतु क्या मिला उसे ? उसे विजय मिली । उसके खजानोंमें रत्नराशियाँ एकत्र हुईं । विश्वका वैभव उसके चरणोंपर लोटने लगा । आप यही तो कह सकते हैं ।

सिकंदर मरा पड़ा है । उसके दोनों हाथ उसीके आदेशसे कफनसे बाहर कर दिये गये हैं। खाली हैं उसके दोनों हाथ । उसके अन्तःपुरकी सुन्दरियाँ रो रही हैं । केवल इतना ही तो वे कर सकती हैं सिकंदर महान्के लिये । कोषकी रत्नराशि खुली पड़ी है । पत्थरोंसे अधिक मूल्य अब उनका नहीं है । कोई बहुत अधिक करे तो उन चमकते पत्थरोंमें सिकंदरका शव दबा देगा । लेकिन ये पत्थर क्या उस शवको कीड़ोंद्वारा खाये जानेसे बचा सकेंगे ? शान्त और विषण्ण खड़ी है उस महान् सम्राट्की विश्व-विजयिनी वाहिनी । सैनिक किसीको मार ही सकते हैं, जिला तो सकते नहीं—अपने सम्राट्को भी नहीं । अब रही वह महान् विजय—उसका क्या अर्थ है ? सिकंदरका जय-घोष—केवल भवनोंपरके कबूतर, कौवे और गौरैये उससे आतङ्कित होकर उड़ सकते हैं ।

इस सब उद्योगमें क्या मिला सिकंदरको ? हत्या, परोत्पीडन, पाप और यही पाप उसके साथ गया । किसीके साथ भी उसके सुकृत और दुष्कृतको छोड़कर और कुछ भी तो नहीं जाता ।
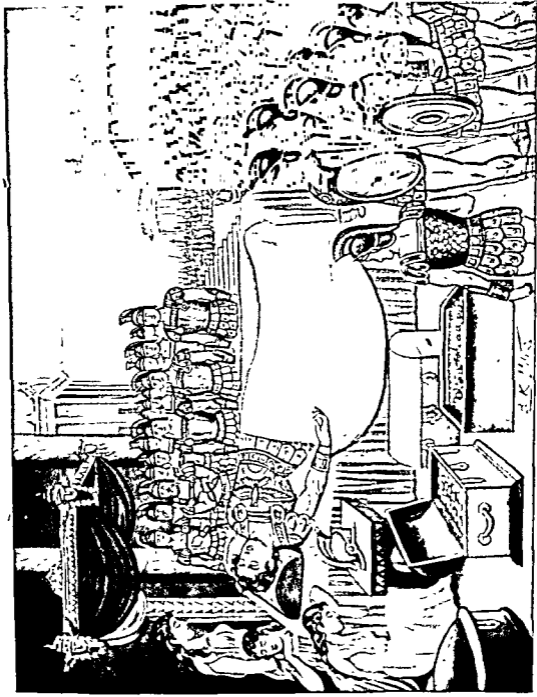
साथ क्या गया ?

संत, संत-वाणी और क्षमा-प्रार्थना

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥
संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल बिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु॥

संत-वाणीकी महिमा

अन्धकारमें पड़ी हुई मानव-जातिको प्रकाशमें लानेके लिये संत-वचन कभी न बुझनेवाली अमोघ दिव्य ज्योति हैं। दुःख-संकट और पाप-तापसे प्रपीड़ित प्राणियोंके लिये संत-वचन सुख शान्तिके गम्भीर और अगाध समुद्र हैं। कुमार्गपर जाते हुए जीवनको वहाँसे हटाकर सच्चे सन्मार्गपर लानेके लिये संत-वचन परम सुहृद्-बन्धु हैं। प्रबल मोह-सरिताके प्रवाहमें बहते हुए जीवोंके उद्धारके लिये संत-वचन सुखमय सुदृढ़ जहाज हैं। मानवतामें आयी हुई दानवताका दलन करके मानवको मानव ही नहीं, महामानव बना देनेके लिये संत-वचन दैवी-शक्ति-सम्पन्न संचालक और आचार्य हैं। अज्ञानके गहरे गड्ढेमें गिरे हुए चिर-संतप्त जीवोंको सहज ही वहाँसे निकालकर भगवान्‌के तत्त्व-स्वरूपका अथवा मधुर मिलनका परमानन्द प्रदान करनेके लिये संत-वचन तत्त्वज्ञान और आत्यन्तिक आनन्दके अटूट भण्डार हैं। आपातमधुर विषय विषसे जर्जरित जीवसमूहको घोरपरिणामी विष-व्याधिसे विमुक्त करके सच्चिदानन्दस्वरूप महान् आरोग्य प्रदान करनेके लिये संत-वचन दिव्य सुधा-महौषध हैं। जन्म-जन्मान्तरोंके संचित भीषण पाप-पादपोंसे पूर्ण महारण्यको तुरत भस्म कर देनेके लिये संत-वचन उत्तरोत्तर बढ़नेवाला भीषण दावानल हैं। विषयासक्ति और भोग-कामनाके परिणाम-स्वरूप नित्य-निरन्तर अशान्तिकी अग्निमें जलते हुए जीवोंको विशुद्ध भगवद्-नुरागी और भगवत्कामी बनाकर उन्हें भगवत्-मिलनके लिये अभिसारमें नियुक्त कर प्रेमानन्द-रस-सुधा-सागर सच्चिदानन्द-विग्रह परमानन्दघन विश्वविमोहन भगवान्‌की अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमयी परम मधुरतम मुखच्छबिका दर्शन करानेके लिये संत-वचन भगवान्‌के नित्यसङ्गी प्रेमी पार्षद हैं।

संत-वाणीसे क्या नहीं हो सकता। संत-वाणी मानव-हृदयको तमोऽभिभूत, अवनत और पतित परिस्थितिसे उठाकर सहज ही अवनत समुन्नत और समुज्ज्वल कर देती है। संत-वाणीसे वासना-कामनाके प्रबल आवर्तोंसे चूर्ण-विचूर्ण दुर्बल हृदयमें विद्युच्छक्तिके सदृश नवीनतम नित्य-पराभव-रहित भगवदीय बलका संचार हो जाता है। संत-वाणीसे भय-शोक-विह्वल, चिन्ता-विषाद-विकल, मानमर्दित, म्लान मुखमण्डल सत्यानन्दस्वरूप श्रीभगवान्‌की सच्चिदानन्द-ज्योतिर्मयी किरणों-से समुद्भासित और सुप्रसन्न हो उठता है। संत-वाणीसे त्रिविध तापोंकी तीव्र ज्वाला, दुःख-दैन्य-दारिद्र्यकी दावाग्नि, मानसिक अशान्तिका आन्तर-आवेग प्रशान्त होकर परम सुखद शीतलता और शाश्वत शान्तिकी अनुभूति होने लगती है। संत-वाणीसे अज्ञानतिमिराच्छन्न अन्तस्तल भगवान् भास्करकी प्रबलतम किरणोंसे छिन्न भिन्न होकर प्रनष्ट हुए मेघसमूहके सदृश अज्ञानतिमिरके आच्छादनसे मुक्त होकर विशुद्ध अद्वय-भास्करके प्रकाशसे आलोकित हो उठता है और नित्य-निरन्तर विषय मल मलिन निम्नप्रदेशमें बहनेवाली विष-दुर्गन्ध-दूषित चित्तवृत्ति-सरिता दिव्य प्रेमामृत-प्रवाहिनी मधुर मन्दाकिनीके स्वरूपमें परिणत होकर सुरसा-सौगन्ध्यवती और अविराम प्रवाह प्रतिशालीला बनी हुई सदा-सर्वदा परम विशुद्ध प्रेमघन श्रीनन्दनन्दनके पावन पादपद्मोंको सिञ्चित करनेके लिये केवल उन्हींकी ओर बढ़ने लगती है।

संत कौन हैं?

'जिन संतोंकी वाणीका इतना महत्त्व है, जिनका इतना विलक्षण मङ्गलमय परिणाम होता है, वे संत कौन हैं? उनका तात्त्विक स्वरूप क्या है? और उनके पहचानके लक्षण क्या हैं?' स्वाभाविक ही यह प्रश्न होता है। इसका उत्तर यह है कि संतोंकी यथार्थ पहचान बाह्य लक्षणोंसे नहीं हो सकती। इतना समझ लेना चाहिये कि संत वे हैं, जो निरवच्छिन्न परम तत्त्वका साक्षात्कार करके, उसकी अपरोक्ष उपलब्धि करके उस सच्चिदानन्द स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो चुके हैं। वह सत् ही चेतन है, वह चेतन ही आनन्द है। अर्थात् वह सत् चेतन और आनन्दरूप है, वह चेतन सत् और आनन्दरूप है और वह आनन्द सत् और चेतनरूप है। इस अविकल-स्वरूपीन सच्चिदानन्दमें जो प्रतिष्ठित हैं, वे ही संत हैं। अथवा वे संत हैं, जो [illegible] भगवान्‌के दिव्य प्रेमको प्राप्त कर चुके हैं। निर्गुण और प्रेमी संतोंके भगवान् ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, वे ही परमात्मा हैं और वे ही प्रेमानन्द भगवान् हैं। यह इस

स्वरूपतः अद्वैत है या द्वैत, इसकी मीमांसा नहीं हो सकती। भेद और अभेद, सविशेष और निर्विशेष अवस्था और अधिकारके अनुसार सभी सत्य हैं। अखण्ड और समग्र सत्यमें प्रतिष्ठित पुरुषकी अनुभूति या स्वरूपस्थितिका विषय है यह; इसको लेकर विवाद करनेकी आवश्यकता नहीं। हाँ, शास्त्रोंने इस प्रकारके अनुभूति-प्राप्त संतोंका—संत, साधु, प्रेमी, भक्त, भागवत, योगी, ज्ञानी, स्थितप्रज्ञ, मुक्त आदि अनेक विभिन्न नामोंसे वर्णन किया है, जो साधनभेदसे सभी सार्थक और सत्य हैं। पर उन सभी संतोंमें कुछ ऐसे लक्षण होते हैं जो प्रायः समानभावसे सर्वत्र पाये जाते हैं। उनमेंसे कुछका दिग्दर्शन यहाँ श्रीमद्भागवत और श्रीरामचरितमानसके अनुसार कीजिये—

श्रीभगवान् भक्त उद्धवसे कहते हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥
(श्रीमद्भा० ११। ११। २९—३१)

'उद्धव! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है, वह किसी भी प्राणीसे वैर नहीं करता, वह सब प्रकारके सुख-दुःखोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है, सत्यको जीवनका सार समझता है, उसके मनमें कभी किसी प्रकारकी पापवासना नहीं उठती, वह सर्वत्र समदर्शी और सबका अकारण उपकार करनेवाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह इन्द्रियविजयी, कोमल-स्वभाव और पवित्र होता है, उसके पास अपनी कोई भी वस्तु नहीं होती। किसी भी वस्तुके लिये वह कभी चेष्टा नहीं करता, परिमित भोजन करता है, सदा शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है, वह केवल मेरे ही आश्रय रहता है, निरन्तर मननशील रहता है। वह कभी प्रमाद नहीं करता, गम्भीर-स्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक मोह और जन्म-मृत्यु—इन छहों पर विजय प्राप्त कर चुका है। वह स्वयं कभी किसीसे किसी प्रकारका मान नहीं चाहता और दूसरोंको सम्मान देता रहता है। भगवत्सम्बन्धी बातें समझानेमें बड़ा निपुण होता है, उसके हृदयमें करुणा भरी रहती है और भगवत्तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है।'

भगवान् कपिलदेवने माता देवहूतिजीसे कहा है—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। २१—२४)

'जो सुख-दुःखमें सहनशील, करुणापूर्णहृदय, सबका अकारण हित करनेवाले, किसीके प्रति कभी भी शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्तस्वभाव, साधु भाववाले, साधुओंका सम्मान करनेवाले हैं, मुझमें अनन्यभावसे सुदृढ़ भक्ति करते हैं, मेरे लिये समस्त कर्म तथा स्वजन-बन्धुओंको भी त्याग चुके हैं, मेरे परायण होकर मेरी पवित्र कथाओंको सुनते, कहते और मुझमें ही चित्त लगाये रखते हैं, उन भक्तोंको संसारके विविध प्रकारके ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते। साध्वि! ऐसे सर्वसङ्ग-परित्यागी महापुरुष ही संत होते हैं, तुम्हें उन्हींके सङ्गकी इच्छा करनी चाहिये; क्योंकि वे आसक्तिसे उत्पन्न सभी दोषोंको हरनेवाले होते हैं।'

योगीश्वर हरिजी राजा निमिसे कहते हैं—

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥
न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥
न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४८—५५)

जो श्रोत्र नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा शब्द-रूप आदि विषयोंका ग्रहण तो करता है, परन्तु अपनी इच्छाके प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और अनुकूल विषयोंके मिलनेपर हर्षित नहीं होता—उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब हमारे भगवान्की माया—लीला है, वह उत्तम भागवत है। संसारके धर्म हैं—जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट और भय-तृष्णा। ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिको प्राप्त होते ही रहते हैं। जो पुरुष भगवान्की स्मृतिमें इतना तन्मय रहता है कि इनके बार-बार होते-जाते रहनेपर भी उनसे मोहित नहीं होता, पराभूत नहीं होता, वह उत्तम भागवत है। जिसके मनमें विषयभोगकी इच्छा, कर्मप्रवृत्ति और उनके बीज—वासनाओंका उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है। जिसका इस शरीरमें न तो सत्कुलमें जन्म, तपस्या आदि कर्मसे तथा न वर्ण, आश्रम एवं जातिसे ही अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान्का प्यारा है। जो धन-सम्पत्तिमें अथवा शरीर आदिमें 'यह अपना है और यह पराया'—इस प्रकारका भेदभाव नहीं रखता, समस्त प्राणि-पदार्थोंमें समस्वरूप परमात्माको देखता रहता है, समभाव रखता है तथा प्रत्येक स्थितिमें शान्त रहता है, वह भगवान्का उत्तम भक्त है। बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्के ऐसे चरणकमलोंसे आधे क्षण, पलक पड़नेके आधे समयके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी सेवामें ही लगा रहता है, यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्-स्मृतिका तार जरा भी नहीं तोड़ता, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान ही नहीं देता; *वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त—वैष्णवोंमें अग्रगण्य है,* सर्वश्रेष्ठ है। रासलीलाके अवसरपर नृत्य गतिसे भाँति-भाँतिके पद-विन्यास करनेवाले निखिल-सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान्के श्रीचरणोंके अंगुलि-नखकी मणिचन्द्रिकासे जिन शरणागत भक्तजनोंके हृदयका विरहजनित संताप एक बार दूर हो चुका है, उनके हृदयमें वह फिर कैसे आ सकता है, जैसे चन्द्रमाके उदय होनेपर सूर्यका ताप नहीं लग सकता ... नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण ... स्वयं भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरणकमलोंको हृदयमें बाँध रक्खा है, वास्तवमें ऐसा ही पुरुष भगवान्के भक्तोंमें प्रधान होता है।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मुनि श्रीनारदजीसे कहते हैं—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ । जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा । अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥
अमित बोध अनीह मित भोगी । सत्यसार कबि कोबिद जोगी ॥
सावधान मानद मद हीना । धीर धर्म गति परम प्रबीना ॥

गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह ।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह ॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं । पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती । सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती ॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा । गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा ॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया । मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना । बोध जथारथ बेद पुराना ॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ । भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला । हेतु रहित पर हित रत सीला ॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते । कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्र भरतजीसे कहते हैं—

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता । अगनित श्रुति पुरान बिख्याता ॥
संत असंतन्हि कै असि करनी । जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥

ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड ।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड ॥

बिषय अलंपट सील गुनाकर । पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया । मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥
बिगत काम मम नाम परायन । सांति बिरति बिनती मुदितायन ॥
सीतलता सरलता मयत्री । द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री ॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं । परुष बचन ... नहिं बोलहिं ॥

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना ॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवइ संत सुपुनीता ॥

× × ×

पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाउ खगराया ॥
संत सहहिं दुख परहित लागी । परदुख हेतु असंत अभागी ॥
संत उदय संतत सुखकारी । बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी ॥

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय २ । ५५ से ७२) में 'स्थितप्रज्ञ' के नामसे तथा (अध्याय १२ श्लोक १३–२० में) 'प्रिय भक्त' के नामसे संतोंके लक्षण बतलाये हैं । महाभारतके अन्यान्य स्थलोंमें तथा प्रायः सभी पुराणोंमें संतोंके लक्षणोंका विशद वर्णन है ।

परमात्माको प्राप्त हुए संतोंके ये सहज लक्षण हैं । ज्ञानयोग, निष्काम कर्मयोग, भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, प्रपत्तियोग और अष्टाङ्गयोग आदि सभी परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं । जिनकी जिस साधनमार्गमें रुचि और अधिकार होता है, वे उसी मार्गसे चलकर परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं । साधनमार्गके अनुसार परमात्माको प्राप्त पुरुषोंमें इन लक्षणोंकी स्वाभाविक उसी प्रकार अभिव्यक्ति और स्थिति होती है जिस प्रकार चन्द्रमामें चाँदनी, सूर्यमें प्रकाश और उष्मा तथा अग्निमें दाहिका-शक्ति होती है और प्राप्तिके पथपर अग्रसर होते हुए साधकोंमें उनके मार्गके अनुसार ये लक्षण आदर्शरूपमें रहते हैं—वे इन गुणोंको आदर्श मानकर इनके अनुसार आचरण करनेका प्रयत्न करते हैं ।

संत क्या करते हैं ?

परमात्माको प्राप्त ऐसे संत स्वयं ही कृतार्थ नहीं होते, वे संसारसागरमें डूबते-उतराते हुए असंख्य प्राणियोंका उद्धार करके उन्हें परमात्माके परम धाममें पहुँचानेके लिये सुदृढ जहाज बन जाते हैं । उनका सङ्ग करके उनके वचनानुसार आचरण करनेपर उद्धार होता है, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है, उनके स्मरणमात्रसे, केवल स्मरण करनेवालेका मन ही नहीं, उसका घरतक तत्काल विशुद्ध हो जाता है । महाराजा परीक्षित् मुनिवर शुकदेवजीसे कहते हैं—

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥
(श्रीमद्भा० १ । १९ । ३३)

'मुनिवर ! आप-जैसे महात्माओंके स्मरणमात्रसे ही गृहस्थोंके घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं । फिर दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन और आसनादि प्रदानका सुअवसर मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है !'

ऐसे महात्माओंका संसारमें रहना और विचरना चेतन प्राणियोंको नहीं—जड जल, मृत्तिका और वायु आदिको भी पवित्र करने और उनको तरन-तारन बनानेके लिये ही होता है । धर्मराज युधिष्ठिरजी महात्मा विदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥
(श्रीमद्भा० १ । १३ । १०)

'प्रभो ! आप-जैसे भागवत (भगवान्‌के प्रिय भक्त) स्वयं ही तीर्थरूप हैं । आपलोग अपने हृदयमें विराजमान भगवान्‌के (नाममात्रके) द्वारा तीर्थोंको (सच्चे) तीर्थ बनाते हुए—अर्थात् उक्त तीर्थस्थलोंमें जानेवाले लोगोंको उद्धार करनेकी शक्ति उन तीर्थोंको प्रदान करते हुए विचरण करते हैं ।'

पाप करनेवाले तो गिरते ही हैं, 'सकामभाव' रहते भी परमात्माकी प्राप्ति कठिन है ।

यह उन महात्मा-संतोंकी महिमा है, जो परमात्माको प्राप्त करके परमात्म-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो चुके हैं । परमात्माकी इस प्राप्तिके लिये साधन चाहे किसी प्रकारका हो—चित्तका संयोग परमात्मासे होना चाहिये । अभिप्राय यह कि एकमात्र परमात्मा ही लक्ष्य या साध्य होने चाहिये । अन्य किसी भी विषयकी कामना मनमें नहीं रहनी चाहिये और न अन्यत्र कहीं ममता और आसक्ति ही होनी चाहिये ।

जो लोग शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंमें, पाप-प्रवृत्तिमें लगे रहते हैं, वे तो परमात्माको प्राप्त न होकर बार-बार आसुरी योनिको तथा अधम गतिको प्राप्त होते ही हैं (गीता १६ । २०), जो सकाम भाव रखते हैं—सकाम भावसे इष्ट-पूर्तादि शुभ कर्म करते हैं, उनको भी सहजमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि मनमें कामना होनेपर पाप हुए बिना रहते नहीं । भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है कि पाप होनेमें कामना ही प्रधान कारण है—

> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
> महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
> (३।३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न यह कामना ही क्रोध (बन जाती) है। यह काम ही महा अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे तृप्त न होनेवाला और बड़ा पापी है। पाप बननेमें तू इसको ही वैरी जान।'

कितना ही बुद्धिमान् पुरुष हो, विषयासक्तिसे पाप बनने लगते हैं और पापोंसे अन्तःकरणके अशुद्ध तथा मलिन हो जानेपर वह परमात्मासे विमुख हो जाता है। ऐसी अवस्थामें दूसरोंको तारनेकी बात तो दूर रही वह स्वयं ही नीचे गिर जाता है। मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है—

> अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
> स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
> जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
> अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
> अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
> वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
> यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्
> तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥
> इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
> नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
> नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे
> मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
> (१।२।८—१०)

'अविद्यामें स्थित होकर भी अपने-आप ही बुद्धिमान् बने हुए और अपनेको विद्वान् माननेवाले वे मूर्खलोग बार-बार कष्ट सहते हुए वैसे ही भटकते रहते हैं, जैसे अंधेके द्वारा ही चलाये जानेवाले अंधे भटकते हैं। वे मूर्ख विविध प्रकारसे अविद्यारूप सकाम कर्मोंमें लगे हुए 'हम कृतार्थ हो गये' ऐसा अभिमान करते हैं; क्योंकि वे सकाम-कर्मी लोग विषयासक्तिके कारण श्रेय—कल्याणके यथार्थ मार्गको नहीं जान पाते। इसीसे वे बार-बार दुःखातुर होकर उन लोकोंसे निकाले जाकर नीचे गिर जाते हैं। इष्ट-पूर्तरूप सकाम कर्मोंको ही श्रेष्ठ माननेवाले वे अत्यन्त मूढ़ उस (सांसारिक भोग सुखोंकी प्राप्तिके साधनरूप सकामकर्म) से भिन्न यथार्थ कल्याणको नहीं जानते। वे पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गके उत्तमस्तरपर पहुँचकर वहाँके भोगोंका अनुभव करके पुनः इस मनुष्यलोकमें अथवा (पापोंके परिणामभोगका समय आ गया हो तो) उससे भी हीन (कीट-पतंग, शूकर-कूकर या वृक्ष-पत्थर आदि) योनियोंमें जाते हैं।'

इसी भावसे रामचरितमानसकी वेदस्तुतिमें मिथ्या ज्ञानाभिमानी लोगोंका स्वर्गके उत्तम स्थानोंसे नीचे गिरना बतलाया गया है—

> 'ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।'

भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

> ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
> क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥
> (९।२१)

'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये परमात्माकी प्राप्तिके इच्छुक साधकको पापमें तो कभी प्रवृत्त होना ही नहीं चाहिये। पुण्यकर्मोंमें भी सकामभावका सर्वथा त्याग करके उनका केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही यथायोग्य आचरण करना चाहिये। तभी उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है और तभी वह परमात्माका प्रिय होकर संसारके लोगोंको परमात्माके पुनीत पथपर लाने और अग्रसर करानेका सौभाग्य प्राप्त कर सकता है।

उच्चकोटिके संत

ऐसे साधनसिद्ध संतोंके अतिरिक्त परमात्मा जीवोंके प्रति दयापरवश होकर कभी-कभी उच्च कोटिके संतोंको, अपने परम पार्षदोंको—अलौकिक पुरुषोंको भी जगत्‌के इन दुःखी जीवोंका उद्धार करनेके लिये भेज दिया करते हैं। वे महापुरुष विषयासक्तिमें जकड़े हुए जीवोंको भवपाशसे छुड़ाकर—उनके सामने परम विशुद्ध आदर्श रखकर और उनकी यथायोग्य सेवा कर उनके हृदयोंमें परमात्मस्वरूपको जाननेकी जिज्ञासा और परमात्माको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा उत्पन्न कर देते हैं और फिर उनको भगवत्स्वरूपज्ञानके दान द्वारा कृतार्थ कर देते हैं।

भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

> [illegible] ।
> [illegible] ॥

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य संतोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २६ । ३१—३४)

'जिसने उन संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी कर्मजडता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्नि भगवान्‌का आश्रय ले लिया, उसे क्या कभी शीत, भय अथवा अन्धकारका दुःख हो सकता है ? जो इस संसारसागरमें डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त-स्वभाव संत वैसे ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये दृढ नौका। जैसे अन्नसे प्राणियोंके प्राणकी रक्षा होती है, जैसे मैं आर्त प्राणियोंका एकमात्र आश्रय हूँ, जैसे मनुष्यके लिये परलोकमें धर्म ही एकमात्र पूँजी है—वैसे ही संसारसे भयभीत लोगोंके लिये संत-जन ही परम आश्रय हैं। जैसे सूर्य आकाशमें उदय होकर लोगोंको जगत् तथा अपनेको देखनेके लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपनेको तथा भगवान्‌को देखनेके लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। संत अनुग्रहशील देवता हैं। संत अपने हितैषी सुहृद् हैं, संत अपने प्रियतम आत्मा हैं, अधिक क्या संतके रूपमें स्वयं मैं ही प्रकट हूँ।'

इतना ही नहीं, संत भगवान्‌के स्वरूप ही नहीं हैं, उनके भजनीय भी हैं—भगवान् कहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १६)

'जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मननमें तल्लीन रहता है, जो कभी किसी भी प्राणीसे वैर नहीं रखता, जो सर्वत्र समदृष्टि है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर इस विचारसे घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मुझपर पड़े और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

यह है उच्चकोटिके संतकी महिमा।

वचनोंका अनुसरण करना चाहिये, आचरणोंका नहीं

यहाँ सहज ही यह प्रश्न होता है कि 'तो क्या इस 'संत-वाणी-अङ्क' में जिन संतोंकी वाणियाँ संकलित की गयी हैं, वे सभी इसी कोटिके पुनीत संत हैं ?'

इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि हमें इसका कुछ भी ज्ञान नहीं है।

ऊपर कहा जा चुका है कि संतकी पहचान बाहरी लक्षणोंसे नहीं हो सकती और संतकी परीक्षा करनी भी नहीं चाहिये। सच बात तो यह है कि लौकिक विषयासक्त बुद्धिवाला पुरुष संतकी परीक्षा वैसे ही नहीं कर सकता, जैसे बड़े-बड़े पत्थर तौलनेके काँटेसे बहुमूल्य हीरा नहीं तौला जा सकता। हम जिसे पहुँचा हुआ महात्मा समझते हैं, सम्भव है, वह पूरा दंभी और ठग हो; और हमारी बुद्धिमें जो साधारण मनुष्य जँचता हो, वह सच्चा महापुरुष हो। कौन पुरुष यथार्थ महापुरुष या संत हैं या नहीं, अपनी अयोग्यताके कारण इसकी छान-बीन न करके हमने तो यथासाध्य 'संत वाणी' का, (संतकी वाणीका नहीं) संकलन करनेका प्रयत्न किया है। संत-वाणीका अभिप्राय यह है कि उस वाणीमें कोई 'असाधु' बात नहीं है। वह वाणी 'साधु' है, पवित्र है और उस वाणीके अनुसार आचरण करनेसे कल्याण हो सकता है। उस वाणीके वक्ता कैसे हैं, किस स्थितिमें हैं, वे सिद्ध हैं या साधक अथवा विषयी—इसकी परीक्षा करनेकी क्षमता हमलोगोंमें नहीं है और असलमें शुभ वचनके अनुसार ही शुभ आचरण करनेकी आवश्यकता है, वक्ताके आचरणके अनुसार नहीं। आचरणका अनुसरण हो भी नहीं सकता। श्रीभगवान्‌ने स्वयं श्रीमद्भागवतमें ईश्वरकोटिके लोगोंके भी सब आचरणोंका अनुसरण न करनेकी आज्ञा दी है—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥

(१० । ३३ । ३१-३२)

'जिन लोगोंमें वैसी (ईश्वर जैसी) सामर्थ्य नहीं है, उन्हें मनसे भी वैसी बात कभी नहीं सोचनी चाहिये। यदि मूर्खता-वश कोई ऐसा काम कर बैठे तो उसका नाश हो जाता है। भगवान् शङ्करने हालाहल विष पी लिया, दूसरा कोई पिये तो भस्म हो जायगा। इसलिये इस प्रकारके जो शङ्कर आदि ईश्वर हैं, अपने अधिकारके अनुसार उनके वचनको ही सत्य

(अनुकरण करने योग्य) मानना चाहिये और उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये । उनके आचरणका अनुकरण तो कहीं कहीं ही किया जाता है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि उनका जो आचरण उनके उपदेशके अनुकूल हो, उसीको जीवनमें उतारे ।'

उपनिषद्के ऋषि उपदेश करते हैं—

× × यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकᳬ सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि । × ×

(तैत्तिरीय १ । ११)

'जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये । उनसे भिन्न जो (दूषित) कर्म हैं, उनका कभी आचरण नहीं करना चाहिये । हमलोगोंमें भी जो अच्छे आचरण हैं, उन्हींका तुम्हें अनुकरण—सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं ।'

अतएव किसीके आचरणकी ओर न देखकर वाणीके अर्थकी ओर देखना चाहिये । संत वाणी वही है जो संत भावकी प्राप्तिमें साधनरूप हो सकती है । इसी दृष्टिसे संत वाणी—साधु आचरणका उपदेश करनेवाली वाणी, पापप्रवृत्तिसे हटाकर परमात्माकी ओर प्रवृत्त करानेवाली वाणीका चुनाव और संकलन किया गया है ।

वाणीके भेद

'तो क्या सभी वाणियोंका अनुसरण सभी कर सकते हैं ?'—नहीं, कदापि नहीं । वाणीमें देश, काल, व्यक्ति, प्रसङ्ग, अधिकार, रुचि आदि कारणोंसे भेद होता है । जैसे किसी ठंढे देशमें या मसूरी, शिमला, नैनीताल आदि स्थानोंमें गरम कपड़ा पहनने-ओढ़ने तथा आग तापनेको कहा जायगा और गरम देशमें गरम कपड़ेका त्याग करके शीतल वायु-सेवनकी सलाह दी जायगी । शीत ऋतुमें गरम कपड़ेकी आवश्यकता बतलायी जायगी और ग्रीष्म ऋतुमें शीतल वायु-सेवनकी । अतिसारके रोगीको दूधका त्याग करनेको कहा जायगा और दुर्बल मनुष्यको दूध पीकर पुष्ट होनेका उपदेश दिया जायगा । यों देश काल पात्रके अनुसार कथनमें भेद होगा, चाहे कहनेवाला एक ही व्यक्ति हो ।

इसी प्रकार गरीब, निर्दोष प्राणीकी प्राण-रक्षाके लिये मिथ्याका प्रयोग भी आवश्यक बताया जायगा, पर अन्य सभी समय मिथ्या भाषणको पाप बताया जायगा । भगवान् शङ्करकी पूजाके प्रसङ्गमें धतूरेके फूल चढ़ानेकी विधि बतायी जायगी और भगवान् विष्णुके पूजा प्रसङ्गमें उसका निषेध किया जायगा । छोटे बच्चेको पाव-आधसेर वजनकी वस्तु उठानेके लिये ही कहा जायगा, पर पहलवानको भारी-से भारी तौलकी वस्तु उठानेपर शाबासी दी जायगी । निवृत्तिमार्गी शुकदेव मुनिकी रुचिके अनुसार उनके लिये संन्यासका विधान होगा, पर योद्धा अर्जुनको भगवान् रणाङ्गणमें जूझनेका ही उपदेश देंगे । इस प्रकार प्रसङ्ग, अधिकार और रुचिके अनुसार कथनमें भेद होगा । कोमल सौम्य प्रकृतिका साधक सौन्दर्य-माधुर्य-निधि वृन्दावनविहारी मुरली-मनोहरकी उपासनामें रस प्राप्त करेगा और कठोर क्रूर वृत्तिवालेको नृसिंहदेव, काली या छिन्नमस्ताकी उपासना उपयुक्त होगी । इसलिये संतकी सभी वाणी सभीके लिये समान उपयोगी नहीं हुआ करती । अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार ही चुनाव करना उचित है । तथापि, दैवी सम्पत्तिके गुण, उत्तम और उज्ज्वल चरित्र, यम-नियम, भगवान्की ओर अभिरुचि, विषय-वैराग्य और साधनमें उत्साह आदि कुछ ऐसे भाव, विचार और गुण हैं जो सभीमें होने चाहिये और ऐसी सभी संत वाणियोंका अनुसरण सभीको करना चाहिये ।

हमारी क्षमा-प्रार्थना

संत वाणीको पढ़ते समय यह देखना आवश्यक नहीं है कि यह पहुँचे हुए संतकी वाणी है या साधककी । साधककी भी वाणी, यदि वह वाणी 'संत' है तो पालन करनेयोग्य है । साधकमें क्या दोष था, यह देखनेकी जरूरत नहीं है । साधनामें लगा हुआ पुरुष किसी कारणवश कभी कभी मार्गसे स्खलित हो सकता है । इससे वह सर्वथा पतित हो जायगा, सो बात भी नहीं है । गिरनेवालेको गिरा हुआ ही नहीं मान लेना चाहिये, वह यदि गिरनेपर पश्चात्ताप करता है और पुनः उठना चाहता है तो ऐसा दोषी नहीं है । फिर हमारे लिये तो इस प्रसङ्गमें एक बड़ी निरापद स्थिति यह है कि इस 'संत-वाणी-अङ्क'में केवल दिवंगत पुरुषोंकी ही वाणियोंका संग्रह किया गया है । किसीकी वाणीके प्रति आकर्षित होकर कोई किसीका सङ्ग करके—उसके आचरणोंको देखकर पतित हो जाय, ऐसी आशङ्का ही यहाँ नहीं है । मनुष्य जब-तक मर न जाय, तबतक तो कहा नहीं जा सकता कि उसका अन्त कैसा होगा । सोलनने कहा है—'कोई भी मनुष्य जीवित अवस्थामें अच्छा नहीं कहा जा सकता ।' आज जो अच्छे माने जाते हैं, वे ही कल महान् पतित

होते हैं। पर इस संसारसे विदा होनेके बाद तो उनके जीवनमें न तो कोई नया परिवर्तन होनेकी गुंजाइश रहती है और न उनके सङ्गसे किसीके बिगड़ने या गिरनेकी ही। इसलिये हम दावेके साथ यह कहनेमें समर्थ न होते हुए भी कि 'इस अङ्कमें प्रकाशित वाणियोंके वक्ता सभी लोग आधिकारिक, महापुरुष, प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमी संत, पहुँचे हुए महात्मा, उच्च कोटिके साधक या साधक ही थे, और, साथ ही यह भी स्वीकार करते हुए भी कि—सम्भव है इनमें कोई ऐसे व्यक्ति भी आ गये हों जिनकी बुराइयोंका हमें परिचय न हो, पर जो संतकोटिसे सर्वथा विपरीत हों'—इतना अवश्य कह सकते हैं कि इनमें अनेकों आधिकारिक महापुरुष, परम प्रेमी महात्मा, पहुँचे हुए संत और उच्च कोटिके साधक भी अवश्य ही हैं। और जो ऐसे नहीं हैं, उनकी भी वाणी तो 'संत' ही है, इसलिये इन वाणियोंको जीवनमें उतारनेसे निश्चितरूपसे परम कल्याण ही होगा। हमने अपनी समझके अनुसार यथासाध्य 'साधु' वाणीका ही संकलन करनेका प्रयत्न किया है। इसमें कहीं हमारा प्रमाद भी हो सकता है और उसके लिये हम हाथ जोड़कर पाठकोंसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

इस अङ्कमें देनेके विचारसे हमारी चुनी हुई भी कुछ वाणियाँ रह गयी हैं। कुछ संतोंकी वाणियाँ देनेकी इच्छा थी, पर वे मिल नहीं सकीं; कुछ वाणियाँ देरसे मिलीं, कुछ संतोंकी वाणियाँ बहुत संक्षेपमें दी गयीं, संतोंके छाया-चित्र भी बहुतसे नहीं दिये जा सके। परिस्थितिवश ये सब अवाञ्छनीय बातें हो गयीं, इसके लिये हम क्षमा चाहते हैं। संतोंके काल-स्थान आदिके परिचयमें कहीं प्रमादवश भूल रह गयी हो तो उसके लिये भी सभी सज्जन हमें क्षमा करें।

इस अङ्कमें जो वाणियाँ दी गयी हैं, उनमेंसे पुराण, महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थोंके अतिरिक्त बहुत-सी विभिन्न लेखकोंके ग्रन्थोंसे ही ली गयी हैं। जिनमें बेलवेडियर प्रेसद्वारा प्रकाशित 'संत-वाणी-संग्रह', श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी लिखित 'संतकाव्य', श्रीवियोगी हरिजीद्वारा लिखित 'संत-सुधासार' और 'व्रजमाधुरीसार' पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी लिखित 'कविता-कौमुदी' तथा 'निम्बार्कमाधुरी', 'भारतेन्दुग्रन्थावली' आदि मुख्य हैं। अन्य भी कई ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है। हम अत्यन्त कृतज्ञ-हृदयसे उन सब लेखक ... । आभार मानते हैं। उनके सद्भावोंका, उनके 'कल्याण'के लाखों पाठक लाभ उठायेंगे, इससे सभी लेखक महानुभावोंको प्रसन्नता ही होगी, ऐसा विश्वास है। उन लेखक महानुभावोंकी कृपासे ही अङ्कका प्रकाशन हो गया है। इसलिये इसका श्रेय उन्हींको है। उनकी कृतियोंसे लोगोंको लाभ ही होगा, हम इसमें केवल निमित्तमात्र हैं।

इसमें प्रकाशित संत-वाणियोंके संकलनमें हमारे प्रिय साथी श्रीयुगलसिंहजी, श्रीरामलालजी बी० ए०, श्रीशिवनाथजी दुबे साहित्यरत्नसे पर्याप्त सहायता मिली है, अनुवाद-कार्यमें पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदीने बड़ा काम किया है। संस्कृतका अनुवाद तो अधिकांश श्रीशास्त्रीजीने ही किया है। इनके अतिरिक्त हमें इसके सम्पादन आदि सभी कार्योंमें अपने सभी साथियोंसे पर्याप्त सहयोग और सहायता मिली है। इनको धन्यवाद देना तो अपनेको ही देना होगा। वाणी-संकलनमें हमारे सम्मान्य मित्र श्रीशिवकुमारजी केडियाने भी बड़ी सहायता की है। इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

इस 'संत-वाणी-अङ्क' के सम्पादनमें हमें बड़ा लाभ हुआ है। सैकड़ों संतोंकी दिव्य वाणियोंके सुधा-सागरमें बार-बार डुबकी लगानेका सुअवसर प्राप्त हुआ, यह हमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। वाणी-संकलनमें हमसे प्रमादवश उन दिवंगत संतोंका कोई अपराध हो गया हो तो वे अपने सहज साधु-स्वभाववश हमें क्षमा करें। भवभूतिके कथनानुसार—वे अपने सुख-दुःखभोगमें वज्रसे भी कठोर होते हैं, पर दूसरोंके लिये वे कुसुमसे भी कोमल होते हैं—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।

संतोंका यह स्वभाव ही हमारा सहारा है। हम उन सभी संतोंकी पावन चरणरजको श्रद्धापूर्ण हृदयसे प्रणाम करते हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है वे इस अङ्कके एक-एक शब्दको ध्यानपूर्वक पढ़ें। संत-वाणीकी कोई एक बात भी जीवनमें उतर गयी तो उसीसे मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है।

इस अङ्कमें प्रकाशित चित्रोंपर तथा चित्रपरिचयके रूपमें प्रकाशित 'लघु' लेखोंपर भी विशेषरूपसे ध्यान देनेकी पाठकोंसे प्रार्थना है।

विनीत—संत-चरण-रजके दास

हनुमानप्रसाद पोद्दार
चिम्मनलाल गोस्वामी
सम्पादक

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७॥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष श्रीर माघ या जनवरीसे आरम्भ होकर और पौष या दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु और माघ या जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनोंके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जाने की अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) और माघ या जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला चालू वर्षका विशेषाङ्क दिया जायगा। विशेषाङ्क ही और माघ या जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है; ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।≈) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण' के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लिया जाता।

(अनुकरण करने योग्य) मानना चाहिये और उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये । उनके आचरणका अनुकरण तो कहीं कहीं ही किया जाता है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि उनका जो आचरण उनके उपदेशके अनुकूल हो, उसीको जीवनमें उतारे ।'

उपनिषद्के ऋषि उपदेश करते हैं—

× × यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकः सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि । × ×

(तैत्तिरीय १ । ११)

'जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये । उनसे भिन्न जो (दूषित) कर्म हैं, उनका कभी आचरण नहीं करना चाहिये । हमलोगोंमें भी जो अच्छे आचरण हैं, उन्हींका तुम्हें अनुकरण—सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं ।'

अतएव किसीके आचरणकी ओर न देखकर वाणीके अर्थकी ओर देखना चाहिये । संत वाणी वही है जो संत भावकी प्राप्तिमें साधनरूप हो सकती है । इसी दृष्टिसे संत वाणी—साधु आचरणका उपदेश करनेवाली वाणी, पापप्रवृत्तिसे

पूजाके प्रसङ्गमें धतूरेके फूल चढ़ानेकी विधि बतायी जायगी और भगवान् विष्णुके पूजा प्रसङ्गमें उसका निषेध किया जायगा । छोटे बच्चेको पाव-आधसेर वजनकी वस्तु उठानेके लिये ही कहा जायगा, पर पहलवानको भारी-से भारी तौलकी वस्तु उठानेपर शाबाशी दी जायगी । निवृत्तिमार्गी शुकदेव मुनिकी रुचिके अनुसार उनके लिये संन्यासका विधान होगा, पर योद्धा अर्जुनको भगवान् रणाङ्गणमें जूझनेका ही उपदेश देंगे । इस प्रकार प्रसङ्ग, अधिकार और रुचिके अनुसार कथनमें भेद होगा । कोमल सौम्य प्रकृतिका साधक सौन्दर्य-माधुर्य-निधि वृन्दावनविहारी मुरली-मनोहरकी उपासनामें रस प्राप्त करेगा और कठोर क्रूर वृत्तिवालेको नृसिंहदेव, काली या छिन्नमस्ताकी उपासना उपयुक्त होगी । इसलिये संतकी सभी वाणी सभीके लिये समान उपयोगी नहीं हुआ करती । अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार ही चुनाव करना उचित है । तथापि, दैवी सम्पत्तिके गुण, उत्तम और उज्ज्वल चरित्र, यम-नियम, भगवान्की ओर अभिरुचि, विषय वैराग्य और साधनमें उत्साह आदि कुछ ऐसे भाव, विचार और गुण हैं जो सभीमें होने चाहिये और ऐसी सभी सत बातोंका अनुसरण सभीको करना चाहिये ।

रजि० सं० ए० १७५

संतोंकी आरती

आरति संतजनन्हि की कीजै ।
जिन्ह के वचनन्हि सों दुख छीजै ॥
संत-हृदय सुचि सद् विवेक है,
संत-हिये में सुदृढ़ टेक है,
संत और भगवंत एक है,
पद-रज सादर सीसै दीजै ॥ १ ॥
काम-क्रोध-लोभादि-रहित हैं,
विमल दैवि संपदा सहित हैं,
भव वारिधि-तारन-वाहित हैं,
संतन की सेवा मन दीजै ॥ २ ॥
ज्ञान-भानु हैं मोह-तिमिर-हर,
प्रभु-पद-कमल-कोष के मधुकर,
भक्ति-प्रीति सुख-सिंधु-सुधाकर,
सुधा सुसीतल तिन सों पीजै ॥ ३ ॥
संत-मिलन दुर्लभ दुर्गम है,
हरि-प्रसाद सों सहज सुगम है,
लाभ न कछु जग यहि के सम है,
तन-मन सर्व समर्पन कीजै ॥ ४ ॥
संत-वचन मधु अमृत-सर है,
पाप-ताप-हर अति सुखकर है,
दुखी दीनहित अनुपम वर है,
संत-वचन उर धरि सुख लीजै ॥ ५ ॥
आरति संतजनन्हि की कीजै ॥